श्रीवट्टकेराचार्यविरचितो

मूलाचारः

(श्रीवसुनंदिसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितया आचारवृत्त्या सहितः)

मूलगुणाधिकारः

श्रीमच्छुद्धेद्धबोधं सकलगुणनिधिं निष्ठिताशेषकार्यं
वक्तारं सत्प्रवृत्तेर्निहतमतिमलं शक्रसंवंदिताङ्घ्रिम् ।
भर्तारं मुक्तिवध्वा विमलसुखगतेः कारिकायाः समन्ता—
दाचारस्याप्तनीतेः परमजिनकृतेर्नौम्यहं वृत्तिहेतोः ॥

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुणप्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाराधना-समयाचार-[समाचार] पंचाचार-पिंडशुद्धिषडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानगारभावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्याद्यधिकारनिबद्धमहार्थगभीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्यनवपदार्थजिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं,

---

मंगलाचरण—मैं वसुनन्दि आचार्य मूलकर्ता के रूप में वीतराग परम जिनदेव द्वारा प्रणीत, नीति—यति आचार का वर्णन करनेवाले आचारशास्त्र—मूलाचार ग्रन्थ की टीका के निमित्त उन सिद्ध भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी से विशिष्ट शुद्ध और श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त हैं, सकल गुणों के भण्डार हैं; जिन्होंने समस्त कार्यों को पूर्ण कर कृतकृत्य अवस्था प्राप्त कर ली है, जो सत्प्रवृत्ति—सम्यक्चारित्र के प्रवक्ता हैं, जिन्होंने अपनी बुद्धि के मल-दोष को नष्ट कर दिया है, जिनके चरणकमल इन्द्रों से वन्दित हैं और जो सर्व अंग से विमल सुख को प्राप्त करानेवाली मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं।

जो श्रुतस्कन्ध का आधारभूत है; अठारह हजार पदपरिमाण है; जो मूलगुण, प्रत्याख्यान, संस्तर, स्तवाराधना, समयाचार, पंचाचार, पिंडशुद्धि, छह आवश्यक, बारह अनुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति आदि अधिकार से निबद्ध होने से महान् अर्थों से गम्भीर है; लक्षण—व्याकरण शास्त्र से सिद्ध पद, वाक्य और वर्णों से सहित है; घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए केवलज्ञान के द्वारा जिन्होंने अशेष गुणों और पर्यायों से खचित छह द्रव्य और नव पदार्थों को जान लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव के द्वारा जो उपदिष्ट है; बारह प्रकार के तपों के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव के द्वारा जो रचित है; जो मूलगुणों और उत्तरगुणों के

मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबल-मेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते मूलगुणेस्वित्यादि—

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा।
इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥१॥

मंगलनिमित्तहेतुपरिमाणनामकर्तॄन् धात्वादिभिः प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धांश्च व्याख्याय पश्चादर्थः कथ्यते। मूलगुणेसु—मूलानि च तानि गुणाश्च ते मूलगुणाः। मूलशब्दोऽनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथापि प्रधानार्थे वर्तमानः परिगृह्यते। तथा गुणशब्दोऽप्यनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथाप्याचरणविशेषे वर्तमानः परिगृह्यते। मूलगुणाः प्रधानानुष्ठानानि उत्तरगुणाधारभूतानि तेषु मूलगुणेषु विषयभूतेषु कारणभूतेषु वा सत्सु ये। विसुद्धे—विशुद्धाः निर्मलाः संयतास्तान् मूलगुणेषु विशुद्धान्। वंदित्ता—वन्दित्वा मनोवाक्कायक्रियाभिः प्रणम्य, सव्वसंजदे—अयं सर्वशब्दो निरवशेषार्थवाचकः परिगृहीतो बह्वनुग्रहकारित्वात्तेन प्रमत्तसंयतादयोगिपर्यन्ता भूतपूर्वगत्या सिद्धाश्च परिगृह्यन्ते, सम्यक् यताः पापक्रियाभ्यो निवृत्ताः सर्वे च ते संयताश्च सर्वसंयतास्तान् सर्वसंयतान् प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसांपरायोपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्य-

---

स्वरूप भेद, उपाय, साधन, सहाय और फल के निरूपण करने में कुशल है; आचार्य परम्परा से चला आ रहा ऐसा यह आचारांग नाम का पहला अंग है। उस आचारांग का अल्प-शक्ति, अल्प बुद्धि और अल्प आयु वाले शिष्यों के लिए बारह अधिकारों में उपसंहार करने की इच्छा करते हुए अपने और श्रोताओं के प्रारम्भ किये गये कार्यों के विघ्नों को दूर करने में समर्थ शुभ परिणाम को धारण करते हुए श्री वट्टकेराचार्य सर्वप्रथम मूलगुण नामक अधिकार का प्रतिपादन करने के लिए 'मूलगुणेसु' इत्यादि रूप मंगल पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं—

गाथार्थ—मूलगुणों में विशुद्ध सभी संयतों को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक के लिए हितकर मूलगुणों का मैं वर्णन करूँगा ॥१॥

आचारवृत्ति—मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता तथा प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध इनका व्याख्यान करके पश्चात् धातु आदि के द्वारा शब्दों का अर्थ करते हैं। मूलभूत जो गुण हैं वे मूलगुण कहलाते हैं। यद्यपि 'मूल' शब्द अनेक अर्थ में रहता है फिर भी यहाँ पर प्रधान अर्थ में लिया गया है। उसी प्रकार 'गुण' शब्द भी यद्यपि अनेक अर्थ में विद्यमान है तथापि यहाँ पर आचरण विशेष में वर्तमान अर्थ ग्रहण किया गया है। अतः उत्तरगुणों के लिए आधारभूत प्रधान अनुष्ठान को मूलगुण कहते हैं। ये मूलगुण यहाँ विषयभूत हैं अथवा कारणभूत हैं। इन मूलगुणों में जो विशुद्ध अर्थात् निर्मल हो चुके हैं ऐसे सर्व संयतों को, सर्व शब्द यहाँ सम्पूर्ण अर्थ का वाचक है क्योंकि वह बहुत का अनुग्रह करने वाला है इसलिए इस सर्व शब्द से प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगी पर्यन्त सभी संयत और भूत-पूर्व गति के न्याय से सिद्ध भी लिये जाते हैं। जो सं-सम्यक् प्रकार से यत-उपरत हो चुके

योगकेवलिसंयतान् सप्ताद्यष्टपर्यन्तपणवमध्यसंज्यथा समेतान् सिद्धांश्चानन्तान् । सिरसा—शिरसा मस्तकेन मूर्ध्ना । इहपरलोगहिदत्थे—इहशब्दः प्रत्यक्षवचनः, परशब्द उपरतेन्द्रियजन्मवचनः, लोकशब्दः सुरैश्वरादिवचनः । इह च परश्चेहपरौ तौ च तौ लोकौ च इहपरलोकौ ताभ्यां तयोर्वा हितं सुखैश्वर्यपूजासत्कारचित्तनिवृतिफलादिकं तदेवार्थः प्रयोजनं फलं येषां ते इहपरलोकहितार्थास्तान् इहलोकपरलोकसुखैश्वर्यादिनिमित्तान् ।

इहलोके पूजां सर्वजनमान्यतां गुरुतां सर्वजनमैत्रीभावादिकं च लभते मूलगुणानाचरन्, परलोके च सुरैश्वर्यं तीर्थंकरत्वं चक्रवर्तिबलदेवादिकत्वं सर्वजनकान्ततादिकं च मूलगुणानाचरन् लभत इति । मूलगुणे—मूलगुणान् सर्वोत्तरगुणाधारतां गतानाचरणविशेषान् । कित्तइस्सामि—कीर्तयिष्यामि व्याख्यास्यामि । अत्र संयतशब्दस्य चत्वारोऽर्था नाम स्थापना द्रव्यं भाव इति । तत्र जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म नामसंयतः । संयतस्य गुणान् बुद्ध्याध्यारोप्याकृतिवति अनाकृतिवति च वस्तुनि स एवायमिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासंयतः । संयतस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासितोऽनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्य-

---

हैं—पाप-क्रियाओं से निवृत्त हो चुके हैं वे संयत कहलाते हैं। प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सांपराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली इसप्रकार छठवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के सभी मुनि संयत कहलाते हैं जोकि आदि में ७ और अन्त में ८ तथा मध्य से छह बार नव संख्या रखने से तीन कम नौ करोड़ (८९९९९९९७) होते हैं। इस संख्या सहित सभी संयतों को और अनन्त सिद्धों को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक में हितकर मूलगुणों का वर्णन करूँगा।

'इह' शब्द प्रत्यक्ष को सूचित करने वाला है, 'पर' शब्द इन्द्रियातीत जन्म को कहने वाला है और 'लोक' शब्द देवों के ऐश्वर्य आदि का वाचक है।

'हित' शब्द से सुख, ऐश्वर्य, पूजा-सत्कार और चित्त की निवृत्ति फल आदि कहे जाते हैं और अर्थ शब्द से प्रयोजन अथवा फल विवक्षित है। इस प्रकार से इहलोक और परलोक के लिए अथवा इन उभयलोकों में सुख ऐश्वर्य आदि रूप ही है प्रयोजन जिनका, वे इहपरलोकहितार्थ कहे जाते हैं। अर्थात् ये मूलगुण इहलोक और परलोक में सुख ऐश्वर्य आदि के निमित्त हैं। इन मूलगुणों का आचरण करते हुए जीव इस लोक में पूजा, सर्वजन से मान्यता, गुरुता (बड़प्पन) और सभी जीवों से मैत्रीभाव आदि को प्राप्त करते हैं तथा इन मूलगुणों को धारण करते हुए परलोक में देवों के ऐश्वर्य, तीर्थंकरपद, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के पद और सभी जनों में मनोज्ञता-प्रियता आदि प्राप्त करते हैं। ऐसे मूलगुण जो कि सभी उत्तरगुणों के आधारपने को प्राप्त आचरण विशेष हैं, उनका मैं व्याख्यान करूँगा।

यहाँ पर संयत शब्द के चार अर्थ हैं—नाम संयत, स्थापना संयत, द्रव्य संयत और भाव संयत। उनमें से जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'संयत' यह नामकरण कर देना नाम-संयत है। आकारवान् अथवा अनाकारवान् वस्तु में 'यह वही है' ऐसा मूर्ति में संयत के गुणों का अध्यारोप करना, इस प्रकार से स्थापित मूर्ति को स्थापना-संयत कहते हैं। संयत के स्वरूप का प्रकाशक जो परिज्ञान है उसकी परिणति की सामर्थ्य से जो अधिष्ठित है किन्तु वर्तमान में उससे अनुपयुक्त है, ऐसा आत्मा आगमद्रव्य-संयत है।

संयतः। नोआगमद्रव्यं त्रिविधः। ज्ञायकशरीरसंयतः संयतप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूतं भवन् भावि वा। भविष्यत्संयतत्वपर्यायो जीवो भाविसंयतः। तद्व्यतिरिक्तमसम्भवि कर्म नोकर्म, तयोः संयतत्वस्य कारणत्वाभावात्। संयतगुणव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञ उपयुक्तः सम्यगाचरणसमन्वित आगमभावसंयतस्तेनेह प्रयोजनं, कुतः मूलगुणेषु विशुद्धानिति विशेषणादिति। मूलगुणादिस्वरूपावगमनं प्रयोजनम्। ननु[1] पुरुषार्थो हि प्रयोजनं न च मूलगुणादिस्वरूपावगमनं[2], पुरुषार्थस्य धर्मार्थकाममोक्षरूपत्वात्, यद्येवं सुष्ठु मूलगुणस्वरूपावगमनं प्रयोजनं यतस्तेनैव ते धर्मादयो लभ्यन्ते इति। मूलगुणैः शुद्धस्वरूपं साध्यं साधनमिदं[3] मूलगुणशास्त्रं, साध्यसाधनरूपसम्बन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरतएव वाक्याल्लभते, अभिधेयभूता मूलगुणाः तस्माद् ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रय[4]समन्वितत्वादिति। सर्वसंयतान् शिरसाभिवन्द्य मूलगुणान् इहपरलोकहितार्थान् कीर्तयिष्यामीति पदघटना। अथवा मूलगुणसंयतानामयं नमस्कारो मूलगुणान् सुविशुद्धान् संयतांश्च[5] वन्दित्वा

नोआगम द्रव्य के ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं। उनमें से संयम के शास्त्रों को जाननेवाले का शरीर ज्ञायकशरीर कहलाता है। उसके भी भूत, वर्तमान और भावि ऐसे तीन भेद हैं। भविष्यत् में संयत की पर्याय को प्राप्त होनेवाला जीव भावि संयत है। यहाँ पर तद्व्यतिरिक्त नाम का जो नोआगम द्रव्य का तीसरा भेद है वह असम्भव है क्योंकि वह कर्म और नोकर्मरूप है तथा इन कर्म और नोकर्म में संयतपने के कारणत्व का अभाव है। अर्थात् द्रव्यनिक्षेप के आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य ऐसे दो भेद किये हैं। पुनः नोआगमद्रव्य के ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त की अपेक्षा तीन भेद किये हैं। यहाँ तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य कर्म का अभाव है।

संयत के गुणों का वर्णन करने में तत्पर जो प्राभृत-शास्त्र है उसको जानने वाला और उसी में उपयुक्त जीव अर्थात् सम्यक् प्रकार के आचरण से समन्वित साधु आगमभाव-संयत कहलाता है—यहाँ पर इन्हीं भावसंयत से प्रयोजन है। क्योंकि 'मूलगुणेषु विशुद्धान्' गाथा में ऐसा विशेषण दिया गया है। मूलगुण आदि के स्वरूप को जान लेना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

शंका—पुरुषार्थ ही प्रयोजन है न कि मूलगुण आदि के स्वरूप का जानना, क्योंकि पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप है।

समाधान—यदि ऐसी बात है तो मूलगुणों के स्वरूप का जान लेना यह प्रयोजन ठीक ही है क्योंकि उस ज्ञान से ही तो वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं।

इन मूलगुणों के द्वारा आत्मा का शुद्ध स्वरूप साध्य है और मूलगुणों का प्रतिपादक यह शास्त्र साधन है—इस प्रकार से साध्य-साधनरूप सम्बन्ध भी शास्त्र और प्रयोजन के इन्हीं वाक्यों से प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर ये मूलगुण अभिधेयभूत वाच्य हैं इसलिए यह शास्त्र ग्राह्य है, प्रामाणिक है क्योंकि यह प्रयोजन आदि तीन गुणों से समन्वित है। अतः सर्वसंयतों को सिर से नमस्कार करके इस लोक एवं परलोक में हितकारी ऐसे मूलगुणों का मैं वर्णन करूँगा—ऐसा पदघटना रूप अर्थ हुआ। अथवा मूलगुण और संयतों को—दोनों को नमस्कार किया समझना चाहिए। मूलगुणों को और सुविशुद्ध अर्थात् निर्मल चारित्रधारी संयतों

---

१. क 'न तु। २. क 'न स्वरूपावगमनम्। ३. क 'मिदं शास्त्रं'। ४. क 'संबन्धित्वा'। ५. क 'तांश्च'।

मूलगुणान् कीर्तयिष्यामि, चशब्दोऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः। यथा पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशमित्यत्र।

मूलगुणकथनप्रतिज्ञां निर्वहन्नाचार्यः संग्रहसूत्रगाथाद्वयमाह*—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ ॥२॥

आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥

को नमस्कार करके मैं मूलगुणों को कहूँगा ऐसा अर्थ करना। यहाँ पर 'मूलगुणों को और संयतों को' इसमें जो चकार शब्द लेकर उसका अर्थ किया है वह गाथा में अनुक्त होते हुए भी लिया गया है। जैसे 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशम्' सूत्र में चकार अनुक्त होते हुए भी लिया जाता है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ऐसा अर्थ किया जाता है उसी प्रकार से उपर्युक्त में भी चकार के अर्थ के बारे में समझ लेना चाहिए ॥१॥

अब मूलगुणों के कथन की प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए आचार्य संग्रहसूत्र रूप दो गाथाओं को कहते हैं—

अर्थ—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्रदेव ने यतियों के लिए कहे हैं ॥२-३॥

---

*निम्नलिखित दो गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक हैं—

रत्नत्रय के साधक परिणाम—

(१) णाणादिरयणतियमिह, सज्झं तं साधयंति जमणियमा।
जत्थ जमा सस्सदिया, णियमा णियतप्पपरिणामा ॥२॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय साध्य है, यम और नियम इस रत्नत्रयरूप साध्य को सिद्ध करने वाले हैं। इसमें यम नामक उपाय शाश्वतिक यावज्जीवन के लिए होता है और नियम अल्पकालिक होने से नियतकाल के लिए ग्रहण किया जाता है।

भावार्थ—महाव्रत आदि आजीवन धारण करने योग्य होने से यमरूप हैं और सामायिक प्रतिक्रमण आदि अल्पकालावधि होने से नियम कहलाते हैं। ये यम-नियमरूप परिणाम रत्नत्रय प्राप्ति के साधन हैं।

मूलगुण और उत्तरगुण—

(२) ते मूलुत्तरसण्णा मूलगुणा महव्वदादि अडवीसा।
तवपरिसहादिभेदा, चोत्तीसा उत्तरगुणक्खा ॥२॥

अर्थ—ये मूलगुण और उत्तरगुण जीव के परिणाम हैं। महाव्रत आदि मूलगुण अट्ठाईस हैं, बारह तप और बाईस परीषह ये उत्तरगुण चौंतीस होते हैं।

पंच य—पंचसंख्यावचनमेतत् । चशब्द एवकारार्थः पंचैव न षट् । महव्वयाइं—महान्ति च तानि व्रतानि महाव्रतानि, महान् शब्दो महत्त्वे प्राधान्ये वर्तते, व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षावाप्ति-निमित्ताचरणे वर्तते, महद्भिरनुष्ठितत्वात् । स्वतः एव वा मोक्षप्रापकत्वेन महान्ति व्रतानि महाव्रतानि प्राणासंयमनिवृत्तिकारणानि । समिदीओ—समितयः सम्यगयनानि समितयः सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेण गमनादिषु प्रवृत्तयः समितयः व्रतवृत्तय इत्यर्थः । जिणवरुद्दिट्ठा—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषां वराः श्रेष्ठास्तैरुपदिष्टाः प्रतिपादिता जिनवरोपदिष्टाः । एतेन स्वमनीषिकाचर्चिता इमाः सर्वमूलगुणाभिधा न भवन्ति । आप्तवचनानुसारितया प्रामाण्यमासां समितीनां व्याख्यातं भवति । कियन्त्यस्ताः पंचैव नाधिकाः । पंचेविंदियरोहा—इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियं, अथवा इन्द्रो नामकर्म तेन सृष्टमिन्द्रियं, तद् द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं च, चक्षुरिन्द्रियाद्यावरणक्षयोपशमजनितशक्तिर्भावेन्द्रियं तदुपकरणं द्रव्येन्द्रियं यतो 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं, निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियं' चेति, रोधा अप्रवृत्तयः इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां रोधा इन्द्रियरोधाः सम्यक्ध्यानप्रवेशप्रवृत्तयः कियन्तस्ते पंचैव । छप्पि य—षडपि च षडेव न सप्त नापि पंच । आवासया

आचारवृत्ति—गाथा में आया हुआ 'पंच' शब्द संख्यावाची है। 'च' शब्द एवकार के लिए है अर्थात् ये महाव्रत पाँच ही होते हैं, छह नहीं। जो महान् व्रत हैं उनको महाव्रत कहते हैं। यहाँ पर महान् शब्द महत्त्व अर्थ में और प्राधान्य अर्थ में लिया गया है। व्रत शब्द भी सावद्य से निवृत्तिरूप अर्थ में और मोक्ष की प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण अर्थ में है, क्योंकि ऐसे आचरण का महान् पुरुषों के द्वारा अनुष्ठान किया जाता है। अथवा स्वतः ही मोक्ष को प्राप्त करानेवाले होने से ये महान् व्रत महाव्रत कहलाते हैं। ये महाव्रत प्राणियों की हिंसा की निवृत्ति में कारणभूत हैं।

सम्यक् अयन अर्थात् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। सम्यक् अर्थात् शास्त्र में निरूपित क्रम से गमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करना समिति है। ये समितियाँ व्रत की रक्षा के लिए बाड़स्वरूप हैं। इनका जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है। कर्मशत्रु को जो जीतते हैं वे 'जिन' कहलाते हैं। उनमें वर अर्थात् जो श्रेष्ठ हैं वे जिनवर हैं। उनके द्वारा ये उपदिष्ट हैं, इस कथन से ये सभी मूलगुण अपनी बुद्धि से चर्चित नहीं हैं किन्तु ये आप्त वचनों का अनुसरण करनेवाले होने से प्रामाणिक हैं, ऐसा समझना चाहिए।

ये समितियाँ कितनी हैं ? ये पाँच ही हैं, अधिक नहीं हैं। पाँच ही इन्द्रियनिरोध व्रत हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं, अथवा इन्द्र अर्थात् नामकर्म, उसके द्वारा जो निर्मित हैं वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की अपेक्षा दो भेद हैं। चक्षुइन्द्रिय आदि इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति भावेन्द्रिय और उसके उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि 'लब्धि और उपयोग ये भावेन्द्रिय हैं तथा निर्वृत्ति और उपकरण ये द्रव्येन्द्रिय हैं' ऐसा सूत्रकारों का कथन है। इन इन्द्रियों की अर्थात् कर्ण आदि इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति नहीं करना रोध कहलाता है। सम्यक् ध्यान के प्रवेश में प्रवृत्ति करना अर्थात् धर्म-शुक्ल ध्यान में इन्द्रियों को प्रविष्ट करना यह इन्द्रियनिरोध है। ये कितने हैं ? ये भी पाँच ही हैं।

अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। इन्हें निश्चय-क्रिया भी कहते हैं।

—अवश्यकर्तव्यानि आवश्यकानि निश्चयक्रियाः सर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थनियमाः। लोचो—लोचः हस्ताभ्यां मस्तककूर्चगतवालोत्पाटः। आचेलकं—चेलं वस्त्रं, उपलक्षणमात्रमेतत्, तेन सर्वपरिग्रहः श्रामण्यायोग्यः चेलशब्देनोच्यते, न विद्यते चेलं यस्यासावचेलकः अचेलकस्य भावोऽचेलकत्वं वस्त्राभरणादिपरित्यागः। अण्हाणं—अस्नानं जलसेकोद्वर्तनाभ्यंगादिवर्जनम्। खिदिसयणं—क्षितौ पृथिव्यां तृणफलकपाषाणादौ शयनं स्वपनं क्षितिशयनं [1]स्थाण्डिलशायित्वम्। अदंतघंसणं चेव—दन्तानां घर्षणं मलापनयनं दन्तघर्षणं न दन्तघर्षणं अदन्तघर्षणं ताम्बूलदन्तकाष्ठादिवर्जनम्। चशब्दः समुच्चयार्थः। एवकारोऽवधारणार्थः। अदन्तघर्षणमेव च। ठिदिभोयणं—स्थितस्योर्ध्वतनोः[2]चतुरंगुलपादान्तरस्य भोजनम्। एयभत्तं—एकं च तद्भक्तं चैकभक्तं, एकवेलाहारग्रहणम्। मूलगुणा—मूलगुणा उत्तरगुणाधारभूताः। अट्ठवीसा दु—अष्टाविंशतिः तु शब्दोऽवधारणार्थः, अष्टभिरधिका विंशतिरष्टाविंशतिरष्टाविंशतिरेव मूलगुणा नोनाः नाप्यधिका इति।

द्रव्यार्थिकशिष्यानुग्रहाय संग्रहेण संख्यापूर्वकान् मूलगुणान् प्रतिपाद्य पर्यायार्थिकशिष्यावबोधनार्थं विभागेन वार्तिकद्वारेण तानेव प्रतिपादयन्नाह—

अर्थात् सर्व कर्म के निर्मूलन करने में समर्थ नियम विशेष को आवश्यक कहते हैं। ये आवश्यक छह ही हैं, सात अथवा पाँच नहीं हैं। हाथों से मस्तक और मूंछ के बालों का उखाड़ना लोच कहलाता है। चेल—यह शब्द उपलक्षण मात्र है, इससे श्रमण अवस्था के अयोग्य सम्पूर्ण परिग्रह को चेल शब्द से कहा गया है। नहीं है चेल जिनके, वे अचेलक हैं, अचेलक का भाव अचेलकत्व है अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्र आभरण आदि का परित्याग करना आचेलक्य व्रत है। जल का सिंचन, उबटन, (तैलमर्दन) अभ्यंगस्नान आदि का त्याग करना अस्नान व्रत है। क्षिति—पृथ्वी पर एवं तृण, फलक (पाटे), पाषाण-शिला आदि पर सोना क्षितिशयन गुण कहलाता है। यही स्थाण्डिल—खुले स्थान पर सोने रूप स्थाण्डिलशायी गुण है। दाँतों का घर्षण करना—दन्तमल को दूर करना दन्तघर्षण कहलाता है। दन्तघर्षण नहीं करना अदन्तघर्षण है अर्थात् तांबूल, दन्तकाष्ठ (दातोन) आदि का त्याग करना। पैरों के चार अंगुल अन्तराल से खड़े होकर भोजन करना स्थितिभोजन है। एक वेला में आहार ग्रहण करना एकभुक्त नाम का मूलगुण है। यहाँ गाथा में च शब्द समुच्चय अर्थ के लिए है और एवकार शब्द अवधारण अर्थात् निश्चय के लिए है। ये मूलगुण उत्तरगुणों के लिए आधारभूत हैं अर्थात् उत्तरगुणों के लिए जो आधारभूत हैं वे ही मूलगुण कहलाते हैं। मूलगुणों के बिना उत्तरगुण नहीं हो सकते हैं, ऐसा अभिप्राय है। ये मूलगुण अट्ठाईस होते हैं। यहाँ पर गाथा में तु शब्द अवधारण के लिए है अर्थात् ये मूलगुण अट्ठाईस ही हैं, न इससे कम हैं और न इससे अधिक ही हो सकते हैं।

द्रव्यार्थिक नय (सामान्य) से समझने वाले शिष्यों के अनुग्रह-हेतु संग्रह रूप से संख्यापूर्वक मूलगुणों का प्रतिपादन करके अब पर्यायार्थिक नय विशिष्टरूप से समझने वाले शिष्यों को समझाने के लिए विभागरूप से वार्तिक द्वारा उन्हीं मूलगुणों को प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं—

---

१. क 'डंशो:। २. अस्य स्थाने जानोरिति पाठः।

हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ॥४॥

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्याचाराख्यस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा इति। तत्र नामधेयेन मूलगुणाभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टानां तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्। लक्षितानां यथालक्षणमुपपद्यते नेति, प्रमाणैरर्थावधारणं परीक्षा तत्रोद्देशार्थमिदं सूत्रम्। उत्तरं पुनर्लक्षणम्, परीक्षा पुनरुत्तरत्र, एवं त्रिविधा व्याख्या। अथवा संग्रहविभागविस्तरस्वरूपेण त्रिविधा व्याख्या। अथवा सूत्रवृत्तिवार्तिकस्वरूपेण त्रिविधा। अथवा सूत्र-प्रतिसूत्र-विभाषासूत्रस्वरूपेण त्रिविधेति। एवं सर्वत्राभिसम्बन्धः कर्तव्य इति। हिंसाविरदी—प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं, प्रमादः सकषायत्वं, तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः, प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगस्तस्मात्प्रमत्तयोगाद्दशप्राणानां वियोगकरणं हिंसेति, तस्या विरतिः परिहारः हिंसाविरतिः सर्वजीवविषया दया। सच्चं—सत्यं असदभिधानत्यागः "असदभिधानमनृतं" सच्छब्दः प्रशंसावाची न सदसत् अप्रशस्तमिति यावत् असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानं, अनृतं—ऋतं सत्यं न ऋतं अनृतं किंपुनस्तदप्रशस्तं प्राणिपीडाकरं यद्वचनं तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयमविद्यमानार्थविषयं वा तस्यासदभिधानस्य त्यागः सत्यं। अदत्तपरिवज्जणं

गाथार्थ—हिंसा का त्याग, सत्य बोलना, अदत्त वस्तुग्रहण का त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग ये पाँच महाव्रत जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये हैं ॥४॥

आचारवृत्ति—इस आचार अर्थात् मूलाचार नाम के ग्रन्थ की प्रवृत्ति (रचना) तीन प्रकार की है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उनमें से नाम रूप से मूलगुणों का कथन करना उद्देश है। कहे गये पदार्थों के स्वरूप की व्यवस्था करने वाला धर्म लक्षण कहलाता है और जिनका लक्षण किया गया है ऐसे पदार्थों का जैसे-का-तैसा लक्षण है या नहीं, इस प्रकार से प्रमाणों के द्वारा अर्थ का निर्णय (निश्चय) करना परीक्षा है। इनमें से उद्देश के लिए यह गाथा-सूत्र है। पुनः इसके आगे इनका लक्षण है, और परीक्षा आगे-आगे यथास्थान की गई है। इस प्रकार से व्याख्या तीन प्रकार की होती है।

अथवा संग्रह, विभाग और विस्तर रूप से तीन प्रकार की व्याख्या मानी गई है। अथवा सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के स्वरूप से भी व्याख्या तीन प्रकार की हो जाती है या सूत्र, प्रतिसूत्र और विभाषा सूत्र के स्वरूप से भी व्याख्या के तीन भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार से सभी जगह सम्बन्ध लगा लेना चाहिए।

प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण—वियोग करना हिंसा है। कषायसहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। कषायसहित आत्मा का परिणाम प्रमत्त कहलाता है। इस प्रमत्त का योग अर्थात् कषाय सहित परिणामों से मन-वचन-काय की क्रिया प्रमत्तयोग है। इस प्रमत्त-योग से दशप्राणों का वियोग करना हिंसा है। उस हिंसा का परिहार करना—सभी जीवों के ऊपर दया का होना ही अहिंसा महाव्रत है।

असत् बोलने का त्याग करना सत्यव्रत है। चूँकि 'असत् कथन करना अनृत है' ऐसा सूत्रकार का वचन है। यहाँ पर 'सत्' शब्द प्रशंसावाची है। जो सत् अर्थात् प्रशस्त नहीं है वह अप्रशस्तवचन असत् कहलाता है। अर्थात् अप्रशस्त अर्थ का कथन असत् अभिधान है। अन

—अदत्तपरिवर्जनं अदत्तस्य परिवर्जनं अदत्तपरिवर्जनं, "अदत्तादानं स्तेयं" आदानं ग्रहणं अदत्तस्य पतित-विस्मृत-स्थापितानानुज्ञातादिकस्य ग्रहणं अदत्तादानं तस्य परित्यागोऽदत्तपरिवर्जनम्। चशब्दः समुच्चयार्थः। बंभं च—ब्रह्मचर्यं च, ब्रह्मेत्युच्यते जीवस्तस्यात्मवतः परांगसम्भोगनिवृत्तवृत्तेश्चर्या ब्रह्मचर्यमित्युच्यते मैथुनपरित्यागः। स्त्रीपुंसोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रतीच्छा मिथुनः, मिथुनस्य कर्म मैथुनं तस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यमिति। संगविमुत्तीय—संगस्य परिग्रहस्य बाह्याभ्यन्तर-लक्षणस्य विमुक्तिः परित्यागः संगविमुक्तिः श्रामण्यायोग्यसर्ववस्तुपरित्यागः परिग्रहासक्त्यभावः। तहा—तथा तेनैवागमोक्तेन प्रकारेण। महव्वयाइं—महाव्रतानि सर्वसावद्यपरिहारकारणानि पंच न षट्। पण्णत्ता—प्रज्ञप्तानि प्रतिपादितानि कैर्जिनेन्द्रैरिति शेषः। महद्भिरनुष्ठितत्वात् स्वत एव वा महान्ति व्रतानि महाव्रतानि पंचैवेति॥

जीवस्थानस्वरूपं [1]बन्धस्थानपरित्यागं च प्रतिपादयन् हिंसाविरतेर्लक्षणं प्रपंचयन्नाह—

सत्य को कहते हैं। जो ऋत नहीं है वह अनृत है। वह क्या है? जो प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करनेवाले वचन हैं वे अप्रशस्त हैं। वे चाहे विद्यमान अर्थविषयक हों चाहे अविद्यमान अर्थविषयक हों, अप्रशस्त ही कहे जाते हैं। ऐसे वचनों का त्याग करना ही सत्य महाव्रत है।

अदत्त का वर्जन करना अचौर्यव्रत है, चूँकि 'अदत्त का ग्रहण चोरी है' ऐसा सूत्रकार का कथन है। गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई और बिना पूछे ग्रहण की हुई वस्तु अदत्त शब्द से कही जाती है। ऐसी अदत्त वस्तुओं का ग्रहण अदत्तादान है और इनका त्याग करना अचौर्यव्रत कहलाता है।

ब्रह्म शब्द का अर्थ जीव होता है। उस आत्मवान्—जितेन्द्रिय जीव की परांग संभोग के अभावरूप वृत्ति का नाम चर्या है। इस प्रकार से ब्रह्मचर्य शब्द की परिभाषा है जो कि मैथुन के परित्याग रूप है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम आविष्ट हुए स्त्री और पुरुष की परस्पर में स्पर्श के प्रति जो इच्छा है उसका नाम मिथुन है और मिथुन की क्रिया को मैथुन कहते हैं। उसका परित्याग ब्रह्मचर्य है।

संग—बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की विमुक्ति—त्याग करना संगविमुक्ति है। अर्थात् श्रमण के अयोग्य सर्ववस्तु का त्याग करना और परिग्रह में आसक्ति का अभाव होना ही परिग्रह-त्याग महाव्रत है। इस तरह ही आगमोक्त प्रकार से सर्वसावद्य—पापक्रियाओं के परिहार में कारणभूत ये महाव्रत पाँच ही हैं, छह नहीं हैं और न चार हैं। ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने प्रतिपादन किया है। चूँकि महान् पुरुषों ने इनका अनुष्ठान किया है अथवा ये स्वतः ही महान् व्रत हैं इसीलिए ये महाव्रत कहलाते हैं। ये पाँच ही हैं ऐसा समझना चाहिए।

जीवस्थान का स्वरूप और बन्ध का परित्याग प्रतिपादित करते हुए हिंसाविरति के लक्षण को विस्तार से कहने के लिए आचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

---

१. क 'बध'।

कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥५॥

काय— कायाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः तात्स्थ्यात् साहचर्याद्वा पृथिवीकायिकादयः काया इत्युच्यन्ते, आधारनिर्देशो वा, एवमन्यत्रापि योज्यम्। **इंदिय**—इन्द्रियाणि पंच स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। एकं स्पर्शनमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः। द्वे स्पर्शनरसने इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः। त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणानीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। पंच स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि येषां ते पंचेन्द्रियाः। **गुण**—गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिः, सासादनसम्यग्दृष्टिः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, असंयतसम्यग्दृष्टिः, संयतासंयतः, प्रमत्तसंयतः, अप्रमत्तसंयतः, अपूर्वकरणः उपशमकः क्षपकः, अनिवृत्तिकरणः उपशमकः क्षपकः, सूक्ष्मसाम्परायः उपशमकः क्षपकः, उपशान्तकषायः, क्षीणकषायः, सयोगकेवली, अयोगकेवली चेति चतुर्दशगुणस्थानानि। एतेषां स्वरूपं पर्याप्त्यधिकारे व्याख्यास्यामः, इति नेह प्रपंचः कृतः। **मग्गण**—मार्गणा यासु यकाभिर्वा जीवा मृग्यन्ते ताश्चतुर्दश मार्गणाः, गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञ्याहाराः एतासामपि स्वरूपं

गाथार्थ—काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि—इनमें सभी जीवों को जान करके कायोत्सर्ग (ठहरने) आदि में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है ॥५॥

आचारवृत्ति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये काय हैं, क्योंकि पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव इन कायों में रहते हैं अथवा वे इन कायों के साथ रहते हैं इसलिए ये जीव ही यहाँ काय शब्द से कहे जाते हैं। अथवा यहाँ काय शब्द से जीवों के आधार का कथन किया गया है ऐसा समझना और इसी प्रकार से अन्यत्र भी लगा लेना चाहिए।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। एक स्पर्शनेन्द्रिय जिनके है वे जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ जिनके हैं वे द्वीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ जिनके हैं वे त्रीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ जिनके हैं वे चतुरिन्द्रिय हैं तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ जिनके हैं वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

गुण शब्द से गुणस्थान का ग्रहण होता है। ये गुणस्थान मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण में उपशम श्रेणी चढ़ने वाले उपशमक और क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले क्षपक, अनिवृत्तिकरण में उपशमक और क्षपक, सूक्ष्म साम्पराय में उपशमक और क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली—इस प्रकार से चौदह होते हैं। इनका स्वरूप आगे पर्याप्ति नामक अधिकार में कहेंगे, इसलिए यहाँ पर इनका विस्तार नहीं किया है।

जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीव खोजे जाते हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं। उनके चौदह

तत्रैव व्याख्यास्यामः। जीवस्थानानि चैकेन्द्रियबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्त - द्वीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त - त्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त-चतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त - पंचेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताः। कुल—कुलानि जातिभेदाः, वटपलाशशंखशुक्तिमत्कुणपिपीलिकाभ्रमरपतङ्गमत्स्यमनुष्यादयः, सीमन्तकादिनारकभेदाः, भवनादिदेवविशेषाश्च। आऊ—आयुः देहधारणं, नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिस्थितिकारणानि। जोणि—योनयः जीवोत्पत्तिस्थानानि, सचित्ताचित्तमिश्रशीतोष्णमिश्रसंवृतविवृतमिश्राणि। एतेषां संख्याविशेषमुत्तरत्र व्याख्यास्यामः। कायाश्चेन्द्रियाणि च गुणस्थानानि च मार्गणाश्च कुलानि चायुश्च योनयश्च कायेन्द्रियगुणमार्गणाकुलायुर्योनयस्तासु तान् वा। सव्वजीवाणं—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवाः। सर्वशब्दः कात्स्न्र्यवचनः, जीवाः द्रव्यप्राणभावप्राणधारणसमर्थाः, तेषां सर्वजीवानाम्। णाऊण—ज्ञात्वा स्वरूपमवबुध्य। ठाणादिसु—स्थानं कायोत्सर्गः स आदिर्येषां ते स्थानादयस्तेषु स्थानादिषु, स्थानासनशयनगमनभोजनोद्वर्तनाकुंचनप्रसारणादिक्रियाविशेषेषु। हिंसा—प्राणव्यपरोपणं आदिर्येषां ते हिंसादयस्तेषां विवर्जनं हिंसादिविवर्जनं वधपरितापमर्दनादिपरिहरणमहिंसा। एतदहिंसाव्रतं कायेन्द्रियगुणमार्गणाकुलायुर्योनिविषयेषु स्थितानां जीवानां कायोत्सर्गादिषु प्रदेशेषु प्रयत्नवतो हिंसादिवर्जनं यत्तदहिंसाव्रतं स्यात्। अथवा

भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक। इनका स्वरूप भी उसी पर्याप्ति अधिकार में कहेंगे। जीवस्थान—जीव समास के भी चौदह भेद हैं जो इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय बादर-सूक्ष्म के पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय सैनी-असैनी के पर्याप्त और अपर्याप्त। जाति के भेद को कुल कहते हैं। बड़-पलाश, शंख-सीप, खटमल-चिवटी, भ्रमर-पतंग, मत्स्य और मनुष्य इत्यादि जातियों के भेद हैं। सीमन्त-पटल आदि की अपेक्षा नारकियों में भेद हैं। भवनवासी आदि से देवों में भेद हैं। ये भेद ही जाति-कुल नाम से यहां कहे गये हैं। शरीर के धारण को आयु कहते हैं। यह आयु नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति में स्थिति—रहने के लिए कारण है। जीव की उत्पत्ति के स्थान को योनि कहते हैं। इसके सचित्त, अचित्त, मिश्र; शीत, उष्ण, मिश्र; और संवृत, विवृत, मिश्र—ऐसे नव भेद हैं। इन योनियों की विशिष्ट संख्या आगे कहेंगे। इन काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनियों में सभी जीवों को जानकर अथवा इनको और सभी जीवों के स्वरूप को जानकर हिंसा से विरत होता है।

जीव के साथ जो सर्व विशेषण है वह सम्पूर्ण को कहने वाला है। जो द्रव्यप्राण और भावप्राण को धारण करने में समर्थ हैं वे जीव कहलाते हैं। स्थान शब्द से यहां कायोत्सर्ग अर्थात् खड़े होना, ठहरना यह अर्थ विवक्षित है और आदि शब्द से आसन, शयन, गमन, भोजन, शरीर का उद्वर्तन, संकोचन, प्रसारण आदि क्रियाविशेषों में जीवों के प्राणों का व्यपरोपण—वियोग करना हिंसा आदि है और इस हिंसा आदि का वर्जन करना—वध, परिताप, मर्दन आदि का परिहार करना अहिंसा है।

ठहरना आदि क्रियाओं के प्रदेशों में प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनि के हिंसादि का जो त्याग है वह अहिंसाव्रत है। अथवा काय, इन्द्रिय आदि को ज्ञान करके ठहरने आदि

कायेन्द्रियादीन् ज्ञात्वा स्थानादिषु क्रियासु जीवानां हिंसादिविवर्जनमहिंसा। कायादिस्वरूपेण जीवानां हिंसादिपरिहरणमहिंसेति भावः॥

द्वितीयस्य व्रतस्य स्वरूपमाह—

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्ति।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥६॥

रागादीहिं—रागः स्नेहः स आदिर्येषां ते रागादयस्तै रागादिभी रागद्वेषमोहादि ष्यादिभिश्च। **असच्चं**—असत्यं मृषाभिधानम्। **चत्ता**—त्यक्त्वा परिहृत्य। **परतावसच्च** परतापसत्यवचनोक्ति परतापसत्यवचनमिति वा। परान् प्राणिनः तपति पीडयति परतापं, तत्सत्यवचनं च परतापसत्यवचनम्। येन सत्येनापि वचनेन परेषां परितापादयो भवन्ति त्यक्त्वा। **अयधावयणुज्झणं**—न यथा अयथा तच्च तद्वचनं चायथावचनं अपरमार्थवचनं। द्र भावाद्यनपेक्षं सर्वथास्त्येवेत्येवमादिकं तस्य सर्वस्य उज्झनं परिहरणमयथावचनोज्झनं सदा

क्रियाओं में जीवों की हिंसादि का परिहार करना अहिंसा है। अर्थात् कायादि रहने वाले जीवों की हिंसादि का परिहार करना अहिंसा है यह अभिप्राय है।

विशेषार्थ—जो काय आदि के आश्रित रहने वाले जीवों के भेद प्रभेदों क पुनः गमन-आगमन भोजन, शरीर का हिलाना-डुलाना, संकोचना, हाथ-पैर आि इत्यादि प्रसंगों में जीवों के वध से—उनको पीड़ा देने या कुचल देने इत्यादि से—घ है वह हिंसा है, उसका त्याग ही अहिंसाव्रत है। अथवा कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं में सावधानी रखते हुए जीवों के वध का परिहार करना अहिंसाव्रत है।

द्वितीय व्रत के स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना और पर को त वाले सत्य वचनों के भी कथन का त्याग करना तथा सूत्र और अर्थ के कहने मे वचनों का त्याग करना सत्य महाव्रत है ॥६॥

आचारवृत्ति—राग—स्नेह है आदि में जिनके वे रागादि हैं। उन रागा द्वेष, मोह आदि के द्वारा और पैशून्य, ईर्ष्या आदि के द्वारा असत्य वचनों का त्याग पर प्राणियों को जो तपाते हैं, पीड़ा देते हैं वे वचन परताप कहलाते हैं। ऐसे सत्य अर्थात् जिस सत्य वचन के द्वारा भी परजीवों को परिताप आदि होते हैं उन सत्य भी छोड़ देवे। जो जैसे के तैसे नहीं हैं वे अयथा वचन हैं अर्थात् अपरमार्थ वचन हैं। द्र काल और भाव आदि की अपेक्षा न करके 'सर्वथा अस्ति एव—सर्वथा ऐसा इत्यादि प्रकार के सभी वचनों का परिहार करना अयथा वचन त्याग है। अथवा आचार्य के द्वारा अन्यथा अर्थ कर देने पर भी दोष नहीं है अर्थात् यदि आचार्य

न्यथार्थकथने दोषाभावो वा सत्यमिति सम्बन्धः। सुत्तत्थाणविकहणे—सूत्रं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणि, अर्थो जीवादयः पदार्थास्तयोर्विकथनं प्रतिपादनं तस्मिन् सूत्रार्थविकथने, सूत्रस्य अर्थस्य च विकथने अयथावचनस्योत्सर्गोऽन्यथा न प्रतिपादनम्। सदाचारस्याचार्यस्य स्खलने दोषाभावो वा। सच्चं—सत्यमिति। रागादिभिरसत्यमभिधानमभिप्रायं च त्यक्त्वा, परितापकरं सत्यमपि त्यक्त्वा सूत्रार्थान्यथाकथनं च त्यक्त्वा आचार्यादीनां वचनस्खलने दोषं वा त्यक्त्वा यद्वचनं तत्सत्यव्रतमिति।

तृतीयव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥७॥

गामादिसु—ग्रामो वृत्तिपरिक्षिप्तजननिवासः स आदिर्येषां ते ग्रामादयस्तेषु ग्रामादिषु ग्रामखेटकर्वटमटंबनगरोद्यानपथिशैलाटव्यादिषु। पडिदाइं—पतितमादिर्येषां तानि पतितादीनि पतितनष्टविस्मृतस्थापितादीनि। अप्पप्पहुदिं—अल्पं स्तोकं प्रभृतिरादिर्येषां तान्यल्पप्रभृतीनि स्तोकबहुसूक्ष्मस्थूलादीनि। परेण—अन्येन। संगहिदाइं—संगृहीतानि चात्मवशकृतानि च क्षेत्रवास्तुधनधान्यपुस्तकोपकरणच्छात्रादीनि तेषां सर्वेषां। णादाणं—नादानं न ग्रहणं आत्मीयकरणविवर्जनम्। परदव्वं—परद्रव्याणां। अदत्तपरिवज्जणं—अदत्तस्यापरित्यक्तस्यानभ्युपगतस्य च परिवर्जनं परिहरणं अदत्तपरिवर्जनं, अदत्तग्रहणेऽभिलाषाभावः। तं तु—तदेतत्। परद्रव्याणां ग्रामादिषु पतितादीनामल्पबह्वादीनां

द्वादशांग अंग और चौदह पूर्वसूत्र कहलाते हैं। जीवादि पदार्थ अर्थ शब्द से कहे जाते हैं। इन सूत्र और अर्थ के प्रतिपादन करने में अयथावचन का त्याग करना अर्थात् सूत्र और अर्थ का अन्यथा कथन नहीं करना। अथवा सदाचार प्रवृत्तिवाले आचार्य के वचन स्खलन में दोष का अभाव मानना सत्य है। तात्पर्य यह है कि रागादि के द्वारा असत्य वचन और असत्य अभिप्राय को छोड़कर, पर के तापकारी ऐसे सत्यवचनों को भी छोड़ करके तथा सूत्र और अर्थ के अन्यथा कथन रूप वचन को भी छोड़ करके अथवा आचार्यादि के वचन स्खलन में दोष को छोड़ कर अर्थात् दोष को न ग्रहण करके जो वचन बोलना है वह सत्यव्रत है।

तृतीय व्रत का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई इत्यादि जो कुछ भी छोटी-बड़ी वस्तु है और जो पर के द्वारा संगृहीत है ऐसे परद्रव्य को ग्रहण नहीं करना सो अदत्त-परित्याग नाम का महाव्रत है ॥७॥

आचारवृत्ति—बाड़ से परिवेष्टित जनों के निवास को ग्राम कहते हैं। तथा 'आदि' शब्द से खेट, कर्वट, मटंब, नगर, उद्यान, मार्ग, पर्वत, अटवी आदि में गिरी हुई, खोई हुई, भूली हुई अथवा रखी हुई अल्प या बहुत अथवा सूक्ष्म-स्थूल आदि जो वस्तुएँ हैं; तथा जो अन्य के द्वारा संगृहीत है—अपने बनाये गये हैं ऐसे क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, पुस्तक, उपकरण और छात्र आदि हैं उनको ग्रहण नहीं करना अर्थात् उनको अपने बनाने का त्याग करना और पर के द्रव्यों को बिना दिये हुए नहीं लेना, पर से बिना पूछे हुए किसी वस्तु के ग्रहण

परेण संगृहीतानां च यदेतन्नादानमग्रहणं तददत्तपरिवर्जनं व्रतमिति। अथवा परद्रव्यं परेण संगृहीतं च ग्रामादिषु पतितादिकं चाल्पादिकं च नादानं नादेयं आत्मीयं न कर्तव्यमिति योऽयमभिप्रायस्तददत्तपरिवर्जनं नामेति ॥

चतुर्थव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

मादुसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं ।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥८॥

मादु—माता जननी। **सुदा**—सुता दुहिता। **भगिणीव य**—भगिनी स्वसा। इवौपम्ये द्रष्टव्य इवशब्द उपमार्थः चशब्दः समुच्चयार्थः। **दट्ठूण**—दृष्ट्वा सम्यक् ज्ञात्वा। **इत्थित्तियं**—स्त्रीणां त्रिकं वृद्धबालयौवनभेदात्। **पडिरूवं च**—प्रतिरूपं च। चित्रलेपभेदादिषु स्थितं प्रतिबिंबं देवमनुष्यतिरश्चां च रूपं। **इत्थिकहादिणियत्ती**—स्त्रीकथा आदिर्येषां ते स्त्रीकथादयस्तेभ्यो निवृत्तिः परिहारः स्त्रीकथादिनिवृत्तिः, वनिताकोमलालाप-मृदुस्पर्श-रूपालोकन-नृत्यगीतहासकटाक्षनिरीक्षणाद्यनुरागत्यागः। अथवा स्त्रीभक्तराजचौरकथानां परित्यागः रागादिभावेन तत्र प्रबन्धाभावः। **तिलोयपुज्जं**—त्रिभिर्लोकैः पूज्यं

का त्याग करना अदत्त परिवर्जन व्रत है अर्थात् अदत्त के ग्रहण करने में अभिलाषा का अभाव होना ही अचौर्यव्रत है। तात्पर्य यह हुआ कि ग्राम आदि में गिरा हुआ, भूला हुआ, अल्प अथवा बहुत जो परद्रव्य है और जो पर के द्वारा संगृहीत वस्तुएँ हैं उनका ग्रहण न न करना अदत्त त्याग नाम का व्रत है। अथवा परद्रव्य और पर के द्वारा संगृहीत वस्तु तथा ग्राम आदि में पतित इत्यादि अल्प-बहु आदि वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना अर्थात् उनको अपनी नहीं करने रूप जो अभिप्राय है वह अचौर्य नाम का तृतीय व्रत है।

चतुर्थ व्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—तीन प्रकार की स्त्रियों को और उनके प्रतिरूप (चित्र) को माता, पुत्री और बहन के समान देखकर जो स्त्रीकथा आदि से निवृत्ति है वह तीन लोक में पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है ॥८॥

आचारवृत्ति—वृद्धा, बाला और युवती के भेद से तीन प्रकार की स्त्रियों को माता, पुत्री और बहिन के समान सम्यक् प्रकार से समझकर तथा चित्र, लेप आदि भेदों में बने हुए स्त्रियों के प्रतिबिम्ब को एवं देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी स्त्रियों के रूप देखकर उनसे विरक्त होना; स्त्रियों के कोमलवचन, उनका मृदुस्पर्श, उनके रूप का अवलोकन, उनके नृत्य, गीत, हास्य, कटाक्ष-निरीक्षण आदि में अनुराग का त्याग करना स्त्रीकथादिनिवृत्ति का अर्थ है। अथवा स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और चोरकथा इन विकथाओं का त्याग करना अर्थात् रागादि भाव से उनमें सम्बन्ध—आसक्ति—का अभाव होना, यह त्रिलोकपूज्य देवों से, भवनवासियों से और मनुष्यों से अर्चनीय ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। गाथा में 'इव' शब्द उपमा के लिए है और 'च' शब्द समुच्चय के लिए।

तात्पर्य यह है कि देवी, मानुषी और तिर्यंचनियों के वृद्ध, बाल और यौवन स्वरूप

त्रिलोकपूज्यं देवभावनमनुष्यैरर्चनीयम्। हवे—भवेत्। बंभं—ब्रह्मचर्यम्। देवमनुष्यतिरश्चां वृद्धबालयौवनस्वरूपं स्त्रीत्रिकं दृष्ट्वा यथासंख्येन माता सुता भगिनीव चिन्तनीयम्। तेषां प्रतिरूपाणि च तथैव चिन्तनीयानि। स्त्रीकथादिकं च वर्जनीयम्। अनेन प्रकारेण सर्वपूज्यं ब्रह्मचर्यं नवप्रकारमेकाशीतिभेदं द्वाषष्ट्यधिकं शतं चेति॥

पंचमव्रतस्वरूपपरीक्षार्थमुत्तरसूत्रमाह—

जीवणिबद्धाऽबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्ममोऽसंगो॥९॥

जीवणिबद्धा—जीवेषु प्राणिषु निबद्धाः प्रतिबद्धा जीवनिबद्धाः प्राण्याश्रिता मिथ्यात्व-वेद राग-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-क्रोध-मान-माया-लोभादयः दासीदासगोऽश्वादयो वा। **अबद्धा**—अप्रतिबद्धा अनाश्रिता जीवपृथग्भूताः क्षेत्रवास्तुधनधान्यादयः। **परिग्गहा**—परिग्रहाः समन्तत आदानरूपा मूर्च्छा। **जीवसम्भवा**—जीवेभ्यः सम्भवो येषां ते जीवसम्भवा जीवोद्भवा मुक्ताफलशङ्खशुक्ति-

---

तीन प्रकार की अवस्थाओं को देखकर क्रम से उन्हें माता, पुत्री और बहन के समान समझना चाहिए। उनके प्रतिबिम्बों को भी देखकर वैसा समझना चाहिए। तथा स्त्रीकथा आदि का भी त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार से सर्वपूज्य ब्रह्मचर्य व्रत नवप्रकार का, इक्यासी प्रकार का और एक सौ बासठ प्रकार का होता है।

विशेषार्थ—स्त्री पर्याय तीन गतियों में पाई जाती है इसलिए स्त्री के मूलरूप से तीन भेद किये गये हैं। देवी में यद्यपि स्वभावतः बाल, वृद्ध और युवती का विकल्प नहीं होता तथापि विक्रिया से यह भेद सम्भव है। इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के बाल, वृद्ध और यौवन की अपेक्षा तीन अवस्थाएँ होती हैं। इस प्रकार ९ भेद हुए। ९ प्रकार के भेदों में मन वचन काय से गुणा करने पर २७ भेद एवं २७ को कृत, कारित अनुमोदना से गुणा करने पर ८१ भेद होते हैं। फिर ८१ को चेतन और अचेतन दो भेदों से गुणा कर दिया जाए तो १६२ की संख्या प्राप्त होती है। अचेतन का विकल्प काष्ठ-पाषाण आदि की प्रतिमाओं एवं चित्रों से सम्भव है।

अब पंचमव्रत के स्वरूप की परीक्षा के लिए अगला सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—जीव से सम्बन्धित, जीव से असम्बन्धित और जीव से उत्पन्न हुए ऐसे ये तीन प्रकार के परिग्रह हैं। इनका शक्ति से त्याग करना और इतर परिग्रह में (शरीर उपकरण आदि में) निर्मम होना यह असंग अर्थात् अपरिग्रह नाम का पाँचवाँ व्रत है। ९॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अथवा दासी, दास, गो, अश्व आदि ये जीव से निबद्ध अर्थात् जीव के आश्रित परिग्रह हैं। जीव से पृथग्भूत क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य आदि जीव से अप्रतिबद्ध, जीव से अनाश्रित, परिग्रह हैं। जीवों से उत्पत्ति है जिनकी ऐसे मोती, शंख, सीप, चर्म, दाँत, कम्बल आदि अथवा श्रमणपने के अयोग्य क्रोध आदि परिग्रह जीवसम्भव कहलाते हैं। सब तरफ से ग्रहण करने रूप मूर्च्छा परिणाम को परिग्रह कहते हैं। इन सभी प्रकार के

चर्मदन्तकम्बलादयः क्रोधादयो वा श्रामण्यायोग्याः । चेव—चैव । तेसिं—तेषां सर्वेषां पूर्वोक्तानां। सत्तिच्चागो—शक्त्या त्यागः सर्वात्मस्वरूपेणानभिलापः सर्वथापरिहारः । अथवा तेषां संगानां परिग्रहाणां त्यागः पाठान्तरम् । इयरम्हि य—इतरेषु च संयमज्ञानशौचोपकरणेषु । णिम्ममो—निर्मम ममत्वरहितत्वं निःसंगत्वम् । असंगो—असंगव्रतत्वम् । किमुक्तं भवति—जीवाश्रिता ये परिग्रहा ये चानाश्रिताः क्षेत्रादयः जीवसम्भवाश्च ये तेषां सर्वेषां मनोवाक्कायैः सर्वथा त्यागः इतरेषु च संयमाद्युपकरणेषु च असङ्गमतिमूर्च्छारहितत्वमित्येतदसङ्गव्रतमिति ॥

पंचमहाव्रतानां स्वरूपं भेदं च निरूप्य पंचसमितीनां भेदं स्वरूपं च निरूपयन्नाह—

इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥१०॥

इरिया—ईर्या गमनागमनादिकं । **भाषा**—भाषा वचनं सत्यमृषा - सत्यमृषाऽसत्यमृषाप्रवृत्तिकारणम् । **एसणा**—एषणा चतुर्विधाहारग्रहणवृत्तिः । **णिक्खेवादाणं**—निक्षेपो ग्रहीतस्य संस्थापनं आदानं स्थितस्य ग्रहणं निक्षेपादाने एवकारोऽवधारणार्थः । **समिदीओ**—समितयः सम्यक्प्रवृत्तयः । समितिशब्दः

परिग्रहों का शक्तिपूर्वक त्याग करना, सर्वात्मस्वरूप से इनकी अभिलाषा नहीं करना अर्थात् सर्वथा इनका परिहार करना, अथवा 'तेसिं संगच्चागो' ऐसा पाठान्तर होने से उसका यह अर्थ है—इन संग (परिग्रहों) का त्याग करना, और इतर अर्थात् संयम, ज्ञान तथा शौच के उपकरण में ममत्व रहित होना यह असंगव्रत अर्थात् अपरिग्रहव्रत कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि जो जीव के आश्रित परिग्रह हैं, जो जीव से अनाश्रित क्षेत्र आदि परिग्रह हैं और जो जीव से सम्भव परिग्रह हैं उन सबका मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना और इतर संयम आदि के उपकरणों में आसक्ति नहीं रखना, अति मूर्च्छा से रहित होना, इस प्रकार से यह परिग्रहत्याग महाव्रत है ।

पाँच महाव्रत का स्वरूप और भेदों का निरूपण करके अब पाँच समितियों के भेद और स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान तथा मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन—सम्यक्परित्याग ये समितियाँ पाँच प्रकार की ही हैं ॥१०॥

आचारवृत्ति—गमन-आगमन को ईर्या कहते हैं । सत्य, मृषा, सत्यमृषा, और असत्यमृषा अर्थात् सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप प्रवृत्ति में कारणभूत वचन को भाषा कहते हैं । चतुर्विध आहार के ग्रहण की वृत्ति को एषणा कहते हैं । ग्रहण की हुई वस्तु को रखना निक्षेप है और रखी हुई का ग्रहण करना आदान है ऐसा निक्षेपादान का लक्षण है । मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन अर्थात् सम्यक् प्रकार से परित्याग करना प्रतिष्ठापनिका का लक्षण है ।

सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं । यह समिति प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है । ईर्या की समिति ईर्यासमिति है अर्थात् सम्यक् प्रकार से अवलोकन करना, एकाग्रमना होते हुए प्रयत्नपूर्वक गमन-आगमन आदि करना । भाषा की समिति भाषा समिति है अर्थात् शास्त्र और धर्म से अविरुद्ध पूर्वापर विवेक सहित निष्ठुर आदि वचन न बोलना । एषणा आहार

प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ईर्यायाः समितिः ईर्यासमितिः सम्यगवलोकनं समाहितचित्तस्य प्रयत्नेन गमनागमनादिकम्। भाषायाः समितिः भाषासमितिः श्रुतधर्माविरोधेन पूर्वापरविवेकसहितमनिष्ठुरादिवचनम्। एषणायाः समितिरेषणासमितिः लोकजुगुप्सादिपरिहीनविशुद्धपिण्डग्रहणम्। निक्षेपादानयोः समितिर्निक्षेपादानसमितिश्चक्षुःपिच्छकप्रतिलेखनपूर्वकसयत्नग्रहणनिक्षेपादिः। पदिठावणिया य—प्रतिष्ठापनिका च, अत्रापि समितिशब्दः सम्बन्धनीयः, प्रतिष्ठापनासमितिर्जन्तुविवर्जितप्रदेशे सम्यगवलोक्य मलाद्युत्सर्गः। तहा—तथैव। उच्चारादीण—उच्चारादीनां मूत्रपुरीषादीनां प्रतिष्ठापना सम्यक्परित्यागो यः सा प्रतिष्ठापनासमितिः। पंचविहा एव—पंचप्रकारा एव समितयो भवन्तीत्यर्थः।

सामान्येन पंचसमितीनां स्वरूपं निरूप्य विशेषार्थमुत्तरमाह—

फासुयमग्गेण दिवा जुंगतरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥११॥

फासुगमग्गेण—प्रगता असवो जीवा यस्मिन्नसौ प्रासुकः प्रासुकश्चासौ मार्गश्च प्रासुकमार्गो निरवद्यः पंथास्तेन प्रासुकमार्गेण, गजखरोष्ट्रगोमहिषीजनसमुदायोपमर्दितेन वर्त्मना। दिवा—दिवसे सूरोद्गमे प्रवृत्तचक्षुःप्रचारे। जुगंतरप्पेहिणा—युगान्तरं चतुर्हस्तप्रमाणं प्रेक्षते पश्यतीति युगान्तरप्रेक्षी तेन युगान्तरप्रेक्षिणा सम्यगवहितचित्तेन पदनिक्षेपप्रदेशमवलोकमानेन। सकज्जेण—कार्यं प्रयोजनं शास्त्रश्रवणतीर्थयात्रागुरुप्रेक्षणादिकं सह कार्येण वर्तते इति सकार्यस्तेन सकार्येण सप्रयोजनेन धर्मकार्यमन्तरेण न गन्तव्यमित्यर्थः। जंतूणि—जन्तून् जीवान् एकेन्द्रियप्रभृतीन्। परिहरंतेण—परिहरता अविराधयता।

की समिति एषणा समिति है। अर्थात् लोक-निन्दा आदि से रहित विशुद्ध आहार का ग्रहण करना। निक्षेप और आदान की समिति निक्षेपादान समिति है अर्थात् नेत्र से देखकर और पिच्छिका से परिमार्जित करके यत्नपूर्वक किसी वस्तु को उठाना और रखना। प्रतिष्ठापना की समिति प्रतिष्ठापन समिति है अर्थात् जन्तु से रहित प्रदेश में सम्यक् प्रकार से देखकर मल-मूत्र आदि का त्याग करना। इस तरह ये पाँच प्रकार की ही समितियाँ होती हैं ऐसा अभिप्राय है।

सामान्य से पाँच समितियों का स्वरूप निरूपित करके अब उनके विशेष अर्थ के लिए उत्तरसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखनेवाले साधु के द्वारा दिवस में प्रासुकमार्ग से जीवों का परिहार करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है ॥११॥

आचारवृत्ति—'प्रगता असवो यस्मिन्'—निकल गये हैं प्राणी जिनमें से उसे प्रासुक कहते हैं। ऐसा प्रासुक—निरवद्य मार्ग है। उस प्रासुक मार्ग से अर्थात् हाथी, गधा, ऊँट, गाय, भैंस और मनुष्यों के समुदाय के गमन से उपमर्दित हुआ जो मार्ग है उस मार्ग से। दिवस में—सूर्य के उदित हो जाने पर, चक्षु से वस्तु स्पष्ट दिखने पर चार हाथ आगे जमीन को देखते हुए अर्थात् अच्छी तरह एकाग्रचित्तपूर्वक पैर रखने के स्थान का अवलोकन करते हुए, सकार्य अर्थात् शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन आदि प्रयोजन से, एकेन्द्रिय आदि जन्तुओं की विराधना न करते हुए, जो गमन करना होता है, वह ईर्यासमिति है। इससे यह भी समझना कि धर्मकार्य के बिना साधु को नहीं चलना चाहिए।

इरियासमिदी—ईर्यासमितिः। **हवे**—भवेत्। **गमणं**—गमनम्। सकार्येण युगान्तरप्रेक्षिणा संयतेन दिवसे प्रासुकमार्गेण यद्गमनं क्रियते सेर्यासमितिर्भवतीत्यर्थः। अथवा संयतस्य जन्तून् परिहरतो यद्गमनं सेर्यासमितिः॥

भाषासमितेः स्वरूपनिरूपणायोत्तरसूत्रमाह—

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं॥१२॥

पेसुण्ण—पिशुनस्य भावः पैशून्यं निर्दोषस्य दोषोद्भावनम्। **हास**—हसनं हासः हास्यकर्मोदयवशादधर्मार्थहर्षः। **कक्कस**—कर्कशः श्रवणनिष्ठुरं कामयुद्धार्थप्रवर्तकं वचनम्। **परणिंदा**—परेषां निंदा जुगुप्सा परनिंदा। परेषां तथ्यानामतथ्यानां वा दोषाणामुद्भावनं प्रति समीहा अन्यगुणासहनम्। **अप्पपसंसा**—आत्मनः प्रशंसा स्तवः आत्मप्रशंसा स्वगुणाविष्करणाभिप्रायः। **विकहादी**—विकथा आदिर्येषां ते विकथादयः स्त्रीकथा, भक्तकथा, चौरकथा, राजकथादयः। एतेषां पैशून्यादीनां द्वंद्वसमासः। **वज्जित्ता**—वर्जयित्वा परिहृत्य। **सपरहियं**—स्वश्च परश्च स्वपरौ ताभ्यां हितं स्वपरहितं, आत्मनोऽन्यस्य च सुखकरं कर्मबंधकारणविमुक्तम्। **भासासमिदी**—भाषासमितिः। **हवे**—भवेत्। **कहणं**—कथनम्। **पैशून्य**-हासकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसाविकथादीन् वर्जयित्वा स्वपरहितं यदेतत् कथनं भाषासमितिर्भवतीत्यर्थः॥

एषणासमितिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

तात्पर्य यह है कि धर्मकार्य के निमित्त चार हाथ आगे देखते हुए साधु के द्वारा दिवस में प्रासुक मार्ग से जो गमन किया जाता है वह ईर्यासमिति कहलाती है। अथवा साधु का जीवों की विराधना न करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है।

अब भाषा समिति का निरूपण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—चुगली, हँसी, कठोरता, परनिन्दा, अपनी प्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर अपने और पर के लिए हितरूप बोलना भाषासमिति है॥१२॥

आचारवृत्ति—पिशुन—चुगली के भाव को पैशून्य कहते हैं अर्थात् निर्दोष के दोषों का उद्भावन करना, निर्दोष को दोष लगाना। हास्यकर्म के उदय से अधर्म के लिए हर्ष होना हास्य है। कान के लिए कठोर, काम और युद्ध के प्रवर्तक वचन कर्कश हैं। पर के सच्चे अथवा झूठे दोषों को प्रकट करने की इच्छा का होना अथवा अन्य के गुणों को सहन नहीं कर सकना यह परनिन्दा है। अपनी प्रशंसा-स्तुति करना अर्थात् अपने गुणों को प्रकट करने का अभिप्राय रखना और स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राजकथा आदि को कहना विकथादि हैं। इन चुगली आदि के वचनों को छोड़कर अपने और पर के लिए सुखकर अर्थात् कर्मबन्ध के कारणों से रहित वचन बोलना भाषासमिति है।

तात्पर्य यह है कि पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर स्व और पर के लिए हितकर जो कथन करना है वह भाषासमिति है।

अब एषणासमिति के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी ॥१३॥

छादालदोससुद्धं—षड्भिरधिका चत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशतश्च [षट्चत्वारिंशच्च] ते दोषाश्च षट्चत्वारिंशद्दोषाः तैः शुद्धं निर्मलं षट्चत्वारिंशद्दोषशुद्धं उद्गमोत्पादनैषणादिकलंकरहितम्। कारणजुत्तं—कारणैर्निमित्तैर्युक्तं सहितं कारणयुक्तं असातोदयजातबुभुक्षाप्रतीकारार्थं वैयावृत्यादिनिमित्तं च। विसुद्धणवकोडी—नव च ताः कोटयश्च विकल्पाश्च नवकोटयः विशुद्धा निर्गता नवकोटयो यस्माद्विशुद्धनवकोटि मनोवचनकायकृतकारितानुमतिरहितम्। सीदादि—शीतमादिर्यस्य तच्छीतादि शीतोष्णलवणसरसविरसरूक्षादिकम्। समभुत्ती—समा सदृशी भुक्तिर्भोजनं समभुक्तिः। शीतादौ समभुक्तिः शीतादिसमभुक्तिः शीतोष्णादिषु भक्ष्येषु रागद्वेषरहितत्वम्। परिसुद्धा—समन्ततो निर्मला। एसणासमिदी—एषणासमितिः। षट्चत्वारिंशद्दोषरहितं यदेतत् पिंडग्रहणं सकारणं मनोवचनकायकृतकारितानुमतिरहितं च शीतादौ समभुक्तिश्च, अनेन न्यायेनाचरतो निर्मलैषणासमितिर्भवतीत्यर्थः॥

आदाननिक्षेपसमितिस्वरूपं निरूपयन्नाह—

णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥१४॥

णाणुवहि—ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्योपधिरुपकरणं ज्ञानोपधिर्ज्ञाननिमित्तं पुस्तकादि। संजमुवहि—संयमस्य पापक्रियानिवृत्तिलक्षणस्योपधि[1]रुपकरणं संयमोपधिः प्राणिदयानिमित्तं पिच्छिकादिः। सउचुवहिं

गाथार्थ—छयालीस दोषों से रहित शुद्ध, कारण से सहित, नव कोटि से विशुद्ध और शीत-उष्ण आदि में समान भाव से भोजन करना यह सम्पूर्णतया निर्दोष एषणा समिति है ॥१३॥

आचारवृत्ति—उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि छयालीस दोषों से शुद्ध आहार निर्दोष कहलाता है। असाता के उदय से उत्पन्न हुई भूख के प्रतीकार हेतु और वैयावृत्य आदि के निमित्त किया गया आहार कारणयुक्त होता है। मन-वचन-काय को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणित करने पर नव होते हैं। इन नवकोटि-विकल्पों से रहित आहार नव-कोटि-विशुद्ध है। ठण्डा, गर्म, लवण से सरस या विरस अथवा रूक्ष आदि भोजन में समानभाव अर्थात् शीत, उष्ण आदि भोज्य वस्तुओं में राग-द्वेषरहित होना, इस प्रकार सब तरफ से निर्मल-निर्दोष आहार ग्रहण करना एषणासमिति होती है। तात्पर्य यह है कि छयालीस दोषरहित जो आहार का ग्रहण है जो कि कारण सहित है और मन-वचन-कायपूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना से रहित तथा शीतादि में समता भावरूप है वह साधु के निर्मल एषणासमिति होती है।

अब आदाननिक्षेपण समिति के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान का उपकरण, संयम का उपकरण, शौच का उपकरण अथवा अन्य भी उपकरण को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है ॥१४॥

आचारवृत्ति—ज्ञान—श्रुतज्ञान के उपधि—उपकरण अर्थात् ज्ञान के निमित्त पुस्तक आदि ज्ञानोपधि हैं। पापक्रिया से निवृत्ति लक्षणवाले संयम के उपकरण अर्थात् प्राणियों की

१. क 'धिः कारणं।

—शौचस्य पुरीषादिमलापहरणस्योपधिः उपकरणं[1] शौचोपधिर्मूत्रपुरीषादिप्रक्षालननिमित्तं कुण्डिकादिद्रव्यम्। ज्ञानोपधिश्च संयमोपधिश्च शौचोपधिश्च ज्ञानोपधिसंयमोपधिशौचोपधयस्तेषां ज्ञानाद्युपधीनाम्। अण्णमवि—अन्यस्यापि संस्तरादिकस्य। उवहिं वा—उपधेर्वा उपकरणस्य संस्तरादिनिमित्तस्य उपकरणस्य प्राकृतलक्षणबलात् षष्ठीविभक्तिर्द्रष्टव्या। पयदं—प्रयत्नेनोपयोगं कृत्वा। गहणिक्खेवो—ग्रहणं ग्रहः निक्षेपणं निक्षेपः, ग्रहश्च निक्षेपश्च ग्रहनिक्षेपौ। समिदी—समितिः। आदाणणिक्खेवा—आदाननिक्षेपौ। ज्ञानोपधिसंयमोपधिशौचोपधीनामन्यस्य चोपधेर्यत्नेन यौ ग्रहणनिक्षेपौ प्रतिलेखनपूर्वकौ सा आदाननिक्षेपा समितिर्भवतीत्यर्थः॥

पंचमसमितिस्वरूपनिरूपणायाह—

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी॥१५॥

एगंते—एकान्ते विजने यत्रासंयतजनप्रचारो नास्ति। अच्चित्ते—हरितकायत्रसकायादिविविक्ते दग्धे—दग्धसमे स्थण्डिले। दूरे—ग्रामादिकाद्विप्रकृष्टे प्रदेशे। गूढे—संवृते जनानामचक्षुर्विषये। विसालं—

दया के निमित्त पिच्छिका आदि संयमोपधि हैं। मल आदि के दूर करने के उपकरण अर्थात् मलमूत्रादि प्रक्षालन के निमित्त कमण्डलु आदि द्रव्य शौचोपधि हैं। अन्य भी उपधि का अर्थ है संस्तर आदि उपकरण। अर्थात् घास, पाटा आदि वस्तुएँ। इन सब उपकरणों को प्रयत्न-पूर्वक अर्थात् उपयोग स्थिर करके सावधानीपूर्वक ग्रहण करना तथा देख शोधकर ही रखना यह आदान-निक्षेपण समिति है। यहाँ गाथा में 'उपधि' शब्द में द्वितीया विभक्ति है किन्तु प्राकृतव्याकरण के बल से यहाँ पर षष्ठी विभक्ति का अर्थ लेना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण तथा अन्य भी उपधि (वस्तुओं) का सावधानीपूर्वक पिच्छिका से प्रतिलेखन करके जो उठाना और धरना है वह आदान-निक्षेपण समिति है।

अब पाँचवीं समिति का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—एकान्त, जीवजन्तु रहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोधरहित स्थान में मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है॥१५॥

आचारवृत्ति—जहाँ पर असंयतजनों का गमनागमन नहीं है ऐसे विजन स्थान को एकान्त कहते हैं। हरितकाय और त्रसकाय आदि से रहित जले हुए अथवा जले के समान ऐसे स्थण्डिल—खुले मैदान को अचित्त कहा है।* ग्राम आदि से दूर स्थान को यहाँ दूर शब्द

---

१. क °धिः कारणं।

* निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥१८॥

अर्थ—जीव मरें चाहे न मरें किन्तु अयत्नाचारप्रवृत्ति वाले के निश्चित ही हिंसा होती है और समितियुक्त यत्नाचार प्रवृत्ति करनेवाले के हिंसा हो जाने मात्र से भी बन्ध नहीं होता है।

विशाले विस्तीर्णे विलादिविरहिते। अविरोहे—अविरोधे यत्र लोकापवादो नास्ति । उच्चारादि—उच्चारो मलं आदिर्यस्य स उच्चारादिस्तस्य उच्चारादेः मूत्रपुरीषादेः । चाओ—त्यागः । पदिठावणिया—प्रतिष्ठापनिका। हवे—भवेत् । समिदी—समितिः । एकान्ताचित्तदूरगूढविशालाविरोधेषु प्रदेशेषु यत्नेन कायमलादेर्यस्त्यागः सा उच्चारप्रस्रवणप्रतिष्ठापनिका समितिर्भवतीत्यर्थः।

इन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणायोत्तरविभागसूत्रमाह—

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥१६॥

चक्खु—चक्षुः। सोदं—श्रोत्रम् । घाणं—घ्राणम् । जिब्भा—जिह्वा । फासं—स्पर्शः । च समुच्चयार्थः । इंदिया—इन्द्रियाणि मतिज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तयः । इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं चेति । तत्र द्रव्येन्द्रियं द्विविधं निर्वृत्तिरुपकरणं च। कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः, सा च द्विविधा बाह्याभ्यन्तरा चेति उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनेन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । तेषु आत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाग् यः प्रतिनियतसंस्थाननामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः। येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणं। तदपि द्विविधं आभ्यन्तरबाह्यभेदेन। तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलं। बाह्य-

---

से सूचित किया है। संवृत्त—मर्यादा सहित स्थान अर्थात् जहाँ लोगों की दृष्टि नहीं पड़ सकती ऐसे स्थान को गूढ़ कहते हैं। विस्तीर्ण या विलादि से रहित स्थान विशाल कहा गया है और जहाँ पर लोगों का विरोध नहीं है वह अविरुद्ध स्थान है। ऐसे स्थान में शरीर के मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना नाम की समिति है। तात्पर्य यह हुआ कि एकान्त, अचित्त, दूर, गूढ़, विशाल और विरोधरहित प्रदेशों में सावधानीपूर्वक जो मल आदि का त्याग करना है वह मल-मूत्र विसर्जन के रूप में प्रतिष्ठापन समिति होती है।

अब इन्द्रियनिरोध व्रत के स्वरूप का निरूपण करने के लिए उत्तरविभाग सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—मुनि को चाहिए कि वह चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन इन पाँच इन्द्रियों को अपने विषयों से हमेशा रोके ॥१६॥

आचारवृत्ति—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श ये इन्द्रियाँ हैं अर्थात् मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की शक्ति का नाम इन्द्रिय है। इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। उनमें द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। कर्म के द्वारा जो बनायी जाती है वह निर्वृत्ति है। उसके भी दो भेद हैं— आभ्यंतर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, शुद्ध आत्मा के प्रदेशों का प्रतिनियत चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियों के आकार से अवस्थित होना आभ्यन्तर-निर्वृत्ति है और उन आत्मप्रदेशों में इन्द्रिय इस नाम को प्राप्त प्रतिनियत आकार रूप नामकर्म के उदय से होनेवाला अवस्था विशेष रूप जो पुद्गल वर्गणाओं का समूह है वह बाह्य निर्वृत्ति है। जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है। आभ्यन्तर और बाह्य की अपेक्षा उसके

मक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियरसनेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रियाणां वक्तव्यं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यम्। भावेन्द्रियमपि द्विविधं लब्ध्युपयोगभेदेन। लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते सा लब्धिः। तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात्। वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमांगोपांगनामलाभावष्टम्भवलादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्, रस्यतेऽनेनेति रसनम्, घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम्, चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः, श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते कर्तृकरणयोरभेदात्। इदं मे चक्षुः सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति। स्पृशतीति स्पर्शनम्। रसतीति रसनम्। जिघ्रतीति घ्राणम्। चष्टे इति चक्षुः। शृणोतीति श्रोत्रमिति। एवमिन्द्रियाणि पंच। तद्विषयाश्च पंच। वर्ण्यत इति वर्णः। शब्द्यते इति शब्दः। गन्ध्यत इति गन्धः। रस्यत इति रसः। स्पृश्यत इति स्पर्शः इति। पंच—संख्यावचनमेतत्। सगसगविसएहिंतो—स्वकीयेभ्यः स्वकीयेभ्यो विषयेभ्यो रूपशब्दगन्धरसस्पर्शेभ्यः स्वभेद-

---

भी दो भेद हैं। चक्षु इन्द्रिय का काला और सफेद जो मण्डल है वह आभ्यन्तर उपकरण है और नेत्रों की पलक विरूनि आदि बाह्य उपकरण हैं। ऐसे ही श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय इनमें बाह्य और आभ्यन्तर निर्वृत्ति तथा उपकरण के भेदों को समझना चाहिए।

भावेन्द्रियों के भी दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग। लंभनं लब्धिः अर्थात् प्राप्त करना लब्धि है। वह ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष है अर्थात् जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापार करता है वह लब्धि है। उस निमित्तक आत्मा का परिणाम उपयोग है क्योंकि कारण का धर्म कार्य में देखा जाता है। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामक नामकर्म के लाभ से प्राप्त हुए बल से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन है। इन्हीं उपर्युक्त कर्मों के क्षयोपशम और उदय के बल से अर्थात् वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण के अन्तर्गत रसनेन्द्रिय आवरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से आत्मा जिसके द्वारा चखता है उसको रसना कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा जिसके द्वारा सूँघता है वह घ्राणेन्द्रिय है। आत्मा जिसके द्वारा पदार्थों को 'चष्टे' अर्थात् देखता है वह चक्षु है और जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र है। ये उपर्युक्त लक्षण करण की अपेक्षा से कहे गये हैं अर्थात् 'स्पर्श्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्' इत्यादि। इस व्युत्पत्ति के अर्थ में इन्द्रियाँ अप्रधान हैं। इनमें स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है क्योंकि कर्ता और करण में अभेद पाया जाता है। जैसे—'इदं मे चक्षुः सुष्ठु पश्यति' इत्यादि। अर्थात् यह मेरी आँख ठीक से देखती है, यह मेरा कान अच्छा सुनता है, इत्यादि। इसी प्रकार जो स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो चखता है वह रसना है, जो सूँघता है वह घ्राण है, जो देखती है वह चक्षु है और जो सुनता है वह कान है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ पाँच हैं।

इन इन्द्रियों के विषय भी पाँच प्रकार के हैं—जो देखा जाता है वह वर्ण है; जो ध्वनित होता है, सुना जाता है वह शब्द है; जो सूँघा जाता है वह गन्ध है; जो चखा जाता है वह रस है और जो स्पर्शित किया जाता है वह स्पर्श है। गाथा में 'पंच' शब्द संख्यावाची है। स्वकीय भेदों से भेदरूप सुन्दर और असुन्दर ऐसे रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श स्वरूप अपने-

भिन्नेभ्यो मनोहरामनोहररूपेभ्यः । णिरोहियव्वा—निरोधयितव्यानि—सम्यक् ध्याने प्रवेशयितव्यानि। सया—सदा सर्वकालम् । मुणिणा—मुनिना संयमप्रियेण। स्वकीयेभ्यः स्वकीयेभ्यो विषयेभ्यो रूपशब्द-गन्धरसस्पर्शेभ्यश्चक्षुरादीनां निरोधनानि मुनेर्यानि तानि पंच इन्द्रियनिरोधनानि पंच मूलगुणा भवन्तीत्यर्थः। अथवा ये पंच निरोधा इंद्रियाणां क्रियंते मुनिना स्वविषयेभ्यस्ते पंचेंद्रिय-निरोधाः पंच मूलगुणा भवन्तीत्यर्थः।

प्रथमस्य चक्षुर्निरोधव्रतस्य स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु ।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥१७॥

सच्चित्ताचित्ताणं—सहचित्तेन सामान्यज्ञानदर्शनोपयोगनिमित्तचैतन्येन वर्तन्त इति सचित्तानि सजीवरूपाणि देवमनुष्यादियोषिद्रूपाणि, न चित्तानि अचित्तानि सचित्तद्रव्यप्रतिविम्बानि, अजीव-द्रव्याणि च। सचित्तानि, चाचित्तानि च सचित्ताचित्तानि, तेषां सचित्ताचित्तानाम्। **किरियासंठाणवण्ण-भेएसु**—क्रिया गीतविलासनृत्यचंक्रमणात्मिका, संस्थानं समचतुरस्रन्यग्रोधाद्यात्मकं वैशाखबन्धपुटाद्यात्मकं च, वर्णाः गौरश्यामादयः। क्रिया च संस्थानं च वर्णाश्च क्रियासंस्थानवर्णाः, तेषां भेदा विकल्पाः क्रियासंस्थान-

---

अपने विषयों से इन पाँचों इन्द्रियों का निरोध करना चाहिए अर्थात् मुनियों को हमेशा इन्हें समीचीन ध्यान में प्रवेश कराना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श-स्वरूप अपने-अपने विषयों से मुनि के जो चक्षु आदि इन्द्रियों के निरोध होते हैं वे पाँच इन्द्रिय निरोध मूलगुण कहलाते हैं। अथवा मुनि के द्वारा पाँच इन्द्रियों का जो अपने विषयों से रोकना है वे ही पाँच इन्द्रिय-निरोध नाम के मूलगुण होते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर पाँच इन्द्रियों में चक्षुइन्द्रिय को पहले लेकर पुनः कर्णेन्द्रिय को लिया है, अनन्तर घ्राण, रसना और स्पर्शन को लिया है। सिद्धान्त ग्रन्थों में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ऐसा क्रम लिया जाता है। इन दोनों प्रकारों में परस्पर में कोई बाधा नहीं है। वहाँ सिद्धान्त में उत्पत्ति की अपेक्षा इन्द्रियों का क्रम है क्योंकि जो एकेन्द्रिय हैं उनके एक स्पर्शन ही है न कि चक्षु; जो दो-इन्द्रिय जीव हैं उनके स्पर्शन और रसना, जो तीन-इन्द्रिय जीव हैं उनके स्पर्शन, रसना और घ्राण; चार-इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु तथा पाँच-इन्द्रिय जीवों के कर्ण और मिलाकर पाँच इन्द्रियाँ हो जाती हैं। परन्तु यहाँ पर क्रम की कोई विवक्षा नहीं, मात्र पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकने में पाँच मूलगुण हो जाते हैं अतः यहाँ अक्रम से लेने में भी कोई बाधा नहीं है।

अब प्रथम चक्षुनिरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—सचेतन और अचेतन पदार्थों के क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों में मुनि के जो राग-द्वेष आदि संग का त्याग है वह चक्षुनिरोध व्रत होता है ॥१७॥

आचारवृत्ति—सामान्य ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग निमित्तक चैतन्य को चित्त कहते हैं। उसके साथ जो रहते हैं वे सचित्त हैं अर्थात् देव, मनुष्य आदि के, स्त्रियों के सजीव रूप सचित्त हैं, सचित्त द्रव्य के प्रतिबिम्ब और अजीवद्रव्य अचित्त हैं। इन सचेतन और अचेतन पदार्थों की गीत, विलास, नृत्य, गमन आदि क्रियाओं में, इनके समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि

सवर्णभेदास्तेषु क्रियासंस्थानवर्णभेदेषु, नृत्यगीतकटाक्षनिरीक्षणसमचतुरस्राकारगौरश्यामादिविकल्पेषु, शोभनाशोभनेषु। रागादिसंगहरणं—राग आदिर्येषां ते रागादयः रागादयश्च ते संगाश्च रागादिसंगाः संगाश्चासक्तयस्तेषां हरणं निराकरणं रागादिसंगहरणं रागद्वेषाद्यनभिलाषः। चक्खुणिरोहो—चक्षुषोर्निरोधश्चक्षुर्निरोधः चक्षुरिन्द्रियाप्रसरः। हवे—भवेत्। मुणिणो—मुनेरिन्द्रियसंयमनायकस्य। स्त्रीपुरुषाणां स्वरूपलेपकर्मादिव्यवस्थितानां ये क्रियासंस्थानवर्णभेदास्तद्विषये यदेतत् रागादिनिराकरणं तच्चक्षुर्निरोधव्रतं मुनेर्भवतीत्यर्थः॥

श्रोत्रेन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

सड्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥१८॥

सड्जादिजीवसद्दे—षड्जः स्वरविशेषः स आदिर्येषां ते षड्जादयः जीवस्य शब्दा जीवशब्दाः षड्जा-

---

आकारों और वैशाख तथा बन्धपुट आदि आसनों में और गौर श्याम आदि वर्णों में अर्थात् नर्तन, गीत, कटाक्ष, निरीक्षण, समचतुरस्र आकार और गौर-श्याम आदि तथा सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक भेदों में राग-द्वेषपूर्वक आसक्ति का त्याग करना अर्थात् राग-द्वेष आदि पूर्वक अभिलाषा नहीं होना—यह इन्द्रियसंयम के स्वामी मुनि का चक्षुनिरोध व्रत है।

विशेषार्थ—उपयोग को भावेन्द्रिय में भी लिया है और जीव का आत्मभूत लक्षण भी उपयोग है जोकि सिद्धों में भी पाया जाता है, दोनों में क्या अन्तर है? और यदि अन्तर न माना जाये तो सिद्धों में भी भावेन्द्रिय का सद्भाव मानना पड़ेगा। इसपर धवला टीकाकार ने बताया है*—'क्षयोपशमजनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति, तस्य क्षायिकभावेनापसारित्वात्।' अर्थात् क्षयोपशम से उत्पन्न हुए उपयोग को इन्द्रिय कहते हैं। किन्तु जिनके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धों में क्षयोपशम नहीं पाया जाता है क्योंकि वह क्षायिकभाव के द्वारा दूर कर दिया जाता है। अभिप्राय यह कि भावेन्द्रियों में जो उपयोग लिया है वह भी यद्यपि आत्मा का ही परिणाम है तो भी वह कर्मों के क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है और सिद्धों को भावेन्द्रियाँ न होने के कारण उनका उपयोग पूर्णतया ज्ञान-दर्शन रूप होने से क्षायिक है अतः वह इन्द्रियों में गर्भित नहीं है।

तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप में या लेपकर्म आदि में बने हुए जो स्त्री या पुरुष हैं उनकी क्रियाओं, आकार और वर्णभेदों में जो राग-द्वेष आदि का निराकरण करना है वह मुनि का चक्षुनिरोध नाम का व्रत है।

अब श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि शब्द और वीणा आदि अजीव से उत्पन्न हुए शब्द—ये सभी रागादि के निमित्त हैं। इनका नहीं करना कर्णेन्द्रिय-निरोध व्रत है॥१८॥

आचारवृत्ति—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, पंचम और निषाद के भेदों की

---

* धवला पु. प्र. पृ. २५१।

दयश्च जीवशब्दाश्च षड्जादिजीवशब्दाः षड्जर्षभगान्धारमध्यमधैवतपंचमनिषादभेदा उरःकण्ठशिरःस्थान-भेदभिन्नाः, आरोह्यवरोहिस्थायिसंचारिवर्णयुक्ता मन्द्रतारादिसमन्विताः, अन्ये च दुःस्वरशब्दा रासभादि-समुत्था ग्राह्याः। वीणादिअजीवसंभवा—वीणा आदिर्येषां ते वीणादयो वीणादयश्च ते अजीवाश्च वीणाद्यजीवा-स्तेभ्यः संभवन्तीति वीणाद्यजीवसम्भवा वीणा-त्रिशरी-रावणहस्तालावनि-मृदंग-भेरी-पटहाद्युद्भवाः । सद्दे-शब्दाः। रागादीण—राग आदिर्येषां ते रागादयस्तेषां रागादीनां रागद्वेषादीनाम् । णिमित्ते—निमित्तानि हेतवो रागादिकारणभूताः । तदकरणं—तेषां षड्जादीनामकरणमश्रवणं च तदकरणं स्वतो न कर्तव्या नापि तेऽन्यैः क्रियमाणा रागाद्याविष्टचेतसा श्रोतव्या इति । सोदरोधो दु—श्रोत्रस्य श्रोत्रेन्द्रियस्य रोधः श्रोत्ररोधः। दु विशेषार्थः । रागादिहेतवो ये षड्जादयो जीवशब्दा वीणाद्यजीवसम्भवाश्च, तेषां यदश्रवणं आत्मना अकरणं च तच्छ्रोत्रव्रतं मुनेर्भवतीत्यर्थः। अथवा षड्जादिजीवशब्दविषये वीणाद्यजीवसंभवे शब्दविषये च रागादीनां यन्नि-मित्तं तस्याकरणमिति ॥

तृतीयस्य घ्राणेन्द्रियनिरोधव्रतस्य स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥१९॥

अपेक्षा जीव से उत्पन्न हुए शब्दों के सात भेद हैं। छाती, कण्ठ, मस्तक स्थान से उत्पन्न होने की अपेक्षा भी शब्दों के अनेक भेद हैं। आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी वर्णों से युक्त मन्द्र तार आदि ध्वनि से सहित भी नाना प्रकार के शब्द जीवगत देखे जाते हैं और अन्य भी, गधे आदि से उत्पन्न हुए दुःस्वर शब्द भी यहाँ ग्रहण किये जाते हैं। वीणा, त्रिशरी, रावण के हाथ की आलावनि०, मृदंग, भेरी, पटह आदि से होनेवाले शब्द अजीव से उत्पन्न होते हैं अतः ये अजीवसंभव कहलाते हैं। ये सभी प्रकार के शब्द राग-द्वेष आदि के निमित्तभूत हैं। इन शब्दों को न करना और न सुनना अर्थात् राग-द्वेष के कारणभूत इन शब्दों को न स्वयं करना और न ही दूसरों द्वारा किये जाने पर रागादि युक्त मन से इनको सुनना—यह श्रोत्रेन्द्रिय-निरोधव्रत है। तात्पर्य यह कि षड्ज आदि जीव-शब्द और वीणा आदि से उत्पन्न हुए अजीव-शब्द—ये सभी राग-द्वेष आदि के हेतु हैं। इनका जो नहीं सुनना और नहीं करना है मुनि का वह श्रोत्रव्रत कहलाता है। अथवा संक्षेप में यह समझिए कि षड्जादि जीव शब्द के विषयों में और वीणादि से उत्पन्न अजीव शब्द के विषयों में राग-द्वेषादि का निमित्त है। उसे नहीं करना श्रोत्रेन्द्रियजय है।

अब तृतीय घ्राणेन्द्रियनिरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीवस्वरूप सुख और दुःखरूप प्राकृतिक तथा पर-निमित्तिक गन्ध में जो राग-द्वेष का नहीं करना है वह मुनिराज का घ्राणेन्द्रियजय व्रत है ॥१९॥

---

१. क "रस्सभे"।

० पद्मपुराण में चर्चा है कि रावण ने बालि मुनि की स्तुति अपने हाथ की नसें निकालकर की थी। इसी को लक्ष्य कर रावणहस्तालावनि वाद्य विशेष का नाम प्रचलित हुआ जान पड़ता है।

पयडीवासणगंधे—प्रकृतिः स्वभावः, वासना अन्यद्रव्यकृतसंस्कारः, प्रकृतिश्च वासना च प्रकृतिवासने ताभ्यां गन्धः सौरभ्यादिगुणः प्रकृतिवासनागन्धस्तस्मिन् स्वस्वभावान्यद्रव्यसंस्कारकृते सौरभ्यादिगुणे। जीवाजीवप्पगे—जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा चेतनालक्षणो जीवः सुखदुःखयोः कर्ता, न जीवोऽजीवस्तद्विपरीतः, जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ तौ प्रगच्छतीति जीवाजीवप्रगः जीवाजीवस्वरूपः तस्मिन् जीवाजीवस्वरूपे कस्तूरीयक्षकर्दमचंदनादिसुगन्धद्रव्ये। सुहे—सुखे स्वात्मप्रदेशाह्लादनरूपे। असुहे—असुखे स्वप्रदेशपीडाहेतौ सुखदुःखयोर्निमित्ते। रागद्देसाकरणं—रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तयोरकरणं अनभिलापः[1] रागद्वेषाकरणमनुरागजुगुप्सानभिलापः। घाणणिरोहो—घ्राणेन्द्रियनिरोधः घ्राणेन्द्रियाप्रसरः। मुणिवरस्स—मुनीनां वरः श्रेष्ठो, मुनिवरः यतिकुञ्जरस्तस्य मुनिवरस्य। जीवगते अजीवगते च प्रकृतिगन्धे वासनागन्धे च सुखरूपेऽसुखरूपे च यदेतद्रागद्वेषयोरकरणं मुनिवरस्य तत् घ्राणेन्द्रियनिरोधव्रतं भवतीत्यर्थः॥

चतुर्थं रसनेन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओ[2]ऽगिद्धी ॥२०॥

आचारवृत्ति—स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, अन्य द्रव्य के द्वारा किये गये संस्कार को वासना कहते हैं और सुरभि आदि गुण को गन्ध कहते हैं। जो जीता है, जियेगा और पहले जीवित था वह जीव है अथवा चेतना लक्षणवाला जीव है जो कि सुख और दुःख का कर्ता है। जीव के लक्षण से विपरीत लक्षणवाला अजीव है। इन जीव और अजीव को प्राप्त होनेवाली अर्थात् जीव और अजीव स्वरूप से गन्ध दो प्रकार की होती है। इसमें से कस्तूरी मृग की नाभि से उत्पन्न होती है, अतः यह जीवस्वरूप गन्ध है। यक्षकर्दम, चन्दन आदि अजीव स्वरूप गन्ध हैं। जो सुगन्धित हैं वे अपनी आत्मा के प्रदेशों में आह्लादनरूप सुख की निमित्त हैं। इनसे विपरीत जीव-अजीव रूप दुर्गन्ध आत्म-प्रदेशों में पीड़ा के निमित्त होने से दुःखरूप हैं। इनमें राग-द्वेष नहीं करना अर्थात् अनुराग और ग्लानि का भाव नहीं होना—यह मुनिपुंगवों का घ्राणेन्द्रिय निरोध नाम का व्रत है। तात्पर्य यह कि जीवगत और अजीव जो स्वाभाविक अथवा अन्य निमित्त से की गयी गन्ध हैं जो कि सुख और दुःख रूप हैं अर्थात् अच्छी या बुरी हैं उनमें जो राग-द्वेष का नहीं करना है वह मुनिवरों का घ्राणेन्द्रियनिरोध व्रत है।

विशेषार्थ*—जिसमें कस्तूरी, अगुरु, कपूर और कंकोल समान मात्रा में डाले जाते हैं वह यक्षकर्दम है अथवा महासुगन्धित लेप यक्षकर्दम कहलाता है।

अब चौथे रसना इन्द्रियनिरोध का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—अशन आदि से चार भेदरूप, पंच रसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, पर के द्वारा दिये गये रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में लम्पटता का नहीं होना जिह्वाइन्द्रियनिरोध व्रत है ॥२०॥

---

१. क 'पः अननुरागजु'। २. जऊ द.।

* कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलैर्यक्षकर्दमः इत्यमरकोषः।

असणादिचदुवियप्पे—अशनमादिर्येषां तेऽशनादयो भोजनादयः चत्वारश्च ते विकल्पाश्च चतुर्विकल्पाः अशनादयश्चतुर्विकल्पा यस्मिन्नसौ अशनादिचतुर्विकल्पस्तस्मिन्नशनपानखाद्यस्वाद्यभेदे भक्तदुग्धलड्डुकैलादिस्वभेदभिन्ने। **पंचरसे**—पंचरसा यस्मिन्नसौ पंचरसस्तस्मिन् पंचरसे तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदभिन्ने। लवणस्य मधुररसेऽन्तर्भावः। **फासुए**—प्रासुके जीवसम्मूर्च्छनादिरहिते। **णिरवज्जे**—अवद्यात्पापान्निर्गतो निरवद्यस्तस्मिन् निरवद्ये पापागमविरहिते कुत्सादिदोषमुक्ते च। **इट्ठाणिट्ठे**—इष्टोऽभिप्रेतो मनोह्लादकः, अनिष्टोऽनभिप्रेतः मनोदुःखदः, इष्टश्च अनिष्टश्चेष्टानिष्टस्तस्मिन्निष्टानिष्टे। **आहारे**—आहारो बुभुक्षाद्युपशामकं द्रव्यं तस्मिन्नाहारे। **दत्ते**—प्राप्ते दातृजनोपनीते। **जिब्भाजओ**[१]—जिह्वाया जयो जिह्वाजयो रसनेन्द्रियात्मवशीकरणम्। **अगिद्धी**—अगृद्धिरनाकांक्षा। आहारे अशनादिचतुष्प्रकारे पंचरससमन्विते प्रासुके निरवद्ये च प्राप्ते[२] सति येयमगृद्धिस्तज्जिह्वाजयव्रतं भवतीत्यर्थः॥

स्पर्शनेन्द्रियनिरोधव्रतस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्नुत्तरसूत्रमाह—

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे।
फासे[३] सुहे य असुहे फासणिरोहो[४] असंमोहो॥२१॥

जीवाजीवसमुत्थे—जीवश्च अजीवश्च जीवाजीवौ तयोः जीवाजीवयोः समुत्तिष्ठते सम्भवतीति जीवाजीवसमुत्थस्तस्मिश्चेतनाचेतनसम्भवे। **कक्कडमउगादि अट्ठभेदजुदे**—कर्कशः कठिनः, मृदुः कोमलं

आचारवृत्ति—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य के भेद से भोज्य वस्तु के चार भेद हैं। इनके उदाहरण में भक्त अर्थात् रोटी-भात आदि अशन हैं, दूध आदि पीने योग्य पदार्थ पान हैं, लड्डू आदि खाद्य हैं और इलायची आदि स्वादिष्ट वस्तुएँ स्वाद्य हैं। तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे के भेद से रस के पाँच भेद हैं। यहाँ पर नमक को मधुररस में अन्तर्भूत किया गया है। अर्थात् नमक भोजन में सबसे अधिक रुचिकर होने से इसका अन्तर्भाव मधुररस में ही हो जाता है। सम्मूर्च्छन आदि जीवों से रहित को प्रासुक कहते हैं। आगम कथित आहार के दोषों से रहित भोजन निर्दोष कहलाता है, अर्थात् जो पाप के आस्रव का कारण नहीं है और कुत्सा-निन्दा, ग्लानि आदि दोषों से रहित है तथा जो दातारों के द्वारा दिया गया एवं भूख आदि को शमन करनेवाला द्रव्य जो कि आहार इस नाम से विवक्षित है ऐसा आहार चाहे मन को आह्लादकर होने से इष्ट हो या मन को अरुचिकर होने से अनिष्ट हो उसमें गृद्धि अर्थात् आसक्ति या आकांक्षा नहीं रखना, अपनी रसना इन्द्रिय को अपने वश में करना—यह जिह्वाजय व्रत है। तात्पर्य यह कि अशन आदि के भेद से चार प्रकार रूप, पाँच रसों से समन्वित, प्रासुक तथा निर्दोष ऐसे आहार के मिलने पर उसमें गृद्धता नहीं होना जिह्वाजयव्रत कहलाता है।

अब स्पर्शनेन्द्रिय निरोधव्रत के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उत्तरसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर, कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दुःखरूप स्पर्श में मोह रागादि नहीं करना स्पर्शनेन्द्रियनिरोध है॥२१॥

आचारवृत्ति—कठोर, कोमल शीत, उष्ण, चिकने, रूखे, भारी और हल्के ये आठ प्रकार स्पर्श हैं। ये स्त्री आदि के निमित्त से होने पर चेतन से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं और गद्दे

१ जऊ द.। २ क 'प्राप्तेऽप्र'। ३ क फस्से। ४ क फस्स।

कर्कशश्च मृदुश्च कर्कशमृदू तावादिर्येषां ते कर्कशमृद्वादयः अष्टौ च ते भेदाश्चाष्टभेदाः कर्कशमृद्वादयश्च ते अष्टभेदाश्च कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदास्तैर्युक्तः कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदयुक्तस्तस्मिन् कर्कशमृदुशीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुगुण-विकल्पसमन्विते वनितातूलिकाद्याधारभूते। फासे—स्पर्शे। सुहे—सुखे सुखहेतौ। असुहे य—असुखे[1] च दुःखहेतौ। फासणिरोहो—स्पर्शनिरोधः स्पर्शनेन्द्रियजयः। असंमोहो—न सम्मोहः असम्मोहोऽनाह्लाद इत्यर्थः। जीवाजीवसमुद्भवे कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदयुक्ते सुखासुखस्वरूपनिमित्ते स्पर्शविषये योऽयमसम्मोहोऽनभिलाषः स्पर्शनेन्द्रियनिरोधव्रतं भवतीत्यर्थः ॥

पंचेन्द्रियनिरोधव्रतानां स्वरूपं निरूप्य षडावश्यकव्रतानां स्वरूपं नामनिर्देशं च निरूपयन्नाह—

समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥

समदा—समस्य भावः समता रागद्वेषादिरहितत्वं[2] त्रिकालपंचनमस्कारकरणं वा। **थवो**—स्तवः चतुर्विंशतितीर्थकरस्तुतिः। **वंदणा**—वन्दना एकतीर्थकृत्प्रतिबद्धा दर्शनवन्दनादिपंचगुरुभक्तिपर्यन्ता वा। **पडिक्कमणं**—प्रतिक्रमणं प्रतिगच्छति पूर्वसंयमं येन तत् प्रतिक्रमणं स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः दैवसिकादयः सप्तकृतापराधशोधनानि। तहेव—तथैव तेनैव प्रकारेणागमाविरोधेनैव। **णादव्वं**—ज्ञातव्यं सम्यगवबोद्धव्यम्। **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यानमयोग्यद्रव्यपरिहारः, तपोनिमित्तं योग्यद्रव्यस्य वा परिहारः। **विसग्गो**—व्युत्सर्गः, देहे ममत्वनिरासः जिनगुणचिन्तायुक्तः कायोत्सर्गः। **करणीया**—करणीया अनुष्ठेयाः। **आवसया**—

वस्त्र आदि के निमित्त से होने पर अचेतनजन्य माने जाते हैं। ये सुख हेतुक हों या दुःख हेतुक, इनमें आह्लाद नहीं करना अर्थात् हर्ष-विषाद नहीं करना—यह स्पर्शनेन्द्रियजय है। तात्पर्य यह है कि जीव या अजीव से उत्पन्न हुए, कर्कश आदि आठ भेदों से युक्त, सुख अथवा दुःख में निमित्तभूत स्पर्श नामक विषय में जो अभिलाषा का नहीं होना है वह स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत है।

पाँचों इन्द्रियों के निरोधरूप व्रतों का स्वरूप बताकर अब छह आवश्यक व्रतों का स्वरूप और नाम निर्देश बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण और उसी प्रकार प्रत्याख्यान तथा व्युत्सर्ग ये करने योग्य आवश्यक क्रियाएँ छह ही जानना चाहिए ॥२२॥

आचारवृत्ति—समभाव को समता कहते हैं अर्थात् राग-द्वेषादि से रहित होना, अथवा त्रिकाल में पंचनमस्कार का करना। चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति स्तव है। एक तीर्थंकर से सम्बन्धित वन्दना है अथवा दर्शन, वन्दन आदि में जो ईर्यापथ—शुद्धिपूर्वक चैत्यभक्ति से लेकर पंच-गुरु भक्तिपर्यन्त क्रिया है अर्थात् विधिवत् देववन्दना क्रिया है वह वन्दना आवश्यक है। पूर्वसंयम के प्रति जो गमन करना है, प्राप्त करना है वह प्रतिक्रमण है अर्थात् अपने द्वारा किये हुए अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना—छूटना। इसके दैवसिक आदि सात भेद हैं जोकि सात प्रसंग में किये गये अपराधों का शोधन करनेवाले हैं। अयोग्य द्रव्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है अथवा तपश्चरण के लिए योग्य द्रव्य का परिहार करना भी प्रत्याख्यान है। शरीर से ममत्व का त्याग करना और

१ क असुखहेतौ २ क 'त्वं त्रिकालनाम' न'।

आवश्यका आवश्यकानि वा, न वशोऽवशः अवशस्य कर्मावश्यकाः निश्चयक्रियाः। छप्पी—षडपि न पंच नापि सप्त। समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणानि तथैव प्रत्याख्यानकायोत्सर्गौ, एवं षडावश्यका निश्चयक्रिया यास्ता नित्यं षडपि कर्तव्याः।

मूलगुणा इति कृत्वेति सामान्यस्वरूपं प्रतिपाद्य विशेषार्थं प्रतिपादयन्नाह—

जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य।
[1]बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ॥२३॥

जीविदमरणे—जीवितमौदारिकवैक्रियिकादिदेहधारणं, मरणं मृत्युः प्राणिप्राणवियोगलक्षणं, जीवितं च मरणं च जीवितमरणे तयोर्जीवितमरणयोः। लाभालाभे—लाभोऽभिलषितप्राप्तिः, अलाभोऽभिलषितस्याप्राप्तिः लाभश्चालाभश्च लाभालाभौ तयोर्लाभालाभयोराहारोपकरणादिषु प्राप्त्यप्राप्त्योः। संजोयविप्पओगे य—संयोग इष्टादिसन्निकर्षः, विप्रयोग इष्टवियोगः संयोगश्च विप्रयोगश्च संयोगविप्रयोगौ तयोः संयोगविप्रयोगयोः, इष्टानिष्टसन्निकर्षासन्निकर्षयोः। [2]बन्धूरिसुखदुक्खादिसु—बन्धुश्च अरिश्च सुखं च दुःखं च बन्ध्वरिसुखदुःखानि तान्यादीनि येषां ते बन्ध्वरिसुखदुःखादयस्तेषु स्वजनमित्रशत्रुसुखदुःखक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिषु। समदा—समता चारित्रानुविद्धसमपरिणामः। सामाइयं णाम—सामायिकं नाम भवति। जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगबन्ध्वरिसुखदुःखादिषु यदेतत्समत्वं समानपरिणामः त्रिकालदेववन्दनाकरणं च तत्सामायिकं व्रतं भवतीत्यर्थः॥

जिनेन्द्रदेव के गुणों का चिन्तवन करना—यह कायोत्सर्ग है। इन सबको आगम के अविरोधरूप से ही सम्यक् जानना चाहिए। ये करने योग्य आवश्यक छह ही हैं। जो वश में नहीं है (इन्द्रियों के अधीन नहीं है) वह अवश है, अवश के कार्य आवश्यक हैं। इन्हें निश्चयक्रिया भी कहते हैं। ये आवश्यक क्रियाएँ छह ही हैं, न पाँच हैं न सात। तात्पर्य यह कि समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इस प्रकार छह आवश्यक हैं जो कि निश्चयक्रियाएँ हैं अर्थात् नियम से करने योग्य हैं। इन छहों को नित्य ही करना चाहिए।

ये मूलगुण हैं ऐसा होने से इनका सामान्य स्वरूप प्रतिपादित करके अब इनका विशेष अर्थ बतलाने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में तथा सुख-दुःख इत्यादि में समभाव होना सामयिक नाम का व्रत है ॥२३॥

आचारवृत्ति—औदारिक वैक्रियिक आदि शरीर की स्थिति रहना जीवन है। प्राणियों के प्राणवियोगलक्षण मृत्यु को मरण कहते हैं। अभिलषित वस्तु आहार उपकरण आदि की प्राप्ति का नाम लाभ है और अभिलषित की प्राप्ति न होना अलाभ है। इष्ट आदि पदार्थ का सम्बन्ध होना—मिल जाना संयोग है और इष्ट का अपने से पृथक् हो जाना वियोग है अर्थात् इष्ट का संयोग या वियोग हो जाना अथवा अनिष्ट का संयोग या वियोग हो जाना संयोग-वियोग है। इन सभी में तथा स्वजन, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख में और आदि शब्द से भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि में चारित्र से समन्वित समभाव का होना ही सामायिक व्रत है।

---

१ क बंध्वरि। २ क बंध्वरि'।

चतुर्विशतिस्तवस्वरूपं निरूपयन्नाह—

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥२४॥

उसहादिजिणवराणं—ऋषभः प्रथमतीर्थकर आदिर्येषां ते ऋषभादयस्ते च ते जिनवराश्च ऋषभादिजिनवरास्तेषामृषभादिजिनवराणां वृषभादिवर्धमानपर्यन्तानां चतुर्विशतितीर्थकराणां। **णामणिरुत्तिं**—नाम्नामभिधानानां निरुक्तिर्नामनिरुक्तिस्तां नामनिरुक्तिं प्रकृतिप्रत्ययकालकारकादिभिर्निश्चयेन अनुगतार्थकथनं ऋषभाजितसम्भवाभिनन्दनसुमतिपद्मप्रभसुपार्श्वचन्द्रप्रभपुष्पदन्तशीतलश्रेयोवासुपूज्यविमलानन्तधर्मशान्तिकुन्थ्वरमल्लिमुनिसुव्रतनम्यरिष्टनेमिपार्श्ववर्धमानाः नामकीर्तनमेतत्। **गुणाणुकित्तिं च**—गुणानामसाधारणधर्माणामनुकीर्तिरनुख्यापनं गुणानुकीर्तिस्तां गुणानुकीर्तिं च निर्दोषाप्तलक्षणस्तुतिम् लोकस्योद्योतकरा धर्मतीर्थकराः सुरासुरमनुष्येन्द्रस्तुताः दृष्टपरमार्थतत्त्वस्वरूपाः विमुक्तघातिकठिनकर्माणः, इत्येवमादिगुणानुकीर्तनं। **काऊण**—कृत्वा गुणग्रहणपूर्वकं नामग्रहणं प्रकृत्य। **अच्चिदूण य**—[1]अर्चयित्वा च गन्धपुष्पधूपदीपादिभिः प्रासुकैरानीतैर्दिव्यरूपैश्च दिव्यैर्निराकुलमलपटलसुगन्धैश्चतुर्विशतितीर्थकरपदयुगलानामर्चनं कृत्वान्यस्याश्रुतत्वात्तेषामेव ग्रहणम्। **तिसुद्धिपणमो**—तिस्रश्च ताः शुद्धयश्च विशुद्धयस्ताभिः त्रिशुद्धिभिः प्रणामः त्रिशुद्धिप्रणामः मनो-

---

तात्पर्य यह है कि जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, बन्धु-शत्रु और सुख-दुःख आदि प्रसंगों में जो समान परिणाम का होना है और त्रिकाल में देववन्दना करना है वह सामायिक व्रत है।

चतुर्विंशतिस्तव का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—ऋषभ आदि तीर्थकरों के नाम का कथन और गुणों का कीर्तन करके तथा उनकी पूजा करके उनको मन, वचन, काय पूर्वक नमस्कार करना स्तव नाम का आवश्यक जानना चाहिए ॥२४॥

आचारवृत्ति—ऋषभदेव को आदि से लेकर वर्धमान पर्यन्त चौबीस तीर्थकरों का प्रकृति, प्रत्यय, काल, कारक आदि के द्वारा निश्चय करके अनुगत—परम्परागत अर्थ करना नामनिरुक्तिपूर्वक स्तवन है। अथवा ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्धमान इस प्रकार से नाम-उच्चारण करना नाम स्तवन है। इन्हीं तीर्थकरों के असाधारण धर्मरूप गुणों का वर्णन करना गुणानुकीर्तन है, अर्थात् निर्दोष आप्त का लक्षण करते हुए उनकी स्तुति करना, जैसे, हे भगवन्! आप लोक में उद्योत करनेवाले हैं, धर्मतीर्थ के कर्ता हैं; सुर, असुर और मनुष्यों के इन्द्रों से स्तुति को प्राप्त हैं, वास्तविक तत्त्व के स्वरूप को देखनेवाले हैं, और कठोर घातिया कर्मों को नष्ट कर चुके हैं—इत्यादि प्रकार से अनेक-अनेक गुणों का कीर्तन करना भी गुणानुकीर्तन है। इस प्रकार इन तीर्थकरों का गुणग्रहणपूर्वक नामग्रहण करके तथा मलपटल से रहित सुगन्धित दिव्यरूप लाये गये प्रासुक गन्ध पुष्प धूप-दीप आदि के द्वारा चौबीस तीर्थकरों के पद-युगलों की अर्चना करके मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक उनको प्रणाम करना—स्तवन करना स्तव आवश्यक है।

---

१ क अर्चित्वा।

वाक्कायशुद्धिभिः स्तुतेः करणं। थवो—स्तवः, चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तुतिः, नामैकदेशेऽपि शब्दस्य प्रवर्तनात् यथा सत्यभामा भामा, भीमो भीमसेनः। एवं चतुर्विंशतिस्तवः स्तवः। णेयो—ज्ञातव्यः। ऋषभादिजिनवराणां नामनिरुक्ति गुणानुकीर्तनं च कृत्वा योऽयं मनोवचनकायशुद्ध्या प्रणामः स चतुर्विंशतिस्तव इत्यर्थः।

वन्दनास्वरूपं निरूपयन्नाह—

अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं।
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥२५॥

अरहंतसिद्धपडिमा—अर्हन्तश्च सिद्धाश्चार्हत्सिद्धास्तेषामर्हत्सिद्धानां प्रतिमा अर्हत्सिद्धप्रतिमा अर्हत्सिद्धप्रतिबिम्बानि स्वरूपेण चार्हन्तः घातिकर्मक्षयादर्हन्तः, अष्टविधकर्मक्षयात्सिद्धाः। अथवा गतिवचनस्थानभेदात्तयोर्भेदः, अष्टमहाप्रातिहार्यसमन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्धप्रतिमा। अथवा कृत्रिमा यास्ता अर्हत्प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्धप्रतिमाः। तवसुदगुणगुरुगुरूणं—तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपो द्वादशप्रकारमनशनादिकं, श्रुतमंगपूर्वादिरूपं मतिपूर्वकं, गुणा व्याकरणतर्कादिज्ञानविशेषाः, तपश्च श्रुतं च गुणाश्च तपःश्रुतगुणास्तैर्गुरवो महान्तस्तपःश्रुतगुणगुरवः, गुरुश्च येन दीक्षा दत्ता, शेषां, द्वादशविधतपोधिकानां, श्रुताधि-

---

यहाँ पर अन्य श्रुतादि को नहीं सुना जाने से अर्थात् श्रुत या गुरु आदि का प्रकरण न होने से तीर्थंकरों का स्तवन ही ग्रहण किया जाना चाहिए। अर्थात् स्तव का अर्थ चौबीस तीर्थंकरों का स्तव है ऐसा समझना चाहिए। चूँकि नाम के एक देश में भी शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे भामा शब्द से सत्यभामा और भीम शब्द से भीमसेन को समझ लिया जाता है इसी प्रकार से स्तव नाम से चतुर्विंशति तीर्थंकर का स्तव जानना चाहिए। तात्पर्य यह कि ऋषभ आदि जिनवरों की नाम निरुक्ति और गुणों का अनुकीर्तन करके जो मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम किया जाता है वह चतुर्विंशतिस्तव है

अब वन्दना आवश्यक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अर्हन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा; तप में श्रुत या गुणों में बड़े गुरु का और स्वगुरु का कृतिकर्म पूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करना वन्दना है ॥२५॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने घाति कर्मों का क्षय कर दिया है वे अर्हन्त हैं और जो आठों कर्मों का क्षय कर चुके हैं वे सिद्ध हैं। इनके प्रतिबिम्ब को प्रतिमा कहते हैं। अथवा गति, वचन और स्थान के भेद से भी अर्हन्त और सिद्ध में भेद है। अर्थात् अर्हन्त मनुष्य गति में हैं, सिद्ध चारों गतियों से परे सिद्धगति में हैं। इसी प्रकार जो अन्य जनों में नहीं पायी जानेवाली इन्द्रादि द्वारा की गयी पूजा के योग्य हैं वे अर्हन्त हैं और जो अपने स्वरूप से पूर्णतया निष्पन्न हो चुके हैं वे सिद्ध हैं। अर्हन्तों का स्थान मध्यलोक है और सिद्धों का स्थान लोकशिखर का अग्रभाग है—इनकी अपेक्षा अर्हन्त और सिद्धों में भेद है। अष्ट महाप्रतिहार्य से समन्वित अर्हन्त प्रतिमा हैं और इनसे रहित सिद्ध प्रतिमा हैं। अथवा जो कृत्रिम प्रतिमाएँ हैं वे अर्हन्त प्रतिमा हैं और जो अकृत्रिम हैं वे सिद्ध प्रतिमा हैं। जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है, दहन करता है, वह तप है जो कि अनशनादि के भेद से बारह प्रकार का है। अंग और पूर्व आदि श्रुत हैं। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। व्याकरण, तर्क आदि के ज्ञान विशेष को गुण कहते हैं। इन

क...।, गुणाधिकानां, स्वगुरोः, अर्हत्सिद्धप्रतिमानां च। रादीणं—राज्यधिकानां दीक्षया महतां च। किदियम्मेण—क्रियाकर्मणा कायोत्सर्गादिकेन सिद्धभक्तिश्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकेण। इदरेण—इतरेण श्रुतभक्त्यादिक्रियापूर्वकमन्तरेण शिरःप्रणामेन मुंडवंदनया। तियरणसंकोचणं—त्रयश्च ते करणाश्च त्रिकरणा मनोवाक्कायक्रियाः तेषां संकोचनं त्रिकरणसंकोचनं मनोवाक्कायशुद्धक्रियं मनःशुद्ध्या वाक्शुद्ध्या कायशुद्ध्या इत्यर्थः। पणमो—प्रणामः स्तवनम्। अर्हत्सिद्धप्रतिमानां, तपोगुरूणां श्रुतगुरूणां गुणगुरूणां दीक्षागुरूणां दीक्षया महत्तराणां कृतकर्मणेतरेण च त्रिकरणसंकोचनं यथा भवति तथा योऽयं प्रणामः क्रियते सा वन्दना नाम मूलगुण इति ॥

अथ किं प्रतिक्रमणमित्याशंकायामाह—

दव्वे खेत्ते[1] काले भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं ॥२६॥

दव्वे—द्रव्ये आहारशरीरादिविषये। खेत्ते—क्षेत्रे वसतिकाशयनासनगमनादिमार्गविषये। काले—पूर्वाह्णापराह्णदिवसरात्रिपक्षमाससंवत्सरातीतानागतवर्तमानादिकालविषये। भावे—परिणामे चित्तव्यापार-

---

तप, श्रुत और गुणों से जो महान् हैं अर्थात् जो तपों में अधिक हैं, श्रुत में अधिक हैं तथा गुण में अधिक हैं वे तपोगुरु, श्रुतगुरु और गुणगुरु कहलाते हैं। तथा अपने गुरु को यहाँ गुरु से लिया है, ऐसे ही जो दीक्षा की अपेक्षा एक रात्रि भी बड़े हैं वे राज्यधिक गुरु हैं। इन सभी की कृतिकर्म पूर्वक वन्दना करना अर्थात् सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि के द्वारा मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक इनको प्रणाम करना वन्दना है। अथवा श्रुतभक्ति आदि क्रिया के बिना भी सिर झुकाकर इनको नमस्कार करना वन्दना है। अर्थात् समय-समय पर कृतिकर्मपूर्वक वन्दना की जाती है और हर क्रिया के प्रारम्भ में सिर झुकाकर नमोऽस्तु शब्द का प्रयोग करके भी वन्दना की जाती है। वह सभी वन्दना है।

तात्पर्य यह है कि अर्हन्त-सिद्धों की प्रतिमा तपोगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और दीक्षा में अपने से बड़े गुरु—इन सबका कृतिकर्मपूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के नमस्कार मात्र करके मन-वचन-काय की विशुद्धि द्वारा विधिपूर्वक जो नमस्कार किया जाता है वह वन्दना नाम का मूलगुण कहलाता है।

प्रतिक्रमण क्या है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—निन्दा और गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है ॥२६॥

आचारवृत्ति—आहार शरीर आदि द्रव्य के विषय में; वसतिका, शयन, आसन और गमन-आगमन आदि मार्ग के रूप क्षेत्र के विषय में; पूर्वाह्ण-अपराह्ण, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर तथा भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदि काल के विषय में और परिणाम—मन के व्यापार रूप भाव के विषय में जो अपराध हो जाता है अर्थात् इन द्रव्य आदि विषयों में या इन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों के द्वारा व्रतों में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं उनका निन्दा-गर्हापूर्वक निराकरण

---

१ क. खित्ते।

विषये। कयावराहसोहणयं—कृतश्चासावपराधश्च कृतापराधस्तस्य शोधनं कृतापराधशोधनं द्रव्यादिद्वारेण व्रतविषयोत्पन्नदोषनिर्हरणं। णिंदणगरहणजुत्तो—निन्दनमात्मदोषाविष्करणं, आचार्यादिषु आलोचनापूर्वकं दोषाविष्करणं गर्हणं, निन्दनं च गर्हणं च निन्दनगर्हणे ताभ्यां युक्तो निन्दनगर्हणयुक्तस्तस्य निन्दनगर्हणयुक्तस्यात्मप्रकाशपरप्रकाशसहितस्य। मणवचकाएण—मनश्च वचश्च कायश्च मनोवचःकायं तेन मनोवचःकायेन शुभमनोवचःकायक्रियादिभिः। पडिक्कमणं—प्रतिक्रमणं स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः, अशुभपरिणामपूर्वककृतदोषपरित्यागः। निन्दनगर्हणयुक्तस्य मनोवाक्कायक्रियाभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावविषये तैर्वा कृतस्यापराधस्य व्रतविषयस्य शोधनं यत्तत् प्रतिक्रमणमिति॥

प्रत्याख्यानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले॥२७॥

णामादीणं—जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकरणं नामाभिधानं तदादिर्येषां ते नामादयस्तेषां नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावानाम्। छण्हं—षण्णाम्। अजोगपरिवज्जणं—न योग्या अयोग्यास्तेषां नामादीनामयोग्यानां पापागमहेतूनां परिवर्जनं परित्यागः। तियरणेण—त्रिकरणैः शुभमनोवाक्कायक्रियाभिः अशुभाभिधानं कस्यचिन्न करोमि, न कारयामि, नानुमन्ये, तथा वचनेन न वच्मि, नापि वाचयामि, नाप्यनुमन्ये,

---

करना। अपने दोषों को प्रकट करना निन्दा है और आचार्य आदि गुरुओं के पास आलोचनापूर्वक दोषों का कहना गर्हा है। निन्दा में आत्मसाक्षीपूर्वक ही दोष कहे जाते हैं तथा गर्हा में गुरु आदि पर के समक्ष दोषों को प्रकाशित किया जाता है—यही इन दोनों में अन्तर है। इस तरह शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओं के द्वारा, अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना—वापिस अपने व्रतों में आ जाना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये गये दोषों का परित्याग करना इसका नाम प्रतिक्रमण है।

तात्पर्य यह है कि निन्दा और गर्हा से युक्त होकर साधु मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादिकों के द्वारा किये गये व्रत विषयक अपराधों का जो शोधन करते हैं उसका नाम प्रतिक्रमण है।

अब प्रत्याख्यान का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—भविष्य में आनेवाले तथा निकटवर्ती भविष्यकाल में आनेवाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य का मन-वचन-काय से वर्जन करना—इसे प्रत्याख्यान जानना चाहिए॥२७॥

आचारवृत्ति—पाप के आस्रव में कारणभूत अयोग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का मन-वचन-काय से त्याग करना प्रत्याख्यान है। शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओं से किसी के अशुभ नाम को न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुए की अनुमोदना करता हूँ अर्थात् अशुभ नाम को न करूँगा, न कराऊँगा और न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा; उसी प्रकार न वचन से बोलूँगा न बुलवाऊँगा, न बोलते हुए की अनुमोदना करूँगा। न मन से अशुभ नाम का चिन्तवन करूँगा, न अन्य से उनकी भावना कराऊँगा, न ही करते हुए की अनुमोदना

तथा मनसा न चिन्तयामि, नाप्यन्यं भावयामि, नानुमन्ये। एवं अशुभस्थापनामेतां कायेन न करोमि, न कारयामि, नानुमन्ये, तथा वाचा न भणामि, न भाणयामि, नानुमन्ये, तथा मनसा न चिंतयामि, नाप्यन्यं भावयामि नानुमन्ये। तथा सावद्यं द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च न सेवे, न सेवयामि, सेवन्तं, [सेवमानं] नानुमन्ये। तथा वचसा त्वं सेवस्वेति न भणामि, न भाणयामि, नापि चिन्तयामीति। **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यानं परिहरणं अयोग्यग्रहणपरित्यागः। **णेयं**—ज्ञातव्यम्। **अणागयं च**—अनागतं चानुपस्थितं च। अथवा अनागते दूरेणागते काले। **आगमे काले**—आगते उपस्थिते। अथवा आगमिष्यति सन्निकृष्टे काले मुहूर्तदिवसादिके। नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावानां षण्णां अनागतानां त्रिकरणैर्यदेतत् परिवर्जनं आगते चोपस्थिते च [1]यदेतद्दोषपरिवर्जनं तत्प्रत्याख्यानं ज्ञातव्यमिति। अथवा दूरे भविष्यति काले आगमिष्यति चासन्ने वर्तमाने तेषां षण्णामपि अयोग्यानां वर्जनं प्रत्याख्यानम्। अथवा अनागते काले अयोग्यपरिवर्जनं नामादिषट्प्रकारं यदेतदागतं मनोवचनकायैः तत्प्रत्याख्यानं ज्ञातव्यमिति। अथ प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेष इति चेन्नैष दोषः, अतीतकालदोषनिर्हरणं प्रतिक्रमणम्। अनागते वर्तमाने च काले द्रव्यादिदोषपरिहरणं प्रत्याख्यानमनयोर्भेदः। [2]तपोऽर्थं निरवद्यस्यापि द्रव्यादेः परित्यागः प्रत्याख्यानं, प्रतिक्रमणं पुनर्दोषाणां निर्हरणायैवेति॥

करूँगा। इसी प्रकार अशुभ स्थापना को न काय से करूँगा, न कराऊँगा, न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा; उसी प्रकार वचन से अशुभ स्थापना को न कहूँगा, न कहलाऊँगा और न ही अनुमोदना करूँगा तथा मन से उस अशुभ स्थापना का न चिन्तवन करूँगा, न अन्य से भावना कराऊँगा और न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा। इसी प्रकार से सावद्य-सदोष द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का न सेवन करूँगा, न सेवन कराऊँगा और सेवन करते हुए की अनुमोदना कराऊँगा; उसी प्रकार इन सदोष द्रव्यादि का 'तुम सेवन करो' ऐसा वचन से न कहूँगा, न कहलाऊँगा, न कहते हुए की अनुमोदना करूँगा। न मन से चिन्तवन करूँगा, न कराऊँगा, न करते हुए की अनुमोदना करूँगा। इस प्रकार अयोग्य के ग्रहण का परित्याग करना प्रत्याख्यान है।

उपस्थित होनेवाला काल अनागत काल है अथवा यहाँ अनागत शब्द से दूर भविष्य में आनेवाला काल लिया गया है और आगत शब्द से उपस्थित काल अर्थात् निकट में आनेवाले मुहूर्त दिन आदि रूप भविष्य काल को लिया है। इन अनागतसम्बन्धी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों का मन-वचन-काय से वर्जन है और उपस्थित हुए काल में जो दोषों का वर्जन है वह प्रत्याख्यान है। अथवा दूरवर्ती भविष्यकाल तथा आनेवाले निकटवर्ती वर्तमान काल में इन अयोग्यरूप नाम स्थापना आदि छहों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। अथवा अनागतकाल में अयोग्यरूप नाम आदि छह प्रकार जो आयेंगे उनका मन-वचन-काय से त्याग करना प्रत्याख्यान है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है?

उत्तर—अतीतकाल के दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है और अनागत तथा वर्तमानकाल में होनेवाले द्रव्यादिसम्बन्धी दोषों का निराकरण करना प्रत्याख्यान है, यही इन दोनों में भेद है। अथवा तपश्चरण के लिए निर्दोष द्रव्य आदि का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है तथा दोषों के निराकरण करने हेतु ही प्रतिक्रमण होता है।

---

१ क यदेतेषां प°। २ क तदर्थं।

कायोत्सर्गस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण [1]उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काउस्सग्गो[2] तणुविसग्गो ॥२८॥

देवस्सियणियमादिसु—दिवसे भवो दैवसिकः स आदिर्येषां ते दैवसिकादयस्तेषु दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिषु नियमेषु निश्चयक्रियासु। **जहुत्तमाणेण**—उक्तमनतिक्रम्य यथोक्तं, यथोक्तं च तन्मानं च यथोक्तमानं तेन अर्हत्प्रणीतेन[3] कालप्रमाणेन पंचविंशतिसप्तविंशत्यष्टोत्तरशताद्युच्छ्वासपरिमाणेन। **उत्तकालम्हि**—उक्तः प्रतिपादितः कालः समय उक्तकालस्तस्मिन्नुक्तकाले आत्मीयात्मीयवेलायां। यो यस्मिन् काले कायोत्सर्ग उक्तः स तस्मिन् कर्तव्यः। **जिणगुणचिंतणजुत्तो**—जिनस्य गुणा जिनगुणास्तेषां चिन्तनं स्मरणं तेन युक्तो जिनगुणचिंतनयुक्तः, दयाक्षमासम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशुक्लध्यानधर्मध्यानानन्तज्ञानादिचतुष्टयादिगुणभावनासहितः। **काउस्सग्गो**[4]—कायोत्सर्गः। **तणुविसग्गो**—तनोः शरीरस्य विसर्गस्तनुविसर्गो देहे ममत्वस्य[5] परित्यागः। दैवसिकादिषु नियमेषु यथोक्तकाले योऽयं यथोक्तमानेन जिनगुणचिन्तनयुक्तस्तनुविसर्गः स कायोत्सर्ग इति॥

लोच उक्तः स कथं क्रियते इत्यत आह—

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥२९॥

अब कायोत्सर्ग का स्वरूप निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक आदि नियम क्रियाओं में आगम में कथित प्रमाण के द्वारा आगम में कथित काल में जिनेन्द्रदेव के गुणों के चिन्तवन से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है ॥२८॥

आचारवृत्ति—दिवस में होने वाला दैवसिक है अर्थात् दिवस सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण है। इसी तरह रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक आदि नियमरूप निश्चयक्रियाओं में अर्हन्तदेव के द्वारा कथित पच्चीस, सत्ताईस, एक सौ-आठ आदि उच्छ्वास प्रमाण काल के द्वारा उन्हीं-उन्हीं क्रिया सम्बन्धी काल में जिनेन्द्रदेव के गुणों के स्मरण से युक्त होकर अर्थात् दया, क्षमा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, शुक्लध्यान धर्मध्यान तथा अनन्तज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय गुणों की भावना से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का परित्याग करना कायोत्सर्ग है। तात्पर्य यह है कि दैवसिक आदि नियमों में शास्त्र में कथित समयों में जो शास्त्रोक्त उच्छ्वास की गणना से णमोकार मंत्र पूर्वक जिनेन्द्रगुणों के चिन्तनसहित शरीर से ममत्व का त्याग किया जाता है उसका नाम कायोत्सर्ग है॥

जो लोच मूलगुण कहा है वह कैसे किया जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण सहित दिवस में, दो, तीन या चार मास में उत्तम, मध्यम या जघन्य रूप लोच उपवास पूर्वक ही करना चाहिए ॥२९॥

---

१ क वुत्त°। २ काऊ द०। ३ क 'प्रणीत का'। ४ काऊ द। ५ क °त्वंच°।

वियतियचउक्कमासे—द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वित्रिचत्वारस्ते च ते मासाश्च द्वित्रिचतुर्मासास्तेषु द्वित्रिचतुर्मासेषु, मासशब्दः प्रत्येकं अभिसम्बध्यते द्वयोर्मासयोः, त्रिषु मासेषु चतुर्षु मासेषु वा सम्पूर्णेषु असंपूर्णेषु वा। द्वयोर्मासयोरतिक्रान्तयोः सतोर्वा। त्रिषु मासेषु अतिक्रान्तेष्वनतिक्रान्तेषु सत्सु वा। चतुर्षु मासेषु पूर्णेष्वपूर्णेषु वा नाधिकेषु इत्याध्याहारः कार्यः सर्वसूत्राणां सोपस्कारत्वादिति। **लोचो**—लोचः बालोत्पाटनं हस्तेन मस्तककेशश्मश्रूणामपनयनं जीवसम्मूर्च्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति। **उक्कस्स**—उत्कृष्टः, अत्यर्थमाचरणार्थाभिप्रायः। **मज्झिम**—मध्यमः अजघन्योत्कृष्टः। **जहण्ण**—जघन्यः मन्दाचरणाभिप्रायः। **सपडिक्कमणे**—सप्रतिक्रमणे सह प्रतिक्रमणेन वर्तते इति सप्रतिक्रमणस्तस्मिन्सप्रतिक्रमणे। **दिवसे**—अहोरात्रमध्ये। **उववासेण**—उपवासेन अशनादिपरित्यागयुक्तेन। एवकारोऽवधारणार्थः। **कायव्वो**—कर्तव्यः निर्वर्तनीयः। लोचस्य निरुक्तिर्नोक्ता सर्वस्य प्रसिद्धो यतः। सप्रतिक्रमणे दिवसे पाक्षिकचातुर्मासिकादौ उपवासेनैव द्वयोर्मासयोर्यत् केशश्मश्रूत्पाटनं स उत्कृष्टो लोचः। त्रिसु मासेषु मध्यमः, चतुर्षु मासेषु जघन्यः। अथवा विधानमेतत्, एतेषु कालविशेषेषु एवंविशिष्टो लोचः कर्तव्यः। एवकारेणोपवासे लोचोऽवधार्यते न दिवसः, तेन प्रतिक्रमणरहितेऽपि दिवसे लोचस्य सम्भवः। अथवा सप्रतिक्रमणे दिवसे इत्यनेन किमुक्तं भवति लोचं कृत्वा प्रतिक्रमणं कर्तव्यमिति। [1]लुंचृधातुरपनयने वर्तते तच्चापनयनं क्षुरादिनापि सम्भवति तत्किमर्थमुत्पाटनं मस्तके केशानां श्मश्रूणां चेति

आचारवृत्ति—दो मास के उल्लंघन हो जाने पर अथवा पूर्ण होने पर, तीन मास के उल्लंघन के हो जाने पर अथवा कमती रहने पर या पूर्ण हो जाने पर एवं चार मास के पूर्ण हो जाने पर अथवा अपूर्ण रहने पर किन्तु अधिक नहीं होने पर लोच किया जाता है ऐसा अध्याहार करके अर्थ किया जाना चाहिए क्योंकि सभी सूत्र उपस्कार सहित होते हैं अर्थात् सूत्रों में आगम से अविरुद्ध वाक्यों को लगाकर अर्थ किया जाता है क्योंकि सूत्र अतीव अल्प अक्षरवाले होते हैं। संमूर्च्छन आदि जीवों के परिहार के लिए अर्थात् जूं आदि उत्पन्न न हो जावें इसलिए, शरीर से रागभाव आदि को दूर करने के लिए, अपनी शक्ति को प्रकट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण के लिए और लिंग—निर्ग्रंथ मुद्रा आदि के गुणों को बतलाने के लिए हाथ से मस्तक तथा मूंछ के केशों का उखाड़ना लोच कहलाता है। यह लोच पाक्षिक चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों के दिन उपवासपूर्वक ही करना चाहिए।

दो महीने में किया गया लोच अतिशय रूप आचरण को सूचित करने वाला होने से उत्कृष्ट कहलाता है, तीन महीने में किया गया मध्यम है और चार महीने में किया गया मन्द आचरण रूप जघन्य है। इस प्रकार से प्रतिक्रमण सहित दिनों में उपवास करके लोच करना यह विधान हुआ है अथवा गाथा में एवकार शब्द उपवास शब्द के साथ है जिससे उपवास में ही लोच करना चाहिए ऐसा अवधारण होता है, इससे प्रतिक्रमण से रहित भी दिवसों में लोच संभव है। अथवा प्रतिक्रमण सहित दिवस का यह अर्थ समझना कि लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रश्न—लुंचृ धातु अपनयन—दूर करने अर्थ में है। वह केशों को दूर करना रूप अर्थ तो क्षुरा—उस्तरा कैंची आदि से भी सम्भव है तो फिर मस्तक और मूंछों के केशों को हाथ से क्यों उखाड़ना?

---

१ लुंचृ द०।

त्वेनैप दोषः, दैन्यवृत्तियाचनपरिग्रहपरिभवादिदोषपरित्यागादिति ॥

अचेलकत्वस्वरूपप्रतिपादनायोत्तरसूत्रमाह—

वत्थाजिणवक्केण[1] य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥

वत्थाजिणवक्केण—वस्त्रं पटचीवरकम्बलादिकं, अजिनं चर्म मृगव्याघ्रादिसमुद्भवं, वल्कं वृक्षादित्वक्, वस्त्रं चाजिनं च वल्कं च वस्त्राजिनवल्कानि तैर्वस्त्राजिनवल्कैः पटचीवरचर्मवल्कलैरपि। अहवा—अथवा। **पत्ताइणा**—पत्रमादिर्येषां तानि पत्रादीनि तैः पत्रादिभिः पत्रबालतृणादिभिरसंवरणमनावरणमनाच्छादनं। **णिब्भूसणं**—भूषणानि कटककेयूरहारमुकुटाद्याभरणमंडनविलेपनधूपनादीनि तेभ्यो निर्गतं निर्भूषणं

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उस्तरा आदि से केशों को दूर करने में दैन्यवृत्ति होना, याचना करना, परिग्रह रखना, या तिरस्कारित होना आदि दोषों का होना सम्भव है किन्तु हाथ से केशों को दूर करने में ये उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते हैं।

भावार्थ—अपने हाथों से केशों को उखाड़ने से उसमें जीवों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, शरीर के संस्कार रूप केशों को न रखने से शरीर से अनुराग भाव समाप्त हो जाता है, अपनी शक्ति वृद्धिगत होती है, कायक्लेश होने से उत्तम से उत्तम तपश्चरणों का अभ्यास होता है और मुनि के जो चार लिंग माने गये हैं आचेलक्य केशलोच, पिच्छिका ग्रहण और शरीर-संस्कार-हीनता, इनमें से केशलोच से लिंग ज्ञापित होता है ये तो केशलोच के गुण हैं। यदि उस्तरा आदि से केशों को निकलावें तो नाई के सामने माथा नीचा करने से उसकी गरज करने से दीनवृत्ति दिखती है, स्वाभिमान और स्वावलम्बन समाप्त होता है, नाई को देने हेतु पैसे की याचना करनी पड़ेगी, या कैंची आदि परिग्रह अपने पास रखना पड़ेगा अथवा लोगों से नाई के लिए या कैंची के लिए कहने से किसी समय उनके द्वारा अपमान, तिरस्कार आदि भी किया जा सकता है। इन सब दोषों से बचने के लिए और शरीर से निर्ममता को सूचित करने के लिए जैन साधु साध्वी अपने हाथ से केशों को उखाड़कर लोच मूलगुण पालते हैं।

अचेलकत्व का स्वरूप बतलाने के लिए उत्तरसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदिकों से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ वेष जगत् में पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है ॥३०॥

आचारवृत्ति—वस्त्र—धोती दुपट्टा कंबल आदि; अजिन—मृग, व्याघ्र आदि से उत्पन्न चर्म; वल्कल—वृक्षादि की छाल, इनसे शरीर को नहीं ढकना अथवा पत्ते और छोटे-छोटे तृण आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण—कड़े, बाजूबंद, हार, मुकुट आदि आभरण और मंडन विलेपन धूपन आदि वस्तुएँ ये सब भूषण शब्द से विवक्षित हैं इनसे निर्गत-रहित जो वेष है वह निर्भूषण वेष है अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार के राग और अंग के विकारों का अभाव होना, ग्रन्थ—

---

१ क वक्कं।

सर्वरागांगविकाराभावः। णिग्गंथं—ग्रन्थेभ्यः संयमविनाशकद्रव्येभ्यो निर्गतं निर्ग्रंथं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाभावः। अच्चेलक्कं—अचेलकत्वं चेलं वस्त्रं तस्य मनोवाक्कायैः संवरणार्थमग्रहणं। जगदिपुज्जं—जगति पूज्यं महापुरुषाभिप्रेतवंदनीयम्। वस्त्राजिनवल्कलैः पत्रादिभिर्वा यदसंवरणं निर्ग्रंथं निर्भूषणं च तदचेलकत्वं व्रतं जगति पूज्यं भवतीत्यर्थः। अथ वस्त्रादिषु सत्सु दोषः इति चेन्न[1] हिंसार्जनप्रक्षालनयाचनादिदोषप्रसंगात्, ध्यानादि-विघ्नाच्चेति॥

अस्नानव्रतस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं।
अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो॥३१॥

ण्हाणादिवज्जणेण य—स्नानं जलावगाहनं आदिर्येषां ते स्नानादयः स्नानोद्वर्तनाञ्जनजलसेकताम्बूललेपनादयस्तेषां वर्जनं परित्यागः स्नानादिवर्जनं तेन स्नानादिवर्जनेन जलप्रक्षालनसेचनादिक्रियाकृतांगोपांगसुखपरित्यागेन। **विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं**—जल्लं सर्वांगप्रच्छादकं मलं अंगैकदेशप्रच्छादकं स्वेदः प्रस्वेदो

संयम के विनाशक द्रव्य उनसे रहित निर्ग्रंथ अवस्था होती है अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का अभाव होना ही निर्ग्रंथ है। इह प्रकार से चेल—वस्त्र को शरीर-संवरण के लिए मन, वचन-काय से ग्रहण नहीं करना यह आचेलक्य व्रत है जो कि जगत् में पूज्य है, महापुरुषों के द्वारा अभिप्रेत है और वंदनीय है। तात्पर्य यह निकला कि वस्त्र, चर्म, वल्कल से अथवा पत्ते आदि से जो शरीर का नहीं ढकना है, निर्ग्रंथ और निर्भूषण वेष का धारण करना है वह आचेलक्य व्रत जगत् में पूज्य होता है।

प्रश्न—वस्त्र आदिकों के होने पर क्या दोष है?

उत्तर—ऐसा नहीं कहें, क्योंकि हिंसा, अर्जन, प्रक्षालन, याचना आदि अनेक दोष आते हैं तथा ध्यान, अध्ययन आदि में विघ्न भी होता है। अर्थात् किसी भी प्रकार के वस्त्र से शरीर को ढकने की बात जहाँ तक होगी वहाँ तक उन वस्त्रों के आश्रित हिंसा अवश्य होगी उनको संभालना, धोना, सुखाना, फट जाने पर दूसरों से मांगना आदि प्रसंग अवश्य आयेंगे। पुनः इन कारणों से साधु को ध्यान और अध्ययन में बाधा अवश्य आयेगी इसीलिए नग्नवेष धारण करना यह आचेलक्य नाम का मूलगुण है।

अस्नानव्रत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—स्नान आदि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाना मुनि के प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम पालन करने रूप, घोर गुणस्वरूप अस्नानव्रत होता है॥३१॥

आचारवृत्ति—जल में अवगाहन करना—जल में प्रवेश करके नहाना स्नान है। आदि शब्द से उबटन लगाना, आँख में अंजन डालना, जल छिड़कना, ताम्बूल भक्षण करना, शरीर में लेपन करना अर्थात् जल से प्रक्षालन, जल का छिड़कना आदि क्रियाएँ जो कि शरीर के अंग-उपांगों को सुखकर हैं उनका परित्याग करना स्नानादि-वर्जन कहलाता

---

१ क चेतन्न।

रोमकूपोद्गतजलं, जल्लं च मलं च स्वेदश्च जल्लमलस्वेदास्तैः विलिप्तं सर्वांगं[1] विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांगं। विलिप्तशब्दस्य पूर्वनिपातः। अथवा जल्लमलाभ्यां स्वेदो यस्मिन् जल्लमलस्वेदं, सर्वं च तदंगं च सर्वांगं सर्वशरीरं विलिप्तं च तज्जल्लमलस्वेदं च सर्वांगं च तद्विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांगम्। अथवा विलिप्ताः [2]सूपचिता जल्लमलस्वेदा यस्मिन् सर्वांगे तद्विलिप्तजल्लमलस्वेदं तच्च तत् सर्वांगं च। अण्हाणं—अस्नानं जलावगाहनाद्यभावः। घोरगुणो—महागुणः प्रकृष्टव्रतं, अथवा घोराः प्रकृष्टा गुणा यस्मिन् तद् घोरगुणम्। संजमदुगपालयं—संयमः कषायेन्द्रियनिग्रहः संयमस्य द्विकं द्वयं संयमद्विकं तस्य पालकं संयमद्विकपालकं इन्द्रियसंयमप्राणसंयमरक्षकम्। मुणिणो—मुनेः चारित्राभिमानिनो मुनेः। स्नानादिवर्जनेन विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांगं महाव्रतपूतं यत्तदस्नानव्रतं घोरगुणं संयमद्वयपालकं भवतीत्यर्थः। नात्राशुचित्वं स्यात् स्नानादिवर्जनेन मुनेः व्रतैः शुचित्वं यतः। यदि पुनर्व्रतरहिता जलावगाहनादिना शुचयः स्युस्तदा मत्स्यमकरदुश्चरित्रासंयताः सर्वेऽपि शुचयो भवेयुः। न चैवं, तस्मात् व्रतनियमसंयमैर्यः शुचिः स शुचिरेव। जलादिकं तु बहु कश्मलं नानासूक्ष्मजन्तुप्रकीर्णं सर्वसावद्यमूलं न तत्संयतैर्यत्र तत्र प्राप्तकालमपि सेवनीयमिति॥

क्षितिशयनव्रतस्य स्वरूपं प्रपंचयन्नाह—

है। जल्ल—सर्वांग को प्रच्छादित करनेवाला मल; मल—शरीर के एकदेश को प्रच्छादित करने वाला मल और स्वेद—रोमकूप से निकलता हुआ पसीना। स्नान आदि न करने से शरीर इन जल्ल, मल और पसीने से लिप्त हो जाता है अर्थात् शरीर में खूब पसीना और धूलि आदि चिपककर शरीर अत्यन्त मलिन हो जाता है यह अस्नानव्रत घोरगुण अर्थात् महान गुण है। अर्थात्—प्रकृष्ट—सबसे श्रेष्ठ व्रत है अथवा घोर अर्थात् प्रकृष्ट गुण इस व्रत में पाये जाते हैं। यह कषाय और इन्द्रियों का निग्रह करनेवाला होने से दो प्रकार के संयम का रक्षक है अथवा इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम का रक्षक है अर्थात् स्नान नहीं करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है तथा प्राणियों को बाधा नहीं पहुँचने से प्राणिसंयम भी पलता है। इस प्रकार से चारित्र के अभिलाषी मुनि के स्नान आदि के न करने से जल्ल, मल और स्वेद से सर्वांग के लिप्त हो जाने पर भी जो महाव्रत से पवित्र है वह अस्नान नामक व्रत घोर गुणरूप है और दो प्रकार के संयम की रक्षा करने वाला है। अर्थात् यहाँ स्नानादि का वर्जन करने से मुनि के अशुचिपना नहीं होता है क्योंकि उनके व्रतों से पवित्रता मानी गयी है।

पुनः व्रतों से रहित भी जन यदि जल-स्नान आदि से पवित्र हो जावें तब तो फिर मत्स्य मकर आदि जलजन्तु और दुश्चारित्र से दूषित असंयत जन आदि सभी पवित्र हो जावें। किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसलिए व्रत, नियम और संयम के द्वारा जो पवित्रता है वह ही पवित्रता है। किन्तु जल आदि तो बहुत कश्मल रूप है, नाना प्रकार के सूक्ष्म जन्तुओं से व्याप्त है और संपूर्ण सावद्य-पापयोग का मूल है वह यद्यपि जहाँ-तहाँ प्राप्त हो सकता है तो भी संयतों के द्वारा सेवनीय नहीं है ऐसा समझना।

क्षितिशयन व्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

---

१ क °गं स वि···सर्वांगः। २ वृद्धिगताः।

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥३२॥

फासुयभूमिपएसे—प्रगता असवः प्राणा यस्मिन्नसौ प्रासुको जीववधादिहेतुरहितः भूमेः प्रदेशो भूमिप्रदेशः प्रासुकश्चासौ भूमिप्रदेशश्च प्रासुकभूमिप्रदेशस्तस्मिन् जीवहिंसामर्दनकलहसंक्लेशादिविमुक्तभूमिप्रदेशे। **अप्पमसंथारिदम्हि**—अल्पमपि स्तोकमपि असंस्तरितं अप्रक्षिप्तं यस्मिन् सोऽल्पासंस्तरितस्तस्मिन्नल्पासंस्तरिते अथवा अल्पवति संस्तरिते येन बहुसंयमविघातो न भवति तस्मिन् तृणमये काष्ठमये शिलामये भूमिप्रदेशे च संस्तरे गृहस्थयोग्यप्रच्छादनविरहिते आत्मना वा संस्तरिते नान्येन। अथवा आत्मानं मिमीत इति आत्ममं आत्मप्रमाणं संस्तरितं चारित्रयोग्यं तृणादिकं यस्मिन् स आत्ममसंस्तरितप्रदेशस्तस्मिन्। **पच्छण्णे**—प्रच्छन्ने गुप्तैकप्रदेशे [1]स्त्रीपशुपंडकविवर्जिते असंयतजनप्रचारविवर्जिते। **दण्डं**—दण्ड इव शयनं दण्ड इत्युच्यते। **धणु**—धनुरिव शयनं धनुरित्युच्यते। शय्याशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। दण्डेन शय्या धनुषा शय्या। अधोमुखेनोत्तानेन शय्या न कर्तव्या दोषदर्शनात्। **खिदिसयणं**—क्षितौ शयनं क्षितिशयनं। विवर्जितपल्यंकादिकं। **एयपासेण**—एकपार्श्वेन शरीरैकदेशेन। प्रासुकभूमिप्रदेशे चारित्राविरोधेनाल्पसंस्तरिनेऽसंस्तरिते आत्मप्रमाणेनात्मनैव वा

गाथार्थ—अल्प भी संस्तर से रहित अथवा किंचित् मात्र संस्तर से सहित एकान्त स्थान रूप प्रासुक भूमि प्रदेश में दण्डाकार या धनुषाकार शयन करना अथवा एक पसवाड़े से सोना क्षितिशयन व्रत है ॥३२॥

आचारवृत्ति—जीव वध आदि हेतु से रहित प्रदेश प्रासुक प्रदेश है अर्थात् जीवों की हिंसा से, उनके मर्दन से अथवा कलह संक्लेश आदि से रहित जो प्रदेश है वह प्रासुक प्रदेश है। जहाँ पर किंचित् भी संस्तरण नहीं किया है अर्थात् कुछ भी नहीं बिछाया है वह अल्प असंस्तरित है, अथवा जहाँ पर अल्पवान संस्तर किया गया है जिससे बहुत संयम का विघात न हो ऐसे तृणमय, काष्ठमय, शिलामय और भूमिमय इन चार प्रकार के संस्तर में से किसी एक प्रकार का संस्तर किया गया है ऐसा संस्तर जोकि गृहस्थ के योग्य प्रच्छादन से रहित है, अथवा जो अपने द्वारा बिछाया गया है अन्य के द्वारा नहीं, वह संस्तर यहाँ विवक्षित है।

अथवा जो 'आत्मानं मिमीते' आत्मा को मापता है अर्थात् अपने शरीर प्रमाण है ऐसा बिछाया गया संस्तर यहाँ विवक्षित है जोकि चारित्र के योग्य तृण आदि रूप है वह आत्म प्रमाण संस्तरित प्रदेश साधु के शयन के योग्य है। वह प्रच्छन्न होवे अर्थात् वहाँ पर स्त्री, पशु और नपुंसक लोग न होवें और असंयतजनों के आने-जाने से रहित हो ऐसे गुप्त-एकान्त प्रदेश साधु के शयन योग्य है। वहाँ पर दण्ड के समान शरीर को करके अर्थात् दण्डाकार, या धनुष के समान सोना, अथवा एक पसवाड़े से शयन करना—इन तीन प्रकार से सोने का विधान होने से यहाँ पर अधोमुख होकर या ऊपर मुख करके सोना नहीं चाहिए यह आशय है क्योंकि इनमें दोष देखे जाते हैं। उपर्युक्त विधि से शयन ही क्षितिशयन व्रत है। तात्पर्य यह हुआ कि चारित्र से अविरोधी ऐसे अल्प संस्तर को डाल करके अथवा संस्तर नहीं भी बिछा करके, अपने शरीर प्रमाण में अथवा अपने द्वारा बिछाये गये ऐसे संस्तरमय, एकान्त-

---

१ क 'शुपंडक'।

संस्तरिते प्रच्छन्ने दण्डेन धनुषा एकपार्श्वेन मुनेर्या शय्या शयनं तत् क्षितिशयनव्रतमित्यर्थः। किमर्थमेतदिति चेत् इन्द्रियसुखपरिहारार्थं तपोभावनार्थं शरीरादिनिस्पृहत्वाद्यर्थं चेति ॥

अदन्तमनव्रतस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं[1] पासाणछल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥३३॥

अंगुलि—अंगुलिः हस्ताग्रावयवः। णह—नखः कररुहः। अवलेहणि—अवलिख्यते मलं निराक्रियतेऽनया सा अवलेखनी दन्तकाष्ठं। कलिहिं[2]—कलिस्तृणविशेषः, अत्र बहुवचनं द्रष्टव्यं प्राकृतलक्षणबलात्। अंगुलिनखावलेखनीकलयस्तैः। पासाणं—पाषाणं। छल्लि—त्वक् वल्कलावयवः। पाषाणं च त्वक् च पाषाणत्वचं तदादिर्येषां ते पाषाणत्वचादयस्तैः पाषाणत्वचादिभिश्च। आदिशब्देन खर्परखण्डतन्दुलवर्तिकादयो गृह्यन्ते। संजमगुत्ती—संयमगुप्तिः। दंतमलासोहणयं—दन्तानां मलं तस्याशोधनमनिराकरणं दन्तमलाशोधनं। संजमगुत्ती—संयमस्य गुप्तिः संयमगुप्तिः संयमरक्षा इन्द्रियसंयमरक्षणनिमित्तम्। [3]समुदायार्थः—अंगुलिनखावलेखनीकलिभिः पाषाणत्वचादिभिश्च यदेतद्दन्तमलाशोधनं संयमगुप्तिनिमित्तं तददन्तमनव्रतं भवतीत्यर्थः। किमर्थं वीतरागख्यापनार्थं सर्वज्ञाज्ञानुपालननिमित्तं चेति ॥

रूप प्रासुक भूमि-प्रदेश में दण्डरूप से, धनुषाकार से या एक पसवाड़े से जो मुनि का शयन करना है वह क्षितिशयन व्रत है।

प्रश्न—यह किसलिए कहा है?

उत्तर—इन्द्रिय सुखों का परिहार करने के लिए, तप की भावना के लिए और शरीर आदि से निःस्पृहता आदि के लिए यह भूमिशयन व्रत होता है। अर्थात् पृथ्वी पर सोने से या तृण-घास पाटे आदि पर सोने पर कोमल-कोमल बिछौने आदि का त्याग हो जाने से इन्द्रियों का सुख समाप्त हो जाता है, तपश्चरण में भावना बढ़ती चली जाती है, शरीर से ममत्व का निरास होता है, और भी अनेकों गुण प्रकट होते हैं।

अदंतधावन व्रत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अंगुली, नख, दांतोन और तृण विशेष के द्वारा पत्थर या छाल आदि के द्वारा दांत के मल का शोधन नहीं करना यह संयम की रक्षारूप अदन्तधावन व्रत है ॥३३॥

आचारवृत्ति—अंगुली—हाथ के अग्रभाग का अवयव, नख, अवलेखनी—जिसके द्वारा मल निकाला जाता है वह दांतोन आदि, कलि—तृण विशेष, पत्थर और वृक्षों की छाल। यहां आदि शब्द से खप्पर के टुकड़े, चावल की वत्ती आदि ग्रहण की जाती हैं। इन सभी के द्वारा दांतों का मल नहीं निकालना यह इन्द्रियसंयम की रक्षा के निमित्त अदंतधावन व्रत है। समुदाय अर्थ यह हुआ कि अंगुली, नख, दांतोन, तृण, पत्थर, छाल आदि के द्वारा जो दंतमल को दूर नहीं करना है वह संयमरक्षा निमित्त अदंतमनव्रत कहलाता है।

प्रश्न—यह किसलिए है?

---

१ क °कलि न। २ क कलि न। ३ क गमु°।

स्थितिभोजनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ[1]विवज्जणेण समपायं[2]।
[3]पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥३४॥

अंजलिपुडेण—अञ्जलिरेव पुटं अञ्जलिपुटं तेन—अञ्जलिपुटेन पाणिपात्रेण स्वहस्तपात्रेण[4]। **ठिच्चा**—स्थित्वा ऊर्ध्वांध:[5] स्वरूपेण नोपविष्टेन नापि सुप्तेन न तिर्यग्व्यवस्थितेन भोजनं कार्यमित्यर्थ:। ऊर्ध्वजंघ: संस्थाय। **कुड्डाइविवज्जणेण**—कुड्यमादिर्येषां ते कुड्यादयस्तेषां विवर्जनं परिहरणं कुड्यादिविवर्जनं तेन कुड्यादिविवर्जनेन भित्तिविभागस्तंभादीननाश्रित्य। **समपायं**—समौ पादौ यस्य क्रियाविशेषस्य तत्समपादं चतुरंगुलप्रमाणं पादयोरन्तरं कृत्वा स्थातव्यमित्यर्थ:। **परिसुद्धे**—परिशुद्धे जीववधादिविरहिते। **भूमितिए**—भूमित्रिके भूमेस्त्रिकं भूमित्रिकं तस्मिन् स्वपादप्रदेशोत्सृष्टपतनपरिवेषकप्रदेशे। **असणं**—अशनं आहारग्रहणम्। **ठिदिभोयणं**—स्थितस्य भोजनं स्थितिभोजनं नामसंज्ञकं भवति। परिशुद्धे भूमित्रिके कुड्यादिविवर्जनेनाञ्जलिपुटेन समपादं यथाभवति तथा स्थित्वा यदेतदशनं क्रियते तत्स्थितिभोजनं नाम व्रतं भवतीति। समपादाञ्जलि-

---

उत्तर—यह व्रत वीतारागता को वतलाने के लिए और सर्वज्ञदेव की आज्ञा के पालन हेतु कहा गया है।

स्थितिभोजन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दीवाल आदि का सहारा न लेकर जीव-जन्तु से रहित तीन स्थान की भूमि, में समान पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथ की अंजली बनाकर भोजन करना स्थितिभोजन नाम का व्रत है ॥३४॥

आचारवृत्ति—दीवाल का भाग या खंभे आदि का सहारा न लेकर, पैरों में चार अंगुल प्रमाण का अन्तर रखकर खड़े होकर अपने कर-पात्र में आहार लेना स्थितिभोजन है। यहाँ 'खड़े होकर' कहने से ऐसा समझना कि साधु न बैठकर आहार ले सकते हैं, न लेटकर, न तिरछे आदि स्थित होकर ही ले सकते हैं किन्तु दोनों पैरों में चार अंगुल अन्तर से खड़े होकर ही लेते हैं। वे तीन स्थानों का निरीक्षण करके आहार करते हैं। अपने पैर रखने के स्थान को, उच्छिष्ट गिरने के स्थान को और परोसने वाले के स्थान को जीवों के गमनागमन या वध आदि से रहित—विशुद्ध देखकर आहार ग्रहण करना होता है। उसका स्थितिभोजन नामक व्रत कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि तीनों स्थानों को जीव-जन्तु रहित देखकर भित्ति आदि का सहारा न लेकर समपाद रखकर खड़े होकर अंजलिपुट मे जो आहार ग्रहण किया जाता है वह स्थिति-भोजन व्रत है।

समपाद और अंजलिपुट इन दो विशेषणों से तीन मुहूर्त मात्र भी एकभक्त का जो काल है वह संपूर्णकाल नहीं लिया जाता है किन्तु मुनि का भोजन ही इन विशेषणों से विशिष्ट होता है। इससे यह अर्थ हुआ कि साधु जब-जब भोजन करते हैं तब-तब समपाद को करके

---

१ क दिवि'। २ क 'पादं। ३ क परिसु'। ४ क 'त भाजनेन। ५ क 'र्ध्वजंघस्य'।

पुटाभ्यां न सर्वः एकभक्तकालः त्रिमुहूर्तमात्रोऽपि विशिष्यते किन्तु भोजनं मुनेर्विशिष्यते तेन त्रिमुहूर्तकालमध्ये यदा यदा भुङ्क्ते तदा तदा समपादं कृत्वा अञ्जलिपुटेन भुञ्जीत। यदि पुनर्भोजनक्रियायां प्रारब्धायां समपादौ न विशिष्यते अञ्जलिपुटं च न विशिष्यते हस्तप्रक्षालने कृतेऽपि तदानीं जानूपरिव्यतिक्रमो योऽयमन्तरायः पठितः स न स्यात्। नाभेरधो निर्गमनं योऽन्तरायः सोऽपि न स्यात्। अतो ज्ञायते त्रिमुहूर्तमध्ये एकत्र भोजन-क्रियां प्रारभ्य केनचित् कारणान्तरेण हस्तौ प्रक्षाल्य मौनेनान्यत्र गच्छेत् भोजनाय यदि पुनः सोऽन्तरायो भुञ्जा-नस्यैकत्र भवतीति मन्यते जानूपरिव्यतिक्रमविशेषणमनर्थकं स्यात्। एवं विशेषणमुपादीयेत समपादयोर्मनागपि चलितयोरन्तरायः स्यात् नाभेरधो निर्गमनं दूरत एव न[1] सम्भवतीति अन्तरायपरिहारार्थमनर्थकं ग्रहणं स्यात् तथा पादेन किञ्चित् ग्रहणमित्येवमादीन्यन्तरायव्यापकानि सूत्राण्यनर्थकानि स्युः। तथाञ्जलिपुटं यदि न भिद्यते करेण किञ्चिद् ग्रहणमन्तरायस्य विशेषणमनर्थकं स्यात्। गृह्णातु वा मा वा अञ्जलिपुटभेदेन अन्तरायः स्यादित्येवमुच्यते। तथा जान्वधः परामर्शः सोऽप्यन्तरायस्य विशेषणं न स्यात्। एवमन्येऽपि अन्तराया न स्युरिति। न चैतेऽन्तरायाः सिद्धभक्तावकृतायां गृह्यन्ते सर्वदैव भोजनाभावः स्यात्। न चैवं, यस्मात्सिद्धभक्ति यावन्न[2] करोति तावदुपविश्य पुनरुत्थाय भुङ्क्ते। मांसादीन् दृष्ट्वा च रोदनादिश्रवणेन च उच्चारादींश्च

अंजलिपुट से ही करते हैं। यदि पुनः भोजन क्रिया के प्रारम्भ कर देने पर समपाद विशेष नहीं है और अंजलिपुट विशेष नहीं है तो हाथ के प्रक्षालन करने पर भी उस समय जानूपरिव्यतिक्रम नाम का जो अंतराय कहा गया है वह नहीं हो सकेगा और नाभि के नीचे निर्गमन नाम का जो अंतराय है वह नहीं हो सकेगा इसलिए यह जाना जाता है कि तीन मुहूर्त के मध्य एक जगह भोजन क्रिया को प्रारम्भ करके किसी अन्य कारण से हाथों को धोकर मौन से अन्यत्र भोजन के लिए जा सकते हैं। यदि पुनः वह अंतराय भोजन करते हुए के एक जगह होती है ऐसा मान लो तो जानूपरिव्यतिक्रम विशेषण अनर्थक हो जावेगा। किन्तु ऐसा विशेषण ग्रहण करना चाहिए था कि सम पैरों के किंचित् भी चलित होने पर अंतराय हो जावेगा, पुनः नाभि के नीचे से निकलने रूप अंतराय दूर से ही संभव नहीं हो सकेगा इसलिए अंतराय परिहार के लिए है ऐसा ग्रहण अनर्थक ही हो जावेगा। उसी प्रकार से 'पैर से किंचित् ग्रहण करना' इत्यादि प्रकार के अंतरायों को कहनेवाले सूत्र भी अनर्थक ही हो जावेंगे। तथा यदि अंजलिपुट नहीं छूटना चाहिए ऐसा मानेंगे तो 'कर से किंचित् ग्रहण करने रूप' अंतराय का विशेषण अनर्थक हो जायेगा। ग्रहण करो अथवा मत करो किन्तु अंजलिपुट के छूट जाने से अंतराय हो जावेगा ऐसा कहना चाहिए था। तथा जान्वधः परामर्श नामक जो अंतराय है वह भी नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार से अन्य भी अंतराय नहीं हो सकेंगे।

सिद्धभक्ति के नहीं करने पर ये अंतराय ग्रहण किये जाते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते हैं अन्यथा हमेशा ही भोजन का अभाव हो जावेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जब तक सिद्धभक्ति को नहीं करते हैं तब तक बैठे रहकर पुनः खड़े होकर भोजन करते हैं। मांस आदि को देखकर, रोना आदि सुनकर अथवा मलमूत्र आदि विसर्जन करके भोजन करते हैं और वहाँ पर काक आदि के द्वारा पिण्ड ग्रहण अंतराय भी सम्भव नहीं है।

१-२ न नास्ति क प्रतौ।

कृत्वा भुङ्क्ते न च तत्र काकादिपिंडहरणं[1] सम्भवति। अथ किमर्थं स्थितिभोजनमनुष्ठीयते चेन्नैष दोषः यावद्धस्तपादौ मम संवहतस्तावदाहारग्रहणं योग्यं नान्यथेति ज्ञापनार्थं। स्थितस्तस्य हस्ताभ्यां भोजनं उपविष्टः सन् भाजनेनान्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च, अन्यच्च स्वकरतलं शुद्धं भवति अन्तराये सति बहोर्विसर्जनं च न भवति अन्यथा पात्रीं सर्वाहारपूर्णां त्यजेत् तत्र च दोषः स्यात्। इन्द्रियसंयमप्राणसंयमप्रतिपालनार्थं च स्थितिभोजनमुक्तमिति॥

एकभक्तस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु॥३५॥

उदयत्थमणे—उदयश्चास्तमनं च उदयास्तमने तयोः सविसुरुदयास्तमनयोः। **काले**—कालयोः, अथवा उदयास्तमनकालौ द्वितीयान्तौ द्रष्टव्यौ। **णालीतियवज्जियम्हि**—नाड्या घटिकायास्त्रिकं नाडीत्रिकं तेन नाडीत्रिकेण वर्जितं नाडीत्रिकवर्जितं तस्मिन् घटिकात्रिकवर्जिते। **मज्झम्हि**—मध्ये। **एकम्हि**—एकस्मिन्। **दुअ**—द्वयोः। **तिए वा**—त्रिषु वा। **मुहुत्तकाले**—मुहूर्तकाले। **एयभत्तं तु**—एकभक्तं तु। उदयकालं नाडीत्रिकप्रमाणं वर्जयित्वा। अस्तमनकालं च नाडीत्रिकप्रमाणं वर्जयित्वा शेषकालमध्ये एकस्मिन् मुहूर्ते द्वयोर्मुहूर्तयोस्त्रिषु वा मुहूर्तेषु यदेतदशनं तदेकभक्तसंज्ञकं व्रतमिति पूर्वगाथासूत्रादशनमनुवर्तते तेन सम्बन्ध

प्रश्न—पुनः किसलिए स्थितिभोजन का अनुष्ठान किया जाता है ?

उत्तर—यह दोष नहीं है, क्योंकि जब तक मेरे हाथ पैर चलते हैं तब तक ही आहार ग्रहण करना योग्य है अन्यथा नहीं ऐसा सूचित करने के लिए मुनि खड़े होकर आहार ग्रहण करते हैं। बैठकर दोनों हाथों से या बर्तन में लेकर के या अन्य के हाथ से मैं भोजन नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा के लिए भी खड़े होकर आहार करते हैं। और दूसरी बात यह भी है कि अपना पाणिपात्र शुद्ध रहता है तथा अंतराय होनेपर बहुत सा भोजन छोड़ना नहीं पड़ता है अन्यथा थाली में खाते समय अंतराय हो जाने पर पूरी भोजन से भरी हुई थाली को छोड़ना पड़ेगा, इसमें दोष लगेगा। तथा इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम का परिपालन करने के लिए भी स्थिति-भोजन मूलगुण कहा गया है ऐसा समझना।

एकभक्त का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—उदय और अस्त के काल में से तीन-तीन घड़ी से रहित मध्यकाल के एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल में एकबार भोजन करना यह एकभक्त मूलगुण है॥३५॥

आचारवृत्ति—सूर्योदय के बाद तीन घड़ी और सूर्यास्त के पहले तीन घड़ी काल को छोड़कर शेषकाल के मध्य में एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त पर्यंत जो आहार ग्रहण है वह एकभक्त नाम का व्रत है। इस प्रकार से पूर्वगाथा सूत्र में 'अशन' शब्द है, उसका यहाँ सम्बन्ध किया गया है। अथवा तीन घड़ी प्रमाण सूर्योदय काल और तीन घड़ी प्रमाण सूर्यास्त काल को छोड़कर मध्यकाल में तीन मुहूर्त तक जो भोजन क्रिया की निष्पत्ति—पूर्ति है वह एकभक्त है।

---

१ क 'बग्रहणं'।

इति। अथवा नाडीत्रिकप्रमाणे उदयास्तमनकाले च वर्जिते मध्यकाले त्रिषु मुहूर्तेषु भोजनक्रियायां या निष्पत्तिस्तदेकभक्तमिति। अथवा अहोरात्रमध्ये द्वे भक्तवेले तत्र एकस्यां भक्तवेलायां आहारग्रहणमेकभक्तमिति। एकशब्दः संख्यावचनः भक्तशब्दोऽपि कालवचन इति। एकभक्तैकस्थानयोः को विशेष इति चेन्न पादविक्षेपाविक्षेपकृतत्वाद्विशेषस्य, एकस्मिन् स्थाने त्रिमुहूर्तमध्ये पादविक्षेपमकृत्वा भोजनमेकस्थानं, त्रिमुहूर्तकालमध्ये एकक्षेत्रावधारणरहितं भोजनमेकभक्तमिति। अन्यथा मूलगुणोत्तरगुणयोरविशेषः स्यात् न चैवं प्रायश्चित्तेन विरोधः स्यात्। तथा चोक्तं प्रायश्चित्तग्रन्थेन, 'एकस्थानमुत्तरगुणः एकभक्तं तु मूलगुण' इति। तत्किमर्थमिति [1]चेन्न इन्द्रियजयनिमित्तं, आकांक्षानिवृत्त्यर्थं, महापुरुषाचरणार्थं चेति। किमर्थं महाव्रतानां भेद इति चेन्न, छेदोपस्थापन-शुद्धिसंयमाश्रयणात्। नापि महाव्रतसमितीनामभेदः क्रियाक्रियाचरणविशेषाश्रयणात्। नाप्यात्मदुःखार्थमेतत्, अन्यथार्थत्वात् भिषक्क्रियावदिति [illegible] तपसा गुप्तीनां च अत्रान्तर्भाव इति प्रश्ने उत्तरमाह—

अथवा अहोरात्र में भोजन की दो वेला होती हैं उसमें एक भोजन वेला में आहार ग्रहण करना एक भक्त है। यहाँ पर एक शब्द संख्यावाची है और भक्त शब्द कालवाची है ऐसा समझना।

प्रश्न—एक भक्त और एक स्थान में क्या अन्तर है?

उत्तर—पाद विक्षेप करना और पाद विक्षेप न करना यही इन दोनों में अन्तर है। तीन मुहूर्त के बीच में एक स्थान में खड़े होकर अर्थात् चरणविक्षेप न करके भोजन करना एक स्थान है और तीन मुहूर्त के काल में एक क्षेत्र की मर्यादा न करते हुए भोजन करना एकभक्त है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो मूलगुण और उत्तरगुण में कोई अन्तर नहीं रहेगा किन्तु ऐसा है नहीं, नहीं तो प्रायश्चित्त शास्त्र से विरोध आ जायेगा, उसमें कहा हुआ था कि एकस्थान उत्तरगुण है और एकभक्त मूलगुण है।

ऐसा भेद क्यों है?

इन्द्रियों को जीतने के लिए, आकांक्षा का त्याग करने के लिए और महापुरुषों के आचरण के लिए ही भेद है।

महाव्रतों में भेद क्यों है?

छेदोपस्थापना शुद्धि नामक संयम के आश्रय से यह भेद है। महाव्रत और समिति में भी अभेद नहीं है क्योंकि क्रियात्मक और अक्रियात्मक आचरण विशेष देखा जाता है अर्थात् समिति क्रियारूप हैं उनमें यत्नाचारपूर्वक गमन करना, बोलना आदि होता है और महाव्रत अक्रियारूप हैं क्योंकि ये परिणामात्मक हैं।

ये महाव्रत समिति आदि आत्मा को दुःख देने वाले हैं ऐसा भी नहीं समझना क्योंकि वैद्य की शल्यक्रिया के समान ये दुःख से विपरीत अन्यथा अर्थवाले ही हैं अर्थात् जैसे वैद्य रोगी के फोड़े को चीरता है तो वह आपरेशन तत्काल में दुःखप्रद दिखते हुए भी उसके स्वास्थ्य के लिए है वैसे ही इन महाव्रत समितियों के अनुष्ठान में तत्काल में भले ही दुःख दीखे किन्तु ये आत्मा को स्वर्ग मोक्ष के लिए होने से सुखप्रद ही हैं।

---

१ क चेत् इ।

अनशनं नाम अशनत्यागः स च त्रिप्रकारः। मनसा च न भुञ्जे न भोजयामि, भोजने व्यापृतस्य नानुमतिं करोमि भुञ्जे भुङ्क्ष्व वचसा न भणामीति चतुर्विधाहारस्याभिसन्धिपूर्वकं कायेनादानं न करोमि हस्तसंज्ञया प्रवर्तनं न करोमि नानुमतिसूचनं कायेन करोमि इत्येवं मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽनशनं नाम। तथा योगत्रयेण तृप्तिकारिण्या भुजिक्रियाया दर्पवाहिन्या निराकृतिरवमोदर्यं। तथा आहारसंज्ञाया जयः गृहादिगणनान्यायेन वृत्तिपरिसंख्यानं। तथा मनोवाक्कायक्रियाभीरसगोचरगार्द्धत्यजनं रसपरित्यागः। काये सुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेशः। चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम्। स्वकृतापराधगूहनत्यजनं आलोचना। स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणं। तदुभयोज्झनमुभयम्। येन यत्र वा अशुभयोगोऽभूत्

प्रश्न—तपों का और गुप्तियों का कहाँ पर अन्तर्भाव होता है?

उत्तर—नित्य युक्त—नित्य करने योग्य तप और गुप्तियों का मूलगुणों में अन्तर्भाव हो जाता है और कादाचित्क—कभी-कभी करने योग्य इनका उत्तरगुणों में अन्तर्भाव होता है। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भी मूलगुणों में ही अन्तर्भाव माना है क्योंकि इनके बिना मूलगुण ही नहीं होते हैं।

तप और गुप्तियों का संक्षिप्त लक्षण—

तप के बारह भेद हैं। अनशन, अवमौदर्य आदि छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय आदि छह अभ्यन्तर तप हैं।

भोजन का त्याग करना अनशन है उसके तीन प्रकार हैं। मैं मन से भोजन नहीं करता हूँ, न अन्य को कराता हूँ और न भोजन करते हुए अन्य को अनुमोदना ही देता हूँ। तुम भोजन करो ऐसा वचन से नहीं कहता हूँ, न कहलाता हूँ और न अनुमोदना ही देता हूँ। चार प्रकार के आहार को अभिप्रायपूर्वक काय से न मैं ग्रहण करता हूँ, न हाथ से इशारे के प्रवृत्ति करता हूँ और न काय से अनुमति की सूचना करता हूँ इस प्रकार से कर्मों के ग्रहण में कारणभूत ऐसी मन, वचन और काय की क्रियाओं का त्याग करना ही अनशन नाम का तप है।

(इन्द्रियों की) तृप्ति और दर्प (प्रमाद) को करने वाले भोजन का मन, वचन, काय से त्याग करना अर्थात् भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है।

गृह आदि की संख्या के न्याय से अर्थात् गृह पात्र आदि नियम विशेष करके आहार संज्ञा को जीतना वृत्ति-परिसंख्यान तप है।

मन-वचन-काय से रसविषयक गृद्धि का त्याग करना रसपरित्याग तप है।

शरीर में सुख की अभिलाषा का त्याग करना कायक्लेश तप है।

चित्त की व्याकुलता को जीतना अर्थात् चित्त की व्याकुलता के कारणभूत स्त्री, पशु, नपुंसक आदि जहाँ नहीं हैं ऐसे विविक्त—एकान्त स्थान में सोना बैठना यह विविक्त शयनासन तप है।

ये छह प्रकार के बाह्य तप हैं। अभ्यन्तर तप में पहला तप प्रायश्चित्त है उसके दश भेद हैं। उनका वर्णन कर रहे हैं—

तन्निराक्रिया[1] ततोऽपगमनं विवेकः। देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः। तपोऽनशनादिकम्। असंयमजुगुप्सार्थं प्रव्रज्याहापनं छेदः। पुनश्चारित्रादानं मूलं। कालप्रमाणेन चतुर्वर्ण्यश्रमणसंघाद्बहिष्करणं परिहारः। विपरीतं गतस्य मनसः निवर्तनं श्रद्धानं, दर्शनज्ञानचारित्रतपसामतीचारो[2] अशुभक्रियास्तासामपोहनं विनयः। चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्त्यम्। अंगपूर्वाणां सम्यक् पठनं स्वाध्यायः। शुभविषये एकाग्रचिन्तानिरोधनं ध्यानम्। सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्तिः। सा च मनोवाक्कायक्रियाभेदात्त्रिप्रकारा। एतेषां सर्वेषां तपसां गुप्तीनां च नित्ययुक्तानां च मूलगुणेष्वेवान्तर्भावः। कादाचित्कानां चोत्तरगुणेष्वन्तर्भाव इति, तथा सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणामपि मूलगुणेष्वन्तर्भावस्तैर्विना तेषामभावादिति ॥

स्वयं किये हुए अपराध नहीं छिपाना आलोचना है।

अपने द्वारा किये हुए अशुभ योग की प्रवृत्तियों से हटना प्रतिक्रमण है।

आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय तप है।

जिससे अथवा जिसमें अशुभयोग हुआ हो उस वस्तु का छोड़ना विवेक है।

शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

अनशन अर्थात् उपवास आदि तपों का अनुष्ठान करना तपप्रायश्चित्त है।

असंयम से ग्लानि उत्पन्न होने पर दीक्षा के दिन, मास आदि कम करना छेद है।

पुनः चारित्र अर्थात् दीक्षा ग्रहण करना मूल है।

कुछ काल के प्रमाण से चतुर्विध श्रमणसंघ से साधु का बहिष्कार कर देना परिहार प्रायश्चित्त है।

विपरीत-मिथ्यात्व को प्राप्त हुए मन को वापस लौटाकर सम्यक्त्व में स्थिर करना श्रद्धान प्रायश्चित्त है।

ये प्रायश्चित्त तप के दश भेद हुए। अब अन्य विनय आदि अभ्यन्तर तपों को कहते हैं—

दर्शन ज्ञान चारित्र और तप में अतिचाररूप जो अशुभ क्रियाएँ हैं उनका त्याग करना विनय है।

चारित्र के कारणों का अनुमनन करना वैयावृत्य है।

अंग और पूर्व का सम्यक् पढ़ना स्वाध्याय है।

शुभ विषय में एकाग्र चिन्ता का निरोध करना अर्थात् चित्त को स्थिर करना ध्यान है।

इस प्रकार बारह विध तपों का वर्णन हुआ। अब गुप्ति को कहते हैं—

सावद्य अर्थात् पाप योग से आत्मा का गोपन—रक्षण करना गुप्ति है। इसके मन, वचन, और काय की क्रिया के भेद से तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात् सावद्य परिणामों से मन को रोकना मनोगुप्ति है, सावद्य वचनों को नहीं बोलना वचनगुप्ति है और सावद्य काययोग से बचना कायगुप्ति है। नित्ययुक्त ये तप और गुप्तियाँ मूलगुणों में गर्भित हैं और नैमित्तिक रूप ये उत्तरगुणों में गर्भित हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी मूलगुणों में अन्तर्भूत हैं क्योंकि इनके बिना मूलगुण हो ही नहीं सकते।

---

१ क 'क्रियते ततोपयोगमनं। २ क 'चाराणमशु'।

मूलगुणफलप्रतिपादनार्थोपसंहारगाथामाह—

एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण ।
होऊण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लहइ मोक्खं ॥३६॥

एवं—अनेन प्रकारेण । विहाणजुत्ते—विधानयुक्तान् पूर्वोक्तक्रमभेदभिन्नान् सम्यक्त्वाद्यनुष्ठानपूर्वकान् । मूलगुणे—मूलगुणान् पूर्वोक्तलक्षणान् । पालिऊण—पालयित्वा सम्यगनुष्ठाय आचर्य । तिविहेण—त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन वा । होऊण—भूत्वा । जगदिपुज्जो—जगति लोके पूज्योऽर्चनीयः । अक्खयसोक्खं—अक्षयसौख्यं व्याघातरहितं । लभइ—लभते प्राप्नोति । मोक्खं—मोक्षं अष्टविधकर्मापायोत्पन्नजीवस्वभावम् ॥

इत्याचारवृत्तौ वसुनंदिविरचितायां प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

अब मूलगुणों का फल प्रतिपादन करने के लिए उपसंहाररूप गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधान से सहित मूलगुणों को मन, वचन, काय से पालन करके मनुष्य जगत् में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥३६॥

आचारवृत्ति—पूर्वोक्त क्रम से भेद रूप तथा सम्यक्त्व आदि अनुष्ठानपूर्वक मूलगुणों को मन, वचन, काय से पालन करके साधु इस जगत् में अर्चनीय हो जाता है और आगे बाधारहित अक्षयसुखमय और अष्टविध कर्मों के अभाव से उत्पन्न हुए जीव के स्वभाव रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार श्री वसुनन्दि आचार्य विरचित मूलाचार की आचारवृत्ति
नामक टीका में प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ ।



२. बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकारः

प्रत्याख्यान[1]संस्तरस्तवप्रतिपत्तृभ्यां[2] सहाभेदं कृत्वात्मनः ग्रंथकर्ता प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवनामधेयं द्वितीयाधिकारार्थमाह। अथवा षट्काला यतीनां भवन्ति तत्रात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थकालास्त्रय आराधनायां कथ्यते। शेषा दीक्षाशिक्षागणपोषणकाला आचारे, तत्राद्येषु त्रिषु कालेषु यद्युपस्थितं मरणं तत्रैवंभूतं परिणामं विदधेऽहमित्यत आह—

सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो।
सद्दहे जिणपण्णत्तं पच्चक्खामि य पावयं ॥३७॥

सव्वदुक्खप्पहीणाणं—सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वदुःखानि समस्तद्वन्द्वानि तैः प्रहीणा रहिताः। अथवा सर्वाणि दुःखानि प्रहीणानि येषां ते सर्वदुःखप्रहीणास्तेभ्यः। सिद्धाणं—सिद्धेभ्यः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणैश्वर्येभ्यः। अरहदो—अर्हद्भ्यश्च नवकेवललब्धिप्राप्तेभ्यश्चाचशब्दोऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः। णमो—नमो नमोऽस्त्वित्यर्थः तेभ्यः। सद्दहे—श्रद्दधे रुचिं कुर्वे। जिणपण्णत्तं—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनाः तैः प्रज्ञप्तं कथितं जिनप्रज्ञप्तं जिनकथितं। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि परिहरे। पावयं—पापकं दुःखनिमित्तम्। सर्वद्वंद्वरहितेभ्यः सिद्धेभ्योऽर्हं-

---

प्रत्याख्यान और संस्तरस्तव इन दो विषयों का उनको जाननेवाले मुनियों के साथ अभेद सम्बन्ध दिखाकर ग्रन्थकार प्रत्याख्यान संस्तर-स्तव नामक द्वितीय अधिकार का वर्णन करते हैं। अथवा यतियों के छह काल होते हैं उसमें आत्म संस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन तीन कालों का वर्णन 'भगवती आराधना' में कहा गया है। शेष अर्थात् दीक्षा-काल, शिक्षाकाल और गणपोषणकाल इन तीनों का इस आचार-ग्रन्थ—मूलाचार में वर्णन करेंगे। उनमें से पहले के तीन कालों में यदि मरण उपस्थित हो जाये तो मैं इस प्रकार के (निम्न कथित) परिणाम को धारण करता हूँ, इस प्रकार से आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हुए सिद्धों को और अर्हंतों को मेरा नमस्कार होवे। मैं जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित (तत्त्व) का श्रद्धान करता हूँ और पाप का त्याग करता हूँ ॥३७॥

आचारवृत्ति—सम्पूर्ण दुःखों से अर्थात् समस्त द्वन्द्वों से जो रहित हैं, अथवा जिन्होंने सम्पूर्ण दुःखों को नष्ट कर दिया है ऐसे सम्यक्त्व आदि आठ गुण रूप ऐश्वर्य से विशिष्ट सिद्धों को और नव केवललब्धि को प्राप्त हुए अर्हंतों को मेरा नमस्कार होवे। यहाँ गाथा में 'च' शब्द न होते हुए भी उसको समझना चाहिए। सर्वज्ञदेवपूर्वक ही आगम होता है इसीलिए मैं नमस्कार के अनन्तर जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आगम का श्रद्धान करता हूँ अर्थात् सम्यक्त्वपूर्वक जो आचरण है उसका श्रद्धान करता हूँ और इसी हेतु से दुःखनिमित्तक सम्पूर्ण पापों का त्याग

---

१. क 'जनितं'। २. 'पतिभ्यां'।

द्भ्यो नमोस्तु। सर्वज्ञपूर्वक आगमो यतोऽतस्तन्नमस्कारानन्तरमागमश्रद्धानं श्रद्धे जिनप्रज्ञप्तमित्युक्तं सम्यक्त्व-पूर्वकं च, यतः आचरणमतः प्रत्याख्यामि सर्वपापकमित्युक्तं। अथवा क्त्वान्तोऽयं नमःशब्दः प्राकृते लोपबलेन सिद्धः। सिद्धानर्हतश्च नमस्कृत्वा जिनोक्तं श्रद्धे पापं च प्रत्याख्यामीत्यर्थः। अथवा [1]मिडन्तोऽयं नमःशब्दः तेनैवं सम्बन्धः कर्तव्यः—सर्वदुःखप्रहीणान् सिद्धान् अर्हतश्च नमस्यामि जिनागमं च श्रद्धे। पापं च प्रत्याख्यामीत्येकक्षणे[2]ऽनेकक्रिया एकस्य कर्तुः संभवंति इत्यनेकान्तद्योतनार्थमनेन न्यायेन सूत्रकारस्य कथनमिति॥

भक्तिप्रकर्षार्थं पुनरपि नमस्कारमाह—

णमोत्थु धुदपावाणं सिद्धाणं च महेसिणं।
[3]संथरं पडिवज्जामि जहा केवलिदेसियं॥३८॥

अथवा प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवौ द्वावधिकारौ, द्वे शास्त्रे वा गृहीत्वा एकोऽयं अधिकारः कृतः, कुतो ज्ञायते नमस्कारद्वितयकरणादिति। **णमोत्थु**—नमोऽस्तु। **धुदपावाणं**—धुतं विहतं पापं कर्म यैस्ते धुतपापास्तेभ्यः। **सिद्धाणं च**—सिद्धेभ्यश्च। **महेसिणं**—महर्षिभ्यश्च केवलर्द्धिप्राप्तेभ्यः। [3]**संथरं**—संस्तरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयं भूमिपाषाणफलकतृणमयं वा। **पडिवज्जामि**—प्रपद्ये अभ्युपगच्छामि। **जहा**—यथा। **केवलिदेसियं**—केवलिभिर्दृष्टः केवलिदृष्टस्तं केवलज्ञानिभिः प्रतिपादितमित्यर्थः। धुतपापेभ्यः सिद्धेभ्यो महर्षिभ्यश्च नमोऽस्तु। केवलिदृष्टं संस्तरं प्रतिपद्येऽहं इति पूर्ववत्सम्बन्धः कर्तव्यः। सिद्धानां नमस्कारो मंगलादिनिमित्तं महर्षीणां च तदनुष्ठितत्वाच्चेति।

करता हूँ। अथवा क्त्वा प्रत्ययान्त यह नमः शब्द प्राकृत में लोप के बल से सिद्ध है, इस कथन से सिद्धों और अर्हंतों को नमस्कार करके जिनेन्द्र कथित का श्रद्धान करता हूँ और पाप का त्याग करता हूँ। अथवा यह नमः शब्द मिडन्त है। इसका ऐसा सम्बन्ध करना कि सर्व दुःखों से रहित सिद्धों को और अर्हंतों को नमस्कार करता हूँ, जिनागम का श्रद्धान करता हूँ तथा पाप का त्याग करता हूँ। इस प्रकार से एकक्षण में एक कर्ता के अनेक क्रियाएँ सम्भव हैं, अतः अनेकान्त को प्रकट करने हेतु इस न्याय से सूत्रकार का कथन है ऐसा समझना।

भक्ति की प्रकर्षता के लिए पुनः नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—पापों से रहित सिद्धों को और महर्षियों को मेरा नमस्कार होवे, जैसा केवली भगवान् ने कहा है वैसे ही संस्तर को मैं स्वीकार करता हूँ॥३८॥

आचारवृत्ति—अथवा यहाँ पर प्रत्याख्यान और संस्तरस्तव ये दो अधिकार हैं या इन दो शास्त्रों को ग्रहण करके यह एक अधिकार किया गया है। ऐसा कैसे जाना जाता है?

नमस्कार को दो बार करने से जाना जाता है। जिन्होंने पापों को धो डाला है ऐसे सिद्धों को और केवल ऋद्धि को प्राप्त ऐसे महर्षियों को नमस्कार होवे। केवली भगवान् ने जैसा प्रतिपादित किया है वैसा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपोमय अथवा भूमि, पाषाण, पाटे और तृणमय संस्तर को मैं स्वीकार करता हूँ। यहाँ पर सिद्धों का नमस्कार मंगल आदि के लिए है और महर्षियों का नमस्कार इसलिए है कि इन्होंने उपर्युक्त संस्तर को प्राप्त करने का अनुष्ठान किया है।

---

१. क तिडन्तो। २. क °णे नैका क्रिया। ३. क संथारं।

प्रतिज्ञानिर्वहणार्थमाह—

जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥३९॥

जं किंचि—यत्किंचित्। मे—मम। दुच्चरियं—दुश्चरितं पापक्रियाः। सव्वं—सर्वं निरवशेषं। तिविहेण—त्रिविधेन मनोवचनकायैः। वोसरे—व्युत्सृजामि परिहरामि। सामाइयं च—सामायिकं [1]समन्वीभावं च। तिविहं—त्रिप्रकारं मनोवचनकायगतं कृतकारितानुमतं वा। करेमि—कुर्वेऽहम्। सव्वं—सर्वं-सकलम्। णिरायारं—आकारान्निर्गतं निराकारं निर्विकल्पम्। समस्ताचरणं निर्दोषं यत्स्तोकमपि दुश्चरितं तत्सर्वं व्युत्सृजामि त्रिविधेन, सामायिकं च सर्वं निरतिचारं निर्विकल्पं च यथा भवति तथा करोमीत्यर्थः, दुश्चरित्रकारणं यत् तत्सर्वं त्रिप्रकारैः मनोवाक्कायैः परिहरामीति।

उत्तरसूत्रमाह—

बज्झब्भंतरमुवहिं सरीराइं च सभोयणं।
मणसा वचि कायेण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४०॥

बज्झं—बाह्यं क्षेत्रादिकम्। अब्भंतरं—अभ्यन्तरमन्तरंगं मिथ्यात्वादि। उवहिं—उपधिं परिग्रहम्। सरीराइं च—शरीरमादिर्यस्य तच्छरीरादिकम्। सभोयणं—सह भोजनेन वर्तत इति सभोजनं आहारेण सह। मणसा वचि काएण—मनोवाक्कायैः। सव्वं—सर्वम्। तिविहेण—त्रिप्रकारैः कृतकारितानुमतैः।

अब प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित है उस सभी का मैं मन-वचन काय से त्याग करता हूँ और सभी तीन प्रकार के सामायिक को निर्विकल्प करता हूँ ॥३९॥

आचारवृत्ति—जो कुछ भी मेरी पाप क्रियाएँ हैं उन सभी का मन-वचन-काय से मैं परिहार करता हूँ और मन-वचन-कायगत अथवा कृत-कारित-अनुमोदनारूप सम्पूर्ण समन्वय भाव सामायिक को आकार विरहित निराकार अर्थात् निर्विकल्प करता हूँ। समस्त आचरण निर्दोष हैं उसमें जो अल्प भी दुश्चरितरूप दोष हुए हों उन सभी को मैं त्रि प्रकार से त्याग करता हूँ और सम्पूर्ण सामायिक को निरतिचार या निर्विकल्प जैसे हो सके वैसा करता हूँ अर्थात् जो भी दुश्चरित के कारण हैं उन सभी का मैं मन-वचन-काय से परिहार करता हूँ।

अब आगे का सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह को, शरीर आदि को और भोजन को सभी को मन-वचन-कायपूर्वक तीन प्रकार से त्याग करता हूँ ॥४०॥

आचारवृत्ति—क्षेत्र आदि बाह्य और मिथ्यात्व आदि अभ्यन्तर परिग्रह को, आहार के साथ शरीर आदि को सभी को मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से मैं त्याग

---

1. क समत्वभावं च।

वोसरे—व्युत्सृजामि । बाह्यं शरीरादि सभोजनं परिग्रहं, अन्तरंगं च मिथ्यात्वादिकं सर्वं त्रिप्रकारैर्मनोवाक्कायैः परिहरामीत्यर्थः ।

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ॥४१॥

सव्वं पाणारंभं—सर्वं प्राणारम्भं जीववधपरिणामम् । पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि दयां कुर्वेऽहम् । अलीयवयणं च—अलीकवचनं च । सव्वं—सर्वम् । अदत्तादाणं—अदत्तस्यादानं ग्रहणमदत्तादानम् । मेहूण—मैथुनं स्त्रीपुरुषाभिलापम् । परिग्गहं चेव—परिग्रहं चैव बाह्याभ्यन्तरलक्षणं । सर्वं हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्ममूर्च्छा-स्वरूपं परित्यजामीत्यर्थः ।

सामायिकं करोमीत्युक्तं तत्किं स्वरूपमित्यतः प्राह—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसा[1] वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥४२॥

करता हूँ । तात्पर्य यह है कि भोजन सहित शरीर आदि बाह्य परिग्रह को और अन्तरंग मिथ्यात्व आदि को, इन सभी को कृत-कारित-अनुमोदना सहित मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ ।

गाथार्थ—सम्पूर्ण प्राणिवध को, असत्यवचन को, और सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण को, मैथुन को तथा परिग्रह को भी मैं छोड़ता हूँ ॥४१॥

आचारवृत्ति—सम्पूर्ण जीववध परिणाम का मैं त्याग करता हूँ अर्थात् दया करता हूँ । असत्य वचन का, सम्पूर्ण बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण का, स्त्री-पुरुष के अभिलापारूप मैथुन का और बाह्य अभ्यन्तर लक्षण परिग्रह का मैं त्याग करता हूँ । अर्थात् सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छास्वरूप परिग्रह का मैं परिहार करता हूँ ।

*मैं सामायिक स्वीकार करता हूँ ऐसा जो कहा है उसका क्या स्वरूप है—ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मेरा सभी जीवों में समताभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है, सम्पूर्ण आशा को छोड़कर इस समाधि को स्वीकार करता हूँ ॥४२॥

---

१. क आसाए ।

*फलटन से प्रकाशित प्रति में यह गाथा अधिक है—

इक्करण चउव्विहत्थी किदकारिद अणुमोदिदं चेव ।
जोगेसु अबम्भस्स य भंगा खलु होंति अक्खसंचारे ॥६॥

अर्थ—स्पर्शन आदि मन सहित छह इन्द्रियाँ, देवांगना, मनुष्यनी, तिर्यंचनी और चित्रस्थी इन चार प्रकार की स्त्रियों के साथ स्वयं मैथुन करना, अन्य से कराना और मैथुन कर्म में प्रवृत्त हुए अन्य को अनुमति देना, ये भेद मन, वचन और काय से इन तीनों से इस प्रकार से, ६ × ४ × ३ × ३ = २१६ भेद अब्रह्मचर्य के हो जाते हैं ।

सम्मं—समता सदृशत्वम्। मे—मम। सव्वभूदेसु—सर्वाणि च तानि भूतानि च सर्वभूतानि तेषु शत्रुमित्रादिषु प्राणिषु। वेरं—वैरं शत्रुभावः। मज्झं—मम। ण केण वि—न केनापि। आसा[1]—आशाः तृष्णाः। वोसरित्ता—व्युत्सृज्य परित्यज्य। अणं—इमम्। समाहिं—समाधि समाधानं। पडिवज्जामि (पडिवज्जए)—[2]प्रतिपद्येऽहम्। वैरं मम न केनापि सह यतः समता मे सर्वभूतेषु अतः आशा व्युत्सृज्य समाधि [3]प्रतिपद्येऽहमिति।

कथं वैरं भवतो नास्तीत्यत आह—

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
[4]मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥४३॥

खमामि—क्षमेऽहं क्रोधादिकं [5]त्यक्त्वा मैत्रीभावं करोमि। सव्वजीवाणं—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवास्तान् शुभाशुभपरिणामहेतून्। सव्वे जीवा—सर्वे जीवाः समस्तप्राणिनः। खमंतु—क्षमन्तां सुष्ठूपशमभावं कुर्वन्तु। मे—मम। [6]मित्ती—मैत्री मित्रत्वं। सव्वभूदेसु—सर्वभूतेषु। वेरं—वैरं। मज्झ—मम। ण केण वि—न केनापि। सर्वजीवान् क्षमेऽहं, सर्वे जीवा मे क्षमन्तां, एवं परिणामं यतः करोमि ततो वैरं मे न केनाऽपि, मैत्री सर्वभूतेष्विति।

न केवलं वैरं त्यजामि, वैरनिमित्तं च यत् तत्सर्वं त्यजामीत्यतः प्राह—

रायवंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं [7]रदिमरदिं च वोसरे ॥४४॥

रायवंधं—रागस्य रागेण वा बन्धो रागबन्धः स्नेहानुबन्धस्तम्। पदोसं च—प्रद्वेषमप्रीतिं च।

आचारवृत्ति—शत्रु मित्र आदि सभी प्राणियों में मेरा समताभाव है, किसी के साथ मेरा शत्रुभाव नहीं है इसलिए मैं सम्पूर्ण तृष्णा को छोड़कर समाधि को स्वीकार करता हूँ।

आपका किसी के साथ वैर क्यों नहीं है इस बात को कहते हैं—

गाथार्थ—सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है ॥४३॥

आचारवृत्ति—शुभ-अशुभ परिणाम में कारणभूत सभी जीवों के प्रति क्रोधादि का त्याग करके मैं क्षमाभाव—मैत्रीभाव धारण करता हूँ। सभी प्राणी मेरे प्रति क्षमाभाव अर्थात् अच्छी तरह शान्तिभाव धारण करें इस प्रकार के परिणाम जो मैं करता हूँ इसी हेतु से मेरा किसी के साथ वैर नहीं है प्रत्युत सभी जीवों में मैत्रीभाव ही है।

मैं केवल वैर का ही त्याग नहीं करता हूँ किन्तु वैर के निमित्त जो भी हैं उन सबका त्याग करता हूँ इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—राग का अनुबन्ध, प्रकृष्ट द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति, और अरति का त्याग करता हूँ ॥४४॥

आचारवृत्ति—स्नेह का अनुबन्ध, अप्रीति, लाभ आदि से होने वाला आनन्दरूप हर्ष,

---

१. क आसाए। २-३. क प्रपद्ये। ४. क मेत्ती। ५. क मुक्त्वा। ६. क मेत्ती। ७. क रदं अरदं।

हरिसं—हर्षं लाभादिना आनन्दम् । दीणभावयं—दीनभावं याञ्चादिना करुणाभिलापदैन्यं च । उस्सुगत्तं—उत्सुकत्वं सरागमनसा[1]न्यचिंतनं । भयं—भीतिम् । सोयं—शोकं इष्टवियोगवशादनुशोचनम् । रइं—रतिमभिप्रेतप्राप्तिम् । अरइं—अरतिं अभिप्रेताऽप्राप्तिं । वोसरे—व्युत्सृजामि । रागानुबन्धद्वेषहर्षदीनभावमुत्सुकत्वभयशोकरत्यरतिं च त्यजामीत्यर्थः ।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥४५॥

ममत्तिं—ममत्वं । परिवज्जामि—परिवर्जामि परिहरेऽहं । णिम्ममत्तिं—निर्ममत्वमसंगत्वं । उवट्ठिदो—उपस्थितः । यदि सर्वं भवता त्यज्यते किमालम्बनं भविष्यतीत्यत आह—आलंबणं च—आलम्बनं आश्रयः । मे—मम । आदा—आत्मा । अवसेसाइं—अवशेषाणि अधिकानि । वोसरे—व्युत्सृजामि । किं बहुनोक्तेनानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यरत्नत्रयादिकं मुक्त्वान्यत्सर्वं त्यजामीत्यर्थः ।

आत्मा च भवता किमिति कृत्वा न परित्यज्यते इत्यत आह—

आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए ॥४६॥

आदा—आत्मा । हु—स्फुटं । मज्झ—मम । णाणे—ज्ञाने । आदा—आत्मा । मे—मम । दंसणे—

याचना आदि से करुणामय अभिलाषारूप दीनता, सराग मन से अन्य के चिन्तनरूप उत्सुकता, भीति, इष्ट वियोग के निमित्त से होनेवाला शोचरूप शोक, इच्छित की प्राप्ति रूप रति, इच्छित की अप्राप्तिरूप अरति—इन सबका मैं त्याग करता हूँ ।

गाथार्थ—मैं ममत्व को छोड़ता और निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता हूँ, आत्मा ही मेरा आलम्बन है और मैं अन्य सभी का त्याग करता हूँ ॥४५॥

आचारवृत्ति—मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निःसंगपने को प्राप्त होता हूँ ।

प्रश्न—आप यदि सभी कुछ छोड़ देंगे तो आपको अवलम्बन किसका है ?

उत्तर—मेरी आत्मा का ही मुझे अवलम्बन है इसके अतिरिक्त सभी का मैं त्याग करता हूँ । अर्थात् अधिक कहने से क्या, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप अनन्तचतुष्टय को और रत्नत्रय निधि को छोड़कर अन्य सभी का मैं त्याग करता हूँ ।

आप आत्मा का त्याग क्यों नहीं करते हैं ? इस बात को कहते हैं—

गाथार्थ—निश्चितरूप से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन में और चारित्र में है, प्रत्याख्यान में है और मेरा आत्मा ही संवर तथा योग में है ॥४६॥

आचारवृत्ति—मेरा आत्मा ही स्पष्टरूप से ज्ञान में, तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन में

---

१. क 'न्यमर्थिं'।

दर्शने तत्त्वार्थश्रद्धाने आलोके वा। चरित्ते य—चारित्रे च पापक्रियानिवृत्तौ। आदा—आत्मा। पच्चक्खाणे—प्रत्याख्याने। आदा—आत्मा। मे—मम। संवरे—आस्रवनिरोधे। जोए—योगे शुभव्यापारे॥

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ॥४७॥

एओ य—एकश्चासहायश्च। मरइ—म्रियते शरीरत्यागं करोति। जीवो—जीवः चेतनालक्षणः एओ य—एकश्च। उववज्जइ—उत्पद्यते। एयस्स—एकस्य। जाइ—जातिः। मरणं—मृत्युः। एओ—एकः सिज्झइ—सिद्ध्यति मुक्तो भवति। णीरओ—नीरजाः कर्मरहितः।

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥४८॥

एओ—एकः। मे—मम। सस्सओ—शाश्वतो नित्यः। अप्पा—आत्मा। णाणदंसणलक्खणो—ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने ते एव लक्षणं यस्यासौ ज्ञानदर्शनलक्षणः। सेसा मे—शेषाः शरीरादिका मम। बाहिरा—बाह्या अनात्मीयाः। भावा—पदार्थाः। सव्वे—सर्वे समस्ताः। संजोगलक्खणा—संयोगलक्षणाः अनात्मनीनस्यात्मभावः संयोगः, संयोग एव लक्षणं येषां ते संयोगलक्षणा विनश्वरा इत्यर्थः। ज्ञानदर्शनचारित्र प्रत्याख्यानसंवरयोगेषु ममात्मैव, यतो म्रियते उत्पद्यते च एक एव, यतः एकस्य[1] जातिमरणे, यतः एकश्च नीरजा सन् सिद्धिं याति, यतः शेषाश्च सर्वे भावाः संयोगलक्षणा बाह्या यतः, अत एक एवात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः नित्यं ममेति।

अथवा सामान्य सत्तामात्र के अवलोकन रूप दर्शन में है। पाप क्रिया के अभावरूप चारित्र में त्याग में, आस्रवनिरोधरूप संवर में और शुभ व्यापाररूप योग में भी मेरा आत्मा ही है।

गाथार्थ—जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है। एक जीव के ही यह जन्म और मरण हैं और अकेला ही कर्म रहित होता हुआ सिद्ध पद प्राप्त करता है मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला है। शेष सभी संयोगलक्षणवाले जो भाव हैं वे मेरे से बहिर्भूत हैं ॥४७,४८॥

आचारवृत्ति—यह चेतनालक्षणवाला जीव एक असहाय ही शरीर के त्यागरूप मरण को करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि इस एक जीव के ही जन्म और मरण होते हैं और यह अकेला ही कर्मरज से रहित होता हुआ मुक्त होता है। मेरा आत्मा नित्य है, ज्ञानदर्शन स्वभाववाला है। शेष जो शरीर आदि अनात्मीय पदार्थ हैं वे सभी संयोगरूप हैं अर्थात् जो अपने नहीं हैं उनमें आत्मभाव होना संयोग है। इस संयोग स्वभाववाले होने से सभी बाह्य पदार्थ विनश्वर हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र, त्याग, संवर और शुभक्रियारूप योग इन सभी में मेरा आत्मा ही है। अभिप्राय यह है कि जिस हेतु से यह अकेला ही जन्म-मरण करता है, इस अकेले के ही जन्ममरणरूप संसार है और जिस हेतु से यह अकेला ही कर्मरज रहित होता हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है तथा जिस हेतु से अन्य सभी पदार्थ संयोग

---

१. क एकस्य च जातिः मरणं।

अथ किमिति कृत्वा संयोगलक्षणो भावः परिह्रियते इति चेदत आह—

संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं।
तम्हा संजोयसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४६॥

संजोयमूलं—संयोगनिमित्तं। **जीवेण**—जीवेन। **पत्तं**—प्राप्तं, लब्धं। **दुक्खपरंपरं**—दुःखानां परम्परा दुःखपरम्परा क्लेशनैरन्तर्यम्। **तम्हा**—तस्मात्। **संजोयसंबंधं**—संयोगसम्बन्धम्। **सव्वं**—सर्वं। **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायैः। **वोसरे**—व्युत्सृजामि। संयोगहेतोर्जीवेन यतो दुःखपरम्परा प्राप्ता, तस्मात् संयोगसम्बन्धं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामीत्यर्थः।

पुनरपि दुश्चरित्रस्य परिहारार्थमाह—

मूलगुणउत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण।
तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे [1]आगममिस्साणं ॥५०॥

मूलगुणउत्तरगुणे—मूलगुणाः प्रधानगुणाः, उत्तरगुणा अभ्रावकाशादयो मूलगुणदीपकास्तेषु मध्ये। **जो मे**—यः कश्चिन्मया। **णाराहिओ**—नाराधितो नानुष्ठितः। **पमाएण**—प्रमादेन केनचित्कारणान्तरेण [2]आलसभावात्। **तमहं**—तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी, तदहं मूलगुणाद्यनाराधनम्। **सव्वं**—सर्वम्। **णिंदे**—निन्दामि

स्वभावी होने से बाह्य हैं, इसी हेतु से ज्ञानदर्शन स्वभाववाला अकेला आत्मा ही नित्य है और मेरा है।

अब, किस प्रकार से संयोगलक्षणवाले भाव का परिहार किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—इस जीव ने संयोग के निमित्त से दुःखों के समूह को प्राप्त किया है इसलिए मैं समस्त संयोग सम्बन्ध को मन-वचन-कायपूर्वक छोड़ता हूँ ॥४६॥

आचारवृत्ति—यह जीव संयोग के कारण ही निरन्तर दुःखों को प्राप्त करता रहा है इसलिए मैं सम्पूर्ण संयोगजन्य भावों का त्रिविध से त्याग करता हूँ।

पुनः आचार्य दुश्चरित के त्याग हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने मूलगुण और उत्तर गुणों में प्रमाद से जिस किसी की आराधना नहीं की है उस सम्पूर्ण की मैं निन्दा करता हूँ और भूत-वर्तमान ही नहीं, भविष्य में आनेवाले का भी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ॥५०॥

आचारवृत्ति—प्रधानगुण मूलगुण हैं और मूलगुणों के उद्योतन करनेवाले अभ्रावकाश आदि उत्तरगुण हैं। इनमें से जिस किसी का भी मैंने यदि प्रमाद से या अन्य किसी कारण से अथवा आलस्यभाव से अनुष्ठान नहीं किया हो तो उस अनुष्ठान नहीं किए रूप दोष की मैं निन्दा करता हूँ, आत्मा में उस विषय की ग्लानि करता हूँ तथा उस अनाराधन रूप दोष का परिहार करता हूँ। उसमें भी केवल भूतकाल और वर्तमान काल के विषय में ही नहीं, बल्कि भविष्यकाल में होनेवाले अनुष्ठानाभाव रूप दोष का भी प्रतिक्रमण करता हूँ। अर्थात् जो गुण हैं उनमें से जिस किसी गुण की आराधना नहीं की है वह दोष हो गया, उस सम्पूर्ण दोष की

---

1. क आगमेस्साणं। 2. क आलस्य'।

आत्मानं जुगुप्से। पडिक्कमे—प्रतिक्रमामि निर्हरे न केवलमतीतवर्तमानकाले 'आगमिस्साणं—आगमिष्यति च काले। ये गुणास्तेषां मध्ये यो नाराधितो गुणस्तमहं सर्वं निन्दयामि प्रतिक्रमामि चेति।

तथा—

अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य मर्मात्ति।
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥५१॥

अस्संजमं—असंयमं पापकारणम्। अण्णाणं—अज्ञानं अश्रद्धानपूर्वकवस्तुपरिच्छेदम्। मिच्छत्तं—मिथ्यात्वमतत्त्वार्थश्रद्धानम्। सव्वमेव य—सर्वमेव च। मर्मात्ति—ममत्वमनात्मीये आत्मीयभावम्। जीवेसु अजीवेसु य—जीवाजीवविषयं च। तं णिंदे—तं निन्दामि। तं च—तच्च। गरिहामि—गर्हेऽहं परस्य प्रकटयामि। मूलोत्तरगुणेषु मध्ये यन्नाराधितं प्रमादतोऽतीतानागतकाले तत्सर्वं निन्दामि प्रतिक्रमामि च। असंयमाज्ञानमिथ्यात्वादि[2] जीवाजीवविषयं ममत्वं च सर्वं गर्हे निन्दामि चेति प्रमाददोषेण दोषास्त्यज्यन्ते।

प्रमादाः पुनः किं न परिह्रियन्त इति चेन्न तानपि परिहरामीत्यत आह—

सत्त भए अट्ठ मए सण्णा चत्तारि गारवे तिण्णि।
तेत्तीसाच्चासणाओ रायद्दोसं च गरिहामि ॥५२॥

सत्तभए—सप्तभयानि। अट्ठमए—अष्टौ मदानि। सण्णा चत्तारि—संज्ञाश्चतस्रः आहारभयमैथुन-

---

में निन्दा करता हूँ और प्रतिक्रमण करके उस दोष को दूर करता हूँ यह अभिप्राय हुआ। उसी प्रकार से—

गाथार्थ—असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक सम्पूर्ण ममत्व—उन सबकी मैं निन्दा करता हूँ और उन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ॥५१॥

आचारवृत्ति—पाप का कारण असंयम है; अश्रद्धानपूर्वक वस्तु का जाननेवाला ज्ञान अज्ञान है और अतत्त्व श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। अनात्मीय अर्थात् अपने से भिन्न जो वस्तु हैं, चाहे जीवरूप हों, चाहे अजीवरूप हों, उनमें अपनेपन का भाव ममत्व कहलाता है। इन सम्पूर्ण असंयम आदि भावों को जो मैंने किया हो मैं उनकी निन्दा करता हूँ तथा पर अर्थात् गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करते हुए मैं उनकी गर्हा करता हूँ। अभिप्राय यह कि अपने मूलगुणों और उत्तरगुणों में से मैंने प्रमाद से भूत, भविष्यत् काल में जिनकी आराधना नहीं की हो उन सभी के लिए निन्दा करता हूँ और प्रतिक्रमण करता हूँ। असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक जो ममत्व परिणाम हैं उन सबकी भी मैं निन्दा करता हूँ। इस प्रकार प्रमाद के दोष से जो अपराध हुए हैं उन सभी का त्याग हो जाता है, ऐसा समझना।

आप प्रमाद का पुनः क्यों नहीं परिहार करते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर 'सम्पूर्ण प्रमादों को भी छोड़ता हूँ', ऐसा उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गारव, तेतीस आसादना तथा राग और द्वेष इन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ॥५२॥

आचारवृत्ति—सात भय और आठ मदों के नाम आचार्य स्वयं आगे बतायेंगे।

---

१. क आगमेसाणं। २. क त्वानि

परिग्रहाभिलापान्। गारवे—गौरवाणि ऋद्धिरससातविपयगर्वान्। तिण्णि—त्रीणि। तेत्तीसाच्चासणाओ—त्रिभिरधिका त्रिंशत् त्रयस्त्रिंशत् पदार्थैः सह सम्बन्धः। त्रयस्त्रिंशतां पदार्थानां, अच्चासणा—आसादनाः परिभवास्तास्त्रयस्त्रिंशदासादनाः, अथवा तन्निमित्तत्वात् ताच्छब्द्यन्ते। रायद्दोसं च—रागद्वेषौ च, आत्मनीनानात्मनीनवस्तुप्रीत्यप्रीती। गरिहामि—गर्हे नाचरामीत्यर्थः। सप्तभयाष्टमदसंज्ञागारवाणि त्रयस्त्रिंशत्पदार्थासादनं च रागद्वेषौ च त्यजामीत्यर्थः।

अथ कानि सप्तभयानि के चाष्टौ मदा इति पृष्टे तत आह—

इहपरलोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकम्हिभया।
विण्णाणिस्सरियाणा कुलबलतवरूवजाइ मया॥५३॥

इहपरलोयं—इह च परश्च इहपरौ तौ च तौ लोकौ चेहपरलोकौ। अत्ताणं—अत्राणमपालनं, इहलोकभयं, परलोकभयं, अत्राणभयं। अगुत्ति—अगुप्तिः प्राकाराद्यभावः। मरणं च—मृत्युश्च। वेयणा—वेदना पीडा। अकम्हिभया—आकस्मिकं घनादिगर्जोद्भवम्। भयशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। इहलोकभयं, परलोकभयं, अत्राणभयं, अगुप्तिभयं, मरणभयं, वेदनाभयं, आकस्मिकभयं चेति। विण्णाण—विज्ञानं अक्षरगन्धर्वादिविषयम्। इस्सरिय—ऐश्वर्यं द्रव्यादिसम्पत्। आणा—आज्ञा वचनानुल्लंघनम्। कुलं—शुद्धपैतृकाम्नायः इक्ष्वाक्वाद्युत्पत्तिर्वा। बलं—शरीराहारादिप्रभवा शक्तिः। तव—तपः कायसन्तापः। रूवं—रूपं समचतुरस्र-

---

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये अभिलाषारूप चार संज्ञाएँ हैं। ऋद्धि, रस और साता—इनके विषय में गर्व के निमित्त से गौरव के ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरव नामक तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात् मैं ऋद्धिशाली हूँ, मुझे नाना रसों से युक्त आहार सुलभ है या मेरे साता का उदय होने से सर्वत्र सुख सुविधाएँ हैं इत्यादि रूप से जो बड़प्पन का भाव या अहंभाव है वह यहाँ पर गारव शब्द से विवक्षित है। उसी को गौरव भी कहा गया है। तेतीस पदार्थों के परिभव या अनादर को आसादना कहते हैं। अथवा उन तेतीस पदार्थों के निमित्त से जो आसादनाएँ होती हैं वे ही यहाँ तेतीस कही गयी हैं। अपने से सम्बद्ध वस्तु में प्रीति का नाम राग है और अपने से भिन्न वस्तु में अप्रीति का नाम द्वेष है। इस प्रकार से मैं सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गौरव तेतीस पदार्थों की आसादना और रागद्वेष का त्याग करता हूँ। दूसरे शब्दों में, मैं इन्हें आचरण में नहीं लाऊँगा।

अब वे सात भय और आठ मद कौन-कौन हैं? इसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक ये सात भय हैं। विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप और जाति इनके निमित्तक आठ मद हैं॥५३॥

आचारवृत्ति—इहलोक आदि सभी के साथ भय शब्द का प्रयोग करना चाहिए। यथा—इहलोकभय—अर्थात् इस लोक में शत्रु, विष, कंटक आदि से भयभीत होना। परलोकभय अर्थात् अगले भव में कौन-सी गति मिलेगी? क्या होगा? इत्यादि सोचकर भयभीत होना। अत्राणभय अर्थात् मेरा कोई रक्षक नहीं है ऐसा सोचकर डरना। अगुप्तिभय अर्थात् इस ग्राम में परकोटे आदि नहीं है अतः शत्रु आदि से कैसे मेरी रक्षा होगी? मरणभय अर्थात् मरने से

संस्थानगौरादिवर्णकान्तियौवनोद्भवरमणीयता। जाइ—जातिः मातृकसन्तानशुद्धिः। एतैरेतेषां वा, मया—मदा गर्वाः। मदशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। विज्ञानमदः, ऐश्वर्यमदः, आज्ञामदः, कुलमदः, बलमदः, जातिमदः, तपोमदः, रूपमद इति संज्ञा[1]भेदैः सुगमत्वान्न विस्तरः[2]।

अथ के त्रयस्त्रिंशत्पदार्था येषां त्रयस्त्रिंशदासादनानीत्यत आह—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच।
पवयणमाउपयत्था तेतीसच्चासणा भणिया ॥५४॥

पंचेव—पंचैव। अत्थिकाया—अस्तिकायाः कायो निचयः परस्परप्रदेशसम्बन्धो येषां तेऽस्तिकायाः अस्तिमन्तो द्रष्टव्या जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशाः। कालस्य प्रदेशप्रचयो नास्तीत्यतोऽस्तिकायत्वं नास्ति।

डरना। वेदनाभय—रोग आदि से उत्पन्न हुई पीड़ा से डरना। आकस्मिकभय—अकस्मात् मेघगर्जना, विद्युत्पात आदि होने से डरना। ये सात भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होते हैं क्योंकि वह आत्मा का विघात नहीं मानता है।

विज्ञान—अक्षरज्ञान और संगीत आदि का ज्ञान होना; ऐश्वर्य—द्रव्यादि सम्पत्ति का वैभव होना; आज्ञा—अपने द्वारा दिए गये आदेश का उलंघन न होना; कुल—पिता के वंश परम्परा की शुद्धि का होना अथवा इक्ष्वाकु वंश, हरिवंश आदि में जन्म लेना; बल, शरीर, आहार आदि से उत्पन्न हुई शक्ति का होना; तप—शरीर को संतापित करना, रूप—समचतुरस्र संस्थान, गौर आदि वर्ण, सुन्दर कान्ति और यौवन से उत्पन्न हुई रमणीयता का होना; जाति—माता के वंश परम्परा की शुद्धि का होना, ये आठ मुख्य हैं। इनके द्वारा अथवा इनका गर्व करना ये ही आठ मद कहलाते हैं। मद शब्द का प्रयोग आठों में करना चाहिए। यथा—विज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, आज्ञामद, कुलमद, बलमद, जातिमद, तपोमद, और रूपमद। इस प्रकार इनके निमित्त से होनेवाले गर्व का त्याग करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि के लिए ये पच्चीस मलदोष में दोषरूप हैं।

विशेष—साधुओं में भयकर्म के उदय से इन सात भयों में कदाचित् कोई भय उत्पन्न हो भी जावे तो भी वह मिथ्यात्व का सहचारी नहीं है। ऐसे ही कदाचित् संज्वलन मान के उदय से साधुओं के आठ मदों में से कोई मद उत्पन्न हो जाय तो भी साधु उसे छोड़ देते हैं।

अब तेतीस पदार्थ कौन से हैं जिनकी तेतीस आसादनाएँ होती हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—अस्तिकाय पंच ही हैं, जीव निकाय छह हैं, महाव्रत पाँच हैं और प्रवचन-माता आठ और नवपदार्थ—ये तेतीस ही यहाँ तेतीस आसादना नाम से कहे गए हैं। अर्थात् इनकी विराधना ही आसादना कहलाती है ॥५४॥

आचारवृत्ति—अस्ति—विद्यमान है कायनिचय अर्थात् प्रदेशों का समूह जिसमें वह अस्तिकाय है। अर्थात् परस्पर में प्रदेशों का सम्बन्ध जिन द्रव्यों में पाया जाता है वे द्रव्य अस्तिकाय

---

१. क संज्ञादेः। २. क विस्तरितः।

छज्जीवणिकाय—षट् च ते जीवनिकायाश्च षड्जीवनिकायाः पृथिवीकायिकादयः। महव्वया पंच—महाव्रतानि पंच। पवयणमाउ—प्रवचनमातृकाः पंचसमितयः त्रिगुप्तयश्च। पयत्था—पदार्थाः जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापानि। तेतीसच्चासणा—त्रयस्त्रिंशदासादनाः। भणिया—भणिताः पंचास्तिकायादिविषयवशात् पंचास्तिकायादय एवासादना उक्ताः, तेषां वा ये परिभवास्ता आसादना इति सम्बन्धः कर्तव्यः।

कहलाते हैं। वे पाँच हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। काल में प्रदेशों का प्रचय न होने से वह अस्तिमात्र है, अस्तिकाय नहीं है। पृथ्वीकायिक आदि छह जीवनिकाय हैं। महाव्रत पाँच हैं, पाँच समिति और तीन गुप्तियाँ ये प्रवचन-मातृका नाम से आठ हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ हैं। इस प्रकार ये तेतीस आसादनाएँ हैं। अर्थात् पाँच अस्तिकाय आदि ये इनके विषयभूत हैं इसलिए इन अस्तिकाय आदि को ही आसादना शब्द से कहा है। अथवा इनका जो परिभव अर्थात् अनादर है वही आसादना है ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए।

विशेष—महाव्रतों में समिति गुप्तियों के अतिचार आदि का होना आसादना है और

---

*निम्नलिखित गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक हैं।

आहारादिसण्णा चत्तारि वि होंति जाण जिणवयणे।
सादादिगारवा ते तिण्णि वि णियमा पवज्जेजो ॥१९॥

अर्थ—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रहसंज्ञा इन चारों संज्ञाओं का स्वरूप जिनागम में कहा गया है। साता आदि तीन गौरव हैं। इनको नियम से छोड़ देना चाहिए। इन्हें गारव भी कहते हैं। यथा सातागारव—मैं यति होकर भी इन्द्रत्वसुख, चक्रवर्तीसुख अथवा तीर्थंकर जैसे सुख का उपभोग ले रहा हूँ, ये दीनयति सुखों से रहित हैं इत्यादि रूप से अभिमान करना। रसगारव—मुझे आहार में रसयुक्त पदार्थ सहज ही उपलब्ध हैं ऐसा अभिमान होना। ऋद्धिगारव—मेरे शिष्य आदि बहुत हैं, दूसरे यतियों के पास नहीं है ऐसा अभिमान होना। ये तीन प्रकार के गर्व 'गारव' शब्द से भी कथित हैं। चूँकि ये संज्वलन कषाय के निमित्त से होने से अत्यल्परूप हो सकते हैं। इन बातों का विशेष रूप से घमण्ड रहे जो कि अन्य को तिरस्कृत करनेवाला हो वह गर्व नाम से सूचित किया जाता है ऐसा समझना। ये गौरव भी त्याग करने योग्य हैं।

संज्ञा का लक्षण—

इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभये ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥२०॥

अर्थ—जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोक में और जिनके विषयों का सेवन से दोनों ही भवों में दारुणदुःख को प्राप्त होते हैं उन्हें संज्ञा कहते हैं। उनके चार भेद हैं।

आहार संज्ञा का स्वरूप—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम कोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥२१॥

अर्थ—आहार को देखने से अथवा उसकी तरफ उपयोग लगाने से और उदर के खाली रहने से तथा असातावेदनीय की उदय और उदीरणा के होने पर जीव के नियम से आहार संज्ञा होती है।

आत्मसंस्कारकालं नीत्वा संन्यासालोचनार्थमाचार्यः प्राह—

णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं ॥५५॥

णिंदामि—निन्दामि आत्मन्याविष्करोमि। णिंदणिज्जं—निन्दनीयं आत्माविष्करणयोग्यम्। **गरहामि य**—गर्हे च आचार्यादीनामाविष्करोमि प्रकटयामि। जंच—यच्च। मे—मम। गरहणीयं—गर्हणीयं परप्रकाशयोग्यं। आलोचेमि य—आलोचयामि चापनयामि चारित्राचारालोचनापूर्वकं गर्हणं वा करोमि। सव्वं—सर्वं निरवशेषं। सब्भंतरबाहिरं—साभ्यन्तरबाह्यं। उवहिं—उपधि च परिग्रहं च। यन्निन्दनीयं तन्नि-

---

अस्तिकाय तथा पदार्थों में श्रद्धान का अभाव या विपरीत श्रद्धान आदि का होना आसादना है तथा षट्काय जीवों की हिंसादि का हो जाना ही आसादना है ऐसा समझना।

आत्मसंस्कार काल से संन्यास काल तक की आलोचना के लिए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—निन्दा करने योग्य की मैं निन्दा करता हूँ और मेरे जो गर्हा करने योग्य दोष हैं उनकी गर्हा करता हूँ, और मैं बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह सहित सम्पूर्ण उपधि की आलोचना करता हूँ ॥५५॥

आचारवृत्ति—जो अपने में—स्वयं ही प्रकट करने योग्य दोष हैं उनकी मैं स्वयं निन्दा करता हूँ, जो पर के समक्ष कहने योग्य दोष हैं उनको मैं आचार्य आदि के सामने प्रकट करते हुए अपनी गर्हा करता हूँ और मैं चारित्राचार की आलोचनापूर्वक सम्पूर्ण बाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण उपधि को अपने से दूर करता हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जो उपधि और परिग्रह निन्दा करने योग्य हैं उनकी मैं निन्दा करता हूँ, जो गर्हा करने योग्य हैं

भावार्थ—किसी उत्तम सरस भोज्य पदार्थ के देखने से अथवा पूर्व में लिये गये भोजन का स्मरण आने से, यद्वा पेट के खाली हो जाने से और असातावेदनीय के उदय और उदीरणा से या और भी अनेक कारणों से आहार की इच्छा उत्पन्न होती है।

भय संज्ञा का स्वरूप—

अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोएण ओमसत्तीए।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ॥२२॥

अर्थ—अत्यन्त भयंकर पदार्थ के देखने से, पहले देखे हुए भयंकर पदार्थ के स्मरण से, यद्वा अधिक निर्बल होने पर अन्तरंग में भयकर्म की उदय उदीरणा होने पर इन चार कारणों से भयसंज्ञा होती है।

मैथुनसंज्ञा का स्वरूप—

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हु जायदे चदुहिं ॥२३॥

अर्थ—स्वादिष्ट और गरिष्ठ रस युक्त भोजन करने से, उधर उपयोग लगाने से तथा कुशील आदि सेवन करने से और वेदकर्म की उदय उदीरणा के होने से—इन चार कारणों से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है.

दामि, यद् गर्हणीयं तद्गर्हामि, सर्वं बाह्याभ्यन्तरं चोपधिं आलोचयामीति।

कथमालोचयितव्यमिति चेदत आह—

जह बालो जंप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।
तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥५६॥

जह—यथा। बालो—बालः पूर्वापरविवेकरहितः। जंप्पंतो—जल्पन्। कज्जं—कार्यं स्वप्रयोजनं। अकज्जं च—अकार्यं अप्रयोजनं अकर्तव्यं च। उज्जुयं—ऋजु अकुटिलं। भणइ—भणति। तह—तथा। आलोचेयव्वं—आलोचयितव्यं। मायामोसं च—मायां मृषां च अपह्नवासत्यं च। मोत्तूण—मुक्त्वा। यथा कश्चिद्बालो जल्पन् कुत्सितानुष्ठानमकुत्सितानुष्ठानं च ऋजु भणति, तथा मायां मृषां च मुक्त्वालोचयितव्यमिति।

यस्यालोचना क्रियते स किंगुणविशिष्ट आचार्य इति चेदत आह—

णाणम्हि दंसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि अकंपो।
धीरो आगमकुसलो अपरस्साई रहस्साणं ॥५७॥

उनकी गर्हा करता हूँ और समस्त बाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करके अपने से दूर करता हूँ।

आलोचना कैसे करना चाहिए? सो कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे बालक सरल भाव से बोलता हुआ कार्य और अकार्य सभी को कह देता है उसी प्रकार से मायाभाव और असत्य को छोड़कर आलोचना करना चाहिए ॥५६॥

आचारवृत्ति—जैसे बालक पूर्वापर विवेक से रहित हो बोलता हुआ अपने प्रयोजनीभूत अर्थात् उचित कार्य को तथा अप्रयोजनीभूत अर्थात् अनुचित कार्य को सरलभाव से कह देता है, उसी प्रकार से अपने कुछ दोषों को छिपाने रूप माया और असत्य वचन को छोड़कर आलोचना करना चाहिए। अर्थात् जैसे बालक अपने गलत भी किये गये या अच्छे कार्य को बिना छिपाये कह देता है, वैसे ही साधु सरलभाव से सभी दोषों की आलोचना करे।

जिनके पास आलोचना की जाती है वे आचार्य किन गुणों से विशिष्ट होने चाहिए? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों में भी अविचल हैं, धीर हैं,

---

परिग्रह संज्ञा का स्वरूप—

उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोएण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥२४॥

अर्थ—इष्ट, भोजन, उत्तम स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों के देखने से अथवा पहले भुक्त पदार्थों का स्मरण करने से और ममत्व परिणामों के होने से तथा लोभकर्म की उदय-उदीरणा होने से परिग्रह संज्ञा होती है।

णाणम्हि—ज्ञाने। दंसणम्हि य—दर्शने च। तवे—तपसि। चरित्ते य—चरित्रे च। चउसुवि—चतुर्ष्वपि। अकंपो—अकंपोऽधृष्यः। धीरो—धीरो धैर्योपेतः। आगमकुसलो—आगमकुशलः स्वसमयपरसमयविचारदक्षः। अपरिस्सांई—अपरिस्रावी आलोचितं न कस्यचिदाप कथयति। रहस्साणं—रहसि एकान्ते भवानि रहस्यानि गुह्यानुष्ठितानि। ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रेषु चतुर्ष्वपि सम्यक्स्थितो यो रहस्यानामपरिस्रावी धीरश्चागमकुशलश्च यस्तस्य आलोचना कर्तव्या नान्यस्येति।

आलोचनानन्तरं क्षमणं कर्तुकामः प्राह—

रागेण य दोसेण य जं मे अकदण्हुयं पमादेण।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥५८॥*

रागेण य—रागेण च मायालोभाभ्यां स्नेहेन वा। दोसेण य—द्वेषेण च क्रोधमानाभ्यां अप्रीत्या वा। जं मे—यन्मया अकदण्हुअं—अकृतज्ञत्वं युष्माकमयोग्यमनुष्ठितं। पमादेण—प्रमादेन। जो मे—यो मया। किंचिवि—किंचिदपि। भणिओ—भणितः। तमहं—तं जनं अहं। सव्वं—सर्वं। खमावेमि—क्षमयामि संतोषयामि। रागद्वेषाभ्यां मनागपि यन्मया कृतमकृतज्ञत्वं योऽपि मया किंचिदपि भणितस्तमहं सर्वं मर्षयामीति।

आगम में निपुण हैं और रहस्य अर्थात् गुप्तदोषों को प्रकट नहीं करनेवाले हैं, वे आचार्य आलोचना सुनने के योग्य हैं ॥५७॥

आचारवृत्ति—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों में भी जो अकंप अर्थात् अचल वृत्ति धारण करनेवाले हैं, धैर्य गुण से सहित हैं, स्वसमय और परसमय के विचार करने में दक्ष होने से आगमकुशल हैं और शिष्यों द्वारा एकान्त में कहे गये गुह्य अर्थात् गुप्त दोषों को किसी के सामने भी कहनेवाले नहीं हैं ऐसा यह जो अपरिस्रावी गुण उससे सहित हैं, उनके समक्ष ही आलोचना करना चाहिए, अन्य के समक्ष नहीं—यह अर्थ हुआ।

आलोचना के अनन्तर क्षमण को करने की इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो मैंने राग से अथवा द्वेष से न करने योग्य कार्य किया है, प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी कहा है उन सबसे मैं क्षमायाचना करता हूँ ॥५८॥

आचारवृत्ति—राग से अर्थात् माया, लोभ या स्नेह से; द्वेष से अर्थात् क्रोध से, मान से या अप्रीति से मैंने आपके प्रति जो अयोग्य कार्य किया है। अथवा जो मैंने प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी वचन कहे हैं। उन सभी साधु जनों से मैं क्षमा माँगता हूँ अर्थात् उनको संतुष्ट करता हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि मैंने राग या द्वेषवश जो किंचित् भी अयोग्य अनुष्ठान किया है

---

*निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

एरिस गुणजुत्ताणं आइरियाणं विसुद्धभावेण।
आलोचेदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ॥२६॥

अर्थ—उपर्युक्त आचार्यगुणों से युक्त आचार्यों के पास में निर्मल परिणाम से सुचरित धारक मुनि सर्व दोषों का त्याग करके आलोचना करता है।

क्षमणं कृत्वा क्षपकः संन्यासं कर्तुकामो मरणभेदान् पृच्छति कति मरणानि ? आचार्यः प्राह—

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥५६॥

तिविहं—त्रिविधं त्रिप्रकारम्। भणंति—कथयन्ति। मरणं—मृत्युं। बालाणं—बालानां असंयतसम्यग्दृष्टीनां। बालपंडियाणं च—बालाश्च ते पंडिताश्च बालपंडिताः। संयतासंयता एकेन्द्रियाविरतेर्बालाः द्वीन्द्रियादिवधविरताः पंडिताः। तइयं—तृतीयं। पंडियमरणं—पंडितमरणं पंडितानां मरणं देहपरित्यागः देहस्यान्यथाभावो वा पंडितमरणं। जं—यत् येन वा। केवलिणो—केवलं शुद्धं ज्ञानं विद्यते येषां केवलिनः। अणुमरंति—अनुम्रियन्ते अर्हद्भट्टारका गणधरदेवाश्च त्रिप्रकारं मरणं भणंति। प्रथमं बालमरणं बालजीवस्वामित्वात्, द्वितीयं बालपंडितमरणं बालपंडितस्वामित्वात्, तृतीयं पंडितमरणं येन केवलिनोऽनुम्रियन्ते। संयताश्च पंडितपंडितमरणस्यात्रैव पंडितेन्तर्भावः सामान्यसंयमस्वामित्वाभेदादिति। अन्यत्र बालबालमरणमुक्तं तदत्र किमिति कृत्वा नोक्तं तेन प्रयोजनाभावात्। ये अकुटिला ज्ञानदर्शनयुक्तास्ते एतैर्मरणैर्म्रियन्ते।

अन्यथाभूताश्च कथमित्युत्तरसूत्रमाह—

उसके लिए और जिस किसी साधु को भी कहा है उन सभी से मैं क्षमा चाहता हूँ।

अब क्षमापना करके संन्यास करने की इच्छा करता हुआ क्षपक, मरण कितने प्रकार के हैं ? ऐसा प्रश्न करता है और आचार्य उसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—मरण को तीन प्रकार का कहते हैं—बालजीवों का मरण, बालपण्डितों का मरण और तीसरा पण्डितमरण है। इस पण्डितमरण को केवली-मरण भी कहते हैं ॥५६॥

आचारवृत्ति—अर्हन्त भट्टारक और गणधरदेव मरण के तीन भेद कहते हैं—बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव बाल कहलाते हैं। इनका मरण बालमरण है। संयतासंयत जीव बालपण्डित कहलाते हैं क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के वध से विरत न होने से ये बाल हैं और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के वध से विरत होने से पण्डित हैं इसलिए इनका मरण भी बालपण्डित-मरण है। पण्डितों का मरण अर्थात् देह परित्याग अथवा शरीर का अन्यथा रूप होना पण्डितमरण है जिसके द्वारा केवल शुद्ध ज्ञान के धारी केवली भगवान् मरण करते हैं, तथा संयतमरण करते हैं। यहाँ संयत शब्द से छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक संयत विवक्षित है। यद्यपि केवली भगवान् के मरण को पण्डितपण्डित-मरण कहते हैं किन्तु यहाँ पर पण्डितमरण में ही उसका अन्तर्भाव कर लिया गया है क्योंकि संयम के स्वामी में सामान्यतः भेद नहीं है।

प्रश्न—अन्यत्र ग्रन्थों में बाल-बालमरण भी कहा है उसको यहाँ क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—उसका यहाँ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जो अकुटिल—सरल परिणामी हैं, ज्ञान और दर्शन से युक्त हैं वे इन उपर्युक्त तीन मरणों से मरते हैं। अर्थात् पहला बालमरण है इसके स्वामी असंयतसम्यग्दृष्टि ऐसे बालजीव हैं। दूसरा बालपण्डित है जिसके स्वामी देशसंयत ऐसे बालपण्डित जीव हैं। तीसरा पण्डितमरण है जिसके स्वामी संयत जीव हैं।

जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णा य वक्कभावा य।
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया ॥६०॥

जे पुण—ये पुनः। पणट्ठमदिया—प्रणष्टा विनष्टा मतिर्येषां ते प्रणष्टमतिकाः अज्ञानिनः; पचलियसण्णा य—प्रचलिता उद्गता संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा येषां ते प्रचलितसंज्ञकाः। वक्कभावा य—कुटिलपरिणामाश्च। असमाहिणा—असमाधिना आर्तरौद्रध्यानेन। मरंते—म्रियन्ते भवान्तरं गच्छन्ति। ण हु—न खलु। आराहया—आराधकाः कर्मक्षयकारिणः। भणिया—भणिताः कथिताः। ये प्रणष्टमतिकाः प्रचलितसंज्ञा वक्रभावाश्च ते असमाधिना म्रियन्ते स्फुटं न ते आराधका भणिता इति।

यदि मरणकाले विपरिणामः स्यात्ततः किंस्यादिति पृष्टे आचार्यः प्राह—

मरणे विराहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले ॥६१॥

मरणे—मृत्युकाले। विराहिए—विराधिते विनाशिते मरणकाले सम्यक्त्वे विराधित इत्यर्थः मरण-

---

विशेषार्थ—अन्यत्र ग्रन्थों में मरण के पाँच भेद किये हैं—बालबाल, बाल, बालपण्डित, पण्डित और पण्डितपण्डित। इनमें से प्रथम बालबाल-मरण मिथ्यादृष्टि करते हैं, और पण्डित-पण्डित-मरण केवली भगवान् करते हैं। यहाँ पर मध्य के तीन मरणों को ही माना है और केवली भगवान् के मरण को पण्डितमरण में ही गर्भित कर दिया है।

इन तीन के अतिरिक्त, और अन्य प्रकार के मरण कैसे होते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जो पुनः नष्टबुद्धिवाले हैं, जिनकी आहार आदि संज्ञाएँ उत्कट हैं और जो कुटिल परिणामी हैं वे असमाधि से मरण करते हैं। निश्चितरूप से वे आराधक नहीं कहे गये हैं ॥६०॥

आचारवृत्ति—जिनकी मति नष्ट हो गयी है वे नष्टबुद्धि अज्ञानी जीव हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषारूप संज्ञाएँ जिनके उत्पन्न हुई हैं अर्थात् उत्कृष्ट रूप से प्रकट हैं और जो मायाचार परिणाम से युक्त हैं, वे जीव आर्त-रौद्रध्यानरूप असमाधि से भवान्तर को प्राप्त करते हैं। वे कर्मक्षय के करनेवाले ऐसे आराधक नहीं हो सकते हैं ऐसा समझना।

यदि मरणकाल में परिणाम बिगड़ जाते हैं तो क्या होगा? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मरण की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है तथा निश्चितरूप से बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, और फिर आगामी काल में उस जीव का संसार अनन्त हो जाता है ॥६१॥

आचारवृत्ति—मरणकाल में सम्यक्त्व की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है। यहाँ पर गाथा में जो मरण की विराधना कही गयी है उसका मतलब मरणकाल में जो सम्यक्त्व

काले सम्यक्त्वस्य यद्विराधनं तन्मरणस्यैव साहचर्यादिति। अथवार्तरौद्रध्यानसहितं यन्मरणं तत्तस्य विराधनमित्युक्तम्। देवदुग्गई—देवदुर्गतिः भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्कादिपूत्पत्तिः। दुल्लहा य—दुर्लभा दुःखेन लभ्यते इति दुर्लभा च। फिर—किल। अयं किलशब्दोऽनेकेष्वर्थेषु विद्यते, तत्र परोक्षे द्रष्टव्यः आगमे एवमुक्तमित्यर्थः। बोही—बोधिः सम्यक्त्वं रत्नत्रयं वा। संसारो य—संसारश्च चतुर्गतिलक्षणः। अणंतो—अनन्तः अर्द्धपुद्गलप्रमाणः कुतोऽस्यानन्तत्वं? केवलज्ञानविषयत्वात्। होइ—भवति। पुणो—पुनः। आगमे काले—आगमिष्यति समये। मरणकाले सम्यक्त्वविराधने सति, दुर्गतिर्भवति, बोधिश्च दुर्लभा, आगमिष्यति काले संसारश्चानन्तो भवतीति।

अत्रैवाभिसम्बन्धे प्रश्नपूर्वकं सूत्रमाह—

का देवदुग्गईओ का बोही केण ण बुज्झए मरणं।
केण व अणंतपारे संसारे हिंडए जीओ ॥६२॥

की विराधना है वह मरण के ही साहचर्य से है अतः मरण की विराधना से मरण समय सम्यक्त्व की विराधना ऐसा अर्थ लेना चाहिए। अथवा आर्त-रौद्र ध्यान सहित जो मरण है सो ही मरण की विराधना शब्द से विवक्षित है ऐसा समझना। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि देवों में उत्पत्ति होना देवदुर्गति है। ऐसी देवदुर्गतियों में उसका जन्म होता है यह अभिप्राय हुआ। 'किल' शब्द अनेक अर्थों में पाया जाता है किन्तु यहाँ उसको परोक्ष अर्थ में लेना चाहिए। इससे यह अर्थ निकला कि आगम में ऐसा कहा है कि उस जीव के सम्यक्त्व या रत्नत्रय रूप बोधि, बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होने से, अतीव दुर्लभ है। वह जीव अगामी काल में इस चतुर्गति रूप संसार में अनन्त काल तक भटकता रहता है।

प्रश्न—एक बार सम्यक्त्व होने पर संसार अनन्त कैसे रहेगा? क्योंकि वह अर्द्धपुद्गल प्रमाण ही तो है अतः अर्द्धपुद्गल को अनन्त संज्ञा कैसे दी?

उत्तर—यह अर्द्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल भी अनन्त नाम से कहा गया है क्योंकि यह केवलज्ञान का ही विषय है।

तात्पर्य यह हुआ कि यदि मरणसमय सम्यक्त्व छूट जावे तो यह जीव देवदुर्गति में जन्म ले लेता है। पुनः इसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अथवा रत्नत्रय की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से ही हो सकती है अतः यह जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है।

विशेषार्थ—यहाँ ऐसा समझना कि सम्यक्त्वरहित यह जीव भवनत्रिक में जन्म लेता है तथा आदि शब्द से वैमानिक देवों में भी आभियोग्य और किल्विषक जाति के देवों में जन्म ले लेता है। क्योंकि वहाँ पर भी अनेक जाति के देवों में या वाहन जाति के तथा किल्विषक जाति के देवों में सम्यग्दृष्टि का जन्म नहीं होता।

पुनः इसी सम्बन्ध में प्रश्नपूर्वक सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—देवदुर्गति क्या है? बोधि क्या है? किससे मरण नहीं जाना जाता है? और किस कारण से यह जीव अनन्तरूप संसार में परिभ्रमण करता है ॥६२॥

का देवदुग्गईओ—का देवदुर्गतयः किंविशिष्टा देवदुर्गतयः। का बोही—का बोधिः। केण व—केन च। ण बुज्झए—न बुध्यते। मरणं—मृत्युः। केण व—केन च कारणेन। अणंतपारे—अनन्तोऽपरिमाणः पारः समाप्तिर्यस्यासौ अनन्तपारस्तस्मिन्। संसारे—संसरणे। हिंडए—हिंडते गच्छति। जीवो—जीवः। हे भट्टारक! का देवदुर्गतयः का च बोधिः, केन च परिणामेन न बुध्यते मरणं, संसारे च केन कारणेन परिभ्रमति जीवः?

क्षपकेण पृष्टः आचार्यः प्राह—

कंदप्पमाभिजोग्गं किब्बिस सम्मोहमासुरत्तं च।
ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति ॥६३॥

द्रव्यभावयोरभेदं कृत्वा चेदमुच्यते। कंदप्पं—कंदर्पस्य भावः कान्दर्पमुपप्लवशीलगुणः। आभिजोग्गं—अभियोगस्य भावः आभियोग्यं तन्त्रमन्त्रादिभीरसादिगार्द्ध्यं। किब्बिस—किल्विषस्य भावः कैल्विष्यं प्रतिकूलाचरणं। सम्मोहं—स्वस्य मोहः स्वमोहस्तस्य भावः स्वमोहत्वं, शुनो मोह इव मोहो वेदोदयो यस्य स श्वमोहस्तस्य भावः श्वमोहत्वं सह मोहेन वा वर्तते इति तस्य भावः समोहत्वं[1] मिथ्यात्वभावनातात्पर्यम्। आसुरत्तं च—असुरत्वं च—असुरस्य भावः असुरत्वं रौद्रपरिणामसहिताचरणं। ता—एताः। देवदुग्गईओ—देवदुर्गतयस्तैर्गुणैस्ताः प्राप्यन्ते इतिकृत्वा तद्व्यपदेशः, कारणे कार्योपचारात्। मरणम्मि—मरणे मृत्युकाले सम्यक्त्वे,

---

आचारवृत्ति—हे भट्टारक! देव दुर्गति का क्या लक्षण है? बोधि का क्या स्वरूप है? किस परिणाम से मरण नहीं जाना जाता है? तथा किन कारणों से यह जीव, जिसका पार पाना कठिन है ऐसे अपार संसार में भ्रमण करता है?

क्षपक के द्वारा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मरण काल में विराधना के हो जाने पर कान्दर्प, आभियोग्य, किल्विषक, स्वमोह और आसुरी ये देवदुर्गतियाँ होती हैं ॥६३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर द्रव्य और भाव में अभेद करके कहा गया है अर्थात् ये कन्दर्प आदि भावनाएँ भाव हैं और इनसे होनेवाली उन-उन जाति के देवों की जो पर्यायें हैं वे यहाँ द्रव्य रूप हैं। इन दोनों में अभेद करके ही यहाँ पर इन भावनाओं को देवदुर्गति कह दिया है। कन्दर्प का भाव कान्दर्प है अर्थात् उपप्लव स्वभाववाला गुण (शील और गुणों का नाश करने वाला भाव) कान्दर्प है। अभियोग का भाव आभियोग्य है अर्थात् तन्त्र-मन्त्र आदि के द्वारा रस आदि में गृद्धता का होना। किल्विष का भाव कैल्विष्य है अर्थात् प्रतिकूल आचरण का होना। अपने में मोह का होना स्वमोह है उसका भाव स्वमोहत्व है, अथवा श्व अर्थात् कुत्ते के मोह के समान मोह वेद का उदय है—जिसके वह श्वमोह है उसका भाव श्वमोहत्व है। अथवा मोह के साथ जो रहता है उसका भाव समोहत्व है अर्थात् मिथ्यात्व का होना। असुर के भाव को असुरत्व कहते हैं अर्थात् रौद्र परिणाम सहित आचारण का होना। ये देवदुर्गतियाँ हैं। अर्थात् इन पांच गुणों से इन्हीं पांच प्रकार के देवों में जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए यहाँ पर इन परिणामों को ही देवदुर्गति कह दिया है। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार समझना

---

१. क °त्वं तस्य भावना।

विराहिए—विराधिते परिभूते । होंति—भवन्ति । सम्यक्त्वे विनाशिते मरणकाले एताः कन्दर्पाभियोग्य-किल्विषस्वमोहासुरदेवदुर्गतयो भवन्तीति ।

किं तत्कान्दर्प इत्यत आह—

असत्तमुल्लावेंतो[1] पण्णावेंतो य बहुजणं कुणइं ।
कंदप्प रइसमावण्णो कंदप्पेसु[2] उववज्जइ ॥६४॥

असत्तं—असत्यं मिथ्या । उल्लावेंतो[3]—उल्लपन् जल्पन् उल्लापयित्वा, पण्णावेंतो–प्रज्ञापयन् प्रतिपादयन्, बहुजणं—बहुजनं बहून् प्राणिनः, कुणई—करोति । कंदप्पं—कान्दर्पं, रइसमावण्णो—रति समापन्नः प्राप्तो रतिसमापन्नो रागोद्रेकेसहितः । कंदप्पेसु—कन्दर्पकर्मयोगाद्देवा अपि कन्दर्पा नग्नाचार्यदेवास्तेषु, उववज्जेइ—उत्पद्यते । यो रतिसमापन्नः असत्यमुल्लपन् तदेव च बहुजनं प्रतिपादयन् कन्दर्पभावनां करोति स कन्दर्पेपूत्पद्यते इत्यर्थः । अथवा असत्यं जल्पन् तदेव च भावयन्[4] आत्मनो बहुजनं करोति योजयति असत्येन यः स कन्दर्परतिसमापन्नः कन्दर्पेपूत्पद्यत इत्यर्थः ।

चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि मरण के समय सम्यक्त्वगुण की विराधना हो जाने पर ये कन्दर्प, अभियोग्य, किल्विष, स्वमोह और असुर इन देवों की पर्यायों में उत्पत्ति हो जाती है ।

विशेषार्थ—इन कन्दर्प आदि भावनाओं को करने से साधु को सम्यक्त्व रहित असमाधि होने से इन्हीं जाति के देवों में जन्म लेने का प्रसंग हो जाता है । आगे इन्हीं कन्दर्प आदि भावनाओं का लक्षण स्वयं बताते हैं।

वह कान्दर्प क्या है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु असत्य बोलता हुआ और उसी को बहुतजनों में प्रतिपादित करता हुआ रागभाव को प्राप्त होता है, कन्दर्प भाव करता है और वह कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६४॥

आचारवृत्ति—जो राग के उद्रेक से सहित होता हुआ स्वयं असत्य बोलता है और बहुतजनों में उसी का प्रतिपादन करते हुए कन्दर्प-भावना को करता है वह कन्दर्प कर्म के निमित्त से कन्दर्प जाति के जो नग्नाचार्य देव हैं उनमें जन्म लेता है । अथवा जो साधु स्वयं असत्य बोलता हुआ और उसी की भावना करता हुआ बहुतजनों को भी अपने समान करता है अर्थात् उन्हें भी असत्य में लगा देता है वह कन्दर्प भावना-रूप राग से युक्त होता हुआ कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ—अन्यत्र देव जातियों में 'नग्नाचार्य' ऐसा नाम देखने में नहीं आता है। 'मूलाचारप्रदीप' अध्याय १० श्लोक ६१-६२ में 'कन्दर्प जाति के देवों को नग्नाचार्य कहते हैं' ऐसा लिखा है। तथा च पं० जिनदास फडकुले सोलापुर ने 'मूलाचार' की हिन्दी टीका में कन्दर्प देवों का अर्थ 'स्तुतिपाठक देव' किया है । यह अर्थ कुछ संगत प्रतीत होता है ।

---

१. क 'विंतो । २. क 'सुयव' । ३. क 'वितो' । ४. क 'वन्नात्म' ।

अथ किमभियोगकर्मेति तेनोत्पत्तिश्च का चेदतः प्राह—

अभिजुंजइ[1] बहुभावे साहू हस्साइयं च बहुवयणं ।
अभिजोगेहिं कम्मेहिं जुत्तो वाहणेसु[2] उववज्जइ ॥६५॥

अभिजुंजइ—अभियुंक्ते करोति, बहुभावे—बहुभावान् तंत्रमंत्रादिकान् । साहू—साधुः । हस्साइयं च—हास्यादिकं च हास्यकौत्कुच्यपरविस्मयनादिकं । बहुवयणं—बहुवचनं वाग्जालं । अहिजोगेहिं—अभियोगैः तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं , आभिचारकैः, कम्मेहिं—कर्मभिः क्रियाभिः । जुत्तो—युक्तस्तन्निष्ठः । वाहणेसु—वाहनेषु गजाश्वमेषमहिषस्वरूपेषु । उववज्जइ—उत्पद्यते जायते । यः साधू रसादिषु गृद्धः मंत्रतंत्रभूतिकर्मादिकमुपयुंक्ते हास्यादिकं बहुवचनं करोति स तैरभियोगैः कर्मभिर्वाहनेषु उत्पद्यत इति ।

किल्विषभावनास्वरूपं तथोत्पत्तिं च प्रतिपादयन्नाह—

तित्थयराणं पडिणीओ संघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स ।
अविणीदो णियडिल्लो किव्विसियेसूववज्जेइ[3] ॥६६॥

---

*अभियोग कर्म क्या है और उससे कहाँ उत्पत्ति होती है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु अनेक प्रकार के भावों का और हास्य आदि अनेक प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है वह अभियोग कर्मों से युक्त होता हुआ वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६५॥

आचारवृत्ति—जो साधु तन्त्र-मन्त्र आदि नाना प्रकार के प्रयोग करता है और हँसी, काय की कुचेष्टा सहित हँसी—कौत्कुच्य और पर में आश्चर्य उत्पन्न कराना आदि रूप बहुत से वाग्जाल को करता है वह इन अभियोग क्रियाओं से युक्त होता हुआ हाथी, घोड़े, मेष, महिष आदि रूप वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि जो साधु रस आदि में आसक्त होता हुआ तन्त्र-मन्त्र और भूकर्म आदि का प्रयोग करता है, हँसी-मजाक आदि रूप बहुत बोलता है वह इन कार्यों के निमित्त से वाहन जाति के देवों में जन्म लेता है। वहाँ उसे विक्रिया से अन्य देवों के लिए वाहन हेतु हाथी घोड़े आदि के रूप बनाने पड़ते हैं।

किल्विष भावना का स्वरूप और उससे होनेवाली उत्पत्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—जो तीर्थंकरों के प्रतिकूल है; संघ, जिन प्रतिमा और सूत्र के प्रति अविनयी है और मायाचारी है वह किल्विष जाति के देवों में जन्म लेता है ॥६६॥

---

१. क अभिमुंजइ । २. क 'णेसूव' । ३. क 'वज्जइ ।

*फलटण से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित गाथा अधिक है।

मंताभियोगकोदुगभूदीकम्मं पउंजदे जो सो ।
इड्ढिरससादहेदुं अभियोगं भावणं कुणदि ॥३७॥

अर्थ—जो ऋद्धि, रस और साता के निमित्त मन्त्र प्रयोग, कौतुक और भूतिकर्म का प्रयोग करता है वह साधु अभियोग भावना को करता है।

तित्थयराणं—तीर्थं संसारतरणोपायं कुर्वन्तीति तीर्थंकराः अर्हद्भट्टारकास्तेषां। पडिणीओ—प्रत्यनीकः प्रतिकूलः। संघस्स य—संघस्य च ऋषियतिमुन्यनगाराणां ऋषिश्रावकश्राविकार्यिकाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां वा। चेइयस्स—चैत्यस्य सर्वज्ञप्रतिमायाः। सुत्तस्स—सूत्रस्य द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपस्य। अविणीओ—अविनीतः स्तब्धः। णियडिल्लो—निकृतिवान् वंचनाबहुलः प्रतारणकुशलः। किब्बिसियेसूववज्जेइ—किल्विषेपूत्पद्यते। पाटहिकादिषु जायते। तीर्थंकराणां प्रत्यनीकः संघस्य चैत्यस्य सूत्रस्य वा अविनीतः मायावी च यः स किल्विषकर्मभिः किल्विषिकेषु जायते इति।

सम्मोहभावनास्वरूपं तदुत्पत्या सह निरूपयन्नाह—

उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ मग्गविपडिवण्णो य।
मोहेण य मोहंतो[1] संमोहेसूववज्जेदि[2] ॥६७॥

उम्मग्गदेसओ—उन्मार्गस्य मिथ्यात्वादिकस्य देशकः उपदेशकर्ता उन्मार्गदेशकः। मग्गणासओ—मार्गस्य सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य णासओ—नाशको विराधको मार्गनाशकः। मग्गविपडिवण्णो य—मार्गस्य विप्रतिपन्नो विपरीतः स्वतीर्थप्रवर्तकः मार्गविप्रतिपन्नः। मोहेण य—मोहेन च मिथ्यात्वेन मायाप्रपंचेन वा। मोहंतो—मोहयन् विपरीतान् कुर्वन्, संमोहेसूववज्जेदि—स्वंमोहेषु स्वच्छन्ददेवेषूत्पद्यते। य उन्मार्गदेशकः

आचारवृत्ति—संसार समुद्र से पार होने के उपाय रूप तीर्थ को करनेवाले तीर्थंकर हैं, उन्हें अर्हन्त भट्टारक कहते हैं उनके जो प्रतिकूल हैं; तथा ऋषि, यति, मुनि और अनगार को संघ कहते हैं अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको भी चतुर्विध संघ कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को भी संघ शब्द से कहा है। सर्वज्ञदेव की प्रतिमा को चैत्य कहते हैं। बारह अंग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते हैं। जो ऐसे संघ, चैत्य और सूत्र के प्रति विनय नहीं करते हैं और दूसरों को ठगने में कुशल हैं, वे इस किल्विष कार्यों के द्वारा पटह आदि वाद्य बजानेवाले किल्विषक जाति के देवों में उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेषार्थ—इन किल्विषक जाति के देवों को इन्द्र की सभा में प्रवेश करने का निषेध है। ये देव चाण्डाल के समान माने गये हैं। जो साधु सम्यक्त्व से च्युत होकर तीर्थंकर देव आदि की आज्ञा नहीं पालते हैं, उपर्युक्त दोषों को अपने जीवन में स्थान देते हैं वे पूर्व में यदि देवायु बाँध भी ली हो तो मरकर ऐसी देवदुर्गति में जन्म ले लेते हैं।

सम्मोह भावना का स्वरूप और उससे होने वाली देव दुर्गति को बताते हैं—

गाथार्थ—जो उन्मार्ग का उपदेशक है, सन्मार्ग का विघातक तथा विरोधी है वह मोह से अन्य को भी मोहित करता हुआ सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६७॥

आचारवृत्ति—जो उन्मार्ग अर्थात् मिथ्यात्व आदि का उपदेशकर्ता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की विराधना करनेवाला है, तथा इसी सन्मार्ग के विपरीत है अर्थात् स्वतीर्थ का प्रवर्तक है। वह साधु मिथ्यात्व अथवा माया के प्रपंच से अन्य लोगों

---

१. क मोहितो। २. क ववज्जइ।

मार्गनाशकः मार्गविप्रतिकूलश्च मोहेन मोहयन् स[1] सम्मोहकर्मभिः स्वंमोहेषु जायते इति ।

आसुरीं भावनां तथोत्पत्तिं च प्रपंचयन्नाह—

खुद्दी कोही माणी मायी तह संकिलिट्ठो तवे चरित्ते य ।
अणुबद्धवेररोई असुरेसूववज्जदे जीवो ॥६८॥

खुद्दी—क्षुद्रः पिशुनः। कोही—क्रोधी। माणी—मानी गर्वयुक्तः। माई—मायावी। तह य—तथा च। संकलिट्ठो—संक्लिष्टः संक्लेशपरायणः। तवे—तपसि। चरित्ते य—चरित्रे च। अणुबद्धवेररोई—अनुबद्धं वैरं रोचते अनुबद्धवैररोची कषायबहुलेषु रुचिपरः। असुरेसूववज्जदे—असुरेषूत्पद्यते अंबावरीष-संज्ञकभवनेषु। जीवो—जीवः। यः क्षुद्रः, क्रोधी, मानी, मायावी अनुबद्धवैररोची तथा तपसि, चरित्रे च यः संक्लिष्टः सोऽसुरभावतयासुरेषूत्पद्यते इति ।

व्यतिरेकद्वारेण बोधिं प्रतिपादयन्नाह—

मिच्छादंसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा ।
इह जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥६९॥

को विपरीत बुद्धिवाला करता हुआ संमोह कर्म के द्वारा स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है।

अब आसुरी भावना को और उससे होनेवाली गति को बताते हैं—

गाथार्थ—जो क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी है तथा तप और चारित्र में संक्लेश रखने वाला है, जो वैर को बाँधने में रुचि रखता है वह जीव असुर जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६८॥

आचारवृत्ति—जो क्षुद्र अर्थात् चुगलखोर है अथवा हीन परिणाम वाला, क्रोध स्वभाव वाला है, मान-कषायी है, मायाचार प्रवृत्ति रखता है; तथा तपश्चरण करते हुए और चारित्र को पालते हुए भी जिसके परिणामों में संक्लेष भाव बना रहता है अर्थात् परिणामों में निर्मलता नहीं रहती; जो अनन्तानुबन्धी रूप वैर को बाँधने में रुचि रखता है अर्थात् किसी के साथ कलह हो जाने पर उसके साथ अन्तरंग में ग्रन्थि के समान वैरभाव बाँध कर रखता है ऐसा जीव इन असुर भावनाओं के द्वारा असुर जाति में, अन्तर्भेदरूप एक अंबावरीष जाति है उसमें, जन्मता है। ये अंबावरीष जाति के देव ही नरकों में जाकर नारकियों को परस्पर में पूर्वभव के वैर का स्मरण दिला-दिलाकर लड़ाया करते हैं और उन्हें लड़ते-भिड़ते दुःखी होते देखकर प्रसन्न होते रहते हैं।*

अब व्यतिरेक कथन द्वारा बोधि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—यहाँ पर जो जीव मिथ्यादर्शन से अनुरक्त, निदान-सहित और कृष्णलेश्या से मरण करते हैं उनके लिए पुनः बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है ॥६९॥

---

1. क 'स्वस' ।

*'भगवती आराधना' में भी इन भावनाओं का वर्णन किया गया है।

मिच्छादंसणरत्ता—मिथ्यात्वदर्शनरक्ता: अतत्त्वार्थरुचय: । सणिदाणा—सह निदानेनाकांक्षया वर्तत इति सनिदानाः । किण्हलेसं—कृष्णलेश्यां [1]अनन्तानुवन्धिकषायानुरञ्जितयोगप्रवृत्तिम् । ओगाढा—आगाढा प्रविष्टा रौद्रपरिणामाः । इह—अस्मिन् । जे—ये । मरंति—म्रियन्ते प्राणांस्त्यजन्ति । जीवा—जीवाः प्राणिनः । तेसिं—तेषां । पुण—पुनः । दुल्लहा—दुर्लभाः । बोही—बोधिः सम्यक्त्वसहितशुभपरिणामः । इह ये जीवाः मिथ्यात्वदर्शनरक्ताः, सनिदानाः, कृष्णलेश्यां प्रविष्टाश्च म्रियन्ते तेषां पुनरपि, दुर्लभा बोधिः । उत्कृष्टतोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्रात्सम्यक्त्वाविनाभावित्वाद्बोधेरतस्तादात्म्यं ततो बोधेरेव लक्षणं व्याख्यातमिति ।

अन्वयेनापि बोधेर्लक्षणमाह—

*सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही ।।७०।।

सम्मद्दंसणरत्ता—सम्यग्दर्शनरक्ताः तत्त्वरुचयः । अणियाणा—अनिदाना इहपरलोकानाकांक्षाः । सुक्कलेस्सं—शुक्ललेश्यां । ओगाढा—आगाढा प्रविष्टाः । इह—अस्मिन् । जे—ये । मरंति—म्रियंते । जीवा—जीवाः । तेसिं—तेषां । सुलहा—सुलभा सुखेन लभ्या । हवे—भवेत् । बोही—बोधिः । इह ये जीवाः सम्यक्त्वदर्शनरक्ताः, अनिदानाः, शुक्ललेश्यां प्रविष्टाः सन्तो म्रियन्ते तेषां सुलभा बोधिरिति । यद्यपि पूर्व-

---

आचारवृत्ति—जो अतत्त्व के श्रद्धान सहित हैं, भविष्य में संसार-सुख की आकांक्षारूप निदान से सहित हैं, और अनन्तानुबन्धी कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्तिरूप कृष्णलेश्या से संयुक्त रौद्र-परिणामी हैं ऐसे जीव यदि यहाँ मरण करते हैं तो पुनः सम्यक्त्व सहित शुभ परिणाम रूप बोधि उनके लिए बहुत ही दुर्लभ है । तात्पर्य यह है कि यदि एक बार सम्यक्त्व होकर छूट जाय तो पुनः अधिक से अधिक यह जीव किंचित् कम अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल तक संसार में भटक सकता है । इसीलिए यहाँ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि का अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल ही शेष रहता है और बोधि सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकती है अतः बोधि का सम्यक्त्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है इसीलिए यहाँ पर बोधि का लक्षण ही कहा गया है । अर्थात् प्रश्नकर्ता ने बोधि का लक्षण पूछा था सो बोधि की दुर्लभता और सुलभता को बतलाते हुए सम्यक्त्व के माहात्म्य को बताकर आचार्य ने प्रकारान्तर से बोधि का लक्षण ही बताया है ऐसा समझना ।

अब अन्वय द्वारा भी बोधि का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो सम्यग्दर्शन में तत्पर हैं, निदान भावना से रहित हैं और शुक्ललेश्या में परिणत हैं ऐसे जो जीव मरण करते हैं उनके लिए बोधि सुलभ है ।।७०।।

आचारवृत्ति—जो तत्त्वों में रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, इह लोक और परलोक की आकांक्षा से रहित हैं, शुक्ल लेश्यामय निर्मल परिणामवाले हैं ऐसे जीव संन्यास विधि से मरण

---

१. सामान्यवचन है ।

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में नहीं है ।

सूत्रेणास्यार्थस्य प्रतीतिस्तथापि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहार्थः पुनरारम्भः एकान्तमतनिराकरणार्थं च।

संसारकारणस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य।
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतसंसारा ॥७१॥

जे पुण—ये पुनः। **गुरुपडिणीया**—गुरूणां प्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः गुरुप्रत्यनीकाः। **बहुमोहा**—मोहप्रचुराः रागद्वेषाभिहताः। **ससबला**—सह शबलेन लेपेन वर्तन्ते इति सशबलाः कुत्सिताचरणाः। **कुसीला य**—कुशीलाः कुत्सितं शीलं व्रतपरिरक्षणं येषां ते कुशीलाश्च। **असमाहिणा**—असमाधिना मिथ्यात्वसमन्वितार्त्त-रौद्रपरिणामेन। **मरंते**—म्रियन्ते। **ते**—ते। **होंति**—भवन्ति ते एवं विशिष्टाः। **अणंतसंसारा**—अनन्तसंसारा अर्धपुद्गलप्रमाणसंसृतयः। ये पुनः गुरुप्रतिकूलाः, बहुमोहाः कुशीलास्तेऽसमाधिना म्रियन्ते ततश्चानन्तसंसारा भवन्तीति।

अथ परीतसंसाराः कथं भवन्तीति चेदतः प्राह—

हैं अतः उन्हें बोधि की प्राप्ति सुलभ ही है।

यद्यपि पूर्व की गाथा से ही बोधि के महत्त्व का अर्थबोध हो जाता है फिर भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यों का संग्रह करने के लिए, दोनों प्रकार के शिष्यों को समझाने के लिए ही यहाँ पहले व्यतिरेक मुख से, पुनः अन्वय मुख से, ऐसी दो गाथाओं से बोधि का व्याख्यान किया है। तथा एकान्तमत का निराकरण करने के लिए भी यह दोनों प्रकार का कथन है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—कुछेक का कहना है कि केवल अन्वय मुख से अर्थात् अपने विषय को बतलाते हुए ही कथन करना चाहिए तथा कुछेक का कथन है कि व्यतिरेक मुख से अर्थात् पर के निषेध रूप से अथवा वस्तु के दोष प्रतिपादन रूप से ही वस्तु का कथन करना चाहिए। किन्तु जैनाचार्य इन दोनों बातों को महत्त्व देते हुए अनेकान्त की पुष्टि करते हैं। इसीलिए पहले बोधि की दुर्लभता के कारणों को बताकर पुनः अगली गाथा से बोधि की सुलभता के कारणों को बताया है, ऐसा समझना।

अब आचार्य संसार के कारण का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो पुनः गुरु के प्रतिकूल हैं, मोह की बहुलता से सहित हैं, शबल—अतिचार सहित चारित्र पालते हैं, कुत्सित आचरणवाले हैं वे असमाधि से मरण करते हैं और अनन्त संसारी हो जाते हैं ॥७१॥

आचारवृत्ति—जो साधु गुरुओं की आज्ञा नहीं पालते हैं, मोह की प्रचुरता से सहित राग-द्वेष से पीड़ित हो रहे हैं, शबल—लेपसहित अर्थात् कुत्सित आचरण वाले हैं तथा व्रतों की रक्षा करनेवाले जो शील हैं उन्हें भी कुत्सित रूप से जो पालते हैं, वे मिथ्यात्व से सहित हो आर्त एवं रौद्रध्यान रूप असमाधि से मरण करके अनन्त नामवाले अर्धपुद्गल प्रमाण काल तक संसार में ही भटकते रहते हैं।

अब, परीत संसारी कैसे होते हैं, ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण।
असवल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥

जिणवयणे—जिनस्य वचनमागमः तस्मिन्नर्हत्प्रवचने। **अणुरत्ता**—अनुरक्ताः सुष्ठु भक्ताः। **गुरुवयणं**—गुरुवचनमादेशं, **जे करंति**—ये कुर्वंति, **भावेण**—भावेन भक्त्या मंत्रतंत्रशास्त्रानाकांक्षया। **असवल**—अशवला मिथ्यात्वरहिताः। **असंकिलिट्ठा**—असंक्लिष्टाः शुद्धपरिणामाः। **ते होंति**—ते भवंति। **परित्तसंसारा**—परीतः परित्यक्तः परिमितो वा संसारः चतुर्गतिगमनं येषां यैर्वा ते परीतसंसाराः परित्यक्तसंसृतयो वा। जिनप्रवचने येऽनुरक्ताः गुरुवचनं च भावेन कुर्वन्ति, अशबलाः, असंक्लिष्टाः सन्तस्ते परित्यक्तसंसारा भवन्तीति।

यदि जिनवचनेऽनुरागो न स्यादतः किं स्यादतः प्राह—

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मरणाणि।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥७३॥

बालमरणाणि—बालानामतत्त्वरुचीनां मरणानि शरीरत्यागा बालमरणानि। **बहुसो**—बहुशः बहूनि बहुप्रकाराणि वा। **बहुआणि**—बहुकानि प्रचुराणि। **अकामयाणि**—अ[illegible]नि अनभिप्रेतानि। **मरणाणि**—मृत्यून्। **मरिहंति**—मरिष्यन्ति मृत्युं प्राप्स्यन्तीत्यर्थः। **ते वराया**—त एवंभूता वराका अनाथाः। **जे जिणवयणं**—ये जिनवचनं सर्वज्ञागमं। **ण जाणंति**—न जानन्ति नावबुध्यंते। ये जिनवचनं न जानन्ति ते वराका बालमरणानि बहुप्रकाराणि अकामकृतानि च बहूनि मरणानि प्राप्स्यन्तीति।

गाथार्थ—जो जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरागी हैं, भाव से गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं, शवल—परिणाम रहित हैं तथा संक्लेशभाव रहित हैं वे संसार का अन्त करनेवाले होते हैं ॥७२॥

आचारवृत्ति—जो अर्हन्त देव के प्रवचन रूप आगम के अच्छी तरह भक्त हैं, मन्त्र-तन्त्र की या शास्त्रों की आकांक्षा से रहित होकर भक्तिपूर्वक गुरुओं के आदेश का पालन करते हैं, मिथ्यात्व भाव रहित हैं और शुद्ध-परिणामी हैं वे चतुर्गति में गमन रूप संसार को परिमित करनेवाले अथवा संसार को समाप्त करनेवाले हो जाते हैं।

यदि जिनवचन में अनुराग नहीं होगा तो क्या होगा? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो जिनवचन को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनेक बार बालमरण करते हुए अनेक प्रकार के अनिच्छित मरणों से मरण करते रहेंगे ॥७३॥

आचारवृत्ति—जो सर्वज्ञ देव के आगम को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनाथ प्राणी, जो अपने लिए अभिप्रेत अर्थात् इष्ट नहीं हैं ऐसे, अनेक प्रकार के मरण से बार-बार मरते रहते हैं।

भावार्थ—यहां बालमरण से विवक्षा बालबालमरण की है जो कि मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है क्योंकि ऊपर गाथा ५९ में बालमरण का लक्षण करते हुए टीकाकार ने असंयत-सम्यग्दृष्टि के मरण को कहा है। तथा अन्य ग्रन्थों में भी बालबालमरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। उन्हीं का यहां कथन समझना चाहिए।

अथ कानि तानि बालमरणानीत्यत आह—

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य।
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि ॥७४॥

सत्थग्गहणं—शस्त्रेणात्मनो ग्रहणं मारणं शस्त्रग्रहणं। शस्त्रग्रहणादुत्पन्नं मरणमपि शस्त्रग्रहणं कार्ये कारणोपचारात्। विसभक्खणं—विषस्य मारणात्मकद्रव्यस्य भक्षणमुपयुंजनं विषभक्षणं तथैव सम्बन्धः कर्तव्यः। च—समुच्चयार्थः। जलणं—ज्वलनादग्नेरुत्पन्नं ज्वलनं। जलप्पवेसो य—जले पानीये प्रवेशो निमज्जनं निरुच्छ्वासं जलप्रवेशश्च तस्माज्जातं स एव वा मरणं। अणयारभण्डसेवी—अनाचारभांडसेवी न[1] आचारोऽनाचारः पापक्रिया स एव भांडं द्रव्यं तत्सेवत इत्यनाचारभांडसेवी मरणेन सम्बन्ध.। अथवा पुरुषेण सम्बन्धः अनाचारभांडसेवी तस्य। जम्मणमरणाणुबंधीणि—जन्म उत्पत्तिः, मरणं मृत्युस्तयोरनुबन्धः सन्तानः स येषां विद्यते तानि जन्ममरणानुबन्धीनि संसारकारणानीत्यर्थः। एतानि मरणानि जन्ममरणानुबन्धीनि अनाचारभांडसेवीनि यतोऽतो बालमरणानीति। अथवा अनाचारसेवीनि एतानि मरणानि संसारकारणानीति न सदाचारस्य।

एवं श्रुत्वा क्षपकः संवेगनिर्वेदपरायण एवं चिन्तयति—

उड्ढमधो तिरियह्मि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७५॥

वे बालमरण कितने तरह के हैं? उत्तर में कहते हैं—

गाथार्थ—शस्त्रों के घात से मरना, विष भक्षण करना, अग्नि में जल जाना, जल में प्रवेशकर मरना और पापक्रियामय द्रव्य का सेवन करके मरना ये मरण—जन्म और मृत्यु की परम्परा को करनेवाले हैं ॥७४॥

आचारवृत्ति—जो शस्त्र से अपना मरण स्वयं करते हैं या किसी के द्वारा तलवार आदि से जिनका मरण हो जाता है, यहाँ 'शस्त्र ग्रहण' शब्द से स्वयं शस्त्र से आत्मघात करना या, शस्त्र के द्वारा मारा जाना दोनों विवक्षित है अतः यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया गया है। विष अर्थात् मरण करानेवाली वस्तु का भक्षण कर लेना, अग्नि में जल कर मरना, जल में प्रवेश कर उच्छ्वास के रुक जाने से प्राणों का त्याग करना, अनाचार—पापक्रिया वही हुआ भांड-द्रव्य उसका सेवन करके मरना अर्थात् पाप-प्रवृत्ति करके मरना। अथवा पापी जीवों का जो मरण है वह अनाचार भांडसेवी मरण है। ये मरण जन्म-मरण की परम्परा को करनेवाले हैं अर्थात् संसार के लिए कारणभूत हैं। तात्पर्य यह कि ये सभी मरण संसार के कारण हैं और पाप क्रियारूप हैं अतः ये बालमरण कहलाते हैं। अथवा अनाचार—सेवन करने रूप ये मरण संसार के ही हेतु हैं। ये सदाचारी जीव के नहीं होते हैं। यहाँ पर भी बालमरण शब्द से बालबाल-मरण को भी ग्रहण करना चाहिए जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

ऐसा सुनकर क्षपक संवेग और निर्वेद में तत्पर होता हुआ ऐसा चितवन करता है—

गाथार्थ—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में मैंने बहुत बार बालमरण किये हैं। अब मैं दर्शन और ज्ञान से सहित होता हुआ पण्डितमरण से मरूँगा ॥७५॥

---

१ क अनाचारभण्डसेवनाचारः।

उड्ढं—ऊर्ध्वं ऊर्ध्वलोके। अधो—अधसि अधोलोके नरकभवनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पे। तिरियंहि दु—तिर्यक्षु च एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तजातिपु। कदाणि—कृतानि प्राप्तानि बालमरणानि। बहुगाणि—बहूनि। दंसणणाणसहं—दर्शनज्ञानाभ्यां सार्धं, गदो—गतः प्राप्तः, पंडियमरणं—पण्डितमरणं शुद्धपरिणामचारित्रपूर्वकप्राणत्यागं। अणुमरिस्से—अनुमरिष्यामि संन्यासं करिष्यामि। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु च बहूनि बालमरणानि यतो मया प्राप्तानि, अतो दर्शनज्ञानाभ्यां सार्धं पण्डितमरणं गतोऽहं मरिष्यामीति।

एतानि चाकामकृतानि मरणानि स्मरन् पण्डितमरणमनुमरिष्यामीत्यत आह—

उव्वेयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य।
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७६॥

उव्वेयमरणं—उद्वेगमरणं इष्टवियोगानिष्टसंयोगाभ्यां त्रासेन वा मरणं। जादीमरणं—जातिमरणं उत्पन्नमात्रस्य मृत्युर्गर्भस्थस्य वा। णिरएसु—नरकेपु। वेदणाओ य—वेदनाश्च पीडाश्च। एदाणि—एतानि। संभरंतो—संस्मरन्। पंडिदमरणं—पण्डितमरणं। अणुमरिस्से—अनुमरिष्यामि प्राणत्यागं करिष्यामि। एतानि उद्वेगजातिमरणानि नरकेपु वेदनाश्च संस्मरन् पण्डितमरणं प्राप्तः सन् प्राणत्यागं करिष्यामि।

आचारवृत्ति—ऊर्ध्वलोक में—स्वर्गलोक में तथा अधोलोक में—नरकों में, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा तिर्यग्लोक में—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जातियों में मैंने बहुत से बालमरण (बालबालमरण) किये हैं, अब मैं दर्शन और ज्ञान के साथ एकता को प्राप्त होता हुआ पण्डितमरण से मरूँगा। अर्थात् संन्यास विधि से शुद्ध परिणामरूप चारित्र-पूर्वक प्राणों का त्याग करूँगा। तात्पर्य यह है कि मैंने तीनों लोकों में अनन्त बार बालबाल-मरण किये हैं उनसे जन्म परम्परा बढ़ती ही गयी है अतः अब मैं बालमरण से होने वाली हानि को सुनकर धर्म में प्रीति तथा शरीरादि से विरक्ति धारण करता हुआ पण्डितमरण को प्राप्त करूँगा।

पुनरपि इन अनभिप्रेत, जो अपने को इष्ट नहीं, ऐसे मरणों का स्मरण करता हुआ क्षपक 'मैं पण्डितमरण से मरूँगा' ऐसा विचार करता है—

गाथार्थ—उद्वेगपूर्वक मरण, जन्मते ही मरण और जो नरकों की वेदनाएँ हैं इन सबका स्मरण करते हुए अब मैं पण्डितमरण से प्राणत्याग करूँगा ॥७६॥

आचारवृत्ति—इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के दुःख से जो मरण होता है अथवा अन्य किसी त्रास से जो मरण होता है उसको उद्वेगमरण कहते हैं। जन्म लेते ही मर जाना या गर्भ में मर जाना यह जातिमरण है। तथा नरकों में नारकियों को अनेक वेदनाएँ भोगनी पड़ती हैं। इन मरणों से होने वाले दुःखों का स्मरण करते हुए अब मैं पण्डितमरणपूर्वक ही शरीर को छोड़ूँगा।

भावार्थ—पुत्र, मित्र आदि के मर जाने पर अथवा अनिष्टकर शत्रु या दुःखदायी बन्धु आदि के मिलने पर लोग संक्लेश परिणाम से प्राण छोड़ देते हैं। या अपघात भी कर डालते हैं। इन सभी कुमरणों से दुर्गति में जाकर अथवा नरक गति में जाकर नाना दुःखों को चिरकाल तक भोगते हैं। इन सभी तरह के क्लेश को मैंने भी स्वयं अनन्त बार भोगा है इसलिए अब इन

किमर्थं पंडितमरणं मरणेषु शुभतमं यतः—

*एक्कं पंडिदमरणं छिंददि जादीसयाणि बहुगाणि ।
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥७७॥

एक्कं—एकं। पंडिदमरणं—पंडितमरणं । छिंददि—छिनत्ति । जादीसयाणि—जातिशतानि । बहुगाणि—बहूनि । तं—तत् तेन वा । मरणं—शरीरेन्द्रिययोर्वियोगः। मरिदव्वं—मर्तव्यं मरणं प्राप्तव्यं। जेण—येन । मदं—मृतं । सुम्मदं—सुष्ठुमृतं । होदि—भवति । एकं पण्डितमरणं जातिशतानि बहूनि छिनत्ति यतोऽतस्तेन मरणेन मर्तव्यं येन पुनरुत्पत्तिर्न भवति तद्वानुष्ठातव्यं येन न पुनर्जन्म। किमुक्तं भवति—पंडित-मरणमनुष्ठेयमिति ॥७७॥

यदि संन्यासे पीडा-क्षुधादिकोत्पद्यते ततः किं कर्तव्यमित्याह—

जइ उप्पज्जइ दुःखं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये ।
कदमं मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण ॥७८॥

जइ—यदि । उप्पज्जइ—उत्पद्यते । दुक्खं—दुःखमसातं । तो—ततः । दट्ठव्वो—द्रष्टव्यो मनसा[1]-लोकनीयः । सभावदो—स्वभावतः स्वरूपं "दृश्यतेऽन्यत्रापि" इति तस्, प्राकृतबलादक्षराधिक्यं वा । णिरए—

दुःखों का स्मरण कर, उनसे डरकर मैं सल्लेखनापूर्वक ही मरण करना चाहता हूँ ऐसा क्षपक विचार करता है।

मरणों में पण्डितमरण ही किसलिए अधिक शुभ है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक पण्डितमरण सौ-सौ जन्मों का नाश कर देता है अतः ऐसे ही मरण से मरना चाहिए कि जिससे मरण सुमरण हो जावे ॥७७॥

आचारवृत्ति—एक बार किया गया पण्डितमरण बहुत प्रकार के सैकड़ों जन्मों को नष्ट कर देता है। शरीर और इन्द्रियों का वियोग हो जाना जीव का मरण है इसलिए ऐसे मरण से मरना चाहिए कि जिससे यह मरण अच्छा मरण हो जावे अर्थात् ऐसी सल्लेखना विधि से मरण करे कि जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े। अथवा ऐसे मरण का अनुष्ठान करना चाहिए कि जिसके बाद पुनः मरण ही न करना पड़े। इससे क्या तात्पर्य निकला ? मैं अब पण्डितमरण नामक सल्लेखना विधि से मरण करूँगा, क्षपक ऐसा दृढ़ निश्चय करता है।

यदि संन्यास के समय भूख प्यास आदि पीड़ाएँ उत्पन्न हो जावें तो क्या करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यदि उस समय दुःख उत्पन्न हो जावे तो नरक के स्वभाव को देखना चाहिए। संसार में संसरण करते हुए मैंने कौन-सा दुःख नहीं प्राप्त किया है ॥७८॥

आचारवृत्ति—यदि असातावेदनीय के निमित्त से दुःख उत्पन्न होता है तो स्वभाव से नरक में देखना चाहिए अर्थात् नरक के स्वरूप का मन से अवलोकन करना चाहिए। यहाँ

---

१. क सहता।

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में नहीं है।

नरकस्य नरके वा। कदमं—कियदिदं कतमत्। मए—मया। ण पत्तं—न प्राप्तं। अथवा, अणं ऋणं कृतं मया यत्तन्मयैव[1] प्राप्त। संसारे—जातिजरामरणलक्षणे। संसरंतेण—संसरता परिभ्रमता। संन्यासकाले यदुत्पद्यते क्षुधादि दुःखं ततो नरकस्य स्वभावो द्रष्टव्यो यतः संसारे संसरता मया किमिदं न प्राप्तं यावता हि प्राप्तमेवेति चिन्तनीयमिति ॥७६॥

यथा प्राप्तं तथैव प्रतिपादयति—

संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेवि पुग्गला वहुसो।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती ॥७६॥

संसारचक्कवालम्मि—संसारचक्रवाले चतुर्गतिजन्मजरामरणावर्ते। **मए**—मया। **सव्वेवि**—सर्वेऽपि। **पुग्गला**—पुद्गला दधिखंडगुडौदननीरादिका। **वहुसो**—वहुशः वहुवारान् अनन्तवारान्। **आहारिदा य**—आहृता गृहीता भक्षिताश्च। **परिणामिदा य**—परिणामिताश्च जीर्णाश्च खलरसस्वरूपेण गमिता इत्यर्थः। **ण य मे**—न च मम। **गदातित्ती**—गता तृप्तिः सन्तोषो न जातः, प्रत्युत आकांक्षा जाता। संसारचक्रवाले सर्वेऽपि पुद्गला वहुशः आहृताः परिणामिताश्च मया न च मम गता तृप्तिरिति चिन्तनीयम्।

'स्वभावतः' में तस् प्रत्यय है सो 'दृश्यतेऽन्यत्रापि' इस नियम से पंचमी अर्थ में नहीं, किन्तु वहाँ द्वितीया विभक्तिरूप अर्थ निकल आता है अथवा प्राकृत व्याकरण के नियम से यहाँ अक्षर की अधिकता होते हुए भी 'स्वभाव' ऐसा अर्थ निकलता है। अर्थात् ऐसा सोचना चाहिए कि मैंने नरक आदि गतियों में कौन-सा दुःख नहीं प्राप्त किया है। अथवा गाथा के 'मए ण' पद को मए अण संधि निकालकर अण का ऋण करके ऐसा समझना चाहिए कि जो मैंने ऋण अर्थात् कर्जा किया था वही तो मैं प्राप्त कर रहा हूँ अर्थात् इस जन्म-मरण और वृद्धावस्थामय संसार में परिभ्रमण करते हुए जो मैंने ऋण रूप में कर्म संचित किये हैं उनका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा उस कर्जे को तो पूरा करना, चुकाना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह कि सल्लेखना के समय यदि भूख प्यास आदि वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं तो उस समय नरकों के दुःखों के विषय में विचार करना चाहिए जिससे उन वेदनाओं से धैर्यच्युत नहीं होता है। ऐसा सोचना चाहिए कि अनादि संसार में भ्रमण करते हुए मैंने क्या यह दुःख नहीं पाया है? अर्थात् इन वहुत प्रकार के अनेक-अनेक दुःखों को मैंने कई-कई वार प्राप्त किया ही है। अब इस समय धैर्य से सहन कर लेना ही उचित है।

जिस प्रकार से प्राप्त किया है उसी का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—इस संसार रूपी भँवर में मैंने सभी पुद्गलों को अनेक वार ग्रहण किया है और उन्हें आहार आदि रूप परिणमाया भी है किन्तु उनसे मेरी तृप्ति नहीं हुई है ॥७६॥

आचारवृत्ति—चतुर्गति के जन्म-मरण रूप आवर्त अर्थात् भँवर में मैंने दही, खाण्ड, गुड़, भात जल आदि रूप सभी पुद्गल वर्गणाओं को अनन्त वार ग्रहण किया है, उनका आहार रूप से भक्षण किया है और खलभाग रसभाग रूप से परिणमाया भी है अर्थात् उन्हें जीर्ण भी किया है, किन्तु आजतक उनसे मुझे तृप्ति नहीं हुई, प्रत्युत आकांक्षाएँ बढ़ती ही गयी हैं, ऐसा विचार करना चाहिए।

---

1. क यत्तन्मैव।

कथं न गता तृप्तिर्यथा—

[1]तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥८०॥

[2]तिणकट्ठेण व—तृणकाष्ठैरिव। अग्गी—अग्निः। लवणसमुद्दो—लवणसमुद्रः। णदीसहस्सेहिं—नदीसहस्रैश्चतुर्दशभिः सहस्रैर्द्विगुणद्विगुणैर्नदीनां समन्विताभिर्गंगासिन्ध्वादिचतुर्दशनदीभिः सागरो न पूर्णः। ण इमो जीवो—नायं जीवः। सक्को—शक्यः। तिप्पेउं—तृप्तुं प्रीणयितुं। कामभोगेहिं—कामभोगैः, ईप्सित-सुखाङ्गैराहारस्त्रीवस्त्रादिभिः। यथा अग्निः तृणकाष्ठैः, लवणसमुद्रश्च नदीसहस्रैः प्रीणयितुं न शक्यः तथा जीवोऽपि कामभोगैरिति ॥८०॥

किं परिणाममात्राद्बन्धो भवति? भवतीत्याह—

कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो।
अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ॥८१॥

णिबंधदि इति वा पाठान्तरम्। कंखिद—कांक्षितः कांक्षास्य संजाता तां करोतीति वा कांक्षितः।

---

*क्यों नहीं हुई तृप्ति? उसी को दिखाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—तृण और काठ से अग्नि के समान तथा सहस्रों नदियों से लवण-समुद्र के समान इस जीव को काम और भोगों से तृप्त करना शक्य नहीं है ॥८०॥

आचारवृत्ति—जैसे अग्नि तृण और लकड़ियों के समूह से तृप्त नहीं होती है अर्थात् बुझ नहीं सकती है प्रत्युत बढ़ती जाती है। जैसे हजारों नदियों से लवण समुद्र तृप्त नहीं होता। अर्थात् गंगा-सिंधु की तो परिवार नदियाँ चौदह-चौदह हजार हैं, आगे-आगे रोहित रोहितास्या आदि चौदह नदियों में दूनी-दूनी (तथा आधी आधी) परिवार नदियों के समुदाय से सभी की सभी नदियाँ लवण समुद्र में हमेशा प्रवेश करती ही रहती हैं। फिर भी आज तक वह तृप्त नहीं हुआ। उसी प्रकार से इच्छित सुख के साधन भूत आहार, स्त्री, वस्त्र आदि काम भोगों से इस जीव को तृप्त करना, संतुष्ट करना शक्य नहीं है।

विशेषार्थ—पंचेन्द्रिय विषयों के उपभोग से तृप्ति की बात तो बहुत दूर है, प्रत्युत इच्छाएँ उत्तरोत्तर वृद्धिंगत ही होती हैं, ऐसा समझें।

क्या परिणाममात्र से भी बन्ध हो सकता है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आकांक्षा और कलुषता से सहित हुआ यह जीव काम और भोगों में मूच्छित होता हुआ, भोगों को नहीं भोगता हुआ भी, परिणाममात्र से कर्मों द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है ॥८१॥

आचारवृत्ति—कहीं पर 'णिवज्झेइ' की जगह 'णिवन्धदि' ऐसा भी पाठान्तर है।

---

1. क तण। 2. क तण।

*८०, ८१ और ८२वीं तीन गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में पहले ही आ चुकी हैं।

हंदि चिरभाविदावि य जे पुरुसा मरणदेसयालम्मि ।
पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण पच्छा परिवडंति ।।८४।।

हंदि—जानीहि—सामान्यमरणं वा। चिरभाविदावि य—चिरभाविता अपि देशोनपूर्वकोटी कृताचरणा अपि। जे—यस्त्वं वा पुरुषैः सह सम्बन्धाभावात्। पुरिसा—पुरुषा मनुष्याः। मरणदेसयालम्मि—मरणकाले मरणदेशे वा अथवा मरणकाल एवानेनाभिधीयते। पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण—पूर्वस्मिन् कृतं कर्म पूर्वकृतकर्म तेन गुरुकं तस्य भावः पूर्वकृतकर्मगुरुकत्वं तेनान्यस्मिन्नर्जितपापकर्मणा। पच्छा—पश्चात्। परिवडंति—प्रतिपतन्ति रत्नत्रयात् पृथग्भवन्ति यतः ।।८४।।

तह्मा चंदयवेज्झस्स कारणेण उज्जदेण पुरिसेण ।
जीवो अविरहिदगुणो कादव्वो मोक्खमग्गमि ।।८५।।

तम्हा—तस्मात्। चंदयवेज्झस्स—चंद्रकवेध्यस्य। कारणेन—निमित्तेन। उज्जदेण—उद्यतेन उपर्युक्तेन। पुरिसेण—पुरुषेण। जीवो—जीवः आत्मा। अविरहिदगुणो—अविरहितगुणोऽविराधितपरिणामः। कादव्वो—कर्तव्यः। मोक्खमग्गम्मि—मोक्षमार्गे सम्यक्त्वज्ञानचारित्रेषु। यतश्चिरभाविता अपि पुरुषा मरणदेशकाले पूर्वकृतकर्मगुरुकत्वेन पश्चात् प्रतिपतन्ति तस्मात् यथा चन्द्रकवेध्यनिमित्तं जीवोऽविरहितगुणः क्रियते तथोद्यतेन पुरुषेणात्मा मोक्षमार्गे कर्तव्य इत्येवं जानीहि निश्चयं कुर्विति ।।८५।।

गाथार्थ—जिन्होंने चिरकाल तक अभ्यास किया है ऐसे पुरुष भी मरण के देश-काल में पूर्व में किये गये कर्मों के भार से पुनः च्युत हो जाते हैं, ऐसा तुम जानो ।।८४।।

आचारवृत्ति - जिन्होंने चिरकाल तक तपश्चरण आदि का अभ्यास किया है अर्थात् कुछ कम एककोटि वर्ष पूर्व तक जिन्होंने रत्नत्रय का पालन किया है ऐसे पुरुष भी मरण के समय अथवा मरण के देश में अथवा यहाँ इस 'मरणदेश काले' पद का मरणकाल ही अर्थ लेना चाहिए। अर्थात् ऐसे पुरुष भी सल्लेखना के समय पूर्वकृत पापकर्म के तीव्र उदय से रत्नत्रय से पृथक् हो जाते हैं, च्युत हो जाते हैं। हे क्षपक ! ऐसा तुम समझो।

गाथार्थ—इसलिए चन्द्रकवेध्य के कारण में उद्यत पुरुष के समान आत्मा को मोक्षमार्ग में गुण-सहित करना चाहिए ।।८५।।

आचारवृत्ति—इसलिए चन्द्रकवेध्य का वेध करने में उद्यत पुरुष के समान तुम्हें अपनी आत्मा के परिणामों की विराधना न करके उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग में स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जिस कारण से चिरकाल से अभ्यास करनेवाले भी पुरुष मरणकाल में पूर्व संचितकर्म के तीव्र उदय से रत्नत्रय से च्युत हो जाते हैं इसलिए जैसे चन्द्रकवेध्य के लिए जीव उस गुण में प्रवीण किया जाता है अथवा वह चन्द्रकवेध्य का निशाना बनाने के लिए गुण अर्थात् डोरी पर बाण को चढ़ाता है, पुनः निशाना लगाकर बेधन करता है उसी प्रकार उद्यमशील पुरुष को अपनी आत्मा मोक्षमार्ग में स्थिर करना चाहिए, ऐसा तुम जानो अर्थात्

" डोरी रहित न होने पर 'मैं चन्द्रकवेध्य का करने वाला हूँ

चन्द्रकवेध्यनिमित्तं जीवेऽविरहितगुणे कृते किंकृतं तेन चन्द्रकवेध्यस्य कर्ताहं—

कणयलदा णागलदा विज्जुलदा तहेव कुंदलदा।
एदा विय तेण हदा मिथिलाणयरिए महिंदयत्तेण ॥८६॥
सायरगो वल्लहगो कुलदत्तो वड्डमाणगो चेव।
दिवसेणिक्केण हदा मिहिलाए महिंददत्तेण ॥८७॥

मिथिलानगर्यां महेन्द्रदत्तेन एताः कनकलतानागलताविद्युल्लतास्तथा कुन्दलता चैकहेलया हताः। तथा तस्यां नगर्यां तेनैव महेन्द्रदत्तेन सागरक-वल्लभक-कुलदत्तक-वर्धमानका हतास्तस्मात् यतिना समाधिमरणे यत्नः कर्तव्यः। कथानिका चात्र व्याख्येया आगमोपदेशात् यत्नाभावे पुनर्यथा एतल्लोकानां भवति तथा यतीनामपि ॥८६-८७॥

[1]किं तत् ! इत्याह—

जहणिज्जावयरहिया णावाओ वररदण[2]सुपुण्णाओ।
पट्टणमासण्णाओ खु पमादमूला णिवुड्डंति ॥८८॥

ऐसा समझकर उसने क्या किया ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता—इन चारों को भी उस महेन्द्रदत्त ने मिथिलानगरी में मार दिया। सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमानक को भी एक ही दिन मिथिलानगरी में महेन्द्रदत्त ने मार डाला ॥८६-८७॥

आचारवृत्ति—मिथिलानगरी में महेन्द्रदत्त ने कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता इनको एक लीलामात्र में मार डाला। तथा उसी नगरी में उसी महेन्द्रदत्त ने सागरक, वल्लभक, कुलदत्तक और वर्धमानक इनको भी मार डाला। इसलिए यतियों को समाधिमरण में प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ पर आगम के आधार से इन कथाओं का व्याख्यान करना चाहिए। अभिप्राय यह हुआ कि जैसे सावधानी के बिना इन लोगों का मरण हो गया वैसे ही सावधानी के बिना यतियों का भी कुमरण हो जाता है।

विशेष—ये कथाएँ आराधना कथाकोश आदि में उपलब्ध नहीं हो सकीं इसलिए इस विषय का स्पष्टीकरण समझ में नहीं आया है। फिर भी इतना अभिप्राय अवश्य प्रतीत होता है कि ये सब मरण कुमरण हैं क्योंकि इनमें सावधानी नहीं है। ऐसे दृष्टान्तों के द्वारा आचार्य क्षपक को सावधान रहने का ही पुनः पुनः उपदेश दे रहे हैं।

वह सावधानी क्या है ? सो कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे उत्तम रत्नों से भरी हुई नौकाएँ नगर के समीप किनारे पर आकर भी, कर्णधार से रहित होने से प्रमाद के कारण डूब जाती हैं—ऐसे ही साधु के विषय में समझो ॥८८॥

---

१. क किं तथा। २. क 'पयु'।

जह—यथा। णिज्जावयरहिया—निर्यापकरहिताः कर्णधारविरहिताः। णावाओ—नावः पोतादिकाः। वररदणसुपुण्णाओ—श्रेष्ठरत्नसुपूर्णाः। पट्टणमासण्णाओ—पत्तनमासन्ना वेलाकूलसमीपं प्राप्ताः। खु—स्फुटं। पमादमूला—प्रमादः शैथिल्यं मूलं कारणं यासां ताः प्रमादमूलाः। णिवुड्डंति—निमज्जन्ति विनाशमुपयांति। यथा नावः पत्तनमासन्नाः कर्णधाररहिताः वररत्नसम्पूर्णाः, प्रमादकारणात् सागरे निमज्जन्ति तथा क्षपकनावः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररत्नसम्पूर्णाः सिद्धिसमीपीभूतसंन्यासपत्तनमासन्ना निर्यापकाचार्यरहिता प्रमादनिमित्तात् संसारसागरे निमज्जन्ति तस्माद्यत्नः कर्तव्य इति ॥८८॥

कथं यत्नः क्रियते यावता हि तस्मिन् कालेऽभ्रावकाशादिकं न कर्तुं शक्यते इत्याह—

बाहिरजोगविरहिओ अब्भंतरजोगझाणमालीणो[1]।
जह तम्हि देसयाले अमूढसण्णो जहसु देहं ॥८९॥

बाहिरजोगविरहिदो—बाह्याश्च ते योगाश्च बाह्ययोगा अभ्रावकाशादयस्तैं विरहितो हीनो बाह्ययोगविरहितः। अब्भंतरजोगझाणमालीणो[2]—अभ्यंतरयोगं अन्तरंगपरिणामं ध्यानं एकाग्रचिन्तानिरोधनं आलीनः प्रविष्टः। जह—यथा। तम्हि—तस्मिन्। देसयाले—देशकाले संन्यासकाले। अमूढसण्णो—अमूढ-

---

आचारवृत्ति—जैसे उत्तम-उत्तम रत्नों से भरे हुए जहाज आदि पत्तन अर्थात् समुद्र-तट के समीप पहुँच भी रहे हैं, फिर भी यदि वे जहाज खेवटिया से रहित हैं अर्थात् उनका कोई कर्णधार नहीं है तो प्रमाद के कारण निश्चित ही वे समुद्र में डूब जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही क्षपक रूपी नौकाएँ भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नों से परिपूर्ण हैं और सिद्धि के समीप में ही रहनेवाला जो संन्यास रूपी पत्तन है उसके पास तक अर्थात् किनारे तक आ चुकी हैं, फिर भी निर्यापकाचार्य के विना प्रमाद के निमित्त से वे क्षपक रूपी नौकाएँ संसार-समुद्र में डूब जाती हैं, इसलिए सावधानी रखना चाहिए।

भावार्थ—जो सल्लेखना करनेवाले साधु हैं वे क्षपक हैं और करानेवाले निर्यापकाचार्य हैं। एक साधु की सल्लेखना में अड़तालीस मुनियों की आवश्यकता मानी गयी है।

यहाँ पर इसी बात को स्पष्ट किया है कि निर्यापकाचार्य के विना क्षपक को मरण काल में वेदना आदि के निमित्त से यदि किंचित् भी प्रमाद आ गया तो वह पुनः रत्नत्रय से च्युत होकर संसार में डूब जायेगा किन्तु यदि निर्यापकाचार्य कुशल हैं तो वे उसे सावधान करते रहेंगे। अतः समाधि करने के इच्छुक साधु को प्रयत्नपूर्वक निर्यापकाचार्य की खोज करके उनका आश्रय लेना चाहिए तथा अन्तिम समय तक पूर्ण सावधानी रखना चाहिए।

कैसे प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि उस काल में तो अभ्रावकाश आदि को करना शक्य नहीं है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य योगों से रहित भी अभ्यन्तर योग रूप ध्यान का आश्रय लेकर उस सल्लेखना के काल में जैसे-बने-वैसे संज्ञाओं में मोहित न होते हुए शरीर का त्याग करो ॥८९॥

आचारवृत्ति—अभ्रावकाश आदि योग बाह्य योग हैं, इनसे रहित होते हुए भी अभ्यन्तर योगध्यान अर्थात् अन्तरंग में एकाग्र—चिन्तानिरोध रूप ध्यान में प्रविष्ट होकर जैसे

१-२ क मल्लीणो।

संज्ञः आहारादिसंज्ञारहितः। जहसु—जहीहि त्यज। देहं—शरीरं। बाह्ययोगविरहितोऽपि, अभ्यन्तरध्यानयोगप्रविष्टः सन् तस्मिन् देशकाले अमूढसंज्ञो यथा भवति तथा शरीरं जहीहि ॥८९॥

अमूढसंज्ञके शरीरत्यागे सति किं स्यात्! इत्यतः प्राह—

हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंखलियं।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि ॥९०॥

हंतूण—हत्वा। रागदोसे—रागद्वेषौ अनुरागाप्रीती। छेत्तूण य—छित्वा च। अट्ठकम्मसंखलियं—अष्टकर्मशृंखलाः। जम्मणमरणरहट्टं—जन्ममरणारहट्टं जातिमृत्युघटीयंत्रं। भेत्तूण—भित्त्वा। भवाहि—भवेभ्यो भवैर्वा। मुच्चिहिसि—मोक्ष्यसे मुच्यसि वा। रागद्वेषौ हत्वा, अष्टकर्म शृंखलाश्च छित्वा जन्ममरणारहट्टं च भित्त्वा, भवेभ्यो मोक्ष्यसे इत्येतत्स्यादिति ॥९०॥

यद्येवं—

सव्वमिदं उवदेसं जिणदिट्ठं सद्दहामि तिविहेण।
तसथावरखेमकरं सारं णिव्वाणमग्गस्स ॥९१॥

हो सके वैसे संन्यास के समय आहार आदि संज्ञाओं से रहित होते हुए तुम शरीर को छोड़ो।

भावार्थ—शीत ऋतु में अभ्र—खुले मैदान में जो अवकाश अर्थात् ठहरना, स्थित होकर ध्यान करना है वह अभ्रावकाश है। ग्रीष्म ऋतु में आ—सब तरफ से, तापन—सूर्य के संताप को सहना सो आतापन योग है और वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे ध्यान करना यह वृक्षमूल योग है। सल्लेखना के समय क्षपक इन बाह्य योगों को नहीं कर सकता है फिर भी अन्तर में अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए जो ध्यान होता है वह अभ्यन्तर योग है। इस योग का आश्रय लेकर क्षपक आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं में मूछित न होता हुआ शरीर को छोड़े ऐसा आचार्य का उपदेश है।

संज्ञाओं में मूछित न होते हुए शरीर का त्याग करने पर क्या होता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—राग-द्वेष को नष्ट करके, आठ कर्मों की जंजीर को काट कर और जन्म-मरण के घटीयन्त्र का भेदन कर तुम सम्पूर्ण भवों से छूट जाओगे ॥९०॥

आचारवृत्ति—राग द्वेष को नष्ट कर, आठ कर्मों की बेड़ी काटकर तथा जन्म-मरण रूप जो अरहट—घटिकायन्त्र है उसको रोक करके हे क्षपक! तुम अनेक भवों से मुक्त हो जाओगे अर्थात् पुनः तुम्हें जन्म नहीं लेना पड़ेगा।

अब क्षपक कहता है कि हे गुरुदेव! यदि ऐसी बात है तो मैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सम्पूर्ण इस उपदेश का मन-वचन-काय से श्रद्धान करता हूँ। यह निर्वाणमार्ग का सार है और त्रस तथा स्थावर जीवों का क्षेम करनेवाला है ॥९१॥

सव्वमिदं—सर्वमिमं। उवदेसं—उपदेशमागमं। जिणदिट्ठं—जिनदृष्टं कथितं वा। सद्दहामि—श्रद्दधे, तस्मिन् रुचिं करोमीति। तिविहेण—त्रिविधेन। तसथावरखेमकरं—त्रसन्ति उद्विजन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादि[1]पंचेन्द्रियपर्यन्ताः। स्थानशीलाः स्थावराः पृथिवीकायिकादिवनस्पतिपर्यन्ताः। अथवा त्रसनामकर्मोदयात् त्रसाः स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावराः तेषां क्षेमं दयां सुखं करोतीति त्रसस्थावरक्षेमकरस्तं सर्वजीवदयाप्रतिपादकं। सारं—प्रधानभूतं सारस्य कारणात्सारः। णिव्वाणमग्गस्स—निर्वाणमार्गस्य मोक्षवर्त्मनः। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणां तस्मिन् सति तेषां सद्भावान्निर्वाणमार्गस्य सारं त्रसस्थावरक्षेमकरं च सर्वमिममुपदेशं जिनदृष्टं त्रिविधेन श्रद्दधेऽहमिति ॥६१॥

तस्मिन् काले यथा द्वादशांगचतुर्दशपूर्वविषया श्रद्धा क्रियते तथा समस्तश्रुतविषया चिंता पाठश्च कर्तुं किं शक्यते? इत्याह—

ण हि तम्हि देसयाले सक्को बारसविहो सुदक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेदुं बलिणावि समत्थचित्तेण ॥६२॥

न—प्रतिषेधवचनं। हि—यस्मादर्थे। तम्हि—तस्मिन्। देसयाले—देशकाले। 'दिश् अतिसर्जने'

आचारवृत्ति—जो यह सम्पूर्ण उपदेशरूप आगम है वह जिनेन्द्रदेव द्वारा देखा गया है अथवा कथित है, मैं मन-वचन-कायपूर्वक उसी का श्रद्धान करता हूँ, उसी में रुचि करता हूँ। जो त्रास को प्राप्त होते हैं—उद्विग्न होते हैं वे त्रस हैं। अर्थात् दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव त्रस कहलाते हैं। जो 'स्थानशीलाः' अर्थात् ठहरने के स्वभाववाले हैं वे स्थावर हैं। पृथ्वी कायिक से लेकर वनस्पति पर्यन्त स्थावर जीव हैं। अथवा त्रसनाम कर्म के उदय से त्रस होते हैं एवं स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर हैं। अर्थात् ऊपर जो त्रस-स्थावर शब्द की व्युत्पत्ति की है वह सर्वथा लागू नहीं होती है क्योंकि इस लक्षण से तो उद्वेग से रहित गर्भस्थ, मूर्छित या अण्डे में स्थित आदि जीव त्रस नहीं रहेंगे तथा वायुकायिक, अग्निकायिक त्रस हो जायेंगे इसलिए यह मात्र व्याकरण का व्युत्पत्ति अर्थ है। वास्तविक अर्थ तो यही है कि जो त्रस या स्थावर नाम कर्म के उदय से जन्म लेवें वे ही त्रस या स्थावर हैं। इन त्रस और स्थावर जीवों का क्षेम—उनकी दया का, उनके सुख का करनेवाला यह उपदेश है। और, यह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय निर्वाण मार्ग का सार है अर्थात् इस उपदेश के होने पर ही मोक्षमार्ग का सद्भाव होता है इसीलिए यह प्रधानभूत है—सारभूत मोक्षमार्ग का कारण होने से यह उपदेश स्वयं सारभूत ही है ऐसा समझना।

उस संन्यास के काल में जैसे द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व के विषय में श्रद्धा की जाती है वैसे ही समस्त श्रुतविषयक चिन्तन और पाठ करना शक्य है क्या? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—उस संन्यास के देश-काल में बलशाली और समर्थ मनवाले साधु के द्वारा भी सम्पूर्ण द्वादशांग रूप श्रुतस्कन्ध का चिन्तवन करना शक्य नहीं है ॥६२॥

आचारवृत्ति—'देशकाले' पद का अर्थ कहते हैं। दिश् धातु अतिसर्जन—त्याग

---

1. क 'यादयः पं'।

दिश्यते अतिसृज्यते इति देश: शरीरं तस्य कालस्तस्मिन् शरीरपरित्यागकाले। सक्को—शक्य:। बारसविहो—द्वादशविध: द्वादशप्रकार: **सुदक्खंधो**—श्रुतस्कंध: श्रुतवृक्ष इत्यर्थ:। सव्वो—सर्वं समस्तं। अणुचिंतेदुं—अनुचिन्तयितुं अर्थेन भावयितुं पठितुं च। **बलिणावि**—बलिनापि शरीरगतबलेनापि[1]। समत्थचित्तेण—समर्थचित्तेन एकचित्तेन यतिना। तस्मिन् देशकाले बलयुक्तेन समर्थचित्तेनापि द्वादशविधं श्रुतस्कन्धं न शक्यमनुचिन्तयितुम् ॥९२॥

यतस्ततः किं कर्तव्यं !

एक्कह्मि विदियह्मि पदे संवेगो वीयरायमग्गम्मि।
वच्चदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥९३॥

एक्कह्मि—एकस्मिन् नमोऽर्हद्भ्य: इत्येतस्मिन्। **विदियह्मि**—द्वयो: पूरणं द्वितीयं नम: सिद्धेभ्य इत्येतस्मिन्। **संवेओ**—संवेग: धर्मे हर्ष:। पदे—अर्थपदे ग्रन्थपदे प्रमाणपदे वा पंचनमस्कारपदे च। अथवा **एक्कम्हि वीजम्हि पदे**—एकस्मिन्नपि बीजपदे यस्मिन्निति पाठान्तरम्। **वीयरागमग्गम्मि**—वीतरागमार्गे सर्वज्ञ-

---

अर्थ में है अत: 'दिश्यते अतिसृज्यते इति देश:शरीरं' अर्थात् जिसका त्याग किया है वह देश-शरीर है। उस शरीर का जो काल है वह देशकाल है अर्थात् वह शरीर के परित्याग का काल कहलाता है। उस शरीर परित्याग के समय जो साधु शारीरिक बल से सहित भी है तथा समर्थ मनवाला—एकाग्र चित्तवाला भी है तो भी वह बारह प्रकार के सम्पूर्ण श्रुतरूपी वृक्ष का अनुचिन्तन नहीं कर सकता है अर्थात् सम्पूर्ण श्रुत को अर्थ रूप से अनुभव करने को और उसके पाठ करने को समर्थ नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि कितना भी शरीरबली या मनोबली साधु क्यों न हो तो भी अन्तसमय में वह सम्पूर्ण श्रुतमय शास्त्रों के अर्थों का चिन्तवन नहीं कर सकता है।

*यदि ऐसी बात है तो उसे क्या करना चाहिए ?

गाथार्थ—मनुष्य वीतराग मार्ग स्वरूप अर्हत्प्रवचन के एकपद में या द्वितीय पद में निरन्तर संवेग प्राप्त करता है। इसलिए मरणकाल में इन पदों को नहीं छोड़ना चाहिए ॥९३॥

आचारवृत्ति—जो सर्वसंग का त्यागी मुनि वीतराग मार्ग—सर्वज्ञदेव के प्रवचन के किसी एक पद में या 'अर्हद्भ्यो नम:' इस प्रथम पद में या द्वितीयपद अर्थात् 'सिद्धेभ्यो नम:'

---

१. क 'बलोपेतेनापि।

*फलटन से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित गाथा अधिक है—

शरीर-त्याग के समय सप्ताक्षरी मन्त्र का चिन्तन श्रेयस्कर है—

सत्तक्खरसज्झाणं अरहंताणं णमोत्ति भावेण।
जो कुणदि अणण्णमदी सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥८८॥

अर्थ—'णमो अरहंताणं' यह सप्त अक्षर युक्त मन्त्र है। जो क्षपक एकाग्रचित्त होकर इस मन्त्र का ध्यान करता है, वह उत्तम स्थान—मोक्ष प्राप्त कर लेता है। और, यदि क्षपक अचरम शरीरी है तो स्वर्ग में इन्द्रादि पद का धारक होता है।

प्रवचने। वच्चदि—व्रजति गच्छति प्रवर्तते। णरो—नरेण सर्वसंगपरित्यागिना। अभिक्खं—अभीक्ष्णं नैरन्तर्येण। तं— तत्। मरणंते—मरणान्ते कण्ठगतप्राणेऽन्त्यसमये वा। ण मोत्तव्वं—न मोक्तव्यं न परित्यजनीयं। एकपदे द्वितीयपदे वा पंचनमस्कारपदे वा वीतरागमार्गे यस्मिन् संवेगोऽभीक्ष्णं गच्छति तत्पदं मरणान्तेऽपि न मोक्तव्यं नरेण; नरो वा संवेगं यथा भवति तथा यस्मिन्पदे गच्छति प्रवर्तते तत्पदं तेन न मोक्तव्यमिति सम्बन्धः।

किमिति कृत्वा तन्न मोक्तव्यं यतः—

एदह्मादो एक्कं हि सिलोगं मरणदेसयालह्मि।
आराहणउवजुत्तो चिंतंतो आराधओ होदि ॥९४॥

एदह्मादो—एतस्मात् श्रुतस्कन्धात् पंचनस्काराद्वा। एक्कं हि—एकं ह्यपि एकमपि तथ्यं। सिलोगं—श्लोकं। मरणदेसयालम्मि—मरणदेशकाले। आराहणउवजुत्तो—आराधनया[1] उपयुक्तः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोनुष्ठानपरः। चिंतंतो—चिंतयन्। आराधओ—आराधकः रत्नत्रयस्वामी। होइ—भवति सम्पद्यते। एतस्मात् श्रुतात् पंचनमस्काराद्वा मरणदेशकाले एकमपि श्लोकं चिंतयन् आराधनोपयुक्तः सन् आराधको भवति यतस्ततस्त्वयेदं न मोक्तव्यमिति सम्बन्धः ॥९४॥

इस पद में निरन्तर संवेग को प्राप्त होता है, धर्म में हर्षभाव को प्राप्त होता है। यहाँ पद शब्द से अर्थपद, ग्रन्थपद या प्रमाणपद या नमस्कारपद को लिया गया है। अथवा 'एकम्हि बीजम्हि पदे' ऐसा पाठान्तर भी है जिसका ऐसा अर्थ करना कि किसी एक बीजपद में अर्थात् 'ॐ ह्रीं' या 'अ-सि-आ-उ-सा' आदि बीजाक्षर पदों का आश्रय लेता है।

इसलिए मरण के अन्त में अर्थात् कण्ठगत प्राण के होने पर या अन्तिम समय में इन पदों का अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि जिस वीतरागदेव के प्रवचन रूप एक—प्रथम पद में या द्वितीयपद में अथवा नमस्कार मन्त्र पद में साधु निरन्तर संवेग को प्राप्त हो जाते हैं। इस हेतु से इन पदों को मरण के अन्त में भी नहीं छोड़ना चाहिए।

अथवा जो भी कोई साधु जैसे भी बने वैसे जिस पद में प्रीति को प्राप्त कर सकते हैं, उस पद को उन्हें नहीं छोड़ना चाहिए अर्थात् उन्हें उसी पद का आश्रय लेना चाहिए।

क्यों नहीं छोड़ना चाहिए उसे? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आराधना में लगा हुआ साधु मरण के काल में इस श्रुत समुद्र से एक भी श्लोक का चिन्तवन करता हुआ आराधक हो जाता है ॥९४॥

आचारवृत्ति—आराधना से उपयुक्त अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं के अनुष्ठान में तत्पर हुआ साधु द्वादशांगरूप श्रुतस्कन्ध से या पंचनमस्कार पद से एक भी तथ्य-सत्यभूत श्लोक को ग्रहण कर यदि संन्यास काल में उसका चिन्तवन करता है तो वह आराधक—रत्नत्रय का स्वामी—अधिकारी हो जाता है। इसलिए तुम्हें भी किसी एक पद का अवलम्बन लेकर उसे नहीं छोड़ना चाहिए।

---

१ क 'नउ'।

यदि पीडोत्पद्यते मरणकाले। किमौषधं? इत्याह—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥९५॥

जिणवयणं—जिनवचनं। ओसहं—औषधं रोगापहरं द्रव्यं। इणं—एतत्। विसयसुहविरेयणं—विषयेभ्यः सुखं विषयसुखं तस्य विरेचनं द्रावकं द्रव्यं विषयसुखविरेचनं। अमिदभूदं—अमृतभूतं। जरमरणवाहिवेयण—जरामरणव्याधिवेदनानां। बहुकालीना व्याधिः, आकस्मिका वेदना तयोर्भेदः। अथवा व्याधिभ्यो वेदना। खयकरणं—विनाशनिमित्तं। सव्वदुक्खाणं—सर्वदुःखानां। विषयसुखविरेचनं, अमृतभूतं चौषधमेतज्जिनवचनमिति सम्बन्धः॥९५॥

किं तस्मिन्काले शरणं चेत्याह!

णाणं सरणं मे दंसणं[1] च सरणं चरियसरणं च।
तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो॥९६॥

णाणं—ज्ञानं यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदः। सरणं—शरणं आश्रयः। मे—मम। दंसणं—दर्शनं प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणपरिणामः। सरणं—शरणं संसाराद्रक्षणं। चरियं—चरित्रं ज्ञानवतः संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णवतोऽनुष्ठानं। सरणं च—सहायं च। सुखावबोधार्थं पुनः पुनः शरणग्रहणं। तवं—तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपो द्वादशप्रकारं। संजमं—संयमः प्राणेन्द्रियसंयमनं। [सरणं]—शरणं।

यदि मरणकाल में पीड़ा उत्पन्न हो जावे तो क्या औषधि है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—विषय सुख का विरेचन करानेवाले और अमृतमय ये जिनवचन ही औषध हैं। ये जरा-मरण और व्याधि से होनेवाली वेदना को तथा सर्व दुःखों को नष्ट करनेवाले हैं॥९५॥

आचारवृत्ति—दीर्घकालीन रोग व्याधि है। आकस्मिक होनेवाला कष्ट वेदना है। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर भी है अथवा व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदना व्याधि वेदना है। अर्थात् जिनेन्द्रदेव की वाणी महान् औषधि है यह विषय सुख का विरेचन करा देती है। वृद्धावस्था और मरणरूप जो महाव्याधियाँ हैं उनको तथा सम्पूर्ण दुःखों को दूर करा देती है। इसीलिए यह जिनवाणी अमृतमय है।

उस समय शरण कौन हैं? सो बताते हैं—

गाथार्थ—मुझे ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है, तपश्चरण और संयम शरण है तथा भगवान् महावीर शरण हैं॥९६॥

आचारवृत्ति—जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप से जानना सो ज्ञान है, वह ज्ञान ही मेरा शरण अर्थात् आश्रय है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इनकी अभिव्यक्तिलक्षण जो परिणाम हैं वह दर्शन है वही मेरा शरण है अर्थात् संसार से मेरी रक्षा करनेवाला है। संसार के कारणों का अभाव करने के लिए उद्यत हुए ज्ञानवान पुरुष का जो अनुष्ठान है

---

१. क 'णं सरणं चरियं च सरणं च। तव संजमो य स'।

भगवं भगवान् ज्ञानसुखवान्। सरणो—शरणः। महावीरो—वर्धमानस्वामी। ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि मम शरणानि तेषामुपदेष्टा च महावीरो भगवान् शरणमिति ॥९६॥

आराधनायाः किं फलं ? इत्यत आह—

आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं।
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ णिव्वाणं ॥९७॥

आराहणउवजुत्तो—आराधनोपयुक्तः सम्यग्दर्शनज्ञानादिषु तात्पर्यवृत्तिः। कालं काऊण—कालं कृत्वा। सुविहिओ—सुविहितः शोभनानुष्ठानः। सम्मं—सम्यक्। उक्कस्सं—उत्कृष्टेन। तिण्णि—त्रीन्। भवे—भवान्। गन्तूण य—गत्वा च। लहइ—लभते। णिव्वाणं—निर्वाणं। सुविहितः सम्यगाराधनोपयुक्तः कालं कृत्वा उत्कर्षेण त्रीन् भवान् प्राप्य ततो निर्वाणं लभते इति ॥९७॥

आचार्यानुशास्तिं श्रुत्वा शास्त्रं ज्ञात्वा क्षपकः कारणपूर्वकं परिणामं कर्तुकामः प्राह—

समणो मेत्ति य पढमं बिदियं सव्वत्थ संजदो मेत्ति।
सव्वं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समासेण ॥९८॥

समणो मेत्ति य—श्रमणः समरसीभावयुक्तः, इति च। पढमं—प्रथमः। बिदियं—द्वितीयः। सव्वत्थ-

---

वह चारित्र है, वही मेरा सहाय है। जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है, जलाता है वह तप है। वह द्वादश भेदरूप है। प्राणियों की रक्षा तथा इन्द्रियों का संयमन यह संयम है। ये तप और संयम मेरे शरण हैं तथा ज्ञान और सुखपूर्ण भगवान् वर्धमान स्वामी ही मेरे लिए शरण हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये ही मेरे रक्षक हैं और इनके उपदेष्टा भगवान् महावीर ही मेरे रक्षक हैं। यहाँ पर जो पुनः पुनः 'शरणं' शब्द आया है सो सुख से—सरलता से समझने के लिए ही आया है। अथवा इन दर्शन, ज्ञान आदि के प्रति अपनी दृढ़ श्रद्धा को सूचित करने के लिए भी समझना चाहिए।

आराधना का फल क्या है ? सो बतलाते हैं—

गाथार्थ—आराधना में तत्पर हुआ साधु आगम में कथित सम्यक्प्रकार से मरण करके उत्कृष्ट रूप से तीन भव को प्राप्त कर पुनः निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ॥९७॥

आचारवृत्ति—शुभ अनुष्ठान से सहित साधु सम्यक् प्रकार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं में तत्परता से प्रवृत्त होता हुआ साधु मरण करके उत्कृष्ट से तीन भवों को प्राप्त करके पश्चात् निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार से आचार्य की अनुशास्ति अर्थात् वाणी को सुनकर और शास्त्र को समझकर क्षपक कारणपूर्वक परिणाम को करने की इच्छा रखता हुआ कहता है—

गाथार्थ—पहला तो मेरा श्रमण यह रूप है और दूसरा सभी जगह मेरा संयत—संयमित होना यह रूप है। इसलिए संक्षेप से कहे गये इन सभी अयोग्य का मैं त्याग करता हूँ ॥९८॥

आचारवृत्ति—श्रमण—'समरसी भावयुक्त होना' यह मेरी प्रथम स्थिति है। 'सर्वत्र

संजदो—सर्वत्र,संयतः। मेत्ति—मम इति। अथवा श्रमणे मम प्रथमं मैत्र्यं। द्वितीयं च सर्वसंयतेषु। सव्वं च—सर्वं च। वोस्सरामि य—व्युत्सृजामि च। एदं—एतत्। भणिदं—भणितं। समासेण—समासेन संक्षेपतः। प्रथमस्तावत् समानभावोऽहं द्वितीयश्च सर्वत्र संयतोऽतः सर्वमयोग्यं व्युत्सृजामि एतद्भणितं संक्षेपतो मयेति सम्बन्धः संक्षेपालोचनमेतत् ॥६८॥

पुनरपि दृढपरिणामं दर्शयति

लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयणसुभासिदं[1] अमिदभूदं।
गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि ॥६९॥

लद्धं—लब्धं प्राप्तं। अलद्धपुव्वं—अलब्धपूर्वं। जिणवयणं—जिनवचनं। [2]सुभासिदं—सुभाषितं प्रमाणनयाविरुद्धं। अमिदभूदं—अमृतभूतं सुखहेतुत्वात्। गहिदो—गृहीतः। सुग्गदिमग्गो—सुगतिमार्गः। णाहं मरणस्स बीहेमि—नाहं मरणाद्बिभेमि। अलब्धपूर्वं जिनवचनं सुभाषितं अमृतभूतं लब्धं मया सुगतिमार्गश्च गृहीतोऽतः नाहं मरणाद्बिभेमीति ॥६९॥

*अतश्च—

संयत होना' यह मेरी दूसरी अवस्था है। अथवा श्रमण—समता भाव में मेरा मैत्रीभाव है यह प्रथम है और सभी संयतों—मुनियों में मेरा मैत्रीभाव है यह दूसरी अवस्था है। अभिप्राय यह है कि प्रथम तो मैं सुख-दुःख आदि में समान भाव को धारण करनेवाला हूँ और दूसरी बात यह है कि मैं सभी जगह संयत—संयमपूर्ण प्रवृत्ति करनेवाला हूँ इसलिए सभी अयोग्य कार्य या वस्तु का मैं त्याग करता हूँ यह मेरा संक्षिप्त कथन है। इस प्रकार से वचनों द्वारा क्षपक संक्षेप से आलोचना करता है।

पुनरपि क्षपक अपने परिणामों की दृढ़ता को दिखलाता है—

गाथार्थ—जिनको पहले कभी नहीं प्राप्त किया था ऐसे अलब्धपूर्व, अमृतमय, जिन-वचन सुभाषित को मैंने अब प्राप्त किया है। अब मैंने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है। इसलिए अब मैं मरण से नहीं डरता हूँ ॥६९॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव के वचन प्रमाण और नयों से अविरुद्ध होने से सुभाषित हैं और सुख के हेतु होने से अमृतभूत हैं। ऐसे इन वचनों को मैंने पहले कभी नहीं प्राप्त किया था। अब इनको प्राप्त करके मैंने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है। अर्थात् जिनदेव की आज्ञा-नुसार मैंने संयम को धारण करके मोक्ष के मार्ग में चलना शुरू कर दिया है। अब मैं मरण से नहीं डरूँगा।

क्योंकि—

१-२ क सुहासि'।

*फलटन से प्रकाशित प्रति की गाथा में निम्न प्रकार से अन्तर है—

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि हि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥६९॥

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं[1] हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥१००॥

धीरेण वि—धीरेणापि सत्त्वाधिकेनापि । मरियव्वं—मर्तव्यं प्राणत्यागः कर्तव्यः । णिद्धीरेण वि—निर्धैर्येणापि धैर्यरहितेनापि कातरेणापि भीतेनापि । अवस्स—अवश्यं निश्चयेन । मरिदव्वं—मर्तव्यं । जइ-दोहिं वि—यदि द्वाभ्यामपि । मरिदव्वं—मर्तव्यं भवान्तरं गन्तव्यं विशेषाभावात् । वरं—श्रेष्ठं । हि—स्फुटं । धीरत्तणेण—धीरत्वेन संक्लेशरहितत्वेन । मरिदव्वं—मर्तव्यं । यदि द्वाभ्यामपि धैर्याधैर्योपेताभ्यां प्राणत्यागः कर्तव्यो निश्चयेन ततो विशेषाभावात् धीरत्वेन मरणं श्रेष्ठमिति ॥१००॥

क्षुधादिपीडितस्य यदि शीलविनाशे कश्चिद्विशेषो विद्यतेऽजरामरणत्वं यावता हि—

सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं ।
जइ दोहिं वि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं ॥१०१॥

यदि द्वाभ्यामपि शीलनिःशीलाभ्यां[2] मर्तव्यं अवश्यं वरं शीलत्वेन शीलयुक्तेन मर्तव्यमिति । व्रत-परिरक्षणं शीलं यदि सुशीलनिःशीलाभ्यां निश्चयेन मर्तव्यं शीलेनैव मर्तव्यम् ॥१०१॥

अत्र किं कृतो नियम ? इत्याह—

गाथार्थ—धीर को भी मरना पड़ता है और निश्चित रूप से धैर्य रहित जीव को भी मरना पड़ता है । यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो धीरता सहित होकर ही मरना अच्छा है ॥१००॥

आचारवृत्ति—सत्त्व अधिक जिसमें है ऐसे धीर वीर को भी प्राणत्याग करना पड़ता है और जो धैर्य से रहित कायर हैं—डरपोक हैं, निश्चित रूप से उन्हें भी मरना पड़ता है । यदि दोनों को मरना ही पड़ता है, उसमें कोई अन्तर नहीं है तब तो धीरतापूर्वक—संक्लेश रहित होकर ही प्राणत्याग करना श्रेष्ठ है ।

क्षुधादि से पीड़ित हुए क्षपक के यदि शील के विनाश में कोई अन्तर हो तो अजर-अमरपने का विचार करना चाहिए—

गाथार्थ—शीलयुक्त को भी मरना पड़ता है और शील रहित को भी मरना पड़ता है यदि दोनों को ही मरना पड़ता है तब तो शील सहित होकर ही मरना श्रेष्ठ है ॥१०१।

आचारवृत्ति—व्रतों का सब तरफ से रक्षण करनेवालों को शील कहते हैं । यदि शील सहित और शीलरहित इन दोनों को भी निश्चितरूप से मरना पड़ता है तब तो शीलसहित रहते हुए ही मरना अच्छा है ।

यहाँ यह नियम क्यों किया है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

---

१. क वरं खु धीरेण । २. क 'भ्यां निश्चयेन मर्तव्यं वरं' ।

चिरउसिदबंभयारी पप्फोडेदूण सेसयं कम्मं ।
अणुपुव्वीय विसुद्धो सुद्धो सिद्धिं गदिं जादि ॥१०२॥

चिरउसिद—चिरं बहुकालं उषितः स्थितः। बंभयारी—ब्रह्म मैथुनानभिलापं चरति सेवत इति ब्रह्मचारी चिरोषितश्च स ब्रह्मचारी च चिरोषितब्रह्मचारी। अथवा चिरोषितं ब्रह्म चरतीति। पप्फोडेदूण—प्रस्फोट्य निराकृत्य। सेसयं कम्मं—शेषं च कर्म ज्ञानावरणादि। अणुपुव्वीय—आनुपूर्व्या च क्रमपरिपाट्या अथवायुःक्षयाद्गुणस्थानक्रमेण वा। विसुद्धो—विशुद्धः कर्मकलंकरहितः। सुद्धो—शुद्धः केवलज्ञानादियुक्तः। सिद्धिं गदिं जादि—सिद्धिं गतिं याति मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः। अभग्नब्रह्मचारी शेषकं कर्म प्रस्फोट्य, असंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरया च विशुद्धः संजातस्ततः शुद्धो भूत्वा सिद्धिं गतिं याति। अथवा अपूर्वापूर्वपरिणामसन्तत्या च विशुद्धः शुद्धः केवलोपेतः केवलज्ञानं प्राप्य परमस्थानं गच्छतीति ॥१०२॥

अथ आराधनोपायः कथितः, आराधकश्च किं विशिष्टो भवतीत्याह—

गाथार्थ—चिरकाल तक ब्रह्मचर्य का उपासक साधु शेष कर्म को दूर करके क्रम-क्रम से विशुद्ध होता हुआ शुद्ध होकर सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है ॥१०२॥

आचारवृत्ति—जो बहुत काल तक मैथुन की अभिलाषा के त्यागरूप ब्रह्मचर्य में स्थित रहे हैं। अथवा जिन्होंने चिरकाल तक ब्रह्म—आत्मा का आचरण—सेवन किया है। वे चिरकालीन ब्रह्मचारी साधु ज्ञानावरण आदि शेष कर्मों का प्रस्फोटन करके क्रम की परिपाटी अथवा आयु के क्षय से या गुणस्थानों के क्रम से विशुद्धि को वृद्धिगत करते हुए—कर्मकलंक रहित होते हुए केवलज्ञान आदि गुणों से युक्त होकर पूर्ण शुद्ध हो जाते हैं। पुनः मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। अथवा जिनका ब्रह्मचर्य कभी भंग नहीं हुआ है ऐसे अखण्ड ब्रह्मचारी महासाधु उसके अनन्तर बचे हुए शेष कर्मों को दूर करके पुनः असंख्यातगुण श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होने से विशुद्ध हो जाते हैं। पुनः पूर्ण शुद्ध होकर सिद्धगति को प्राप्त कर लेते हैं। अथवा अपूर्व-अपूर्व परिणामों की सन्तति-परम्परा से विशुद्धि को प्राप्त होते हुए पूर्ण शुद्ध होकर केवलज्ञान को प्राप्त करके परमस्थान प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—वह क्षपक दीर्घकाल तक अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन करने से स्वयं बहुत से कर्मों की संवर निर्जरा कर चुका है। अनन्तर इस समय बचे हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों का नाश करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है अर्थात् यदि वह क्षपक चरम शरीरी है तो वह उसी भव में श्रेणी पर आरोहण कर अपूर्वकरण गुणस्थान में अपूर्व-अपूर्व परिणामों को प्राप्त करके आगे असंख्यात गुणित रूप से कर्मों की निर्जरा करता हुआ केवली होकर फिर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि आयु के क्षय के साथ-साथ शेष अघाति को भी समाप्त कर देता है।

यहाँ तक आराधना के उपाय कहे गये हैं, अब आराधक कैसा होता है, सो बताते हैं—

णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो।
अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ ॥१०३॥

णिम्ममो—निर्ममः निर्मोहः। **णिरहंकारो**—अहंकारान्निर्गतः गर्वरहितः। **णिक्कसाओ**—निष्कषायः क्रोधादिरहितः। **जिदिंदिओ**—जितेन्द्रियः नियमितपंचेन्द्रियः। **धीरो**—धीरः सत्त्ववीर्यसम्पन्नः। **अणिदाणो**—अनिदानः अनाकांक्षः। **दिट्ठिसंपण्णो**—दृष्टिसम्पन्नः[1] सम्यग्दर्शनसंप्राप्तः। **मरंतो**—म्रियमाणः। **आराहओ**—आराधकः। **होइ**—भवति। निर्मोहो निर्गर्वः निःक्रोधादिर्जितेन्द्रियो धीरोऽनिदानो दृष्टिसंपन्नो म्रियमाण आराधको भवतीति ॥१०३॥

कुत एतदित्याह—

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०४॥

णिक्कसायस्स—निष्कषायस्य कषायरहितस्य। **दंतस्स**—दान्तस्य दान्तेन्द्रियस्य। **सूरस्स**—शूरस्याकातरस्य। **ववसाइणो**—व्यवसायो विद्यतेऽस्येति व्यवसायी तस्य चारित्रानुष्ठानपरस्य। **संसारभयभीदस्स**—संसारभयभीतस्य संसाराद्भयं तस्माद्भीतस्त्रस्तः संसारभयभीतः तस्य ज्ञातचतुर्गतिदुःखस्वरूपस्य। **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यानं आराधना। **सुहं**—सुखं सुखनिमित्तं। **हवे**—भवेत्। यतो निष्कषायस्य, दान्तस्य, शूरस्य, व्यवसायिनः, संसारभयभीतस्य, प्रत्याख्यानं सुखनिमित्तं भवेत्ततः तथाभूतो म्रियमाण आराधको भवतीति सम्बन्धः ॥ ०४॥

गाथार्थ—जो ममत्वरहित, अहंकाररहित, कषायरहित, जितेन्द्रिय, धीर, निदानरहित और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह मरण करता हुआ आराधक होता है ॥१०३॥

आचारवृत्ति—जो निर्मोह हैं, गर्व रहित हैं, क्रोधादि कषायों से रहित हैं, पंचेन्द्रिय को नियन्त्रित कर चुके हैं, सत्त्व और वीर्य से सम्पन्न होने से धीर हैं, सांसारिक सुखों की आकांक्षा से रहित हैं और सम्यग्दर्शन से सहित हैं वे मरण करते हुए आराधक माने गये हैं।

ऐसा क्यों? इसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जो कषाय रहित है, इन्द्रियों का दमन करनेवाला है, शूर है, पुरुषार्थी है और संसार से भयभीत है उसके सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है ॥१०४॥

आचारवृत्ति—जो कषाय रहित हैं अर्थात् जिनकी संज्वलन कषायें भी मन्द हैं, जो इन्द्रियों के निग्रह में कुशल हैं, शूर हैं अर्थात् कायर नहीं हैं, व्यवसाय जिनके हैं वे व्यवसायी हैं अर्थात् चारित्र के अनुष्ठान में तत्पर हैं, चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों का स्वरूप जानकर जो उससे त्रस्त हो चुके हैं ऐसे साधु के प्रत्याख्यान—मरण के समय शरीर-आहार आदि का त्याग सुखपूर्वक अथवा सुखनिमित्तक होता है। इसी हेतु से वे साधु सल्लेखना-मरण करते हुए आराधक हो जाते हैं।

---

१. क दृष्टि सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संप्राप्तः।

उपसंहारद्वारेणाराधनाफलमाह—

एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि।
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥१०५॥

एदं—एतत्। पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यानं। जो काहदि—यः कुर्यात्। मरणदेसयालम्मि—मरणदेशकाले। धीरो—धैर्योपेतः। अमूढसण्णो—अमूढसंज्ञः आहारादिसंज्ञास्वलुब्धः। सो—सः। गच्छदि—गच्छति। उत्तमं ठाणं—उत्तमं स्थानं निर्वाणमित्यर्थः। मरणदेशकाले एतत्प्रत्याख्यानं यः कुर्यात् धीरोऽमूढसंज्ञश्च स गच्छत्युत्तमं स्थानमिति ॥१०५॥

अवसानमंगलार्थं क्षपकसमाध्यर्थं चाह—

वीरो जरमरणरिऊ वीरो विण्णाणणाणसंपण्णो।
लोगस्सुज्जोययरो जिणवरचंदो दिसदु बोधिं ॥१०६॥

वीरो—वर्धमानभट्टारकः। जरमरणरिऊ—जरामरणरिपुः। विण्णाणणाणसंपण्णो—विज्ञानं चारित्रं, ज्ञानमवबोधस्ताभ्यां सम्पन्नो युक्तः। वीरो—वीरः। लोगस्स—लोकस्य भव्यजनस्य पदार्थानां वा। उज्जोययरो—उद्योतकरः प्रकाशकरः। जिणवरचंदो—जिनवरचन्द्रः। दिसदु—दिशतु ददातु। बोधिं—समाधिं सम्यक्त्वपूर्वकाचरणं वा। जिनवरचन्द्रो जरामरणशत्रुः चारित्रज्ञानादिसंयुक्तो लोकस्य चोद्योतकरो वीरो मह्यं दिशतु बोधिमिति सम्बन्धः ॥१०६॥

किंचिदपि निदानं न कर्तव्यं, कर्तव्यं चेत्याह—

अब उपसंहार द्वारा आराधना का फल कहते हैं—

गाथार्थ—जो धीर और संज्ञाओं में मूढ़ न होता हुआ साधु मरण के समय इस उपयुक्त प्रत्याख्यान को करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥१०५॥

आचारवृत्ति—धैर्यवान्, आहार, भय आदि संज्ञाओं में लम्पटता रहित जो साधु मरण के समय उपर्युक्त प्रत्याख्यान को करते हैं वे उत्तम अर्थात् निर्वाण स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

अब अन्तिम मंगल और क्षपक की समाधि के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—वीर भगवान् जरा और मरण के रिपु हैं, वीर भगवान् विज्ञान और ज्ञान से सम्पन्न हैं, लोक के उद्योत करनेवाले हैं। ऐसे जिनवर चन्द्र—वीर भगवान् मुझे बोधि प्रदान करें ॥१०६॥

आचारवृत्ति—विज्ञान को चारित्र और ज्ञान को बोध कहा है। अर्थात् विशेष ज्ञान भेद विज्ञान है। वह सराग और वीतराग चारित्रपूर्वक होता है अतः जो यथाख्यात चारित्र और केवलज्ञान आदि से परिपूर्ण हैं, जरा और मरण को नष्ट करनेवाले हैं, लोक अर्थात् भव्य जीव के लिए प्रकाश करनेवाले हैं अथवा पदार्थों के प्रकाशक हैं ऐसे वर्धमान भगवान् मुझे बोधि-समाधि अथवा सम्यक् सहित आचरण को प्रदान करें।

क्या किंचित् भी निदान नहीं करना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि कुछ निदान कर भी सकते हैं—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा॥१०७॥

जा गदी—या गतिः। अरहंताणं—अर्हतां। णिट्ठिदट्ठाणं च—निष्ठितार्थानां च या गतिः सिद्धानामित्यर्थः। जा गदी—या गतिः। वीदमोहाणं—वीतमोहानां क्षीणकपायाणां। सा मे भवदु—सा मे भवतु। सस्सदा—शश्वत् सर्वदा। अर्हतां या गतिः, या च निष्ठितार्थानां वीतमोहानां च या, सा मे भवतु सर्वदा नान्यत् किंचिद्याचेऽहमिति। नात्र पुनरुक्तादयो दोपाः पर्यायाथिकशिष्यप्रतिपादनात् तत्कालयोग्यकथनाच्च। नापि विभक्त्यादीनां व्यत्ययः प्राकृतलक्षणेन सिद्धत्वात्। छन्दोभंगोऽपि न चात्र गाथाविगाथाश्लोकादिसंग्रहात्, तेषां चात्र प्रपंचो न कृतः ग्रन्थबाहुल्यभयात् संक्षेपेणार्थकथनाच्चेति॥१०७॥

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां द्वितीयः परिच्छेदः।

गाथार्थ—अर्हन्त देव की जो गति हुई है और कृतकृत्य—सिद्धों की जो गति हुई है तथा मोहरहित जीवों की जो गति हुई है वही गति सदा के लिए मेरी होवे॥१०७॥

आचारवृत्ति—हे भगवन्, जो गति अर्हन्तों की, सिद्धों की और क्षीणकपायी जीवों की होती है वही गति मेरी हमेशा होवे, और मैं कुछ भी आपसे नहीं माँगता हूँ।

इस अधिकार में पुनरुक्ति आदि दोष नहीं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यों को समझाने के लिए और तत्काल—उसकाल के योग्य कथन को कहने के लिए ही पुनः पुनः एक बात कही गयी है। विभक्ति आदि का विपर्यय भी इसमें नहीं लेना क्योंकि प्राकृत व्याकरण से ये पद सिद्ध हो जाते हैं। छंदभंग दोष भी यहाँ नहीं समझना क्योंकि गाथा, विगाथा और श्लोक आदि का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ के विस्तृत हो जाने के भय से और संक्षेप से ही अर्थ को कहने की भावना होने से यहाँ इन गाथाओं के अर्थ का अधिक विस्तार से विवेचन नहीं किया गया है। अर्थात् मैंने (टीकाकार वसुनन्दि ने) टीका में मात्र उन्हीं शब्दों का ही अर्थ खोला है किन्तु विशेष अर्थ का विवेचन नहीं किया है अन्यथा ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाता। और दूसरी बात यह भी है कि हमें संक्षेप से ही अर्थ कहना था।

इस प्रकार श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार की श्री वसुनन्दि
आचार्य द्वारा विरचित 'आचारवृत्ति' नामक टीका में
द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

३. अथ संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकारः

बृहत्प्रत्याख्यानं व्याख्यातमिदानीं यदि भृशमाकस्मिकं सिंहव्याघ्राग्निव्याध्यादिनिमित्तं मरणमुपस्थितं स्यात् तत्र कस्मिन् ग्रन्थे भावना क्रियते इति पृष्टे तदवस्थायां यद्योग्यं संक्षेपतरं प्रत्याख्यानं तदर्थं तृतीयमधिकारमाह—

एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥१०८॥

एस—एष आत्मनः प्रत्यक्षवचनमेतत् एषोऽहं अतिसंक्षेपरूपप्रत्याख्यानकथनोद्यतः एवं च कृत्वा नात्र संग्रहवाक्यं कृतं सामर्थ्यलब्धत्वात् तस्येति। करेमि—करोमि कुर्वे वा। पणामं—प्रणामं स्तुतिं। जिणवरवसहस्स—जिनानां वराः प्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तास्तेषां वृषभः प्रधानः सयोगी अयोगी सिद्धो वा तस्य जिनवरवृषभस्य। वड्ढमाणस्स—वर्धमानस्य। सेसाणं च—शेषाणां च। जिणाणं—जिनानां सर्वेषां च। सगणगणधराणं च—सह गणेन यतिमुन्यृष्यनगारलक्षणेन वर्तते इति सगणास्ते च ते गणधराश्च सगणगणधराः तेषां च श्रीगौतमप्रभृतीनां च। सव्वेसिं—सर्वेषां। एषोऽहं ग्रन्थकरणाभिप्रायः, जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य शेषाणां च जिनानां च सर्वेषां च सगणगणधराणां च प्रणामं कुर्वे अथवा सगणगणधराणां जिनानां विशेषणं द्रष्टव्यमिति ॥१०८॥

बृहत्प्रत्याख्यान का व्याख्यान कर चुके हैं। अब यदि पुनः सिंह, व्याघ्र, अग्नि या रोग आदि के निमित्त से आकस्मिक मरण उपस्थित हो जाए तो उस समय किस ग्रन्थ में भावना करनी चाहिए? ऐसा शिष्य के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उस अवस्था में जो संक्षेपतर—संक्षेप से भी संक्षेप प्रत्याख्यान उचित है उसे बतलाने के लिए आचार्य तीसरा अधिकार कहते हैं—

गाथार्थ—यह मैं जिनवर में प्रधान ऐसे वर्धमान भगवान् को, शेष सभी तीर्थंकरों को और गणसहित सभी गणधर देवों को प्रणाम करता हूँ ॥१०८॥

आचारवृत्ति—यहाँ 'एषः' शब्द स्वयं को प्रत्यक्ष कहनेवाला है अर्थात् संक्षेप रूप से प्रत्याख्यान को कहने में उद्यत हुआ यह मैं—वट्टकेर आचार्य भगवान् महावीर आदि को नमस्कार करता हूँ। 'एषः' शब्द मात्र रख देने से यहाँ संग्रह वाक्य को नहीं लिया है क्योंकि वह अर्थापत्ति से ही आ जाता है। अर्थात् मैंने पहले बृहत्प्रत्याख्यान का निरूपण किया है सो ही मैं अब संक्षेप प्रत्याख्यान को कहूँगा ऐसा 'एषः' पद से जाना जाता है।

जिन—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि में जो वर—श्रेष्ठ हैं ऐसे प्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त मुनि होते हैं। अर्थात् छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनि जिनवर हैं

नमस्कारानन्तरमुररीकृतस्यार्थस्य प्रकटनार्थमाह—

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च।
सव्वमदत्तादाणं मेहूणपरिग्गहं चेव ॥१०६॥

प्रथमं तावत् व्रतशुद्धि करोमीति। सव्वं पाणारंभं—सर्वं निरवशेषं प्राणारम्भं हिंसां। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि त्यजामि। अलीयवयणं च—व्यलीकवचनं च मिथ्यावाद च। सव्वं—सर्वं। अदत्तादाणं—अदत्तादानं। मेहुण—मैथुनं। परिग्गहं चेव—परिग्रहं चैव। प्राणारम्भं, मिथ्यावचनं, अदत्तादानं, मैथुनपरिग्रहौ च प्रत्याख्यामीति ॥१०६॥

उनमें जो वृषभ—प्रधान हैं वे सयोग केवली, अयोग केवली अथवा सिद्ध परमेष्ठी जिनवर वृषभ कहलाते हैं। वर्धमान भगवान् जिनवर वृषभ हैं, शेष जिनों में तेईस तीर्थंकर अथवा समस्त अर्हन्त परमेष्ठी आ जाते हैं। ऋषि, मुनि, यति और अनगार इनके समूह का नाम गण है। गणों से सहित गणधरदेव सगण गणधर कहलाते हैं। अर्थात् श्री गौतमस्वामी आदि गणसहित गणधर हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ग्रन्थ के करने के अभिप्रायवाला यह मैं जिनवरों में प्रधान वर्धमान भगवान् को, शेष सभी जिनेश्वरों को और अपने-अपने गणसहित सभी गणधरों को प्रणाम करता हूँ। अथवा गण और गणधरों सहित सभी जिनेश्वरों को मैं नमस्कार करता हूँ—ऐसा भी अभिप्राय समझना चाहिए। इस अर्थ में 'सगण गणधर' यह विशेषण जिनेन्द्र का ही कर दिया गया है।

विशेषार्थ—'हरिवंशपुराण' में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों के गणों की संख्या पृथक्-पृथक् बतलायी गयी है। पुनः सभी संख्या जोड़कर ही भगवान् के समवसरण के मुनियों की संख्या निर्धारित की गयी है। यथा 'भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर थे। उनमें से प्रथम गणधर इन्द्रभूति पुनः द्वितीयादि गणधर अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, मांडव्य, मौर्यपुत्र, अकंपन, अचल, मेदार्य और प्रभास इन नाम वाले थे। इनमें से प्रारम्भ के पाँच गणधरों की गण अर्थात् शिष्य-संख्या, प्रत्येक की दो हजार एक सौ तीस, उसके आगे छठवें और सातवें गणधर की गणसंख्या प्रत्येक की चार सौ पच्चीस, तदनन्तर शेष चार गणधरों की गणसंख्या प्रत्येक की छह सौ पच्चीस, इस प्रकार ग्यारह गणधरों की शिष्य-संख्या चौदह हजार थी। इन चौदह हजार शिष्यों में से तीन सौ मुनि पूर्व के धारी, नौ सौ विक्रियाऋद्धि के धारक, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान के धारक, चार सौ परवादियों के जीतनेवाले वादी और नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे। इस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव भगवान् महावीर का, ग्यारह गणधरों से सहित चौदह हजार मुनियों का संघ नदियों के प्रवाह से सहित समुद्र के समान सुशोभित हो रहा था।' (हरिवंश पुराण, सर्ग ३, श्लोक ४१-५०)

नमस्कार के अनन्तर स्वीकृत किये अर्थ को प्रकट करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सम्पूर्ण प्राणिहिंसा को, असत्य वचन को, सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण और मैथुन तथा परिग्रह को भी मैं छोड़ता हूँ ॥१०६॥

टीका का अर्थ सरल है।

सामायिकव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झ ण केणइ।
आसाए वोसरित्ताणं समाधि पडिवज्जए ॥११०॥

सम्मं—समस्य भाव साम्यं। मे—मम। सव्वभूदेसु—सर्वभूतेषु निरवशेषजीवेषु। वेरं—वैरं। मज्झ—मम। ण केणइ—न केनापि। आसाए—आशा आकांक्षा:। वोसरित्ताणं—व्युत्सृज्य। समाहिं—समाधि शुभपरिणामं। पडिवज्जए—प्रतिपद्ये। यतः साम्यं मम सर्वभूतेषु वैरं मम न केनाप्यत आशा व्युत्सृज्य समाधि प्रतिपद्ये इति ॥११०॥

पुनरपि परिणामशुद्ध्यर्थमाह—

सव्वं आहारविहिं सण्णाओ आसए कसाए य।
सव्वं चेय ममत्तिं जहामि सव्वं खमावेमि ॥१११॥

सर्वमाहारविधि अशनपानादिकं संज्ञाश्चाहारादिका आशा इहलोकाद्याकांक्षाः कषायांश्च सर्व चैव ममत्वं जहामि त्यजामि सर्व जनं क्षामयामीति।

द्विविधप्रत्याख्यानार्थमाह—

एदम्हि देसयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं।
एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा हुज्ज ॥११२॥

एदम्हि—एतस्मिन्। देसयाले—देशकाले। उवक्कमो—उपक्रमः प्रवर्तनं अस्तित्वं। जीविदस्स—

सामायिकव्रत के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सभी प्राणियों में मेरा साम्यभाव है। किसी के साथ भी मेरा वैर नहीं है, मैं सम्पूर्ण आकांक्षाओं को छोड़कर शुभ परिणाम रूप समाधि को प्राप्त करता हूँ ॥११०॥

इसकी टीका सरल है।

पुनरपि परिणाम की शुद्धि के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—सर्व आहार विधि को, आहार आदि संज्ञाओं को, आकांक्षाओं और कषायों को तथा सम्पूर्ण ममत्व को भी मैं छोड़ता हूँ तथा सभी से क्षमा कराता हूँ ॥१११॥

आचारवृत्ति—अशन, पान आदि सम्पूर्ण आहारविधि को, आहार भय आदि संज्ञाओं को, इस लोक तथा पर लोक आदि की आकांक्षा रूप सभी आशाओं को, कषायों को और सम्पूर्ण ममत्व को मैं छोड़ता हूँ तथा सभी जनों से मैं क्षमा कराता हूँ।

दो प्रकार के प्रत्याख्यान बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा तो इस प्रत्याख्यान की समाप्ति करके मेरी पारणा होगी ॥११२॥

आचारवृत्ति—इस देश-काल में उपसर्ग के प्रसंग में यदि मेरा जीवन रहेगा तो

जीवितस्य । जइ मज्झं—यदि मम । एदं—एतत् । पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यानं । णित्थिण्णे—निस्तीर्णे समाप्ति गते । पारणा—आहारग्रहणं । हुज्ज—भवेत् । एतस्मिन् देशकाले सोपसर्गेऽभिप्रेते वा मध्ये यदि जीवितव्यं नास्ति चतुर्विधाहारस्यैतत्प्रत्याख्यानं मम भवेत् तस्मिंस्तु देशकाले निस्तीर्णे जीवितव्यस्योपक्रमे च सति पारणा भवेदिति सन्देहावस्थायामेतत् ।

निश्चयावस्थायां तु पुनरेतदित्याह—

सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामि पाणयं वज्ज ।
उवहिं च वोसरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं ॥११३॥

सव्वं—सर्वं निरवशेषं । आहारविहिं—भोजनविधिं । पच्चक्खामि—प्रत्याख्यामि । पाणयं वज्ज—पानकं वर्जयित्वा । उवहिं च—उपधिं च । वोसरामि य—व्युत्सृजामि च । दुविहं—द्विविधं बाह्याभ्यन्तरलक्षणं । तिविहेण—त्रिविधेन मनोवचनकायेन । सावज्जं—सावद्यं पापकारणं । पानकं वर्जयित्वा सर्वमाहारविधिं प्रत्याख्यामि, बाह्याभ्यन्तरोपधिं च व्युत्सृजामि द्विविधं त्रिविधेन सावद्यं च यदिति ॥११३॥

उत्तमार्थमाह—

जो कोइ मज्झ उवही सब्भंतरबाहिरो य हवे ।
आहारं च सरीरं जावज्जीवा य वोसरे ॥११४॥

जो कोइ—यः कश्चित् । मज्झ उवही—ममोपधिः परिग्रहः । सब्भंतरबाहिरो य—साभ्यन्तरबाह्यश्च । हवे—भवेत् । तं सर्वं । आहारं च—चतुर्विकल्पभोजनं शरीरं च । जावज्जीवा य—जीवं जीवितव्यमनतिक्रम्य यावज्जीवं यावच्छरीरे मम जीव इत्यर्थः । वोसरे—व्युत्सृजे । यः कश्चित् मम सबाह्याभ्यन्तरोपधिर्भवेत् तं आहारं शरीरं च यावज्जीवं व्युत्सृजेदित्यर्थः ॥११४॥

आगमस्य माहात्म्यं दृष्ट्वोत्पन्नहर्षो नमस्कारमाह—

मेरे यह चतुर्विध आहार का त्याग है और यदि उस देश काल में उपसर्ग आदि का निवारण हो जाने पर जीवन का अस्तित्व रहता है तो मैं आहार ग्रहण करूँगा। जीवित रहने का जब सन्देह रहता है तब साधु इस प्रकार से प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं।

और जब मरण होने का निश्चय हो जाता है तो पुनः क्या करना चाहिए ?—

गाथार्थ—पेय पदार्थ को छोड़कर सम्पूर्ण आहारविधि का मैं त्याग करता हूँ और मन-वचन-कायपूर्वक दोनों प्रकार की उपाधि का भी त्याग करता हूँ ॥११३॥

टीका-अर्थ सरल है।

अब उत्तमार्थ विधि को कहते हैं—

गाथार्थ—जो कुछ भी मेरा अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह है उसको तथा आहार और शरीर को मैं जीवनभर के लिए छोड़ता हूँ ॥११४॥

टीका-अर्थ सरल है।

अब आगम के माहात्म्य को देखकर हर्षित चित्त होते हुए नमस्कार करते हैं—

जम्मालीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं सव्वजीवसरणं णंददु जिणसासणं सुइरं ॥११५॥

जं—यत् । आलीणा—आलीना आश्रिताः । जीवाः—प्राणिनः । तरंति—प्लवंते पारं गच्छंति । संसारसायरं—संसरणं संसारः स एव सागरः समुद्रः संसारसागरस्तं । अणंतं—न विद्यतेऽन्तो यस्यासौ अनन्तस्तं अपर्यन्तं । तं—तत् । सव्वजीवसरणं—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवास्तेषां शरणं सर्वजीवशरणं । णंददु—नन्दतु वृद्धिं गच्छतु । जिणसासणं—जिनशासनं । सुइरं—सुचिरं सर्वकालं । यज्जिनशासनमाश्रिताः जीवाः संसारसागरं तरन्ति तत्सर्वजीवशरणं नन्दतु सर्वकालं, यदनुष्ठानान्मुक्तिर्भवति तस्यैव नमस्कारकरणं योग्यमिति ॥११५॥

आराधनाफलार्थमाह—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी ।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा[1] ॥११६॥

व्याख्यातार्था गाथेयं । अर्हतां च या गतिः निष्ठितार्थानां वीतमोहानां च या गतिः सा मे भवतु सर्वदा नान्यद्याचेऽहमिति ।

सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा, चतुर्विधाहारं च परित्यज्य जिनं हृदये कृत्वा किमर्थं म्रियते चेदतः प्राह—

एगं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाणि बहुगाणि ॥
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥११७॥

गाथार्थ—जिसका आश्रय लेकर जीव अनन्त संसार-समुद्र को पार कर लेते हैं, सभी जीवों का शरणभूत वह जिन शासन चिरकाल तक वृद्धिगत होवे ॥११५॥

आचारवृत्ति—संसरण का नाम संसार है। वह संसार ही एक समुद्र है और उसका अन्त—पार न होने से वह अनन्त है अर्थात् सर्वज्ञ देव के केवलज्ञान का ही विषय है। जिस जिन-शासन के आश्रय लेनेवाले जीव ऐसे अनन्त संसार-समुद्र को भी पार कर जाते हैं वह सभी जीवों को शरण देनेवाला जिनेन्द्रदेव का शासन हमेशा वृद्धि को प्राप्त होता रहे। अर्थात् जिसके अनुष्ठान से मुक्ति होती है उसीको नमस्कार करना योग्य है ऐसा यहाँ अभिप्राय है।

अब आराधना का फल बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—अर्हन्तों की जो गति है और सिद्धों की जो गति है तथा वीतमोह जीवों की जो गति है वही गति मेरी सदा होवे ॥११६॥

सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके तथा चार प्रकार के आहार को भी छोड़कर जिनेन्द्रदेव को हृदय में धारण करके ही क्यों मरण करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक ही पण्डितमरण बहुविध सौ-सौ जन्मों को समाप्त कर देता है।

---

१. यह गाथा इसी ग्रन्थ में क्रमांक १०७ पर आ चुकी है।

इयं[1] च व्याख्यातार्था गाथेति। यतः एकं पंडितमरणं जातिशतानि बहूनि छिनत्ति येन च मरणेन न पुनर्म्रियते किन्तु सुमृतं भवति पुनर्नोत्पद्यते तन्मरणमनुष्ठेयमिति।

मरणकाले समाधानार्थमाह—

[2]एगम्हि य भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ॥११८॥

एकस्मिन् भवग्रहणे समाधिमरणं यदि लभते जीवस्ततः सप्ताष्टभवग्रहणेषु व्यतीतेषु निश्चयेन निर्वाणमनुत्तरं लभते यतस्ततः समाधिमरणमनुष्ठीयते इति। शरीरे सति जन्मादीनि दुःखानि यतस्ततः सुमरणेन शरीरत्यागः कर्तव्यः।

कानि जन्मादीनि दुःखानीत्याह—

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्तिं सरीरादो ॥११९॥

मरणसमं—मृत्युसदृशं भयं जीवस्य नान्यत्, जन्मनोत्पत्त्या समकं च दुःखं च न विद्यते। यतोऽतो

इसलिए ऐसा मरण प्राप्त करना चाहिए जिससे मरण सुमरण हो जावे ॥११७॥

आचारवृत्ति—इस गाथा का अर्थ पहले किया जा चुका है। जिस कारण एक पण्डित-मरण अनेक प्रकार के सैकड़ों भवों को नष्ट कर देता है और जिस मरण के द्वारा मरण प्राप्त करने से पुनः मरण नहीं होता है किन्तु सुमरण हो जाता है अर्थात् पुनः जन्म ही नहीं होता है उस पण्डितमरण का ही अनुष्ठान करना चाहिए।

मरणकाल में समाधानी करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—यदि जीव एक भव में समाधिमरण को प्राप्त कर लेता है तो वह सात या आठ भव लेकर पुनः सर्वश्रेष्ठ निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ॥११८॥

आचारवृत्ति—एक भव में समाधिमरण के लाभ से यह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव में नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए समाधिमरण का अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि शरीर के होने पर ही जन्म आदि दुःख होते हैं इसीलिए सुमरण से ही शरीर का त्याग करना चाहिए।

जन्म आदि दुःख क्या हैं? सो बताते हैं—

गाथार्थ—मरण के समान अन्य कोई भय नहीं है और जन्म के समान अन्य कोई दुःख नहीं है अतः जन्म-मरण के कष्ट में निमित्त ऐसे शरीर के ममत्व को छोड़ो ॥११९॥

आचारवृत्ति—इस जीव के लिए मरण के सदृश तो कोई भयकारी नहीं है, और जन्म लेते समय के सदृश अन्य कोई दुःख नहीं है। इसीलिए जन्म तथा मरण के आतंक का छेदन

---

1. यह गाथा इसी ग्रन्थ में क्रमांक ७७ पर आ चुकी है।
2. देखें गाथा ६७

जन्ममरणान्तकं। छिंदि—विदारय। शरीरतश्च ममत्वं छिंधि। शरीरे सति यतः सर्वमेतदिति।

त्रीणि प्रतिक्रमणानि आराधनायामुक्तानि तान्यत्रापि संक्षिप्ते काले सम्भवन्तीत्याह—

पढमं सव्वदिचारं विदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च ॥१२०॥

क्रमप्रतिपादनार्थं चैतत्। पढमं—प्रथमं। सव्वदिचारं—सर्वातिचारस्य तपःकालमाश्रित्य दोषविधानस्य। विदियं—द्वितीयं। तिविहं—त्रिविधाहारस्य। भवे—भवेत्। पडिक्कमणं—प्रतिक्रमणं। परिहरणं। पाणस्स—पानकस्य। परिच्चयणं—परित्यजनं। जावज्जीवाय—यावज्जीवं। उत्तमट्ठं च—उत्तमार्थं च तन्मोक्षनिमित्तमित्यर्थः। प्रथमं तावत्सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणं, द्वितीयं प्रतिक्रमणं त्रिविधाहारस्य, तृतीयमुत्तमार्थं पानकस्य परित्यजनं यावज्जीवं चेति तस्मिन् काले त्रिविधं प्रतिक्रमणमेव न केवलं किन्तु योगेन्द्रिय-

---

करो और शरीर-ममत्व को भी छोड़ो, क्योंकि शरीर के होने पर ही ये सब जन्म-मरण आदि दुःख हैं।

*आराधना में तीन ही प्रतिक्रमण कहे गये हैं। अकस्मात् होनेवाले मरण के समय सम्भव उन्हीं को यहाँ पर भी संक्षिप्त से कहते हैं—

गाथार्थ—पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। दूसरा त्रिविध आहारत्याग प्रतिक्रमण है। यावज्जीवन पानक आहार का त्यागना यह उत्तमार्थ नाम का तीसरा प्रतिक्रमण होता है ॥१२०॥

आचारवृत्ति—क्रम को बतलाने के लिए यह गाथा है। दीक्षाकाल का आश्रय लेकर आज तक जो भी दोष हुए हैं उन्हें सर्वातिचार कहा गया है। सल्लेखना ग्रहण करके यह क्षपक पहले सर्वातिचार प्रतिक्रमण करता है। पुनः तीन प्रकार के आहार का त्याग करना द्वितीय प्रतिक्रमण है और अन्त में यावज्जीवन मोक्ष के लिए पानक वस्तु का भी त्याग कर देना सो उत्तमार्थ नामक तृतीय प्रतिक्रमण कहलाता है।

अर्थात् प्रथम सर्वातिचार प्रतिक्रमण, द्वितीय त्रिविधाहार का प्रतिक्रमण और तृतीय

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित गाथा अधिक है—

सव्वो गुणगणणिलओ मोक्खसुहे सिग्घ हेदु।
सव्वो चाउव्वण्णो ममावराधं···॥५॥

अर्थ—जब यह आत्मा सर्वगुणों का घर हो जाता है तब यह शीघ्र ही मोक्षसुख का हेतु हो जाता है, उसे रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है। यह चतुर्वर्ण संघ मेरे आज तक हुए अपराधों को क्षमा करे ऐसी प्रार्थना करता है।

नोट—फलटन से प्रकाशित मूलाचार के हिन्दीकार पं० जिनदास फडकुले लिखते हैं : हमें जो हस्तलिखित प्रति मिली है उसमें इस गाथा का 'सव्वो गुणगणणिलओ' इतना ही भाग दिया गया है। परन्तु कन्नड़-टीका में जो और भी गाथा के पद लिखे हैं उनको जोड़कर गाथा पूर्ण करने का प्रयत्न यद्यपि किया है तो भी गाथा उसके लक्षण के अनुसार नहीं हुई है।

शरीरकषायाणां च। तत्र त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो योगप्रतिक्रमणं, पंचेन्द्रियाणां च निग्रह इन्द्रियप्रतिक्रमणं, पंचविधस्य च शरीरस्य च त्यागः कृशता वा शरीरप्रतिक्रमणं, षोडशविधकषायस्य नवविधस्य च नोकषायस्य निग्रहः कृशता कषायप्रतिक्रमणं, हस्तपादानां च ॥१२०॥

ननु कषायशरीरसल्लेखना आराधनायां आगमे कथिता, एतेषां पुनर्योगेन्द्रियहस्तपादानां न श्रुता, नैतत्, एतेषां चागमेऽस्तीत्याह—

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए ॥१२१॥

पंचानामपि इन्द्रियाणां मुण्डनं खण्डनं स्वविषयव्यापारान्निवर्तनं। वचिमुण्डा—वचनस्याप्रस्तुतप्रलापस्य खण्डनं। हस्तपादमनसां चाऽसंस्तुतसंकोचप्रसारणचिन्तननिवर्तनं ततः शरीरस्य च मुण्डनं एते दश

यावज्जीवन पानक के त्याग रूप उत्तमार्थ प्रतिक्रमण, ये तीन प्रतिक्रमण ही केवल नहीं हैं किन्तु योग, इन्द्रिय, शरीर और कषायों के प्रतिक्रमण भी होते हैं। उनमें से तीन प्रकार के योगों का निग्रह करना योग प्रतिक्रमण है, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना इन्द्रिय प्रतिक्रमण है, पाँच प्रकार के शरीर का त्याग करना अथवा उन्हें कृश करना शरीर प्रतिक्रमण है, सोलह भेद रूप कषायों और नव नोकषायों का निग्रह करना—उन्हें कृश करना यह कषाय प्रतिक्रमण है। हाथ-पैरों का भी प्रतिक्रमण होता है।

भावार्थ—सल्लेखना करने वाले क्षपक के लिए उपर्युक्त तीन प्रतिक्रमण तो हैं ही, किन्तु योग इन्द्रिय आदि का निग्रह करना और हाथ-पैरों को उनकी चेष्टाएँ रोककर स्थिर करना ये सब प्रतिक्रमण ही हैं।

आगम में, आराधना में कषाय सल्लेखना और काय सल्लेखना का वर्णन किया है किन्तु इन योग, इन्द्रिय और हस्त-पाद आदि का प्रतिक्रमण तो मैंने नहीं सुना है, शिष्य के द्वारा ऐसी आशंका उठाने पर आचार्य कहते हैं—ऐसी बात नहीं है। इन योग, इन्द्रिय आदि के प्रतिक्रमण का वर्णन भी आगम में है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—पाँच इन्द्रियमुण्डन, वचनमुण्डन, और शरीरमुण्डन से सहित हस्त, पाद एवं मनोमुण्डन ऐसे दश मुण्डन आगम में कहे गये है ॥१२१॥

आचारवृत्ति—पाँचों ही इन्द्रियों का मुण्डन करना—खंडन करना अर्थात् अपने विषयों के व्यापार से उन्हें अलग करना ये पाँच इन्द्रियमुण्डन हैं। अप्रासंगिक प्रलापरूप वचन का खण्डन करना या रोकना वचनमुण्डन है। हस्त और पाद का अप्रशस्त रूप से संकोचन नहीं करना और न फैलाना ये हस्तमुण्डन और पादमुण्डन हैं तथा मन को अप्रशस्त चिन्तन से रोकना यह मनोमुण्डन है। ऐसे ही शरीर का मुण्डन है। मुण्डन के ये दश भेद आगम में कहे गये हैं। इनका व्याख्यान हमने अपनी बुद्धि से नहीं किया है ऐसा समझना। अथवा इन दश मुण्डनों से मुण्डधारी मुण्डित कहलाते हैं, न कि अन्य सदोष प्रवृत्तियों से।

भावार्थ—शिर को मुण्डा लेने या केशलोच कर लेने मात्र से ही कोई मुण्डित नहीं हो

मुण्डाः समये वर्णिता यतोऽतो न स्वमनीषया व्याख्यानमेतदिति। अथवा एतैर्मुण्डैर्मुण्डधारी भवति नान्यैः साव-द्यैरिति।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

जाते हैं जब तक कि इन दश प्रकार के मुण्डन से सहित नहीं हैं ऐसा अभिप्राय है। इसलिए इन्द्रियों का नियन्त्रण और हाथ-पैर तथा शरीर की अप्रशस्त क्रियाओं का रोकना एवं मन में अशुभ परिणामों का नहीं होने देना ये सब संयम शिरोमुण्डन के साथ-साथ ही आवश्यक हैं।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार ग्रन्थ की श्री वसुनन्दि आचार्य कृत 'आचारवृत्ति' नामक टीका में तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

४. सामाचाराधिकारः

एवं संक्षेपस्वरूपं प्रत्याख्यानमासन्नतममृत्योर्व्याख्याय यस्य पुनः सत्यायुषि निरतिचारं मूलगुणा निर्वहंति तस्य कथं प्रवृत्तिरिति पृष्टे तदर्थं चतुर्थमधिकारं सामाचाराख्यं नमस्कारपूर्वकमाह—

तेलोक्कपूयणीए अरहंते वंदिऊण तिविहेण।
वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीयं ॥१२२॥

तेलोक्कपूयणीए—त्रयाणां लोकानां भवनवासिमनुष्यदेवानां पूजनीया वन्दनीयास्त्रिलोकपूजनीयास्तान् त्रिकालग्रहणार्थमनीयेन निर्देशः। **अरहंते**—अर्हतः घातिचतुष्टयजेतॄन्। **वंदिऊण**—वन्दित्वा। **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायैः। **वोच्छं**—वक्ष्ये। **सामाचारं**—मूलगुणानुरूपमाचारं। **समासदो**—समासतः संक्षेपेण 'कायाः' तस्। **आणुपुव्वीयं**—आनुपूर्व्या अनुक्रमेण। त्रिविधं व्याख्यानं भवति पूर्वानुपूर्व्या, पश्चादानुपूर्व्या यत्र तत्रानुपूर्व्या च। तत्र पूर्वानुपूर्व्या ख्यापनार्थमानुपूर्वीग्रहणं क्षणिकनित्यपक्षनिराकरणार्थं च। मत्वान्तेन

जिनकी मृत्यु अति निकट है ऐसे साधु के लिए संक्षेपस्वरूप प्रत्याख्यान का व्याख्यान करके अब जिनकी आयु अधिक अवशेष है, जो निरतिचार मूलगुणों का निर्वाह करते हैं, उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है? पुनः ऐसा प्रश्न करने पर उस प्रवृत्ति को बताने के लिए श्री वट्टकेर आचार्य सामाचार नाम के चतुर्थ अधिकार को नमस्कारपूर्वक कहते हैं—

गाथार्थ—तीन लोक में पूज्य अर्हन्त भगवान् को मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करके अनुक्रम से संक्षेपरूप में सामाचार को कहूँगा ॥१२२॥

आचारवृत्ति—अधोलोक सम्बन्धी भवनवासी देव, मध्यलोक सम्बन्धी मनुष्य और ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी देव इन तीनों लोक सम्बन्धी जीवों से पूजनीय—वन्दनीय भगवान् त्रिलोक-पूजनीय कहे गये हैं। यहाँ पर त्रिकाल को ग्रहण करने के लिए अनीय प्रत्यान्त पद लिया है अर्थात् पूज् धातु में अनीय प्रत्यय लगाकर प्रयोग किया है। घाती चतुष्टय के जीतने वाले अर्हन्त देव हैं ऐसे त्रिलोकपूज्य अर्हन्त देव को मन-वचन-काय से नमस्कार करके मैं मूलगुणों के अनुरूप आचार रूप सामाचार को अनुक्रम से संक्षेप में कहूँगा। आनुपूर्वी अर्थात् अनुक्रम को तीन प्रकार से माना गया है—पूर्वानुपूर्वी, पश्चात् आनुपूर्वी और यत्रतत्रानुपूर्वी। अर्थात् जैसे चौबीस तीर्थंकरों में वृषभ आदि से नाम ग्रहण करना पूर्वानुपूर्वी है। वर्धमान, पार्श्वनाथ से नाम लेना पश्चात् आनुपूर्वी है और अभिनन्दन चन्द्रप्रभु आदि किसी का भी नाम लेकर कहीं से भी कहना यत्रतत्रानुपूर्वी है। यहाँ पर मूलाचार ग्रन्थ में पूर्वानुपूर्वी का प्रयोग है अर्थात् पहले मूलगुणों को बताकर पुनः प्रत्याख्यान संस्तर अधिकार के अनन्तर क्रम से अब सामाचार

नमस्कारकरणपूर्वकं प्रतिज्ञाकरणं। अर्हतस्त्रिलोकपूजनीयांस्त्रिविधेन वन्दित्वा समासादानुपूर्व्या सामाचारं वक्ष्ये इति।

सामाचारशब्दस्य निरुक्त्यर्थं संग्रहगाथासूत्रमाह—

समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो॥१२३॥

चतुर्भिरर्थैः सामाचारशब्दो व्युत्पाद्यते, तद्यथा—समदासामाचारो—समस्य भावः समता रागद्वेषाभावः स समाचारः अथवा त्रिकालदेववन्दना पंचनमस्कारपरिणामो वा समता, सामायिकव्रतं वा। सम्माचारो—सम्यक् शोभनं निरतिचारं, मूलगुणानुष्ठानमाचरणं समाचारः सम्यगाचारः अथवा सम्यगाचरणमवबोधो निर्दोषभिक्षाग्रहणं वा समाचारः, चरेर्भक्षणगत्यर्थत्वात्। समो व आचारो—समो वा आचारः पंचाचारः।

को बतलाते हैं, अथवा पूर्वाचार्य की परम्परा के अनुसार कथन करने को भी पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

तथा क्षणिक पक्ष और नित्य पक्ष का निराकण करने के लिए ही पूर्वानुपूर्वी का कथन है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक में पूर्वाचार्य परम्परा से कथन और सर्वथा नित्य पक्ष में भी पूर्वाचार्य परम्परा का कथन असम्भव है। अतः इन दोनों एकान्तों का निराकण करके अनेकान्त को स्थापित करने के लिए आचार्य ने आनुपूर्वी शब्द का प्रयोग किया है।

'वंदित्वा' इस पद में क्त्वा प्रत्यय होने से यह अर्थ होता है कि मैं नमस्कार करके अपने प्रतिपाद्य विषय की प्रतिज्ञा करता हूँ अर्थात् नमस्कार करके सामाचार को कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा आचार्य ने की है। तात्पर्य यह कि मैं त्रिभुवन से पूजनीय त्रिकालवर्ती समस्त अर्हन्तों को नमस्कार करके संक्षेप से गुरु परम्परा के अनुसार सामाचार को कहूँगा।

अब सामाचार शब्द के निरुक्ति अर्थ का संग्रह करनेवाला गाथासूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—समता सामाचार सम्यक् आचार अथवा सम आचार या सभी का समान आचार ये सामाचार शब्द के अर्थ हैं॥१२३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर चार प्रकार के अर्थों से सामाचार शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं।

१. समता समाचार—सम का भाव समता है—रागद्वेष का अभाव होना समता समाचार है। अथवा त्रिकाल देव वन्दना करना या पंच नमस्कार रूप परिणाम होना समता है, अथवा सामायिक व्रत को समता कहते हैं। ये सब समता समाचार हैं।

२. सम्यक् आचार—सम्यक् शोभन निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान अर्थात् आचरण आचार। अर्थात् निरतिचार मूलगुणों को पालना यह सम्यक् आचार रूप समाचार है। अथवा सम्यक् आचरण—ज्ञान अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना यह समाचार है। अर्थात् चर् धातु भक्षण करना और गमन करना इन दो अर्थ में मानी गयी है और गमन अर्थवाली सभी धातुएँ ज्ञान अर्थवाली भी होती हैं इस नियम से चर् धातु का एक बार ज्ञान अर्थ करना सब समीचीन जानना अर्थ विवक्षित हुआ। और, एक बार भक्षण अर्थ करने पर निर्दोष आहार

सव्वेसिं—सर्वेषां प्रमत्ताप्रमत्तादीनां सर्वेषां यतीनामाचारः। समो प्राणिवधादिभिर्यत्नोऽतः समाचारः। अथवा सम उपसमः क्रोधाद्यभावस्तेन परिणामेनाचरणं समाचारः। समशब्देन दशलाक्षणिकधर्मो गृह्यते स समाचारः। अथवा भिक्षाग्रहणदेववन्दनादिभिः सह योगः समाचारः। सम्माणं—सह मानेन परिणामेन वर्तते इति समानं सहस्य सः, समानं वा मानं, समानस्य सभावः। अथवा सर्वेषां समानः पूज्योऽभिप्रेतो वा आचारो यः स समाचारः। अथवा समदा सम्यक्त्वं, सम्माचारो—चारित्रं, समाणं—ज्ञानं, समो वा आचारो—तपः। एतेषां सर्वेषां योऽयं समाचारः ऐक्यं स समाचारः, आचारो वा समाचारः। यस्तु समाचारः स आचार एवेत्यविनाभावः। अथवा पञ्चभिरर्थैर्निर्देशः समदा समरसीभावः समयाचारो—स्वसमयव्यवस्थयाचारः, सम्माचारो—

लेना अर्थ हुआ इसलिए समीचीन ज्ञान और निर्दोष आहार ग्रहण को भी सम्यक् आचार रूप समाचार कहा है।

३. **सम आचार**—पाँच (महाव्रत) आचारों को सम आचार कहा है जो कि प्रमत्त, अप्रमत्त आदि सभी मुनियों का आचार समान रूप होने से सम-आचार है। क्योंकि ये सभी मुनि प्राणिवध आदि के त्याग करने रूप व्रतों से समान हैं इसीलिए उनका आचार सम-आचार है। अथवा सम—उपशम अर्थात् क्रोधादि कषायों के अभावरूप परिणाम से सहित जो आचरण है वह समाचार है। अथवा सम शब्द से दशलक्षण धर्म को भी ग्रहण किया जाता है अतः इन क्षमादि धर्मों सहित जो आचार है वह समाचार है। अथवा आहार ग्रहण और देववन्दना आदि क्रियाओं में सभी साधुओं को सह अर्थात् साथ ही मिलकर आचरण करना समाचार है।

४. **समान आचार**—मान (परिणाम) के सह (साथ) जो रहता है वह समान है। यहाँ सह को स आदेश व्याकरण के नियम से सह मानं समान बना है। अथवा समान मान को समान कहते हैं यहाँ पर भी समान शब्द को व्याकरण से 'स' हो गया है अर्थात् समान आचार समाचार है। अथवा सभी का समान रूप से पूज्य या इष्ट जो आचार है वह समाचार है।

ये चार अर्थ समाचार के अलग-अलग निरुक्ति करके किये गये हैं अर्थात् प्रथम तो समता आचार से समाचार का अर्थ कई प्रकार से किया है, पुनः दूसरी व्युत्पत्ति में सम्यक् आचार से समाचार शब्द बनाकर उसके भी कई अर्थ विवक्षित किये हैं। तीसरी बार सम आचार से समाचार को सिद्ध करके कई अर्थ बताये हैं, पुनः समान आचार से समाचार शब्द बनाकर कई अर्थ दिखाये हैं।

अब पुनः सभी का समन्वय कर निरुक्ति पूर्वक अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं—यथा, समता—सम्यक्त्व, सम्यक् आचार—चारित्र, समान—ज्ञान (मान का अर्थ प्रमाण—ज्ञान होता है) और सम-आचार—तप, इन सभी का (चारों का) जो समाचार अर्थात् ऐक्य है वह समाचार है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की एकता का नाम समाचार है। अथवा आचार अर्थात् मुनियों के आचार—प्रवृत्ति को समाचार कहते हैं क्योंकि जो भी साधुओं का समाचार है वह आचार ही है अर्थात् आचार और समाचार में अविनाभावी सम्बन्ध है—एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो भी साधुओं का आचार है वह सब समाचार ही है।

अथवा पाँच अर्थों से समाचार का निर्देश करते हैं—समता समरसी भाव, समयाचार—

सम्यगाचारः, समो वा सहाचरणं। सः सव्वेसु—सर्वेसु क्षेत्रेषु समाणं—समाचारः। संक्षेपार्थं [1]समताचारः सम्यगाचारः, समो य आचारो वा सर्वेषां स समाचारो हानिवृद्धिरहितः, कायोत्सर्गादिभिः समानं मानं यस्याचारस्य स वा समाचार इति ॥१२३॥

अस्यैव समाचारस्य लक्षणभेदप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहो सामाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव।
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागीय ॥१२४॥

दुविहो—द्विविधः द्विप्रकारः। सामाचारो—सामाचारः सम्यगाचार एव समाचारः प्राकृतबलात्

स्वसमय अर्थात् जैन आगम की व्यवस्था के अनुरूप आचार, सम्यक् आचार—समीचीन आचार, सम-आचार—सभी साधुओं का साथ-साथ आचरण या क्रियाओं का करना, सभी में—सभी क्षेत्रों में समान—समाचार होना। अर्थात् गाथा से देखिए : समरसी भाव का होना (समदा), स्वसमय की व्यवस्था से आचरण करना (समयाचारो), समीचीन आचार होना (सम्माचारो), साथ आचरण करना (समोवा), सभी क्षेत्रों में समाचार—समान आचरण करना (सव्वेसु समाणं) ये पाँच अर्थ किये गये हैं। इसीको संक्षेप से समझने के लिए कहते हैं कि समताचार—समरसी भाव का होना, सम्यक् आचार—समीचीन आचार का होना, सम-आचार—सभी साधुओं का हानि-वृद्धिरहित समान आचरण होना, समान आचार—कायोत्सर्ग आदि से समान प्रमाण रूप है आचार जिसका वह भी, समाचार हैं।

भावार्थ—यहाँ पर मूल गाथा में समाचार शब्द के चार अर्थ प्रकट किये हैं। टीकाकार ने इन्हीं चार अर्थों को विशेष रूप से प्रस्फुट किया है। पुनः एक बार चारों अर्थसूचक शब्दों से चार आराधनाओं को लेकर उनकी एकता को समाचार कहा है और अनन्तर गाथा के 'समाचार' पद को भी लेकर पूर्वोक्त चार पदों के साथ मिलाकर समाचार के पाँच अर्थ भी किये हैं। इसके भी तात्पर्य को संक्षेप से स्पष्ट करते हुए उन्हीं चार अर्थों को थोड़े शब्दों में कहा है। सबका अभिप्राय यही है कि मुनियों की जो भी प्रवृत्तियाँ हैं वे सम्यक्पूर्वक होती हैं, आगम के अनुसार होती हैं, रागद्वेष के अभावरूप समता परिणाममय होती हैं और वे मुनि हमेशा संघ के गुरुओं के सान्निध्य में देववन्दना कायोत्सर्ग आदि को साथ-साथ करते हैं। तथा कायोत्सर्ग आदि में सभी के लिए उच्छ्वास आदि का प्रमाण भी समान ही बतलाया गया है जैसे दैवसिक प्रतिक्रमण में १०८ उच्छ्वास, रात्रिक में ५४ इत्यादि। अहोरात्र सम्बन्धी कायोत्सर्ग भी सभी के लिए २८ कहे गये हैं जिनका वर्णन आगे आवश्यक अधिकार में आयेगा। ये सभी क्रियाएँ जो साथ-साथ और समान रूप से की जाती हैं वह सब समाचार ही हैं।

अब इसी समाचार के लक्षण भेद बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—औघिक और पदविभागिक के भेद से समाचार दो प्रकार का है। औघिक समाचार दश प्रकार का है और पदविभागी समाचार अनेक प्रकार का कहा गया है ॥१२४॥

आचारवृत्ति—सम्यक् आचार ही सामाचार है। यहाँ प्राकृत व्याकरण के निमित्त से

---

१. क समता समाचारः।

दीर्घत्वमादेः। ओघोवि य—औघिकः सामान्यरूपः। पदविभागीओ—पदानां अर्थप्रतिपादकानां विभागो भेदः स विद्यते यस्यासौ पदविभागिकश्च। एवकारोऽवधारणार्थः। स सामाचारः औघिक-पदविभागिकाभ्यां द्विविध एव।

तयोर्भेदप्रतिपादनार्थमाह—दसहा—दशधा दशप्रकारः। ओघो—औघिकः। भणिओ—भणितः। अणेयधा—अनेकधाऽनेकप्रकारः। पदविभागी य—पदविभागी च। य औघिकः स दशप्रकारोऽनेकधा च पदविभागी ॥१२४॥

आद्यस्य ये दशप्रकारास्ते केऽतः प्राह—

इच्छा-मिच्छाकारो तधाकारो व आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणसणिमंतणा य उवसंपा ॥१२५॥

इच्छामिच्छाकारो—इच्छामभ्युपगमं करोतीति इच्छाकार आदरः, मिथ्या व्यलीकं करोतीति मिथ्याकारो विपरिणामस्य त्यागः, एकस्य कारशब्दस्य निवृत्तिः, समासान्तस्य वा[1] कृदुत्पत्तिः। तधाकारो य—तथाकारश्च सदर्थे प्रतिपादिते एवमेव वचनं। आसिया—आसिका आपृच्छ्य गमनं। णिसिही—निषेधिका परिपृच्छ्य प्रवेशनं। आपुच्छा—आपृच्छा स्वकार्यं प्रति गुर्वाद्यभिप्रायग्रहणं। पडिपुच्छा—प्रतिपृच्छा निषिद्धस्य अनिषिद्धस्य वा वस्तुनस्तद्ग्रहणं प्रति पुनः प्रश्नः। छंदण—छन्दनं छन्दानुवर्तित्वं यस्य गृहीतं किंचिदुपकरणं

दीर्घ हो गया है। अर्थात् समाचार को ही प्राकृत में सामाचार कहा है। सामान्य रूप समाचार औघिक है और अर्थप्रतिपादक पदों का विभाग-भेद, वह जिसमें पाया जाय वह पदविभागी समाचार है। गाथा में एवकार शब्द निश्चय के लिए है। अर्थात् वह समाचार औघिक—संक्षेप और पदविभागिक—विस्तार के भेद से दो प्रकार का ही है।

अब इन दोनों के भेद को बताते हैं—औघिक के दश भेद हैं तथा पदविभागी के अनेक भेद हैं।

औघिक समाचार के दश भेद कौन हैं? उन्हीं को बताते हैं—

गाथार्थ—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमन्त्रणा और उपसंपत् ये दश भेद औघिक समाचार के हैं ॥१२५॥

आचारवृत्ति—इच्छा—इष्ट या स्वीकृत को करना इच्छाकार है अर्थात् आदर करना। मिथ्या—असत्य करना मिथ्याकार है अर्थात् अशुभ-परिणाम का त्याग करना। यहाँ 'इच्छामिथ्याकारो' पद में प्रथम इच्छा शब्द के कार शब्द का व्याकरण के नियम से लोप हो गया है अथवा इच्छा और मिथ्या इन दो पद का समास करके पुनः कृदन्त के प्रत्यय का प्रयोग हुआ है यथा—'इच्छा च मिथ्या च इच्छामिथ्ये, इच्छामिथ्ये करोतीति इच्छामिथ्याकारः' ऐसा व्याकरण से सिद्ध हुआ पद है। सत् अर्थात् प्रशस्त अर्थ के प्रतिपादित किये जाने पर 'ऐसा ही है' इस प्रकार वचन बोलना तथाकार है। पूछकर गमन करना आसिका है और पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है। अपने कार्य के प्रति गुरु आदि का अभिप्राय लेना या पूछना आपृच्छा है। निषिद्ध

---

१. क वा सम्।

तदभिप्रायानुवर्तनं । सणिमंतणा य—सनिमंत्रणा च सत्कृत्य याचनं च। उपसंपा—उपसम्पत् आत्मनो निवेदनं। नायं पृच्छाशब्दोऽपशब्दः[1]। उत्सर्गापवादसमावेशात् । एतासामिच्छाकारमिथ्याकार-तथाकारासिका-निषेधिकापृच्छा-प्रतिपृच्छां-छन्दन-सनिमंत्रणोपसम्पदां को विषय इत्यत आह—गाथात्रयेण सम्बन्धः ॥१२५॥

> इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराहे।
> पडिसुणणह्मि तहत्तिय णिग्गमणे आसिया भणिया ॥१२६॥
> पविसंते य णिसीही आपुच्छणियासकज्ज आरंभे।
> [2]साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठह्मि पडिपुच्छा ॥१२७॥
> छंदणगहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमंतणा भणिदा ।
> तुह्यमहंतिगुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा ॥१२८॥

इट्ठे—इष्टे सम्यग्दर्शनादिके शुभपरिणामे वा । इच्छाकारो—इच्छाकारोऽभ्युपगमो हर्षं स्वेच्छया

अथवा अनिषिद्ध जो वस्तु हैं उनको ग्रहण करने के लिए पुनः पूछना प्रतिपृच्छा है। अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन है अर्थात् जिसका जो कुछ भी उपकरण आदि लिया है उसमें उसके अभिप्राय के अनुकूल प्रवर्तन—उपयोग करना छन्दन है। सत्कार करके याचना करना अर्थात् गुरु को आदरपूर्वक नमस्कार आदि करके उनसे किसी वस्तु या आज्ञा को माँगना सनिमन्त्रणा है और अपना निवेदन करना अर्थात् अपने को 'आपका ही हूँ' ऐसा कहना यह उपसंपत् है। यहाँ पर पृच्छा शब्द अपशब्द नहीं है क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद में उसका समावेश है।

भावार्थ—इन दशों का अतिसंक्षिप्त अर्थ यहाँ टीकाकार ने लिया है। आगे स्वयं ग्रन्थकार पहले नाम के अनुरूप अर्थ को बतलाते हुए तीन गाथाओं द्वारा इनका विषय बतलायेंगे, पुन. पृथक्-पृथक् गाथाओं द्वारा इन दसों का विवेचन करेंगे।

इन इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, संनिमन्त्रणा और उपसंपत् का विषय क्या है अर्थात् ये किस-किस विषय अथवा प्रसंग में किये जाते हैं? इस प्रकार प्रश्न होने पर आगे तीन गाथाओं से कहते हैं—

गाथार्थ—इष्ट विषय में इच्छाकार, उसी प्रकार अपराध में मिथ्याकार, प्रतिपादित के विषय में तथा 'ऐसा ही है' ऐसा कथन तथाकार और निकलने में आसिका का कथन किया गया है। प्रवेश करने में निषेधिका तथा अपने कार्य के आरम्भ में आपृच्छा करनी होती है। सहधर्मी साधु और गुरु से पूर्व में ली गई वस्तु को पुनः ग्रहण करने में प्रतिपृच्छा होती है ॥१२६-१२७॥

ग्रहण हुई वस्तु में उसकी अनुकूलता रखना छन्दन है। अगृहीत द्रव्य के विषय में याचना करना निमन्त्रणा है और गुरु के संघ में 'मैं आपका हूँ' ऐसा आत्मसमर्पण करना उपसंपत् कहा गया है ॥१२८॥

आचारवृत्ति—इष्ट अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय में अथवा शुभ परिणाम में

---

१. क 'ब्दो उपशब्द उत्सर्ग सत्' । २. क साहम्मि' ।

प्रवर्तनं। मिच्छाकारो—मिथ्याकारः कायमनसा निवर्तनं। तहेव—तथैव। च्च, अवराहे—अपराधेऽशुभ-परिणामे व्रताद्यतिचारे। पडिसुणणंहि—प्रतिश्रवणे सूत्रार्थग्रहणे, तहत्ति य—तथेति च यथैव भवद्भिः प्रति-पादितं तथैव नान्यथेत्येवमनुरागः। णिग्गमणे—निर्गमने गमनकाले। आसिआ—आसिका देवगृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानं[1] पापक्रियादिभ्यो मनो निवर्तनं वा। भणिया—भणिताः कथिताः। पविसंते य—प्रविशति च प्रवेशकाले। णिसिही—निषेधिका तत्रस्थानभ्युपगम्य[2] स्थानकरणं सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा। आपुच्छणिया य—आपृच्छनीयं च गुर्वादीनां वन्दनापूर्वकं प्रश्नकरणं। सकज्जआरंभे—स्वस्यात्मनः कार्यं प्रयोजनं तस्यारम्भ आदिक्रिया स्वकार्यारम्भस्तस्मिन् पठनगमनयोगादिके। [3]साधम्मिणा य—समानो धर्मोऽनुष्ठानं गुर्वी यस्यासौ सधर्मा तेन सधर्मणा च। गुरुणा—दीक्षाशिक्षोपदेशकर्त्रा तपोऽधिकज्ञानाधिकेन वा, पुव्वणिसिट्ठम्हि—पूर्वस्मिन्निसृष्टं प्रतिदत्तं समर्पितं यद्वस्तूपकरणादिकं तस्मिन् पूर्वनिसृष्टे वस्तुनि पुनर्ग्रहणा-

---

इच्छाकार होता है। अर्थात् इनको स्वीकार करना इनमें हर्षभाव होना, इनमें स्वेच्छा से प्रवृत्ति करना ही इच्छाकार है।

अपराध अर्थात् अशुभ परिणाम अथवा व्रतादि में अतिचार होने पर मिथ्याकार होता है। अर्थात् मन-वचन-काय से इन अपराधों से दूर होना मिथ्याकार है।

प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु के द्वारा सूत्र और अर्थ प्रतिपादन होने पर उसे सुनकर 'आपने जैसा प्रतिपादित किया है वैसा ही है, अन्यथा नहीं' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

वसतिका आदि से निकलते समय देवता या गृहस्थ आदि से पूछकर निकलना अथवा पाप क्रियाओं से मन को हटाना आसिका है।

वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित देव या गृहस्थ आदि की स्वीकृति लेकर अर्थात् निसही शब्द उच्चारण करके पूछकर वहाँ प्रवेश करना और ठहरना अथवा सम्यग्दर्शन आदि में स्थिर भाव रखना निषेधिका है।

अपने कार्य—प्रयोजन के आरम्भ में अर्थात् पठन, गमन या योगग्रहण आदि कार्यों के प्रारम्भ में गुरु आदि की वन्दना—करके उनसे पूछना आपृच्छा है।

समान है धर्म अनुष्ठान जिनका वे सधर्मा हैं तथा गुरु शब्द से दीक्षागुरु, शिक्षागुरु, उपदेशदाता गुरु अथवा तपश्चरण में या ज्ञान में अधिक जो गुरु हैं—इन सधर्मा या गुरुओं से कोई उपकरण आदि पहले लिये थे पुनः उन्हें वापस दे दिये, यदि पुनरपि उनको ग्रहण का अभि-प्राय हो तो पुनः पूछकर लेना प्रतिपृच्छा है।

जिनकी कोई पुस्तक आदि वस्तुएँ ली हैं उनके अनुकूल ही उनकी वस्तुओं का सेवन उपयोग करना छन्दन है।

अगृहीत—अन्य किसी की पुस्तक आदि वस्तुओं के विषय में आवश्यकता होने पर गुरुओं से सत्कार पूर्वक याचना करना या ग्रहण कर लेने पर विनयपूर्वक उनसे निवेदन करना निमन्त्रणा है।

गुरुकुल अर्थात् गुरुओं के आम्नाय—संघ में, गुरुओं के विशाल पादमूल में 'मैं आपका

---

१. गमनम्। २. अविराधयित्वा। ३ क साहम्मिणा।

भिप्राये। पडिपुच्छा—प्रतिपृच्छा पुनः प्रश्नः। छंदणं—छंदनं छंदो वा तदभिप्रायेण सेवनं, गहिदे—गृहीते द्रव्ये पुस्तकादिके। अगहिददव्वे—अगृहीतद्रव्ये अन्यदीयपुस्तकादिवस्तुनि स्वप्रयोजने जाते। णिमंतणा—निमंत्रणा सत्कारपूर्वकं याचनं गृहीतस्य विनयेन निवेदनं वा। भणिदा—भणिता। तुम्हं—युष्माकं। अहंति—अहमिति। गुरुकुले—आम्नाये त्वद्वृहत्पादमूले। आदणिसग्गो—आत्मनो निसर्गस्त्यागः तदानुकूल्याचरणं। तु—अत्यर्थवाचकः। उवसम्पा—उपसम्पत् ॥१२६-१२८॥

एवं दशप्रकारौघिकसामाचारस्य संक्षेपार्थं पदविभागिनश्च विभागार्थमाह—

ओघियसामाचारो एसो भणिदो हु दसविहो णेओ।
एत्तो य पदविभागी समासदो वण्णइस्सामि ॥१२९॥

एष—औघिकः सामाचारो दशप्रकारोऽपि। भणितः—कथितः। समासतः—संक्षेपतो ज्ञातव्यो अनुष्ठेयो वा। एत्तो य—इतश्चोर्ध्वं। पदविभागिनं समाचारं। समासदो—समासतः। वण्णइस्सामि—वर्णयिष्यामि। यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादिति ॥१२९॥

उग्गमसूरप्पहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे।
जं आचरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी ॥१३०॥

उग्गमसूरप्पहुदी—उद्गच्छतीत्युद्गमः सूर आदित्यो यस्मिन् काले स उद्गमसूर उदयादित्यकालः, अथवा सूरस्योद्गमः उद्गमसूरः उद्गमस्य पूर्वनिपातः स प्रभृतिरादिर्यस्यासौ उद्गमसूरप्रभृतिस्तस्मिन्नु-

---

हूँ, इस प्रकार से आत्म का त्याग करना—आत्म समर्पण कर देना, उनके अनुकूल ही सारी प्रवृत्ति करना यह उपसंपत् है। गाथा में 'तु' शब्द अत्यर्थ का वाचक है अर्थात् अतिशय रूप से गुरु को अपना जीवन समर्पित कर देना। इस प्रकार से ये दश औघिक समाचार कहे गए हैं।

इस प्रकार से दशभेद रूप औघिक समाचार को संक्षेप से बताकर अब पदविभागिक के विभाग अर्थ को कहते हैं—

गाथार्थ—यह कहा गया दश प्रकार का औघिक समाचार जानना चाहिए। अब इसके बाद संक्षेप से पदविभागी समाचार कहूँगा ॥१२९॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार का संक्षेप से कहा गया यह औघिक समाचार जानना चाहिए अथवा इनका अनुष्ठान करना चाहिए। इसके अनन्तर पदविभागी समाचार को कहूँगा। क्योंकि जैसा उद्देश होता है वैसा ही निर्देश होता है ऐसा न्याय है अर्थात् नाम कथन को उद्देश कहते हैं और उसके लक्षण आदि रूप से वर्णन करने को निर्देश कहते हैं; सो गाथा में पहले औघिक फिर पदविभागी को कहा है। इसीलिए औघिक को कहकर अब पदविभागी को कहते हैं।

गाथार्थ—श्रमणगण सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र निरन्तर जो आचरण करते हैं ऐसा यह पदविभागी समाचार है ॥१३०॥

आचारवृत्ति—उदय को प्राप्त होना उद्गम है। जिस काल में सूर्य का उदय होता है उसे उद्गमसूर अर्थात् सूर्योदय काल कहते हैं। अथवा सूर्य का उद्गम होना उद्गमसूर शब्द

दयसूर्यादौ। **समणा**—श्राम्यंति तपस्यंतीति श्रमणा मुनयः। **अहोरत्तमंडले**—अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रस्तस्य मण्डलं सन्ततिरहोरात्रमंडलं तस्मिन् दिवसरात्रिमध्यक्षणसमुदये। **कसिणे**—कृत्स्ने निरवशेषे। **जं आच-रंति**—यदाचरन्ति यन्नियमादिकं निर्वर्तयन्ति। **सददं**—सततं निरंतरं। **एसो**—एष प्रत्यक्षवचनमेतत्। **भणिओ**—भणितोऽर्हंद्भट्टारकैः कथितः आप्तकर्तृत्वप्रतिपादनमेतत्। **पदविभागी**—पदस्यानुष्ठानं। उद्गमसूर-प्रभृतौ कृत्स्नेऽहोरात्रमण्डले यदाचरन्ति श्रमणाः सततं स एष पदविभागीति कथितः। उत्तरपदापेक्षया पुल्लिंग-तेति न दोषो लिंगव्यत्ययः ॥१३०॥

इष्टे वस्तुनीच्छाकारः कर्तव्य इत्युक्तं पुरस्तात् तत्किमित्याह—

संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे।
जोगग्गहणादीसु य इच्छाकारो दु कादव्वो ॥१३१॥

संजमणाणुवकरणे—संयम इन्द्रियनिरोधः प्राणिदया च ज्ञानं ज्ञानावरणक्षयोपशमोत्पन्नवस्तु-परिच्छेदात्मकप्रत्ययः श्रुतज्ञानं वा तयोरुपकरणं पिच्छिकापुस्तकादि तस्मिन् संयमज्ञानोपकरणहेतौ विषये वा। **अण्णुवकरणे च**—अन्यस्य तपःप्रभृतेरुपकरणं कुंडिकाहारादिकं तस्मिश्च तद्विषये च। **जायणे**—याचने भिक्षणे।

का अर्थ है। इस पद में उद्गम शब्द का पूर्व में निपात हो गया है (यह व्याकरण का विषय है)। उस उद्गम सूर्य को आदि में लेकर अर्थात् सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र के क्षणों में श्रमण-गण—मुनिगण निरन्तर जिन नियम आदि का आचरण करते हैं सो यह प्रत्यक्ष में पदविभागी समाचार है ऐसा अर्हंत भट्टारक ने कहा है। इससे यह समाचार आप्त के द्वारा कथित है ऐसा निश्चय हो जाता है। यहाँ पद के अनुष्ठान का नाम पदविभागी है। श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य ने यहाँ बतलाया है कि जो श्रम करते हैं अर्थात् तपश्चरण करते हैं (श्राम्यन्ति तपस्यन्ति) वे श्रमण हैं अर्थात् मुनिगण ही श्रमण या तपोधन कहलाते हैं। यहाँ पदविभागी शब्द में उत्तरपद की अपेक्षा पुल्लिंग विभक्ति का निर्देश है इसलिए लिंग विपर्यय नाम का दोष व्याकरण से नहीं होता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रातःकाल से लेकर वापस सूर्योदय होने तक साधुगण निरन्तर जिन नियम आदि का पालन करते हैं वह सब पदविभागी समाचार कह-लाता है।

विशेषार्थ—श्री वीरनन्दि आचार्य ने आचारसार में इन दोनों के नाम संक्षेप समाचार और विस्तार समाचार ऐसे भी कहे हैं।

इष्ट वस्तु में इच्छाकार करना चाहिए ऐसा आपने पहले कहा है। वह इष्ट क्या है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—संयम का उपकरण, ज्ञान का उपकरण, और भी अन्य उपकरण के लिए तथा किसी वस्तु के मांगने में एवं योग-ध्यान आदि के करने में इच्छाकार करना चाहिए ॥१३१॥

आचारवृत्ति—पांच इन्द्रिय और मन का निरोध तथा प्राणियों पर दयाभाव—इसका नाम संयम है। संयम का उपकरण पिच्छिका है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ जो वस्तु को जानने वाला ज्ञान है अथवा जो श्रुतज्ञान है उसे ज्ञान शब्द से कहा है।

अण्णे—अन्यस्मिन् परविषये औपधादिके परनिमित्ते वा। अथवा[1] च द्रष्टव्यः। एतेषां याचने परनिमित्तमात्मनिमित्तं वा इच्छाकारः कर्तव्यः मनः प्रवर्तयितव्यं, न केवलमत्र किन्तु, जोगग्गहणादिसु य—योगग्रहणादिषु च आतापनवृक्षमूलाभ्रावकाशादिषु च किं बहुना शुभानुष्ठाने सर्वत्र परिणामः कर्तव्य इति ॥१३१॥

अथ कस्यापराधे मिथ्याकारः स इत्याह—

जं दुक्कडं तु मिच्छा तं णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादुं।
भावेण य पडिकंतो तस्स भवे दुक्कडे मिच्छा ॥१३२॥

यद्दुष्कृतं यत्पापं मया कृतं तद्दुष्कृतं मिथ्या मम भवतु, अहं पुनस्तस्य कर्ता न भवामीत्यर्थः। एवं यन्मिथ्यादुष्कृतं कृतं तु तद्दुष्कृतं पुनः कर्तुं नेच्छेत् न कुर्यात्। भावेन च प्रतिक्रान्तो यो न केवलं वचसा किन्तु मनसा कायेन च वर्तमानातीतभविष्यत्काले तस्यापराधस्य यो न कर्ता तस्य दुष्कृते मिथ्याकार इति।

अथ किं तत्प्रतिश्रवणं यस्मिन् तथाकार इत्यत आह—

इस ज्ञान के उपकरण पुस्तक आदि हैं। *अन्य* शब्द से तप आदि को लिया है। इन तप आदि के उपकरण कमण्डलु और आहार आदि हैं। इनके लिए याचना करने में या इन के विषयों में इच्छाकार करना चाहिए। तथा अन्य और जो पर विषय अर्थात् औपधि आदि हैं उनके लिए या अन्य साधु-शिष्य आदि के भी उपर्युक्त वस्तुओं में इच्छाकार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इन पिच्छी, पुस्तक आदि को पर के लिए या अपने लिए याचना करने में इच्छाकार करना चाहिए अर्थात् मन को प्रवृत्त करना चाहिए। केवल इनमें ही नहीं, आतापन वृक्षमूल अभ्रावकाश आदि योगों के करने में भी इच्छाकार करना चाहिए। अधिक कहने से क्या, सर्वत्र शुभ अनुष्ठान में परिणाम करना चाहिए।

किस अपराध में मिथ्याकार होता है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो दुष्कृत अर्थात् पाप हुआ है वह मिथ्या होवे, पुनः उस दोष को करना नहीं चाहता है और भाव से प्रतिक्रमण कर चुका है उसके दुष्कृत के होने पर मिथ्याकार होता है ॥१३२॥

आचारवृत्ति—जो पाप मैंने किये हैं वे मिथ्या होवें, पुनः मैं उनका करने वाला नहीं होऊँगा। इस प्रकार से जिस दुष्कृत को मिथ्या किया है, दूर किया है उसको पुनः करने की इच्छा न करे, इस तरह जो केवल वचन या काय से ही नहीं किन्तु मन से—भाव से भी जिसने प्रतिक्रमण किया है, जो साधु भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में भी उस अपराध को नहीं करता है उस साधु के दुष्कृत में मिथ्याकार नामक समाचार होता है। अर्थात् किसी अपराध के हो जाने पर 'मेरा यह दुष्कृत मिथ्या होवे' ऐसा कहना मिथ्याकार है।

वह प्रतिश्रवण क्या है कि जिसमें तथाकार किया जाय? अर्थात् तथाकार करना चाहिए, सो ही बताते हैं—

---

1. क 'अत्र द्र'।

वायणपडिच्छण्णाए उवदेसे सुत्तअत्थकहणाए।
अवितहमेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो ॥१३३॥

वायणपडिच्छणाए—वाचनस्य जीवादिपदार्थव्याख्यानस्य प्रतीच्छा श्रवणं वाचनाप्रतीच्छा तस्यां, सिद्धान्तश्रवणे। उवदेसे—उपदेशे आचार्यपरम्परागतेऽविसंवादरूपे मंत्रतंत्रादिके। सुत्तअत्थकहणाए—सूचनात्सूक्ष्मार्थस्य सूत्रं वृत्तिवार्तिकभाष्यनिबन्धनं तस्यार्थो जीवादयस्तस्य तयोर्वा कथनं प्रतिपादनं तस्मिन् सूत्रार्थकथने कथनायां वा। अवितहं—अवितथं सत्यं एवमेव। एतदेत्ति—एतदिति यद्भट्टारकैः कथितं तदेवमेवेति नान्यथेति कृत्वा। पुणो—पुनः। पडिच्छणाए—प्रतीच्छायां पुनरपि यच्छ्रवणं क्रियते। तधाकारो—तथाकारः। वाचनाप्रतिश्रवणे उपदेशे सूत्रार्थयोजने गुरुणा क्रियमाणे अवितथमेतदिति कृत्वा पुनरपि यच्छ्रवणं तत्तथाकार इति ॥१३३॥

केषु प्रदेशेषु प्रविशता निषेधिका क्रियते इत्याह—

कंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसीहियं कुज्जा
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥

कंदरं—कंदरः उदकदारितप्रदेशः। पुलिणं—पुलिनं जलमध्ये जलरहितप्रदेशः। गुहा—पर्वतपार्श्वविवरं ता आदिर्येषां ते कन्दरपुलिनगुहादयस्तेषु अन्येषु च निर्जन्तुकप्रदेशेषु नद्यादिषु। पवेसकाले—

गाथार्थ—गुरु के मुख से वाचना के ग्रहण करने में, उपदेश सुनने में और गुरु द्वारा सूत्र तथा अर्थ के कथन में यह सत्य है ऐसा कहना और पुनः श्रवण की इच्छा में तथाकार होता है ॥१३३॥

आचारवृत्ति—जीवादि पदार्थों का व्याख्यान करना वाचना है, उसकी प्रतीच्छा करना—श्रवण करना वाचनाप्रतीच्छा है। अर्थात् गुरु के मुख से सिद्धान्त-ग्रन्थों को सुनना वाचना है। आचार्य परम्परागत, अविसंवाद रूप मन्त्र-तन्त्र आदि जिसका गुरु वर्णन करते हैं, उपदेश कहलाता है। सूक्ष्म अर्थ को सूचित करने वाले वाक्य को सूत्र कहते हैं जो कि वृत्ति, वार्तिक और भाष्य के कारण हैं। अर्थात् सूत्र का विशद अर्थ करने के लिए वृत्ति, वार्तिक और भाष्य रूप रचनाएँ होती हैं उन्हें टीका कहते हैं। सूत्र के द्वारा जीवादि पदार्थों का प्रतिपादन किया जाता है वह उस सूत्र का अर्थ कहलाता है। इस प्रकार से सूत्र के अर्थ का कथन करना या सूत्र और अर्थ दोनों का कथन करना सूत्रार्थ-कथन है। गुरु ने सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ाया या उपदेश दिया अथवा सूत्रार्थ का कथन किया उस समय ऐसा बोलना कि 'हे भट्टारक! आपने जो कहा है वह ऐसा ही है वह अन्य प्रकार नहीं हो सकता है', तथा पुनरपि उसे सुनने की इच्छा रखना या सुनना यह तथाकार कहलाता है।

किन प्रदेशों में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए? सो बताते हैं—

गाथार्थ—कंदरा, पुलिन, गुफा आदि में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए तथा वहाँ से निकलते समय आसिका करना चाहिए ॥१३४॥

आचारवृत्ति—जलप्रवाह से विदीर्ण हुआ—विभक्त प्रदेश कंदरा कहलाता है। नदी अथवा सरोवर के जल रहित प्रदेश को पुलिन अथवा सैकत कहते हैं। अथवा 'सिकतानां समूहः सैकतं' अर्थात् जहाँ बालू का ढेर रहता है वह सैकत है। पर्वत के पार्श्व भाग में जो बिल—बड़े

प्रवेशकाले । णिसीहियं—निषेधिकां । कुज्जा—कुर्यात् कर्तव्या । अत आसिका कुतः ? तेहिंतो - तेभ्य एव कन्दरादिभ्यः । णिग्गमणे—निर्गमने निर्गमनकाले । तहासिया—तथैवासिका । होदि—भवति । कायव्वा—कर्तव्या इति ॥१३४॥

प्रश्नश्च केषु स्थानेषु इत्युच्यते—

बड़े छिद्र हैं उन्हें गुफा कहते हैं । इन कंदरा, पुलिन तथा गुफाओं में, 'आदि' शब्द से और भी अन्य निर्जंतुक स्थानों में या नदी आदि में, प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए और इन कंदरा आदि से निकलते समय उसी प्रकार से आसिका करना चाहिए ।

विशेषार्थ—वहाँ के रहनेवाले स्थानों के व्यंतर आदि देवों के प्रति कहना कि 'मैं यहाँ प्रवेश करता हूँ, आप अनुमति दीजिए ।' इस विज्ञप्ति का नाम निषेधिका है । अन्यत्र भी कहा है—

वसत्यादौ विशेत्तत्स्थं भूतादि निसहीगिरा ।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा ॥[1]

अर्थात् वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित भूत व्यंतर आदि को निसही शब्द से पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है । और वहाँ से निकलते समय असही शब्द से उन्हीं को पूछकर निकलना आसिका है । 'आचारसार' में भी कहा है कि—

स्थिता वयमियत्कालं यामः क्षेमोदयोऽस्तु ते ।
इतीष्टाशंसनं व्यन्तरादेराशीर्निरुच्यते ॥
जीवानां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम् ।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दिष्ट्यैवेति निषिद्धिका ॥११॥[2]

अर्थात् 'हम यहाँ पर इतने दिन तक रहे, अब जाते हैं । तुम लोगों का कल्याण हो' इस प्रकार व्यंतरादिक देवों को इष्ट आशीर्वाद देना आशीर्वचन है । मुनिराज जिस गुफा में या जिस वसतिका में ठहरते हैं उसके अधिकारी व्यन्तरादिक देव से पूछकर ठहरते हैं और जाते समय उनको आशीर्वाद दे जाते हैं । मुनियों की ये दोनों ही समाचार नीति हैं ।

तुम्हारी कृपा से हम यहाँ ठहरते हैं । तुम किसी प्रकार का उपद्रव मत करना, इस प्रकार जीवों को तथा व्यन्तरादिक देवों को उपद्रव का निषेध करना निषिद्धिका नाम की समाचार नीति कहलाती है ।

किन-किन स्थानों में पूछना चाहिए ? सो बताते हैं—

---

१. अनगार धर्मामृत
२. आचारसार, अ० २

आदावणादिगहणे सण्णा उब्भामगादिगमणे वा।
विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा ॥१३५॥

आदावणादिगहणे—आतपनं व्रतपूर्वकमुष्णसहनं आदिर्येषां ते आतापनादयस्तेषां ग्रहणमनुष्ठानं तस्मिन्नातपनवृक्षमूलाभ्रावकाशकायोत्सर्गादिग्रहणे। सण्णा उब्भामगादिगमणे—वा संज्ञायामाहारकालशोधनादिकेच्छायां उद्भ्रम्यते गम्यते उद्भ्रम, उद्भ्रम एवोद्भ्रमकोऽन्यग्रामः स आदिर्येषां ते उद्भ्रमकादयस्तेषां गमनं प्रापणं तस्मिन्वा, निमित्तवशादन्यग्रामगमने वा। विणयेण—विनयेन नमस्कारपूर्वकंप्रणामेन। आइरियादिसु—आचार्य आदिर्येषां ते आचार्यादयस्तेषु आचार्यप्रवर्तकस्थविरगणधरादिषु। आपुच्छा—आपृच्छा। होदि—भवति। कादव्वा—कर्तव्या। यत्किंचित्कार्यं करणीयं तत्सर्वमाचार्यादीनापृच्छ्य क्रियते यदि आपृच्छा भवति तत इति ॥१३५॥

प्रतिपृच्छास्वरूपनिरूपणार्थमाह—

जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरुआदी।
पुणरवि पुच्छदि साहू तं जाणसु होदि पडिपुच्छा ॥१३६॥

जंकिंचि—यत्किंचित् सामान्यवचनमेतत्। महाकज्जं—महत्कार्यं बृहत्प्रयोजनं। करणीयं—कर्तव्यमनुष्ठानीयं। पुच्छिऊण—पृष्ट्वा। गुरुआदी—गुरुरादिर्येषां ते गुर्वादयस्तान् गुरुप्रवर्तकस्थविरादीन्। पुणरवि—पुनरपि। पुच्छदि—पृच्छति। साहू—साधून् परिशेषधर्मोद्युक्तान्। अथवा स साधुः पुनरपि पृच्छति येन पूर्वं याचितं। तं जाणसु—तज्जानीहि बुध्यस्व। होदि—भवति। पडिपुच्छा—प्रतिपृच्छा। यत्किंचित्

गाथार्थ—आतापन आदि के ग्रहण करने में, आहार आदि के लिए जाने में अथवा अन्य ग्राम आदि में जाने के लिए विनय से आचार्य आदि से पूछकर कार्य करना चाहिए ॥१३५॥

आचारवृत्ति—व्रतपूर्वक उष्णता को सहन करना आतापन कहलाता है। आदि शब्द से वृक्षमूलयोग, अभ्रावकाशयोग, और कायोत्सर्ग को ग्रहण करते समय, आहार के लिए जाते समय, शरीर की शुद्धि—मलमूत्र आदि विसर्जन के लिए जाते समय, उद्भ्रामक अर्थात् किसी निमित्त से अन्य ग्राम आदि के लिए गमन करने में विनय से नमस्कार पूर्वक प्रणाम करके आचार्य, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदि से पूछकर करना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि जो कुछ भी कार्य करना है वह सब यदि आचार्य आदि से पूछकर किया जाता है उसी का नाम आपृच्छा है।

अब प्रतिपृच्छा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो कोई भी बड़ा कार्य करना हो तो गुरु आदि से पूछकर और फिर साधुओं से जो पूछता है वह प्रतिपृच्छा है ऐसा जानो ॥१३६॥

आचारवृत्ति—मुनियों को यदि कोई बड़े कार्य का अनुष्ठान करना है तो गुरु, प्रवर्तक, स्थविर आदि से एक बार पूछकर, पुनरपि गुरुओं से तथा साधुओं से पूछना प्रतिपृच्छा है। अथवा यहाँ साधु को प्रथमान्तपद समझना, जिससे ऐसा अर्थ होता है कि साधु किसी बड़े कार्य

कार्यं महत्करणीयं गुर्वादीन् पृष्ट्वा पुनरपि साधून् पृच्छति साधुर्वा तत्कार्यं तदेव प्रश्नविधानं प्रतिपृच्छां जानीहीति ॥१३६॥

अष्टमं सूत्रं प्रपंचयन्नाह—

गहिदुवकरणे विणए वंदण सुत्तत्थपुच्छणादीसु ।
गणधरवसहादीणं अणुवुत्ति छंदणिच्छाए ॥१३७॥

गहिदुवकरणे—गृहीते स्वीकृते उपकरणे संयमज्ञानादिप्रतिपालनकारणे आचार्यादिप्रदत्तपुस्तकादिके **विणए**—विनये विनयकाले **वंदण**—वन्दनायां वंदनाकाले क्रियाग्रहणेन कालस्यापि ग्रहणं तदभेदात् । **सुत्तत्थपुच्छणादीसु**—सूत्रस्य अर्थस्तस्य प्रश्नः स आदिर्येषां ते सूत्रार्थप्रश्नादयस्तेषु । **गणधरवसभादीणं**—गणधरवृषभादीनां आचार्यादीनां । **अणुवुत्ती**—अनुवृत्तिरनुकूलाचरणं । **छन्दणं**—छन्दः छन्दोऽनुवर्तित्वं । **इच्छाए**—इच्छया । सूत्रार्थप्रश्नादिषु उपकरणद्रव्ये च गृहीते विनये वंदनायां च गणधरवृषभादीनामिच्छयानुवृत्तिश्छन्दनमिति । अथवोपकरणद्रव्यस्वामिन इच्छया गृहीतुरनुवृत्तिश्छंदनमाचार्यादीनां च प्रश्नादिषु वन्दनाकाले चेति ।

नवमस्य सूत्रस्य विवरणार्थमाह—

गुरुसाहम्मियदव्वं पुत्थयमण्णं च गेण्हिदुं इच्छे ।
तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा ॥१३८॥

में गुरुओं से एक बार पूछकर पुनरपि जो पूछता है उस प्रश्न की विधि का नाम प्रतिपृच्छा है। हे शिष्य ! ऐसा तुम जानो।

अब छन्दन का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—ग्रहण किये हुए उपकरण के विषय में, विनय के समय, वन्दना के काल में, सूत्र का अर्थ पूछने इत्यादि में गणधर प्रमुख आदि की इच्छा से अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन है ॥१३७॥

आचारवृत्ति—संयम की रक्षा और ज्ञानादि के कारण ऐसे आचार्य आदि के द्वारा दिए गये पिच्छी, पुस्तक आदि को लेने पर विनय के समय, वन्दना के समय, सूत्र के अर्थ का प्रश्न आदि करने में आचार्य आदि की इच्छा के अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन नामक समाचार है।

अथवा उपकरण की वस्तु के जो स्वामी हैं उनकी इच्छा के अनुकूल ही ग्रहण करनेवाले साधु को उन वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए तथा आचार्य आदि से प्रश्न करते समय उनकी विनय करने में या वन्दना के समय उनके अनुकूल कार्य करना चाहिए।

भावार्थ—गुरु आदि से जो भी उपकरण या ग्रन्थ आदि लिये हैं उनके उपयोग में उन गुरुओं के अनुकूल ही प्रवृत्त होना तथा गुरुओं की विनय में, उनकी वन्दना में जो गुरुओं की इच्छा के अनुसार वर्तन करना है सो छन्दन है।

नवमें निमन्त्रणा समाचार को कहते हैं—

गाथार्थ—गुरु या सहधर्मी साधु से द्रव्य को, पुस्तक को या अन्य वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा हो तो उन गुरुओं से विनयपूर्वक पुनः याचना करना निमन्त्रणा समाचार है ॥१३८॥

गुरुसाहम्मियदव्वं—गुरुश्च साधर्मिकश्च गुरुसाधर्मिकौ तयोर्द्रव्यं गुरुसाधर्मिकद्रव्यं। पुत्थयं—पुस्तकं ज्ञानोपकारकं। अण्णं च—अन्यच्च कुण्डिकादिकं। गेण्हिदुं—ग्रहीतुं आदातुं। इच्छे—इच्छेद्वाञ्छेत्। तेसिं—तेषां गुरुसाधर्मिकद्रव्याणां गृहीतुमिष्टानां। विणएण—विनयेन नम्रतया। पुणो—पुनः। णिमंतणा—निमंत्रणा याचना। होइ—भवति। कायव्वा—कर्तव्या। यदि गुरुसाधर्मिकादिद्रव्यं पुस्तकादिकं गृहीतुमिच्छेत् तदानीं तेषां विनयेन याचना भवति कर्तव्या इति ॥१३८॥

उपसम्पत्सूत्रभेदप्रतिपादनार्थमाह—

उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेंहि णिद्दिट्ठा।
विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेव सुत्ते य ॥१३९॥

उपसंपया य—उपसम्पच्चोपसेवात्मनो निवेदनमुपसम्पत्। णेया—ज्ञेया ज्ञातव्या। पंचविहा—पंचविधा पंचप्रकारा। जिणवरेंहि—जिनवरैः। णिद्दिट्ठा—निर्दिष्टा कथिता। के ते पंच प्रकारा इत्याह—विणये—विनये। खेत्ते—क्षेत्रे। मग्गे—मार्गे। सुहदुक्खे—सुखदुःखयोः। चशब्दः समुच्चये। एवकारोऽवधारणे। सुत्ते य—सूत्रे च। विषयनिर्देशोऽयं विनयादिषु विषयेषूपसम्पत् पंचप्रकारा भवति विनयादिभेदैर्वेति।

तत्र विनयोपसम्पत्प्रतिपादनार्थमाह—

पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा।
दाणाणुवत्तणादी विणये उवसंपया णेया ॥१४०॥

पाहुणविण उपचारो—विनयश्चोपचारश्च विनयोपचारौ प्राघूर्णिकानां पादोष्णानां विनयोपचारौ,

---

आचारवृत्ति—गुरु और अन्य संघस्थ साधुओं से यदि पुस्तक या कमण्डलु आदि लेने की इच्छा हो तो नम्रतापूर्वक पुनः उनकी याचना करना अर्थात् पहले कोई वस्तु उनसे लेकर पुनः कार्य हो जाने पर वापस दे दी है और पुनः आवश्यकता पड़ने पर याचना करना सो निमन्त्रणा है।

अब उपसंपत् सूत्र के भेदों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—उपसंपत् के पांच प्रकार हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; इन्हें विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुखदुःख और सूत्र के विषय में जानना चाहिए ॥१३९॥

आचारवृत्ति—उपसंपत् का अर्थ है उपसेवा अर्थात् अपना निवेदन करना। गुरुओं को अपना आत्मसमर्पण करना उपसंपत् है जोकि विनय आदि के विषय में किया जाता है। इसलिए इसके पांच भेद हैं—विनयोपसंपत्, क्षेत्रोपसंपत् मार्गोपसंपत्, सुख-दुःखोपसंपत् और सूत्रोपसंपत्।

उनमें सबसे पहले विनयोपसंपत् को कहते हैं—

गाथार्थ—आगन्तुक अतिथि-साधु की विनय और उपचार करना, उनके निवास स्थान और मार्ग के विषय में प्रश्न करना, उन्हें उचित वस्तु का दान करना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि—यह विनय-उपसंपत् है।

आचारवृत्ति—आगन्तुक साधु को प्राघूर्णिक या पादोष्ण कहते हैं। उनका अंगमर्दन

अंगमर्दनप्रियवचनादिको विनयः, आसनादिदानमुपचारः। आवासभूमिसंपुच्छा—आवासः स्थानं गुरुगृहं भूमिः मार्गोऽध्वा तयोः संपृच्छा संप्रश्नः आवासभूमिसंप्रश्नः। दाणं—दानं संस्तरपुस्तकशास्त्रोपकरणादिनिवेदनं। अणुवत्तणादी—अनुवर्तनादयस्तदनुकूलाचरणादयः। विणये उवसंपया—विनयोपसम्पत्। णेया—ज्ञेया। पादोष्णानां विनयोपचारकरणं यत्तेषां चावासभूमिसम्पृच्छयादानानुवर्तनादयश्च ये तेषां क्रियन्ते तत्सर्वं विनयोपसम्पदुच्यते। सर्वं आत्मनः समर्पणं तस्य वा ग्रहणमुपसम्पदिति यतः।

का क्षेत्रोपसम्पदित्यत्रोच्यते—

संजमतवगुणसीला जमणियमादी य जह्मि खेत्तह्मि।
वड्ढंति तह्मि वासो खेत्ते उवसंपया णेया ॥१४१॥

संजमतवगुणसीला—संयमतपोगुणशीलानि। यमणियमादी य—यमनियमादयश्च आमरणात्प्रतिपालनं यमः कालादिपरिमाणेनाचरणं नियमः, व्रतपरिरक्षणं शीलं, कायादिखेदस्तपः, उपशमादिलक्षणो गुणः, प्राणेन्द्रियसंयमनं संयमः, अतो नैषामैक्यं। जह्मि—यस्मिन्। खेत्तंह्मि—क्षेत्रे। वड्ढंति—वर्द्धन्ते उत्कृष्टा भवंति। तह्मि—तस्मिन् वासो वसनं। खेत्ते उपसंपया—क्षेत्रोपसम्पत्। णेया—ज्ञेया। यस्मिन् क्षेत्रे संयमतपोगुणशीलानि यमनियमादयश्च वर्द्धन्ते तस्मिन् वासो यः सा क्षेत्रोपसम्पदिति।

तृतीयायाः स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

करना, प्रिय वचन बोलना आदि विनय है। उन्हें आसन आदि देना उपचार है। आप किस गुरुगृह के हैं? किस मार्ग से आये हैं अर्थात् आप किस संघ में दीक्षित हुए हैं या आपके दीक्षा-गुरु का नाम क्या है? और अभी किस मार्ग से विहार करते हुए यहाँ आये हैं? ऐसा प्रश्न करना, तथा उन्हें संस्तर—घास, पाटा, चटाई आदि देना, पुस्तक-शास्त्र आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना आदि सब विनयोपसंपत् है। तात्पर्य यह है कि आगन्तुक साधु के प्रति उस समय जो भी विनय-व्यवहार किया जाता है वह विनयोपसंपत् है। सब प्रकार से उन्हें आत्मसमर्पण करना या उनको सभी तरह से अपने संघ में ग्रहण करना यह विनयोपसंपत् है।

अब क्षेत्रोपसंपत् को बतलाते हैं—

गाथार्थ—जिस क्षेत्र में संयम, तप, गुण, शील तथा यम और नियम वृद्धि को प्राप्त होते हैं उस क्षेत्र में निवास करना, यह क्षेत्रोपसंपत् जानना चाहिए ॥१४१॥

आचारवृत्ति—प्राणियों की रक्षा और इन्द्रिय-निग्रह को संयम कहते हैं। शरीर आदि को जिससे खेद उत्पन्न हो वह तप है। उपशम आदि लक्षणवाले गुण कहलाते हैं और व्रतों के रक्षक को शील कहते हैं। जिनका आमरण पालन किया जाय वह यम है तथा काल आदि की अवधि से पाले जानेवाले नियम कहलाते हैं। इस प्रकार से इनके लक्षणों की अपेक्षा भेद हो जाने से इन सभी में ऐक्य सम्भव नहीं है। ये संयम आदि जिस क्षेत्र-देश में वृद्धिगत होते हैं उस देश में ही रहना यह क्षेत्रोपसंपत् है।

अब मार्गोपसंपत् का लक्षण बताते हैं—

पाहुणवत्थव्वाणं अण्णोण्णागमणगमणसुहपुच्छा ।
उवसंपदा य मग्गे संजमतवणाणजोगजुत्ताणं ।।१४२।।

पाहुणवत्थव्वाणं—पादोष्णवास्तव्यानां आगन्तुकस्वस्थानस्थितानां । **अण्णोण्णं**—अन्योन्यं परस्परं । **आगमणगमण**—आगमनं च गमनं चागमनगमने तयोर्विषये **सुहपुच्छा**—सुखप्रश्नः किं सुखेन तत्र भवान् गत आगतश्च । **उपसंपदा य**—उपसंपत् । **मग्गे**—मार्गे पथिविषये । **संजमतवणाणजोगजुत्ताणं**—संयमतपोज्ञानयोगयुक्तानां । पादोष्णवास्तव्यानां अन्योऽन्यं योऽयं गमनागमनसुखप्रश्नः सा मार्गविषयोपसम्पदित्यत्रोच्यत इति ।

अथ का सुखदुःखोपसम्पदित्यत्रोच्यते—

सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं ।
तुह्मं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ।।१४३।।

सुहदुक्खे—सुखदुःखयोर्निमित्तभूतयोः, अथवा तद्योगात्ताच्छब्द्यं सुखदुःखयुक्तयोः पुरुषयोरिति । **उवयारो**—उपचारः उपग्रहः । **वसहीआहारभेसजादीहिं**—वसतिकाहारभैषज्यादिभिः सुखिनो निर्यृतस्य शिष्यादिलाभे कुंडिकादिदानं, दुःखिनो व्याध्युपपीडितस्य सुखशय्यासनौषधान्नपानमर्दनादिभिरुपकार उपचारः । **तुम्हं अहंति वयणं**—युष्माकमहमिति वचनं युष्माभिर्यदादिश्यते तस्य सर्वस्याहं कर्ता इति । अथवा युष्मा-

---

गाथार्थ—संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से युक्त आगन्तुक और स्थानीय अर्थात् उस संघ में रहनेवाले साधुओं के बीच जो परस्पर में मार्ग से आने-जाने के विषय में सुख समाचार पूछना है वह मार्गोपसंपत् है।।१४२।।

आचारवृत्ति—जो संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से सहित हैं ऐसे साधु यदि विहार करते हुए आ रहे हैं तो वे आगन्तुक कहलाते हैं। ऐसे साधु यदि कहीं ठहरे हुए हैं तो वे वास्तव्य कहलाते हैं। यदि आगन्तुक साधु किसी संघ में आये हैं तो वे साधु और अपने स्थान—वसतिका आदि में ठहरे हुए साधु आपस में एक-दूसरे से मार्ग के आने-जाने से सम्बन्धित कुशल प्रश्न करते हैं अर्थात् 'आपका विहार सुख से हुआ है न ? आप वहाँ से सुखपूर्वक तो आ रहे हैं न ?' इत्यादि मार्ग विषयक सुख-समाचार पूछना मार्गोपसंपत् है।

अब सुखदुःखोपसंपत् क्या है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—साधु के सुख-दुःख में वसतिका, आहार और औषधि आदि से उपकार करना और 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा वचन बोलना सुखदुःखोपसंपत् है।।१४३।।

आचारवृत्ति—यहाँ सुख-दुःख निमित्तभूत हैं इसलिए साधुओं के सुख-दुःख के प्रसंग में अथवा सुख-दुःख से युक्त साधुओं का वसतिका आदि के द्वारा उपकार करना अर्थात् यदि आगन्तुक साधु सुखी हैं और उन्हें यदि मार्ग में शिष्य आदि का लाभ हुआ है तो उन्हें उनके लिए उपयोगी पिच्छी, कमण्डलु आदि देना और यदि आगन्तुक साधु दुःखी हैं, व्याधि आदि से पीड़ित हैं तो उनके लिए सुखप्रद शय्या, संस्तर आदि आसन, औषध, अन्न-पान से तथा उनके हाथ-पैर दबाना आदि वैयावृत्ति से उनका उपकार करना। 'मैं आपका ही हूँ, आप जो आदेश

कमेतत्सर्वं मदीयमिति वचनं। सुहदुक्खुवसंपया—सुखदुःखोपसंपत्। णेया—ज्ञातव्या। सुखदुःखनिमित्तं विष्ट-वसतिकादिभिरुपचारो युष्माकमिति वचनं उपसम्पत् सुखदुःखविषयेति।

पंचम्या उपसम्पदः स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

उवसंपया य सुत्ते तिविहा सुत्तत्थतदुभया चेव।
एक्केक्का विय तिविहा लोइय वेदे तहा समये ॥१४४॥

सूत्रविषयोपसम्पच्च त्रिविधा त्रिप्रकारा। सुत्तत्थतदुभया चेव—सूत्रार्थतदुभया चैव सूत्रार्थो यत्नः सूत्रोपसम्पत्, अर्थनिमित्तो यत्नो ऽर्थोपसम्पत्, सूत्रार्थोभयहेतुर्यत्नः तदुभयोपसंपत् तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति। एकैकापि च सूत्रार्थोभयसम्पत् लौकिकवैदिकसामायिकशास्त्रभेदात्त्रिविधा। लौकिकसूत्रार्थतदुभयानामवगमः। तथा वैदिकानां सामायिकानां च। हुण्डावसर्पिण्यपेक्षया वैदिकशास्त्रस्य ग्रहणं। अथवा सर्वकालं नयाभिप्रायस्य सम्भवाद्वैदिकस्य न दोषः। अथवा वेदे सिद्धान्ते समये तर्कादो इति। तुम्हं महद्गुरुकुले आत्मनो निसर्गः उपसम्पदुक्ता[1]।

पदविभागिकस्य सामाचारस्य निरूपणार्थमाह—

करेंगे वह सब हम करेंगे', अथवा जो यह सब मेरा है वह सब आपका ही है ऐसे वचन बोलना यह सब सुख-दुःखोपसंपत् है।

विशेष—प्रश्न हो सकता है कि साधु साधु के लिए वसितका, आहार, औषधि आदि कैसे देंगे ? समाधान यह है कि किसी वसितका आदि में ठहरे हुए आचार्य उस वसतिका में ही उचित स्थान देंगे या अन्य वसतिकाओं में उनकी व्यवस्था करा देंगे अथवा श्रावकों द्वारा वसतिका की व्यवस्था करायेंगे, ऐसे ही श्रावकों के द्वारा उनके स्वास्थ्य आदि के अनुकूल आहार या रोग आदि के निमित्त औषधि आदि की व्यवस्था करायेंगे। यही व्यवस्था सर्वत्र विधेय है।

अब पंचम सूत्रोपसंपत् का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सूत्र के विषय में उपसंपत् तीन प्रकार की है—सूत्रोपसंपत्, अर्थोपसंपत् और तदुभयोपसंपत्। फिर लौकिक, वेद और समय की अपेक्षा से वह एक-एक भी तीन प्रकार की हो जाती हैं ॥१४४॥

आचारवृत्ति—सूत्रोपसंपत् के तीन भेद हैं—सूत्रोपसंपत्, अर्थोपसंपत् और सूत्रार्थोप-संपत्। सूत्र के लिए प्रयत्न करना सूत्रोपसंपत् है। उसके अर्थ को समझने के लिए प्रयत्न करना अर्थोपसंपत् है तथा सूत्र और अर्थ दोनों के लिए प्रयत्न करना सूत्रार्थोपसंपत् है। इन एक-एक के भी लौकिक, वैदिक और सामायिक शास्त्रों के भेद की अपेक्षा से तीन-तीन भेद हो जाते हैं। लौकिक सूत्र का ज्ञान लौकिक सूत्रोपसंपत् है, लौकिक सूत्र के अर्थ का ज्ञान लौकिक सूत्र के अर्थ का उपसंपत् और लौकिक सूत्र तथा उसका अर्थ इन दोनों का ज्ञान लौकिक सूत्रार्थ उप-संपत् है। ऐसे ही वैदिक और सामायिक के विषय में भी समझना चाहिए अर्थात् वैदिक सूत्रो-पसंपत्, वैदिकार्थोपसंपत् और वैदिकसूत्रार्थोपसंपत् ये तीन भेद हैं। ऐसे ही सामायिकसूत्रोप-संपत्, सामायिकसूत्रसम्बन्धी अर्थोपसंपत् और सामायिक सूत्रार्थोपसंपत् ये तीन भेद होते हैं।

---

१. क 'त्मा सा सर्पं भक्तीत्यादं'।

कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं।
विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥१४५॥

कोई—कश्चित्। सव्वसमत्थो—सर्वैरपि प्रकारैर्वीर्यधैर्यविद्याबलोत्साहादिभिः समर्थः कल्पः सर्वसमर्थः। सगुरुसुदं—स्वगुरुश्रुतं आत्मीयगुरूपाध्यायागतं शास्त्रं। सव्वं—सर्वं निरवशेषं। आगमित्ताणं—आगम्य ज्ञात्वा। विणएण—विनयेन मनोवचनकायप्रणामैः। उवक्कमित्ता—उपक्रम्य प्रारभ्योपढौक्य। पुच्छदि—पृच्छति अनुज्ञां याचते। सगुरुं—स्वगुरुं। पयत्तेण—प्रयत्नेन प्रमादं त्यक्त्वा। कश्चित् सर्वशास्त्राधिगमबलोपेतः स्वगुरुशास्त्रमधिगम्य, अन्यदपि शास्त्रमधिगन्तुमिच्छन् विनयेनोपक्रम्य प्रयत्नेन स्वगुरुं पृच्छति गुरुणानुज्ञातेन गन्तव्यमित्युक्तं भवति।

यहाँ पर हुण्डावसर्पिणी की अपेक्षा से वैदिक शास्त्र का ग्रहण किया है। अथवा सभी कालों में नयों का अभिप्राय सम्भव है इसलिए वैदिक को भी सर्वकाल में माना जा सकता है। अथवा वेद अर्थात् सिद्धान्त और समय अर्थात् तर्कादि सम्बन्धी ग्रन्थ इनके विषय में उपसंपत् समझना। इस प्रकार से महान् गुरुकुल में अपना आत्म समर्पण करना यह उपसंपत् है इसका कथन पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ—व्याकरण, गणित आदि शास्त्रों को लौकिक शास्त्र कहते हैं। द्वादशांग श्रुत, प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोग; सिद्धान्त ग्रन्थ—षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबन्ध आदि तथा स्याद्वादन्याय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, समयसार आदि अध्यात्मशास्त्र ये सभी समयरूप अर्थात् सामायिक शास्त्र कहलाते हैं। वैदिक—ऋग्वेद आदि वेदों को वैदिक शास्त्र कहते हैं यह कथन वर्तमान के हुण्डावसर्पिणी की अपेक्षा है। पुनः टीकाकार ने यह भी कहा है कि नयों के अभिप्राय से सभी कालों में भी ग्रहण कर लिया गया है क्योंकि इन वेदों का ज्ञान भी कुनयों में अन्तर्भूत है। अथवा अन्य लक्षण भी टीकाकार ने किया है यथा—'वेद' से सिद्धान्त शास्त्रों का ग्रहण है और 'समय' से तर्कादि शास्त्रों का ग्रहण किया है। चूंकि प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगों को वेदसंज्ञा है और स्वसमय परसमय से स्वमत-परमत के विषय में परमत का खण्डन करके स्वमत का मण्डन करनेवाले न्यायग्रन्थ ही हैं।

यहाँ तक औघिक समाचार नीति का वर्णन हुआ।

अत्र पदविभागी समाचार का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—कोई सर्वसमर्थ साधु अपने गुरु के सम्पूर्ण श्रुत को पढ़कर, विनय से पास आकर और प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु से पूछता है ॥१४५॥

आचारवृत्ति—वीरता, धीरता, विद्या, बल और उत्साह आदि सभी प्रकार के गुणों से समर्थ कोई मुनि अपने दीक्षागुरु या अपने संघ के उपाध्याय—विद्यागुरु के उपलब्ध सभी शास्त्रों को पढ़कर पुनः अन्यान्य शास्त्रों को पढ़ने की इच्छा से उनके पास आकर विनयपूर्वक—मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करके प्रयत्न से उनसे पूछता है अर्थात् अन्य संघ में जाने की आज्ञा माँगता है। अभिप्राय यह है कि गुरु की आज्ञा मिलने पर ही जाना चाहिए अन्यथा नहीं।

किं तत्पृच्छति इत्यत्रोच्यते—

तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ ॥१४६॥

तुज्झं पादपसादेण—त्वत्पादप्रसादात् त्वत्पादानुज्ञया। अण्णं—अन्यत्। इच्छामि—अभ्युपैमि। गंतुं—यातुं। आयदणं—सर्वशास्त्रपारंगतं चरणकरणोद्यतमाचार्यं, यद्यपि षडायतनानि लोके सर्वज्ञः, सर्वज्ञालयं, ज्ञानं, ज्ञानोपयुक्तः, चारित्रं, चारित्रोपयुक्त इति भेदाद्भवन्ति तथापि ज्ञानोपयुक्तस्याचार्यस्य ग्रहणमधिकारात्। किमेकं प्रश्नं करोति नेत्याह तिण्णि व—तिस्रः। पंच व—पंच वा। छा व—षट् वा। वशब्दाच्चतस्रोऽधिका वा। पुच्छाओ—पृच्छाः प्रश्नान्। एत्थ—अत्रावसरे। कुणदि—करोति। अनेनात्मोत्साहो विनयो वा प्रदर्शितः। भट्टारकपादप्रसन्नैः अन्यदायतनं गंतुमिच्छामीत्यनेन प्रकारेण तिस्रः पंच षड्वा पृच्छाः सोऽत्र करोतीति।

ततः किंकरोत्यसावित्याह—

एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो।
अप्पचउत्थो तदिओ विदिओ वासो तदो णीदी ॥१४७॥

एवं—पूर्वोक्तेन न्यायेन। आपुच्छित्ता—आपृच्छ्याभ्युपगमय्य। सगवरगुरुणा—स्वकीयवरगुरुभिः

वह शिष्य गुरु से क्या पूछता है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—'आपके चरणों की कृपा से अब मैं अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ' इस तरह वह मुनि इस विषय में तीन बार या पांच-छह बार प्रश्न करता है ॥१४६॥

आचारवृत्ति—मुनि अपने आचार्य से प्रार्थना करता है, 'हे भगवन्! आप भट्टारक के चरणकमलों की प्रसन्नता से, आपकी आज्ञा से अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ।' तेरह प्रकार के चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं में उद्यत, सर्वशास्त्रों में पारंगत आचार्य को यहाँ आयतन शब्द से कहा है। यद्यपि लोक में छह आयतन प्रसिद्ध हैं—सर्वज्ञदेव, सर्वज्ञ का मन्दिर, ज्ञान, ज्ञान से संयुक्त ज्ञानी, चारित्र और चारित्र से युक्त साधु ये छह माने हैं फिर भी यहाँ प्रकरण वश ज्ञानोपयुक्त आचार्य को ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उन्हीं के विषय में यह अधिकार है। वह मुनि ऐसे ज्ञान में अधिक किन्हीं अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन के लिए जाने हेतु अपने गुरु से एक बार ही नहीं, तीन चार या पांच अथवा छह बार पूछता है। प्रश्न यह हो सकता है कि बार-बार पूछने का क्या हेतु है सो आचार्य बताते हैं कि बार-बार पूछने से अपना उत्साह प्रकट होता है अथवा विशेष विनय प्रकट होती है। अर्थात् पुनः पुनः आज्ञा लेने से आचार्य के प्रति विशेष विनय और अपना अधिक ज्ञान प्राप्त करने में उत्साह मालूम होता है।

पुनः वह मुनि क्या करता है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार गुरु से पूछकर और अपने पूज्य गुरु से आज्ञा प्राप्त वह मुनि अपने सहित चार या तीन, दो मुनि होकर वहाँ से विहार करता है ॥१४७॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से वह मुनि अपने दीक्षागुरु, विद्यागुरु आदि से आज्ञा

दीक्षाश्रुतगुर्वादिभिः । विसज्जिदो—विसृष्टो मुक्तः । संतो—सन् । किमेकाक्यसौ गच्छति नेत्याह—अप्पच-उत्थो—चतुर्णां पूरणश्चतुर्थः आत्मा चतुर्थो यस्यासावात्मचतुर्थः । त्रयाणां द्वयोर्वा पूरणस्तृतीयो द्वितीयः । आत्मा तृतीयो द्वितीयो वा यस्यासावात्मतृतीय आत्मद्वितीयः । त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेन वा सह गंतव्यं नैकाकिना । सो तदो—स साधुस्ततः तस्मात् स्वगुरुकुलात् । णीदि—निर्गच्छति । एवमापृच्छ्य स्वकीयवरगुरुभिश्च विसृष्टः सन्नात्मचतुर्थो निर्गच्छति, आत्मतृतीय आत्मद्वितीयो वा उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् ॥१४७॥

किमिति कृत्वान्येन न्यायेन विहारो न युक्तो यतः—

गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव ।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥१४८॥

गिहिदत्थेय—गृहीतो ज्ञातोऽर्थो जीवादितत्त्वं येनासौ गृहीतार्थश्च एकः प्रथमः । विहारो—विहरणं देशान्तरगमनेन चारित्रानुष्ठानं । अथवा विहरतीति विहारः एकश्च विहारश्चैकविहारः । विदिओ—द्वितीयः । अगिहीदत्थसंसिदो—अगृहीतार्थेन संश्रितो युक्तः । अथ को द्वितीयः, अगृहीतार्थस्तस्यानेन सहाचरणं नैकस्य । एत्तो—एताभ्यां गृहीतागृहीतार्थसंश्रिताभ्यामन्यः । तदियविहारो—तृतीयविहारः । णाणुण्णादो—नानुज्ञातोः नाभ्युपगतो जिनवरैरर्हद्भिः । एको गृहीतार्थस्य विहारोऽपरोगृहीतार्थेन संश्रितस्य तृतीयो नानुज्ञातः परमेष्ठिभिरिति ।

लेकर पुनः क्या एकाकी जाता है ? नहीं, किंतु वह तीन को साथ लेकर या दो मुनियों या फिर एक मुनि के साथ जाता है । अर्थात् कम से कम दो मुनि मिलकर अपने गुरु के संघ से निकलते हैं । वह एकाकी नहीं जाता है ऐसा समझना । सारांश रूप से उत्कृष्ट तो यह है कि वह मुनि अपने साथ तीन मुनियों को लेकर जावे । मध्यम मार्ग यह है कि दो मुनियों के साथ जावे और जघन्य मार्ग यह है कि एक मुनि अपने साथ लेकर जावे । अकेले जाना उचित नहीं है ।

अन्य रीति से मुनि का विहार क्यों युक्त नहीं ? इसी बात को बताते हैं—

गाथार्थ—गृहीतार्थ विहार नाम का विहार एक है और अगृहीतार्थ से सहित विहार दूसरा है। इनसे अतिरिक्त तीसरा कोई भी विहार जिनेन्द्रदेव ने स्वीकार नहीं किया है ॥१४८॥

आचारवृत्ति—गृहीत—जान लिया है अर्थ—जीवादि तत्त्वों को जिन्होंने उनका विहार गृहीतार्थ कहलाता है। यह पहला विहार है अर्थात् जो जीवादि पदार्थों के ज्ञाता महासाधु देशांतर में गमन करते हुए चरित्र का अनुष्ठान करते हैं उनका विहार गृहीतार्थ नाम का विहार है । अथवा गृहीतार्थ साधु एक—एकल विहारी होता है । दूसरा विहार अगृहीत अर्थ से सहित है । इनके अतिरिक्त तीसरा विहार अर्हंतदेव ने स्वीकार नहीं किया है ।

भावार्थ—विहार के दो भेद हैं गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ । तत्त्वज्ञानी मुनि चारित्र में दृढ़ रहते हुए जो सर्वत्र विचरण करते हैं उनका विहार प्रथम है और जो अल्पज्ञानी चारित्र का पालन करते हुए विचरण करते हैं उनका विहार द्वितीय है । इनके सिवाय अन्य तरह का विहार जिनशासन में अमान्य है ।

किंविशिष्ट एकविहारीत्यत आह—

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य ।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥१४९॥

तपो द्वादशविधं सूत्रं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वरूपं कालक्षेत्रानुरूपो वाऽऽगमः प्रायश्चित्तादिग्रन्थो वा सत्त्वं—कायगतं अस्थिगतं च बलं देहात्मकं वा भावसत्त्वं, एकत्वं शरीरादिविविक्ते स्वात्मनि रतिः भावः शुभपरिणामः सत्त्वकार्यं, संहननं अस्थित्वग्दृढता वज्रर्षभनाराचादित्रयं, धृतिः मनोबलं, क्षुधाद्यबाधनं चैतासां द्वंद्वः एताभिर्युक्तस्तपःसूत्रसत्त्वैकत्वभावसंहननधृतिसमग्रः । न केवलमेवंविशिष्टः किन्तु पवियाआगमबलिओ—प्रव्रज्यागमबलवांश्च तपसा वृद्धः, आचारसिद्धान्तक्षुण्णश्च यः स एकविहारी अनुज्ञातोऽनुमतो जिनवरैरिति सम्बन्धः ।

न पुनरेवंभूतः—

सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे ।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी ॥१५०॥

सच्छंदगदागदी—स्वैरं स्वेच्छया गत्यागती गमनागमने यस्यासौ स्वैरगतागतिः । केषु स्थानेष्वि-

---

एकलविहारी साधु कैसे होते हैं ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण दीक्षा और आगम में बली मुनि एकलविहारी स्वीकार किया गया है ॥१४९॥

आचारवृत्ति—अनशन आदि द्वादश प्रकार का तप है। बारह अंग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते हैं अथवा उस काल-क्षेत्र के अनुरूप जो आगम है वह भी सूत्र है तथा प्रायश्चित्त ग्रन्थ आदि भी सूत्र नाम से कहे गए हैं। शरीरगत बल को, अस्थि की शक्ति को अथवा भावों के बल को सत्त्व कहते हैं। शरीर आदि से भिन्न अपनी आत्मा में रति का नाम एकत्व है। और शुभ परिणाम को भाव कहते हैं यह सत्त्व का कार्य है। अस्थियों की और त्वचा की दृढ़ता वज्रऋषभ आदि तीन संहननों में विशेष रहती है। मनोबल को धैर्य कहते हैं। क्षुधादि से व्याकुल नहीं होना धैर्यगुण है। जो इन तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव तथा उत्तम संहनन और धैर्य गुणों से परिपूर्ण हैं; इतना ही नहीं, दीक्षा से आगम से भी बलवान हैं अर्थात् तपश्चर्या से वृद्ध हैं—अधिक तपस्वी हैं, आचार सम्बन्धी सिद्धान्त में भी अक्षुण्ण हैं—निष्णात हैं। अर्थात् आचार ग्रन्थों के अनुकूल चर्या में निपुण हैं ऐसे गुणविशिष्ट मुनि को ही जिनेन्द्रदेव ने एकलविहारी होने की अनुमति दी है।

किन्तु जो ऐसे गुणयुक्त नहीं हैं उनके लिए क्या आज्ञा है ?

गाथार्थ—गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जन करना—इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करनेवाला है, और बोलने में भी स्वच्छन्द रुचि वाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे ॥१५०॥

आचारवृत्ति—जिसका स्वैर वृत्ति से गमन-आगमन है। किन-किन स्थानों में ?—

त्याह—सयणं—शयनं। णिसयणं—निषदनं आसनं। आदाणं—आदानं ग्रहणं। भिक्ख—भिक्षा। वोसरणं—मूत्रपुरीषाद्युत्सर्गः। एतेषु प्रदेशेषु शयनासनादानभिक्षाद्युत्सर्गकालेषु। सच्छंदजंपिरोचि य—स्वेच्छया जल्पनशीलश्च स्वेच्छया जल्पने रुचिर्यस्य वा एवंभूतो यः सः। मे—मम शत्रुरप्येकाकी माभूत् किं पुनर्मुनिरिति।

यदि पुनरेवंभूतोऽपि विहरति ततः किं स्यादतः प्राह—

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।
भिंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥१५१॥

गुरुपरिवादो—गुरोः परिवादः परिभवः केनायं निःशीलो लुञ्चितः इति लोकवचनं। सुदवुच्छेदो—श्रुतस्य व्युच्छेदो विनाशः स तथाभूतस्तं दृष्ट्वा अन्योऽपि भवति अन्योऽपि कश्चिदपि न गुरुगृहं सेवते ततः श्रुतविनाशः। तित्थस्स—तीर्थस्य शासनस्य। मइलणा—मलिनत्वं नमोस्तूनां[1] शासने एवंभूताः सर्वेऽपीति मिथ्यादृष्ट्यो वदन्ति। जडदा—मूर्खत्वं। भिंभल—विह्वल आकुलः। कुसील—कुशीलः। पासत्थ—पार्श्वस्थ एतेषां भावः विह्वलकुशीलपार्श्वस्थता। उस्सारकप्पम्हि—उत्सारकल्पे त्याज्यकल्पे गणं त्यक्त्वा एकाकिनो विहरणे इत्यर्थः। मुनिनैकाकिना विहरमाणेन गुरुपरिभवश्रुतव्युच्छेदतीर्थमलिनत्वजडताः कृता भवन्ति तथा विह्वलत्वकुशीलत्वपार्श्वस्थत्वानि कृतानीति ॥१५१॥

सोने में, बैठने में, किसी वस्तु के ग्रहण करने में, आहार ग्रहण करने में, और मलमूत्रादि के विसर्जन करने में—इन प्रसंगों में जो स्वेच्छा से प्रवृत्ति करता है और बोलने में जो स्वेच्छाचारी है ऐसा मेरा शत्रु भी एकाकी न होवे फिर मुनि की तो बात ही क्या है। अर्थात् आहार, विहार नीहार, उठना, बैठना, सोना और किसी वस्तु का उठाना या धरना इन सभी कार्यों में जो आगम के विरुद्ध मनमानी प्रवृत्ति करता है ऐसा कोई भी, मेरा शत्रु ही क्यों न हो, अकेला—न रहे, मुनि की तो बात ही क्या है। उन्हें तो हमेशा गुरुओं के संघ में ही रहना चाहिए।

और फिर भी यदि ऐसा मुनि अकेला विहार करता है तो क्या होता है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति में गुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता मूढ़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते हैं ॥१५१॥

आचारवृत्ति—उत्सार कल्प में गण को छोड़कर एकाकी विहार करने पर उस मुनि के गुरु का तिरस्कार होता है अर्थात् इस शीलशून्य मुनि को किसने मूंड दिया है ऐसा लोग कहने लगते हैं। श्रुत की परम्परा का विच्छेद हो जाता है अर्थात् ऐसे एकाकी अनर्गल साधु को देखकर अन्य मुनि भी ऐसे हो जाते हैं, पुनः कुछ अन्य भी मुनि देखादेखी अपने गुरुगृह अर्थात् गुरु के संघ में नहीं रहते हैं तब श्रुत—शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण न करने से श्रुत का नाश हो जाता है। तीर्थ का अर्थ शासन है। जिनेन्द्रदेव के शासन को 'नमोस्तु शासन' कहते हैं अर्थात् इसी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में मुनियों को 'नमोस्तु' शब्द से नमस्कार किया जाता है। इस नमोस्तु शासन में—जैन शासन में सभी मुनि ऐसे ही (स्वच्छन्द) होते हैं ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहने लगते हैं। तथा उस मुनि में स्वयं मूर्खता, विह्वलता, कुशीलता और पार्श्वस्थ इन दुर्गुण प्रवेश कर जाते हैं;

---

1. क 'स्वं सर्वज्ञानां शा'।

न केवलमेते दोपा किन्त्वात्मविपत्तिश्चेत्यत आह—

कंटयखण्णुयपडिणियसाणगोणादिसप्पमेच्छेहिं ।
पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव ॥१५२॥

कंटय—कण्टकाः । **खण्णुय**—स्थाणुः । **पडिणिय**—प्रत्यनीकाः क्रुद्धाः । **साणगोणदि**—श्वगवादयः । **सप्पमेच्छेहिं**—सर्पम्लेच्छाः । एतेषां द्वन्द्वस्तैः कण्टकस्थाणुप्रत्यनीकश्वगवादिसर्पम्लेच्छैः । **पावइ**—प्राप्नोति । **आदविवत्ती**—आत्मविपत्तिं स्वविनाशं । **विसेण य**—विषेण च मारणात्मकेन द्रव्येण । **विसूइया चेव**—विसूचिकया चाजीर्णेन । एवकारो निश्चयार्थः । निश्चयेनैकाकी विहरन् कण्टकादिभिर्विषेण विसूचिकया वात्मविपत्तिं प्राप्नोति ॥१५२॥

विहरंस्तावत्तिष्ठतु तिष्ठन् कश्चित् पुनर्निर्धर्मो गुरुकुलेऽपि द्वितीयं नेच्छतीत्याह—

गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो ।
गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥१५३॥

गारविओ—गौरवसमन्वितः ऋद्धिरसातप्राप्त्या अभ्यानधिविपति । **गिद्धीओ**—गृद्धिक आकां-

---

भावार्थ—जो मुनि आगम से विरुद्ध होकर अकेले विहार करते हैं उनके निमित्त से उनके दीक्षागुरु का अपमान, श्रुत की परम्परा का विच्छेद, जैन शासन की निन्दा ये दोष होते हैं तथा उस मुनि के अन्दर मूर्खता आदि दोष आ जाते हैं ।

केवल इतने ही दोष नहीं होते हैं, मुनि के आत्मविपत्तियाँ भी आ जाती हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—काँटे, ठूंठ, विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि तथा सर्प और म्लेच्छ जनों से अथवा विष से और अजीर्ण आदि रोगों से अपने आपमें विपत्ति को प्राप्त कर लेता है ॥१५२॥

आचारवृत्ति—निश्चय से एकाकी विहार करता हुआ मुनि काँटे से, ठूंठ से, मिथ्या-दृष्टि, क्रोधी या विरोधी जनों से, कुत्ते-गौ आदि पशुओं से या साँप आदि हिंसक प्राणि से अथवा म्लेच्छ अर्थात् नीच-अज्ञानी जनों के द्वारा स्वयं को कष्ट में डाल लेता है। अथवा विषैले आहार आदि से या हैजा आदि रोगों से आत्म विपत्ति को प्राप्त कर लेता है। इसलिए अकेले विहार करना उचित नहीं है। यहाँ 'एव' शब्द निश्चय अर्थ का वाची है अतः अकेले विहार करनेवाला मुनि निश्चित ही इन कंटक, विष आदि निमित्तों से अपनी हानि कर लेता है।

एकाकी विहार करनेवाले की बात तो दूर ही रहने दीजिए, कोई धर्मशून्य मुनि गुरु के संघ में भी दूसरे मुनिजन को नहीं चाहता है—

गाथार्थ—जो गौरव से सहित है, आहार में लम्पट है, मायाचारी है, आलसी है, लोभी है और धर्म से रहित है ऐसा शिथिल मुनि संघ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहता है ॥१५३॥

आचारवृ

क्षितभोगः ग्रहिको वा । माइल्लो—मायावी कुटिलभावः। अलस—आलस्ययुक्तः उद्योगरहितः । लुद्धो—लुब्धः अत्यागशीलः। णिद्धम्मो—निर्धर्मः पापबुद्धिः। गच्छेवि—गुरुकुलेऽपि ऋषिसमुदायमध्येऽपि त्रैपुरुषिको गणः, साप्तपुरुषिको गच्छः। संवसंतो—संवसन् तिष्ठन्। णेच्छइ—नेच्छति नाभ्युपगच्छति । संघाडयं—संघाटकं द्वितीयं। मंदो—मंदः शिथिलः। कश्चिन्निर्धर्मोऽलसो लुब्धो मायावी गौरविकः कांक्षावान् गच्छेऽपि संवसन् द्वितीयं नेच्छति शिथिलत्वयोगादिति ॥१५३॥

किमेतान्येव पापस्थानानि एकाकिनो विहरतो भवन्तीत्युतान्यान्यपीत्यत आह—

आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य ।
संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा ॥१५४॥

आणा—आज्ञा कोपः सर्वज्ञशासनोल्लंघनं । नन्वाज्ञाग्रहणात्कथमाज्ञाभंगस्य ग्रहणं, एकदेशग्रहणात् यथा भामाग्रहणात् सत्यभामाया ग्रहणं सेनग्रहणाद्वा भीमसेनस्य। अथवोत्तरत्राज्ञाकोपादिग्रहणाद्वा । यद्याज्ञाया एव ग्रहणं स्यादुत्तरत्र कथमाज्ञाकोपादिकाः पंचापि दोषाः कृतास्तेनेत्याचार्यो भणति तस्मादप्रकृतलक्षणवशात् कोपशब्दस्य निवृत्ति कृत्वा निर्देशः कृतः। अणवत्था—अनवस्था अतिप्रसंगः, अन्येऽपि तेनैवप्रकारेण प्रवर्तेरन्। अवि य—अपि च । मिच्छत्ताराहणा—मिथ्यात्वस्याराधना सेवा । आदणासो य—आत्मनो नाशस्वात्मीयानां

हुआ अन्य मुनियों की अवहेलना करता है, जो भोगों की आकांक्षा करनेवाला है अथवा हठग्राह है, कुटिल स्वभावी है, आलसी होने से उद्योग—पुरुषार्थ रहित है, लोभी है, पापबुद्धि है और मन्द शिथिलाचारी है ऐसा मुनि गुरुकुल—ऋषियों के समुदाय के मध्य रहता हुआ भी द्वितीय मुनि का संसर्ग नहीं चाहता है अर्थात् अकेला ही उठना, बैठना, बोलना आदि चाहता है अन्य मुनि के निकट बैठना, उठना पसन्द नहीं करता है। यहाँ पर मूल में 'गच्छ' शब्द है। तदनुसार तीन पुरुषों के समूह को गण और सात पुरुषों के समूह को गच्छ कहते हैं।

भावार्थ—शिष्य, पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु इत्यादि पदार्थ मेरे समान अन्य मुनियों के सुन्दर नहीं हैं ऐसा गर्व करना तथा दूसरों का तिरस्कार करना ऋद्धिगौरव है। भोजन-पान के पदार्थ अच्छे स्वादयुक्त मिलते हैं ऐसा गर्व करना यह रसगौरव है। मैं बड़ा सुखी हूँ इत्यादि गर्व करना सातगौरव है। ऐसा गौरव करनेवाला मुनि उपर्युक्त अन्य भी अवगुणों से सहित हो, संघ में रहकर भी यदि एकाकी बैठना, उठना पसंद करता हुआ स्वच्छन्द रहता है तो वह भी दोषी है।

एकाकी विहार करनेवाले मुनि के क्या इतने ही पापस्थान होते हैं अथवा अन्य भी होते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—एकाकी रहनेवाले के आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश और संयम की विराधना ये पाँच पापस्थान माने गए हैं ॥१५४॥

आचारवृत्ति—अकेले विहरण करनेवाले मुनि के सर्वज्ञदेव की आज्ञा का उल्लंघन होना यह एक दोष होता है।

प्रश्न—गाथा में मात्र 'आज्ञा' शब्द है। उससे मात्र से 'आज्ञा का भंग होना' ऐसा अर्थ आप टीकाकार कैसे करते हैं?

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां विघातः, आत्मीयस्य कार्यस्य वा। संयमविराहणाविय—संयमस्य विराधनापि च, इन्द्रियप्रसरोऽविरतिश्च। एदेदु—एतानि तु। णिकाइया—निकाचितानि पापागमनकारणानि निश्चितानि पुष्टानि वा। ठाणाणि—स्थानानि। अपि च शब्दादन्यान्यपि कृतानि भवन्ति इत्यध्याहारः। एकाकिनो विहरत एतानि पंचस्थानानि भवन्त्येवान्यानि पुनर्भाज्यानीति।

एवंभूतस्य तस्य सश्रुतस्य ससहायस्य विहरतः कथंभूते गुरुकुले वासो न कल्पते इत्याह—

उत्तर—एक देश ग्रहण से भी पूर्ण पद के अर्थ का ज्ञान होता है जैसे कि 'भामा' के कहने से सत्यभामा का ग्रहण हो जाता है और 'सेन' शब्द के ग्रहण से भीमसेन का ग्रहण होता है। अथवा आगे १७९ वीं गाथा में 'आज्ञाकोपादयः पंचापि दोषाः कृतास्तेन' ऐसा पाठ है। वहाँ पर आज्ञाकोप शब्द लिया है। यदि यहाँ पर आज्ञा का ही ग्रहण किया जावे तो आगे आज्ञाकोप आदि पाँचों भी दोष उसने किये हैं, ऐसा कैसे कहते? इसलिए यहाँ पर प्राकृत व्याकरण के नियम से 'कोप' शब्द का लोप करके निर्देश किया है ऐसा जानना।

अनवस्था का अर्थ अतिप्रसंग है अर्थात् अन्य मुनि भी उसे एकाकी देखकर वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जावेंगे यह अनवस्था दोष आयेगा तब कहीं कुछ व्यवस्था नहीं बन सकेगी। तथा मिथ्यात्व का सेवन होना यह तृतीय दोष आवेगा। आत्मनाश अर्थात् अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र का विघात हो जावेगा। अथवा अपने निजी कार्यों का भी विनाश हो जावेगा। संयम की विराधना भी हो जावेगी अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह न होकर उनकी विषयों में प्रवृत्ति तथा अविरत परिणाम भी हो जावेंगे। ये पांच निकाचित स्थान अर्थात् पाप के आने के कारणभूत स्थान निश्चित रूप या पुष्ट हो जावेंगे। अपि शब्द से ऐसा समझना कि अन्य भी पापस्थान उस मुनि के द्वारा किये जा सकेंगे अर्थात् जो एकलविहारी बनेंगे उनके ये पांच दोष तो होंगे ही होंगे, अन्य भी दोष हो सकते हैं वे वैकल्पिक हैं।

भावार्थ—जो मुनि स्वच्छन्द होकर एकाकी विचरण करते हैं सबसे पहले तो वे जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उलंघन करना—यह एक पाप करते हैं। उनकी देखा-देखी अन्य मुनि भी एकाकी विचरण करने लगते हैं। और तब ऐसी परम्परा चलने लग जाती है—यह दूसरा अनवस्था नामक दोष है। लोगों के संसर्ग से अपना सम्यक्त्व छूट जाता है और मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्यात्व के संस्कार बन जाते हैं—यह तीसरा दोष है। उस मुनि के अपने निजी गुण सम्यग्दर्शन आदि हैं जिन्हें बड़ी मुश्किल से प्राप्त किया है, उनकी हानि हो जाती है—यह चौथा पाप होता है और असंयमी निरर्गल जीवन हो जाने से संयम की विराधना भी हो जाती है। ये पाँच निकाचित अर्थात् निश्चित रूप से मजबूत पापस्थान तो होते ही होते हैं, अन्य भी दोष संभव हैं। इसलिए जिनकल्पी—उत्तम संहनन आदि गुणों से युक्त मुनि के सिवाय सामान्य—अल्पशक्तिवाले मुनियों को एकलविहारी होने के लिए जिनेन्द्रदेव की आज्ञा नहीं है।

इसप्रकार के श्रुत सहित और सहाय सहित जो साधु विहार करता है उसे किस प्रकार के गुरुकुल में निवास करना ठीक नहीं है? सो ही कहते हैं—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥१५५॥

तत्थ—तत्र गुरुकुले। ण कप्पइ—न कल्पते न युज्यते। वासो—वसनं वासः स्थानं। जत्थ—यत्र यस्मिन् गुरुकुले। णत्थि—न संति न विद्यन्ते। इमे—एते। पंच आधारा—आधारभूताः अनुग्रहकुशलाः। के तेऽत आह—आयरिय—आचार्यः। उवज्झाय—उपाध्यायः, आचर्यतेऽस्मादाचार्यः, उपेत्यास्मादधीयते उपाध्यायः। पवत्त—प्रवर्तकः, संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः। थविर—स्थविर यस्मात् स्थिराणि आचरणानि भवन्तीति स्थविरः। गणधरा य—गणधराश्च गणं धरतीति गणधरः। यत्र इमे पंचाधारा आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणधरा न सन्ति तत्र न कल्पते वास इति ॥१५५॥

अथ किलक्षणास्तेऽत आह—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ॥१५६॥

एतेषामाचार्यादीनामेतानि यथासंख्येन लक्षणानि। सिस्साणुग्गहकुसलो—शिष्यस्य शासितुं योग्यस्यानुग्रह उपादानं तस्मिंस्तस्य वा कुशलो दक्षः शिष्यानुग्रहकुशलो दीक्षादिभिरनुग्राहकः परस्यात्मनश्च। धम्मुवदेसो य—धर्मस्य दशप्रकारस्योपदेशकः कथकः धर्मोपदेशकः। संघवट्टवओ—संघप्रवर्तकश्चर्यादिभिरुपकारकः। मज्जादुवदेसोविय—मर्यादायाः स्थितेरुपदेशको मर्यादोपदेशकः। गणपरिरक्खो—गणस्य परिरक्षकः

गाथार्थ—जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार नहीं हैं वहाँ पर रहना उचित नहीं है ॥१५५॥

आचारवृत्ति—जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं। पास में आकर जिनसे अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। जो संघ का प्रवर्तन करते हैं वे प्रवर्तक कहलाते हैं। जिनसे आचरण स्थिर होते हैं वे स्थविर कहलाते हैं और जो गण—संघ को धारण करते हैं वे गणधर कहलाते हैं। जिस गुरुकुल में ये पांच आधारभूत—अनुग्रह करने में कुशल नहीं हैं उस गुरुकुल—संघ में उपर्युक्त मुनि का रहना उचित नहीं है।

इनके लक्षण क्या क्या हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल को आचार्य, धर्म के उपदेशक को उपाध्याय, संघ की प्रवृत्ति करनेवाले को प्रवर्तक, मर्यादा के उपदेशक को स्थविर और गण के रक्षक को गणधर जानना चाहिए ॥१५६॥

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिकों के ये उपर्युक्त लक्षण क्रम से कहे गये हैं। 'शासितुं योग्यः शिष्यः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अनुशासन के योग्य हैं वे शिष्य कहलाते हैं। उनके अनुग्रह में अर्थात् उनको ग्रहण करने में जो कुशल होते हैं, दीक्षा आदि के द्वारा पर के ऊपर और स्वयं पर अनुग्रह करनेवाले हैं वे आचार्य कहलाते हैं। दश प्रकार के धर्म को कहनेवाले उपाध्याय कहलाते हैं। चर्या आदि के द्वारा संघ का प्रवर्तन करनेवाले प्रवर्तक होते हैं। मर्यादा का उपदेश देनेवाले अर्थात् व्यवस्था बनानेवाले स्थविर कहलाते हैं और गण के पालन

पालकोगणपरिरक्षकश्च । मुणेयव्वो—मन्तव्यो ज्ञातव्यः । मन्तव्यशब्दः सर्वत्र संबंधनीयः । यत्र चैते पंचाधाराः सन्ति तत्र वासः कर्तव्य इति शेषः ॥१५६॥

अथ तेन गच्छता यद्यन्तराले किंचिल्लब्धं पुस्तकादिकं तस्य कोऽर्हं इत्याह—

जंतेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं ।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सोवि ॥१५७॥

जंतेण—यत्तेन[1] । अंतरलद्धं—अन्तराले लब्धं प्राप्तं । **सचित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं**—सचित्ताचित्तमिश्रकं द्रव्यं सचित्तं छात्रादिकं, अचित्तं पुस्तकादिकं, मिश्रं पुस्तकादिसमन्वितं जीवद्रव्यं । तस्स य—तस्य च । **सो आयरिओ**—स आचार्यः । अरिहदि—अर्हः । अथवा तद्द्रव्यं आचार्योऽर्हति । सचित्ताचित्तमिश्रकं द्रव्यं यत्तेनान्तराले लब्धं तस्य स आचार्योऽर्होऽर्हति वा तद्द्रव्यमिति वा आचार्योऽपि कथं विशिष्टः **एवंगुणो सोवि**—एवंगुणः सोऽपि ।

कथंगुणोत आह—

संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती ।
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य ॥१५८॥

संगहणुग्गहकुसलो—संग्रहणं संग्रहः, अनुग्रहणमनुग्रहः, कोऽनयोर्भेदो दीक्षादिदानेनात्मीयकरणं

करनेवाले को गणधर कहते हैं, ऐसा जानना चाहिए । जिस संघ में ये पांच आधार रहते हैं उसी संघ में निवास करना चाहिए ।

विहार करते हुए मार्ग के मध्य जो कुछ भी पुस्तक या शिष्य आदि मिलते हैं उनको ग्रहण करने के लिए कौन योग्य हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर बताते हैं—

गाथार्थ—उस मुनि ने सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र ऐसा द्रव्य जो कुछ भी मार्ग के मध्य प्राप्त किया है उसके ग्रहण करने के लिए वह आचार्य योग्य होता है । वह आचार्य भी आगे कहे हुए गुणों से विशिष्ट होना चाहिए ॥१५७॥

आचारवृत्ति—उस मुनि के विहार करते हुए मार्ग के गांवों में जो कुछ भी द्रव्य सचित्त—छात्र आदि, अचित्त—पुस्तक आदि और मिश्र—पुस्तक आदि से सहित शिष्य आदि मिलते हैं उन सब द्रव्य का स्वामी वह आचार्य होता है । आचार्य भी कैसे होना चाहिए ? वह आचार्य भी आगे कहे जानेवाले गुणों से समन्वित होना चाहिए ।

वह आचार्य किन गुणों से युक्त होना चाहिए ? सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—वह आचार्य संग्रह और अनुग्रह में कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त, क्रिया और चारित्र में तत्पर और ग्रहण करने योग्य उपादेय वचन बोलनेवाला होता है ॥१५८॥

आचारवृत्ति—संग्रह और अनुग्रह में क्या अन्तर है ? दीक्षा आदि देकर अपना

---

1. क यत्नेन ।

संग्रहः दत्तदीक्षस्य शास्त्रादिभिः संस्करणमनुग्रहस्तयोः कर्तव्ये ताभ्यां वा कुशलो निपुणः। सुत्तत्थविसारओ—सूत्रं चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोस्ताभ्यां वा विशारदोऽवबोधको विस्तारको वा सूत्रार्थविशारदः। पहिदकित्ती—प्रख्यातकीर्तिः। किरियाचरणसुजुत्तो—क्रिया त्रयोदशप्रकारा पंचनमस्कारावश्यकासिकानिषेधिकाभेदात्। आचरणमपि—त्रयोदशविधं पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिविकल्पात्। तयोस्ताभ्यां वा सुयुक्तः आसक्तः क्रियाचरणसुयुक्तः। गाहुयं—ग्राह्यं। आदेज्जं—आदेयं। ग्राह्यं वचनं यस्यासौ ग्राह्यादेयवचनः। उक्तमात्रस्य ग्रहणं ग्राह्यं एवमेवैतदित्यनेन भावेन ग्रहणं, आदेयं प्रमाणीभूतम् ॥१५८॥

पुनरपि—

गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो।
खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥१५९॥

गंभीरो—अक्षोभ्यो गुणैरगाधः। दुद्धरिसो—दुःखेन धृष्यत इति दुर्धर्षः प्रवादिभिरकृतपरिभवः। सूरो—शूरः शौर्योपेतः समर्थः। धम्मप्पहावणासीलो—धर्मश्च प्रभावना च धर्मस्य वा प्रभावना तयोस्ताभ्यां वा शीलं तात्पर्येण वृत्तिर्यस्यासौ धर्मप्रभावनाशीलः। खिदि—क्षितिः पृथिवी, ससि—शशी चन्द्रमा, सायर—

बनाना संग्रह है और जिन्हें दीक्षा आदि दे चुके हैं ऐसे शिष्यों का शास्त्रादि के द्वारा संस्कार करना अनुग्रह है अर्थात् दीक्षा आदि देकर शिष्यों को संघ में एकत्रित करना संग्रह है और पुनः उन्हें पढ़ा लिखाकर योग्य बनाना अनुग्रह है। इन संग्रह और अनुग्रह के कार्य में जो कुशल हैं, निपुण हैं वे 'संग्रहानुग्रहकुशल' कहलाते हैं। जो सूत्र और अर्थ में विशारद हैं, उनको समझाने वाले हैं अथवा उन सूत्र और अर्थ का विस्तार से प्रतिपादन करनेवाले हैं वे 'सूत्रार्थविशारद' कहलाते हैं। जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही है, जो पाँच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका—इन तेरह प्रकार की क्रियाओं में तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र में सम्यक् प्रकार से लगे हुए हैं, आसक्त हैं तथा जिनके वचन ग्राह्य और आदेय हैं, अर्थात् उक्त—कथित मात्र को ग्रहण करना ग्राह्य है जैसे कि गुरु ने कुछ कहा तो 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार के भाव से उन वचनों को ग्रहण करना ग्राह्य है और आदेय प्रमाणीभूत वचन को आदेय कहते हैं। जिनके वचन ग्राह्य और आदेय हैं ऐसे उपर्युक्त सभी गुणों से समन्वित ही आचार्य होते हैं।

पुनरपि उनमें क्या क्या गुण होते हैं?—

गाथार्थ—जो गंभीर हैं, दुर्धर्ष हैं, शूर हैं और धर्म की प्रभावना करनेवाले हैं, भूमि, चन्द्र और समुद्र के गुणों के सदृश हैं इन गुण विशिष्ट आचार्य को यह मुनि क्रम से प्राप्त करता है ॥१५९॥

आचारवृत्ति—जो क्षुभित नहीं होने से अक्षोभ्य हैं और गुणों से अगाध हैं वे गंभीर कहलाते हैं। जिनका प्रवादियों के द्वारा परिभव—तिरस्कार नहीं किया जा सकता है वे दुर्धर्ष कहलाते हैं। शौर्य गुण से सहित अर्थात् समर्थ को शूर कहते हैं। जो गम्भीर हैं, प्रवादियों से अजेय हैं, समर्थ हैं और धर्म की प्रभावना करने का ही जिनका स्वभाव है, जो क्षमागुण में पृथ्वी के सदृश हैं, सौम्य गुण से चन्द्रमा के सदृश और निर्मलता गुण में समुद्र के समान हैं—

सागरः समुद्रः। क्षमया क्षितिः सौम्येन शशी निर्मलत्वेन सागरोऽन्तरैः। सरिसो—सदृशः समः क्षितिशशिसागरसदृशः। एवंगुणविशिष्टो य आचार्यस्तमाचार्यम्। कमेण—क्रमेण न्यायेनागमोक्तेन। सो दु—स तु शिष्यः। संपत्तो—संप्राप्तः प्राप्तवानिति ॥१५९॥

तस्यागतस्याचार्यादयः किं कुर्वन्तीत्याह—

आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति ॥१६०॥

आएसं—आगतं पादोष्णं प्राघूर्णकं [1]आयस्यागतं कृत्वा वा। एज्जंतं—आगच्छन्तं। सहसा—तत्क्षणादेव। दट्ठूण—दृष्ट्वा। संजदा—संयताः। सव्वे—सर्वेऽपि। समुट्ठंति—समुत्तिष्ठन्ते ऊर्ध्वगा भवन्ति। किंहेतोरित्याह—वच्छल्ल—वात्सल्यनिमित्तं। आणा—सर्वज्ञाज्ञापालनकारणं। संगह—संग्रहं आत्मीयकरणार्थं। पणमणहेदुं—प्रणमनहेतोश्च ॥१६०॥

पुनरपि—

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥१६१॥

पच्चुग्गमणं किच्चा—प्रत्युद्गमनं कृत्वा। सत्तपदं—सप्तपदं यथा भवति। अण्णमण्णपणमं च—अन्योन्यप्रणामं च परस्परवन्दनाप्रतिवन्दने च। ततः पाहुणकरणीयकदे—प्राघूर्णकस्य सत्कर्तव्यं तस्मिन् कृते प्रतिपादिते सति पश्चात्। तिरयणसंपुच्छणं—त्रिरत्नसंप्रश्नं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसंप्रश्नं। कुज्जा—कुर्यात्करोतु ॥१६१॥

इस गुण विशिष्ट आचार्य को वह मुनि आगम में कथित प्रकार से प्राप्त करता है। अर्थात् उपर्युक्त गुणसमन्वित के पास वह मुनि पहुँच जाता है।

इस आगत मुनि के लिए आचार्य आदि क्या करते हैं? सो कहते हैं—

गाथार्थ—प्रयास से आते हुए मुनि को देखकर सभी साधु वात्सल्य, जिन आज्ञा, उसका संग्रह और उसे प्रणाम करने के लिए तत्काल ही उठकर खड़े हो जाते हैं ॥१६०॥

आचारवृत्ति—आयासपूर्वक—पर संघ से प्रयास कर आते हुए आगन्तुक मुनि को देखकर संघ के सभी मुनि उठकर खड़े हो जाते हैं। किसलिए? मुनि के प्रति वात्सल्य के लिए, सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करने के लिए, आगंतुक साधु को अपनाने के लिए, और उनको प्रणाम करने के लिए वे संयत तत्क्षण खड़े हो जाते हैं।

पुनरपि वात्सल्य साधु क्या करें?—

गाथार्थ—वे मुनि सात कदम आगे जाकर परस्पर में प्रणाम करके आगन्तुक के प्रति करने योग्य कर्तव्य के लिए उनसे रत्नत्रय की कुशलता पूछें ॥१६१॥

आचारवृत्ति—उठकर खड़े होकर वे संयत सात कदम आगे चलकर, आदर से वन्दना प्रतिवन्दना करें। पुनः आये हुए अतिथि के प्रति जो कर्तव्य है उसको करने के अनन्तर उनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का कुशल प्रश्न करें।

---

1. क आयस्यागतं। 2. क 'वन्दनाम्'।

पुनरपि तस्यागतस्य किं क्रियत इत्याह—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दायव्वो।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेऊं ॥१६२॥

आएसस्स—आगतस्य पादोष्णस्य। तिरत्तं—त्रिरात्रं त्रयो दिवसाः। णियमा—नियमान्निश्चयेन। संघाडओ—संघाटकः सहायः। त्वेवकारार्थे। दायव्वो—दातव्यः। केषु प्रदेशेष्वत आह—किरिया—क्रियाः स्वाध्यायवन्दनाप्रतिक्रमणादिकाः। संथार—संस्तारं शयनीयप्रदेशस्तावादिर्येषां ते क्रियासंस्तारादयस्तेषु षडावश्यकक्रियास्वाध्यायसंस्तरभिक्षामूत्रपुरीषोत्सर्गादिषु[1]। किंनिमित्तमत आह—सहवास—सहवसनं सहवासस्तेन सार्द्धमेकस्मिन् स्थाने सम्यग्दर्शनादिषु सहाचरणं तस्य परिक्खणाहेऊं—परीक्षणं परीक्षा वा तदेव हेतुः कारणं सहवासपरीक्षणहेतुस्तस्मात्तेन सहाचरणं करिष्याम इति हेतोः। आगतस्य नियमात्त्रिरात्रं संघाटको दातव्यः क्रियासंस्तरादिषु सहवासपरीक्षणनिमित्तमिति ॥१६२॥

किं तैरेव परीक्षा कर्तव्या नेत्याह—

आगंतुयवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णाहिं।
अण्णोण्णकरणचरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥१६३॥

आगंतुयवत्थव्वा—आगन्तुकाश्च वास्तव्याश्चागन्तुकवास्तव्याः। पडिलेहाहिं—अन्याभिरन्याभिः क्रियाभिः प्रतिलेखनेन[2] भोजनेन स्वाध्यायेन प्रतिक्रमणादिभिश्च। अण्णमण्णाहिं—परस्परं। अण्णोण्णं—त्रयोदशक्रियाचारित्रं। अथवान्योऽन्यस्य करणचरणं—तयोर्ज्ञानं तदर्थं अन्योन्यकरणचरणज्ञानहेतोः।

पुनरपि उन आगत मुनि के लिए क्या करते हैं? सो बताते हैं—

गाथार्थ—क्रियाओं में और संस्तर आदि में सहवास तथा परीक्षा के लिए आगन्तुक को तीन रात्रि तक नियम से सहाय देना चाहिए ॥१६२॥

आचारवृत्ति—स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ हैं और शयनीय प्रदेश में भूमि, शिला, पाटे या तृण को बिछाना सो संस्तर है तथा आदि शब्द से आहार ग्रहण, मल-मूत्र विसर्जन आदि में, छह आवश्यक क्रियाओं में, स्वाध्याय करने के समय में उनके साथ एक स्थान में रहकर उन सभी में परीक्षा करने के लिए अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि की परीक्षा के लिए आगन्तुक मुनियों को नियम से तीन रात्रिपर्यन्त स्थान देना ही चाहिए।

ऐसा क्यों करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आगन्तुक और वास्तव्य मुनि अन्य-अन्य क्रियाओं के द्वारा और प्रतिलेखन के द्वारा परस्पर में एक-दूसरे की क्रिया और चारित्र को जानने के लिए परीक्षा करते हैं ॥१६३॥

आचारवृत्ति—अतिथि मुनि और संघ में रहनेवाले मुनि आपस में एक-दूसरे की त्रयोदशविध क्रियाओं को और त्रयोदशविध चारित्र को जानने के लिए पिच्छिका से प्रतिलेखन क्रिया में, आहार में, स्वाध्याय और प्रतिक्रमण आदि में एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं। अर्थात्

---

१ क 'षु सहा'। २ क 'नेन स्वा'।

परिच्छंति—परीक्षन्ते गवेषयन्ति । परस्परं त्रयोदशविधकरणचरणं आगन्तुकवास्तव्याः परीक्षन्ते काभिः कृत्वा ? परस्परं दर्शनप्रतिदर्शनक्रियाभिः किंहेतोरवबोधार्थमिति ॥१६३॥

केषु प्रदेशेषु परीक्षन्ते तत आह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाएगविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥१६४॥

आवासयठाणादिसु—आवश्यकस्थानादिषु षडावश्यकक्रियाकायोत्सर्गादिषु आदिशब्दाद्यद्यपि शेषस्य संग्रहः तथापि स्पष्टार्थमुच्यते । **पडिलेहणं**—प्रतिलेखनं चक्षुरिन्द्रियपिच्छिकादिभिस्तात्पर्यं । **वयणं**—वचनं । **गहणं**—ग्रहणं । **णिक्खेवो**—निक्षेप एतेषां द्वन्द्वः प्रतिलेखनवचनग्रहणनिक्षेपेषु । **सज्झाये**—स्वाध्याये । **एगविहारे**—एकाकिनो गमनागमने । **भिक्खग्गहणे**—भिक्षाग्रहणे चर्यामार्गे । **परिच्छंति**—परीक्षन्तेऽन्वेषयन्ति ॥१६४॥

परीक्ष्यागन्तुको यत्करोति तदर्थमाह—

विस्समिदो तद्दिवसं मीमंसित्ता णिवेदयदि गणिणे ।
विणएणागमकज्जं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥१६५॥

विस्समिदो—विश्रान्तः सन् विश्रम्य पथश्रमं त्यक्त्वा । **तद्दिवसं**—तस्मिन्वा दिने तद्दिवसं विश्रम्य गमयित्वा । **मीमंसित्ता**—मीमांसित्वा परीक्ष्य तच्छुद्धाचरणं ज्ञात्वा । **णिवेदयइ**—निवेदयति प्रतिबोध-

---

अतिथि मुनि संघस्थ मुनियों की क्रियाओं को देखकर उनके द्वारा उनकी क्रिया और चारित्र का ज्ञान करते हैं और संघस्थ मुनि आगन्तुक की सभी क्रियाओं को देखते हुए उनके चारित्र आदि की जानकारी लेते हैं ।

किन-किन स्थानों में परीक्षा करते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—*आवश्यक क्रिया के स्थान आदि में, प्रतिलेखन करने, बोलने और उठाने धरने में, स्वाध्याय में, एकाकी गमन में और आहारग्रहण में परीक्षा करते हैं ॥१६४॥*

आचारवृत्ति—छह आवश्यक क्रिया आदि के कायोत्सर्ग आदि प्रसंगों में, किसी वस्तु को चक्षु इन्द्रिय से देखकर पुनः पिच्छिका से परिमार्जन कर ग्रहण करते हैं या नहीं ऐसी प्रतिलेखन क्रिया में, वचन बोलने में और किसी वस्तु के प्रतिलेखनपूर्वक धरने या उठाने में, स्वाध्याय क्रिया में, एकाकी गमन-आगमन करने में और चर्या के मार्ग में, वे साधु आपस में एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं । अर्थात् इनकी क्रियाएँ आगमोक्त हैं या नहीं ऐसा देखते हैं ।

परीक्षा करके आगन्तुक मुनि जो कुछ करता है उसे बताते हैं—

गाथार्थ—*आगन्तुक मुनि उस दिन विश्रांति लेकर और परीक्षा करके विनयपूर्वक अपने आने के कार्य को दूसरे या तीसरे दिन आचार्य के पास निवेदित करता है ॥१६५॥*

आचारवृत्ति—जिस दिन आए हैं उस दिन मार्ग के श्रम को [illegible] विश्रांति में बिताकर पुनः आपस में परीक्षा करके आगन्तुक मुनि उस संघ के [illegible]

यति। गणिणे—गणिने आचार्याय। विणएण—विनयेन। आगमकज्जं—आगमनकार्यं स्वकीयागमनप्रयोजनं। बिदिए—द्वितीये। तदिए—तृतीये। दिवसम्मि—दिवसे। तं दिवसं विश्रम्य द्वितीये तृतीये वा दिवसे विनयेनोपढौक्याचरणं च परीक्ष्याचार्यायागमनकार्यं निवेदयत्यागन्तुकः। अथवाचार्यस्य गृह्यास्त[1] परीक्ष्य निवेदयन्ति गणिने इति ॥१६५॥

एवं [2]निवेदयते यदाचार्यः करोति तदर्थमाह—

आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरिसवासं च।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ॥१६६॥

आगन्तुक णामकुलं—आगन्तुकस्य पादोष्णस्य, नाम—संज्ञा, कुलं—गुरुसंतानः, गुरुः—प्रव्रज्ययादाता। दिक्खामाणं—दीक्षाया मानं परिमाणं। वरिसवासं च—वर्षस्य वासः वर्षावासश्च वर्षाकालकरणं च, आगमणदिसा—आगमनस्य दिशा कस्या दिश आगतः। सिक्खा—शिक्षा श्रुतपरिज्ञानं। पडिक्कमणादीय—प्रतिक्रमण आदिर्येषां ते प्रतिक्रमणादयः। गुरुपुच्छा—गुरोः पृच्छा गुरुपृच्छा। एवं गुरुणा तस्यागतस्य पृच्छा क्रियते किं तव नाम? कुलं च ते किं? गुरुश्च युष्माकं कः? दीक्षापरिमाणं च भवतः कियत्? वर्षाकालश्च भवद्भिः क्व कृतः? कस्या दिशो भवानागतः? किं पठितः? किं च[3] श्रुतं त्वया, कियन्त्यः प्रतिक्रमणास्तव संजाताः, न च[4] भूताः कियन्त्यः। प्रतिक्रमणाशब्दो युजन्तोऽयं द्रष्टव्यः। किं त्वया श्रवणीयं? कियतोऽध्वन आगतो भवानित्यादि ॥१६६॥

एवं तस्य स्वरूपं ज्ञात्वा—

आचरण को शुद्ध जानकर, दूसरे दिन या तीसरे दिन आचार्य के निकट आकर विनयपूर्वक अपने विद्या-अध्ययन हेतु आगमन के कार्य को आचार्य के पास निवेदन करते हैं। अथवा संघस्थ आचार्य के शिष्य मुनिवर्ग उस आगन्तुक की परीक्षा करके 'यह ग्रहण करने योग्य है' ऐसा आचार्य के समीप निवेदन करते हैं।

ऐसा निवेदन करने पर आचार्य जो कुछ करते हैं उसे कहते हैं—

गाथार्थ—आगन्तुक का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि के विषय में गुरु प्रश्न करते हैं ॥१६६॥

आचारवृत्ति—गुरु आगन्तुक मुनि से प्रश्न करते हैं। क्या-क्या प्रश्न करते हैं सो बताते हैं। तुम्हारा नाम क्या है? तुम्हारा कुल—गुरुपरम्परा क्या है? तुम्हारे गुरु कौन हैं? तुम्हें दीक्षा लिये कितने दिन हुए हैं? तुमने वर्षायोग कितने और कहाँ-कहाँ किये हैं? तुम किस दिशा से आये हो? तुमने क्या-क्या पढ़ा है? अर्थात् तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और तुमने क्या-क्या सुना है? तुम्हारे कितने प्रतिक्रमण हुए हैं और कितने नहीं हुए हैं? और तुम्हें अभी क्या सुनना है? तुम किस मार्ग से आए हो? इत्यादि प्रश्न करते हैं। तब शिष्य उनका समुचित उत्तर देता है।

प्रश्नों के उत्तर सुनकर और उसके स्वरूप को जानकर आचार्य क्या करते हैं? सो बताते हैं—

---

१. क 'गां श्रुतं च'। २. क निवेदिते। ३. क वर्षाकालकरणम्। ४. क न्यागतः।

जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥१६७॥

जइ—यदि। चरणकरणसुद्धो—चरणकरणशुद्धः चरणकरणयोर्लक्षणं व्याख्यातं ताभ्यां शुद्धः। णिच्चुज्जुत्तो—नित्योद्युक्तो विगतातीचारः। विणीद—विनीतः। मेधावी—बुद्धिमान्। तस्सिट्ठं—तस्येष्टं यथावाञ्छितं। कधिदव्वं—कथयितव्यं निवेदयितव्यं। सगसुदसत्तीए—स्वकीयश्रुतशक्त्या यथात्मपरिज्ञानं। भणिऊण—भणित्वा प्रतिपाद्य। यद्यसौ चरणकरणशुद्धो विनीतो बुद्धिमान् नित्योद्युक्तश्च तदानीं तेनाचार्येण तस्येष्टं कथयितव्यं स्वकीयश्रुतशक्त्या भणित्वा भणतीति॥१६७॥

अथैवमसौ न भवतीति तदानीं किं कर्तव्यं? इत्युत्तरमाह—

जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अध गिण्हदि सोवि छेदरिहो ॥१६८॥

जदि—यदि। इदरो—इतरो व्रतचरणैरशुद्धः। सो—सः आगन्तुकः। अजोगो—अयोग्यो देववन्दनादिभिः, अथवा योग्यः प्रायश्चित्तशास्त्रदृष्टः। छेदो—छेदः तपोयुक्तस्य कालस्य पादविभागार्धादिः[1] परिहारः। उवट्ठापणं च—उपस्थापनं च। यदि सर्वथा व्रताद् भ्रष्टः पुनर्व्रतारोपणं। कादव्वो—कर्तव्यः करणीयः कर्तव्यं वा। जदि णेच्छदि—यदि नेच्छेत् अथ नाभ्युपगच्छति अथवा लडन्तोयं प्रयोगः। छंडेज्जो—त्यजेत् परिहरेत्। अध गिण्हदि—अथ तादृग्भूतमपि छेदार्हं तं गृह्णाति अदत्तप्रायश्चित्तं तदानीं। सोवि—सोऽप्याचार्यः।

गाथार्थ—यदि वह क्रिया और चारित्र में शुद्ध है, नित्य उत्साही, विनीत है और बुद्धिमान है तो श्रुतज्ञान के सामर्थ्य के अनुसार उसे अपना इष्ट कहना चाहिए ॥१६७॥

आचारवृत्ति—यदि आगन्तुक मुनि चारित्र और क्रियाओं में शुद्ध है, नित्य ही उद्यमशील है अर्थात् अतिचार रहित आचरण वाला है, विनयी और बुद्धिमान है तो वह जो पढ़ना चाहता है उसे अपने ज्ञान की सामर्थ्य के अनुसार पढ़ाना चाहिए। अथवा उसे संघ में स्वीकार करके उसे उसकी बुद्धि के अनुरूप अध्ययन कराना चाहिए।

यदि वह मुनि उपर्युक्त गुण विशिष्ट नहीं है तो क्या करना चाहिए? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—यदि वह अन्य रूप है, अयोग्य है, तो उसका छेद करके उपस्थापन करना चाहिए। यदि वह छेदोपस्थापना नहीं चाहता है और ये आचार्य उसे रख लेते हैं तो ये आचार्य भी छेद के योग्य हो जाते हैं ॥१६८॥

आचारवृत्ति—यदि वह आगन्तुक मुनि व्रत और चारित्र में अशुद्ध है और देववन्दना आदि क्रियाओं से अयोग्य है तो उसकी दीक्षा का एक हिस्सा या आधी दीक्षा या उसका तीन भाग छेद करके पुनः उपस्थापना करना चाहिए। यदि सर्वथा वह व्रतों से भ्रष्ट है तो उसे पुनः व्रत अर्थात् पुनः दीक्षा देना चाहिए। यहाँ गाथा में जो 'अजोग्गो' पद है उसको 'जोग्गो' पाठ मानकर ऐसा भी अर्थ किया है कि उसे यथा योग्य प्रायश्चित्त शास्त्र के अनुसार छेद आदि प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि वह मुनि छेद या उपस्थापना प्रायश्चित्त नहीं स्वीकार करे फिर

---

1. क °देयपरिहारः।

छेदरिहो—छेदार्हः प्रायश्चित्तयोग्यः संजातः। यदि स शिष्यः प्रायश्चित्तयोग्यो भवति तदानीं तस्य च्छेदः कर्तव्यः उपस्थापनं वा कर्तव्यं अथ नेच्छति छेदमुपस्थानं वा तं त्यजेत्। यदि पुनर्मोहात्तं गृह्णाति सोऽप्याचार्यश्छेदार्हो भवतीति ॥१६८॥

तत ऊर्ध्वं किं कर्त्तव्यं? इत्याह—

एवं विधिणुववण्णो एवं विधिणेव सोवि संगहिदो।
सुत्तत्थं सिक्खंतो एवं कुज्जा पयत्तेण ॥१६९॥

एवं—कथितविधानेनैवंविधिना। उववण्णो—उत्पन्न उपस्थितः पादोष्णः तेनाप्याचार्येण एवंविधिना कथितविधानेन कृताचरणशोधनेन। सोवि—सोऽपि शिक्षकः। संगहिदो—संगृहीतः आत्मीकृतः सन्। एवं कुज्जा—एवं कुर्यात् एवं कर्तव्यं तेन। पयत्तेण—प्रयत्नेनादरेण। कथमेवं कुर्यात्? सुत्तत्थं—सूत्रार्थं। सिक्खंतो—शिक्षमाणः। सूत्रार्थं शिक्षमाणं कुर्यात्। सूत्रार्थं शिक्षमाणेनैतत्कर्तव्यमिति वा।

किं तत्तेन कर्तव्यमित्याह—

पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य।
विणयउवयारजुत्तेणज्झेदव्वं पयत्तेण ॥१७०॥

पडिलेहिऊण—प्रतिलेख्य निरूप्य। सम्मं—सम्यक्। दव्वं—द्रव्यं शरीरगतं पिह[1]कादिव्रणगतं भूमिगतं चर्मास्थिमूत्रपुरीषादिकं। खेत्तं च—क्षेत्रं च हस्तशतमात्रभूमिभागं। कालभावेय—कालभावौ च

भी यदि संघस्थ आचार्य उसे ग्रहण कर लेवें तो वे आचार्य भी प्रायश्चित्त के योग्य हो जाते हैं। अर्थात् यदि आचार्य शिष्यादि के मोह से उसे यों ही रख लेते हैं तो वे भी प्रायश्चित्त के पात्र हो जाते हैं।

पुनः इससे बाद क्या करना चाहिए? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधि से वह मुनि ठीक है और उपर्युक्त विधि से ही यदि आचार्य ने ग्रहण किया है तब वह प्रयत्नपूर्वक सूत्र के अर्थ को ग्रहण करता हुआ ऐसा करे ॥१६९॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त विधि से वह आगन्तुक मुनि यदि प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेता है और आचार्य भी आगमकथित प्रकार से जब उसे प्रायश्चित्त देकर उसके आचरण को शुद्ध कर लेते हैं, उसको अपना लेते हैं तब वह मुनि भी आदरपूर्वक गुरु से सूत्र के अर्थ को पढ़ता हुआ आगे कही विधि के अनुसार ही अध्ययन करे।

पुनः उस मुनि को क्या करना चाहिए? सो कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् प्रकार से शुद्धि करके विनय और उपचार से सहित होकर प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करना चाहिए ॥१७०॥

आचारवृत्ति—शरीरगत शुद्धि द्रव्यशुद्धि है। जैसे शरीर में घाव, पीड़ा कष्ट आदि का नहीं होना। भूमिगत शुद्धि क्षेत्रशुद्धि है। जैसे चर्म, हड्डी, मूत्र मल आदि का सौ हाथ

1. क पिटका'।

संध्यागर्जनविद्युदुत्पातादिसमयविवर्जनं कालशुद्धिः । क्रोधमानमायालोभादिविवर्जनं भावशुद्धिः परिणामशुद्धिः, क्षेत्रगताशुद्ध्यपनयनं क्षेत्रशुद्धिः, शरीरादिशोधनं द्रव्यशुद्धिः । विणयउवयारजुत्तेण—विनयश्चोपचारश्च विनय एवोपचारस्ताभ्यां तेन वा युक्तः समन्वितो विनयोपचारयुक्तस्तेन । अज्झेयव्वं—अध्येतव्यं पठितव्यं । पयत्तेण—प्रयत्नेन । द्रव्यक्षेत्रकालभावान् सम्यक् प्रतिलेख्य तेन शिष्येण विनयोपचारयुक्तेन प्रयत्नेनाध्येतव्यं नोपेक्षणीयमिति ॥१७०॥

यदि पुनः—

दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण ।
असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ॥१७१॥

दव्वादिवदिक्कमणं—द्रव्यमादिर्येषां ते द्रव्यादयस्तेषां व्यतिक्रमणमतिक्रमोऽविनयो द्रव्यादिव्यतिक्रमणं द्रव्यक्षेत्रकालभावैः शास्त्रस्य परिभवं । करेदि—करोति कुर्यात् । सुत्तत्थसिक्खलोहेण—सूत्रं चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोः शिक्षात्मसंस्कारोऽवबोध आगमनं तस्या लोभ आसक्तिस्तेन सूत्रार्थशिक्षालोभेन । असमाहिं—असमाधिः मनसोऽसमाधानं सम्यक्त्वादिविराधनं । असज्झायं—अस्वाध्यायः शास्त्रादीनामलाभः शरीरादेविघातो वा । कलहं—कलह आचार्यशिष्ययोः परस्परं द्वन्द्वः, अन्यैर्वा । वाहिं—व्याधिः ज्वरश्वासकासभगंदरादिः । विओगं च—वियोगश्च । च समुच्चयार्थः । आचार्यशिष्ययोरेकस्मिन्ननवस्थानं । यदि पुनर्द्रव्या-

---

प्रमाण भूमिभाग में नहीं होना । सन्ध्याकाल, मेघगर्जन काल, विद्युत्पात और उत्पात आदि काल से रहित समय का होना कालशुद्धि है । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों का त्याग करना भावशुद्धि है । अर्थात् इस प्रकार से क्षेत्र में होनेवाली अशुद्धि को दूर करना उस क्षेत्र से अतिरिक्त क्षेत्र का होना क्षेत्रशुद्धि है । शरीर आदि का शोधन करना अर्थात् शरीर में ज्वर आदि या शरीर से पीव खून आदि के बहते समय के अतिरिक्त स्वस्थ शरीर का होना द्रव्यशुद्धि है, संधि काल आदि के अतिरिक्त काल का होना कालशुद्धि है और कषायादि रहित परिणाम होना ही भावशुद्धि है । प्रयत्नपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को सम्यक् प्रकार से शोधन करके विनय और औपचारिक क्रियाओं से युक्त होकर उस मुनि को गुरु के मुख से सूत्रों का अध्ययन करना चाहिए ।

यदि पुनः ऐसा नहीं हो तो क्या होगा ?

गाथार्थ—यदि सूत्र के अर्थ की शिक्षा के लोभ से द्रव्य, क्षेत्र आदि का उल्लंघन करता है तो वह असमाधि, अस्वाध्याय, कलह, रोग और वियोग को प्राप्त करता है ॥१७१॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि सूत्र और उसके निमित्त से होनेवाला आत्मसंस्कार रूप ज्ञान, उसके लोभ से—आसक्ति से पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि का उल्लंघन करके पढ़ता है तो मन में असमाधानी रूप असमाधि को अथवा सम्यक्त्व आदि की विराधना रूप असमाधि को प्राप्त करता है, शास्त्रादि का अलाभ अथवा शरीर आदि के विघात रूप से अस्वाध्याय को प्राप्त करता है । या आचार्य और शिष्य में परस्पर में कलह हो जाती है अथवा अन्य के साथ कलह हो जाती है । अथवा ज्वर, श्वास, खाँसी, भगंदर आदि रोगों का आक्रमण हो जाता है या आचार्य और शिष्य के एक जगह नहीं रह सकने रूप वियोग हो जाता है ।

दिव्यतिक्रमणं करोति सूत्रार्थशिक्षालोभेन शिष्यस्तदानीं किं स्यात् ? असमाध्यस्वाध्यायकलहव्याधिवियोगाः स्युः ॥१७१॥

न केवलं शास्त्रपठननिमित्तं शुद्धिः क्रियते तेन किंतु जीवदयानिमित्तं चेति—

संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥१७२॥

संथारवासयाणं—संस्तारश्चतुर्धा भूमिशिलाफलकतृणभेदात् आवासोऽवकाशः आकाशप्रदेशसमूहः संस्तरादिप्रदेश इत्यर्थः। संस्तरश्चावकाशश्च संस्तरावकाशौ तावादियेषां ते संस्तरावकाशादयः बहुवचननिर्देशादादिशब्दोपादानं तेषां संस्तरावकाशादीनां। पाणीलेहाहिं—पाणिलेखाभिर्हस्ततलगतलेखाभिः। दंसणुज्जोवे—दर्शनस्य चक्षुष उद्योतः प्रकाशो दर्शनोद्योतस्तस्मिन् दर्शनोद्योते पाणिरेखादर्शनहेतुभूते चक्षुप्रकाशे यावता चक्षुरुद्योतेन हस्तरेखा दृश्यन्ते तावति चक्षुषः प्रकाशेऽथवा पाणिरेखानामभिदर्शनं परिच्छेदस्तस्य निमित्तभूतोद्योते पाणिरेखाभिदर्शनोद्योते। अथवा प्राणिनो लिहंत्यास्वादयन्ति यस्मिन् स प्राणिलेहः स चासौ अभिदर्शनोद्योतश्च तस्मिन् प्राणिभोजननिमित्तनयनप्रसरे इत्यर्थः। जत्तेण—यत्नेन तात्पर्येण। उभये काले—उभयोः कालयोः पूर्वाह्णेऽपराह्णे च संस्तरादानदानकाल इत्यर्थः। पडिलेहा—प्रतिलेखा शोधनं सन्मार्जनं। होइ—भवति। कादव्वा—कर्तव्या। उभयोः कालयोः हस्ततलेखादर्शनोद्योते संजाते यत्नेन संस्तरावकाशादीनां प्रतिलेखा भवति कर्त्तव्येति ॥१७२॥

अर्थात् जो मुनि द्रव्यादि शुद्धि की अवहेलना करके यदि सूत्रार्थ के लोभ से अध्ययन करते हैं तो उनके उस समय असमाधि आदि हानियाँ हो जाया करती हैं।

केवल शास्त्रों के पढ़ने के लिए ही शुद्धि की जाती है ऐसी बात नहीं है, उस मुनि को जीवदया के निमित्त भी शुद्धि करना चाहिए—

गाथार्थ—हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश में दोनों काल में यत्नपूर्वक संस्तर और स्थान आदि का प्रतिलेखन करना होता है ॥१७२॥

आचारवृत्ति—संस्तर चार प्रकार का है—भूमिसंस्तर, शिलासंस्तर, फलकसंस्तर और तृणसंस्तर। उस संस्तर के स्थान को आवास कहते हैं अर्थात् जो आकाश-प्रदेशों का समूह है वही आवास है। शुद्ध, निर्जन्तुक भूमि पर सोना भूमिसंस्तर है। सोने योग्य पाषाण की शिला शिलासंस्तर है। काष्ठ के पाटे को फलकसंस्तर कहते हैं और तृणों के समूह को तृणसंस्तर कहते हैं। इन चार प्रकार के संस्तर के स्थान को, कमण्डलु पुस्तक आदि को, चक्षु से हाथ की रेखाओं के दिखने योग्य प्रकाश हो जाने पर अथवा जितने प्रकाश में हाथ की रेखाएँ दिखती हैं उतने प्रकाश के होने पर पूर्वाण्हकाल में और अपराण्हकाल में इनका पिच्छिका से शोधन करना चाहिए। अथवा प्राणियों के भोजन के निमित्त चक्षु का प्रकाश होने पर प्रयत्नपूर्वक दोनों समय संस्तर आदि को शोधन करना चाहिए। अर्थात् सायंकाल हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश रहने पर संस्तर आदि के स्थान को पिच्छिका से परिमार्जित करके पाटे आदि बिछा लेना चाहिए और प्रातःकाल भी इतना प्रकाश हो जाने पर संस्तर और स्थान आदि को शोध-शोध कर उसे हटा देना चाहिए।

परगणे वसता तेन किं स्वेच्छया प्रवर्तितव्यं ? नेत्याह—

उब्भामगादिगमणे उत्तरजोगे सकज्जआरंभे ।
इच्छाकारणिजुत्तो आपुच्छा होइ कायव्वा ॥१७३॥

उब्भामगादिगमणे—उद्भ्रामको ग्रामः चर्या वा स आदिर्येषां ते उद्भ्रामकादयस्तेषामुद्भ्रामकादीनां गमनमनुष्ठानं तस्मिन् ग्रामभिक्षाव्युत्सर्गादिके । उत्तरजोगे—उत्तरः प्रकृष्टः योगः वृक्षमूलादिस्तस्मिन्नुत्तरयोगे । सकज्जआरम्भे—स्वस्यात्मनः कार्यं प्रयोजनं तस्यारम्भ आदिक्रिया तस्मिन् स्वकार्यारम्भे । इच्छाकारणिजुत्तो—इच्छाकारेण कर्तुमभिप्रायेण नियुक्त उद्युक्तः स्थितस्तेन इच्छाकारनियुक्तेन, अथवा आपृच्छाया विशेषणं इच्छाकारनियुक्ता प्रणामादिविनयनियुक्ता । आपुच्छा—आपृच्छा सर्वेषां प्रश्नः । होदि—भवति । कादव्वा—कर्तव्या कार्या । तेन स्वगणे वसता यथा उद्भ्रामकादिगमने उत्तरयोगे स्वकार्यारम्भे इच्छाकारनियुक्तेनापृच्छा भवति कर्तव्या तथा परगणे वसतापीत्यर्थः ॥१७३॥

तथा वैयावृत्यमपीत्याह—

गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरुबालवुड्ढसेहाणं ।
जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ॥१७४॥

गच्छे—ऋषिसमुदाये चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघे वा सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा तस्मिन् । वेज्जावच्चं—वैयावृत्त्यं कायिकव्यापाराहारादिभिरुपग्रहणं । गिलाण—ग्लानः व्याध्याद्युपपीडितः, क्षीणशक्तिकः । गुरु—

आगन्तुक मुनि पर-गण में रहते हुए क्या स्वेच्छा प्रवृत्ति करता है ? नहीं, इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—चर्या आदि के लिए गमन करने में, वृक्षमूल आदि योग करने में और अपने कार्य के प्रारम्भ में इच्छाकार पूर्वक प्रश्न करना होता है ॥१७३॥

आचारवृत्ति—उद्भ्रामक—ग्राम अथवा चर्या, उसके लिए गमन उद्भ्रामक-गमन है। आदि शब्द से मलमूत्र विसर्जन आदि को लिया है। अर्थात् किसी ग्राम में जाते समय या आहार के लिए गमन करने में, मलमूत्रादि त्याग के लिए जाते समय, उत्तर—प्रकृष्ट योग अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों को धारण करते समय, अपने किसी भी कार्य के प्रारम्भ में और भी किन्हीं क्रियाओं के आदि में आचार्यों की इच्छा के अनुसार पूछकर कार्य करना। अथवा प्रणाम आदि विनयपूर्वक सभी विषय में गुरु से पूछकर कार्य करना होता है। तात्पर्य यह है आगन्तुक मुनि पहले जैसे अपने संघ में चर्या आदि कार्यों में विनयपूर्वक अपने आचार्य से पूछकर कार्य करते थे, उसी प्रकार से उसे पर-संघ में यहाँ पर स्थित आचार्य के अभिप्रायानुसार उनसे आज्ञा लेकर ही इन सब क्रियाओं को करना चाहिए।

उसी प्रकार पर-गण में वैयावृत्ति भी करना चाहिए—

गाथार्थ—पर-गण में क्षीणशक्तिक, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नपूर्वक यथायोग्य वैयावृत्ति करना चाहिए ॥१७४॥

आचारवृत्ति—ऋषियों के समूह को अथवा चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ को गच्छ कहते हैं। अथवा सात या तीन पुरुषों की परम्परा को अर्थात् सात या तीन पीढ़ियों के मुनियों को गच्छ

शिक्षादीक्षाद्युपदेशकः ज्ञानतपोऽधिको वा। बालो—नवकः पूर्वापरविवेकरहितो वा। वुड्ढ—वृद्धो जीर्णो जराग्रस्तो दीक्षादिभिरधिको वा। सेह—शैक्षः शास्त्रपठनोद्युक्तः स्वार्थपरः निर्गुणो दुराराध्यो वा एतेषां द्वन्द्वस्तेषां ग्लानगुरुबालवृद्धशैक्षाणां लक्षणनियोगात् पूर्वापरनिपातो द्रष्टव्यः। जहजोगं—यथायोग्यं क्रममनतिलंघ्य तदभिप्रायेण वा। कादव्वं—कर्तव्यं करणीयं। सगसत्तीए—स्वशक्त्या स्वशक्तिमनवगूह्य। पयत्तेण—प्रयत्नेनादरेण गच्छे ग्लानगुरुबालवृद्धशैक्षाणां प्रयत्नेन स्वशक्त्या, वैयावृत्यं कर्तव्यमिति ॥१७४॥

अथ तेन परगणे वन्दनादिक्रियाः किमेकाकिना क्रियंते नेत्याह—

दिवसियरादियपक्खियचाउम्मासियवरिस्सकिरियासु।
रिसिदेववंदणादिसु सहजोगो होदि कायव्वो ॥१७५॥

दिवसिय—दिवसे भवा दैवसिकी अपराह्णनिर्वर्त्या। रादिय—रात्रौ भवा रात्रिकी पश्चिमरात्रावनुष्ठेया। पक्खिय—पक्षान्ते चतुर्दश्याममावस्यायां पौर्णमास्यां वा पक्षशब्दः प्रवर्तते तस्मिन् भवा पाक्षिकी। चाउम्मासिय—चतुर्षमासेषु भवा चातुर्मासिकी। वारिसिय—वर्षेषु भवा वार्षिकी। एताश्च ताः क्रियाश्च। दैवसिकीरात्रिकीपाक्षिकीचातुर्मासिकीवार्षिकीक्रियास्तासु। रिसिदेववंदणादिसु—ऋषयश्च ते देवाश्च ऋषिदेवास्तेषां वन्दनादिर्यासां ता ऋषिदेववन्दनादयस्तासु ऋषिदेववन्दनादिषु क्रियासु। सह—सार्धं

कहते हैं। ऐसे संघ में ग्लानादि मुनि रहते हैं। व्याधि से पीड़ित अथवा क्षीण शक्तिवाले मुनि ग्लान हैं। शिक्षादीक्षा तथा उपदेश आदि के दाता गुरु हैं अथवा जो तप में या ज्ञान में अधिक हैं वे भी गुरु कहे जाते हैं। नवदीक्षित या पूर्वापर विवेकरहित मुनि बालमुनि कहे जाते हैं। पुराने मुनि या जरा से जर्जरित मुनि अथवा दीक्षा आदि से अधिक वृद्ध हैं, ऐसे ही अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में तत्पर हुए स्वार्थतत्पर मुनि, या निर्गुण मुनि अथवा दुराराध्य आदि मुनि शैक्ष संज्ञक हैं। इन सभी प्रकार के मुनियों की, यथायोग्य—क्रम का उल्लंघन न करके अथवा उनके अभिप्राय के अनुसार और अपनी शक्ति को न छिपाकर आदरपूर्वक वैयावृत्ति करना चाहिए। अर्थात् आगन्तुक मुनि पर-संघ में भी सभी प्रकार के मुनियों की वैयावृत्ति करता है।

पर-गण में रहते हुए वह आगन्तुक मुनि वन्दना आदि क्रियाएँ क्या एकाकी करता है? नहीं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण क्रियाओं में गुरुवन्दना और देववन्दना आदि में साथ ही मिलकर करना चाहिए ॥१७५॥

आचारवृत्ति—दिवस में होनेवाली—दिवस के अन्त में अपराह्ण काल में की जाने वाली क्रिया दैवसिक क्रिया है अर्थात् सायंकाल में किया जानेवाला प्रतिक्रमण दैवसिक क्रिया है। रात्रि में होनेवाली अर्थात् पिछली रात्रि में जिसका अनुष्ठान किया जाता है ऐसा रात्रिक-प्रतिक्रमण रात्रिक क्रिया है। चतुर्दशी, अमावस्या या पौर्णमासी को पक्ष कहते हैं। इस पक्ष के अन्त में होनेवाली प्रतिक्रमण क्रिया पाक्षिक कहलाती है। चार मास में होनेवाली प्रतिक्रमण क्रिया चातुर्मासिक है और वर्ष में हुई क्रिया वार्षिक अर्थात् वर्ष के अन्त में होनेवाला प्रतिक्रमण वार्षिक क्रिया है। इन प्रतिक्रमण क्रियाओं में ऋषि अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और मुनियों की

एकत्र । जोगो—योग उपयुञ्जीत । अथवाऽखण्डोऽयं शब्दः सहयोगः । दैवसिकादिक्रियासहचरिता वेलाः परिगृह्यन्ते दैवसिकादिवेलासु सहयोगः दैवसिकादिक्रियाः सर्वैरेकत्र कर्तव्या भवंति । दैवसिकादिषु गुरुदेव-वन्दनादिषु च क्रियासु सहयोगो भवति कर्तव्य इति ॥१७५॥

अथ यद्यपराधस्तत्रोत्पद्यते किं तत्रैव शोध्यते उतान्यत्र तत्रैवेत्याह—

मणवयणकायजोगेणुप्पण्णवराध जस्स गच्छम्मि ।
मिच्छाकारं किच्चा णियत्तणं होदि कायव्वं ॥१७६॥

मणवयणकायजोगेण—मनोवचनकाययोगैः । **उप्पण्ण**—उत्पन्नः संजातः । **अवराध**—अपराधो प्रमादातिचारः । **जस्स**—यस्य । **गच्छम्मि**—गच्छे गणे चतुःप्रकारे संघे । अथवा जस्स—यस्मिन् गच्छे । **मिच्छाकारं किच्चा**—मिथ्याकारं कृत्वा पश्चात्तापं कृत्वा । **णियत्तणं**—निवर्तनमप्रवर्तनमात्मनः । **होदि**—भवति । **कायव्वं**—कर्तव्यं करणीयं । यस्मिन् गच्छे यस्य मनोवचनकाययोगैरपराध उत्पन्नस्तेन तस्मिन् गच्छे मिथ्याकारं कृत्वा निवर्तनं भवति कर्तव्यमिति । अथवा जस्स गच्छे—यस्य पार्श्वेऽपराध उत्पन्नस्तेन सह गर्हणं कृत्वा तस्मादपराधान्निवर्तनं भवति कार्यमिति ॥१७६॥

तत्र गच्छे वसता तेन किं सर्वैः सहालापोऽवस्थानं च क्रियते नेत्याह—

वन्दना करने में और देववन्दना—सामायिक करने में तथा आदि शब्द से स्वाध्याय आदि क्रियाओं में सह अर्थात् मिलकर एक जगह योग करना चाहिए। अथवा सहयोग शब्द एक अखण्ड पद है। उससे दैवसिक आदि क्रियाओं से सहचरित समय लिया जाता है अर्थात् दैवसिक प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं के समय सहयोगी होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दैवसिक प्रतिक्रमण वन्दना आदि जितनी भी क्रियाएँ हैं, सभी, मुनियों को एक साथ एक स्थान में ही करनी होती हैं। दैवसिक आदि प्रतिक्रमणों में और गुरुवन्दना, देववन्दना आदि क्रियाओं में आगन्तुक मुनि सबके साथ ही रहता है।

यदि कोई अपराध उस संघ में हो जाता है तो वहीं पर उसका शोधन करना चाहिए अथवा अन्यत्र संघ में ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हुए कहते हैं कि वहीं पर ही शोधन करना चाहिए—

गाथार्थ—मन, वचन और काय के योगों से जिस संघ में अपराध उत्पन्न हुआ है मिथ्याकार करके वहीं उसको दूर करना होता है ॥१७६॥

आचारवृत्ति—जिस गच्छ—गण या चतुर्विध संघ में प्रमादिकों में अतिचार रूप अपराध हुआ है उसी संघ में उस मुनि को मिथ्याकार—पश्चात्ताप करके अपने अन्तरंग से यह दोष निकाल देना चाहिए। अथवा जिस किसी के साथ अपराध हो गया हो उन्हीं से क्षमा कराके उस अपराध से अपने को दूर करना होता है।

उस संघ में रहते हुए मुनि को सभी के साथ बोलना या बैठना करना होता है या नहीं ? सो ही बताते हैं—

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण।
ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥१७७॥

अज्जागमणे काले—आर्याणां संयतीनामुपलक्षणमात्रमेतत् सर्वस्त्रीणां, आगमनं यस्मिन् काले स आर्यागमनस्तस्मिन्नार्यागमने काले। ण अत्थिदव्वं—नासितव्यं न स्थातव्यं। तधेव—तथैव। एक्केण—एकेन एकाकिना विजनेन। ताहिं—ताभिरार्यिकाभिः। पुण—पुनः बाहुल्येन। सल्लावो—सल्लापो वचनप्रवृत्तिः। ण य कायव्वो—नैव कर्तव्यो न कार्यः। अकज्जेण—अकार्येण प्रयोजनमन्तरेण धर्मकार्योत्पत्तौ कदाचिद्वक्ति[1]। आर्यागमनकाले एकाकिना विजनेन न स्थातव्यं, धर्मकार्यमन्तरेण ताभिः सहालापोऽपि न कर्तव्य इति ॥१७७॥

यद्येवं कथं तासां प्रायश्चित्तादिकथनं प्रवर्तत इति प्रश्नेऽतः प्राह—

तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ॥१७८॥

तासिं—तासामार्याणां। पुण—पुनः पुनरपि। पुच्छाओ—पृच्छाः प्रश्नान् कार्याणि। इक्किस्से—एकस्या एकाकिन्या। ण य कहिज्ज—नैव कथयेत् नैव कथनीयं। एक्को दु—एकस्तु एकाकी सन् अपवादभयात्। यद्येवं कथं क्रियते। गणिणी—गणिनीं तासां महत्तरिकां प्रधानां। पुरओ—पुरोऽग्रतः। किच्चा—कृत्वा। यदि पुच्छदि—यदि पृच्छति प्रश्नं कुर्यात्। तो—ततोऽनेन विधानेन। कहेदव्वं—कथयितव्यं प्रतिपादयितव्यं नान्यथा। तासां मध्ये एकस्याः कार्यं नैव कथयेदेकाकी सन्, गणिनीं पुरः कृत्वा यदि पुनः पृच्छति ततः कथनीयं मार्गप्रभावनामिच्छतेति ॥१७८॥

गाथार्थ—आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए ॥१७७॥

आचारवृत्ति—यहाँ 'आर्यिकाणां' शब्द से संयतियों का ग्रहण करना उपलक्षण मात्र है उससे सम्पूर्ण स्त्रियों को ग्रहण कर लिया गया है। उन आर्यिका और स्त्रियों के आने के काल में उस मुनि को एकान्त में अकेले नहीं बैठना चाहिए और उसी प्रकार से उन आर्यिकाओं और स्त्रियों के साथ अकारण बहुलता से वचनालाप भी नहीं करना चाहिए। कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना ठीक भी है। तात्पर्य यह हुआ कि स्त्रियों के आने के समय मुनि एकान्त में अकेले न बैठे और धर्मकार्य के बिना उनके साथ वार्तालाप भी न करे।

यदि ऐसी बात है तो उनको प्रायश्चित्त आदि देने की बात कैसे बनेगी? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पुनः उनमें से यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे। यदि गणिनी को आगे करके वह पूछती है तो फिर कहना चाहिए ॥१७८॥

आचारवृत्ति—उन आर्यिकाओं के प्रश्न कार्यों में यदि एकाकिनी आर्यिका है तो एकाकी मुनि अपवाद के भय से उन्हें उत्तर न देवे। यदि वह आर्यिका अपने संघ की प्रधान आर्यिकागणिनी को आगे करके कुछ पूछे तो इस विधान से उन्हें मार्ग प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रतिपादन करना चाहिए अन्यथा नहीं।

---

१. क नास्ति।

व्यतिरेकद्वारेण प्रतिपाद्यान्वयद्वारेण प्रतिपादयन्नाह—

तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा।
आणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण ॥१७९॥

यदि कथितन्यायेन न प्रवर्तते चेत्। तरुणो—यौवनपिशाचगृहीतः। तरुणीए—तरुण्या उन्मत्तयौवनया। सह—सार्धं। कहाव—कथां वा प्राक्प्रबन्धचरितं। सल्लावणं च—सल्लापं च अथवा (असब्भावणं[1] च) प्रहासप्रवचनं च। जदि कुज्जा—यदि कुर्यात् विदध्याच्चेत्। आणाकोधा (वा) दीया—आज्ञाकोपादयः आज्ञाकोपानवस्थामिथ्यात्वाराधनात्मनाशसंयमविराधनानि। पंचवि—पंचापि। दोसा—दोषाः पापहेतवः। कदा—कृता अनुष्ठिताः। तेण—तेनैवं कुर्वता। यदि तरुणस्तरुण्या सह कथामथ सल्लापं च कुर्यात्तर्हि किं स्यात्? आज्ञाकोपादिकाः पंचापि दोषाः कृतास्तेन स्युरिति ॥१७९॥

यत्र बह्व्यस्तिष्ठन्ति तत्र किमावासादिक्रिया युक्ताः? नेत्याह—

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥१८०॥

णो कप्पदि—न कल्पते न युज्यते। विरदाणं—विरतानां संयतानां पापक्रियाक्षयकरणोद्यतानां। विरदीणं—विरतीनां आर्यिकाणां। उवासयम्हि—आवासे वसतिकादौ। चिट्ठेदुं—चेष्टितुं स्थातुं वसितुं न केवलं। तत्थ—तत्र दीर्घकालाः क्रिया न युक्ताः किन्तु क्षणमात्राः क्रियास्ता अपि। णिसेज्ज—निषद्या-

---

व्यतिरेक के द्वारा प्रतिपादन करके अब अन्वय के द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा या वचनालाप करे तो उस मुनि ने आज्ञाकोप आदि पाँचों ही दोष किये ऐसा समझना चाहिए ॥१७९॥

आचारवृत्ति—यदि कथित न्याय से मुनि प्रवृत्ति नहीं करे अर्थात् यौवनपिशाच से गृहीत हुआ तरुण मुनि यौवन से उन्मत्त हुई तरुणी के साथ पहले से सम्बन्धित चरित्र रूप कथा को अथवा संलाप या हँसी वचना आदि बातों को करता है तो पूर्व में कथित आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयमविराधना इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों को करता है ऐसा समझना चाहिए।

जहाँ पर बहुत-सी आर्यिकाएँ रहती हैं वहाँ पर क्या आवास आदि क्रिया करना युक्त है? नहीं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों का रहना और वहाँ पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा व कायोत्सर्ग करना युक्त नहीं है ॥१८०॥

आचारवृत्ति—पापक्रिया के क्षय करने में उद्यत हुए विरत मुनियों का आर्यिकाओं की वसतिका आदि में रहना उचित नहीं है। केवल ऐसी ही बात नहीं है कि वहाँ पर बहुत काल तक होनेवाली क्रियाएँ न करें, किन्तु वहाँ अल्पकालिक क्रियाएँ भी करना युक्त नहीं है।

---

१. क सल्लापं।

वेशनं । उवट्टणं—उद्वर्तनं शयनं लोटनं । सज्झाय—स्वाध्यायः शास्त्रव्याख्यानं परिवर्तनादयो वा । आहार-भिक्खा—आहारभिक्षाग्रहणं । वोसरणं—प्रतिक्रमणादिकं अथवा व्युत्सर्जनं मूत्रपुरीषाद्युत्सर्गः 'प्रदेशाद्धाहृयर्पा' एतेषां द्वन्द्वः सः । अन्याश्चैवमादयश्च क्रिया न युक्ताः । विरतानां चेष्टितुं आर्यिकागमनवासे न कल्पते, निषद्योद्वर्तनस्वाध्यायाहारभिक्षाव्युत्सर्जनानि च तत्र न कल्प्यंते । आहारभिक्षयोः को विशेष इति चेन्न, तदन्यकृतभेदात् ताभिर्निष्पादितं भोजनं आहारः, श्रावकादिभिः कृतं यत्तत्र दीयते सा भिक्षा । अथवा मध्याह्न-काले भिक्षार्थं पर्यटनं भिक्षा ओदनादिग्रहणमाहारः इति ॥१८०॥

किमर्थमेताभिः सह स्थविरत्वादिगुणसमन्वितस्यापि संसर्गो वार्यते यतः—

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुदं च तवसिं वा ।
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥१८१॥

जैसे कि वहाँ पर बैठना, सोना या लेटना, शास्त्र का व्याख्यान या परिवर्तन—पुनः पुनः पढ़ना-रटना आदि करना, आहार और भिक्षा का ग्रहण करना, वहाँ पर प्रतिक्रमण आदि करना या मलमूत्र विसर्जन आदि करना, और भी इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ करना युक्त नहीं है।

आहार और भिक्षा में क्या अंतर है ?

उन आर्यिकाओं के द्वारा निष्पादित भोजन आहार कहा गया है और श्रावक आदिकों द्वारा बनाया गया भोजन जो वहाँ पर दिया जाता है सो भिक्षा कहलाती है। (अथवा 'ताभि' का अर्थ 'आर्यिकाओं द्वारा' ऐसा न लेकर पूरे वाक्यार्थ को इस प्रकार लिया जाना उपयुक्त होगा—वह भोजन, जो उन्हीं श्राविकाओं द्वारा निष्पादित अर्थात् तैयार किया गया है जो दे भी रही होती हैं, आहार है। तथा वह भोजन, जिसे पड़ोसी आदि अन्य श्रावकजन तैयार किया हुआ लाकर देते हैं, वह भिक्षा है।) अथवा मध्यान्हकाल में चर्या के लिए पर्यटन करना सो भिक्षा और भात आदि भोजन ग्रहण करना आहार है ऐसा समझना।

विशेषार्थ—यहाँ पर जो आर्यिकाओं द्वारा निष्पादित भोजन को आहार संज्ञा दी है सो समझ में नहीं आया है। क्योंकि आर्यिकायें भी आरम्भ परिग्रह का त्याग कर चुकी हैं। मूलाचार प्रदीप अ० ७ श्लोक १६० में कहा है कि—"आर्यिकाएँ स्नान, रोदन, अन्नादि पकाना, सीवना, सूत कातना, गीत गाना, बाजे बजाना आदि क्रियाएँ न करें।" इससे आर्यिकाओं द्वारा भोजन बनाना सम्भव नहीं है। अतः टीका में अथवा कहकर जो दूसरा अर्थ किया गया है उसे ही यहाँ संगत समझना चाहिए।

उन आर्यिकाओं के साथ स्थविरत्व आदि गुणों से समन्वित का भी संसर्ग किसलिए मना किया गया है ? सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—काम से मलिनचित्त श्रमण स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है, कुल का भी विनाश कर देता है ॥१८१॥

---

१ क प्रदेश, मा ।

थेरं—स्थविरं आत्मानं सर्वत्र सम्बंधनीयं सामर्थ्यात् सोपस्कारत्वात् सूत्राणां। चिरपव्वइयं—चिरप्रव्रजितं प्रवृद्धव्रतं। आयरियं—आचार्यं। बहुसुदं—बहुश्रुतं सर्वशास्त्रपारगं। तवसिं वा—तपस्विनं वा षष्ठाष्टमादिकयुक्तं चकाराद्वात्मनः समुच्चयः, अथवा स्थविरत्वादयो गुणा गृह्यंते, अथवात्मनोऽन्ये स्थविर-[1]त्वादयस्तान्। ण गणेदि—न गणयति नोऽपेक्षते[2] नो पश्यति न गणयेद्वा। काममलिणो—कामेन मलिनः काममलः काममलिनो मैथुनेच्छोपद्रुतः। कुलमवि—कुलमपि कुलं मातृपितृकुलं सम्यक्त्वादिकं वा। समणो—श्रमणः। विणासेदि—विनाशयति विराधयति। स्थविरं चिरप्रव्रजिताचार्यं बहुश्रुतं तपस्विनमात्मानं केवलं न गणयति काममलिनः सन् श्रमणः कुलमपि विनाशयति। अथवा न केवलमात्मनः स्थविरत्वादीन् गुणान् न गणयति सम्यक्त्वादिगुणानपि विनाशयति। अथवा न केवलं कुलं विनाशयति किन्तु स्थविरत्वादीनपि[3] न गणयति परिभवतीत्यर्थः ॥१८१॥

एताः पुनराश्रयन् यद्यपि कुलं न विनाशयत्यात्मानं वा तथाप्यपवादं प्राप्नोतीत्याह—

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥

आचारवृत्ति—स्थविर, चिरप्रव्रजित आदि सभी के साथ 'आत्मा' शब्द का सम्बन्ध कर लेना चाहिए क्योंकि सूत्र उपस्कार— अध्याहार सहित होते हैं। जो स्थविर है, चिरकाल से दीक्षा लेने से व्रतों में दृढ़ है, आचार्य है, सर्व शास्त्र का पारंगत है अथवा बेला तेला आदि उपवासों का करनेवाला होने से तपस्वी है ऐसी योग्यता विशिष्ट होने पर भी काम से मलिन हुआ मुनि इन सब को कुछ नहीं गिनता है। अथवा स्थविर आदि शब्दों से यहाँ स्थविरत्व आदि गुणों को ग्रहण किया गया समझना चाहिए अर्थात् काम से पीड़ित हुआ मुनि अपने इन गुणों को कुछ नहीं समझता है—तिरस्कृत कर देता है। अथवा अपने से अन्य जो स्थविरत्व आदि हैं उनको लेना चाहिए अर्थात् वह कामेच्छा से पीड़ित हुआ मुनि उस संघ में रहनेवाले स्थविर—मुनि, चिरदीक्षित, या आचार्य, उपाध्याय अथवा तपस्वियों को भी कुछ नहीं समझता है उनको नहीं देखता है, उनकी उपेक्षा कर देता है। और तो और, अपने माता-पिता के कुल को अथवा अपने सम्यक्त्व आदि को भी नष्ट कर देता है, इन गुणों की विराधना कर देता है।

तात्पर्य यह है कि काम से पीड़ित हुआ मुनि स्थविर आदि रूप अपने को ही केवल नहीं गिनता है ऐसी बात नहीं, वह कुल को भी नष्ट कर देता है। अथवा वह केवल अपने स्थविरत्व आदि गुणों को ही नहीं गिनता है ऐसी बात नहीं, वह सम्यक्त्व आदि गुणों को भी नष्ट कर देता है। अथवा केवल वह कुल का ही नाश करता है ऐसा नहीं, वह तो स्थविरत्व आदि को भी कुछ नहीं गिनता है, उनका तिरस्कार कर देता है।

पुनः कोई आर्यिकाओं का आश्रय करता हुआ भले ही अपने कुल का अथवा अपना विनाश नहीं करता हो, लेकिन अपवाद को तो प्राप्त हो ही जाता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वह मुनि कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तपस्विनी महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमें अपवाद को प्राप्त हो जाता है ॥१८२॥

---

१ क 'विराद'। २ क गणेयति। ३ क 'राजी'।

कण्णं—कन्यां विवाहयोग्यां। विहवं—विगतो मृतो गतो धवो भर्ता यस्याः सा विधवा तां। अंतेउरियं—अन्तःपुरे भवा आन्तःपुरिका तामान्तःपुरिकां स्वार्थे कः—राज्ञीं राज्ञीसमानां विलासिनीं वा। तह—तथा। सइरिणीं—स्वेच्छया परकुलानीयर्तीति स्वैरिणी तां स्वेच्छाचारिणीं। सलिंगं वा—समानं लिंगं सलिंगं व्रतादिकं कुलं वा तद्विद्यते यस्याः सा सलिंगिनी तां। अथवा सह लिंगेन वर्तते इति सलिंगा तां स्वदर्शनेऽन्यदर्शने वा प्रव्रजितां। अचिरेण—क्षणमात्रेण मनागपि। अल्लियमाणो—आलीयमानः आश्रयमाणः सहवासालापादिक्रियां कुर्वाणः। अववादं—अपवादं अकीर्तिं। तत्थ—तत्राश्रयणे। पप्पोदि—प्राप्नोति अर्जयतीति। कन्यां विधवां आन्तःपुरिकां स्वैरिणीं सलिंगिनीं चालीयमानोऽचिरेण तत्र अपवादं प्राप्नोतीति ॥१८२॥

नन्वार्यादिभिः सह संसर्गः सर्वथा यदि परित्यजनीयः कथं तासां प्रतिक्रमणादिकं क एवमाह सर्वथा त्यागो यावतैवं विशिष्टेन कर्तव्य इत्याह—

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥१८३॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥

पियधम्मो—प्रिय इष्टो धर्मः क्षमादिकश्चारित्रं वा यस्यासौ प्रियधर्मा उपशमादिसमन्वितः। दढधम्मो—दृढः स्थिरो धर्मो धर्माभिप्रायो यस्यासौ दृढधर्मा। संविग्गो—संविग्नो धर्मतत्फलविषये हर्ष-

---

आचारवृत्ति—विवाह के योग्य लड़की अर्थात् जिसका अब तक विवाह नहीं हुआ है कन्या है। वि—विगत—मर गया है धव—पति जिसका वह विधवा है। अन्तःपुर—रणवास में रहनेवाली आन्तःपुरिका है, अर्थात् रानी अथवा रानी के समान विलासिनी स्त्रियों को अन्तःपुर में रहनेवाली शब्द से ग्रहण किया है। जो स्वेच्छा से पर-गृहों में जाती है वह स्वेच्छाचारिणी अर्थात् व्यभिचारिणी है। समान लिंग व्रतादि अथवा कुल जिसके है वह सलिंगिनी है। अथवा लिंग—वेषसहित स्त्री सलिंगिनी है वे चाहे अपने सम्प्रदाय की आर्यिका आदि हों या अन्य सम्प्रदाय की साध्वियां हों। इन उपर्युक्त प्रकार की महिलाओं का क्षणमात्र भी आश्रय लेता हुआ, उनके साथ सहवास वार्तालाप आदि क्रियाओं को करता हुआ मुनि उनके आश्रय से अपवाद को—अकीर्ति को प्राप्त कर लेता है ऐसा समझना।

यदि आर्यिकाओं के साथ संसर्ग करना सर्वथा छोड़ने योग्य है तो उनके प्रतिक्रमण आदि कैसे होंगे? कौन ऐसा कहता है कि सर्वथा उनका संसर्ग त्याग करना, किन्तु जो आगे कहे गये गुणों से विशिष्ट हैं उन्हें उनका प्रतिक्रमण आदि कराना होता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, संवेग भाव सहित हैं, पाप से भीरु हैं, शुद्ध आचरण वाले हैं, शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं और हमेशा ही पापक्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं ॥१८३॥

गम्भीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मित बोलनेवाले हैं, किंचित् कुतूहल करते हैं, चिरदीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं—ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं ॥१८४॥

आचारवृत्ति—प्रिय—इष्ट है उत्तमक्षमादि धर्म अथवा चारित्र जिनको वे प्रियधर्मा

सम्पन्नः। अवज्जभीरु—अवद्यभीरुरवद्यं पापं कुत्स्यं तस्माद्भयनशीलोऽवद्यभीरुः। परिसुद्धो—परिसमन्ताच्छुद्धः परिशुद्धोऽखण्डिताचरणः। संगह—संग्रहो दीक्षाशिक्षाव्याख्यानादिभिरुपग्रहः, अणुग्गह—अनुग्रहः प्रतिपालनं आचार्यत्वादिदानं याभ्यां तयोर्वा (कुसलो) कुशलो निपुणः संग्रहानुग्रहकुशलः पात्रभूतं गृह्णाति गृहीतस्य च शास्त्रादिभिः संयोजनं। सददं—सततं सर्वकालं। सारक्खणाजुत्तो—सहारक्षणेन वर्तत इति सारक्षणा क्रिया पापक्रियानिवृत्तिस्तया युक्त रक्षायां युक्तः हितोपदेशदातेति ॥१८३॥

गंभीरो—गुणैरगाधोऽलब्धपरिमाणः। दुद्धरिसो—दुर्धर्षोऽकदर्थ्यः स्थिरचित्तः। मिदवादी—मितं परिमितं वदतीत्येवं शीलो मितवादी अल्पवदनशीलः। अप्पकोदुहल्लो य—अल्पं स्तोकं कुतूहलं कौतुकं यस्यासावल्पकुतूहलोऽविस्मयनीयो ऽथवा अल्पगुह्य[1]दीर्घस्तब्धः प्रश्रयादिरहितः चशब्दः समुच्चयार्थः। चिरपव्वइदो—चिरप्रव्रजितः निर्व्यूढव्रतभारो गुणज्येष्ठः। गिहिदत्थो—गृहीतो ज्ञातोऽर्थः पदार्थस्वरूपं येनासौ गृहीतार्थः आचारप्रायश्चित्तादिकुशलः। अज्जाणं—आर्याणां संयतीनां। गणधरो—मर्यादोपदेशकः प्रतिक्रमणाद्याचार्यः। होदि—भवति। प्रियधर्मा दृढधर्मा संविग्नोऽवद्यभीरुः परिशुद्धः संग्रहानुग्रहकुशलः सततं सारक्षणयुक्तो गम्भीरदुर्धर्षमितवाद्यल्पकौतुकचिरप्रव्रजितगृहीतार्थश्च यः स आर्याणां गणधरो भवतीति ॥१८४॥

अथान्यथाभूतो यदि स्यात् तदानीं किं स्यादित्यत आह—

हैं अर्थात् उपशम आदि से समन्वित हैं। दृढ़ है धर्म का अभिप्राय जिनका वे दृढ़धर्मा हैं। जो धर्म और उसके फल में हर्ष से सहित हैं वे संविग्न हैं। जो पाप से डरनेवाले हैं वे पापभीरु हैं। जो सब तरफ से शुद्ध आचरणवाले—अर्थात् अखण्डित आचरणवाले हैं वे परिशुद्ध हैं। दीक्षा, शिक्षा, व्याख्यान आदि के द्वारा उपकार करना संग्रह है और उनका प्रतिपालन करना आचार्य-पद आदि प्रदान करना अनुग्रह है। जो इन संग्रह और अनुग्रह में निपुण हैं अर्थात् पात्र—योग्य को ग्रहण करते हैं और ग्रहण किए गये को शास्त्रज्ञान आदि से संयुक्त करते हैं और हमेशा सारक्षण क्रिया अर्थात् पाप क्रिया की निवृत्ति से युक्त रहते हैं अर्थात् संघ के मुनियों की रक्षा में युक्त होते हुए उन्हें हित का उपदेश देते हैं,

जो गुणों से अगाध हैं अर्थात् जिनके गुणों का कोई माप नहीं है, जो किसी से कदर्थित—तिरस्कृत नहीं हैं अर्थात् स्थिरचित्त हैं, जो थोड़ा बोलनेवाले हैं, जो अल्प कौतुक करनेवाले हैं—विस्मयकारी नहीं हैं अथवा अल्प गुह्य विषय को छिपानेवाले अर्थात् शिष्यों के दोषों को सुनकर उनको अन्य किसी से न बतानेवाले हैं, चिरकाल से दीक्षित हैं अर्थात् व्रतों के भार को धारण करनेवाले हैं, गुणों में ज्येष्ठ हैं, गृहीतार्थ—पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाले हैं—आचार-शास्त्र और प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों में कुशल हैं ऐसे आचार्य आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करानेवाले, उनको मर्यादा का उपदेश देनेवाले उनके गणधर होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उपर्युक्त गुणविशिष्ट आचार्य ही अपने संघ में आर्यिकाओं को रखते हुए उनको प्रायश्चित्त आदि देते हैं।

यदि आचार्य इन गुणों से रहित है और आर्यिकाओं का गणधर बनता है तो क्या होगा? सो ही बताते हैं—

---

1. क °गुह्यः।

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज ॥१८५॥

एवं—अनेन प्रकारेण। एतैर्गुणैः। वदिरित्तो—व्यतिरिक्तो मुक्तः। जदि—यदि। गणधारित्तं—गणधारित्वं प्रतिक्रमणादिकं। करेदि—करोति। अज्जाणं—आर्याणां तपस्विनीनां। चत्तारि—चत्वारः। कालगा—कालकाः गणपोषणात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थकाला आद्या वा विराधिता भवन्तीति वाक्यशेषः। अथवा कलिकाग्रहणेन प्रायश्चित्तानि परिगृह्यन्ते चत्वारि प्रायश्चित्तानि च्छेदमूलपरिहारपारंचिकानि। अथवा चत्वारो मासाः कांजिकभक्ताहारेण। से—तस्य आर्यागणधरस्य भवन्तीत्यर्थः। गच्छादि—गच्छ ऋषिकुलं आदिर्येषां ते गच्छादयस्तेषां, विराहणा—विराधना विनाशो विपरिणामो वा गच्छादिविराधना गच्छात्मगणकुलश्रावकमिथ्यादृष्ट्यादयो विराधिता भवन्तीत्यर्थः अथवा गच्छात्मविनाशः। होज्ज—भवेत्। पूर्वोक्तगुणव्यतिरिक्तो यद्यार्याणां गणधरत्वं करोति तदानीं तस्य चत्वारः काला विनाशमुपयान्ति, अथवा चत्वारि प्रायश्चित्तानि लभते गच्छादेर्विराधना च भवेदिति ॥१८५॥●

गाथार्थ—इन गुणों से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्यत्व करता है तो उसके चार काल विराधित होते हैं और गच्छ की विराधना हो जाती है ॥१८५॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त गुणों से रहित मुनि यदि आर्यिकाओं का प्रतिक्रमण आदि सुनकर उन्हें प्रायश्चित्त आदि देने रूप गणधरत्व करता है तो उसके गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ इन चार कालों की अथवा आदि के चार काल—दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंस्कार इन चारों कालों की विराधना हो जाती है। अथवा 'कलिका' शब्द से प्रायश्चित्तादि का ग्रहण हो जाता है। अर्थात् उस आचार्य को छेद, मूल, परिहार और पारंचिक ऐसे चार प्रायश्चित्त लेने पड़ते हैं। अथवा उसे चार महीने तक कांजिक भोजन का आहार लेना पड़ता है। तथा ऋषि कुल रूप जो गच्छ—संघ है वह अपना संघ, आदि शब्द से कुल, श्रावक और मिथ्यादृष्टि आदि, इनकी भी विराधना हो जाती है। अर्थात् गुणशून्य आचार्य यदि आर्यिकाओं का पोषण करते हैं तो व्यवस्था बिगड़ जाने से संघ के साधु उनकी आज्ञा पालन नहीं करेंगे। इससे संघ का विनाश हो जायेगा।

तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वोक्त गुणों से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्य बनता है तो उसके गणपोषण आदि चार काल नष्ट हो जाते हैं अथवा चार प्रकार के प्रायश्चित्त उसे लेने पड़ते हैं और उसके संघ आदि की विराधना—अव्यवस्था हो जाती है।

● फिर-प्रायश्चित्त की निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

दीक्षा[illegible] कालों में यदि कोई सूत्र आदि नष्ट हो जाये तो उसका प्रायश्चित्त कहते हैं—

आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं तहेव खमणं च।
एक्केक्कं परिहाणं करेदि जदि कालगं एक्कं ॥६५॥

अर्थ—दीक्षाकाल आदि चार कालों में से यदि किसी एक-एक काल का विनाश हुआ है तो क्रम से आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान और उपवास इन चारों में से एक-एक को [illegible]।

तस्मात्तेन परगणस्थेन यत्तस्याचार्यस्यानुमतं तत्कर्तव्यं सर्वथा प्रकारेणेत्यत आह—

किंबहुणा भणिदेण दु जा इच्छा गणधरस्स सा सव्वा।
कादव्वा तेण भवे एसेव विधी दु सेसाणं ॥१८६॥

किंबहुणा—किं बहुना। भणिदेण दु—भणितेन तु किं बहूनोक्तेन। जा इच्छा—येच्छा योऽभिप्रायः। गणधरस्स—गणधरस्याचार्यस्य। सा सव्वा—सर्वैव सा कादव्वा—कर्तव्या। तेण—पादोष्णेन। भवे—भवेत्। किं परगणस्थेनैव कर्तव्या नेत्याह। एसेव विधीदु सेसाणं—एष एव एवंभूत एव विधिरनुष्ठानं शेषाणां स्वगच्छस्थानामेकाकिनां समुदायव्यवस्थितानां च। किं बहूनोक्तेन येच्छा गणधरस्य सा सर्वा कर्तव्या भवेत् न केवलमस्य शेषाणामप्येष एव विधिरिति ॥१८६॥

यदि यतीनामयं न्याय आर्यिकाणां क इत्यत आह—

एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥

एसो—एषः। अज्जाणंपिय—आर्याणामपि च। सामाचारो—सामाचारः। जहक्खिओ—यथाख्यातो यथा प्रतिपादितः। पुव्वं—पूर्वस्मिन्। सव्वम्मि—सर्वस्मिन्। अहोरत्ते—रात्रौ दिवसे च। विभासिदव्वो—विभाषयितव्यः प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा। जहाजोग्गं—यथायोग्यं आत्मानुरूपो वृक्षमूला-

---

इसलिए उस परगण में स्थित मुनि को, उन आचार्य को जो इष्ट है सभी प्रकार से वही करना चाहिए, इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—अधिक कहने से क्या, गणधर की जो भी इच्छा हो वह सभी उसे करनी होती है। यही विधि शेष मुनियों के लिए भी है ॥१८६॥

आचारवृत्ति—बहुत कहने से क्या, उस संघ के आचार्य का जो भी अभिप्राय है उसी के अनुसार आगन्तुक मुनि को उनकी सभी प्रकार की आज्ञा पालन करना चाहिए।

क्या परगण में स्थित वह आगन्तुक मुनि ही सभी आज्ञा पाले? नहीं, ऐसी बात नहीं है, किन्तु अपने संघ में एक मुनि अथवा समूह रूप सभी मुनियों के लिए भी यही विधि है अर्थात् संघस्थ सभी मुनि आचार्य की सम्पूर्णतया अनुकूलता रखें ऐसा आदेश है।

यदि मुनियों के लिए ऐसा न्याय है तो आर्यिकाओं के लिए क्या आदेश है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में जैसा कहा गया है वैसा ही यह समाचार आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिए ॥१८७॥

आचारवृत्ति—पूर्व में जैसा समाचार प्रतिपादित किया है, आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण काल रूप दिन और रात्रि में यथायोग्य—अपने अनुरूप अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए।

भावार्थ—इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए वे ही अट्ठाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर ग्रहण आदि तथा वे ही औघिक पदविभागिक समाचार

दिरहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोऽपि सामाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिर्वा प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथाख्यातः पूर्वस्मिन्निति ॥१८७॥

वसतिकायां ताः कथं गमयन्ति कालमिति पृष्टेऽत आह—

अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ ॥१८८॥

अण्णोण्णणुकूलाओ—अन्योन्यस्यानुकूलास्त्यक्तमत्सरा अन्योन्यानुकूलाः परस्परत्यक्तमात्सर्याः। अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ—अन्योन्यासां परस्पराणामभिरक्षणं प्रतिपालनं तस्मिन्नभियुक्ता उद्युक्ता अन्योन्याभिरक्षणाभियुक्ताः। गयरोसवेरमाया—रोषश्च वैरं च माया च रोषवैरमायाः गता विनष्टा रोषवैरमाया यासां ता गतरोषवैरमायास्त्यक्तमोहनीयविशेषक्रोधमारणपरिणामकौटिल्याः। सलज्जमज्जादकिरियाओ—लज्जा च मर्यादा च क्रिया च लज्जामर्यादक्रियाः सह ताभिर्वर्तन्त इति सलज्जमर्यादक्रियाः लोकापवादादात्मनो भयपरिणामो लज्जा, रागद्वेषाभ्यां न्यायादनन्यथा वर्तनं मर्यादा, उभयकु[illegible]चरणं क्रियते ॥१८८॥

पुनरपि ताः कथं विशिष्टा इत्यत आह—

अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ ॥१८९॥

माने गये हैं जो कि यहाँ तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित हैं। मात्र 'यथायोग्य' पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है। और यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विधान का ग्रन्थ नहीं है।

वे आर्यिकाएँ वसतिका में अपना काल किस प्रकार से व्यतीत करती हैं? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—परस्पर में एक दूसरे के अनुकूल और परस्पर में एक दूसरे की रक्षा में तत्पर; क्रोध, वैर और मायाचार से रहित तथा लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से सहित रहती हैं ॥१८८॥

आचारवृत्ति—ये आर्यिकाएँ परस्पर में मात्सर्य भाव को छोड़कर एक दूसरे के अनुकूल रहती हैं, परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में पूर्ण तत्पर रहती हैं, मोहनीय कर्मविशेष के क्रोधभाव, वैरभाव—मारने या बदला लेने के भाव और कौटिल्यभावों से रहित होती हैं। लज्जा से सहित मर्यादा में रहने वाली और उभयकुल के अनुरूप आचरण क्रिया से सहित होती हैं। लोकापवाद से डरते रहना लज्जागुण है। राग-द्वेष परिणाम से न्याय का उल्लंघन न करके प्रवृत्ति करना मर्यादा है अर्थात् अनुशासन में बद्ध रहना मर्यादा है। इन लज्जा और मर्यादा से सहित होती हुई अपने पितृकुल और पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुरूप आचरण में तत्पर रहती हैं।

पुनरपि वे किन गुणों से विशिष्ट रहती हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—पढ़ने में, पाठ करने में, सुनने में, कहने में और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में तथा तप में, विनय में और संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं ॥१८९॥

अज्झयणे—अध्ययनेऽपूर्वशास्त्रपठने । परियट्टे—परिवर्तने पठितशास्त्रपरिपाट्यां । सवणे—श्रवणे श्रुतस्याश्रुतस्य च शास्त्रस्यावधारणे । कहणे—कथने आत्मज्ञातशास्त्रान्यनिवेदने । अणुपेहाए—अनुप्रेक्षासु श्रुतसर्ववस्तुध्रुवानित्यादिचिन्तासु श्रुतस्य शास्त्रस्यानुचिन्तने वा । तवविणयसंजमेसु य—तपश्च विनयश्च संयमश्च तपोविनयसंयमास्तेषु चानशनप्रायश्चित्तादिक्रियामनोवचनकाया (य) स्तब्धत्वेन्द्रियनिरोध-जीववधपरित्यागेषु । अविरहिद—अविरहिता, स्थिता नित्योद्युक्ताः । उवओग—उपयोगः तात्पर्यं ज्ञानाभ्यासः । [1]जोग—योगो मनोवचनकायशुभानुष्ठानं ताभ्यां । जुत्ताओ—युक्ताः उपयोगयोगयुक्ताः ॥१८९॥

पुनरपि ताः विशेष्यन्ते—

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूवविसुद्धचरियाओ ॥१९०॥

अविकारवत्थवेसा—न विद्यते विकारो विकृतिः स्वभावादन्यथाभावो वा येषां तेऽविकाराः वस्त्राणि च वेषश्च शरीरादिसंस्थानं च वस्त्रवेषाः, अविकारा वस्त्रवेषा यासां ता अविकारवस्त्रवेषाः रक्तांकितादिवस्त्रगति-भंगादिभ्रूविकारादिभिः रहिताः । जल्लं—सर्वांगीनं प्रस्वेदयुक्तं रजः । अंगैकदेशभवं मलं—ताभ्यां विलित्ता—विलिप्ता युक्ता जल्लमलविलिप्ताः । चत्तदेहाओ—त्यक्तोऽसंस्कृतो देहः शरीरं यासां तास्त्यक्तदेहाः, जल्लमल-विलिप्ताश्च तास्त्यक्तदेहाश्च शरीरसंस्कारशून्यता युताः । धम्म—धर्मः । कुलं—कुलं । कित्ति—कीर्तिः । दिक्खा—दीक्षा ।

आचारवृत्ति—बिना पढ़े हुए शास्त्रों का पढ़ना अध्ययन है । पढ़े हुए शास्त्रों का पुनः पुनः पढ़ना (फेरना) परिवर्तन है । सुने हुए अथवा नहीं सुने हुए शास्त्रों का अवधारण करना श्रवण है । अपने जाने हुए शास्त्रों को अन्य को सुनाना कथन है । सुनी हुई सभी वस्तुओं के ध्रुवानित्यत्व—अनित्य आदि का चिन्तवन करना अथवा सुने हुए शास्त्रों का चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा है । अनशन आदि और प्रायश्चित्त आदि बाह्याभ्यन्तर तप हैं । मन-वचन-काय की स्तब्धता का न होना अर्थात् नम्रता का होना विनय है और इन्द्रिय निरोध तथा जीव-वध का परित्याग करना संयम है । इन अध्ययन आदि कार्यों में जो हमेशा लगी रहती हैं, उपयोग अर्थात् ज्ञानाभ्यास तथा योग अर्थात् मन-वचन-काय का शुभ अनुष्ठान, इन उपयोग और योग से सतत युक्त रहती हैं ।

पुनः वे किन विशेषताओं से युक्त होती हैं ?—

गाथार्थ—विकार रहित वस्त्र और वेष को धारण करने वाली, पसीनायुक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई वे शरीर संस्कार से शून्य रहती हैं । धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती हैं ॥१९०॥

आचारवृत्ति—जिनके वस्त्र, वेष और शरीर आदि के आकार विकृति से रहित, स्वा-भाविक-सात्त्विक हैं, अर्थात् जो रंग-बिरंगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भ्रूविकार कटाक्ष आदि से रहित वेष को धारण करने वाली हैं । सर्वांग में लगा हुआ पसीना से युक्त जो रज है वह जल्ल है । अंग के एक देश में होने वाला मैल मल कहलाता है । जिनका गात्र इस जल्ल और मल से लिप्त रहता है, जो शरीर के संस्कार को नहीं करती हैं ऐसी वे आर्यिकाएँ धर्म-कादि

---

1. जोग पाठ मूलप्रति में अतिरिक्त है ।

ताणा, पडिरूव—प्रतिरूपा सदृशाः । विसुद्धं—विशुद्धा । चरियाओ—चर्यानुष्ठानं यासां ता धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः क्षमामार्दवादिमातृपितृकुलात्मयशोव्रतसदृशाभग्नाचरणा इति ॥१६०॥

कथं च तास्तिष्ठन्त्यत आह—

> अगिहत्थमिस्सणिलए असण्णिवाए विसुद्धसंचारे ।
> दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा [1]सहत्थंति ॥१६१॥

अगिहत्थमिस्सणिलए—गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्थाः स्वदारपरिग्रहासक्तास्तैः, मिस्स—मिश्रो युक्तो न गृहस्थमिश्रोऽगृहस्थमिश्रः स चासौ निलयश्च वसतिका तस्मिन्नगृहस्थमिश्रनिलये यत्रासंयतजनैः सह सम्पर्को नास्ति तत्र । असण्णिवाए—असतां पारदारिकचौरपिशुनदुष्टतिर्यक्प्रभृतीनां निपातो विनाशोऽभावो यत्र तस्मिन्नसन्निपाते । अथवा सतां यतीनां निपातः प्रचारः सन्निकृष्टता सन्निपातः स न विद्यते यत्र सोऽसन्निपातस्तस्मिन् । अथवा असंज्ञिनां पातोऽसंज्ञिपातो बाधारहिते प्रदेशे इत्यर्थः । विसुद्धसंचारे—विशुद्धः संक्लेशरहितो गुप्तो वा संचरणं संचारः मलोत्सर्गप्रदेशयोग्यः गमनागमनार्हो वा यत्र स विशुद्धसंचारस्तस्मिन् बालवृद्धरोगिशास्त्राध्ययनयोग्ये । दो—द्वे । तिण्णि—तिस्रः । अज्जाओ—आर्याः संयतिकाः । बहुगीओ वा—बह्व्यो वा त्रिंशच्चत्वारिंशद्वा । सह—एकत्र । अत्थंति—तिष्ठन्ति वसन्तीति । अगृहस्थमिश्रनिलयेऽसन्निपाते विशुद्धसंचारे द्वे तिस्रो बह्व्यो वार्या अन्योन्यानुकूलाः परस्पराभिरक्षणाभियुक्ता [2]गतरोषवैरमायाः सलज्जमर्यादक्रिया अध्ययनपरिवर्तनश्रवणकथनतपोविनयसंयमेषु अनुप्रेक्षासु च तथास्थिता उपयोगयोगयुक्ताश्चाविकार-

---

आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश, और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या करती हैं अर्थात् अपने धर्म, कुल आदि के विरुद्ध आचरण नहीं करती हैं।

वे अपने आवास में कैसे रहती हैं?

गाथार्थ—जो गृहस्थों से मिश्रित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध संचरण के योग्य हो ऐसी वसतिका में दो या तीन या बहुत सी आर्यिकाएँ साथ रहती हैं। ॥१६१॥

आचारवृत्ति—जो गृह में रहते हैं वे गृहस्थ कहलाते हैं। जो अपनी पत्नी और परिग्रह में आसक्त हैं उन गृहस्थों से मिश्र वसतिका नहीं होनी चाहिए। जहाँ पर असंयत जनों का संपर्क नहीं रहता है, जहाँ पर असज्जन—परदारालंपट, चोर, चुगलखोर, दुष्टजन और तिर्यंचों आदि का रहना नहीं है, अथवा जहाँ पर सत्पुरुष—यतियों की सन्निकटता नहीं है अथवा जहाँ असंज्ञियों अज्ञानियों का, पात—आना-जाना नहीं है अर्थात् जो बाधा रहित प्रदेश है, विशुद्धसंचार—जहाँ पर विशुद्ध—संक्लेशरहित अथवा गुप्त संचार है अर्थात् मल विसर्जन के योग्य गुप्त प्रदेश जहाँ पर विद्यमान है; अथवा जो गमन-आगमन के योग्य अर्थात् जो बाल, वृद्ध और रुग्ण आर्यिकाओं के रहने योग्य है और जो शास्त्रों के स्वाध्याय के लिए योग्य है ऐसा स्थान विशुद्ध संचार कहलाता है। इस प्रकार से गृहस्थों के संपर्क से रहित, दुराचारी जनों के संपर्क से रहित, मुनियों की वसतिका की निकटता से रहित और विशुद्ध

---

१. क 'ओसा वि अच्छंति । २. क अगन्निपात: ।

वस्त्रवेषा जल्लमलविलिप्तास्त्यक्तदेहा धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः संस्तिष्ठन्तीति समुदायार्थः ॥१६१॥

किं ताभिः परगृहं न कदाचिदपि गन्तव्यमित्यतः आह—

ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥१६२॥

णय—न च। परगेहं—परगृहं गृहस्थनिलयं यतिनिलयं वा। अकज्जे—अकार्येऽप्रयोजने कारणमन्तरेण। गच्छे—गच्छेयुः यान्ति। कज्जे—कार्ये उत्पन्ने प्रयोजने। अवस्सगमणिज्जे—अवश्यं गमनीयेऽवश्यं गन्तव्ये भिक्षाप्रतिक्रमणादिकाले। गणिणी—गणिनीं महत्तरिकां। आपुच्छित्ता—आपृच्छ्यानुज्ञां लब्ध्वा। संघाडेणेव—संघाटकेनैवान्याभिः सह। गच्छेज्ज—गच्छेयुः गच्छन्तीति। परगृहं च ताभिर्न गन्तव्यं, किं सर्वथा नेत्याह अवश्यंगमनीये कार्ये गणिनीमापृच्छ्य संघाटकेनैव गन्तव्यमिति ॥१६२॥

स्ववासे परगृहे वा एताः क्रियास्ताभिर्न कर्तव्या इत्यत आह—

संचरण युक्त वसतिका में ये आर्यिकाएँ दो या तीन अथवा तीस या चालीस पर्यन्त भी एक साथ रहती हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि ये आर्यिकाएँ उपर्युक्त बाधारहित और सुविधायुक्त वसतिका में कम से कम दो या तीन अथवा अधिक रूप से तीस या चालीस पर्यन्त एक साथ मिलकर रहती हैं। ये परस्पर में एक-दूसरे की अनुकूलता रखती हुई एक-दूसरे की रक्षा के अभिप्राय को धारण करती हुई; रोष वैर माया से रहित लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से संयुक्त; अध्ययन, मनन, श्रवण, उपदेश, कथन, तपश्चरण, विनय, संयम और अनुप्रेक्षाओं में तत्पर रहती हुई ज्ञानाभ्यास--उपयोग तथा शुभयोग से संयुक्त, निर्विकार वस्त्र और वेष को धारण करती हुई, पसीना और मैल से लिप्त काय को धारण करती हुई, संस्कार—शृंगार से रहित; धर्म, कुल, यश, और दीक्षा के योग्य निर्दोष आचरण करती हुई अपनी वसतिकाओं में निवास करती हैं।

क्या इन्हें परगृह में कदाचित् भी नहीं जाना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बिना कार्य के पर-गृह में नहीं जाना चाहिए और अवश्य जाने योग्य कार्य में गणिनी से पूछकर साथ में मिलकर ही जाना चाहिए ॥१६२॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाओं के लिए गृहस्थ के घर और यतियों की वसतिकाएँ परगृह हैं। बिना प्रयोजन के आर्यिकाएँ परगृह न जावें। यदि गृहस्थ के यहाँ भिक्षा आदि लेना और मुनियों के यहाँ प्रतिक्रमण, वन्दना आदि प्रयोजन से जाना है तो गणिनी से पूछकर पुनः कुछ आर्यिकाओं को साथ लेकर ही जाना चाहिए, अकेली नहीं जाना चाहिए।

अपने निवास स्थान में अथवा पर-गृह में आर्यिकाओं को निम्नलिखित क्रियाएँ नहीं करना चाहिए, उन्हें ही बताते हैं—

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खणधोवणगेयं च ण य कुज्जा ॥१९३॥

रोदण—रोदनमश्रुविमोचनं दुःखार्तस्य। ण्हावण—स्नपनं बालादीनां मार्जनं। भोयण—भोजनं तेषामेव वल्भनपानादिक्रियाः। पयणं—पचनं ओदनादीनां पाकनिर्वर्तनं। सुत्तं च—सूत्रं सूत्रकरणं च। छव्विहारम्भे—षट् प्रकारा येषां ते षड्विधास्ते च ते आरम्भाश्चेति षड्विधारम्भाः। असिमषिकृषिवाणिज्यशिल्पलेख्यक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून्। विरदाण—विरतानां संयतानां। पादमक्खणधोवण—म्रक्षणं अभ्यञ्जनं धावनं प्रक्षालनं पादयोश्चरणयोर्म्रक्षणधावनं पादम्रक्षणधावनं। गेयं—गीतं च रागपूर्वकं गन्धर्वं। णय—न च। कुज्जा—कुर्युः न कुर्वन्ति। परगृहं गता आर्यिका रोदनस्नपनभोजनपचनसूत्राणि षड्विधारम्भाश्च न कुर्वन्ति, विरतानां पादम्रक्षणधावनं वा न कुर्युः स्वावासे परवासे वान्याश्च या अयोग्याः क्रियास्ता न कुर्वन्त्यपवादहेतुत्वादिति ॥१९३॥

अथ भिक्षाचर्यायां कथमवतरन्ति ता इत्यत आह—

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१९४॥

तिण्णि व—तिस्रो वा। पंच व—पंच वा। सत्त व—सप्त वा। अज्जाओ—आर्यिकाः। अण्णमण्णरक्खाओ—अन्योन्यरक्षायासां ता अन्योन्यरक्षाः परस्परकृतयत्नाः। थेरीहिं—स्थविराभिः वृद्धाभिः। सह—सार्धं। अंतरिदा—अन्तरिता व्यवहिताः काभिर्वृद्धाभिर्वान्यासामश्रुतत्वात्। भिक्खाय—भिक्षार्थं भिक्षार्थं भिक्षाभ्रमणकाले योग्यलक्षणमार्गमेतद् भिक्षाग्रहणं यथा काकेभ्यो दधि रक्षतामिति। समोदरंति—

गाथार्थ—रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ करना, यतियों के पैर में मालिश करना, धोना और गीत गाना, आर्यिकाएँ इन कार्यों को नहीं करें ॥१९३॥

आचारवृत्ति—दुःख से पीड़ित को देखकर अश्रु गिराना, बच्चों को नहलाना धुलाना, उन्हें भोजन-पान आदि कराना, भात आदि पकाना, सूत कातना; असि, मषि, कृषि, व्यापार, शिल्पकला और लेखन क्रिया जीवघात के कारणभूत इन छह प्रकार के आरम्भों का करना, संयतों के पैर में तैल वगैरह का मालिश करना, उनके चरणों का प्रक्षालन करना तथा रागपूर्वक गंधर्व गीत गाना इन क्रियाओं को आर्यिकाएँ अपनी वसतिका में या अन्य के गृह में नहीं करें क्योंकि इनसे ये क्रियाएँ उनके अपवाद के लिए कारण हैं।

आहार के लिए वे कैसे निकलती हैं? सो ही बताते हैं—

समवतरन्ति सम्यक्पर्यटन्ति। सदा—सर्वकालं। यत्र तासां गमनं भवति तथानेन विधानेन नान्येनेति। तिस्रः पंच सप्त वा अन्योन्यरक्षाः स्थविराभिः सहान्तरिताश्च भिक्षार्थं समवतरन्ति सर्वेति ॥१९४॥

आचार्यादीनां च वन्दनां कुर्वन्ति ताः किं यथा मुनयो नेत्याह—

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१९५॥

पंचछसत्तहत्थे—पंचषट्सप्तहस्तान्। सूरीअज्झावगोय—सूर्यध्यापकौ चाचार्योपाध्यायौ च। साधूय—साधूंश्च। परिहरिऊण—परिहृत्य एतावदन्तरे स्थित्वा। अज्जाओ—आर्याः। गवासणेण—गवासनेन यथा गौरुपविशति तथोपविश्य एवकारोऽवधारणार्थः। वंदंति—वन्दनं प्रकुर्वन्ति। पंचषट्सप्तहस्तैरंतरं कृत्वा आचार्योपाध्यायौ च साधूंश्च गवासनेनैव वन्दन्ते आर्या नान्येन प्रकारेणेत्यर्थः। आलोचनाध्ययनस्तुति-भेदात् क्रमभेद इति ॥१९५॥

उपसंहारार्थमाह—

एवंविधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥१९६॥

उसी प्रकार से यहाँ ऐसा अर्थ लेना कि आर्यिकाओं का जब भी वसतिका से बाहर गमन होता है तब इसी विधान से होता है अन्य प्रकार से नहीं।

तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ देववंदना, गुरुवंदना, आहार, विहार, नीहार आदि किसी भी प्रयोजन के लिए बाहर जावें तो दो-चार आदि मिलकर तथा वृद्धा आर्यिकाओं के साथ होकर ही जावें।

जैसे मुनि आचार्य आदि की वंदना करते हैं, क्या आर्यिकाएँ भी वैसे ही करती हैं? नहीं, सो बताते हैं—

गाथार्थ—आर्यिकाएं आचार्य को पांच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वंदना करती हैं ॥१९५॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाएँ आचार्य के पास आलोचना करती हैं अतः उनकी वंदना के लिए पांच हाथ के अंतराल से गवासन से बैठकर नमस्कार करती हैं। ऐसे ही उपाध्याय के पास अध्ययन करना है अतः उन्हें छह हाथ के अंतराल से नमस्कार करती हैं तथा साधु की स्तुति करनी होती है अतः वे सात हाथ के अंतराल से उन्हें नमस्कार करती हैं, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।

अब उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधानरूप चर्या का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करते हैं, वे जगत् से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं।

एवंविधानचरियं—एवंविधां चर्या एवंप्रकारानुष्ठानं। चरंति—आचरन्ति। जे—ये। साधवो य—साधवश्च मुनयश्च। अज्जाओ—आर्याः ते साधव आर्याश्च। जगपुज्जं—जगतः पूजा जगत्पूजा तां जगत्पूजां। कित्ति—कीर्तिं यशः। सुहं च—सुखं च। लद्धूण—लब्ध्वा। सिज्झंति—सिद्ध्यन्ति। एवंविधानचर्यां ये चरन्ति साधव आर्याश्च ते ताश्च जगत्पूजां कीर्तिं सुखं च लब्ध्वा सिद्ध्यन्तीति ॥१६६॥

ग्रन्थकर्ता गर्वनिरासार्थं समर्पणार्थमाह—

एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण।
वित्थारसमावण्णो वित्थरिदव्वो बुहजणेहिं ॥१६७॥

एवं—अनेन प्रकारेण। सामाचारो—सामाचारः—आगमप्रसिद्धानुष्ठानं। बहुभेदो—बहवो भेदा यस्यासौ बहुभेदो बहुप्रकारः। वण्णिदो—वर्णितः कथितः। समासेन—संक्षेपेण। वित्थारसमावण्णो—विस्तारं प्रपंचं समापन्नः प्राप्तो विस्तारयोग्यः। वित्थरियव्वो—विस्तारयितव्यः प्रपंचनीयः। बुहजणेहिं—बुधजनैरागमव्याकरणादिकुशलैः। एवं पूर्वस्मिन् यो बहुभेदः सामाचारोऽभूत् स मया संक्षेपेण वर्णितो यतोऽसौ विस्तारयोग्यतत्वाद्विस्तारयितव्यो बुधजनैरिति।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां चतुर्थः परिच्छेदः।

टीका का अर्थ सरल है ॥१६६॥

अब ग्रन्थकर्ता आचार्य अपने गर्व को दूर करने हेतु और समर्पण हेतु निवेदन करते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से अनेक भेदरूप समाचार को मैंने संक्षेप से कहा है। बुद्धिमानों को इसका विस्तार स्वरूप जानकर इसे विस्तृत करना चाहिए ॥१६७॥

आचारवृत्ति—आगम में प्रसिद्ध अनुष्ठान रूप यह समाचार विविध प्रकार का है, इसे मैंने कहा है। चूंकि यह विस्तार के योग्य है इसलिए आगम और व्याकरण आदि में कुशल बुद्धिमान जनों को इसका विस्तार से विवेचन करना चाहिए।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार में
वसुनन्दि आचार्य द्वारा विरचित आचारवृत्ति
नाम की टीका में चौथा परिच्छेद पूर्ण हुआ।

५. पंचाचाराधिकारः

पंचाचाराधिकारप्रतिपादनार्थं नमस्कारमाह—

तिहुयणमन्दरमहिदे तिलोगबुद्धे तिलोगमत्थयत्थे ।
तेलोक्कविदिदवीरे तिविहेण य पणिविदे सिद्धे ॥१९८॥

तिहुयणमंदरमहिदे—मन्दरे मेरौ महिताः पूजिताः स्नापिताः मन्दरमहिताः त्रयाणां भुवनानां लोकानां समाहारस्त्रिभुवनं तेन मन्दरमहितास्त्रिभुवनमन्दरमहिताः। अथवा त्रिभुवनस्य मन्दरा प्रधानाः सौधर्मेन्द्रादयस्तैर्महितास्त्रिभुवनमन्दरमहितास्तांस्त्रिभुवनमन्दरमहितान्। तिलोगबुद्धे—त्रिलोकानां त्रिलोकैर्वा बुद्धा ज्ञातारः ज्ञाता वा त्रिलोकबुद्धास्तांस्त्रिलोकबुद्धान्। तिलोगमत्थयत्थे—त्रिलोकस्य मस्तकं सिद्धिक्षेत्रं तस्मिंस्तिष्ठन्तीति त्रिलोकमस्तकस्थास्तांस्त्रिलोकमस्तकस्थान् सिद्धिक्षेत्रस्थान्। तेलोक्कविदिदवीरे—त्रिषु लोकेषु विदितः ख्यातो वीरो वीर्यं येषां, अथवा त्रिलोकानां विदिताः प्रख्यातास्ते च ते वीराः शूराश्च त्रिलोकविदितवीरा त्रैलोक्यविदितवीर्यान् त्रिलोकविदितवीरान्वा। तिविहेण—त्रिविधेन त्रिप्रकारेण मनोवचनकर्मभिः। पणिविदे—प्रणिपत्य नत्वान्तोऽयं, अथवा प्रणिपतामि तिङन्तोऽयं क्रियाशब्दः। सिद्धे—सिद्धान् निराकृतनिर्मूलकर्माणः। न चात्र तेषामसिद्धता पूर्वापराविरुद्धागमतत्स्वरूपप्रतिपादकप्रमाणसद्भावात्, तत्सद्भावबाध-

---

अब पंचाचार अधिकार के प्रतिपादन हेतु नमस्कार-गाथा को कहते हैं—

गाथार्थ—त्रिभुवन के प्रधान पुरुषों से पूजित, तीन लोक को जाननेवाले, तीन लोक के अग्रभाग पर स्थित, तीन लोक में विख्यात वीर—ऐसे सिद्धों को मन, वचन और काय से प्रणाम करता हूँ ॥१९८॥

आचारवृत्ति—मन्दर—सुमेरु पर जिनका त्रिभुवन के इन्द्र द्वारा अभिषेक किया गया है वे त्रिभुवनमन्दर महित हैं। अथवा त्रिभुवन के मन्दर—प्रधान जो सौधर्म आदि देव हैं उनसे जो महित—पूजित हैं। तीनों लोकों के जो जाननेवाले हैं अथवा तीनों लोकों के द्वारा जो बुद्ध—ज्ञात हैं वे त्रिलोकबुद्ध हैं। त्रिलोक के मस्तक पर—सिद्ध क्षेत्र पर जो विराजमान हैं, जिनका वीर्य तीनों लोकों में ख्यात है अथवा तीनों लोकों में ये प्रख्यातवीर—शूर हैं अथवा तीनों लोकों के वीर्य—शक्ति को जिन्होंने जान लिया है वे त्रिलोकविदितवीर हैं और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को निर्मूल कर दिया है वे सिद्ध परमेष्ठी हैं ऐसे उपर्युक्त विशेषण युक्त अर्हंत और सिद्धपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करके पाँच आचारों को कहूँगा। इस तरह यहाँ पर 'वक्ष्ये' क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए। और 'पणिविदे' क्रिया को क्त्वा-प्रत्ययान्त मानकर 'नमस्कार करके' ऐसा अर्थ करना अथवा 'प्रणिपतामि' ऐसा 'तिङन्त' क्रियापद ही समझना।

कप्रमाणाभावाद्वा। न चेतरेतराश्रयसद्भावः। द्रव्यार्थिकनयार्पणयानादिनिधनस्यागमस्य स्वमहिम्नैव प्रामाण्यात्। पर्यायार्थिकनयाश्रयणाच्च घातिकर्मविनिर्मुक्तार्हत्प्रणीतत्वाद्वा। न च जीवानां कर्मबन्धाभावाभावो हानिवृद्धिदर्शनादिति। त्रिभुवनमन्दरमहितानर्हतस्त्रिलोकमस्तकस्थांस्त्रैलोक्यविदितवीर्यान् सिद्धांश्च प्रणिपत्य वक्ष्ये, इति सम्बन्धः। अथवा सर्वाणि शास्त्राणि नमस्कारपूर्वाणि, कुतः सर्वज्ञपूर्वकत्वात् तेषां यतोऽतः स्वतंत्रोऽयं नमस्कारः त्रिभुवनमन्दरमहितानर्हतः सिद्धांश्च प्रणिपतामि। शेषाणि विशेषणान्यनयोरेव। अथवा सिद्धानामेव नमस्कारोऽयं भूतपूर्वगतिन्यायेन विशेषणानां सद्भावादिति। वक्ष्ये इति क्रियापदमुक्तं ॥१८६॥

प्रश्न—सिद्धों का अस्तित्व यहाँ सिद्ध ही नहीं है इसलिए वे असिद्ध हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्वापर से विरोध रहित आगम और उन सिद्धों के या अर्हंतों के स्वरूप का प्रतिपादक प्रमाण विद्यमान है। अथवा सर्वज्ञ के सद्भाव को बाधित करनेवाले प्रमाण का अभाव है।

प्रश्न—इससे तो इतरेतराश्रय दोष आ जावेगा, क्योंकि जब सर्वज्ञ की सिद्धि हो तब उनसे प्ररूपित आगम प्रामाणिक सिद्ध हों और जब आगम की प्रामाणिकता सिद्ध हो तब उसके द्वारा सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो। इस तरह तो दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

उत्तर—नहीं, यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से यह आगम अनादि-निधन है और वह अपनी महिमा से ही प्रामाणिक है तथा पर्यायार्थिकनय की विवक्षा करने से घातिकर्म से रहित ऐसे अर्हन्तदेव के द्वारा प्रणीत है इसलिए वह प्रमाणभूत है। अतः ऐसे आगम से सर्वज्ञदेव की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न—जीवों के कर्मबन्ध का अभाव नहीं हो सकता है। अर्थात् एक अनादिनिधन ईश्वर को मानने वाले कुछ संप्रदायवादी ऐसे हैं जो किसी भी कर्मसहित जीवों के सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होना स्वीकार नहीं करते हैं।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि संसारी जीवों में कर्मबन्ध के अभाव की हानि-वृद्धि देखी जाती है। अर्थात् किसी जीव में राग-द्वेष आदि या दुःख शोक कर्मबन्ध के कार्य कम-कम हैं, किन्हीं जीवों में अधिक-अधिक हैं इसलिए ऐसा निश्चय हो जाता है कि किसी-न-किसी जीव में सम्पूर्णतया कर्मों का अभाव अवश्य हो जाता होगा। इसलिए कर्मबन्ध का अभाव होना प्रसिद्ध ही है।

तात्पर्य यह है कि तीन लोक के जीवों द्वारा मंदर पर पूजा को प्राप्त अर्हन्त देव को और तीनलोक के मस्तक पर स्थित तथा तीन लोक में जिनकी शक्ति प्रसिद्ध है ऐसे सिद्धों को नमस्कार करके मैं पंचाचार को कहूँगा, ऐसा गाथा में सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

अथवा सभी शास्त्र नमस्कार पूर्वक ही होते हैं अर्थात् सभी शास्त्रों के प्रारम्भ में इष्टदेव को नमस्कार किया जाता है इसलिए यहाँ भी किया गया है।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—यतः वे सभी शास्त्र सर्वज्ञपूर्वक ही होते हैं अतः यह नमस्कार स्वतंत्र है।

किं वक्ष्ये ? किमर्थं वा नमस्कार इति पृष्टेऽत आह—

दंसणणाणचरित्ते तवेविरियाचारह्मि पंचविहे।
वोच्छं अदिचारेऽहं कारिदे अणुमोदिदे य कदे ॥१६६॥

दंसणं—दर्शनं सम्यक्त्वं तत्त्वरुचिः। णाणं—ज्ञानं तत्त्वप्रकाशनं। चरित्तं—चरित्रं पापक्रियानिवृत्तिः। मात्रविभक्त्यन्तरं प्राकृतलक्षणेनाकारस्यैकारः कृतो यतः। तवे—तपः तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपः बाह्याभ्यन्तरलक्षणं कर्मदहनसमर्थं। वीरियाचारह्मि—वीर्यं शक्तिरस्थिशरीरगतबलं, एतेषां द्वन्द्वः दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याणि तेषां तान्येव वा आचारो अनुष्ठानं तस्मिन् दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याचारे। तत्त्वार्थविषयपरमार्थश्रद्धानुष्ठानं दर्शनाचारः। नात्रावलोकनार्थवाची दर्शनशब्दोऽनधिकारात्। पंचविधज्ञाननिमित्तं शास्त्राध्ययनादिक्रिया ज्ञानाचारः। प्राणिवधपरिहारेन्द्रियसंयमनप्रवृत्तिश्चारित्राचारः। कायक्लेशाद्यनुष्ठानं तप

त्रिभुवन के द्वारा मंदर पर पूजित अर्हन्तों को और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ। शेष विशेषण इन दोनों के ही हैं। अथवा यों समझिए कि सिद्धों को ही नमस्कार किया गया है क्योंकि भूतपूर्वगति के न्याय से सभी विशेषण उनमें लग जाते हैं। अर्थात् भूतपूर्व में वे अर्हन्त थे ही थे, अर्हन्त से ही सिद्ध हुए हैं। यहाँ पर 'वक्ष्ये' इस क्रियापद का अध्याहार किया गया है।

विशेष—यहाँ गाथा में सिद्धों को नमस्कार किया गया है, टीकाकार ने उसे अर्हन्तों में भी घटित किया है और 'वक्ष्ये' क्रिया को ऊपर से लेकर पंचाचार को कहने का संकेत दिया है।

क्या कहूँगा ? सो ही बताते हैं। अथवा किसलिए नमस्कार किया है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच प्रकार के आचार में कृत, कारित और अनुमोदना से हुए अतीचारों को कहूँगा ॥१६६॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व—तत्त्वरुचि का नाम दर्शन है। तत्त्व प्रकाशन का नाम ज्ञान है। पापक्रिया से दूर होना चारित्र है। जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है—दहन करता है वह तप है। यह बाह्य और अभ्यन्तर लक्षणवाला है और कर्मों को दहन करने में समर्थ है। हड्डी और शरीरगत बल को वीर्य कहते हैं। इन पाँचों का आचार—अनुष्ठान अथवा ये पाँच ही आचार—अनुष्ठान पंचाचार कहलाते हैं।

परमार्थभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना और उन्हीं का श्रद्धानरूप अनुष्ठान करना दर्शनाचार है। यहाँ पर दृश् धातु से दर्शन बना है। उसका अवलोकन अर्थ नहीं लेना, क्योंकि उसका यहाँ अधिकार नहीं है।

पाँच प्रकार के ज्ञान के निमित्त अध्ययन आदि क्रियाएँ करना ज्ञानाचार है। प्राणियों के वध का त्याग करना और इन्द्रियों के संयमन—निरोध में प्रवृत्ति होना चारित्राचार है।

कायक्लेश आदि तपों का अनुष्ठान करना तप-आचार है। शक्ति का नहीं छिपाना अर्थात् शुभविषय में अपनी शक्ति से उत्साह रखना वीर्याचार है।

आचारः, वीर्यस्यानिह्नवो वीर्याचारः शुभविषयस्वशक्त्योत्साहः। पंचविधे—पंचप्रकारे। वोच्छं—वक्ष्ये कथयिष्यामि। अदिचारे—अतीचारान् प्रमादादन्यथाचरितानि। अहंकारादिदं अहं—आत्मनः प्रयोगः। कारिदे—कारितान्। अणुमोदिदे—अनुमतान्। चशब्दः समुच्चयार्थः। कदे—कृतान्। आचारे—दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यभेदे पंचप्रकारे कृतकरितानुमतानतीचारानहं वक्ष्ये इति सम्बन्धः ॥१९९॥

दर्शनातिचारप्रतिपादनार्थं तावदाह ते चाष्टौ शंकादिभेदेन कुतो यतः—

दंसणचरणविसुद्धी अट्ठविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा।
दंसणमलसोहणयं वोच्छं तं सुणह एयमणा ॥२००॥

दंसणचरणविसुद्धी—दर्शनाचरणस्य विशुद्धिर्निर्मलता दर्शनाचरणविशुद्धिः। अट्ठविहा—अष्टविधाऽष्टप्रकारा। जिणवरेहिं—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषां वराः श्रेष्ठाः जिनवरास्तैः। णिद्दिट्ठा—निर्दिष्टा कथिता। दंसणमलसोहणयं—दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य मलमतीचारस्तस्य शोधनकं निराकरणं दर्शनमलशोधनकं। वोच्छं—वक्ष्ये। तं—तत्। सुणह—शृणुत जानीध्वं। एयमणा—एकाग्रमनसः तद्‌गतचित्ताः। पूर्वं संग्रहसूत्रेण दर्शनातीचारार्थं जिनवरैर्दर्शनविशुद्धिरष्टप्रकारा निर्दिष्टा यतोऽतस्तद्‌भेदादशुद्धिरप्यष्टविधा तद्दर्शनमलशोधनकं वक्ष्येऽहं यूयं शृणुतैकाग्रमनस इति ॥२००॥

अष्टप्रकारा शुद्धिरुक्ता के तेऽष्टप्रकारा इत्यत आह—

प्रमाद से किये गये अन्यथा आचरण—विपरीत आचरण को अतिचार कहते हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार के आचारों में स्वयं करने से, और कराने और करते हुए को अनुमति देने रूप से जो अतिचार होते हैं, उन अतिचारों को मैं (वट्टकेराचार्य) कहूँगा।

अब दर्शन के अतिचारों को पहले कहते हैं। वे शंका आदि के भेद से आठ हैं। कैसे? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव ने दर्शनाचरण की विशुद्धि आठ प्रकार की कही है। अतः दर्शनमल के शोधन को मैं कहूँगा। तुम एकाग्रमन होकर सुनो ॥२००॥

आचारवृत्ति—जो कर्म-शत्रुओं को जीतते हैं वे जिन हैं। उनमें वर—श्रेष्ठ जिनवर हैं अर्थात् तीर्थंकर परमदेव को जिनवर कहते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्र ने दर्शनाचरण की विशुद्धि—निर्मलता को आठ प्रकार की कहा है। दर्शन—सम्यक्त्व के मल—अतीचार के शोधनक—निराकरण को मैं कहूँगा, उसे एकाग्रचित्त होकर आप सुनें।

पूर्व में संग्रहसूत्र के द्वारा पाँच आचारों को कहने की प्रतिज्ञा की है। पुनः इस संग्रहसूत्र से दर्शन के अतिचार को प्ररूपित करने के लिए कहा है। अतः जिनेन्द्रदेव ने दर्शन की विशुद्धि आठ प्रकार की कही है अतः इन आठ भेदों से दर्शन की अशुद्धि (अतिचार) भी आठ प्रकार की ही हो जाती है। मैं दर्शनाचार के शोधन को कहूँगा, तुम सावधान होकर सुनो, ऐसा ग्रन्थकार ने कहा है।

आपने शुद्धि आठ प्रकार की कही है। वे आठ प्रकार कौन हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा य ते अट्ठ ॥२०१॥

णिस्संकिद—शंका निश्चयाभावः शुद्धपरिणामाच्चलनं शंकाया निर्गतो निःशंकस्तस्य भावो निःशंकता तत्त्वरुचौ शुद्धपरिणामः। णिक्कंखिद—कांक्षा इहपरलोकभोगाभिलाषः, कांक्षाया निर्गतो निष्कांक्षस्तस्य भावो निष्कांक्षता सांसारिकसुखारुचिः। णिव्विदिगिंछा—विचिकित्सा जुगुप्सा अस्नानव्रतमलधारणनग्नत्वादिषु तासु विचिकित्साया निर्गतो निर्विचिकित्सस्तस्य भावो निर्विचिकित्सता द्रव्यभावद्वारेण विपरिणामाभावः। अमूढदिट्ठीय—मूढान्यत्र गता न मूढा अमूढा, अमूढा दृष्टिः रुचिर्यस्यासावमूढदृष्टिस्तस्य भावोऽमूढदृष्टिता लौकिकसामयिकवैदिकमिथ्याव्यवहारापरिणामः। उवगूहण—उपगूहनं चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघदोषाच्छादनं प्रमादाचरितस्य च संवरणं। ठिदिकरणं—अस्थिरः स्थिरः क्रियते सम्यक्त्वचारित्रादिषु स्थिरीकरणं रत्नत्रये

गाथार्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ शुद्धि हैं ॥२०१॥

आचारवृत्ति—शंका—निश्चय का अभाव होना, या शुद्ध परिणाम से चलित होना। इस शंका से जो रहित है वह निःशंक है उसका भाव निःशंकता है अर्थात् तत्त्वों की रुचि में शुद्ध परिणाम का होना।

इस लोक परलोक सम्बन्धी भोगों की अभिलाषा कांक्षा है। कांक्षा जिसकी निकल गई है वह निष्कांक्ष है, उसका भाव निष्कांक्षता है अर्थात् सांसारिक सुखों में अरुचि का होना।

जुगुप्सा—ग्लानि को विचिकित्सा कहते हैं। अस्नानव्रत, मलधारण और नग्नत्व आदि में अरुचि होना। इस विचिकित्सा का न होना निर्विचिकित्सा है, उसका भाव निर्विचिकित्सता है अर्थात् द्रव्य और भाव के द्वारा विकाररूप (ग्लानि या निन्दा) परिणाम का नहीं होना।

अन्यत्र जानेवाली दृष्टि—रुचि मूढ़दृष्टि है और जिसकी मूढ़दृष्टि नहीं है वह अमूढ़दृष्टि है, उसका भाव अमूढ़दृष्टिता है। लौकिक, सामयिक, वैदिक मूढ़ताओं में मिथ्या-व्यवहार रूप परिणाम न होना। अर्थात् अग्नि में जलकर मरना, सती होना आदि लोकमूढ़ता है। अन्य संप्रदाय को समय कहते हैं उसमें मूढ़बुद्धि होना तथा वेदों में रुचि होना यह सब मूढ़दृष्टिता है, इनमें रुचि—श्रद्धा न होना अमूढ़दृष्टिता है।

चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ में हुए किसी भी दोष को दूर करना अर्थात् प्रमाद से कोई दोष-रूप आचरण हुआ हो तो उसे ढाँक देना यह उपगूहन है।

अस्थिर को स्थिर करना अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र आदि में उसे स्थिर करना, जो रत्नत्रय में शिथिल हो रहा है उसको हितमित उपदेश आदि से उसी में दृढ़ कर देना स्थिरी-करण है।

वत्सल का भाव वात्सल्य है। चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ में अनुकूल ही सर्वथा प्रवृत्ति करना, सधर्मी जीवों के ऊपर आपत्ति के आने पर या बिना आपत्ति के भी उनके उपकार के लिए धर्म-परिणाम से प्रासुक द्रव्य व उपदेश आदि के द्वारा उनसे हितरूप आचरण करना वात्सल्य है।

शिथिलस्य दृढयनं हितमितोपदेशादिभिः। वच्छल्ल—वत्सलस्य भावो वात्सल्यं चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघे सर्वथानुपवर्तनं धर्मपरिणामेनापद्यनापदि सधर्मजीवानामुपकाराय द्रव्योपदेशादिना हितमाचरणं। पभावणाय—प्रभावना च प्रभाव्यते मार्गोऽनयेति प्रभावना वादपूजादानव्याख्यानमंत्रतंत्रादिभिः सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोधं कृत्वार्हत्प्रणीतशासनोद्योतनं ते एते निःशंकितादयो गुणाः। अट्ठ—अष्टौ वेदितव्याः। एतेषां वैपरीत्येन तावन्तोऽतीचारा व्यतिरेकद्वारेण कथिता एवातो नातिचारकथनं प्रतिज्ञाय शुद्धिकथनं दोषायेति ॥२०१॥

अथ दर्शनं किं लक्षणं? यस्य शुद्धयोऽतीचाराश्चोक्ता दर्शनं मार्गः सम्यक्त्वं कुत इत्यत आह—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥२०२॥

मग्गो—मार्गो मोक्षमार्गाभ्युपायः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामन्योन्यापेक्षया वर्तनं। मग्गफलंति य—मार्गस्य फलं सम्यक्सुखाद्यवाप्तिःमार्गफलमिति च। इतिशब्दो व्यवच्छेदार्थः नान्यत्त्रैविध्यमित्यर्थः। दुविहं—द्वौ प्रकारावस्यद्विविधं तस्य भावो द्वैविध्यं। जिणसासणे—जिनस्य शासनमागमस्तस्मिन् जिनशासने। समक्खादं—समाख्यातं सम्यगुक्तं। अथवा प्रथमान्तमेतज्जिनशासनमिति। मग्गो—मार्गः। खलु—स्फुटं।

जिसके द्वारा मार्ग प्रभावित किया जाता है वह प्रभावना है। वाद—शास्त्रार्थ, पूजा, दान, व्याख्यान, मन्त्र, तन्त्र आदि के द्वारा और सच्चे उपदेश के द्वारा मिथ्यादृष्टि जनों के प्रभाव को रोककर अर्हन्त देव के द्वारा प्रणीत जैन शासन का उद्योतन करना प्रभावना है।

ये निशंकित आदि आठ गुण हैं ऐसा जानना चाहिए। इन आठ गुणों से विपरीत उतने ही अतिचार होते हैं जो कि व्यतिरेक द्वारा कहे ही गए हैं। इसलिए आचार्य ने अतिचार के कहने की प्रतिज्ञा करके जो यहाँ पर शुद्धियों का कथन किया है वह दोषास्पद नहीं है।

विशेष—गाथा क्र० २०० में आचार्य ने तो कहा है कि मैं दर्शन के अतिचारों को कहूँगा तथा गाथा क्र० २०१ में वे दर्शन की आठ शुद्धियों का वर्णन करते हैं। सो यह कोई दोष नहीं है क्योंकि ये निशंकित आदि आठ गुण कहे गए हैं। इनसे उल्टे ही आठ दोष हो जाते हैं जो कि इनके वर्णन से ही जाने जाते हैं।

उस दर्शन का लक्षण क्या है जिसकी शुद्धियाँ और अतिचारों को कहा गया है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि दर्शन मार्ग है अर्थात् सम्यक्त्व है। यह कैसे? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—मार्ग और मार्गफल इस तरह दो प्रकार ही जिन शासन में कहे गये हैं। निश्चित रूप से सम्यक्त्व है मार्ग और मार्ग का फल है निर्वाण ॥२०२॥

आचारवृत्ति—मोक्षमार्ग या मोक्ष के उपाय को यहाँ मार्ग कहा है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का परस्पर में सापेक्ष वर्तन होना मार्ग है। सच्चे सुख आदि की प्राप्ति हो जाना मार्ग का फल है। इस तरह दो ही प्रकार जिनशासन में—जैन आगम में कहे गये हैं,

सम्मत्तं—सम्यक्त्वं । ननु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि समुदितानि मार्गस्ततः कथं सम्यक्त्वमेव मार्गः । नैष दोषः अवयवे समुदायोपचारात् मार्गं प्रति सम्यक्त्वस्य प्राधान्याद्वा । मग्गफलं—मार्गस्य फलं मार्गफलं । होइ—भवति । णिव्वाणं—निर्वाणं अनन्तचतुष्टयावाप्तिः । किमुक्तं भवति, जिनशासने मार्गमार्गफलाभ्यामेव द्वैविध्यमाख्यातं कार्यकारणाभ्यां विनान्यस्याभावात् । अतो मार्गः सम्यक्त्वं कारणं, मार्गफलं च निर्वाणं कार्यरूपं । अथवा मार्गमार्गफलाभ्यामिति कृत्वा जिनशासनं द्विविधमेव समाख्यातं । स मार्गः सम्यक्त्वं, तस्य फलं निर्वाणमिति ॥२०२॥

यद्यपि मार्गः सम्यक्त्वं इति व्याख्यातं तथापि सम्यक्त्वस्याद्यापि स्वरूपं न बुध्यते इति प्रश्नेऽथाह—

अन्य तीसरा प्रकार नहीं है । अथवा 'जिन शासन' पद को प्रथमान्त मानकर ऐसा अर्थ करना कि यह जिनशासन दो प्रकार का ही है । और वह मार्ग सम्यक्त्व ही है ।

शंका—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मार्ग है । पुनः आपने सम्यक्त्व को ही मार्ग कैसे कहा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है । अवयव में समुदाय का उपचार कर लेने से यहाँ पर सम्यक्त्व को ही मार्ग कह दिया गया है । अथवा मार्ग के प्रति सम्यग्दर्शन प्रधान है इसलिए भी यहाँ सम्यक्त्व को ही 'मार्ग' शब्द से कह दिया है ।

मार्ग का फल निर्वाण है जो कि अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति रूप है । अभिप्राय यह है कि जिनशासन में मार्ग और मार्गफल ये दो प्रकार कहे गये हैं, क्योंकि कार्य और कारण से अतिरिक्त अन्य कुछ तृतीय बात सम्भव नहीं है । अतः मार्ग तो सम्यक्त्व है वह कारण है और मार्ग का फल निर्वाण है जो कि कार्यरूप है । अथवा मार्ग और मार्गफल के द्वारा जिनशासन दो प्रकार का है । उसमें मार्ग तो सम्यक्त्व है और उसका फल निर्वाण है ।

विशेष—नियमसार में श्री कुन्दकुन्ददेव की दूसरी गाथा यही है, किंचित् अन्तर के साथ—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ।

अर्थात् मार्ग और मार्गफल इन दो प्रकार का जिनशासन में कथन किया गया है । मार्ग तो मोक्ष का उपाय है और उसका फल निर्वाण है । अभिप्राय यह है कि यहाँ पर आचार्य ने मोक्ष के उपाय रूप रत्नत्रय को मार्ग कहा है जिसके विषय में उपर्युक्त टीका में प्रश्न उठाकर समाधान किया गया है कि अवयव—एक सम्यग्दर्शन में भी रत्नत्रयरूप समुदाय का उपचार कर लिया गया है अथवा मोक्ष के मार्ग में सम्यग्दर्शन ही प्रमुख है इसके बिना ज्ञान अज्ञान है और चारित्र भी अचारित्र है ।

मार्ग सम्यक्त्व है, यद्यपि आपने ऐसा बतलाया है फिर भी सम्यक्त्व का स्वरूप मुझे अभी तक मालूम नहीं है, ऐसा कहने पर आचार्य सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हैं, सो कहते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥२०३॥

अवयवार्थपूर्विका वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति कृत्वा तावदवयवार्थो व्याख्यायते । भूदत्थेण—भूतश्चासावर्थश्च भूतार्थस्तेन । यद्यप्ययं भूतशब्दः पिशाचजीवसत्यपृथिव्याद्यनेकार्थे वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परिगृह्यते, तथार्थशब्दो यद्यपि पदार्थप्रयोजनस्वरूपाद्यर्थे वर्तते तथापि स्वरूपार्थे वर्तमानः परिगृहीतोऽन्यार्थवाचकेन प्रयोजनाभावात्, भूतार्थेन सत्यस्वरूपेण याथात्म्येन । अभिगदा—अभिगताः अधिगताः स्वेन स्वेन स्वरूपेण प्रतिपन्नाः जीवाश्चेतनलक्षणा ज्ञानदर्शनसुखदुःखानुभवनशीलाः । तद्व्यतिरिक्ता अजीवाश्च पुद्गलधर्माधर्मास्तिकायाकाशकालाः रूपादिगतिस्थित्यवकाशवर्तनालक्षणाः । पुण्णं—शुभप्रकृतिस्वरूपपरिणतपुद्गलपिंडो जीवाह्लादननिमित्तः । पावं—पापं चाशुभकर्मस्वरूपपरिणतपुद्गलप्रचयो जीवस्यासुखहेतुः । आसव—आसमन्तात् स्रवत्युपढौकते कर्मानेनास्रवः । संवर—कर्मागमनद्वारं संवृणोतीति संवरणमात्रं वा संवरोऽपूर्वकर्मागमननिरोधः । णिज्जर—निर्जरणं निर्जरयत्यनया वा निर्जरा जीवलग्नकर्मप्रदेशहानिः । बंधो—बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धो जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसंश्लेषोऽस्वतंत्रीकरणं । मोक्खो—मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा मोक्षो जीव-

---

गाथार्थ—सत्यार्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये ही सम्यक्त्व हैं ॥२०३॥

आचारवृत्ति—अवयवों के अर्थपूर्वक ही वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए पहले अवयव के अर्थ का व्याख्यान करते हैं। अर्थात् पदों से वाक्य रचना होती है इसलिए प्रत्येक पद का अर्थ पहले कहते हैं जिससे वाक्यों का ज्ञान हो सकेगा।

भूत और अर्थ इन दो पदों से भूतार्थ बना है। उसमें से यद्यपि भूत शब्द पिशाच, जीव, सत्य, पृथ्वी आदि अनेक अर्थों में विद्यमान है फिर भी यहाँ पर सत्य अर्थ में होना चाहिए। उसी प्रकार से अर्थ शब्द यद्यपि पदार्थ, प्रयोजन और स्वरूप आदि अनेक अर्थों का वाचक है फिर भी यहाँ पर स्वरूप अर्थ में लिया गया है क्योंकि यहाँ पर अन्य अर्थ का प्रयोजन नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से व्यवस्थित हैं वे अपने-अपने स्वरूप से ही जाने गये हैं, सम्यक्त्व हैं।

जीव का लक्षण चेतना है। वह चेतना ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख के अनुभव स्वभाववाली है, उससे व्यतिरिक्त पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये अजीव द्रव्य हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणवाला पुद्गल है। धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों की गति में सहायक होने से गति लक्षणवाला है। अधर्मद्रव्य इनकी स्थिति में सहायक होने से स्थितिलक्षणवाला है। आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला होने से अवकाश लक्षणवाला है और काल द्रव्य वर्तना लक्षणवाला है। शुभ प्रकृति स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पुण्य कहलाता है जो कि जीवों में आह्लादरूप सुख का निमित्त है। अशुभ कर्म स्वरूप परिणत हुआ पुद्गलपिण्ड पापरूप है जो कि जीव के दुःख का हेतु है। जिससे कर्म आ—सब तरफ से, स्रवंति—आते हैं वह आस्रव है अर्थात् कर्मों का आना आस्रव है। कर्म के आगमन-द्वार को जो रोकता है अथवा कर्मों का रुकना मात्र ही संवर है अर्थात् आनेवाले कर्मों का आना रुक जाना

प्रदेशानां कर्मरहितत्वं स्वतंत्रीभावः। चशब्दः समुच्चयार्थः। सम्मत्तं—सम्यक्त्वं। एतेषां यथाक्रम एव न्याय्यः,[1] जीवस्य प्राधान्यादुत्तरोत्तराणां पूर्वपूर्वोपकाराय प्रवृत्तत्वाद्वा। न चैतेषामभावो ज्ञानरूपमुपचारो वा धर्मार्थकाममोक्षाणामभावादाश्रयाभावात्पुण्याभावाच्च प्रमाणप्रमेयव्यवहाराभावाल्लोकव्यवहाराभावाच्च। जीवाजीवा[2] भूतार्थेनाधिगताः सम्यक्त्वं[3]। तथा पुण्यपापं चाधिगतं सम्यक्त्वं। तथा आस्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाश्चाधिगताः सन्तः सम्यक्त्वं भवति। ननु कथमेतेऽधिगताः सम्यक्त्वं यावतैषामधिगतानां यच्छ्रद्धानं तत् सम्यक्त्वमित्युक्तं, नैष दोषः, श्रद्धानरूपैवेयमधिगतिरन्यथा परमार्थाधिगतेरभावात् कारणे कार्योपचाराद्वा जीवादयोऽधिगताः सम्यक्त्वमित्युक्तं। जीवादीनां [4]परमार्थानां यच्छ्रद्धानं तत्सम्यक्त्वं। अनेन न्यायेनाधिगमलक्षणं दर्शनमुक्तं भवति ॥२०३॥

संवर है। कर्मों का निर्जीर्ण होना अथवा जिसके द्वारा कर्म निर्जीर्ण होते हैं, झड़ते हैं, वह निर्जरा है। अर्थात् जीव में लगे हुए कर्म प्रदेशों की हानि होना निर्जरा है। यहाँ व्याकरण के लक्षण की व्युत्पत्ति से 'निर्जरणं अनया निर्जरयति वा' इस प्रकार से भाव अर्थ में और करण-साधन में विवक्षित है, जिसका ऐसा अर्थ है कि कर्मों का झड़ना यह तो द्रव्य निर्जरा है और जिन परिणामों से कर्म झड़ते हैं वे परिणाम ही भावनिर्जरा है।

जिसके द्वारा कर्म बँधते हैं अथवा बँधना मात्र ही बन्ध का लक्षण है (बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा) इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी भावबन्ध और द्रव्यबन्ध विवक्षित हैं। जीव के प्रदेश और कर्म प्रदेश—परमाणुओं का परस्पर में संश्लेष हो जाना—एकमेक हो जाना बन्ध है, जो जीव और पुद्गलवर्गणा दोनों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर उन्हें परतन्त्र कर देता है।

जिसके द्वारा जीव मुक्त होवे, छूट जाय अथवा छूटना मात्र ही मोक्ष है। इसमें भी व्युत्पत्ति (मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा) के लक्षण से भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष विवक्षित है अर्थात् जिन परिणामों से आत्मा कर्म से छूटता है वह भावमोक्ष है और कर्मों से छूटना ही द्रव्य मोक्ष है सो ही कहते हैं कि जीव के प्रदेशों का कर्म से रहित हो जाना, जीव की परतन्त्र अवस्था समाप्त होकर उसका पूर्ण स्वतन्त्र भाव प्रकट हो जाना ही मोक्ष है।

इन नव पदार्थों का जो यहाँ क्रम लिया है वही न्यायपूर्ण है, क्योंकि जीव द्रव्य ही प्रधान है अथवा आगे-आगे के पदार्थ पूर्व-पूर्व के उपकार के लिए प्रवृत्त होते हैं।

शंका—इन पदार्थों का अभाव है अथवा ये पदार्थ ज्ञान रूप ही हैं या ये उपचार रूप ही हैं? अर्थात् शून्यवादी किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं मानते हैं सो वे ही सबका अभाव कहते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सभी चर-अचर जगत् को एक ज्ञान रूप ही मानते हैं। तथा सामान्य बौद्ध या ब्रह्माद्वैतवादी सभी वस्तुओं को उपचार अर्थात् कल्पना रूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व अविद्या का ही विलास है। इन सम्प्रदायवादियों की अपेक्षा से ये तीन शंकाएँ उठाई गई हैं।

समाधान—आप ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि जीव पदार्थों को या आश्रय जीव को ही न माना जाय तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का अभाव हो जायेगा।

---

१ क न्याय्य इति प्रतिभाति। २ क [illegible]। ३ क [illegible]। ४ क [illegible]

अथवा यदि जीव को ज्ञानरूप ही मान लोगे तो ज्ञान तो एक गुण है और जीव गुणी है, ज्ञान गुण के ही मानने से उसके आश्रय का अभाव हो जायेगा अर्थात् आश्रयभूत जीव पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकेगा। यदि जीवादि को उपचार कहोगे तो मुख्य का अभाव हो जायेगा और मुख्य के विना उपचार की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी। तथा इन एकान्त मान्यताओं से प्रमाण और प्रमेय अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय रूप व्यवहार का भी अभाव हो जायेगा। और तो और, लोकव्यवहार का ही अभाव हो जाता है अर्थात् जो कुछ भी लोकव्यवहार चल रहा है वह सब समाप्त हो जावेगा।

सत्यार्थस्वरूप से जाने गये ये जीव-अजीव सम्यक्त्व हैं। उसी प्रकार से सत्यार्थ स्वरूप से जाने गये पुण्य और पाप ही सम्यक्त्व हैं। तथैव सत्यार्थ स्वरूप से जाने गये आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं।

शंका—ये जाने गये सभी सम्यक्त्व कैसे हैं? सत्यार्थरूप से जाने गये इनमें से जो प्रधान है वह सम्यक्त्व है ऐसा कहना तो युक्त हो भी सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह अधिगति—ज्ञान श्रद्धानरूप ही है अन्यथा—यदि ऐसा नहीं मानोगे, तो परमार्थ रूप से जानने का अभाव हो जायेगा। अथवा कारण में कार्य का उपचार होने से जाने गये जीवादि पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है। किन्तु वास्तव में परमार्थरूप जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यक्त्व है। इस न्याय से यहाँ पर अधिगम लक्षण सम्यग्दर्शन को कहा गया है—ऐसा समझना।

विशेषार्थ—यहाँ पर सम्यग्दर्शन के विषयभूत पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। चूंकि परमार्थ रूप में जाने गये ये पदार्थ ही श्रद्धा के विषय हैं अतः ये श्रद्धान में कारण हैं और श्रद्धान होना यह कार्य है जो कि सम्यक्त्व है किन्तु कारणभूत पदार्थों में कार्यभूत श्रद्धान का अध्यारोप करके उन पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है।

यही गाथा 'समयसार' में भी है जिसका अर्थ भी श्री अमृतचन्द्र सूरि और श्री जयसेनाचार्य ने इसी प्रकार से किया है। यथा—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

अर्थात् परमार्थ रूप जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते हैं।

तात्पर्यवृत्ति—भूयत्थेण-भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा—अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः सन्तः के ते? जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य—जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः सम्मत्तं। त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात् सम्यक्त्वं भवन्ति। निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति।......

अर्थ—भूतार्थरूप निश्चयनय—शुद्धनय के द्वारा निर्णय किये गये, निश्चय किये गये, जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष स्वरूप जो नव

आदौ निर्दिष्टस्य जीवस्य भेदपूर्वकं लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

दुविहा य होंति जीवा संसारत्था य णिव्वुदा चेव ।
छद्धा संसारत्था सिद्धिगदा णिव्वुदा जीवा ॥२०४॥

दुविहा य—द्विप्रकारा द्वौ प्रकारौ येषां ते द्विप्रकारा द्विभेदाः जीवाः प्राणिनः । संसारत्था य—संसारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाश्चतुर्गतिनिवासिनः । णिव्वुदा चेव—निर्वृताश्चेति मुक्तिं गता इत्यर्थः । छद्धा—षड्धा षट्प्रकाराः । संसारत्था—संसारस्थाः । सिद्धिगदा—सिद्धिगता उपलब्धात्मस्वरूपाः । णिव्वुदा—निर्वृता जीवास्तेषां भेदकारणाभावादभेदास्ते । संसारमुक्तिवासभेदेन द्विविधा जीवाः । संसारस्थाः पुनः षट्प्रकारा एकरूपाश्च निर्वृता इति सम्बन्धः ॥२०४॥

पदार्थ हैं वे ही अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से, कारण होने से सम्यक्त्व हैं। किन्तु अभेद रूप से निश्चय से देखें तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है।

प्रश्न—भूतार्थ नय के द्वारा जाने हुए नव पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं ऐसा जो आपने कहा, उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरूप है?

उत्तर—यद्यपि ये नव पदार्थ तीर्थ की प्रवृत्ति निमित्त होने से प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से भूतार्थ कहे जाते हैं। फिर भी अभेद रत्नत्रयलक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में ये अभूतार्थ-असत्यार्थ ठहरते हैं अर्थात् ये शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते हैं। किन्तु उस परम समाधि के काल में तो उन नव पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही झलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है, अनुभव किया जाता है। और, जो वहाँ पर यह अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। यह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है ऐसा तात्पर्य है। और जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं ये केवल प्रारम्भ अवस्था में तत्त्वों के विचार के समय सम्यक्त्व के लिए सहकारी कारणभूत होते हैं ये भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं, किन्तु परमसमाधि काल में तो ये भी अभूतार्थ हो जाते हैं। उन सबमें भूतार्थ रूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति में आता है।

अभिप्राय यह है कि आचार्य ने यहाँ पर समीचीनतया जाने गये नव पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है सो अभेदोपचार करके कहा है। वास्तव में ये सम्यक्त्व के विषय हैं अथवा सम्यक्त्व के लिए कारण भी हैं।

अब आदि में जिसका निर्देश किया है उस जीव का भेदपूर्वक लक्षण बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जीव दो प्रकार के होते हैं—संसार में स्थित अर्थात् संसारी और मुक्त। संसारी जीव छह प्रकार के हैं और मुक्तजीव सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं ॥२०४॥

आचारवृत्ति—संसार और मुक्ति में वास करने की अपेक्षा से जीव के मूल में दो भेद हैं। 'संसारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाः' संसार में जो ठहरे हुए हैं वे संसारी जीव हैं। वे चारों गतियों में निवास करने वाले हैं। मुक्ति को प्राप्त हुए जीव निर्वृत कहलाते हैं। संसारी जीव के छह भेद हैं और भेद के कारणों का अभाव होने से मुक्त जीव अभेद—एक रूप ही हैं।

के ते षट्प्रकारा इत्याह—

पुढवी आऊ तेऊ वाऊ य वणप्फदी तहा य तसा ।
छत्तीसविहा पुढवी तिस्से भेदा इमे णेया ॥२०५॥

पुढवी—पृथिवी चतुष्प्रकारा पृथिवी, पृथिवीशरीरं, पृथिवीकायिकः, पृथिवीजीवः । आपोऽप्कायोऽप्कायिकोऽप्जीवः । तेजस्तेजस्कायस्तैजस्कायिकस्तेजोजीवः । वायुर्वायुकायो वायुकायिको वायुजीवः । वनस्पतिर्वनस्पतिकायो वनस्पतिकायिको वनस्पतिजीवः । यथा पृथिवी चतुष्प्रकारा तथाप्तेजोवायुवनस्पतयः, चशब्दतथाशब्दाभ्यां सूचितत्वात् । जीवाधिकाराद् द्वयोर्द्वयोराद्ययोस्त्यागः शेषयोः सर्वत्र ग्रहणम् । आद्यस्य प्रकारस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—छत्तीसविहा पुढवी—षडभीरधिका त्रिंशत् षट्त्रिंशद्विधा. प्रकारा यस्याः सा षट्त्रिंशत्प्रकारा पृथिवी । तिस्से—तस्याः । भेदा—प्रकाराः । इमे—प्रत्यक्षवचनं । णेया—ज्ञेया ज्ञातव्याः ॥२०५॥

वे छह प्रकार कौन हैं ?—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह भेद हैं। पृथ्वी के छत्तीस भेद हैं उसके ये भेद जानना चाहिए ॥२०५॥

आचारवृत्ति—पृथिवी के चार प्रकार हैं—पृथिवी, पृथिवीशरीर, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव। जल, जलकाय, जलकायिक और जलजीव । अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक और अग्निजीव । वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायुजीव। वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव। अर्थात् जैसे पृथिवी के चार भेद हैं वैसे ही जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भी चार भेद हैं यह गाथा के 'च' शब्द और 'तथा' शब्द से सूचित है। यहाँ जीवों का अधिकार-प्रकरण होने से पृथिवी आदि के प्रत्येक के आदि के दो-दो भेद छोड़ने योग्य हैं अर्थात् वे निर्जीव हैं और शेष दो-दो भेदों को सभी में ग्रहण करना है क्योंकि वे ही जीव हैं। अर्थात् प्रथम भेद सामान्य पृथ्वी रूप है जिसके अन्दर अभी जीव नहीं हैं लेकिन आ सकता है । पृथिवीकाय से जीव निकल चुका है पुनः उसमें जीव नहीं आयेगा । जो पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से पृथिवीपर्याय में पृथिवी शरीर को धारण किये हुए हैं तथा जिस जीव ने विग्रहगति में पृथिवी शरीर को अभी ग्रहण नहीं किया है वह पृथिवीजीव है। इनमें से आदि के दो निर्जीव और शेष दो जीव हैं। इनमें भी विग्रहगति सम्बन्धी पृथिवीजीव के घात का प्रश्न नहीं उठता है । एक प्रकार के, मात्र पृथिवीकायिक की ही रक्षा करने की बात रहती है ।

जीव के छह भेदों में जो सर्वप्रथम पृथ्वी का कथन आया है उसी के प्रतिपादन हेतु कहते हैं—पृथ्वी के छत्तीस भेद होते हैं, उनके नाम आगे बताते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—मार्ग में पड़ी हुई धूलि आदि पृथ्वी है। पृथ्वीकायिक जीव के द्वारा परित्यक्त ईंट आदि पृथ्वीकाय है । जैसे कि मृतक मनुष्यादि की काया । पृथ्वीकायिक नामकर्म के उदय से जो जीव पृथिवीशरीर को ग्रहण किये हुए हैं वे पृथिवीकायिक हैं जैसे खान में स्थित पत्थर आदि, और पृथ्वी में उत्पन्न होने के पूर्व विग्रहगति में रहते हुए एक, दो या तीन समय तक जीव पृथिवीजीव हैं।

क इमे इत्यत आह—

> पुढवी य वालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य।
> अय तंब तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥२०६॥
>
> हरिदाले हिंगुलये मणोसिला सस्सगंजण पवालेय।
> अब्भपडलब्भवालुय बादरकाया मणिविधीय ॥२०७॥
>
> गोमज्झगेय रुजगे अंके फलिहे लोहिदंकेय।
> चंदप्पभेय वेरुलिए जलकंते सूरकंतेय ॥२०८॥
>
> गेरुय चंदण वव्वग वय मोए तह मसारगल्ले य।
> ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२०९॥

विलोडा गया, इधर-उधर फैलाया गया और छना हुआ पानी सामान्य जल है। जल-कायिक जीवों से छोड़ा गया पानी और गरम किया गया पानी जलकाय है। जिसमें जलजीव हैं वह जलकायिक और जल काय में उत्पन्न होनेवाला विग्रहगतिवाला जीव जलजीव है।

इधर-उधर फैली हुई या जिस पर जल सींच दिया गया है या जिसका बहुभाग भस्म बन चुका है, या किंचित् गरम मात्र ऐसी अग्नि सामान्य अग्नि है। अग्निजीव के द्वारा छोड़ी हुई अग्नि भस्म आदि अग्निकाय है। जिसमें अग्निजीव मौजूद है वह अग्निकायिक और अग्निकाय में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गतिवाला अग्निजीव है।

जिसमें वायुकायिक जीव आ सकता है ऐसी वायु को अर्थात् केवल सामान्य वायु को वायु कहते हैं। वायुकायिक जीव के द्वारा छोड़ी गयी, पंखा आदि से चलाई गयी, वायु, हमेशा विलोडित की गयी वायु वायुकाय है। वायुकायिक जीव से सहित वायुकायिक है और वायु-कायिकों में उत्पन्न से पूर्व विग्रहगतिजीव वायुजीव है।

गीली, छेदी गयी, भेदी गयी या मर्दित की गयी लता आदि वह सामान्य वनस्पति है। सूखी आदि वनस्पति जिसमें वनस्पति जीव नहीं है वह वनस्पतिकाय है। वनस्पतिकायिक जीव सहित वनस्पतिकायिक है और वनस्पतिकाय में उत्पन्न होनेवाला विग्रहगति वाला जीव वनस्पति जीव है। इस प्रकार से इनके उदाहरण तत्त्वार्थवृत्ति अ० २ सूत्र १३ में दिये गये हैं।

ये भेद कौन हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—मिट्टी, बालू, शर्करा, उपल, शिला, लवण, लोहा, तांबा, रांगा, सीसक चांदी, सोना और हीरा।

हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रक और अभ्रबालु ये बादरकाय हैं। और अब मणियों के भेद कहते हैं—

गोमेदमणि, रुजकमणि, अंकमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त ये मणि हैं।

गेरु, चन्दन, वप्पक, वक, मोच तथा मसारगल्ल ये मणि हैं। इन पृथिवीकायिक

पुढवी—पृथिवी मृद्रूपा। वालुया—वालुका रूक्षा गंगाद्युद्भवा। सक्करा—शर्करा परुषरूपा त्र्यस्र चतुरस्रादिरूपा। उवले—उपलानि वृत्तपाषाणरूपाणि। सिला य—शिला च बृहत्पाषाणरूपा। लोणे य—लवणभेदाः सामुद्रादयः। अय—अयो लोहरूपं। तंव—ताम्रं। तउय—त्रपुषं। सीसय—सीसकं श्यामवर्णं। रुप्प—रूप्यवर्णं शुक्लरूपं। सुवण्णेय—सुवर्णानि च रक्तपीतरूपाणि। वइरे य—वज्रं च रत्नविशेषः ॥२०७॥

हरिदाले—हरितालं नटवर्णकं। हिंगुलये—हिंगुलकं रक्तद्रव्यं। मणोसिला—मनःशिला कास-प्रतिकाराय प्रवृत्तं। सस्सग—सस्यकं हरितरूपं। अंजण—अञ्जनं अक्ष्युपकारकं (चक्षुरुपकारकं) द्रव्यं। पवालेय—प्रवालं च। अब्भपडल—अभ्रपटलं। अब्भवालुग—अभ्रवालुका चैक्यचिक्यरूपा। वादरकाया—स्थूलकायाः। मणिविधीय—इत ऊर्ध्वं मणिविधयो मणिप्रकारा वक्ष्यन्त इति सम्बन्धः ॥२०७॥

शर्करोपलशिलावज्रप्रवालवर्जिताः शुद्धा; पृथिवीविकाराः पूर्वे एते च खरपृथिवीविकाराः। गोमज्झगेय—गोमध्यको मणिः कर्केतनमणिः। रुजगे—रुचकश्च मणी राजवर्तकरूपः। अंके—अंको मणिः पुलकवर्णः। फलिहे—स्फटिकमणिः स्वच्छरूपः। लोहिदंकेय—लोहितांको मणी रक्तवर्णः पद्म-रागः। चंदप्पभेय—चन्द्रप्रभो मणिः। वेरुलिए—वैडूर्यो मणिः। जलकंते—जलकान्तो मणिरुदकवर्णः। सूर-कंतेय—सूर्यकान्तो मणिः ॥२०८॥

जीवों को जानो और जानकर उनका परिहार करना चाहिए ॥२०६-२०९॥

आचारवृत्ति—सामान्य मिट्टी रूप को पृथिवी कहते हैं। वालुका—जो रूक्ष है तथा गंगानदी आदि में उत्पन्न होती है। शर्करा—कंकरीली रेत जो कठोर होती है और चौकोन आदि आकारवाली होती है। उपल—गोल-गोल पत्थर के टुकड़े, शिला—पत्थर की चट्टानें, लवण—पहाड़ या समुद्र आदि के जल से जमकर होने वाला नमक, लोह—लोहा, रूप्य—चाँदी, सुवर्ण—सोना और वज्र—हीरा ये सब रत्नविशेष हैं।

हरिताल—यह नटवर्ण का होता है। हिंगूल—यह लाल वर्ण का होता है। मेनसिल यह पत्थर खाँसी के रोग में औषधि के काम आता है। सस्यक—(तूतिया) यह हरे वर्ण का होता है। अंजन—यह नेत्रों का उपकार करने वाला द्रव्य है। प्रवाल—इसे मूंगा भी कहते हैं। अभ्र-पटल—अभ्रक, इसे भोडल भी कहते हैं। अभ्रवालुका—चमकने वाली कोई रेत। ये सब भेद बादर पृथिवीकायिक के हैं। इसके अनन्तर मणियों के भेदों को कहते हैं।

शर्करा, उपल, शिला, वज्र और प्रवाल इनको छोड़कर बाकी के जो भेद ऊपर कहे हैं शुद्ध पृथिवी के विकार हैं अर्थात् उन्हें शुद्ध पृथिवी कहते हैं। इनके पूर्व में कहे गए (शर्करा आदि) भेद तथा इस गाथा में और अगली गाथा में कहे जाने वाले भेद खरपृथिवी के विकार हैं अर्थात् उन्हें खरपृथिवी कहते हैं। अन्यत्र पृथिवी के शुद्धपृथिवी और खरपृथिवी ऐसे दो भेद किये गये हैं।

गोमेद—कर्केतनमणि। रुचक—राजावर्तमणि जो अलसी के फूल के समान वर्ण-वाली होती है। अंक—पुलकमणि जो प्रवालवर्ण की होती है। स्फटिक—यह स्फटिक मणि स्वच्छ विशेष होती है। लोहितांक—पद्मरागमणि, यह लाल होती है। चन्द्रप्रभ—यह चन्द्रकान्त मणि है। इसमें चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से अमृत झरता है। वैडूर्य—यह नीलवर्ण की होती

गेरुय—गैरिकवर्णो मणी रुधिराभः। चंदण—चन्दनो मणिः श्रीखंडचन्दनगन्धः। बव्वग—बप्पको मणिर्मरकतमनेकभेदं। बग—बको मणिः बकवर्णाकारः पुष्परागः। मोए—मोचो मणिः कदलीपत्राकारो नीलमणिः। तह—तथा। मसारगल्लेय—मसृणपाषाणमणिर्विद्रुमवर्णः। ते जाण—तान् जानीहि। पुढविजीवा पृथिवीजीवान्। तैर्ज्ञातैः किं प्रयोजनं? जाणित्ता—ज्ञात्वा। परिहरेदव्वा—परिहर्तव्या रक्षितव्याः संयमपालनाय। तानेतान् शुद्धपृथिवीजीवान् तथा खरपृथिवीजीवांश्च मणिप्रकारान् स्थूलान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहर्तव्याः। सूक्ष्माः पुनः सर्वत्र ते विज्ञातव्याः आगमबलेन। षट्त्रिंशद्भेदेषु पृथिवीविकारेषु पृथिव्यष्टक—मेरु-कुलपर्वत-द्वीप-वेदिका-विमान-भवन प्रतिमा-तोरण-स्तूप-चैत्यवृक्ष-जम्बू-शाल्मलीद्रु मेष्वाकार-मानुषोत्तर-विजयार्ध-कांचनगिरि-दधिमुखाञ्जन-रतिकर-वृषभगिरि-सामान्यपर्वत-स्वयंभू-नगवरेन्द्र-वक्षार-रुचक-कुण्डल-वर-दंष्ट्रा-पर्वतरत्नाकरादयोऽन्तर्भवन्तीति ॥२०६॥

है। जलकान्त—यह मणि जल के समान वर्ण वाली है। सूर्यकान्त—इस मणि पर सूर्य की किरणों के पड़ने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है।

गैरिक—यह मणि लालवर्ण की होती है। चन्दन—यह मणि श्रीखंड और चन्दन के समान गन्धवाली है। वप्पक—यह मरकत मणि है। इसके अनेक भेद हैं। बक—यह मणि बगुले के समान वर्णवाली है, इसे ही पुष्परागमणि कहते हैं। मोच—यह मणि कदलीपत्र के समान वर्णवाली है, इसे नीलमणि भी कहते हैं। मसारगल्ल—यह चिकने-चिकने पाषाणरूप-मणि है और मूंगे के वर्णवाली है। इन सबको पृथिवीकायिक जीव समझो।

शंका—इनके जानने का क्या प्रयोजन है?

समाधान—इन्हें जानकर संयम के हेतु इन जीवों की रक्षा करना चाहिए अर्थात् शुद्ध पृथिवी के जीवों को और खरपृथिवी के जीवों तथा मणियों के नाना प्रकार रूप बादर कायिक जीवों को जानकर उनका परिहार करना चाहिए। क्योंकि बादर-जीवों की ही रक्षा हो सकती है। पुनः सूक्ष्म जीव सर्वत्र लोक में तिल में तेल के समान भरे हुए हैं, उनको भी आगम के द्वारा जानना चाहिए।

इन छत्तीस भेद रूप पृथिवी के विकारों में सात नरक की पृथिवी और एक ईषत् प्राग्भार नामवाली सिद्धशिला रूप पृथ्वी ये आठ भूमियाँ, मेरुपर्वत, कुलाचल, द्वीप और द्वीपसमूहों की वेदिकाएँ, देवों के विमान, भवन, जिनप्रतिमा आदि प्रतिमाएँ, तोरणद्वार, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मली वृक्ष, इष्वाकारपर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, विजयार्धपर्वत, कांचन पर्वत, दधिमुखपर्वत, अंजनगिरि, रतिकर पर्वत, वृषभाचल तथा और भी सामान्यपर्वत, स्वयंप्रभ पर्वत, वक्षारपर्वत, रुचकवरपर्वत, कुण्डलवरपर्वत, गजदन्त और रत्नों की खान आदि अन्तर्भूत हो जाते हैं। अर्थात् मध्यलोक में होनेवाले सम्पूर्ण पर्वत, वेदिकाएँ, जिनभवन और जिनप्रतिमाएँ, नरक की भूमियाँ, बिल, भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विमान, भवन, इसमें स्थित जिनमन्दिर, जिनप्रतिमाएँ तथा सिद्धशिला भूमि, जम्बूवृक्ष आदि सभी इन छत्तीस भेदों में गर्भित हो जाते हैं।

भावार्थ—पृथिवी के भेद—१. मिट्टी, २. रेत, ३. कंकड़, ४. पत्थर, ५. शिला,

अप्कायिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

ओसाय हिमग महिगा 'हरदणु सुद्धोदगे घणुवगे य।
ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१०॥

ओसाय—अवश्यायजलं रात्रिपश्चिमप्रहरे निरभ्रावकाशात् पतितसूक्ष्मोदकं। हिमग—हिमं प्रालेयं जलबन्धकारणं। महिगा—महिका धूमाकारजलं कुहडरूपं। हरद[2]—हरत्[3] स्थूलविन्दुजलं। अणु—अणुरूपं सूक्ष्मबिंदुजलं। सुद्ध—शुद्धजलं चन्द्रकान्तजलं। उदगे—उदकं सामान्यजलं निर्झराद्युद्भवं। घणुवगे—घनोदकं समुद्रहृदघनवाताद्युद्भवं घनाकारं। अथवा हरदणु—महाहृदसमुद्राद्युद्भवं। घणुवए—मेघाद्युद्भवं घनाकारं, एवमाद्यप्कायिकान् जीवान् जानीहि ततः किं ? जाणित्ता—ज्ञात्वा। परिहरिदव्वाः—परिहर्तव्याः पालयितव्याः सरित्सागर-हृद-कूप-निर्झर-घनोद्भवाकाशज-हिमरूप-धूमरूप-भूम्युद्भव-चन्द्रकान्तजघनवाताद्यप्कायिका अत्रैवान्तर्भवन्तीति ॥२१०॥

---

६. नमक, ७. लोहा, ८. तांबा, ९. रांगा, १०. सीसा, ११. चाँदी, १२. सोना, १३. हीरा, १४. हरताल, १५. हिंगुल, १६. मनःशिला, १७. गेरु, १८. तूतिया, १९. अंजन, २०. प्रवाल, २१. अभ्रक, २२. गोमेद, २३. राजवर्तमणि, २४. पुलकमणि, २५. स्फटिकमणि, २६. पद्मरागमणि, २७. वैडूर्यमणि, २८. चन्द्रकांतमणि, २९. जलकान्त, ३०. सूर्यकान्त, ३१. गैरिकमणि, ३२. चन्दनमणि, ३३. मरकतमणि, ३४. पुष्परागमणि, ३५. नीलमणि और ३६. विद्रुममणि ये छत्तीस भेद हैं। इसी में मेरु पर्वत आदि सभी भेद सम्मिलित हो जाते हैं।

अब जलकायिक जीवों के भेद प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—ओस, हिम, कुहरा, मोटी बूंदें और छोटी बूंदें, शुद्धजल और घनजल—इन्हें जलजीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२१०॥

आचारवृत्ति—रात्रि के पश्चिम प्रहर में मेघ रहित आकाश से जो सूक्ष्म जलकण गिरते हैं उसे ओस कहते हैं। जो पानी घन होकर नीचे ओले के रूप में हो जाता है वह हिम है, इसे ही बर्फ कहते हैं। धूमाकार जल जो कि कुहरा कहलाता है, इसे ही महिका कहते हैं। स्थूल-बिन्दुरूप जल हरत् नामवाला है। सूक्ष्म बिन्दु रूप जल अणुसंज्ञक है। चन्द्रकान्त से उत्पन्न हुआ जल शुद्ध जल है। झरना आदि से उत्पन्न हुआ सामान्यजल उदक कहलाता है। समुद्र, सरोवर, घनवात आदि से उत्पन्न हुआ जल, जो कि घनाकार है, घनोदक कहलाता है। अथवा महासरोवर, समुद्र आदि से उत्पन्न हुआ जल हरदणु है और मेघ आदि से उत्पन्न हुआ घनाकार जल घनोदक है। इत्यादि प्रकार के जलकायिक जीवों को तुम जानो।

उससे क्या होगा ? उन जीवों को जानकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। नदी, सागर, सरोवर, कूप, झरना, मेघ से बरसनेवाला, आकाश से उत्पन्न हुआ हिम-बर्फ रूप, कुहरा रूप, भूमि से उत्पन्न, चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न, घनवात आदि का जल, इत्यादि सभी प्रकार के जलकायिक जीवों का उपर्युक्त भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

१, २, ३, क हरिद।

तेजःकायिकभेदप्रतिपादनायाह—

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणीय अगणी य।
ते जाण तेउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२११॥

इंगाल—अंगाराणि ज्वलितनिर्धूमकाष्ठादीनि। जाल—ज्वाला। अच्चि—अर्चिः प्रदीपज्वालाग्रं। मुम्मुर—मुर्मुरं कारीषाग्निः। सुद्धागणीय—शुद्धाग्निः वज्राग्निविद्युत्सूर्यकान्ताद्युद्भवः। अगणीय—सामान्याग्निर्धूमादिसहितः। वाडवाग्निनन्दीश्वरधूमकुण्डिकामुकुटानलादयोऽत्रैवान्तर्भवन्तीति। तानेतांस्तेजःकायिकजीवान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहरणीया एतदेव ज्ञानस्य प्रयोजनमिति ॥२११॥

वायुकायिकस्वरूपमाह—

वादुब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महा घण तणू य।
ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१२॥

वादुब्भामो—वातः सामान्यरूपः उद्भ्रमो भ्रमन्नूर्ध्वं गच्छति। उक्कलि—उत्कलिरूपः। मंडलि—पृथिवीं लग्नो भ्रमन् गच्छति। गुंजा—गुंजन् गच्छति। महा—महावातो वृक्षादिभंगहेतुः। घणतणुय—घनोदधिः घनानिलस्तनुवातः, व्यजनादिकृतो वा तनुवातो लोकप्रच्छादकः। उदरस्थपंचवात—विमानाधार—

अब अग्निकायिक भेदों के प्रतिपादन हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—अंगारे, ज्वाला, लौ, मुर्मुर, शुद्धाग्नि और अग्नि—इन्हें अग्निजीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२११॥

आचारवृत्ति—जलते हुए धुएँ रहित काठ आदि अर्थात् धधकते कोयले अंगारे कहलाते हैं। अग्नि की लपटें ज्वाला कहलाती है। दीपक का और ज्वाला का अग्रभाग (लौ) अर्चि है। कण्डे की अग्नि का नाम मुर्मुर है। वज्र से उत्पन्न हुई अग्नि, बिजली की अग्नि, सूर्यकान्त से उत्पन्न हुई अग्नि ये शुद्ध अग्नि है। धुएँ आदि सहित सामान्य अग्नि को अग्नि कहा है। बडवा अग्नि, नन्दीश्वर के मन्दिरों में रखे हुए धूपघटों की अग्नि, अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि आदि सभी अग्नि के भेदों का उपर्युक्त भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इन अग्निकायिक जीवों को जानो और जानकर उनकी रक्षा हेतु उनका परिहार करो, यही इनके जानने का प्रयोजन है।

अब वायुकायिक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—घूमती हुई वायु, उत्कलि रूप वायु, मंडलाकार वायु, गुंजा वायु, महावायु, घनोदधिवातवलय की वायु और तनुवातवलय की वायु वायुकायिक जीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२१२॥

आचारवृत्ति—वात शब्द से सामान्य वायु को कहा है। जो वायु घूमती हुई ऊपर को उठती है वह उद्भ्रम वायु है। जो लहरों के समान होती है वह उत्कलिरूप वायु है। पृथ्वी से लगकर घूमती हुई वायु मण्डलिवायु है। गूंजती हुई वायु गुंजावायु है। वृक्षादि को गिरा देने वाली वायु महावायु है। घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय की वायु घनाकार है और पंखे आदि

भवनस्थानादिवाता अत्रैवान्तर्भवन्तीति। तानेतान् वायुकायिकजीवान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहारः कार्यः ॥२१२॥

वनस्पतिकायिकार्थमाह—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥२१३॥

मूल—मूलबीजा जीवा येषां मूलं प्रादुर्भवति ते च हरिद्रादयः। **अग्ग**—अग्रबीजा जीवाः कोरंटकमल्लिकाकुब्जकादयो येषामग्रं प्रारोहति। **पोरबीया**—पोरबीजजीवा इक्षुवेत्रादयो येषां पोरप्रदेशः प्रारोहति। **कंदा**—कन्दजीवाः कदलीपिण्डालुकादयो येषां कन्ददेशः प्रादुर्भवति। **तह**—तथा। **खंधबीया**—स्कन्धबीजजीवाः शल्लकीपालिभद्रकादयो येषां स्कन्धदेशो रोहति। **बीयबीया**—बीजबीजा जीवा यवगोधूमादयो येषां क्षेत्रोदकादिसामग्र्याः प्ररोहः। **सम्मुच्छिमाय**—सम्मूर्च्छिमाश्च मूलाद्यभावेऽपि येषां जन्म। **भणिया**—भणिताः कथिताः। क आगमे जिनवरैः। **पत्तेया**—प्रत्येकजीवाः पूगफल-नालिकेरादयः। **अणंतकाया य**—अनन्तकायाश्च स्नुहीगुडूच्यादयः, ये छिन्ना भिन्नाश्च प्रारोहन्ति, एकस्य यच्छरीरं तदेवानन्तानन्तानां साधारणाहारप्राणत्वात् साधारणानां, एकमेकं प्रति प्रत्येकं पृथक्कायादयाः शरीरं येषां ते प्रत्येककायाः। अनन्तः साधारणः कायो येषां तेऽनन्तकायाः। एते मूलादयः सम्मूर्च्छिमाश्च प्रत्येकानन्तकायाश्च भवन्ति ॥२१३॥

से की गयी वायु अथवा लोक को वेष्टित करने वाली वायु तनुवात हैं। उदर में स्थित पाँच प्रकार की वायु होती है। अर्थात् हृदय में स्थित वायु प्राणवायु है, गुद में अपानवायु है, नाभिमण्डल में समानवायु है, कण्ठ प्रदेश में उदानवायु है और सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाली वायु व्यानवायु है। ये शरीर सम्बन्धी पाँच वायु हैं। इसी प्रकार से ज्योतिष्क आदि स्वर्गों के विमान के लिए आधारभूत वायु, भवनवासियों के स्थान के लिए आधारभूत वायु इत्यादि वायु के भेद इन्हीं उपर्युक्त भेदों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन्हें वायुकायिक जीव जानो और जानकर उनका परिहार करो, ऐसा तात्पर्य है।

अब वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—पर्व, बीज, कन्द, स्कन्ध तथा बीजबीज; इनसे उत्पन्न होनेवाली और संमूर्च्छिम वनस्पति कही गयी हैं। ये प्रत्येक और अनन्तकाय ऐसे दो भेदरूप हैं ॥२१३॥

आचारवृत्ति—मूल से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ मूलबीज हैं; जैसे हल्दी आदि। अग्र से उत्पन्न होने वाली वनस्पति अग्रबीज हैं; जैसे कोरंटक, मल्लिका, कुब्जक—एक प्रकार का वृक्ष आदि। इनका अग्रभाग उग जाता है। जिनकी पर्व—पोरभाग से उत्पत्ति होती है वे पर्वबीज हैं; जैसे ईख, बेंत आदि। जिनकी कन्दभाग से उत्पत्ति होती है वे कन्दबीज जीव हैं; कदली, पिंडालु आदि। कोई स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं वे स्कन्धबीज जीव हैं; जैसे सल्लकी, पालिभद्र आदि। कोई बीज से उत्पन्न होती हैं वे बीज-बीज कहलाती हैं; जैसे जौ, गेहूँ आदि इनकी खेत में मिट्टी, जल आदि सामग्री से उत्पत्ति होती है।

मूल, अग्र-बीज आदि के अभाव में भी जिनका जन्म होता है वे संमूर्च्छिम वनस्पति हैं। इन वनस्पतियों के प्रत्येक और अनन्तकाय ये दो भेद हैं। जिनका स्वामी एक है वे प्रत्येक-

[1]अवयविरूपं व्याख्यायावयवभेदप्रतिपादनार्थमाह। अथवा वनस्पतिजातिर्द्विप्रकारा भवतीति बीजोद्भवा सम्मूर्छिमा च तत्र बीजोद्भवा मूलादिस्वरूपेण व्याख्याता। सम्मूर्छिमानां स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुप्फफलं।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य ॥२१४॥

कन्दा—कन्दकः सूरणपद्मकन्दकादिः। मूला—मूलं [2]पिण्डालकः मूलकं हरिद्रार्द्रकादिकं। छल्ली—त्वक् वृक्षादिबहिर्वल्कलं [illegible] च। खंधं—स्कन्धः [3]पिण्डशाखयोरन्तरभागः पालिभद्रादिकाः।

काय हैं जैसे सुपारी, नारियल आदि के वृक्ष। जो अनन्तजीवों के काय हैं वे अनन्तकाय हैं; जैसे स्नुही, गिलोय—गुरच आदि। ये छिन्नभिन्न हो जाने पर भी उग जाती हैं।

एक-एक के प्रति पृथक्-पृथक् शरीर जिनका होता है वे प्रत्येकशरीर कहलाते हैं और एक जीव का जो शरीर है वही अनन्तानन्त जीवों का शरीर हो, उन का साधारण ही आहार और श्वासोच्छ्वास हो वे अनन्तकाय हैं। अर्थात् जिनके पृथक्-पृथक् शरीर आदि हैं वे प्रत्येककाय जीव हैं और जिनका अनन्त—साधारण काय है वे अनन्तकाय नाम वाले हैं। ये मूल आदि और संमूर्च्छन आदि वनस्पति प्रत्येक और अनन्तकाय भेद से दो प्रकार की होती हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ—जो वनस्पति मूल अग्र पर्व बीज आदि से उत्पन्न होती हैं उनमें ये मूलादि प्रधान हैं। तथा जो मिट्टी, पानी आदि के संयोग से बिना मूल बीज आदि के उत्पन्न होती हैं वे संमूर्च्छन हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक जीव संमूर्च्छन ही होते हैं और पंचेन्द्रियों में भी संमूर्च्छन होते हैं, फिर भी यहाँ मूल एवं बीजादि की विवक्षा का न होना ही संमूर्च्छन वनस्पति में विवक्षित है; जैसे घास आदि।

अवयवी का स्वरूप बताकर अवयवों के भेद प्रतिपादन करने हेतु कहते हैं—अथवा वनस्पति जाति के दो प्रकार हैं—एक, बीज से उत्पन्न होनेवाली और दूसरी, संमूर्च्छन। उनमें से बीज से होनेवाली वनस्पतियाँ मूलज अग्रज आदि के स्वरूप से बतलाई जा चुकी हैं, अब संमूर्च्छन वनस्पतियों का स्वरूप बतलाते हुए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—कन्द, मूल, छाल, स्कन्ध, पत्ता, कोंपल, फूल, फल, गुच्छा, गुल्म, बेल, तृण और पर्वकाय ये वनस्पति हैं ॥२१४॥

आचारवृत्ति—सूरण, पद्मकन्द आदि कन्द हैं। मूल अर्थात् जिनके नीचे भाग से जो उत्पन्न होती है वे मूलकाय हैं, जैसे हल्दी, अदरक आदि। वृक्षादि के ऊपर का वल्कल छाल कहलाता है। पिण्ड और शाखा का मध्यभाग स्कन्ध है; जैसे पालिभद्र* आदि। अंकुर से उत्पन्न की अवस्था पत्ता है। पत्तों की पूर्व अवस्था प्रवाल है जिसे कोंपल कहते हैं। जो रस के [illegible]

१ क अवयवरूपं। २, ३, क [illegible]।

* [illegible]
[illegible]

पत्तं—पत्रं अंकुरोर्ध्वावस्था। पवाल—प्रवालं पल्लवं पत्राणां पूर्वावस्था। पुप्फ—पुष्पं फलकारणं। फलं—पुष्पकार्यं पूगफलतालफलादिकं। गुच्छा—गुच्छो बहूनां समूह एककालीनोत्पत्तिः जातिमल्लिकादिः। गुम्म—गुल्मं करंजकंथारिकादिः। वल्ली—वल्लरी श्यामा लतादिका। तणाणि—तृणानि। तह—तथा। पव्व—पर्वं ग्रंथिकयोर्मध्यं वेत्रादि। काया—कायः स प्रत्येकमभिसम्बध्यते कन्दकायो मूलकाय इत्यादि, एते सम्मूर्छिमाः प्रत्येकानन्तकायाश्च मूलमादायपत्रमादायोत्पद्यन्त इत्यर्थः। अथवा मूलकायावयवः कन्दकायावयवः इत्यादि, पूर्वाणां बीजमुपादानं कारणं एतेषां पुनः पृथिवीसलिलादिकं उपादानकारणं। तथा च दृश्यते शृङ्गाच्छरः गोमयाच्छालूकं बीजमन्तरेणोत्पत्तिः पुष्पमन्तरेण च यस्योत्पत्तिः फलानां स फल इत्युच्यते, यस्य पुष्पाण्येव भवन्ति स पुष्प इत्युच्यते, यस्य पत्राण्येव न पुष्पाणि न फलानि स पत्र इत्युच्यते इत्यादि सम्बन्धः कर्तव्य इति ॥२१४॥

सेवाल पणग केण्णग कवगो कुहणोय बादरा काया।
सव्वेवि सुहमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे ॥२१५॥

है वह पुष्प है। पुष्पों के कार्य को फल कहते हैं; जैसे सुपारी फल आदि। अनेक के समूह का नाम गुच्छा है; जैसे एक काल में उत्पन्न होनेवाले जाति पुष्पों के, मालती पुष्पों के गुच्छे। करंज और कंथारिका आदि गुल्म कहलाते हैं। लता, बेल आदि वल्ली संज्ञक हैं। हरित घास आदि तृण नाम वाले हैं। दो गाँठों के मध्य को, जिससे वेत्रादि उत्पन्न होते हैं, पर्व कहते हैं। गाथा के अन्त में जो काय शब्द है वह प्रत्येक के साथ लगेगा। जैसे कन्दकाय, मूलकाय, स्कन्धकाय, पत्रकाय, पल्लवकाय, पुष्पकाय, फलकाय, गुच्छकाय, गुल्मकाय, वल्लीकाय, तृणकाय और पर्वकाय। ये संमूर्च्छन वनस्पतियाँ प्रत्येक और अनन्तकाय होती हैं। ये मूल या पत्रों का आश्रय लेकर और भी इसी भाँति उत्पन्न होती हैं। अथवा इनको मूलकाय अवयव, कन्दकायावयव इत्यादि नामों से भी कहते हैं।

पूर्वगाथा (२१३) में जिनका वर्णन किया है उनका उत्पादन कारण बीज है। और इस (२१४) गाथा में जिनका वर्णन है उनका उत्पादन कारण पृथिवी, जल, वायु आदि हैं। देखा जाता है कि शृंग—सींग से शर—दर्भ उत्पन्न होता है, गोबर से शालूक उत्पन्न होता है अर्थात् ये बीज के बिना ही उत्पन्न हो जाते हैं। पुष्प के बिना भी जिसमें फल उत्पन्न हो जाते हैं वे फलवनस्पति कहलाती हैं। जिसमें मात्र पत्ते ही रहते हैं, न फूल आते हैं और न फल लगते हैं वे पत्रवनस्पति हैं इत्यादि रूप से सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

गाथार्थ—काई, पणक, कचरे में होनेवाली वनस्पति, छत्राकार आदि ककुरमुत्ते—ये बादरकाय वनस्पति हैं। सभी सूक्ष्मकाय वनस्पति सर्वत्र जल, स्थल और आकाश में व्याप्त हैं ॥२१५॥०

---

० निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

उत्तरकिरियाण मज्झे इट्टय वम्मीय णिगमज्जेय।
सेवाल पणग केणुग कवगो कुहणो जगाकम्मं होंति ॥१६॥

सेवालं—शैवलं उदकगतकायिका हरितवर्णा। पणगं—पणकं भूमिगतं शैवलं इष्टकादिभवकायिका। केण्णग—आलम्बककच्छानि शृंगकहरितनीलरूपाणि अवस्करादिसमुद्भवानि। कवगो—शृंगादुद्भवजटाकाराणि। कुहणो य—आहारकांजिकादिगतपुष्पिका। बादरा काया—स्थूलकायाः अन्तर्दीपकत्वात् सर्वैरतीतपृथिव्यादिभिः सह सम्बध्यन्ते सर्वेऽपि पृथिवीकायिकादयो वनस्पतिपर्यन्ता स्थानदानप्रदानाः स्थूलकाया इति। सूक्ष्मकायप्रतिपादनार्थमाह। सव्वेवि—सर्वेऽपि पृथिव्यादिभेदा वनस्पतिभेदाश्च सुहुमकाया—सूक्ष्मकायाश्चांगुलासंख्यातभागशरीराः। सव्वत्थ—सर्वत्र सर्वस्मिन्लोके। जलथलआगासे—जले स्थले आकाशे च। एते—पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ता बादरकायाः सूक्ष्मकायाश्च भवन्ति, किंतु पृथिव्यष्टकविमानादिकमाश्रित्य स्थूलकायाः, सूक्ष्मकायाः पुनः सर्वत्र जलस्थलाकाशे ॥२१५॥

सर्वत्र साधारणानां स्वरूपप्रतिपादनायाह—

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥२१६॥

गूढसिरसंधिपव्वं—गूढा अदृश्यमानाः शिराः, सन्धयोऽस्नवन्धाः पर्वाणि ग्रन्थयो यस्य तद्गूढशिर

आचारवृत्ति—जल में होनेवाली हरी-हरी काई शैवाल है। जमीन पर तथा ईंट आदि पर लग जाने वाली काई पणक है। वर्षाकाल में कूड़े-कचरे पर जो छत्राकार वनस्पति हो जाती है वह किण्व कहलाती है। सींग में उत्पन्न होनेवाली जटाकार वनस्पति कवक है। भोजन और कांजी आदि पर लग जाने फूली (फफूंदी) कुहन है। और भी, पीछे जिनका वर्णन किया गया है ये सभी वनस्पतियां बादरकाय हैं। अर्थात् पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यन्त जितने भी प्रकार बतलाए गये हैं ये सभी स्थूलकाय के ही प्रकार हैं।

अब सूक्ष्मकाय का वर्णन करते हुए कहते हैं—सभी पृथिवी आदि से लेकर वनस्पति पर्यंत पांचों स्थावरकायों में सूक्ष्मकाय भी होते हैं। ये अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की अवगाहना वाले हैं और सर्वत्र लोकाकाश में—जल में, स्थल में, आकाश में भरे हुए हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पृथिवी से लेकर वनस्पति पर्यन्त अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पांचों प्रकार के स्थावर जीव बादरकाय और सूक्ष्मकाय के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से जो आठ प्रकार की पृथिवी और विमान आदि का आश्रय लेकर होते हैं वे बादरकाय हैं और सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में बिना आधार के रहनेवाले जीव सूक्ष्मकाय कहलाते हैं।

सर्वत्र साधारण वनस्पति का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनकी स्नायु, रेखाबंध और गांठ अप्रगट हों, जिनका समान भंग हो और दोनों भंगों में परस्पर हीरुक—अन्तर्गत सूत्र—तंतु नहीं लगा रहे तथा छिन्न करने पर भी जो उग जावे उसे साधारणशरीर वनस्पति कहते हैं और इससे विपरीत को प्रत्येकशरीर कहते हैं ॥२१६॥

आचारवृत्ति—जिनकी शिरा अर्थात् बहि:स्नायु, संधि—रेखाबन्ध, और पर्व—ग

त्वाद्वा। सचेतना एते [1]संज्ञादिभीरागमे निरूप्यमाणत्वात्, सर्वत्वगपहरणे मरणात् उदकादिभिः साद्वलभावात्, स्पृष्टस्य [2]लज्जरिकादेः संकोचकारणत्वात्[3] वनितागण्डूषसेकाद्धर्षदर्शनात्[4] वनितापादताडनात्पुष्पांकुरादि-प्रादुर्भावात्, निधानादिदिशि पादादिप्रसारणादिति ॥२१७॥

त्रसस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेंदिया मुणेयव्वा।
बितिचउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा ॥२१८॥

जीव आदि के समान ही एकेन्द्रिय हैं। अथवा यह साधारण वनस्पति जीवों का विशेषण है। पूर्व में प्रत्येककाय जीवों का वर्णन किया है।

जो ये मूलादि बीज-वनस्पति, कंदादिकाय-वनस्पति, साधारणशरीर वनस्पति और प्रत्येककाय वनस्पति बतलायी हैं जिनका कि सूक्ष्म और स्थूल रूप से वर्णन किया है इनको हरितकाय जीव जानो। तथा इनको और इनसे भिन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायुकायिक एकेन्द्रिय जीवों को भी जानो और जानकर इनकी दया पालो। यह 'परिहर्तव्याः' पद अन्तदीपक है इसलिए इसका सम्बन्ध सभी के साथ हो जाता है।

शंका—ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव कैसे हैं? अर्थात् इनमें जीव किस तरह माना जाय?

समाधान—ऐसा नहीं कहना; क्योंकि आगम से, अनुमान प्रमाण से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से: या आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह इन चारों संज्ञाओं के इनमें पाये जाने से, इन पृथ्वी आदि में जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ये आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओं के द्वारा सचेतन हैं ऐसा आगम में निरूपण किया गया है। देखा जाता है कि सम्पूर्ण रूप से छाल को दूर कर दो तो वृक्ष आदि वनस्पति का मरण हो जाता है और जल वायु आदि के मिलने से हरे-भरे हो जाते हैं इसलिए आहार संज्ञा स्पष्ट है। स्पर्श कर लेने पर लाजवंती आदि वनस्पतियाँ संकुचित हो जाती हैं अतः भय संज्ञा भी स्पष्ट है। स्त्रियों के कुल्ले के जल से सिंचित होने से कुछ लता आदि हर्षित अर्थात् पुष्पित हो जाती हैं तथा स्त्रियों के पैरों के ताडन से कुछेक में पुष्प, अंकुर आदि प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसलिए मैथुन संज्ञा मानी जाती है। निधान—खजाने आदि की दिशा में पाद—जड़ आदि फैल जाती हैं इसलिए परिग्रह संज्ञा भी स्पष्ट ही है। अर्थात् इन चारों संज्ञाओं को वनस्पतिकायिक में घटित कर देने से पृथ्वी आदि सभी स्थावरों में जीव है ऐसा निर्णय हो जाता है।

अब त्रसजीवों का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से ... के कहे गये हैं ऐसा जानना चाहिए। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीव ... । पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय हैं ॥२१८॥

सेवाल—शैवलं उदकगतकायिका हरितवर्णा। पणग—पणकं भूमिगतं शैवलं इष्टकादिभवकायिका। केण्णग—आलम्बकच्छत्राणि शुक्लहरितनीलरूपाणि अवस्करोद्भवानि। कवगो—शृंगोद्भवरूपाणि जटाकाराणि। कुहणो य—आहारकांजिकादिगतपुष्पिका। बादरा काया—स्थूलकायाः अन्येऽपि ये वर्णिताः सर्वैरेतैः पृथिव्यादिभिः सह सम्बध्यते सर्वेऽपि पृथिवीकायिकादयो वनस्पतिपर्यन्ता व्याख्यातप्रकाराः स्थूलकाया इति। सूक्ष्मकायप्रतिपादनार्थमाह। सव्वेवि—सर्वेऽपि पृथिव्यादिभेदा वनस्पतिभेदाश्च सुहुमकाया—सूक्ष्मकायाश्चांगुलासंख्यातभागशरीराः। सव्वत्थ—सर्वत्र सर्वस्मिल्लोके। जलथलागासे—जले स्थले आकाशे च। एते—पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ता बादरकायाः सूक्ष्मकायाश्च भवन्ति, किन्तु पृथिव्यष्टकविमानादिकमाश्रित्य स्थूलकायाः, सूक्ष्मकायाः पुनः सर्वत्र जलस्थलाकाशे ॥२१५॥

सर्वत्र साधारणानां स्वरूपप्रतिपादनायाह—

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥२१६॥

गूढसिरसंधिपव्वं—गूढा अदृश्यमानाः शिराः, सन्धयोऽस्तबन्धाः पर्वाणि ग्रन्थयो यस्य तद्गूढशिर

आचारवृत्ति—जल में होनेवाली हरी-हरी काई शैवाल है। जमीन पर तथा ईंट आदि पर लग जाने वाली काई पणक है। वर्षाकाल में कूड़े-कचरे पर जो छत्राकार वनस्पति हो जाती है वह किण्व कहलाती है। सींग में उत्पन्न होनेवाली जटाकार वनस्पति कवक है। भोजन और कांजी आदि पर लग जाने फूली (फफूंदी) कुहन है। और भी, पीछे जिनका वर्णन किया गया है ये सभी वनस्पतियाँ बादरकाय हैं। अर्थात् पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यन्त जितने भी प्रकार बतलाए गये हैं वे सभी स्थूलकाय के ही प्रकार हैं।

अब सूक्ष्मकाय का वर्णन करते हुए कहते हैं—सभी पृथिवी आदि से लेकर वनस्पति पर्यंत पांचों स्थावरकायों में सूक्ष्मकाय भी होते हैं। ये अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की अवगाहना वाले हैं और सर्वत्र लोकाकाश में—जल में, स्थल में, आकाश में भरे हुए हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पृथिवी से लेकर वनस्पति पर्यन्त अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँचों प्रकार के स्थावर जीव बादरकाय और सूक्ष्मकाय के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से जो आठ प्रकार की पृथिवी और विमान आदि का आश्रय लेकर होते हैं वे बादरकाय हैं और सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में बिना आधार के रहनेवाले जीव सूक्ष्मकाय कहलाते हैं।

सर्वत्र साधारण वनस्पति का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनकी स्नायु, रेखाबंध और गाँठ अप्रगट हो, जिनका समान भंग हो और दोनों भंगों में परस्पर हीरक—अन्तर्गत सूत्र—तंतु नहीं लगा रहे तथा छिन्न करने पर भी जो उग जावे उसे साधारणशरीर वनस्पति कहते हैं और इससे विपरीत को प्रत्येकवनस्पति कहते हैं ॥२१६॥

आचारवृत्ति—जिसकी शिरा अर्थात् बहिःस्नायु, संधि—रेखाबन्ध, और पर्व—ग

सन्धिपर्वं। समभंगं—समः सदृशो भंगः छेदो यस्य तत्समभंगं त्वग्रहितं[1]। अहीरुहं—न विद्यते हीरकं बालरूपं यस्य तदहीरुहं पुनः सूत्राकारादिवर्जितं मंजिष्ठादिकं। छिन्नरुहं—छेदेन रोहतीति च्छेदरुहं छिन्नो भिन्नश्च यो रोहमागच्छति। साहारणं सरीरं—तत्साधारणं सामान्यं शरीरं साधारणशरीरं। तव्विवरीयं (च)—तद्विपरीतं च साधारणलक्षणविपरीतं। पत्तेयं—प्रत्येकं प्रत्येकशरीरं ॥२१६॥

दिखती नहीं हैं वे गूढ़ शिरासंधि—पर्व वनस्पति हैं। जिनको तोड़ने पर समान भंग हो जाता है, छाल आदि नहीं रहती है वे समभंग हैं। जिनके तोड़ने पर हीरुक—बालरूप तंतु नहीं लगा रहता है, अन्तर्गत सूत्र नहीं लगा रहता है, वे अहीरुक हैं; जैसे कि मंजीठ आदि वनस्पतियाँ। जो छिन्न-भिन्न कर देने पर भी उग जाती हैं, छिन्नरुह हैं। इन लक्षण वाली वनस्पति को साधारणशरीर कहा है और इनसे विपरीत लक्षणवाली को प्रत्येकशरीर वनस्पति कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ पर जो साधारण वनस्पति का लक्षण किया है इसके विषय में विशेष बात यह है कि 'गोम्मटसार' में इसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक का ही लक्षण माना है और आगे साधारण का लक्षण अलग किया है। अर्थात् पहले वनस्पति के प्रत्येक और साधारण दो भेद किये हैं। पुनः प्रत्येक के सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित ऐसे दो भेद कर दिये हैं। इसमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक तो वह है जिसके आश्रित निगोदिया जीव नहीं हैं और सप्रतिष्ठित वह है जिसके आश्रित अनन्त निगोदिया जीव हैं। इसे ही अनन्तकाय कहा है और सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के पहचान हेतु यही "गूढसिर संधिपव्वं···" गाथा दी है। इसी 'मूलाचार' की गाथा २१३ में भी जो 'अनन्तकाया' शब्द है वहाँ पर टीकाकार ने साधारण वनस्पति अर्थ किया है। किन्तु यही गाथा 'गोम्मटसार' में भी (गाथा क्रम १८६) है। उसमें 'अनन्तकाय' पद से सप्रतिष्ठित प्रत्येक अभिप्राय ग्रहण किया गया है। आगे साधारणशरीर वनस्पति का लक्षण करते हुए कहा है कि—

> साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।
> ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहुमा त्ति विण्णेया ॥१९१॥

अर्थात् जिन जीवों का शरीर साधारण नामकर्म के उदय से निगोदरूप होता है उन्हीं को सामान्य या साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं, एक बादर और दूसरा सूक्ष्म।०

---

1 क °हितं महीरुहं पुनः।

० निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

> बीजे जोणीभूदे जीवो उवक्कमदि सो व अण्णो वा।
> जा विय मूलादीया पत्तेया पढमदाए ते ॥२२॥

अर्थात् जिस योनिभूत बीज में वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूली आदि वनस्पति प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक रहते हैं। अर्थात् मूल कन्द आदि सभी वनस्पतियों में जो सप्रतिष्ठित प्रत्येक मानी गई हैं वे भी अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय में किंचित् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं।

किंभूतमिति पृष्टेऽत उत्तरमाह—

होदि वणप्फदि वल्ली रुक्खतणादी तहेव एइंदी ।
ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१७॥

होदि—भवति । वणप्फदि—वनस्पतिः फलवान् वनस्पतिर्ज्ञेयः । वल्ली—वल्लरी लता । रुक्ख—वृक्षः पुष्पफलोपगतः । तणादी—तृणादीनि । तहेव—तथैव । एइंदी—एकेन्द्रियाः । अथवा साधारणानामेत-द्विशेषणं पूर्वं प्रत्येककायानां एते मूलादिबीजाः कन्दादिकायाः साधारणशरीराः प्रत्येककायाश्च सूक्ष्माः स्थूलाश्च ये व्याख्यातास्तान् हरितकायान् जानीहि तथा[1] एतेऽन्ये च पृथिव्यादयश्चैकेन्द्रिया ज्ञातव्याः परिहर्तव्यास्तन्नाश-दोषकत्वात् । कथमेते जीवा इति चेन्नैष दोषः, आगमादनुमानात्प्रत्यक्षाद्वा, आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञादि-

---

यह वनस्पति और कैसी है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बेल, वृक्ष, घास आदि वनस्पति हैं तथा पृथ्वी आदि की तरह ये एकेन्द्रिय जीव हैं इन्हें तुम हरितकाय जीव समझो और ऐसा समझकर इनका परिहार करो ॥२१७॥

आचारवृत्ति—जो फलवाली है वह वनस्पति है। लताओं को बेल कहते हैं। पुष्प और फल जिसमें आते हैं उसे वृक्ष कहते हैं। घास आदि को तृण कहते हैं। ये सब पृथ्वीकायिक

अर्थात् साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनन्त जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ पर अनन्त जीवों का उत्पाद होता है।

भावार्थ—साधारण जीवों में मरण और उत्पत्ति की अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समय में उत्पन्न होनेवाले साधारण की तरह द्वितीयादि समयों में भी उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवों का जन्म-मरण साथ ही होता है। यहाँ इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीर में साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक होते हैं किन्तु मिश्ररूप नहीं होते हैं।

साहारण माहारो साहारण माणपाणगहणं च ।
साहारण जीवाणं साहारण लक्खणं भणियं ॥२४॥

अर्थात् इन साधारण जीवों का साधारण (समान) ही तो आहार आदि होता है और साधारण—एक साथ श्वासोच्छ्वास ग्रहण होता है। इस तरह से साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बताया है।

फली वणप्फदी णेया रुक्खा फुल्लफला मदो ।
ओसही फलपक्कंता गुम्मा वल्ली च वीरुधा ॥२५॥

अर्थात् जिसमें फलें ही लगती हैं उसे वनस्पति कहते हैं। जिसमें पुष्प और फल आते हैं उसे वृक्ष कहते हैं। फलों के पक जाने पर जो नष्ट हो जाते हैं ऐसे वनस्पति को औषधि कहते हैं। गुल्म और वल्ली को वीरुध कहते हैं। [illegible] हैं। जो पेड़ पर चढ़ती है और लताकार रहती है वे वल्ली हैं।

---

१ क तथा हि एतान्येकेन्द्रिया'।

त्वाद्वा। सचेतना एते 'संज्ञादिभीरागमे निरूप्यमाणत्वात्, सर्वत्वगपहरणे मरणात् उदकादिभिः साप्युपलभावात्, स्पृष्टस्य 'लज्जरिकादेः संकोचकारणत्वात्' वनितागण्डूषसेकाद्धर्षदर्शनात्[४] वनितापादताडनात्पुष्पांकुरादि-प्रादुर्भावात्, निधानादिदिशि पादादिप्रसारणादिति ॥२१७॥

त्रसस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेंदिया मुणेयव्वा।
बितिचउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा ॥२१८॥

जीव आदि के समान ही एकेन्द्रिय हैं। अथवा यह साधारण वनस्पति जीवों का विशेषण है। पूर्व में प्रत्येककाय जीवों का वर्णन किया है।

जो ये मूलादि बीज-वनस्पति, कंदादिकाय-वनस्पति, साधारणशरीर वनस्पति और प्रत्येककाय वनस्पति बतलायी हैं जिनका कि सूक्ष्म और स्थूल रूप से वर्णन किया है इनको हरितकाय जीव जानो। तथा इनको और इनसे भिन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायुकायिक एकेन्द्रिय जीवों को भी जानो और जानकर इनकी दया पालो। यह 'परिहर्तव्याः' पद अन्तदीपक है इसलिए इसका सम्बन्ध सभी के साथ हो जाता है।

शंका—ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव कैसे हैं? अर्थात् इनमें जीव किस तरह माना जाय?

समाधान—ऐसा नहीं कहना; क्योंकि आगम से, अनुमान प्रमाण से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से; या आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह इन चारों संज्ञाओं के इनमें पाये जाने से, इन पृथ्वी आदि में जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ये आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओं के द्वारा सचेतन हैं ऐसा आगम में निरूपण किया गया है। देखा जाता है कि सम्पूर्ण-रूप से छाल को दूर कर दो तो वृक्ष आदि वनस्पति का मरण हो जाता है और जल वायु आदि के मिलने से हरे-भरे हो जाते हैं इसलिए आहार संज्ञा स्पष्ट है। स्पर्श कर लेने पर लाजवंती आदि वनस्पतियाँ संकुचित हो जाती हैं अतः भय संज्ञा भी स्पष्ट है। स्त्रियों के कुल्ले के जल से सिंचित होने से कुछ लता आदि हर्षित अर्थात् पुष्पित हो जाती हैं तथा स्त्रियों के पैरों के ताडन से कुछेक में पुष्प, अंकुर आदि प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसलिए मैथुन संज्ञा मानी जाती है। निधान—खजाने आदि की दिशा में पाद—जड़ आदि फैल जाती हैं इसलिए परिग्रह संज्ञा भी स्पष्ट ही है। अर्थात् इन चारों संज्ञाओं को वनस्पतिकायिक में घटित कर देने से पृथ्वी आदि सभी स्थावरों में जीव है ऐसा निर्णय हो जाता है।

अब त्रसजीवों का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से त्रस दो प्रकार के कहे गये हैं, ऐसा जानना चाहिए। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय ये विकलेन्द्रिय जीव हैं। पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय हैं ॥२१८॥

---

१ क 'मतादि'। २ क 'लज्जरिकादि'। ३ क 'त्वात्'। ४ क 'माद्यप्यदर्श'।

दुविहा—द्विविधा द्विप्रकाराः। **तसा**—त्रसा उद्वेजनबहुलाः। **वुत्ता**—उक्ताः प्रतिपादिताः। **विकला**—विकलेन्द्रियाः। **सकलाः**—सकलेन्द्रियाः। इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। **मुणेदव्वा**—ज्ञातव्याः। **बितिचउरिंदिय**—द्वे त्रीणि चत्वारीन्द्रियाणि येषां ते द्वित्रिचतुरिन्द्रिया द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाश्चेति। **विगला**—विकला विकलेन्द्रिया एते। **सेसा**—शेषाः सकलेन्द्रियाः सकलानि पूर्णानीन्द्रियाणि येषां ते सकलेन्द्रियाः पंचेन्द्रिया इत्यर्थः। **जीवा**—जीवा ज्ञानाद्युपयोगवन्तः। द्विप्रकारा विकलेन्द्रियसकलेन्द्रिय-भेदेन ॥२१८॥

के विकलेन्द्रियाः, के सकलेन्द्रिया इत्यत आह—

संखो गोभी भमरादिया दु विगलिंदिया मुणेदव्वा।
सकलिंदिया य जलथलखचरा सुरणारयणरा य ॥२१९॥

संखो—शंखः। **गोभी**—गोपालिका। **भमर**—भ्रमरः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, शंखादयो भ्रमरादयः। आदिशब्देन शुक्ति-कृमि-वृश्चिक-मत्कुण-मक्षिका पतंगादयः परिगृह्यन्ते। एते **विगलिंदिया**—विकलेन्द्रियाः। **मुणेदव्वा**—ज्ञातव्याः। शेषाः पुनः **सकलिंदिया**—सकलेन्द्रियाः। के ते **जलथलखचरा**—जले चरन्तीति जलचराः मत्स्यमकरादयः, स्थले चरन्तीति स्थलचराः सिंहव्याघ्रादयः, खे चरन्तीति खचरा हंससारसादयः। **सुरणारयणरा य**—सुरा देवा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनः, नारकाः सप्तपृथ्वीनिवासिनो दुःखबहुलाः, नरा मनुष्या इति ॥२१९॥

आचारवृत्ति—जो प्रायः उद्विग्न होते रहते हैं वे त्रस कहलाते हैं। उनके विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार हैं। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं और सकल अर्थात् पूर्ण हैं इन्द्रियाँ जिनकी ऐसे पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय कहलाते हैं। ये ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग लक्षणवाले होने से जीव हैं ऐसा समझना।

विकलेन्द्रिय कौन हैं और सकलेन्द्रिय कौन हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—शंख, गोपालिका और भ्रमर आदि जीवों को विकलेन्द्रिय जानना चाहिए। जलचर, थलचर और नभचर तथा देव, नारकी और मनुष्य ये सकलेन्द्रिय हैं ॥२१९॥

आचारवृत्ति—'भ्रमर' के साथ में प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। यथा—शंख, सीप, कृमि आदि दो-इन्द्रिय जीव हैं। गोपालिका—बिच्छू, खटमल आदि तीन-इन्द्रिय जीव हैं। भ्रमर, मक्खी, पतंग आदि चार-इन्द्रिय जीव हैं। इनके विकल—न्यून इन्द्रियाँ हैं, पूर्ण नहीं हुई हैं इसलिए ये विकलेन्द्रिय कहे जाते हैं। इन विकलेन्द्रिय तथा पूर्व-कथित एकेन्द्रिय से बचे हुए पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय हैं। उनमें से तिर्यंच में तीन भेद हैं—जलचर, थलचर और नभचर। जो जल में रहते हैं वे जलचर हैं; जैसे मत्स्य, मकर आदि। जो थल पर विचरण करते हैं वे थलचर हैं; जैसे सिंह, व्याघ्र आदि। जो आकाश में उड़ते हैं वे नभचर हैं; जैसे हंस, सारस आदि। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी ये चारों प्रकार के देव सुर कहलाते हैं। सात पृथिवी में निवास करनेवाले और दुःख की अत्यन्त बहुलता वाले नारकी हैं और मनुष्य गति को प्राप्त जीव मनुष्य हैं। ये तीन प्रकार के त्रिविध—देव, नारकी और मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव हैं।

पुनरपि भेदप्रकरणायाह—

कुलजोणिमग्गणा विय णादव्वा सव्वजीवाणं।
णाऊण सव्वजीवे णिस्संका होदि कादव्वा ॥२२०॥

कुल—कुलं जातिभेदः। जोणि—योनिरुत्पत्तिकारणं। कुलयोन्योः को विशेष इति चेन्न, वटपिप्पलकृमिशुक्तिमत्कुणपिपीलिकाभ्रमरमक्षिकागोश्वक्षत्रियादि कुलं। कन्दमूलाण्डगर्भरसस्वेदादिर्योनिः। मग्गणा वि य—मार्गणाश्च गत्यादयः। णादव्वा—ज्ञातव्याः। सव्वजीवाणं—सर्वजीवानां पृथिव्यादीनां। णाऊण—ज्ञात्वा। सव्वजीवे—सर्वजीवान्। णिस्संका—निःशंका संदेहाभावः। होदि—भवति। कादव्वा—कर्तव्या। कुलयोनिमार्गणाभेदेन सर्वजीवान् ज्ञात्वा निःशंका भवति कर्तव्येति ॥२२०॥

कुलभेदेन जीवान् प्रतिपादयन्नाह—

बावीस सत्ततिण्णि य सत्त य कुलकोडिसदसहस्साइं।
णेया पुढविदगागणिवाऊकायाण पडिसंखा ॥२२१॥

बावीस—द्वाविंशतिः। सत्त—सप्त। तिण्णि य—त्रीणि च। सत्त य—सप्त च। कुलकोडिसदसहस्साइं—कुलानां कोट्यः कुलकोट्यः कुलकोटीनां शतसहस्राणि तानि कुलकोटीशतसहस्राणि। द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च। णेया—ज्ञातव्याः। पुढवि—पृथिवीकायिकानां। दग—अप्कायिकानां। अगणि—अग्निकायिकानां। वाऊ—वायुकायिकानां। पडिसंखा—परिसंख्या। पृथिवीकायानां कुलकोटि-

---

पुनरपि इनके भेदों को बतलाते हैं—

गाथार्थ—सभी जीवों के कुल, उनकी योनि और मार्गणाओं को भी जानना चाहिए। और सभी जीवों को जानकर शंका रहित हो जाना चाहिए ॥२२०॥

आचारवृत्ति—जाति के भेद को कुल कहते हैं और उत्पत्ति के कारण को योनि कहते हैं।

कुल और योनि में क्या अन्तर है?

बड़-पीपल, कृमि-सीप, खटमल-चींटी, भ्रमर-मक्खी, गो, अश्व क्षत्रिय आदि ये कुल हैं। कन्द, मूल, अंड, गर्भ, रस, पसीना आदि योनि कहलाते हैं। गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाएँ हैं।

इन कुल योनि और मार्गणाओं के भेद से पृथिवीकायिक से लेकर पंचेन्द्रिय त्रस पर्यंत सभी जीवों को जानकर उनके विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

अब कुल के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों की संख्या क्रम से बाईस, सात, तीन और सात लाख करोड़ है। इन्हें कुल नाम से जानना चाहिए ॥२२१॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकायिक जीवों के कुलों की संख्या बाईस लाख करोड़ है। जलकायिक जीवों के कुलों की सात लाख करोड़ है। अग्निकायिक जीवों के कुलों की तीन लाख

लक्षाणि द्वाविंशतिः । अप्कायानां कुलकोटिलक्षाणि सप्त । अग्निकायिकानां कुलकोटी लक्षाणि त्रीणि । वायु-कायिकानां कुलकोटी लक्षाणि सप्त यथाक्रमेण परिसंख्या ज्ञातव्येति ॥२२१॥

कोडिसदसहस्साइं सत्तट्ठ य णव य अट्ठवीसं च ।
बेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ॥२२२॥

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।
जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ॥२२३॥

छव्वीसं पणवीसं चउदस कुलकोडिसदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होइ णायव्वं ॥२२४॥

कोटीशतसहस्राणि सप्ताष्टौ नवाष्टाविंशतिश्च यथासंख्यं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियहरित-कायानां । द्वीन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाणि सप्त । त्रीन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाण्यष्टौ । चतुरिन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाणि नव । हरितकायानां कुलकोटी लक्षाण्यष्टाविंशतिरिति ॥२२२॥

अर्धत्रयोदश, द्वादश, दश च कुलकोटीशतसहस्राणि जलचरपक्षिचतुष्पदां । उरसा परिसर्पन्तीति उरःपरिसर्पाः, गोधासर्पादयस्तेषामुरःपरिसर्पाणां णव होंति—नव भवंति । जलचराणां मत्स्यादीनां कुलकोटी-लक्षाण्यर्धत्रयोदश । पक्षिणां हंसभेरुण्डादीनां कुलकोटीलक्षाणि द्वादश । चतुष्पदां सिंहव्याघ्रादीनां कुलकोटी लक्षाणि दश । उरःपरिसर्पाणां कुलकोटी लक्षाणि नव भवन्तीति सम्बन्धः ॥२२३॥

षड्विंशतिः पंचविंशतिः चतुर्दश कुलकोटीशतसहस्राणि सुरनारकनराणां च यथाक्रमं भवन्ति ज्ञातव्यं । देवानां कुलकोटी लक्षाणि षड्विंशतिः नारकाणां कुलकोटी लक्षाणि पंचविंशतिः । मनुष्याणां कुल-

---

करोड़ हैं और वायुकायिक जीवों के कुलों की संख्या सात लाख करोड़ है ऐसा जानना चाहिए ।

गाथार्थ—दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और हरितकायिक जीवों के कुल क्रमशः सात, आठ, नव और अट्ठाईस लाख करोड़ हैं ॥२२२॥

जलचर, पक्षी, पशु और छाती के सहारे चलनेवाले के कुल क्रम से साढ़े बारह, बारह, दश और नव लाख करोड़ होते हैं ॥२२३॥

देव, नारकी और मनुष्यों के कुल क्रम से छब्बीस, पच्चीस और चौदह लाख करोड़ हैं ॥२२४॥

आचारवृत्ति—'यथाक्रम' शब्द २२४वीं गाथा के अन्त में है वह अन्तदीपक है अतः तीनों गाथा के साथ इसका सम्बन्ध करके अर्थ करना चाहिए । अर्थात् द्वीन्द्रिय के कुल सात लाख करोड़, त्रीन्द्रिय के आठ लाख करोड़, चतुरिन्द्रिय के नव लाख करोड़ और वनस्पति-कायिक के अट्ठाईस लाख करोड़ हैं । मत्स्य, मगर आदि जलचर हैं । हंस भेरुण्ड आदि पक्षी कहलाते हैं । सिंह, व्याघ्र आदि चार पैर वाले जीव चतुष्पद हैं और छाती के सहारे चलने वाले गोह, दुमुंही, साँप आदि उरःपरिसर्प नामक होते हैं । जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़, पक्षियों के बारह लाख करोड़, पशुओं के दश लाख करोड़ और छाती के सहारे चलने-

कोटीलक्षाणि चतुर्दश सर्वत्र यथाक्रमं भवन्ति ज्ञातव्यं यथोद्देशस्तथा निर्देशः क्रमानतिलङ्घनं वेदितव्यम् ॥२२४॥

सर्वकुलसमासार्थं गाथोत्तरेति—

एया य कोडिकोडी णवणवदीकोडिसदसहस्साइं।
पण्णासं च सहस्सा संवग्गीणं कुलाण कोडीओ ॥२२५॥

एका कोटीकोटी, नवनवतिः कोटी शतसहस्राणि पंचाशत्सहस्राणि च। **संवग्गेण**—सर्वसमासेन कुलानां कोट्यः। सर्वसमासेन कुलानां एका कोटीकोटी नवनवतिश्च कोटीलक्षाणि पंचाशत्सहस्राणि च कोटीनामिति ॥२२५॥

योनिभेदेन जीवान्प्रतिपादयन्नाह—

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणरयतिरिय चउरो चउदश मणुएसु सदसहस्सा ॥२२६॥

णिच्च—नित्यनिकोतं यैस्त्रसत्वं न प्राप्तं कदाचिदपि ते जीवा नित्यनिकोतशब्देनोच्यंते। **इदर**—

वाले दुमुही आदि सर्पों के नव लाख करोड़ कुल होते हैं।

देवों के कुल छब्बीस लाख करोड़, नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ और मनुष्यों के कुल चौदह लाख करोड़ माने गये हैं।

अब सभी कुलों का जोड़ बताते हैं—

गाथार्थ—एक कोटाकोटि, निन्यानवे लाख करोड़, और पचास हजार करोड़ संख्या कुलों की है ॥२२५॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्यपर्यन्त समस्त कुलों की संख्या को जोड़ने से एक कोड़ाकोड़ी तथा निन्यानवे लाख और पचास हजार करोड़ है।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवों के कुलों की संख्या एक करोड़ निन्यानवें लाख पचास हजार को एक करोड़ से गुणने पर जितना प्रमाण लब्ध हो उतना अर्थात् १९९५००००००००००० है। गोम्मटसार में मनुष्यों के १२ लाख कोटि कुल गिनाये हैं। उस हिसाब से सम्पूर्ण कुलों का जोड़ एक करोड़ सत्तानवे लाख पचास हजार करोड़ होता है।[1]

अब योनि के भेदों से जीवों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—नित्य-निगोद, इतर-निगोद और पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार धातु में सात-सात लाख; वनस्पति के दश लाख और विकलेन्द्रियों के छह लाख; देव, नारकी और तिर्यंचों के चार-चार लाख और मनुष्य के चौदह लाख योनियाँ हैं ॥२२६॥

आचारवृत्ति- जिन्होंने कदाचित् भी त्रसपर्याय नहीं प्राप्त की है वे नित्य-

---

1. एया य कोडिकोडी सत्ताणउदी सदसहस्साइं।
पण्णं कोडिसहस्सा, सव्वंगीणं कुलाणं य ॥११७॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

इतरन्निकोतं चतुर्गतिनिकोतं चैत्रसत्व प्राप्तं । यद्यप्यत्र नित्येतरशब्दो नास्ति तथापि द्रष्टव्यो देशामर्शकत्वात्सूत्राणां । धादु—धातवः पृथिव्यप्तेजोवायुकायाश्चत्वारो धातव उच्यन्ते । सत्त य—सप्त च । तरु—तरूणां वृक्षाणां । दस—दश । विगलिंदिएसु—विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां । छच्चेव—षट्चैव । सुरणरयतिरिय—सुरनारकतिरश्चां । चउरो—चत्वारः । चोद्दस—चतुर्दश । मणुएसु—मनुष्याणां । सदसहस्सा—शतसहस्राणि । नित्यनिकोतानां सप्त लक्षाणि योनीनामिति । चतुर्गतिनिकोतानां सप्तलक्षाणि, पृथिवीकायिकानां सप्तलक्षाणि, अप्कायिकानां सप्तलक्षाणि, तेजःकायिकानां सप्तलक्षाणि, वायुकायानां सप्तलक्षाणि योनीनामिति सम्बन्धः । तरूणां दश लक्षाणि, द्वीन्द्रियाणां द्वे लक्षे, त्रीन्द्रियाणां द्वे लक्षे, चतुरिन्द्रियाणां द्वे लक्षे, सुराणां चत्वारि लक्षाणि, नारकाणां चत्वारि लक्षाणि, तिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञिनामसंज्ञिनां च चत्वारि लक्षाणि । मनुष्याणां चतुर्दश लक्षाणि योनीनामिति । सर्वसमासेन चतुरशीतियोनिलक्षाणि भवन्तीति ॥२२६॥

मार्गणाद्वारेण च जीवभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

तसथावरा य दुविहा जोगगइकसायइंदियविधीहिं ।
बहुविह भव्वाभव्वा एस गदी जीवणिद्देसे ॥२२७॥

कायमार्गणाद्वारेण तसथावरास—त्रसजीवास्त्रसा द्वीन्द्रियादयः स्थावरजीवाः स्थावराः पृथिव्यादिवनस्पत्यन्ताः । दुविहा—द्विप्रकारास्त्रसस्थावरभेदेन द्विप्रकारा जीवाः । जोग—योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो

निगोद शब्द से कहे जाते हैं। इनसे भिन्न जिन्होंने त्रसपर्याय को प्राप्त कर लिया वे पुनः यदि निगोद जीव हुए हैं तो वे इतर-चतुर्गति निगोद कहलाते हैं। यद्यपि यहाँ गाथा में नित्य और इतर के साथ निगोद शब्द नहीं है तो भी उसे जोड़ लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र देशामर्शक होते हैं। पृथिवी,जल, अग्नि और वायु इन चारों को धातु शब्द से कहा गया है। नित्यनिगोद, इतरनिगोद और चार धातु, इनकी योनियाँ सात सात लाख हैं। दो-इन्द्रिय की दो लाख, तीन-इन्द्रिय की दो लाख और चार-इन्द्रिय की दो लाख ऐसे विकलेन्द्रिय जीवों की योनियाँ छह लाख हैं। देव, नारकी और संज्ञी-असंज्ञी भेद सहित पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार-चार लाख योनियाँ हैं। अर्थात् नित्यनिगोद की ७००००० + चतुर्गतिनिगोद की ७००००० + पृथिवीकायिक की ७००००० + जलकायिक की ७००००० + अग्निकायिक की ७००००० + वायुकायिक की ७००००० + वनस्पतिकायिक की १०००००० + द्वीन्द्रिय की २००००० + त्रीन्द्रिय की २००००० + चतुरिन्द्रिय की २००००० + देवों की ४००००० + नारकी की ४००००० + तिर्यंचों की ४००००० + मनुष्यों की १४००००० = ८४००००० योनियाँ होती हैं।

अब मार्गणाओं द्वारा जीवों के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—त्रस और स्थावर के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। योग, गति, कषाय और और इन्द्रियों के प्रकारों से ये भव्य अभव्य जीव अनेक प्रकार के हैं। जीव का वर्णन करने में यही गति है ॥२२७॥

आचारवृत्ति—कायमार्गणा के द्वारा त्रस और स्थावर ऐसे दो भेद होते हैं। त्रसनामकर्म—त्रस होने रूप स्वभाव वाले जीव त्रस कहलाते हैं, जो त्रस धातु उद्वेग होने अर्थ में

मनोवाक्कायलक्षणस्त्रिप्रकारस्तस्य विधियोगविधिस्तेन जीवास्त्रिप्रकारा मनोयोगिनो वाग्योगिनः काययोगिनश्चेति। मनोयोगिनश्चतुष्प्रकाराः सत्यानृतसत्यानृतासत्यानृतभेदेन। एवं वाग्योगिनोऽपि चतुष्प्रकाराः। काययोगिनः सप्तविधा औदारिकवैक्रियिकाहारकतन्मिश्रकार्मणभेदेन। गदि—गतिर्भवान्तरप्राप्तिः, गतेर्विधिर्गतिविधिस्तेन, गतिविधिना चतस्रो गतयस्तद्भेदेन जीवाश्चतुर्विधा भवन्ति नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदेन तेऽपि स्वभेदेनानेकविधाः। कसाय—कषन्तीति कषायः क्रोधमानमायालोभाः, अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदेन चतुःप्रकारास्तद्भेदेन प्राणिनोऽपि भिद्यन्ते। इंदिय—इन्द्र आत्मा तस्य लिंगं इन्द्रेण नामकर्मणा वा निर्वर्तितमिंद्रियं तस्य विधिरिंद्रियविधिस्तेनेन्द्रियविधिना जीवाः पंचप्रकारा एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियभेदेन। बहुविहा—बहुविधा बहुप्रकारा। अनेन किमुक्तं भवति स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन, ज्ञान-दर्शन-संयम-लेश्या-सम्यक्त्व-संज्ञाहारभेदेन च बहुविधास्ते सर्वेऽपि। (भव्व) भव्या निर्वाणपुरस्कृताः, (अभव्या—)

है। ये द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हैं। जो स्थानशील अर्थात् स्थिर रहने के स्वभाव वाले हैं वे स्थावर हैं। यहाँ 'स्था' धातु से स्वभाव अर्थ में 'वर' प्रत्यय हुआ है। ये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति पर्यन्त एकेन्द्रिय जीव होते हैं। अर्थात् 'त्रस' और 'स्था' धातु से इन त्रस, स्थावर शब्दों की व्युत्पत्ति होने से उपर्युक्त अर्थ किया है। यह अर्थ औपचारिक है क्योंकि त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से जो त्रस-स्थावर पर्याय मिलती है वही अर्थ यहाँ विवक्षित है।

आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द होना योग का लक्षण है। उसके मन, वचन और काय की अपेक्षा से तीन प्रकार हो जाते हैं। उस योग की विधि योगविधि है। इसके निमित्त से जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी ऐसे तीन प्रकार के हो जाते हैं। सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग के भेद से मनोयोगी के चार भेद हैं। ऐसे ही वचनयोगी के भी सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचनयोग के निमित्त से चार भेद हो जाते हैं। औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग, वैक्रियिककाय योग, वैक्रियिक मिश्रयोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रयोग और कार्मण काययोग इन सात योगों की अपेक्षा से काययोगी के सात भेद होते हैं।

भवान्तर की प्राप्ति का नाम गति है। इसके चार भेद हैं। इन नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के भेदों से जीवों के भी चार भेद हो जाते हैं। इनमें से भी प्रत्येक गति वाले जीव अनेक प्रकार के होते हैं।

जो आत्मा को कसती हैं—दुःख देती हैं वे कषाय कहलाती हैं। उनके क्रोध, मान, माया, लोभ से चार भेद हैं। ये चारों कषायें भी भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार-चार भेद रूप हो जाती हैं। इन कषायों के भेद से प्राणियों के भी उतने ही भेद हो जाते हैं।

इन्द्र अर्थात् आत्मा, उसके लिंग-चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र अर्थात् नाम कर्म, उसके द्वारा जो बनाई गई है वे इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों के भेद से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस तरह जीव पाँच प्रकार के होते हैं।

अभव्यास्तद्विपरीता भवन्ति जीवसमासभेदेन गुणस्थानभेदेन च बहुविधाः। एसगदी—एषा गतिः। जीवणिद्देसे—जीवनिर्देशे जीवप्रपंचे। गतीन्द्रियकाययोगवेदादिविधिभिः कुलयोन्यादिभिश्च बहुविधा जीवा इति, जीवनिर्देशे कर्तव्ये एतावती गतिः ॥२२७॥

ननु जीवभेदा एते ये व्याख्यातास्ते किंलक्षणाः? इत्यत आह—

णाणं पंचविधं पिअ अण्णाणतिगं च सागरुवओगो।
चदुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा जीवा ॥२२८॥

णाणं—जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञानमात्रं वा ज्ञानं वस्तुपरिच्छेदकं तच्च पंचविहं-पंचप्रकारं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदेन। षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदं चावग्रहेहावायधारणाभिः षडिन्द्रियाणि प्रगुणितानि तानि चतुर्विंशतिप्रकाराणि भवन्ति तत्र चतुर्षु व्यञ्जनावग्रहेषु प्रक्षिप्तेष्वष्टाविंशतिर्भवन्ति ता अष्टाविंशतिर्बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवेतरभेदैर्द्वादशभिर्गुणिताः षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदा भवन्ति मतिज्ञानस्य। श्रुतज्ञानमंगांगबाह्यभेदेन द्विविधं, अंगभेदेन द्वादशविधं पर्यायाक्षर-पद-संघात-प्रतिपत्तिकानुयोग-प्राभृतकप्राभृतक-प्राभृतक-वस्तु-

---

स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार जीवों के अनेक प्रकार हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार इन मार्गणाओं के भेद से भी जीव नाना प्रकार के होते हैं।

ये सभी जीव भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जो निर्वाण से पुरस्कृत होने योग्य हैं वे भव्य हैं और उनसे विपरीत अभव्य हैं।

इसी तरह जीवसमास के भेद से और गुणस्थानों के भेद से भी जीव अनेक प्रकार के होते हैं। जीव का निर्देश करने में ये सभी प्रकार कहे गए हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद आदि विधानों से और कुल योनि आदि के भेदों से जीव अनेक प्रकार के होते हैं। जीव के वर्णन करने में यही व्यवस्था होती है।

जिन जीवों के ये भेद बतलाये हैं उन जीवों का लक्षण क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान ये आठ साकारोपयोग हैं। चार प्रकार का दर्शन अनाकार उपयोग है। सभी जीव इन ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले हैं ॥२२८॥

आचारवृत्ति—जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है अथवा जो जानना मात्र है वह ज्ञान है। यह ज्ञान पदार्थों को जानने रूप लक्षणवाला है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से इसके पाँच भेद हैं।

इनमें से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं। यथा— मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। इन चारों में पाँच इन्द्रिय और मन—इन छहों का गुणा करने से (६×४) चौबीस भेद हो जाते हैं। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः चार इन्द्रियों से होने की अपेक्षा इस व्यंजनावग्रह के चार भेद इन चौबीस में मिला देने

पूर्वभेदेन विंशतिविधं च। अवधिज्ञानं देशावधि-परमावधि-सर्वावधिभेदतस्त्रिप्रकारं। मनःपर्ययज्ञानं ऋजुमति-विपुलमतिभेदेन द्विप्रकारं। केवलमेकमसहायं। अण्णाणतिगं—अज्ञानमयथात्मवस्तुपरिच्छित्तिस्वरूपं तस्य त्रयमज्ञानत्रयं मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-विभंगज्ञानभेदेन संशयविपर्ययानध्यवसायाकिञ्चित्करादिभेदेन चानेकप्रकारं। सागरुवजोगो—सहाकारेण व्यक्त्यार्थेन वर्तत इति साकारः सविकल्पो गुणीभूतसामान्यविशेषग्रहणप्रवण-

---

से २८ भेद हो जाते हैं। पुनः अट्ठाईस को बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव तथा इनसे उल्टे अर्थात् अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव इन बारह भेदों से गुणा करने पर ($२८ \times १२ = ३३६$) तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है; उसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह की अपेक्षा दो भेद हैं। व्यक्तपदार्थ को ग्रहण करनेवाला अर्थावग्रह है और अव्यक्त को ग्रहण करनेवाला व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है तथा इस अवग्रह के बाद ईहा आदि नहीं होते हैं और अर्थावग्रह पाँच इन्द्रियों तथा मन से भी होता है और इसके बाद ईहा, अवाय, धारणा भी होते हैं। पुनः इन ज्ञान के विषयभूत पदार्थ बहु, बहुविध आदि के भेद से बारह भेद रूप हैं अतः उस सम्बन्धी ज्ञान के भी बारह भेद हो जाते हैं। इस प्रकार से अवग्रह आदि चार को छह इन्द्रियों से गुणित करके व्यंजनावग्रह के चार भेद मिला देने पर पुनः उन अट्ठाईस को बारह से गुणा करने पर तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं।

जो मतिज्ञानपूर्वक होता है वह श्रुतज्ञान है। उसके अंग और अंगबाह्य की अपेक्षा से दो भेद हैं। अंग के बारह भेद हैं जो कि आचारांग आदि के नामों से प्रसिद्ध हैं। अंगबाह्य के बीस भेद होते हैं।

पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतक, प्राभृतक-प्राभृतक, वस्तु और पूर्व ये दश भेद हुए। पुनः प्रत्येक के साथ समास पद जोड़ने से दश भेद होकर बीस हो जाते हैं। अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतक, प्राभृतकसमास, प्राभृतक-प्राभृतक, प्राभृतकप्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये बीस भेद माने हैं।

अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार होते हैं।

मनःपर्यय ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति की अपेक्षा दो भेद हैं।

केवलज्ञान एक असहाय है। अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता से रहित होने से असहाय है और परिपूर्ण होने से एक है।

अयथात्मक वस्तु—जो वस्तु जैसी है उसको उससे विपरीत जाननेरूप स्वभाववाला ज्ञान अज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद हैं। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान। तथा संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, और अकिंचित्कर आदि के भेद से यह अज्ञान अनेक प्रकार का भी है।

उपयोगः। ज्ञानं पंचप्रकारमज्ञानत्रयं च साकार उपयोगः चदुदंसणं—चत्वारि दर्शनानि चक्षुरचक्षुरवधिकेवल-दर्शनभेदेन। अणगारो—अनाकारोऽविकल्पको गुणीभूतविशेषसामान्यग्रहणप्रधानः, चत्वारि दर्शनान्यनाकार उपयोगः। सव्वे—सर्वे। तल्लक्खणा—तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ लक्षणं येषां ते तल्लक्षणाः ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणाः सर्वे जीवा ज्ञातव्या इति ॥२२८॥

जीवभेदोपसंहारादजीवभेदसूचनाय गाथा—

एवं जीवविभागा बहु भेदा वण्णिया समासेण।
एवंविधभावरहियमजीवदव्वेत्ति 'विण्णेयं ॥२२९॥

एवं—व्याख्यातप्रकारेण। जीवविभागा—जीवविभागाः। बहुभेदा—बहुप्रकाराः। वण्णिदा—वर्णिताः। समासेण—संक्षेपेण। एवंविधभावरहियं—व्याख्यातस्वरूपविपरीतमजीवद्रव्यमिति विज्ञेयम् ॥२२९॥

अजीवभेदप्रतिपादनायाह—

अज्जीवा विय दुविहा रूवारूवा य रूविणो चदुधा।
खंधा य खंधदेसो खंधपदेसो अणू य तहा ॥२३०॥

यह ज्ञान साकार है। अर्थात् आकार के साथ, व्यक्तिरूप से पदार्थ को जानता है इसलिए इसे साकार या सविकल्प कहते हैं। अर्थात् सामान्य को गौण करके विशेष को ग्रहण करने में कुशल जो उपयोग है वह साकारोपयोग है। पाँच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान ये आठ प्रकार का साकारोपयोग होता है।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का है। यह अनाकार या अविकल्पक है। जो विशेष को गौण करके सामान्य को ग्रहण करने में प्रधान है वह अनाकारोपयोग है। ये चारों दर्शन अनाकारोपयोग कहलाते हैं।

ये ज्ञान-दर्शन हैं लक्षण जिनके ऐसे जीव तल्लक्षणवाले होते हैं। अर्थात् सभी जीव ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षणवाले होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

जीव के भेदों को उपसंहार करके अब अजीव के भेदों को सूचित करने हेतु अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—इस तरह से अनेक भेदरूप जीवों के विभाग का मैंने संक्षेप से वर्णन किया है। उपर्युक्त प्रकार के भावों से रहित अजीव द्रव्य है ऐसा जानना चाहिए ॥२२९॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कहे गये प्रकार से जीव विभागों के विविध प्रकार मैंने संक्षेप में कहे हैं। इन कहे गये लक्षण से विपरीत लक्षणवाले द्रव्य को अजीवद्रव्य जानना चाहिए।

अजीव के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—अजीव भी रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। रूपी के स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु ये चार भेद हैं ॥२३०॥

अज्जीवा विय—अजीवाश्चाजीवपदार्थाश्च । दुविहा—द्विप्रकाराः । रूवा—रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शवन्तो यतो रूपाविनाभाविनो रसादयस्ततो रूपग्रहणेन रसादीनामपि ग्रहणं। अरूवा य—अरूपिणश्च रूपादिवर्जिताः। रूविणो—रूपिणः पुद्गलाः । चदुधा—चतुःप्रकाराः । के ते चत्वारः प्रकारा इत्यत आह—खंधा य—स्कन्धः । खंधदेसो—स्कन्धदेशः । खंधपदेसो—स्कन्धप्रदेशः ।अणू य तहा—अणुरपि तथा परमाणुः। रूप्यरूपिभेदेनाजीवपदार्था द्विप्रकाराः, रूपिणः पुनः स्कन्धादिभेदेन चतुःप्रकारा इति ॥२३०॥

स्कन्धादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेय अविभागी ॥२३१॥

खंधं—स्कन्धः । सयल—सह कलाभिर्वर्तते इति सकलं सभेदं परमाण्वन्तं । समत्थं—समस्तं सर्वं पुद्गलद्रव्यं। सभेदं स्कन्धः सामान्यविशेषात्मकं पुद्गलद्रव्यमित्यर्थः। अतो न सकलसमस्तयोः पौनरुक्त्यं। तस्स दु—तस्य तु स्कन्धस्य। अद्धं—अर्धं सकलं। भणंति—वदन्ति। देसोत्ति—देश इति तस्य समस्तस्य

आचारवृत्ति—अजीव पदार्थ रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार का है। रूपी शब्द से रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चारों गुणवाले को लिया जाता है क्योंकि रस, गंध और स्पर्श ये रूप के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले हैं। इसलिए रूप के ग्रहण करने से रस आदि का भी ग्रहण हो जाता है। जो रूपादि से वर्जित हैं वे अरूपी कहलाते हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है। उसके चार भेद हैं—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु।

तात्पर्य यह हुआ कि रूपी और अरूपी के भेद से अजीव पदार्थ दो प्रकार का है। पुनः रूपी पुद्गल के स्कंध आदि के भेद से चार प्रकार होते हैं।

अब स्कंध आदि का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—भेद सहित सम्पूर्ण पुद्गल स्कंध है, उसके आधे को देश कहते हैं। उस आधे के आधे को प्रदेश और अविभागी हिस्से को परमाणु कहते हैं ॥२३१॥

आचारवृत्ति—जो कलाओं के साथ—अपने अवयवों के साथ रहता है वह सकल है अर्थात् परमाणु पर्यंत भेदों से रहित सभी पुद्गल सकल हैं। 'समत्थ' पद का अर्थ समस्त है अर्थात् सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य समस्त है। भेद सहित स्कंधरूप, सामान्य विशेषात्मक पुद्गल द्रव्य को यहाँ 'सकलसमस्त' पद से कहा गया है। इसलिए सकल और समस्त इन दोनों में पुनरुक्ति दोष नहीं है अर्थात् सकल और समस्त का अर्थ यदि एक ही सम्पूर्णतावाचक लिया जाए तो पुनरुक्ति दोष आ सकता है किन्तु यहाँ पर तो सकल का अर्थ कलाओं से सहित—परमाणु से लेकर महास्कंध पर्यंत ग्रहण किया गया है और समस्त का अर्थ सामान्य विशेष धर्म सहित सर्वपुद्गल द्रव्य विवक्षित किया गया है। इस स्कंध के आधे को स्कंधदेश कहते हैं। अर्थात् उस समस्त पुद्गल द्रव्य के आधे को जिनेंद्र देव ने 'देश' शब्द से कहा है। उस आधे से आधे को अर्थात् समस्त पुद्गल द्रव्य के आधे को आधा करना, पुनः उस आधे का आधा करना, इसप्रकार जब तक द्वयणुक स्कंध न हो जावे तब तक आधा आधा करते जाना, ये सभी भेद

पुद्गलद्रव्यस्याधंदेश इति वदन्ति जिनाः। अद्धद्धं च—अर्धस्यार्धस्यार्धमर्धार्धं तत्तावत्पुद्गलद्रव्यार्धं तावदर्धे-नार्धेन कर्तव्यं यावद् द्व्यणुकस्कन्धः ते सर्वे भेदाः प्रदेशवाच्या भवन्ति। परमाणूचेव—परमाणुश्च। अविभागी —निरंशो यस्य विभागो नास्ति तत्परमाणुद्रव्यम् ॥२३१॥

अरूपिद्रव्यभेदनिरूपणार्थमाह—

> ते पुणु धम्माधम्मागासा य अरूविणो य तह कालो।
> खंधा देस पदेसा अणुत्ति विय पोग्गला रूवी ॥२३२॥*

प्रदेश शब्द से कहे जाते हैं। और निरंश भाग—जिसका दूसरा विभाग अब नहीं हो सकता है उस अविभागी पुद्गल को परमाणु कहते हैं।

अरूपी द्रव्य के भेदों का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—पुनः ये धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल अरूपी हैं तथा स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु इन भेद सहित पुद्गल द्रव्य रूपी हैं ॥२३२॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में दो गाथाएँ किंचित् बदली हुई हैं और एक अधिक है।

> खंधा देसपदेसा णाय अणूत्तीवि पोग्गलारूवी।
> धम्मादिविभेद जीवेण होंति बंधा जहाजोग्गं ॥४१॥

अर्थ—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश आदि अणु तक होनेवाले जो जो विभाग हैं, वे सब पुद्गल हैं। वे सब रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों से युक्त होने से रूपी हैं। और जीव के साथ यथायोग्य कर्म-नोकर्म रूप होकर बद्ध होते हैं।

> पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय विसय कम्मपरमाणू।
> छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥४२॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य को जिनेन्द्र देव ने छह प्रकार का बतलाया है। जैसे पृथिवी, जल, छाया, नेत्रेन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों का विषय, कर्म और परमाणु।

> बादरबादर बादर बादरसुहुमं च सुहुमथूलं च।
> सुहुमं सुहुमसुहुमं धरादियं होदि छब्भेयं ॥४३॥

अर्थ—जिसका छेदन-भेदन और अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्ध को बादरबादर कहते हैं। जैसे पृथिवी, काष्ठ, पाषाणादि। जिसका छेदन भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र ले जाया जा सके वह स्थूलबादर है जैसे जल, तेल आदि। जिसका छेदन-भेदन और अन्यत्र प्रापण भी न हो सके ऐसे नेत्र से दिखने योग्य स्कन्ध को बादरसूक्ष्म कहते हैं जैसे छाया, आतप, चाँदनी आदि। नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे शब्द, रस, गंध आदि। जिनका किसी इन्द्रिय से ग्रहण न हो सके उन पुद्गलस्कन्धों को सूक्ष्म कहते हैं जैसे कर्मवर्गणाएँ। जो स्कन्धरूप नहीं हैं ऐसे अविभागी परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

विशेषार्थ—ऊपर की ये दो गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी हैं तथा पुद्गलद्रव्य के छह भेद

ते पुण—तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी ते पुनररूपिणोऽजीवाः। धम्माधम्मागासा य—धर्माधर्माकाशानि। किलक्षणानि अरूविणोय—अरूपीणि रूपरसगन्धस्पर्शरहितानि। तह कालो—तथा कालश्चारूपी लोकमात्रः सप्तरज्जूनां घनीकृतानां यावन्तः प्रदेशास्तावत्परिमाणानि, अलोकाकाशं पुनरनन्तं। स्कन्धादयः के ते आह—स्कन्धदेश प्रदेशा अणुरिति च पुद्गलाः पूरणगलनसमर्थाः। रूवी—रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शवन्तोऽनन्तपरिमाणाः। ननु कालः किमिति कृत्वा पृथग्व्याख्यातश्चेत् नैष दोषः, धर्माधर्माकाशान्यस्तिकायरूपाणि कालः पुनरनस्तिकायरूप एकैकप्रदेशरूपः; निचयाभावप्रतिपादनाय पृथग्व्याख्यात इति। रूपिणः पुद्गला इति ज्ञापनार्थं पुनः स्कंधादिग्रहणमतो न पौनरुक्त्यं। धर्मादीनां च स्कन्धादिभेदप्रतिपादनार्थं च पुनर्ग्रहणम् ॥२३२॥



आचारवृत्ति—'तत्' शब्द पूर्व प्रकरण का परामर्श करनेवाला है। वे पुनः अरूपी अजीव द्रव्य हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश ये अजीव द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने से अरूपी हैं। उसी प्रकार से काल द्रव्य भी अरूपी है। यह लोकमात्रप्रमाण है अर्थात् घनरूप सात राजू (७×७×७=३४३) के जितने प्रदेश हैं यह काल द्रव्य उतने प्रमाण है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, इनके प्रदेश लोकाकाश प्रमाण हैं। अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है।

जो स्कंधादि हैं वे क्या हैं?

स्कंध, देश, प्रदेश और अणु ये सब पुद्गल द्रव्य हैं। यह पूरण और गलन में समर्थ है अर्थात् पूरण गलन स्वभाववाला है। यह पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला है अनन्तपरिमाण है।

करके परमाणु तक भेद कर देती हैं। किन्तु कुन्द कुन्द देव ने नियमसार में स्कन्ध के छह भेद किये हैं और परमाणु के भेद अलग किये हैं। उसमें सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद के उदाहरण में कर्म के अयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ ली गई हैं।

यथा—

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

अर्थ—अतिस्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्धों के छह भेद हैं। भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल स्कन्ध कहे गये हैं। घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध हैं। छाया, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं। चार इन्द्रिय के विषय भूत स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल हैं। कर्मवर्गणा योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं। इनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे गये हैं।

पंचास्तिकाय में भी स्कन्धों के ही छह भेद और ये ही उदाहरण हैं।

ननु यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थं सत् तदेषां धर्मादीनां किं कार्यं ? केषां केषामि कारणान्याह—

गदिठाणोग्गाहणकारणाणि कमसो दु वत्तणगुणो य।
रूवरसगंधफासदि कारणा[1] कम्मबंधस्स ॥२३३॥

गदि—गतिर्गमनक्रिया। ठाणं—स्थानं स्थितिक्रिया। ओगाहण—अवगाहनमवकाशदानमेतेषां। कारणाणि—निमित्तानि। कमसो—क्रमशः यथाक्रमेण। वत्तणगुणो य—वर्तनागुणश्च परिणामकारणं। गतेः कारणं धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलानां। तथा तेषामेव स्थितेः कारणमधर्मद्रव्यं। अवकाशदाननिमित्तमाकाशद्रव्यं पंचद्रव्याणां। तथा तेषामपि वर्तनालक्षणं कालद्रव्यं स्वस्य च परमार्थकालग्रहणात्। धर्माधर्माकाशकाल-द्रव्याणि स्वपरिणामनिमित्तानि परेषां गत्यादीनां निमित्तान्यपि भवन्ति, अनेककार्यकारित्वाद् द्रव्याणां तस्मान्न विरोधो यथा मत्स्यः स्वगतेः कारणं, जलमपि च कारणं तद्गतेः, स्वगतेः कारणं पुरुषः पुरुषः पन्थाश्च। तथा

प्रश्न—आपने काल का अलग से व्याख्यान क्यों किया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अरूपी द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं और काल अस्तिकाय रूप नहीं है क्योंकि वह एक-एक प्रदेश रूप ही है उसमें निचय—प्रदेशों के अभाव को बतलाने के लिए ही उसको पृथक्‌रूप से कहा है।

यहाँ इस गाथा में जो रूपी हैं वे पुद्गल हैं ऐसा बतलाने के लिये पुनः स्कंध आदि को लिया है इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं आता है। धर्म आदि का प्रतिपादन करके पुद्गल के स्कंध आदि के भेद बतलाने के लिए यहाँ उनका पुनः ग्रहण किया गया है।

जो अर्थक्रियाकारी होता है वही परमार्थ सत् है। इसलिए इन धर्म आदि का क्या कार्य है ? और किनके लिए ये कारण हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—क्रम से अरूपी द्रव्य गमन करने, ठहरने, और अवकाश देने में कारण हैं तथा काल वर्तना गुणवाले है। रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला (पुद्गल) द्रव्य कर्मबन्ध का कारण है ॥२३३॥

आचारवृत्ति—जाने की क्रिया का नाम गति है, ठहरने की क्रिया का नाम स्थान है, अवकाश देने का नाम अवगाहन है। परिणमन का कारण वर्तनागुण है। क्रम से चार अरूपी द्रव्य इन गति आदि में कारण हैं। अर्थात् जीव और पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य कारण है। इन्हीं जीव और पुद्गलों के ठहरने में अधर्मद्रव्य कारण है। पांच द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त आकाश द्रव्य है, तथा इन पांच द्रव्यों में परिणमन के लिए कारणभूत वर्तनालक्षण वाला कालद्रव्य है और वह अपने में भी परिणमन का कारण है क्योंकि यहाँ परमार्थ काल को लिया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अपने परिणाम में निमित्त हैं और पर-द्रव्यों की गति स्थिति आदि में भी निमित्त होते हैं, क्योंकि सभी द्रव्य अनेक कार्य को करने वाले होते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं आता है। जैसे मछली अपने गमन में कारण है और जल भी उसकी गति में कारण है। पुरुष अपनी गति में कारण है और पुरुष का मार्ग भी उसके गमन में कारण

---

१ क कारणाणि।

ते पुण—तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी ते पुनररूपिणोऽजीवाः। धम्माधम्मागासा य—धर्माधर्माकाशानि। किलक्षणानि अरूविणोय—अरूपीणि रूपरसगन्धस्पर्शरहितानि। तह कालो—तथा कालश्चारूपी लोकमात्रः सप्तरज्जूनां घनीकृतानां यावन्तः प्रदेशास्तावत्परिमाणानि, अलोकाकाशं पुनरनन्तं। स्कन्धादयः के ते आह—स्कन्धदेश प्रदेशा अणुरिति च पुद्गलाः पूरणगलनसमर्थाः। रूवी—रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शवन्तोऽनन्तपरिमाणाः। ननु कालः किमिति कृत्वा पृथग्व्याख्यातश्चेत् नैष दोषः, धर्माधर्माकाशान्यस्तिकायरूपाणि कालः पुनरनस्तिकायरूप एकैकप्रदेशरूपः; निचयाभावप्रतिपादनाय पृथग्व्याख्यात इति। रूपिणः पुद्गला इति ज्ञापनार्थं पुनः स्कंधादिग्रहणमतो न पौनरुक्त्यं। धर्मादीनां च स्कन्धादिभेदप्रतिपादनार्थं च पुनर्ग्रहणम् ॥२३२॥

आचारवृत्ति—'तत्' शब्द पूर्व प्रकरण का परामर्श करनेवाला है। वे पुनः अरूपी अजीव द्रव्य हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश ये अजीव द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने से अरूपी हैं। उसी प्रकार से काल द्रव्य भी अरूपी है। यह लोकमात्रप्रमाण है अर्थात् घनरूप सात राजू (७×७×७=३४३) के जितने प्रदेश हैं यह काल द्रव्य उतने प्रमाण है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, इनके प्रदेश लोकाकाश प्रमाण हैं। अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है।

जो स्कंधादि हैं वे क्या हैं?

स्कंध, देश, प्रदेश और अणु ये सब पुद्गल द्रव्य हैं। यह पूरण और गलन में समर्थ है अर्थात् पूरण गलन स्वभाववाला है। यह पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला है अनन्तपरिमाण है।

करके परमाणु तक भेद कर देती हैं। किन्तु कुन्द कुन्द देव ने नियमसार में स्कन्ध के छह भेद किये हैं और परमाणु के भेद अलग किये हैं। उसमें सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद के उदाहरण में कर्म के अयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ ली गई हैं।

यथा—

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

अर्थ—अतिस्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्धों के छह भेद हैं। भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल स्कन्ध कहे गये हैं। घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध हैं। छाया, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं। चार इन्द्रिय के विषय भूत स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल हैं। कर्मवर्गणा योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं। उनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे गये हैं।

पंचास्तिकाय में भी स्कन्धों के ये ही छह भेद और ये ही उदाहरण हैं।

ननु यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् तदेषां धर्मादीनां किं कार्यं? केषामेतानि कारणानीत्यत आह—

गदिठाणोग्गाहणकारणाणि कमसो दु वत्तणगुणो य।
रूवरसगंधफासदि कारणा[1] कम्मबंधस्स ॥२३२॥

गदि—गतिर्गमनक्रिया। ठाणं—स्थानं स्थितिक्रिया। ओगाहण—अवगाहनमवकाशदानमेषां। कारणाणि—निमित्तानि। कमसो—क्रमशः यथाक्रमेण। वत्तणगुणोय—वर्तनागुणश्च परिणामकारणं। गतेः कारणं धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलानां। तथा तेषामेव स्थितेः कारणमधर्मद्रव्यं। अवकाशदाननिमित्तमाकाशद्रव्यं पंचद्रव्याणां। तथा तेषामपि वर्तनालक्षणं कालद्रव्यं स्वस्य च परमार्थकालग्रहणात्। धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि स्वपरिणामनिमित्तानि परेषां गत्यादीनां निमित्तान्यपि भवन्ति, अनेककार्यकारित्वाद् द्रव्याणां तस्मान्न विरोधो यथा मत्स्यः स्वगतेः कारणं, जलमपि च कारणं तद्गतेः, स्वगतेः कारणं पुरुषः सुखः पन्थाश्च। तथा

प्रश्न—आपने काल का अलग से व्याख्यान क्यों किया?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अरूपी द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं और काल अस्तिकाय रूप नहीं है क्योंकि वह एक-एक प्रदेश रूप ही है उसमें निचय—प्रदेशों के अभाव को बतलाने के लिए ही उसको पृथक्‌रूप से कहा है।

यहाँ इस गाथा में जो रूपी हैं वे पुद्गल हैं ऐसा बतलाने के लिये पुनः स्कंध आदि को लिया है इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं आता है। धर्म आदि का प्रतिपादन करके पुद्गल के स्कंध आदि के भेद बतलाने के लिए यहाँ उनका पुनः ग्रहण किया गया है।

जो अर्थक्रियाकारी होता है वही परमार्थ सत् है। इसलिए इन धर्म आदि का क्या कार्य है? और किनके लिए ये कारण हैं? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—क्रम से अरूपी द्रव्य गमन करने, ठहरने, और अवकाश देने में कारण हैं तथा काल वर्तना गुणवाले हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला (पुद्गल) द्रव्य कर्मबन्ध का कारण है ॥२३२॥

आचारवृत्ति—जाने की क्रिया का नाम गति है, ठहरने की क्रिया का नाम स्थान है, अवकाश देने का नाम अवगाहन है। परिणमन का कारण वर्तनागुण है। क्रम से चार अरूपी द्रव्य इन गति आदि में कारण हैं। अर्थात् जीव और पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य कारण है। उन्हीं जीव और पुद्गलों के ठहरने में अधर्मद्रव्य कारण है। पांच द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त आकाश द्रव्य है, तथा इन पांच द्रव्यों में परिणमन के लिए कारणभूत वर्तनालक्षण वाला कालद्रव्य है और वह अपने में भी परिणमन का कारण है क्योंकि यहाँ परमार्थ काल को लिया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अपने परिणाम में निमित्त हैं और पर-द्रव्यों की गति स्थिति आदि में भी निमित्त होते हैं, क्योंकि सभी द्रव्य अनेक कार्यों को करने वाले होते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं आता है। जैसे मछली अपने गमन में कारण है और जल भी उसकी गति में कारण है। पुरुष अपनी गति में कारण है और सुखकारी मार्ग भी उसके गमन में कारण

---

[1] क कारणाणि।

स्वस्थितेः कारणं पुरुषः, छायादिकं च कारणं। अथ रूपादयः कस्य कारणमिति चेत्, रूपरसगन्धस्पर्शादयः कारणं कर्मबन्धस्य, जीवस्वरूपान्यथानिमित्तकर्मबन्धस्योपादानहेतवः रूपादिवन्तः पुद्गलाः। कथं पुद्गला इति लभ्यन्ते, तेनाभेदोपचारात् तात्स्थ्याद्वा बन्धः पुद्गलरूपो भवतीत्यर्थः ॥२३३॥

कर्मबन्धो द्विधा पुण्यपापभेदादतस्तत्स्वरूपं तन्निमित्तं च प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥२३४॥

सम्यक्त्वेन, श्रुतेन, विरत्या पंचमहाव्रतपरिणत्या, तथा कषायनिग्रहगुणैरुत्तमक्षमामार्दवार्जव-सन्तोषगुणैः चशब्दादिन्द्रियनिरोधैश्च। जो परिणदो—यः परिणतो जीवस्तस्य यत्कर्मसंश्लिष्टं तत्पुण्यमित्यु-च्यते, अथवा सम्यक्त्वादिगुणपरिणतो जीवोऽपि पुण्यमित्युच्यते अभेदात्। तव्विवरीदेण—तद्विपरीतेन मिथ्या-त्वाज्ञानासंयमकषायगुणैर्यः परिणतः पुद्गलनिचयस्तत्पापमेव। शुभप्रकृतयः पुण्यमशुभप्रकृतयः पापमिति पुण्य-पापास्रवको जीवो वानेन व्याख्यातो ॥२३४॥

है। उसी प्रकार से पुरुष अपने ठहरने में कारण है तथा छायादिक भी उसके ठहरने में कारण है।

ये रूपादि किसके कारण हैं?

ये रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि कर्मबन्ध के लिए कारण हैं, क्योंकि जीव के स्वरूप से अन्यथाभूत जो रागादि परिणाम हैं उनके निमित्त से जो कर्मबन्ध होता है, उस कर्मबन्ध के लिए उपादानकारण रूपादिमान् पुद्गल द्रव्य वर्गणाएँ हैं।

यहाँ गाथा में पुद्गल शब्द नहीं है पुनः आपने पुद्गल को कैसे लिया?

रूपादि से अभिन्न उपचार से पुद्गल द्रव्य आ जाता है अथवा ये रूपादि उन पुद्गल में ही स्थित हैं इसलिए कर्मबन्ध पुद्गल रूप होता है ऐसा समझना।

कर्मबन्ध पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार का है, इसलिये उसका स्वरूप और उसके कारणों को बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सम्यक्त्व से, श्रुतज्ञान से, विरतिपरिणाम से और कषायों के निग्रहरूप गुणों से जो परिणत है वह पुण्य है और उससे विपरीत पाप है ॥२३४॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व से, श्रुतज्ञान से, पाँच महाव्रतों के परिणतिरूप चारित्र से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों का निग्रह करनेवाले उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव तथा संतोष रूप गुणों से, एवं च शब्द से समझना कि इन्द्रियों के निरोध से जो जीव परिणत हो रहा है उसके जो कर्मों का संश्लेष होता है वह पुण्य कहलाता है। अथवा सम्यक्त्व आदि गुणों से परिणत हुआ जीव भी पुण्य कहलाता है क्योंकि जीव से उन गुणों में अभेद पाया जाता है। अथवा सम्यक्त्व आदि कारणों से जो कर्मबन्ध होता है वह पुण्य कहा जाता है। और उससे विपरीत अर्थात् मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम तथा कषायरूप गुणों से जो परिणत हुआ पुद्गल-समूह है वह पाप ही है। शुभ प्रकृतियाँ पुण्य हैं और अशुभ प्रकृतियाँ पाप हैं। अथवा पुण्यास्रव और पापास्रव को करने वाला जीव है ऐसा इस पुण्य और पाप पदार्थ का व्याख्यान किया गया है।

इत ऊर्ध्वं पुण्यपापास्रवकारणमाह—

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो ।
विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि ॥२३५॥

पुण्यस्य सुखनिमित्तपुद्गलस्कन्धस्यास्रवभूता आगच्छत्यनेनेत्यास्रवः आगमनमात्रं वास्रवः आस्रवभूता द्वारभूता कारणरूपा अनुकम्पा कृपा दया शुद्धोपयोगश्च शुद्धमनोवाक्कायक्रिया शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगश्चाभ्यामनुकम्पा शुद्धोपयोगाभ्यां । विवरीदं—विपरीतोऽननुकम्पाऽशुद्धमनोवाक्काय-क्रियाः मिथ्याज्ञानदर्शनोपयोगः । पावस्स दु—पापस्यैव । आसव—आस्रव आगमनं शुभस्यास्रवहेतुं । वियाणाहि—विजानीहि बुध्यस्व । पूर्वगाथार्थेनास्य गाथार्थस्य नैकार्थं बन्धास्रवोपकारेण प्रतिपादनात् । पूर्वैः कारणैः पुण्यबन्धः पापबन्धश्च व्याख्यातः, आभ्यां पुनः कारणाभ्यां शुभास्रवः शुभकर्मागमोऽशुभास्रवोऽशुभकर्मागमो व्याख्यातः । पुण्यस्यागमनहेतू अनुकम्पाशुद्धोपयोगौ जानीहि, पापागमस्य च विपरीतावननुकम्पाऽशुद्धोपयोगौ हेतू विजानीहीति ॥२३५॥

भावार्थ—पुण्य और पाप पदार्थ के जीव और अजीव की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं। सम्यक्त्व आदि परिणामों से युक्त जीव पुण्यजीव है और मिथ्यात्व आदि परिणत जीव पाप जीव है। उसीप्रकार से सातावेदनीय आदि प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ये पौद्गलिक हैं और असाता आदि प्रकृतियाँ पापरूप हैं ये भी पुद्गलरूप हैं।

इसके अनन्तर पुण्यास्रव और पापास्रव के कारणों को बताते हैं—

गाथार्थ—दयाभावना और शुद्ध उपयोग ये पुण्यास्रव के कारण हैं और इससे विपरीत कार्य पाप के आस्रव में कारण हैं ऐसा तुम जानो ॥२३५॥

आचारवृत्ति—सुख के लिए निमित्तभूत पुद्गल स्कन्ध जिसके द्वारा आते हैं वह पुण्य का आस्रव है अथवा सुख निमित्त रूप कर्मों का आना मात्र ही पुण्य का आस्रव है। ऐसे आस्रवभूत कर्मों के आने के लिए द्वारस्वरूप या कारणस्वरूप को बताते हैं। अनुकम्पा—दया, शुद्ध उपयोग—शुद्ध मनवचनकाय की क्रिया को शुद्धोपयोग कहते हैं। अर्थात् शुद्धज्ञानोपयोग, शुद्धदर्शनोपयोग और अनुकम्पा इनके द्वारा पुण्य का आस्रव होता है। इनसे विपरीत अर्थात् दया न करना, तथा अशुद्ध मनवचनकाय की क्रिया अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानोपयोग रूप से परिणत होना—ये पाप के आस्रव के लिए कारण हैं ऐसा जानो।

पूर्व गाथा के अर्थ से इस गाथा का अर्थ एक नहीं है क्योंकि वहाँ बन्ध को आस्रव के उपकार द्वारा कहा गया है। अर्थात् पूर्व गाथा कथित सम्यक्त्व आदि कारणों से पुण्यबंध और मिथ्यात्वादि कारणों से पाप बंध होता है ऐसा कहा गया है। इस गाथा में अनुकंपा और शुद्ध उपयोग द्वारा शुभ कर्मों के आगमनरूप शुभास्रव और अदया आदि से अशुभकर्मों के आगमनरूप अशुभास्रव होता है ऐसा कहा गया है। इस गाथा का तात्पर्य यही है कि पुण्य कर्म के आने में हेतु अनुकंपा और शुद्धोपयोग हेतु हैं ऐसा समझो। यहाँ मन-वचन-काय की निर्मल प्रवृत्ति को ही शुद्ध उपयोग शब्द से कहा है।

ननु जीवप्रदेशानाममूर्तानां कथं कर्मपुद्गलैर्मूर्तैः सह सम्बन्धोऽत आह—

णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ॥२३६॥

स्नेहो घृतादिकं तेनार्द्रीकृतस्य गात्रस्य शरीरस्य रेणवः पांशवो लगन्ति संश्रयंति यथा तथा रागद्वेषस्नेहार्द्रस्य जीवस्यांगे शरीरे कर्मपुद्गला ज्ञातव्यास्तैजसकार्मणयोः शरीरयोः सतोरित्यर्थः । रागः स्नेहः, कामादिपूर्विका रतिः, द्वेषोऽप्रीतिः क्रोधादिपूर्विकाऽरतिरिति ॥२३६॥

तद्विपरीतेन पापस्यास्रव इत्युक्तं तन्मुख्यरूपेण किमित्यत आह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
अरिहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥२३७॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाया योगश्चैते आस्रवा भवन्ति । अथ मिथ्यात्वस्य किं लक्षणमित्यत आह—अर्हदुक्तार्थेषु सर्वज्ञभाषितपदार्थेषु विमोहः संशयविपर्ययानध्यवसायरूपो मिथ्यात्वमिति भवति ॥२३७॥

अविरमणादीन्प्रतिपादयन्नाह—

अमूर्तिक जीव प्रदेशों का मूर्तिक कर्म-पुद्गलों के साथ संबंध कैसे होता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे तेल को मर्दन करने से मर्दन करने वाले के शरीर में धूलि चिपक जाती है उसी प्रकार से रागद्वेष और स्नेह से लिप्त हुए जीव के कर्म चिपकते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥२३६॥

आचारवृत्ति—घृत, तैल आदि को स्नेह कहते हैं। उससे आर्द्र—गीला या चिकना है शरीर जिसका ऐसे मनुष्य के शरीर में जैसे धूलि चिपक जाती है उसी प्रकार से राग द्वेष और स्नेह से लिप्त हुए जीव के अंग में कर्म पुद्गल चिपक जाते हैं। अर्थात् जीव के तैजस और कार्मण शरीर से कार्मण वर्गणाएँ सम्बन्धित हो जाती हैं। राग और स्नेह शब्द से काम पूर्वक रति को लेते हैं और द्वेष—अप्रीति अर्थात् क्रोधादि पूर्वक अरति को द्वेष कहते हैं।

जो आपने कहा है कि अनुकंपा आदि के विपरीत कारणों से पाप का आस्रव होता है वे मुख्य रूप से कौन कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव कहलाते हैं। अर्हंत देव के कथित पदार्थों में विमोह होना मिथ्यात्व है ॥२३७॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व का क्या लक्षण है ? सो बताते हैं। सर्वज्ञ के द्वारा भाषित पदार्थों में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप परिणाम का नाम मिथ्यात्व है।

अब अविरति आदि का लक्षण बतलाते हैं—

अविरमणं हिंसादी पंचवि दोसा हवंति णादव्वा ।
[1]कोधादी य कसाया जोगो जीवस्स चेट्ठा दु ॥२३८॥

हिंसादयः पंचापि दोषाः हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाः अविरमणं ज्ञातव्यं भवति । क्रोधमानमाया-लोभाः कषायाः । जीवस्य चेष्टा तु योगः ॥२३८॥

संवरपदार्थस्य व्याख्यानमाह—

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणिवि दढवदफलिहेहिं रुंभंति ॥२३९॥

मिथ्यात्वमेवास्रवद्वारं मिथ्यात्वास्रवद्वारं । रुंधन्ति—झंपन्ति निरुन्धन्ति । सम्यक्त्वदृढकपाटेन—सम्यक्त्वमेव दृढकपाटं तेन सम्यक्त्वदृढकपाटेन तत्त्वार्थश्रद्धानविधानेन हिंसादीनि द्वाराणि दृढव्रतफलकैः रुंधन्ति प्रच्छादयन्तीति ॥२३९॥

आसवदि जं तु कम्मं कोधादीहिं तु अयदजीवाणं ।
तप्पडिवक्खेहिं विदु रुंभंति तमप्पमत्ता दु ॥२४०॥

क्रोधादिभिर्यत्कर्मास्रवत्युपढौकतेऽयतजीवानां तत्प्रतिपक्षैर्विद्वांसः अप्रमत्ताः

गाथार्थ—हिंसादि पांच पाप ही अविरति होते हैं ऐसा जानना चाहिए। क्रोधादि कषाय हैं और जीव की चेष्टा का नाम योग है ॥२३८॥

आचारवृत्ति—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच दोष ही अविरति नाम से जाने जाते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये कषायें हैं तथा जीव की चेष्टा—प्रवृत्ति (आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन) का नाम योग है। अर्थात् इन मिथ्यात्व आदि चार कारणों से कर्मों का आस्रव होता है इस प्रकार से आस्रव पदार्थ का व्याख्यान किया है।

अब संवर पदार्थ का व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व रूप आस्रव द्वार को सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाट से रोकते हैं और हिंसा आदि अविरति रूप द्वारों को भी दृढ़ व्रतरूपी दरवाजों से रोक देते हैं ॥२३९॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व ही कर्मों के आने का द्वार है। सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वार्थ श्रद्धान रूपी मजबूत कपाट के द्वारा मिथ्यात्व आस्रव को रोक देते हैं। हिंसा आदि आस्रव द्वारों को व्रतरूपी मजबूत फलकों के दरवाजों के द्वारा रोक देते हैं।

गाथार्थ—अयत्नाचारी जीवों के क्रोधादि द्वारा जो कर्म आते हैं, अप्रमत्त विद्वान् उनके प्रतिपक्षों के द्वारा उन्हें रोक देते हैं ॥२४०॥

आचारवृत्ति—अयत्नाचारी अर्थात् असंयत जीव क्रोध आदि के द्वारा जो कर्मों का आस्रव करते हैं प्रमादरहित विद्वान् साधु उनके प्रतिपक्ष क्षमा आदि के द्वारा उन आते हुए आस्रव को रोक देते हैं। इस प्रकार से संवर पदार्थ का व्याख्यान किया है। अथवा

---

1. कोहादी क द

प्रमादरहिता विद्वांसो रुन्धन्ति प्रतिकूलयन्ति । अनेन संवारको जीवो व्याख्यात इति ॥२४०॥

आस्रवसंवरसमुच्चयप्रतिपादनायोत्तरगाथा संवरकारणाय वा—

मिच्छत्ताविरदीहि य कसायजोगेहि जं च आसवदि ।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहि तु णासवदि ॥२४१॥

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्यत्कर्मास्रवति, दर्शनविरतिनिग्रहनिरोधनैस्तु नास्रवति । न च पूर्वगाथानां पौनरुक्त्यं बन्धास्रवसंवरभेदेन व्याख्यानाद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहाद्वा ॥२४१॥

निर्जरार्थप्रतिपादनायोत्तरप्रबन्धः—

संयमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्ठदे जीवो ॥२४२॥

निर्जरकनिर्जरानिर्जरोपायास्तत्र निर्जरकः किंविशिष्ट इत्यत आह—संयमो द्विविध इन्द्रियसंयमः प्राणसंयमश्च । जोगे—योगे यत्नः शुभमनोवचनकायो ध्यानं वा । संयमयोगयुक्तो यस्तपसा तपसि वा चेष्टते प्रयततेऽनेकविधे द्वादशविधे वा, द्वादशविधं तपो यः करोति यत्नपरः स कर्मनिर्जरायां कर्मविनाशे वर्तते जीवः

पदार्थ का व्याख्यान किया गया समझना चाहिए ।

अब आस्रव और संवर को समुच्चय रूप से प्रतिपादित करने हेतु अथवा संवर के कारणों को कहने के लिए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे सम्यग्दर्शन, विरतिपरिणाम, निग्रह और निरोध से नहीं आते हैं ॥२४१॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व से जो कर्म आता है वह सम्यग्दर्शन से नहीं आता है। अविरतिपरिणाम से जो कर्म आता है वह व्रतपरिणामों से नहीं आता है (कषायों से जो कर्म आते हैं वे कषायों के निग्रह से अर्थात् क्षमा आदि भावों से नहीं आते हैं और योग से जो कर्म आते हैं वे योग के निरोध से नहीं आते हैं। पूर्व गाथा में और इसमें एक बात होने से पुनरुक्त दोष होता है ऐसा नहीं कहना, क्योंकि क्रम से बन्ध, आस्रव और संवर के भेद से व्याख्यान किया गया है। अथवा द्रव्यार्थिक नय से और पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यों के लिए ही ऐसा कथन किया गया है।

अब निर्जरा पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—संयम के योग से युक्त जो जीव तपश्चर्या में अनेक प्रकार प्रवृत्ति करता है वह जीव विपुल कर्म-निर्जरा में प्रवृत्त होता है ॥२४२॥

आचारवृत्ति—निर्जरा करनेवाला, निर्जरा और निर्जरा के उपाय ये तीन जानने योग्य हैं। उनमें से निर्जरा करनेवाला आत्मा कैसा होता है? सो ही बताते हैं। संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम। प्रयत्न को, शुभ मन-वचन-काय को अथवा ध्यान को योग कहते हैं। जो मुनि द्विविध संयम से और शुभ योग से सहित हैं और अनेक प्रकार के अथवा बारह प्रकार के तपश्चरण में प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् जो प्रयत्नपूर्वक बारह प्रकार का तप करते हैं वे बहुत-सी कर्म निर्जरा को करते हैं। इससे निर्जरा के उपायों का कथन किया गया है।

अनेन निर्जरोपायस्य व्याख्यानः। पूर्वसूत्रेष्वप्येवं व्याख्येयं, बन्धको बन्धो बन्धोपायः। आस्रवक आस्रव आस्रवोपायः। संवरकः संवरः संवरोपायः। अनेन व्याख्यानेन पौनरुक्त्यं च न भवतीति ॥२४२॥

दृष्टान्तद्वारेण जीवकर्मणोः शुद्धिमाह—

जह धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहि कणयं व ॥२४३॥

यथा धातुपाषाणः कनकोपलो धम्यमानस्तप्यमानः शुध्यते सोऽग्निना तु संतप्तो दग्धः किट्टकालिकादिरहितः संजायते, तथा तपसा विशुध्यते जीवः कर्मभिः कनकमिव। यथा धातु स्वर्णं अग्निसंयोगेन शुद्धं भवति, तथा तपोयोगेन जीवः शुद्धो भवति ॥२४३॥

किमर्थं सकारणा निर्जरा व्याख्याता बन्धादयश्च सहेतव नित्यपक्षेऽनित्यपक्षे च किमर्थमिति। सत्यं न घटते यतः कुतः?

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागं कसायदो कुणदि।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥२४४॥

चतुर्विधो बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन, कार्मणवर्गणागतपुद्गलानां ज्ञानावरणादिभावेन

अर्थात् संयमी साधु निर्जरक है। कर्मों का निर्जीर्ण होना निर्जरा है और तपश्चरण निर्जरा का उपाय है।

पूर्व सूत्रों में भी इसी प्रकार से व्याख्यान कर लेना चाहिए। जैसे बन्ध पदार्थ के कथन में बन्धक, बन्ध और बन्ध के उपाय इन तीनों को समझना चाहिए। आस्रव पदार्थ के कथन में आस्रवक, आस्रव और आस्रव के उपाय; संवर पदार्थ के कथन में संवरक, संवर और संवर के उपाय, ऐसा इन सभी को जानना चाहिए। इस कथन से पुनरुक्त दोष नहीं आता है।

अब दृष्टान्त के द्वारा जीव और कर्म की शुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे तपाया हुआ स्वर्ण-पाषाण अग्नि से संतप्त होकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार, स्वर्णपाषाण की भाँति ही, यह जीव तप के द्वारा कर्मों से शुद्ध हो जाता है ॥२४३॥

आचारवृत्ति—जैसे धातुपाषाण—स्वर्णपत्थर तपाया हुआ शुद्ध हो जाता है अर्थात् वह अग्नि से दग्ध हुआ कीट और कालिमा से रहित हो जाता है। उसी प्रकार से, स्वर्ण के समान ही, यह आत्मा तपश्चरण के द्वारा कर्मों से शुद्ध हो जाता है। अर्थात् जैसे सुवर्ण धातु अग्नि के संयोग से शुद्ध होती है वैसे ही जीव तप के योग से शुद्ध हो जाता है।

निर्जरा को सहेतुक और बन्ध आदि को भी सहेतुक क्यों बतलाया? तथा नित्य पक्ष में और अनित्य पक्ष में ये सभी कार्य-कारण सम्बन्ध क्यों नहीं घटित होते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—यह जीव योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध करता है। कषायों के अपरिणत और उच्छिन्न हो जाने पर स्थितिबन्ध के कारण नहीं रहते ॥२४४॥

आचारवृत्ति—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा बन्ध के चार भेद हैं।

परिणामः प्रकृतिबन्धः। तेषां कर्मस्वरूपपरिणतानामनन्तानन्तानां जीवप्रदेशैः सह संश्लेषः प्रदेशबन्धः। तेषां जीवप्रदेशानुप्रविष्टानां जीवस्वरूपान्यथाकरणं सोऽनुभागबन्धः। तेषामेव कर्मरूपेण परिणतानां पुद्गलानां जीवप्रदेशैः सह यावत्कालमवस्थितिः स स्थितिबन्धः। योगाज्जीवः प्रकृतिबन्धं च करोति। कषायेण स्थितिबन्धमनुभागबन्धं च करोति अथवा योगः प्रकृतिबन्धं प्रदेशबन्धं च करोति। कषायाः स्थितिबन्धमनुभागबन्धं च कुर्वन्ति। यतोऽतोऽपरिणतस्य नित्यस्य, उच्छिन्नस्य निरन्वयक्षणिकस्य च बन्धस्थितेः कारणं नास्ति। अथवा-ऽयमभिसम्बन्धः कर्तव्यो मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तानामेतद् व्याख्यानं वेदितव्यं। कुतो यतो योगः प्रकृतिप्रदेशबन्धौ करोति कषायाश्च स्थित्यनुभागौ कुर्वन्ति, अतोऽपरिणतयोरयोगिसिद्धयोः सयोग्ययोगिनोर्वोच्छिन्नस्य क्षीण-

---

कार्मण वर्गणा रूप से आये हुए पुद्गलों का ज्ञानावरण आदि भाव से परिणमन कर जाना प्रकृतिबन्ध है। उन्हीं कर्मस्वरूप से परिणत अनन्तानन्त पुद्गलों का जीव के प्रदेशों के साथ संश्लेष सम्बन्ध (गाढ़ सम्बन्ध) हो जाना प्रदेशबन्ध है। उन्हीं जीव के प्रदेशों में संश्लिष्ट हुए पुद्गलों का जीव के स्वरूप को अन्यथा करना अर्थात् जीव के प्रदेश में लगे हुए पुद्गल कर्म द्वारा जीव को सुख-दुःख रूप फल का अनुभव होना अनुभागबन्ध है। कर्म रूप से परिणत हुए उन्हीं पुद्गलों का जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक सम्बन्ध रहता है उसे स्थितिबन्ध कहते हैं।

यह जीव योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध करता है तथा कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध करता है। अथवा योग प्रकृति और प्रदेशबन्ध करता है और कषायें स्थिति तथा अनुभागबन्ध को करती हैं। जिस कारण से ऐसी बात है उसी कारण से अपरिणत—नित्य और उच्छिन्न—निरन्वय क्षणिक पक्ष में अर्थात् आत्मा को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक मान लेने पर बन्ध स्थिति के कारण नहीं बनते हैं।

अथवा ऐसा सम्बन्ध करना कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान पर्यन्त यह (बन्ध का) व्याख्यान समझना चाहिए; क्योंकि योग प्रकृति और प्रदेश बन्ध करते हैं तथा कषायें स्थिति और अनुभाग बन्ध करती हैं इसलिए अपरिणत अर्थात् उपशान्त मोह और उच्छिन्न अर्थात् क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में स्थितिबन्ध के कारण नहीं हैं। उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय सत्ता में तो रहती है परन्तु उदय में न होने से अपरिणत रहती है और क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में कषाय की सत्ता उच्छिन्न हो जाती है। इस तरह मिथ्यादृष्टि से लेकर दशम गुणस्थान तक चारों बन्ध होते हैं और ११, १२ तथा १३वें गुणस्थान में मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते हैं। अयोग केवली गुणस्थान में योग और कषाय—दोनों का अभाव हो जाने से पूर्ण अबन्ध रहता है।

प्रश्न—क्षीण कषाय और सयोग केवली के तो योग है। पुनः उनके योग का अभाव होने से बन्ध के कारण का न होना कैसे कहा?

कषायस्य च बन्धस्थितेः कारणं नास्ति । ननु क्षीणकषायसयोगिकेवलिनोर्योगोऽस्ति, सत्यमस्ति, किंतु तस्याकिंचित्करत्वादभाव एवेति ॥२४४॥

निर्जराभेदार्थमाह—

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजादा य ॥४४५॥

अथ का निर्जरा ? पूर्वकृतकर्मसटनं गलनं निर्जरेत्युच्यते सा पुनर्निर्जरा द्विविधा द्विप्रकारा भवेत् । प्रथमा विपाकजातोदयस्वरूपेण कर्मानुभवनं । द्वितीया निर्जरा अविपाकजाताननुभवकस्तपोविशेषहेतुर्या कारणवशात् कर्मविनाशः ॥२४५॥

विपाकजाताविपाकजातयोर्निर्जरयोर्दृष्टान्तद्वारेण स्वरूपमाह—

कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि ।
तध कालेण उवाएण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥२४६॥

यथा कालेन क्रमपरिणामेनोपायेन च गर्तधूमादिनाऽपि वनस्पतेः फलानि पच्यन्ते तथा कालेनोदयागत-

---

नहीं होते हैं। पुनः सयोगकेवली तक यद्यपि योग से प्रकृति-प्रदेशबन्ध हो रहा है जो कि एक समय मात्र का है उसकी यहाँ पर विवक्षा नहीं करने से ही योग का अभाव कहकर बन्ध के कारण का अभाव कह दिया है; क्योंकि वहां का योग और उसके निमित्त से हुए प्रकृति प्रदेशबन्ध अकिंचित्कर होने से अभाव रूप ही है।

अब निर्जरा के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्वकृत कर्मों का झड़ना निर्जरा है। उसके पुनः दो भेद हैं। विपाक से होनेवाली पहली है और अविपाक से होने वाली दूसरी है ॥२४५॥

आचारवृत्ति—निर्जरा किसे कहते हैं? पूर्व में किये गये कर्मों का झड़ना-गलना निर्जरा है। इसके दो भेद होते हैं। उदयरूप से कर्मों के फल का अनुभव करना विपाकजा निर्जरा है और अनुभव के बिना ही लीलामात्र में कारणों के निमित्त से—तपश्चरण आदि से जो कर्म झड़ जाते हैं वह अविपाकजा निर्जरा है।

इन सविपाक और अविपाक निर्जरा को दृष्टांत द्वारा कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे वनस्पति और फल समय से स्वयं तथा उपाय—प्रयोग से पकते हैं उसी प्रकार संचित किये हुए कर्म समय पाकर तथा उपाय के द्वारा फल देते हैं ॥२४६॥

गोपुच्छंरूपायेन च सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोभिः कृतानि कर्माणि पच्यन्ते विनश्यन्ति ध्वस्तीभवन्तीत्यर्थः ॥२४६॥

मोक्षपदार्थं निरूपयन्नाह—

रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥२४७॥

अत्रापि मोचको मोक्षो मोक्षकारणं च प्रतिपादयति बन्धस्य च बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य। रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागः पुनर्जीवो मुच्यते। एष जिनोपदेशः आगमः समासतः संक्षेपात् कर्मोर्बन्धमोक्षयोः। संक्षेपेणायमुपदेशो जिनस्य, रागी बध्नाति कर्माणि वैराग्यं संप्राप्तः पुनर्मुच्यते इति ॥२४८॥

अथ पदार्थान् संक्षेपयन् प्रकृतेन च योजयन्नाह--

णव य पदत्था एदे जिणदिट्ठा वण्णिदा मए तच्चा।
एत्थ भवे जा संका दंसणघादी हवदि एसो ॥२४८॥

अत्र का शंका नाम, एते ये व्याख्याता नवपदार्था जिनोपदिष्टाः, अनेन किमुक्तं भवति यशु:

भावार्थ—योग्य काल में जैसे आम, केला आदि पकते हैं तथा उन्हें पाल से असमय में भी पका लिया जाता है। उसी प्रकार से जीव के द्वारा बांधे गये कर्म समय पर उदय में आकर फल देकर झड़ जाते हैं, यह विपाकजा निर्जरा है; और समय के पहले ही रत्नत्रय और तपश्चरणरूप प्रयोग के द्वारा उन्हें निर्जीर्ण कर दिया जाता है यह अविपाकजा निर्जरा है। इसके अनौपक्रमिक और औपक्रमिक ऐसे भी सार्थक नाम होते हैं।

अब मोक्ष पदार्थ का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—रागी कर्मों को बांधता है और विरागसंपन्न जीव कर्मों से छूटता है। बन्ध और मोक्ष के विषय में संक्षेप से यही जिनेन्द्र देव का उपदेश है ॥२४७॥

आचारवृत्ति—यहां पर भी मोचक, मोक्ष और मोक्ष के कारण इन तीनों का प्रतिपादन करते हैं। और बन्ध का भी व्याख्यान करते हैं क्योंकि बन्धपूर्वक ही मोक्ष होता है। रागी जीव कर्मों को बांधता रहता है जबकि वीतरागी जीव कर्मों से छूट जाता है। बन्ध और मोक्ष के कथन में संक्षेप से यही जिनेन्द्र देव का उपदेश—आगम है। तात्पर्य यही है कि जिनेन्द्र देव का संक्षेप में यही उपदेश है कि राग सहित जीव ही कर्मों का बन्ध करता है तथा वैराग्य से सहित हुआ जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अब पदार्थों के कथन को संकुचित करते हुए अपने प्रकृत विषय निःशंकित अंग को कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्र देव द्वारा कथित जो ये नव पदार्थ हैं मैंने उनका वास्तविक वर्णन किया है। उसमें जो शंका हो तो वह दर्शन का घात करनेवाली हो जाती है ॥२४८॥

आचारवृत्ति—शंका किसे कहते हैं? जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित जो नव पदार्थ हैं

प्रामाण्याद्वचनस्य प्रामाण्यं, वर्णिता व्याख्याता मया। तथ्या—तत्त्वभूताः, जिनमतानुसारेण मयानुवर्णिता इत्यर्थः। एवमभवे—एतेषु पदार्थेषु भवेत् यस्य शंका स जीवो दर्शनघातेन मिथ्यादृष्टिः। अथवा शंका सन्दिग्धाभिप्राया सैषा दर्शनघातिनी स्यात् ॥२४७॥

किमेते पदार्था नित्या आहोस्विदनित्याः, किं सन्त आहोस्विदविद्यमानाः, यथैते वर्णिता एवमन्यैरपि बुद्धकणादाक्षपादादिभिश्च वर्णिता न ज्ञायन्ते के सत्या इति संशयो दर्शनविनाशहेतुरिति शंकां प्रतिपाद्याकांक्षां निरूपयन्नाह—

तिविहा य होइ कंखा इह परलोए तधा कुधम्मे य।
तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुवगदो सो ॥२४९॥

उन्हीं का यहाँ व्याख्यान किया गया है। इससे क्या समझना? वक्ता की प्रमाणता से ही वचनों में प्रमाणता मानी जाती है। अर्थात् जिनोपदिष्ट कहने से यह अभिप्राय निकलता है कि अर्हन्त भगवान् वक्ता हैं, वे प्रमाण हैं अतएव उनके वचन भी प्रामाणिक हैं। अभिप्राय यही है कि जिन मत के अनुसार ही मैंने इन नव पदार्थों का वर्णन किया है, स्वरुचि से नहीं। इन पदार्थों में जिस जीव को 'यह ऐसा है या नहीं' ऐसी शंका हो जावे वह जीव सम्यग्दर्शन का घात करने वाला मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अथवा संदिग्ध अभिप्राय को भी शंका कहते हैं सो यह भी दर्शन का घात करनेवाला है।

क्या ये पदार्थ नित्य हैं अथवा अनित्य? क्या ये विद्यमान हैं या अविद्यमान? जैसे ये नव पदार्थ यहाँ बताये गये हैं वैसे ही अन्य बुद्ध, कणाद ऋषि, आचार्य अक्षपाद आदि ने भी वर्णित किये हैं। पुनः समझ में नहीं आता है कि कौन से सत्य हैं और कौन से असत्य हैं इस प्रकार का जो संशय है वह सम्यग्दर्शन के विनाश का कारण है ऐसा समझना। इस शंका से रहित साधु निःशंकित शुद्धि को धारण करनेवाले होते हैं।

शंका का स्वरूप बताकर अब आकांक्षा का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—इह लोक में, परलोक में तथा कुधर्म में आकांक्षा होने से यह तीन प्रकार की होती है। जो तीन प्रकार की भी आकांक्षा नहीं करता है वह दर्शन की शुद्धि को प्राप्त हुआ है ॥२४९॥•

•निम्नलिखित गाथाएँ फलटन से प्रकाशित में अधिक हैं—

अरहंतसिद्धसाहुसुदभत्ती धम्मम्हि जा हि खलु चेट्ठा।
अणुगमणं य गुरूणं पसत्थरागोत्ति उच्चदि सो ॥

अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, साधु और श्रुत इनमें भक्ति रखना; इनके गुणों में प्रेम करना, धर्म में—व्रतादिकों में उत्साह रखना तथा गुरुओं का स्वागत करना, उनके पीछे-पीछे नम्र होकर चलना, अंजलि जोड़ना इत्यादि कार्यों को प्रशस्त राग कहते हैं। [यह गाथा 'पंचास्तिकाय' में है।]

प्रशस्त राग पुण्यबंध का प्रधान कारण है—

त्रिविधा भवति कांक्षाभिलाष इह लोकविषया परलोकविषया तथा कुधर्मविषया च। इह लोके मम यदि गजतुरगद्रव्यपशुपुत्रकलत्रादिकं भवति तदानीं शोभनोऽयं धर्मः। परलोके चैतन्मम स्यात्, भोगा मे सन्तु लोकधर्मश्च शोभनः सर्वपूज्यस्तमहमपि करोमीति कांक्षा। तां त्रिप्रकारामपि यो न कुर्यात् स जीवो दर्शनशुद्धिमुपगतः। कांक्षामन्तरेण यदि सर्वं लभ्यते किमिति कृत्वा काङ्क्षा क्रियते। क्रियते च सर्वैः काङ्क्षा-वानिति ॥२४९॥

आचारवृत्ति—कांक्षा अर्थात् अभिलाषा के तीन भेद हैं—इह लोक सम्बन्धी, परलोक सम्बन्धी और कुधर्म सम्बन्धी। यदि मुझे इस लोक में हाथी, घोड़े, द्रव्य, पशु, पुत्र, स्त्री आदि मिलते हैं तब तो यह धर्म सुन्दर है ऐसा सोचना इह लोक आकांक्षा है। परलोक में ये वस्तुएँ मुझे मिलें, भोग प्राप्त होवें यह सोचना परलोक आकांक्षा है। लौकिक धर्म सुन्दर है, सर्वजनों

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपुण्णो।
बज्झदि बहु सो पुण्णं ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥

अर्थात् अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन—परमागम, गण—चतुर्विध संघ और ज्ञान में जो भक्ति सम्पन्न है वह बहुत से पुण्य का संचय करता है किन्तु वह कर्मक्षय नहीं करता है। अर्थात् सम्यक्त्व सहित प्रशस्त राग से परम्परया मुक्ति है साक्षात् नहीं है। [यह गाथा भी 'पंचास्तिकाय' में है]

अशुभोपयोग का स्वरूप—

विसयकसाओ गाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥

अर्थात् जो विषय और कषायों में आबद्ध हैं, जो कुशास्त्र के पठन या श्रवण में लगे हैं, अशुभ परिणामवाले हैं, दुष्टों की गोष्ठी में आनन्द मानते हैं, उग्र स्वभावी हैं और उन्मार्ग में तत्पर हैं; उपर्युक्त प्रकार से जिनका उपयोग है वह अशुभ कहलाता है। [यह गाथा 'प्रवचनसार' में है]

शुद्धोपयोग का लक्षण—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति॥

अर्थात् सम्यक्प्रकार से जीवादि पदार्थों को जानकर श्रद्धालु संयम और तप से संयुक्त वैराग्य सम्पन्न या वीतरागी और सुख-दुःख में समभावी श्रमण शुद्धोपयोगी कहलाता है। [यह गाथा भी 'प्रवचनसार' में है]

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप—

जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थमिदि भावदो गहणं।
सम्मत्तेण भावो तं विवरीदं च मिच्छत्तं॥

इह लोककाङ्क्षां परलोकाकांक्षां च प्रतिपादयन्नाह—

बलदेवचक्कवट्टीसेट्ठीरायत्तणादिअहिलासो।
इहपरलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो ॥२५०॥

बलदेवचक्रवर्तिश्रेष्ठ्यादीनां राज्याभिलाष इहलोके यो भवति सेहलोकाकाङ्क्षा। परलोके च स्वर्गादौ देवत्वप्रार्थना यस्य स्यात् दर्शनाभिघाती सः। इहलोके षट्खण्डाधिपतित्वं, बलदेवत्वं, राजश्रेष्ठित्वं, परलोके इन्द्रत्वं, सामान्यदेवत्वं, महर्द्धिकत्वं, [1]स्वरूपवत्त्वमित्येवमादि प्रार्थयन् मिथ्यादृष्टिर्भवति, निदानशल्यत्वात्कांक्षेयेति ॥२५०॥

कुधर्मकांक्षास्वरूपमाह—

रत्तवडचरगतावसपरि[2]हत्तादीणमण्णतित्थीणं।
धम्मह्मि य अहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा ॥२५१॥

रक्तपट-चरक-तापस-परिव्राजकादीनामन्यतीर्थिकानां धर्मविषये योऽभिलाषः कुधर्मकांक्षा

से पूज्य है इसको मैं भी धारण कर लूं ऐसी आकांक्षा होना कुधर्मकांक्षा है। इन तीनों कांक्षाओं को जो नहीं करता है वह जीव दर्शनविशुद्धि प्राप्त कर लेता है।

क्योंकि यदि कांक्षा के बिना भी सभी कुछ मिल सकता है तो क्यों पर कांक्षा करना। तथा कांक्षावान् मनुष्य सभी के द्वारा निंदित भी होता है इसलिए कांक्षा नहीं करना चाहिए।

अब इह-लोकाकांक्षा और परलोकाकांक्षा को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिसके इस लोक में बलदेव, चक्रवर्ती, सेठ, राजा आदि होने की अभिलाषा होती है, और परलोक में देवपने की चाहना होती है वह सम्यग्दर्शन का घाती है। ॥२५०॥

आचारवृत्ति—जो इस लोक में बलदेव, चक्रवर्ती आदि के राज्य की अभिलाषा करता है, श्रेष्ठी पद चाहता है उसके यह इह-लोकाकांक्षा है। जिसके परलोक में—स्वर्ग आदि में देवपने की प्रार्थना होती वह परलोकाकांक्षा करता है। ये दोनों आकांक्षाएं सम्यक्त्व का घात करती हैं। अर्थात् इस लोक में मुझे षट्खण्ड का साम्राज्य, बलदेव पद, राजश्रेष्ठी पद मिले और परलोक में मुझे इन्द्रपद, सामान्य देवपद या महान् ऋद्धिधारी देवपद तथा सुन्दर रूप मिले इत्यादि रूप से प्रार्थना करता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है; क्योंकि कांक्षा निदानशल्य रूप है ऐसा समझना।

अब कुधर्मकांक्षा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—रक्तपट, चरक, तापसी और परिव्राजक आदि के तथा अन्य मतवालों के धर्म में जो अभिलाषा है वह कुधर्मकांक्षा है ॥२५१॥

आचारवृत्ति—रक्तवस्त्रवाले साधुओं के चार भेद हैं—वैभाषिक, सौत्रांतिक,

---

१ क स्वरूप°। २ क परिव्रा°।

भवति। चत्वारो रक्तपटा वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकभेदात्। नैयायिकवैशेषिकदर्शने चरकशब्देनोच्येते कणचरादिर्वा। कन्दफलमूलाद्याहारा भस्मोद्गुण्ठनपरा जटाधारिणो विनयपरास्तापसाः। सांख्यदर्शनस्थाः पंचविंशतितत्त्वज्ञाः परिव्राजकशब्देनोच्यन्ते इत्येवमाद्यन्येष्वपि तैर्थिकमतेष्वभिलाषः कुधर्मकांक्षेति। कथमेषां कुधर्मत्वं चेत् पदार्थानां तदीयानां विचार्यमाणानामयोगात्सर्वथा नित्यक्षणिकोभयत्वात्। इन्द्रियसंयमप्राणसंयमजीवविज्ञानपदार्थसर्वज्ञपुण्यपापादीनां परस्परविरोधाच्चेति ॥२५१॥

योगाचार और माध्यमिक। अर्थात् बौद्धों के वैभाषिक आदि चार भेद होते हैं। उन्हीं सम्प्रदायों की अपेक्षा उनके साधुओं के भी चार भेद हो जाते हैं। चरक शब्द से नैयायिक और वैशेषिक दर्शन कहे गये हैं अतः इन सम्प्रदायों के साधु भी चरक कहे जाते हैं। अथवा कणचर आदि भी चरक हैं अर्थात् खेत के कट जाने पर जो उञ्छावृत्ति से—वहाँ से धान्य बीनकर, लाकर उदर-पोषण करते हैं वे कणचर हैं। ऐसे साधु चरक कहलाते हैं। कन्दमूल फल आदि खानेवाले, भस्म से शरीर को लिप्त करनेवाले, जटा धारण करनेवाले और सभी की विनय करनेवाले तापसी कहलाते हैं।[1]

सांख्य सम्प्रदाय में कहे गये पच्चीस तत्त्व को माननेवाले परिव्राजक कहलाते हैं। इसी प्रकार और भी जो अन्य सम्प्रदाय हैं उनके मतों की अभिलाषा होना कुधर्माकांक्षा है।

इनमें कुधर्मपना कैसे है?

इन सभी के यहाँ के मान्य पदार्थों का विचार करने पर उनकी व्यवस्था नहीं बनती है; क्योंकि इनमें कोई पदार्थों को सर्वथा नित्य मानते हैं, कोई सर्वथा क्षणिक मानते हैं और कोई सर्वथा रूप से ही उभय रूप मानते हैं। इसलिए इनकी मान्यताएँ कुधर्म हैं। तथा इन सभी के यहाँ इन्द्रियसंयम, प्राणीसंयम, जीव का लक्षण विज्ञान, पदार्थ, सर्वज्ञदेव, पुण्य तथा पाप आदि के विषय में परस्पर विरोध देखा जाता है।

इस प्रकार से इन तीनों कांक्षाओं को नहीं करनेवाला जीव निष्कांक्षित अंग की शुद्धि का पालन करनेवाला है।

विशेषार्थ—बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सत्रूप हैं। अर्थात् वे सभी अन्तरंग बहिरंग पदार्थ को सर्वथा एक क्षण ठहरनेवाले मानते हैं। इनके चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक और वैभाषिक। माध्यमिक बाह्य और अभ्यंतर सभी वस्तुओं का अभाव कहते हैं अतः ये शून्यवादी अथवा शून्याद्वैतवादी हैं। योगाचार बाह्य वस्तु का अभाव मानते हैं और मात्र एक विज्ञान तत्त्व को स्वीकार करते हैं अतः ये विज्ञानाद्वैतवादी हैं। सौत्रांतिक बाह्य वस्तु को मानकर उसे अनुमान ज्ञान का विषय कहते हैं और वैभाषिक बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष मानते हैं। अर्थात् ये दोनों अन्तरंग बहिरंग वस्तु को तो मानते हैं किन्तु सभी को सर्वथा क्षणिक कहते हैं।

बौद्ध के इन चार भेदों की अपेक्षा उनके साधुओं में भी चार भेद हो जाते हैं। ये साधु लाल वस्त्र पहनते हैं।

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १५।

विचिकित्सास्वरूपमाह—

विदिगिंछा वि य दुविहा दव्वे भावे य होइ णायव्वा।
उच्चारादिसु दव्वे खुधादिए भावविदिगिंछा ॥२५२॥

विचिकित्सापि द्विप्रकारा द्रव्यभावभेदात् भवति ज्ञातव्या उच्चारप्रस्रवणादिषु मूत्रपुरीषादिद्रव्येषु विचिकित्सा द्रव्यगता क्षुधादिषु क्षुत्तृष्णानग्नत्वादिषु भावविचिकित्सा व्याधितस्य पानस्य वा ... साधुनिष्ठ्यूतदिश्लेष्ममलालादिकं यदि दुर्गन्धिविरूपमिति कृत्वा घृणां करोति वैयावृत्यं न करोति न द्रव्यविचिकित्सायुक्तः

नैयायिक सम्प्रदायवाले ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं। इनके यहाँ सोलह तत्त्व माने गये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। इन्हें वे पदार्थ भी कहते हैं।

वैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता सिद्ध करते हैं। इन्होंने सात पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

इन पदार्थों के अतिरिक्त अन्य विषयों में प्रायः नैयायिक और वैशेषिक की मान्यताएँ एक ही हैं।

"एक महर्षि कणाद नाम के हुए हैं इन्होंने ही वैशेषिक दर्शन को जन्म दिया है। कहा जाता है कि ये इतने संतोषी थे कि खेतों से चुने हुए अन्न को खाकर ही अपना जीवन-यापन करते थे। इसलिए उपनाम कणाद या कणचर हो गया। इनका वास्तविक नाम उलूक था।"

तापसियों का लक्षण तो स्पष्ट ही है।

सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गये हैं। इनके यहाँ मूल में दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति से ही तो सारा संसार बनता है और पुरुष भोक्ता मात्र है, कर्ता नहीं है ॥२५१॥

अब विचिकित्सा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव के विषय की अपेक्षा विचिकित्सा दो प्रकार की होती है ऐसा जानना। मल-मूत्र आदि द्रव्यों में द्रव्य विचिकित्सा और क्षुधा आदि भावों में भाव-विचिकित्सा होती है ॥२५२॥

स्यात् । सर्वमेतच्छोभनं न क्षुधातृष्णानग्नत्वेन केशोत्पाटनादिना च दुःखं भवति एतद्विरूपकमित्येवं भाव-विचिकित्सेति ॥२५२॥

द्रव्यविचिकित्साप्रपंचनार्थमाह—

उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयं च चम्मट्ठी ।
पूयं च मंससोणिदवंतं जल्लादि साधूणं ॥२५३॥

उच्चारं, प्रश्रवणं, खेलं—श्लेष्मा, सिंहानकं, चर्म, अस्थिपूयं च क्लिन्नरुधिरं, मांसं,[1] मलं, शोणितं, वान्तं जल्लं सर्वांगीनं,मलं अंगैकदेशाच्छादकं, लालादिकं च साधूनामिति ॥२५३॥

भावविचिकित्सां प्रपंचयन्नाह—

छुहतण्हा सीदुण्हा दंसमसयमचेलभावो य ।
अरदिरदिइत्थिचरियाणिसीधिया सेज्जअक्कोसो[2] ॥२५४॥
वधजायणं अलाहो रोग तणप्फास जल्लसक्कारो ।
तह चेव पण्णपरिसह अण्णाणमदंसणं खमणं ॥२५५॥

छुह—क्षुत् चारित्रमोहनीयवीर्यान्तरायापेक्षाऽसातावेदनीयोदयादशनाभिलाषः । तण्हा—तृषा चारित्रमोहनीयवीर्यान्तरायापेक्षाऽसातावेदनीयोदयादुदकपानेच्छा । सीद—शीतं तद्द्वयापेक्षाऽसातोदयात्प्रावरणे-

---

या नग्नता से तथा केशलोंच आदि से दुःख होता है वह बुरा है—ठीक नहीं है ऐसा सोचना भावविचिकित्सा है।

द्रव्य विचिकित्सा को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—साधुओं के मल, मूत्र, कफ, नाक का मल, चर्म, हड्डी, पीव, मांस, रक्त, वमन और पसीने तथा धूलि से युक्त मल को देखकर ग्लानि होना द्रव्य-विचिकित्सा है ॥२५३॥

आचारवृत्ति—मल, मूत्रादि का अर्थ सरल है। सर्वांगीण मल को जल्ल कहते हैं और शरीर के एक देश को प्रच्छादित करनेवाला मल कहलाता है। आदि शब्द से थूक, लार आदि को देखकर ग्लानि होना द्रव्यविचिकित्सा है।

भाव विचिकित्सा को कहते हैं—

गाथार्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरतिरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इनको परीषह को सहन नहीं करना भाव-विचिकित्सा है ॥२५४-२५५॥

आचारवृत्ति—१. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय कर्म की अपेक्षा लेकर असाता वेदनीय का उदय होने से जो भोजन की अभिलाषा है वह क्षुधा है।

२. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय की सहायता से तथा असातावेदनीय के उदय से जो जल पीने की इच्छा है वह तृषा है।

---

१ क मांसं शोणितं रक्तं [illegible]। २ क अक्कोसो।

च्छादनकारणपुद्गलस्कंधः । उष्णं—उष्णं पूर्वोक्तकारणैः अग्निजनकशरीराभिलाषकारणं दिवाकरज्वरादिसंतापः । दंसमसयं—दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकं दंशमशकैः दशनमशरीरपीडा दंशमशकमित्युच्यते कार्ये कारणोप-चारात् । अचेलभावो य—अचेलत्वं नाग्न्यमिति यावत् । अरदिरदि—अरतिरती चारित्रमोहोदयात् चारित्र-द्वेषासंयमाभिलाषो । इत्थि—स्त्रीकटाक्षेक्षणादिभिर्योषिद्बाधा कार्ये कारणोपचारात् । चरिया—चर्या आवश्यका-द्यनुष्ठानपरस्यातिश्रान्तस्याप्युपानत्पादत्राणादिरहितस्यापि मार्गयानं । णिसेज्जा—निषिद्या श्मशानोद्यानशून्याय-तनादिषु वीरासनोत्कुटिकाद्यासनजनितपीडा । सेज्जा—शय्या स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमजनितनिद्रस्य शर्करिकाप-प्रचुरशर्कराद्याकीर्णभूमौ शयनस्यैकपार्श्वे दण्डवच्छयनादिजनितपीडा । अक्कोसो—आक्रोशो मिथ्यादर्शनोद्रेकादमर्ष-पर्यंतः मिथ्यादृष्टिविमुक्तावज्ञानिन्दावचनश्रवणाबाधा । वह—वधः मुद्गरादिघातजपीडा । जायणं—

---

३. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय की अपेक्षा करके और असाता के उदय से जो शरीर को ढकने की इच्छा के कारणभूत पुद्गलस्कन्ध है उसे शीत कहते हैं।

४. पूर्वोक्त प्रकार तीनों कर्मों के सन्निधान से उष्ण की अभिलाषा के लिए कारण-भूत सूर्य अथवा ज्वर आदि से जो संताप होता है वह उष्ण कहलाता है।

५. डांस और मच्छरों के द्वारा डसने पर जो शरीर में पीड़ा होती है वह दंशमशक कहलाती है। अर्थात् यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया है। इसलिए दंशमशक को ही परिषह कह दिया है।

६. नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व है।

७. चारित्रमोह के उदय से चारित्र में द्वेष—अरति होना और असंयम की अभिलाषा होना सो अरतिरति-परिषह है।

८. स्त्रियों का कटाक्ष से देखना आदि द्वारा जो बाधा है वह स्त्री-परीषह है। यहां पर भी कार्य से कारण का उपचार किया है।

९. आवश्यक आदि क्रियाओं के अनुष्ठान में तत्पर, जो कि अत्यन्त थके हुए हैं, उनका पादत्राण आदि से रहित होकर भी—नंगे पैरों से मार्ग में चलना है वह चर्या-परीषह है।

१०. श्मशान में, उद्यान में या शून्य मकान आदि में वीरासन, उत्कुटिकासन आदि आसनों से बैठने पर जो पीड़ा होती है वह निषद्या-परीषह है।

११. स्वाध्याय, ध्यान या मार्ग का श्रम, इनसे थके हुए मुनि नीचा, विषम—ऊँची-नीची, या अधिक कंकरीली रेत आदि से व्याप्त भूमि में जो एक करवट से या दण्डाकार आदि रूप से शयन करते हैं उस शयन आदि में जो शय्या के निमित्त से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है वह शय्या-परिषह है।

अयाञ्चा अकारोत्र लुप्तो द्रष्टव्यः प्राणात्ययेऽपि रोगादिभिः पीडितस्यायाचयतः अयाञ्चापीडा। अथवा वरं मृतो न कश्चिद्याचितव्यः शरीरादिसंदर्शनादिभिः यांचा तु नाम महापीडा। अलाहो—अलाभः अंतरायकर्मोदयादाहाराद्यलाभकृतपीडा। रोय—रोगो ज्वरकासभगन्दरादिजनितव्यथा। तणफास—तृणस्पर्शः शुष्कतृणपरुषशर्कराकण्टकनिशितमृत्तिकाकृतशरीरपादवेदना। जल्ल—सर्वांगीणं मलमस्नानादिजनितप्रस्वेदाद्युद्भवा पीडा। सक्कारो—सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो—नमनक्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामंत्रणं। तह चेव—तथा चैव। पण्ण—प्रज्ञा विज्ञानमदोद्भूतगर्वः। परिसह—परीषहः। पीडाशब्दः सर्वत्रापि सम्बध्यते। क्षुत्परिषहः, तृणपरिषहः, दंशमशकपिपीलिकामत्कुणादिभक्षणपरीषह इत्यादि। अण्णाणं—अज्ञानं सिद्धान्तव्याकरणतर्कादिशास्त्रापरिज्ञानोद्भूतमनःसन्तापः। अदंसणं—अदर्शनं महाव्रतानुष्ठानेनाप्यदृष्टातिशयबाधा, उपलक्षणमात्रमेतत् अन्येप्यत्र पीडाहेतवो द्रष्टव्याः। एतैः परीषहैर्व्रतभंगेऽपि संक्लेशकरणं भावविनिर्मिता।

कुछ भी याचना नहीं करते हुए मुनि के अयाचना-परीषह होती है। यहाँ पर 'याञ्चा' पद में अकार का लोप समझना चाहिए इसलिए याञ्चा शब्द से अयाञ्चा ही ग्रहण करना चाहिए। अथवा मरना अच्छा है किन्तु कुछ भी याचना करना बुरा है क्योंकि याचना यह बहुत बड़ा दुःख है ऐसा सोचकर शरीर से या मुख के म्लान आदि किसी संकेत के द्वारा कुछ भी नहीं माँगना यह याञ्चा-परीषहजय है।

१५. अंतराय कर्म के उदय से आहार आदि का लाभ न होने से जो बाधा होती है वह अलाभ परीषह है।

१६. ज्वर, खांसी, भगंदर आदि व्याधियों से हुई पीड़ा रोग-परीषह है।

१७. सूखे तृण, कठिन कंकरीली रेत, काँटा, तीक्ष्ण, मिट्टी आदि से जो शरीर या पैर में वेदना होती है वह तृणस्पर्श परीषह है।

१८. सर्वांगीण मल को जल्ल कहते हैं अर्थात् स्नान आदि के नहीं करने से तथा पसीने आदि से उत्पन्न हुआ जो कष्ट है वह जल्ल अथवा मल परीषह है।

१९. पूजा प्रशंसा आदि होना सत्कार है और नमन क्रिया या किसी कार्य के प्रारम्भ आदि में आगे करना—प्रमुख करना, उन्हें आमन्त्रित करना पुरस्कार है। इस सत्कार-पुरस्कार के न होने से जो मानसिक ताप है वह सत्कार-पुरस्कार-परिषह है।

२०. विज्ञान के मद से उत्पन्न हुआ जो गर्व है वह प्रज्ञापरीषह है।

२१. सिद्धान्त, व्याकरण, तर्क आदि शास्त्रों का ज्ञान न होने से जो अन्तरंग में सन्ताप उत्पन्न होता है वह अज्ञान है।

२२. महाव्रत आदि के अनुष्ठान से भी आज तक मुझे कोई अतिशय नहीं दिख रहा है ऐसा सोचना अदर्शन-परीषह है।

इस प्रकार से इन बाईस के नाम गिनाये हैं। यह कथन उपलक्षण मात्र है अतः अन्य भी पीड़ा के कारणों को यहाँ समझ लेना चाहिए। परीषह का अर्थ पीड़ा है। यह परीषह शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए, जैसे क्षुधापरीषह, तृषापरीषह आदि।

क्षमणं—क्षमणं सहनं तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते क्षुत्परीषहक्षमणं तृट्परीषहक्षमणमित्यादि। अतः परीषहजयो भवति ततश्च भावविचिकित्सा दर्शनमलं निराकृतं भवतीति ॥२५४-२५५॥

दृष्टिमोहप्रपंचनार्थमाह—

लोइयवेदियसामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं ।
णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए ॥२५६॥

लोइय—लोकः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तस्मिन् भवो लौकिकः आचार इति सम्बन्धः। वेदेषु—सामर्ग्यजुःषु भवो वैदिकः आचारः। समयेषु—नैयायिकवैशेषिकबौद्धमीमांसकसांख्यचार्वाकादिषु भव आचारः सामयिकस्तेषु लौकिकवैदिकसामयिकेषु आचारेषु क्रियाकलापेषु तथान्यदेवतेषु। मूढत्तं—मूढत्वं मोह परमार्थरूपेण ग्रहणं तद्दर्शनघाति। सम्यक्त्वविनाशं ज्ञात्वा तल्लौकिकमूढत्वं सर्वशक्त्या न कर्तव्यं ॥२५६॥

लौकिकमूढत्वप्रपंचनार्थमाह—

इन परीषहों के द्वारा व्रतादि के भंग न होने पर भी जो संक्लेश उत्पन्न होता है वह भाव विचिकित्सा है। इनको क्षमण—सहन करना परीषहक्षमण है। यह क्षमण शब्द भी प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए; जैसे क्षुधापरीषहक्षमण, तृषापरीषहक्षमण इत्यादि। इन क्षुधा आदि बाधाओं के सहने से परीषहजय होता है अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओं के आ जाने पर संक्लेश परिणाम नहीं करने से परीषहजय होता है। और इन परीषहों को जीतने से भाव विचिकित्सा नाम का जो सम्यग्दर्शन का मल—दोष है उसका निराकरण हो जाता है।

भावार्थ—मुनियों के शरीर सम्बन्धी मल-मूत्रादि से ग्लानि नहीं करना तथा उनकी वैयावृत्ति करना यह द्रव्यनिर्विचिकित्सा है। क्षुधा, तृषा आदि बाधाओं से पीड़ित होकर भी मन में यह नहीं सोचना कि जिन मत में यह बहुत कठिन है कैसे सहन कर सकेंगे इत्यादि तथा व्रतों को भंग नहीं करते हुए संक्लेश भी नहीं करना यह भाव निर्विचिकित्सा है। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि मुनि इस निर्विचिकित्सा का पालन करते हुए सम्यक्त्व दृढ़ रखता है।

अब दृष्टिमोह अर्थात् मूढ़दृष्टि का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—लौकिक, वैदिक और सामयिक के विषय में तथा अन्य देवताओं में मूढ़ता को जानकर सर्वशक्ति से दर्शन का घात नहीं करना चाहिए ॥२५६॥

आचारवृत्ति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को लोक कहते हैं। इनमें होनेवाला या इनसे सम्बन्धित आचार लौकिक आचार है। सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद इनमें वर्णित आचार वैदिक आचार है। नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसक, सांख्य और चार्वाक इनसे सम्बन्धित आचार सामयिक आचार है। अर्थात् लौकिक आदि क्रियाकलापों में तथा अन्य देवों में जो मूढ़ता—मोह है उसे परमार्थ रूप से जो ग्रहण करना है वह दर्शन का घात करनेवाला है। इस मूढ़ता से सम्यक्त्व का विनाश जानकर सर्वशक्ति से इनमें मोह को प्राप्त नहीं होना चाहिए।

लौकिक मूढ़त्व को कहते हैं—

कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा ।
होज्जु व तेसु विसुत्ती लोइयमूढो हवदि एसो ॥२५७॥

कोडिल्ल—कुटिलस्य भावः कौटिल्यं तदेव प्रयोजनं यस्य धर्मस्य सः कौटिल्यधर्मः ठकादिव्यवहारो लोकप्रतारणशीलो धर्मः परलोकाद्यभावप्रतिपादनपरो व्यवहारः । आसुरक्खा—असवः प्राणास्तेषां छेदनभेदनताडनत्रासनोत्पाटनमारणादिप्रपंचेन वञ्चनादिरूपेण वा रक्षा यस्मिन् धर्मे स आसुरक्षो धर्मो नगराद्यारक्षिकोपायभूतः । अथवा कौटिल्यधर्मः, इंद्रजालादिकं पुत्रबन्धुमित्रपितृमातृस्वाम्यादिघातनोपदेशः, चाणक्योद्भव आसुरक्षः मद्यमांसखादनाद्युपदेशः । बलाधानरोगाद्यपनयनहेतुः वैद्यधर्मः । भारतरामायणादिकाः पंचपाण्डवानामेका योषित्, कुंतिश्च पंचभर्तृका, विष्णुश्च सारथिः, रावणादयो राक्षसाः, हनुमानादयश्च मर्कटाः इत्येवमादिका असद्धर्मप्रतिपादनपरा ये धर्मास्तेषु या भवेद्विश्रुतिर्विपरिणामः एतेपि धर्मा इत्येवं मूढो लौकिकमूढो भवत्येष इति ॥२५७॥

वैदिकमोहप्रतिपादनार्थमाह—

रिव्वेदसामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाइं ।
तुच्छाणित्तिण[1] गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो ॥२५८॥

गाथार्थ—कौटिल्य, प्राणिरक्षण, भारत, रामायण आदि सम्बन्धी जो धर्म हैं, उनमें जो विपरिणाम का होना है—यह लौकिक मूढ़ता है ॥२५७॥

आचारवृत्ति—कुटिल का भाव कुटिलता है। वह कुटिलता ही जिस धर्म का प्रयोजन है वह कौटिल्य धर्म है। जो ठगने आदि का व्यवहार रूप लोगों की वंचना में तत्पर धर्म है अर्थात् जो परलोक आदि के अभाव को कहनेवाला धर्म है वह सब कौटिल्यधर्म है। जिस धर्म में असु—प्राणों के छेदन, भेदन, ताड़न, त्रास देना, उत्पाटन करना, मारना इत्यादि प्रकार से अथवा वंचना आदि प्रकार से प्राणों की रक्षा की जाती है वह आसुरक्ष धर्म है अर्थात् नगर आदि की रक्षा में नियुक्त हुए कोतवाल आदि के जो धर्म हैं वे आसुरक्ष धर्म हैं।

अथवा इन्द्रजाल आदि कार्य; पुत्र, भाई, मित्र, पिता, माता, स्वामी आदि के घात करने का उपदेश जो कि चाणक्य द्वारा उत्पन्न हुआ है, कौटिल्यधर्म है। मद्य पीना, मांस खाना इत्यादि का उपदेश आसुरक्ष है। बल को बढ़ाने, रोगादि को दूर करने आदि के लिए उपायभूत वैद्य का धर्म है। भारत और रामायण आदि में जो कहा गया है कि पाँचों पाण्डवों की एक पत्नी द्रौपदी थी, और कुन्ती भी पाँच पतिवाली थी, पाण्डवों के युद्ध में विष्णु भगवान सारथी थे, रावण आदि राक्षस थे, हनुमान् आदि बन्दर थे, इत्यादि रूप से असत् धर्म के प्रतिपादन करनेवाले जो धर्म हैं उन धर्मों के विषय में जो विश्रुति—विपरिणाम है अर्थात् ये भी सब धर्म हैं इत्यादि रूप से मोह को प्राप्त होना लौकिक मूढ़ता है ऐसा समझना।

वैदिक मोह का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ऋग्वेद, सामवेद, उनके वाक् और अनुवाद आदि से सम्बन्धित तुच्छ जो वेदशास्त्र हैं उन्हें जो ग्रहण करता है वह वैदिक मूढ़ होता है ॥२५८॥

---

1 तुच्छाणितिणि—मु० ।

रिग्वेद—ऋग्वेदः। सामवेदः। वाग्—वाक्, ऋचः। अणुवाग्—अनुवाक् [illegible]। अथवा वाक्—ऋग्वेदप्रतिबद्धप्रायश्चित्तादिः, अनुवाक् मन्वादिस्मृतयः। आदि शब्देन यजुर्वेदाथर्वणवेद [illegible] परि-गृह्यन्ते। वेदसत्थाइं—वेदशास्त्राणि हिंसोपदेशकानि अग्न्यादिकार्यप्रतिपादकानि। गृह्यसूत्र[illegible]गर्भाधानपुंसवन-नामकर्मान्नप्राशनचौलोपनयनव्रतबन्धनसौत्रामण्यादिप्रतिपादकानि [illegible] कैटभ[1]गौतम[illegible]वल्क्य[illegible]पिप्पलादवर-रुचिनारदबृहस्पतिशुक्रबुद्धा[2]दिप्रणीतानि तुच्छानि धर्मरहितानि निरर्थकानि यदि न गृह्णाति [यदि गृह्णाति] वैदिकाचारमूढो भवत्येव इति ॥२५८॥

सामयिकमोहप्रतिपादनार्थमाह—

रत्तवडचरगतावसपरिहत्ता[3]दीय अण्णपासंडा।
संसारतारगत्ति य जदि गेण्हइ[4] समयमूढो सो ॥२५९॥

रत्तवड—रक्तपटः। चरग—चरकः। [illegible] अथवा भिक्षावेलायां [illegible]-लेहनशीला उत्सिष्टाः कालमुखादयः। तावसा—तापसाः कन्दमूल[illegible] [illegible] जटाधारिणः-

---

आचारवृत्ति—ऋग्वेद, सामवेद, वाक्—ऋचाएँ, अनुवाक्—[illegible] का समूह। अथवा वाक् अर्थात् ऋग्वेद में कहे गये प्रायश्चित्त आदि तथा अनुवाक् अर्थात् मनु आदि ऋषियों द्वारा बनाये गये मनुस्मृति आदि। आदि शब्द से यजुर्वेद अथर्ववेद आदि का भी ग्रहण किया जाता है। हिंसा आदि के प्रतिपादक वेदशास्त्र, अग्नि—होम आदि कार्य के प्रतिपादक गृह्य-सूत्र, आरण्य, गर्भाधान, पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल—मुंडन, उपनयन, व्रतबन्धन, सौत्रामणि—यज्ञविशेष आदि के प्रतिपादक जो शास्त्र हैं तथा जो यदि कैटभ, गौतम, याज्ञ-वल्क्य, पिप्पलाद, वररुचि, नारद, बृहस्पति, शुक्र और बुद्ध आदि के द्वारा प्रणीत हैं वे सब शास्त्र तुच्छ हैं—धर्मरहित, निरर्थक हैं। यदि कोई मुनि इनको ग्रहण करता है तो वह वैदिकाचारमूढ़ कहलाता है।

भावार्थ—ऋग्वेद आदि वेदों में हिंसा का उपदेश तथा परस्पर विरोधी [illegible] कथन है। ऐसे ही मनुस्मृति भी कुशास्त्र है। इनमें कहे आचरण को मानने वाला वैदिकाचार-मूढ़ माना जाता है। वह अपने सम्यक्त्व का नाश कर देता है।

सामयिक मोह का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—रक्तवस्त्रवाले साधु, चरक, तापस, परिव्राजक आदि तथा अन्य भी पाखंडी साधु संसार से तारनेवाले हैं इस तरह यदि कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ़ होता है ॥२५९॥

आचारवृत्ति—रक्तपट और चरक साधुओं का [illegible] [illegible] है। अर्थात् बौद्ध भिक्षुओं को रक्तपट और नैयायिक वैशेषिक साधुओं को [illegible] है। अथवा भिक्षा की बेला में हाथ चाटने का जिनका स्वभाव है और जो [illegible] [illegible] करनेवाले हैं ऐसे अन्यमतीय साधु 'चरक' हैं। इनमें कालमुख आदि भेद हैं। [illegible] और अन्य

---

1 क कैटभ। 2 क बुद्ध। 3 क परिव्राजकाँ। 4 क [illegible]।

धारिणः। परिव्राजका—परिव्राजका एकदण्डित्रिदण्डयादयः स्नानशीला शुचिवादिनः। आदिशब्देन शैव-पाशुपति-कापालिकादयः परिगृह्यन्ते। (अण्ण पासंडा—)। एते लिंगिनः संसारतारकाः शोभनानुष्ठाना यदेवं गृह्णाति समयमूढोऽसाविति ॥२५९॥

देवमोहप्रतिपादनार्थमाह—

ईसरबंभाविण्हूअज्जाखंदादिया य जे देवा।
ते देवभावहीणा देवत्तणभावणे मूढो ॥२६०॥

ईश्वर-ब्रह्म-विष्णु-भगवती-स्वामिकार्तिकादयो ये देवास्ते देवभावहीनाः चतुर्णिकायदेवस्वरूपेण सर्वज्ञत्वेन च रहितास्तेषूपरि यदि देवत्वपरिणामं करोति तदानीं देवत्वभावेन मूढो भवतीत्यर्थः ॥२६०॥

उपगूहनस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

दंसणचरणविवण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए।
उपगूहणं करिंतो दंसणसुद्धो हवदि एसो ॥२६१॥

आदि भक्षण करनेवाले वन में रहनेवाले और जटा, कौपीन आदि को धारण करनेवाले तापस कहलाते हैं। एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि साधु परिव्राजक हैं। ये स्नान में धर्म माननेवाले और अपने को पवित्र माननेवाले हैं। आदि शब्द से शैव पाशुपति, कापालिक आदि का भी संग्रह किया जाता है। और भी अन्य पाखण्डी साधु जो अनेक लिंग धारण करनेवाले हैं। ये संसार से तारनेवाले हैं, इनके आचरण सुंदर हैं—यदि ऐसा कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ़ कहलाता है।

देवमोह का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, कार्तिक आदि जो देव हैं वे देवपने से रहित हैं उनमें देवभावना करने पर वह देवमूढ़ होता है ॥२६०॥

आचारवृत्ति—ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, भगवती—पार्वती, स्वामी कार्तिक आदि जो कि देव माने गये हैं। ये चतुर्निकाय के देवों के स्वरूप से भी देव नहीं हैं और सर्वज्ञदेव के स्वरूप से भी देव नहीं हैं, अतः सभी तरह से ये देवभाव से रहित हैं। यदि कोई इन पर देवत्व परिणाम करता है तब वह देवत्व भाव से मूढ़ हो जाता है।

भावार्थ—अमूढ़दृष्टि अंग से विपरीत मूढ़दृष्टि होती है जिसका अर्थ है मूढ़दृष्टि का होना। यहाँ पर इसे ही दृष्टिमूढ़ कहा है और उसके चार भेद किये हैं—लौकिकमोह, वैदिकमोह, सामयिकमोह और देवमोह। इन चारों प्रकार के मोह से रहित होनेवाले साधु अमूढ़दृष्टि अंग का पालन करते हुए अपने दर्शनाचार को निर्मल बना लेते हैं।

अब उपगूहन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन या चारित्र से शिथिल हुए जीवों को देखकर धर्म की भक्ति से उनका उपगूहन करते हुए यह दर्शन से शुद्ध होता है ॥२६१॥

दर्शनचरणविपन्नान् सम्यग्दर्शनचारित्रम्लानान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मभक्त्या वा तद्गुणान् उज्ज्वलयन् संवरयन्वा एतेषामुपगूहनं संवरणं कुर्वन् दर्शनशुद्धो भवत्येष उपगूहनकर्तेति ॥२६१॥

स्थिरीकरणस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

दंसणचरणुवभट्ठे जीवे दट्ठूण धम्मबुद्धीए ।
हिदमिदमवगूहिय ते खिप्पं तत्तो णियत्तेइ ॥२६२॥

दर्शनचरणोपभ्रष्टान् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्यो भ्रष्टान्निर्गतान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या हित-मितवचनैः सुखनिमित्तैः पूर्वापरविवेकसहितैर्वचनैरवगूह्य स्वीकृत्य तेभ्यो दोषेभ्यः क्षिप्रं शीघ्रं [illegible] निवर्तयति यः स स्थिरीकरणं कुर्वन् दर्शनशुद्धो भवतीति सम्बन्धः ॥२६२॥

वात्सल्यार्थं प्रतिपादयन्नाह—

चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे ।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी ॥२६३॥

आचारवृत्ति—जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में म्लान हैं—भ्रष्ट हैं, ऐसे जीवों को देखकर धर्म की भक्ति से उनके दर्शन और चारित्र को उज्ज्वल करते हुए अथवा उनके दोषों को ढकते हुए उनका उपगूहन—दोषों का छादन करते हुए मुनि सम्यक्त्व की शुद्धि को प्राप्त करता है। यह साधु उपगूहन का करनेवाला होता है।

भावार्थ—सम्यक्त्व या चारित्र में दोष लगानेवालों को देखकर उनके दोषों को दूर करते हुए, उनके गुणों को बढ़ाना और उनके दोषों को प्रकट नहीं करना उपगूहन अंग है। यह सम्यक्त्व को निर्मल बनाता है।

स्थिरीकरण का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देखकर धर्म की बुद्धि से हितमित वचन से उन्हें स्वीकार करके उनको शीघ्र ही उन दोषों से हटाना स्थिरीकरण है ॥२६२॥

आचारवृत्ति—सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देखकर धर्म की बुद्धि से सुख के लिए कारणभूत पूर्वापर विवेक सहित ऐसे हित-मित वचनों से उन्हें स्वीकार करके या नमस्कार करके शीघ्र ही उन दोषों से उनको वापस करना—उन दोषों से उन्हें हटा देना, वापस पुनः उन्हीं दर्शन या चारित्र में स्थिर कर देना स्थिरीकरण है। इस स्थिरीकरण को करते हुए मुनि अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध कर लेता है। अर्थात् धर्म से च्युत होते हुए देख उन्हें जैसे-तैसे वापस उसी में दृढ़ करना स्थिरीकरण अंग है।

वात्सल्य का अर्थ प्रतिपादन करते हैं—

चातुर्वर्णे ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकासमूहे संघे चतुर्गतिसंसारनिस्तरणभूते नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु संसरणं भ्रमणं तस्य विनाशहेतौ वात्सल्यं यथा नवप्रसूता गौर्वत्से स्नेहं करोति । एवं वात्सल्यं कुर्वन् दर्शनविशुद्धो भवति । वात्सल्यं च कायिक-वाचिक-मानसिकानुष्ठानैः सर्वप्रयत्नेनोपकरणौषधाहारावकाशशास्त्रादिदानैः संघे कर्तव्यमिति ॥२६३॥

प्रभावनास्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

धम्मकहाकहणेण य बाहिरजोगेहिं चावि [1]णवज्जेहिं ।
धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकंपाए ॥२६४॥

धर्मकथाकथनेन त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिताख्यानेन सिद्धान्ततर्कव्याकरणादिव्याख्यानेन धर्मपापादिस्वरूपकथनेन वा बाह्ययोगैश्चापि अभ्रावकाशातापनवृक्षमूलानशनाद्यनवद्यैर्हिंसादिदोषरहितैर्धर्मः प्रभावयि-

---

आचारवृत्ति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जो संसरण है, भ्रमण है उसी का नाम संसार है। ऐसे संसार के नाश हेतु ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के समूहरूप चतुर्विध संघ में वात्सल्य करना चाहिए। जैसे नवीन प्रसूता गौ अपने बछड़े में स्नेह करती है उसी तरह वात्सल्य को करते हुए मुनि दर्शनशुद्धि सहित होते हैं। अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक अनुष्ठानों के द्वारा सम्पूर्ण प्रयत्न से संघ में उपकरण, औषधि, आहार, आवास—स्थान और शास्त्र आदि का दान करके वात्सल्य करना चाहिए।

भावार्थ—जैसे गाय का अपने बछड़े पर सहज प्रेम होता है वैसे ही चतुर्विध संघ के प्रति अकृत्रिम प्रेम होना वात्सल्य है। यह धर्मात्माओं का धर्मात्माओं के प्रति होता है। ऐसे वात्सल्य अंगधारी मुनि अपने सम्यक्त्व को निर्दोष करते हैं।

प्रभावना का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—धर्म कथाओं के कहने से, निर्दोष बाह्य योगों से और जीवों में दया की अनुकम्पा से धर्म की प्रभावना करना चाहिए ॥२६४॥

आचारवृत्ति—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव और नव प्रतिवासुदेव ये त्रेसठ शलाकापुरुष हैं। इनके चरित्र का आख्यान—वर्णन करना, सिद्धान्त, तर्क, व्याकरण आदि का व्याख्यान करना, अथवा धर्म और पाप आदि के स्वरूप का कथन करना यह धर्मकथा है। शीत ऋतु में खुले मैदान में ध्यान करना अभ्रावकाश है। ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटी पर ध्यान करना आतापन है। वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान करना वृक्षमूल है।

जीव दया की अनुकम्पा से युक्त होकर धर्म कथाओं के कहने से, इन बाह्य योगों से, निर्दोष—हिंसा आदि दोषरहित अनशन—उपवास आदि तपश्चरणों से धर्म की प्रभावना करना चाहिए अर्थात् जिनमार्ग का उद्योतन करना चाहिए। अथवा जीवदया रूप अनुकम्पा से भी धर्म की प्रभावना करना चाहिए। तथा 'अपि' शब्द से सूचित होता है कि परवादियों के

---

१ क णिरवज्जेहिं।

तपसो मार्गस्योद्योतः कर्तव्यो जीवदयानुकम्पापूर्वकेन, अथवा जीवदयानुकम्पया च धर्मः प्रभावयितव्यः शब्दादि-शब्दसूचितैः परवादिजयाष्टांगनिमित्तदानपूजादिभिश्च धर्मः प्रभावयितव्य इति ॥२६४॥

अधिगमस्वरूपं प्रतिपाद्य नैसर्गिकसम्यक्त्वस्वरूपप्रतिपादनायाह—

जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थित्ति भावदो गहणं।
सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तं ॥२६५॥*

यत्तत्त्वं जिनैरुपदिष्टं प्रतिपादितं तदेव तथ्यं सत्यं खलु स्फुटमित्येवं भावतः परमार्थेन ग्रहणं यत्सम्यग्दर्शनभावः आज्ञासम्यक्त्वमिति यावत्। तद्विपरीतं मिथ्यात्वमसत्यरूपेण जिनोपदिष्टस्य तत्त्वस्य ग्रहणं मिथ्यात्वं भवतीति ॥२६५॥

दर्शनाचारसमर्पणाय ज्ञानाचारसूचनायोत्तरगाथा—

शास्त्रार्थ करके उन पर जय से अष्टांग निमित्त के द्वारा तथा दान, पूजा आदि के द्वारा भी धर्म की प्रभावना करना चाहिए।

भावार्थ—धर्मोपदेश के द्वारा घोर-घोर तपश्चरण और ध्यान आदि के द्वारा, जीवों की रक्षा के द्वारा तथा परवादियों से विजय द्वारा, अष्टांग निमित्त के द्वारा; आहार, औषधि, अभय और ज्ञान दान द्वारा तथा महापूजा महोत्सव आदि के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना की जाती है।

इस प्रकार से अधिगम सम्यक्त्व का स्वरूप प्रतिपादित करके अब नैसर्गिक सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—जो जिनेन्द्र देव ने कहा है वही वास्तविक है इस प्रकार से जो भाव से ग्रहण करना है सो सम्यग्दर्शन है और उससे विपरीत मिथ्यात्व है ॥२६५॥

आचारवृत्ति—जिन तत्त्वों का जिनेन्द्र देव ने उपदेश किया है स्पष्ट रूप से वे ही सत्य हैं इस प्रकार जो परमार्थ से ग्रहण करना है वह आज्ञा सम्यक्त्व है और उससे विपरीत अर्थात् जिनोपदिष्ट तत्त्वों को असत्यरूप से ग्रहण करना मिथ्यात्व है, ऐसा समझना।

भावार्थ—इस सम्यक्त्व में आठ प्रकार के शंकादि दोषों को न लगाकर निर्दोष रूप से आठ अंग पूर्वक जो सम्यग्दर्शन का पालन करना है वह दर्शनाचार कहलाता है।

अब दर्शनाचार को पूर्ण करने हेतु और ज्ञानाचार को कहने की सूचना हेतु अगली गाथा कहते हैं—

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में इस गाथा के स्थान पर [illegible]

दंसणचरणो एसो णाणाचारं च वोच्छमट्ठविहं ॥
अट्ठविहकम्ममुक्को जेण य जीवो लहइ सिद्धिं ॥२६६॥

दर्शनाचार एष मया वर्णितः समासेनेतः ऊर्ध्वं ज्ञानाचारं वक्ष्ये कथयिष्याम्यष्टविधं येन ज्ञानाचारेणाष्टविधकर्ममुक्तो जीवो लभते सिद्धिं, ज्ञानभावनया कर्मक्षयपूर्विका सिद्धिरिति भावार्थः ॥२६६॥

किं ज्ञानं यस्याचारः कथ्यते इति चेदित्याह—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥२६७॥

येन तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं विबुध्यते परिच्छिद्यते येन च चित्तं मनोव्यापारो निरुद्ध्यते आत्मवशं क्रियते येन चात्मा जीवो विशुद्धयते वीतरागः क्रियते परिच्छिद्यते तज्ज्ञानं जिनशासने प्रमाणं मोक्षप्रापणाभ्युपायं संशयविपर्ययानध्यवसायाकिञ्चित्करविपरीतं प्रत्यक्षं परोक्षं च । तत्र प्रत्यक्षं द्विप्रकारं मुख्यममुख्यं च, मुख्यं द्विविधं देशमुख्यं परमार्थमुख्यं, देशमुख्यमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च, परमार्थमुख्यं केवलज्ञानं, सर्वद्रव्यपर्यायपरिच्छेदात्मकं । अमुख्यं प्रत्यक्षेन्द्रियविषयसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसविकल्पकमीषत्प्रत्यक्षभूतं । परोक्षं श्रुतानुमानार्थापत्तितर्कोपमानादिभेदेनानेकप्रकारं, श्रुतं मतिपूर्वकं इन्द्रियमनोविषयादन्यार्थविज्ञानं यथाग्निशब्दात् स्फोटं-

---

गाथार्थ—यह दर्शनाचार हुआ । अब आठ प्रकार का ज्ञानाचार कहेंगे जिससे जीव आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥२६६॥

आचारवृत्ति—मैंने यह दर्शनाचार का वर्णन किया है । अब इसके बाद संक्षेप में आठ प्रकार का ज्ञानाचार कहूँगा जिसके माहात्म्य से यह जीव आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर सिद्धिपद को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् ज्ञान की भावना से कर्मक्षय पूर्वक सिद्धि होती है ऐसा समझना ।

वह ज्ञान क्या है कि जिसका आचार आप कहेंगे ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिन शासन में उसका नाम ज्ञान है ॥२६७॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिसके द्वारा मन का व्यापार रोका जाता है अर्थात् मन अपने वश में किया जाता है और जिसके द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाती है, जीव वीतराग हो जाता है, वह ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है, अर्थात् वही ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराने के लिए उपायभूत है । वह ज्ञान संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अकिंचित्कर से रहित है । उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं । उसमें मुख्य और अमुख्य की अपेक्षा प्रत्यक्ष के भेद हैं । मुख्य प्रत्यक्ष भी देश मुख्य और परमार्थ मुख्य से दो भेदरूप है । देश मुख्य के अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दो भेद हैं । केवलज्ञान परमार्थ मुख्य है । यह सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जाननेवाला है । इन्द्रिय और विषयों के सन्निपात के अनन्तर उत्पन्न हुआ जो सविकल्पक ज्ञान है वह अमुख्य प्रत्यक्ष है, यह ईषत् प्रत्यक्षभूत है ।

परोक्ष प्रमाण भी आगम, अनुमान, अर्थापत्ति, तर्क, उपमान आदि के भेद से अनेक प्रकार का है । श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है । वह इन्द्रिय और मन के विषय से भिन्न अन्य अर्थ के विज्ञान रूप है, जैसे अग्नि शब्द से स्फोट का विज्ञान होता है ।

विज्ञानं। अंगपूर्वं वस्तुप्राभृतकादि सर्वं श्रुतज्ञानं। अनुमानं त्रिरूपं त्रिविधलिंगादुत्पन्नं साध्याविनाभाविलिंगादुत्पन्नं वा एतच्छ्रुतज्ञानेऽन्तर्भवति। एकमर्थं ज्ञात्वा दृष्ट्वाविनाभावेनान्यस्यार्थस्य परिच्छित्तिरर्थापत्तिर्यथा पृथुपीनांगो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते अर्थादापन्नं रात्रौ भुंक्ते इति। प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं यथा गौस्तथा गवय इति। साध्य-साधनसम्बन्धग्राहकस्तर्कः सर्वमेतत्परोक्षं ज्ञानम् ॥२६७॥

अंग और पूर्वरूप तथा वस्तु प्राभृतक आदि सभी ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। अनुमान तीन रूप है। तीन प्रकार के लिंग से उत्पन्न अथवा साध्य के साथ अविनाभावी लिंग से उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमान ज्ञान है। यह श्रुतज्ञान में अन्तर्भूत हो जाता है।

एक अर्थ को हुआ देखकर उसके अविनाभाव से अन्य अर्थ का ज्ञान होना अर्थापत्ति है; जैसे 'हृष्ट-पुष्ट अंगवाला देवदत्त दिन में नहीं खाता है' ऐसा कहने पर अर्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह रात्रि में खाता है यह अर्थापत्ति है। साधर्म्य अर्थात् सदृशता की प्रसिद्धि से साध्य-साधन का ज्ञान होना उपमान है, जैसे जिसप्रकार की गौ है वैसे ही गवय (रोझ नाम का पशु) है। साध्य-साधन के सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला तर्कज्ञान है। ये सभी परोक्ष हैं।

विशेष—न्यायग्रन्थों में भी स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चायक ज्ञान प्रमाण कहा गया है। परीक्षामुख में आचार्य ने इस प्रमाण के दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो भेद किए हैं—सांव्यवहारिक और मुख्य अर्थात् पारमार्थिक। इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान सांव्यवहारिक है। उसे ही यहाँ अमुख्य प्रत्यक्ष कहा है। तथा मुख्य प्रत्यक्ष के भी देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद हैं। परोक्ष-प्रमाण के पाँच भेद किये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

यहाँ पर जो अर्थापत्ति और उपमान को परोक्ष में लिया है। तथा, और भी अनेक भेद होते हैं, ऐसा कहा है। सो ये सभी इन्हीं पाँचों में ही सम्मिलित हो जाते हैं। यथा—

श्री अकलंक देव कहते है, कि अनुमान, उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये सभी प्रमाण है। इनमें से उपमान आदि प्रमाण अनुमान में अन्तर्भूत हैं। एवं अनुमान प्रमाण और ये भी स्वप्रतिपत्ति काल में अनक्षर श्रुत में अन्तर्भूत हैं और परप्रतिपत्ति काल में अक्षरश्रुत में अन्तर्भूत हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि परोक्ष प्रमाण के अनेक भेद हैं।

प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान को तीनरूप माना है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। इन्हें क्रम से केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी भी कहते हैं। (तत्त्वार्थवार्तिक)

इन तीन प्रकार के लिंग से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमान है। अथवा साध्य के साथ अविनाभावी रहने वाला ऐसा अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से होनेवाला साध्य का ज्ञान अनुमान है। ये सभी परोक्षज्ञान हैं। विशेष बात यह है कि यहाँ पर टीकाकार ने न्यायग्रन्थों की अपेक्षा से ही मतिज्ञान को देशप्रत्यक्ष कहा है परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थों में मति, श्रुत दोनों को परोक्ष ही कहा है। (तत्त्वार्थवार्तिक अ० स०)

सम्यक्त्वसहचरं ज्ञानस्वरूपं व्याख्याय चारित्रसहचरस्य ज्ञानस्य प्रतिपादयन्नाह—

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥२६८॥

येन रागात् स्नेहात् कामक्रोधादिरूपाद्विरज्यते पराङ्मुखो भवति जीवः। येन च श्रेयसि रक्तो रक्तो भवति। येन मैत्रीं द्वेषाभावं प्रभावयेत् तज्ज्ञानं जिनशासने। किमुक्तं भवति—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवताभिप्रायोऽनागमे आगमबुद्धिरचारित्रे चारित्रबुद्धिरनेकान्ते एकान्तबुद्धिरित्यज्ञानम् ॥२६८॥

ज्ञानाचारस्य कति भेदा इति पृष्टेऽत आह—

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥२६९॥

काले—स्वाध्यायवेलायां पठनपरिवर्तनव्याख्यानादिकं क्रियते सम्यक् शास्त्रस्य यत्स कालोऽपि ज्ञानाचार इत्युच्यते, साहचर्यात्कारणे कार्योपचाराद्वा। **विणए**—कायिकवाचिकमानसशुद्धपरिणामैः स्थितस्य तेन वा योऽयं श्रुतस्य पाठो व्याख्यानं परिवर्तनं यत्स विनयाचारः। **उवहाणे**—उपधानं अवग्रहविशेषेण

सम्यक्त्व के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहकर अब चारित्र के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिनशासन में वह ज्ञान कहा गया है ॥२६८॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा जीव राग—स्नेह से और काम-क्रोध आदि से विरक्त होता है—पराङ्मुख होता है, और जिसके द्वारा मोक्ष में अनुरक्त होता है, जिसके द्वारा मैत्री भावन अर्थात् द्वेष का अभाव करता है जिनशासन में वही ज्ञान है। तात्पर्य क्या हुआ? अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि, अदेव में देवता का अभिप्राय, जो आगम नहीं है उनमें आगम की बुद्धि, अचारित्र में चारित्र की बुद्धि और अनेकान्त में एकान्त की बुद्धि यह सब अज्ञान है।

ज्ञानाचार के कितने भेद हैं? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—काल, विनय, उपधान, बहुमान और अनिह्नव सम्बन्धी तथा व्यंजन, अर्थ और उभयरूप ऐसा ज्ञानाचार आठ प्रकार का है ॥२६९॥

आचारवृत्ति—काल में अर्थात् स्वाध्याय की वेला में सम्यक् शास्त्र का पढ़ना, पढ़े हुए को फेरना, और व्याख्यान आदि कार्य किये जाते हैं वह काल भी ज्ञानाचार है। साहचर्य से अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से काल को भी ज्ञानाचार कह दिया है। विनय—अर्थात् काय वचन और मन सम्बन्धी शुद्ध भावों से स्थित हुए मुनि के विनयाचार होता है अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक, शुद्ध परिणामों से सहित मुनि के द्वारा जो शास्त्र का पढ़ना, परिवर्तन करना और व्याख्यान करना है वह विनयाचार है। उपधान में अर्थात् उपधान-अवग्रह नियम विशेष करके पठन आदि करना उपधानाचार है। यहाँ भी साहचर्य से यह है

पठनादिकं साहचर्यात् उपधानाचारः (रः)। बहुमानं पूजासत्कारादिभिः पाठादिकं बहुमानाचारः। अनिह्नवं यस्मात्पठितं श्रुतं स एव प्रकाशनीयः यद्वा पठित्वा श्रुत्वा ज्ञानी सञ्जातस्तदेव श्रुतं गुरुं च प्रकाशयेदिति अनिह्नवाचारः। व्यञ्जनं—वर्णपदवाक्यशुद्धिः, व्याकरणोपदेशेन वा तथा पाठादिर्व्यञ्जनाचारः। अर्थ— अर्थोऽभिधेयोऽनेकान्तात्मकस्तेन सह पाठादि अर्थाचारः। तदुभयशुद्धया पाठादि तदुभयाचारः। सर्वत्र साहचर्यात् कार्ये कारणाद्युपचाराद्वाऽभेदः। कालादिशुद्धिभेदेन वा ज्ञानाचारोऽष्टविध एव, अधिकरणभेदेन वाचारस्य भेदः। प्रथमा विभक्तिः सप्तमी वा द्रष्टव्या ॥२६९॥

कालाचारप्रपंचप्रतिपादनार्थमाह—

पादोसियवेरत्तियगोसग्गियकालमेव गेण्हित्ता।
उभये कालह्मि पुणो सज्झाओ होदि कादव्वो ॥२७०॥

प्रकृष्टा दोषा रात्रिर्यस्मिन् काले स प्रदोषः कालः रात्रेः पूर्वभाग इत्यर्थः। तस्यासन्नो दिवसस्य पश्चिमभागोऽपि प्रदोष इत्युच्यते। ततः प्रदोषग्रहणेन द्वौ कालौ गृह्येते। प्रदोष एव प्रादोषिकः। विगता रात्रिर्यस्मिन् काले स विरात्री रात्रेः पश्चिमभागः, त्रिघटिकासहितार्धरात्रादूर्ध्वकालः, विरात्रिरेव वैरात्रिकः।

उपधान-आचार कह दिया है। बहुमान— पूजा सत्कार आदि के द्वारा पठन आदि करना बहुमान आचार है। उसी प्रकार से अनिह्नव अर्थात् जिससे शास्त्र पढ़ा है उसका ही नाम प्रकाशित करना चाहिए। अथवा जिस शास्त्र को पढ़कर और सुनकर ज्ञानी हुए हैं उसी शास्त्र का नाम बताना चाहिए यह अनिह्नवाचार है। व्यंजन—वर्ण, पद और वाक्य की शुद्धि अथवा व्याकरण के उपदेश से वैसा ही शुद्ध पाठ आदि करना व्यंजनाचार है। अर्थ- अभिधेय अर्थात् वाच्य को अर्थ कहते हैं। वह अर्थ अनेकान्तात्मक है उसके साथ पठन आदि करना अर्थाचार है। शब्द और अर्थ की शुद्धि से पठन आदि करना उभयाचार है। सर्वत्र साहचर्य से अथवा कार्य में कारण आदि के उपचार से अभेद होने से इन्हीं काल आदि को ही आचार शब्द से कहा है।

ऐसा समझना कि कालादि की शुद्धि के भेद से ज्ञानाचार आठ प्रकार का ही है। अथवा अधिकरण के भेद से आचार में भेद हो गये हैं। काले, विनये आदि में प्रथमा या सप्तमी दोनों विभक्तियों का अर्थ किया जा सकता है। इस तरह कालाचार, विनयाचार आदि ज्ञानाचार के भेद हैं।

अब कालाचार को विस्तार से प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—प्रादोषिक, वैरात्रिक और गोसर्गिक काल को ही लेकर दोनों कालों में पुनः स्वाध्याय करना होता है ॥२७०॥

गवां पशूनां सर्गो निर्गमो यस्मिन् काले स कालो गोसर्गः। गोसर्ग एव गौसर्गिको द्विघटिकोदयादूर्ध्वंकालो द्विघटिकासहितः मध्याह्नात्पूर्वः। एतत्कालचतुष्टयं गृहीत्वोभयकाले दिवसस्य पूर्वाण्हकालेऽपराह्णकाले च तथा रात्रेः पूर्वकालेऽपरकाले च पुनः अभीक्ष्णं स्वाध्यायो भवति कर्तव्यः पठनपरिवर्तनव्याख्यानादीनि कर्तव्यानि भवन्तीति ॥२७०॥

स्वाध्यायस्य ग्रहणकालं परिसमाप्तिकालं च प्रतिपादयन्नाह—

सज्झाये पट्ठवणे जंघच्छायं वियाण सत्तपयं।
पुव्वण्हे अवरण्हे तावदियं चेव णिट्ठवणे ॥२७१॥

स्वाध्यायस्य परमागमव्याख्यानादिकस्य प्रस्थापने प्रारम्भे, जंघयोश्छाया जंघच्छाया तां जंघच्छायां विजानीहि सप्तपदां सप्तवितस्तिमात्रां पूर्वाण्हेऽपराण्हे च तावन्मात्रां स्वाध्यायसमाप्तिकाले च्छायां विजानीहि। सवितुरुदये यदा जंघाच्छाया सप्तवितस्तिमात्रा भवति तदा स्वाध्यायो ग्राह्यः। अपराण्हे च सवितुर-

---

रात्रि के पश्चिम भाग को विरात्रि कहते हैं अर्थात् दो घड़ी सहित अर्धरात्रि के ऊपर का काल विरात्रि है। विरात्रि ही वैरात्रिक है। गायों का सर्ग—निकलना जिसकाल में हो वह गोसर्ग काल है। गोसर्ग ही गौसर्गिक है। दो घड़ी सहित उदय काल से ऊपर का यह काल दो घड़ी सहित मध्याह्न से पूर्व तक होता है।

इन चारों कालों को लेकर के दोनों कालों में अर्थात् दिवस के पूर्वाह्न काल और अपराह्न काल में तथा रात्रि के पूर्वकाल और अपरकाल में अभीक्ष्ण—निरन्तर स्वाध्याय करना होता है अर्थात् पठन, परिवर्तन, व्याख्यान आदि करने होते हैं।

भावार्थ—चौबीस मिनट की एक घड़ी होती है अतः दो घड़ी से अड़तालीस मिनट विवक्षित हैं। सूर्योदय के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर मध्याह्न काल के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वाह्न स्वाध्याय का काल है। इसी को 'गोसर्गिक' कहा है। मध्याह्न के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट पहले तक अपराह्न स्वाध्याय का काल है इसे 'प्रादोषिक' कहा है। सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वरात्रि के स्वाध्याय का काल है इसे भी 'प्रादोषिक' कहा है। पुनः अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्योदय के अड़तालीस मिनट पहले तक अपररात्रि के स्वाध्याय का काल है। इसे 'वैरात्रिक' कहा है। अर्थात् चारों संधिकालों में छयानवे मिनट (लगभग डेढ़ घण्टे) तक का काल अस्वाध्याय काल माना गया है।

अब स्वाध्याय के ग्रहण काल और परिसमाप्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्वाह्न में, स्वाध्याय-प्रारम्भ काल में जंघाछाया सात पद प्रमाण मानो और अपराह्न में स्वाध्याय समाप्ति में उतनी ही मानो ॥२७१॥

आचारवृत्ति—परमागम के व्याख्यान आदि करने रूप स्वाध्याय के प्रारम्भ में पूर्वाह्न काल में जंघा छाया सात पाद [illegible] प्रमाण है, अपराह्न में अपराह्निक स्वाध्याय के निष्ठापन में भी सात वितस्ति मात्र है। सूर्य के उदय होने पर जब जंघा की छाया सात-

स्तमनकाले यदा जंघाच्छाया सप्तवितस्तिमात्रा तिष्ठति तदा स्वाध्याय उपसंहर्तव्य इति ॥२७१॥

पूर्वाह्णे स्वाध्यायस्य परिसमाप्तिः कस्यां वेलायां क्रियते इति पृष्टेऽत आह—

आसाढे दुपदा छाया पुस्समासे चदुप्पदा।
वड्ढदे हीयदे चावि मासे मासे दुअंगुला ॥२७२॥

जंघाच्छाया इत्यनुवर्तते। मिथुनराशौ यदा तिष्ठत्यादित्यः स कालः आषाढमास इत्युच्यते। मासशब्दोऽत्र समुदाये वर्तमानोऽप्यत्र मासावसाने दिवसे वर्तमानो गृह्यते। समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त इति न्यायात्। एवं पुष्यमासेऽपि निरूपयितव्यः। आषाढमासे यदा द्विपदा जंघाच्छाया पूर्वाह्णे तदा स्वाध्याय उपसंहर्तव्यः। अत्र षडंगुलः पादः परिगृह्यते। तथा पुष्यमासे पौषमासे यदा चतुष्पदा जंघाच्छाया भवति तदा स्वाध्यायो निष्ठापयितव्यः। आषाढमासान्तदिवसादारभ्य मासे मासे द्वे द्वे अंगुले तावद्वृद्धिमागच्छतो यावत्पुष्यमासे चतुष्पदाच्छाया सञ्जाता। पुनरपि मकरादारभ्य द्वे द्वे अंगुले मासे मासे हानिमुपगते यावदाषाढे मासे द्विपदाच्छाया संजाता। मकरसंक्रान्तेः प्रथमदिवसमारभ्य यावत्कर्कसंक्रान्तेरन्तिमं

वितस्ति मात्र होती है तब स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए, और अपराह्न में सूर्यास्त के काल में जब जंघा छाया सात वितस्ति मात्र रहती है तब स्वाध्याय को समाप्त कर देना चाहिए।

पूर्वाह्न में स्वाध्याय की समाप्ति किस बेला में की जाती है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आषाढ़ में दो पाद छाया और पौष मास में चार पाद छाया रहने पर स्वाध्याय समाप्त करे। मास-मास में यह दो-दो अंगुल बढ़ती और घटती है ॥२७२॥

आचारवृत्ति—जंघाच्छाया की अनुवृत्ति चली आ रही है। जब सूर्य मिथुनराशि में रहता है वह काल आषाढ़ मास कहलाता है। तीस रात्रि का मास होता है। इस तरह समुदाय में रहते हुए भी यहाँ पर मास के अन्तिम दिन में वर्तमान अर्थ लेना, क्योंकि समुदायों में रहनेवाले शब्द अवयवों में भी रहते हैं ऐसा न्याय है। ऐसे ही पुष्य मास में निरूपण करना चाहिए। अर्थात् यद्यपि मास शब्द का प्रयोग तीस दिन के लिए होता है फिर भी यहाँ मास के अंतिम दिन को मास कहा है; क्योंकि समुदायरूप अर्थों को कहनेवाले शब्दों का प्रयोग अवयव अर्थ में भी होता है। अतः यहाँ आषाढ़ और पौषमास शब्द से मास का अंतिम दिन लिया गया है।

तावद्दिनं प्रति दिनं प्रति अंगुलस्य पंचदशभागो वृद्धिं गच्छति ततो हानिः। अत्र त्रैराशिकक्रमेण हानिवृद्धी साधितव्ये। अपराह्णस्वाध्यायप्रारम्भकालस्य रात्रौ स्वाध्यायकालस्य च कालपरिमाणं न ज्ञातं तज्ज्ञात्वा वक्तव्यम्। मध्याह्नादुपरिघटिकाद्वये स्वाध्यायो ग्राह्यः, तथा रात्रौ प्रथमघटिकाद्वये गतेऽपि संध्यासु च घटिकाद्वये वर्जयित्वा स्वाध्यायो ग्राह्यो ह्यानव्यश्चेति ॥२७२॥

दिग्विभागशुद्ध्यर्थमाह—

णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोहीए।
पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए ॥२७३॥

दिशां विभागो दिग्विभागस्तस्य शुद्धिरुल्कापातादिरहितत्वं दिग्विभागशुद्धेर्निमित्तं कायोत्सर्गाः

पुनः पौष सुदी पूर्णिमा के बाद से लेकर महीने-महीने में छाया दो-दो अंगुल तब तक घटती जाती है जब तक कि आषाढ़ मास में वह दो पादप्रमाण नहीं हो जावे।

कर्कट संक्रांति के प्रथम दिन से प्रारम्भ करके धनुःसंक्रांति के अन्तिम दिनपर्यन्त तक दिन प्रति-दिन अंगुल के पन्द्रहवें भाग प्रमाण छाया बढ़ती जाती है। पुनः आगे इतनी-इतनी ही घटती जाती है। यहाँ पर त्रैराशिक के क्रम से हानि और वृद्धि को निकाल लेना चाहिए।

अपराह्न काल के स्वाध्याय का प्रारम्भकाल और रात्रि में स्वाध्याय के काल का प्रमाण नहीं मालूम हुआ उसको जानकर कहना चाहिए। अर्थात् मध्याह्न काल के ऊपर दो घड़ी हो जाने पर अपराह्न स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए, तथा रात्रि में सूर्यास्त के बाद दो घड़ी बीत जाने पर पूर्वरात्रिक स्वाध्याय करना चाहिए। अर्थात् सभी संध्याओं के आदि और अन्त में दो-दो घड़ी छोड़कर स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करना चाहिए।

भावार्थ—आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के बाद मध्याह्न होने के कुछ पहले जब जंघाछाया दो पाद (१२ अंगुल) प्रमाण रहती है तब पूर्वाह्न स्वाध्याय निष्ठापन का काल है। पुनः श्रावण के अन्तिम दिन १४ अंगुल, भाद्र पद के अन्तिम दिन १६ अंगुल, आश्विन के अन्तिम दिन १८ अंगुल, कार्तिक की पूर्णिमा को २० अंगुल, मगसिर की पूर्णिमा को २२ अंगुल और पौष की पूर्णिमा को चार पाद अर्थात् २४ अंगुल हो जाती है। तब स्वाध्याय निष्ठापन का काल होता है। आगे पुनः दो-दो अंगुल घटाइए—माघ के अन्तिम दिन २२ अंगुल, फाल्गुन की पूर्णिमा को २० अंगुल, चैत्र की पूर्णिमा को १८ अंगुल, वैशाख की पूर्णिमा को १६ अंगुल, ज्येष्ठ की पूर्णिमा के दिन १४ अंगुल, आषाढ़ की पूर्णिमा के दिन दो पाद अर्थात् १२ अंगुल जंघाछाया रहे तब पूर्वाह्न स्वाध्याय निष्ठापन का काल होता है।

दिग्विभाग की शुद्धि के लिए कहते हैं—

स्थाय प्रतिदिशं पूर्वाह्णकाले स्वाध्यायनिमित्तं नव नव गाथापरिमाणं जाप्यं । तत्र यदि दिग्दाहादीनि भवन्ति तदा कालशुद्धिर्न भवतीति वाचनाभंगो भवति । एषा कालशुद्धिः पश्चिमरात्रिस्वाध्याये कर्तव्या । एवमपराह्णे स्वाध्यायनिमित्तं कायोत्सर्गेणावस्थाय प्रतिदिशं सप्तसप्तगाथापरिमाणं जप्तव्यम् । तथाऽपराह्णस्वाध्यायानन्तरं प्रदोषवाचनानिमित्तं पंच पंच गाथाप्रमाणं प्रतिदिशं जप्यमिति । सर्वत्र दिग्दाहाद्यभावे कालशुद्धिरिति ॥२७३॥°

की शुद्धि के निमित्त प्रत्येक दिशा में कायोत्सर्ग से स्थित होकर नव-नव गाथा परिमाण जाप्य करना चाहिए। इसमें यदि दिग्दाह आदि होते हैं तब कालशुद्धि नहीं होती है इसलिए वाचनाभंग होती है अर्थात् वाचना नामक स्वाध्याय नहीं किया जाता है। यह कालशुद्धि रात्रि के पश्चिम भाग में स्वाध्याय काल में करना चाहिए। ऐसे ही अपराह्न स्वाध्याय के निमित्त कायोत्सर्ग में स्थित होकर प्रत्येक दिशा में सात-सात गाथा प्रमाण अर्थात् सात-सात बार णमोकार मन्त्र पढ़ना चाहिए। तथा अपराह्न स्वाध्याय के अनन्तर प्रदोषकाल की वाचना निमित्त पाँच-पाँच बार णमोकार मन्त्र प्रत्येक दिशा में बोलना चाहिए। सर्वत्र दिग्दाह आदि के अभाव में कालशुद्धि होती है।

विशेष—सिद्धान्तग्रन्थ में भी कालशुद्धि के करने का विधान है। यथा- पश्चिम रात्रि में स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकल कर प्रासुक भूमिप्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के उच्चारण काल से पूर्वदिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणारूप से पलट कर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा को शुद्ध कर लेने पर छत्तीस गाथाओं के उच्चारण काल से अथवा एक सौ आठ उच्छ्वास काल से (एक बार णमोकार मन्त्र में तीन उच्छ्वास होने से चार दिशा सम्बन्धी नव नव के छत्तीस ९ × ४ = ३६ णमोकार के ३६ × ३ = १०८ एक सौ आठ उच्छ्वासों से) कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्न काल में भी इसी प्रकार कालशुद्धि करनी चाहिए। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि एक एक दिशा में सात-सात गाथाओं के उच्चारण से होती है। यहाँ सब गाथाओं का प्रमाण अट्ठाईस अथवा उच्छ्वासों का प्रमाण चौरासी है। पश्चात् सूर्य के अस्त होने से पहले क्षेत्रशुद्धि करके सूर्यास्त हो जाने पर पूर्व के समान कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस गाथाओं के उच्चारण प्रमाण अर्थात् साठ उच्छ्वास प्रमाण है।

---

१. क °रात्रि स्वाध्यायः कर्तव्यः ।

°फलटन से प्रकाशित प्रति में यह गाथा अधिक है—

आसाढे सत्तपदे आउड्ढपदे य पुस्समासम्मि ।
सत्तंगुलवुड्ढी मासे मासे तदिच्छाहि ॥

अथ के ते दिग्दाहादय इति पृष्टे तानाह—

दिसदाह उक्कपडणं विज्जु चडक्कासणिंदधणुगं च।
दुग्गंधसंज्झदुद्दिणचंदग्गहसूरराहुजुज्झं च ॥२७४॥
कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च।
इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥२७५॥

दिशां दाह उत्पातेन दिशोऽग्निवर्णाः। उल्कायाः पतनं गगनात् तारकाकारेण पुद्गलपिण्डस्य पतनं। विद्युच्चैकचिक्यं, चडत्कारः वज्रं मेघसंघट्टोद्भवं। अशनिः करकनिचयः। इन्द्रधनुः धनुराकारेण

अपररात्रि के समय वाचना नहीं है, क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का उपाय नहीं है। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी समस्त अंगश्रुत के धारक, आकाश स्थित चारणमुनि तथा मेरु व कुलाचलों के मध्य स्थित चारण ऋषियों के अपररात्रिक वाचना भी है, क्योंकि वे क्षेत्र-शुद्धि से रहित हैं।"[1]

अभिप्राय यह हुआ कि पिछली रात्रि के स्वाध्याय में आजकल मुनि और आर्यिकाएँ सूत्रग्रन्थों का वाचना नामक स्वाध्याय न करें। एवं उनसे अतिरिक्त आराधनाग्रन्थ आदि का स्वाध्याय करके सूर्योदय के दो घड़ी (४८ मिनट) पहले स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश में खड़े होकर चारों दिशाओं से तीन-तीन उच्छ्वास पूर्वक नव नव बार णमोकार मन्त्र का जाप्य करके दिशा-शुद्धि करें। पुनः पूर्वाह्ण स्वाध्याय समाप्ति के बाद भी अपराह्ण स्वाध्याय हेतु चारों दिशाओं में सात-सात बार महामन्त्र जपें। तथैव अपराह्ण स्वाध्याय के अनन्तर भी पूर्वरात्रिक स्वाध्याय हेतु पाँच-पाँच महामन्त्र से दिशाशोधन कर लेवें। अपररात्रिक के लिए दिक्शोधन का विधान नहीं है, क्योंकि उस काल में ऋद्धिधारी महामुनि ही वाचना स्वाध्याय करते हैं और उनके लिए दिशा शुद्धि की आवश्यकता नहीं है।

वे दिग्दाह आदि क्या हैं? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—दिशादाह, उल्कापात, विद्युत्पात, वज्र का भयंकर शब्द, इन्द्रधनुष, दुर्गन्ध उठना, संध्या समय, दुर्दिन, चन्द्रग्रहण, सूर्य और राहु का युद्ध, कलह आदि तथा धूमकेतु, भूकम्प और मेघगर्जन तथा इसीप्रकार के और भी दोष हैं जो कि स्वाध्याय में वर्जित हैं ॥२७४-२७५॥

आचारवृत्ति—दिशादाह—उत्पात से दिशाओं का अग्नि वर्ण हो जाना, उल्कापतन—उल्का का गिरना अर्थात् आकाश से तारे के आकार के पुद्गल पिण्ड का गिरना, बिजली चमकना, मेघ के संघट्ट से उत्पन्न हुए वज्र का चटचट शब्द होना या वज्रपात होना, ओला—

तक माप पाद प्रमाण छाया में हानि होती है और पूर्वाह्न में [illegible] तक वृद्धि होते-होते [illegible] प्रमाण छाया होती है।

पंचवर्णपुद्गलनिचयः । दुर्गन्धः पूतिगन्धः । सन्ध्या लोहितपीतवर्णाकारः । दुर्दिनं अम्बुदपटलसंछन्नो दिवसः । चन्द्रयुद्धं, ग्रहयुद्धं, सूर्ययुद्धं राहुयुद्धं च । चन्द्रस्य ग्रहेण भेदः संघट्टो वा, ग्रहाणामन्योन्येन भेदः संघट्टादिर्वा, सूर्यस्य ग्रहेण भेदादिः, राहोश्चन्द्रेण सूर्येण वा संयोगो ग्रहणमिति । चशब्देन निर्घातादयो गृह्यन्त इति ॥२७४॥

कलहः क्रोधाविष्टानां वचनप्रतिवचनैर्जल्पः महोपद्रवरूपः । आदिशब्देन खड्ग-छुरिका-लगुडा-दिभिर्युद्धानि परिगृह्यन्ते । धूमकेतुर्गगने धूमाकाररेखायाः दर्शनं । धरणीकम्पः पर्वतप्रासादादिसहितायाः भूमेश्चलनं । चकारेण शोणितादिवर्षस्य ग्रहणं । अभ्रगर्जनं मेघध्वनिः । चकारेण महावातादिवर्षस्य ग्रहणं । अभ्रगर्जनं मेघध्वनिः । चकारेण महावाताग्निदाहादयः परिगृह्यन्ते । इत्येवमाद्यन्येऽपि बहवः स्वाध्यायकाले वर्जिताः परिहरणीया दोषाः सर्वलोकानामुपद्रवहेतुत्वात् । एते कालशुद्धयां विघ्नकारका दोषाः पठनोपाध्याय-संघराष्ट्रराजादिविघ्नकारिणो यत्नेन त्याज्या इति ॥२७५॥

कालशुद्धिं विधाय द्रव्यक्षेत्रभावशुद्धयर्थमाह—

रुहिरादिपूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं ।
कोधादिसंकिलेसा भावविसोही पढणकाले ॥२७६॥

बर्फ के टुकड़ों का बरसना, इन्द्रधनुष—धनुष के आकार में पाँच वर्ण के पुद्गल समूह का दिखना, दुर्गन्ध आना, लाल-पीले आकार की संध्या का दिखना, जलवृष्टि करते मेघों से दुर्दिन का होना अथवा मेघों से व्याप्त अन्धकारमय दिन का हो जाना । चन्द्रयुद्ध, ग्रहयुद्ध, सूर्ययुद्ध, और राहुयुद्ध का होना । चन्द्र का ग्रह के साथ भेद या संघट्ट होना, ग्रहों का परस्पर में ग्रहों के साथ भेद या संघट्ट आदि होना, सूर्य का ग्रह के साथ भेद आदि का होना । राहु का चन्द्र के साथ अथवा सूर्य के साथ संयोग होना ग्रहण कहलाता है । 'च' शब्द से निर्घात आदि ग्रहण किये जाते हैं ।

कलह—क्रोध के आवेश में हुए जनों का वचन और प्रतिवचनों से, बोलने और उत्तर देने से जो जल्प होता है, जो कि महाउपद्रव रूप है, कलह नाम से प्रसिद्ध है । 'आदि' शब्द से तलवार, छुरी, लाठी आदि से जो युद्ध होता है वह भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए । धूमकेतु—आकाश में धूमाकार रेखा का दिखना । धरणीकम्प—पर्वत, महल आदि सहित पृथ्वी का कम्पायमान होना । 'च' शब्द से रुधिर आदि की वर्षा होना, मेघों का गर्जना । पुनः 'चकार' से आँधी, अग्निदाह आदि होना । इत्यादि प्रकार से और भी बहुत से दोष होते हैं जो कि स्वाध्याय के काल में वर्जित हैं क्योंकि ये सभी लोगों के लिए उपद्रव के कारण हैं । कालशुद्धि के प्रकरण में ये दोष पठन, उपाध्याय, संघ, राष्ट्र और राजा आदि के विनाश को करनेवाले हैं इसलिए इन्हें प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए ।

रुधिरं रक्तं। आदिशब्देनाशुचिशुक्रास्थिव्रणादीनि परिगृह्यन्ते, पूयं—कुथितरुधिरं। मांसं आर्द्रं पंचेन्द्रियावयवः। द्रव्ये आत्मशरीरेऽन्यशरीरे वैतानि वर्जनीयानि। क्षेत्रे स्वाध्यायकरणप्रदेशे चतसृषु दिक्षु हस्तशतचतुष्टयमात्रेण सर्वाणि वर्जनीयानि। यदि शोधयितुं न शक्यन्ते तत्क्षेत्रं द्रव्यं च त्याज्यं तस्मिन् जीवे सति स्वाध्यायो न कर्तव्यः। प्रवक्तृश्रोत्रादिभिरुष्णोदकादीनि ग्राह्याणि, वातप्रचुरत्वाहारादिनं ग्राह्य., अजीर्णादयोऽपि न कर्तव्याः। द्रव्यशुद्धिं क्षेत्रशुद्धिं चेच्छुभिः क्रोधादयोऽपि संक्लेशा वर्जनीयाः। क्रोधमानमाया-

---

आचारवृत्ति—रुधिर आदि शब्द से अपवित्र, शुक्र, हड्डी, और घाव आदि ग्रहण किये जाते हैं। पीव अर्थात् सड़ा खून, मांस—पंचेंद्रिय जीव का अवयव, ये अपने शरीर में हों या अन्य के शरीर में हों अर्थात् अपने या पर के शरीर से यदि ये अपवित्र पदार्थ निकल रहे हों तो द्रव्य शुद्धि न होने से स्वाध्याय वर्जित है। क्षेत्र में—स्वाध्याय करने के प्रदेश में चारों ही दिशाओं में चार सौ हाथ प्रमाण तक अर्थात् प्रत्येक दिशा में सौ-सौ हाथ प्रमाण तक इन सब अपवित्र वस्तुओं का वर्जन करना चाहिए। यदि इनका शोधन करना—दूर करना शक्य नहीं है तो उस क्षेत्र को और द्रव्य को छोड़ देना चाहिए। जीव सहित प्रदेश के होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रवक्ता—प्रवचन करनेवालों या पढ़ानेवालों को तथा श्रोता आदि को उष्ण जल आदि वस्तुएँ आहार में लेनी चाहिए। जिसमें वात प्रचुर मात्रा में हो ऐसे आहार आदि नहीं ग्रहण करना चाहिए। अजीर्ण आदि भी नहीं करना चाहिए अर्थात् गरिष्ठ भोजन करके अजीर्ण आदि दोष उत्पन्न हों ऐसा नहीं करना चाहिए। इस तरह द्रव्यशुद्धि और क्षेत्र शुद्धि को चाहनेवाले मुनियों को क्रोधादि संक्लेश परिणामों का भी त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ, असूया, ईर्ष्या आदि का अभाव होना भावशुद्धि है। पठनकाल में इस भावशुद्धि को करते हुए अत्यर्थ रूप से उपशम आदि भाव रखना चाहिए। इस तरह कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और भावशुद्धि के द्वारा पढ़ा गया शास्त्र कर्मक्षय के लिए होता है अन्यथा—इन शुद्धियों के अभाव में, पढ़ा गया शास्त्र कर्मबन्ध के लिए हो जाता है, ऐसा समझना।

विशेष—सिद्धान्त ग्रन्थ में चार प्रकार की शुद्धि का वर्णन है जो निम्न प्रकार है—

व्याख्यान करनेवालों और सुननेवालों को भी अर्थात् सिद्धान्त ग्रन्थ को पढ़ानेवाले गुरुओं एवं पढ़नेवाले मुनियों को भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करना चाहिए—पढ़ाना चाहिए।[1]

उसमें ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, लेप, अतिसार और पीव का बहना—इत्यादिकों का शरीर में न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है। व्याख्याता से आश्रित प्रदेश से चारों दिशाओं में २८ हजार धनुषप्रमाण क्षेत्र में विष्ठा, मूत्र, हड्डी, ...

लोभासूयेर्ष्यादीनामभावो भावशुद्धिः पठनकाले कर्तव्या अत्यर्थमुपशमादयो भावयितव्याः। कालशुद्ध्यादिभिः शास्त्रं पठितं कर्मक्षयाय भवत्यन्यथा कर्मबन्धायेति ॥२७६॥

नख और चमड़े आदि के अभाव को तथा समीप में पंचेन्द्रिय जीव के शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रुधिर के सम्बन्ध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते हैं।' बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, अकाल-वृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आछन्न दिशाएँ, दिशादाह, धूमिका-पात—कुहरा, संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा, जिन महिमा इत्यादि के अभाव को काल-शुद्धि कहते हैं। तथा पूर्वाह्न आदि वाचना हेतु दिशा की शुद्धि करना भी कालशुद्धि है सो नव, सात और पांच गाथाओं द्वारा पहले कही जा चुकी है।

राग-द्वेष, अहंकार, आर्त-रौद्र ध्यान इनसे रहित पांच महाव्रत, समिति और गुप्ति से सहित दर्शनाचार आदि समन्वित मुनियों के भावशुद्धि होती है।"

इस विषय की उपयोगी गाथाएँ दी गयी हैं यथा—

"यमपटह का शब्द सुनने पर, अंग से रक्तस्राव होने पर, अतिचार के हो जाने पर तथा दातारों के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।' तिल मोदक, चिउड़ा, लाई, पुआ आदि चिक्कण एवं सुगन्धित भोजनों के करने पर तथा दावानल का धुआं होने पर, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। एक योजन के घेरे में (चार कोस में) संन्यास विधि होने पर, तथा महोपवास-विधि, आवश्यक क्रिया एवं केशलोंच के समय अध्ययन नहीं करना चाहिए। आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन का निषेध है। आचार्य का स्वर्गवास एक योजन दूर होने पर तीन दिन तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन निषिद्ध है।

प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र में तिर्यंचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। उतने मात्र में स्थावरकाय के घात होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गंध आने पर अथवा अत्यन्त सड़ी गन्ध के आने पर या अर्थ का ठीक अर्थ समझ में न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्ध न होने पर मोक्ष इच्छुक मुनि को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

मल-विसर्जन भूमि से सौ अरत्नि प्रमाण दूर, मूत्र-विसर्जन के स्थान से पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीर के लेश मात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष और तिर्यंचों के शरीर सम्बन्धी अवयवों के स्थान से उससे आधी मात्र—पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

कालशुद्ध्यां[1] यत्सूत्रं पठ्यते तत्केनोक्तमत आह—

सुत्तं गणहरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकहिदं च ।
सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्वकहिदं च ॥२७७॥

व्यन्तरों द्वारा भेरी ताड़न करने पर, उनकी पूजा का संकट होने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के द्वारा समीप में झाड़ू-बुहारी करने पर; अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र विशुद्धि नहीं होती, जैसा कि सर्वज्ञों ने कहा है।

मुनि क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करे। बाजू, कांख आदि अपने अंग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके, पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दे। साधुओं ने बारह तपों में भी स्वाध्याय को श्रेष्ठ तप कहा है।

पर्व दिनों में—नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसों—आष्टाह्निक दिनों में और सूर्य चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान् व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए।

अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है। पौर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है। यदि साधु जन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। मध्याह्न काल में किया गया अध्ययन जिन रूप को नष्ट करता है। दोनों संध्याकालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त हो जाते हैं।

अतिशय दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

...सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से जो मुनि द्रव्य-क्षेत्र आदि की शुद्धि न करके अध्ययन करते हैं वे असमाधि अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना, अस्वाध्याय—शास्त्र आदिकों का अलाभ, कलह, व्याधि या वियोग को प्राप्त होते हैं।"

काल शुद्धि में जो भी सूत्र पढ़े जाते हैं वे वे सूत्र किनके द्वारा कथित होते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—गणधर देव द्वारा कथित, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली के द्वारा कथित और अभिन्न दशपूर्वी ऋषियों द्वारा कथित को सूत्र कहते हैं ॥२७७॥

---

१ क °शुद्धा।

सूत्रं अंगपूर्ववस्तुप्राभृतादि गणधरदेवैः कथितं सर्वज्ञमुखकमलादर्थं गृहीत्वा ग्रन्थरूपेण रचितं गौतमादिभिः। तथैवैकं कारणं प्रत्याश्रित्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः। धर्मश्रवणाद्युपदेशमन्तरेण चारित्रावरणादि-क्षयोपशमात्, धूमोल्कापातादिदर्शनात् संसारस्वरूपं विदित्वा गृहीतसंयमाः प्रत्येकबुद्धास्तैः कथितं। श्रुत-केवलिना कथितं रचितं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वधरेणोपदिष्टं। अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दशपूर्वाणि उत्पाद-पूर्वादीनि येषां तेऽभिन्नदशपूर्वास्तैः कथितं प्रतिपादितमभिन्नदशपूर्वकथितं च सूत्रमिति सम्बन्धः ॥२७७॥

तत्सूत्रं किम्—

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ॥२७८॥

तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकले हुए अर्थ को ग्रहण कर गौतम देव आदि गणधर देवों द्वारा ग्रन्थ रूप से रचित जो अंग, पूर्व, वस्तु और प्राभृतक आदि हैं वे सूत्र कहलाते हैं। जो किसी एक कारण को निमित्त करके प्रबुद्ध हुए हैं वे प्रत्येकबुद्ध हैं अर्थात् जो धर्म-श्रवण आदि उपदेश के बिना ही चारित्र के आवरण करनेवाले ऐसे चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से बोध को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने ग्रहण—सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण या उल्कापात आदि देखने से संसार के स्वरूप को जानकर संयम ग्रहण किया है वे प्रत्येकबुद्ध हैं। अर्थात् प्रत्येकबुद्धि नाम की एक प्रकार की ऋद्धि से सहित जो महर्षि हैं उनके द्वारा कथित शास्त्र सूत्रसंज्ञक है।

उसी प्रकार से द्वादशांग और चौदह पूर्व ऐसे सम्पूर्ण श्रुत के धारक जो श्रुतकेवली हैं उनके द्वारा कथित—उपदिष्ट—रचितशास्त्र भी सूत्र संज्ञक है। जो ग्यारह अंग और उत्पाद-पूर्व से लेकर विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व को पढ़कर पुनः रागादि भावों से परिणत नहीं हुए हैं वे अभिन्न दशपूर्वी हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र भी सूत्र है ऐसा समझना।

विशेष—दसवें पूर्व को पढ़ते समय मुनि के पास अनेक विद्यादेवता आती हैं और उन्हें नमस्कार कर उनसे आज्ञा माँगती हैं। तब कोई मुनि चारित्रमोहनीय के उदय से चारित्र से शिथिल होकर उन विद्याओं को स्वीकार करके चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं। इनमें रुद्र तो नियम से दसवें पूर्व को पढ़कर भ्रष्ट होकर दुर्गति के भाजन बनते हैं और कुछ मुनि पुनः चारित्र में स्थिर हो जाते हैं वे भिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं। और कुछ मुनि उन विद्या देवताओं को वापस कर देते हैं, स्वयं चारित्र से चलायमान नहीं होते हैं वे अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं।

इन सूत्रों के लिए क्या विधान है—

च। इतोऽस्मादन्यो ग्रन्थः कल्पते पठितुमस्वाध्यायेऽन्यस्तुनः सूत्रं कालशुद्ध्याद्यभावेऽपि सूत्रं पठितुमिति ॥२७८॥

किं तदन्यत्सूत्रमित्यत आह—

आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ॥२७९॥

आराधना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामुद्योतनोद्यवननिर्वाहणसाधनादीनि तस्या निर्युक्तिराराधनानिर्युक्तिः। मरणविभक्तिः सप्तदशमरणप्रतिपादकग्रन्थरचना। संग्रहः पंचसंग्रहादयः। स्तुतयः देवागमपरमेष्ठ्यादयः। प्रत्याख्यानं त्रिविधचतुर्विधाहारादिपरित्यागप्रतिपादनो ग्रन्थः सावद्यद्रव्यक्षेत्रादिपरिहारप्रतिपादनो वा। आवश्यकाः सामायिकचतुर्विंशतिस्तववन्दनादिस्वरूपप्रतिपादको ग्रन्थः। धर्मकथास्त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितानि द्वादशानुप्रेक्षादयश्च। ईदृग्भूतोऽन्योऽपि ग्रन्थः पठितुमस्वाध्यायेऽपि च युक्तः॥२७९॥

कालशुद्ध्यनन्तरं कस्मिन् ग्रन्थे कस्मिंश्चावसरे काः क्रियाः कर्तव्या इति पृष्टेऽत आह—

करना युक्त नहीं है किन्तु इन सूत्रग्रन्थों से अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को कालशुद्धि आदि के अभाव में भी पढ़ा जा सकता है ऐसा समझना।

इनसे भिन्न अन्य सूत्रग्रन्थ कौन-कौन से हैं? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आराधना के कथन करने वाले ग्रन्थ, मरण को कहने वाले ग्रन्थ, संग्रह ग्रन्थ, स्तुतिग्रन्थ, प्रत्याख्यान, आवश्यक क्रिया और धर्मकथा सम्बन्धी ग्रन्थ तथा और भी ऐसे ही ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं ॥२७९॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन चारों के उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहण, साधन और निस्तरण आदि का वर्णन जिन ग्रन्थों में है वे आराधनानिर्युक्ति ग्रन्थ हैं। सत्रह प्रकार के मरणों के प्रतिपादक ग्रन्थों की जो रचना है वह मरणविभक्ति है। संग्रह ग्रन्थ से 'पंचसंग्रह' आदि लिये जाते हैं। स्तुतिग्रन्थ से देवागमस्तोत्र, पंचपरमेष्ठीस्तोत्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ होते हैं। तीन प्रकार और चार प्रकार आहार के त्याग के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्यान ग्रन्थ हैं। अथवा सावद्य—सदोष द्रव्य, क्षेत्र, आदि के परिहार करने के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्यान ग्रन्थ हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना आदि के स्वरूप को कहनेवाले ग्रन्थ आवश्यक ग्रन्थ हैं। त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र को कहनेवाले ग्रन्थ तथा द्वादश अनुप्रेक्षा आदि ग्रन्थ धर्मकथा ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों को और इन्हीं सदृश अन्य ग्रन्थों को भी अस्वाध्याय काल में पढ़ा जा सकता है।

विशेषार्थ—वर्तमानकाल में षट्खंडागम सूत्र, कषायपाहुड़ सूत्र और महाबंध सूत्र अर्थात् धवला, जयधवला और महाधवला को सूत्रग्रन्थ माना जाता है। चूंकि श्री वीरसेनाचार्य ने धवला, जयधवला टीका में इन्हें सूत्र सदृश मानकर सूत्र-ग्रन्थ कहा है। इनसे अतिरिक्त ग्रन्थों को अस्वाध्याय काल में भी पढ़ा जा सकता है।

कालशुद्धि के अनन्तर किस ग्रन्थ के विषय में और किस अवसर पर क्या क्रियाएँ करना चाहिए? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

उद्देस समुद्देसे अणुणापणए अ होंति पंचेव ।
अंगसुदखंधझेणुवदेसा विय पदविभागी य ॥२८०॥

उद्देशे प्रारम्भकाले, समुद्देशे शास्त्रसमाप्तौ, अनुज्ञापनायां गुरोरनुज्ञाने भवन्ति पंचैव । नात्र केवलं निर्दिष्टास्तथाप्युपदेशादुपवासाः कायोत्सर्गा वा ग्राह्याः । अथवा अनुज्ञायां एतावन्त एव पणगं व्यवहाराः प्रायश्चित्तानि पंचैव भवन्ति ते चोपवासाः कायोत्सर्गा वा । अंगं द्वादशाङ्गानि । श्रुतं चतुर्दशपूर्वाणि । स्कन्धः वस्तूनि । अणुव—प्राभृतं । देशश्च प्राभृतप्राभृतं । पदविभागादेकैकस्य । अंगस्याध्ययनप्रारम्भे समाप्तौ बुद्धिमच्छिष्यानुज्ञायामुपवासाः कायोत्सर्गा वा पंच कर्तव्या भवन्ति । एवं पूर्वाणां, वस्तूनां, प्राभृतानां, प्राभृतप्राभृतानां प्रारम्भे समाप्तौ अनुज्ञायामेकैकस्य पंच पंचोपवासाः कायोत्सर्गा वा कर्तव्या भवन्तीति ॥२८०॥

गाथार्थ—अंग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत, प्राभृतक इनमें से किसी एक-एक के प्रारम्भ में, समाप्ति में और अनुज्ञा के लेने में पांच ही (क्रियाएँ) होती हैं ॥२८०॥

आचारवृत्ति—अंग—बारहअंग, श्रुत—चौदहपूर्व, स्कन्ध—वस्तु, प्राभृत—प्राभृतक, देश—प्राभृतप्राभृत, इन ग्रन्थों में से पदविभागी—एक-एक का अध्ययन प्रारम्भ करने में अर्थात् अंग या बारह अंगों में से किसी एक के उद्देश्य—अध्ययन के प्रारम्भ में, समुद्देश—उस ग्रन्थ के अध्ययन की समाप्ति में और अनुज्ञा—गुरु से उस विषय में आज्ञा लेने पर पांच ही होते हैं। यहाँ पर पांच कहकर किसी क्रिया का निर्देश नहीं किया है कि पांच क्या होते हैं। फिर भी उपदेश के निमित्त से पांच उपवास या पांच कायोत्सर्ग ग्रहण करना चाहिए। अथवा अनुज्ञा में इतने ही पांच पणक—व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त समझना। अर्थात् पांच ही उपवास या पांच कायोत्सर्ग रूप प्रायश्चित्त होते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि बुद्धिमान शिष्य को अंग का अध्ययन प्रारम्भ करते तथा समाप्ति में और गुरु से आज्ञा लेने में ये पांच उपवास अथवा पांच कायोत्सर्ग करना चाहिए। ऐसे ही पूर्वग्रन्थ, वस्तुग्रन्थ, प्राभृतग्रन्थ, प्राभृतप्राभृत-ग्रन्थ—इन ग्रन्थों में किसी एक के भी प्रारम्भ में, समाप्ति में और उस विषय में गुरु की आज्ञा लेने पर पांच-पांच उपवास या पांच-पांच कायोत्सर्ग करना चाहिए।

विशेषार्थ—"अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत, वस्तु और पूर्व ये नव तथा इनमें प्रत्येक के साथ समास पद जोड़ने से हुए नव अर्थात् अक्षरसमास, पद-समास आदि ऐसे ये अठारह भेद द्रव्यश्रुत के होते हैं। इन्हीं में पर्याय और पर्यायसमास के मिलाने से बीस भेद ज्ञानरूप श्रुत के होते हैं। ग्रन्थरूप श्रुत की विवक्षा करने पर आचारांग आदि बारहअंग और उत्पाद, पूर्व आदि चौदह पूर्व होते हैं अर्थात् द्रव्यश्रुत और भावश्रुत की अपेक्षा दो भेद किये गये हैं। उनमें से शब्दरूप और ग्रन्थरूप सब द्रव्यश्रुत हैं। ज्ञानरूप को भावश्रुत कहते हैं। तथा अंगबाह्य नाम से चौदह प्रकीर्णक भी लिये जाते हैं।"

उपर्युक्त अठारह भेदों के अन्तर्गत जो प्राभृतप्राभृत कहे हैं उनमें से एक-एक वस्तु अधिकार में बीस-बीस प्राभृत होते हैं और एक-एक प्राभृत में चौबीस-चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं। अंगपूर्व नामक श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते हैं। इन सबका विशेष स्वरूप गोम्मटसार जीवकाण्ड की ज्ञानमार्गणा में समझना चाहिए।[1]

---

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड, ज्ञानमार्गणा, गाथा ३४८-३४९

पदविभागतः पृथक्पृथक्कालशुद्धिं व्याख्याय विनयशुद्ध्यर्थमाह—

पलियंकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अंजलीकदपणामो ।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥२८१॥*

पर्यंकेन निषद्यां गत उपविष्टः पर्यंकनिषद्यागतः पर्यंकेन वीरासनादिभिर्वा सम्यग्विधानेनोपविष्टः, प्रतिलिख्य चक्षुषा पिच्छिकया शुद्धजलेन च पुस्तकं भूमिहस्तपादादिकं च सम्मार्ज्य । अञ्जलिना कृतः प्रणामो येनासावञ्जलिकृतप्रणामस्तेन करमुकुलांकितवक्षसा सूत्रार्थसंयोगः सम्पर्कस्तेन युक्तः समन्वितः सूत्रार्थयोगयुक्तोऽङ्गादिग्रन्थः पठितव्योऽध्येतव्यः । आत्मशक्त्या सूत्रार्थाव्यभिचारेण शुद्धोपयोगेन शक्तिमनवगूह्य यत्नेन जिनोक्तं सूत्रमर्थयुक्तं पठनीयमिति ॥२८१॥

उपधानशुद्ध्यर्थमाह—

आयंबिल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं ।
तं तस्स करेमाणो उवहाणजुदो हवदि एसो ॥२८२॥

पदविभाग से—एक-एक रूप से पृथक्-पृथक् कालशुद्धि को कहकर अब विनयशुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—पर्यंकासन से बैठकर पिच्छिका से प्रतिलेखन करके अंजलि जोड़कर प्रणाम पूर्वक सूत्र और उसके अर्थ में उपयोग लगाते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिए ॥१८१॥

आचारवृत्ति—मुनि पर्यंकासन से अथवा वीरासन आदि से सम्यक् प्रकार की विधि से बैठ कर शुद्ध जल से हाथ-पैर आदि धोकर तथा चक्षु से अच्छी तरह निरीक्षण करके और पिच्छिका से भूमि को, हाथ-पैर आदि को और पुस्तक को परिमार्जित करके मुकुलित हाथ बनाकर अंजलि जोड़कर प्रणाम करके सूत्र और अर्थ के संयोग युक्त अंग आदि ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार सूत्र और अर्थ में व्यभिचार न करते हुए अर्थात् सूत्र के अनुसार उसका अर्थ समझते हुए शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थात् उपयोग को निर्मल बनाकर और शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न पूर्वक जिनेन्द्र देव द्वारा कथित सूत्र को अर्थ सहित पढ़ना चाहिए। यह दूसरी विनयशुद्धि हुई है।

अब उपधान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—आचाम्ल निर्विकृति या अन्य भी कुछ नियम जिस स्वाध्याय के लिए करना होता है उसके लिए उस नियम को करते हुए वे मुनि उपधान आचार सहित होते हैं। ॥२८२॥

---

* फलटन से प्रकाशित प्रति में निम्नलिखित दो गाथाएँ और हैं—

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जरहेदुं ।
[illegible] ण करेंतो णाणविणओ हवदि एसो ॥

आचाम्लं सौवीरौदनादिकं, विकृतेर्निर्गतं निर्विकृतं घृतदध्यादिविरहितौदनः, अन्यद्वा पक्वान्नादिकं यस्य शास्त्रस्य कर्तव्यमुपधानं सम्यक्सन्मानं तदुपधानं कुर्वाणस्तस्य शास्त्रस्योपधानशुद्धो भवतीति। साधुनावग्रहादिकं कृत्वा शास्त्रं सर्वं श्रोतव्यमिति तात्पर्यं पूजादरश्च कृतो भवति ॥२८२॥

बहुमानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं ।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणं ॥२८३॥

अङ्गश्रुतादीनां सूत्रार्थं यथास्थितं तथैव जल्पन्नुच्चरन् पाठयन् वाचयंस्तथापि प्रतिपादयंश्चान्यस्य निर्जराहेतोः कर्मक्षयनिमित्तं च आचार्यादीनां शास्त्रादीनामन्येषामपि आसादनं परिभवं न कुर्याद्गर्वितो न भवेत्तेन शास्त्रादीनां बहुमानं पूजादिकं कृतं भवति। शास्त्रस्य गुरोरन्यस्य वा परिभवो न कर्तव्यः पूजावचनादिकं च वक्तव्यमिति तात्पर्यार्थः ॥२८३॥

अनिह्नवस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आचारवृत्ति—सौवीर—कांजी के साथ भात आदि को आचाम्ल कहते हैं। जो विकृति से रहित है अर्थात् घी, दूध आदि से रहित भात निर्विकृति है। अथवा अन्य पके हुए अन्न आदि भी निर्विकृति हैं। अर्थात् जिस चावल या रोटी आदि में कोई रस—नमक, घी आदि या मसाला आदि कुछ भी नहीं डाला है वह भोजन निर्विकृति है। किसी एक शास्त्र के स्वाध्याय को प्रारम्भ करके उस शास्त्र के पूर्ण हुए पर्यन्त इन आचाम्ल या निर्विकृति आदि का आहार लेना अर्थात् इस ग्रन्थ के पूर्ण होने तक मेरा आचाम्ल भोजन का नियम है या अमुक रस का त्याग है इत्यादि नियम करना उपधान है। यह उस ग्रन्थ के लिए सम्यक् सम्मान रूप है। ऐसा उपधान-नियम विशेष करके स्वाध्याय करते हुए मुनि उस ग्रन्थ के विषय में उपधानशुद्धि से युक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि साधु को कुछ नियम आदि करके ग्रन्थ पढ़ने या सुनने चाहिए। इससे उस ग्रन्थ की पूजा और आदर होता है। यह तीसरी शुद्धि हुई।

अब बहुमान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—निर्जरा के लिए सूत्र और उसके अर्थ को पढ़ते हुए तथा उनकी वाचना करते हुए भी आसादना नहीं करे। इससे बहुमान होता है ॥२८३॥

आचारवृत्ति—मुनि निर्जरा के लिए—कर्मों के क्षय हेतु—अंग, पूर्व आदि के सूत्र और अर्थ को, जो जैसे व्यवस्थित हैं वैसे ही उनका उच्चारण करते हुए, पढ़ाते हुए, वाचना करते हुए और अन्यों का भी प्रतिपादन करते हुए आचार्य आदि की, शास्त्रों की और अन्य मुनियों की भी आसादना (तिरस्कार) नहीं करे अर्थात् गर्विष्ठ नहीं होवे। इससे शास्त्रादि का बहुमान होता है, पूजादिक करना होता है। तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्र का, गुरु का अथवा अन्य किसी मुनि या आचार्य का तिरस्कार नहीं करना चाहिए बल्कि उनके प्रति पूजा बहुमान आदि सूचक वचन बोलना चाहिए। यह बहुमानशुद्धि चौथी है।

अब अनिह्नव का स्वरूप बतलाते हैं—

कुलवयसीलविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं ।
कुलवयसीलमहल्ले णिण्हवदोसो दु जप्पंतो ॥२८४॥

कुलं गुरुसन्ततिः, व्रतानि हिंसादिविरतयः, शीलं व्रतपरिरक्षणाद्यनुष्ठानं तैर्विहीना म्लानाः कुलव्रतशीलविहीनाः। मठादिपालनेनाज्ञानादिना वा गुरुः सदोषस्तस्य शिष्यो ज्ञानी तपस्वी न कुलहीन इत्युच्यते। अथवा तीर्थंकरगणधरसप्तर्धिसंप्राप्तेभ्योऽन्ये यतयः कुलव्रतशीलविहीनास्तेभ्यः कुलव्रतशीलविहीनेभ्यः सम्यक्-शास्त्रमवगम्य ज्ञात्वा कुलव्रतशीलैर्ये महान्तस्तान् यदि कथयति तेभ्यो मया शास्त्रं ज्ञातमिति तस्य आत्मनो निह्नवदोषो भवति। आत्मनो गर्वमुद्वहता शास्त्रनिह्नवो गुरुनिह्नवश्च कृतो भवति। ततश्च महान् कर्मबन्धः। जैनेन्द्रं च शास्त्रं पठित्वा श्रुत्वा पश्चाज्जल्पति न मया तत्पठितं, न तेनाहं ज्ञानीति किन्तु नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसा-धर्मकीर्त्यादिभ्यो मम बोधः संजात इति निर्ग्रन्थयतिभ्यः शास्त्रमवगम्यान्यान् प्रतिपादयति ब्राह्मणादीन्, कस्माल्लोकपूजाहेतोर्यदा मिथ्यादृष्टिरसौ तदाप्रभृति मन्तव्यः निह्नवदोषेणेति। सामान्ययतिभ्यो ग्रन्थं श्रुत्वा तीर्थंकरादीन् प्रतिपादयत्येवमपि निह्नवदोष इति ॥२८४॥

गाथार्थ—कुल, व्रत और शील से हीन व्यक्ति से सूत्र और अर्थ को ठीक से पढ़कर 'कुल, व्रत और शील से महान् व्यक्ति से मैंने पढ़ा है' ऐसा कहना निह्नव दोष है। ॥२८४॥

आचारवृत्ति—गुरु की संतति—परम्परा का नाम कुल है। हिंसा आदि पाँच पापों से विरति होना व्रत है। व्रतों के रक्षण आदि हेतु जो अनुष्ठान है उसे शील कहते हैं। इन कुल, व्रत और शील से जो हीन हैं, म्लान हैं वे कुल, व्रत और शील विहीन हैं। अर्थात् मठादिकों का पालन करने से अथवा अज्ञान आदि से गुरु सदोष होते हैं ऐसे गुरु के शिष्य यद्यपि ज्ञानी और तपस्वी हैं फिर भी वे शिष्य कुलहीन कहे जाते हैं। अथवा तीर्थंकर भगवान, गणधर देव और सप्त ऋद्धि सम्पन्न महामुनियों से अतिरिक्त जो अन्य यतिगण हैं वे यहाँ पर कुल, व्रत और शील से विहीन माने गए हैं। उन कुलव्रतशील से विहीन यतियों से समीचीन शास्त्रों को समझकर, पढ़कर जो ऐसा कहते हैं कि 'मैंने कुल, व्रत और शील में महान् ऐसे गुरु से यह शास्त्र पढ़ा है' इस प्रकार से कहनेवाले उन मुनि के निह्नव नाम का दोष होता है। अपने आप में गर्व को धारण करते हुए मुनि के शास्त्र-निह्नव और गुरुनिह्नव दोष होता है और इससे महान् कर्मबन्ध होता है।

जिनेन्द्रदेव कथित शास्त्रों को पढ़कर या सुनकर पुनः यह कहना है कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है, उस शास्त्र से मैं ज्ञानी नहीं हुआ हूँ। किन्तु नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा बौद्ध गुरु धर्मकीर्ति आदि से मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ यतियों से शास्त्र समझकर अन्य का नाम, ब्राह्मण आदि का नाम प्रतिपादित करने लगता है।

ऐसा किसलिए?

व्यंजनार्थोभयशुद्धिस्वरूपार्थमाह—

धिजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं ।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥२८५॥*

व्यञ्जनशुद्धं, अक्षरशुद्धं पदवाक्यशुद्धं च द्रष्टव्यं देशामर्शकत्वात्सूत्राणां। अर्थविशुद्धं—अर्थसहितं। तदुभयविशुद्धं च व्यंजनार्थसहितं सूत्रमिति सम्बन्धः। प्रयत्नेन च व्याकरणगुरूपदेशेन वा जल्पन् पठन् प्रतिपादयन् वा ज्ञानविशुद्धो भवत्येषः। सिद्धांतादीनक्षरविशुद्धानर्थशुद्धान् ग्रंथार्थशुद्धांश्च पठन् व्याख्यन् प्रतिपादयंश्च ज्ञानविशुद्धो भवत्येषः। अक्षरादिव्यत्ययं न करोति यथा व्याकरणं गुरूपदेशं पठतीति ॥२८५॥

किमर्थं विनयः क्रियत इत्याह—

व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और तदुभय शुद्धि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—व्यंजन से शुद्ध, अर्थ से विशुद्ध और इन उभय से विशुद्ध सूत्र को प्रयत्न पूर्वक पढ़ते हुए यह मुनि ज्ञान से विशुद्ध होता है ॥२८५॥

आचारवृत्ति—व्यंजनशुद्ध—शब्द से अक्षरों से शुद्धि। पद और वाक्यों में शुद्धि को भी लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र देशामर्शक होते हैं अर्थात् सूत्र में एक अवयव का उल्लेख अनेक अवयवों के उल्लेख के लिए उपलक्षण रूप रहता है। अतः व्यंजनशुद्ध शब्द से अक्षर, पद और वाक्यों की शुद्धि को भी समझना चाहिए। उन सूत्रों का अर्थ शुद्ध समझना अर्थशुद्ध है। इन दोनों को शुद्ध पढ़ना तदुभयशुद्ध है। सूत्र का सम्बन्ध तीनों के साथ करना चाहिए, अर्थात् सूत्रों को अक्षर मात्रादिक से शुद्ध पढ़ना, उन का ठीक ठीक अर्थ समझना और सूत्र तथा अर्थ दोनों को सही पढ़ना। प्रयत्नपूर्वक व्याकरण के अनुसार अथवा गुरु के उपदेश के अनुसार इन सूत्र, अर्थ और उभय को पढ़ते हुए अथवा अन्य को वैसा प्रतिपादन करते हुए मुनि ज्ञान में विशुद्धि को प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह हुआ कि सिद्धांत आदि ग्रन्थों को अक्षर से शुद्ध, अर्थ से शुद्ध और ग्रन्थ तथा अर्थ इन दोनों से शुद्ध पढ़ता हुआ, उनकी व्याख्या करता हुआ और उनको प्रतिपादित करता हुआ मुनि ज्ञानविशुद्ध हो जाता है। वह अक्षर आदि का विपर्यय नहीं करता है, व्याकरण के अनुकूल और गुरु उपदेश के अनुकूल पढ़ता है। इस प्रकार से इन तीन शुद्धियों का अर्थात् छठी, सातवीं और आठवीं शुद्धि का कथन किया गया है। यहाँ तक ज्ञानाचार के आठ भेद रूप आठ शुद्धियों का वर्णन हुआ।

किसलिए ज्ञान किया जाता है? सो ही बताते हैं—

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में यह अधिक है—

तित्थयरकहियं अत्थं गणहररचियं मदीहि अणुचरिदं ।
णिव्वाणहेदुभूदं सुदसद्दमणिं णमंसामि ॥

अर्थ—जो श्रुत तीर्थंकर के द्वारा अर्थरूप से कथित है, [illegible] के द्वारा [illegible] है, और अन्य यतियों के द्वारा अनुचरित है अर्थात् [illegible] ऐसे सम्पूर्ण—द्वादशांगमय श्रुत को मैं नमस्कार करता हूँ।

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि[1] परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥२८६॥

विनयेन श्रुतमधीतं यद्यपि प्रमादेन विस्मृतं भवति तथापि परभवेऽन्यजन्मनि तत्सूत्रमुपतिष्ठते, केवलज्ञानं चावहति प्रापयति तस्मात्कालादिशुद्ध्या पठितव्यं शास्त्रमिति ॥२८६॥

ज्ञानाचारप्रबन्धमुपसंहरंश्चारित्राचारप्रबन्धं सूचयन्नाह—

णाणाचारो एसो णाणगुणसमण्णिदो मए वुत्तो ।
एत्तो चरणाचारं चरणगुणसमण्णिदं वोच्छं ॥२८७॥

ज्ञानाचारो ज्ञानगुणसमन्वितो मयोक्तः । इत ऊर्ध्वं चरणाचारं चरणगुणसमन्वितं वक्ष्ये कथयिष्येऽनुवदिष्यामीति । तेनात्मकर्तृत्वं परिहृतमाप्तकर्तृत्वं च स्थापितं ॥२८७॥

[2]तथा प्रतिज्ञानिर्वहन्नाह—

पाणिवहमुसावाद-अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदी ।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥२८८॥

गाथार्थ—विनय से पढ़ा गया शास्त्र यद्यपि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी वह परभव में उपलब्ध हो जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है ॥२८६॥

आचारवृत्ति—विनय से जो शास्त्र पढ़ा गया है, प्रमाद से यदि उसका विस्मरण भी हो जावे तो अन्य जन्म में वह सूत्र ग्रन्थ उपस्थित हो जाता है, स्मरण में आ जाता है। और वह पढ़ा हुआ शास्त्र केवलज्ञान को भी प्राप्त करा देता है। इसलिए काल आदि की शुद्धिपूर्वक शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

अब ज्ञानाचार के कथन का उपसंहार करते हुए और चरित्राचार के कथन की सूचना करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान गुण से सहित यह ज्ञानाचार मैंने कहा है। इससे आगे चारित्र गुण से सहित चारित्राचार को कहूँगा ॥२८७॥

आचारवृत्ति—ज्ञानगुण समन्वित ज्ञानाचार मैंने कहा। अब मैं चरण गुण से समन्वित चरणाचार को कहूँगा। यहाँ पर 'वक्ष्ये' क्रिया का अर्थ ऐसा समझना कि 'जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसीके अनुसार मैं कहूँगा।' इस कथन से यहाँ पर ग्रन्थकर्ता ने आत्मकर्तृत्व का परिहार किया है और आप्तकर्तृत्व को स्थापित किया है। अर्थात् इस ग्रन्थ में जो भी मैं कह रहा हूँ वह मेरा नहीं है किन्तु आप्त के द्वारा कहे हुए को मैं किंचित् शब्दों में कह रहा हूँ। इससे इस ग्रन्थ की प्रमाणता स्पष्ट हो जाती है।

उसी चारित्राचार को कहने की प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा और असत्य से तथा अदत्तवस्तुग्रहण, मैथुन और परिग्रह से विरत होना—यह पाँच प्रकार का चारित्राचार है ऐसा जानना चाहिए ॥२८८॥

---

१ क समुवट्ठादि। २ क यथा

प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहाणां विरतयो निवृत्तय एव चारित्राचारः पंचप्रकारो भवति ज्ञातव्यः। येन प्राण्युपघातो जायते तत्सर्वं मनसा वचसा कायेन च परिहर्तव्यं येनानृतं, येन च स्तैन्यं, येन मैथुनेच्छा, येन च परिग्रहेच्छा तत्सर्वं त्याज्यमिति ॥२८८॥

प्रथमव्रतप्रपंचनार्थमाह—

एइंदियादिपाणा पंचविहावज्जभीरुणा सम्मं।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥२८९॥

एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः, एकेन्द्रिया आदिर्येषां प्राणानां जीवानां त एकेन्द्रियादयः प्राणाः, ते कियन्तः पंचविधाः पंचप्रकारास्ते, खलु स्फुटं अवद्यभीरुणा सम्यग्विधानेन न हिंसितव्याः, मनसा वचसा कायेन च सर्वत्र पीडा न कर्तव्या न कारयितव्या नानुमन्तव्येति। सर्वस्मिन् काले, सर्वस्मिन् देशे सर्वस्मिन्वा भावे चेति ॥२८९॥

द्वितीयव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

हस्सभयकोहलोहा मणिवचिकायेण सव्वकालम्मि।
मोसं ण य भासिज्जो पच्चयघादी हवदि एसो ॥२९०॥

हास्यभयलोभक्रोधैर्मनोवाक्कायप्रयोगेण सर्वस्मिन् कालेऽतीतानागतवर्तमानकालेषु मृषावादं—

आचारवृत्ति—जीववध, असत्यभाषण, अदत्तग्रहण, मैथुनसेवन और परिग्रह से निवृत्त होना यह पाँच प्रकार का चारित्राचार है। जिनके द्वारा प्राणियों का उपघात होता है उन सब का मन से, वचन से और काय से परिहार करना चाहिए। ऐसे ही, जिनसे असत्य बोलना होता है, जिनसे चोरी होती है, जिनसे मैथुन की इच्छा होती है और जिनसे परिग्रह की इच्छा होती है उन सभी कारणों का त्याग करना चाहिए।

अब प्रथम व्रत का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु को सम्यक् प्रकार से मन-वचन-काय पूर्वक सर्वत्र उन जीवों की निश्चितरूप से हिंसा नहीं करना चाहिए ॥२८९॥

आचारवृत्ति—एक इन्द्रिय है जिनको वे एकेन्द्रिय हैं। यहाँ 'प्राण' शब्द से जीवों को लिया है। वे कितने हैं? पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु मुनि को स्पष्टतया, सम्यक् विधान से, उनकी हिंसा नहीं करना चाहिए। मन-वचन-काय से सर्वत्र अर्थात् सर्वकाल में, सर्वदेश में अथवा सभी भावों में इन जीवों को पीड़ित नहीं करना चाहिए, न कराना चाहिए और न करते हुए की अनुमोदना ही करना चाहिए—यह अहिंसा महाव्रत है।

द्वितीय व्रत का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं—

परपीडाकरं वचनं नो वदेत्। यत एव मृषावादः प्रत्ययघाती भवतीति न कस्यापि विश्वासस्थानं जायते। अतो क्रोधात्, लोभात्, भयहास्याभ्यां परपीडाकरं वस्तुयाथात्म्यविपरीतप्रतिपादकं वचनं मनसा न चिन्तयेत्, तात्वादिव्यापारेण नोच्चारयेत्, कायेन नानुष्ठापयेदिति ॥२९०॥

अस्तेयव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

गामे णगरे रण्णे थूलं सचित्त बहु सपडिवक्खं।
तिविहेण वज्जिदव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं ॥२९१॥

ग्रामो वृत्त्यावृतः। नगरं चतुर्गोपुरोद्भासि शालं। अरण्यं महाटवीगहनं। उपलक्षणमात्रमेतत्। तेन ग्रामे, नगरे, पत्तने, अरण्ये, पथि, खले, मटंबे, खेटे, कर्वटे, संवाहने, द्रोणमुखे, सागरे, द्वीपे, पर्वते, नद्यां चैवमादिष्वन्येष्वपि प्रदेशेषु स्थूलं सूक्ष्मं, सचित्तमचित्तं, बहु स्तोकं वा सप्रतिपक्षं द्रव्यं सुवर्णादिकं धनधान्यं वा द्विपदचतुष्पदजातं वा कांस्यवस्त्राभरणादिकं वा पुस्तिकाकमण्डलिकानखरदनपिच्छिकादिकं वा, नष्टं वा विस्मृतं पतितं स्थापितं परसंगृहीतं त्रिविधेन मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतैर्वादत्तग्रहणं नित्यं सर्वथा वर्जितव्यं। अन्य-

---

रूप त्रिकाल में भी पर-पीड़ा उत्पन्न करनेवाले तथा वस्तु के यथावत् स्वरूप से विपरीत प्रतिपादक वचनों को मन में भी नहीं लावे, तालु आदि व्यापार से उनका उच्चारण नहीं करे और काय से उन असत्य वचनों का अनुष्ठान नहीं करे। अर्थात् सदैव मन-वचन-काय पूर्वक असत्य बोलनेवाला सर्वत्र विश्वास का पात्र नहीं रह जाता। यह द्वितीय महाव्रत हुआ।

अचौर्यव्रत का स्वरूप-निरूपण करने हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—ग्राम में, नगर में तथा अरण्य में जो भी स्थूल, सचित्त और बहुत तथा इनसे प्रतिपक्ष सूक्ष्म, अचित्त और अल्प वस्तु है, बिना दिए हुए उसके ग्रहण करने रूप उसका सर्वथा ही मन-वचन-कायपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥२९१॥

आचारवृत्ति—बाड़ से वेष्टित को ग्राम कहते हैं। चार गोपुरवाले परकोट से सहित को नगर कहते हैं। महाअटवी को अरण्य कहते हैं। ये उपलक्षण मात्र हैं। इससे ग्राम, नगर, पत्तन, अरण्य, मार्ग, खलिहान, मटम्ब, खेट, कर्वट, संवाहन, द्रोणमुख, सागर, द्वीप, पर्वत और नदी तथा अन्य और भी जो कोई प्रदेश—स्थान है उन सब में जो भी वस्तु है वह चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, सचित्त हो या अचित्त, बहुत हो या थोड़ी, अथवा सुवर्ण आदि द्रव्य हो या धनधान्य हो या द्विपद—दासी, दास, चतुष्पद—गो, भैंस आदि हों, कांस्य के बर्तन आदि या वस्त्र आभरण आदि हों; या पुस्तक, कमलिका—कमण्डलु, नखरदनी हों, या पिच्छिका आदि हों, इनमें से कोई वस्तु उन स्थानों में नष्ट हुई—किसी की खो गई हो, भूल से रह गई हो, किसी की गिर गई हो या किसी ने रखी हो या किसी अन्य के द्वारा संगृहीत हो—मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से इनमें से बिना दी हुई किसी की वस्तु का जो ग्रहण है वह चोरी है। उसका सर्वथा ही त्याग करना चाहिए। अन्य भी जो कुछ इसी प्रकार का धन आदि, जो कि विरोध का कारण हो, उसको भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह सब बिना दिया हुआ धनादि चोरी स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थान में कोई भी वस्तु कैसी भी क्यों न हो यदि वह उसके स्वामी द्वारा दी हुई नहीं है तो उसको

इत्येवमादिवचनादिकं विरोधकारणं नेहितव्यं । सकलमेतददत्तं स्तेयमस्तेयमिति ॥२९१॥

चतुर्थव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

अच्चित्तदेवमाणुसतिरिक्खजादं च मेहुणं चदुधा ।
तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चंपि मुणी हि पयदमणो ॥२९२॥

अचित्तं चित्र-लेप-पुस्त-भांड-शैल-यंत्रादिकर्मनिर्वर्तितस्त्रीरूपाणि, भवनवासिव्यंतरज्योतिष्ककल्पवासदेवस्त्रियः, ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रस्त्रियश्च, वडवागोमहिष्यादितिर्यक्स्त्रियश्च, एताभ्यो जातमुत्पन्नं चतुर्धा मैथुनं रागोद्रेकात्कामाभिलाषं त्रिविधेन मनोवचनकायकर्मभिः कृतकारितानुमतैस्तन्न सेवते । नित्यमपि मुनिः प्रयतमनाः । हि स्फुटं । स्वाध्यायपरो लोकव्यापाररहितः सर्वाः स्त्रीप्रतिमाः मातृदुहितृभगिनीवत् पश्येत् । नैकाकी ताभिः सहैकान्ते तिष्ठेत् । न वर्त्मनि गच्छेत् । न च रहसि मंत्रयेत् । नार्यिकयैकाकी एकाकिन्याः प्रतिक्रमणादिकं कुर्यात् । येन येन जुगुप्सा भवेत् तत्सर्वं त्याज्यमिति ॥२९२॥

पंचमव्रतप्रपंचनार्थमाह—

लेना चोरी है । उक्त चोरी का त्याग करना यह अचौर्य महाव्रत है ।

चतुर्थव्रत का स्वरूप निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अचेतन, देव, मनुष्य और तिर्यंच इन सम्बन्धी स्त्रियों से होने वाला चार प्रकार का जो मैथुन है, प्रयत्नचित्त वाले मुनि निश्चित रूप से, नित्य ही मनवचनकाय से उसका सेवन नहीं करते हैं ॥२९२॥

आचारवृत्ति—चित्र, लेप, पुस्त, भांड, शैल-यंत्र आदि के बने हुए स्त्री-रूप अचेतन हैं। अर्थात् वस्त्र, कागज, दीवाल आदि पर बने हुए स्त्रियों के चित्र, लेप से निर्मित स्त्रियों की मूर्तियाँ, सोने-पीतल आदि धातु तथा पाषाण आदि से निर्मित मूर्तियाँ या पत्थर पर उकेरे गये स्त्रियों के आकार ये सब अचेतन स्त्रीरूप हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवों की देवांगनाएँ देवस्त्री हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनकी स्त्रियाँ मनुष्यस्त्री हैं और घोड़ी, गाय, भैंस आदि तिर्यंच तिर्यंचस्त्री हैं। इन चार प्रकार की स्त्रियों से उत्पन्न हुआ जो मैथुन है अर्थात् राग के उद्रेक से होनेवाली जो कामसेवन की अभिलाषा है, प्रयत्नमना मुनि नित्य ही मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से (अर्थात् ३ × ३ = ९ नव कोटि से) निश्चित ही इस मैथुन का सेवन नहीं करते हैं।

तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय में तत्पर हुए मुनि लोक-व्यापार से रहित होते हुए इन सभी स्त्रियों को माता, पुत्री और बहिन के समान समझें। एकाकी मुनि इन स्त्रियों के साथ एकान्त में नहीं रहे, न मार्ग में गमन करे और न एकान्त में इनके साथ किंचित् भी विचार-विमर्श करे। एकाकी हुआ एक आर्यिका के साथ प्रतिक्रमण आदि भी नहीं करे। कहने का सार यही है कि जिस-जिस व्यवहार से निन्दा होवे वह सब व्यवहार छोड़ देना चाहिए। यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

पाँचवें व्रत का स्वरूप कहते हैं—

गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्त बहु सपडिवक्खं ।
अज्झत्थ बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे ॥२९३॥

ग्रामं, नगरं, अरण्यं, पत्तनं, मटंबादिकं च । स्थूलं क्षेत्रगृहादिकं । सचित्तं दासीदासगोमहिष्यादिकं । बहुमनेकभेदभिन्नं । सप्रतिपक्षं सूक्ष्मं[1] चित्रैकरूपं नेत्रचीनकौशेयद्रव्यमणिमुक्ताफलसुवर्णभाण्डादिकं । अध्यात्मं मिथ्यात्व-वेद-राग-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-क्रोध-मान-माया-लोभात्मकं बहिःस्थं क्षेत्रवास्त्वादिकं दशप्रकारं । मनोवाक्कायकर्मभिः कृतकारितानुमतैः परिग्रहं श्रामण्यायोग्यं वर्जयेत् । सर्वदा मूर्च्छां त्यक्त्वेति नैःसग्यं [नैःसंग्य-] माचरेत् ॥२९३॥

अथ महाव्रतानामन्वर्थव्युत्पत्तिं प्रतिपादयन्नाह—

साहंति जं महत्थं आचरिदाणी य जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महव्वयाइं भवे ताइं ॥२९४॥

यस्मान्महार्थं मोक्षं साधयन्ति, यस्माच्च महद्भिस्तीर्थंकरादिभिराचरितानि सेवितानि, यतश्च स्वत एव महान्ति सर्वसावद्यत्यागात् ततस्तानि महाव्रतानि भवन्ति । न पुनः कपालादिग्रहणेनेति ॥२९४॥

गाथार्थ—ग्राम, नगर, अरण्य, स्थूल, सचित्त और बहुत तथा स्थूल आदि से उल्टे सूक्ष्म, अचित्त, स्तोक ऐसे अंतरंग और बहिरंग परिग्रह को मन-वचन-काय से छोड़ देवे ॥२९३॥

आचारवृत्ति—ग्राम, नगर, वन, पत्तन, और मटंब आदि स्थूल अर्थात् खेत घर आदि; सचित्त—दासी, दास, गौ, महिषी आदि; बहु—अनेक भेदरूप; इनसे उलटे सूक्ष्म—नेत्र, चीनपट्ट, रेशम, द्रव्य, मणि, मोती, सोना और भांड—बर्तन आदि परिग्रह; अध्यात्म—अन्तरंग परिग्रह; मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चौदह प्रकार का है। बाह्य परिग्रह क्षेत्र वस्तु आदि भेद से दश प्रकार का है। उपर्युक्त ग्राम आदि भेद इन दश में ही सम्मिलित हो जाते हैं। मुनिपने के अयोग्य ऐसे इन चौबीस प्रकार के परिग्रह का मुनि मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना रूप (३ × ३ = ९ नव कोटि) से त्याग कर देवे। अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है, उस मूर्च्छा का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार से निःसंग प्रवृत्ति का आचरण करना चाहिए।

अब महाव्रतों की अन्वर्थ व्युत्पत्ति प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—जिस हेतु से ये महान् पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं और जिस हेतु से ये महापुरुषों के द्वारा आचरण में लाये गए हैं और जिस हेतु से ये महान् हैं उसी हेतु से ये महाव्रत कहलाते हैं ॥२९४॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से ये महान् मोक्ष को सिद्ध करते हैं, जिस कारण से तीर्थंकर आदि महापुरुषों के द्वारा सेवित हैं और जिस कारण से ये स्वतः ही महान् हैं क्योंकि ये सर्वसावद्य के त्यागरूप हैं उसी कारण से ये महाव्रत कहलाते हैं। किन्तु कपाल आदि पात्रों को ग्रहण करने से कोई महान् नहीं होते हैं। अर्थात् कपाल आदि का जैनागम में निषेध है वे महाव्रत के लक्षण नहीं हैं अपितु उपर्युक्त अर्थ ही महाव्रत का अन्वर्थ है।

1 क "सूक्ष्मादिकमेक"।

अथ रात्रिभोजननिवृत्त्यादिनिरूपणोत्तरप्रबन्धः किमर्थं इति पृष्टेऽत आह—

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती[1]।
अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ ॥२९५॥

तेषामेव महाव्रतानां रक्षणार्थं रात्रिभोजननिवृत्तिः। रात्रौ भोजनं तस्य निवृत्ती रात्रिभोजननिवृत्तिः। बुभुक्षितोऽपि भोजनकालनिर्गतिकाले नैवाहारं चिन्तयति। नाप्युदकादिकं। अष्टौ प्रवचनमातृका-पंच समितयस्त्रिगुप्तयः। भावनाश्च सर्वाः पंचविंशतयः महाव्रतानां पालनाय वक्ष्यन्त इति ॥२९५॥

यतो रात्रौ भोजनक्रियायां प्रविशतो दोषानाह—

तेसिं पंचण्हंपि य ण्हयाणमावज्जणं च संका वा।
आदविवत्ती अ हवे रादीभत्तप्पसंगेण ॥२९६॥

तेषां पंचानामप्यहुवानां व्रतानामावर्जनं भंगः म्लानता, आशंका वा लोकस्य

रात्रिभोजननिवृत्ति आदि निरूपण के लिए जो उत्तरप्रबन्ध है वह किसलिए है? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—उन ही व्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग, आठ प्रवचन मातृकाएँ और सभी भावनाएँ हैं ॥२९५॥

आचारवृत्ति—उन्हीं ही पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन-त्याग व्रत है। मुनि क्षुधा से पीड़ित होते हुए भी भोजनकाल निकल जाने पर आहार का विचार नहीं करते हैं। प्रवचन-मातृका आठ हैं—पाँच समिति और तीन गुप्ति। सभी भावनाएँ पच्चीस हैं। महाव्रतों के पालन हेतु इन सबको आगे कहेंगे।

यदि मुनि रात्रि में भोजन के लिए प्रवेश करते हैं तो क्या दोष आते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—रात्रिभोजन के प्रसंग से उन पाँचों व्रतों में भी मलिनता अथवा आशंका और अपने पर विपत्ति भी हो जाती है ॥२९६॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि रात्रि में भोजन के लिए निकलते हैं तो उन पाँचों भी अहुव—व्रतों में सब तरह से भंग, म्लानता—मलिनता हो जाती है। अथवा लोगों को आशंका हो सकती है कि यह दीक्षित हुए मुनि किसलिए यहाँ रात्रि में प्रवेश करते हैं। क्योंकि ये चोरी के लिए आ रहे हैं या व्यभिचार के लिए आ रहे हैं इत्यादि आशंकाएँ भी लोगों के मन में उठने लगेंगी। गृहस्थों की विपत्ति अथवा स्वयं को भी विपत्तियाँ आ सकती हैं। क्योंकि ठूँठ लग जाने से, पशुओं के मार से, चोरों के द्वारा मार देने से या कुत्तों के भौंकने से—काट लेने से या कोतवाल द्वारा पकड़ लिए जाने आदि के प्रसंगों से अपने पर संकट भी आ सकता है। इसलिए रात्रिभोजन का त्याग कर देना चाहिए।

---

1 'णियत्ती' इत्यपि पाठः।

किमिति? यतस्त्वयं प्रव्रजितो रात्रौ प्रविष्टो दुरारेकः स्यात्। गृहस्थानामात्मविपत्तिरपि भवेत्। स्थाणुसर्पादिह-चौरजारमैथुनगररक्षकादिभ्यो रात्रिभक्तप्रसंगेन रात्रावाहारार्थं पर्यटतस्तस्माद्रात्रिभोजनं त्याज्यमिति।

पंचविधमाचारं व्याख्याय समित्यादिद्वारेणाष्टविधं व्याख्यातुकामः प्राह—

पणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥२६७॥

प्रणिधानं परिणामस्तेन योगः सम्पर्कः प्रणिधानयोगः। युक्तो न्याय्यः शोभनमनोवाक्कायप्रवृत्तः। पंचसमितिषु त्रिषु गुप्तिषु। एष चारित्राचारोऽष्टविधो भवति ज्ञातव्यः। महाव्रतभेदेन पंचप्रकारः आचारः।

विशेष—मुनियों के लिए रात्रिभोजन त्याग को अन्यत्र आचार्यों ने छठा अणुव्रत नाम दिया है। यथा, मुनियों के जो दैवसिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण हैं वे गौतमस्वामीकृत हैं। उनके विषय में टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य ने ऐसा कहा है कि "श्रीगौतम स्वामी मुनियों को दुःषमकाल में दुष्परिणाम आदि के द्वारा प्रतिदिन उपार्जित कर्मों की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण लक्षण उपाय को कहते हुए उसके आदि में मंगल हेतु इष्ट देवता विशेष को नमस्कार करते हैं—"[1]

इन प्रतिक्रमणों में स्थल-स्थल पर छठे अणुव्रत का उल्लेख है। जैसे कि "आहावरे छट्ठे अणुव्वदे सव्वं भंते। राइभोयणं पच्चक्खामि जावज्जीवं।"[2]

अकलंक देव पाँच व्रतों के वर्णन करनेवाले सूत्र के भाष्य में कहते हैं—

"रात्रिभोजन विरति को यहाँ पर ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यह भी छठा अणुव्रत है? उत्तर देते हैं—नहीं, क्योंकि अहिंसाव्रत की भावनाओं में यह अन्तर्गत हो जाता है।" इत्यादि।

कहने का मतलब यही है कि इस व्रत को छठा अणुव्रत कहा गया है। इसे अणुव्रत कहने का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि भोजन का सर्वथा त्याग न होकर रात्रि में ही है। अतएव 'अणुव्रत' संज्ञा सार्थक है।

पाँच प्रकार के आचार महाव्रत का व्याख्यान करके अब समिति आदि के द्वारा अष्टविध प्रवचनमातृका को कहने के इच्छुक आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच समिति और तीन गुप्तियों में शुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप यह चारित्राचार आठ प्रकार का है ऐसा जानना चाहिए ॥२६७॥

आचारवृत्ति—प्रणिधान परिणाम को कहते हैं। उसके साथ योग—संपर्क सो प्रणिधानयोग है। युक्त का अर्थ न्यायरूप है। अर्थात् शोभन मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को प्रणिधानयोग युक्त कहा है। पाँच समिति और तीन गुप्तियों में जो शुभ परिणाम युक्त प्रवृत्ति है सो यह

---

1. श्रीगौतमस्वामी मुनीनां दुःषमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानः [प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी]

2. पाक्षिकप्रतिक्रमण।

अथवा समितिगुप्तिविषयपरिणामभेदेनाष्टप्रकारो न्याय्य आचार इति ॥२९७॥

अथ युक्त इति विशेषणं किमर्थमुपात्तमित्याशंकायामाह—

पणिधाणंपि य दुविहं पसत्थ तह अप्पसत्थं च ।
समिदीसु य गुत्तीसु य पसत्थ सेसमप्पसत्थं तु ॥२९८॥

प्रणिधानमपि द्विप्रकारं । प्रशस्तं शुभं । तथाऽप्रशस्तमशुभमिति । समितिषु गुप्तिषु प्रशस्तं प्रणिधानं । तथाशेषमप्रशस्तमेव । सम्यगयनं जीवपरिहारेण मार्गोद्योते धर्मानुष्ठानाय गमनं प्रवर्तनं वा यत् सा समितिः । अशुभमनोवाक्कायानां गोपनं स्वाध्यायध्यानपरस्य मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्गुप्तिः । एतासु प्रणिधानं स युक्तोऽष्टप्रकारश्चारित्राचार इति । शेषं पुनर्यदप्रशस्तं प्रणिधानं तद्द्विविधमिन्द्रियनोइन्द्रियभेदेन ॥२९८॥

इन्द्रियप्रणिधानस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इदरे य ।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होइ पणिधाणं ॥२९९॥

आठ प्रकार का चारित्राचार है। और, महाव्रत के भेद से पाँच प्रकार का आचार अथवा समिति गुप्ति विषयक परिणाम के भेद से आठ प्रकार का यह न्याय रूप आचार है।

भावार्थ—चारित्राचार के पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ऐसे तेरह भेद होते हैं। उन्हें ही यहाँ पर पृथक्-पृथक् कहा है।

यहाँ 'युक्त' यह विशेषण किसलिए ग्रहण किया है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—प्रणिधान के भी दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। समितियों और गुप्तियों में तो प्रशस्त है और शेष प्रणिधान अप्रशस्त है ॥२९८॥

आचारवृत्ति—प्रशस्त—शुभ और अप्रशस्त—अशुभ के भेद से प्रणिधान भी दो प्रकार का है। समिति और गुप्ति में प्रशस्त प्रणिधान है तथा शेष प्रणिधान अप्रशस्त ही है। सम्यक् प्रकार से अयन अर्थात् गमन को या प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। अर्थात् जीवों के परिहारपूर्वक जैनमार्ग के प्रकाश में, प्रयत्न में तत्पर हुए यति का धर्मानुष्ठान के लिए जो गमन है या प्रवृत्ति है वह समिति है। गोपनं गुप्तिः अर्थात् अशुभ मन-वचन-काय को गोपन करना गुप्ति है। स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर यति के जो मन-वचन-काय का संवृत करना या नियन्त्रित करना—रोकना है वह गुप्ति है। इन पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में जो प्रणिधान है वह युक्त अर्थात् न्यायरूप है, प्रशस्त है वही आठ प्रकार का चारित्राचार है।

पुनः शेष जो अप्रशस्त प्रणिधान है वह इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के भेद से दो प्रकार का है।

शब्दरसरूपगन्धस्पर्शेषु मनोहरेषु शोभनेषु, इतरेष्वशोभनेषु, मनोज्ञेष्वमनोज्ञेषु यत् रागद्वेषकरणं तत् इन्द्रियप्रणिधानं भवति। स्त्रीपुरुषादिप्रयुक्तेषु षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादस्वरेषु आरोह्यवरोहिस्थायिसंचारिवर्णयुक्तेषु षडलंकारद्विविधकाकुयुक्तेषु मूर्च्छनास्थानादिप्रयुक्तेषु सुस्वरेषु रागकरणं, तथा कोकिलमयूरभ्रमरादिशब्देषु वीणारावणहस्तवीणादिशब्देषु रागकरणं, तथोष्ट्रखरकरभादिप्रयुक्तेषु दुःस्वरेषु उरःकण्ठशिरःस्थानभेदभिन्नेष्वनिष्टेषु द्वेषकरणम्। तथा तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदभिन्नेषु मनोहरेष्वमनोहरेषु तीव्रतीव्रतरतीव्रतम-मन्दमन्दतरमन्दतमेषु गुडखण्डशर्करापयःसर्पिरादिकेषु निम्बकाञ्जीरविषकटुकादिकेषु च रसेषु रागद्वेषयोः करणम्। तथा श्रीप्रभादिकेषु सौन्दर्यादियुक्तेषु रूपेषु हावभावविलासविभ्रमप्रयुक्तेषु लीलाविलासविच्छित्तिविभ्रमकिलकिञ्चितमोट्टायितकुट्टमितविब्बोकललितविहृतदंशनि... स्वाभाविकैर्विकृतैश्च ... मनोहरेषु रूपेषु ... अमनोहरेषु द्वेषकरणम् ॥१॥

आचारवृत्ति—शब्द, रस, रूप, गंध और स्पर्श ये पाँचों इन्द्रियों के विषय मनोहर और अमनोहर ऐसे दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों प्रकार के विषयों में जो राग-द्वेष का होना है वह पाँच प्रकार का इन्द्रिय प्रणिधान है।

स्त्री-पुरुष आदि के द्वारा प्रयुक्त किये गये षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर हैं। ये आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी ऐसे चार प्रकार के वर्णों से युक्त हैं। छह प्रकार के अलंकार और दो प्रकार की काकु ध्वनि से भेदरूप हैं। तथा मूर्च्छना, स्थान आदि के द्वारा जो प्रयुक्त किये जाते हैं वे सुस्वर हैं। इनमें राग करना तथा कोयल, मयूर, भ्रमर आदि के शब्द और वीणा, रावण के हस्त की वीणा एवं बाँसुरी आदि से उत्पन्न हुए शब्दों में राग करना, तथा ऊँट, गधा, करभ आदि के द्वारा प्रयुक्त दुःस्वरों में जो हृदय, कण्ठ और मस्तक इन तीनों स्थानों से उत्पन्न होने के भेदों से सहित है और अनिष्ट-अमनोहर हैं उनसे द्वेष करना यह श्रोत्रेन्द्रिय प्रणिधान है।

तिक्त, कटु, कषायला, अम्ल और मधुर ये पाँच प्रकार के रस हैं। ये मनोहर और अमनोहर होते हैं। तथा तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर और मन्दतम ऐसे भेदरूप हैं। गुड़, खांड़, घी, दूध, आदि पीने वाले पदार्थ मनोहर हैं एवं नीम, काँजीर, विष, मदन, कटुक, आदि पदार्थ अमनोहर हैं। इन इष्ट या अनिष्ट रसों में जो राग-द्वेष करना है वह रसनेन्द्रिय-प्रणिधान है।

मनोइन्द्रियप्रणिधानं। सर्वमिन्द्रियप्रणिधानं नोइन्द्रियप्रणिधानं चाप्रशस्तमयुक्तं वर्जयेत् वर्जनीयमिति ॥३००॥

समितिगुप्तिविषयः प्रणिधानयोगोऽष्टविध आचारोक्त[1] इति प्रतिपादितं ततः काः समितयो गुप्तयश्चेत्याशंकायामाह—

णिक्खेवणं च गहणं इरियाभासेसणा य समिदीओ ।
पदिठावणियं च तहा उच्चारादीणि पंचविहा ॥३०१॥

निक्षेपणं निक्षेपः पुस्तिकाकुण्डिकादिस्थापनं। तेषामेव ग्रहणमादानं समीक्ष्य, सैषादाननिक्षेपणसमितिः। धर्मार्थिनो यत्नपरस्य गमनमीर्यासमितिः। सावद्यरहितभाषणं भाषासमितिः कृतकारितानुमतरहिताहारादानमेषणासमितिः। समितिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। उच्चारादीनां मूत्रपुरीषादीनां प्रासुकप्रदेशे प्रतिष्ठापनं त्यागः प्रतिष्ठापनासमितिः। इत्येवं पंचविधा समितिरिति ॥३०१॥

तत्र तावदीर्यासमितिस्वरूपप्रपंचार्थमाह—

कषायों के विषय में जो मन का प्रणिधान अर्थात् व्यापार है वह नोइन्द्रिय-प्रणिधान है तथा जो हास्य आदि नोकषायों में मन का व्यापार है वह भी नोइन्द्रिय-प्रणिधान है।

पूर्वकथित इन्द्रिय-प्रणिधान और यहां पर कथित नोइन्द्रिय-प्रणिधान, ये दोनों ही अप्रशस्त होने से अयुक्त हैं इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि पांचों इन्द्रियों के विषयों में जो राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है और क्रोधादिक विषयों में जो मन की प्रवृत्ति होती है यह सब अशुभ है इसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

समिति और गुप्ति के विषय में जो प्रणिधानयोग—शुभ परिणाम की प्रवृत्ति है यह आठ प्रकार का आचार कहा गया है ऐसा आपने प्रतिपादन किया। पुनः, ये समितियां और गुप्तियां कौन-कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा तथा निक्षेपणग्रहण और मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन ये समितियां पांच प्रकार की हैं ॥३०१॥

आचारवृत्ति—यत्न में तत्पर हुए धर्मार्थी अथवा धर्म की इच्छा रखते हुए मुनि का गमन ईर्यासमिति है। सावद्यरहित वचन बोलना भाषा समिति है। कृत, कारित अनुमोदना से रहित आहार का ग्रहण करना एषणा समिति है। पुस्तक, कमण्डलु आदि का क्षेपण-रखना तथा उन्हें ग्रहण करना आदान-निक्षेपण समिति है। मलमूत्र का प्रासुक स्थान में प्रतिष्ठापन—त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है। इस तरह पांच प्रकार की समिति होती है।

अब पहले ईर्या समिति के स्वरूप को विस्तार से कहते हैं—

१ क [illegible]

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥३०२॥

मग्ग—मार्गः पन्थाः। उज्जोव—उद्योतश्चक्षुरादित्यादिप्रकाशः। उवओग—उपयोगो ज्ञानदर्शनविषयो यत्नः। आलंबण—देवतानिर्ग्रन्थवन्दनधर्मादिकारणं। एतासां शुद्धयस्ताभिर्मार्गोद्योतोपयोगालम्बनशुद्धिभिरीर्यतो गच्छतो मुनेः सूत्रानुवीच्या प्रायश्चित्तादिसूत्रानुसारेण प्रवचने ईर्यासमितिर्भणिता गणधरदेवादिभिर्भणितेति शेषः ॥३०२॥

यावद्गमनं विचारयेत् तन्नाह—

इरियावहपडिवण्णेणवलोगंतेण होदि गंतव्वं।
पुरदो जुगप्पमाणं सयापमत्तेण संतेण ॥३०३॥

[illegible]

गाथार्थ—मार्ग में प्रकाश, उपयोग और अवलम्बन की शुद्धि से गमन करते हुए मुनि के सूत्र के अनुसार आगम में ईर्या समिति कही गयी है ॥३०२॥

आचारवृत्ति—चलने का रास्ता मार्ग है। चक्षु से देखना और सूर्य का प्रकाश होना आदि उद्योत है। ज्ञानदर्शन विषयक प्रयत्न उपयोग है और देववन्दना, निर्ग्रन्थ मुनियों की वन्दना एवं धर्म आदि का निमित्त होना आलम्बन है। इनकी शुद्धियाँ अर्थात् आगम के अनुकूल प्रवृत्तियाँ होना चाहिए।

इन मार्ग शुद्धि, प्रकाश शुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलम्बन शुद्धि के द्वारा जो मुनि प्रायश्चित्तादि सूत्र के अनुसार गमन करते हैं उन्हीं के प्रवचन में गणधर देव आदि महर्षियों ने ईर्या समिति कहा है।

अब अगली गाथा द्वारा गमन के विषय में विचार करते हैं—

गाथार्थ—ईर्यापथपूर्वक हमेशा प्रमादरहित होते हुए चार हाथ प्रमाण भूमि को सामने देखते हुए चलना चाहिए ॥३०३॥

[illegible] ॥३०३॥

पुनरपि श्लोकद्वयेन मार्गशुद्धिस्वरूपनिरूपणायाह—

सयडं जाण जुग्गं वा रहो वा एवमादिया ।
बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे ॥३०४॥

शकटं बलीवर्दादियुक्तं काष्ठमयं यंत्रं । यानं मत्तवारणयुक्तं [illegible], [illegible] पीठिकाभिन्न मनुष्यैर्नीयमानं । रथो [illegible] [illegible]

अर्थात् चार हाथ प्रमाण तक पृथ्वी पर स्थित स्थूल और सूक्ष्म जीवों को सम्यक् [illegible] अवलोकन करते हुए, उनकी रक्षा करते हुए सावधानीपूर्वक गमन करे।

वह श्रुत और शास्त्रों के अर्थ का स्मरण करते हुए, मन-वचन-काय को स्थिर बनाकर, अपने उपयोग को स्वाध्याय और ध्यान में उपयुक्त—तत्पर रखते हुए ही गमन करे।

भावार्थ—मुनि तीर्थयात्रा, देव वन्दना, गुरु वन्दना, साधुओं की [illegible] या गुरु के पास शास्त्र पढ़ना, सुनना तथा उनके पास प्रतिक्रमण करना आदि प्रयोजन के निमित्त से ही गमन करते हैं। व्यर्थ ही टहलने आदि के हेतु से नहीं चलते हैं। पहले से मुनि [illegible] आवश्यक स्वाध्याय करके रात्रिक प्रतिक्रमण करते हैं और पौर्वाह्णिक देववन्दना [illegible] करते हैं। अनन्तर ही जब विहार करते हैं, वे अपने शयन के स्थान का भी [illegible] परिशोधन करके पाटा, चटाई, घास आदि को देख-शोधकर एक तरफ रख के [illegible] हैं। चलते समय मार्ग में अपने उपयोग को धर्मध्यान में तन्मय रखते हुए गमन करना [illegible] है, न कि इधर-उधर देखते हुए या मनोरंजन करते हुए। जीवरक्षा हेतु चार हाथ आगे [illegible] जमीन देखते हुए और जीवदया पालते हुए चलना ही ईर्यासमिति है।

इस गाथा के द्वारा आचार्य ने प्रकाशशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बनशुद्धि का वर्णन कर दिया है। आगे मार्गशुद्धि पर प्रकाश डाल रहे हैं।

पुनरपि दो श्लोक के द्वारा मार्गशुद्धि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—बैलगाड़ी, अन्य वाहन, पालकी या रथ अथवा ऐसे ही और भी [illegible] वाहन जिस मार्ग से बहुत बार गमन कर जाते हैं वह मार्ग प्रासुक है ॥३०४॥

आचारवृत्ति—बैल आदि से युक्त काठी का यंत्र—वाहन बैलगाड़ी है। [illegible] [illegible]

पूर्वो [illegible] भवतीति ॥३०४॥

[illegible] प्रश्नमाह—

हत्थी अस्सो खरोडो वा गोमहिसगवेलया।
बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे ॥३०५॥

[illegible] स मार्गः प्रासुको भवेत् ॥३०५॥

इत्थी पुंसा व गच्छंति आदवेण य जं हदं।
सत्थपरिणदो चेव सो मग्गो फासुओ हवे ॥३०६॥

स्त्रियः पुरुषाश्च येन वा गच्छन्ति । आतपेन [illegible] स मार्गः प्रासुको भवेत् । [illegible] ॥३०६॥

विशेष—यहाँ पर बैलगाड़ी, हाथी घोड़े, पालकी, रथ आदि [illegible] और भी अन्यों के लिए कहा है। इससे आजकल की बसें, कारें, साइकिल आदि [illegible] मार्ग पर चलते हैं वह भी प्रासुक हो जाता है, ऐसा समझें।

'इसी प्रकार से और भी जो कुछ होवें' ऐसा जो [illegible] सो ही आचार्य बताते हैं—

गाथार्थ—हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट अथवा गाय, भैंस, [illegible] मार्ग से बहुत बार चलते हैं वह मार्ग प्रासुक हो जाता है ॥३०५॥

आचारवृत्ति—हाथी, घोड़े, गधे, ऊँट, गाय, भैंस, [illegible] से बार बार निकलते हैं वह मार्ग प्रासुक—जीवरहित शुद्ध हो जाता है।

गाथार्थ—जिस पर स्त्री-पुरुष चलते रहते हैं, जो आतप अर्थात् सूर्य की [illegible] आदि से संतप्त हो चुका है और जो [illegible] से [illegible] हो गया है वह मार्ग प्रासुक हो जाता है ॥३०६॥

भाषासमितिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवे सुद्धा ॥३०७॥

सच्चं—सत्यं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयास्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया नास्ति, उभयापेक्षयास्ति च नास्ति च, अनुभयापेक्षयावक्तव्यमित्येवमादि वदतोऽवितथं वचनं। तथा प्रमाणनयनिक्षेपैरिदं सत्यं वचनं। असच्चमोसं—असत्यमृषा सत्यं न भवति, असत्यं च न भवति सामान्यवचनं। अलीकं—मृषावाद आदिर्येषां दोषाणां ते अलीकादिदोषास्तैर्वर्जितं अलीकादिदोषवर्जितं परुषकर्कशादिदोषरहितं। अणवज्जं—अनवद्यं हिंसादिपापागमनवचनरहितं। एवंभूतं सूत्रानुवीच्या प्रवचनानुसारेण वाचनापृच्छनानुप्रेक्षादिस्वाध्यायेनापि धर्मकार्येण वदतो भाषासमितिर्भवति शुद्धेति ॥३०७॥

सत्यस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

जणवदसम्मदठवणा णामे रूवे पडुच्चसच्चे य।
संभावणववहारे भावे' ओपम्मसच्चे य ॥३०८॥

अब भाषा समिति का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—असत्य आदि दोषों से वर्जित निर्दोष, ऐसा सत्य और असत्यमृषा वचन आगम के अनुकूल बोलते हुए मुनि के निर्दोष भाषासमिति होती है ॥३०७॥

आचारवृत्ति—प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से अस्ति रूप है। वही वस्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है। स्वपर की अपेक्षा से अस्ति और नास्ति रूप तृतीय भंग रूप है। अनुभय—स्वपर की अपेक्षा नहीं करने से वही वस्तु अवक्तव्य है। इत्यादि सप्तभंगी रूप या ऐसे ही अन्य भी यथार्थ वचन बोलना सत्य है। तथा प्रमाण, नय और निक्षेपों के द्वारा वचन बोलना भी सत्य है।

जो सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है ऐसे सामान्य वचन असत्यमृषा अर्थात् अनुभय वचन हैं। ऐसे सत्य और अनुभय वचन बोलना भाषासमिति है।

अलीक—झूठवचन आदि दोषों से रहित अर्थात् पर को दुखाने आदि के वचनों से रहित और हिंसा आदि पाप का आगमन कराने वाले वचनों से रहित ऐसे निर्दोष वचन बोलना। सूत्र के अनुसार अर्थात् आगम के अनुकूल वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा आदि के द्वारा या अन्य भी किसी धर्म कार्य के निमित्त बोलना या अनुभयवचन बोलना अथवा शास्त्रों के पठन-पाठन रूप, उनके विषय में प्रश्न रूप या अनुप्रेक्षा आदि रूप वचन बोलना अथवा अन्य भी किसी धर्म कार्य रूप वचन बोलना—यह निर्दोष भाषासमिति है।

अब सत्य के भेदों का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—जनपद, सम्मत, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीत्य, संभावना, व्यवहार, भाव और उपमा इनमें दस प्रकार का सत्य है ॥३०८॥

१ क [illegible]

सत्यशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। जनपदसत्यं, बहुजनसम्मतसत्यं, स्थापनासत्यं, नामसत्यं, रूपसत्यं, प्रतीतिसत्यमन्यापेक्षसत्यमित्यर्थः, संभावनासत्यं, व्यवहारसत्यं, भावसत्यं उपमासत्यं इति दशधा सत्यं वाच्यमिति सम्बन्धः ॥३०८॥

एतानि दशसत्यानि विवृण्वन्नाह—

जणपदसच्चं जध ओदणादि य रुच्चदि य सव्वभासेण¹।
बहुजणसम्मदमवि होदि जं तु लोए जहा देवी ॥३०९॥

जनपदसत्यं देशसत्यं। यथौदनादिरुच्यते सर्वभाषाभिः द्रविडभाषया चौर इत्युच्यते। कर्णाटभाषया कूल इत्युच्यते। गौडभाषया भक्तमित्युच्यते। एवं नानादेशभाषाभिरुच्यमान ओदनो जनपदसत्यमिति जानीहि। बहुभिर्जनैर्यत्सम्मतं तदपि सत्यमिति भवति। यथा महादेवी, मानुष्यपि लोके महादेवीति। यथा देवो वर्षतीत्यादिकं वचनं लोकसम्मतं सत्यमिति ग्राह्यं। न प्रतिबन्धः कार्यः एवं न भवतीति इत्यर्थः। प्रतिबन्धे सत्यमसत्यं स्यादिति ॥३०९॥

ठवणा ठविदं जह देवदादि णामं च देवदत्तादि।
उक्कडदरोत्ति वण्णे रूवे सेओ जध बलाया ॥३१०॥

आचारवृत्ति—सत्य शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। जनपदसत्य, बहुजनसम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य—अन्य की अपेक्षा सत्य, संभावनासत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य और उपमासत्य। इस प्रकार से दशभेद रूप इन सत्य वचनों को बोलना चाहिए।

इन दशभेदरूप सत्य का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—जनपदसत्य, जैसे सभी भाषाओं में व्यवहृत ओदन आदि शब्द। बहुजन-सम्मत सत्य भी यह है कि जैसे लोक में मानुषी को महादेवी कहना ॥३०९॥

आचारवृत्ति—जनपदसत्य अर्थात् देशसत्य। जैसे जनपद की सभी भाषाओं में ओदन (भात) आदि को अन्य-अन्य शब्दों से कहा जाता है। द्रविड़ भाषा में ओदन को 'चोर' कहते हैं, कर्णाटक भाषा में 'कूल' कहते हैं और गौड़ भाषा में 'भक्त' कहते हैं। ऐसे ही नाना देशों में उन-उन भाषाओं के द्वारा कहा गया 'ओदन' जनपद सत्य है ऐसा तुम जानो। जो बहुत जनों को सम्मत है वह भी सत्य है। जैसे किसी मनुष्य-स्त्री को भी लोक में महादेवी कहते हैं, और जैसे 'देव बरसता है' इत्यादि वचन लोकसम्मत सत्य है। अर्थात् मेघ बरसता है किन्तु व्यवहार में लोग कहते हैं कि देव बरसता है यह सम्मत सत्य है। इन वचनों में 'यह ऐसा नहीं है' ऐसा कहकर आप प्रतिबन्ध नहीं लगा सकते; और यदि आप प्रतिबन्ध लगाएँगे तो आपके सत्यवचन भी असत्य हो जावेंगे। इस गाथा में जनपद सत्य और बहुजनसम्मत को कहा है।

गाथार्थ—जिसमें स्थापना की गई है वह स्थापनासत्य है, जैसे यह देवता है, इत्यादि। नामकरण को नाम सत्य कहते हैं, जैसे देवदत्त आदि। रूप से श्वेत की उत्कटता से कहना रूपसत्य है, जैसे बगुला सफेद है ॥३१०॥

1. क सव्वभासाए।

यद्यपि देवतादिप्रतिरूपं स्थापनया स्थापितं। तथा च देवदत्तादिनाम। न हि तत्र देवतादिस्वरूपं विद्यते। नापि तं (?) देवैर्दत्तोऽसौ। तथापि व्यवहारनयापेक्षया स्थापनासत्यं, नामसत्यं च सद्भिरुच्यते तद्भिरिति। अर्हत्प्रतिमा-सिद्धप्रतिमादि तथा नागयक्षेन्द्रादिप्रतिमाश्च तत्सर्वं स्थापनासत्यं। तथा देवदत्त इन्द्रदत्तो यज्ञदत्तो विष्णुमित्र इत्येवमादिवचनं नामसत्यमिति। तथा वर्णेनोत्कृष्टतरेति श्वेता बलाका। यद्यपि तत्रान्यानि रक्तादीनि सम्भवन्ति रूपाणि, तथापि श्वेतेन वर्णेनोत्कृष्टतरा बलाका, अन्येषामविवक्षितत्वा-दिति रूपसत्यं द्रव्यार्थिकनयापेक्षया वाच्यमिति ॥२१०॥

अण्णं अपेक्खसिद्धं पडुच्चसच्चं जहा हवदि दिग्घं।
ववहारेण य सच्चं रज्झदि कूरो जहा लोए ॥२११॥

अन्यद्वस्तुजातमपेक्ष्य किंचिदुच्यमानं प्रतीत्यसत्यं भवति। यथा दीर्घोऽयमित्युच्यते। वितस्तिमात्राद्ध-स्तमात्रं दीर्घं तथा द्विहस्तमात्रात्पंचहस्तमात्रं। पंचहस्तमात्राद्दशहस्तमात्रं। एवं यावन्मेरुमात्रं। तथैवं (४)

आचारवृत्ति—यद्यपि देवता आदि की प्रतिमाएँ स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित की गई हैं। उसी प्रकार से देवदत्त आदि नाम रखे जाते हैं। उनमें देवता आदि का स्वरूप विद्यमान नहीं है और न ही देवदत्त आदि पुरुष देवों के द्वारा दिये गये हैं। फिर भी, व्यवहार नय की अपेक्षा से सज्जन पुरुषों द्वारा वे स्थापनासत्य और नामसत्य कहे जाते हैं। अर्थात् अर्हन्त प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा आदि तथा नागयक्ष की प्रतिमा और इन्द्र की प्रतिमा आदि जो हैं ये सभी स्थापना-सत्य हैं। तथा देवदत्त, इन्द्रदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र इत्यादि प्रकार के वचन नाम सत्य हैं अर्थात् देवदत्त को देव ने नहीं दिया है, इन्द्रदत्त को इन्द्र ने नहीं दिया है इत्यादि; फिर भी नामकरण से उन्हें उसी नाम से जाना जाता है।

उसी प्रकार से वर्ण से उत्कृष्टतर होने से बगुला को सफेद कहते हैं। यद्यपि उस बगुला में लाल चोंच, काला आँखें आदि अन्य अनेक रूप सम्भव हैं, फिर भी श्वेत वर्ण इसमें उत्कृष्टतर होने से इसे श्वेत कहते हैं, क्योंकि अन्य वर्ण वहाँ पर अविवक्षित हैं इसलिए यह रूपसत्य द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से वाच्य है।

विशेषार्थ—किसी वस्तु में यह वही है ऐसी स्थापना स्थापनासत्य है, जैसे पाषाण की प्रतिमा में यह महावीर प्रभु हैं। किसी में जाति आदि गुण की अपेक्षा न करके नाम रख देना यह नाम सत्य है; जैसे किसी बालक का नाम आदीश कुमार रखा जाना। किसी वस्तु में अनेक वर्ण होने पर भी उसमें जो प्रधान है, अधिक है उसी की अपेक्षा रखना यह रूपसत्य है जैसे बगुला सफेद होता है। यहाँ तीन प्रकार के सत्य का वर्णन हुआ।

गाथार्थ—अन्य की अपेक्षा करके जो सिद्ध हो वह प्रतीति सत्य है, जैसे यह दीर्घ है। व्यवहार से सत्य व्यवहार सत्य है; जैसे भात पकाया जाता है ऐसा कथन लोक में देखा जाता है ॥२११॥

आचारवृत्ति—अन्य वस्तु की अपेक्षा करके जो कुछ कहा जाता है वह प्रतीत्य सत्य है, जैसे किसी वस्तु की अपेक्षा करके कहना कि यह दीर्घ है। एक वितस्ति के प्रमाण से एक हाथ दीर्घ है, उसी प्रकार से दो हाथ प्रमाण से पाँच हाथ का प्रमाण बड़ा है और पाँच हाथ माप से दस हाथ का प्रमाण बड़ा है, इस प्रकार से मेरुपर्वत तक भी जान लेने की व्यवस्था

ह्रस्वदीर्घवृत्तचतुरस्रादि, कुरूप-सुरूप-पंडित-मूर्ख-पूर्वापरादिकमपेक्षासिद्धं निरपेक्षमेतन्नोपलभ्यते। न तत्र विवादः कार्यः। तथा, ओदनं पच्यते कूर ओदनः पच्यते अपूपाः इत्यादि लोके वचनं व्यवहारसत्यमिति वाच्यं। न तत्र विवादः कार्यः। यद्योदनः पच्यते भस्म भवति, अपूपा यदि पच्यन्ते भस्मीभवन्त्यपि इत्येवं व्यवहारसत्यं वचनं सत्यमिति ॥३११॥

संभावणा य सच्चं जदि णामेच्छेज्ज एव कुज्जंति।
जदि सक्को इच्छेज्जो जंबूदीवं हि पल्लत्थे ॥३१२॥

यदि नामैतदेवमिच्छेत्, एवं कुर्यात् यदेतत्संभावना सत्यं। संभाव्यत इति संभावना। सा द्विविधा-अभिनीतानभिनीतभेदेन। क्रियानुष्ठानाभिनीता। अस्ति सामर्थ्यं यदुत नाम नचाः न क्रियाऽनुष्ठानाभिनीता। यथा यदि नाम शक्र इच्छेज्जम्बूद्वीपं परिवर्तयेत्। संभाव्यते एतत्सामर्थ्यमिन्द्रस्य जम्बूद्वीपपरिवर्तनं कुर्यात्। अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात्। सर्वमेतदनभिनीता संभावना सत्यं। अपि भवान् प्रस्थं भक्षयेत्। बाहुभ्यां गंगां तरेदेतदभिनीतं सम्भावनासत्यमिति सम्भावनासम्भावभेदेनेति ॥३१२॥

कर सकते हैं। तीन लोक में सबसे बड़ा मेरुपर्वत है।

उसी प्रकार से ह्रस्व, गोल और चौकोन आदि भी एक दूसरे की अपेक्षा से ही हैं। तथा कुरूप-सुरूप, पण्डित-मूर्ख, पूर्व-पश्चिम ये सब एक-दूसरे की अपेक्षित करके होते हैं अतः इनका कथन अपेक्षा सत्य या प्रतीत्य सत्य है। इसमें किसी को विवाद नहीं करना चाहिए।

उसी प्रकार भात पकाया जाता है, मंडे—रोटी या पुआ पकाये जाते हैं। इत्यादि प्रकार के वचन लोक में देखे जाते हैं यह सब व्यवहार सत्य है। इसमें भी विवाद नहीं करना चाहिए। वास्तव में यदि भात पकाया जावे तो वह भस्म हो जाए, और यदि रोटी पकायी जावें तो वे भी भस्मीभूत हो जाएँ, किन्तु फिर भी व्यवहार में वैसा कथन होता है अतः यह व्यवहार सत्य है। यहाँ पर प्रतीत्य सत्य और व्यवहार सत्य इन दो का लक्षण बतलाया है।

गाथार्थ—'यदि चाहे तो ऐसा कर डालें' ऐसा कथन सम्भावना सत्य है। यदि इन्द्र चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट दे ॥३१२॥

आचारवृत्ति—'यदि वह ऐसी इच्छा करे तो कर डाले' जो ऐसा कथन है वह सम्भावना सत्य है। जो सम्भावित किया जाता है उसे सम्भावना कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अभिनीत और अनभिनीत। जो क्रियानुष्ठानरूप वचन है अर्थात् जिसका करना शक्य है वे वचन अभिनीत सम्भावना सत्य हैं और जिसकी सामर्थ्य तो है किन्तु वैसा करते नहीं हैं ऐसे (अक्रियानुष्ठान) वचन अनभिनीत सम्भावना सत्य हैं। जैसे, इन्द्र चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट दे इस वचन में इन्द्र की यह सामर्थ्य सम्भावित की जा रही है कि वह चाहे तो जम्बूद्वीप को अन्य रूप कर सकता है किन्तु वह ऐसा कभी करता नहीं है। और भी उदाहरण है, जैसे यह सिर से पर्वत को फोड़ सकता है, ये सभी वचन अनभिनीत सम्भावना सत्यरूप हैं। और यह चाहे तो प्रस्थ (सेर भर) खा जावे, यह अपनी भुजाओं से गंगा को तिर सकता है। यह सब वचन अभिनीत सम्भावना सत्य हैं। इस प्रकार से सम्भाव्य और असम्भाव्य के भेद से सम्भावना सत्य दो प्रकार का है। अर्थात् सम्भावित होने योग्य और न होने योग्य की अपेक्षा अथवा अभिनीत—शक्य और अनभिनीत—अशक्य की अपेक्षा से इस सत्य के दो भेद हो जाते हैं।

हिंसादिदोसविजुदं सच्चमकप्पियवि[1] भावदो भावं ।
ओवम्मेण दु सच्चं जाणसु पलिदोवमादीया ॥३१३॥

हिंसा आदिर्येषां दोषाणां ते हिंसादयस्तैर्विमुक्तं विरहितं हिंसादिदोषविमुक्तं। हिंसास्तेयाब्रह्मपरिग्रहादिप्रारम्भकवचनरहितं सत्यं। अकल्पितमपि भावतोऽयोग्यमपि भावतः परमार्थतः सत्यं जानीहि। तद्यथा—दृष्टस्त्वया चौरो दृष्टो न मया दृष्ट एवं वक्तव्यं। यद्यपि वचनमेतदसत्यं तथापि परमार्थतः सत्यं हिंसादिदोषरहितत्वात्। यथा येन येन परपीडोत्पद्यते परलोकं इहलोकं च प्रति, तत्सर्वं सत्यमपि त्याज्यं रागद्वेषसहितत्वात्। सत्यमपि हिंसादिदोषसहितं न वाच्यमिति भावसत्यं। औपम्येन तु युक्तं सत्यं जानीहि। यथा पल्योपमादिवचनं। उपमामात्रमेतत्। न हि कुशलो योजनमात्रः केनापि रोमखण्डैः पूर्यते। एवं सागरो रज्जुः प्रतरांगुलं सूच्यंगुलं घनांगुलं श्रेणी लोकप्रतरो लोकश्चन्द्रमुखी कन्या इत्येवमादय उपमानवचनानि उपमासत्यानीति वाच्यानि। न तत्र विवादः कार्यः। इत्येतद्दशप्रकारं सत्यं वाच्यं।

तथा सन्धिनामतद्धितसमासाख्यातकृद्दोषादिविमुक्तं, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनसहितं, छलजाति-निग्रहस्थानादिविवर्जितं, लोकसमयव्यवहारविरोधरहितं, प्रमाणोपपन्नं, नैगमादिनयाविरुद्धं, [illegible]-

गाथार्थ—हिंसा आदि दोष से रहित भाव से अकल्पित भी वचन भाव सत्य है और उपमा से कहे गये पल्योपम आदि उपमा सत्य हैं ॥३१३॥

आचारवृत्ति—हिंसा, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह आदि को ग्रहण करने वाले वचनों से रहित वचन हिंसादि दोष रहित हैं, अकल्पित भी हैं अर्थात् अयोग्य भी वचन परमार्थ से सत्य होने से भाव सत्य हैं। जैसे किसी ने पूछा, 'तुमने चोर देखा है' तो कहना कि मैंने नहीं देखा है; यद्यपि ये वचन असत्य ही हैं फिर भी परमार्थ से सत्य हैं क्योंकि हिंसादि दोषों से रहित हैं। इसी तरह जिन किन्हीं वचनों से इहलोक और परलोक के प्रति पर को पीड़ा उत्पन्न होती है अर्थात् जिन वचनों से इहलोक परलोक बिगड़ता है और पर को कष्ट होता है वे सभी वचन सत्य होकर भी त्याग करने योग्य हैं, क्योंकि रागद्वेष से सहित हैं। तात्पर्य यह है कि हिंसादि दोषों से सहित वचन सत्य भी हों तो भी नहीं बोलना चाहिए। इसी का नाम भावसत्य है।

उपमा से युक्त जो वचन हैं वे भी सत्य हैं ऐसा समझो। जैसे पल्योपम आदि वचन; ये वचन उपमा मात्र ही हैं। क्योंकि किसी के द्वारा भी योजन प्रमाण का गड्ढा रोमों के अग्रिम सूक्ष्म-सूक्ष्म टुकड़ों से भरा नहीं जा सकता है। इसी प्रकार से सागर, राजू, प्रतरांगुल, सूच्यंगुल, घनांगुल, श्रेणी, लोकप्रतर और लोक ये सभी उपमावचन हैं। तथा 'चन्द्रमुखी कन्या' इत्यादि वचन भी उपमान वचन होने से उपमासत्य वचन हैं। इसमें विवाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ तक दस तरह के सत्यों का वर्णन हुआ।

तात्पर्य यह है कि सन्धि, नाम—लिंग, तद्धित, समास, आख्यात, कृदन्त और [illegible] से युक्त अर्थात् व्याकरण से शुद्ध, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन से सहित—अर्थात् न्याय ग्रन्थ के आधार से पाँच अवयव वाले अनुमान वाक्य [illegible], छल, जाति, निग्रहस्थान आदि दोषों से रहित अर्थात् वाद प्रसंग में कथित छल जाति आदि दोषों से रहित, [illegible]

1 क [illegible] ।

युक्तं, मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यवचनसहितं, अनिष्ठुरमकर्कशमनुद्धतमर्थवत्, श्रुतिसुखम्, सुश्लिष्टाक्षर-पदवाक्यविरचितं, हेयोपादेयसंयुक्तं—इत्यम्भूतं सत्यं वाच्यं। लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहसहितं धातुनिपात-बलाबलच्छन्दोऽलंकारादिसमन्वितं, आगमेनापि वक्तव्यः ॥३१३॥

एतद्व्यतिरिक्तमसत्यमिति प्रतिपादयन्नाह—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं।
तव्विवरीदा भासा असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥३१४॥

तद्दशप्रकारसत्यविपरीतं पूर्वोक्तात् सर्वस्मात् प्रतिकूलवचनं मृषा। यत्र सत्यासत्यमुभयं यत्र पदे वाक्ये वा तत्सत्यमृषावचनं तत्र गुणदोषमिश्रत्वात्। सत्यमृषावचनविपरीता भाषा असत्यमृषा अनुभय-मृषोक्तिः। सा भवति दृष्टा जिनैः। न सा सत्या न मृषेति तात्पर्यः ॥३१४॥

असत्यमृषाभाषां विवृण्वन्नाह—

विरोध, समय—आगमविरोध और स्ववचन विरोध से रहित, प्रमाण से उपपन्न—प्रमाणीक, नैगम आदि नयों की अपेक्षा सहित, जाति और युक्ति से युक्त, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य वचनों से सहित, निष्ठुरता रहित, कर्कशता रहित, उद्धता रहित, अर्थ सहित, कानों को सुनने में मनोहर, सुललित अक्षर, पद और वाक्यों से विरचित, हेय और उपादेय से संयुक्त ऐसे सत्य वचन बोलना चाहिए। तथा लिंग, संख्या, काल, कारक, उत्तम-मध्यम-अधम पुरुष, उपग्रह से सहित धातु निपात, बलाबल, छन्द, अलंकार आदि से समन्वित भी सत्य वचन बोलना चाहिए अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार, आगम और लोकव्यवहार आदि के अनुकूल सत्य वचन बोलना ही श्रेयस्कर है।

इनसे व्यतिरिक्त जो वचन हैं वे असत्य हैं ऐसा प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त सत्य वचन से जो विपरीत है वह असत्य है। जिसमें सत्य और असत्य दोनों हैं वह सत्यमृषा है। इन उभय से विपरीत अनुभय वचन असत्यमृषा कहे गये हैं ॥३१४॥

आचारवृत्ति—पूर्वोक्त सभी दस प्रकार के सत्य वचनों से प्रतिकूल वचन को मृषा कहते हैं। जिस पद या वाक्य में से सत्य और असत्य दोनों ही वचन मिश्र हों वह सत्यमृषा नाम को प्राप्त होता है, क्योंकि वह उभयवचन गुण-दोष, दोनों से सहित है। इस सत्यमृषा वचन से विपरीत भाषा असत्यमृषा है, क्योंकि वह न सत्य है न असत्य है अतः अनुभय रूप है; ऐसा जिनेन्द्रदेव ने देखा है अर्थात् कहा है।

तात्पर्य यह है कि सत्य, असत्य, उभय और अनुभय के भेद से वचन चार प्रकार के हैं। उनमें से असत्य वचन और उभयवचन को छोड़ देना चाहिए और सत्यवचन तथा अनुभय वचन बोलना चाहिए। इसी बात को आगे [illegible] (गाथा ३०७) में कहा है।

अब असत्यमृषा भाषा का वर्णन करते हैं—

आमंतणि आणवणी जायणिसंपुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी भासा छट्ठी इच्छाणुलोमा य ॥३१५॥
संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ।
णवमी अणक्खरगया असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥३१६॥

आमंत्र्यतेऽनयेत्यामंत्रणी । गृहीतवाच्यवाचकसंबन्धो व्यापारान्तरं प्रत्यभिमुखी क्रियते यया सामंत्रणी भाषा । यथा हे देवदत्त इत्यादि । आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञापनी । आज्ञां तवाहं ददामीत्येवमादि वचनमाज्ञापनी भाषा । याच्यतेऽनया याचना । यथा याचयाम्यहं त्वां किंचिदिति । पृच्छ्यतेऽनयेति पृच्छना । यथा पृच्छाम्यहं त्वामित्यादि । प्रज्ञाप्यतेऽनयेति प्रज्ञापना । यथा प्रज्ञापनाम्यहं त्वामित्यादि । प्रत्याख्यायतेऽनयेति प्रत्याख्याना यथा प्रत्याख्यानं मम दीयतामित्यादि भाषासमितिः सर्वत्र संबन्धः । इच्छया 'लोमानुकूलेच्छा'लोमा सर्वानुकूला । यथा एवं करोमीत्यादि ॥३१५॥

संशयमव्यक्तं वक्तीति संशयवचनी । संशयार्थप्रकाशनानभिव्यक्तार्था यस्मान्नानासंदेहरूपार्थो न प्रतीयते तद्वचनं संशयवचनी भाषेत्युच्यते । यथा दन्तरहितातिबालातिवृद्धवचनं, महिष्यादीनां च शब्दः ।

गाथार्थ—आमन्त्रण करनेवाली, आज्ञा करनेवाली, याचना करनेवाली, प्रश्न करनेवाली, प्रज्ञापन करनेवाली, प्रत्याख्यान करानेवाली छठी भाषा और इच्छा के अनुकूल बोलने वाली भाषा सातवीं है।

उसी प्रकार संशय को कहनेवाली असत्यमृषा भाषा आठवीं है तथा नवमी अनक्षरी भाषा रूप असत्यमृषा भाषा देखी गई है ॥३१५-३१६॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा आमन्त्रण किया जाता है वह आमन्त्रणी भाषा है। जिसने वाच्य-वाचक सम्बन्ध जान लिया है उस व्यक्ति को अन्य कार्य से हटाकर अपनी तरफ उन्मुख करना आमन्त्रणी भाषा है। जैसे, हे देवदत्त ! इत्यादि सम्बोधन वचन बोलना। इस शब्द से वह देवदत्त अन्य कार्य को छोड़कर बुलानेवाले की तरफ उन्मुख होता है।

जिसके द्वारा आज्ञा दी जाती है वह आज्ञापनी भाषा है। जैसे, 'मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।' इत्यादि वचन बोलना।

जिसके द्वारा याचना की जाती है वह याचनी भाषा है। जैसे, 'मैं तुमसे कुछ माँगता हूँ।'

जिसके द्वारा प्रश्न किया जाता है वह पृच्छना है। जैसे, 'मैं आपसे पूछता हूँ' इत्यादि।

जिसके द्वारा प्रज्ञापना की जाये वह प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे, 'मैं आपसे कुछ निवेदन करता हूँ' इत्यादि।

जिसके द्वारा कुछ त्याग किया जाता है वह प्रत्याख्यानी है। जैसे, 'मुझे प्रत्याख्यान दीजिए' इत्यादि।

१ क [illegible]। २ क [illegible]।

सर्वेषामसत्यमृषा साष्टमी भाषा। नवमी पुनरनक्षरगता। यस्यां तत्कालिक्यामपि ककारमकारादी-नामनभिव्यक्तिर्येन सा नवमी भाषानक्षरगता। सा च द्वीन्द्रियादीनां भवत्येव। असत्यमृषा भाषा नव प्रकारा भवति। विशेषाप्रतिपत्तेरसत्या सामान्यस्य प्रतिपत्तेर्न मृषा। आमन्त्रणमर्पेणाभिमुखीकरणेन न मृषा पश्चादन्यस्यार्थस्याप्रतिपत्तेरसत्या। यथाज्ञापनेन न मृषा पश्चादिदं करिष्यतीति न ज्ञायते तेन न सत्या। तथा याच्यामानेन न मृषा, उत्तरकाले किं दास्यतीति न ज्ञायते यतो न सत्या। तथा प्रश्नमात्रेण न मृषा पश्चान्न ज्ञायते किं पृच्छतीत्येवेति न सत्या। तथा प्रत्याख्यानसामान्य-रूपस्य पालनायाः प्रतीतेर्न मृषा पश्चादुत्तरस्य प्रत्याख्यानं करिष्यतीति न ज्ञायते तेन न सत्या। तथेच्छया एवं करोमीति भणनेन न मृषा किंचित् पश्चात् करिष्यतीति न ज्ञायते तेन न सत्या। तथासत्यादि संदिग्धानि

जो इच्छा के अनुकूल है वह इच्छानुलोमा है जो कि सर्वत्र अनुकूल रहती है। जैसे, 'मैं ऐसा करता हूँ।' इत्यादि।

इन सभी के साथ भाषा समिति का सम्बन्ध लगा लेना चाहिए, अर्थात् ये सातों भेद भाषासमिति के अन्तर्गत हैं।

जो संशय अर्थात् अव्यक्त अर्थ को कहती है वह संशयवचनी भाषा है।

अर्थात् जिन सन्देह रूप वचनों से अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती है वे वचन संशय-वचनी हैं। जैसे, दाँत रहित अतिबाल और अतिवृद्ध के वचन तथा भैंस आदि पशुओं के शब्द। यह आठवीं भाषा है।

नवमी भाषा अनक्षरी है। जिसमें ककार मकार मकार आदि अक्षर अभिव्यक्त नहीं हैं, स्पष्ट नहीं हैं वह अनक्षरी भाषा है। यह द्वीन्द्रिय आदि जीवों में तो होती ही है।

इस प्रकार से असत्यमृषा भाषा के नौ भेद कहे गये हैं। इन भाषाओं से विशेष का ज्ञान नहीं हो पाता है अतः इन्हें सत्य भी नहीं कह सकते और सामान्य का ज्ञान होता रहता है अतः इन्हें असत्य भी नहीं कह सकते। इसी कारण 'न सत्यमृषा इति असत्यमृषा' ऐसा नञ् समास होने से यह शब्द सत्य और मृषा दोनों का निषेध कर रहा है।

इसी अर्थ को और स्पष्ट करते हैं—आमन्त्रणी भाषा में आमन्त्रण—सम्बोधन रूप से अपनी तरफ अभिमुख करने से यह असत्य नहीं है, पश्चात् किसलिए सम्बोधन किया ऐसा कोई अन्य अर्थ ज्ञात न होने से यह सत्य नहीं है। अतः असत्यमृषा है।

इसी प्रकार आज्ञापनी में आज्ञा देने से असत्य नहीं है, पश्चात् यह आज्ञा देते यह जाना नहीं जाता है इसलिए सत्य भी नहीं है। वैसे ही याचनी में याचना मात्र से असत्य नहीं है, उत्तर काल में क्या मांगेगा यह नहीं जाना गया है अतः सत्य भी नहीं है। पृच्छनी भाषा में प्रश्न मात्र से वह मृषा भी नहीं है, पुनः यह नहीं जाना जाता है कि यह क्या पूछेगा अतः सत्य भी नहीं है। वैसे ही प्रत्याख्यानी भाषा में प्रत्याख्यान सामान्य के त्यागने की प्रतीति होने से असत्य भी नहीं है, पश्चात् किस वस्तु का त्याग देंगे यह नहीं जाना जाता है अतः सत्य भी नहीं है। वैसे ही इच्छानुलोमा में इच्छा के अनुकूल 'मैं ऐसा करता हूँ' कहने से असत्य भी नहीं है, पश्चात् क्या करेगा यह नहीं जाना जाता है अतः सत्य भी नहीं है। वैसे ही असत्यमृषा में

प्रतीयन्ते तेन न मृषा, अर्थः सन्दिग्धो न प्रतीयते तेन न सत्या। यतः शब्दमात्रं प्रतीयते तेन न मृषा, अक्षरार्थस्य चाप्रतीतेर्न सत्येति। अनेन न्यायेन नवप्रकारा असत्यमृषाभाषा व्याख्यातेति ॥३१६॥

पुनरपि यद्वचनं सत्यमुच्यते तदर्थमाह—

सावज्जजोग्गवयणं वज्जंतोऽवज्जभीरु गुणकंखी।
सावज्जवज्जवयणं णिच्चं भासेज्ज भासंतो ॥३१७॥

यदि मौनं कर्तुं न शक्नोति तत एवं भाषेत—सावद्यं सपापमयोग्यं चकारमकारादिपूर्वं वचः वर्जयेत्। अवद्यभीरुः पापभीरुः। गुणाकांक्षी हिंसादिदोषवर्जनपरः। सावद्यवर्जं वचनं नित्यं सर्वकालं भाषमाणो भाषयेत्। अन्वयव्यतिरेकेण वचनमेतत्। नैतस्य पौनरुक्त्यं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहपरत्वादिति ॥३१७॥

भाषासमितिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

अक्षर संदिग्ध प्रतीति में आ रहे हैं इसलिए असत्य भी नहीं है और अर्थ संदिग्ध होने से स्पष्ट प्रतीति में नहीं आता है इसलिए सत्य भी नहीं है। अर्थात् शब्द मात्र तो प्रतीति में आ रहे हैं इसलिए असत्य नहीं है और अक्षरों का अर्थ प्रतीति में नहीं आ रहा है इसलिए सत्य भी नहीं है। इस न्याय से नव प्रकार की असत्यमृषा भाषा का व्याख्यान किया गया है। भाषा-समिति में इन वचनों को बोलना वर्जित नहीं है।

पुनरपि जो वचन सत्य कहे जाते हैं उन्हीं को बताते हैं—

गाथार्थ—पापभीरु और गुणाकांक्षी मुनि सावद्य और अयोग्य वचन को छोड़ता हुआ तथा नित्य ही पाप योग से वर्जित वचन बोलता हुआ वर्तता है ॥३१७॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि मौन नहीं कर सकता है तो इस प्रकार से बोले—पाप सहित वचन और चकार मकार आदि सहित अर्थात् 'रे', 'तू' आदि शब्द अथवा गालीगलौज आदि अभद्र शब्द से युक्त वचन नहीं बोले। पापभीरु और गुणों का आकांक्षी अर्थात् हिंसादि दोषों के वर्जन में तत्पर होता हुआ मुनि यदि बोले तो हमेशा ही उपर्युक्त दोष रहित सत्य वचन बोले। यह अन्वय और व्यतिरेक रूप से कहा गया है इसलिए इसमें पुनरुक्त दोष नहीं आता है क्योंकि द्रव्यार्थिकनयापेक्षी और पर्यायार्थिकनयापेक्षी शिष्यों के प्रति अनुग्रह करना ही इसका कार्य है।

विशेष—पहले जो दस प्रकार के सत्य और नव प्रकार के अनुभय वचन बताये और उनके बोलने का आदेश दिया था सो अन्वय कथन है अर्थात् विधिरूप कथन है और यहाँ पर सावद्य और अयोग्य वचनों का त्याग के लिए कहा गया व्यतिरेक अर्थात् निषेधपरक कथन है। द्रव्यार्थिक नयापेक्षी शिष्य एक प्रकार के कथन से ही दूसरे प्रकार का बोध कर लेते हैं किन्तु पर्यायार्थिक नयापेक्षी शिष्यों को विस्तार रूप से कहना जरूरी है।

अब भाषासमिति का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

उग्गम उप्पादणएसणेहिं पिंडं च उवधिं सज्जं च ।
सोधंतस्स य मुणिणो परिसुज्झइ एसणासमिदी ॥३१८॥

उद्गच्छत्युत्पद्यते आहारो यैर्दोषैस्ते उद्गमदोषाः । उत्पाद्यते निष्पाद्यते आहारो यैस्ते उत्पादनदोषाः । अश्यते भुज्यते आहारो वसत्यादिको वा यैस्तेऽशनदोषास्तैः । पिंडं आहारः । उपधिः पुस्तकपिच्छादिः । शय्या वसत्यादीन् शोधयतः सुष्ठु सावद्यपरिहारेण निरूपयतो, मुनेः परिशुद्धैषणासमितिः । अथवा सम्यग्विधानेन दोषपरिहारेणैति वा अशनसमितिः । उद्गमोत्पादनाशनदोषैः पिंडं उपधिं शय्यां च शोधयतो मुनेः परिशुद्धैषणासमितिरिति । एत उद्गमादयो दोषाः सप्रपंचेन पिंडशुद्धौ वक्ष्यन्ते [illegible] इह प्रपंचितं, पुनरुक्तदोषभयात् ।

कथमेतान् दोषान् परिहरति मुनिरित्याशंकायामाह[1] [illegible]

गाथार्थ—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों के द्वारा आहार, उपकरण, और वसति आदि का शोधन करते हुए मुनि के एषणा समिति शुद्ध होती है ॥३१८॥

आचारवृत्ति—जिन दोषों से आहार उद्गच्छति अर्थात् उत्पन्न होता है वे उद्गम दोष हैं । जिन दोषों से आहार उत्पाद्यते अर्थात् उत्पन्न कराया जाता है वे उत्पादन दोष हैं, और जिन दोषों से सहित आहार अथवा वसति आदि का अश्यते भुज्यते अर्थात्—उपभोग किया जाता है वे अशन दोष हैं ।

पिण्ड आहार को कहते हैं । उपधि से पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण लिये जाते हैं और शय्या शब्द से वसतिका आदि ग्राह्य है । इन आहार, उपकरण और वसतिका आदि का शोधन करते हुए अर्थात् अच्छी तरह से सावद्य का त्याग करके इनका [illegible] करते हुए मुनि के विशुद्ध अशन समिति होती है । अथवा अशन—भोजन को सम्यग्विधान से सहित दोषों का परिहार करके ग्रहण करना अशनसमिति है ।

तात्पर्य यह हुआ कि उद्गम, उत्पादन और अशन दोषों से रहित आहार, उपकरण और वसतिका की शुद्धि करनेवाले मुनि शुद्ध एषणासमिति का पालन करते हैं । ये उद्गम आदि दोष विस्तार सहित पिण्डशुद्धि अधिकार में कहे जायेंगे, इसलिए पुनरुक्त दोष के भय से यहाँ पर इनका विस्तार नहीं करते हैं । व्याकरण [illegible] यह है कि—उत् उपसर्ग पूर्वक गम् धातु से उद्गम शब्द बना है जिसका अर्थ है उत्पन्न होना । ये उद्गम दोष [illegible] के आश्रित हैं । उत् उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से णिजन्त में उत्पादन शब्द बना है जिसका अर्थ है उत्पन्न कराया जाना । ये उत्पादन दोष मुनि के आश्रित माने गये हैं । अश् धातु [illegible] भोजन करना । इससे अशन बना है । ये अशन सम्बन्धी दोष मुनि के भोजन के सम्बन्ध में हैं । ये ही दोष पुस्तक, पिच्छी, वसतिका आदि में भी निश्चित किये गये हैं । [illegible] उपसर्ग पूर्वक [illegible] उपभोग [illegible] पुस्तक आदि [illegible] के उपभोग में ये दोष हैं ।

शंका—मुनि इन दोषों का परिहार कैसे करते हैं ?

समाधान—[illegible]

1. [illegible]

कृत्वा घटिकाद्वयेऽतिक्रान्ते श्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं स्वाध्यायं गृहीत्वा वाचनापृच्छनानुप्रेक्षापरिवर्तनादि सिद्धान्तादेर्विधाय घटिकाद्वयमप्राप्ते मध्याह्नादरात् स्वाध्यायं श्रुतभक्तिपूर्वमुपसंहृत्य वसतितो दूरतो मूत्रपुरीषादीन् कृत्वा पूर्वापरकायविभागमवलोक्य हस्तपादादिप्रक्षालनं विधाय कुण्डिकां पिच्छिकां गृहीत्वा मध्याह्नदेववन्दनां कृत्वा पूर्वोदरबालकान् भिक्षाहारान् काकादिबलीनन्यानपि लिंगिनो भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशान्ते धूममुसलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः। तत्र गच्छन्नातिद्रुतं, न मन्दं, न विलम्बितं गच्छेत्। ईश्वरदरिद्रादिकुलानि न विभजेत्। न मार्गेऽपि जल्पेत्तिष्ठेत्। हास्यादिकान् विवर्जयेत्। नीचकुलेषु न प्रविशेत्। सूतकादिदोषदूषितेषु शुद्धेष्वपि कुलेषु न प्रविशेत्। द्वारपालादिभिर्निषिद्धो न प्रविशेत्। यावन्तं प्रदेशमन्ये भिक्षाचराः प्रविशन्ति तावन्तं प्रदेशं प्रविशेत्। विरोधनिमित्तानि स्थानानि वर्जयेत्। दुष्टखरोष्ट्रमहिषगोहस्तिव्यालादीन् दूरतः परिवर्जयेत्। मत्तोन्मत्तमदावलिप्तान् दूरतो वर्जयेत्। स्नानविलेपनमण्डनरतिस्त्रीप्रसक्ता [illegible]

सूर्योदय होने पर देववन्दना करके दो घड़ी (४८ मिनट) के बीत जाने पर श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके सिद्धान्त आदि ग्रन्थों की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और परिवर्तन आदि करके मध्याह्न काल से दो घड़ी पहले श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर देवे। पुनः वसतिका से दूर जाकर मल-मूत्र आदि विसर्जित करके अपने शरीर के पूर्वापर अर्थात् आगे-पीछे के भाग का अवलोकन—पिच्छिका से परिमार्जन करके हस्तपाद आदि का प्रक्षालन करके मध्याह्नकाल की देववन्दना—सामायिक करे अर्थात् मध्याह्न के पहले दो घड़ी जो शेष रही थी उसमें सामायिक करे। पुनः जब बालक भोजन करके निकलते हैं, काक आदि को बलि (दाने आदि) भोजन डाला जाता है और भिक्षा के लिए अन्य सम्प्रदायवाले साधु भी विचरण कर रहे होते हैं, तथा गृहस्थों के घर में धुआँ और मूसल आदि शब्द शान्त हो चुका होता है अर्थात् भोजन बनाने का कार्य पूर्ण हो चुका होता है, इन सब कारणों से मुनि आहार की वेला जानकर गोचरी के लिए निकले।

उस समय चलते हुए न ही अधिक जल्दी-जल्दी और न अधिक धीरे-धीरे तथा न ही विलम्ब करते हुए चले। धनी और निर्धन आदि के घरों का विचार-भेदभाव न करे। न मार्ग में किसी से बात करे और न ठहरे अर्थात् आहार के लिए निकल कर आहार-ग्रहण तक मुनि [illegible] मौन रहे। मार्ग में हास्य आदि भी न करे, [illegible] न करे। नीच कुलों के घर में प्रवेश न करे और सूतक, पातक आदि दोषों से दूषित [illegible] में भी नहीं जावे। द्वारपाल आदि के द्वारा रोके जाने पर वहाँ प्रवेश न करे। जितने प्रदेश [illegible] भिक्षा के लिए प्रवेश करते हैं, मुनि भी उतने प्रदेश तक प्रवेश करे। [illegible] जाने का निषेध है उन स्थानों को छोड़ देवे। दुष्टजन, गधे, ऊँट, भैंस, [illegible], सर्प आदि जीवों को दूर से ही छोड़ देवे अर्थात् उनसे दूर से बचकर निकले। [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] । [illegible] । [illegible] प्रासुकं [illegible] कृत्वा [illegible] । न (च) [illegible] कृत्वा [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] कृत्वा [illegible] गृहीत्वा निर्गच्छेत् । धर्मकार्यमन्तरेण न [illegible] प्रविशेत् । [illegible] प्रत्याख्यानं गृहीत्वा प्रतिक्रमेदिति ॥३१८॥

आदाननिक्षेपणसमितिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो ।
दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ॥३१९॥

भक्ति से दिये गये प्रासुक आहार को सिद्धभक्ति करके (सिद्धभक्ति करके एवं किए गृहीत प्रत्याख्यान का निष्ठापन करके) ग्रहण करे । [illegible] आदि न गिराते हुए, [illegible] न सराते—गिराते हुए छिद्र रहित अपने पाणिपात्र को नाभि प्रदेश के पास करके [illegible] आदि को न करते हुए आहार करे । स्त्रियों के स्तन, जघन, [illegible], नाभि, कमर, [illegible], मुख, दांत, ओठ, कांख, जंघा, पैर आदि अवयवों का या उनके [illegible] गमन, विलास, गीत, नृत्य, हास्य, स्नेह दृष्टि, कटाक्षपूर्वक देखना आदि चेष्टाओं का अवलोकन न करे ।

इस प्रकार पूर्ण उदर आहार करके अथवा अन्तराय आ जाने पर [illegible] उदर आहार करके, मुख-हाथ-पैरों का प्रक्षालन करके, [illegible] प्रासुक जल से भरे हुए [illegible] को लेकर आहार-गृह से निकले । धर्म कार्य के बिना अन्य किसी के घर में प्रवेश न करे । उस नगर से जिनमन्दिर आदि स्थान में आकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके गोचर प्रतिक्रमण करे ।

विशेष—मध्याह्न की सामायिक करके [illegible] आहारार्थ निकलें ; यहां ऐसा आदेश है, किन्तु वर्तमान में [illegible] आहारार्थ निकलते हैं, पश्चात् आहार के बाद मध्याह्न की सामायिक करते हैं [illegible] । वर्तमान में श्रावकों के भोजन की दो बेलाएँ हैं—प्रातः और सायं [illegible] । प्रातः की भोजनबेला प्रायः [illegible] बजे से [illegible] बजे [illegible] कि साधु प्रातः की भोजनबेला में आहारार्थ निकलते हैं । [illegible] नहीं निकलते हैं तो मध्याह्न सामायिक [illegible] [illegible] निकलते हैं क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible] ।

आदाने ग्रहणे। निक्षेपे त्यागे। प्रतिलेख्य सुष्ठु निरीक्षयित्वा चक्षुषा पश्चात्पिच्छिकया प्रमार्ज्य प्रतिलेखयेत्। द्रव्यं द्रव्यस्थानं च। कवलिका कुण्डिकादि द्रव्यं, यत्र तद्व्यवस्थितं तत्स्थानं। संयमलब्ध्या स भिक्षुर्यतिः। आदाननिक्षेपयोग्यवस्तुनो ग्रहणकाले निक्षेपकाले वा चक्षुषा द्रव्यं द्रव्यस्थानं च प्रतिलेख्य पिच्छिकया सम्मार्जयेदिति ॥३१९॥

येन प्रकारेणादाननिक्षेपणसमितिः शुद्धा भवति तमाह—

सहसाणाभोइयदुप्पमज्जिद अप्पच्चुवेक्खणा दोसा।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥३२०॥

सहसा शीघ्रं व्यापारान्तरं प्रत्युद्यतमनसा निक्षेपमादानं वा। अनाभोगितमनालोकितं स्वचित्तप्रवृत्त्या ग्रहणमादानं वा अनालोक्य द्रव्यं द्रव्यस्थानं यत्क्षिप्यते तदनाभोगितं। दुष्प्रमार्जितं दुष्प्रमार्जितं पिच्छिकाद्यपटलेन प्रतिलेखनं। अप्रत्युपेक्षणं किंचित् संस्थाप्य पुनः कालान्तरेणालोकनं। एतान् दोषान् परिहरतो भवेदादाननिक्षेपसमितिरिति। किमुक्तं भवति, स्वस्थवृत्त्या द्रव्यं द्रव्यस्थानं च चक्षुषावलोक्य मृदुपि-

---

आचारवृत्ति—कवलिका—शास्त्र रखने की चौकी आदि तथा कमण्डलु आदि वस्तुएँ द्रव्य हैं। जहाँ पर ये रखी हैं वह द्रव्य स्थान है। मुनि किसी भी वस्तु को उठाने में या रखने में पहले उसको अपनी आँखों से अच्छी तरह देख ले, फिर पिच्छिका से परिमार्जित करे। तभी उस वस्तु को ग्रहण करे या वहाँ पर रखे। इस तरह संयम की उपलब्धि से वह भिक्षु यति कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि श्रमणपने के योग्य ऐसी वस्तु को ग्रहण करते समय अथवा उन्हें रखते समय अपनी आँखों से वस्तुओं और स्थान का अवलोकन करके पुनः पिच्छिका से झाड़-पोंछ कर उन वस्तुओं को ग्रहण करे या रखे।

जिन दोषों के छोड़ने से आदान निक्षेपण समिति शुद्ध होती है उन्हें कहते हैं—

गाथार्थ—सहसा, अनाभोगित, दुष्प्रमार्जित और अप्रत्युपेक्षित दोषों को छोड़ते हुए मुनि के आदान निक्षेपण समिति होती है ॥३२०॥

आचारवृत्ति—अन्य व्यापार के प्रति मन लगा हुआ होने से सहसा किसी वस्तु को उठा लेना या रख देना सहसा दोष है। स्वस्थ चित्त की प्रवृत्ति से अवलोकन न करके कोई वस्तु ग्रहण करना या रखना अथवा कमण्डलु आदि वस्तु और उसके स्थान को बिना देखे ही वस्तु का रखना-उठाना आदि यह अनाभोगित दोष है। पिच्छिका से ठीक-ठीक परिमार्जन न करके, जैसे-तैसे कर देना यह दुष्प्रमार्जित दोष है। पुस्तक कुण्डल आदि वस्तु कहीं पर रखकर पुनः कई दिन बाद उसका अवलोकन—प्रतिलेखन करना यह अप्रत्युपेक्षण दोष है। इन दोषों का परिहार करते हुए मुनि के आदाननिक्षेपण समिति होती है।

तात्पर्य यह हुआ कि मन की स्वस्थवृत्ति से उपयोग को स्थिर करके पुस्तक आदि वस्तुएँ और उनके रखने-उठाने के स्थान को अपनी आँखों से देखकर पुनः कोमल मयूरपंख की पिच्छिका से उसे परिमार्जित कर उस वस्तु को ग्रहण करना या रखना चाहिए। रखी हुई पुस्तक आदि का थोड़े दिनों में ही पुनः अवलोकन व सम्मार्जन करना चाहिए।

उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं।
अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ॥३२२॥

उच्चारं अशुचिः। प्रस्रवणं मूत्रं। खेलं श्लेष्माणं। सिंघाणकं नासिकामलं। आदिशब्देन केशोत्पाटनात् मदप्रमादवातपित्तादिदोषात् सप्तधातु छर्द्यादिकं च पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टे अचित्तभूमिदेशे हरिततृणादिरहिते प्रतिलेख्य पिच्छिकया सुष्ठु निरूप्य विसर्जयेत्। पूर्वं सामान्यव्याख्यानमिदं तु सप्रपंचमिति कृत्वा न पौनरुक्त्यमिति ॥३२२॥

अथ रात्रौ कथमिति चेदित्यत आह—

रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे।
आसंकविसुद्धीए अवहत्थगफासणं कुज्जा ॥३२३॥

रात्रौ तु प्रज्ञाश्रवणेन वैयावृत्त्यादिकुशलेन साधुना विनयपरेण सर्वसंघप्रतिपालकेन वैराग्यपरेण जितेन्द्रियेण प्रेक्षिते सुदृष्टेऽवकाशेऽवप्रदेशे पुनरपि स्वचक्षुषा प्रतिलेखनेन प्रमार्जयित्वोच्चारादीन् [illegible]।

गाथार्थ—मल, मूत्र, कफ, नाकमल आदि वस्तु को अचित्त भूमि प्रदेश में देख-शोधकर विसर्जित करे ॥३२२॥

आचारवृत्ति—उच्चार—विष्ठा, प्रस्रवण—मूत्र, खेल—कफ, सिंघाणक—नाक का मल, 'आदि' शब्द से लोंच करके उखाड़े गये बाल, मद, प्रमाद या वात-पित्त आदि से उत्पन्न हुए दोष—विकार, वीर्य और वमन आदि अनेक प्रकार के शरीर के मल संगृहीत हैं। इन सभी मलों का पूर्वोक्त गाथा कथित विशेषणों से विशिष्ट हरे तृण अंकुर आदि रहित अचित्त भूमिप्रदेश में पहले देख कर पुनः पिच्छिका से परिमार्जित करके त्याग करे। पूर्व में सामान्य कथन था और इस गाथा में सविस्तार कथन है इसलिए यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है अर्थात् पूर्व गाथा में निर्जन्तुक स्थान के अनेक विशेषण बताये थे किन्तु वहाँ मलमूत्रादि का विसर्जन करे ऐसा सामान्य कथन किया था। यहाँ पर शरीर मल के अनेकों प्रकार बताकर विशेष कथन कर दिया है, इसलिए पुनः एक ही बात को कहने रूप पुनरुक्त दोष नहीं आता है।

अब रात्रि में कैसे मलमूत्रादि विसर्जन करे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—रात्रि में बुद्धिमान मुनि के द्वारा देखकर बताये गए स्थान में परिमार्जन करके जीवों की आशंका दूर करने हेतु बायें हाथ से स्पर्श करे, पुनः मलमूत्रादि विसर्जन करे ॥३२३॥

आचारवृत्ति—जो साधु वैयावृत्ति आदि में कुशल हैं, विनयशील हैं, [illegible]

[illegible]

अथ यदि तत्र मूत्रपुरीषादीनामाशंका भवेत्तत् आशंकाविशुद्धये तत् स्थानं वामहस्तेन [illegible] विपरीतकरतलेन मृदुना स्पर्शनं कर्तव्यमिति ॥३२३॥

तेन प्रज्ञाश्रमणेन यदि सवितरि [illegible] च यदि शीघ्रं स्थानानि [illegible] [illegible] मित्याह—

जदि तं हवे असुद्धं बिदियं तदियं अणुण्णए साहू ।
लहुए अणिच्छयारे ण देज्ज सायम्मिए गुरुयं ॥३२४॥

यदि तत्प्रथमं स्थानं [illegible] भवेत् [illegible] [illegible] [illegible] स्थानमनुजानाति जानीत (?) प्रज्ञा साधुः [illegible]। अथ कदाचित् [illegible] [illegible] लघुनीसमर्थ [illegible] प्रदेशे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अतः प्रायश्चित्तं गुरुकं न दातव्यं । अथ पुनः अनिमित्तकरणात् प्रायश्चित्तमल्पमिति [illegible] [illegible]

आशंका होवे तो आशंका की विशुद्धि के लिए बायें हाथ से उस स्थान का स्पर्श करना चाहिए।

विशेष—यदि जीवों का विकल्प है तो बायें हाथ से स्पर्श करने से जीवों का [illegible] चल जायेगा, पुनः वह मुनि उस स्थान से हटकर किंचित् दूर जाकर मलमूत्रादि विसर्जन करे ऐसा अभिप्राय समझना।

उन प्रज्ञाश्रमण को सूर्य के रहते हुए प्रकाश में अपने नेत्रों से [illegible] [illegible] स्थान देखना चाहिए। ऐसा क्यों ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—यदि वह स्थान अशुद्ध हो तो साधु दूसरे या तीसरे स्थान की अनुमति देवे। जल्दी में किसी की इच्छा बिना अशुद्ध स्थान में मलादि [illegible] [illegible] [illegible] उस धर्मात्मा मुनि को बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देवे। ॥३२४॥

आचारवृत्ति—प्रज्ञाश्रमण ने पहले जो स्थान देखा है यदि वह अशुद्ध है तो वे मुनि दूसरे स्थान को देखकर उसकी स्वीकृति देवें। यदि वह भी अशुद्ध हो तो वे [illegible] साधु तीसरे स्थान का निरीक्षण करके स्वीकृति देवें। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जावें। यदि कदाचित् कोई साधु [illegible] है [illegible] [illegible] कोई [illegible] [illegible] [illegible] भी है, उसमें बाधा हो जाने से अकस्मात् अशुद्ध भी [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] मलमूत्र हो जावे, उसे मल विसर्जन करना पड़ जावे तब उस धर्मिष्ठ साधु के लिए [illegible] को बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए।

प्रायश्चित्तं भवति यतः। अथवा लहुग—लघु शीघ्रं। अणिच्छयारे अनिच्छया कुर्वति मलमूत्रं रात्रौ प्रायश्चित्तं न दातव्यं। यद्यपि प्रायश्चित्तं नाधीतं तथापि सामर्थ्याल्लभ्यतेऽन्यस्याश्रुतत्वात्। अथवा लघुकेन कुशलेनेच्छाकारेणानुकूलेन प्रज्ञाश्रमणेन यदि प्रथमस्थानं शुद्धं द्वितीयं तृतीयं स्थानं अनुज्ञाप्य सधर्मिणे साधवे गुरवे वा प्रासुकं स्थानं दातव्यमिति ॥३२४॥

अनेन क्रमेण किमुक्तं भवतीति चेदत आह—

> पडिठवणासमिदीवि य तेणेव कमेण वण्णिदा होदि ।
> वोसरणिज्जं दव्वं तु थंडिले वोसरंतस्स ॥३२५॥

तेनैवोक्तक्रमेण प्रतिष्ठापनासमितिरपि वर्णिता व्याख्याता भवति। तेनोक्तक्रमेण स्वप्नेऽपि स्थण्डिले। स्थण्डिले व्युत्सर्जनीयं व्युत्सृजतः परित्यजतः प्रतिष्ठापनाशुद्धिः स्यादिति ॥३२५॥

यहाँ पर कहना यह है कि जो साधु प्रयत्न में तत्पर हैं, सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले हैं उनके द्वारा यदि कदाचित् बिना इच्छा के अकस्मात् रात्रि में अशुद्ध अप्रासुक भी स्थान में मल विसर्जित हो जाता है तो भी उन्हें उसे बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए।

यद्यपि यहाँ गाथा में प्रायश्चित्त शब्द का ग्रहण नहीं है फिर भी सामर्थ्य से उसी का ज्ञान होता है; क्योंकि अन्य और कुछ इस विषय में सुनने में नहीं आता है। अथवा 'लहुए अणिच्छायारेण' इस पाठ को ऐसा संशोधित कर दीजिए 'लहुएण इच्छायारेण' और अर्थ ऐसा कीजिए लघुक—कुशल, इच्छाकार—अनुकूल ऐसा प्रज्ञाश्रमण मुनि यदि प्रथम स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा या तीसरा स्थान बताकर सहधर्मी साधु या गुरु को प्रासुक स्थान देवें।

विशेष—संघ में उस उस कार्यभार में कुशल मुनि को ही वह वह कार्य सौंपा जाता है। इसलिए गाथा ३२२ में प्रज्ञाश्रमण मुनि के विशेषण बताये गए हैं। उन गुणों से विशिष्ट मुनि रात्रि में साधुओं के दीर्घशंका या लघुशंका आदि के हेतु जाने के लिए स्थान का दिन में निरीक्षण कर लेते हैं और गुरुदेव को तथा अन्य मुनियों को बता देते हैं। अतः कदाचित् ऐसा प्रसंग किसी का आ जावे कि सहसा बाधा हो जाने पर लाचारी में अशुद्ध स्थान में भी मल विसर्जन करना पड़ जावे तो गुरु उसे बड़ा प्रायश्चित्त न देवें। दूसरा एक अर्थ यह किया है कि प्रज्ञाश्रमण मुनि सामान्य, दो या तीन ऐसे स्थान भी देखकर पुनः प्रासुक स्थान गुरु के लिए या मुनियों के लिए बताना चाहिए, ताकि वे रात्रि में बाधा निवारण करने में दोष के भागी न बनें। इसके अर्थात् अनुसार ही संघस्थ मुनियों को प्रवृत्ति करना चाहिए। इससे संघ में व्यवस्था बनी रहेगी।

एताभिः समितिभिः सह विहरन् किंविशिष्टः स्यादित्याह—

एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणो[1] दु।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू ॥३२६॥

एताभिः समितिभिः सदा—सदा सर्वकालं युक्तो महीं सर्वत्र विहरमाणः साधुर्हिंसादिभिर्न लिप्यते जीवनिकायाकुले लोके इति ॥३२६॥

ननु जीवसमूहमध्ये कथं साधुर्हिंसादिभिर्न लिप्यते ? चेदित्थं न लिप्यते इति दृष्टान्तमाह—

पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साहू काएसु इरियंतो ॥३२७॥

पद्मिनीपत्रं जले वृद्धिगतमपि यथोदकेन न लिप्यते, स्नेहगुणयुक्तं यतः तथा समितिभिः सह विहरन् साधुः पापेन न लिप्यते कायेषु जीवेषु तेषां वा मध्ये विहरन्नपि यत्नपरो यतः इति ॥३२७॥

पुनरपि दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

इन समितियों के साथ विहार करते हुए मुनि के कौन-सी विशेषता प्राप्त होती है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—इन समितियों से युक्त साधु हमेशा ही जीव समूह से भरे हुए भूतल पर विहार करते हुए भी हिंसादि पापों से लिप्त नहीं होते हैं। ॥३२६॥

आचारवृत्ति—इन समितियों से सदाकाल युक्त हुए मुनि जीव-समूह से भरे हुए इस लोक में पृथ्वी पर सर्वत्र विहार करते हुए भी हिंसा आदि पापों से लिप्त नहीं होते हैं।

जीव-समूह के मध्य रहते हुए साधु हिंसादि दोषों से कैसे लिप्त नहीं होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं कि इस प्रकार से वह लिप्त नहीं होता है—

गाथार्थ—जैसे चिकनाई गुण से युक्त कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता है इसी प्रकार से साधु जीवों के मध्य समितियों से चर्या करता हुआ लिप्त नहीं होता है। ॥३२७॥

आचारवृत्ति—जैसे कमलिनी का पत्ता जल में वृद्धिगत होते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह स्नेह गुण से युक्त है अर्थात् उस पत्ते में चिकनाई पाई जाती है। इसी प्रकार से समितियों के साथ विहार करता हुआ साधु पाप से लिप्त नहीं होता है। यद्यपि वह जीवों के समूह में रहता है अथवा जीवों के मध्य विहार करता है तो भी वह यत्नपूर्वक क्रियाएँ करता है अर्थात् सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करता है। यही कारण है कि वह पापों से नहीं बँधता है।

पुनरपि दृष्टांत के द्वारा इसी का पोषण करते हुए कहते हैं—

---

1. क °माणोवि।

सरवासेहि पडंते हि जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहि ।
तह समिदीहि ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥३२८॥

शरवर्षैः पतद्भिः संग्रामे यथा दृढकवचो दृढवर्म न भिद्यते शरैस्तीक्ष्णनाराचतोमरादिभिः एवं षड्जीवनिकायेषु समितिभिर्हेतुभूताभिः साधुः पापेन न लिप्यते पर्यटन्नपीति ॥३२८॥

यत्नपरस्य गुणमाह—

जत्थेव चरदि बालो परिहारण्हूवि चरदि तत्थेव ।
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू विमुच्चदि सो ॥३२९॥

यत्रैव चरति भ्रमत्याचरतीति वा बालोऽज्ञानी जीवादिस्वरूपानभिज्ञः परिहारज्ञोऽपि [illegible] करोति भ्रमतीति वा तथैव सोऽसौ बध्यते कर्मणा लिप्यते पुनरसौ बाल अज्ञानः। परिहारज्ञः [illegible] विमुच्यते कर्मणा यस्मादेवंगुणा समितयः ॥३२९॥

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो ।
समिदो हु अण्ण ण दियदि खवेदि पोराणयं कम्मं ॥३३०॥

गाथार्थ—गिरती हुई बाण की वर्षा के द्वारा जैसे मजबूत कवच वाला मनुष्य बाणों से नहीं भिदता उसी प्रकार साधु समितियों से सहित हो जीव-निकायों में चलते हुए भी पाप से लिप्त नहीं होता है ॥३२८॥

आचारवृत्ति—जैसे संग्राम में बाणों की वर्षा होते हुए भी, जिसने मजबूत कवच धारण किया है वह मनुष्य तीक्ष्ण बाण या तोमर आदि शस्त्रों से नहीं भिदता है उसी प्रकार छह जीव-निकायों में पर्यटन करता हुआ भी समितियों के द्वारा प्रवृत्त हुआ साधु पाप से लिप्त नहीं होता है।

जो प्रयत्न में तत्पर हैं उनके गुणों को बताते हैं—

गाथार्थ—जहाँ पर अज्ञानी विचरण करता है वहीं पर जीवों का परिहार करता हुआ ज्ञानी भी विचरण करता है। किन्तु कर्मबन्धन से वह अज्ञानी तो बँध जाता है [illegible] परिहार करता हुआ वह मुनि कर्मों से मुक्त रहता है ॥३२९॥

आचारवृत्ति—जो जीवादि के स्वरूप को नहीं जानता है [illegible] अज्ञानी जीव जिस स्थान पर विचरण करता है, [illegible] करता है या [illegible] जो जीवों का परिहार करने वाला है वह मुनि भी [illegible] विचरण करता है, [illegible] किन्तु अज्ञानी जीव तो कर्मों से बँध जाता है [illegible] जीवों का परिहार करता हुआ [illegible] मुनि कर्मों से [illegible] छूट जाता है [illegible] समितियाँ [illegible]।

तस्माद्यदीच्छितुकामः पर्यटितुमना यदा यदा तदा तदा त्वं भव समितः समितिपरिणतः। हि यस्मात् समितोऽन्यन्नवं कर्म नाददाति न गृह्णाति। पुराणं कर्म च क्षपयति निर्जरयतीति ॥३३०॥

एवं समितिस्वरूपं व्याख्याय गुप्तीनां सामान्यविशेषभूतं लक्षणमाह—

मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो ॥३३१॥

प्रवृत्तिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। मनःप्रवृत्तिं वाक्प्रवृत्तिं कायप्रवृत्तिं च। किंविशिष्टां, सावद्यकार्यसंयुक्तां हिंसादिपापविषयां। भिक्षुः साधुः शीघ्रं निवारयन् गुप्तो भवत्येषः। गुप्तेः सामान्यलक्षणमेतत् ॥३३१॥

विशेषलक्षणमाह—

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती ॥३३२॥

रागद्वेषादिभ्यो मनसो या निवृत्तिस्तामेव मनोगुप्तिं जानीहि मनोगुप्तिं मनःगुप्तिः।

आचारवृत्ति—इसलिए जब चेष्टा करने की इच्छा हो, पर्यटन करने की इच्छा हो अर्थात् कोई भी प्रवृत्ति करने की इच्छा हो तब तुम समिति से परिणत होओ; क्योंकि समिति में तत्पर हुए मुनि अन्य नवीन कर्मों को ग्रहण नहीं करते हैं तथा पुराने—सत्ता में स्थित हुए कर्मों की निर्जरा कर देते हैं।

इस प्रकार से समिति का स्वरूप बताकर अब गुप्तियों का सामान्य-विशेष लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—पापकार्य से युक्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को शीघ्र ही निवारण करता हुआ यह मुनि तीन गुप्तियों से गुप्त होता है ॥३३१॥

आचारवृत्ति—प्रवृत्ति शब्द को प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। जो मुनि सावद्य कार्य संयुक्त—हिंसादि पापविषयक मन की प्रवृत्ति को, वचन की प्रवृत्ति को और काय की प्रवृत्ति को शीघ्र ही दूर करता है वह तीन गुप्तियों से गुप्त अर्थात् रक्षित होता है। यह गुप्ति का सामान्य लक्षण है।

अलीकादिभ्योऽसत्याभिप्रायेभ्यश्च वचसो वा निवृत्तिः मौनं ध्यानाध्ययनचिन्तनं च वाग्गुप्तिर्वा वाग्गुप्तिर्भवति ॥३३२॥

कायगुप्त्यर्थमाह—

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा ॥३३३॥

कायक्रियानिवृत्तिः शरीरचेष्टाया अप्रवृत्तिः शरीरगुप्तिः कायोत्सर्गो वा कायगुप्तिः। हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिर्भवत्येषा। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि गुप्यन्ते रक्ष्यन्ते यकाभिस्ता गुप्तयः। अथवा मिथ्यात्वासंयमकषायेभ्यो गोप्यते रक्ष्यते आत्मा यकाभिस्ता गुप्तय इति ॥३३३॥

दृष्टान्तद्वारेण तासां माहात्म्यमाह—

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीउ साहुस्स ॥३३४॥

यथा क्षेत्रस्य सस्यस्य वृतिः रक्षा नगरस्य वा खातिका तथा प्राकारो यथा गुप्तिस्तथा पापस्याशुभकर्मणो निरोधः संवृतिस्ता गुप्तयः साधोः संयतस्येति ॥३३४॥

यस्मादेवंभूता गुप्तयः—

व्यापार को रोककर मौन धारण करना अथवा असत्य वचन नहीं बोलना, यह वचनगुप्ति का लक्षण है।

अब काय गुप्ति का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—काय की क्रिया का अभावरूप कायोत्सर्ग करना काय से सम्बन्धित गुप्ति है। अथवा हिंसादि कार्यों से निवृत्त होना कायगुप्ति होती है। ॥३३३॥

आचारवृत्ति—शरीर की चेष्टा की प्रवृत्ति नहीं होना अथवा कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है। अथवा हिंसा आदि से निवृत्ति होना शरीर गुप्ति है। जिनके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गोपित किये जाते हैं, रक्षित किये जाते हैं वे गुप्तियाँ हैं। अथवा जिनके द्वारा मिथ्यात्व असंयम और कषायों से आत्मा गोपित होती है, रक्षित होती है वे गुप्तियाँ हैं।

अब दृष्टान्त के द्वारा उन गुप्तियों का माहात्म्य दिखलाते हैं—

जैसे खेत की बाड़, नगर की खाई अथवा परकोटा होता है उसी प्रकार से पाप का निरोध होने रूप से साधु की ये गुप्तियाँ हैं। ॥३३४॥

आचारवृत्ति—जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड़ है, और नगर की रक्षा के लिए खाई अथवा परकोटा है उसी प्रकार से जो अशुभ कर्म को रोकना है या संवृत होना है वही संयत की गुप्तियाँ कहलाती हैं।

क्योंकि इन गुप्तियों से रक्षित हैं—

तम्हा तिविहेण तुमं णिच्चं मणवयणकायजोगेहिं।
होहिसु समाहिदमई णिरंतरं झाणसज्झाए॥३३५॥

तस्मात्त्रिविधेन कृतकारितानुमतैस्त्वं साधो! मनोवचनकाययोगैश्च सुसमाहितमतिः सम्यगेकाग्र- चित्तबुद्धिः। निरन्तरमनवरतं ध्याने स्वाध्याये चेति॥३३५॥

समितिगुप्तिस्वरूपं संक्षेपयन्नाह—

एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ॥३३६॥

एता अष्टप्रवचनमातृकाः पंचसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्च प्रवचनमातरो मुनेर्ज्ञानदर्शनचारित्राणि रक्षन्ति पालयन्ति। कथं? यथा माता जननी पुत्रं पालयति तथैता. पालयन्तीति सम्बन्धः ओकारान्त प्रयोगः प्राकृत- बलाद् द्रष्टव्यं॥३३६॥

अष्टप्रवचनमातृकाः प्रतिपाद्य भावनास्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणंपि य अहिंसाए भावणा पंच॥३३७॥

एषणासमितिर्निक्षेपादानसमितिरीर्यासमितिस्तथा मनोगुप्तिरालोक्यभोजनमपि अहिंसायाश्च

गाथार्थ—इसलिए तुम त्रिविध पूर्वक नित्य मन-वचन-काय योगों द्वारा सतत ध्यान और स्वाध्याय में एकाग्रमति होओ!॥३३५॥

आचारवृत्ति—इसलिए हे साधु! तुम मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से सम्यक्प्रकार से एकाग्रमना होओ। निरन्तर ध्यान में और स्वाध्याय में तत्पर होओ!

अब समिति और गुप्ति का स्वरूप संक्षिप्त करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—ये आठ प्रवचन-मातृकाएँ, जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही, सदा मुनि के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करती हैं।॥३३६॥

आचारवृत्ति—पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप ये आठ प्रवचन-मातृकाएँ मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सदा रक्षा करती हैं अर्थात् उनका पालन करती हैं। कैसे? जैसे माता पुत्र का पालन करती है वैसे ही ये मुनि के रत्नत्रय का पालन करती हैं। इसीलिए इनका प्रवचनमातृका यह नाम सार्थक है। यहाँ पर गाथा में ओकारान्त शब्द है वह प्राकृत व्याकरण के बल से समझना चाहिए।

आठ प्रवचन-माताओं का स्वरूप बताकर अब भावनाओं के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्यासमिति तथा मनोगुप्ति और आलोकित भोजन—अहिंसाव्रत की ये पाँच भावनाएँ हैं॥३३७॥

आचारवृत्ति—एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्यासमिति तथा मनोगुप्ति

भावनाः पंच । एता भावयन् जीवदयां प्रतिपालयति । अथवा महाव्रतं परिपूर्णं भवति । तस्य साधनहेतून् पंच भावना जानीहीति ॥३३७॥

द्वितीयस्य निरूपणमाह—

कोहभयलोहहासपइण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।
बिदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥३३८॥

क्रोधभयलोभहास्यानां प्रतिज्ञाः प्रत्याख्यानं । क्रोधस्य प्रत्याख्यानं भयस्य प्रत्याख्यानं लोभस्य प्रत्याख्यानं हास्यस्य प्रत्याख्यानं । अनुवीचिभाषणं चैव सूत्रानुसारेण भाषणं च द्वितीयस्य सत्यव्रतस्य भावनाः पंचैव भवन्ति । एताः भावना भावयतः सत्यव्रतं सम्पूर्णं स्यादिति ॥३३८॥

तृतीयव्रतस्य भावनास्वरूपं विवृण्वन्नाह—

जायणसमणुण्णमणा अणण्णभावोवि चत्तपडिसेवी ।
साधम्मिओवकरणस्सणुवीचीसेवणं चावि ॥३३९॥

याचना प्रार्थना समनुज्ञापना यस्य वस्तुनः तस्य [illegible] अनन्यभावोऽनुकूलभावोऽनन्यभावो परवस्तुनः परिगृहीतस्याभिभावो न कर्तव्यः । [illegible]

और आलोक्य भोजन अर्थात् आगम और सूर्य के प्रकाश में देख-शोधकर भोजन करना अहिंसा-व्रत की ये पाँच भावनाएँ हैं। मुनि इन भावनाओं को भाते हुए जीवदया का पालन करते हैं। अर्थात् उनके अवश्य महाव्रत परिपूर्ण होता है। तुम इन पाँच भावनाओं को उस व्रत के साधन हेतु जानो।

अब द्वितीय व्रत की भावना का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, भय, लोभ और हास्य का त्याग तथा अनुवीचिभाषण द्वितीय व्रत की ये पाँच ही भावनाएँ होती हैं ॥३३८॥

आचारवृत्ति—क्रोध का त्याग, भय का त्याग, लोभ का त्याग और हास्य का त्याग तथा सूत्र के अनुसार वचन बोलना ये पाँच भावनाएँ सत्य महाव्रत की हैं। अर्थात् इन भावनाओं को भाते हुए सत्यव्रत परिपूर्ण हो जाता है।

विशेषार्थ—ये भावनाएँ श्रीगौतम स्वामी और उमास्वामी ने इसी रूप मानी हैं।

अब तृतीय व्रत की भावना का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—याचना, समनुज्ञापना, अनन्यभाव का अभाव, त्यक्तप्रतिसेवना और साधर्मी के उपकरण का उनके अनुकूल सेवन ये पाँच भावनाएँ तृतीय व्रत की हैं ॥३३९॥

आचारवृत्ति—याचना—प्रार्थना करना, अर्थात् अपेक्षित वस्तु के लिए गुरु या सह-धर्मी मुनि से विनय पूर्वक माँगना।

समनुज्ञापना—किसी मुनि की कोई भी वस्तु उनकी अनुमति लेकर ग्रहण करना; अथवा कदाचित् बिना अनुमति के ले भी ली हो तो पुनः उनको निवेदन कर देना।

भाविनां न गस्य, साधर्म्यहीनं च [illegible] । [illegible] प्रतिसेवनशीलः [illegible] न अर्थकर्माभिसम्बध्यते । [illegible] प्रतिसेवी [illegible] निर्दोषं [illegible] योग्यस्य [illegible] वा प्रतिसेवी । समानो धर्मोऽनुष्ठानं [illegible]

अनन्यभाव—अनुपष्ट भाव या अनात्मभाव रखना अर्थात् जो [illegible] कारण कमण्डलु, शास्त्र आदि लिये हैं उनमें आत्मभाव—अपनापन नहीं रखना।

त्यक्तप्रतिसेवना—त्यक्त अर्थात् जो मुनिपने के योग्य है और जिसमें अन्य कोई [illegible] नहीं है ऐसी सावद्यरहित अर्थात् निर्दोष वस्तु त्यक्त कहलाती है। शास्त्र में 'चियत्त' पाठ निकाल कर उसका 'आचार्य' अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार से श्रमण योग्य वस्तु का [illegible] आचार्य का जो अनुकूलतया सेवन है वह त्यक्त प्रतिसेवना है। अथवा निर्दोष वस्तु या आचार्य को उनके अनुकूल सेवन करनेवाला—आश्रय लेनेवाला मुनि त्यक्तप्रतिसेवी है।

यह प्रतिसेवी शब्द उपर्युक्त भावनाओं के साथ भी लगा लेना। जैसे, याचनापूर्वक उपकरण आदि वस्तु का प्रतिसेवन करना। अनुमतिपूर्वक उन्हीं वस्तु का प्रतिसेवन करना—प्रयोग करना। अन्य के शास्त्र आदि को अपनेपन की भावना से रहित, अनात्मभाव से, सेवन या उपयोग करना तथा निर्दोष, मुनि अवस्था के योग्य त्यक्तवस्तु का अथवा आचार्य का प्रतिसेवन करना—ये चार भावनाएँ हुईं।

साधर्मिकोपकरण अनुवीचिसेवन—समान है धर्म अर्थात् अनुष्ठान जिनका वे साधर्मी या सहधर्मी मुनि कहलाते हैं। उनके पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरणों का अनुवीचि अर्थात् आगम के अनुसार सेवन करना।

ये पाँच भावनाएँ तृतीय महाव्रत की हैं। अर्थात् इन भावनाओं से अचौर्यव्रत परिपूर्ण होता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी ने कहा है कि—

[illegible] भावणं [illegible] ण [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

अर्थात् तृतीय व्रत की भावना [illegible] [illegible] शरीर ही मेरा धन—परिग्रह है, और कुछ मेरा परिग्रह नहीं है। [illegible] शरीर के प्रति ऐसी भावना करना कि यह अशुचि और अनित्य है [illegible] परिग्रह के विषय में त्याग की भावना करना। [illegible] और [illegible] करता है।

तस्यानुवीच्यागमानुसारेण सेवनं सधर्मोपकरणस्य सूत्रानुकूलतया सेवनं चापि। एताः पंच भावनास्तृतीयव्रतस्य भवन्तीति। एताभिरस्तेयाख्यं व्रतं सम्पूर्णं भवतीति ॥३३९॥

चतुर्थव्रतस्य भावनास्वरूपं विकल्पयन्नाह—

महिलालोयण पुव्वरदिसरणसंसत्तवसधिविकहाहिं।
पणिदरसेहिं य विरदी य भावणा पंच बह्मम्हि ॥३४०॥

महिलानां योषितामवलोकनं दुष्टपरिणामेन निरीक्षणं महिलालोकनं। पूर्वस्य [स्या] रतेः गृहस्थावस्थायां चेष्टितस्य स्मरणं चिन्तनं पूर्वरतिस्मरणं। संसक्तवसतिः सद्रव्या सरागा वा। विकथा दुष्टकथाः। **पणिदरस**—प्रणीतरसा इष्टाहार[1]समदकराः। विरतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। महिलालोकनाद्विरतिः पूर्वरतिस्मरणाद्विरतिः संसक्तवसतेर्विरतिः विकथाभ्यः स्त्रीचौरराज्यभक्तकथाभ्यो विरतिः समीहितरसेभ्यो विरतिः। एताः पंच भावनाः चतुर्थस्य ब्रह्मव्रतस्य भावना भवन्ति। एताभिश्चतुर्थब्रह्मव्रतं सम्पूर्णं तिष्ठतीति ॥३४०॥

रोकना; आचार शास्त्र के अनुसार शुद्ध आहार लेना; और 'यह मेरा है यह तेरा है' ऐसा सहधर्मियों के साथ विसंवाद नहीं करना।

अब चतुर्थव्रत की भावनाओं का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—स्त्रियों का अवलोकन, पूर्वभोगों का स्मरण तथा संसक्त वसतिका से विरति, एवं विकथा से और प्रणीतरसों से विरति ये ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥३४०॥

आचारवृत्ति—दुष्ट परिणामों से—कुशील भाव से महिलाओं का अवलोकन करना महिलालोकन है। पूर्व में अर्थात् गृहस्थावस्था में जो भोगों का अनुभव किया है उसका स्मरण करना, चिन्तन करना पूर्वरतिस्मरण है। द्रव्य सहित वसतिका या सरागी वसतिका संसक्तवसति हैं। अर्थात् जहाँ स्त्रियों का निवास है या सोना, चाँदी आदि गृहस्थों का धन रखा हुआ है या जहाँ पर रागोत्पादक वस्तुएँ विद्यमान हैं वह स्थान यहाँ संसक्त वसति नाम से कही गयी है। दुष्टकथा अथवा स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राज्यकथा आदि को विकथा कहते हैं। प्रणीतरस—इष्ट आहार अथवा मद को करनेवाला आहार अर्थात् इंद्रियों को उत्तेजित करनेवाला, विकार को जागृत करनेवाला आहार। यह 'विरति' शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। अर्थात् महिलालोकन से विरति, पूर्वरतिस्मरण से विरति, संसक्तवसतिका से विरति, विकथा से विरति और प्रणीतरसों से विरति—ये पाँच भावनाएँ चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की होती हैं अर्थात् इन भावनाओं से चौथा ब्रह्मव्रत परिपूर्ण स्थिर रहता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी के अनुसार स्त्रीकथा, स्त्रीसंसर्ग, स्त्रियों के हास्य विनोद, स्त्रियों के साथ क्रीड़ा और उनके मुख आदि का रागभाव से अवलोकन—इन सबकी विरति रूप ये पाँच भावनाएँ हैं। श्रीउमास्वामी ने स्त्रियों की कथाओं का रागपूर्वक सुनने का त्याग, उनके मनोहर अंगों के अवलोकन का त्याग, पूर्व के भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग, कामोद्दीपक गरिष्ठ रसों के सेवन का त्याग और स्वशरीर के संस्कार का त्याग—ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्यव्रत की मानी हैं।

---

१ क 'रामद'।

पंचमव्रतभावनां विकल्पयन्नाह—

अपरिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फासरसरूवगंधेसु।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा पंच ॥३४१॥

अपरिग्रहस्य मुनेः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु रागद्वेषादीनां परिहारः भावनाः पंच भवन्ति। शब्दादिविषये रागद्वेषादीनामकरणानि यानि तैः सम्पूर्णं पंचमं महाव्रतं स्यादिति ॥३४१॥

किमर्थमेता भावना भावयितव्या यस्मात्—

ण करेदि भावणाभाविदो हु पीलं व दाण सव्वेसिं।
साधू पासुत्ता स [1]मणागवि किं दाणि वेदंतो ॥३४२॥

हु यस्मात् पंचविंशतिभावनाभावितः साधुः प्रसुप्तोऽपि निद्रांगतोऽपि समुद्दहोऽपि मूर्छांगतोऽपि सर्वेषां व्रतानां मनागपि पीडां विराधनां न करोति किं पुनश्चेतयमानः। स्वप्नेऽपि ता एव भावनाः पश्यति, न व्रतविराधनाः पश्यतीति ॥३४२॥

अब पाँचवें व्रत की भावना को कहते हैं—

गाथार्थ—परिग्रहरहित मुनि के शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध—इनमें राग-द्वेष आदि का त्याग करना—ये पाँच भावनाएँ हैं। ॥३४१॥

आचारवृत्ति—पाँच इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध—ये पाँच प्रकार के विषय हैं। इनमें राग-द्वेष आदि का नहीं करना—ये पाँचों भावनाएँ हैं। इन भावनाओं से पाँचवाँ महाव्रत पूर्ण होता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी ने कहा है कि सचित्त—दासीदास आदि से विरति, अचित्त—धन-धान्य आदि से विरति, बाह्य—वस्त्र, आभरण आदि से विरति, अभ्यंतर—ज्ञानावरण आदि से विरति और परिग्रह—गृह क्षेत्र आदि से विरति अर्थात् मैं इन पाँचों से विरत होता हूँ।

श्रीउमास्वामी ने कहा है कि इष्ट और अनिष्ट ऐसे पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से राग-द्वेष का छोड़ना ये पाँच भावनाएँ हैं।

किसलिए इन भावनाओं को भाना चाहिए? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—भावना को भानेवाला वह साधु सोता हुआ भी किंचित् मात्र भी सम्पूर्ण व्रतों में विराधना को नहीं करता है। फिर जो इस समय जाग्रत है उसके प्रति तो क्या कहना! ॥३४२॥

आचारवृत्ति—इन पच्चीस भावनाओं को जिसने भाया हुआ है ऐसा साधु यदि निद्रा को अथवा मूर्च्छा को प्राप्त हुआ है तो भी वह अपने सभी व्रतों में किंचित् मात्र भी विराधना नहीं करता है। पुनः जब वह जाग्रत है—सावधानी से प्रवृत्त हो रहा है तब तो कहना ही क्या! अर्थात् स्वप्न में भी वह मुनि इन भावनाओं को ही देखता है, किन्तु व्रतों की विराधना को नहीं करता।

---

१ क समुद्दो च कि।

एदाहि भावणाहिं दु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो त्तं ।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ॥३४३॥

तस्मादेताभिर्भावनाभिः भावयात्मानमप्रमत्तः स त्वं । ततोऽच्छिद्राण्यखण्डानि सम्पूर्णानि भविष्यन्ति हि स्फुटं ते तव व्रतानीति ॥३४३॥

चारित्राचारमुपसंहरस्तप आचारं च सूचयन्नाह—

एसो चरणाचारो पंचविधो वण्णिदो समासेण ।
एत्तो य तवाचारं समासदो वण्णयिस्सामि ॥३४४॥

एष चरणाचारः पंचविधोऽष्टविधश्च वर्णितो मया समासेन इत ऊर्ध्वं तप आचारं समासतो वर्णयिष्यामीति ॥३४४॥

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो ।
एक्केक्को विय छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ॥३४५॥

द्विप्रकारस्तप आचारस्तपोऽनुष्ठानं । बाह्यो बाह्यजनप्रकटः । अभ्यन्तरोऽभ्यन्तरजनप्रकटः ।

गाथार्थ—इसलिए तुम अप्रमादी होकर इन भावनाओं से आत्मा को भावो। निश्चित रूप से तुम्हारे व्रत छिद्र रहित और अखण्ड परिपूर्ण हो जावेंगे। ॥३४३॥

आचारवृत्ति—इसलिए तुम प्रमाद छोड़कर अप्रमत्त होते हुए इन भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा को भावो। इससे तुम्हारे व्रत निश्चित रूप से छिद्र रहित अर्थात् दोषरहित, अखण्ड—परिपूर्ण हो जावेंगे, ऐसा समझो।

चारित्राचार का उपसंहार करते हुए और तप-आचार को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं—

भावार्थ—संक्षेप से यह पाँच प्रकार का चारित्राचार मैंने कहा है। इससे आगे संक्षेप से तप आचार को कहूँगा। ॥३४४॥

आचारवृत्ति—यह पाँच महाव्रत रूप पाँच प्रकार का और अष्ट प्रवचनमातृका रूप आठ प्रकार का चारित्राचार मैंने संक्षेप से कहा है, इसके बाद अब मैं तप-आचार को संक्षेप में कहूँगा।

भावार्थ—चारित्राचार के मुख्यतया पाँच ही भेद हैं जो कि महाव्रतरूप हैं। अतः गाथा में पंचविधः शब्द का उल्लेख है। किन्तु जो आठ प्रवचनमातृका हैं वे तो उन व्रतों की रक्षा के लिए ही विवक्षित हैं। अथवा चारित्राचार के अन्यत्र ग्रन्थों में तेरह भेद भी माने हैं।

अब तप आचार को कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप-आचार दो प्रकार का जानना चाहिए। उसमें एक-एक भी छह प्रकार का है। उनको मैं क्रम से कहूँगा। ॥३४५॥

आचारवृत्ति—तप के अनुष्ठान का नाम तप-आचार है। उसके दो भेद हैं—बाह्य और

एकैकोऽपि च बाह्याभ्यन्तरश्चैकैकः षोढा षड्प्रकारः यथाक्रमं क्रममनुल्लंघ्य प्ररूपयामि कथयिष्यामीति ॥३४५॥

बाह्यं षड्भेदं नामोद्देशेन निरूपयन्नाह—

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥३४६॥

अनशनं चतुर्विधाहारपरित्यागः। अवमौदर्यमतृप्तिभोजनं। रसानां परित्यागो रसपरित्यागः स्वाभिलषितस्निग्धमधुराम्लकटुकादिरसपरिहारः। वृत्तेः परिसंख्या वृत्तिपरिसंख्या गृहदायकभाजनौदनकालादीनां परिसंख्यानपूर्वको ग्रहः। कायस्य शरीरस्य परितापः कर्मक्षयाय बुद्धिपूर्वकं शोषणं आतापनाभ्रावकाशवृक्षमूलादिभिः। विविक्तशयनासनं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितं स्थानसेवनं षष्ठमिति ॥३४६॥

अनशनस्य भेदं स्वरूपं च प्रतिपादयन्नाह—

इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेयव्वं।
इत्तिरियं साकंखं णिरावकंखं हवे बिदियं ॥३४७॥

आभ्यन्तर। जो बाह्य जनों में प्रकट है वह बाह्य तप है और जो आभ्यन्तर जनों—अपने धार्मिक जनों में प्रकट है उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। ये बाह्य-आभ्यन्तर दोनों ही तप छह-छह प्रकार के हैं। मैं इन सभी का क्रम से वर्णन करूँगा।

बाह्य तप के छहों भेदों के नाम और उद्देश्य का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शयनासन ये छह बाह्य तप हैं ॥३४६॥

आचारवृत्ति—चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अतृप्ति भोजन अर्थात् पेटभर भोजन न करना अवमौदर्य है। रसों का परित्याग करना—अपने लिए इष्ट स्निग्ध, मधुर, अम्ल, कटुक आदि रसों का परिहार करना रसपरित्याग है। वृत्ति—आहार की चर्या में परिसंख्या—गणना अर्थात् नियम करना। गृह का, दातार का, बर्तनों का, भात आदि भोज्य वस्तु का या काल आदि का गणनापूर्वक नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान है अर्थात् आहार को निकलते समय दातारों के घर का या किसी दातार आदि का नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। काय अर्थात् शरीर को परिताप—क्लेश देना, आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल आदि के द्वारा कर्मक्षय के लिए बुद्धिपूर्वक शोषण करना कायक्लेश तप है। स्त्री, पशु और नपुंसक से वर्जित स्थान का सेवन करना विविक्तशयनासन तप है। ऐसे इन छह बाह्य तपों का नाम निर्देशपूर्वक संक्षिप्त लक्षण किया है। आगे प्रत्येक का लक्षण आचार्य स्वयं कर रहे हैं।

अनशन का स्वरूप और उसके भेद बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—काल की मर्यादा सहित और जीवनपर्यन्त के भेद से अनशन तप दो प्रकार जानना चाहिए। काल की मर्यादा सहित साकांक्ष है और दूसरा यावज्जीवन अनशन निराकांक्ष होता है ॥३४७॥

अनशनं पुनरित्तिरिययावज्जीवभेदाभ्यां द्विविधं ज्ञातव्यं इत्तिरियं साकांक्षं कालादिभिः सापेक्षं एतावन्तं कालमहमशनादिकं नानुतिष्ठामीति। निराकांक्षं भवेद् द्वितीयं यावज्जीवं आमरणान्तादपि न सेवनम् ॥३४७॥

साकांक्षानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं मासद्धमासखमणाणि।
कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारे[1] ॥३४८॥

अहोरात्रस्य मध्ये द्वे भक्तवेले तत्रैकस्यां भक्तवेलायां भोजनमेकस्याः परित्याग एकभक्तः। चतसृणां भक्तवेलानां परित्यागे चतुर्थः। षण्णां भक्तवेलानां परित्यागे षष्ठो द्विदिनपरित्यागः। अष्टानां परित्यागेऽष्टमस्त्रय उपवासाः। दशानां त्यागे दशमश्चत्वार उपवासाः। द्वादशानां परित्यागे द्वादशः पंचोपवासाः। मासार्धं-पंचदशोपवासाः पंचदशदिनान्याहारपरित्यागः। मास—मासोपवासास्त्रिंशदहोरात्रमात्रा अशनत्यागः। क्षमणान्युपवासाः। आवलीशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। कनकावली चैकावली च कनकावल्येकावल्यौ तौ विधी आदिर्येषां तपोविधानानां कनकैकावल्यादीनि। आदिशब्देन मुरजमध्य-विमानपंक्ति-सिंहनिष्क्रीडितादीनां

आचारवृत्ति—इत्तिरिय—इतने काल तक और यावज्जीवं—जीवनपर्यन्त तक के भेद से अनशन तप दो प्रकार का है। उसमें 'इतने काल पर्यन्त मैं अनशन अर्थात् भोजन आदि का अनुष्ठान नहीं करूँगा' ऐसा काल आदि सापेक्ष जो अनशन होता है वह इत्तिरिय—साकांक्ष अनशन तप है। जिसमें मरण पर्यन्त अशन आदि का त्याग कर दिया जाता है वह यावज्जीवन निराकांक्ष नाम का दूसरा तप होता है।

अब साकांक्ष अनशन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—वेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन और महीने भर का उपवास कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान अनशन में कहे गये हैं। ॥३४८॥

आचारवृत्ति—अहोरात्र के मध्य भोजन की दो वेला होती हैं। उनमें से एक भोजन वेला में भोजन करना और एक भोजन वेला में भोजन का त्याग करना यह एकभक्त है। चार भोजन वेलाओं में चार भोजन का त्याग करना चतुर्थ है। अर्थात् धारणा और पारणा के दिन एकाशन करना तथा व्रत के दिन दोनों समय भोजन का त्याग करके उपवास करना—इस तरह चार भोजन का त्याग होने से जो उपवास होता है उसे चतुर्थ कहते हैं। छह भोजन वेलाओं के त्याग में षष्ठ कहा जाता है। अर्थात् धारणा-पारणा के दिन एकाशन तथा दो दिन का पूर्ण उपवास इसे ही षष्ठ-वेला कहते हैं। आठ भोजन वेलाओं में आठ भोजन का त्याग करने से अष्टम अर्थात् तेला कहा जाता है। दश भोजन वेलाओं के त्याग करने पर दशम—चार उपवास होते हैं। बारह भुक्तियों के त्याग से द्वादश—पाँच उपवास हो जाते हैं। पन्द्रह दिन तक आहार का त्याग करने से अर्धमास का उपवास होता है। तीस दिनरात तक भोजन का त्याग करने से एक मास का उपवास होता है। तथा कनकावली, एकावली आदि भी तपो-

---

१ क णाहारो।

ग्रहणं । कनकावल्यादीनां प्रपंचः टीका[1]राधनायां द्रष्टव्यो विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते । अन्नाहारोऽनशनं षष्ठाष्टमदशमद्वादशैर्मासार्धमासादिभिश्च यानि क्षमणानि कनकैकावल्यादीनि च यानि तपोविधानानि तानि सर्वाण्यनाहारो यावदुत्कृष्टेन षण्मासास्तत्सर्वं साकांक्षमनशनमिति ॥३४८॥

निराकांक्षस्यानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि ।
अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि ॥३४९॥

भक्तप्रत्याख्यानं द्वयाद्यष्टचत्वारिंशन्निर्यापकैः परिचर्यमाणस्यात्मपरोपकारसव्यपेक्षस्य यावज्जीवमाहारत्यागः । इङ्गिणीमरणं नामात्मोपकारसव्यपेक्षं परोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनमरणं नामात्मपरोपकारनिरपेक्षं । एतानि त्रीणि मरणानि । एवमादीन्यन्यान्यपि प्रत्याख्याता [नां] नि निराकांक्षाणि यानि तानि सर्वाण्यनिराकांक्षमनशनं बोद्धव्यं ज्ञातव्यमिति ॥३५०॥

अवमौदर्यस्वरूपं निरूपयन्नाह—

विधान हैं। यहाँ आदि शब्द से मुरजबन्ध, विमानपंक्ति, सिंहनिष्क्रीड़ित आदि व्रतों को ग्रहण करना चाहिए। इन कनकावली आदि व्रतों का विस्तृत कथन आराधना टीका में देखना चाहिए। विस्तार के भय से उनको यहाँ पर हम नहीं कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि आहार का त्याग करना अनशन है। वेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन, एक महीने आदि के उपवास, कनकावली, एकावली आदि व्रतों का आचरण ये सब उपवास उत्कृष्ट से छह मास पर्यन्त तक होते हैं। ये सब साकांक्ष अनशन हैं।

अब निराकांक्ष अनशन का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन जो ये मरण हैं ऐसे और भी जो अनशन हैं वे निराकांक्ष जानना चाहिए ॥३४९॥

आचारवृत्ति—दो से लेकर अड़तालीस पर्यन्त निर्यापकों के द्वारा जिनकी परिचर्या की जाती है, जो अपनी और पर के उपकार की अपेक्षा रखते हैं ऐसे मुनि का जो जीवन पर्यन्त आहार का त्याग है वह भक्त प्रत्याख्यान नाम का समाधिमरण है। जो अपने उपकार की अपेक्षा सहित है और पर के उपकार से निरपेक्ष है वह इंगिनीमरण है। जिस मरण में अपने और पर के उपकार की अपेक्षा नहीं है वह प्रायोपगमन मरण है। ये तीन प्रकार के मरण होते हैं। अर्थात् छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के मरण का नाम पण्डितमरण है उसके ही ये तीनों भेद हैं। इसी प्रकार से और भी जो अन्य उपवास होते हैं वे सब निराकांक्ष अनशन कहलाते हैं।

अब अवमौदर्य का स्वरूप कहते हैं—

---

१ संस्कृतहरिवंशपुराणे च द्रष्टव्यं।

बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं[1] तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं ॥३५०॥

द्वात्रिंशत्कवला: पुरुषस्य प्रकृत्याहारो भवति। ततो द्वात्रिंशत्कवलेभ्य एककवलेनोनं द्वाभ्यां त्रिभि:; इत्येवं यावदेककवल: शेप: एकसिक्थो वा। किलशब्द आगमार्थसूचक: आगमे पठितमिति। एककवलादिभिर्नित्यस्याहारस्य ग्रहणं यत् सावमौदर्यवृत्ति:। सहस्रतंदुलमात्र: कवल आगमे पठित: द्वात्रिंशत्कवला: पुरुषस्य स्वाभाविक आहारस्तेभ्यो यन्न्यूनग्रहणं तदवमोदर्यं तप इति ॥३५१॥

किमर्थमवमोदर्यवृत्तिरनुष्ठीयत इति पृष्टे उत्तरमाह—

धम्मावासयजोगे णाणादीए उवग्गहं कुणदि।
ण य इंदियप्पदोसयरी उम्मोदरितवोवुत्ती ॥३५१॥

धर्मे क्षमादिलक्षणे दशप्रकारे। आवश्यकक्रियासु समतादिषु षट्सु। योगेषु वृक्षमूलादिषु। ज्ञानादिके स्वाध्याये चारित्रे चोपग्रहमुपकारं करोतीत्यवमोदर्यतपोवृत्ति:। न चेन्द्रियप्रद्वेषकरी न चावमोदर्यवृत्त्येन्द्रियाणि प्रद्वेषं गच्छन्ति किन्तु वशे तिष्ठन्तीति। बह्वाशीर्धर्मं नानुतिष्ठति। आवश्यकक्रियाश्च न सम्पूर्णा:

गाथार्थ—पुरुष का निश्चित रूप से स्वभाव से बत्तीस कवल आहार होता है। उस आहार में से एक कवल आदि रूप से कम ग्रहण करना अवमौदर्य तप है ॥३५०॥

आचारवृत्ति—पुरुष का प्राकृतिक आहार बत्तीस कवल प्रमाण होता है। उन बत्तीस ग्रासों में से एक ग्रास कम करना, दो ग्रास कम करना, तीन ग्रास कम, इस प्रकार से जब तक एक ग्रास न हो जाय तब तक कम करते जाना अथवा एक सिक्थ—भात का कण मात्र रह जाय तब तक कम करते जाना यह अवमौदर्य तप है। गाथा में आया 'किल' शब्द आगमअर्थ का सूचक है अर्थात् आगम में ऐसा कहा गया है। एक ग्रास आदि से प्रारम्भ करके एक ग्रास कम तक जो आहार का ग्रहण करना है वह अवमौदर्य चर्या है। आगम में एक हजार चावल का एक कवल कहा गया है। अर्थात् बत्तीस ग्रास पुरुष का स्वाभाविक आहार है उससे जो न्यून है वह अवमौदर्य तप है।

किसलिए अवमौदर्य तप का अनुष्ठान किया जाता है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—धर्म, आवश्यक क्रिया और योगों में तथा ज्ञानादिक में उपकार करता है, क्योंकि अवमौदर्य तप की वृत्ति इन्द्रियों से द्वेष करनेवाली नहीं है ॥३५१॥

आचारवृत्ति—उत्तम क्षमा आदि लक्षणवाले दशप्रकार के धर्म में, समता वन्दना आदि छह आवश्यक क्रियाओं में, वृक्षमूल आदि योगों में, ज्ञानादिक—स्वाध्याय और चारित्र में यह अवमौदर्य तप उपकार करता है। इस तपश्चरण से इन्द्रियाँ प्रद्वेष को प्राप्त नहीं होती हैं किन्तु वश में रहती हैं। बहुत भोजन करनेवाला धर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता है। परिपूर्ण आवश्यक क्रियाओं का पालन नहीं कर पाता है। आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल इन तीन काल

---

१ क °दितत्तो।

पालयति। त्रिकालयोगं च न क्षेमेण समानयति। स्वाध्यायध्यानादिकं च न कर्तुं शक्नोति। तस्येन्द्रियाणि च स्वेच्छाचारीणि भवन्तीति। मिताशिनः पुनर्धर्मादयः स्वेच्छया वर्तन्त इति ॥३५२॥

रसपरित्यागस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्तकटुकसायंबिलमधुररसाणं च जं चयणं ॥३५२॥

अथ को रसपरित्याग इति पृष्टेऽत आह—क्षीरदधिसर्पिस्तैलगुडलवणानां घृतपूरलड्डुकादीनां च यत् **परिच्चयणं**—परित्यजनं एकैकशः सर्वेषां वा तिक्तकटुकषायाम्लमधुररसानां च यत्त्यजनं स रसपरित्यागः। एतेषां प्रासुकानामपि तपोबुद्धया त्यजनम् ॥३५२॥

याः पुनर्महाविकृतयस्ताः कथमिति प्रश्नेऽत आह—

चत्तारि महावियडी य होंति णवणीदमज्जमंसमधू।
कंखापसंगदप्पासंजमकारीओ[1] एदाओ ॥३५३॥

सम्बन्धी योगों को भी सुख से नहीं धारण कर सकता है तथा स्वाध्याय और ध्यान करने में भी समर्थ नहीं हो पाता है। उस मुनि की इन्द्रियाँ भी स्वेच्छाचारी हो जाती हैं। किन्तु मितभोजी साधु में धर्म, आवश्यक आदि क्रियाएँ स्वेच्छा से रहती हैं।

भावार्थ—भूख से कम खानेवाले साधु के प्रमाद नहीं होने से ध्यान, स्वाध्याय आदि निर्विघ्न होते हैं किन्तु अधिक भोजन करनेवाले के, प्रमाद से, सभी कार्यों में बाधा पहुँचती है। इसलिए यह तप गुणकारी है।

अब रस-परित्याग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—दूध, दही, घी, तेल, गुड और लवण इन रसों का जो परित्याग करना है और तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल तथा मधुर इन पाँच प्रकार के रसों का त्याग करना है वह रस-परित्याग है। ॥३५२॥

आचारवृत्ति—रसपरित्याग क्या है ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड और नमक तथा घृतपूर्ण पुआ, लड्डू आदि का जो त्याग करना है। इनमें एक-एक का या सभी का छोड़ना; तथा तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है। इस तप में इन प्रासुक वस्तुओं का भी तपश्चरण की बुद्धि से त्याग किया जाता है।

जो महाविकृतियाँ हैं वे कौन सी हैं? ऐसे प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चार महाविकृतियाँ होती हैं। ये अभिलाषा, प्रसंग—व्यभिचार, दर्प और असंयम को करनेवाली हैं। ॥३५३॥

---

१ क °री दुए°।

याः पुनश्चतस्रो महाविकृतयो महापापहेतवो भवन्तीति नवनीतमद्यमांसमधूनि, कांक्षाप्रसंगदर्पासंयमकारिण्य एताः। नवनीतं कांक्षां—महाविषयाभिलाषं करोति। मद्यं—सुराप्रसंगमगम्यगमनं करोति। मांसं-पिशितं दर्पं करोति। मधु असंयमं हिंसां करोति ॥३५३॥

एताः किंकर्तव्या इति पृष्टेऽत आह—

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण।
ताओ जावज्जीवं णिव्वुड्ढाओ पुरा चेव ॥३५४॥

सर्वज्ञाज्ञाभिकाक्षिणा—सर्वज्ञमतानुपालकेन। अवद्यभीरुणा—पापभीरुणा, तपःकामेन—तपोनुष्ठानपरेण, समाधिकामे—न च ता नवनीतमद्यमांसमधूनि विकृतयो यावज्जीवं—सर्वकालं निर्व्यूढाः—निसृष्टाः त्यक्ताः पुरा चैव पूर्वस्मिन्नेव काले संयमग्रहणात्पूर्वमेव। आज्ञाभिकांक्षिणा नवनीतं सर्वथा त्याज्यं दुष्टकांक्षाकारित्वात्। अवद्यभीरुणा मांसं सर्वथा त्याज्यं दर्पकारित्वात्। ततः तपःकामेन मद्यं सर्वथा त्याज्यं प्रसंगकारित्वात्। समाधिकामेन मधु सर्वथा त्याज्यं, असंयमकारित्वात्। व्यस्तं समस्तं वा योज्यमिति ॥३५४॥

आचारवृत्ति—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चारों ही महाविकृति पाप की हेतु हैं। नवनीत विषयों की महान् अभिलाषा को उत्पन्न करता है। मद्य, प्रसंग, अगम्य अर्थात् वेश्या या व्यभिचारिणी स्त्री का सहवास कराता है। मांस अभिमान को पैदा करता है और मधु हिंसा में प्रवृत्त कराता है।

इन्हें क्या करना चाहिए? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आज्ञापालन के इच्छुक, पापभीरु, तप और समाधि की इच्छा करनेवाले ने पहले ही इनका जीवन-भर के लिए त्याग कर दिया है ॥३५४॥

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करनेवाले, पापभीरु, तप के अनुष्ठान में तत्पर और समाधि की इच्छा करनेवाले भव्य जीव ने संयम ग्रहण करने के पूर्व में ही इन मक्खन, मद्य, मांस और मधु नामक चारों विकृतियों का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है।

आज्ञापालन करने के इच्छुक को नवनीत का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह दुष्ट अभिलाषा को उत्पन्न करनेवाला है। पापभीरु को मांस का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह दर्प—उत्तेजना का करनेवाला है। तपश्चरण की इच्छा करनेवाले को चाहिए कि वह मद्य को सर्वथा के लिए छोड़ दे, क्योंकि वह अगम्या—वेश्या आदि का सेवन करानेवाला है तथा समाधि की इच्छा करनेवाले को मधु का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह असंयम को करनेवाला है। इनको पृथक्-पृथक् या समूहरूप से भी लगा लेना चाहिए।

भावार्थ—एक-एक गुण के इच्छुक को एक-एक के त्यागने का उपदेश दिया है। वैसे ही एक-एक गुण के इच्छुक को चारों का भी त्याग कर देना चाहिए अथवा चारों गुणों के इच्छुक को चारों वस्तुओं का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए।

वृत्तिपरिसंख्यानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

गोयरपमाण दायगभायण णाणाविहाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविहस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥३५५॥

गोचरस्य प्रमाणं गोचरप्रमाणं गृहप्रमाणं, एतेषु गृहेषु प्रविशामि नान्येषु बहुष्विति। दायका दातारो भाजनानि परिवेष्यपात्राणि तेषां यन्नानाविधानं नानाकरणं तस्य ग्रहणं स्वीकरणं—दातृविशेषग्रहणं पात्रविशेषग्रहणं च। यदि वृद्धो मां विधरेत् तदानीं तिष्ठामि नान्यथा। अथवा बालो युवा स्त्री उपानत्करहितो व्रर्मनि स्थितोऽयथा वा विधरेत् तदानीं तिष्ठामीति। कांस्यभाजनेन रूप्यभाजनेन सुवर्णभाजनेन मृन्मयभाजनेन वा ददाति तदा गृहीष्यामीति यदेवमाद्यं। तथाशनस्य विविधस्य नानाप्रकारस्य यद्ग्रहणमवग्रहोपादानं, अद्य मकुष्ठं भोक्ष्ये नान्यत्। अथवाद्य मंडकान् सक्तून् ओदनं वा ग्रहीष्यामीति यदेवमाद्यं[1] ग्रहणं तत्सर्वं वृत्तिपरिसंख्यानमिति ॥३५५॥

कायक्लेशस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—गृहों का प्रमाण, दाता का, वर्तनों का नियम ऐसे अनेक प्रकार का जो नियम ग्रहण करना है तथा नाना प्रकार के भोजन का नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान-व्रत है।॥३५५॥

आचारवृत्ति—गृहों के प्रमाण को गोचर प्रमाण कहते हैं। जैसे 'आज मैं इन गृहों में आहार हेतु जाऊँगा, और अधिक गृहों में नहीं जाऊँगा' ऐसा नियम करना। दायक अर्थात् दातार और भाजन अर्थात् भोजन रखने के या भोजन परोसने के वर्तन—इनकी जो नाना प्रकार से विधि लेना है वह दायक-भाजन विधि अर्थात् दाता विशेष और पात्र विशेष की विधि ग्रहण करना है। जैसे, 'यदि वृद्ध मनुष्य मुझे पड़गाहेगा तो मैं ठहरूँगा अन्यथा नहीं, अथवा बालक, युवक, महिला, या जूते अथवा खड़ाऊँ आदि से रहित कोई पुरुष मार्ग में खड़ा हुआ मुझे पड़गाहे तो मैं ठहरूँगा अथवा ये अन्य अमुक विधि से मुझे पड़गाहें तो मैं ठहरूँगा' इत्यादि नियम लेकर चर्या के लिए निकलना। ऐसे ही वर्तन सम्बन्धी नियम लेना: जैसे, 'मुझे आज यदि कोई कांसे के वर्तन से, सोने के वर्तन से या मिट्टी के वर्तन से आहार देगा तो मैं ले लूँगा, या इसी प्रकार से अन्य और भी नियम लेना। तथा नाना प्रकार के भोजन सम्बन्धी जो नियम लेना है वह सब वृत्तिपरिसंख्यान है। जैसे, 'आज मैं मोठ ही खाऊँगा अन्य कुछ नहीं', "अथवा आज मंडे, सत्तू या भात ही ग्रहण करूँगा।" इत्यादि रूप से जो भी नियम लिये जाते हैं वे सब वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाते हैं।

भावार्थ—इन्द्रिय और मन के निग्रह के लिए नाना प्रकार के तपश्चरणों का अनुष्ठान किया जाता है। और इस वृत्तिपरिसंख्यान के नियम से भी इच्छाओं का निरोध होकर भूख-प्यास को सहन करने का अभ्यास होता है।

कायक्लेश तप का स्वरूप वतलाते हैं—

---

१ क 'माद्यम्'।

ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं ।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो ॥३५६॥

स्थानं—कायोत्सर्ग । शयनं—एकपार्श्वमृतकदण्डादिशयनं । आसनं—उत्कुटिका-पर्यंक-वीरासन-मकरमुखाद्यासनं । स्थानशयनासनैर्विविधैश्चावग्रहैर्धर्मोपकारहेतुभिरभिप्रायैर्बहुभिरनुवीचीपरितापः सूत्रानुसारेण कायपरितापो वृक्षमूलाभ्रावकाशातापनादिरेष कायक्लेशो भवति ॥३५६॥

विविक्तशयनासनस्वरूपमाह—

तेरिक्खिय माणुस्सिय सविगारियदेवि गेहि संसत्ते ।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ॥३५७॥

गाथार्थ—खड़े होना—कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना—यह कायक्लेश नाम का तप है ॥३५६॥

आचारवृत्ति—स्थान—कायोत्सर्ग करना । शयन—एक पसवाड़े से या मृतकासन से या दण्डे के समान लम्बे पड़कर सोना । आसन—उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, वीरासन, मकर-मुखासन आदि तरह-तरह के आसन लगाकर बैठना । इन कायोत्सर्ग, शयन और आसनों द्वारा तथा अनेक प्रकार के धर्मोपकार हेतु नियमों के द्वारा सूत्र के अनुसार काय को ताप देना अर्थात् शरीर को कष्ट देना; वृक्षमूल अभ्रावकाश और आतापन आदि नाना प्रकार के योग धारण करना यह सब कायक्लेश तप है ।

भावार्थ—इस तश्चरण द्वारा शरीर में कष्ट-सहिष्णुता आ जाने से, घोर उपसर्ग या परीषहों के आ जाने पर भी साधु अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते हैं । इसलिए यह तप भी बहुत ही आवश्यक है ।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेद् मुनिः ॥१०२॥

(समाधिशतक)

—सुखी जीवन में किया गया तत्त्वज्ञान का अभ्यास दुःख के आ जाने पर क्षीण हो जाता है, इसलिए मुनि अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के द्वारा अपनी आत्मा की भावना करे अर्थात् कायक्लेश आदि के द्वारा दुःखों को बुलाकर अपनी आत्मा का चिन्तवन करते हुए अभ्यास दृढ़ करे ।

विवक्तशयनासन तप का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रमादी मुनि सोने, बैठने और ठहरने में तिर्यंचिनी, मनुष्य-स्त्री, विकार-सहित देवियाँ और गृहस्थों से सहित मकानों को छोड़ देते हैं । ॥३५७॥

तिर्यंचो—गोमहिष्यादयः। मानुष्यः—स्त्रियो वेश्याः स्वेच्छाचारिण्यादयः। सविकारिण्यो—देव्यो भवनवानव्यन्तरादियोषितः। गेहिनो गृहस्थाः। एतैः संसक्तान्—सहितान्, निलयानावसान् वर्जयन्ति—परिहरन्त्यप्रमत्ता यत्नपराः सन्तः शयनासनस्थानेषु कर्तव्येषु एवमनुतिष्ठतो विविक्तशयनासनं नाम तप इति ॥३५७॥

बाह्यं तप उपसंहरन्नाह—

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि ।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते ॥३५८॥

तन्नाम बाह्यं तपो येन मनोदुष्कृतं-चित्तसंक्लेशो नोत्तिष्ठति नोत्पद्यते। येन च श्रद्धा शोभनानुरागो जायत उत्पद्यते येन च योगा मूलगुणा न हीयन्ते ॥३५८॥

एसो दु बाहिरतवो बाहिरजणपायडो परम घोरो ।
अब्भंतरजणणादं वोच्छं अब्भंतरं वि तवं ॥३५९॥

तद्बाह्यं तपः षड्विधं बाह्यजनानां मिथ्यादृष्टिजनानामपि प्रकटं प्रख्यातं परमघोरं सुष्ठु दुष्करं प्रतिपादितं। अभ्यन्तरजनज्ञातं आगमप्रविष्टजनैर्ज्ञातं वक्ष्ये कथयिष्याम्यभ्यन्तरमपि षड्विधं तपः ॥३५९॥

आचारवृत्ति—अप्रमत्त अर्थात् यत्न में तत्पर होते हुए सावधान मुनि सोना, बैठना और ठहरना इन प्रसंगों में अर्थात् अपने ठहरने के प्रसंग में—जहाँ गाय, भैंस आदि तिर्यंच हैं; वेश्या, स्वेच्छाचारिणी आदि महिलायें हैं; भवनवासिनी, व्यंतरवासिनी आदि विकारी वेषभूषावाली देवियाँ हैं अथवा गृहस्थजन हैं। ऐसे इन लोगों से सहित गृहों को, वसतिकाओं को छोड़ देते हैं। इस तरह इन तिर्यंच आदि से रहित स्थानों में रहनेवाले मुनि के यह विविक्त शयनासन नाम का तप होता है।

अब बाह्य तपों का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य तप वही है जिससे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिससे योगहीन नहीं होते हैं। ॥३५८॥

आचारवृत्ति—बाह्य तप वही है कि जिससे मन में संक्लेश नहीं उत्पन्न होता है, जिससे श्रद्धा—शुभ अनुराग उत्पन्न होता है और जिससे योग अर्थात् मूलगुण हानि को प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् बाह्य तप का अनुष्ठान वही अच्छा माना जाता है कि जिसके करने से मन में संक्लेश न उत्पन्न हो जावे या शुभ परिणामों का विघात न हो जावे अथवा मूलगुणों की हानि न हो जावे।

गाथार्थ—यह बाह्य तप बाह्य (जैन मत से बहिर्भूत) जनों में प्रगट है, परम घोर है, सो कहा गया है। अब मैं अभ्यन्तर—जैनदृष्टि लोगों में प्रसिद्ध ऐसे अभ्यन्तर तप को कहूँगा ॥३५९॥

आचारवृत्ति—यह छह प्रकार के बाह्य तप का, जो मिथ्यादृष्टिजनों में भी प्रख्यात है और अत्यन्त दुष्कर है, मैंने प्रतिपादन किया है। अब आगम में प्रवेश करने वाले ऐसे सम्यग्दृष्टिजनों के द्वारा जाने गये छह भेद वाले अभ्यन्तर तप को भी मैं कहूँगा।

के ते षट्प्रकारा इत्याशंकायामाह—

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो ॥३६०॥

प्रायश्चित्तं—पूर्वापराधशोधनं। विनयअनुद्धतवृत्तिः। वैयावृत्यं स्वशक्त्योपकारः। तथैव स्वाध्यायः सिद्धान्ताद्यध्ययनं। ध्यानं चैकाग्रचितानिरोधः॥व्युत्सर्गः। अभ्यन्तरतप एतदिति ॥३६०॥

प्रायश्चित्तस्वरूपं निरूपयन्नाह—

पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु ॥३६१॥

प्रायश्चित्तमपराधं प्राप्तः सन् येन तपसा पूर्वकृतात्पापात् विशुद्धयते हु—स्फुटं पूर्व व्रतैः सम्पूर्णो भवति तत्तपस्तेन कारणेन दशप्रकारं प्रायश्चित्तमिति ॥३६१॥

के ते दशप्रकारा इत्याशंकायामाह—

आलोयणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥३६२॥

अभ्यन्तर तप के वे छह प्रकार कौन से हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये अभ्यन्तर तप हैं ॥३६०॥

आचारवृत्ति—पूर्व के किये हुए अपराधों का शोधन करना प्रायश्चित है। उद्धतपन-रहित वृत्ति का होना अर्थात् नम्र वृत्ति का होना विनय है। अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्य है। सिद्धांत आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय है। एक विषय पर चिन्ता का निरोध करना ध्यान है और उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ये छह अभ्यन्तर तप हैं।

अब प्रायश्चित्त का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त तप है। इस कारण से वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का कहा गया है ॥३६१॥

आचारवृत्ति—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पूर्वसंचित पापों से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त है। जिससे स्पष्टतया पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है वह तप भी प्रायश्चित्त कहलाता है। वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का है।

वे दश प्रकार कौन से हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद हैं ॥३६२॥

आलोचना—आचार्याय देवाय वा चारित्राचारपूर्वकमुत्पन्नापराधनिवेदनं। प्रतिक्रमणं—रात्रिभोजनत्यागव्रतसहितपंचमहाव्रतोच्चारणं संभावनं दिवसप्रतिक्रमणं पाक्षिकं वा। उभयं—आलोचनप्रतिक्रमणे। विवेको—द्विप्रकारो गणविवेकः स्थानविवेको वा। तथा व्युत्सर्गः—कायोत्सर्गः। तपोऽनशनादिकं। छेदो—दीक्षायाः पक्षमासादिभिर्हानिः। मूलं—पुनरद्य प्रभृति व्रतारोपणं। अपि च परिहारो द्विप्रकारो गणप्रतिबद्धोऽप्रतिबद्धो वा। यत्र प्रश्रवणादिकं कुर्वन्ति मुनयस्तत्र तिष्ठन्ति पिच्छिकामग्रतः कृत्वा यतीनां वन्दनां करोति तस्य यतयो न कुर्वन्ति, एवं या गणे क्रिया गणप्रतिबद्धः परिहारः। यत्र देशे धर्मो न ज्ञायते तत्र गत्वा मौनेन तपश्चरणानुष्ठानकरणमगणप्रतिबद्धः परिहारः। तथा श्रद्धानं तत्त्वरुचौ परिणामः क्रोधादिपरित्यागो वा। एतद्दशप्रकारं प्रायश्चित्तं दोषानुरूपं दातव्यमिति। कश्चिद्दोषः आलोचनमात्रेण निराक्रियते। कश्चित्प्रतिक्रमणेन कश्चिदालोचनप्रतिक्रमणाभ्यां कश्चिद्विवेकेन कश्चित्कायोत्सर्गेण कश्चित्तपसा कश्चिच्छेदेन कश्चिन्मूलेन कश्चित्परिहारेण कश्चिच्छ्रद्धानेनेति ॥३६२॥

प्रायश्चित्तस्य नामानि प्राह—

पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंच्छणमुछिवण छिदणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाइं ॥३६३॥

आचारवृत्ति—आचार्य अथवा जिनदेव के समक्ष अपने में उत्पन्न हुए दोषों का चारित्राचारपूर्वक निवेदन करना आलोचना है। रात्रिभोजनत्याग व्रत सहित पांच महाव्रतों का उच्चारण करना, सम्यक् प्रकार से उनको भाना अथवा दिवस और पाक्षिक सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण हैं। आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को करना तदुभय है। विवेक के दो भेद हैं—गण विवेक और स्थानविवेक। कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहते हैं। अनशन आदि तप हैं। पक्ष-मास आदि से दीक्षा की हानि कर देना छेद है। आज से लेकर पुनः व्रतों का आरोपण करना अर्थात् फिर से दीक्षा देना मूल है। परिहार प्रायश्चित्त के भी दो भेद हैं—गणप्रतिबद्ध और गण अप्रतिबद्ध। जहाँ मुनिगण मूत्रादि विसर्जन करते हैं, इस प्रायश्चित्त वाला पिच्छिका को आगे करके वहाँ पर रहता है, वह यतियों की वंदना करता है किन्तु अन्य मुनि उसको वन्दना नहीं करते हैं। इस प्रकार से जो गण में क्रिया होती है वह गणप्रतिबद्ध-परिहार प्रायश्चित्त है। जिस देश में धर्म नहीं जाना जाता है वहाँ जाकर मौन से तपश्चरण का अनुष्ठान करते हैं उनके अगण-प्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित होता है। तत्त्वरुचि में जो परिणाम होता है अथवा क्रोधादि का त्याग रूप जो परिणाम है वह श्रद्धान प्रायश्चित्त है।

यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त दोषों के अनुरूप देना चाहिए। कुछ दोष आलोचनामात्र से निराकृत हो जाते हैं, कुछ दोष प्रतिक्रमण से दूर किये जाते हैं तो कुछेक दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं, कई दोष विवेक प्रायश्चित्त से, कई कायोत्सर्ग से, कई दोष तप से, कई दोष छेद से, कई मूल प्रायश्चित्त से, कई परिहार से एवं कई दोष श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त से दूर किये जाते हैं।

विशेष—आजकल 'परिहार' नाम के प्रायश्चित्त को देने की आज्ञा नहीं रही।

प्रायश्चित के पर्यायवाची नामों को कहते हैं—

गाथार्थ—पुराने कर्मों का क्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछन, उत्क्षेपण और छेदन ये सब प्रायश्चित्त के नाम हैं ॥३६३॥

पुराणस्य कर्मणः क्षपणं विनाशः, क्षेपणं, निर्जरणं, शोधनं, धावनं, पुच्छणं, निराकरणं, उत्क्षेपणं, छेदनं द्वैधीकरणमिति प्रायश्चित्तस्यैतान्यष्टौ नामानि ज्ञातव्यानि भवन्तीति ॥३६३॥

विनयस्य स्वरूपमाह—

दंसणणाणेविणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ ॥३६४॥

दर्शने विनयो ज्ञाने विनयश्चारित्रे विनयस्तपसि विनयः औपचारिको विनयः पंचविधः खलु विनयः पंचमीगतिनायकः प्रधानः भणितः प्रतिपादित इति ॥३६४॥

दर्शनविनयं प्रतिपादयन्नाह—

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥३६५॥

उपगूहनस्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावनाः पूर्वोक्ताः। तथा भक्त्यादयो गुणाः पंचपरमेष्ठिभक्त्यानुरागस्तेषामेव पूजा तेषामेव गुणानुवर्णनं, नाशनमवर्णवादस्यासादनापरिहारो भक्त्यादयो गुणाः। शंकाकांक्षा-

---

आचारवृत्ति—पुराने कर्मों का क्षपण—क्षय करना अर्थात् विनाश करना, क्षेपण—दूर करना, निर्जरण—निर्जरा करना, शोधन—शोधन करना, धावन—धोना, पुंछन—पोछना अर्थात् निराकरण करना, उत्क्षेपण—फेंकना, छेदन—दो टुकड़े करना इस प्रकार ये प्रायश्चित्त के ये आठ नाम जानने चाहिए।

अब विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तपोविनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय पंचम गति को प्राप्त कराने वाला नायक कहा गया है ॥३६४॥

आचारवृत्ति—दर्शन में विनय, ज्ञान में विनय, चारित्र में विनय, तप में विनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय निश्चित रूप से पाँचवीं गति अर्थात् मोक्षगति में ले जाने वाला प्रधान कहा गया है, ऐसा समझना। अर्थात् विनय मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है।

दर्शन विनय का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में कहे गये उपगूहन आदि तथा भक्ति आदि गुणों को धारण करना और शंकादि दोष का वर्जन करना यह संक्षेप से दर्शन विनय है ॥३६५॥

आचारवृत्ति—उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये पूर्व में कहे गये हैं। तथा पंच परमेष्ठियों में अनुराग करना, उन्हीं की पूजा करना, उन्हीं के गुणों का वर्णन करना, उनके प्रति लगाये गये अवर्णवाद अर्थात् असत्य आरोप का विनाश करना, और उनकी आसादना अर्थात् अवहेलना का परिहार करना—ये भक्ति आदि गुण कहलाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और अन्य दृष्टि मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, इनका त्याग करना यह संक्षेप

विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसानां वर्जनं परिहारो दर्शनविनयः समासेनेति ॥३६५॥

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो ॥३६६॥

येऽर्थपर्याया जीवाजीवादयः सूक्ष्मस्थूलभेदेनोपदिष्टाः स्फुटं जिनवरैः श्रुतज्ञाने द्वादशांगेषु चतुर्दशपूर्वेषु, तान् पदार्थांस्तथैव तेन प्रकारेण याथात्म्येन रोचयति नरो भव्यजीवो येन परिणामेन स एष दर्शनविनयो ज्ञातव्य इति ॥३६६॥

ज्ञानविनयं प्रतिपादयन्नाह—

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभयं विणओ णाणम्हि अट्ठविहो ॥३६७॥

द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां कालशुद्ध्या पठनं व्याख्यानं परिवर्तनं वा । तथा हस्तपादौ प्रक्षाल्य पर्यंकेऽवस्थितस्याध्ययनं । अवग्रहविशेषेण पठनं । बहुमानं यत्पठति यस्माच्छृणोति तयोः पूजागुणस्तवनं । तथैवा-

---

से दर्शन विनय है।

भावार्थ—शंकादि चार दोषों का त्याग, उपगूहन आदि चार अंग जो विधिरूप हैं उनका पालन करना तथा पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि करना, यही सब दर्शन की विशुद्धि को करनेवाला दर्शनविनय है।

गाथार्थ—जिनेन्द्र देव ने आगम में निश्चित रूप से जिन द्रव्य और पर्यायों का उपदेश किया है, उनका जो मनुष्य वैसा ही श्रद्धान करता है वह दर्शन विनयवाला होता है ॥३६६॥

आचारवृत्ति—सूक्ष्म और वादर के भेद से जिन जीव अजीव आदि पदार्थों का जिनेन्द्र देव ने द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व रूप श्रुतज्ञान में स्पष्टरूप से उपदेश दिया है, जो भव्य जीव उन पदार्थों का उसी प्रकार से जैसे का तैसा विश्वास करता है, तथा जिस परिणाम से श्रद्धान करता है वह परिणाम ही दर्शनविनय है।

ज्ञानविनय का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—काल, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय—विनय करना, यह ज्ञानसंबंधी विनय आठ प्रकार का है ॥३६७॥

आचारवृत्ति—द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन—फेरना कालविनय है।

उन्हीं ग्रन्थों का (या अन्य ग्रन्थों का) हाथ पैर धोकर पर्यंकासन से बैठकर अध्ययन करना विनयशुद्धि नाम का ज्ञानविनय है। नियम विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रन्थ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमान है। उसी प्रकार से जिस ग्रन्थ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तित करना अर्थात् उस ग्रन्थ या उन गुरु के नाम को नहीं छिपाना यह अनिह्नव है। शब्दों को शुद्ध पढ़ना व्यंजनशुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थशुद्ध विनय है

-निह्नवो यस्पठति यस्मात्पठति तयोः कीर्तनं। व्यञ्जनशुद्धं, अर्थशुद्धं व्यञ्जनार्थोभयशुद्धं च यत्पठनं। अनेन न्यायेनाष्टप्रकारो ज्ञाने विनय इति ॥३६७॥

तथा—

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ॥३६८॥

ज्ञानं शिक्षते विद्योपादानं करोति। ज्ञानं गुणयति परिवर्तनं करोति। ज्ञानं परस्मै उपदिशति प्रतिपादयति। ज्ञानेन करोति न्यायमनुष्ठानं। य एवं करोति ज्ञानविनीतो भवत्येष इति। अथ दर्शनाचारदर्शनविनययोः को भेदस्तथा ज्ञानाचारज्ञानविनययोः कश्चन भेद इत्याशंकायामाह—शंकादिपरिणामपरिहारे यत्नः उपगूहनादिपरिणामानुष्ठाने च यत्नो दर्शनविनयः। दर्शनाचारः पुनः शंकाद्यभावेन तत्त्वश्रद्धानविषयो यत्न इति। तथा कालशुद्ध्यादिविषयेऽनुष्ठाने यत्नः कालादिविनयः, तथा द्रव्यक्षेत्रभावादिविषयश्च यत्नः। ज्ञानाचारः पुनः कालशुद्ध्यादिषु सत्सु श्रुतं पठनयत्नं। ज्ञानविनयः श्रुतोपकरणेषु च यत्नः श्रुतविनयः। तथापनयति तपसा तमोऽज्ञानं उपनयति च मोक्षमार्गे आत्मानं तपोविनयः नियमितमतिः सोऽपि तपोविनय इति ज्ञातव्य इति ॥३६८॥

और इन दोनों को शुद्ध रखना व्यंजनार्थ उभयशुद्ध विनय है। इस न्याय से ज्ञान का विनय आठ प्रकार से करना चाहिए।

उसी ज्ञान की विशेषता को कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान पर को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है। इस प्रकार यह जो करता है वह ज्ञान से विनयी होता है॥३६८॥

आचारवृत्ति—ज्ञान विद्या को प्राप्त कराता है। ज्ञान अवगुण को गुणरूप से परिवर्तित करता है। ज्ञान पर को उपदेश का प्रतिपादन करता है। ज्ञान से न्याय—सत्प्रवृत्ति करता है जो ऐसा करता है वह ज्ञानविनीत होता है।

प्रश्न—दर्शनाचार और दर्शनविनय में क्या अन्तर है? उसी प्रकार ज्ञानाचार और ज्ञानविनय में क्या अन्तर है?

उत्तर—शंकादि परिणामों के परिहार में प्रयत्न करना और उपगूहन आदि गुणों के अनुष्ठान में प्रयत्न करना दर्शनविनय है। पुनः शंकादि के अभावपूर्वक तत्त्वों के श्रद्धान में यत्न करना दर्शनाचार है। उसी प्रकार कालशुद्धि आदि विषय अनुष्ठान में प्रयत्न करना काल आदि विनय हैं तथा द्रव्य क्षेत्र और भाव आदि के विषय में प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। काल शुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणों में अर्थात् ग्रन्थ, उपाध्याय आदि में प्रयत्न करना श्रुतविनय है।

उसी प्रकार से जो तप से अज्ञान तम को दूर करता है और आत्मा को मोक्ष मार्ग के समीप करता है वह तपोविनय है और नियमितमति होना है वह भी तप का विनय है ऐसा जानना चाहिए।

चारित्रविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

इंदियकसायपणिहाणंपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होई णायव्वो ॥३६९॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि कषायाः क्रोधादयः तेषामिन्द्रियकषायाणां प्रणिधानं प्रसरहानिरिन्द्रिय-कषायप्रणिधानं इन्द्रियप्रसरनिवारणं कषायप्रसरनिवारणं। अथवेन्द्रियकषायाणां अपरिणामस्तद्गतव्यापार-निरोधनं। अपि च गुप्तयो मनोवचनकायशुभप्रवृत्तयः। समितय ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोच्चारप्रस्रवणप्रतिष्ठा-पनाः। एष चारित्रविनयः समासतः संक्षेपतो भवति ज्ञातव्यः। अत्रापि समितिगुप्तय आचारः। तद्रक्षणोपाये यत्नश्चारित्रविनय इति ॥३६९॥

तपोविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहियासणा य सद्धा य।
आवासयाणमुचिदाणं अपरिहाणीयणुस्सेहो ॥३७०॥

आतापनाद्युत्तरगुणेषूद्योग उत्साहः। सम्यगध्यासनं तत्कृतश्रमस्य निराकुलतया सहनं। तद्गत-श्रद्धा—तानुत्तरगुणान् कुर्वतः शोभनपरिणामः। आवश्यकानां समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायोत्स-

---

चारित्र विनय का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रिय और कषायों का निग्रह, गुप्तियाँ और समितियाँ संक्षेप से यह चारित्र विनय जानना चाहिए। ॥३६९॥

आचारवृत्ति—चक्षु आदि इन्द्रियाँ और क्रोधादि कषायों का प्रणिधान—प्रसार की हानि का होना अर्थात् इन्द्रिय के प्रसार का निवारण करना और कषायों के प्रसार का निवारण करना। अथवा इन्द्रिय और कषायों का परिणाम अर्थात् उनमें होने वाले व्यापार का निरोध करना—यह इन्द्रिय कषाय प्रणिधान है। मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति गुप्तियाँ हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उच्चार प्रस्रवण प्रतिष्ठापना ये पाँच समितियाँ हैं। यह सब चारित्र विनय संक्षेप से कहा गया है। यहाँ पर भी समिति और गुप्तियाँ चारित्राचार हैं और उनकी रक्षा के उपाय में जो प्रयत्न है वह चारित्र विनय है।

भावार्थ—इन्द्रियों का निरोध और कषायों का निग्रह होना तथा समिति गुप्ति की रक्षा में प्रयत्न करना यह सब चारित्रविनय है।

अब तपो विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—उत्तर गुणों में उत्साह, उनका अच्छी तरह अभ्यास, श्रद्धा, उचित आवश्यकों में हानि या वृद्धि न करना तपोविनय है। ॥३७०॥

आचारवृत्ति—आतापन आदि उत्तर गुणों में उद्यम—उत्साह रखना, उनके करने में जो श्रम होता है उसको निराकुलता से सहन करना, उन उत्तर गुणों को करने वाले के प्रति श्रद्धा—शुभ भाव रखना। समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। ये उचित हैं, कर्मक्षय के लिए निमित्त हैं। ये परिमित हैं, इनकी हानि और वृद्धि

गाणामुचितानां कर्मक्षयनिमित्तानां परिमितानामपरिहाणिरनुत्सेधः न हानिः कर्तव्या नापि वृद्धिः। षडेव भावाश्चत्वारः पंच वा न कर्तव्याः। तथा सप्ताष्टौ न कर्तव्याः। या यस्यावश्यकस्य वेला तस्यामेवासौ कर्तव्यो नान्यस्यां वेलायां हानिं वृद्धिं प्राप्नुयात्। तथा यस्यावश्यकस्य यावन्तः पठिताः कायोत्सर्गास्तावन्त एव कर्तव्या न तेषां हानिर्वृद्धिर्वा कार्या इति ॥३७०॥

भत्ती तवोधियम्हि[1] य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचारित्तसाहुस्स ॥३७१॥

भक्तिः स्तुतिपरिणामः सेवा वा। तपसाधिकस्तपोऽधिकः तस्मिंस्तपोधिके। आत्मनोऽधिकतपसि तपसि च द्वादशविधतपोऽनुष्ठाने च भक्तिरनुरागः। शेषाणामनुत्कृष्टतपसामहेलना अपरिभवः। एष तपसि विनयः सर्वसंयतेषु प्रणामवृत्तिर्यथोक्तचारित्रस्य साधोर्भवति ज्ञातव्य इति ॥३७१॥

पंचमौपचारिकविनयं प्रपंचयन्नाह—

नहीं करना अर्थात् ये आवश्यक छह ही हैं, इन्हें चार वा पाँच नहीं करना तथा सात या आठ भी नहीं करना। जिस आवश्यक की जो वेला है उसी वेला में वह आवश्यक करना चाहिए, अन्य वेला में नहीं। अन्यथा हानि वृद्धि हो जावेगी। तथा, जिस आवश्यक के जितने कायोत्सर्ग बताये गये हैं उतने ही करना चाहिए, उनकी हानि या वृद्धि नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—उत्तर गुणों के धारण करने में उत्साह रखना, उनका अभ्यास करना और उनके करनेवालों में आदर भाव रखना तथा आवश्यक क्रियाओं को आगम की कथित विधि से उन्हीं उन्हीं के काल में कायोत्सर्ग की गणना से करना यह सब तपोविनय है। जैसे दैवसिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति में १०८ उच्छ्वास पूर्वक ३६ कायोत्सर्ग, रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वास पूर्वक १८ कायोत्सर्ग, देववंदना में चैत्य पंचगुरु भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग इत्यादि कहे गये हैं सो उतने प्रमाण से विधिवत् करना।

गाथार्थ—तपोधिक साधु में और तप में भक्ति रखना तथा और दूसरे मुनियों की अवहेलना नहीं करना, आगम में कथित चारित्र वाले साधु का यह तपोविनय है। ॥३७१॥

आचारवृत्ति—जो तपश्चर्या में अपने से अधिक हैं वे तपोधिक होते हैं। उनमें तथा बारह प्रकार के तपश्चरण के अनुष्ठान में भक्ति अर्थात् अनुराग रखना। स्तुति के परिणाम को अथवा सेवा को भक्ति कहते हैं सो इनकी भक्ति करना। शेष जो मुनि अनुत्कृष्ट तप वाले हैं अर्थात् अधिक तपश्चरण नहीं करते हैं उनका तिरस्कार—अपमान नहीं करना। सभी संयतों में प्रणाम की वृत्ति होना—यह सब तपोविनय है जो कि आगमानुकूल चारित्रधारी साधु के होता है।

पाँचवें औपचारिक विनय का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

---

१ क 'म्हि अ'।

काइयवाइयमाणसिओ त्ति अ तिविहो दु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य ॥३७२॥

काये भवः कायिकः। वाचि भवो वाचिकः। मनसि भवो मानसिकः। त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तु पंचमो विनयः। स्वर्गमोक्षादीन् विशेषेण नयतीति विनयः। कायाश्रयो वागाश्रयो मानसाश्रयश्चेति। स पुनः सर्वोऽपि कायिको वाचिको मानसिकश्च द्विविधो द्विप्रकारः प्रत्यक्षश्चैव परोक्षश्च। गुरोः प्रत्यक्षश्चक्षुरादिविषयः। चक्षुरादिविषयादतिक्रान्तः परोक्ष इति ॥३७२॥

कायिकविनयस्वरूपं दर्शयन्नाह—

अब्भुट्ठाणं किदिअम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं।
पच्चूगच्छणमेत्ते पछिदस्सणुसाहणं चेव ॥३७३॥

अभ्युत्थानमादरेणासनादुत्थानं। क्रियाकर्म सिद्धभक्तिश्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गादिकरणं। नमनं शिरसा प्रणामः। अञ्जलिना करकुंडलेनाञ्जलिकरणं वा मुण्डानामृषीणां। अथवा मुण्डा सामान्य-

---

गाथार्थ—कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार पाँचवाँ औपचारिक विनय तीन भेद रूप है। पुनः वह तीन भेद रूप विनय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष की अपेक्षा से दो प्रकार का है। ॥३७२॥

आचारवृत्ति—काय से होनेवाला कायिक है, वचन से होने वाला वाचिक और मन से होने वाला मानसिक विनय है। जो स्वर्ग मोक्षादि में विशेष रूप से ले जाता है वह विनय है। इस तरह औपचारिक नामक पाँचवाँ विनय तीन प्रकार का है। अर्थात् काय के आश्रित, वचन के आश्रित और मन के आश्रित से यह विनय तीन भेद रूप है। वह तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार है अर्थात् प्रत्यक्ष विनय के भी तीन भेद हैं और परोक्ष के भी तीन भेद हैं। जब गुरु प्रत्यक्ष में हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर हैं तब उनका विनय प्रत्यक्षविनय है तथा जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर हैं तब उनकी जो विनय की जाती है वह परोक्षविनय है।

कायिक विनय का स्वरूप दिखलाते हैं—

गाथार्थ—केशलोच से मुण्डित हुए अतः जो मुण्डित कहलाते हैं ऐसे मुनियों के लिए उठकर खड़े होना, भक्तिपाठ पूर्वक वन्दना करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आते हुए के सामने जाना और प्रस्थान करते हुए के पीछे-पीछे चलना ॥३७३॥

आचारवृत्ति—मुण्ड अर्थात् ऋषियों को सामने देखकर आदरपूर्वक आसन से उठकर खड़े हो जाना, क्रियाकर्म—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करके वन्दना करना, अंजलि जोड़कर शिर झुकाकर नमस्कार करना नमन है। यहाँ मुण्ड का अर्थ ऋषि है अथवा 'मुण्ड' का अर्थ सामान्य वन्दना है अर्थात् भक्तिपाठ के बिना नमस्कार करना मुण्ड-वन्दना है। जो साधु सामने आ रहे हैं उनके सम्मुख जाना, प्रस्थान करने वाले के पीछे-पीछे चलना। तात्पर्य यह है कि साधुओं का आदर करना चाहिए। उनके प्रति भक्तिपाठ

वन्दना। पच्चूगच्छणमेसे—आगच्छतः प्रतिगमनमभिमुखयानं। प्रस्थितस्य प्रयाणके व्यवस्थितस्यानुसाधनं चानुव्रजनं च साधूनामादरः कार्यः। तथा तेषामेव क्रियाकर्म कर्तव्यम्। तथा तेषामेव कृताञ्जलिपुटेन नमनं कर्तव्यं। तथा साधोरागतः प्रत्यभिमुखगमनं कर्तव्यं तथा तस्यैव प्रस्थितस्यानुव्रजनं कर्तव्यमिति ॥३७३॥ तथा—

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं।
आसणदाणं उवगरणदाण ओगासदाणं च ॥३७४॥

देवगुरुभ्यः पुरतो नीचं स्थानं वामपार्श्वे स्थानं। नीचं च गमनं गुरोर्वामपार्श्वे पृष्ठतो वा गन्तव्यं। नीचं च न्यग्भूतं चासनं पीठादिवर्जनं। गुरोरासनस्य पीठादिकस्य दानं निवेदनं। उपकरणस्य पुस्तिकाकुंडिकापिच्छिकादिकस्य प्रासुकस्यान्विष्य दानं निवेदनं। अथवा नीचं स्थानं करचरणसंकुचितवृत्तिर्गुरोः सधर्मणोऽन्यस्य वा व्याधितस्येति ॥३७४॥ तथा—

पडिरूवकायसंफासणदा य पडिरूपकालकिरिया य।
पेसणकरणं संथरकरणं उवकरण पडिलिहणं ॥३७५॥

प्रतिरूपं शरीरबलयोग्यं कायस्य शरीरस्य संस्पर्शनं मर्दनमभ्यंगनं वा। प्रतिरूपकालक्रिया चोष्ण-

---

करते हुए कृति कर्म करना चाहिए तथा उन्हें अंजलि जोड़कर नमस्कार करना चाहिए। साधुओं के आते समय सन्मुख जाकर स्वागत करना चाहिए और उनके प्रस्थान करने पर कुछ दूर पहुँचाने के लिए उनके पीछे-पीछे जाना चाहिए।

गाथार्थ—गुरुओं से नीचे खड़े होना, नीचे अर्थात् पीछे चलना, नीचे बैठना, नीचे स्थान में सोना, गुरु को आसन देना, उपकरण देना और ठहरने के लिए स्थान देना—यह सब कायिक विनय है ॥३७४॥

आचारवृत्ति—देव और गुरु के सामने नीचे खड़े होना (विनय से एक तरफ खड़े होना), गुरु के साथ चलते समय उनके बायें चलना या उनके पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ पाटे आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना, उनके लिए आसन देकर उन्हें विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका आदि उपकरण देना, वसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिए निवेदन करना। अथवा 'नीच स्थान' का अर्थ यह है कि गुरु, सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ-पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनम्रता रखना।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—गुरु के अनुरूप उनके अंग का मर्दनादि करना, उनके अनुरूप और काल के अनुरूप क्रिया करना, आदेश पालन करना, उनके संस्तर लगाना तथा उपकरणों का प्रतिलेखन करना ॥३७५॥

आचारवृत्ति—गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तैल मालिश करना, उष्ण काल में शीत क्रिया, शीतकाल में उष्णक्रिया करना, और वर्षाकाल

काले शीतक्रिया शीतकाले उष्णक्रिया वर्षाकाले तद्योग्यक्रिया। प्रेष्यकरणं—आदेशकरणं। संस्तरकरणं चट्टिका दिप्रस्तरणं। उपकरणानां पुस्तिकाकुण्डिकादीनां प्रतिलेखनं सम्यग्निरूपणम् ॥३७५॥

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण।
एसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स ॥३७६॥

इत्येवमादिरुपकारो गुरोरन्यस्य वा साधुवर्गस्य यः शरीरेण क्रियते यथायोग्यं स एष कायिकं विनयः कायाश्रितत्वादिति ॥३७६॥

वाचिकविनयस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

पूयावयणं हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥३७७॥

पूजावचनं बहुवचनोच्चारणं यूयं भट्टारका इत्येवमादि। हितस्य पथ्यस्य भाषणं इहलोकपरलोक धर्मकारणं वचनं। मितस्य परिमितस्य भाषणं चाल्पाक्षरबह्वर्थं। मधुरं च मनोहरं श्रुतिसुखदं। सूत्रानुवीचि वचनमागमदृष्टया भाषणं यथा पापं न भवति। अनिष्ठुरं दग्धमृतप्रलीनेत्यादिशब्दै रहितं। अकर्कशं वचनं वर्जयित्वा वाच्यमिति ॥३७७॥

में उस ऋतु के योग्य क्रिया करना। अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनः प्रकृति के अनुकूल करना। उनके आदेश का पालन करना; उनके लिए संस्तर अर्थात् चटा घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक कमण्डलु आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिच्छि से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

गाथार्थ—साधु वर्ग का इसी प्रकार से और भी जो उपकार यथायोग्य अपने शर के द्वारा किया जाता है यह सब कायिक विनय है ॥३७६॥

आचारवृत्ति—इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शर के द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है; क्योंकि वह काय आश्रित है।

वाचिक विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पूजा के वचन, हित वचन, मितवचन और मधुर वचन, सूत्रों के अनु वचन, अनिष्ठुर और कर्कशता रहित वचन बोलना वाचिक विनय है ॥३७७॥

आचारवृत्ति—'आप भट्टारक!' इत्यादि प्रकार बहुवचन का उच्चारण करना पू वचन हैं। हित—पथ्य वचन बोलना अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए धर्म के कारण वचन, हितवचन हैं। मित—परिमित बोलना जिसमें अल्प अक्षर हों किन्तु अर्थ बहुत हो मि वचन हैं। मधुर—मनोहर अर्थात् कानों को सुखदायी वचन मधुर वचन हैं। आगम के अनुस बोलना कि जिस प्रकार से पाप न हो सूत्रानुवीचि वचन हैं। तुम जलो मरो, प्रलय को प्रा हो जाओ इत्यादि शब्दों से रहित वचन अनिष्ठुर वचन हैं और कठोरता रहित वचन अकर्क वचन हैं। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के वचन बोलना ही वाचिक विनय है।

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो ।।३७८।।

उपशान्तवचनं क्रोधमानादिरहितं । अगृहस्थवचनं गृहस्थानां मकारवकारादि यद्वचनं तेन रहितं बन्धनत्रासनताडनादिवचनरहितं । अकिरियं असिमसिकृष्यादिक्रिया (दि) रहितं अथवा सक्रियमिति पाठः। सक्रियं क्रियायुक्तमन्यच्चिन्तान्यदोषयोरिति न वाच्यं, तदुच्यते यन्निष्पाद्यते। अहीलं—अपरिभववचनं। इत्येवमादिवचनं यत्र स एष वाचिको विनयो यथायोग्यं भवति कर्तव्य इति ।।३७८।।

मानसिकविनयस्वरूपमाह—

पापविसोत्तिअपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ ।।३७९।।

पापविश्रुतिपरिणामवर्जनं पापं हिंसादिकं विश्रुतिः सम्यग्विराधना तयोः परिणामस्तस्य वर्जनं परिहारः। प्रिये धर्मोपकारे हिते च सम्यग्ज्ञानादिके च परिणामो ज्ञातव्यः। संक्षेपेण स एष मानसिकश्चित्तोद्भवो विनय इति ।।३७९।।

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओवि जं गुरुणो ।
विरहम्मिवि वट्टिज्जदि आणाणिद्देसचरियाए ।।३८०।।

गाथार्थ—कषायरहित वचन, गृहस्थी सम्बन्ध से रहित वचन, क्रिया रहित और अवहेलना रहित वचन बोलना—यह वाचिक विनय है जिसे यथायोग्य करना चाहिए ।।३७८।।

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, आदि से रहित वचन उपशान्त वचन हैं। गृहस्थों के जो मकार-वकार आदि रूप वचन हैं उनसे रहित वचन, तथा बन्धन, त्रासन, ताडन आदि से रहित वचन अगृहस्थ वचन हैं। असि, मषि, कृषि आदि क्रियाओं से रहित वचन अक्रियवचन हैं। अथवा 'सक्रियं' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि क्रियायुक्त वचन बोलना किन्तु अन्य की चिन्ता और अन्य के दोष रूप वचन नहीं बोलना चाहिए। जैसा करना वैसा ही बोलना चाहिए। किसी का तिरस्कार करने वाले वचन नहीं बोलना अहीलन वचन हैं। और भी ऐसे ही वचन जहाँ होते हैं वह सब वाचिक विनय है जो कि यथायोग्य करना चाहिए।

मानसिक विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पापविश्रुत के परिणाम का त्याग करना, और प्रिय तथा हित में परिणाम करना संक्षेप से यह मानसिक विनय है ।।३७९।।

आचारवृत्ति—हिंसादि को पाप कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना को विश्रुति कहते हैं। इन पाप और विराधना विषयक परिणामों का त्याग करना। धर्म और उपकार को प्रिय कहते हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि के लिए हित संज्ञा है। इन प्रिय और हित में परिणाम को लगाना। संक्षेप से यह चित्त से उत्पन्न होनेवाला मानसिक विनय कहलाता है।

गाथार्थ—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है। तथा जो गुरु के न होने पर भी उनकी आज्ञा, निर्देश और चर्या में रहता है उसके परोक्ष सम्बन्धी विनय होता है ।।३८०।।

इत्येष प्रत्यक्षविनयः कायिकादिः, गुर्वादिषु सत्सु वर्तते यतः, पारोक्षिकोऽपि विनयो यद्गुरोविरहेऽपि गुर्वादिषु परोक्षीभूतेषु यद्वर्तते। आज्ञानिर्देशेन चर्याया वार्हद्भट्टारकोपदिष्टेषु जीवादिपदार्थेषु श्रद्धानं कर्तव्यं तथा तैर्या चर्योद्दिष्टा व्रतसमित्यादिका तया च वर्तनं परोक्षो विनयः। तेषां प्रत्यक्षतो यः क्रियते स प्रत्यक्षमिति ॥३८०॥

पुनरपि त्रिविधं विनयमन्येन प्रकारेणाह—

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ।
सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ॥३८१॥

अथौपचारिको विनय उपकारे धर्मादिकपरचित्तानुग्रहे भव औपचारिकः खलु स्फुटं त्रिविधस्त्रिप्रकारः कायिकवाचिकमानसिकभेदेन समासतः संक्षेपतो भणितः कथितः। सप्तविधश्चतुर्विधो द्विविधो बोद्धव्यः। आनुपूर्व्यानुक्रमेण कायिकः सप्तप्रकारो वाचिकश्चतुर्विधः मानसिको द्विविध इति ॥३८१॥

कायिकविनयं सप्तप्रकारमाह—

आचारवृत्ति—यह सब ऊपर कहा गया कायिक आदि विनय प्रत्यक्ष विनय है, क्योंकि यह गुरु के रहते हुए उनके पास में किया जाता है। और, गुरुओं के विरह में—उनके परोक्ष रहने पर अर्थात् अपने से दूर हैं उस समय भी जो उनका विनय किया जाता है वह परोक्ष विनय है। वह उनकी आज्ञा और निर्देश के अनुसार चर्या करने से होता है। अथवा अर्हन्त भट्टारक द्वारा उपदिष्ट जीवादि पदार्थों में श्रद्धान करना तथा उनके द्वारा जो भी व्रत समिति आदि चर्याएँ कही गई हैं, उनरूप प्रवृत्ति करना यह सब परोक्ष विनय है। अर्थात् उनके प्रत्यक्ष में किया गया विनय प्रत्यक्ष विनय तथा परोक्ष में किया गया नमस्कार, आज्ञा पालन आदि विनय परोक्ष विनय है।

पुनः इन्हीं तीन प्रकार की विनय को अन्य रूप से कहते हैं—

गाथार्थ—यह औपचारिक संक्षेप से कायिक, वाचिक और मानसिक ऐसा तीन प्रकार कहा गया है। वह क्रम से सातभेद, चार भेद और दो भेदरूप जानना चाहिए ॥३८१॥

आचारवृत्ति—जो उपचार अर्थात् धर्मादि के द्वारा पर के मन पर अनुग्रह करनेवाला होता है वह औपचारिक विनय कहलाता है। यह औपचारिक विनय प्रकट रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों की अपेक्षा संक्षेप में तीन प्रकार का कहा गया है। उसमें क्रम से सात, चार और दो भेद माने गये हैं अर्थात् कायिक विनय सात प्रकार का है, वाचिक विनय चार प्रकार का है और मानसिक विनय दो प्रकार का है।

कायिक विनय के सात प्रकार को कहते हैं—

अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च ।
किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं ॥३८२॥*

अभ्युत्थानम् आदरेणोत्थानं । सन्नतिः शिरसा प्रणामः । आसनदानं पीठाद्युपनयनं । अनुप्रदानं च पुस्तकपिच्छिकाद्युपकरणदानं । क्रियाकर्म श्रुतभक्त्यादिपूर्वककायोत्सर्गः प्रतिरूपं यथायोग्यं, अथवा शरीरप्रतिरूपं कालप्रतिरूपं भावप्रतिरूपं च क्रियाकर्म शीतोष्णमूत्रपुरीषाद्यपनयनं । आसनपरित्यागो गुरोः पुरत उच्चस्थाने न स्थातव्यं । अनुव्रजनं प्रस्थितेन सह किंचिद्गमनमिति । अभ्युत्थानमेकः सन्नतिर्द्वितीय आसनदानं तृतीयः अनुप्रदानं चतुर्थः प्रतिरूपक्रियाकर्म पंचमः आसनत्यागः षष्ठोऽनुव्रजनं सप्तमः प्रकारः कायिकविनयस्येति ॥३८२॥

वाचिकमानसिकविनयभेदानाह—

गाथार्थ—गुरुओं को आते हुए देखकर उठकर खड़े होना, उन्हें नमस्कार करना, आसन देना, उपकरणादि देना, भक्ति पाठ आदि पढ़कर वन्दना करना, या उनके अनुकूल क्रिया करना, आसन को छोड़ देना और जाते समय उनके पीछे जाना ये सात भेदरूप कायिकविनय है ॥३८२॥

आचारवृत्ति—अभ्युत्थान—गुरुओं को सामने आते हुए देखकर आदर से उठकर खड़े हो जाना । सन्नति—शिर से प्रणाम करना । आसनदान—पीठ, काष्ठासन, पाटा आदि देना । अनुप्रदान—पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण देना । प्रतिरूप क्रियाकर्म यथायोग्य—श्रुत भक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करके वन्दना करना, अथवा गुरुओं के शरीर के प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा शुश्रूषा आदि क्रियाएँ करना; जैसे कि शीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि । आसनत्याग—गुरु के सामने उच्चस्थान पर नहीं बैठना । अनुव्रजन—उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना । इसप्रकार से (१) अभ्युत्थान, (२) सन्नति, (३) आसनदान, (४) अनुप्रदान, (५) प्रतिरूपक्रियाकर्म, (६) आसनत्याग और (७) अनुव्रजन—ये सात प्रकार कायिकविनय के होते हैं ।

वाचिक और मानसिक विनय के भेदों को कहते हैं—

---

*फलटन से प्रकाशित में ये गाथाएँ इसके पहले हैं । ये गाथाएँ मूल में नहीं हैं—

उपचार विनय के दो भेदों का वर्णन—

अहवोवचारिओ खलु विणओ दुविहो समासदो होदि ।
पडिरूवकालकिरियाणासादणसीलदा चेव ॥

पडिरूवो काइगवाचिगमाणसिगो दु बोधव्वो ।
सत्त चदुव्विह दुविहो जहाकमं होदि भेदेण ॥

अर्थात् धर्मात्मा के चित्त पर अनुग्रह करने वाला औपचारिक विनय संक्षेप से दो प्रकार का है । प्रतिरूपकाल क्रिया विनय—गुरुओं के अनुरूप काल आदि को देखकर क्रिया अर्थात् भक्ति सेवा आदि करना । अनासादनशीलता विनय—आचार्यों आदि की निन्दा नहीं करने का स्वभाव होना, ऐसे दो भेद हैं । प्रतिरूप विनय कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार का है । कायिकविनय सात प्रकार का, वाचिक चार प्रकार का और मानसिक विनय दो प्रकार का है ।

हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्वं ।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव ॥३८३॥*

हितभाषणं मितभाषणं परिमितभाषणमनुवीचिभाषणं च । हितं धर्मसंयुक्तं । मितमल्पाक्षरं बह्वर्थं । परिमितं कारणसहितं । अनुवीचीभाषणमागमाविरुद्धवचनं चेति चतुर्विधो वचनविनयो ज्ञातव्यः। तथाऽकुशलमनसो रोधः पापादानकारकचित्तनिरोधः । कुशलमनसो धर्मप्रवृत्तचित्तस्य प्रवर्तकश्चेति द्विविधो मनोविनय इति ॥३८३॥

स एवं द्विविधो विनयः साधुवर्गेण कस्य कर्तव्य इत्याशंकायामाह—

रादिणिए उणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥३८४॥

रादिणिए—रात्र्यधिके दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोधिके च । उणरादिणिएसु य—ऊनरात्रिकेषु च तपसा कनिष्ठेषु गुणकनिष्ठेषु वयसा कनिष्ठेषु च साधुषु । अज्जासु—आर्यिकासु । गिहिवग्गे—गृहिवर्गे

गाथार्थ—हितवचन, मितवचन, परिमितवचन और सूत्रानुसार वचन, इन्हें वाचिक विनय जानना चाहिए। अशुभ मन को रोकना और शुभ मन की प्रवृत्ति करना ये दो मानसिक विनय हैं ॥३८३॥

आचारवृत्ति—हित भाषण—धर्मसंयुक्त वचन बोलना, मित भाषण—जिसमें अक्षर अल्प हों अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, परिमित भाषण—कारण सहित वचन बोलना अर्थात् बिना प्रयोजन के नहीं बोलना, अनुवीचिभाषण—आगम से अविरुद्ध वचन बोलना, इस प्रकार से वचन विनय चार प्रकार का है। पाप आस्रव करनेवाले अशुभ मन का रोकना अर्थात् मन में अशुभ विचार नहीं लाना तथा धर्म में चित्त को लगाना ये दो प्रकार का मनोविनय है।

यह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दोनों प्रकार का विनय साधुओं को किनके प्रति करना चाहिए ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक रात्रि भी अधिक गुरु में, दीक्षा में एक रात्रि न्यून भी मुनि में, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में अप्रमादी मुनि को यथा योग्य यह विनय करना चाहिए ॥३८४॥

आचारवृत्ति—जो दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्यधिक गुरु हैं। यहाँ रात्र्यधिक शब्द से दीक्षा गुरु, श्रुतगुरु और तप में अपने से बड़े गुरुओं को लिया है। जो दीक्षा में एक रात्रि भी छोटे हैं वे ऊनरात्रिक कहलाते हैं। यहाँ पर ऊनरात्रिक से जो तप में कनिष्ठ—लघु हैं, गुणों में लघु हैं और आयु में लघु हैं उन साधुओं को लिया है। इस प्रकार से दीक्षा आदि बड़े गुरुओं

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति में कुछ अन्तर है—

हिदमिदमद्दवअणुवीचिभासणो वाचिगो हवे विणओ ।
असुहमणसण्णिरोहो सुहमणसंकप्पगो तदिओ ॥

अर्थात् हितभाषण, मितभाषण, मृदुभाषण और आगम के अनुकूल भाषण यह वाचिक विनय है। अशुभमन का निरोध करना और शुभ में मन लगाना ये दो मानसिक विनय के भेद हैं।

श्रावकलोके च । **विनयो यथार्हो** यथायोग्य: कर्तव्य: । **अप्रमत्तेन** प्रमादरहितेन । साधूनां यो योग्य: आर्यिकाणां यो योग्य:, श्रावकाणां यो योग्य:, अन्येषामपि यो योग्य: स तथा कर्तव्य:, केन ? साधुवर्गेणाप्रमत्तेनात्म-तपोऽनुरूपेण प्रासुकद्रव्यादिभि: स्वशक्त्या चेति ।

किमर्थं विनय: क्रियते इत्याशंकायामाह—

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणग्रो सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥३८५॥

विनयेन विप्रहीणस्य विनयरहितस्य **भवति शिक्षा** श्रुताध्ययनं **निरर्थिका** विफला **सर्वा** सकला विनय: पुन: शिक्षा या विद्याध्ययनस्य फलं, विनयफलं सर्वकल्याणान्यभ्युदयनि:श्रेयससुखानि । अथवा स्वर्गा-वतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणादीनि कल्याणादीनीति ॥३८५॥

विनयस्तवमाह—

विणग्रो मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जदि ग्राइरिग्रो सव्वसंघो य ॥३८६॥

में, अपने से छोटे मुनियों में, आर्यिकाओं में और श्रावक वर्गों में प्रमादरहित मुनि को यथायोग्य विनय करना चाहिए । अर्थात् साधुओं के जो योग्य हो, आर्यिकाओं के जो योग्य हो, श्रावकों के जो योग्य हो और अन्यों के भी जो योग्य हो वैसा ही करना चाहिए । किसको ? प्रमादरहित हुए साधु को अपने तप अर्थात् अपने व्रतों के, अपने पद के अनुरूप ही प्रासुक द्रव्यादि के द्वारा अपनी शक्ति से उन सबका विनय करना चाहिए ।

विशेष—यहाँ पर जो मुनियों द्वारा आर्यिकाओं की और गृहस्थों की विनय का उपदेश है सो नमस्कार नहीं समझना, प्रत्युत् यथायोग्य शब्द से ऐसा समझना कि मुनिगण आर्यिकाओं का भी यथायोग्य आदर करें, श्रावकों का भी यथायोग्य आदर करें, क्योंकि 'यथायोग्य' पद उनके अनुरूप अर्थात् पदस्थ के अनुकूल विनय का वाचक है । उससे आदर, सन्मान और बहुमान ही अर्थ सुघटित है ।

विनय किसलिए किया जाता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है । विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है ॥३८५॥

ग्राचारवृत्ति—विनय से रहित साधु का सम्पूर्ण श्रुत का अध्ययन निरर्थक है । विद्या-अध्ययन का फल विनय है और अभ्युदय तथा नि:श्रेयसरूप सर्वकल्याण को प्राप्त कर लेना विनय का फल है । अथवा स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञानोत्पत्ति और परिनिर्वाण ये पाँचकल्याणक आदि कल्याणों की प्राप्ति का होना भी विनय का फल है ।

अब विनय की स्तुति करते हैं—

गाथार्थ—विनय मोक्ष का द्वार है । विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है । विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आराधित होता है ॥३८६॥

विनयो मोक्षस्य द्वारं प्रवेशकः। विनयात्संयमः। विनयात्तपः। विनयाच्च ज्ञानं। भवतीति सम्बन्धः। विनयेन चाराध्यते आचार्यः सर्वसंघश्चापि ॥३८६॥

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्जंजा।
अज्जवमद्दवलाहवभत्तीपल्हादकरणं च ॥३८७॥

आचारस्य गुणा जीदप्रायश्चित्तस्य कल्पप्रायश्चित्तस्य गुणास्तद्गतानुष्ठानानि तेषां दीपनं प्रकटनं। आत्मशुद्धिश्चात्मकर्मनिर्मुक्तिः। निर्द्वन्द्वः कलहाद्यभावः। ऋजोर्भाव आर्जवं स्वस्थता, मृदो भावो मार्दवं मायामानयोर्निरासः। लघोर्भावो लाघवं निःसंगता लोभनिरासः। भक्तिर्गुरुसेवा। प्रह्लादकरणं च सर्वदा सुखोत्पादनं। यो विनयं करोति तेनाचरजीदकल्पविषया ये गुणास्ते दीपिता उद्योतिता भवंति। आर्जवमार्दवलाघवभक्तिप्रह्लादकरणानि च भवंति विनयकर्तुरिति ॥३८७॥

कित्ती मित्ती माणस्स भंजण गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥३८८॥

कीर्तिः सर्वव्यापी प्रतापः ख्यातिश्च। मैत्री सर्वैः सह मित्रभावः। मानस्य गर्वस्य भंजनमामर्दनं। गुरुजने च बहुमानं पूजाविधानं। तीर्थंकराणामाज्ञा पालिता भवति। गुणानुमोदश्च कृतो भवति। एते विनय-

---

आचारवृत्ति—विनय मोक्ष का द्वार है अर्थात् मोक्ष में प्रवेश करानेवाला है। विनय से संयम होता है, विनय से तप होता है और विनय से ज्ञान होता है। विनय से आचार्य और सर्वसंघ आराधित किये जाते हैं अर्थात् अपने ऊपर अनुग्रह करनेवाले हो जाते हैं।

गाथार्थ—विनय से आचार, जीत, कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है तथा आत्मशुद्धि, निर्द्वंद्वता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आह्लादगुण प्रकट होते हैं ॥३८७॥

आचारवृत्ति—विनय से आचार के गुण, जीदप्रायश्चित्त और कल्पप्रायश्चित्त के गुण तथा उनमें कहे हुए का अनुष्ठान, इन गुणों का दीपन अर्थात् प्रकटन होता है। विनय से आत्मशुद्धि अर्थात् आत्मा की कर्मों से निर्मुक्ति होती है, निर्द्वंद्व—कलह आदि का अभाव हो जाता है। आर्जव—स्वस्थता आती है, मृदु का भाव मार्दव अर्थात् माया और मान का निरसन हो जाता है, लघु का भाव लाघव—निःसंगपना होता है अर्थात् लोभ का अभाव हो जाने से भारीपन का अभाव हो जाता है। भक्ति—गुरु के प्रति भक्ति होने से गुरु सेवा भी होती है और विनय से प्रह्लादकरण—सभी में सुख का उत्पन्न करना आ जाता है। तात्पर्य यह है कि जो विनय करता है उसके उस विनय के द्वारा आचार जीद और कल्पविषयक जो गुण हैं वे उद्योतित होते हैं। आर्जव, मार्दव, लाघव, भक्ति और आह्लादकरण ये गुण विनय करनेवाले में प्रकट हो जाते हैं।

गाथार्थ—कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुजनों में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं ॥३८८॥

आचारवृत्ति—विनय से सर्वव्यापी प्रताप और ख्याति रूप कीर्ति होती है। सभी के साथ मित्रता होती है, गर्व का मर्दन होता है, गुरुजनों में बहुमान अर्थात् पूजा या आदर मिलता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और गुणों की अनुमोदना की जाती है। ये सब विनय

गुणा भवन्तीति। विनयस्य कर्ता कीर्तिं लभते। तथा मैत्रीं लभते। तथात्मनो मानं निरस्यति। गुरुजनेभ्यो बहुमानं लभते। तीर्थंकराणामाज्ञां च पालयति। गुणानुरागं च करोतीति ॥३८८॥

वैयावृत्त्यस्वरूपं निरूपयन्नाह—

आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए ॥३८९॥

आचार्योपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरेषु पंचसु। बाला नवकप्रव्रजिताः। वृद्धा वयोवृद्धास्तपोवृद्धा गुणवृद्धास्तैराकुलो गच्छस्तथैव बालवृद्धाकुले गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने। वैयावृत्त्यमुक्तं यथोक्तं कर्तव्यं सर्वशक्त्या सर्वसामर्थ्येन उपकरणाहारभैषजपुस्तकादिभिरुपग्रहः कर्तव्य इति ॥३८९॥

पुनरपि विशेषार्थं श्लोकेनाह—

गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।
साहुगण कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥३९०॥

गुणैरधिको गुणाधिकस्तस्मिन् गुणाधिके। उपाध्याये श्रुतगुरौ। तपस्विनि कायक्लेशपरे। शिक्षके

के गुण हैं। तात्पर्य यह है कि विनय करने वाला मुनि कीर्ति को प्राप्त होता है, सबसे मैत्री भाव को प्राप्त हो जाता है, अपने मान का अभाव करता है, गुरुजनों से बहुमान पाता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करता है और गुणों में अनुराग करता है।

अब वैयावृत्य का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—आचार्य आदि पाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्य को कहा गया है सो सर्वशक्ति से करनी चाहिए ॥३८९॥

आचारवृत्ति—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर ये पाँच हैं। नवदीक्षित को बाल कहते हैं। वृद्ध से वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और गुणों से वृद्ध लिये गये हैं। सात पुरुष की परम्परा को अर्थात् सात पीढ़ी को गच्छ कहते हैं। इन आचार्य आदि पाँच प्रकार के साधुओं की तथा बाल, वृद्ध से व्याप्त ऐसे संघ की आगम में कथित प्रकार से सर्वशक्ति से वैयावृत्य करना चाहिए। अर्थात् अपनी सर्वसामर्थ्य से उपकरण, आहार, औषधि, पुस्तक आदि से इनका उपकार करना चाहिए।

भावार्थ—तप और त्याग में आचार्यों ने शक्ति के अनुसार करना कहा है किन्तु वैयावृत्ति में सर्वशक्ति से करने का विधान है। इससे वैयावृत्ति के विशेष महत्त्व को सूचित किया गया है।

पुनरपि विशेष अर्थ के लिए आगे के श्लोक (गाथा) द्वारा कहते हैं—

गाथार्थ—गुणों से अधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधुगण, कुल, संघ और मनोज्ञतासहित मुनियों पर आपत्ति के प्रसंग में वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३९०॥

आचारवृत्ति—गुणाधिक—अपनी अपेक्षा जो गुणों में बड़े हैं, उपाध्याय—श्रुतगुरु, तपस्वी कायक्लेश में तत्पर, शिक्षक—शास्त्र के शिक्षण में तत्पर, दुर्बल—दुःशील अर्थात् दुष्टपरिणाम-

शास्त्रशिक्षणतत्परे दुःशीले वा दुर्बले व्याध्याक्रान्ते वा। साधुगणे ऋषियतिमुन्यनगारेषु। कुले [1]गुरुकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने। संघे चातुर्वर्ण्ये श्रवणसंघे। समनोज्ञे सुखासीने सर्वोपद्रवरहिते। आपदि चोपद्रवे संजाते वैयावृत्यं कर्तव्यमिति ॥३९०॥

कैः कृत्वा वैयावृत्यं कर्तव्यमित्याह—

सेज्जोग्गासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणा[2]हिं उवग्गहिदे।
आहारोसहवायण विकिंचणं वंदणादीहिं[3] ॥३९१॥

शय्यावकाशो वसतिकावकाशदानं निषद्याऽऽसनादिकं। उपधिः कुण्डिकादि। प्रतिलेखनं पिच्छिकादिः। इत्येतैरुपग्रह उपकारः। अथवैतैरुपगृहीते स्वीकृते। तथाहारौषधवाचनाव्याख्यानविकिंचनमूत्रपुरीषादिव्युत्सर्गवन्दनादिभिः। आहारेण भिक्षाचर्यया। औषधेन शुंठिपिप्पल्यादिकेन। शास्त्रव्याख्यानेन। च्युतमलनिर्हरणेन। वन्दनया च। शय्यावकाशेन निषद्योपधिना प्रतिलेखनेन च पूर्वोक्तानामुपकारः कर्तव्यः। एतैस्ते प्रतिगृहीता आत्मीकृता भवन्तीति ॥३९१॥

केषु स्थानेषूपकारः क्रियतेऽत आह—

वाले अथवा व्याधि से पीड़ित, साधुगण—ऋषि, यति, मुनि और अनगार, कुल—गुरुकुल-परम्परा, संघ—चतुर्विध श्रमण संघ, समनोज्ञ—सुख से आसीन या सर्वोपद्रव से रहित ऐसे साधुओं पर आपत्ति या उपद्रव के आने पर वैयावृत्ति करना चाहिए।

विशेष—यहाँ पर कुल का अर्थ गुरुकुल-परम्परा से है। तीन पीढ़ी की मुनिपरम्परा को कुल तथा सात पीढ़ी की मुनिपरम्परा को गच्छ कहते हैं। 'मूलाचार-प्रदीप' (अध्याय ७ गाथा ६८-६९) के अनुसार, जिस मुनि-संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणाधीश ये पाँच हों उस संघ की कुल संज्ञा है।

क्या करके वैयावृत्ति करना चाहिए ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण इनका प्रतिलेखन द्वारा उपकार करना; आहार, औषधि आदि से; मलादि दूर करने से और उनकी वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३९१॥

आचारवृत्ति—शय्यावकाश—मुनियों को वसतिका का दान देना, निषद्या—मुनियों को आसन आदि देना, उपधि—कमण्डलु आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन—पिच्छिका आदि देना, इन कार्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए, अथवा इनके द्वारा उपकार करके उन्हें स्वीकार करना। आहारचर्या द्वारा, सोंठ पिप्पल आदि औषधि द्वारा, शास्त्र-व्याख्यान द्वारा, कदाचित् मल-मूत्र आदि च्युत होने पर उसे दूर करने द्वारा, और वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वसतिका-दान, आसनदान, उपकरण-दान प्रतिलेखन आदि के द्वारा पूर्वोक्त साधुओं का उपकार करना चाहिए। इन उपकारों से वे अपने किये जाते हैं।

किन स्थानों में उपकार करना ? सो ही बताते हैं—

---

१ क कुले गुरुकुले। 'कुले—गुरुकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने' इति पाठान्तरम्। २ क °णा उवग्गहिदो। ३ क °दीणं।

अद्धाणतेणसावदरायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं वुत्तं संगहसारक्खणोवेदं ॥३९२॥

अध्वनि श्रान्तस्य। स्तेनैश्चौरैरुपद्रुतस्य। श्वापदैः सिंहव्याघ्रादिभिः परिभूतस्य। राजभिः खंचितस्य। नदीरोधेन पीडितस्य। अशिवेन मारिरोगादिव्यथितस्य। ओमे—दुर्भिक्षपीडितस्य। वैयावृत्यमुक्तं संग्रहसारक्षणोपेतं। तेषामागतानां संग्रहः कर्तव्यः। संगृहीतस्य रक्षणं कर्तव्यं। अथचैवं सम्बन्धः कर्तव्यः। एतेषु प्रदेशेषु संग्रहोपेतं सारक्षणोपेतं च वैयावृत्यं कर्तव्यमिति। अथवा रोधशब्दाः प्रत्येक मभिसम्बध्यते। पथिरोधश्चौररोधः श्वापदरोधः राजरोधो नदीरोध एतेषु रोधेषु तथा अशिवे दुर्भिक्षे च वैयावृत्यं कर्तव्यमिति ॥३९४॥

स्वाध्यायस्वरूपमाह—

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥३९३॥

परिवर्तनं पठितस्य ग्रन्थस्यानुवेदनं। वाचना शास्त्रस्य व्याख्यानं। पृच्छना शास्त्रश्रवणं। अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादि। धर्मकथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितानि। स्तुतिर्मुनिदेववन्दना मंगल इत्येवं संयुक्तः

गाथार्थ—मार्ग, चोर, हिंस्रजन्तु, राजा, नदी का रोध और मारी के प्रसंग में, दुर्भिक्ष में, सारक्षण से सहित वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३९२॥

आचारवृत्ति—मार्ग में चलने से जो थक गये हैं, जिन पर चोरों ने उपद्रव किया है, सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से जिनको कष्ट हुआ है, राजा ने जिनको पीड़ा दी है, नदी की रुकावट से जिनको बाधा हुई है, अशिव अर्थात् मारी-रोग आदि से जो पीड़ित हैं, दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं ऐसे साधु यदि अपने संघ में आये हैं तो उनका संग्रह करना चाहिए। जिनका संग्रह किया है उनकी रक्षा करनी चाहिए। इसका ऐसा सम्बन्ध करना कि इन स्थानों में संग्रह से सहित और उनकी रक्षा से सहित वैयावृत्य करना चाहिए। अथवा रोध शब्द को प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे मार्ग में जिन्हें रोका गया हो, चौरों ने रोक लिया है, हिंस्र जन्तुओं ने रोक लिया हो, राजा ने रुकावट डाली हो, नदी से रुकावट हुई हो ऐसे रोध के प्रसंग में, तथा दुःख में दुर्भिक्ष में वैयावृत्ति करना चाहिए।

स्वाध्याय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति-मंगल संयुक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए ॥३९३॥

आचारवृत्ति—पढ़े हुए ग्रन्थ को पुनः पुनः पढ़ना या रटना परिवर्तन है। शास्त्र का व्याख्यान करना वाचना है। शास्त्र का श्रवण करना पृच्छना है। अनित्यत्व आदि बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र पढ़ना धर्मकथा है। स्तुति—मुनि वन्दना, देव-वन्दना और मंगल इनसे संयुक्त स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि (१) परिवर्तन, (२) वाचना, (३) पृच्छना, (४) अनुप्रेक्षा

पंचप्रकारो भवति स्वाध्यायः । परिवर्तनमेको वाचना द्वितीयः पृच्छना तृतीयोऽनुप्रेक्षा चतुर्थो धर्मकथास्तुतिमंगलानि समुदितानि पंचमः प्रकारः । एवं पंचविधः स्वाध्यायः सम्यग्युक्तोऽनुष्ठेय इति ॥३९३॥

ध्यानस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि ।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥३९४॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानेन सहितं । एते द्वे ध्याने अप्रशस्ते नरकतिर्यग्गतिप्रापके । धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चैते द्वे प्रशस्ते देवगतिमुक्तिगतिप्रापके । इत्येवंविधानि ज्ञातव्यानि । एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति ॥३९५॥

आर्तध्यानस्य भेदानाह—

अमणुण्णजोगइट्ठविओगपरीसहणिदाणकरणेसु ।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण ॥३९५॥

अमनोज्ञेन ज्वरशूलशत्रुरोगादिना योगः सम्पर्कः । इष्टस्य पुत्रदुहितृमातृपितृबन्धुशिष्यादिकस्य वियोगोऽभावः । परीषहाः क्षुत्तृट्शीतोष्णादयः । निदानकरणं इहलोकपरलोकभोगविषयोऽभिलाषः । इत्येतेषु प्रदेशेष्वार्तमनःसंक्लेशः कषायसहितं ध्यानं भणितं समासेन संक्षेपतः । कदा ममानेनामनोज्ञेन वियोगो भविष्य-

---

और (५) समूहरूप धर्मकथा स्तुतिमंगल—इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिए ।

ध्यान का स्वरूप वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—आर्त और रौद्र सहित दो ध्यान अप्रशस्त हैं । धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान हैं ऐसा जानना चाहिए ॥३९४॥

आचारवृत्ति—आर्तध्यान और रौद्र ध्यान ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं । ये नरकगति और तिर्यंचगति को प्राप्त करानेवाले हैं । धर्म ध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त हैं । ये देवगति और मुक्ति को प्राप्त करानेवाले हैं, ऐसा समझना । एकाग्रचिन्तानिरोध—एक विषय पर चिन्तन का रोक लेना यह ध्यान का लक्षण है ।

आर्तध्यान के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—अनिष्ट का योग, इष्ट का वियोग, परीषह और निदानकरण इनमें कषाय सहित जो ध्यान है वह संक्षेप से आर्तध्यान कहा गया है ॥३९५॥

आचारवृत्ति—अमनोज्ञयोग—ज्वर, शूल, शत्रु, रोग आदि का सम्पर्क होना, इष्टवियोग—पुत्र, पुत्री, माता, पिता, बन्धु, शिष्य आदि का वियोग होना, परिषह—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि बाधाओं का होना; निदान—इस लोक या परलोक में भोग-विषयों की अभिलाषा करना । इन स्थानों में जो आर्त अर्थात् मन का संक्लेश होता है वह कषाय सहित ध्यान आर्तध्यान कहलाता है । इनका वर्णन यहाँ संक्षेप से किया गया है । जैसे—कब मेरा इस अनिष्ट से वियोग होगा इस प्रकार से चिन्तन करना पहला आर्तध्यान है । इष्टजनों के साथ यदि मेरा

तीत्येवं चिन्तनमार्तध्यानं प्रथमं। इष्टैः सह सर्वदा यदि मम संयोगो भवति वियोगो न कदाचिदपि स्याद्येवं चिन्तनमार्तध्यानं द्वितीयं। क्षुत्तृट्छीतोष्णादिभिरहं व्यथितः कदैतेषां ममाभावः स्यात्। कथं मयौदनादयो लभ्या येन मम क्षुधादयो न स्युः। कदा मम वेलायाः प्राप्तिः स्याद्येनाहं भुंजे पिबामि वा। हाकारं पूत्कारं जलसेकं च कुर्वतोऽपि न तेन मम प्रतीकार इति चिन्तनमार्तध्यानं तृतीयमिति। इहलोके यदि मम पुत्राः स्युः परलोके यद्यहं देवो भवामि स्त्रीवस्त्रादिकं मम स्यादित्येवं चिन्तनं चतुर्थमार्तध्यानमिति ॥३९५॥

रौद्रध्यानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण ॥३९६॥

स्तैन्यं परद्रव्यापहरणाभिप्रायः। मृषाऽनृते तत्परता। सारक्षणं यदि मदीयं द्रव्यं चोरयति तमहं निहन्मि, एवमायुधव्यग्रहस्तमारणाभिप्रायः। स्तैन्यमृषावादसारक्षणेषु। तथा चैव षड्विधारम्भे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकविराधने च्छेदनभेदनबन्धनवधताडनदहनेषूद्यमः रौद्रं कषायसहितं ध्यानं भणितं। समासेन संक्षेपेण। परद्रव्यहरणे तत्परता प्रथमं रौद्रं। परपीडाकरे मृषावादे यत्नः द्वितीयं रौद्रं। द्रव्यपशुपुत्रादिरक्षण-

---

संयोग होता है तो कदाचित् भी वियोग न होवे ऐसा चिन्तन होना दूसरा आर्तध्यान है। क्षुधा, तृषा, आदि के द्वारा मैं पीड़ित हो रहा हूँ, मुझसे कब इनका अभाव होवे? मुझे कैसे भात—भोजन आदि प्राप्त होवे कि जिससे मुझे क्षुधा आदि बाधाएँ न होवें? कब मेरे आहार की बेला आवे कि जिससे मैं भोजन करूँ अथवा पानी पिऊँ? हाहाकार या पूत्कार और जल-सिञ्चन आदि करते हुए भी उन बाधाओं से मेरा प्रतीकार नहीं हो रहा है अर्थात् घबराने से, हाय-हाय करने से, पानी छिड़कने से भी प्यास आदि बाधाएँ दूर नहीं हो रही हैं इत्यादि प्रकार से चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्तध्यान है। इस लोक में यदि मेरे पुत्र हो जावें, परलोक में यदि मैं देव हो जाऊँ तो ये स्त्री, वस्त्र आदि मुझे प्राप्त हो जावें इत्यादि चिन्तन करना चौथा आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—चोरी, असत्य, परिग्रहसंरक्षण और छह प्रकार की जीव हिंसा के आरम्भ में कषाय सहित होना रौद्रध्यान है, ऐसा संक्षेप से कहा है ॥३९६॥

आचारवृत्ति—स्तैन्य—परद्रव्य के हरण का अभिप्राय होना, मृषा—असत्य बोलने में तत्पर होना, सारक्षण—यदि मेरा द्रव्य कोई चुरायेगा तो मैं उसे मार डालूँगा इस प्रकार से आयुध को हाथ में लेकर मारने का अभिप्राय करना, षड्विधारम्भ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की विराधना करने में, इनका छेदन-भेदन करने में, इनको बाँधने में, इनका वध करने में, इनका ताड़न करने में और इन्हें जला देने में उद्यम का होना अर्थात् इन जीवों को पीड़ा देने में उद्यत होना—कषाय सहित ऐसा ध्यान रौद्र कहलाता है। यहाँ पर इसका संक्षेप से कथन किया गया है।

तात्पर्य यह है कि परद्रव्य के हरण करने में तत्पर होना प्रथम रौद्रध्यान है। पर को पीड़ा देनेवाले असत्य वचन के बोलने में यत्न करना दूसरा रौद्रध्यान है। द्रव्य अर्थात् धन, पशु,

विषये चौरदायादिमारणोद्यमे यत्नस्तृतीयं रौद्रं। तथा षड्विधे जीवमारणारम्भे कृताभिप्रायश्चतुर्थं रौद्रमिति ॥३९७॥ ततः—

अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभए सुग्गदीयपच्चूहे।
धम्मे वा सुक्के वा होहि समण्णागदमदीओ ॥३९७॥

यत एवंभूते आर्तरौद्रे। किंविशिष्टे, महाभये महासंसारभीतिदायिनि (नी) सुगतिप्रत्यूहे—देवगतिमोक्षगतिप्रतिकूले। अपहृत्य निराकृत्य। धर्मध्याने शुक्लध्याने वा भव सम्यग्विधानेन गतमतिः। धर्मध्याने शुक्लध्याने च सादरो सुष्ठु विशुद्धं मनो विधेहि समाहितमतिर्भवेति ॥३९७॥

धर्मध्यानभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च ॥३९८॥

एकाग्रेण पंचेन्द्रियव्यापारपरित्यागेन कायिकवाचिकव्यापारविरहेण च। मनो मानसव्यापारं।

पुत्रादि के रक्षण के विषय में, चोर, दायाद अर्थात् भागीदार आदि के मारने में प्रयत्न करना यह तीसरा रौद्रध्यान है और छह प्रकार के जीवों के मारने के आरम्भ में अभिप्राय रखना यह चौथा रौद्रध्यान है।

विशेष—इन्हीं ध्यानों के हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ऐसे नाम भी अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं। जिसका अर्थ है हिंसा में आनन्द मानना, झूठ में आनन्द मानना, चोरी में आनन्द मानना और परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना। यह ध्यान रुद्र अर्थात् क्रूर परिणामों से होता है। इसमें कषायों की तीव्रता रहती है अतः इसे रौद्रध्यान कहते हैं।

इसके बाद—क्या करना? सो कहते हैं—

गाथार्थ—सुगति के रोधक महाभयरूप इन आर्त, रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान में अथवा शुक्लध्यान से एकाग्रबुद्धि करो ॥३९७॥

आचारवृत्ति—महासंसार भय को देनेवाले और देवगति तथा मोक्षगति के प्रतिकूल ऐसे इन आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान शुक्लध्यान में अच्छी तरह अपनी मति लगाओ। अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान में आदर सहित होकर अच्छी तरह अपने विशुद्ध मन को लगाओ, उन्हीं में एकाग्रबुद्धि को करो।

धर्मध्यान के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—एकाग्रता पूर्वक मनको रोककर उस धर्म का ध्यान करो जिसके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद हैं ॥३९८॥

आचारवृत्ति—पंचेन्द्रिय विषयों के व्यापार का त्याग करके और कायिक वाचिक व्यापार से भी रहित होकर, एकाग्रता से मानस-व्यापार को रोककर अर्थात् मनको अपने वश करके, चार प्रकार के धर्मध्यान का चिन्तवन करो। वे चार भेद कौन हैं ? ऐसी आशंका होने

निरुध्यात्मवशं कृत्वा। धर्मं चतुर्विधं चतुर्भेदं। ध्याय चिन्तय। के ते चत्वारो विकल्पा इत्याशंकायामाह—आज्ञाविचयोऽपायविचयो विपाकविचयः संस्थानविचयश्चेति ॥३९८॥

तत्राज्ञाविचयं विवृण्वन्नाह—

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥३९९॥

पंचास्तिकायाः जीवास्तिकायोऽजीवास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायो वियदास्तिकाय इति तेषां प्रदेशबन्धोऽस्तीति कृत्वा काया इत्युच्यन्ते। षड्जीवनिकायश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः। कालद्रव्यमन्यत्। अस्य प्रदेशबन्धाभावादस्तिकायत्वं नास्ति। एतानाज्ञाग्राह्यान् भावान् पदार्थान्। आज्ञाविचयेनाज्ञास्वरूपेण। विचिनोति विवेचयति ध्यायतीति यावत्। एते पदार्थाः सर्वज्ञनाथेन वीतरागेण प्रत्यक्षेण दृष्टा न कदाचिद् व्यभिचरन्तीत्यास्तिक्यबुद्धया तेषां पृथक्पृथग्विवेचनेनाज्ञाविचयः। यद्यप्यात्मनः प्रत्यक्षबलेन हेतुबलेन

पर कहते हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद धर्मध्यान के हैं।

भावार्थ—यहाँ एकाग्रचिन्तानिरोध लक्षणवाला ध्यान कहा गया है। पंचेन्द्रियों के विषय का छोड़ना और काय की तथा वचन की क्रिया नहीं करना 'एकाग्र' है, तथा मन का व्यापार रोकना चिन्तानिरोध है। इस प्रकार से ध्यान के लक्षण में इन्द्रियों के विषय से हटकर तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से छूटकर जब मन अपने किसी ध्येय विषय में टिक जाता है, रुक जाता है, स्थिर हो जाता है उसी को ध्यान यह संज्ञा आती है।

गाथार्थ—उसमें से पहले आज्ञाविचय का वर्णन करते हैं—पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय और कालद्रव्य ये आज्ञा से ग्राह्य पदार्थ हैं। इनको आज्ञा के विचार से चिन्तवन करना है ॥३९९॥

आचारवृत्ति—जीवास्तिकाय, अजीवास्तिकाय, (पुद्गलास्तिकाय) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं। इन पाँचों में प्रदेश का बन्ध अर्थात् समूह विद्यमान है अतः इन्हें काय कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये षट्जीवनिकाय हैं। और अन्य—छठा कालद्रव्य है। इसमें प्रदेशबन्ध का अभाव होने से यह अस्तिकाय नहीं है। अर्थात् काल एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी कहलाता है इसलिए यह 'अस्ति' तो है किन्तु काय नहीं है। ये सभी पदार्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से ग्रहण करने योग्य होने से आज्ञाग्राह्य हैं। आज्ञाविचय से अर्थात् आज्ञारूप से इनका विवेचन करना—ध्यान करना आज्ञाविचय है।

तात्पर्य यह कि वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन पदार्थों को प्रत्यक्ष से देखा है। ये कदाचित् भी व्यभिचरित नहीं होते हैं अर्थात् ये अन्यथा नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार से आस्तिक्य बुद्धि के द्वारा उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करना, चिन्तवन करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। यद्यपि ये पदार्थ स्वयं को प्रत्यक्ष से या तर्क के द्वारा स्पष्ट नहीं हैं फिर भी सर्वज्ञ की आज्ञा के

वा न स्पष्टा तथापि सर्वज्ञाज्ञानिर्देशेन गृह्णाति नान्यथावादिनो जिना यत इति ॥३९९॥

अपायविचयं विवृण्वन्नाह—

कल्लाणपावगाओ पाए विचिणादि जिणमदमुविच्च।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहे य ॥४००॥

कल्याणप्रापकान् पंचकल्याणानि यैः प्राप्यन्ते तान् प्राप्यान् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। विचिनोति ध्यायति। जिनमतमुपेत्य जैनागममाश्रित्य। विचिनोति वा ध्यायति वा। अपायान् कर्मापगमान् स्थितिखण्डानुभागखण्डानुत्कर्षणापकर्षभेदान्। जीवानां सुखानि जीवप्रदेशसंतर्पणानि। असुखानि दुःखानि चात्मनस्तु विचिनोति भावयतीति। एतैः कर्तव्यैर्जीवा दूरतो भवन्ति शासनात्, एतैस्तु शासनमुपढौकते, एतैः परिणामैः संसारे भ्रमन्ति जीवाः, एतैश्च संसाराद्विमुच्यन्तीति चिन्तनमपायचिन्तनं नाम द्वितीयं धर्मध्यानमिति ॥४००॥

विपाकविचयस्वरूपमाह—

एआणेयभवगयं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं।
उदओदीरणसंकमबंधं मोक्खं च विचिणादि ॥४०१॥

निर्देश से वह उनको ग्रहण करता है; क्योंकि 'नान्यथावादिनो जिनाः' जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं हैं।

अपायविचय का वर्णन करते हैं।

गाथार्थ—जिनमत का आश्रय लेकर कल्याण को प्राप्त करानेवाले उपायों का चिन्तन करना अथवा जीवों के शुभ और अशुभ का चिन्तन करना अपायविचय है ॥४००॥

आचारवृत्ति—जिनके द्वारा पंचकल्याणक प्राप्त किये जाते हैं वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्राप्य हैं अर्थात् उपायभूत हैं। जैनागम का आश्रय लेकर इनका ध्यान करना उपायविचय धर्म ध्यान है; क्योंकि इसमें पंचकल्याणक आदि कल्याणकों के प्राप्त करानेवाले उपायों का चिन्तन किया जाता है। इसी प्रकार अपाय अर्थात् स्थिति खंडन, अनुभागखंडन, उत्कर्षण और अपकर्षण रूप से कर्मों का अपाय—अपगम—अभाव का चिन्तवन करना यह अपायविचय धर्मध्यान है। जीव के प्रदेशों को संतर्पित करनेवाला सुख है और आत्मा के प्रदेशों में पीड़ा उत्पन्न करनेवाला दुःख है। इस तरह से जीवों के सुख और दुःख का चिन्तवन करना। अर्थात् जीव इन कार्यों के द्वारा जिनशासन से दूर हो जाते हैं और इन शुभ कार्यों के द्वारा जिनशासन के निकट आते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं। या इन परिणामों से संसार में भ्रमण करते हैं और इन परिणामों से संसार से छूट जाते हैं। इस प्रकार से चिन्तवन करना यह अपायविचय नाम का दूसरा धर्मध्यान है।

भावार्थ—कल्याण के लिए उपायभूत रत्नत्रय का चिन्तवन करना उपायविचय तथा कर्मों के अपाय—अभाव का चिन्तवन करना अपायविचय है।

अब विपाकविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जीवों के एक और अनेक भव में होनेवाले पुण्य-पाप कर्म के फल को तथा

एकभवगतमनेकभवगतं च जीवानां पुण्यकर्मफलं पापकर्मफलं च विचिनोति। उदयं स्थितिक्षयेण गलनं विचिनोति ये कर्मस्कन्धा उत्कर्षापकर्षादिप्रयोगेण स्थितिक्षयं प्राप्यात्मनः फलं ददते तेषां कर्मस्कन्धाना-मुदय इति संज्ञा तं ध्यायति। तथा चोदीरणमपक्वपाचनं। ये कर्मस्कन्धाः सत्सु स्थित्यनुभागेषु अवस्थिताः सन्त आकृष्याकाले फलदाः क्रियन्ते तेषां कर्मस्कन्धानामुदीरणमिति संज्ञा तद् ध्यायति। संक्रमणं परप्रकृति-स्वरूपेण गमनं विचिनोति। तथा बन्धं जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसंश्लेषं ध्यायति। मोक्षं जीवकर्मप्रदेशविश्लेषमनन्त-ज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं विचिनोतीति सम्बन्धः। तथा शुभ प्रकृतीनां गुडखण्डशर्करामृतस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् अशुभप्रकृतीनां निम्बकांजीरविषहालाहलस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् तथा घातिकर्मणां लतादार्वस्थिशिलास-मानानुचिंतनं। नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिप्रापककर्मफलचिन्तनं इत्येवमादिचिन्तनं विपाकविचयधर्म्यध्यानं नामेति ॥४०१॥

संस्थानविचयस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

उड्ढमहतिरियलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेक्खाओ य विचिणादि ॥४०२॥

कर्मों के उदय, उदीरणा, वन्ध और मोक्ष को जो ध्याता है उसके विपाकविचय धर्मध्यान होता है ॥४०१॥

आचारवृत्ति—मुनि विपाकविचय धर्म्यध्यान में जीवों के एक भव में होनेवाले या अनेक भव में होनेवाले पुण्यकर्म के और पापकर्म के फल का चिन्तन करते हैं। कर्मों के उदय का विचार करते हैं। स्थिति के क्षय से गलन होना उदय है अर्थात् जो कर्मस्कन्ध उत्कर्षण या अपकर्षण आदि प्रयोग द्वारा स्थिति क्षय को प्राप्त करके आत्मा को फल देते हैं उन कर्मस्कन्धों की उदय यह संज्ञा है। वे जीवों के कर्मोदय का विचार करते हैं। अपक्वपाचन को उदीरणा कहते हैं अर्थात् जो कर्मस्कन्ध स्थिति और अनुभाग के अवशेष रहते हुए विद्यमान हैं उनको खींच करके जो अकाल में ही उन्हें फल देनेवाला कर लेना है सो उदीरणा है अर्थात् प्रयोग के बल से अकाल में ही कर्मों को उदयावली में ले आना उदीरणा है। इसका ध्यान करते हैं। किसी प्रकृति का पर-प्रकृतिरूप से होना संक्रमण है। जीव के और कर्म के प्रदेशों का परस्पर में संबंध होना बन्ध है। जीव और कर्म के प्रदेशों का पृथक्करण होकर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य स्वरूप को प्राप्त हो जाना मोक्ष है। इस संक्रमण का, बंध और मोक्ष का चिन्तवन करते हैं।

उसी प्रकार से शुभ प्रकृतियों के गुड, खांड, और शर्करा अमृत रूप अनुभाग का चिन्तवन करना तथा अशुभ प्रकृतियों का नीम, कांजीर, विष और हालाहलरूप अनुभाग का विचार करना तथा घातिकर्मों का लता, दारू, हड्डी और शिला के समान अनुभाग है ऐसा सोचना नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति को प्राप्त करानेवाले ऐसे कर्मों के फल का चिन्तन करना इत्यादि प्रकार से जो भी कर्मसम्बन्धी चिन्तन करना है। यह सब विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान है। ।

संस्थानविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—भेदसहित और आकार सहित ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्लोक का ध्यान करते हैं और इसी से सम्बन्धित द्वादश अनुप्रेक्षा का भी विचार करते हैं ॥४०२॥

ऊर्ध्वलोकं सपर्ययं सभेदं ससंस्थानं त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घायतमृदंगसंस्थानं पटलेन्द्रकश्रेणीबद्धप्रकीर्णकविमानभेदभिन्नं विचिनोति ध्यायति। तथाधोलोकं सपर्ययं ससंस्थानं वेत्रासनाद्याकृतिं त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घायतादिसंस्थानभेदभिन्नं सप्तपृथिवीन्द्रकश्रेणिविश्रेणिबद्धप्रकीर्णकप्रस्तरस्वरूपेण स्थितं शीतोष्णनारकसंहितं महावेदनारूपं च विचिनोति। तथा तिर्यग्लोकं सपर्ययं सभेदं ससंस्थानं झल्लर्याकारं मेरुकुलपर्वतादि ग्रामनगरपत्तनभेदभिन्नं पूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतभोगभूमिद्वीपसमुद्रवननदीवेदिकायतनकूटादिभेदभिन्नं दीर्घह्रस्ववृत्तायतत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थानसहितं विचिनोति ध्यायतीति सम्बन्धः। अत्रैवानुगता अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षा विचिनोति ॥४०२॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इति नामानीति दर्शयन्नाह—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं वोधिं च चिंतिज्जो ॥४०३॥

अध्रुवमनित्यता। अशरणमनाश्रयः। एकत्वमेकोऽहं। अन्यत्वं शरीरादन्योऽहं। संसारश्चतुर्गतिसंक्रमणं। लोक ऊर्ध्वाधोमध्यवेत्रासनझल्लरीमृदंगरूपश्चतुर्दशरज्ज्वायतः। अशुचित्वं। आस्रवः कर्मास्रवः।

आचारवृत्ति—ऊर्ध्वलोक पर्याय सहित अर्थात् भेदों सहित तथा आकार सहित—त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ, आयत और मृदंग के आकारवाला है। इसमें पटलों में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों से अनेक भेद हैं। इसका मुनि ध्यान करते हैं। अधोलोक भी भेद सहित और वेत्रासन आदि आकार सहित है। त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ आदि आकार इसमें भी घटित होते हैं। इसमें सात पृथिवियाँ हैं। इन्द्रक, श्रेणी, विश्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक प्रस्तार हैं। कुछ नरकबिल शीत हैं और कुछ उष्ण हैं। ये महावेदनारूप हैं इत्यादि का ध्यान करना। उसी प्रकार से तिर्यग्लोक भी नाना भेदों सहित और अनेक आकृतिवाला है, झल्लरी के समान है, मेरु पर्वत, कुलपर्वत आदि तथा ग्राम नगर पत्तन आदि से भेद सहित है। पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरत, ऐरावत, भोगभूमि, द्वीप, समुद्र, वन, नदी, वेदिका, आयतन और कूटादि से युक्त है। दीर्घ, ह्रस्व, गोल, आयत, त्रिकोण, चतुष्कोण आकारों से सहित है। मुनि इसका भी ध्यान करते हैं। अर्थात् मुनि तीनों लोक सम्बन्धी जो कुछ आकार आदि का चिन्तवन करते हैं वह सब संस्थानविचय धर्मध्यान है। और इन्हीं के अन्तर्गत द्वादश अनुप्रेक्षाओं का भी चिन्तवन करते हैं।

उन अनुप्रेक्षाओं के नाम बताते हैं—

गाथार्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, और बोधि इनका चिन्तवन करना चाहिए ॥४०३॥

आचारवृत्ति—अध्रुव—सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। अशरण—कोई आश्रयभूत नहीं है। एकत्व—मैं अकेला हूँ। अन्यत्व—मैं शरीर से भिन्न हूँ। संसार—चतुर्गति में संसरण करना—भ्रमण करना ही संसार है। लोक—यह ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक की अपेक्षा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के आकार का है और चौदह राजू ऊँचा है। अशुचि—शरीर अत्यन्त अपवित्र है। आस्रव—कर्मों का आना आस्रव है। संवर—महाव्रत आदि से आते हुए कर्म रुक

संवरो महाव्रतादिकं । निर्जरा कर्मसातनं । धर्मोऽपि दशप्रकारः क्षमादिलक्षणः । बोधिं च सम्यक्त्वसहिता भावना एता द्वादशानुप्रेक्षाश्चिन्तय । तत् एतच्चतुर्विधं धर्मध्यानं नामेति ॥४०३॥

शुक्लध्यानस्य स्वरूपं भेदांश्च विवेचयन्नाह—

उवसंतो दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं ॥४०४॥

उपशान्तकषायस्तु पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं । द्रव्याण्यनेकभेदभिन्नानि त्रिभिर्योगैर्यतो ध्यायति ततः पृथक्त्वमित्युच्यते। वितर्कः श्रुतं यस्माद्वितर्केण श्रुतेन सह वर्तते यस्माच्च नवदशचतुर्दशपूर्वधरैरारभ्यते तस्मात्सवितर्कं तत् । विचारोऽर्थव्यंजनयोग: (ग) संक्रमणः । एकमर्थं त्यक्त्वार्थान्तरं ध्यायति मनसा संचित्य वचसा प्रवर्तते कायेन प्रवर्तते एवं परंपरेण संक्रमो योगानां द्रव्याणां व्यंजनानां च स्थूलपर्यायाणामर्थानां सूक्ष्मपर्यायाणां वचनगोचरातीतानां संक्रमः सवीचारं ध्यानमिति ।अस्य त्रिप्रकारस्य ध्यानस्योपशान्तकषायः स्वामी।

जाते हैं। निर्जरा—कर्मों का झड़ना निर्जरा है। धर्म—उत्तम क्षमा आदि लक्षणरूप धर्म दशप्रकार का है। वोधि—सम्यक्त्व सहित भावना ही बोधि है। इस प्रकार से इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करना चाहिए।

शुक्ल ध्यान का स्वरूप और उसके भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—उपशान्तकषाय मुनि पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं। क्षीणकषाय मुनि एकत्व वितर्क अवीचार नामक ध्यान करते हैं ॥४०४॥

आचारवृत्ति—उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को ध्याते हैं। जीवादि द्रव्य अनेक भेदों से सहित हैं, मुनि इनको मन, वचन और काय इन तीनों योगों के द्वारा ध्याते हैं। इसलिए इस ध्यान का पृथक्त्व यह सार्थक नाम है। श्रुत को वितर्क कहते हैं। वितर्क—श्रुत के साथ रहता है अर्थात् नवपूर्वधारी, दशपूर्वधारी या चतुर्दश पूर्वधरों के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है इसलिए वह वितर्क कहलाता है। अर्थ, व्यंजन और योगों के संक्रमण का नाम वीचार है अर्थात् जो एक अर्थ-पदार्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ का ध्यान करता है, मन से चिन्तवन करके वचन से करता है, पुनः काययोग से ध्याता है। इस तरह परम्परा से योगों का संक्रमण होता है। अर्थात् द्रव्यों का संक्रमण होता है और व्यंजन अर्थात् पर्यायों का संक्रमण होता है। पर्यायों में स्थूल पर्यायें व्यंजन पर्याय हैं और जो वचन के अगोचर सूक्ष्म पर्याय हैं वे अर्थ पर्यायें कहलाती हैं। इनका संक्रमण इस ध्यान में होता है इसलिए यह ध्यान वीचार सहित है। अतः इसका सार्थक नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है। इस ध्यान में तीन प्रकार हो जाते हैं अर्थात् पृथक्त्व—नाना भेदरूप द्रव्य, वितर्क—श्रुत और वीचार—अर्थ व्यंजन, योग का संक्रमण इन तीनों की अपेक्षा से यह ध्यान तीन प्रकार रूप है। इस ध्यान के स्वामी उपशान्तकषायी महामुनि हैं।

क्षीणकषायगुणस्थान वाले मुनि एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान को ध्याते हैं। वे एक द्रव्य को अथवा एक अर्थपर्याय को या एक व्यंजन पर्याय को किसी एक योग के द्वारा ध्याते हैं, अतः यह ध्यान एकत्व कहलाता है। इसमें वितर्क-श्रुत पूर्वकथित ही है अर्थात् नव, दश या

तथा क्षीणकषायो ध्यायत्येकत्वं वितर्कमवीचारं। एकं द्रव्यमेकार्थपर्यायमेकं व्यंजनपर्यायं च योगेनैकेन ध्यायति तद्ध्यानमेकत्वं, वितर्कः श्रुतं पूर्वोक्तमेव, अवीचारं अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिरहितं। अस्य त्रिप्रकारस्यैकत्व-वितर्कवीचारभेदभिन्नस्य क्षीणकषायः स्वामी ॥४०४॥

तृतीयचतुर्थशुक्लध्यानस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुमकिरियं सजोगी झायदि झाणं च तदियसुक्कंतु।
जं केवली अजोगी झायदि झाणं समुच्छिण्णं ॥४०५॥

सूक्ष्मक्रियामवितर्कमवीचारं श्रुतावष्टम्भरहितमर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिवियुक्तं सूक्ष्मकायक्रियाव्यव-स्थितं तृतीयं शुक्लं सयोगी ध्यायति ध्यानमिति। यत्केवल्ययोगी ध्यायति ध्यानं तत्समुच्छिन्नमवितर्कमवि-

---

चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता मुनि ही ध्याते हैं। अर्थ, व्यंजन और योगों की संक्रांति से रहित होने से यह ध्यान अवीचार है। इसमें भी एकत्व, वितर्क और अवीचार ये तीन प्रकार होते हैं। इस तीन प्रकाररूप एकत्व, वितर्क, अवीचार ध्यान को करनेवाले क्षीणकषाय महामुनि ही इसके स्वामी हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर उपशान्तकषायवाले के प्रथम शुक्लध्यान और क्षीणकषाय-वाले के द्वितीय शुक्लध्यान माना है। अमृतचन्द्रसूरि ने भी 'तत्वार्थसार' में कहा है—

'द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत्त्रिभिः।
शांतमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ॥४७॥
द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥४८॥

अभिप्राय यही है कि उपशान्तमोह मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं और क्षीणमोह मुनि एकत्ववितर्कवीचार को ध्याते हैं।

तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान सयोगी ध्याते हैं। जो अयोगी केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न ध्यान है ॥४०५॥

आचारवृत्ति—जो सूक्ष्मकाय क्रिया में व्यवस्थित है अर्थात् जिनमें काययोग की क्रिया भी सूक्ष्म हो चुकी है वह सूक्ष्मक्रिया ध्यान है। यह अवितर्क और अविचार है अर्थात् श्रुत के अवलम्बन से रहित है, अतः अवितर्क है और इसमें अर्थ, व्यंजन तथा योगों का संक्रमण नहीं है अतः यह अविचार है। ऐसे इस सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान को सयोग केवली ध्याते हैं।

जिस ध्यान को अयोग केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न है। वह अवितर्क, अविचार, अनिवृत्तिनिरुद्ध योग, अनुत्तर, शुक्ल और अविचल है, मणिशिखा के समान है। अर्थात् इस समुच्छिन्न ध्यान में श्रुत का अवलम्बन नहीं है अतः अवितर्क है। अर्थ व्यंजन योग की संक्रांति भी नहीं है अतः अविचार है। सम्पूर्ण योगों का—काययोग का भी निरोध हो जाने से यह

चारमनिवृत्तिनिरुद्धयोगमपश्चिमं शुक्लमविचलं मणिशिखावत्। तस्य चतुर्थध्यानस्यायोगी स्वामी यद्यप्यत्र मानसो व्यापारो नास्ति तथाप्युपचारक्रिया ध्यानमित्युपचर्यते। पूर्वप्रवृत्तिमपेक्ष्य घृतघटवत् पुंवेदवद्वेति ॥४०५॥

व्युत्सर्गनिरूपणायाह—

दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भंतर कोहादी बाहिर खेत्तादियं दव्वं ॥४०६॥

द्विविधो द्विप्रकारो व्युत्सर्गः परिग्रहपरित्यागोऽभ्यन्तरबाहिरो अभ्यन्तरो बाह्यश्च ज्ञातव्यः। क्रोधादीनां व्युत्सर्गोऽभ्यन्तरः। क्षेत्रादिद्रव्यस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति ॥४०६॥

अभ्यन्तरस्य व्युत्सर्गं भेदप्रतिपादनार्थमाह—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा ॥४०७॥

अनिवृत्तिनिरोध योग है। सभी ध्यानों में अन्तिम है इससे उत्कृष्ट अब और कोई ध्यान नहीं रहा है अतः यह अनुत्तर है। परिपूर्णतया स्वच्छ उज्ज्वल होने से शुक्लध्यान इसका नाम है। यह मणि के दीपक की शिखा के समान होने से पूर्णतया अविचल है। इस चतुर्थ ध्यान के स्वामी चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली हैं।

यद्यपि इन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मन का व्यापार नहीं है तो भी उपचार क्रिया से ध्यान का उपचार किया गया है। यह ध्यान का कथन पूर्व में होनेवाले ध्यान की प्रवृत्ति की अपेक्षा करके कहा गया है, जैसे कि पहले घड़े में घी रखा था पुनः उस घड़े से घी निकाल देने के बाद भी उसे घी का घड़ा कह देते हैं अथवा पुरुषवेद का उदय नवमें गुणस्थान में समाप्त हो गया है फिर भी पूर्व की अपेक्षा पुरुष वेद से मोक्ष की प्राप्ति कह देते हैं।

भावार्थ—इन सयोगी और अयोग केवली के मन का व्यापार न होने से इनमें 'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानं' यह ध्यान का लक्षण नहीं पाया जाता है। फिर भी कर्मों का नाश होना यह ध्यान का कार्य देखा जाता है अतएव वहाँ पर उपचार से ध्यान माना जाता है।

अब अन्तिम व्युत्सर्ग तप का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से व्युत्सर्ग दो प्रकार जानना चाहिए। क्रोधआदि अभ्यन्तर हैं और क्षेत्र आदि द्रव्य बाह्य हैं ॥४०६॥

आचारवृत्ति—परिग्रह का परित्याग करना व्युत्सर्ग तप है। वह दो प्रकार का है—अभ्यन्तर और बाह्य। क्रोधादि अभ्यन्तर परिग्रह हैं, इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। क्षेत्र आदि बाह्य द्रव्य का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

अभ्यन्तर व्युत्सर्ग का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य आदि छह दोष और चार कषायें ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं ॥४०७॥

मिथ्यात्वं। स्त्रीपुंनपुंसकवेदास्त्रयः। रागा हास्यादयः षट् दोषा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः चत्वारस्तथा कषाया क्रोधमानमायालोभाः। एते चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः। एतेषां परित्यागोऽभ्यन्तरो व्युत्सर्ग इति ॥४०७॥

बाह्यव्युत्सर्गभेद प्रतिपादनार्थमाह—

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति ॥४०८॥

क्षेत्रं सस्यादिनिष्पत्तिस्थानं। वास्तु गृहप्रासादादिकं। धनगतं सुवर्णरूप्यद्रव्यादि। धान्यगतं शालियवगोधूमादिकं द्विपदा दासीदासादयः। चतुष्पदगतं गोमहिष्याजादिगतं। यानं शयनमासनं। कुप्यं कार्पासादिकं। भाण्डं हिंगुमरीचादिकं। एवं बाह्यपरिग्रहो दशप्रकारस्तस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति ॥४०८॥

द्वादशविधस्यापि तपसः स्वाध्यायोऽधिक इत्याह—

बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४०९॥*

द्वादशविधस्यापि तपसः सबाह्याभ्यन्तरे कुशलदृष्टे सर्वज्ञगणधरादिप्रतिपादिते नाप्यस्ति नापि च

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं। इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

बाह्य व्युत्सर्ग भेद का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन-आसन, कुप्य और भांड ये दश परिग्रह होते हैं ॥४०८॥

आचारवृत्ति—धान्य आदि की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र—खेत कहते हैं। घर, महल आदि वास्तु हैं। सोना, चाँदी आदि द्रव्य धन हैं। शालि, जौ, गेहूं आदि धान्य हैं। दासी, दास आदि द्विपद हैं। गाय, भैंस, बकरी आदि चतुष्पद हैं। वाहन आदि यान हैं। पलंग, सिंहासन आदि शयन-आसन हैं। कपास आदि कुप्य कहलाते हैं और हींग, मिर्च आदि को भांड कहते हैं। ये बाह्य परिग्रह दश प्रकार के हैं, इनका त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

बारह प्रकार के तप में भी स्वाध्याय सबसे श्रेष्ठ है ऐसा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—कुशल महापुरुष के द्वारा देखे गये अभ्यन्तर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के भी तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और न ही होगा ॥४०९॥

आचारवृत्ति—सर्वज्ञ देव और गणधर आदि के द्वारा प्रतिपादित इन बाह्य और

---

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा बदली हुई है—

कोहो माणो माया लोहो रागो तहेव दोसो य।
मिच्छत्तवेदरतिअरदि हाससोगभयदुगुंछा य॥

भविष्यति स्वाध्यायसमानं तपःकर्म । द्वादशविधेऽपि तपसि मध्ये स्वाध्यायसमानं तपोनुष्ठानं न भवति न भविष्यति ॥४०६॥

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एग्रग्गमणो विणएण समाहिग्रो भिक्खू ॥४१०॥*

स्वाध्यायं कुर्वन् पंचेन्द्रियसंवृतः त्रिगुप्तश्चेन्द्रियव्यापाररहितो मनोवाक्कायगुप्तश्च, भवत्येकाग्रमनाः शास्त्रार्थतन्निष्ठो विनयेन समाहितो विनययुक्तो भिक्षुः साधुः । स्वाध्यायस्य माहात्म्यं दर्शितमाभ्यां गाथाभ्यामिति ॥४१०॥

तपोविधानक्रममाह—

सिद्धिप्पासादवदंसयस्स करणं चदुव्विहं होदि ।
दव्वे खेत्ते काले भावे वि य ग्राणुपुव्वीए ॥४११॥

तस्य द्वादशविधस्यापि तपसः किंविशिष्टस्य, सिद्धिप्रासादावतंसकस्य मोक्षगृहकर्णपूरस्य मण्डनस्याथवा सिद्धिप्रासादप्रवेशकस्य करणमनुष्ठानं चतुर्विधं भवति । द्रव्यमाहारशरीरादिकं । क्षेत्रमनूपमरुजांगलादिकं स्निग्धरूक्षवातपित्तश्लेष्मप्रकोपकं। कालः शीतोष्णवर्षादिरूपः । भावः (व) परिणामश्चित्तसंक्लेशः।

अभ्यन्तर रूप बारह प्रकार के तपों में भी स्वाध्याय के समान न कोई अन्य तप है ही और न ही होगा । अर्थात् बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय तप सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

गाथार्थ—विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रिय से संवृत्त और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्रमनवाला हो जाता है ॥४१०॥

आचारवृत्ति—जो मुनि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करते हैं वे उस समय स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रियों के विषय व्यापार से रहित हो जाते हैं और मन-वचन-कायरूप तीन गुप्ति से सहित हो जाते हैं । तथा शास्त्र पढ़ने और उसके अर्थ के चिन्तन में तल्लीन होने से एकाग्रचित्त हो जाते हैं । इन दो गाथाओं के द्वारा स्वाध्याय का माहात्म्य दिखलाया है ।

तप के विधान का क्रम बतलाते हैं—

गाथार्थ—मोक्षमहल के भूषणरूप तप के करण चार प्रकार के हैं जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप क्रम से हैं ॥४११॥

आचारवृत्ति—यह जो बारह प्रकार तप है वह सिद्धिप्रासाद का भूषण है, मोक्षमहल का कर्णफूल है अर्थात् मोक्षमहल का मंडनरूप है । अथवा मोक्षमहल में प्रवेश करने का साधन है । ऐसा यह तपश्चरण का अनुष्ठान चार प्रकार का है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों का आश्रय लेकर यह तप होता है। आहार और शरीर आदि को द्रव्य कहते हैं । अनूप—जहाँ पानी बहुत पाया जाता है, मरु—जहाँ पानी बहुत कम है, जांगल—जलरहित प्रदेश, ये स्थान स्निग्ध रूक्ष हैं एवं वात, पित्त या कफ को बढ़ानेवाले हैं । ये सब क्षेत्र कहलाते हैं । शीत, ऊष्ण, वर्षा आदि रूप काल होता है, और चित्त के संक्लेश आदि रूप परिणाम को

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में नहीं है।

द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य तपः कुर्यात् । यथा वातपित्तश्लेष्मविकारो न भवति । आनुपूर्व्यानुक्रमेण क्रमं त्यक्त्वा यदि तपः करोति चित्तसंक्लेशो भवति संक्लेशाच्च कर्मबन्धः स्यादिति ॥४११॥

तपोऽधिकारमुपसंहरन् वीर्याचारं च सूचयन्नाह—

अब्भंतरसोहणओ एसो अब्भंतरो तओ भणिओ ।
एत्तो विरियाचारं समासओ वण्णइस्सामि ॥४१२॥

अभ्यन्तरशोधनकमेतदभ्यन्तरतपो भणितं भावशोधनार्थंतत्तपः तथा बाह्यमप्युक्तं । इत ऊर्ध्वं वीर्याचारं वर्णयिष्यामि संक्षेपत इति ॥४१२॥

भाव कहते हैं । अपनी प्रकृति आदि के अनुकूल इन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर तपश्चरण करना चाहिए । जिस प्रकार से वात, पित्त या कफ का विकार उत्पन्न न हो, अनुक्रम से ऐसा ही तप करना चाहिए । यदि मुनि क्रम का उलंघन करके तप करते हैं तो चित्त में संक्लेश हो जाता है और चित्त में संक्लेश के होने से कर्म का बन्ध होता है ।

भावार्थ—जिस आहार आदि द्रव्य से वात आदि विकार उत्पन्न न हो, वैसा आहार आदि लेकर पुनः उपवास आदि करना चाहिए । किसी देश में वात प्रकोप हो जाता है, किसी देश में पित्त का या किसी देश में कफ का प्रकोप बढ़ जाता है ऐसे क्षेत्र को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल देखकर ही तपश्चरण करना चाहिए । जैसे, जो उष्ण प्रदेश हैं वहाँ पर उपवास अधिक होने से पित्त का प्रकोप हो सकता है । ऐसे ही शीत काल, ऊष्णकाल, और वर्षा काल में भी अपने स्वास्थ्य को संभालते हुए तपश्चरण करना चाहिए । सभी ऋतुओं में समान उपवास आदि से वात,पित्त आदि विकार बढ़ सकते हैं । तथा जिस प्रकार से परिणामों में संक्लेश न हो इतना ही तप करना चाहिए । इस तरह सारी बातें ध्यान में रखते हुए तपश्चरण करने से कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की सिद्धि होती है । अन्यथा, परिणामों में क्लेश हो जाने से कर्म बन्ध जाता है । यहाँ इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रारम्भ में उपवास, कायक्लेश आदि को करने में परिणामों में कुछ क्लेश हो सकता है । किन्तु अभ्यास के समय उससे घबराना नहीं चाहिए । धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ाते रहने से बड़े-बड़े उपवास और कायक्लेश आदि सहज होने लगते हैं ।

अब तप आचार के अधिकार का उपसंहार करते हुए और वीर्याचार को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—अन्तरंग को शुद्ध करनेवाला यह अन्तरंग तप कहा गया है । इसके बाद संक्षेप से वीर्याचार का वर्णन करूँगा ॥४१२॥

आचारवृत्ति—भावों को शुद्ध करने के लिए यह अभ्यन्तर तप कहा गया है और इसकी सिद्धि के लिए बाह्य तप को भी कहा है । अब इसके बाद मैं वीर्याचार को थोड़े रूप में कहूँगा ।

अणुगूहियबलविरिश्रो परक्कमदि जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो ॥४१३॥*

अनुगूहितबलवीर्यं अनिगूहितमसंवृतमपह्नुतं बलमाहारौषधादिकृतसामर्थ्यं, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितं संहननापेक्षं स्थामशरीरावयवकरणचरणजंघोरुकटिस्कन्धादिघनघटितबन्धापेक्षं । अनिगूहिते बलवीर्ये येनासावनिगूहितबलवीर्यः । पराक्रमते चेष्टते समुत्सहते यो यथोक्तं तपश्चारित्रं त्रिविधानुमतिरहितं सप्तदशप्रकारसंयमविधानं प्राणसंयमं तथेन्द्रियसंयमं चैतद्यथोक्तं । अनिगूहितबलवीर्यो यः कुरुते युनक्ति चात्मानं यथास्थानं यथाशरीरावयवावष्टंभं यः स वीर्याचार इति ज्ञातव्यो भेदात् । अथवा तस्य वीर्याचारो ज्ञातव्यः इति ॥४१३॥

त्रिविधानुमतिपरिहारो यथोक्तमित्युक्तस्तथा सप्तदशप्रकारं प्राणसंयमनमिन्द्रियसंयमनं च यथोक्तमित्युक्तं । तत्र का त्रिविधानुमतिः कश्च सप्तदशप्रकारः प्राणसंयमः को वेन्द्रियसंयम इति पृष्टे उत्तरमाह—

पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदी तिविहा ।
उद्दिट्ठं जदि भुंजदि भोगदि य होदि पडिसेवा ॥४१४॥

गाथार्थ—अपने बल वीर्य को न छिपाकर जो मुनि यथोक्त तप में यथास्थान अपनी आत्मा को लगाता है उसे वीर्याचार जानना चाहिए ॥४१३॥

आचारवृत्ति—आहार तथा औषधि आदि से होनेवाली सामर्थ्य को बल कहते हैं। जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और संहनन की अपेक्षा रखता है तथा स्वस्थ शरीर के अवयव—हाथ, पैर, जंघा, घुटने, कमर, कंधे आदि को मजबूत बन्धन की भी अपेक्षा से सहित है वह वीर्य है। जो मुनि अपने बल और वीर्य को छिपाते नहीं हैं, वे ही उपर्युक्त तपश्चरण में उत्साह करते हैं। तीन प्रकार की अनुमति से रहित, आगम में कथित सत्रह प्रकार के संयम—प्राणी संयम तथा इन्द्रिय संयम को पालते हैं। तात्पर्य यह है कि जो साधु अपने बल वीर्य को नहीं छिपाते हैं, वे अपने शरीर अवयव के अवलम्बन से यथायोग्य आगमोक्त चारित्र में अपनी आत्मा को लगाते हैं वही उनका वीर्याचार कहलाता है।

जो आपने तीन प्रकार की अनुमति का परिहार कहा है, तथा सत्रह प्रकार का संयम प्राण संयम और इन्द्रिय संयम कहा है उनमें से तीन प्रकार की अनुमति क्या है? तथा सत्रह प्रकार का प्राणसंयम क्या है? अथवा इन्द्रिय संयम क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण, और संवास इस प्रकार अनुमति तीन प्रकार की है। यदि उद्दिष्ट भोजन और उपकरण आदि सेवन करता है तो उसके प्रतिसेवा होती है ॥४१४॥

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

बलवीरियसत्तिपरक्कमधिदिबलमिदि पंचधा उत्तं ।
तेसिं तु जहाजोग्गं आचरणं वीरियाचारो ॥

अर्थात् बल, वीर्य, शक्ति, पराक्रम और धृतिबल ये पाँच प्रकार कहे गये हैं। इनके आश्रय से जो यथायोग्य आचरण किया जाता है उसे वीर्याचार कहते हैं।

प्रतिसेवा प्रतिश्रवणं संवासश्चैवानुमतिस्त्रिविधा। अथ किं प्रतिसेवाया लक्षणं ? आह—उद्दिष्टं दात्रा पात्रमुद्दिश्य पात्राभिप्रायेणाहारादिकमुपकरणादिकं चोपनीतं तदानीतमाहारादिकं यदि भुंक्तेऽनुभवति। उपकरणादिकं च प्रासुकमानीतं दृष्ट्वा भोगयति सेवते यदि तदा तस्य पात्रस्य प्रतिसेवानामानुमतिभेदः स्यात् ॥४१४॥ तथा—

उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छा व होदि पडिसुणणा।
सावज्जसंकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥४१५॥

पूर्वमेवोपदिष्टं यावत्तद्वस्तु न गृह्णाति साधुस्तावदेव पूर्वं प्रतिपादयति दाता, भवतो निमित्तं मया संस्कृतमाहारादिकं प्रासुकमुपकरणं वा तद्भवान् गृह्णातु। एवं पूर्वमेव श्रुत्वा यदि विचरति गृह्णाति। अथवा दत्वाहारादिकमुपकरणं पश्चान्निवेदयति युष्मन्निमित्तं मया संस्कृतं तद्भवद्भिर्गृहीतं अद्य मे संतोषः संजातः इति श्रुत्वा तूष्णींभावेन सन्तोषेण वा तिष्ठति तदा तस्य प्रतिश्रवणानामानुमतिभेदो द्वितीयः स्यादिति। तथा सावद्यसंक्लिष्टो योऽयं ममत्वभावः स संवासः। गृहस्थैः सह संवसति ममेदमिति भावं च करोत्याहाराद्युपकरण-निमित्तं सर्वदा संक्लिष्टः सन् संवासनामानुमतिभेदस्तृतीयः एवं त्रिप्रकारामनुमतिं कुर्वता यथोक्तं नाचरितं

आचारवृत्ति—प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण और संवास ये तीन प्रकार की अनुमति हैं। प्रतिसेवा का क्या लक्षण है? दाता यदि पात्र का उद्देश्य करके अर्थात् पात्र के अभिप्राय से जो आहार आदि और उपकरण आदि बनाता है या लाता है और पात्र यदि उस आहार आदि को ग्रहण करता है। तथा लाये गये उपकरण आदि को प्रासुक समझकर यदि सेवन करता है तब उस पात्र के प्रतिसेवा नाम का अनुमति दोष होता है। तथा—

गाथार्थ—पूर्व में कथित उद्दिष्ट को ग्रहण कर अथवा बाद में कथित को सुनकर यदि मुनि संतोष ग्रहण करता है तो प्रतिश्रवण दोष आता है। इसी प्रकार सावद्य से संक्लिष्ट, ममत्व भाव संवास दोष है ॥४१५॥

आचारवृत्ति—पूर्व में उपदिष्ट वस्तु जब तक साधु ग्रहण नहीं करता है उसके पहले ही आकर यदि दाता कह देता है कि आपके निमित्त मैंने यह प्रासुक आहार आदि अथवा उपकरण आदि बनाये हैं, इनको आप ग्रहण कीजिये और साधु पूर्व में ही ऐसा सुनकर यदि उस आहार को अथवा उपकरण आदि को ग्रहण कर लेता है अथवा यदि दाता आहार या उपकरण आदि देकर के पश्चात् निवेदन करता है कि आपके निमित्त मैंने यह बनवाया था आपने उसे ग्रहण कर लिया इसलिए आज मुझे बहुत ही संतोष हो गया, ऐसा सुनकर यदि मुनि मौन से या संतोष से रह जाते हैं तब उनके प्रतिश्रवण नाम का दूसरा अनुमति दोष होता है।

उसी प्रकार से जो यह सावद्य से संक्लिष्ट ममत्व भाव है वह संवास कहलाता है। जो मुनि गृहस्थों के साथ संवास करता है और आहार तथा उपकरण आदि के निमित्त हमेशा संक्लिष्ट होता हुआ 'यह मेरा है' ऐसा भाव करता है उसके संवास नाम का तीसरा अनुमति दोष होता है।

इस प्रकार की अनुमति को करते हुए आगमोक्त चारित्र का जिन्होंने आचरण नहीं किया है और जिन्होंने अपने बल-वीर्य को छिपा रखा है उन मुनि ने वीर्याचार का अनुष्ठान

बलवीर्यं चावगूहितं तेन वीर्याचारो नानुष्ठितः स्यात्तस्मात् सानुमतिस्त्रिप्रकारापि त्याज्या वीर्याचारमनुष्ठतेति ॥४१५॥

सप्तदशप्रकारसंयमं प्रतिपादयन्नाह—

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदीसंजमो य बोधव्वो।
विगतिगचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमणं ॥४१६॥

पृथ्व्युदकतेजोवायुवनस्पतिकायिकानां संयमनं रक्षणं संयमो ज्ञातव्यः। तथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां संयमनं रक्षणं संयमः। अजीवकायानां शुष्कतृणादीनामच्छेदनं। कायभेदेन पंचप्रकारः संयमस्त्रसभेदेन चतुर्विधोऽजीवरक्षणेन चैकविध इति दशप्रकारः संयमः ॥४१६॥ तथा—

अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखुअवहट्टु संजमो चेव।
मणवयणकायसंजम सत्तरसविहो दु णादव्वो ॥४१७॥

अप्रतिलेखश्चक्षुषा पिच्छिकया वा द्रव्यस्य द्रव्यस्थानस्याप्रतिलेखनमदर्शनं तस्य संयमनं दर्शनं प्रतिलेखनं वा प्रतिलेखसंयमः। दुःप्रतिलेखो दुष्टुप्रमार्जनं जीवघातमर्दनादिकारकं तस्य संयमनं यत्नेन प्रति-

---

नहीं किया है ऐसा समझना। इसलिए वीर्याचार का अनुष्ठान करनेवाले आचार्यों को इन तीनों प्रकार की अनुमति का त्याग कर देना चाहिए।

सत्रह प्रकार के संयम का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इनका संयम जानना चाहिए और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा अजीव कायों का संयम करना चाहिए ॥४१६॥

आचारवृत्ति—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति इन पाँच प्रकार के स्थावर कायिक जीवों का संयमन अर्थात् रक्षण करना; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय इन चार प्रकार के त्रसकायिक जीवों का रक्षण करना तथा सूखे तृण आदि अजीव कायों का छेदन करना—इस प्रकार से पाँच स्थावरकाय, चार त्रसकाय और एक अजीव काय इनके रक्षण से यह दश प्रकार का संयम होता है। तथा—

गाथार्थ—अप्रतिलेख, दुष्प्रतिलेख, उपेक्षा और अपहरण इनमें संयम करना तथा मन-वचन-काय का संयम ऐसे सत्रह प्रकार का संयम जानना चाहिए ॥४१७॥

आचारवृत्ति—चक्षु के द्वारा अथवा पिच्छिका से द्रव्य का और द्रव्य स्थान का प्रतिलेखन नहीं करना अप्रतिलेख है। तथा शास्त्र आदि वस्तु को चक्षु से देखकर, उनका और उनके स्थानों का पिच्छी के द्वारा प्रतिलेखन करना प्रतिलेख संयम कहलाता है। इन शास्त्रादि द्रव्य का और उनके स्थानों का ठीक से प्रमार्जन नहीं करना अर्थात् जीव घात या मर्दन आदि करनेवाला प्रमार्जन करना दुष्प्रतिलेख है। किन्तु उसका संयम करना, ठीक से प्रमार्जन करना, यत्नपूर्वक प्रमाद के बिना प्रतिलेखन करना दुष्प्रतिलेख का संयम हो जाता है। उपकरण आदि को किसी जगह स्थापित करके पुनः कालान्तर में भी उन्हें नहीं देखना अथवा

लेखनं जीवप्रमादमंतरेण दुष्प्रतिलेखसंयमः। उपेक्षोपेक्षणं—उपकरणादिकं व्यवस्थाप्य पुनः कालान्तरेणाप्यदर्शनं जीवसम्मूर्छनादिकं दृष्ट्वा उपेक्षणं तस्या उपेक्षायाः संयमनं दिनं प्रति निरीक्षणमुपेक्षासंयमः। अवहट्टु—अपहरणमपनयनं 'पंचेन्द्रियद्वीन्द्रियादीनामपनयनमुपकरणेभ्योऽन्यत्र संक्षेपणमुपवर्तनं तस्य संयम (मः) निराकरणं उदरकृम्यादिकस्य वा निराकरणमपहरणं संयमः। एवं चतुर्विधः संयमः। तथा मनसः संयमनं वचनस्य संयमनं कायस्य संयमनं मनोवचनकायसंयमस्त्रिप्रकारः। एवं पूर्वान् दशभेदानिमांश्च सप्तभेदान् गृहीत्वा, सप्तदशप्रकारः संयमः प्राणसंयमः। अस्य रक्षणेन यथोक्तमाचरितं भवति ॥४१७॥

तथेन्द्रियसंयमं प्रतिपादयन्नाह—

पंचरसपंचवण्णा दो गंधे[2] अट्ठ फास सत्त सरा।
मणसा चोद्दसजीवा इन्दियपाणा य संजमो णेओ ॥४१८॥*

पंच रसास्तिक्तकषायाम्लकटुकमधुरा रसनेन्द्रियविषयाः। पंचवर्णाः कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लाश्चक्षु-

---

उनमें संमूर्च्छन आदि जीवों को देखकर उपेक्षा कर देना यह सब उपेक्षा नाम का असंयम है। किन्तु इस उपेक्षा का संयम करके प्रतिदिन उन वस्तुओं का निरीक्षण करना, पिच्छिका से उनका परिमार्जन करना उपेक्षा संयम है। अपहरण करना अर्थात् उपकरणों से द्वीन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि जीवों को दूर करना, उन्हें निकालकर अन्यत्र क्षेपण करना अर्थात् उनकी रक्षा का ध्यान नहीं रखकर, उन्हें कहीं भी डाल देना यह अपहरण नाम का असंयम है। किन्तु ऐसा न करके उन्हें सुरक्षित स्थान पर डालना यह संयम है। अथवा उदर के कृमि आदि का निराकरण करना अपहरण संयम है। इस तरह यह चार प्रकार का संयम हो जाता है।

तथा—मन को संयमित करना, वचन को संयमित करना और काय को संयमित करना यह तीन प्रकार का संयम है।

इस तरह पूर्व के दश भेदों को और इन सात भेदों को मिलाने से सत्रह प्रकार का प्राण संयम हो जाता है। इनके रक्षण से आगमोक्त आचरण होता है।

भावार्थ—अप्रतिलेख संयम, दुष्प्रतिलेख संयम, उपेक्षा संयम, अपहरण संयम, मनःसंयम, वचन संयम और काय संयम ये सात संयम हैं।

अब इन्द्रिय संयम का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, और मन का विषय तथा चौदह जीव समास ये इन्द्रिय संयम और प्राण संयम हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥४१८॥

आचारवृत्ति—तिक्त, कषाय, अम्ल, कटुक और मधुर ये पाँच रस हैं, चूंकि ये रसना इन्द्रिय के विषय हैं। कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल ये पाँच वर्ण हैं ये चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं ये घ्राणेन्द्रिय के विषय हैं। स्निग्ध, रूक्ष, कर्कश, मृदु, शीत,

---

१ क एकेन्द्रिय'। २ क द 'गंधा

*निम्नलिखित चार गाथाएँ फलटन से प्रकाशित संस्करण में अधिक हैं—

मियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

रिन्द्रियविषयाः। द्वौ गंधौ सुगंधदुर्गंधौ घ्राणेंद्रियविषयौ। अष्टौ स्पर्शाः स्निग्धरूक्षकर्कशमृदुशीतोष्णलघुगुरुकाः स्पर्शनेन्द्रियविषयाः। सप्तस्वराः षड्गर्षभगान्धारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः श्रोत्रेन्द्रियविषयाः। एतेषां मनसा सहाष्टाविंशतिभेदभिन्नानां संयमनमात्मविषयनिरोधनं संयमः। मनसो नोइंद्रियस्य संयमः। तथा चतुर्दशजीवसमासानां रक्षणं प्राणसंयमः। एवमिन्द्रियसंयमः प्राणसंयमश्च ज्ञातव्यो यथोक्तमनुष्ठेय इति ॥४१८॥

पंचाचारमुपसंहरन्नाह—

दंसणणाणचरित्ते तव विरियाचारणिग्गहसमत्थो।
अत्ताणं जो समणो गच्छदि सिद्धिं धुवकिलेसो ॥४१९॥

उष्ण, लघु और गुरु ये आठ स्पर्श हैं; ये स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर हैं; ये कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। और मन, इस तरह पाँच इन्द्रियों के ये अट्ठाईस विषय होते हैं। इनका संयमन करना अर्थात् अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों का रोकना यह इन्द्रियसंयम है।

तथा चौदह प्रकार के जीवसमासों का रक्षण करना प्राण संयम है। इस तरह—इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम को जानना चाहिए तथा आगम के अनुरूप उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

अब पंचाचार का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण अपनी आत्मा को दर्शन ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों से निग्रह करने में समर्थ है वह क्लेश रहित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥४१९॥

—जीव मरे या न मरे, अयत्नाचारी के निश्चित ही हिंसा होती है तथा समिति से युक्त सावधान मुनि के हिंसामात्र से बन्ध नहीं होता है।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकालं हिंसा सांतत्तिया त्ति मता ॥

—जिस साधु की सोना, बैठना, चलना, भोजन करना इत्यादि कार्यों में होने वाली प्रवृत्ति यदि प्रमाद सहित है तो उस साधु को हिंसा का पाप सतत लगेगा।

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु बंधगोत्ति मदो।
चरदि यदं यदि णिच्चं कमलं व जलं णिरुवलेओ ॥

—प्रमाद युक्त मुनि षड्काय जीवों का वध करने वाला होने से नित्य बंधक है और जो मुनि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह जल में रहकर भी जल से निर्लेप कमल की तरह कर्मलेप से रहित होता है।

असिअसणिपरुसवणवहवग्घगहकिण्णसप्पसरिसस्स।
मा देहि ठाणवासं दुग्गविमग्गं च रोचिस्स ॥

—तलवार, बिजली, तीव्र वनाग्नि, व्याघ्र, ग्रह, काला सर्प इत्यादि के समान जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह दुर्गति मार्ग को ही प्रिय समझता है। उसे हे साधो! स्थान और निवास नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह तलवार आदि के समान आत्मा को नष्ट करने वाला है।

एवं दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याचारैरात्मानं निग्रहयितुं नियंत्रयितुं यः समर्थः श्रमणः साधुः स गच्छति सिद्धिं धुतकलुषो विधूताष्टकर्मा। एवं पंचाचारो व्याख्यातः ॥४१९॥

इति वसुनन्दिविरचितायामाचारवृत्तौ पंचाचारविवर्णनं नाम
पंचमः प्रस्तावः समाप्तः ॥५॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार के द्वारा जो साधु अपनी आत्मा को नियंत्रित करने के लिए समर्थ है वह अष्टकर्मों को नष्ट करके सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह पांच आचारों का व्याख्यान किया गया है।

इस प्रकार श्री वट्टकेर आचार्य कृत मूलाचार की
श्री वसुनंदि आचार्य कृत आचारवृत्ति नामक टीका में पंचाचार का
वर्णन करने वाला पाँचवाँ प्रस्ताव समाप्त हुआ।

६. अथ पिण्डशुद्धि-अधिकारः

पिंडशुद्धयाख्यं पष्ठमाचारं विधातुकामस्तावन्नमस्कारमाह—

तिरदणपुरुगुणसहिदे अरहंते विदिदसयलसब्भावे।
पणमिय सिरिसा वोच्छं समासदो पिण्डसुद्धी दु ॥४२०॥

त्रिरत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तानि च तानि **पुरुगुणाश्च** ते महागुणाश्च ते त्रिरत्नपुरुगुणाः। अथवा **त्रिरत्नानि** सम्यक्त्वादीनि **पुरुगुणा** अनन्तसुखादयस्तैः सहितास्तान्। **अरहंते** अर्हतः सर्वज्ञान् विदितसकलसद्भावान् विदितो विज्ञातः सकलः समस्तः सद्भावः स्वरूपं यैस्तान् परिज्ञातसर्वपदार्थस्वरूपान् प्रणम्य शिरसा, वक्ष्ये समासतः पिण्डशुद्धिमाहारशुद्धिमिति ॥४२०॥

यथाप्रतिज्ञं निर्वहन्नाह—

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु ॥४२१॥

उद्गच्छत्युत्पद्यते यैरभिप्रायैर्दातृपात्रगतैराहारादिस्ते उद्गमोत्पादनदोषाः आहारार्थानुष्ठानविशेषाः।

पिंडशुद्धि नामक छठे आचार को कहने के इच्छुक आचार्य सबसे प्रथम नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—तीन रत्नरूपी श्रेष्ठ गुणों से सहित सकल पदार्थों के सद्भाव को जानने वाले अर्हन्त परमेष्ठी को शिर झुकाकर नमस्कार करके संक्षेप से पिंडशुद्धि को कहूँगा। ॥४२०॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन रत्न हैं और ये ही पुरुगुण अर्थात् महागुण कहलाते हैं। अथवा सम्यक्त्व आदि तीन रत्न हैं, और अनन्त सुख आदि पुरु—महान् गुण हैं। जो इन तीन रत्न और पुरुगुण से सहित हैं, जिन्होंने समस्त पदार्थों के सद्भाव—स्वरूप को जान लिया है, ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी को शिर झुकाकर प्रणाम करके मैं संक्षेप से पिंड-शुद्धि—आहार शुद्धि अधिकार को कहूँगा।

अपनी की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इस तरह पिंडशुद्धि आठ प्रकार की है ॥४२१॥

आचारवृत्ति—दाता में होनेवाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उद्गच्छति—

अश्यते भुज्यते येभ्यः पारिवेषकेभ्यस्तेषामशुद्धयोऽशनदोषाः। संयोज्यते संयोजनमात्रं वा संयोजनदोषः। प्रमाणातिरेकः प्रमाणदोषः। अङ्गारमिवाङ्गारदोषः। धूम इव धूमदोषः। कारणनिमित्तं कारणदोषः। एवं एतैरष्टभिर्दोषैः रहिताष्टप्रकारा पिण्डशुद्धिरिति संग्रहसूत्रमेतत् ॥४२१॥

उद्गमदोषाणां नामनिर्देशायाह—

आधाकम्मुद्देसिय अज्भोवज्भेय पूदिमिस्से य।
ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे य कीदे य ॥४२२॥
पामिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्ण[1] मालआरोहे।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे ॥४२३॥

गृहस्थाश्रितं पंचसूनासमेतं तावत्सामान्यभूतमष्टविधपिण्डशुद्धि बाह्यं महादोषरूपमधःकर्म कथ्यते। **आधाकम्म**—अधःकर्म निकृष्टव्यापारः षड्जीवनिकायवधकरः। उद्दिश्यते इत्युद्देशः उद्देशे भव औद्देशिकः। **अज्भोवज्भेय** *अध्यधिसंयतं दृष्ट्वा पाकारम्भः।* **पूदि**—*पूतिरप्रासुकप्रासुकमिश्रणं सहेतुकं।*

उत्पन्न होता है—वह उद्गम दोष है और पात्र में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होता है या कराया जाता है वह उत्पादन दोष है। जिन पारिवेशक—परोसने वालों से भोजन किया जाता है उनकी अशुद्धियाँ अशनदोष कहलाती हैं। जो मिलाया जाता है अथवा किसी वस्तु का मिलाना मात्र ही संयोजना दोष है। प्रमाण का उल्लंघन करना प्रमाणदोष है। जो अंगारों के समान है वह अंगार दोष है, जो धूम के समान है वह धूमदोष है और जो कारण—निमित्त से होता है वह कारणदोष है। इस प्रकार इन आठ दोषों से रहित आठ प्रकार की पिंडशुद्धि होती है। इस तरह यह संग्रहसूत्र है। अर्थात् इस गाथा में संपूर्ण शुद्धियों का संग्रह हो जाता है।

उद्गम दोषों के नाम निर्देश हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—अधःकर्म महादोष है। औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्रावर्तित, प्रादुष्कार, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्तक, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोह, अच्छेद्य और अनिसृष्ट ये सोलह उद्गम दोष हैं ॥४२२-२३॥

आचारवृत्ति—अधःकर्म नाम का एक दोष इन सभी दोषों से पृथक् ही है। जो यह सामान्य रूप आठ प्रकार की पिंडशुद्धि कही गई है, इनसे बाह्य महादोषरूप अधःकर्म कहा गया है, जो कि पाँच सूना से सहित है और गृहस्थ के आश्रित है अर्थात् गृहस्थों के द्वारा ही करने योग्य है। यह अधःकर्म छह जीवनिकायों का वध करनेवाला होने से निकृष्ट व्यापार रूप है।

जो उद्देश करके—निमित्त करके किया जाता है अथवा जो उद्देश से हुआ है वह औद्देशिक दोष है। संयत को आते देखकर भोजन पकाना प्रारम्भ करना अर्थात् संयत को देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना अध्यधि दोष है। अप्रासुक और प्रासुक

---

1. क °मुब्भिणमालमारोहे।

मिस्सेय—मिश्रश्चासंयतमिश्रणं । **ठविदे**—स्थापितं स्वगृहेऽन्यगृहे वा । **बलि**निवेद्यं देवार्चना वा । **पाहुडियं**—प्रावर्तितं कालस्य हानिवृद्धिरूपं । **पादुक्कारेय**—प्राविष्करणं मण्डपादेः प्रकाशनं । **कीदेय**—क्रीतं वाणिज्यरूपमिति ॥४२२॥ तथा—

पामिच्छे—प्रामृष्यं सूक्ष्मर्णमुद्धारकं । **परियट्टे**—परिवर्तकं दत्वा ग्रहणं । **अभिहड**—अभिघटो देशान्तरादागतः । **उब्भिण्णं**—उद्भिन्नं बन्धनापनयनं । **मालारोहे**—मालारोहणं गृहोर्ध्वमाक्रमणं । **अच्छिज्जे**—अच्छेद्यं त्रासहेतुः । **अणिसट्ठे**—अनीशार्थेऽप्रधानदाता । उद्गमदोषाः षोडशेमे ज्ञातव्याः ॥४२३॥

गृहस्थाश्रितस्याधःकर्मणः स्वरूपं विवृण्वन्नाह—

छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं ।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥४२४॥

षड्जीवनिकायानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकानां विराधनं दुःखोत्पादनं । **उद्दावणं**—

वस्तु का सहेतुक मिश्रण करना यह पूतिदोष है। असंयतों से मिश्रण करके—साथ में भोजन कराना मिश्रदोष है। भोजन पकाने वाले पात्र से निकालकर अपने घर में अथवा अन्य के घर में रख देना स्थापित दोष है। नैवेद्य या देवार्चना के भोजन को आहार में देना बलिदोष है। काल की हानि या वृद्धि करके आहार देना प्रावर्तित दोष है। मंडप आदि का प्रकाशन करना प्रादुष्करण दोष है। खरीदकर लाकर देना क्रीत दोष है।

सूक्ष्म ऋण—कर्जा लेकर अथवा उधार लाकर आहार देना प्रामृष्य दोष है। कोई वस्तु बदले में लाकर आहार में देना परिवर्तक दोष है। अन्य देश से लाया हुआ भोजन देना अभिघट दोष है। सीढ़ी से—निसैनी से गृह के ऊपरी भाग में चढ़कर लाकर कुछ देना मालारोहण दोष है। त्रासहेतु—डर से आहार देना अच्छेद्य दोष है। अनीशार्थ—अप्रधान दाता के द्वारा दिये हुए भोजन को लेना अनीशार्थ दोष है। ये सोलह उद्गम दोष जानने चाहिए।

भावार्थ—ये उद्गम आदि सोलह दोष श्रावक के निमित्त से साधु को लगते हैं। जैसे श्रावक ने उनके उद्देश्य से आहार बनाया या उनको आते देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला दिया इत्यादि यह सब कार्य यदि श्रावक करता है और मुनि वह आहार जानने के बाद भी, ले लेते हैं तो उनके ये औद्देशिक, अध्यधि आदि दोष हो जाते हैं। इसमें प्रारम्भ में जो अधःकर्म दोष बतलाया है वह इन सभी—छयालीस दोषों से से अलग एक महादोष माना गया है। इन सभी दोषों के लक्षण स्वयं ग्रन्थकार आगे गाथाओं द्वारा कहते हैं।

गृहस्थ के आश्रित होनेवाले अधःकर्म का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—छह जीव-निकायों की विराधना और मारण आदि से बनाया हुआ अपने निमित्त स्व या पर से किया गया जो आहार है वह अधःकर्म दोष से दूषित है ऐसा जानना चाहिए ॥४२४॥

आचारवृत्ति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की विराधना से—उनको दुःख उत्पन्न करके या उनका उद्दावन—मारण करके, घात करके

उद्द्रवनं मारणं। विराधनोद्द्रवनाभ्यां निष्पन्नं संजातं विराधनोद्द्रवननिष्पन्नं यदाहारादिकं वस्तु तदधःकर्म ज्ञातव्यं। स्वकृतं परकृतानुमतं कारितमात्मनः संप्राप्तः। आत्मनः समुपस्थितं। विराधनोद्द्रवने अधःकर्मणी पापक्रिये ताभ्यां यन्निष्पन्नं तदप्यधःकर्मेत्युच्यते। कार्ये कारणोपचारात्। स्वेनात्मना कृतं परेण कारितं वा परेण वा कृतं, आत्मनानुमतं। विराधनोद्द्रवननिष्पन्नमात्मने संप्राप्तं यद्वैयावृत्यादिविरहितं तदधःकर्म दूरतः संयतेन परिहरणीयं गार्हस्थ्यमेतत्। वैयावृत्यादिविमुक्तमात्मभोजननिमित्तं पचनं षड्जीवनिकायवधकरं न कर्तव्यं न कारयितव्यमिति। एतत् षट्चत्वारिंशद्दोषबहिर्भूतं सर्वप्राणिसामान्यजातं गृहस्थानुष्ठेयं सर्वथा मुनिना वर्जनीयं। यद्येतत् कुर्यात्[1] श्रवणो गृहस्थः स्यात्। किमर्थमेतदुच्यत इति चेन्नैष दोषः, अन्येषु पाखण्डि-

जो आहार आदि उत्पन्न हुआ है; जो स्वयं अपने द्वारा बनाया गया है या पर से कराया गया है अथवा पर के द्वारा करने में अनुमोदना दी गयी है ऐसा जो अपने लिए भोजन बना हुआ है वह अधःकर्म कहलाता है। विराधना और उद्दावन ये अधःकर्म हैं, क्योंकि ये पापक्रिया रूप हैं। इनसे निष्पन्न हुआ भोजन भी अधःकर्म कहा जाता है। यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया गया है। जीवों को दुःख देकर या घात करके जो भोजन अपने लिए बनता है जिसमें अन्य साधुओं की वैयावृत्य आदि कारण नहीं हैं ऐसा अधःकर्म संयतों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए क्योंकि यह गृहस्थों का कार्य है। अर्थात् वैयावृत्य आदि से रहित, अपने भोजन के निमित्त षट्जीव निकाय का वध करनेवाला ऐसा पकाने का कार्य न स्वयं करना चाहिए और न अन्य से ही कराना चाहिए। यह छयालीस दोषों से बहिर्भूत दोष सभी प्राणियों में सामान्यरूप से पाया जाता है और गृहस्थों के द्वारा किया जाता है इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यदि कोई श्रमण इस दोष को करेगा तो वह गृहस्थ ही जैसा हो जावेगा।

प्रश्न—तो पुनः यह दोष किसलिए कहा गया है ?

उत्तर—ऐसा कहना कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य पाखंडी साधुओं में ये आरम्भकार्य देखे जाते हैं। जैसे उन लोगों के वह आरम्भ अनुष्ठेय—करने योग्य है, इसके विपरीत जैन साधुओं में उसका करना अयोग्य है। इसीलिए इसके करनेवाले गृहस्थ होते हैं। और फिर साधु तो अनगार हैं और निःसंग हैं इसलिए उन्हें अधःकर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। इस बात को बतलाने के लिए ही यह अधःकर्म दोष कहा गया है।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि जब यह षट्जीवनिकायों को बाधा देकर या घात करके आरम्भ द्वारा भोजन स्वतः बनाया जाता है अथवा अन्य किसी से कराया जाता है उसे आपने अधःकर्म कहा तो कोई भी दिगम्बर मुनि या आर्यिकाएँ यह दोष करेंगे ही नहीं और यदि करेंगे तो वे गृहस्थ ही हो जायेंगे। पुनः साधु के लिए यह दोष कहा ही क्यों है ? उसका उत्तर आचार्य ने दिया है कि अन्य पाखण्डी साधु नाना तरह के आरम्भ करते हैं। उनकी देखादेखी अगर कोई दिगम्बर साधु भी ऐसा करने लग जावें तो वे इस दोष के भागी हो जावेंगे। और ऐसा निषेध करने से ही तो नहीं करते हैं ऐसा समझना।

दूसरी बात यह है कि यदि साधु अन्य साधुओं की वैयावृत्ति आदि के निमित्त औषधि

१ क कुर्यान्न

स्वभ्यासकर्मणो दर्शनाद्यथा[१] तेषां तदनुष्ठेयं तथा साधूनां तदनुष्ठानमयोग्यं तेन गृहस्थाः। साधवः पुनरनागार निसंगा यतो अतो नानुष्ठेयमधःकर्मेति ज्ञापनार्थमेतदिति ॥४२४॥

उद्गमदोषाणां स्वरूपं प्रतिपादयन् विस्तरसूत्राण्याह—

देवदपासंडट्ठं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं।
कदमण्णसमुद्देसं चदुव्विहं वा समासेण ॥४२५॥

अधःकर्मणः [पश्चात्] औद्देशिकं सूक्ष्मदोषमपि परिहर्तुकामः प्राह—देवता नागयक्षादयः, पाषण्डा जैनदर्शनबहिर्भूतानुष्ठाना लिंगिनः कृपणका दीनजनाः। देवतार्थं पाखण्डार्थं कृपणार्थं चोद्दिश्य यत्कृतमन्नं तन्निमित्तं निष्पन्नं भोजनं तदौद्देशिकं अथवा चतुर्विधं सम्यगौद्देशिकं समासेन जानीहि वक्ष्यमाणेन न्यायेन ॥४२५॥

या आहार बनाने के लिए कदाचित् श्रावक से कह भी देता है अर्थात् आहार बनवाता भी है तो भी वह अधःकर्म दोष का भागी नहीं होता है। क्योंकि यहाँ पर वैयावृत्ति से अतिरिक्त यदि मुनि स्वयं के आहार हेतु आरम्भ करता या कराता तो अधःकर्म है ऐसा स्पष्ट किया है। 'भगवती आराधना' में समाधि में स्थित साधुओं की परिचर्या में अड़तालीस साधुओं की व्यवस्था बतलाई गयी है। इनमें चार मुनि क्षपक के लिए उद्गमादि दोष रहित भोजन के लिए, तथा चार मुनि उद्गमादि दोष रहित पान के लिए नियुक्त होते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जब तक क्षपक का शरीर आहार-ग्रहण के योग्य है, पान-ग्रहण के योग्य है किन्तु अतीव कृश हो चुका है, तब तक उनके भोजन-पान की व्यवस्था भिक्षा में सहायक ये चार-चार मुनि करते हैं। वह उनकी वैयावृत्य है और वैयावृत्य में श्रावक के यहाँ ऐसी व्यवस्था कराने में भाग लेने वाले साधु वैयावृत्य कारक होने से दोष के भागी नहीं है। हाँ, यदि वे अपने लिए कृत-कारित-अनुमोदना से कोई व्यवस्था श्रावक के माध्यम से बनावें तो वह अधःकर्म दोष का भागी है कि सर्वथा त्याज्य है। विशेष जिज्ञासु 'भगवती आराधना' (गाथा ६५ से ९२) का अवलोकन करें।

अब उद्गम दोषों के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए विस्तार से कहते हैं—

गाथार्थ—देवता के और पाखण्डी के लिए या दोनों के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है वह औद्देशिक है अथवा संक्षेप से चार प्रकार का समुद्देश होता है ॥४२५॥

आचारवृत्ति—अब अधःकर्म के पश्चात् औद्देशिक दोष को कहते हैं। यद्यपि यह सूक्ष्मदोष है तो भी इसके परिहार करने की इच्छा से आचार्य कहते हैं—नागयक्ष आदि को देवता कहते हैं। जैन दर्शन से बहिर्भूत अनुष्ठान करनेवाले जो अन्य भेषधारी लिंगी हैं वे पाखण्डी कहलाते हैं। दीनजनों को—दुःखी अंधे-लंगड़े आदि को कृपण कहते हैं। इन देवताओं के लिए, पाखण्डियों के लिए, और कृपणों को उद्देश्य करके अर्थात् इनके निमित्त से बनाया गया जो भोजन है वह औद्देशिक है। अथवा आगे कहे गये न्याय से संक्षेप से समीचीन औद्देशिक चार प्रकार का होता है।

---

२. क यथास्तैस्तदनु[०]।

तमेव चतुर्विधं प्रतिपादयन्नाह—

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥४२६॥

यावान् कश्चिदागच्छति तस्मै सर्वस्मै दास्यामीत्युद्दिश्य यत्कृतमन्नं स यावानुद्देश इत्युच्यते। ये केचन पाखण्डिन आगच्छन्ति भोजनाय तेभ्यः सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं स पाखण्डिन इति च भवेत्समुद्देशः। ये केचन श्रवणा आजीवकतापसरक्तपटपरिव्राजकाश्छात्रा वागच्छन्ति भोजनाय तेभ्यः सर्वेभ्योऽहमाहारं दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं स श्रवण इति कृत्वादेशो भवेत्। ये केचन निर्ग्रन्थाः साधव आगच्छन्ति तेभ्यः सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं निर्ग्रन्था इति च भवेत्समादेशः। सामान्यमुद्दिश्य पाषण्डानुद्दिश्य श्रवणानुद्दिश्य निर्ग्रन्थानुद्दिश्य यत्कृतमन्नं तच्चतुर्विधमौद्देशिकं भवेदन्नमिति। उद्देशेन निर्वर्तितमौद्देशिकमिति ॥४२६॥

अभ्यधिदोषस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

उन्हीं चार भेदों को प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—हर किसी को उद्देश्य करके बनाया गया अन्न उद्देश है, पाखण्डियों को निमित्त करके समुद्देश है, श्रमण को निमित्त करके आदेश और निर्ग्रन्थ को निमित्त कर समादेश होता है ॥४२६॥

आचारवृत्ति—जो कोई भी आयेगा उन सभी को मैं दे दूंगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया जो अन्न है वह उद्देश कहलाता है। जो भी पाखण्डी लोग आयेंगे उन सभी को मैं भोजन कराऊँगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया भोजन समुद्देश कहलाता है। जो कोई श्रवण अर्थात् आजीवक तापसी, रक्तपट-बौद्ध साधु परिव्राजक या छात्र जन आयेंगे उन सभी को मैं आहार देऊँगा इस प्रकार से श्रमण के निमित्त बनाया हुआ अन्न आदेश कहलाता है। जो कोई भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु आयेंगे उन सभी को मैं देऊँगा ऐसा मुनियों को उद्देश्य कर बनाया गया आहार समादेश कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य को उद्देश्य करके, पाखण्डियों को उद्देश्य करके, श्रवणों को निमित्त करके और निर्ग्रन्थों को निमित्त करके बनाया गया जो भोजन है वह चार प्रकार का औद्देशिक अन्न है। चूंकि उद्देश से बनाया गया है इसलिए यह औद्देशिक कहलाता है।

भावार्थ—ऐसे औद्देशिक अन्न को जानकर भी जो मुनि ले लेते हैं वे इस दोष से दूषित होते हैं। यदि वे मुनि कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय इन तीनों से गुणित (३ × ३ = ९) नव कोटि से रहित रहते हैं तो उन्हें यह दोष नहीं लगता है। श्रावक अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करते हुए सामान्यतया शुद्ध भोजन बनाता है और मुनियों को पड़गाहन करके आहार देता है। तथा साधु भी अपने आहार हेतु कृत-कारित आदि नवभेदों को न करते हुए आहार लेते हैं वही निर्दोष आहार है।

अभ्यधि दोष का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

जलतंदुलपक्खेवो दाणट्ठं संजदाण 'सयपयणे।
अज्झोवज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा ॥४२७॥

जलतंदुलानां प्रक्षेपः दानार्थं, संयतं' दृष्ट्वा स्वकीयपचने संयतानां दानार्थं स्वस्य निमित्तं यज्जलं पिठरे निक्षिप्तं तंदुलाश्च स्वस्य निमित्तं ये स्थापितास्तस्मिन् जलेऽन्यस्य जलस्य प्रक्षेपः तेषु च तंदुलेष्वन्येषां तंदुलानां प्रक्षेपणं यदेवंविधं तदध्यधि दोषरूपं ज्ञेयं। अथवा पाको यावता कालेन निष्पद्यते तस्य कालस्य रोधस्तावन्तं कालमासीन उदीक्षत एतदध्यधि दोषजातमिति ॥४२७॥

पूतिदोषस्वरूपं निगदन्नाह—

अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ॥४२८॥

प्रासुकमप्यप्रासुकेन सचित्तादिना मिश्रं यदाहारादिकं स पूतिदोषः। प्रासुकद्रव्यं तु पूतिकर्म यत्तदपि पूतिकर्म, पंचप्रकारं चुल्ली रन्धनी। उक्खलि उदूखलः। दव्वी—दर्वी। भायण—भाजनं। गन्धत्ति—गन्ध-

---

गाथार्थ—मुनियों के दान के लिए अपने पकते हुए भोजन में जल या चावल का और मिला देना यह अध्यधि दोष है। अथवा भोजन बनने तक रोक लेना यह भी अध्यधि दोष है ॥४२७॥

आचारवृत्ति—अपने निमित्त बटलोई आदि पात्र में जो जल चढ़ाया है या अपने निमित्त जो चावल चूल्हे पर चढ़ाये हैं, संयतों को आते हुए देखकर उनके दान के लिए उस जल में और अधिक जल डाल देना या चावल में और अधिक चावल मिला देना यह अध्यधि नाम का दोष है। अथवा जब तक भोजन तैयार होता है तब तक उन्हें रोक लेना, तब तक वे मुनि बैठे हुए प्रतीक्षा करते रहें अर्थात् किसी हेतु से उन्हें रोके रखना यह भी अध्यधि दोष है।

पूतिदोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रासुक द्रव्य से मिश्र हुआ प्रासुकद्रव्य भी पूतिकर्म दोष से दूषित हो जाता है। यह चूल्हा, ओखली, कलछी या चम्मच, बर्तन और गन्ध के निमित्त ये पाँच प्रकार का है ॥४२८॥

आचारवृत्ति—प्रासुक भी आहार आदि यदि अप्रासुक-सचित्त आदि से मिश्रित हैं तो वे पूतिदोष से दूषित हो जाते हैं। इस पूतिकर्म के पाँच प्रकार हैं। चूल्हा, ओखली, कलछी, बर्तन और गन्ध। इस नये चूल्हे या सिगड़ी आदि में भात आदि बनाकर पहले मुनियों को दूंगा पश्चात् अन्य किसी को दूंगा इस प्रकार प्रासुक भी भात आदि द्रव्य पूतिकर्म अप्रासुक रूप भाव से बनाया हुआ होने से पूति कहलाता है। ऐसे ही, इस नयी ओखली में कोई चीज चूर्ण करके जब तक मुनियों को नहीं दूंगा तब तक अन्य किसी को नहीं दूंगा और न मैं ही अपने प्रयोग में लूंगा इस प्रकार से बनाई हुई वह प्रासुक भी वस्तु अप्रासुक हो जाती है। इसी तरह इस कलछी या चम्मच से जब तक यतिओं को नहीं दे दूंगा तब तक अपने या अन्य के प्रयोग में नहीं

---

१ क संपयणे। २ क संयतान्।

इति। अनेन प्रकारेण रन्धन्युदूखलदर्वीभाजनगन्धभेदेन पंचविधं। रन्धनीं कृत्वैव महानस्यां रन्धन्यामोदनादिकं निष्पाद्य साधुभ्यस्तावद्दास्यामि पश्चादन्येभ्य इति प्रासुकमपि द्रव्यं पूतिकर्मणा निष्पन्नमिति पूतीत्युच्यते। तथोदूखलं कृत्वैवमस्मिन्नुदूखले चूर्णयित्वा यावदृषिभ्यो न दास्यामि तावदात्मनोऽन्येभ्यश्च न ददामीति निष्पन्नं प्रासुकमपि तत् तथाऽनया दर्व्या यावद्यतिभ्यो न दास्यामि तावदात्मनोऽन्येषां न तद्योग्यमेतदपि पूति। तथा भाजनमप्येतद्यावदृषिभ्यो न ददामि तावदात्मनोऽन्येषां च न तद्योग्यमिति पूति। तथायं गन्धो यावदृषिभ्यो न दीयते भोजनपूर्वकस्तावदात्मनोऽन्येषां च न कल्पते इत्येवं हेतुना निष्पन्नमोदनादिकं पूतिकर्म। तत्पंचप्रकारं दोषजातं प्रथममारम्भकरणादिति ॥४२८॥

मिश्रदोषस्वरूपं निरूपयन्नाह—

पासंडेहि य सद्धं सागारेहि य जदण्णमुद्दिसियं।
दादुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि ॥४२९॥

प्रासुकं सिद्धं निष्पन्नमपि यदन्नमोदनादिकं पाषण्डैः सार्धं सागारैः सह गृहस्थैश्च सह संयतेभ्यो दातुमुद्दिष्टं तं मिश्रदोषं विजानीहि। स्पर्शनादिनानादरादिदोषदर्शनादिति ॥४२९॥

स्थापितदोषस्वरूपमाह—

पागादु भायणाओ अण्णह्मि य भायणह्मि पक्खविय।
सघरे व परघरे वा णिहिदं ठविदं वियाणाहि ॥४३०॥

लूंगा यह भी पूति है। तथा वर्तनों में भी इस नये वर्तन से जब तक ऋषियों को न दूंगा तब तक अपने या अन्यों के लिए नहीं लूंगा। इसी तरह कोई सुगन्धित वस्तु है उस विषय में भी ऐसा सोचना कि जब तक यह सुगन्ध वस्तु मुनियों को आहार में नहीं दे दूंगा तब तक अपने या अन्य के प्रयोग में नहीं लूंगा। इन पाँच हेतुओं से बने हुए भात आदि भोज्य पदार्थ पूतिकर्म कहलाते हैं। यदि मुनि ऐसे भोजन को ग्रहण कर लेते हैं तो उन्हें पूतिदोष लगता है। क्योंकि इन पाँचों प्रकारों में प्रथम आरम्भ दोष किया जाता है अतः दोष है।

मिश्र दोष का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—पाखण्डियों और गृहस्थों के साथ संयत मुनियों को जो सिद्ध हुआ अन्न दिया जाता है उसे मिश्र जानो ॥४२९॥

आचारवृत्ति—जो ओदन आदि अन्न प्रासुक भी बना हुआ है किन्तु यदि दाता पाखण्डी साधुओं के साथ या गृहस्थों के साथ मुनियों को देता है तो उसे मिश्र दोष जानो। ऐसा इसलिए कि उनके साथ आहार देने से उनका स्पर्श आदि हो जाने से आहार अशुद्ध हो जावेगा तथा संयमी मुनियों को और उनको साथ देने से उनका अनादर भी होगा इत्यादि दोष होने से ही यह दोष माना गया है।

स्थापित दोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पकानेवाले वर्तन से अन्य वर्तन में निकालकर, अपने घर में या अन्य के घर में रखना यह स्थापित दोष है ऐसा जानो ॥४३०॥

पाकाद्भाजनात् पाकनिमित्तं यद्भाजनं यस्मिन् भाजने पाको व्यवस्थितस्तस्माद्भाजनात् पिठरा-दोदनादिकमन्यस्मिन् भाजने पात्र्यादौ प्रक्षिप्य व्यवस्थाप्य स्वगृहे परगृहे वानीत्वा निहितं स्थापितं यत् स्थापित-मितिदोषं जानीहि। सभयेन दात्रा दीयमानत्वाद्विरोधादिदोषदर्शनाद्वेति ॥४३०॥

बलिदोषस्वरूपं निरूपयन्नाह—

जक्खयणागादीणं बलिसेसं[1] स बलित्ति पण्णत्तं।
संजदआगमणट्ठं बलियकम्मं वा बलिं जाणे ॥४३१॥

यक्षनागादीनां निमित्तं यो बलिस्तस्य बलि (लेः) शेषः स बलिशेषो बलिरिति प्रज्ञप्तः। सर्वत्र कारणे कार्योपचारात्। संयतानामागमनार्थं वा बलिकर्म तं बलिं विजानीहि। संयतान् धृत्वार्चनादिकमुदक-

आचारवृत्ति—जिस वर्तन में भात आदि आहार बनाया है उस वर्तन से अन्य वर्तन में रखकर अपने घर में (रसोईघर से अन्यत्र) अथवा पर के घर में ले जाकर रख देना यह स्थापित दोष है। अर्थात् जो दाता उसे उठाकर देगा वह उस रखनेवाले से डरते हुए देगा अथवा कदाचित् जिसने अन्यत्र रखा था वह विरोध भी कर सकता है इत्यादि दोष होने से ही यह दोष माना गया है।

बलि दोष का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—यक्ष, नाग आदि के लिए नैवद्य में जो शेष बचा वह बलि कहा गया है। अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म करना बलिदोष जानो ॥४३१॥

आचारवृत्ति—यक्ष, मणिभद्र आदि अथवा नाग आदि देवों के निमित्त जो नैवेद्य बनाया है उसे बलि संज्ञा है। उसमें से कुछ शेष बचे हुए को भी बलि कहते हैं। यहाँ सर्वत्र कारण में कार्य का उपचार किया गया है। ऐसा शेष बचा नैवेद्य यदि मुनि को आहार में दे देवें तो वह बलिदोष है। अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म करना अर्थात् 'यदि आज मेरे घर में मुनि आहार को आ जावेंगे तो मैं यक्ष को अमुक नैवेद्य चढ़ाऊँगा' इत्यादि रूप से संकल्प करना बलिकर्म है। ऐसा करके आहार देने से भी बलिनाम का दोष होता है।

संयतों का पड़गाहन करके अर्चन आदि करना, जल-क्षेपण करना, पत्रिकादि का खण्डन करना आदि, तथा यक्षादि की पूजा से बचा हुआ नैवेद्य आहार में देना यह सब बलिदोष है क्योंकि इसमें सावद्य दोष देखा जाता है।

भावार्थ—यहाँ पर संयतों को पड़गाहन करके अर्चन आदि करना, जल-क्षेपण करना आदि दोष बतलाया है तथा संयत का पड़गाहन कर नवधा-भक्ति में उच्चासन देना, तत्पश्चात् प्रक्षालन करना; जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य से पूजन करना आदि भी आवश्यक है। सो यहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिए कि संयतों के आने के बाद तत्काल सावद्य कार्य जैसे फूल तोड़ना, दीप जलाना आदि नहीं करना चाहिए। पहले से ही सब अष्टद्रव्य सामग्री तैयार रखनी चाहिए। क्योंकि पड़गाहन के बाद, उच्चासन पर बिठाकर,

१ क °सं तं ब°। २ क बलिः कृतस्त°।

क्षेपणं पत्रिकादिखण्डनं यत् यक्षादिबलिशेषएव यस्तं बलिदोषं विजानीहि सावद्य दोषदर्शनादिति ॥४३१॥

प्राभृतदोषस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

पाहुडिहं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केक्कं।
ओकस्सणमुक्कस्सण महकालोवट्टणावड्ढी ॥४३२॥

पहुडियं—प्रावर्तितं। पुण—पुनः। दुविहं—द्विविधं। बादरं—स्थूलं। सुहुमं—सूक्ष्मं। पुनरप्येकैकं द्विविधं। ओक्कस्सणं—अपकर्षणं। उक्कस्सणं—उत्कर्षणं। अथवा कालस्य हानिर्वृद्धिर्वा। अपकर्षणं कालहानिः। उत्कर्षणं कालवृद्धिरिति। स्थूलं प्राभृतं कालहानिवृद्धिभ्यां द्विप्रकारं तथा सूक्ष्मप्राभृतं तदपि द्विप्रकारं कालवृद्धिहानिभ्यामिति ॥४३२॥

बादरं च द्विविधं सूक्ष्मं च द्विविधं निरूपयन्नाह—

दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं।
पुव्वपरमज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च ॥४३३॥

परावृत्यशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, दिवसं परावृत्य, पक्षं परावृत्य, मासं परावृत्य, वर्षं परावृत्य यद्दानं दीयते तद्बादरं प्राभृतं द्विविधं भवति। शुक्लाष्टम्यां वा दास्यामीति स्थितं[1] उत्कृष्टा-(उत्कर्ष्या) ष्टम्यां

पाद-प्रक्षालनकरके पुनः अष्टद्रव्य से अर्चना करना नवधाभक्ति है। वर्तमान में भी यही विधि अपनायी जाती है।

प्राभृत दोष का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—प्राभृत के दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म। एक-एक के भी दो-दो भेद हैं—अपकर्षण और उत्कर्षण अथवा काल की हानि और वृद्धि करना ॥४३२॥

आचारवृत्ति—प्राभृत दोष के बादर और सूक्ष्म दो भेद हैं। उनमें भी बादर प्राभृत के काल की हानि और वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार हैं और सूक्ष्म के भी काल की हानि और वृद्धि से भी दो प्रकार हो जाते हैं।

दो प्रकार के बादर और दो प्रकार के सूक्ष्म दोषों का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—दिवस, पक्ष, महिना और वर्ष का परावर्तन करके आहार देने से बादर दोष दो प्रकार है। इसी प्रकार पूर्व, अपर तथा मध्य की वेला का परावर्तन करके देने से सूक्ष्म दोष दो प्रकार का होता है ॥४३३॥

आचारवृत्ति—'परावर्तन करके' यह शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित करना चाहिए। अर्थात् दिवस का परावर्तन करके, पक्ष का परावर्तन करके, मास का परावर्तन करके और वर्ष का परावर्तन करके जो आहार दान दिया जाता है वह बादर प्राभृत हानि और वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है। जैसे शुक्ल अष्टमी में देना था किन्तु उसको अपकर्षण करके—घटा करके शुक्लापंचमी के दिन जो दान दिया जाता है अथवा शुक्ला पंचमी को दूंगा

---

1 क [illegible] अपकृष्य उत्कृष्टाष्टम्यां।

ददात्येतद्दिवसं परावृत्य जातं प्राभृतं तथा चैत्रशुक्लपक्षे देयं यत्तच्चैत्रांधकारपक्षे ददाति। अन्धकारपक्षे वा देयं शुक्लपक्षे ददाति पक्षपरावृत्तिजातं प्राभृतं। तथा चैत्रमासे देयं फाल्गुने ददाति फाल्गुने देयं वा चैत्रे ददाति तन्मासपरिवृत्तिजातं प्राभृतं। तथा परुत्तने वर्षे देयं यत्तदधुनातने वर्षे ददाति। अधुनातने वर्षे यदिष्टं परुत्तने ददाति तद्वर्षपरावृत्तिजातं प्राभृतं। तथा सूक्ष्मं च प्रावर्तितं द्विविधं पूर्वाह्लवेलायामपराह्लवेलायां मध्याह्लवेलायामिति। अपराह्लवेलायां दातव्यमिति स्थितं प्रकरणं मंगलं संयतागमनादिकारणेनापकृष्य पूर्वाह्लवेलायां ददाति पूर्वाह्लवेलायां दातव्यमित्युत्कृष्यापराह्लवेलायां ददाति तथा मध्याह्ले दातव्यमिति स्थितं पूर्वाह्ले ऽपराह्ले वा ददाति एवं प्रावर्तितदोषं कालहानिवृद्धिपरिवृत्त्या बादरसूक्ष्मभेदभिन्नं जानीहि क्लेशबहुवि[1]घातारंभदोषदर्शनादिति ॥४३३॥

प्रादुष्कारदोषमाह—

पादुक्कारो दुविहो संकमण पयासणा य बोधव्वो।
भायणभोयणदीणं[2] मंडवविरलादियं कमसो ॥४३४॥

प्रादुष्कारो द्विविधो बोधव्यो ज्ञातव्यः। भाजनभोजनादीनां संक्रमणमेकः। तथा भाजनभोजनादीनां

ऐसा संकल्प किया था पुनः उसका उत्कर्षण करके—बढ़ा करके शुक्ला अष्टमी को देना आदि सो यह दिवस का परिवर्तन हुआ। वैसे ही चैत्र के शुक्ल पक्ष में देना था किन्तु चैत्र के कृष्णपक्ष में जो देता है अथवा कृष्ण पक्ष में देने योग्य को शुक्ल पक्ष में देता है सो यह पक्ष परिवर्तन दोष है। तथा चैत्र मास में देना था सो फाल्गुन में दे देता है अथवा जो फाल्गुन में देना था उसे चैत्र में देता है सो यह मास परिवर्तन नाम का दोष है। तथा गतवर्ष में देना था सो वर्तमान वर्ष में देता है और वर्तमान वर्ष में जो देना इष्ट था सो पूर्व के वर्ष में दे दिया जाना सो यह वर्ष परिवर्तन नाम का दोष है।

उसी प्रकार से सूक्ष्मप्राभृत भी दो प्रकार का है। अपराह्न वेला में देने योग्य ऐसा कोई मंगल प्रकरण था किन्तु संयत के आगमन आदि के कारण से उस काल का अपकर्षण करके पूर्वाह्न वेला में आहार दे देना, वैसे ही मध्याह्न में देना था किन्तु पूर्वाह्न अथवा अपराह्न में दे देना सो यह सूक्ष्मप्राभृत दोष काल की हानि-वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है।

इसे प्रावर्तित दोष भी कहते हैं। चूँकि इसमें काल की हानि और वृद्धि से परिवर्तन किया जाता है। इस तरह आहार देने में दातार को क्लेश, बहुविघात और बहुत आरम्भ आदि दोष देखे जाते हैं अतः यह दोष है।

प्रादुष्कार दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—संक्रमण और प्रकाशन ऐसे प्रादुष्कार दो प्रकार का जानना चाहिए, जो कि भाजन, भोजन आदि का और मण्डप का उद्योतन करना आदि है ॥४३४॥

आचारवृत्ति—प्रादुष्कार के दो भेद जानना चाहिए। बर्तन और भोजन आदि का संक्रमण करना यह एक भेद है, तथा बर्तन व भोजन आदि का प्रकाशन करना यह दूसरा भेद है। किसी भी बर्तन या भोजन आदि को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना यह तो

---

१ क °विधाता°। २ क °णमादी मं।

प्रकाशनं द्वितीयः। संक्रमणमन्यस्मात्प्रदेशादन्यत्र नयनं प्रकाशनं भाजनादीनां भस्मादिनोदकादिना वा निर्माजनं भाजनादेर्वा विस्तरणमिति। अथवा मण्डपस्य विरलनमुद्योतनं मण्डपादिविरलनं। आदिशब्देन कुड्यादिकस्य ज्वलनं प्रदीपद्योतनमिति संक्रमः सर्वः प्रादुष्कारो दोषोऽयं। ईर्यापथदोषदर्शनादिति ॥४३४॥

क्रीततरदोषमाह[1]—

कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सगपरं दुविहं।
सच्चित्तादी दव्वं विज्जामंतादि भावं च ॥४३५॥

क्रीततरं पुनर्द्विविधं द्रव्यं भावश्च। द्रव्यमपि द्विविधं स्वपरभेदेन स्वद्रव्यं परद्रव्यं स्वभावः परभावश्च। सचित्तादिकं गोमहिष्यादिकं द्रव्यं। विद्यामंत्रादिकं च भावः। संयते भिक्षायां प्रविष्टे स्वकीयं परकीयं वा सचित्तादिद्रव्यं दत्त्वाहारं प्रगृह्य ददाति तथा स्वमंत्रं वा स्वविद्यां परविद्यां वा दत्त्वाहारं[2] प्रगृह्य ददाति यत् स क्रीतदोषः कारुण्यदोषदर्शनादिति। प्रज्ञप्त्यादिर्विद्या। चेटकादिर्मन्त्र इति ॥४३५॥

ऋणदोषस्वरूपमाह—

संक्रमण कहलाता है, तथा बर्तनों को भस्म आदि से मांजना या जल आदि से धोना अथवा बर्तन आदि का विस्तरण करना—उन्हें फैलाकर रख देना यह प्रकाशन कहलाता है। अथवा मण्डप का उद्योतन करना अर्थात् मण्डप वगैरह खोल देना आदि शब्द से दीवाल वगैरह को उज्ज्वल करना अर्थात् लीप-पोत कर साफ करना, दीपक जलाना, यह सब प्रादुष्कार नाम का दोष है क्योंकि इन सभी कार्यों में ईर्यापथ दोष देखा जाता है अर्थात् इन सब कार्य हेतु उस समय चलने-फिरने से ईर्यापथ शुद्धि नहीं रह सकती है।

क्रीततर दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—क्रीततर दोष दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। वह द्रव्य भाव भी स्व और पर की अपेक्षा से दो-दो प्रकार का है। उसमें सचित्त आदि वस्तु द्रव्य हैं और विद्या-मन्त्र आदि भाव हैं ॥४३५॥

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा क्रीततर दोष दो प्रकार का है। स्वद्रव्य-परद्रव्य और स्वभाव तथा परभाव इस तरह द्रव्य और भाव के भी दो-दो भेद हो जाते हैं। गाय, भैंस आदि सचित्त वस्तुएँ द्रव्य हैं। विद्या, मन्त्र आदि भाव हैं। अर्थात् संयत मुनि आहार के लिए प्रवेश कर चुके हैं, उस समय अपने अथवा पराये सचित्त—गाय, भैंस आदि किसी को देकर और उससे आहार लाकर साधु को दे देना। उसी प्रकार से स्वमन्त्र या परमन्त्र को अथवा स्व-विद्या या पर-विद्या को किसी को देकर उसके बदले आहार लाकर दे देना यह क्रीत दोष है; क्योंकि इस कार्य में करुणाभाव आदि दोष देखे जाते हैं।

विद्या और मन्त्र में क्या अन्तर है? प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ हैं तथा चेटक आदि मन्त्र हैं।

ऋण दोष का स्वरूप कहते हैं—

---

१ क 'दोषस्वरूपमाह'। २ क 'हारादिकं प्रगृह्य।

डहरियरिणं तु भणियं पामिच्छं ओदणादिअण्णदरं ।
तं पुण दुविहं भणिदं सवड्ढियमवड्ढियं चावि ॥४३६॥

डहरियरिणं तु—लघुऋणं स्तोकर्णं भणितं। पामिच्छं—प्रामृष्यं ओदनादिकं भक्तं मण्डकादिमन्यतरत्। तत्पुनर्द्विविधं सवृद्धिकमवृद्धिकं चापि। भिक्षौ चर्यायां प्रविष्टे दातान्यदीयं गृहं गत्वा भक्त्या भक्तादिकं याचते वृद्धिं समिच्य वृद्धयाविना वा साधुहेतोः। तवौदनादिकं वृद्धिसहितमन्यथा दास्यामि मम भक्तं पानं खाद्यं मण्डकाश्च प्रयच्छ। एवं भणित्वा मण्डकादीन् गृहीत्वा संयतेभ्यो ददाति तदृणसहितं प्रामृष्यं दोष जानीहि। दातुः क्लेशायासकरणादिदर्शनादिति ॥४३६॥

परावर्तदोषमाह—

वीहीकूरादीहिं य सालीकूरादियं तु जं गहिदं ।
दातुमिति संजदाणं परियट्टं होदि णायव्वं ॥४३७॥

संयतेभ्यो दातुं व्रीहिकूरादिभिर्यच्छालिकूरादिकं संगृहीतं तत्परिवर्तं भवति ज्ञातव्यं। मदीयं

गाथार्थ—भात आदि कोई वस्तु कर्जरूप में दूसरे के यहाँ से लाकर देना लघुऋण कहलाता है। इसके दो भेद हैं—ब्याज सहित और ब्याज रहित ॥४३६॥

आचारवृत्ति—लघु ऋण अर्थात् स्तोक ऋण। ओदन आदि भोजन तथा मण्डक—रोटी आदि अन्य वस्तुओं को प्रामृष्य कहते हैं। इस ऋण दोष के वृद्धिसहित और वृद्धिरहित की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं। जब मुनि आहार के लिए आते हैं उस समय दाता श्रावक अन्य किसी के घर जाकर भक्ति से उससे भात आदि माँगता है और कहता है कि मैं आपको इससे अधिक भोजन दे दूँगा या इतना ही भोजन वापस दे दूँगा। अर्थात् इस समय मेरे घर पर साधु आये हुए हैं तुम मुझे भात, रोटी, पानक आदि चीजें दे दो, पुनः मैं तुम्हें इससे अधिक दे दूँगा या इतना ही लाकर दे दूँगा, ऐसा कहकर पुनः उसके यहाँ से लाकर यदि श्रावक मुनि को आहार देता है तो वह ऋण सहित प्रामृष्य दोष कहलाता है। इसमें दाता को क्लेश और परिश्रम आदि करना पड़ता है अतः यह दोष है।

भावार्थ—यदि दाता किसी से कुछ खाद्य पदार्थ उधार लाकर मुनियों को आहार देता है तो यह ऋण दोष है। उसमें भी उधार लाये हुए को पीछे ब्याज समेत देना या बिना ब्याज के उतना ही देना ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

परावर्त दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—संयतों को देने के लिए व्रीहि के भात आदि से शालि के भात आदि को ग्रहण करना इसे परिवर्त दोष जानना चाहिए ॥४३७॥

आचारवृत्ति—संयत मुनियों को देने के लिए जो व्रीहि जाति के धान के भात को देकर उससे शालिजाति के धान के भात आदि को लाना यह परिवर्त दोष है। जैसे, मेरे व्रीहि धान के भात को आप ले लो और मुझे शालि धान का भात दे दो, मैं साधुओं को दूँगा।

व्रीहिभक्तं गृहीत्वा मम शाल्योदनं प्रयच्छ साधुभ्योऽहं दास्यामीति मण्डकान्वा दत्वा व्रीहिभक्तादिकं गृह्णाति साधुनिमित्तं यत्तत्परिवर्तनं नाम दोषं जानीहि । दातुः क्लेशकारणादिति ॥४३७॥

अभिघटदोषस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

देसत्ति य सव्वत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि ।
आचिण्णमणाचिण्णं देसाविहडं हवे दुविहं ॥४३८॥

देश इति सर्व इति द्विविधं पुनरभिघटं विजानीहि । एकदेशादागतमोदनादिकं देशाभिघटं । सर्वस्मादागतमोदनादिकं सर्वाभिघटं । देशाभिघटं पुनर्द्विविधं । आचिन्नानाचिन्नभेदात् । आचिन्नं योग्यं । अनाचिन्नमयोग्यमिति ॥४३८॥

आचिन्नानाचिन्नस्वरूपमाह—

उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं ।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ॥४३९॥

ऋजुवृत्त्या पंक्तिस्वरूपेण यानि त्रीणि सप्त गृहाणि वा व्यवस्थितानि । तेभ्यस्त्रिभ्यः सप्तभ्यो वा गृहेभ्यो यदागतमोदनादिकं वाचिन्नं ग्रहणयोग्यं दोषाभावात् । परतस्त्रिभ्यः सप्तगृहेभ्य ऊर्ध्वं यदागतमोदना-

---

अथवा इसी प्रकार से मण्डक—रोटी को देकर साधु के हेतु जो शालि का भात आदि लाता है, यह परिवर्त दोष है । इसमें दाता को क्लेश होता है ।

अभिघट दोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—देश और सर्व की अपेक्षा से अभिघट के दो भेद होते हैं ऐसा जानो । उसमें देशाभिघट आचिन्न और अनाचिन्न दो प्रकार का होता है ॥४३८॥

आचारवृत्ति—देशाभिघट और सर्वाभिघट ऐसे अभिघट के दो भेद होते हैं । एक देश से आये हुए भात आदि देशाभिघट हैं और सब तरफ़ से आये हुए भात आदि सर्वाभिघट हैं । देशाभिघट के भी दो भेद हैं—आचिन्न और अनाचिन्न । योग्य वस्तु आचिन्न है और अयोग्य को अनाचिन्न कहते हैं ।

आचिन्न और अनाचिन्न का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—सरल पंक्ति से तीन या सात घर से यदि आयी हुई वस्तु है तो वह आचिन्न है । उन घरों से अतिरिक्त या सरल पंक्ति से विपरीत जो आयी हुई वस्तु है वह अनाचिन्न है ॥४३९॥

आचारवृत्ति—सरल वृत्त से—पंक्तिरूप से जो तीन घर हैं अथवा सात घर हैं, उनसे आया हुआ भात आदि आचिन्न है—ग्रहण करने योग्य है उसमें दोष नहीं है । किन्तु इन से भिन्न तीन या सात घरों से अतिरिक्त घरों से आया हुआ भात आदि भोजन अनाचिन्न है—ग्रहण के अयोग्य है ।

उससे विपरीत—सरल पंक्ति से अतिरिक्त, सात घरों से आया हुआ भोजन भी

दिकमनाचिन्नं ग्रहणायोग्यं तद्विपरीतं वा ऋजुवृत्या विपरीतेभ्यः सप्तभ्यो यद्यागतं तदप्यनाचिन्नमादातुमयोग्यं । यत्र तत्र स्थितेभ्यो सप्तभ्यो गृहेभ्योप्यागतं न ग्राह्यं दोपदर्शनादिति ॥४३९॥

सर्वाभिघटभेदं प्रतिपादयन्नाह—

सव्वाभिहडं चदुधा सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
पुव्वपरपाडणयडं पढमं सेसंपि णादव्वं ॥४४०॥

सर्वाभिघटं चतुर्विधं जानीहि । स्वग्रामपरग्रामस्वदेशपरदेशभेदात् । स्वग्रामादागतं परग्रामादागतं स्वदेशादागतं परदेशादागतमोदनादिकं यत् तच्चतुर्विधं सर्वाभिघटं । यस्मिन् ग्रामे आस्यते स स्वग्राम इत्युच्यते । तस्माद्येभ्यः स परग्राम इत्युच्यते । एवं स्वदेशः परदेशोऽपि ज्ञातव्यः । ननु स्वग्रामात्कथमागच्छतीत्येतस्यामाशंकायामाह—पूर्वपाटकात् परस्मिन् पाटके नयनं परपाटकाद्वाऽ[1]परस्मिन् नयनमोदनादिकस्य यत्तत्स्वग्रामाभिघटं प्रथमं जानीहि । तथाशेषमपि जानीहि परग्रामात्स्वग्राम आनयनं स्वदेशात् स्वग्राम आनयनं परदेशात्स्वग्रामे स्वदेशे वानयनमिति सर्वाभिघटदोषं चतुर्विधं जानीहि । प्रचुरेर्यापथदर्शनात् ॥३४०॥

अनाचिन्न है—ग्रहण करने के लिए अयोग्य है अर्थात् यत्र-तत्र स्थित घरों से आया हुआ भोजन ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि उनमें दोष देखा जाता है ।

भावार्थ—विना पंक्ति के घरों से लाया गया भोजन मुनि के लिए अभिघट दोषयुक्त है क्योंकि जहाँ कहीं से आने में ईर्यापथ शुद्धि नहीं रहती है ।

सर्वाभिघट दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—स्वग्राम और परग्राम, स्वदेश और परदेश की अपेक्षा से सर्वाभिघट चार प्रकार का है । पूर्व और अपर मोहल्ले से वस्तु का लाना प्रथम अभिघट है ऐसे ही शेष भी जानना चाहिए ॥४४०॥

आचारवृत्ति—स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश और परदेश की अपेक्षा से सर्वाभिघट के चार भेद हो जाते हैं । अर्थात् स्वग्राम से लाया गया भात आदि ऐसे ही परग्राम से लाया गया, स्वदेश से लाया गया या परदेश से लाया गया अन्न आदि अभिघट दोष से सहित है । जिस ग्राम में मुनि ठहरे हुए हैं वह स्वग्राम है, उससे भिन्न को परग्राम समझना । ऐसे ही स्वदेश और परदेश को भी समझ लेना चाहिए ।

स्वग्राम से कैसे आता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

पूर्वपाटक अर्थात् एक गली से या मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में भात आदि को ले जाकर मुनि को देना या दूसरे से अन्य किसी मोहल्ले में ले जाकर देना यह स्वग्राम से आगत अभिघट दोष है । ऐसे ही परग्राम से लाकर स्वग्राम में देना, स्वदेश से स्वग्राम में लाकर देना, परदेश से लाकर स्वग्राम में देना अथवा स्वदेश में देना । इस प्रकार से सर्वाभिघट दोष को चार प्रकार का जानो । इसमें प्रचुर मात्रा में ईर्यापथ दोष देखा जाता है । अर्थात् दूर से लेकर आनेवाले

---

१ क °द्वापूर्वस्मिन् ।

उद्भिन्नदोषमाह—

> पिहिदं लंछिदयं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं।
> उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं ॥४४१॥

पिहितं पिधानादिकेनावृतं कर्दमजंतुना वा संवृतं। लांछितं मुद्रितं नामबिंबादिना च यदौषधं घृतशर्करादिकं गुडखंडलड्डुकादिकं द्रव्यमुद्भिद्योद्घाट्य देयं स उद्भिन्नदोषो भवति ज्ञातव्यः पिपीलिकादि-प्रवेशदर्शनादिति ॥४४१॥

मालारोहणं दोषं निरूपयन्नाह—

> णिस्सेणीकट्ठादिहि णिहिदं पूयादियं तु घेत्तूणं।
> मालारोहं किच्चा देयं मालारोहणं णाम ॥४४२॥

निःश्रेण्या काष्ठादिभिर्हेतुभूतैर्मालारोहणं कृत्वा मालं द्वितीयगृहभूमिमारुह्य गृहोर्ध्वभागं चारुह्य निहितं स्थापितमपूपादिकं मंडकलड्डुकशर्करादिकं गृहीत्वा यद्देयं स मालारोहो नाम दोषः। दातुरपायदर्श-नादिति ॥४४२॥

अच्छेद्यदोषस्वरूपमाह—

श्रावक ईर्यापथ शुद्धि का पालन नहीं कर पायेंगे।

उद्भिन्न दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—ढके हुए या मुद्रा से बन्द हुए जो औषधि, घी, शक्कर आदि हैं उन्हें खोल कर देना सो उद्भिन्न दोष होता है ऐसा जानना ॥४४१॥

आचारवृत्ति—जो ढक्कन आदि से ढकी हुई है अथवा जिस पर लाख या चपड़ी लगी हुई है, जो नाम या बिंब आदि से मुद्रित है अर्थात् जिसपर शील-मुहर लगी हुई है ऐसी जो कोई भी वस्तु, औषधि, घी, शक्कर या गुड़, खांड, लड्डुक आदि चीजें हैं उन्हें उसी समय खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है; क्योंकि उनमें चींटी आदि का प्रवेश हो सकता है। अर्थात् कदाचित् ऐसी वस्तुओं में चिवटी वगैरह प्रवेश कर गई हों तो उस समय उन्हें बाधा पहुँचेगी।

मालारोहण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—नसैनी, काठ आदि के द्वारा चढ़कर रखी हुई पुआ आदि वस्तु को लाकर देना सो मालारोहण दोष है ॥४४२॥

आचारवृत्ति—नसैनी (काठ आदि की सीढ़ी) से माल अर्थात् घर के दूसरे भाग पर—ऊपरी भाग पर चढ़कर वहाँ पर रखे हुए पुआ, मंडक, लड्डू, शक्कर आदि लाकर जो उस समय देना है, सो वह मालारोहण दोष है। इसमें दाता के गिरने का भय देखा जाता है।

अच्छेद्य दोष को कहते हैं—

रायाचोरादीहिं य संजदभिक्खासमं तु दट्ठुण।
बीहेदूण णिजुज्जं अच्छिज्जं होदि णादव्वं ॥४४३॥

संयतानां भिक्षाश्रमं दृष्ट्वा राजा चौरादय एवमाहुः कुटुम्बिकान् यदि संयतानामागतानां भिक्षा-दानं न कुरु (र्व) ते तदानीं युष्माकं द्रव्यमपहरामो ग्रामाद्वा निर्वासयाम इति। एवं राज्ञा चौरादिभिर्वा कुटुम्बि-कान् भावयित्वा नियुक्तं नियोजितं यद्दानं नाम तदाच्छेद्यं नाम दोषो भवति ज्ञातव्यः। कुटुम्बिनां भयकरणा-दिति ॥४४३॥

अनीशार्थदोषस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरमह णिस्सरं चदुवियप्पं।
पढमिस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ॥४४४॥

अनीशार्थोऽप्रधानहेतुः। स पुनर्द्विविध ईश्वरो वानीश्वरश्च। अथवाऽ धनेश्वर इति पाठः। अनी-शोऽप्रधानोऽर्थः कारणं यस्यौदनादिकस्य तदौदनादिकमनीशार्थं तद्ग्रहणे यो दोषः सोऽप्यनीशार्थः कारणे कार्योपचारादिति। स चानीशार्थो द्विविधः ईश्वरानीश्वरभेदेन। द्विविधोऽपि चतुर्विधः। प्रथम ईश्वरो दानस्य सारक्षः सहारक्षैर्वर्तते इति सारक्षः यद्यपि दातुमिच्छति तथापि दातुं न लभतेऽन्ये विघातं कुर्वन्ति ततस्य ददतः

गाथार्थ—संयत को भिक्षा के लिए देखकर और राजा या चोर आदि से डरकर जो उन्हें आहार देना है वह आछेद्य दोष है ॥४४३॥

आचारवृत्ति—संयतों को भिक्षा के लिए आते देखकर राजा या चोर आदि कुटुम्बियों को ऐसा कहे कि यदि आप आए हुए संयतों को आहार दान नहीं दोगे तो मैं तुम्हारा द्रव्य अप-हरण कर लूँगा या तुम्हें ग्राम से बाहर निकाल दूँगा। इस प्रकार से राजा या चोर आदि के द्वारा कुटुम्ब को डराकर जो आहार देने में लगाया जाता है, उस समय उन दातारों के द्वारा दिया गया दान आछेद्य दोष वाला होता है; क्योंकि वह कुटुम्बियों को भय का करने वाला है।

अनीशार्थ दोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अनीशार्थ दोष दो प्रकार का है—ईश्वर और अनीश्वर। ईश्वर भी सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक इन चार भेदरूप है ॥४४४॥

आचारवृत्ति—जो अप्रधान हेतु है वह अनीशार्थ कहलाता है। उसके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। अथवा धनेश्वर ऐसा भी पाठ है। अनीश—अप्रधान, अर्थ—कारण है जिस ओदनादिक भोज्य पदार्थ का वह भोजन अनीशार्थ है। उस भोजन के ग्रहण में जो दोष है वह भी अनीशार्थ है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है। और वह अनीशार्थ दोष ईश्वर और अनीश्वर के भेद से दो प्रकार का है। इन दोनों भेद के भी चार भेद हैं—

प्रथम अनीशार्थ ईश्वर दोष को कहते हैं—इसका नाम सारक्ष ईश्वर दोष भी है। जो आरक्षों के साथ रहे वह सारक्ष है, वह यद्यपि दान देना चाहता है फिर भी नहीं दे पाता है, अन्य लोग विघात कर देते हैं। वह ईश्वर—स्वामी देता है और अन्य अमात्य पुरोहित आदि

स ईश्वरो ददाति अन्ये चामात्यपुरोहितादयो विघातं कुर्वन्ति, एवं यदि तदान्नं गृह्णते प्रथम ईश्वरो नामैकभेदोऽनीशार्थो दोप इति । तथानीश्वरोऽप्रधानहेतुर्यस्य दानस्य तद्दानमनीशार्थं दोपोऽप्यनीशार्थः इत्युच्यते कार्ये कारणोपचारात् । स चानीशार्थस्त्रिप्रकारो व्यक्तोऽव्यक्तः संघाटकः । दानादिकस्यानीश्वरः स्वामी न भवति किन्तु व्यक्तः प्रेक्षापूर्वकारी तेन दीयमानं यदि गृह्णाति तदा व्यक्तोऽनीश्वरो नामानीशार्थो दोप इति । तथा दानस्यानीश्वरस्तथा (दा) व्यक्तोऽप्रेक्षापूर्वकारी भवति तेन दीयमानं यदि गृह्णाति तदाव्यक्तानीश्वरो नामानीशार्थ इति । तथा संघाटकेन व्यक्ताव्यक्तानीश्वरेण दीयमानं यदि गृह्णाति तदाव्यक्ताव्यक्तसंघाटानीश्वरो नामानीशार्थो दोपाऽपायदर्शनादिति । अथवैवं ग्राह्यं, ईश्वरेण प्रभुणा व्यक्तेनाव्यक्तेन वा यत्सारक्षं यत्प्रतिपिद्धं तद्दानं यदि साधु गृह्णाति तदा व्यक्ताव्यक्तेश्वरो नामानीशार्थो दोपः । तथानीश्वरेण प्रभुणा व्यक्तेनाव्यक्तेन वा यत्प्रतिपिद्धं सारक्षं दानं तद्यदि गृह्णाति साधुस्तदा व्यक्ताव्यक्तानीश्वरो नामानीशार्थो दोपः । तथा संघाटकः समवाय एको ददात्यपरो निपेधयति दानं तत्तथाभूतं यदि गृह्णाति साधुस्तदा संघाटको नामानी-

---

विघ्न करते हैं । यदि ऐसा दान मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके यह अनीशार्थ ईश्वर का प्रथम भेद रूप दोष होता है ।

तथा जिस दान का अप्रधान पुरुष हेतु होता है वह दान अनीशार्थ है और दोप भी अनीशार्थ है । यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया जाता है । यह अनीशार्थ तीन प्रकार का है—व्यक्त, अव्यक्त और संघटक । अनीश्वर दानादि का स्वामी नहीं होता है, किन्तु व्यक्त—प्रेक्षापूर्वकारी अर्थात् बुद्धि से—विवेक से कार्य करने वाले को व्यक्त अनीश्वर कहते हैं। उसके द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते हैं तो उनके व्यक्त अनीश्वर नाम का अनीशार्थ दोप होता है ।

अनीश्वर दान का स्वामी नहीं होता है, किन्तु वही यदि अव्यक्त अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला होने से अप्रेक्षापूर्वकारी है, उसके द्वारा दिया गया दान यदि मुनि लेते हैं तो उन्हें अव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ नाम का दोप होता है।

तथा संघाटक अर्थात व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते हैं तो उनके 'व्यक्ताव्यक्त संघाटक अनीश्वर' नाम का अनीशार्थ दोप होना है; क्योंकि इसमें अपाय देखा जाता है । अथवा इस दोप को इस तरह भी ग्रहण करना चाहिए कि ईश्वर अर्थात् स्वामी जो दान देने वाला है, व्यक्त हो या अव्यक्त, उसके द्वारा जिसका निपेध कर दिया गया है वह दान यदि साधु ग्रहण करेंगे तो उन्हें 'व्यक्त-अव्यक्त ईश्वर' नामक अनीशार्थ दोप होता है । तथा जो अनीश्वर-अप्रधान् स्वामी दानपति है वह व्यक्त-बुद्धिमान हो या अव्यक्त-अबुद्धिमान, उसके द्वारा दिये गये सारक्ष्य दान को यदि मुनि ग्रहण करते हैं तो उन्हें व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर नाम का अनीशार्थ दोप होता है । तथा कोई एक पुरुप दान देता है और अन्य निपेध करता है यदि ऐसे दान को मुनि ग्रहण कर लेते हैं तो उन्हें संघाटक नाम का अनीशार्थ दोप होता है।

ईश्वर व्यक्ताव्यक्त और संघाटक के भेद से दो प्रकार का है और अनीश्वर भी व्यक्ताव्यक्त तथा संघाटक के भेद से दो प्रकार का है । यहाँ पर गाथा में 'च' शब्द समुच्चयार्थक है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर दो प्रकार का है और अनीश्वर भी दो प्रकार का है ।

शार्थो दोष इति । ईश्वरो व्यक्ताव्यक्तसंघाटभेदेन द्विविधः । अनीश्वरो व्यक्ताव्यक्तसंघाटभेदेन द्विविध इति । अत्र चशब्दः समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । ईश्वरो द्विविधः । अनीश्वरो द्विविधः । प्रथम ईश्वरेण व्यक्ताव्यक्तसंघाटकेन वा सारक्षोऽनीशार्थः । द्वितीयोऽनीश्वरेण व्यक्ताव्यक्तसंघाटकेन वा संरक्ष्योऽनीशार्थं इति अथवा व्यक्तेनाव्यक्तेन चेश्वरेण सारक्ष्यं प्रथम ईश्वरानीशार्थो द्विविधः । तथा व्यक्तेनाव्यक्तेन चानीश्वरेण सारक्ष्यं, द्वितीयोऽनीश्वरोऽनीशार्थो द्विविध इति । तथा संघाटकेन च सारक्ष्यं पृथग्भूतोऽयं दोषोऽनीशार्थो द्रष्टव्यः सर्वत्र विरोधदर्शनादिति । अथवा निसृष्टो मुक्तो न निसृष्टो ऽनिसृष्टो निवारितः स च द्विविधः ईश्वरोऽनीश्वरश्च । ईश्वरेण निसृष्टोऽनीश्वरेणऽनिसृष्टः ईश्वरश्चतुर्भेदोऽनीश्वर इति । प्रथमः ईश्वरः सारक्षो व्यक्तोऽव्यक्तः संघाटकः । तथानीश्वरोऽपि सारक्षो व्यक्तोऽव्यक्तः संघाटकः । मन्त्रादियुक्तः सारक्षः बालो व्यक्तः द्वयोः स्वामित्व संघाटकः । एवमनीश्वरोऽपि द्रष्टव्यः इति । एतैरनिसृष्टं निषिद्धं दत्तं वा दानं यदि गृह्यते तदा निसृष्टो नाम दोषो भवति विरोधदर्शनादिति ॥४४४॥

उत्पादनदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

प्रथम—ईश्वर दान देता है और व्यक्त, अव्यक्त या संघाटक उसका निषेध करते हैं। वह ईश्वर सारक्ष अनीशार्थ है। दूसरा—अनीश्वर अर्थात् अप्रधान दाता दान देता है और व्यक्त या संघाटक उसका निषेध करते हैं तो वह दान अनीश्वर सारक्ष अनीशार्थ है।

अथवा व्यक्त और अव्यक्त ईश्वर के द्वारा निषिद्ध प्रथम ईश्वर अनीशार्थ दो प्रकार का है। तथा व्यक्त और अव्यक्त अनीश्वर के द्वारा निषिद्ध दूसरा अनीश्वर अनीशार्थ दोष दो प्रकार का है।

तथा संघाटक के द्वारा निषिद्ध अनीशार्थ एक पृथक् दोष है ऐसा जानना, क्योंकि सर्वत्र विरोध देखा जाता है।

अथवा निसृष्ट—मुक्त अर्थात् जो त्याग किया गया है वह निसृष्ट है, जो निसृष्ट नहीं है वह अनिसृष्ट—निवारित किया गया है। यह भी ईश्वर और अनीश्वर के भेद से दो प्रकार का है। ईश्वर के द्वारा निसृष्ट, अनिसृष्ट तथा अनीश्वर के द्वारा निसृष्ट, अनिसृष्ट ऐसे चार भेद हो जाते हैं।

प्रथम ईश्वर इन सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक से चार प्रकार का है। तथा अनीश्वर भी सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक से चार प्रकार का है। मंत्रादियुक्त स्वामी को सारक्ष कहते है, वालक-अज्ञानी स्वामी को अव्यक्त कहते हैं, प्रेक्षापूर्वकारी—बुद्धिमान स्वामी व्यक्त है और अव्यक्त रूप पुरुष संघाटक है। ऐसे ही अनीश्वर में भी समझना चाहिए।

इनके द्वारा अनिसृष्ट निषिद्ध दान यदि साधु लेते हैं तो उन्हें निसृष्ट दोष होता है, क्योंकि विरोध देखा जाता है।

अब उत्पादन दोषों को कहते हैं—

धादीदूदणिमित्ते आजीवं वणिवग्गे य तेगिंछे।
कोधी माणी मायी लोही य हवंति दस एदे ॥४४५॥

धादी—धात्री माता। दूद—दूतो लेखधारकः। णिमित्ते—निमित्तं ज्योतिषं। आजीवे—आजीवनमाजीविका। वणिवगेय—वनीपकवचनं दातुरनुकूलवचनं। तेगिंछे—चिकित्सा वैद्यशास्त्रं। कोधी—क्रोधी। माणी—मानी। माई—मायी। लोही—लोभी। हवंति दस एदे—भवन्ति दशैत उत्पादनदोषाः। ॥४४५॥ तथा—

पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ॥४४६॥

स स्तुतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। पूर्वं संस्तुः तिरपश्चात् संस्तुतिः। पूर्वसंस्तुतिः दानग्रहणात्प्राग्दातुः संस्तवः, दानं गृहीत्वा पश्चाद् दातुः संस्तवनं। विज्जा—विद्याकाशगामिनीरूपपरिवर्तिनी शस्त्रस्तम्भिन्यादिका। मंते य—मंत्रश्च सर्पवृश्चिकविषापहरणाक्षराणि। चुण्णजोगेय—चूर्णयोगश्च गात्रभूषणादिनिमित्तं द्रव्यधूलिः। उप्पादणा य दोसो—उत्पादनायोत्पादननिमित्तं दोष उत्पादनदोषः। स प्रत्येकमभिसम्बध्यते। सोलसमो—षोडशानां पूरण षोडशः। मूलकम्मेय—मूलकर्मावशानां वशीकरणं। धात्रीकर्मणा सहचरितो दोषोऽपि धात्रीत्युच्यते ॥४४६॥

तं धात्रीदोषं विवृण्वन्नाह—

गाथार्थ—धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी ये दस दोष हैं ॥४४५॥

आचारवृत्ति—धात्री अर्थात् माता के समान बालक का लालन आदि करके आहार ग्रहण करना, दूत—लेखधारक अर्थात् समाचार को पहुँचाने वाला, निमित्त—ज्योतिष, आजीवन—आजीविका, वनीपक—दाता के अनुकूल वचन, चिकित्सा—वैद्यशास्त्र, क्रोधी—क्रोध युक्त, मानी, मायी और लोभी अर्थात् इन-इन कार्यों को करके दाता से आहार ग्रहण करना ये दस उत्पादन दोष हुए। तथा—

गाथार्थ—पूर्व स्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग और मूलकर्म ये सब सोलह उत्पादन दोष हैं ॥४४६॥

आचारवृत्ति—दान ग्रहण के पहले दाता की स्तुति करना सो पूर्वसंस्तुति है। दान ग्रहण करने के बाद दाता की स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति है। आकाशगामिनी, रूप परिवर्तिनी, शस्त्रस्तंभिनी आदि विद्याएँ हैं। सर्प, बिच्छू आदि के विष दूर करनेवाले अक्षर मन्त्र कहलाते हैं। शरीर को भूषित करने आदि के लिए निमित्तभूत धूलि आदि वस्तुचूर्ण हैं। और, जो वश नहीं हैं उन्हें वशीकरण करना मूल कर्म है। ये सोलह उत्पादन दोष हैं। अर्थात् धात्री कर्म से सहचरित दोष भी धात्री नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार सभी में समझना।

धात्री दोष को कहते हैं—

मज्जणमंडणधादी खेल्लावणखीरअंबधादी य ।
पंचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोसो दु ॥४४७॥

धापयति दधातीति वा धात्री । **मार्जनधात्री**—बालं स्नपयति या सा मार्जनधात्री । मण्डयति विभूषयति तिलकादिभिर्या सा मण्डनधात्री मण्डननिमित्तं माता । बालं क्रीडयति रमयति क्रीडनधात्री क्रीडानिमित्तं माता । क्षीरं स्तन्यं धारयति दधाति या सा क्षीरधात्री स्तनपायिनी । अम्बधात्री जननी, स्वापयति या साप्यम्बधात्री । एतासां पंचविधानां [1]धात्रीणां क्रियया कर्मणा य आहारादिरुत्पद्यते स धात्रीनामोत्पादनदोषः । बालं स्नापयानेन प्रकारेण बालः स्नाप्यते येन सुखी नीरोगी च भवतीयेत्वं मार्जननिमित्तं वा कर्म गृहस्थायोपदिशति, तेन च कर्मणा गृहस्थो दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य धात्रीनामोत्पादनदोषः । तथा बालं स्वयं मण्डयति मण्डननिमित्तं वा कर्मोपदिशति यस्मै दात्रे स तेन भक्तः सन् दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य मण्डनधात्रीनामोत्पादनदोषः । तथा बालं स्वयं क्रीडयति क्रीडानिमित्तं च क्रियामुपदिशति यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रवर्वते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य क्रीडनधात्री नामोत्पादनदोषः । तथा येन क्षीरं भवति येन च विधानेन बालाय क्षीरं दीयते तदुपदिशति यस्मै दात्रे स भक्तः सन् दाता

गाथार्थ—मार्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री, क्षीरधात्री और अम्बधात्री इन पाँच प्रकार के धात्री कर्म द्वारा उत्पन्न कराया गया आहार धात्री दोष है ॥४४७॥

आचारवृत्ति—जो दूध पिलाती है अथवा पालन-पोषण करती है वह धात्री कहलाती है । जो बालक को स्नान कराती है वह मार्जनधात्री है । जो तिलक आदि लगाकर बालक को भूषित करती है वह मण्डन के निमित्त माता है अतः उसे मण्डनधात्री कहते हैं । जो बालक को क्रीडा कराती है, रमाती है वह क्रीडन निमित्त माता है अतः उसे क्रीडनधात्री कहते हैं । जो दूध पिलाती है वह स्तनपायिनी क्षीरधात्री है । जननो—जन्म देनेवाली को अम्बधात्री कहते हैं अथवा जो सुलाती है वह भी अम्बधात्री कहलाती है । जो साधु इन पाँच प्रकार की धात्री की क्रिया करके आहार आदि उत्पन्न कराते हैं उनको धात्री नाम का उत्पादन दोष लगता है । अर्थात् बालक को इस प्रकार से नहलाओ, ऐसे स्नान कराने से यह बालक सुखी और निरोग रहेगा, इत्यादि प्रकार से बालकों के नहलाने सम्बन्धी कार्य को जो गृहस्थ के लिए बताते हैं और उस कार्य से गृहस्थ दान के लिए प्रवृत्ति करता है, पुनः साधु यदि उस आहार को लें लेता है तब उसके यह मार्जनधात्री नामक उत्पादन दोष होता है ।

उसी प्रकार से जो बालक को स्वयं विभूषित करता है अथवा विभूषित करने के तरोके गृहस्थ को बतलाता है पुनः वह दाता मुनि का भक्त होकर यदि उन्हें आहार देता है और मुनि यदि ले लेता है तो उनके यह मण्डनधात्री नाम का उत्पादन दोष होता है । उसी प्रकार से जो स्वयं बालक को क्रीडा कराता है या क्रीड़ा निमित्त जिसके उपदेश देता है वह दाता यदि दान के लिए प्रवृत्त होता है और मुनि उससे आहार ले लेता है तब उन मुनि के क्रीडनधात्री नामक उत्पादन दोष होता है । जिस प्रकार से स्तन में दूध होता है और जिस विधान से बालक को दूध पिलाया जाता है उस प्रकार का उपदेश जिसको दिया जाय, वह

---

१ क [1]धात्रीकर्मणा क्रियया च ।

दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति तदा तस्य क्षीरधात्रीनामोत्पादनदोषः। तथा स्वयं स्वापयति स्वापनिमित्तं विधानं चोपदिशति यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति तदा तस्याम्बधात्रीनामोत्पादन-दोषः। कथमयं दोष इति चेत् स्वाध्यायविनाशमार्गदूषणादिदर्शनादिति ॥४४७॥

दूतनामोत्पादनदोषं विवृण्वन्नाह—

जलथलआयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे।
संबंधिवयणणयणं दूदीदोसो हवदि एसो ॥४४८॥

स्वग्रामात्परग्रामं गच्छति जले नावा तथा स्वदेशात्परदेशं गच्छति जले नावा तत्र तस्य गच्छतः कश्चिद् गृहस्थ एवमाह—भट्टारक ! मदीयं संदेशं गृहीत्वा गच्छ स साधुस्तत्सम्बन्धिनो वचनं नीत्वा निवेदयति यस्मै प्रहितं स परग्रामस्थः परदेशस्थश्च तद्वचनं श्रुत्वा तुष्टः सन् दानादिकं ददाति तद्दानादिकं यदि साधु-र्गृह्णाति तदा तस्य दूतकर्मणोत्पादनदोषः। तथा स्थले गच्छत आकाशे च गच्छतः साधोर्यत्सम्बन्धिवचननयनं स्वग्रामात्परग्रामे स्वदेशात्परदेशे, यस्मिन् ग्रामे तिष्ठति स स्वग्राम इत्युच्यते, तथा यस्मिन् देशे तिष्ठति बहूनि

गृहस्थ भक्त होकर आहार दान देवे और यदि मुनि वह आहार ले लेवे तब उनके क्षीरधात्री नामक उत्पादन दोष होता है। ऐसे ही बालक को स्वयं जो सुलाता है अथवा सुलाने के प्रकार का उपदेश देता है और वह दाता उससे प्रभावित होकर मुनि को आहार देता है, यदि मुनि उससे आहार ग्रहण कर लेते हैं तब उनके अम्बधात्री नाम का उत्पादन दोष होता है।

प्रश्न—यह दोष क्यों है ?

उत्तर—इससे साधु के स्वाध्याय का विनाश होता है और मार्ग अर्थात् मुनिमार्ग में दूषण आदि लगते हैं। अतः यह दोष है।

दूत नामक उत्पादन दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—स्व से पर ग्राम में या स्वदेश से परदेश में जल, स्थल या आकाश से जाते समय किसी के सम्बन्धी के वचनों को ले जाना यह दूत दोष होता है ॥४४८॥

आचारवृत्ति—नाव के द्वारा जल को पार करके स्वग्राम से या परग्राम को जाते हों या जल, नदी आदि को पार करने में नाव से बैठकर स्वदेश से परदेश को जाते हों उस समय यदि कोई ग्रहस्थ ऐसा कहे कि हे भट्टारक ! मेरा सन्देश लेते जाइए और तब वे साधु भी उसके सन्देश को ले जाकर जिसको कहें वह श्रावक परग्राम का हो या परदेश में मुनि के वचन को सुनकर उन पर सन्तुष्ट होकर उन्हें दान आदि देता है और यदि मुनि वह आहार ले लेते हैं तो उनके दूतकर्म नाम का उत्पादन दोष होता है।

इसी तरह साधु स्थल से जाते हों या आकाश मार्ग से जा रहे हों, यदि गृहस्थ के सन्देश वचन को ले जाकर अन्य ग्राम या देश में किसी गृहस्थ को कहते हैं और वह गृहस्थ सन्देश को सुनकर प्रसन्न होकर यदि मुनि को दान देता है तथा वे ले लेते हैं तो दूत कर्म दोष होता है।

जिस ग्राम में साधु रहते हैं वह उस समय उनका स्वग्राम है और जिस देश में बहुत

दिनानि स स्वदेश इत्युच्यते। इत्येवं जलगतं स्थलगतमाकाशगतं च तद्दूतेन नीयते इति तद्दूतमित्युच्यते। यदेतत्सम्बन्धिनो वचनस्य नयनं स एष दूतदोषो भवति। दूतकर्म शासनदोषायेति दोषदर्शनादिति ॥४४८॥

निमित्तस्वरूपमाह—

वंजणमंगं च सरं छिण्णं भूमं च अंतरिक्खं च।
लक्खण सुविणं च तहा अट्ठविहं होइ णेमित्तं ॥४४९॥

व्यञ्जनं मशकतिलकादिकं। अङ्गं च शरीरावयवः। स्वरः शब्दः। छिन्नः छेदः, खड्गादिप्रहारो वस्त्रादिच्छेदो वा। भूमि भूमिविभागः। अन्तरिक्षमादित्यगृहाद्युदयास्तमनं। लक्षणं नन्दिकावर्तपद्मचक्रादिकं। स्वप्नश्च सुप्तस्य हस्तिविमानमहिषारोहणादिदर्शनं च तथाष्टप्रकारं भवति निमित्तं। व्यञ्जनं दृष्ट्वा यच्छुभाशुभं ज्ञायते पुरुषस्य तद्व्यञ्जननिमित्तमित्युच्यते। तथाङ्गं शिरोग्रीवादिकं दृष्ट्वा पुरुषस्य यच्छुभाशुभं ज्ञायते तदङ्गनिमित्तमिति। तथा यं स्वरं शब्दविशेषं श्रुत्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तत्स्वरनिमि-

---

दिन रहते हैं वह स्वदेश कहलाता है। जल से पार होते समय, स्थल से जाते समय या आकाश मार्ग से गमन करते समय जो दूत के द्वारा समाचार ले जाया जाता है वह दूतकर्म है उस सम्बन्धी वचन को लेजाने वाले साधु को भी दूत नाम का दोष होता है। क्योंकि यह दूतकर्म जिन शासन में दोष का कारण है अतः दोष रूप है।

निमित्त का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—व्यंजन, अंग, स्वर, छिन्न, भूमि, अंतरिक्ष और स्वप्न इस तरह निमित्त आठ प्रकार का होता है ॥४४९॥

आचारवृत्ति—मशक तिलक आदि व्यंजन हैं। शरीर के अवयव अंग हैं। शब्द को स्वर कहते हैं। छन्द का नाम छिन्न है। खड्ग आदि का प्र[illegible] अथवा वस्त्रादि का छिन्न होना—कट-फट जाना यह सब छिन्न है। भूमिविभाग को भूमि [illegible] सूर्य, ग्रह आदि के उदय-अस्त सम्बन्धी ज्ञान को अंतरिक्ष कहते हैं, नन्दिकावर्त, [illegible] लक्षण हैं। सोते में हाथी, विमान, भैंस पर आरोहण आदि देखना स्वप्न है। इस तरह [illegible]मित्त ज्ञान आठ प्रकार का होता है। उसका स्पष्टीकरण—

किसी पुरुष के व्यंजन-मसा तिल आदि को देखकर जो शुभ या अशुभ जाना जाता है वह व्यंजन निमित्त है। किसी पुरुष के सिर, ग्रीवा आदि अवयव देखकर जो उसका शुभ या अशुभ जाना जाता है वह अंग निमित्त है। किसी पुरुष या अन्य प्राणी के शब्द विशेष को सुनकर जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह स्वर निमित्त है। किसी प्रहार या छेद को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह छिन्न निमित्त है। किसी भूमिविभाग को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह भौमनिमित्त है। आकाश में होने वाले ग्रह युद्ध, ग्रहों का अस्तमन, ग्रहों का निर्घात आदि देखकर जो प्रजा का शुभ या अशुभ जाना जाता है वह अंतरिक्ष निमित्त है। जिस लक्षण को देखकर पुरुष या अन्य का शुभ-अशुभ जाना जाता है वह लक्षणनिमित्त है। जिस स्वप्न को देखकर पुरुष या अन्य किसी का

त्तमिति। यं प्रहारं छेदं वा दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तच्छिन्ननिमित्तं नाम। तथा यं भूमिविभागं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तद्भौमनिमित्तं नाम। यदन्तरिक्षस्य व्यवस्थितं ग्रहयुद्धं ग्रहास्तमनं ग्रहविघातादिकं समीक्ष्य प्रजायाः शुभाशुभं विबुध्यते तदन्तरिक्षं नाम। यल्लक्षणं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तल्लक्षणनिमित्तं नाम। यं स्वप्नं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं परिच्छिद्यते तत्स्वप्ननिमित्तं नाम। तथा चशब्देन भूमिगर्जनदिग्दाहादिकं परिगृह्यते। एतेन निमित्तेन भिक्षामुत्पाद्य यदि भुंक्ते तदा यस्य निमित्तनामोत्पादनदोषः। रसास्वादनदैन्यादिदोषदर्शनादिति ॥४४९॥

आजीवं दोषं निरूपयन्नाह—

जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं।
तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ॥४५०॥

जातिर्मातृसन्ततिः। कुलं पितृसन्ततिः। मातृशुद्धिः। पितृशुद्धिर्वा। शिल्पकर्म लेपचित्रपुस्तकादिकर्म हस्तविज्ञानं। तपःकर्म तपोऽनुष्ठानं। ईश्वरत्वं च। आजीव्यतेऽनेनाजीवः। आत्मनो जातिं कुलं च निर्दिश्य शिल्पकर्म तपःकर्मेश्वरत्वं च निर्दिश्याजीवनं करोति यतोऽत आजीववचनान्येतानि तेभ्यो जातिकथनादिभ्यः पुनरुत्पाद आहारस्य योऽयं स आजीवदोषो भवत्येषः वीर्यगूहनदीनत्वादिदोषदर्शनादिति ॥४५०॥

शुभ या अशुभ जाना जाता है वह स्वप्न निमित्त है। तथा च शब्द से भूमि, गर्जना, दिग्दाह आदि को भी ग्रहण करना चाहिए अर्थात् इनके निमित्त से भी जो जनता का शुभ-अशुभ जाना जाता है वह सब इनमें ही शामिल हो जाता है।

इन निमित्तों के द्वारा जो भिक्षा को उत्पन्न कराकर आहार लेते हैं अर्थात् निमित्त ज्ञान के द्वारा श्रावकों को शुभ-अशुभ बतलाकर पुनः बदले में उनसे दिया हुआ आहार जो मुनि ग्रहण करते हैं उनके यह निमित्त नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमें रसों का आस्वादन अर्थात् गृद्धता और दीनता आदि दोष आते हैं।

आजीव दोष का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जाति, कुल, शिल्प, तप और ईश्वरता ये आजीव हैं। इनसे पुनः (आहार का) उत्पन्न करना यह आजीव दोष है ॥४५०॥

आचारवृत्ति—माता की संतति जाति है। पिता की संतति कुल है। अर्थात् माता के पक्ष की शुद्धि अथवा पिता के पक्ष की शुद्धि को ही यहाँ जाति या कुल कहा है। लेप, चित्र, पुस्तक आदि कर्म या हस्त विज्ञान शिल्पकर्म हैं। तप का अनुष्ठान तपकर्म है। और ईश्वरता, इनके द्वारा जो आजीविका की जाती है वह 'आजीव' कहलाती है।

कोई साधु अपनी जाति और कुल का निर्देश करके, या शिल्पकर्म या तपश्चरण अथवा ईश्वरत्व को बतलाकर यदि आजीविका करता है अर्थात् जाति आदि के कथन द्वारा अपनी विशेषता बतलाकर पुनः उस दाता के द्वारा दिये गये आहार को जो ग्रहण करता है उसके यह आजीव नाम का दोष होता है; क्योंकि उसमें अपने वीर्य का छिपाना, दीनता आदि करना ऐसे दोष आते हैं।

वनी¹कवचनं निरूपयन्नाह—

साणकिविणतिधिमांहणपासंडियसवणकागदाणादो ।
पुण्णं णवेति पुठ्ठे पुण्णेत्ति य वणीवयं वयणं ॥४५१॥

शुनां, कृपणादीनां कुष्ट¹व्याध्याद्यार्तादीनां अतिथीनां मध्याह्नकालागतानां भिक्षुकाणां, ब्राह्मणानां मांसादिभक्षिणां पाखंडिनां दीक्षोपजीविनां, श्रवणानामाजीवकानां छात्राणां वा काकादीनां च यद्दानादिकं दीयते तेन पुण्यं भवति किं वा न भवतीत्येवं पृष्टे दानपतिना, 'भवति पुण्यमिति' यद्येवं ब्रूयात्तद्वनीपकं वचनं दानपत्युनुकूलवचनं प्रतिपाद्य यदि भुञ्जीत तस्य वनीपकनामोत्पादनदोषः दीनत्वादिदोषदर्शनादिति ॥४५१॥

चिकित्सां प्रतिपादयन्नाह—

कोमारतणुतिगिंछारसायणविसभूदखारतंतं च ।
सालंकियं च सल्लं तिगिंछदोसो दु अट्ठविहो ॥४५२॥

कौमारं बालवैद्यं मासिकसावंत्सरिकादिग्रहत्रासनहेतुः शास्त्रं तनुचिकित्साज्वरादिनिराकरणं कण्ठोदरशोधनकारणं च, रसायनं वलिपलितादिनिराकरणं बहुकालजीवित्वं च, विषं स्थावरजंगमं सकृत्रिम-भेदभिन्नं । तस्य विषस्य चिकित्सा विषापहारः भूत (तः) पिशाचादि तस्य चिकित्सा भूतापनयनशास्त्रं ।

वनीपक वचन का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, पाखण्डी, श्रमण और कौवा इनको दान आदि करने से पुण्य है या नहीं । ऐसा पूछने पर पुण्य है ऐसा बोलना वनीपक वचन है ॥४५१॥

आचारवृत्ति—कुत्ते, कृपण आदि—कुष्ठ व्याधि आदि से पीड़ित जन, अतिथि—मध्याह्न काल में आगत भिक्षुकजन, ब्राह्मण—मांसादि भक्षण की प्रवृत्तिवाले ब्राह्मण, पाखण्डी—दीक्षा से उपजीविका करनेवाले, श्रमण—आजीवक नाम के साधु अथवा छात्र और कौवे आदि इनको जो दान दिया जाता है,उससे पुण्य होता है या नहीं ? ऐसा दानपति के द्वारा पूछने पर, 'पुण्य होता है' यदि इस प्रकार से मुनि दाता के अनुकूल वचन बोल देते हैं, पुनः दाता प्रसन्न होकर उन्हें आहार देता है और वे ग्रहण कर लेते हैं तो उनके यह वनीपक नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमें भी दीनता आदि दोष दिखाई देते हैं ।

चिकित्सा दोष का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कौमार, तनुचिकित्सा, रसायन, विष, भूत, क्षारतन्त्र, शालाकिक और शल्य ये आठ प्रकार का चिकित्सा दोष है ॥४५२॥

आचारवृत्ति—कौमार—बाल वैद्य शास्त्र अर्थात् मासिक, सांवत्सरिक आदि पीडा देने वाले ग्रहों के निराकरण के लिए उपायभूत शास्त्र । तनुचिकित्सा—ज्वर आदि को दूर करनेवाले, और कण्ठ, उदर के शोधन करनेवाले शास्त्र । रसायन—शरीर की सिकुड़न वृद्धावस्था आदि को दूर करनेवाली और बहुत काल तक जीवन दान देनेवाली औषधि । विष—स्थावरविष और जंगम विष तथा कृत्रिम विष और अकृत्रिमविष, इन

---

१ क "कव्यद्या"

क्षारतंत्रं क्षारद्रव्यं दुष्टव्रणादिशोधनकरं। शलाकया निर्वृत्तं शालाकिकं अक्षिपटलाद्युद्घाटनं। शल्यं भूमिशल्यं शरीरशल्यं च तोमरादिकं शरीरशल्यं अस्थ्यादिकं भूमिशल्यं तस्यापनयनकारकं शास्त्रं शल्यमित्युच्यते। तथा विषापनयनशास्त्रं विषमिति। भूतापनयननिमित्तं शास्त्रं भूतमिति, कार्ये कारणोपचारादिति। अथवा चिकित्साशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते काकाक्षितारकवदिति। एवमष्टप्रकारेण चिकित्साशास्त्रेणोपकारं कृत्वाहारादिकं गृह्णाति तदानीं तस्याष्टप्रकारश्चिकित्सादोषो भवत्येव सावद्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५२॥

क्रोधमानमायालोभदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

कोधेण य माणेण य मायालोभेण चावि उप्पादो।
उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ॥४५३॥

[1]क्रोधमानमायालोभेन च योऽयं भिक्षाया उत्पादः स उत्पादनदोषश्चतुष्प्रकारस्तैर्ज्ञातव्य इति। क्रोधं कृत्वा भिक्षामुत्पादयति आत्मनो यदि तदा क्रोधो नामोत्पादनदोषः तथा मानं गर्वं कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति तदा मानदोषः। मायां कुटिलभावं कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति मायानामो-

---

विषों से होनेवाली बाधा की चिकित्सा करना अर्थात् विष को दूर करना। भूत—भूत-पिशाच आदि की चिकित्सा करना अर्थात् भूत आदि को निकालने का शास्त्र। क्षारतन्त्र—सड़े हुए घाव आदि का शोधन करने वाली चिकित्सा। शालाकिक—शलाका से होने वाली चिकित्सा शालाकिक है अर्थात् नेत्र के ऊपर आए हुए पटल—मोतियाबिन्दु आदि को दूर करके नेत्र को खोलनेवाली चिकित्सा शालाकिक कहलाती है। शल्य—भूमि-शल्य और शरीर-शल्य ऐसे दो भेद हैं, तोमर आदि को शरीरशल्य कहते हैं और हड्डी आदि को भूमिशल्य कहते हैं, इन शल्यों को दूर करनेवाले शास्त्र भी शल्य नाम से कहे जाते हैं।

यहाँ पर इन आठ चिकित्सा विषयक शास्त्रों को लिया गया है जैसे, विष को दूर करनेवाले शास्त्र 'विष' नाम से कहे गये हैं। और भूत को दूर करनेवाले शास्त्र 'भूत' नाम से कहे गये हैं। चूँकि कारण में कार्य का उपचार किया गया है। अथवा काकाक्षितारक न्याय के समान चिकित्सा शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। इन आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्र के द्वारा जो मुनि गृहस्थ का उपकार करके उनसे यदि आहार आदि लेते हैं तो उनके यह आठ प्रकार का चिकित्सा नाम का दोष होता है; क्योंकि इसमें सावद्य आदि दोष देखे जाते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ दोषों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से भी आहार उत्पन्न कराना—यह चार प्रकार का उत्पादन दोष होता है ॥४५३॥

आचारवृत्ति—क्रोध को करके अपने लिए यदि भिक्षा उत्पन्न कराते हैं तो क्रोध नाम का उत्पादन दोष होता है। उसी प्रकार से गर्व को करके अपने लिए आहार उत्पन्न कराते हैं तो मान दोष होता है। कुटिल भाव करके यदि अपने लिए आहार उत्पन्न कराते हैं तो माया

---

१ क क्रोधेन मानेन मायया लोभेन च।

त्पादनदोषः। तथा लोभं कांक्षां प्रदर्श्य भिक्षां यद्यात्मन उत्पादयति तदा लोभोत्पादनदोषो भावदोषादिदर्शनादिति ॥४५३॥

पुनरपि तान् दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

कोधो य हत्थिकप्पे माणो [1]वेणायडम्मि णयरम्मि।
माया वाणारसिए लोहो पुण रासियाणम्मि ॥४५४॥

हस्तिकल्पपत्तने कश्चित्साधुः क्रोधेन भिक्षामुत्पादितवान्। तथा वेन्नातटनगरे कश्चित्संयतो मानेन भिक्षामुत्पादितवान्। तथा वाराणस्यां कश्चित्साधुः मायां कृत्वा भिक्षामुत्पादितवान्। तथान्यः संयतो लोभं प्रदर्श्य राशियाने भिक्षामुत्पादितवानिति। तेन क्रोधो हस्तिकल्पे, मानो वेन्नातटनगरे माया वाराणस्यां लोभो राशियाने इत्युच्यते। अत्र कथा उत्प्रेक्ष्य वाच्या इति ॥४५४॥

पूर्वसंस्तुतिदोषमाह—

दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेत्ति।
पुव्वीसंथुदि दोसो विस्सरिदे बोधणं चावि ॥४५५॥

ददातीति दायको दानपतिः तस्य पुरतः कीर्तिं ख्यातिं ब्रूते। कथं, त्वं दानपतिर्यशोधरः त्वदीया

दोष होता है और यदि लोभ-कांक्षा को दिखाकर भिक्षा उत्पन्न कराते हैं तो लोभ नाम का उत्पादन दोष होता है। इन चारों दोषों में भावों का दोष आदि देखा जाता है। अर्थात् परिणाम दूषित होने से ये दोष माने गये हैं।

पुनरपि इनको दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं—

गाथार्थ—हस्तिकल्प में क्रोध, वेन्नतट नगर में मान, वाराणसी में माया और राशियान में लोभ के—इस प्रकार इन चारों के दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं ॥४५४॥

आचारवृत्ति—हस्तिकल्प नाम के पत्तन में किसी साधु ने क्रोध करके आहार का उत्पादन कराकर ग्रहण किया। वेन्नतट नगर में किसी संयत ने मान करके आहार को बनवाकर ग्रहण किया। बनारस में किसी साधु ने माया करके आहार को उत्पन्न कराया तथा राशियान देश में अन्य किसी संयत ने लोभ दिखाकर आहार उत्पन्न कराकर लिया। इसलिए हस्तिकल्प में क्रोध इत्यादि ये चार दृष्टान्त कहे गये हैं। यहाँ पर इन कथाओं को मानकर कहना चाहिए।

पूर्व-संस्तुति दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—तुम दानपति हो अथवा यशस्वी हो, इस तरह दाता के सामने उसकी प्रशंसा करना और उसके दान देना भूल जाने पर उसे याद दिलाना पूर्व-संस्तुति नाम का दोष है ॥४५५॥

आचारवृत्ति—जो दान देता है, वह दायक कहलाता है, उसके समक्ष उसकी ख्याति करना। कैसे? तुम दानपति हो, यश को धारण करनेवाले हो, लोक में तुम्हारी कीर्ति फैली

---

१ क विण्णाय

कीर्तिविश्रुता लोके। यद्दातुरग्रतो दानग्रहणात्प्रागेव ब्रूते तस्य पूर्वसंस्तुतिदोषो नाम जायते। विस्मृतस्य च दानसम्बोधनं त्वं पूर्वं महादानपतिरिदानीं किमिति कृत्वा विस्मृत इति सम्बोधनं करोति यस्तस्यापि पूर्वसंस्तुतिदोषो भवतीति। यां कीर्तिं ब्रूते, यच्च स्मरणं करोति तत्सर्वं पूर्वसंस्तुतिदोषो नग्नाचार्यकर्तव्यदोषदर्शनादिति ॥४५५॥

पश्चात्संस्तुतिदोषमाह—

पच्छा संथुविदोसो दाणं गहिदूण तं पुणो कित्ति।
विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति ॥४५६॥

पश्चात्संस्तुतिदोषो दानमाहारादिकं गृहीत्वा ततः पुनः पश्चादेवं कीर्तिं ब्रूते विख्यातस्त्वं दानपतिस्त्वं, तव यशोविश्रुतमिति ब्रूते यस्तस्य पश्चात् संस्तुतिदोषः, कार्पण्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५६॥

विद्यानामोत्पादनदोषमाह—

विज्जा साधितसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ॥४५७॥

विद्या नाम साधितसिद्धा साधिता सती सिद्धा भवति तस्या विद्याया आशाप्रदानकरणेन तुभ्यमहं विद्यामिमां दास्यामि तस्याश्च माहात्म्येन यो जीवति तस्य विद्योत्पादनो नाम दोषः आहाराद्याकांक्षाया

हुई है। इस तरह आहार ग्रहण के पहले ही यदि मुनि दाता के सामने बोलते हैं तो उनके पूर्व-संस्तुति नाम का दोष होता है। यदि वह भूल गया है तो उसको याद दिलाना कि तुम पहले महादानपति थे इस समय किस कारण से भूल गये हो। इस तरह यदि कहते हैं तो भी उन मुनि के पूर्व-संस्तुति नाम का दोष होता है। यह नग्नाचार्य-स्तुतिपाठक भाटों का कार्य है। इस तरह स्तुति-प्रशंसा करना यह मुनियों का कार्य नहीं है अतः यह दोष है।

पश्चात्-संस्तुति दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—दान को लेकर पुनः कीर्ति को कहते हैं। तुम दानपति विख्यात हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध है यह पश्चात्संस्तुति दोष है ।।४५६।।

आचारवृत्ति—आहार आदि दान ग्रहण करने के पश्चात् जो इसतरह कीर्ति को कहते हैं कि 'तुम दानपति हो, तुम विख्यात हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध हो रहा है' यह पश्चात्संस्तुति दोष है, चूँकि इसमें कृपणता आदि दोष देखे जाते हैं।

विद्या नामक उत्पादन-दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधितसिद्ध है वह विद्या है। उसकी आशा प्रदान करने या उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना विद्या दोष है ।।४५७।।

आचारवृत्ति—जो साधित करने पर सिद्ध होती हैं उन्हें विद्या कहते हैं। उन विद्याओं की आशा देना अर्थात् 'मैं तुम्हें इस विद्या को दूँगा', अथवा उस विद्या के माहात्म्य से जो अपना जीवन चलाते हैं उनके विद्या नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमें आहार आदि की

दर्शनादिति ॥४५७॥

मंत्रोत्पादनदोषमाह—

सिद्धे पढिदे मंते तस्स य आसापदाणकरणेण।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु ॥४५८॥

सिद्धे पठिते मंत्रे पठितमात्रेण यो मंत्रः सिद्धिमुपयाति स पठितसिद्धो मंत्रस्तस्य मंत्रस्याशाप्रदानकरणेन तत्रेमं मंत्रं दास्यामीत्याशाकरणयुक्त्या तस्य माहात्म्येन च यो जीवत्याहारादिकं च गृह्णाति तस्य मंत्रोत्पादनदोषः। लोकप्रतारणजिह्वागृद्ध्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५८॥

अथवा विद्योत्पादनदोषो मंत्रोत्पादनदोषश्चैवं ग्राह्यः इत्याशंक्याह—

आहारदायगाणं विज्जामंतेहिं देवदाणं तु।
आहूय साधिदव्वा विज्जामंतो हवे दोसो ॥४५९॥

आहारदात्री भोजनदानशीला देवता व्यंतरादिदेवान् विद्यया मंत्रेण चाहूयानीय साधितव्यास्तासां साधनं क्रियते यद्दानार्थं स विद्यादोषो मंत्रदोषश्च भवति। अथवाऽऽहारदायकानां निमित्तं विद्यया मंत्रेण वाहूय देवतानां साधितव्यं साधनं क्रियते तत् स विद्यामंत्रदोषः। अस्य च पूर्वयोर्विद्यामंत्रदोषयोर्मध्ये निपातः इति कृत्वा नायं पृथग्दोषः पठितस्तयोरन्तर्भावादिति ॥४५९॥

आकांक्षा देखी जाती है।

मन्त्र नामक उत्पादन दोष कहते हैं—

गाथार्थ—जो पढ़ते ही सिद्ध हो वह मन्त्र है। उस मन्त्र के लिए आशा देने से और उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना सो मंत्रदोष है ॥४५८॥

आचारवृत्ति—जो मंत्र पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाता है वह पठितसिद्ध मन्त्र है। उस मन्त्र की आशा प्रदान करना अर्थात् 'तुम्हें मैं यह मन्त्र दूंगा' ऐसी आशा प्रदान करने की युक्ति से और उस मन्त्र के माहात्म्य से जो जीते हैं, आहार उत्पन्न कराकर लेते हैं उनके मन्त्र नाम का उत्पादन दोष होता है; क्योंकि इसमें लोकप्रतारणा, जिह्वा की गृद्धता आदि दोष देखे जाते हैं।

अथवा विद्या-उत्पादन दोष और मन्त्र-उत्पादन दोष का ऐसा अर्थ करना—

गाथार्थ—आहार दायक देवताओं को विद्या मन्त्र से बुलाकर सिद्ध करना विद्यामन्त्र दोष होता है ॥४५९॥

आचारवृत्ति—आहार देने वाली देवियाँ हुआ करती हैं, ऐसे आहार-दायक व्यंतर देवों को विद्या या मन्त्र के द्वारा बुलाकर उनको आहार के लिए सिद्ध करना, सो यह विद्यादोष और मंत्रदोष है। अथवा आहार दाताओं के लिए विद्या या मंत्रसे देवताओं को बुलाकर उनको सिद्ध करना सो यह विद्यामंत्र दोष है। इस दोष का पूर्व के विद्यादोष और मन्त्रदोष में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः यह पृथक् दोष नहीं है।

चूर्णदोषमाह—

णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं।
चुण्णं तेणुप्पादो चुण्णयदोसो हवदि एसो ॥४६०॥

नेत्रयोरञ्जनं चूर्णं चक्षुषोर्निर्मलीकरणनिमित्तमञ्जनं द्रव्यरजः। तथा भूषणनिमित्तं चूर्णं येन चूर्णेन तिलकपत्र[1]स्थल्यादयः क्रियन्ते तद्भूषणद्रव्यरजः। गात्रस्य शरीरस्य शोभाकरं च चूर्णं येन चूर्णेन शरीरस्य शोभाकरं दीप्त्यादयो भवन्ति तच्छरीरशोभानिमित्तं चूर्णमिति। तेन चूर्णेन योऽयमुत्पादो भोजनस्य क्रियते स चूर्णोत्पादनामदोषो भवत्येष जीविकादिक्रियया जीवनादिति ॥४६०॥

मूलकर्मदोषं प्रतिपादयन्नाह—

अवसाणं वसियरणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं।
भणिदं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा ॥४६१॥

अवशानां वशीकरणं यद्विप्रयुक्तानां च संयोजनं यत्क्रियते तद्भणितं मूलकर्म। अनेन मूलकर्मणोत्पादो यो भक्तादिकस्य स मूलकर्मदोषः सुष्ठु लज्जाद्याभोगस्य करणादिति। एते उत्पादनदोषास्तथोद्गमदोषाश्च सर्वे एते परित्याज्या अधःकर्मांशदर्शनात्। एतेष्वधःकर्मांशस्य सद्भावोऽस्ति यतः। तथान्ये च दोषाः

चूर्ण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—नेत्रों के लिए अंजनचूर्ण और शरीर को भूषित करनेवाले भूषणचूर्ण ये चूर्ण हैं। इन चूर्णों से आहार उत्पन्न कराना सो यह चूर्ण दोष होता है ॥४६०॥

आचारवृत्ति—चक्षु को निर्मल करने के लिए जो अंजन या सुरमा आदि होता है वह अंजनचूर्ण है, जिस चूर्ण से तिलक या पत्रवल्ली आदि की जाती है वह भूषणचूर्ण है, शरीर शोभित करनेवाला चूर्ण अर्थात् जिस चूर्ण से शरीर में दीप्ति आदि होती है वह शरीर शोभा निमित्त चूर्ण है। इन चूर्णों के द्वारा जो भोजन बनवाते हैं वह चूर्ण नामक उत्पादन दोष है। इससे जीविका आदि करने से यह दोष माना जाता है।

मूलकर्म दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—अवशों का वशीकरण करना और वियुक्त हुए जनों का संयोग कराना यह मूलकर्म कहा गया है। इस प्रकार ये सोलह उत्पादन दोष हैं ॥४६१॥

आचारवृत्ति—जो वश में नहीं है उनका वशीकरण करना और जिनका आपस में वियोग हो रहा हैं उनका संयोग करा देना यह मूलकर्म दोष है। इस मूलकर्म के द्वारा आहार उत्पन्न कराकर जो मुनि लेते हैं उनके मूलकर्म नाम का दोष होता है। यह स्पष्टतया लज्जा आदि का कारण है।

ये सोलह उत्पादन दोष कहे गये हैं तथा सोलह ही उद्गम दोष भी कहे गये हैं। ये सभी दोष त्याग करने योग्य हैं, क्योंकि इनमें अधःकर्म का अंश देखा जाता है अर्थात् इन दोषों

---

१ क पत्रावल्यादयः।

जुगुप्सादयो दर्शनदूषणादयः सम्भवन्ति येभ्यस्तेऽपि परित्याज्या इति ॥४६१॥

अशनदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

संकिदमक्खिदणिक्खिदपिहिदं [1]संववहरणदायगुम्मिस्से ।
अपरिणदलित्तछोडिद एषणदोसाइं [2] दस एदे ॥४६२॥

शंकयोत्पन्नः शंकितः, किमयमाहारोऽधःकर्मणा निष्पन्न उत नेति शंकां कृत्वा भुंक्ते यस्तस्य शंकितनामाशनदोषः । तथा म्रक्षितस्तैलाद्यभ्यक्तस्तेन भाजनादिना दीयमानमाहारं यदि गृह्णाति म्रक्षितदोषो भवति । तथा निक्षिप्तः स्थापितः, सचित्तादिषु परिनिक्षिप्तमाहारं यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य निक्षिप्तदोषः । तथा पिहितश्छादितः अप्रासुकेन प्रासुकेन च महता यदवष्टब्धमाहारादिकं तदावरणमुत्क्षिप्य दीयमानं यदि गृह्णाति तदा तस्य पिहितनामाशनदोषः । तथा संव्यवहरणं दानार्थं संव्यवहारं कृत्वा यदि ददाति तद्दानं यदि साधुर्गृह्णाति तदा तस्य संव्यवहरणनामाशनदोषः । तथा दायकः परिवेषकः, तेनाशुद्धेन दीयमानमाहारं यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य दायकनामाशनदोषः । तथोन्मिश्रोऽप्रासुकेन द्रव्येण पृथिव्यादिसच्चित्तेन मिश्र उन्मिश्र इत्युच्यते तं यद्यादत्ते उन्मिश्रनामाशनदोषः । यथाऽपरिणतोऽविध्वस्तोऽग्न्यादिकेनापक्वस्तमाहारं

में अधःकर्म के अंश का सद्भाव है अतएव त्याज्य हैं । तथा सम्यग्दर्शन आदि में दूषण उत्पन्न करनेवाले हैं । अन्य भी जुगुप्सा आदि दोष इन्हीं के निमित्त से संभव हैं उनका भी त्याग कर देना चाहिए ।

अब अशन दोषों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छोटित ये दश अशन दोष हैं ॥४६२॥

आचारवृत्ति—शंका से उत्पन्न हुआ आहार शंकित है । 'क्या यह आहार अधःकर्म से बना हुआ है ?' ऐसी शंका करके जो आहार ग्रहण करते हैं उनके शंकित नाम का अशन दोष है । तेल आदि से चिकने ऐसे बर्तन आदि के द्वारा दिया गया आहार यदि ग्रहण करते हैं तो उनके म्रक्षित दोष होता है । स्थापित को निक्षिप्त कहते हैं । सचित्त आदि पर रखा हुआ आहार यदि साधु ग्रहण करते हैं तो उन्हें निक्षिप्त दोष लगता है । ढके हुए को पिहित कहते हैं । अप्रासुक अथवा प्रासुक ऐसी किसी बड़े वजनदार ढक्कन आदि से ढके हुए आहार आदि को, उसपर का आवरण खोलकर दिया जाये और जिसे मुनि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके पिहित नाम का अशन दोष होता है । तथा दान के लिए यदि संव्यवहार करके वस्त्र या पात्रादि को जल्दी से खींच करके जो दान दिया जाता है और यदि साधु उसे लेते हैं तो उनके संव्यवहरण नाम का अशन दोष होता है ।

परोसने वाले को दायक कहते हैं । अशुद्ध दायक के द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते हैं तो उनके दायक नाम का दोष होता है । अप्रासुक द्रव्य से अर्थात् पृथ्वी आदि सचित्त वस्तु से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र है । उसे जो मुनि ग्रहण करते हैं उन्हें उन्मिश्र दोष लगता

---

१ क आहारण । २ क दोसा दु ।

पानादिकं वा यद्यादत्तेऽपरिणतनामाशनदोषः। तथा लिप्तोऽप्रासुकवर्णादिसंसक्तस्तेन भाजनादिना दीयमानमाहारादिकं यदि गृह्णाति तदा तस्य लिप्तनामाशनदोषः। तथा छोडिदं परित्यजनं भुंजानस्यास्थिरपाणिपात्रेणाहारस्य परिशतनं गलनं परित्यजनं यत्क्रियते तत्परित्यजननामाशनदोषः। एतेऽशनदोषा दशैव भवंति ज्ञातव्या इति ॥४६२॥

शंकितदोषं विवृण्वन्नाह—

असणं च पाणयं वा खादीयमध सादियं च अज्झप्पे।
कप्पियमकप्पियत्ति य संदिद्धं संकियं जाणे ॥४६३॥

अशनं भक्तादिकं, पानकं दधिक्षीरादिकं खाद्यं लड्डुकाशोकवर्त्यादिकं, अथ स्वाद्यं एलाकस्तूरीलवंगकक्कोलादिकं। चाशब्दैरत्र स्वगतभेदा ग्राह्याः। अध्यात्मे आगमे चेतसि वा कल्पितं योग्यमकल्पितमयोग्यमिति सन्दिग्धं संशयस्थं शंकितं जानीहि, आगमे किमेतन्मम कल्प्यमुत नेति यद्येवं संदिग्धमाहारं भुंक्ते तदा शंकितनामाशनदोषं जानीहि। अथवाध्यात्मे चेतसि किमधःकर्मसहितमुत नेति सन्दिग्धमाहारं[1] यदि गृह्णीयाच्छंकितं जानीहि ॥४६३॥

है। जो परिणत नहीं हुआ है, जिसका रूप रस आदि नहीं बदला है ऐसे आहार या पान आदि जो कि अग्नि आदि के द्वारा अपक्व हैं उनको जो मुनि ग्रहण करते हैं उनके अपरिणत नाम का दोष होता है। अप्रासुक वर्ण आदि से संसक्त वस्तु लिप्त है। उस गेरु आदि से लिप्त हुए वर्तन आदि से दिया गया आहार आदि मुनि लेते हैं तो उनके लिप्त नाम का अशन दोष होता है। तथा छोटित—गिराने को परित्यजन कहते हैं। आहार करते हुए साधु के यदि अस्थिर—छिद्र सहित पाणि पात्र से आहार या पीने की चीजें गिरती रहती हैं तो मुनि के परित्यजन नाम का अशन दोष होता है। ये दश अशन दोष होते हैं। इनका विस्तार से वर्णन आगे गाथाओं द्वारा करते हैं।

शंकित दोष का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार भेद रूप आहार हैं। आगम में या मन में ऐसा संदेह करना कि यह योग्य है या अयोग्य ? सो शंकित दोष है ॥४६३॥

आचारवृत्ति—भात आदि भोजन अशन कहलाते हैं। दही, दूध आदि पदार्थ पानक हैं। लड्डू आदि वस्तुएँ खाद्य हैं। इलायची, कस्तूरी, लवंग, कक्कोल आदि वस्तुएँ स्वाद्य हैं। 'चा' शब्द से इनमें स्वगत भेद ग्रहण करना चाहिए।

अध्यात्म में अर्थात् आगम में इन्हें मेरे योग्य कहा है या अयोग्य? इस प्रकार से संदेह करते हुए उस संदिग्ध आहार को ग्रहण करना शंकित दोष है। अथवा अध्यात्म अर्थात् चित्त में ऐसा विचार करना कि यह भोजन अधःकर्म से सहित है या नहीं ऐसा संदेह रखते हुए उसी आहार को ग्रहण कर लेना सो शंकित दोष है।

---

१ क 'हारं भुंक्ते तदा शंकितं नामाशनदोषं जानीहि।

द्वितीयं म्रक्षितदोषमाह—

ससिणिद्धेण य देयं हत्थेण य भायणेण दव्वीए ।
एसो मक्खिददोसो परिहरदव्वो सदा मुणिणा ।।४६४।।

सस्निग्धेन हस्तेन भाजनेन दर्व्या कटच्छुकेन च यद्देयं भक्तादिकं यदि गृह्यते तदा म्रक्षितदोषो भवति । तस्मादेष म्रक्षितदोषः परिहर्तव्यो मुनिना सम्मूर्च्छनादिसूक्ष्मदोषदर्शनादिति ।।४६४।।

तृतीयं निक्षिप्तदोषमाह—

सच्चित्त पुढविआऊ तेऊहरिदं च बीयतसजीवा ।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं ।।४६५।।

सचित्तपृथिव्यां सचित्ताप्सु सचित्ततेजसि हरितकायेषु बीजकायेषु त्रसजीवेषु तेषूपरि यत्स्थापितमाहारादिकं तन्निक्षिप्तं भवति षड्भेदं । अथवा सह चित्तेनाप्रासुकेन वर्तते इति सचित्तं । सचित्तं च पृथिवीकायाश्चाप्कायाश्च तेजःकायाश्च हरितकायाश्च बीजकायाश्च त्रसजीवाश्च तेषामुपरि यन्निक्षिप्तं सचित्तं तत् षड्भेदं भवति ज्ञातव्यं ।।४६५।।

द्वितीय म्रक्षित दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—चिकनाई युक्त हाथ से या वर्तन से या कलछी-चम्मच से दिया गया भोजन म्रक्षित दोष है । मुनि को हमेशा इसका परिहार करना चाहिए ।।४६४।।

आचारवृत्ति—घी, तेल आदि के चिकने हाथ से या चिकने हुए वर्तन से या कलछी चम्मच से दिया गया जो भोजन आदिक है उसे यदि मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके म्रक्षित दोष होता है । सो यह दोष मुनि को छोड़ देना चाहिए क्योंकि इसमें सम्मूर्च्छन आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना का दोष देखा जाता है अर्थात् छोटे-मोटे मच्छर आदि जन्तु चिकने हाथ आदि में चिपककर मर सकते हैं अतः यह दोष है ।

निक्षिप्त दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति तथा बीज और त्रस जीव—उनके ऊपर जो आहार रखा हुआ है वह छह भेद रूप निक्षिप्त होता है ।।४६५।।

आचारवृत्ति—सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, हरित काय वनस्पति, बीज काय और त्रस जीव इन पर रखा हुआ जो आहार आदि है वह छह भेद रूप निक्षिप्त कहलाता है । अथवा चित्त कर सहित अप्रासुक वस्तु को सचित्त कहते हैं । ऐसे पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, हरितकाय, बीजकाय और त्रसकाय जीव होते हैं । उन पर रखी हुई वस्तु सचित्त हो जाती है । इन जीवकायों की अपेक्षा से वह छह भेद रूप हो जाती है । ऐसे आहार को लेना निक्षिप्त दोष है ।

भावार्थ—अंकुर शक्ति के योग्य गेहूँ आदि धान्य को बीज कहते हैं । ये बीज जीवों की उत्पत्ति के लिए योग्य हैं, योनिभूत हैं इसलिए सचित्त हैं, यद्यपि वर्तमान में इनमें जीव

पिहितदोषमाह—

सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अचित्तगुरुगपिहिदं च ।
तं छंडिय जं देयं पिहिदं तं होदि वोधव्वो ॥४६६॥

सचित्तेन पिहितमप्रासुकेन पिहितं । अथवाऽचित्तगुरुकपिहितं वा प्रासुकेण (न) गुरुकेण यद्वावृतं तत्त्यक्त्वा यद्देयमाहारादिकं यदि गृह्यते पिहितं नाम दोषं भवति बोद्धव्यं ज्ञातव्यमिति ॥४६६॥

संव्यवहारदोषमाह—

संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेल भायणादीणं ।
असमिक्खय जं देयं [1]संववहरणो हवदि दोसो ॥४६७॥

संव्यवहरणं संझटिति व्यवहारं कृत्वा, प्रदातुमिति चेलभाजनादीनां संभ्रमेणाहरणं वा कृत्वा, प्रकर्षेण दाननिमित्तं[2] वसुभाजनादीनां झटिति संव्यवहरणं कृत्वाऽसमीक्ष्य यद्देयं पानभोजनादिकं तद्यदि संगृह्यते संव्यवहरणं दोषो भवत्येष इति ॥४६७॥

दायकदोषमाह—

सूदी सुंडी रोगी मदयणपुंसय पिसायणग्गो य ।
उच्चारपडिदवंतरुहिरवेसी समणी अंगमक्खीया ॥४६८॥

पिहित दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो सचित्त वस्तु से ढका हुआ है अथवा जो अचित्त भारी वस्तु से ढका हुआ है उसे हटाकर जो भोजन देना है वह पिहित है, ऐसा जानना चाहिए ॥४६६॥

आचारवृत्ति—अप्रासुक वस्तु से ढका हुआ या प्रासुक किन्तु वजनदार से ढका हुआ है, उसे खोलकर जो आहार आदि दिया जाता है और यदि मुनि उसे लेते हैं तो उन्हें वह पिहित नाम का दोष होता है।

संव्यवहार दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—यदि देने के लिए बर्तन आदि को खींचकर बिना देखे दे देवे तो संव्यवहरण दोष होता है ॥४६७॥

आचारवृत्ति—दान के निमित्त वस्त्र या बर्तन आदि को जल्दी से खींचकर बिना देखे जो भोजन आदि मुनि को दिया जाता है और यदि वे वह भोजन-पान आदि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके लिए वह संव्यवहरण दोष होता है।

दायक दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—धाय, मद्यपायी, रोगी, मृतक के सूतक सहित, नपुंसक, पिशाचग्रस्त, नग्न, मलमूत्र करके आये हुए, मूर्छित, वमन करके आये हुए, रुधिर सहित, वेश्या, श्रमणिका, तैल मालिश करनेवाली, अतिबाला, अतिवृद्धा, खाती हुई, गर्भिणी, अंधी, किसी के आड़ में खड़ी

---

१ क साहरणो सो ह° । २ क °सं भा° ।

अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था ॥४६९॥

सूतिः या बालं प्रसाधयति। सुंडी—मद्यपानलम्पटः। रोगी व्याधिग्रस्तः। मदय—मृतकं श्मशाने परिक्षिप्यागतो यः स मृतक इत्युच्यते। मृतकसूतकेन यो जुष्टः सोऽपि मृतक इत्युच्यते। नउंसय—न स्त्री न पुमान् नपुंसकमिति जानीहि। पिशाचो वाताद्युपहतः। नग्नः पटाद्यावरणरहितो गृहस्थः। उच्चारं मूत्रादीन् कृत्वा य आगतः स उच्चार इत्युच्यते। पतितो मूर्च्छागतः। वान्तश्छर्दिं कृत्वा य आगतः। रुधिरं रुधिरसहितः। वेश्या दासी। श्रमणिकाऽऽर्यिका। अथवा पंचश्रमणिका रक्तपटिकादयः। अंगम्रक्षिका अंगाभ्यंगनकारिणी ॥४६८॥ तथा—

अतिबाला अतिमुग्धा, अतिवृद्धा अतीवजराग्रस्ता। ग्रासयन्ती भक्षयन्ती उच्छिष्टा। गर्भिणी गुरुभारा पंचमासिका। अंधलिका चक्षूरहिता। अन्तरिता कुड्यादिभिर्व्यवहिता। आसीनोपविष्टा। उच्चस्था उन्नतप्रदेशस्थिता। नीचस्था निम्नप्रदेशस्थिता। एवं पुरुषो वा वनिता च यदि ददाति तदा न ग्राह्यं भोजनादिकमिति ॥४६९॥ तथा—

फूयण पज्जलणं वा सारण पच्छादणं च [1]विज्झवणं।
किच्चा तहग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥४७०॥

हुई, बैठी हुई, ऊँचे पर खड़ी हुई या नीचे स्थान पर खड़ी हुई आहार देवें तो दायक दोष है ॥४६८-४६९॥

आचारवृत्ति—जो बालक को सजाती है वह सूति या धाय कहलाती है। शौंडी—मद्यपान लंपट। रोगी—व्याधिग्रस्त। श्मशान में मृतक को छोड़कर आया हुआ भी मृतक कहलाता है और जो मृतक के सूतक-पातक से युक्त है वह भी मृतक कहलाता है। जो न स्त्री है न पुरुष वह नपुंसक है। वात आदि से पीड़ित को पिशाच कहा है। वस्त्र आदि आवरण से रहित गृहस्थ नग्न कहलाते हैं। मल-मूत्रादि करके आये हुए जन को भी उच्चार शब्द से कहा गया है। वमन करके आए हुए को वान्ति कहा गया है। मूर्च्छा की बीमारीवाला या मूर्च्छित हुआ पतित कहलाता है। जिसके रुधिर निकल रहा है उसको रुधिर शब्द से कहा है। वेश्या—दासी, श्रमणिका—आर्यिका, रक्तपट वगैरह धारण करने वाली साध्वियाँ, अंगम्रक्षिका अर्थात् तैलादि मालिश करने वाली। तथा—

अतिबाला, अतिमूढ़ा, अतिवृद्धा—अत्यधिक जरा से जर्जरित, भोजन करती हुई, गर्भिणी—पंच महीने के गर्भ वाली (अर्थात् पाँच महीने के पहले तक आहार दे सकती है।), अंधलिका—जिसे नेत्र से दिखता नहीं है, अन्तरिका—जो दीवाल आदि की आड़ में खड़ी है, निषण्णा—जो बैठी हुई है, उच्चस्था—जो ऊँचे प्रदेश पर स्थित है और नीचस्था—जो नीचे प्रदेश पर स्थित है, ऐसी स्त्री (या कुछ विशेषण सहित पुरुष) यदि आहार देते हैं तो मुनि उसे नहीं ले। तथा—

गाथार्थ—फूंकना, जलाना, सारण करना, ढकना, बुझाना, तथा लकड़ी आदि को हटाना, या पीटना इत्यादि अग्नि का कार्य करके,

---

लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खिविय।
एवंविहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ॥४७१॥

फूयणं—संधुक्षणं मुखवातेनान्येन वा अग्निना काष्ठादीनां प्रज्वालनं प्रद्योतनं वा सारणं काष्ठादीनामुत्कर्षणं, प्रच्छादनं भस्मादिना विध्यापनं जलादिना कृत्वा तथान्यदपि अग्निकार्यं, निर्वातं निर्वाणं काष्ठादिपरित्यागः, घट्टनं चापि कुड्यादिनावरणं ॥४७०॥ तथा—

लेपनं गोमयकर्दमादिना कुड्यादेर्मार्जनं स्नानादिकं कर्म कृत्वेति सम्बंधः। पिबन्तं दारकं च स्तनमाददानं बालं निक्षिप्य त्यक्त्वा, अन्यांश्चैवंविधादिकान् कृत्वा पुनर्दानं यदि दत्ते दायकदोषा भवन्तीति ॥४७१॥

उन्मिश्रदोषमाह—

पुढवी आऊ य तहा हरिदा बीया तसा य सज्जीवा।
[1]पंचेहिं तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥४७२॥

पृथिवी मृत्तिका, आपश्चाप्रासुकः, तथा हरितकाया पत्रपुष्पफलादयः। बीयाणि—बीजानि यवगोधूमादयः। त्रसाश्च सजीवा निर्जीवाः पुनर्मलमध्ये भविष्यन्ति दोषा इति। तैः पंचभिर्मिश्र आहारो

गाथार्थ—लीपना, धोना करके तथा दूध पीते हुए बालक को छोड़कर इत्यादि कार्य करके आकर यदि दान देते हैं तो दायक दोष होता है ॥४७०-७१॥

आचारवृत्ति—फूत्करण—मुख की हवा से या अन्य किसी से अग्नि को फूंकना, प्रज्वालन—काठ आदि को जलाना अथवा प्रद्योतित करना, सारण—काठ आदि का उत्कर्षण करना अर्थात् अग्नि में लकड़ियों को डालना, प्रच्छादन—भस्म आदि से ढक देना, विध्यापन—जल आदि से अग्नि को बुझा देना, निर्वात—अग्नि से लकड़ी आदि को हटा देना, घट्टन—किसी चीज से अग्नि को दबा देना आदि अग्नि सम्बन्धी कार्य करते हुए आकर जो आहार देवे तो दायक दोष है।

लेपन—गोबर मिट्टी आदि से लीपना, मार्जन—स्नान आदि कार्य करना तथा स्तनपान करते हुए बालक को छोड़कर आना, इसी प्रकार से और भी कार्य करके आकर जो पुनः दान देता है और मुनि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके दायक दोष होता है।

उन्मिश्र दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज और सजीव त्रस इन पाँचों से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र होता है ॥४७२॥

आचारवृत्ति—मिट्टी, अप्रासुक जल तथा पत्ते फूल आदि हरितकाय, जौ, गेहूं आदि बीज और सजीव त्रस, इन पाँच से मिश्रित हुआ आहार उन्मिश्र दोष रूप होता है। इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। चूंकि यह महादोष है, इस दोष में सजीव त्रसों को लिया गया

---

१ क पंचहि य ते।

भवत्युन्मिश्रः सर्वथा वर्जनीयो महादोष इति कृत्वेति ॥४७२॥

अपरिणतदोषमाह—

तिलतंडुलउसिणोदयं चणोदयं तुसोदयं अविद्धत्थं ।
अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो ॥४७३॥*

तिलोदकं तिलप्रक्षालनं । तंदुलोदकं तंदुलप्रक्षालनं । उष्णोदकं तप्तं भूत्वा शीतं च चणोदकं चणप्रक्षालनं । तुषोदकं तुषप्रक्षालनं । अविध्वस्तमपरिणतं आत्मीयवर्णगन्धरसापरित्यक्तं । अन्यदपि तथाविधमपरिणतं हरीतकीचूर्णादिना अविध्वस्तं । नैवं गृह्णीयात् नैव ग्राह्यमिति । एतानि परिणतानि ग्राह्याणीति ॥४७३॥

लिप्तदोषं विवृण्वन्नाह—

गेरुय हरिदालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण ।
सपबालो[1]दणलेवे ण व देयं करभायणे लित्तं ॥४७४॥

गैरिकया रक्तद्रवेण, हरितालेन सेढिकया पटिकया पांडुमृत्तिकया, मनःशिलया आमपिष्टेन वा

है । निर्जीव अर्थात् मरे हुए त्रसों के आजाने का हेतुभूत कारण आहार मलदोष के अन्तर्गत आ जायेगा ।

अपरिणत दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—तिलोदक, तण्डुलोदक, उष्ण जल, चने का धोवन, तुषधोवन, विपरणित नहीं हुए और भी जो वैसे हैं, परिणत नहीं हुए हैं, उन्हें ग्रहण नहीं करे ॥४७३॥

आचारवृत्ति—तिलोदक—तिल का धोवन, तण्डुलोदक—चावल का धोवन, उष्णोदक—गरम होकर ठण्डा हुआ जल, चणोदक—चने का धोवन, तुषोदक—तुष का धोवन; अविध्वस्त—अपने वर्ण, गंध, रस, को नहीं छोड़ा है ऐसा जल; अन्य भी उसी प्रकार से हरड़ आदि के चूर्ण से प्रासुक नहीं किये हैं अथवा जल में हरड़ आदि का चूर्ण इतना थोड़ा डाला है कि वह जल अपने रूप गंध और रस से परिणत नहीं हुआ है; ऐसे जल आदि को नहीं लेना चाहिए। यदि ये परिणत हो गये हैं तो ग्रहण करने योग्य हैं ।

लिप्त दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—गेरु, हरिताल, सेलखड़ी, मनःशिला, गीला आटा, कोंपल आदि सहित जल इन से लिप्त हुए हाथ या वर्तन से आहार देना सो लिप्त दोष है ॥४७४॥

आचारवृत्ति—गेरु, हरिताल, सेटिका—सफेद मिट्टी या खड़िया, मनशिल अथवा

---

१ क °लदगोल्लेणव° ।

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार की इस गाथा में अन्तर है—

तिलचाउणउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं ।
अण्णं पि य असणादी अपरिणदं णेव गेण्हेज्जो ॥

तंदुलादिचूर्णेन सप्रवालेन अपक्वशाकेन अप्रासुकोदकेन वा आर्द्रेणैव हस्तेन भाजनेन वा यद्देयं तल्लिप्तं नाम दोषं विजानीहि ॥४७४॥

परित्यजनदोषमाह—

बहु परिसाडणमुज्झिय आहारो परिगलंत दिज्जंतं।
छंडिय भुंजणमहवा [1]छंडियदोसो हवे णेओ ॥४७५॥

बहुपरिसातनमुज्झित्वा बहुप्रसातनं कृत्वा भोज्यं स्तोकं त्याज्यं बहुपाश्वहारेण[2] सोऽपि बहुपरिसातनमित्युच्यते। आहारं परिगलंतं दीयमानं तक्रघृतोदकादिभिः परिस्रवंतं छिद्रहस्तैश्च बहुपरिसातनं च कृत्वाहारं यदि गृह्णाति त्यक्त्वा चैकमाहारमपरं भुंक्ते यस्तस्य त्यक्तदोषो भवति। एते अशनदोषाः दश परिहरणीयाः। सावद्यकारणाज्जीवदयाहेतोर्लोकजुगुप्सा ततश्चेति ॥४७५॥

संयोजनाप्रमाणदोषानाह—

संजोयणा य दोसो जो संजोएदि भत्तपाणं तु।
अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो ॥४७६॥

संयोजनं च दोषो भवति। यः संयोजयति भक्तं पानं तु। शीतं भक्तं पानेनोष्णेन संयोजयति।

चावल आदि का आटा, सप्रवाल—अपक्वशाक, अथवा अप्रासुक जल इन वस्तुओं से लिप्त हुए हाथ से या बर्तन से जो आहार दिया जाता है वह लिप्त नाम के दोष से सहित है ऐसा जानो।

परित्यजन दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—बहुत-सा गिराकर, या गिरते हुए दिया गया भोजन ग्रहण कर और भोजन करते समय गिराकर जो आहार करना है वह व्यक्त दोष है ऐसा जानना चाहिए ॥४७५॥

आचारवृत्ति—बहुत-सा भोजन गिराकर आहार लेना अर्थात् भोजन की वस्तुएँ थोड़ी हाथ में रखना, बहुत-सी गिरा देना सो भी परिसातन कहलाता है। घी, छाछ, जल आदि वस्तु देते समय हाथ से बहुत गिर रही हों या अपने छिद्र सहित अंजली पुट से इन वस्तुओं को बहुत गिराते हुए आहार लेना, तथा एक कोई वस्तु हाथ से गिराकर अन्य कोई इष्ट वस्तु खा लेना इत्यादि प्रकार से मुनि के व्यक्त दोष होता है।

ये दश अशन दोष कहे गये हैं जो कि त्याग करने योग्य हैं। ये सावद्य को करने वाले हैं। इनसे जीवदया नहीं पलती है और लोक में निन्दा भी होती है अतः ये त्याज्य है।

संयोजना और प्रमाण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो भोजन और पान को मिला देता है सो संयोजना दोष है। अतिमात्र आहार लेना सो यह प्रमाण दोष होता है ॥४७६॥

आचारवृत्ति—ठण्डा भोजन उष्ण जल से मिला देना, या ठण्डे जल आदि पदार्थ उष्ण भात आदि से मिला देना। अन्य भी परस्पर विरुद्ध वस्तुओं को मिला देना संयोजना दोष है।

---

१ क छोडिय। २ क हारे सो।

शीतं वा पानं उष्णेन भक्तादिना संयोजयति। अन्यदपि विरुद्धं परस्परं यत्तद्यदि संयोजयति तस्य संयोजननाम दोषो [1]भवति। अतिमात्र आहारः—अशनस्य सव्यंजनस्य द्वयभागं तृतीयभागमुदकस्योदरस्य[2] यः पूरयति, चतुर्थभागं चावशेषयति यस्तस्य प्रमाणभूत आहारो भवति, अस्मादन्यथा यः कुर्यात्तस्यातिमात्रो नामाहारदोषो भवति। प्रमाणातिरिक्ते आहारे गृहीते स्वाध्यायो न प्रवर्तते, षडावश्यकक्रियाः कर्तुं न शक्यंते, ज्वरादयश्च संतापयन्ति, निद्रालस्यादयश्च दोषा जायंते इति ॥४७६॥

अंगारधूमदोषानाह—

तं होदि [3]सयंगालं जं आहारेदि[4] मुच्छिदो संतो।
तं पुण होदि सधूमं जं आहारेदि णिंदिदो ॥४७७॥

यदि मूर्छितः सन् गृद्धयाद्यायु मुक्तः आहारत्यभ्यवहरति भुंक्ते तदा तस्य पूर्वोक्तोऽङ्गारादिदोषो भवति, सुष्ठु गृद्धिदर्शनादिति। तत्पुनर्भवति स पूर्वोक्तो धूमो नाम दोषः, यस्मादाहरति निंदन्जुगुप्समानो विरूपकमेतदनिष्टं मम, एवं कृत्वा यदि भुंक्ते तदानीं धूमो नाम दोषो भवत्येव, अन्तःसंक्लेशदर्शनादिति।

कारणमाह—

छहिं कारणेहिं असणं आहारंतो वि आयरदि धम्मं।
छहिं चेव कारणेहिं दु णिज्जुहंतो वि आचरदि ॥४७८॥

व्यंजन आदि भोजन से उदर के दो भाग पूर्ण करना और जल से उदर का तीसरा भाग पूर्ण करना तथा उदर का चतुर्थ भाग खाली रखना सो प्रमाणभूत आहार कहलाता है। इससे भिन्न जो अधिक आहार ग्रहण करते हैं उनके प्रमाण या अतिमात्र नाम का आहार दोष होता है। प्रमाण से अधिक आहार लेने पर स्वाध्याय नहीं होता है, षट्-आवश्यक क्रियाएँ करना भी शक्य नहीं रहता है। ज्वर आदि रोग भी उत्पन्न होकर संतापित करते हैं तथा निद्रा और आलस्य आदि दोष भी होते हैं। अतः प्रमाणभूत आहार लेना चाहिए।

अंगार और धूम दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो गृद्धि युक्त आहार लेता है वह अंगार दोष सहित है। जो निन्दा करते हुए आहार लेता है उसके धूम दोष होता है ॥४७७॥

आचारवृत्ति—जो मूर्छित होता हुआ अर्थात् आहार में गृद्धता रखता हुआ आहार लेता है उसके अंगार नाम का दोष होता है, क्योंकि उसमें अतीव गृद्धि देखी जाती है।

जो निन्दा करते हुए अर्थात् यह भोजन विरूपक है, मेरे लिए अनिष्ट है, ऐसा करके भोजन करता है उसके धूम नाम का दोष होता है क्योंकि अंतरंग में संक्लेश देखा जाता है।

कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—छह कारणों से भोजन ग्रहण करते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं और छह कारणों से ही छोड़ते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं ॥४७८॥

---

१ क °त्येव। २ क °उदकस्थानेन विधनोदरं यः। ३ क सङ्गालं। ४ क °रेदि मु°।

षड्भिः कारणैः प्रयोजनैस्तु निरवशेषमशनमाहारं भोज्यखाद्यलेह्यपेयात्मकमभ्यवहरन्नपि भुंजानो-ऽप्याचरति चेष्टयति अनुष्ठानं करोति धर्मं चारित्रं। तथैव षड्भिः कारणैः प्रयोजनैस्तु निरवशेषं 'जुगुप्सन्नपि परित्यजन्नप्याचरति प्रतिपालयति धर्ममिति संबंधः। निष्कारणं यदि भुंक्ते भोज्यादिकं तदा दोषः, कारणैः पुनर्भुंजानोऽपि धर्ममाचरति साधुरिति सम्बन्धः। तथापरैः प्रयोजनैः परित्यजन्नपि भोज्यादिकं धर्ममेवाचरति नाशनपरित्यागे दोषः सकारणत्वात्परित्यागस्येति ।।४७८।।

कानि तानि कारणानि यैर्भुक्तेऽशनमित्याशंकायामाह—

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ।।४७९।।

वेदना क्षुद्वेदनामुपशमयामीति भुंक्ते। वैयावृत्त्यमात्मनोऽन्येषां च करोमीति वैयावृत्त्यार्थं भुंक्ते। क्रियार्थं षडावश्यकक्रिया मम भोजनमन्तरेण न प्रवर्तते इति ताः प्रतिपालयामीति भुंक्ते। संयमार्थं त्रयोदश-विधं संयमं पालयामीति भुंक्ते, अथवाहारमन्तरेणेन्द्रियाणि मम विकलानि भवन्ति तथा सति जीवदयां कर्तुं न शक्नोमीति प्राणसंयमार्थं इन्द्रियसंयमार्थं च भुंक्ते, तथा प्राणचिन्तया भुंक्ते, प्राणा दशप्रकारास्तिष्ठन्ति (न)

आचारवृत्ति—मुनि छह कारणों से प्रयोजनों—से भोज्य, खाद्य, लेह्य, पेय इन चार प्रकार के आहार को ग्रहण करते हुए भी धर्म अर्थात् चारित्र का अनुष्ठान करते हैं। तथा छह प्रयोजनों से ही आहार का त्याग करते हुए भी धर्म का पालन करते हैं। यदि मुनि निष्कारण ही आहार ग्रहण करते हैं तो दोष है। प्रयोजनों से भोजन करते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं ऐसा अभिप्राय है। उसी प्रकार से अन्य प्रयोजनों से ही भोजन का त्याग करते हुए धर्म का ही पालन करते हैं अतः भोजन के परित्याग में दोष नहीं है, क्योंकि वह त्याग कारण सहित होता है।

वे कौन से कारण हैं जिनसे आहार करते हैं? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वेदना शमन हेतु, वैयावृत्ति के लिए, क्रियाओं के लिए, संयम के लिए, तथा प्राणों की चिन्ता और धर्म की चिन्ता के लिए, इन कारणों से आहार करे ।।४७९।।

आचारवृत्ति—'मैं क्षुधा-वेदना का उपशम करूँ' इसलिए मुनि आहार करते हैं। 'मैं अपनी और अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करूँ' इसलिए आहार करते है। 'मेरी छह आवश्यक क्रियाएँ भोजन के बिना नहीं हो सकती हैं, मैं उन क्रियाओं को करूँ', इसलिए आहार करते हैं। 'तेरह प्रकार का संयम मैं पालन करूँ' इसलिए भोजन करते हैं। अथवा 'आहार के बिना मेरी इन्द्रियाँ शिथिल या विकल हो जावेंगी तो मैं जीवदया पालन करने में समर्थ नहीं होऊँगा' इस तरह से प्राण संयम और इन्द्रिय संयम के पालन करने हेतु आहार करते हैं। तथा 'मेरे ये दश विध प्राण आहार के बिना नहीं रह सकते हैं', विशेष रूप से आहार के बिना आयु प्राण नहीं

---

१ क उज्झन्नपि।

णमाहारमन्तरेण विशेषेणायुर्न तिष्ठतीत्येवं प्राणार्थं भुंक्ते । तथा धर्मचिन्तया भुंक्ते धर्मो दशप्रकारः उत्तमक्षमादिलक्षणो मम वशे न तिष्ठति भोजनमंतरेण, क्षमां मार्दवमार्जवं चेत्यादिकं कर्तुं न शक्नोत्ययं जीवोऽशनमन्तरेणेति भुंक्ते। [1]नात्रमात्र धर्मसंयमयोः पुनरैक्यं क्षमादिभेददर्शनादिति । एभिः षड्भिः कारणैराहारं कुर्याद्यतिरिति सम्बन्धः ॥४७६॥

अथ यैः कारणैस्त्यजत्याहारं कानि तानीत्याशंकायामाह—

आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो ॥४८०॥

आतंके आकस्मिकोत्थितव्याधौ मारणान्तिकपीडायां सहितायां वाह्यजातीयामाहारव्युच्छेदः परित्यागः । तथोपसर्गे दीक्षाविनाशहेतौ देवमानुषतिर्यग्चेतनकृते समुपस्थिते भोजनपरित्यागः । तितिक्षणायां ब्रह्मचर्यगुप्तेः सुष्ठु निर्मलीकरणे सप्तमधातुक्षयायाहारव्युच्छेदः । तथा प्राणिदयाहेतौ यद्याहारं गृह्णामि बहुप्राणिनां घातो भवति तस्माद्यद्याहारं न गृह्णामीति जीवदयानिमित्तमाहारव्युच्छेदः । तथा तपोहेतौ द्वादशविधे

रह सकता है, अतः प्राणों के लिए मुनि आहार करते हैं । भोजन के बिना उत्तम क्षमा आदि रूप दस प्रकार का धर्म मेरे वश में नहीं रह सकेगा । अशन के बिना यह जीव क्षमा, मार्दव आदि धर्म करने में समर्थ नहीं हो सकता है, इसलिए वे आहार करते हैं ।

धर्म और संयम में एकान्त से ऐक्य नहीं है, क्योंकि क्षमादि भेद देखे जाते हैं । इन छह कारणों से यति आहार करते हैं यह अभिप्राय है ।

जिन कारणों से आहार छोड़ते हैं वे कौन से हैं ? सो ही कहते हैं—

गाथार्थ— आतंक होने पर, उपसर्ग के आने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, प्राणि दया के लिए, तप के लिए और संन्यास के लिए आहार त्याग होता है ॥४८०॥

आचारवृत्ति— आतंक—आकस्मिक कोई व्याधि उत्पन्न हो गयी जो कि मारणान्तिक पीड़ा कारक है, ऐसे प्रसंग में आहार का त्याग कर दिया जाता है । उपसर्ग—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत उपसर्ग के उपस्थित होने पर भोजन का त्याग होता है । ब्रह्मचर्य, गुप्ति की रक्षा के लिए अर्थात् अच्छी तरह ब्रह्मचर्य को निर्मल करने हेतु, सप्तम धातु अर्थात् वीर्य का क्षय करने के लिए आहार का त्याग होता है । 'यदि मैं आहार ग्रहण करता हूँ तो बहुत से प्राणियों का घात होता है इसलिए आहार ग्रहण नहीं करूँगा', इस तरह जीव दया के निमित्त आहार का त्याग करते हैं । 'बारह प्रकार के तपों में अनशन एक तप है उसे मैं करूँगा' ऐसे तप के लिए भी आहार छोड़ देते हैं । तथा 'संन्यास काल में अर्थात् वृद्धावस्था मेरी मुनि-अवस्था में हानि करनेवाली है, मैं दुस्साध्य रोग से युक्त हूँ, मेरी इन्द्रियाँ विकल हो गयी हैं, या मेरे स्वाध्याय की हानि हो रही है, मेरे जीने के लिए अब कोई उपाय नहीं है', इस प्रकार के प्रसंगों में शरीर का परित्याग करना होता है । इसी का नाम संन्यासमरण है । उस संन्यास

---

१ क नात्र धर्मं ।

तपस्यनशनं नाम तपस्तदद्य करोमीति तपो निमित्तमाहारव्युच्छेदः। तथा शरीरपरिहारे संन्यासकाले जरा मम श्रामण्यहानिकरी, रोगेण च दुःसाध्यतमेन जुष्टः, करणविकलत्वं च मम संजातं स्वाध्यायक्षतिश्च दृश्यते, जीवितव्यस्य च ममोपायो नास्तीत्येवं कारणे शरीरपरित्यागस्तन्निमित्तो भक्तादिव्युच्छेदः। एतैः षड्भिः कारणैराहारपरित्यागः कार्यः। न पूर्वैः सह विरोधो[1] विषयविभागदर्शनादिति, क्षुद्वेदनादिषु सत्स्वपि आतंकः स्यात्, यदि प्रचुरजीवहत्या वा दृश्यते ततो भोजनादिपरित्यागं, शरीरपीडारहितस्य तपोविधानमिति न विरोधो विषयभेददर्शनादिति। आहारोऽत्रानुवर्तते तेन सह सम्बन्धो व्युच्छेदस्येति ॥४८०॥

एतदर्थं पुनराहारं न कदाचिदपि कुर्यादिति प्रपंचयन्नाह—

ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥४८१॥

न वलार्थं मम वलं युद्धादिक्षमं भूयादित्येवमर्थं न भुंक्ते नायुषोर्थं—ममायुर्वृद्धिं यात्विति न भुंक्ते। न स्वादार्थं, शोभनोऽस्य स्वादो भोजनस्येत्येवमर्थं न भुंक्ते। न शरीरस्योपचयार्थं, शरीरं मम पुष्टं मांसवृद्धं वा भवत्विति न भुंक्ते। नापि तेजोऽर्थं, शरीरस्य मम दीप्तिः स्याद्दर्पो वेति न भुंजीताहारमिति। यद्येवमर्थं न भुंक्ते किमर्थं तर्हि भुंक्तेऽत आह—ज्ञानार्थं, ज्ञानं स्वाध्यायो मम प्रवर्ततामिति भुंक्ते। संयमार्थं,

---

मरण के निमित्त आहार का त्याग करते हैं। अर्थात् इन छह कारणों से आहार का त्याग करना चाहिए।

यहाँ पूर्व कारणों के साथ विरोध नहीं है, क्योंकि विषय विभाग देखा जाता है। क्षुधा-वेदना आदि के होने पर भी आतंक हो सकता है। अथवा यदि प्रचुर जीव-हत्या दिखती है तो भोजन आदि त्याग कर देते हैं। शरीर-पीड़ा रहित साधु के तपश्चरण होता है इसलिए विरोध नहीं है क्योंकि विषयभेद देखा जाता है। आहार शब्द की अनुवृत्ति होने से यहां पर भी गाथा में व्युच्छेद के साथ आहार का व्युच्छेद अर्थात् त्याग करना ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

इनके लिए पुनः आहार कदाचित् भी न करे, इसी बात को बताते हैं—

गाथार्थ—न वल के लिए, न आयु के लिए और न स्वाद के लिए, न शरीर की पुष्टि के लिए और न तेज के लिए आहार ग्रहण करे। किन्तु ज्ञान के लिए, संयम के लिए और ध्यान के लिए आहार ग्रहण करे ॥४८१॥

आचारवृत्ति—'युद्धादि में समर्थ ऐसा वल मेरे हो जावे' इस हेतु मुनि आहार नहीं करते हैं। 'मेरी आयु वढ़ जावे' इसलिए भी आहार नहीं करते हैं। 'इस भोजन का स्वाद बढ़िया है' इस प्रकार स्वाद के लिए भी भोजन नहीं करते हैं। 'मेरा शरीर पुष्ट हो जावे अथवा मांस की वृद्धि हो जावे' इसलिए भोजन नहीं करते हैं और 'मेरे शरीर में दीप्ति हो या दर्प हो' इसलिए भी आहार नहीं करते हैं।

यदि इन वल, आयु, स्वाद, शरीर पुष्टि और दीप्ति के लिए आहार नहीं करते हैं तो किसलिए करते हैं?

---

1 क 'विरोधो विभागदर्शनादिति आहाररोधो विषयदर्शनादिति। 2 क 'स्सुपच्चयट्ठ।

संयमो मम स्यादिति भुंक्ते। ध्यानार्थं चैव, आहारमन्तरेण न ध्यानं प्रवर्तते यतो भुंक्ते यतिरिति। तथापि भुंक्ते इत्यत आह ॥४८१॥

णवकोडीपरिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं।
संजोजणाय हीणं पमाणसहियं विहिसुदिण्णं ॥४८२॥
विगदिंगाल विधूमं छक्कारणसंजुदं कमविसुद्धं।
जत्तासाधणमेत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥४८३॥

नवकोटिपरिशुद्धं। कास्ताः कोटयो मनसा कृतकारितानुमतानि तिस्रः कोटयः, तथा वचसा कृतकारितानुमतानि तिस्रः कोटयः, तथा कायेन कृतकारितानुमतानि तिस्रः कोटय एताभि. कोटिभिः परिशुद्धमशनं, द्विचत्वारिंशद्दोषपरिहीणं उद्गमोत्पादैषणादोषरहितं, संयोजनयारहितं, प्रमाणसहितं, विधिना दत्तं प्रतिग्रहोच्चस्थानपादोदकार्चनाप्रणमनमनोवचनकायशुद्धयशनशुद्धिभिर्दत्तमुपनीतं, श्रद्धाभक्तितुष्टिविज्ञानालुब्ध-

---

'मेरा स्वाध्याय चलता रहे' इस तरह ज्ञान के लिए आहार करते हैं। 'मेरा संयम पलता रहे' इस तरह संयम के लिए आहार करते हैं और आहार के बिना ध्यान नहीं हो सकेगा इसलिए ध्यान के हेतु यति आहार करते हैं। अर्थात् ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए मुनि आहार करते हैं।

कैसा आहार ग्रहण करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—नवकोटि से शुद्ध भोजन, जो कि ब्यालीस दोषों से रहित है, संयोजना से हीन है, प्रमाण सहित है और विधिपूर्वक दिया जाता है।

जो कि अंगार दोष से रहित है, धूम दोष रहित है, छह कारणों से युक्त है और क्रम से विशुद्ध है, जो यात्रा के लिए साधनमात्र है तथा चौदह मल दोषों से रहित है, साधु ऐसा अशन ग्रहण करते हैं ॥४८२-४८३॥

आचारवृत्ति—जो आहार नव कोटि से परिशुद्ध है। ये नव कोटि क्या हैं? मन से कृत, कारित, अनुमोदना का होना ये तीन कोटि हैं; वचन से कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन कोटि हैं तथा काय से कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन कोटि हैं, ऐसे ये नव कोटि हुईं। इन नव कोटि से शुद्ध आहार को मुनि ग्रहण करते हैं। अर्थात् मुनि मन, वचन, काय से आहार न बनाते हैं, न बनवाते हैं और न अनुमोदना करते हैं।

सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष और दस एषणा दोष ये ब्यालीस दोष हैं। इनसे रहित, संयोजना दोष से रहित और प्रमाण सहित आहार लेते हैं। तथा विधि से दिया गया हो अर्थात् पड़गाहन करना, उच्च स्थान देना, पाद प्रक्षालन करना, अर्चना करना, प्रणाम करना, मन-वचन-काय की शुद्धि तथा आहार की शुद्धि यह नवधाभक्ति विधि कहलाती है। इस विधि से तथा श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलोभ, क्षमा और शक्ति सात गुणों से युक्त दाता के द्वारा जो दिया गया है ऐसा आहार लेते हैं। जो अंगार दोष रहित, धूम दोष रहित, छह कारणों से संयुक्त, क्रम से विशुद्ध अर्थात् उत्क्रम से हीन, तथा प्राणों के धारण के लिए

ताक्षमाशक्तियुक्तेन दातव्यं ति ॥४८२॥ तथा—

विगतांगारं, विगतधूमं, षट्कारणसंयुक्तं क्रमविशुद्धमुत्क्रमहीनं, यात्रासाधनमात्रं प्राणसंधारणार्थं अथवा मोक्षयात्रासाधननिमित्तं, चतुर्दशमलवर्जितं भुक्ते साधुरिति सम्बन्धः ॥४८३॥

अथ कानि चतुर्दशमलानीत्याह—

णहरोमजंतुअट्ठी कणकुंडयपूयचम्मरुहिरमंसाणि ।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ॥४८४॥

नखो, हस्तपादाङ्गुल्यग्रप्रभवो मनुष्यजातिप्रतिबद्धतिर्यग्जातिप्रतिबद्धो वा रोमवाल: सोपि मनुष्यतिर्यग्जात:[1] । जन्तुर्जीव: प्राणिरहितशरीरं । अस्थि कंकाल कण: यवगोधूमादीनां बहिरवयव: । कुंडयादिशाल्यादीनामभ्यन्तरसूक्ष्मावयवा: । पूय, पक्वरुधिरं व्रणक्लेद: चर्म शरीरत्वक् प्रथमधातु: । रुधिरं द्वितीयो धातु: । मांसं रुधिराधारं तृतीयो धातु: । बीजानि प्रा(प्र) रोहयोग्यावयवगोधूमादय: । फलानि जम्ब्वाम्राम्बाडकफलानि । कंद: कंदल्य[2]ध:प्रारोहकारणं । मूलं पिप्पल्या[3]द्यध:प्ररोहनिमित्तं । छिन्नानि पृथग्भूतानि मलानि चतुर्दश भवन्ति । कानिचिदत्र महामलानि, कानिचिदल्पानि, कानिचिन्महादोषाणि, कानिचिदल्पदोषाणि ।

अथवा मोक्ष की यात्रा के साधन का निमित्त है, चौदह मल दोषों से रहित है ऐसे आहार को यति ग्रहण करते हैं ।

भावार्थ—१६ उद्‌गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० अशन दोष, संयोजन, प्रमाण, अंगार और धूम से मिलकर छयालीस दोष हो जाते हैं । यहाँ पर संयोजन आदि चार को पृथक् करके उपर्युक्त ४२ को एक साथ लिया है ।

चौदह मलदोष क्या हैं ?

गाथार्थ—नख, रोम, जंतु, हड्डी, कण, कुण्ड, पीव, चर्म, रुधिर, मांस, बीज, फल, कंद और मूल ये पृथक्‌भूत चौदह मलदोष होते हैं ॥४८४॥

आचारवृत्ति—नख—मनुष्य या तिर्यंचों के हाथ या पैर की अंगुलियों का अग्र भाग, रोम—मनुष्य और तिर्यंचों के बाल, जन्तु—प्राणियों के निर्जीव शरीर, अस्थि—कंकाल अर्थात् हड्डी, कण—जौ-गेहूँ आदि के बाहर का अवयव, छिलका, कुण्ड—शालि आदि अभ्यन्तर भाग का सूक्ष्म अवयव, पूय—पका हुआ रुधिर अर्थात् घाव का पीव, चर्म—शरीर की त्वचा (यह प्रथम धातु है), रुधिर—खून (यह द्वितीय धातु है), मांस—रुधिर के लिए आधारभूत (यह तृतीय धातु है), बीज—उगने योग्य अवयव अर्थात् गेहूँ, चने आदि, फल—जामुन, आम, अंबाडक आदि, कंद—कंदली के नीचे से उगने वाला, अर्थात् जमीन में उत्पन्न होनेवाले अंकुर की उत्पत्ति के कारणभूत अथवा सूरण वगैरह; मूल—पिप्पली आदि जड़, ये चौदह मल होते हैं ।

इनमें कुछ तो महामल हैं और कोई अल्प मल हैं । कोई महादोष हैं और कोई अल्प दोष हैं । रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म और पीव ये महादोष हैं । आहार में इनके आ जाने पर सर्वाहार का परित्याग करने पर भी प्रायश्चित लेना होता है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय

---

१ क °र्यग्गत: । २ क °ल्या: प्ररो° । ३ क °ल्याद्य:° ।

रुधिरमांसास्थिचर्मपूयानि महादोषाणि सर्वाहारपरित्यागेऽपि प्रायश्चित्तकारणानि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियशरीराणि वालाश्चाहारत्यागकारणनिमित्तानि। नखेनाहारः परित्यज्यते। किंचित्प्रायश्चित्तं क्रियते। कणकुंडबीजकंदफलमूलानि परिहारयोग्यानि यदि परिहर्तुं न शक्यन्ते भोजनपरित्यागः क्रियते। तथा स्वशरीरे सिद्धभक्तौ कृतायां यदि रुधिरं पूयं च गलति पारिवेशकशरीराद्वा तदाहारस्य त्यागः। तद्दिवसेऽस्य मांसस्य पुनर्दर्शनेनाष्टप्रकारायां पिंडशुद्धौ न पठितानीति पृथगुच्यन्ते इति ॥४८४॥

दोषरहितं भुंक्ते यतिरित्युक्ते किं तद्भुंक्ते इत्याशंकायामाह—

पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदोत्ति तं दव्वं।
फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु ॥४८५॥

द्रव्यभावतः प्रासुकं द्रव्यं भुंक्ते। द्रव्यगतप्रासुकमाह—प्रगता असवः प्राणिनो यस्मात्तस्माद्द्रव्यतः शुद्धमिति तद्द्रव्यं यत्रैकेन्द्रिया जीवा न सन्ति न विद्यन्ते स आहारस्तद्द्रव्यतः शुद्धः, द्वीन्द्रियादयः पुनर्यत्र सजीवा निर्जीवा वा सन्ति स आहारो दूरतः परिवर्जनीयो द्रव्यतोऽशुद्धत्वादिति। प्रासुकमिति अनेन प्रकारेण प्रासुकं सिद्धं निष्पन्नमपि द्रव्यं यद्यात्मार्थं कृतमात्मनिमित्तं कृतं चिन्तयति तदा द्रव्यतः शुद्धमप्यशुद्धमेव ॥४८५॥

जीवों के शरीर अर्थात् मृत लट, चिंवटी, मक्खी आदि तथा बाल यदि आहार में आ जावें तो आहार छोड़ देना होता है। आहार में नख आ जाने पर आहार छोड़ देना होता है और किंचित् प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना होता है। कण, कुंड, बीज, कंद, फल और मूल इनके आ जाने पर यदि इन्हें न निकाल सकें तो आहार छोड़ देना चाहिए।

तथा सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि मुनि के अपने शरीर से रुधिर या पीव बहने लगता है अथवा आहार देने वाले के शरीर से रुधिर या पीव निकलता है तो उस दिन आहार छोड़ देना होता है। यदि माँस भी दिख जाए तो भी आहार त्याग कर देना चाहिए।

ये मल दोष आठ प्रकार की पिंडशुद्धि में नहीं कहे गए हैं, अतः इनका पृथक् कथन किया गया है।

यति दोषरहित आहार करते हैं तो वे कैसा आहार करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिस द्रव्य से जीव निकल गए हैं वह द्रव्य प्रासुक है। इस तरह का भोजन प्रासुक बना होने पर भी यदि वह अपने लिए बना है तो अशुद्ध है ॥४८५॥

आचारवृत्ति—मुनि द्रव्य और भाव से जो प्रासुक वस्तु आहार में लेते हैं। द्रव्यगत प्रासुक को कहते हैं—निकल गये हैं असु अर्थात् प्राणी जिसमें से वह द्रव्य से शुद्ध है अर्थात् जिसमें एकेन्द्रिय जीव नहीं है वह आहार द्रव्य से शुद्ध है। पुनः जिसमें द्वीन्द्रिय आदि जीव जीते हुए या निर्जीव हुए भी हैं वह आहार मुनि को दूर से ही छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वह द्रव्य से अशुद्ध है। इसी प्रकार से प्रासुक सिद्ध हुआ भी द्रव्य यदि अपने लिए तैयार किया गया है तो वह द्रव्य से शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध ही है। अर्थात् वह आहार भाव से अशुद्ध है।

कथं परार्थकृतं शुद्धमित्याशंकायां दृष्टान्तेनार्थमाह—

जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जंति।
ण हि मंडूगा एवं परमट्ठकदे जदि विसुद्धो ॥४८६॥

यथा मत्स्यानां प्रकृते मदनोदके यथा मत्स्यानां निमित्ते कृते मदनकारणे जले मत्स्या हि स्फुटं माद्यन्ति विह्वलीभवन्ति न हि मण्डूका, भेका नैव माद्यन्ति। यस्मिञ्जले मत्स्यास्तस्मिन्नेव मण्डूका अपि तथापि ते न विपद्यन्ते तद्धेतोरभावात्। एवं परार्थे कृते भक्तादिके[1] प्रवर्तमानोऽपि यतिविशुद्धस्तद्गतेन दोषेण न लिप्यते। कुटुम्बिनोऽधःकर्मादिदोषेण गृह्यन्ते न साधवः। तेन कुटुम्बिनः साधुदानफलेन तं दोषमपास्य स्वर्गगामिनो मोक्षगामिनश्च भवन्ति सम्यग्दृष्टयः, मिथ्यादृष्टयः पुनर्भोगभुवमवाप्नुवति न दोष इति ॥४८६॥

भावतः शुद्धमाह—

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वेवि बंधओ भणिओ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ॥४८७॥

प्रासुके द्रव्ये सति यद्यधःकर्मपरिणतो भवति साधुर्यद्यात्मार्थं कृतं मन्यते गौरवेण तदागी बन्धको

परके लिए बनाया गया भोजन कैसे शुद्ध है ? ऐसी आशंका होने पर दृष्टांत के द्वारा उसको कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे मत्स्यों के लिए किये मादक जल में मत्स्य ही मद को प्राप्त होते हैं, इसी तरह पर के लिए किये गये (भोजन) में यति विशुद्ध रहते हैं ॥४८६॥

आचारवृत्ति—जैसे मछलियों के लिए जल में मादक वस्तु डालने पर उस जल से मछलियाँ ही विह्वल होती हैं, मेंढक नहीं होते। जिस जल में मछलियाँ हैं उसी में मेंढक भी हैं, फिर भी वे विपत्ति को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि उनके लिए उस कारण का अभाव है। इसी तरह पर के लिए बनाये गये भोजन आदि में उसे ग्रहण करते हुए भी यति विशुद्ध हैं उसके दोष से लिप्त नहीं होते हैं अर्थात् (दाता के) कुटुम्बीजन ही अधःकर्म आदि दोष से दूषित होते हैं, साधु नहीं। बल्कि वे कुटुम्बी—गृहस्थ जन यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो साधु के दिये दान के फल से उस अधःकर्म—आरम्भजन्य दोष को दूर करके, स्वर्गगामी और मोक्षगामी हो जाते हैं और यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो पुनः भोगभूमि को प्राप्त कर लेते हैं इसलिए उन्हें दोष नहीं होता है।

भाव से शुद्ध आहार को कहते हैं—

गाथार्थ—अधःकर्म से परिणत हुए मुनि प्रासुक द्रव्य के ग्रहण करने में भी बन्धक कहे गये हैं, किन्तु शुद्ध आहार की गवेषणा करने वाले अधःकर्म से युक्त आहार ग्रहण करने में भी शुद्ध हैं ॥४८७॥

आचारवृत्ति—प्रासुक द्रव्य के होने पर भी यदि साधु अधःकर्म से परिणत हैं अर्थात्

---

१ क 'भक्ष्यादिके'।

भणितः कर्मबध्नाति । शुद्धं पुनर्गवेषयमाणोऽधःकर्मविशुद्धं कृतकारितानुमतिरहितं यत्नेन प्रयत्नतःकर्मणि सत्यपि शुद्धोऽसौ यद्यप्यधःकर्मणा निष्पन्नोऽसावाहारस्तथापि साधोर्न बन्धहेतुः कृतादिदोषाभावादिति ॥४८७॥

सव्वोवि पिंडदोसो दव्वे भावे समासदो दुविहो ।
दव्वगदो पुण दव्वे भावगदो अप्पपरिणामो ॥४८८॥

सर्वोऽपि पिण्डदोषो द्रव्यगतो भावगतश्च समासतो द्विप्रकारः । द्रव्यमुद्गमादिदोषसहितमप्यधः-कर्मणा युक्तं द्रव्यगतमित्युच्यते तस्माद्द्रव्यगतः पुनर्द्रव्यमिति । भावतः पुनरात्मपरिणामः शुद्धमपि द्रव्यं परिणामानामशुद्धयाऽशुद्धमिति तस्माद्भावशुद्धिर्यत्नेन कार्या । भावशुद्धया सर्वं तपश्चरणं ज्ञानदर्शनादिकं च व्यवस्थितमिति ॥४८८॥

द्रव्यस्य भेदमाह—

सव्वेसणं च विद्देसणं च सुद्धासणं च ते कमसो ।
एसणसमिदिविसुद्धं णिव्वियडमवंजणं जाणे ॥४८९॥

सर्वैषणं चशब्देनासर्वैषणं, विद्वैषणं चशब्देनाविद्वैषणं शुद्धाशनं चशब्देनाशुद्धाशनं च ग्राह्यं । एषणा-समितिविशुद्धं सर्वैषणमित्युच्यते । तथा विकृतेः पंचरसेभ्यो निष्क्रान्तं निर्विकृतं गुडतैलघृतदधिदुग्धशाकादि-

---

यदि वे गौरव से उस आहार को अपने लिए किया हुआ मानते हैं तब वे कर्म का बन्ध कर लेते है। पुनः शुद्ध की खोज करते हुए अर्थात् अधःकर्म से रहित और कृत-कारित-अनुमोदना से रहित ऐसा आहार यत्नपूर्वक चाहते हुए साधु कदाचित् अधःकर्म युक्त आहार के ग्रहण करने में भी शुद्ध ही हैं। यद्यपि वह आहार अधःकर्म के द्वारा बनाया हुआ है तो भी साधु के बन्ध का हेतु नहीं है, क्योंकि उसमें उन साधु की कृत-कारित-अनुमोदना आदि नहीं है।

गाथार्थ—सभी पिंड दोष द्रव्य और भाव से संक्षेप में दो प्रकार के हैं। पुनः द्रव्य से सम्बन्धित तो द्रव्य में है और भाव से सम्बन्धित आत्मा का परिणाम है ॥४८८॥

आचारवृत्ति—सभी पिंड दोष द्रव्यगत और भावगत की अपेक्षा से संक्षेप से दो प्रकार हैं, अर्थात् द्रव्य पिण्डदोष और भाव पिण्डदोष ऐसे पिण्डदोष के दो भेद हैं। उद्गम आदि दोष से सहित भी अधःकर्म से युक्त आहार द्रव्यगत पिण्डदोष कहलाता है। वह द्रव्य-गत पुनः द्रव्य दोष है। भाव से अर्थात् आत्म परिणाम से जो अशुद्ध है अर्थात् शुद्ध-प्रासुक भी आहार आदि पदार्थ परिणामों की अशुद्धि से अशुद्ध हैं, इसलिए भाव शुद्धि यत्नपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि भावशुद्धि से ही सर्व तपश्चरण और ज्ञान-दर्शन आदि व्यवस्थित होते हैं।

द्रव्य के भेद को कहते हैं—

गाथार्थ—सर्वैषण, विद्वैषण और शुद्धाशन ये क्रमशः एषणा समिति से शुद्ध, निर्विकृति रूप और व्यंजन रहित हैं ऐसा जानो ॥४८९॥

आचारवृत्ति—सर्वैषण, 'च' शब्द से असर्वैषण, विद्वैषण, 'च' शब्द से अविद्वैषण, शुद्धाशन और 'च' शब्द से अशुद्धाशन ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् गाथा में तीन चकार होने से प्रत्येक के विपरीत का ग्रहण किया समझना चाहिए। एषणा समिति से शुद्ध आहार सर्व-

रहितं सौवीरशुक्लतक्रादिसमन्वितं विद्गेपणमित्युच्यते। तथा सौवीरशुक्लतक्रादिभिर्वर्जितमव्यञ्जनं पाकाद-वतीर्णरूपं मनागप्यन्यथा न कृतं शुद्धाशनमिति क्रमशो यथानुक्रमेण जानीहि। एतत्त्रिविधं द्रव्यमशनयोग्यं। असर्वाशनं सर्वरससमन्वितं सर्वव्यञ्जनैश्च सहितं कादाचित्योग्यं कादाचिदयोग्यमिति। एवमनेन न्यायेनैषणा-समितिर्व्याख्याता भवति ॥४८९॥

तां कथं कुर्यादित्याशंकायामाह—

दव्वं खेत्तं कालं भावं बलवीरियं च णाऊण।
कुज्जा एषणसमिदिं जहोवदिट्ठं जिणमदम्मि ॥४९०॥

द्रव्यमाहारादिकं ज्ञात्वा, तथा क्षेत्रं जांगलानूपरूक्षस्निग्धादिकं ज्ञात्वा, तथा कालं शीतोष्णवर्षादिकं ज्ञात्वा तथा भावमात्मपरिणामं श्रद्धामुत्साहं ज्ञात्वा, तथा शरीरबलमात्मनो ज्ञात्वा, तथात्मनो वीर्यं

षण कहलाता है। तथा विकृति—पाँच प्रकार के रस, उनसे रहित आहार निर्विकृति रूप है। अर्थात् जो गुड़, तेल, घी, दही और दूध तथा शाक आदि से रहित है, तथा सौवीर—भात का मांड या कांजी, शुष्क तक्र—मक्खन निकाला हुआ छाछ इनसे सहित आहार विद्गेपण है। अर्थात् रसादि निर्विकृति आहर तथा मांड, कांजी या छाछ सहित आहार विद्गेपण कहलाता है। तथा कांजी व छाछ आदि से भी रहित आहार अव्यंजन है। जो पाक से अवतीर्ण हुआ मात्र है, किंचित् भी अन्य रूप नहीं किया गया है वह शुद्धाशन है। अर्थात् केवल पकाये हुए भात या रोटी दाल या उबाले हुए शाक आदि जिनमें नमक, मिरच, मसाला आदि कुछ भी नहीं डाला गया है वह भोजन अव्यंजन — संस्कार रहित है, वही शुद्धाशन कहलाता है। गाथा में यथाक्रम से इनका वर्णन किया गया है।

यह तीन प्रकार का द्रव्य अर्थात् भोजन आहार में ग्रहण करने योग्य है। तथा सर्व-रसों से समन्वित और सर्व व्यंजनों से सहित ऐसा आहार असर्वाशन है वह कदाचित् ग्रहण करने योग्य है, कदाचित् अयोग्य है। इस न्याय से वर्णन करने पर एषणा समिति का व्याख्यान होता है।

उस एषणा समिति का पालन कैसे करें? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा बलवीर्य को जानकर जैसे जिनमत में कही गई है ऐसी एषणा समिति का पालन करें ॥४९०॥

आचारवृत्ति—द्रव्य—आहार आदि पदार्थ को जानकर, क्षेत्र—जांगल, अनूप, रूक्ष, स्निग्ध आदि क्षेत्र को जानकर, काल—शीत, उष्ण, वर्षा आदि को जानकर, भाव—आत्मा के परिणाम, श्रद्धा, उत्साह को जानकर तथा अपने शरीर के बल को जानकर एवं अपने वीर्य—संहनन को जानकर साधु, जिनागम में जैसा उसका वर्णन किया गया है उसी तरह से, एषणा समिति का पालन करे। यदि द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा न रखकर चाहे जैसा वर्तन करेगा तो शरीर में वात-पित्त-कफादि की उत्पत्ति हो जावेगी।

भावार्थ—क्षेत्र के जांगल, अनूप और साधारण ऐसे तीन भेद माने जाते हैं। जिस

संहननं ज्ञात्वा कुर्यादशनसमितिं जिनागमे यथोपदिष्टामिति। अन्यथा यदि कुर्याद्वातपित्तश्लेष्मादिसमुद्भवः स्यादिति ॥४६०॥

भोजनविभागपरिणाममाह—

अद्धमसणस्स सव्विजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण।
वाऊसंचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू ॥४६१॥

उदरस्यार्धं सव्यञ्जनेनाशनेन पूरयेत्तृतीयभागं चोदरस्योदकेन पूरयेद्वायोः संचरणार्थं चतुर्थभागमुदरस्यावशेषयेद्भिक्षुः। चतुर्थभागमुदरस्य तुच्छं कुर्याद्येन षडावश्यकक्रियाः सुखेन प्रवर्तन्ते, ध्यानाध्ययनादिकं च न हीयते, अजीर्णादिकं च न भवेदिति ॥४६१॥

भोजनयोग्यकालमाह—

सूरुदयत्थमणादो णालीतिय वज्जिदे असणकाले।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से ॥४६२॥

सूर्योदयास्तमनयोर्नाडीत्रिकवर्जितयोर्मध्येऽशनकालः। तस्मिन्नशनकाले त्रिषु मुहूर्तेषु भोजनं

देश में जल, वृक्ष, पर्वत आदि कम रहते हैं वह जांगल देश है। जहाँ पानी, वृक्ष और पर्वत की बहुलता है वह अनूप कहलाता है तथा जहाँ पर जल, वृक्ष व पर्वत अधिक या कम नहीं हैं प्रत्युत सम हैं, उसे साधारण कहते हैं। जो साधु आहार आदि की वस्तुरूप द्रव्य को, प्रकृति के अनुरूप क्षेत्र को, ऋतु के अनुरूप काल को, अपने भावों को तथा अपने बल वीर्य को देखकर उसके अनुरूप आहार आदि ग्रहण करता है उसका धर्मध्यान ठीक चलता है, संयम में बाधा नहीं आती है। इसके विपरीत इन बातों की अपेक्षा न रखने से, वात-पित्त आदि दोष कुपित हो जाने से, नाना रोग उत्पन्न हो जाने से क्लेश हो जाता है।

भोजन के विभाग का परिमाण बताते हैं—

गाथार्थ—उदर का आधा भाग व्यंजन अर्थात् भोजन से भरे, तीसरा भाग जल से भरे और वह साधु चौथा भाग वायु के संचरण के लिए खाली रखे ॥४६१॥

आचारवृत्ति—साधु अपने उदर के चार भाग करे। उनमें से आधा भाग व्यंजन (भोजन) से पूर्ण करे, तृतीय भाग जल से पूर्ण करे और उदर का चौथा भाग वायु के संचार के लिए खाली रखे। उदर का चौथा भाग खाली ही रखे कि जिससे छह आवश्यक क्रियाएँ सुख से हो सकें, स्वाध्याय ध्यान आदि में भी हानि न होवे तथा अजीर्ण आदि रोग भी न होवें।

भोजन के योग्य काल को कहते हैं—

गाथार्थ—सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन-तीन घटिका छोड़कर भोजन के काल में तीन, दो और एक मुहूर्त पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट है ॥४६२॥

आचारवृत्ति—सूर्योदय के तीन घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक के मध्य में आहार का काल है। उस आहार के काल में तीन मुहूर्त तक भोजन करना जघन्य आच-

जघन्याचरणं द्वयोर्मुहूर्तयोरशनं मध्यमाचरणं एकस्मिन् मुहूर्तेऽशनमुत्कृष्टाचरणमिति सिद्धभक्तौ कृतायां परिमाणमेतन्न भिक्षामलभमानस्य पर्यटत इति ॥४९२॥

भिक्षार्थं प्रविष्टो मुनिः किं कुर्वन्नाचरतीत्याह—

भिक्खा चरियाए पुण गुत्तीगुणसीलसंजमादीणं।
रक्खंतो चरदिमुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥४९३॥

भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिर्मनोगुप्तिं वचनगुप्तिं कायगुप्तिं रक्षंश्चरति। गुणान् मूलगुणान् रक्षंश्चरति। तथा शीलसंयमादींश्च रक्षंश्चरति। निर्वेदत्रिकं चापेक्षमाणः शरीरवैराग्यं संगवैराग्यं संसारवैराग्यं चापेक्षमाण इत्यर्थः ॥४९३॥ तथा—

आणा अणवत्थावि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजमविराहणावि य चरियाए परिहरेदव्वा ॥४९४॥

आणा—आज्ञा वीतरागशासनं रक्षयन् पालयंश्चरतीति सम्बन्धः। एतांश्च परिहरंश्चरति अनवस्था

रण है, दो मुहूर्त में भोजन करना मध्यम आचरण है एवं एक मुहूर्त में भोजन करना उत्कृष्ट आचरण है। यह काल का परिमाण सिद्धभक्ति करने के अनन्तर आहार ग्रहण करने का है न कि आहार के लिए भ्रमण करते हुए विधि न मिलने के पहले का भी। अर्थात् यदि साधु आहार हेतु भ्रमण कर रहे हैं उस समय का काल इसमें शामिल नहीं है।

आहार के लिए निकले हुए क्या करते हुए भ्रमण करते हैं ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—भिक्षा के लिए चर्या में निकले हुए मुनि पुनः गुप्ति, गुण, शील और संयम आदि की रक्षा करते हुए और तीन प्रकार के वैराग्य का चिन्तन करते हुए चलते हैं या आचरण करते हैं ॥४९३॥*

आचारवृत्ति—भिक्षा चर्या में प्रविष्ट हुए मुनि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति की रक्षा करते हुए चलते हैं। मूलगुणों की और उत्तरगुणों की रक्षा करते हुए तथा शील, संयम आदि की रक्षा करते हुए विचरण करते हैं। ऐसे मुनि शरीर से वैराग्य, संग से वैराग्य और संसार से वैराग्य का विचार करते हुए विचरण करते हैं।

गाथार्थ—आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम की विराधना इनका चर्या में परिहार करना चाहिए ॥४९४॥

आचारवृत्ति—आज्ञा अर्थात् वीतराग शासन की रक्षा करते हुए उनकी आज्ञा का

---

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अधिक है—

एकम्हि दोण्णि तिण्णि य मुहुत्तकालो दु उत्तमादीणो।
पुरदो य पच्छिमेण य णालीतियवज्जिदो चारे॥

अर्थात् सूर्योदय से तीन घटिका के बाद और सूर्यास्त से तीन घटिका के पूर्व बीच का काल आहार का काल है। एक मुहूर्त में भोजन करना उत्तम, दो मुहूर्त में मध्यम और तीन मुहूर्त में जघन्य माना गया है। यही अर्थ ऊपर की गाथा में आ चुका है।

स्वेच्छाप्रवृत्तिरपि च, मिथ्यात्वाराधनं सम्यक्त्वप्रतिकूलाचरणं, आत्मनाशः स्वप्रतिघातः, संयमविराधना चापि चर्यायां परिहर्त्तव्याः। भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिरनवस्था यथा न भवति तथा चरति। मिथ्यात्वाराधनात्मनाशः संयमविराधनाश्च यथा न भवन्तीति तथा चरति तथान्तरायांश्च परिहरंश्चरति ॥४९४॥

केऽन्तराया [1]इत्याशंक्याह—

कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च।
जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥४९५॥

णाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो।
कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च ॥४९६॥

पाणीए जंतुवहो मंसादीदंसणे य उवसग्गे।
पादंतरम्मि जीवो संपादो भायणाणं च ॥४९७॥

उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं।
उववेसणं सदंसं भूमीसंफास णिट्ठुवणं ॥४९८॥

उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहो य।
पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमीए ॥४९९॥

एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणस्सेह।
बीहणलोगदुगुंछणसंजमणिव्वेदणट्ठं च ॥५००॥*

पालन करते हुए साधु विचरण करते हैं, ऐसा सम्बन्ध लगाना। और, निम्न दोषों का परिहार करते हुए विचरण करते हैं—अनवस्था—स्वेच्छाप्रवृत्ति, मिथ्यात्वाराधना—सम्यक्त्व के प्रतिकूल आचरण, आत्मनाश—स्व का घात, संयम विराधना—संयम की हानि ये दोष हैं। चर्या में प्रविष्ट हुए मुनि जैसे अनवस्था न हो वैसा आचरण करते हैं, मिथ्यात्व की आराधना आदि ये दोष जैसे न हो सकें वैसा ही प्रयत्न करते हुए पर्यटन करते हैं, तथा अन्तरायों का भी परिहार करते हुए आहार ग्रहण करते हैं।

वे अन्तराय कौन से हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—काक, अमेध्य, वमन, रोधन, रुधिर, अश्रुपात, जान्वधःपरामर्श, जानूपरिव्यतिक्रम, नाभि से नीचे निर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन, जन्तुबध, काकादि पिंडहरण, पाणिपात्र से पिंडपतन, पाणिपुट में जन्तुवध, मांसादि दर्शन, उपसर्ग, पादान्तर में जीव संपात, भाजन संपात, उच्चार, मूत्र, अभोज्यगृह प्रवेश, पतन, उपवेशन, सदंश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदर कृमि निर्गमन, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्रामदाह, पादेन किंचित् ग्रहण अथवा भूमि से हाथ से किंचित् ग्रहण करना। भोजन त्याग के और भी बहुत से कारण हैं। ये अन्तराय भय, लोक निन्दा, संयम की रक्षा और निर्वेद के लिए पाले जाते हैं ॥५००॥

---

१ क इत्याशंकायामाह।

*अन्तरायों का यह वर्णन फलटन से प्रकाशित मूलाचार के प्रथम अध्याय में ही है।

काका उपलक्षणार्थो गृहीतस्तेन काकबककश्येनादयः परिगृह्यन्ते। गच्छतः स्थितस्य वा बक-काकादयो यदुपरि व्युत्सर्गं कुर्वन्ति तदपि काक इत्युच्यते साहचर्यात्। काको नाम भोजनस्यान्तरायः। तथाऽमेध्यमशुचि तेन पादादिकं यल्लिप्तं तदप्यमेध्यमिति साहचर्यात्, अमेध्यं नामान्तरायः। तथा छर्दिर्वमनमात्मनो यदि भवति। तथा रोधनं यदि कश्चिद्धरणादिकं करोति। तथा रुधिरमात्मनोऽन्यस्य वा यदि पश्यति। चशब्देन पूयादिकं च ग्राह्यं। तथाऽश्रुपातो दुःखेनात्मनो यद्यश्रूण्यागच्छन्ति परेषामपि सन्निकृष्टानां यद्ययं दोषो भवेत्। तथा जान्वधः आमर्शो जान्वधः परामर्शः। तथा जानूपरि व्यतिक्रमश्चैव। सर्वत्रान्तरायेण सम्बन्ध इति ॥४६५॥ तथा—

नाभ्यधो निर्गमनं नाभेरधो मस्तकं कृत्वा यदि निर्गमनं भवेत्। तथा प्रत्याख्यातस्य सेवना च, अवग्रहो यस्य वस्तुनस्तस्य यदि भक्षणं स्यात्। तथा जन्तुवधः आत्मनोऽन्येन वा पुरतो जीववधो यदि क्रियते। तथा काकादिभिः पिंडहरणं यदि काकादयः पिण्डमपहरन्ति। तथा पाणिपात्रात्पिण्डपतनं भुंजानस्य पाणिपुटाद्यदि पिण्डो ग्रासमात्रं वा पतति ॥४६६॥ तथा—

पाणिपात्रे जन्तुवधो जन्तुरात्मनागत्य पाणौ भुंजानस्य यदि म्रियते। तथा मांसादिदर्शनं मांसं मृतपंचेन्द्रियशरीरं इत्येवमादीनां दर्शनं यदि स्यात्। तथोपसर्गो दैविकाद्युपसर्गो यदि स्यात्। तथा पादान्तरे

आचारवृत्ति—ये बत्तीस अन्तराय कहे गये हैं। इन सभी में अन्तराय शब्द का प्रयोग कर लेना चाहिए।

१. काक—गमन करते हुए या स्थित हुए मुनि के ऊपर यदि काक, बक आदि पक्षी बीट कर देवे तो वह काक नाम का अन्तराय है। यहाँ 'काक' शब्द उपलक्षण मात्र है अतः काक बक, बाज, आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए; क्योंकि साहचर्य की अपेक्षा यह कथन किया गया है। २. अमेध्य—अशुचि पदार्थ विष्ठा आदि से यदि पैर लिप्त हो जाय तो अन्तराय होता है। यहाँ पर अमेध्य के साहचर्य इस अन्तराय को भी अमेध्य कह दिया है। ३. वमन—यदि स्वयं को वमन हो जाय तो वमन नाम का अन्तराय है। ४. रोधन—यदि कोई उस समय रोक दे या पकड़ ले तो अन्तराय है। ५. रुधिर—यदि अपने या अन्य के शरीर से रुधिर[1] निकलता हुआ दिख जाय। गाथा में 'च' शब्द का तात्पर्य है कि पीव आदि दिखने से भी अन्तराय है। ६. अश्रुपात—दुःख से यदि अपने अथवा पास में स्थित किसी अन्य के भी अश्रु आ जावें, ७. जान्वधः परामर्श—घुटनों से नीचे भाग का यदि हाथ से स्पर्श हो जाय, ८. जानूपरि व्यतिक्रम—घुटनों से ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जावे, ९. नाभ्यधोनिर्गमन—नाभि से नीचे मस्तक करके यदि निकलना पड़ जाये, १०. प्रत्याख्यात सेवना—जिस वस्तु का त्याग है यदि उसका भक्षण हो जावे, ११. जन्तु वध—यदि अपने से या अन्य के द्वारा सामने किसी जन्तु का बध हो जावे, १२. काकादिपिंडहरण—यदि कौवे आदि हाथ से ग्रास हरण कर लेवें, १३. पिंडपतन—यदि आहार करते हुए अपने पाणि-पात्र से पिंड — ग्रास मात्र का पतन हो जावे, १४.

---

१. चार अंगुल प्रमाण रुधिर-पीव दिखने से अन्तराय होता है इससे कम नहीं।

"रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहत्तच्चतुरंगुलं तत्तो न्यूनवहने नास्त्यंतरायः।"

[अनगार धर्मामृत, अ. ५, श्लोक ४५]

पंचेन्द्रियजीवो यदि गच्छेत्। तथा सम्पातो भाजनस्य परिवेषकहस्ताद्भाजनं यदि पतेत् ॥४९७॥ तथा—

उच्चार आत्मनो यद्युदरमलव्युत्सर्गः स्यात्। तथात्मनः प्रस्रवणं मूत्रादिकं यदि स्यात्। तथा पर्यटतोऽभोजनगृहप्रवेशो यदि भवेत् चांडालादिगृहप्रवेशो यदि स्यात्। तथा पतनमात्मनो मूर्च्छादिना यदि पतनं भवेत्। तथोपवेशनं यद्युपविष्टो भवेत्। तथा सदंशः सह दंशेन वर्तते इति सदंशः श्वादिभिर्यदि दष्टः स्यात्। तथा भूमिसंस्पर्शः सिद्धभक्तिं कृतायां हस्तेन भूमिं यदि स्पृशेत्। तथा निष्ठीवनं स्वेन यदि श्लेष्मादिकं क्षिपेत् ॥४९८॥ तथा—

उदराद्यदि कृमिनिर्गमनं भवेत्। तथा अदत्तग्रहणमदत्तं यदि किंचिद् गृह्णीयात्। तथा प्रहार आत्मनोऽन्यस्य वा खड्गादिभिर्यदि प्रहारः स्यात्। तथा ग्रामदाहो यदि स्यात्। तथा पादेन यदि किंचिद् गृह्यते। तथा करेण वा यदि किंचिद्गृह्यते भूमेरिति सर्वत्राशनस्यान्तरायो भवतीति सम्बन्धः ॥४९९॥

तथा—

एते पूर्वोक्ताः काकादयोऽन्तरायाः कारणभूता भोजनपरित्यागस्य द्वात्रिंशत्। तथान्ये च बहवश्चांडालादिस्पर्शकलहेष्टमरणसाधर्मिकसंन्यासपतनप्रधानमरणादयोऽशनपरित्यागहेतवः। भयलोकजुगुप्सायां संयमनिर्वेदनार्थं च यदि किंचित्स्यात् भयं राज्ञः स्यात्, तथा लोकजुगुप्सा च यदि स्यात् तथाप्याहारत्यागः। संयमार्थं चाहारत्यागो निर्वेदनार्थं चेति ॥५००॥

पाणौ जन्तुवध—यदि आहार करते हुए के पाणिपुट में कोई जन्तु स्वयं आकर मर जावे, १५. मांसादिदर्शन—यदि मरे हुए पंचेन्द्रिय जीव के शरीर का मांस आदि दिख जावे, १६. उपसर्ग—यदि देवकृत आदि उपसर्ग हो जावे, १७. पादांतरे जीव—यदि पंचेन्द्रिय जीव पैरों के अन्तराल से निकल जावे, १८. भाजन संपात—यदि आहार देने वाले के हाथ से वर्तन गिर जावे, १९. उच्चार—यदि अपने उदर से मल च्युत हो जावे, २०. प्रस्रवण—यदि अपने मूत्रादि हो जावे, २१. अभोज्य गृहप्रवेश—यदि आहार हेतु पर्यटन करते हुए मुनि का चांडाल आदि अभोज्य के घर में प्रवेश हो जावे, २२. पतन—यदि मूर्च्छा आदि से अपना पतन हो जावे अर्थात् आप गिर पड़े, २३. उपवेशन—यदि बैठना पड़ जावे, २४. सदंश—यदि कुत्ता आदि काट खाये, २५. भूमि स्पर्श—सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि हाथ से भूमि का स्पर्श हो जावे, २६. निष्ठीवन—यदि अपने मुख से थूक, कफ आदि निकल जावे, २७. उदरकृमि निर्गमन—यदि उदर से कृमि निकल पड़े, २८. अदत्तग्रहण—यदि बिना दी हुई कुछ वस्तु ग्रहण कर लेवे, २९. प्रहार—यदि अपने ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि से प्रहार हो जावे, ३०. ग्रामदाह—यदि ग्राम में अग्नि लग जावे, ३१. पादेन किंचित् ग्रहण—यदि पैर से कुछ ग्रहण कर लिया जावे, ३२. करेण-किंचिद्ग्रहण—अथवा यदि हाथ से कुछ वस्तु भूमि पर ग्रहण करली जावे। इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से सर्वत्र भोजन में अन्तराय होता है ऐसा समझना चाहिए।

ये पूर्वोक्त काक आदि बत्तीस अन्तराय हैं जो कि भोजन के त्याग के लिए कारणभूत होते हैं। इनसे अन्य भी बहुत से अन्तराय हैं जैसे कि चांडाल आदि का स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक संन्यास पतन, प्रधान का मरण आदि, ये भी भोजनत्याग के हेतु हैं। यदि राजा का भय या अन्य किंचित् भय हो जावे, यदि लोकनिन्दा हो जावे तो भी आहार त्याग कर देना चाहिए। संयम के लिए और निर्वेदभाव के लिए भी आहार का त्याग होता है।

पिण्डशुद्धिमुपसंहरन्नाह—

जेणेह पिंडसुद्धी उवदिट्ठा जेहि धारिदा सम्मं ।
ते वीरसाधुवग्गा तिरदणसुद्धिं मम दिसंतु ॥५०१॥*

सूत्रकारः फलार्थी प्राह—यैरिह पिण्डशुद्धिरुपदिष्टा यैश्च धारिता सेविता सम्यग्विधानेन ते वीर-साधुवर्गास्त्रिरत्नशुद्धिं मम दिशन्तु प्रयच्छन्तु ॥५०१॥

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां पिण्डशुद्धिर्नाम षष्ठः प्रस्तावः ।

पिंडशुद्धि अधिकार का उपसंहार करते हैं—

गाथार्थ—इस जगत् में जिन्होंने पिंडशुद्धि का उपदेश दिया है, और जिन्होंने सम्यक् प्रकार से इसे धारण किया है वे वीर साधुवर्ग मुझे तीन रत्न की शुद्धि प्रदान करें ॥५०१॥

आचारवृत्ति—सूत्रकार फल की इच्छा करते हुए कहते हैं कि जिन्होंने इस लोक में आहारशुद्धि का उपदेश दिया है और जिन्होंने सम्यक् विधान से उसका सेवन किया है वे वीर साधु समूह मुझे तीन रत्न की शुद्धि प्रदान करें।

इस प्रकार आचारवृत्ति नामक टीका में श्रीवसुनंदि आचार्य द्वारा विरचित
पिंडशुद्धि नाम का छठा प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

---

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अन्त्यमंगल रूप एक गाथा और है—

सगबोधदीवणिज्जिद भुवणत्तयरद्धमंदमोहतमो ।
णमिदसुरासुरसंघो जयदु जिणिंदो महावीरो ॥

अर्थात् जिन्होंने अपने केवलज्ञानरूपी दीप के द्वारा तीनों लोकों में व्याप्त मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है तथा जिनको सभी सुर-असुर समूह वन्दन करते हैं वे कर्मों के विजेता श्री महावीर भगवान् सतत जयवन्त हों।

७. षडावश्यकाधिकारः

प्रायेण जायते पुंसां वीतरागस्य दर्शनम् ।
तद्दर्शनविरक्तानां भवेज्जन्मापि निष्फलम् ॥

षडावश्यकक्रियं मूलगुणान्तर्गतमधिकारं प्रपंचेन विवृण्वन् प्रथमतरं तावन्नमस्कारमाह—

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
आइरियउवज्झाए लोगम्मि य सव्वसाहूणं ॥५०२॥

कृत्वा नमस्कारं, केषामर्हतां तथैव सिद्धानां, आचार्योपाध्यायानां च लोके च सर्वसाधूनां। लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कारशब्दो येन तेन षष्ठी संजाताऽन्यथा पुनश्चतुर्थी भवति । अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो लोकेऽस्मिन्नमस्कृत्वा आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये इति सम्बन्धः सापेक्षत्वात् क्त्वान्तप्रयोगस्येति ॥५०२॥

नमस्कारपूर्वकं प्रयोजनमाह—

श्लोकार्थ—जीवों को प्रायः ही वीतराग का दर्शन होता है और जो वीतराग भगवान् के दर्शन से विरक्त हैं उनका जन्म भी निष्फल है ।

मूलगुण के अन्तर्गत जो षट्- आवश्यक क्रिया नामक अधिकार है उसे विस्तार से कहते हुए, उसमें सबसे पहले नमस्कार वचन कहते हैं—

गाथार्थ—अर्हन्तों को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को, और लोक में सर्वसाधुओं को नमस्कार करके मैं आवश्यक अधिकार कहूँगा ॥५०२॥

आचारवृत्ति—'लोक' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। 'अरहंताणं' आदि पदों में जो षष्ठी विभक्ति है उसमें कारण यह है कि नमः शब्द के साथ 'कार' शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि नमः शब्द मात्र होता तो पुनः चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया जाता। तात्पर्य यह हुआ कि इस लोक में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं उनको नमस्कार करके मैं आवश्यक निर्युक्ति का कथन करूँगा, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए; क्योंकि 'क्त्वा' प्रत्यय वाले शब्दों का प्रयोग सापेक्ष रहता है, वह अगली क्रिया की अपेक्षा रखता है ।

अब नमस्कार पूर्वक प्रयोजन को बतलाते हैं—

आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण।
आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ॥५०३॥

आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये। यथाक्रमं क्रममनतिलंध्य परिपाट्या। समासेन संक्षेपतः। आचार्यपरंपरया यथागतानुपूर्व्या। येन क्रमेणागता पूर्वाचार्यप्रवाहेण संक्षेपतोऽहमपि तेनैव क्रमेण पूर्वागमक्रमं चापरित्यज्य वक्ष्ये कथयिष्यामीति ॥५०३॥

तावत्पंचनमस्कारनिर्युक्तिमाह—

रागद्दोसकसाए य इंदियाणि य पंच य।
परिसहे उवसग्गे णासयंतो णमोरिहा ॥५०४॥

रागः स्नेहो रतिरूपः। द्वेषोऽप्रीतिररतिरूपः। कषायाः क्रोधादयः। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पंच। परीषहाः क्षुदादयो द्वाविंशतिः। उपसर्गा देवादिकृतसंक्लेशाः। तान् रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गान् स्वतः कृतकृत्यत्वाद्‌भव्यप्राणिनां नाशयद्भ्यो विनाशयद्भ्योऽर्हद्भ्यो नम इति ॥५०४॥

अथार्हन्तः कया निरुक्त्या उच्यन्त इत्याह—

अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥५०५॥

नमस्कारमर्हन्ति नमस्कारयोग्याः। पूजाया अर्हा योग्याः। लोके सुराणामुत्तमाः प्रधानाः। रजसो

गाथार्थ—आचार्य परम्परा के अनुसार और आगम के अनुरूप संक्षेप से यथाक्रम से मैं आवश्यक निर्युक्ति को कहूँगा ॥५०३॥

आचारवृत्ति—जिस क्रम से इन छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन चला आ रहा है, उसी क्रम से पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार मैं संक्षेप से पूर्वागम का उल्लंघन न करके उनका कथन करूँगा।

पंच नमस्कार की निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—राग, द्वेष और कषायों को, पांच इन्द्रियों को, परीषह और उपसर्गों को नाश करनेवाले अर्हन्तों को नमस्कार होवे ॥५०४॥

आचारवृत्ति—राग स्नेह अर्थात् रति रूप है। द्वेष अप्रीति अर्थात् अरतिरूप है। क्रोधादि को कषाय कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ पाँच हैं। क्षुधा, तृषा आदि बाईस परिषह होती हैं। देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा दिये गये क्लेश को उपसर्ग कहते हैं। इन राग द्वेष आदि को जो स्वयं नष्ट करके कृतकृत्य हैं किन्तु भव्य जीवों के इन राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय परीषह और उपसर्ग को नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे अर्हन्त भगवान् को नमस्कार हो।

अब अर्हन्त शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—

गाथार्थ—नमस्कार के योग्य हैं, लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजा के योग्य है, आवरण का और मोहनीय शत्रु का हनन करने वाले हैं, इसलिए वे अर्हन्त कहे जाते हैं ॥५०५॥

आचारवृत्ति—इस संसार में जो देवों में प्रधान इन्द्रादिगण द्वारा नमस्कार के योग्य

ज्ञानदर्शनावरणयोर्हन्तारः। अरेर्मोहस्यान्तरायस्य च हन्तारोऽपनेतारो यस्मात्तस्मादर्हन्त इत्युच्यन्ते। येनेह कारणेनेत्थम्भूतास्तेनार्हन्तः सर्वलोकनाथा लोकेस्मिन्नुच्यन्ते ॥५०५॥ अतः किं ?

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५०६॥

इत्थंभूतानामर्हतां नमस्कारं यः करोति भावेन प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५०६॥

सिद्धानां निरुक्तिमाह—

दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्मर्हि।
सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ ॥५०७॥

श्लोकोऽयं। दीर्घकालमनादिसंसारं। अयं जन्तुर्जीवः। उषितः स्थितः अष्टसु कर्मसु ज्ञानावरणादिभिः कर्मभिः परिवेष्टितोयं जीवः परिणतः स्थितः। सिते कर्मबन्धे निवृत्ते[1]। निर्धत्ते परप्रकृतिसंक्रमोदयोदीरणोत्कर्षापकर्षणरहिते ध्वस्ते प्रणाशमुपगते सिद्धत्वमुपगच्छति। निर्धत्ते बन्धे ध्वस्ते सत्ययं जन्तुर्यद्यपि दीर्घकालं कर्मसु व्यवस्थितस्तथापि सिद्धो भवति सम्यग्ज्ञानाद्यनुष्ठानेनेति ॥५०७॥

तथोपायमाह—

हैं, उनके द्वारा की गई पूजा के योग्य हैं, 'रज' शब्द से—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हनन करनेवाले हैं, तथा 'अरि' शब्द से—मोहनीय और अन्तराय का हनन करनेवाले हैं अतः वे 'अर्हन्त' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं। और जिस कारण से वे भगवान् इस प्रकार सर्वपूज्य हैं उसी कारण से वे इस लोक में अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोकनाथ कहे जाते हैं।

नमस्कार का क्या फल है—

गाथार्थ—जो प्रयत्नशील भाव से अर्हन्त को नमस्कार करता है, वह अति शीघ्र ही सभी दुःखों से छुटकारा पा लेता है ॥५०६॥

आचारवृत्ति—टीका सरल है।

गाथार्थ—यह जीव अनादिकाल से आठ कर्मों से सहित है। कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्धपने को प्राप्त हो जाता है ॥५०७॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। अनादिकाल से यह जीव ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से वेष्टित है, कर्मों से परिणत हो रहा है। निधत्ति रूप जो कर्म हैं अर्थात् जिनका पर-प्रकृतिरूप संक्रमण नहीं होता है, जिनका उदय, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण नहीं हो रहा है ऐसे कर्मों के ध्वस्त हो जाने पर यह जीव सिद्धपने को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह जीव अनादिकाल से कर्मों से सहित है फिर भी सम्यग्ज्ञान आदि अनुष्ठान के द्वारा कर्मों को ध्वस्त करके सिद्ध हो जाता है।

उसी का उपाय बताते हैं—

---

१ 'निवृत्ते' नास्ति क प्रतौ।

आवेसणी सरीरे इंदियभंडो मणो व आगरिओ।
धमिदव्व जीवलोहो बावीसपरीसहग्गीहिं ॥५०८॥

आवेसनी चुल्ली यत्रांगाराणि क्रियन्ते। शरीरं किंविशिष्टे, आवेशनीभूते। इन्द्रियाण्येव भाण्ड-गुपस्कारभूतं सदंशकाभीरणी हस्तकूटघनादिकं। मनस्त्वाकरी चेता उपाध्यायो लोहकारः। ध्मातव्यं दाह्यं निर्मलीकर्तव्यं। जीवलोहं जीवधातुः। द्वाविंशतिपरीषहाग्निना। एवं द्वाविंशतिपरीषहाग्निना कर्मबन्धे ध्वस्ते चुल्लीकृतं शरीरं त्यक्त्वेन्द्रियाणि चोपस्करणभूतानि परित्यज्य निर्मलीभूतं जीवसुवर्णं गृहीत्वा मनः केवलज्ञान-माकरी सिद्धत्वमुपगच्छति सिद्धो भवतीति सम्बन्धः। तस्मात् सिद्धत्वयुक्तानां सिद्धानां नमस्कारं भावेन यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५०८॥

आचार्यस्य निरुक्तिमाह—

सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे ।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥५०९॥*

श्लोकोऽयं। सदा सर्वकालं आचारं वेत्तीति सदाचारवित् रात्रौ दिने वाचरस्य परमार्थसंवेदनं

गाथार्थ—शरीर चूल्हा है, इन्द्रियाँ बर्तन हैं और मन लोहकार है। बाईस परीषहों के द्वारा जीवरूपी लोह को तपाना चाहिए ॥५०८॥

आचारवृत्ति—आवेशनी अर्थात् चूल्हा, जिसमें अंगारे किये जाते हैं। ऐसा यह शरीर आवेशनीभूत अर्थात् चूल्हा है। इन्द्रियाँ भांड अर्थात् तपाने के साधनरूप संडासी, हथौड़ी, घन आदि हैं। मन अर्थात् यह चित्त उपाध्याय है—लोहकार या स्वर्णकार है। बाईस परीषह रूपी अग्नि के द्वारा इस जीव रूपीलोह या स्वर्णको तपाना चाहिए, निर्मल करना चाहिए।

इस प्रकार से बाईस परीषहरूपी अग्नि के द्वारा कर्मबन्ध को ध्वस्त कर देने पर चूल्हे रूप शरीर को छोड़कर और उपकरण रूप इन्द्रियों को भी छोड़ कर निर्मल हुए जीवरूप स्वर्ण को ग्रहण करके, मनः अर्थात् केवलज्ञान रूप स्वर्णकार सिद्ध हो जाता है, ऐसा सम्बन्ध लगाना। इसलिए सिद्धत्व से युक्त इन सिद्ध परमेष्ठी को जो प्रयत्नशील जीव भावपूर्वक नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सभी दुःखों से छूट जाता है।

आचार्य पद का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—सदा आचार वेत्ता हैं, सदा आचार का आचरण करते हैं और आचारों का आचरण कराते हैं इसलिए आचार्य कहलाते हैं ॥५०९॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। जो हमेशा आचारों को जानते हैं वे आचारविद् हैं

यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अधिक है—

सिद्धाणणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भक्त मन एकाग्र करके सिद्धों को नमस्कार करता है वह सभी दुःखों से मुक्त हो सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है।

यत्नेन युक्तोऽथवा सदाचारः शोभनाचारः सम्यग्ज्ञानवांश्च सदा सर्वकालमाचरितं चर आचरितं गणधरादिरभिप्रेतं चेष्टितं चरतीति वा चरितं चरोऽथवा चरणीयं श्रामण्ययोग्यं दीक्षाकालं च शिक्षाकालं च चरितवानिति कृतकृत्य इत्यर्थः। आचारमन्यान् साधूनाचारयन् हि यस्मात् प्रभासते तस्मादाचार्य इत्युच्यते ॥५०९॥ तथा

जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि।
आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण वुच्चदे ॥५१०॥*

श्लोकोऽयं। पंचविधमाचारं दर्शनाचारादिपंचप्रकारमाचारं चेष्टयन्। प्रभासते शोभते। आचरितानि स्वानुष्ठानानि दर्शयन् प्रभासते आचार्यस्तेन कारणेनोच्यते इति। एवं विशिष्टाचार्यस्य यो नमस्कारं करोति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५१०॥

उपाध्यायनिरुक्तिमाह—

बारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि ॥५११॥

अर्थात् रात-दिन होने वाले आचरणों को जो परमार्थ से जानते हैं, यत्नपूर्वक उसमें लगे हुए हैं। अथवा जो सदाचार—शोभन आचार का पालन करते हैं, सम्यग्ज्ञानवान् हैं, वे आचारविद् कहलाते हैं। जो सर्वकाल गणधर देव आदिकों के द्वारा अभिप्रेत अर्थात् आचरित आचरण को धारण करते हैं अथवा जो श्रमणपने के योग्य दीक्षा काल और शिक्षाकाल का आचरण करते हुए कृतकृत्य हो रहे हैं, तथा जो पाँच आचारों का अन्य साधुओं को भी आचरण कराते रहते हैं इसी हेतु से वे 'आचार्य' इस नाम से कहे जाते हैं।

उसी प्रकार से और भी लक्षण बताते हैं—

गाथार्थ—जिस कारण वे पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हुए शोभित होते हैं और अपने आचरित आचारों को दिखलाते हैं इसी कारण से वे आचार्य कहलाते हैं।

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। दर्शनाचार आदि पाँच आचारों को धारण करते हुए जो शोभित होते हैं और अपने द्वारा किये गये अनुष्ठानों को जो अन्यों को दिखलाते—बतलाते हुए अर्थात् आचरण कराते हुए शोभित होते हैं, इसी कारण से वे आचार्य इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

इन गुणों से विशिष्ट आचार्यों को जो नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्ति पा लेता है।

उपाध्याय का निरुक्ति अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा व्याख्यात द्वादशांग को विद्वानों ने स्वाध्याय कहा है। जो उस स्वाध्याय का उपदेश देते हैं वे इसी कारण से उपाध्याय कहलाते है ॥५११॥

---

*फलटन की प्रति में यह गाथा अधिक है—

आइरिय णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयद मदी।
सो सव्वदुक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भव्यजीव भाव से एकाग्रचित्त होकर आचार्यों को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से मुक्त हो जाता है।

द्वादशांगानि जिनाख्यातानि जिनैः प्रतिपादितानि स्वाध्याय इति कथितो बुधैः पंडितैस्तं स्वाध्यायं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपं यस्मादुपदिशति प्रतिपादयति तेनोपाध्याय इत्युच्यते। तस्योपाध्यायस्य नमस्कारं यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५११॥

साधूनां निरुक्तितो नमस्कारमाह—

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो ॥५१२॥*

यस्मान्निर्वाणसाधकान् योगान् मोक्षप्रापकान् मूलगुणादितपोऽनुष्ठानानि सदा सर्वकालं रात्रिदिवं युंजन्ति तैरात्मानं योजयन्ति साधवः साधुचरितानि। यस्माच्च समाः समत्वमापन्नाः सर्वभूतेषु तस्मात्कारणात्ते सर्वसाधव इत्युच्यन्ते। तेषां सर्वसाधूनां नमस्कारं भावेन यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं करोत्यचिरेण कालेनेति ॥५१२॥

पंचनमस्कारमुपसंहरन्नाह—

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग को पंडितों ने 'स्वाध्याय' नाम से कहा है। उस द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वरूप स्वाध्याय का जो उपदेश देते हैं, अन्य जनों को उसका प्रतिपादन करते हैं इस हेतु से वे 'उपाध्याय' इस नाम से कहे जाते हैं। जो प्रयत्नशील होकर उन उपाध्यायों को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

अब साधुओं को निरुक्ति अर्थ पूर्वक नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—साधु निर्वाण के साधक ऐसे योगों में सदा अपने को लगाते हैं, सभी जीवों में समताभावी हैं इसीलिए वे साधु कहलाते हैं ॥५१२॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले ऐसे मूलगुण आदि तपों के अनुष्ठान में हमेशा रात-दिन वे अपनी आत्मा को लगाते हैं, जिनका आचरण साधु—सुन्दर है और जिस हेतु से वे सम्पूर्ण जीवों में समता भाव को धारण करने वाले हैं, इसी हेतु से वे सर्व साधु इस नाम से कहे जाते हैं। जो प्रयत्नशील होकर उन सभी साधुओं को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

पंच नमस्कार का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

उवज्झायणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो स्थिरचित्त भव्य भक्ति से उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

एवंगुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विसुद्धकरणेहिं ।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं ॥५१३॥*

एवं गुणयुक्तानां पंचगुरूणां पंचपरमेष्ठिनां सुनिर्मलमनोवाक्कायैः करोति नमस्कारं स प्राप्नोति निर्वृतिं सिद्धिसुखं शीघ्रं । न पौनरुक्त्यं, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरुभयोरपि संग्रहार्थत्वादिति ॥५१३॥

किमर्थं पंचनमस्कारः क्रियत इति चेदित्याह—

एसो पंच णमोयारो सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ॥५१४॥

एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशकः सर्वविघ्नविनाशकः मलं पापं गालयन्तीति विनाशयन्ति, मंगं

गाथार्थ—इन गुणों से युक्त पाँचों परम गुरुओं को जो विशुद्ध मन-वचन-काय से नमस्कार करता है वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ॥५१३॥

आचारवृत्ति—यहाँ प्रश्न यह होता है कि आपने पहले पृथक्-पृथक् पाँचों परमेष्ठियों के नमस्कार का फल निर्वाण बताया है पुनः यहाँ पाँचों के नमस्कार का फल एक साथ फिर क्यों कहा ? यह तो पुनरुक्ति दोष हो गया । इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि यह पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का यहाँ पर संग्रह किया गया है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अर्थ को समझने वाले संक्षेप रुचि वालों के लिए यह समष्टि-रूप कथन है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से विस्तार में रुचि रखनेवाले शिष्यों के लिए पहले विस्तार से कहा जा चुका है।

पंच परमेष्ठी को नमस्कार किसलिए किया जाता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यह पंच नमस्कार मन्त्र सर्वपापों का नाश करने वाला है और सर्वमंगलों में यह प्रथम मंगल है ॥५१४॥

आचारवृत्ति—यह पंच नमस्कार मंत्र सम्पूर्ण विघ्नों का नाश करने वाला है इसलिए मंगल स्वरूप है। मंगल का व्युत्पत्ति अर्थ करते हैं कि जो मल-पाप का गालन करते हैं—विनाश करते हैं, अथवा जो मंगं अर्थात् सुख को लाते हैं—देते हैं वे मंगल हैं। इस मंगल के दो भेद होते हैं द्रव्य मंगल और भाव मंगल। जिस हेतु से इन दोनों प्रकारों के सम्पूर्ण मंगलों में पंचनमस्कार

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

साहूण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पाइव अचिरेण कालेण ।

अर्थ—जो स्थिरचित्त हुआ भव्यजीव भावपूर्वक साधुओं को नमस्कार करता है वह तत्काल ही सर्वदुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। 'साहूण' की जगह 'अरहंत' शब्द देकर ज्यों की त्यों यह गाथा गाथा क्र० ५०६ पर अंकित है।

सुखं लान्त्याददतीति वा मंगलानीति तेषु मंगलेषु द्रव्यमंगलेषु भावमंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं भवति मंगलं यस्मात्तस्मात् सर्वशास्त्रादौ मंगलं क्रियत इति ॥५१४॥

पंचनमस्कारनिरुक्तिमाख्यायावश्यकनिर्युक्तेर्निरुक्तिमाह—

ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयंति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥५१५॥

न वश्यः पापादेरवश्यो यदेन्द्रियकषायैषत्कषायरागद्वेषादिभिरनात्मीयकृतस्तस्यावश्यकस्य यत्कर्मानुष्ठानं तदावश्यकमिति बोद्धव्यं ज्ञातव्यं। युक्तिरिति उपाय इति चैकार्थः। निरवयवा सम्पूर्णाऽखण्डिता भवति निर्युक्तिः। आवश्यकानां निर्युक्तिरावश्यकनिर्युक्तिरावश्यकसम्पूर्णोपायः अहोरात्रमध्ये साधूनां यदाचरणं तस्यावबोधकं पृथक्पृथक् स्तुति[1]स्वरूपेण "जयति भगवानित्यादि" प्रतिपादकं यत्पूर्वापराविरुद्धं शास्त्रं न्याय आवश्यकनिर्युक्तिरित्युच्यते। सा च षट्प्रकारा भवति ॥५१५॥

प्रथम मंगल है इसी से सम्पूर्ण शास्त्रों के प्रारम्भ में वह मंगल किया जाता है ऐसा समझना चाहिए।

पंच नमस्कार की व्युत्पत्ति का व्याख्यान करके अब आवश्यक निर्युक्ति का निरुक्ति अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—जो वश में नहीं हैं वह अवश है। उस अवश की मुनि की क्रिया को आवश्यक जानना चाहिए। युक्ति और उपाय एक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उपाय निर्युक्ति कहलाता है ॥५१५॥

आचारवृत्ति—जो पाप आदि के वश्य नहीं हैं वे अवश्य हैं। जब जो इन्द्रिय, कषाय, नोकषाय और राग द्वेष आदि के द्वारा आत्मीय नहीं किये गये हैं अर्थात् जिस समय इन इन्द्रिय कषाय आदिकों ने जिन्हें अपने वश में नहीं किया है उस समय वे मुनि अवश्य होने से आवश्यक कहलाते हैं और उनका जो कर्म अर्थात् अनुष्ठान है वह आवश्यक कहा गया है ऐसा जानना चाहिए। युक्ति और उपाय ये एकार्थवाची हैं, उस निरवयव अर्थात् सम्पूर्ण—अखण्डित उपाय को निर्युक्ति कहते हैं। आवश्यकों की जो निर्युक्ति है उसे आवश्यक निर्युक्ति कहते हैं अर्थात् आवश्यक का सम्पूर्णतया उपाय आवश्यक निर्युक्ति है।

अहोरात्र के मध्य साधुओं का जो आचरण है उसको बतलाने वाले जो पृथक्-पृथक् स्तुति रूप से "जयति भगवान् हेमाम्भोज प्रचार विजृंभिता—" इत्यादि के प्रतिपादक जो पूर्वापर से अविरुद्ध शास्त्र हैं जो कि न्यायरूप हैं, उन्हें आवश्यक निर्युक्ति कहते हैं। उस आवश्यक निर्युक्ति के छह प्रकार हैं।

भावार्थ—यहाँ पर आवश्यक क्रियाओं के प्रतिपादक शास्त्रों को भी आवश्यक निर्युक्ति शब्द से कहा है सो कारण में कार्य का उपचार समझना।

---

१ क स्वरूपेण स्तुति जं'।

तस्य (स्या) भेदान् प्रतिपादयन्नाह—

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं ।
पच्चाक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥५१६॥

समः सर्वेषां समानो यो सर्गः पुण्यं वा समायस्तस्मिन् भवं, तदेव प्रयोजनं पुण्यं तेन दीव्यतीति वा सामायिकं समये भवं वा सामायिकं। चतुर्विंशतिस्तवः चतुर्विंशतितीर्थंकराणां स्तवः स्तुतिः। वन्दना सामान्यरूपेण स्तुतिर्जयति भगवानित्यादि, पंचगुरुभक्तिपर्यन्ता पंचपरमेष्ठिविषयनमस्कारकरणं वा शुद्धभावेन। प्रतिक्रमणं व्यतिक्रान्तदोषनिर्हरणं व्रताद्युच्चारणं च। प्रत्याख्यानं भविष्यत्कालविषयवस्तुपरित्यागश्च। तथा कायोत्सर्गो भवति षष्ठः। सामायिकावश्यकनिर्युक्तिः चतुर्विंशतिस्तवाश्यकनिर्युक्तिः, वन्दनावश्यकनिर्युक्तिः, प्रतिक्रमणावश्यकनिर्युक्तिः, प्रत्याख्यानावश्यकनिर्युक्तिः, कायोत्सर्गावश्यकनिर्युक्तिरिति ॥५१६॥

तत्र सामायिकनामावश्यकनिर्युक्तिं वक्तुकामः प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागदं आणुपुव्वीए ॥५१७॥

अब उन आवश्यक निर्युक्ति के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग ये छह हैं ॥५१६॥

आचारवृत्ति—सम अर्थात् सभी का समान रूप जो सर्ग अथवा पुण्य है उसे 'समाय' कहते है (पुण्य का नाम 'अय' भी है अतः पुण्य के पर्यायवाची शब्द से सम+अय=समाय बना है। उसमें जो होवे सो सामायिक है! यहाँ 'समाय' में इकण् प्रत्यय होकर बना है) अथवा वही पुण्य प्रयोजन है जिसका, अथवा 'तेन दीव्यति' उस समाय से शोभित होता है (इस अर्थ में भी इकण् प्रत्यय हो गया है) अथवा समय में जो होवे सो सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

सामान्यरूप से "जयति भगवान् हेमांभोजप्रचारविजृंभिता—" इत्यादि चैत्यभक्ति से लेकर पंचगुरुभक्ति पर्यन्त विधिवत् जो स्तुति की जाती है उसे वन्दना कहते हैं अथवा शुद्ध भाव से पंचपरमेष्ठी विषयक नमस्कार करना वन्दना है। पूर्व में किये गये दोषों का निराकरण करना और व्रतादि का उच्चारण करना अर्थात् व्रतों के दण्डकों का उच्चारण करते हुए उन सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' बोलना सो प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल के लिए वस्तु का त्याग करना प्रत्याख्यान है। तथा काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। इस प्रकार सामायिक आवश्यक निर्युक्ति, चतुर्विंशति आवश्यक निर्युक्ति, वन्दना आवश्यक निर्युक्ति, प्रतिक्रमण आवश्यक निर्युक्ति, प्रत्याख्यान आवश्यक निर्युक्ति और कायोत्सर्ग आवश्यक निर्युक्ति ये छह भेद हैं!

अब उनमें से सामायिक नामक आवश्यक निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—आचार्य परम्परानुसार आगत क्रम से संक्षेप में मैं क्रम से सामायिक निर्युक्ति को कहूँगा ॥५१७॥

सामायिकनिर्युक्ति सामायिकनिरवयबोपायं वक्ष्ये यथाक्रमं समासेनाचार्यपरंपरया यथागतमानुपूर्व्या। अधिकारक्रमेण पूर्वं यथानुक्रमं सामायिककथनविशेषणं पाश्चात्यानुपूर्वीग्रहणं, यथागतविशेषणमिति कृत्वा न पुनरुक्तदोषः ॥५१७॥

सामायिकनिर्युक्तिरपि[1] षट्प्रकारा तामाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
सामाइयह्मि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ॥५१८॥

अथवा निक्षेपविरहितं शास्त्रं व्याख्यायमानं वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति सामायिकनिर्युक्तिनिक्षेपो वर्ण्यते—नामसामायिकनिर्युक्तिः, स्थापनासामायिकनिर्युक्तिः, द्रव्यसामायिकनिर्युक्तिः, क्षेत्रसामायिकनिर्युक्तिः, कालसामायिकनिर्युक्तिः, भावसामायिकनिर्युक्तिः। नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन सामायिक एष निक्षेप उपायः षट्प्रकारो भवति ज्ञातव्यः। शुभनामान्यशुभनामानि च श्रुत्वा रागद्वेषादिवर्जनं नामसामायिकं नाम। काश्चन स्थापनाः सुस्थिताः सुप्रमाणाः सर्वावयवसम्पूर्णाः सद्भावरूपा मन आह्लादकारिण्यः। काश्चन पुनः स्थापना दुःस्थिताः प्रमाणरहिताः सर्वावयवैरसम्पूर्णाः सद्भावरहितास्तास्तासूपरि रागद्वेषयोरभावः स्थापनासामायिकं नाम। सुवर्णरजतमुक्ताफलमाणिक्यादिमृत्तिकाकाष्ठकंटकादिषु समदर्शनं रागद्वेषयोर-

---

आचारवृत्ति—अधिकार के क्रम से संक्षेप में मैं आचार्य परम्परा के अनुरूप अविच्छिन्न प्रवाह से आगत सामायिक के सम्पूर्ण उपाय रूप इस प्रथम आवश्यक को कहूँगा।

सामायिक निर्युक्ति के भी छह भेद कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सामायिक में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥५१८॥

आचारवृत्ति—अथवा निक्षेप रहित शास्त्र का व्याख्यान यदि किया जाता है तो वह वक्ता और श्रोता दोनों को ही उत्पथ में—गलत मार्ग में पतन करा देता है इसलिए सामायिक निर्युक्ति में निक्षेप का वर्णन करते हैं। नाम सामायिक निर्युक्ति, स्थापना सामायिक निर्युक्ति, द्रव्य सामायिक निर्युक्ति, क्षेत्र सामायिक निर्युक्ति, काल सामायिक निर्युक्ति और भाव सामायिक निर्युक्ति इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक में यह निक्षेप अर्थात् जानने का उपाय छह प्रकार का समझना चाहिए। उसे ही स्पष्ट करते हैं—

शुभ नाम और अशुभ नाम को सुनकर राग-द्वेष आदि का त्याग करना नाम सामायिक है।

कुछेक स्थापनाएँ—मूर्तियाँ सुस्थित हैं, सुप्रमाण हैं, सर्व अवयवों से सम्पूर्ण हैं, सद्भावरूप—तदाकार हैं और मन के लिए आह्लादकारी हैं। पुनः कुछ एक स्थापनाएँ दुःस्थित हैं, प्रमाण रहित हैं, सर्व अवयवों से परिपूर्ण नहीं हैं और सद्भाव रहित—अतदाकार हैं। इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में राग-द्वेष का अभाव होना स्थापना सामायिक है।

---

१ क 'क्तिमपि षट्प्रकारामाह।

भाव। द्रव्यसामायिकं नाम। कानिचित् क्षेत्राणि रम्याणि आरामनगरनदीकूपवापीतडागजनपदोपचितानि, कानिचिच्च क्षेत्राणि रूक्षकंटकविषमविरसास्थिपाषाणसहितानि जीर्णाटवीशुष्कनदीमरुसिकतापुंजादिबाहुल्यानि तेषूपरि रागद्वेषयोरभावः क्षेत्रसामायिकं नाम। प्रावृड्वर्षाहैमन्तशिशिरवसन्तनिदाघाः षड्ऋतवो रात्रिदिवस-शुक्लपक्षकृष्णपक्षाः कालस्तेषूपरि रागद्वेषवर्जनं कालसामायिकं नाम। सर्वजीवेषूपरि मैत्रीभावोऽशुभपरिणाम-वर्जनं भावसामायिकं नाम। अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकरणं सामायिकशब्दमात्रं नामसामायिकं नाम। सामायिकावश्यकेन परिणतस्याकृतिमत्यनाकृतिमति च वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिकं नाम। द्रव्यसामायिकं द्विविधं आगमद्रव्यसामायिकं नोआगमद्रव्यसामायिकं चेति। सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायी अनुपयुक्तो जीव आगमद्रव्यसामायिकं नाम। नोआगमद्रव्यसामायिकं त्रिविधं सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायकशरीरसामायिक-प्राभृतभविष्यज्ज्ञायकजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन। ज्ञायकशरीरमिति त्रिविधं भूतवर्तमानभविष्यद्भेदेन। भूतमपि त्रिविधं च्युतच्यावितत्यक्तभेदेन। सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठितं क्षेत्रं क्षेत्रसामायिकं नाम। यस्मिन् काले

सोना, चाँदी, मोती, माणिक्य आदि तथा लकड़ी, मिट्टी का ढेला और कंटक आदिकों में समान भाव रखना, उनमें राग-द्वेष नहीं करना द्रव्य सामायिक है।

कोई-कोई क्षेत्र रम्य होते हैं; जैसे कि बगीचे, नगर, नदी, कूप, बावडी, तालाब, जनपद—देश आदि से सहित स्थान, तथा कोई-कोई क्षेत्र अशोभन होते हैं; जैसे कि रूक्ष, कंटकयुक्त, विषम, विरस, हड्डी और पाषाण सहित स्थान, जीर्ण अटवी, सूखी नदी, मरुस्थल-बालू के पुंज की बहुलतायुक्त भूमि, इन दोनों प्रकार के क्षेत्रों में राग-द्वेष का अभाव होना क्षेत्र सामायिक कहा गया है।

प्रावृड्, वर्षा, हेमन्त शिशिर, वसंत और निदाघ अर्थात् ग्रीष्म इस प्रकार इन छह ऋतुओं में, रात्रि दिवस तथा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में, इन कालों में राग-द्वेष का त्याग काल सामायिक है।

सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना और अशुभ परिणामों का त्याग करना यह भाव सामायिक है।

अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'सामायिक' ऐसा शब्द मात्र संज्ञाकरण करना—नाम रख देना नाम सामायिक है।

सामायिक आवश्यक से परिणित हुए आकार वाली अथवा अनाकार वाली किसी वस्तु में गुणों का आरोपण करना स्थापना सामायिक है।

द्रव्य सामायिक के दो भेद हैं—आगम द्रव्य सामायिक और नो-आगम द्रव्य सामायिक। सामायिक के वर्णन करनेवाले शास्त्र को जाननेवाला किन्तु जो उस समय उस विषय में उपयोग युक्त नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है। नो-आगम द्रव्य सामायिक के तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिक के वर्णन करनेवाले प्राभृत को जाननेवाले का शरीर ज्ञायकशरीर है, भविष्यकाल में सामायिक प्राभृत को जाननेवाला जीव भावी है और उससे भिन्न तद्व्यतिरिक्त है। ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत्। भूतकालीन ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त।

सामायिकं करोति स कालः पूर्वाह्लादिभेदभिन्नः कालसामायिकं। भावसामायिकं द्विविधं, आगमभावसामायिकं, नोआगमभावसामायिकं चेति। सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञाय्युपयुक्तो जीव आगमभावसामायिकं नाम, सामायिकपरिणतपरिणामादि नोआगमभावसामायिकं नाम। तयोर्मध्ये आगमभावसामायिकेन नोआगमभावसामायिकेन च प्रयोजनमिति ॥५१८॥

निरुक्तिपूर्वकं भावसामायिकं प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण ॥५१९॥

सम्यक्त्वज्ञानसंयमतपोभिर्यत्तत् प्रशस्तं समागमनं प्रापणं तैः सहैक्यं च जीवस्य यत् समयस्तु समय एव भणितस्तमेव सामायिकं जानीहि ॥५१९॥ तथा यः—

सामायिक से परिणित हुए जीव से अधिष्ठित क्षेत्र क्षेत्र-सामायिक है। जिस काल में सामायिक करते हैं, पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण आदि भेद युक्त काल काल-सामायिक है।

भाव-सामायिक के भी दो भेद हैं—आगमभाव-सामायिक और नोआगम भाव-सामायिक। सामायिक के वर्णन करनेवाले—प्राभृत-ग्रन्थ का जो ज्ञाता है और उसके उपयोग से युक्त है वह जीव आगमभाव-सामायिक है। और, सामायिक से परिणत परिणाम आदि को नो-आगमभाव सामायिक कहते हैं।

इनमें से यहाँ आगम-भाव सामायिक और नो-आगमभाव सामायिक से प्रयोजन है ऐसा समझना।

भावार्थ—यहाँ पर सामायिक के छह भेद दो प्रकार से बताये गये हैं। उनमें पहले जो शुभ-अशुभ नाम आदि में समताभाव रखना, राग-द्वेष नहीं करना बतलाया है वह तो छहों भेदरूप सामायिक उपादेय है। इस साम्यभावना के लिए ही मुनिजन सारे अनुष्ठान करते हैं। अनन्तर जो नाम आदि निक्षेप घटित किये हैं उनमें अन्त में जो भाव निक्षेप है वही यहाँ पर उपादेय है ऐसा समझना। इन निक्षेपों का विस्तृत विवेचन राजवार्तिक, धवला टीका आदि से समझना चाहिए।

निरुक्तिपूर्वक भावसामायिक का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है वह समय कहा गया है, तुम उसे ही सामायिक जानो ॥५१९॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के साथ जो जीव का ऐक्य है वह 'समय' इस नाम से कहा जाता है और उस समय को ही सामायिक कहते हैं (यहाँ पर 'समय' शब्द से स्वार्थ में इकण् प्रत्यय होकर 'समय एव सामायिकं' ऐसा शब्द बना)

उसी प्रकार से—

जिदउवसग्गपरीसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु।
जमणियमउज्जदमदी सामाइयपरिणदो जीवो ॥५२०॥

जिता: सोढा उपसर्गा: परीषहाश्च येन स जितोपसर्गपरीषह: समितिषु भावनासु चोपयुक्तो य: यमनियमोद्यतमतिश्च य:, स सामायिकपरिणतो जीव इति ॥५२०॥ तथा—

जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्वमहिलासु।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइयं ॥५२१॥

यस्माच्च समो रागद्वेषरहित आत्मनि परे च, यस्माच्च मातरि सर्वमहिलासु च शुद्धभावेन समान:, सर्वा योषितो मातृसदृश: पश्यति, यस्माच्च प्रियाप्रियेपु समान:, यस्माच्च मानापमानादिषु समानस्तस्मात् स श्रवणस्ततश्च तं सामायिकं जानीहीति[1] ॥५२१॥

जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
सब्भावं तं सिद्धं सामाइयमुत्तमं जाणे[3] ॥५२२॥

पूर्वगाथाभ्यां सम्यक्त्वसंयमयो: समागमनं[4] व्याख्यातं अनया पुनर्गाथया ज्ञानसमागमन[5]माचष्टे।

गाथार्थ—जिन्होंने उपसर्ग और परीषह को जीत लिया है, जो भावना और समितियों में उपयुक्त हैं, यम और नियम में उद्यमशील हैं, वे जीव सामायिक से परिणत हैं ॥५२०॥

आचारवृत्ति—जो उपसर्ग और परीषहों को जीतनेवाले होने से जितेन्द्रिय हैं, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं अथवा मैत्री आदि भावनाओं में तथा समितियों में लगे हुए हैं, यम और नियम में तत्पर हैं वे मुनि सामायिक से [1]परिणत हैं ऐसा समझो।

उसी प्रकार—

गाथार्थ—जिस कारण से अपने और पर में, माता और सर्व महिलाओं में, अप्रिय और प्रिय तथा मान-अपमान आदि में समानभाव होता है इसी कारण से वे श्रमण हैं और इसी से वे सामायिक हैं ॥५२१॥

आचारवृत्ति—जिससे वे अपने और पर में राग-द्वेष रहित समभाव हैं, जिससे वे माता और सर्व महिलाओं में शुद्धभाव से समान हैं अर्थात् सभी स्त्रियों को माता के सदृश देखते हैं, जिस हेतु से प्रिय और अप्रिय में समानभावी हैं और जिस हेतु से वे मान-अपमान (आदि शब्द से जीवन-मरण 'सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, महल, श्मशान तथा शत्रु-मित्र आदि) में जो समभावी हैं, इन्हीं हेतुओं से वे श्रमण कहलाते हैं और इसीलिए तुम उन्हें सामायिक जानो। यहां पर समताभाव से युक्त मुनि को ही सामायिक कहा है।

गाथार्थ—जो द्रव्यों के, गुणों के और पर्यायों के समवाय को और सद्भाव को जानता है उसके उत्तम सामायिक सिद्ध हुई ऐसा तुम जानो ॥५२२॥

आचारवृत्ति—पूर्व में दो गाथाओं द्वारा सम्यक्त्व और संयम का समागमन अर्थात्

---

१ क °ति सम्बन्ध:। तथा— २ क °सज्ज्ञावत्तं सि°। ३ क जाण। ४-५ क समगमनं।

यो जानाति समवायं सादृश्यं स्वरूपं वा द्रव्याणां। द्रव्यसमवायं क्षेत्रसमवायं कालसमवायं भावसमवायं च जानाति। तत्र द्रव्यसमवायो नाम धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवप्रदेशाः समाः। क्षेत्रसमवायो नाम सीमन्तनरकमनुष्यक्षेत्रर्जुविमान-सिद्धालयाः समाः। कालसमवायो नाम समयः समयेन समः, अवसर्पिण्युत्सर्पिण्या समेत्यादि। भावसमवायो नाम केवलज्ञानं केवलदर्शनेन सममिति। गुणा रूपरसगन्धस्पर्शज्ञातृत्वद्रष्टृत्वादयस्तेषां समानतां जानाति। अथवौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिका गुणास्तेषां समानतां जानाति। पर्याया नारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वदेवत्वादयस्तेषां समानतां जानाति। द्रव्याधारत्वेनापृथग्वर्तित्वेन च गुणानां समवायः। पर्यायाणां उत्पाद-विनाशध्रौव्यत्वेन समवायो भावसमवायो गुणेष्वन्तर्भवति। क्षेत्रसमवायः पर्यायेष्वन्तर्भवति। कालसमवायो द्रव्यसमवायेऽन्तर्भवतीति। द्रव्यसमवायं गुणसमवायं पर्यायसमवायं च यो जानाति तेषां सिद्धिं[1] सद्भावं निष्पन्नं परमार्थरूपं च यो जानाति तं संयतं सामायिकमुत्तमं जानीहि। अथवा द्रव्याणां समवायं सिद्धिं, गुण-

---

जीव के साथ ऐक्य वतलाया है और अब इस गाथा के द्वारा जीव के साथ ज्ञान का समागमन—ऐक्य बतलाते हैं। जो द्रव्यों के समवाय अर्थात् सादृश्य को अथवा स्वरूप को जानते हैं अर्थात् द्रव्य समवाय, क्षेत्र समवाय, काल समवाय और भाव समवाय को जानते हैं वे मुनि उत्तम सामायिक कहलाते हैं। उसमें द्रव्य के समवाय—सादृश्य को कहते हैं। द्रव्यों की सदृशता का नाम द्रव्य समवाय है; जैसे धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव—इनके प्रदेश समान हैं अर्थात् इन चारों में असंख्यात प्रदेश हैं और वे पूर्णतया समान हैं। ऐसे ही क्षेत्र से सदृशता क्षेत्र समवाय है। प्रथम नरक का सीमंतक बिल, मनुष्य क्षेत्र (ढाई द्वीप), प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान और सिद्धालय ये समान हैं अर्थात् ये सभी पैंतालीस लाख योजन प्रमाण हैं। काल की सदृशता काल-समवाय है, जैसे समय समय के समान है, अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के समान है इत्यादि। भावों की सदृशता भाव-समवाय है; जैसे केवलज्ञान केवल दर्शन के समान है।

रूप-रस-गंध और स्पर्श तथा ज्ञातृत्व और द्रष्टृत्व आदि गुणों की समानता को जो जानते हैं वे गुणों के समवाय को जानते हैं। अथवा जो औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक गुण हैं उनकी समानता को जानना गुणसमवाय है। नारकत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व और देवत्व आदि पर्यायें हैं। इनकी समानता को जानना पर्यायसमवाय है। अर्थात् जो द्रव्य के आधार में रहते हैं और द्रव्य से अपृथग्वर्ती हैं—कभी भी उनसे पृथक् नहीं किए जा सकते हैं अतः अयुतसिद्ध हैं, यह गुणों का समवाय है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से पर्यायों का समवाय होता है।

ऊपर में जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव समवाय कहे गए हैं उनको द्रव्य, गुण और पर्यायों के अन्तर्गत करने से द्रव्य, गुण और पर्याय नाम से तीन प्रकार के समवाय माने जाते हैं। सो ही बताते हैं—कि भाव समवाय गुणों में अन्तर्भूत हो जाता है। क्षेत्रसमवाय पर्यायों में, काल समवाय द्रव्यसमवाय में अन्तर्भूत हो जाता है। इस तरह जो मुनि द्रव्यसमवाय, गुणसमवाय और पर्यायसमवाय को जानते हैं, इनकी सिद्धि को—निष्पन्नता को अर्थात् पूर्णता को और इनके सद्भाव को—परमार्थ रूप को जानते हैं उन संयतों को तुम उत्तम सामायिक जानो।

---

१ क सिद्धं।

पर्यायाणां च सद्भावं यो जानाति तं सामायिकं जानीहि। अथवा [1]समवृत्ति समवायं, द्रव्यगुणपर्यायाणां समवृत्ति, द्रव्यं गुणविरहितं नास्ति गुणाश्च द्रव्यविरहिता न सन्ति पर्यायाश्च द्रव्यगुणरहिता न सन्ति। [2]एवंभूतं समवृत्ति समवायं सद्भावरूपं न संवृत्तिरूपं, न कल्पनारूपं, नाप्यविद्यारूपं, स्वतः सिद्धं न समवाय-द्रव्यवलेन यो जानाति तं सामायिकं जानीहीति सम्बन्धः ॥५२२॥

सम्यक्त्वचारित्रपूर्वकं सामायिकमाह—

रागदोसे णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु[3]।
सुत्तेसु य परिणामो सामाइयमुत्तमं जाणे ॥५२३॥

अथवा द्रव्यों की समवाय सिद्धि को और गुणों तथा पर्यायों के सद्भाव को जो जानते हैं उन्हें सामायिक जानो।

अथवा समवृत्ति—सहवृत्ति अर्थात् साथ-साथ रहने का नाम समवाय है। इस तरह द्रव्य, गुण, पर्यायों की सहवृत्ति को जो जानते हैं उनको तुम सामायिक जानो। जैसे द्रव्य गुणों से विरहित नहीं है, और गुण द्रव्य से विरहित नहीं रहते हैं तथा पर्यायें भी द्रव्य और गुणों से रहित होकर नहीं होती हैं। इस प्रकार का जो सहवृत्ति रूप समवाय है वह सद्भाव रूप है, वह न संवृत्ति रूप है न ही कल्पनारूप और न अविद्यारूप ही है। वह समवाय किसी एक पृथग्भूत-समवाय नामक पदार्थ के वल से सिद्ध नहीं है बल्कि स्वतःसिद्ध है ऐसा जो मुनि जानते हैं उनको ही तुम सामायिक जानो, ऐसा गाथा के अर्थ का सम्बन्ध होता है।

भावार्थ—अन्य सम्प्रदायों में कोई द्रव्य, गुण और पर्यायों को पृथक्-पृथक् मानते हैं। कोई उन्हें संवृति—असत्यरूप मानते हैं इत्यादि, उन्हीं की मान्यता का यहाँ अन्त में निराकरण किया गया है। जैसे कि बौद्ध द्रव्य, गुण आदि को सर्वथा संवृतिरूप अर्थात् असत्य मानते हैं। शून्यवादी आदि सभी कुछ कल्पनारूप मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी इस चराचर जगत् को अविद्या-—माया का विलास मानते हैं। और यौग द्रव्य को गुणों से पृथक् मानकर समवाय सम्बन्ध से गुणी कहते हैं अर्थात् अग्नि को उष्ण गुण समवाय सम्बन्ध से उष्ण कहते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने द्रव्य, गुण पर्यायों को सर्वथा अपृथग्रूप—तादात्म्य सम्बन्धयुत माना है अतः वास्तव में यह द्रव्य गुण पर्यायों का समवाय—तादात्म्य स्वतःसिद्ध है, परमार्थभूत है ऐसा समझना। और इस सम्यग्ज्ञान से परिणत हुए महामुनि स्वयं सामायिक रूप ही हैं ऐसा यहाँ कहा गया है। क्योंकि इस परामार्थज्ञान के साथ उन मुनि का ऐक्य हो रहा है इसलिए वे मुनि ही 'सामायिक' इस नाम से कहे गए हैं।

सम्यक्त्व चारित्रपूर्वक सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—राग-द्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में समता भाव होना, और सूत्रों में परिणाम होना—इनको तुम उत्तम सामायिक जानो ॥५२३॥

---

१ क समवायवृत्ति द्र°। २ क एवं निर्वृत्तिसमवायं सद्भावरूपं। ३ क समकं मदा।

रागद्वेषौ निरुध्य सर्वकर्मसु सर्वकर्तव्येषु या समता, सूत्रेषु च द्वादशांगचतुर्दशपूर्वेषु च यः परिणामः श्रद्धानं सामायिकमुत्तमं प्रकृष्टं जानीहि ॥५२३॥

तपःपूर्वकं सामायिकमाह—

विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिदिओ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ॥५२४॥

सर्वसावद्याद्यो विरतस्त्रिगुप्तः, पिहितेन्द्रियो निरुद्धरूपादिविषयः, एवंभूतो जीवः सामायिकं संयमस्थानमुत्तमं जानीहि जीवसामायिकसंयमयोरभेदादिति ॥५२४॥

भेदं च प्राह—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥५२५॥

यस्य संनिहितः स्थितः आत्मा। क्व, संयमे नियमे तपसि च तस्य सामायिकं तिष्ठति। इत्येवं केवलिनां शासनं एवं केवलिनामाज्ञा शिक्षा वा। अथवास्मिन् केवलिशासने जिनागमे तस्य सामायिकं तिष्ठतीति ॥५२५॥

आचारवृत्ति—राग द्वेष को दूर करके सभी कार्यों में जो समता है और द्वादशांग तथा चतुर्दश पूर्वरूप सूत्रों का जो श्रद्धान है वही प्रकृष्ट सामायिक है ऐसा तुम जानो।

अब तपपूर्वक सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—सर्व सावद्य से विरत, तीन गुप्ति से गुप्त, जितेन्द्रिय जीव संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक नाम को प्राप्त होता है ॥५२४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सर्व पापयोग से विरत हैं, तीन गुप्ति से सहित हैं, रूपादि विषयों में इन्द्रियों को न जाने देने से जो जितेन्द्रिय हैं ऐसे संयत जीव को ही संयम के स्थान भूत उत्तम सामायिक रूप समझो। क्योंकि जीव और सामायिक संयम में अभेद है अर्थात् जीव के आश्रय में ही सामायिक संयम पाया जाता है। यहाँ अभेदरूप से सामायिक का प्रतिपादन हुआ है।

अब भेद को कहते हैं—

गाथार्थ—जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में स्थित है उसके सामायिक रहता है ऐसा केवली के शासन में कहा है ॥५२५॥

आचारवृत्ति—जिनकी आत्मा संयम आदि में लगी हुई है उसके ही सामायिक होता है, इस प्रकार केवली भगवान् का शासन है अर्थात् केवली भगवान की आज्ञा है अथवा उनकी शिक्षा है। अथवा केवली भगवान् के इस शासन में अर्थात् जिनागम में उसी जीव के सामायिक होता है ऐसा अभिप्राय समझना।

समत्वभावपूर्वकं भेदेन सामायिकमाह—

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
[1]तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥५२६॥

यः समः सर्वभूतेषु—त्रसेषु स्थावरेषु च समस्तेषामपीडाकरस्तस्य सामायिकमिति ॥५२६॥

रागद्वेषविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु।

यस्य रागद्वेषौ विकृतिं विकारं न जनयतस्तस्य सामायिकमिति

कषायजयेन सामायिकमाह—

जेण कोधो य माणो य माया लोभो य णिज्जिदो ॥५२७॥

येन क्रोधमानमायालोभाः सभेदाः सनोकषाया निर्जिता दलितास्तस्य सामायिकमिति ॥५२७॥

संज्ञालेश्याविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडिं ण जणंति दु ॥५२८॥

समत्वभावपूर्वक भेद के द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—सभी प्राणियों में, त्रसों और स्थावरों में, जो समभावी है उसके सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥५२६॥

जो सर्व प्राणियों में, त्रसों और स्थावरों में समभाव रखते हैं अर्थात् उनको पीड़ा नहीं देते हैं उनके सामायिक होता है।

राग-द्वेष विकारों के अभाव से भेदरूप सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जिस जीव के राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।

कषाय-जय के द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जिन्होंने क्रोध, मान; माया और लोभ को जीत लिया है उनके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन में कहा है ॥५२७॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने अनन्तानुबन्धी आदि चार भेदों सहित क्रोध, मान, माया, लोभ का तथा हास्य आदि नोकषायों का दलन कर दिया है उन्हीं के सामायिक होता है।

संज्ञा और लेश्यारूप विकारों के अभावपूर्वक भेदरूप सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जिनके संज्ञाएँ और लेश्याएँ विकार को उत्पन्न नहीं करतीं उसके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन में कहा है।

---

१ अस्याः गाथायाः उत्तरार्धं द्वात्रिंशत्तमगाथापर्यंतं संयोज्य संयोज्य पठनीयं।

यस्य संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा विकृति विकारं न जनयन्ति। तथा यस्य लेश्याः कृष्ण-नीलकापोतपीतपद्मलेश्याः कषायानुरञ्जितयोगवृत्तयो विकृति विकारं न जनयन्ति तस्य सामायिक-मिति ॥५२६॥

कामेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो दुरसे य फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ॥५२९॥

रसः कटुकषायादिभेदभिन्नः, स्पर्शो मृद्वादिभेदभिन्नः रसस्पर्शौ काम इत्युच्यते। रसनेन्द्रियं स्पर्शनेन्द्रियं च कामेन्द्रिये। यो रसस्पर्शौ कामौ वर्जयति नित्यं। कामेन्द्रियं च निरुणद्धि तस्य सामायिक-मिति।

भोगेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो रूवगंधसद्दे य भोगे वज्जदि णिच्चसा ॥५३०॥

यः रूपं कृष्णनीलादिभेदभिन्न, गन्धो द्विविधः सुरभ्यसुरभिभेदेन च, शब्दो वीणावंशादिसमुद्भवः, रूपगन्धशब्दा भोगा इत्युच्यन्ते, चक्षुर्घ्राणश्रोत्राणि भोगेन्द्रियाणि, यो रूपगन्धशब्दान् वर्जयति, भोगेन्द्रियाणि

आचारवृत्ति—जिनके आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इनकी अभिलाषारूप चार संज्ञाएँ विकार को उत्पन्न नहीं करती हैं, तथा जिनके कृष्ण, नील, कापोत, पीत और पद्म ये कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्तिरूप लेश्याएँ विकार को पैदा नहीं करती हैं उनको सामायिक होता है।

कामेन्द्रिय के विषय वर्जन द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि रस और स्पर्श इन काम को नित्य ही छोड़ते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन में कहा है।

आचारवृत्ति—कटु, कषाय, अम्ल, तिक्त और मधुर ऐसे रस पाँच हैं। मृदु, कठोर, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे स्पर्श के आठ भेद हैं। इन रस और स्पर्श को काम कहते हैं तथा रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय को कामेन्द्रिय कहते हैं। जो मुनि रस और स्पर्श का नित्य ही वर्जन करते हैं और कामेन्द्रिय का निरोध करते हैं उन्हीं के सामायिक होता है।

भोगेन्द्रिय के विषय-वर्जन द्वारा सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जो रूप, गन्ध और शब्द इन भोगों को नित्य ही छोड़ देता है उसके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है ॥५३०॥

आचारवृत्ति—कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत ये रूप के पाँच भेद हैं। सुरभि और असुरभि के भेद से गन्ध दो प्रकार का है। और, वीणा बाँसुरी आदि से उत्पन्न हुए शब्द अनेक प्रकार के हैं। इन रूप, गन्ध और शब्द को भोग कहते हैं तथा इनको ग्रहण करने वाली चक्षु, घ्राण एवं कर्ण इन तीनों इन्द्रियों को भोगेन्द्रिय कहते हैं। जो मुनि इन रूप, गन्ध और

च नित्यं सर्वकालं निवारयति तस्य सामायिकमिति ॥५३०॥

दुष्टध्यानपरिहारेण सामायिकमाह—

जो दु अट्ठं च रुद्दं च झाणं वज्जदि णिच्चसा।

चकारावनयोः स्वभेदग्राहकाविति कृत्वैवमुच्यते यस्त्वार्तं चतुष्प्रकारं रौद्रं च चतुष्प्रकारं ध्यानं वर्जयति सर्वकालं तस्य सामायिकमिति।

शुभध्यानद्वारेण सामायिकस्थानमाह—

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणे झायदि णिच्चसा ॥५३१॥

अत्रापि चकारावनयोः स्वभेदप्रतिपादकाविति कृत्वैवमाह—यस्तु धर्मं चतुष्प्रकारं शुक्लं च चतुष्प्रकारं ध्यानं ध्यायति युनक्ति सर्वकालं तस्य सामायिकं तिष्ठतीति। केवलिशासनमिति सर्वत्र सम्बन्धो दृष्टव्य इति ॥५३१॥

किमर्थं सामायिकं प्रज्ञप्तमित्याशंकायामाह—

सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं।
गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णिच्चा कुज्जा बुधो अप्पहियं पसत्थं ॥५३२॥

शब्द का वर्जन करते हैं तथा भोगेन्द्रियों का नित्य ही निवारण करते हैं अर्थात् इन इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष नहीं करते हैं उनके सामायिक होता है।

दुष्ट ध्यान के परिहार द्वारा सामायिक का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—जो आर्त और रौद्र ध्यान का नित्य ही त्याग करते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।

आचारवृत्ति—इस गाथा में जो दो बार 'च' शब्द है वे इन दोनों ध्यानों के अपने-अपने भेदों को ग्रहण करने वाले हैं। इसलिए ऐसा समझना कि जो मुनि चार प्रकार के आर्तध्यान को और चार प्रकार के रौद्र ध्यान को सर्वकाल के लिए छोड़ देते हैं उनके सामायिक होता है।

अब शुभ ध्यान द्वारा सामायिक का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—जो धर्म और शुक्ल ध्यान को नित्य ही ध्याते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है ॥५३१॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर भी दो चकार इन दोनों ध्यानों के स्वभेदों के प्रतिपादक हैं। अर्थात् जो मुनि चार प्रकार के धर्म-ध्यान को और चार प्रकार के शुक्ल-ध्यान को ध्याते हैं, हमेशा उनमें अपने को लगाते हैं उनके सर्वकाल सामायिक ठहरता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है। इस अन्तिम पंक्ति का सम्बन्ध सर्वत्र समझना चाहिए।

किसलिए सामायिक को कहा है ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—सावद्य योग का त्याग करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक कहा है। गृहस्थ धर्म जघन्य है, ऐसा जानकर विद्वान् प्रशस्त आत्म हित को करे ॥५३२॥

वृत्तमेतत्। सावद्ययोगपरिवर्जनार्थं पापास्रववर्जनाय सामायिकं केवलिभिः प्रशस्तं प्रतिपादितं स्तुतमिति। यस्मात्तस्माद् गृहस्थधर्मः सारम्भारम्भादिप्रवृत्तिविशेषोऽपरगो जघन्यः संसारहेतुरिति ज्ञात्वा बुधः संयतः प्रशस्तं शोभनमात्महितं सामायिकं कुर्यादिति ॥५३२॥

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइयह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्ज ॥५३३॥

सामायिके तु कृते सति श्रावकोऽपि किल श्रमणः संयतो भवति। यस्मात्कस्मिंश्चित् पर्वणि कश्चित् श्रावकः सामायिकसंयमं समत्वं गृहीत्वा श्मशाने स्थि (तः) तस्य पुत्रनप्तृबन्ध्वादिमरणपीडादिमहोपसर्गः

आचारवृत्ति—यह वृत्त छन्द है। सावद्य योग का त्याग करने के लिए अर्थात् पापास्रव का वर्जन करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक का प्रतिपादन किया है उसे स्तुत कहा गया है। क्योंकि गृहस्थ धर्म आरम्भ आदि का प्रवृत्ति विशेष रूप होने से जघन्य अर्थात् ससार का हेतु है ऐसा समझकर संयत मुनि प्रशस्त—शोभन आत्महित रूप सामायिक को करे।

पुनरपि सामायिक के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—सामायिक करते समय जिससे श्रावक भी श्रमण हो जाता है इससे तो बहुत बार सामायिक करना चाहिए ॥५३३॥

आचारवृत्ति—सामायिक के करते समय श्रावक भी आश्चर्य है कि संयत हो जाता है अर्थात् मुनि सदृश हो जाता है। जैसे किसी पर्व में कोई श्रावक सामायिक संयम अर्थात् समता भाव को ग्रहण करके श्मशान में स्थित हो गया है—खड़ा हो गया है, उस समय, (किसी के द्वारा) उसके पुत्र, पौत्र, नाती बन्धुजन आदि के मरण अथवा उनको पीड़ा देना आदि महा-उपसर्ग हो रहे हैं या स्वयं के ऊपर उपसर्ग हो रहे हैं तो भी वह सामायिक व्रत से च्युत नहीं हुआ अर्थात् सामायिक के समय एकाग्रता रूप धर्मध्यान से चलायमान नहीं हुआ उस समय वह श्रमण होता है।

प्रश्न—यदि वह उस समय भाव श्रमण हो गया तब तो उसे श्रावकपना कैसे रहा होगा?

उत्तर—वह भाव-श्रमण नहीं है किन्तु श्रमण के सदृश उसे समझना चाहिए; क्योंकि उस समय उसके प्रत्याख्यान कषाय का उदय मन्दतर है। यहाँ पर (सुदर्शन आदि की) कथा कही जा सकती है। इसलिए बहुलता से सामायिक करना चाहिए।

भावार्थ—कदाचित् किसी श्रावक ने अष्टमी या चतुर्दशी को दिन में या रात्रि में श्मशान भूमि में जाकर निश्चल ध्यान रूप सामायिक शुरू किया, उस समय उसने कुछ घण्टों का नियम कर लिया है और उतने समय तक सभी से समता भाव धारण करके वह राग-द्वेष रहित होकर स्थित हो गया है। उस समय किसी देव या विद्याधर मनुष्य आदि ने पूर्व जन्म के बैरवश या दृढ़ता की परीक्षा हेतु उस पर उपसर्ग करना चाहा, उसके सामने उसके परिवार को, पुत्र स्त्री

संयतस्तथाप्यसौ न सामायिकव्रतान्निर्गतः। भावश्रमणः संवृत्तस्तर्हि श्रावकत्वं कथं ? प्रत्याख्यानमन्दतरत्वात्। अत्र कथा वाच्या। तस्मादनेन कारणेन बहुशो बाहुल्येन सामायिकं कुर्यादिति ॥५३३॥

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइए कदे सावएण विद्धो मश्रो श्ररणह्मि।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिश्रो ॥५३४॥

सामाइए—सामायिके। **कदे**—कृते। **सावएण**—श्रावकेन। **विद्धो**—व्यथितः केनापि। **मओ**—मृगो हरिणपोतः। **अरणम्मि**—अरण्येऽटव्यां। **सो य मओ**—सोऽपि मृगः। **उद्धादो**—मृतः प्राणैर्विपन्नः। **ण य सो**—न चासौ। **सामाइयं**—सामायिकात्। **फिडिओ**—निर्गतः परिहीणः। केनचिच्छ्रावकेणाटव्यां

आदि को मार डाला या उन्हें अनेक यातनाएँ देने लगा फिर भी वह श्रावक अपनी दृढ़ता से च्युत नहीं हुआ अथवा उस श्रावक पर ही उपसर्ग कर दिया उस समय वह श्रावक, उपसर्ग में वस्त्र जिन पर डाल दिया गया है ऐसे वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान है। अथवा जैसे सुदर्शन ने श्मशान में रात्रि में प्रतिमायोग ग्रहण किया था तब अभयमती रानी ने उसे अपने महल में मँगाकर उसके साथ नाना कुचेष्टा करते हुए उसे ब्रह्मचर्य से चलित करना चाहा था किन्तु वे सुदर्शन सेठ निर्विकार ही बने रहे थे। ऐसी अवस्था में वे निर्वस्त्र मुनि के ही समान थे। किन्तु इन श्रावकों के छठा सातवाँ गुणस्थान न हो सकने के कारण ये भाव से मुनि नहीं हो सकते हैं। अतः ये भावसंयत या श्रमण नहीं कहलाते हैं किन्तु इनके प्रत्याख्यान कषाय का उदय उस समय अत्यन्त मन्दतर रहता है अतः ये यहाँ श्रमण कहे गये हैं। इससे 'श्रमण सदृश' ऐसा अर्थ ही समझना।

पुनरपि सामायिक के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—कोई श्रावक सामायिक कर रहा होता है। उस समय वन में कोई हरिण बाणों से विद्ध हुआ आया और मर गया किन्तु उस श्रावक ने सामायिक भंग नहीं किया ॥५३४॥

आचारवृत्ति—वन में कोई श्रावक सामायिक कर रहा है, उस समय किसी व्याध के द्वारा बाणों से विद्ध होकर व्यथित होता हुआ कोई हिरण वहाँ उस श्रावक के पैरों के बीच में आकर गिर पड़ा और वेदना से पीड़ित हुआ, वह तड़फता हुआ बार-बार उसके पास स्थित रह कर मर भी गया फिर भी वह श्रावक अपने सामायिक संयम से पृथक् नहीं हुआ अर्थात् सामायिक का नियम भंग नहीं किया, क्योंकि वह उस समय संसार की स्थिति का विचार करता रहा। इसलिए अनेक प्रकार से सामायिक करना चाहिए, यहाँ ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

भावार्थ—वन में या श्मशान में जाकर सामायिक वे ही श्रावक करेंगे, जो अतिशय धीर वीर और स्थिरचित्त वाले हैं। अतः उनका यहाँ पर करुणापूर्वक उस जीव की रक्षा की तरफ कोई विशेष लक्ष्य नहीं होता। वे तो अपने धर्मध्यान में अतिशय स्थित होकर अपनी शुद्धात्मा की भावना कर रहे होते हैं। इस उदाहरण को सामायिक करनेवाले घर में या मन्दिर में बैठकर ध्यान का अभ्यास करते हुए श्रावक अपने में नहीं घटा सकते हैं। वे सामायिक छोड़कर

सामायिके कृते शल्येन विद्धो मृगः पादान्तरे आगत्य व्यवस्थितो वेदनार्तः सन् स्तोकवारं स्थित्वा मृतो मृगो नासौ श्रावकः सामायिकात् संयमान्निर्गतः संसारदोषदर्शनादिति, तेन कारणेन सामायिकं क्रियत इति सम्बन्धः ॥५३४॥

केन सामायिकमुद्दिष्टमित्याशंकायामाह—

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥५३५॥

द्वाविंशतितीर्थंकरा अजितादिपार्श्वनाथपर्यन्ताः सामायिकसंयममुपदिशन्ति प्रतिपादयन्ति। छेदो-पस्थानं पुनः संयमं वृषभो वीरश्च प्रतिपादयतः ॥५३५॥

किमर्थं वृषभमहावीरौ छेदोपस्थापनं प्रतिपादयतो यस्मात्—

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥५३६॥

आचक्खिदुं—आख्यातुं कथयितुं आस्वादयितुं वा। **विभयिदुं**—विभक्तुं पृथक्-पृथक् भावयितुं। **विण्णादुं**—विज्ञातुमवबोद्धुं चापि। **सुहदरं**—सुखतरं सुखग्रहणं। **होदि**—भवति। **एदेण**—एतेन। **कारणेन**।

उस समय उस जीव की रक्षा का प्रयत्न कर सकते हैं। यदि रक्षा न कर सकें तो उसे महामन्त्र सुनाते हुए तथा नाना प्रकार से सम्बोधन करके शिक्षा देते हुए उसका भवान्तर सुधार सकते हैं पुनः गुरु के पास जाकर सामायिक भंग करने का अल्प प्रायश्चित्त लेकर अपनी शुद्धि कर सकते हैं।

किनने सामायिक का उपदेश किया है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं किन्तु भगवान् वृषभ-देव और महावीर छेदोपस्थापना संयम का उपदेश देते हैं ॥५३५॥

अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उप-देश देते हैं। किन्तु छेदोपस्थापना संयम का वर्णन वृषभदेव और वर्द्धमान स्वामी ने ही किया है।

भावार्थ—यहाँ पर अभेद संयम का नाम सामायिक संयम है और मूलगुण आवश्यक क्रिया आदि से भेदरूप संयम का नाम छेदोपस्थापना संयम है ऐसा समझना।

वृषभदेव और महावीर ने छेदोपस्थापना का प्रतिपादन किसलिए किया है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिस हेतु से कहने, विभाग करने और जानने के लिए सरल होता है उस हेतु से महाव्रत पाँच कहे गये हैं ॥५३६॥

आचारवृत्ति—कहने के लिए अथवा अनुभव करने के लिए तथा पृथक्-पृथक् भावित करने के लिए और समझने के लिए भी जिनका सुख से अर्थात् सरलता से ग्रहण हो जाता है।

महव्वदा—महाव्रतानि । पंचपण्णता—पंच प्रज्ञप्तानि । यस्मादन्यस्मै प्रतिपादयितुं स्वेच्छयानुष्ठातुं विभक्तुं, विज्ञातुं चापि भवति सुखतरं सामायिकं, तेन कारणेन महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानीति ॥५३६॥

किमर्थं[1]मादितीर्थेऽन्ततीर्थे च च्छेदोपस्थापन[2]संयममित्याशंकायामाह—

आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य ।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति ॥५३७॥

आदितीर्थे शिष्याः दुःखेन शोध्यन्ते सुष्ठु ऋजुस्वभावा यतः । तथा पश्चिमतीर्थे शिष्याः दुःखेन प्रतिपाल्यन्ते सुष्ठु वक्रस्वभावा यतः । पूर्वकालशिष्याः पश्चिमकालशिष्याश्च अपि स्फुटं कल्प्यं—योग्यं अकल्प्यं अयोग्यं च न जानन्ति यतस्ततः आदौ निधने च छेदोपस्थानमुपदिशत इति ॥५३७॥

अर्थात् जिस हेतु से अन्य शिष्यों को प्रतिपादन करने के लिए, अपनी इच्छानुसार उनका अनुष्ठान करने के लिए, विभाग करके समझने के लिए भी सामायिक संयम सरल हो जाता है इस लिए महाव्रत पाँच कहे गये हैं ।

आदितीर्थ में और अन्ततीर्थ में छेदोपस्थापना संयम को किसलिए कहा ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य कठिनता से शुद्ध होने से तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में दुःख से उनका पालन होने से वे पूर्व के शिष्य और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य योग्य और अयोग्य को नहीं जानते हैं ॥५३७॥

आचारवृत्ति—आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य दुःख से शुद्ध किये जाते हैं, क्योंकि वे अत्यर्थ सरल स्वभावी होते हैं । तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में शिष्यों का दुःख से प्रतिपालन किया जाता है, क्योंकि वे अत्यर्थ वक्रस्वभावी होते हैं । ये पूर्वकाल के शिष्य और पश्चिम काल के शिष्य—दोनों समय के शिष्य भी स्पष्टतया योग्य अर्थात् उचित और अयोग्य अर्थात अनुचित नहीं जानते हैं इसीलिए आदि और अन्त के दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है ।

भावार्थ—आदिनाथ के तीर्थ के समय भोगभूमि समाप्त होकर ही कर्मभूमि प्रारम्भ हुई थी, अतः उस समय के शिष्य बहुत ही सरल और किन्तु जड़ (अज्ञान) स्वभाव वाले थे तथा अन्तिम तीर्थंकर के समय पंचमकाल का प्रारम्भ होनेवाला था अतः उस समय के शिष्य बहुत ही कुटिल परिणामी और जड़ स्वभावी थे इसीलिए इन दोनों तीर्थंकरों ने छेद अर्थात् भेद के उपस्थापन अर्थात् कथन रूप पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है । शेष बाईस तीर्थंकरों के समय के शिष्य विशेष बुद्धिमान थे, इसीलिए उन तीर्थंकरों ने मात्र 'सर्व सावद्य योग' के त्यागरूप एक सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है; क्योंकि उनके लिए उतना ही पर्याप्त था । आज भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है अतः आज कल के सभी साधुओं को भेदरूप चारित्र के पालन का ही उपदेश है ।

---

१ क °दि अंत° । २ क °नाम° ।

सामायिककरणक्रममाह—

पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥५३८॥

प्रतिलेखितावञ्जलिकरौ येनासौ प्रतिलेखिताञ्जलिकरः। उपयुक्तः समाहितमतिः, उत्थाय—स्थित्वा, एकाग्रमना अव्याक्षिप्तः, आगमोक्तक्रमेण करोति सामायिकं भिक्षुः। अथवा प्रतिलेख्य शुद्धो भूत्वा द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिं कृत्वा, प्रकृष्टाञ्जलि[1]करमुकलितकरः प्रतिलेखनेन सहिताञ्जलिकरो वा सामायिकं करोतीति ॥५३८॥

सामायिकनिर्युक्तिमुपसंहर्तुं चतुर्विंशतिस्तवं सूचयितुं प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
चउवीसयणिज्जुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥५३९॥

सामायिकनिर्युक्तिरेषा कथिता समासेन। इत ऊर्ध्वं चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिं प्रवक्ष्यामीति ॥५३९॥

[2]तदवबोधनार्थं [3]निक्षेपमाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो थवह्मि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होई ॥५४०॥

अब सामायिक करने का क्रम कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिलेखन सहित अंजलि जोड़कर, उपयुक्त हुआ, उठकर एकाग्रमन होकर, मन को विक्षेप रहित करके, मुनि सामायिक करता है ॥५३८॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने पिच्छी को लेकर अंजलि जोड़ ली है, जो सावधान बुद्धिवाले हैं, वे मुनि व्याक्षिप्त चित्त न होकर, खड़े होकर एकाग्रमन होते हुए, आगम में कथित विधि से सामायिक करते हैं। अथवा पिच्छी से प्रतिलेखन करके शुद्ध होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-शुद्धि को करके प्रकृष्ट रूप से अंजलि को मुकुलित/कमलाकार बना कर अथवा प्रतिलेखन—पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर सामायिक करते हैं।

सामायिक निर्युक्ति का उपसंहार कर अब चतुर्विंशति स्तव को सूचित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप में यह सामायिक निर्युक्ति कही है इससे आगे चतुर्विंशति स्तव को कहूँगा ॥५३९॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल होने से टीका नहीं है।

द्वितीय आवश्यक का ज्ञान कराने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्तव में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥५४०॥

---

1 क °लिकने कृत्वांजलिकरः मु०। 2 क तदनुवो°। 3 क °पानाह।

नामस्तवः स्थापनास्तवो द्रव्यस्तवः क्षेत्रस्तवः कालस्तवो भावस्तव एष स्तवे निक्षेपः षड्विधो भवति ज्ञातव्यः। चतुर्विंशतितीर्थंकराणां यथार्थानुगतैरष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभिः स्तवनं चतुर्विंशतिनामस्तवः, चतुर्विंशतितीर्थंकराणामपरिमितानां कृत्रिमाकृत्रिमस्थापनानां स्तवनं चतुर्विंशतिस्थापनास्तवः। तीर्थंकरशरीराणां परमौदारिकस्वरूपाणां वर्णभेदेन स्तवनं द्रव्यस्तवः। कैलाससम्मेदोर्जयन्तपावाचम्पानगरादिनिर्वाणक्षेत्राणां समवसृतिक्षेत्राणां च स्तवनं क्षेत्रस्तवः। स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलोत्पत्तिनिर्वाणकालानां स्तवनं कालस्तवः। केवलज्ञानकेवलदर्शनादिगुणानां स्तवनं भावस्तवः। अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म चतुर्विंशतिमात्रं नामस्तवः। चतुर्विंशतितीर्थंकराणां साकृत्यनाकृतिवस्तुनि गुणानारोप्य स्तवनं स्थापनास्तवः। द्रव्यस्तवो द्विविधः आगमनोआगमभेदेन। चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञाय्यनुपयुक्त आगमद्रव्यस्तवः। चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृत[1]ज्ञायक-शरीरभाविजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन नोआगमद्रव्यस्तवस्त्रिविधः, पूर्ववत्सर्वमन्यत्। चतुर्विंशतिस्तवसहितं क्षेत्रं कालश्च क्षेत्रस्तवः कालस्तवश्च। भावस्तव आगमनोआगम-

---

आचारवृत्ति—स्तव में नामस्तव, स्थापनास्तव, द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव और भावस्तव यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए। चौबीस तीर्थंकरों के वास्तविक अर्थ का अनुसरण करने वाले एक हजार आठ नामों से स्तवन करना चतुर्विंशति नामस्तव है। चौबीस तीर्थंकरों की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ स्थापना प्रतिमाएँ हैं जो कि अपरिमित हैं। अर्थात् कृत्रिम प्रतिमाएँ अगणित हैं, अकृत्रिम प्रतिमाएँ तो असंख्य हैं उनका स्तवन करना चतुर्विंशति स्थापना-स्तव है। तीर्थंकरों के शरीर, जो कि परमौदारिक हैं, के वर्णभेदों का वर्णन करते हुए स्तवन करना द्रव्यस्तव है। कैलाशगिरि, सम्मेदगिरि, ऊर्जयन्तगिरि, पावापुरी, चम्पापुरी आदि निर्वाण क्षेत्रों का और समवसरण क्षेत्रों का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है। स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलोत्पत्ति और निर्वाणकल्याणक के काल का स्तवन करना अर्थात् उन-उन कल्याणकों के दिन भक्तिपाठ आदि करना या उन-उन तिथियों की स्तुति करना कालस्तव है। तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन करना भावस्तव है।

अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष चतुर्विंशति मात्र का नामकरण है वह नामस्तव है।

चौबीस तीर्थंकरों की आकारवान अथवा अनाकारवान अर्थात् तदाकार अथवा अतदाकार वस्तु में गुणों का आरोपण करके स्तवन करना स्थापनास्तव है।

आगम और नोआगम के भेद से द्रव्यस्तव दो प्रकार का है। जो चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है ऐसा आत्मा आगम-द्रव्यस्तव है। नो-आगम द्रव्यस्तव के तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। चौबीस तीर्थंकरों के स्तव का वर्णन करनेवाले प्राभृत के ज्ञाता का शरीर ज्ञायकशरीर है। इसके भी भूत, भविष्यत्, वर्तमान की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं। बाकी सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

---

१ क 'तज्ज्ञ'।

भेदेन द्विविधः। चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञायी उपयुक्त आगमभावचतुर्विंशतिस्तवः। चतुर्विंशतिस्तवपरिणतपरिणामो नोआगमभावस्तव इति। भरतैरावतापेक्षश्चतुर्विंशतिस्तव उक्तः। पूर्वविदेहा[1]परविदेहापेक्षस्तु सामान्यतीर्थकरस्तव इति कृत्वा न दोष इति ॥५४०॥

अत्र नामस्तवेन भावस्तवेन प्रयोजनं सर्वैर्वा प्रयोजनं। तदर्थमाह—

लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥५४१॥

लोको जगत्। उद्योतः प्रकाशः। धर्म उत्तमक्षमादिः। तीर्थं संसारतारणोपायं। धर्ममेव तीर्थं कुर्वन्तीति धर्मतीर्थंकराः। कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषां वरा प्रधाना जिनवराः। अर्हन्तः सर्वज्ञाः। कीर्तनं प्रशंसनं कीर्तनीया वा केवलिनः सर्वप्रत्यक्षाववोधाः। एवं च। उत्तमाः प्रकृष्टाः सर्वपूज्याः। मे बोधिं संसारनिस्तरणोपायं। दिशन्तु ददतु। एवं स्तवः क्रियते। अर्हन्तो लोकोद्योतकरा धर्मतीर्थंकरा जिनवराः

चौबीस तीर्थंकरों से सहित क्षेत्र का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है। चौबीस तीर्थंकरों से सहित काल अथवा गर्भ, जन्म आदि का जो काल है उनका स्तवन करना काल-स्तव है।

भावस्तव भी आगम, नोआगम की अपेक्षा दो प्रकार का है। चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत के जो ज्ञाता हैं और उसमें उपयोग भी जिनका लगा हुआ है उन्हें आगमभाव चतुर्विंशति-स्तव कहते हैं।

चतुर्विंशति तीर्थंकरों के स्तवन से परिणत हुए परिणाम को नोआगम भाव-स्तव कहते हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा यह चतुर्विंशति स्तव कहा गया है। किन्तु पूर्वविदेह और अपरविदेह की अपेक्षा से सामान्य तीर्थंकर स्तव समझना चाहिए। इस प्रकार से इसमें कोई दोष नहीं है। अर्थात् पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही चतुर्थ काल में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं किन्तु एक सौ साठ विदेह क्षेत्रों में हमेशा ही तीर्थंकर होते रहते हैं अतः उनकी संख्या का कोई नियम नहीं है। उनकी अपेक्षा से इस आवश्यक को सामान्यतया तीर्थंकर स्तव ही कहना चाहिए इसमें कोई दोष नहीं है।

यहाँ पर नामस्तव से प्रयोजन है या भावस्तव से अथवा सभी स्तवों से? ऐसा प्रश्न होने पर उसी का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—लोक में उद्योत करनेवाले धर्म तीर्थ के कर्ता अर्हन्त केवली जिनेश्वर प्रशंसा के योग्य हैं। वे मुझे उत्तम बोधि प्रदान करें ॥५४१॥

आचारवृत्ति—लोक अर्थात् जगत् में उद्योत अर्थात् प्रकाश को करनेवाले लोकोद्योतकर कहलाते हैं। उत्तमक्षमादि को धर्म कहते हैं और संसार से पार होने के उपाय को तीर्थ कहते हैं अतः यह धर्म ही तीर्थ है। इस धर्मतीर्थ को करनेवाले अर्थात् चलानेवाले धर्म तीर्थंकर कहलाते हैं। कर्मरूपी शत्रुओं को जीतनेवाले को जिन कहते हैं और उनमें वर अर्थात् जो प्रधान

---

१ क पूर्वविदेहापेक्षस्तु।

केवलिन उत्तमाश्च ये तेषां कीर्तनं प्रशंसनं बोधिं मह्यं दिशन्तु प्रयच्छन्तु। अथवा एते अर्हतो धर्मतीर्थकरा लोकोद्योतकराः जिनवराः कीर्तनीया उत्तमाः केवलिनो मम बोधिं दिशन्तु। अथवा अर्हन्तः सर्वविशेषणविशिष्टाः केवलिनां च कीर्तनं मह्यं बोधिं प्रयच्छन्त्विति सम्बन्धः ॥५४१॥

एतैर्दशभिरधिकारैश्चतुर्विंशतिस्तवो व्याख्यायत इति कृत्वादौ तावल्लोकनिरुक्तिमाह—

लोयदि आलोयदि पल्लोयदि सल्लोयदित्ति एगत्थो[1]।
जह्मा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ ॥५४२॥

लोक्यते आलोक्यते प्रलोक्यते संलोक्यते दृश्यते इत्येकार्थः। कैर्जिनैरिति तस्माल्लोक इत्युच्यते? कथं छद्मस्थावस्थायां—मतिज्ञानश्रुतज्ञानाभ्यां लोक्यते दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोकः। अथवावधिज्ञानेनालोक्यते पुद्गलमर्यादारूपेण दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोकः। अथवा मनःपर्ययज्ञानेन प्रलोक्यते विशेषेण रूपेण दृश्यते

हैं वे जिनवर कहलाते हैं। सर्वज्ञदेव को अर्हन्त कहते हैं। तथा सर्व को प्रत्यक्ष करनेवाला जिनका ज्ञान है वे केवली हैं। इन विशेषणों से विशिष्ट अर्हन्त भगवान् उत्तम हैं, प्रकृष्ट हैं, सर्व पूज्य हैं। ऐसे जिनेन्द्र भगवान् मुझे संसार से पार होने के लिए उपायभूत ऐसी बोधि को प्रदान करें। इस प्रकार से यह स्तव किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि लोक में उद्योतकारी, धर्मतीर्थंकर, जिनवर, केवली, अर्हन्त भगवान् उत्तम हैं। इस प्रकार से उनका कीर्तन करना, उनकी प्रशंसा करना तथा 'वे मुझे बोधि प्रदान करें' ऐसा कहना ही स्तव है। अथवा ये अर्हन्त, धर्मतीर्थंकर, लोकोद्योतकर, जिनवर, कीर्तनीय, उत्तम, केवली भगवान् मुझे बोधि प्रदान करें। अथवा अर्हन्त भगवान् सर्व विशेषणों से विशिष्ट हैं वे मुझे बोधि प्रदान करें ऐसा केवली भगवान् का स्तवन करना ही स्तव है।

अब आगे इन्हीं दश अधिकारों द्वारा चतुर्विंशतिस्तव का व्याख्यान किया जाता है। उसमें सर्वप्रथम लोक शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—लोकित किया जाता है, आलोकित किया जाता है, प्रलोकित किया जाता है और संलोकित किया जाता है, ये चारों क्रियाएँ एक अर्थवाली हैं। जिस हेतु से जिनेन्द्रदेव द्वारा यह सब कुछ अवलोकित किया जाता है इसीलिए यह 'लोक' कहा जाता है ॥५४२॥

आचारवृत्ति—लोकन करना—(अवलोकन करना), आलोकन करना, प्रलोकन करना, संलोकन करना, और देखना ये शब्द पर्यायवाची शब्द हैं। जिनेन्द्र देव द्वारा यह सर्वजगत् लोकित—अवलोकित कर लिया जाता है इसीलिए इसकी 'लोक' यह संज्ञा सार्थक है। यहाँ पर इन चारों क्रियाओं का पृथक्करण करते हुए भी टीकाकार स्पष्ट करते हैं। छद्मस्थ अवस्था में मति और श्रुत इन दो ज्ञानों के द्वारा यह सर्व 'लोक्यते' अर्थात् देखा जाता है इसीलिए इसे 'लोक' कहते हैं। अथवा अवधिज्ञान द्वारा मर्यादारूप से यह 'आलोक्यते' आलोकित किया जाता है इसलिए यह 'लोक' कहलाता है। अथवा मन:पर्ययज्ञान के द्वारा 'प्रलोक्यते' विशेष रूप से यह देखा जाता है अतः 'लोक' कहलाता है। अथवा केवलज्ञान के द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवान् इस

---

१ क एयट्ठो।

यस्मात्तस्माल्लोकः। अथवा केवलज्ञानेन जिनैः कृत्स्नं यथा भवतीति तथा संलोक्यते सर्वद्रव्यपर्यायैः सम्यगुपलभ्यते यस्मात्तस्माल्लोकः। तेन कारणेन लोकः स इत्युच्यत इति ॥५४२॥

नवप्रकारैर्निक्षेपैर्लोकस्वरूपमाह—

णाम ट्ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोग्रो य।
भवलोगो भावलोगो पज्जयलोगो य णादव्वो ॥५४३॥

नात्र विभक्तिनिर्देशस्य प्राधान्यं प्राकृतेऽन्यथापि वृत्तेः। लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। नामलोकः स्थापनालोको द्रव्यलोकः क्षेत्रलोकश्चिह्नलोकः कषायलोको भवलोको भावलोक: पर्यायलोकश्च ज्ञातव्य इति ॥५४३॥

तत्र नामलोकं विवृण्वन्नाह—

णामाणि जाणि काणि[1] चि सुहासुहाणि[2] लोगह्मि।
णामलोगं वियाणाहि ग्रणंतजिणदेसिदं ॥५४४॥

नामानि संज्ञारूपाणि, यानि कानिचिच्छुभान्यशुभानि च शोभनान्यशोभनानि च सन्ति विद्यंते जीवलोकेऽस्मिन् तन्नामलोकमनन्तजिनदर्शितं विजानीहि। न विद्यतेऽन्तो विनाशोऽवसानं वा येषां तेऽनन्तास्ते च ते जिनाश्चानन्तजिनास्तैर्दृष्टो यतः इति ॥५४६॥

सम्पूर्ण जगत् को जैसा है वैसा ही 'संलोक्यते' संलोकन करते हैं अर्थात् सर्व द्रव्य पर्यायों को सम्यक् प्रकार से उपलब्ध कर लेते हैं—जान लेते हैं इसलिए इसको 'लोक' इस नाम से कहा गया है।

नव प्रकार के निक्षेपों से लोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, चिह्न, कपायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये नवलोक जानना चाहिए ॥५४३॥

आचारवृत्ति—यहाँ इस गाथा में लोक के निर्देश की विभक्ति प्रधान नहीं है क्योंकि प्राकृत में अन्यथा भी वृत्ति देखी जाती है। इनमें प्रत्येक के साथ 'लोक' शब्द को लगा लेना चाहिए। जैसे कि नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक इन भेदों से लोक की व्याख्या नव प्रकार की हो जाती है।

उनमें से अब नामलोक का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—लोक में जो कोई भी शुभ या अशुभ नाम है उनको अन्तरहित जिनेन्द्रदेव ने नामलोक कहा है ऐसा जानो ॥५४४॥

आचारवृत्ति—इस जीव लोक में जो कुछ भी शोभन और अशोभन नाम हैं उनको अनन्त जिनेन्द्र ने नामलोक कहा है। जिनका अन्त अर्थात् विनाश या अवसान नहीं है वे अनन्त कहलाते हैं। ऐसे अनन्त विशेषण से विशिष्ट जिनेश्वरों ने देखा है—इस कारण से नामलोक ऐसा कहा है।

---

१ क 'चिवि। २ क 'णि य संति लोगंति।

स्थापनालोकमाह—

ठविदं ठाविदं चावि जं किंवि अत्थि लोगह्मि ।
ठवणालोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४५॥

ठविदं—स्वतः स्थितमकृत्रिमं । ठाविदं—स्थापितं कृत्रिमं चापि यत्किंचिदस्ति विद्यतेऽस्मिन् लोके तत्सर्वं स्थापनालोकमिति जानीहि, अनन्तजिनदर्शितत्वादिति ॥५४५॥

द्रव्यलोकस्वरूपमाह—

जीवाजीवं रूवारूवं सपदेसमप्पदेसं च ।
दव्वलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४६॥

जीवाश्चेतनावन्तः । अजीवाः कालाकाशधर्माधर्माः पुद्गलाः । रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दवन्तः पुद्गलाः । अरूपिणः कालाकाशधर्माधर्मा जीवाश्च । सप्रदेशाः सर्वे जीवादयः । अप्रदेशौ कालाणुपरमाणू च । एवं सर्वलोकं द्रव्यलोकं विजानीहि, अक्षयसर्वज्ञदृष्टो यत इति ॥५४६॥

तथेममपि द्रव्यलोकं विजानीहीत्याह—

परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एक्कखेत्त किरिओ य ।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि अपवेसो ॥५४७॥

स्थापना लोक को कहते हैं—

गाथार्थ—इस लोक में स्थित और स्थापित जो कुछ भी है उसको अनन्त जिन द्वारा देखा गया स्थापना लोक समझो ॥५४५॥

आचारवृत्ति—जो स्वतः स्थित है वह अकृत्रिम है और जो स्थापना निक्षेप से स्थापित किया गया है वह कृत्रिम है । इस लोक में ऐसा जो कुछ भी है वह सभी स्थापना-लोक है ऐसा जानो, क्योंकि अनन्त जिनेश्वर ने उसे देखा है ।

द्रव्यलोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जीव, अजीव, रूपी, अरूपी तथा सप्रदेशी एवं अप्रदेशी को अनन्तजिन द्वारा देखा गया द्रव्यलोक जानो ॥५४६॥

आचारवृत्ति—चेतनावान् जीव हैं और धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल ये अजीव हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दवाले पुद्गल रूपी हैं । काल, आकाश, धर्म, अधर्म और जीव ये अरूपी हैं। सभी जीवादि द्रव्य सप्रदेशी हैं और कालाणु तथा परमाणु अप्रदेशी हैं अर्थात् ये एक प्रदेशी हैं। इस सर्वलोक को द्रव्यलोक समझो क्योंकि यह अक्षय सर्वज्ञदेव के द्वारा देखा गया है ।

तथा इनको भी द्रव्यलोक जानो ऐसा आगे और कहते हैं—

गाथार्थ—परिणामी, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावान्, नित्य, कारण, कर्ता

परिणामोऽन्यथाभावो विद्यते येषां ते परिणामिनः। के ते जीवपुद्गलाः। शेषाणि धर्माधर्मकालाकाशान्यपरिणामीनि कुतो द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यञ्जनपर्यायं चाश्रित्यैतदुक्तं। पर्यायार्थिकनयापेक्षयान्वर्थपर्यायमाश्रित्य सर्वेऽपि परिणामापरिणामात्मका यत इति। जीवो जीवद्रव्यं चेतनालक्षणो यतः। अजीवाः पुनः सर्वे पुद्गलादयो ज्ञातृत्वदृष्टृत्वाद्यभावादिति। मूर्तं पुद्गलद्रव्यं रूपादिमत्त्वात्। शेषाणि जीवधर्माधर्मकालाकाशान्यमूर्तानि रूपादिविरहितत्वात्। सप्रदेशानि सांशानि जीवधर्माधर्मपुद्गलाकाशानि[1] प्रदेशबन्धदर्शनात्। अप्रदेशाः कालाणवः परमाणुश्च प्रचयाभावाद् बन्धाभावाच्च। धर्माधर्माकाशान्येकरूपाणि सर्वदा प्रदेशविघाताभावात्। शेषाः संसारिजीवपुद्गलकाला अनेकरूपाः प्रदेशानां भेददर्शनात्। आकाशं क्षेत्रं सर्वपदार्थानामाधारत्वात्।

और सर्वगत तथा इनसे विपरीत अपरिणामी आदि के द्वारा द्रव्य लोक को जानना चाहिए ॥५४७॥*

आचारवृत्ति—परिणाम अर्थात् अन्य प्रकार से होना जिनमें पाया जाय वे द्रव्य परिणामी कहलाते हैं। वे जीव और पुद्गल हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अपरिणामी हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से व्यंजनपर्याय का आश्रय लेकर यह कथन किया गया है। तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्वर्थपर्याय का आश्रय लेकर सभी द्रव्य परिणामापरिणामात्मक हैं अर्थात् सभी द्रव्य कथंचित् परिणामी हैं, कथंचित् अपरिणामी हैं। जीव द्रव्य चेतना लक्षणवाला है, बाकी पुद्गल आदि सभी अजीव द्रव्य हैं, क्योंकि इनमें ज्ञातृत्व दृष्टृत्व आदि का अभाव है। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, क्योंकि वह रूपादिमान् है। शेष जीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, क्योंकि ये रूपादि से रहित हैं। जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल और आकाश सप्रदेशी हैं अर्थात् ये अंश सहित हैं; क्योंकि इनमें प्रदेशबन्ध देखा जाता है। कालाणु और परमाणु अप्रदेशी हैं क्योंकि इनमें प्रचय का अभाव है और बन्ध का भी अभाव है। धर्म, अधर्म और आकाश ये एक रूप हैं अर्थात् अखण्ड हैं, क्योंकि हमेशा इनके प्रदेश के विघात का अभाव है। शेष संसारी जीव, पुद्गल और काल ये अनेकरूप हैं, चूँकि इनके प्रदेशों में भेद देखा जाता है। अर्थात् ये अनेक हैं इनके प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं।

आकाश क्षेत्र है क्योंकि वह सर्व पदार्थों के लिए आधारभूत है। शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल अक्षेत्र हैं क्योंकि इनमें अवगाहन लक्षण का अभाव है। जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं क्योंकि इनकी गति देखी जाती है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल

१ क 'नि सप्र'।

*निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

परियट्टणदो ठिदि अविसेसेण विसेसिदं दव्वं।
कालोत्ति तं हि भणिदं तेहि असंखेज्जकालाणू ॥

अर्थात् प्रत्येक घट पट आदिकों में नया, पुराना इत्यादि परिवर्तन देखने से काल नामक पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रत्येक पदार्थ कुछ स्थिति को धारण करता है। पदार्थ की यह स्थिति काल के बिना नहीं हो सकती है अतः यह काल नामक पदार्थ द्रव्य है ऐसा जिनेश्वर ने कहा है और यह काल द्रव्य असंख्यात है।

शेषा जीवपुद्गलधर्माधर्मकाला अक्षेत्राणि अवगाहनलक्षणाभावात्। जीवपुद्गलाः क्रियावन्तो गतेर्दर्शनात् शेषा धर्माधर्माकाशकाला अक्रियावन्तो गतिक्रियाया अभावदर्शनात्। नित्या धर्माधर्माकाशपरमार्थकाला व्यवहारनयापेक्षया व्यञ्जनपर्यायाभावमपेक्ष्य विनाशाभावात्। जीवपुद्गला अनित्या व्यञ्जनपर्यायदर्शनात्। कारणानि पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशानि जीवोपकारकत्वेन वृत्तत्वात्। जीवोऽकारणं स्वतंत्रत्वात्। जीवः कर्ता शुभाशुभभोक्तृत्वात्। शेषा धर्माधर्मपुद्गलाकाशकाला अकर्तारः शुभाशुभभोक्तृत्वाभावात् आकाशं सर्वगतं सर्वत्रोपलभ्यमानत्वात्। शेषाण्यसर्वगतानि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालद्रव्याणि सर्वत्रोपलंभाभावात्। तस्मात्परिणामजीवमूर्तसप्रदेशैकक्षेत्रक्रियावन्नित्यकारणकर्तृसर्वगति [गत]स्वरूपेण द्रव्यलोकं जानीहि, इतरैश्चापरिणामादिभिः प्रदेशैः द्रव्यलोकं जानीहीति सम्बन्धः ॥५४७॥

क्षेत्रलोकस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अक्रियावान् हैं क्योंकि इनमें गति क्रिया का अभाव है। धर्म, अधर्म, आकाश और परमार्थकाल नित्य हैं, क्योंकि व्यवहार नय की अपेक्षा से, व्यंजन पर्याय के अभाव की अपेक्षा से, उनका विनाश नहीं होता है। अर्थात् इन द्रव्यों में व्यंजन पर्याय नहीं होने से उनका विनाश नहीं होता है। जीव और पुद्गल अनित्य हैं क्योंकि इनमें व्यंजन पर्याय देखी जाती हैं। अर्थात् जीव, पुद्गल भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं किन्तु व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से अनित्य हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश कारण हैं क्योंकि जीव के प्रति उपकार रूप से ये वर्तन करते हैं। किन्तु जीव अकारण है क्योंकि वह स्वतन्त्र है। जीव कर्ता है, क्योंकि वह शुभ और अशुभ का भोक्ता है। शेष धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश और काल अकर्ता हैं, क्योंकि उनमें शुभ, अशुभ के भोक्तृत्व का अभाव है। आकाश सर्वगत है क्योंकि वह सर्वत्र उपलब्ध हो रहा है। किन्तु शेष बचे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य असर्वगत हैं क्योंकि इनके सर्वत्र (लोकालोक में) उपलब्ध होने का अभाव है।

इसलिए परिणाम, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावान, नित्य, कारण, कर्तृत्व और सर्वगत इन स्वरूप से द्रव्य लोक को जानो। इससे इतर अर्थात् अपरिणाम, अजीव, अमूर्त आदि प्रदेशों से द्रव्यलोक को जानो, ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर 'भिन्न रूप धारण करना' यह परिणाम का लक्षण किया है। यह मात्र व्यंजन पर्याय की अपेक्षा रखता है। अन्यत्र परिणाम का लक्षण ऐसा किया है कि पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को ग्रहण करते हुए अपने मूल स्वभाव को न छोड़ना उस लक्षणवाला परिणाम तो सभी द्रव्यों में पाया जाता है। इसलिए व्यंजन पर्याय की दृष्टि से जीव और पुद्गल इनमें ही परिणमन होता है। शेष चार द्रव्य अपरिणामी हो जाते हैं किन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा से छहों द्रव्य परिणामी हैं। कूटस्थ नित्य अपरिणामी नहीं हैं। जीव पुद्गल में अन्यथा परिणमन देखा जाता है किन्तु शेष द्रव्य अपने-अपने सजातीय परिणमन की अपेक्षा से परिणमनशील हैं। ऐसे ही, आगे भी छहों द्रव्यों में नय विवक्षा से यथायोग्य जीवत्व, मूर्तत्व, सप्रदेशत्व इत्यादि धर्म घटित करना चाहिए।

क्षेत्रलोक का स्वरूप कहते हैं—

आयासं सपदेसं उड्ढमहो तिरियलोगं च।
खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४८॥

आकाशं सप्रदेशं प्रदेशैः सह। ऊर्ध्वलोकं मध्यलोकमधोलोकं च। एतत्सर्वं क्षेत्रलोकमनन्तजिनदृष्टं विजानीहीति ॥५४८॥

चिह्नलोकमाह—

जं दिट्ठं संठाणं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
चिण्हलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४९॥

द्रव्यसंस्थानं धर्माधर्मयोर्लोकाकारेण संस्थानं। कालद्रव्यस्याकाशप्रदेशस्वरूपेण संस्थानं। आकाशस्य केवलज्ञानस्वरूपेण संस्थानं। लोकाकाशस्य गृहगुहादिस्वरूपेण संस्थानं। पुद्गलद्रव्यस्य लोकस्वरूपेण संस्थानं द्वीपनदीसागरपर्वतपृथिव्यादिरूपेण संस्थानं। जीवद्रव्यस्य समचतुरस्रन्यग्रोधादिस्वरूपेण संस्थानं। गुणानां द्रव्याकारेण कृष्णनीलशुक्लादिस्वरूपेण वा संस्थानं। पर्यायाणां दीर्घह्रस्ववृत्तव्यस्रचतुरस्रादिनारकत्वतिर्य-

---

गाथार्थ—आकाश सप्रदेशी है। ऊर्ध्व, अधः और मध्य लोक हैं। अनन्त जिनेन्द्र द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है, ऐसा जानो ॥५४८॥

आचारवृत्ति—आकाश अनन्त प्रदेशी है किन्तु लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं। उसमें ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ऐसे भेद हैं। अनन्त—शाश्वत जिनेन्द्र देव के द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है ऐसा तुम समझो।

चिह्नलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, गुण और पर्यायों का जो आकार देखा जाता है अनन्त जिन द्वारा दृष्ट वह चिह्न लोक है ऐसा जानो ॥५४९॥

आचारवृत्ति—पहले द्रव्य का संस्थान—आकार बताते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकार से संस्थान है अर्थात् ये दोनों द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त होने से लोकाकाश के समान ही आकारवाले हैं। काल द्रव्य का आकाश के एक प्रदेश स्वरूप से आकार है अर्थात् काल द्रव्य असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं इसलिए जो एक प्रदेश का आकार है वही कालाणु का आकार है। आकाश का केवलज्ञान स्वरूप से संस्थान है। लोकाकाश का घर, गुफा आदि स्वरूप से संस्थान है। पुद्गल द्रव्य का लोकस्वरूप से संस्थान है तथा द्वीप, नदी, सागर, पर्वत और पृथ्वी आदि रूप से संस्थान है। अर्थात् महास्कन्ध की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य का आकार लोकाकाश जैसा है क्योंकि वह महास्कन्ध लोकाकाशव्यापी है। तथा अन्य पुद्गल स्कन्ध नदी, द्वीप आदि आकार से स्थित हैं। जीव द्रव्य का समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि स्वरूप से संस्थान है अर्थात् नाम कर्म के अन्तर्गत संस्थान के समचतुरस्र, संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, वामन, कुब्जक और हुंडक ऐसे छह भेद माने हैं। जीव संसार में इन छहों में से किसी एक संस्थान को लेकर ही शरीर धारण करता है तथा मुक्त जीव भी जिस संस्थान से मुक्त होते हैं उनके आत्म प्रदेश मुक्तावस्था में उसी आकार के ही रहते हैं। इस प्रकार यहाँ द्रव्यों के संस्थान कहे गये।

त्वमनुष्यत्वदेवत्वादिस्वरूपेण संस्थानं। यद्दृष्टं संस्थानं द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च चिह्नलोकं विजानीहीति ॥५४९॥

कषायलोकमाह—

कोधो माणो माया लोभो उदिण्णा जस्स जंतुणो।
कसायलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५५०॥

यस्य जन्तोर्जीवस्य क्रोधमानमायालोभा उदीर्णा उदयमागताः तं कषायलोकं विजानीहीति अनन्तजिनदर्शितम् ॥५५०॥

भवलोकमाह—

णेरइयदेवमाणुसतिरिक्खजोणिं गदाय जे सत्ता।
णिययभवे वट्टंता भवलोगं तं विजाणाहि ॥५५१॥

नारकदेवमनुष्यतिर्यग्योनिषु गताश्च ये जीवा निजभवे निजायुःप्रमाणे वर्तमानास्तं भवलोकं विजानीहीति ॥५५१॥

भावलोकमाह—

गुणों के संस्थान को कहते हैं—द्रव्य के आकार से रहना गुणों का संस्थान है अथवा कृष्ण, नील, शुक्ल, आदि स्वरूप जो गुण हैं उन रूप से रहना गुणों का संस्थान है।

पर्यायों के संस्थान को भी बताते हैं—दीर्घ, ह्रस्व, गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, और देवत्व आदि स्वरूप से आकार होना यह पर्यायों का संस्थान है। अर्थात् दीर्घ, ह्रस्व आदि आकार पुद्गल की पर्यायों के हैं। तथा नारकपना आदि संस्थान जीव की पर्यायों के हैं। इस प्रकार से जो भी द्रव्यों के गुणों के, तथा पर्यायों के संस्थान देखे जाते हैं उन्हें ही चिह्नलोक जानो।

कषायलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ जिस जीव के उदय में आ रहे हैं, उसे अनन्त जिन देव के द्वारा कथित कषायलोक जानो ॥५५०॥

आचारवृत्ति—जिन जीवों के क्रोधादि कषायें उदय में आ रही हैं, उन कषायों को अथवा उनसे परिणत हुए जीवों को कषायलोक कहते हैं।

भवलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—नारक, देव, मनुष्य और तिर्यंच योनि को प्राप्त हुए जो जीव अपने भव में वर्तमान हैं उन्हें भवलोक जानो ॥५५१॥

आचारवृत्ति—नरक आदि योनि को प्राप्त हुए जीव अपने उस भव में अपनी-अपनी आयु प्रमाण जीवित रहते हैं। उन जीवों के भावों को या उन जीवों को ही भवलोक कहा है।

भावलोक को कहते हैं—

तिव्वो रागो य दोसो य उदिण्णा जस्स जंतुणो ।
भावलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५५२॥

यस्य जन्तोस्तीव्रौ रागद्वेषौ प्रीतिद्विप्रीती उदीर्णौ उदयमागतौ तं भावलोकं विजानीहीति ॥५५४॥

पर्यायलोकमाह—

दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो ।
जाण चउव्विहमेयं पज्जयलोगं समासेण ॥५५३॥

द्रव्याणां गुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यकर्तृत्वभोक्तृत्वकृष्णनीलशुक्लरक्तपीतगतिकारकत्वस्थितिकारकत्वावगाहनागुरुलघुवर्तनादयः । क्षेत्रपर्यायाः सप्तनरकपृथ्वीप्रदेशपूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतद्वीपसमुद्रत्रिषष्टिस्वर्गभूमिभेदादयः । भवानामनुभवः आयुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पः । भावो [1]नाम परिणामोऽसंख्यातलोकप्रदेशमात्रः शुभाशुभरूपः कर्मादाने परित्यागे वा[2] समर्थः । द्रव्यस्य गुणाः पर्यायलोकः, क्षेत्रस्य पर्यायाः पर्यायलोकः भवस्यानुभवाः पर्यायलोकः भावो नाम परिणामः पर्यायलोकः । एवं चतुर्विधं पर्यायलोकं समासेन जानीहीति ॥५५३॥

गाथार्थ—तीव्र राग और द्वेष जिस जीव के उदय में आ गये हैं उसे तुम अनन्तजिन के द्वारा कथित भावलोक जानो ॥५५२॥

आचारवृत्ति—जिस जीव के तीव्र राग-द्वेष उदय को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् किसी में प्रीति, किसी में अप्रीति चल रही है उन उदयागत भावों को ही भावलोक कहते हैं ।

पर्यायलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्यगुण, क्षेत्र-पर्याय, भवानुभाव और भाव परिणाम, संक्षेप से यह चार प्रकार का पर्यायलोक जानो ॥५५३॥

आचारवृत्ति—द्रव्यों के गुण—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये जीव के गुण हैं । कृष्ण, नील, शुक्ल, रक्त और पीत ये पुद्गल के गुण हैं । गतिकारकत्व धर्म द्रव्य का गुण है । स्थितिकारकत्व यह अधर्म द्रव्य का गुण है । अवगाहनत्व आकाश द्रव्य का गुण है । अगुरुलघु गुण सब द्रव्यों का गुण है और वर्तना आदि काल का गुण है ।

क्षेत्रपर्याय—सप्तम नरक पृथ्वी के प्रदेश, पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरतक्षेत्र ऐरावतक्षेत्र, द्वीप, समुद्र, त्रेसठ स्वर्गपटल इत्यादि भेद क्षेत्र की पर्यायें हैं । भवानुभाव—आयु के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद भवानुभाव हैं । भावपरिणाम—भाव अर्थात् परिणाम ये असंख्यात लोक प्रदेश प्रमाण हैं, शुभ-अशुभरूप हैं । ये कर्मों को ग्रहण करने में अथवा कर्मों का परित्याग करने में समर्थ हैं । अर्थात् आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामों से कर्म आते हैं तथा उदय में आकर फल देकर नष्ट भी हो जाते हैं ।

द्रव्य के गुण पर्यायलोक हैं, क्षेत्र की पर्यायें पर्यायलोक हैं, भव का अनुभव पर्यायलोक है और भावरूप परिणाम पर्यायलोक हैं । इस प्रकार संक्षेप से पर्यायलोक चार प्रकार का है, ऐसा जानो । इस तरह नव प्रकार के निक्षेप से नवप्रकार के लोक का स्वरूप कहा गया है ।

---

१ क नाम अनुभवपर्यायः प° । २ क वा असमर्थः ।

उद्योतस्य स्वरूपमाह—

उज्जोवो खलु दुविहो णादव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
दव्वुज्जोवो [1]अग्गी चंदो सूरो मणी चेव ॥५५४॥

उद्योतः प्रकाश खलु द्विविधः स्फुटं ज्ञातव्यो द्रव्यभावभेदेन । द्रव्यसंयुक्तो भावसंयुक्तश्च । तत्र द्रव्योद्योतोऽग्निश्चन्द्रः सूर्यो मणिश्च । एवकारः प्रकारार्थः । एवंविधोऽन्योऽपि द्रव्योद्योतो ज्ञात्वा वक्तव्य इति ॥५५६॥

भावोद्योतं निरूपयन्नाह—

भावुज्जोवो णाणं जह भणियं सव्वभावदरिसीहिं ।
तस्स दु पओगकरणे भावुज्जोवोत्ति णादव्वो ॥५५५॥

भावोद्योतो नाम ज्ञानं यथा भणितं सर्वभावदर्शिभिः येन प्रकारेण सर्वपदार्थदर्शिभिर्ज्ञानमुक्तं तद्भावोद्योतः परमार्थोद्योतस्तथा ज्ञानस्योपयोगकरणात् स्वपरप्रकाशकत्वाद्भावोद्योत इति ज्ञातव्यः ॥५५७॥

पुनरपि भावोद्योतस्य भेदमाह—

पंचविहो खलु भणिओ भावुज्जोवो य जिणवरिंदेहिं ।
आभिणिबोहियसुदओहि-णाणमणकेवलमओ [1]य ॥५५६॥

उद्योत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से युक्त उद्योत निश्चय से दो प्रकार का जानना चाहिए। अग्नि, चन्द्र, सूर्य और मणि ये द्रव्य उद्योत हैं ॥५५४॥

आचारवृत्ति—उद्योत—प्रकाश स्पष्टरूप से द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का ह । अर्थात् द्रव्यसंयुक्त और भावसंयुक्त उद्योत । उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और मणि ये द्रव्य-उद्योत हैं । इसी प्रकार के अन्य भी द्रव्य-उद्योत जानकर कहना चाहिए। अर्थात् प्रकाशमान पदार्थ को यहाँ द्रव्य-उद्योत कहा गया है।

भाव-उद्योत को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव-उद्योत ज्ञान है जैसाकि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया है। उसके उपयोग करने में भाव उद्योत है ऐसा जानना चाहिए ॥५५५॥

आचारवृत्ति—जिस प्रकार से सर्वपदार्थ के देखने, जाननेवाले सर्वज्ञदेव ने ज्ञान का कथन किया है वह भाव उद्योत है, वही परमार्थ उद्योत है। वह ज्ञान स्वपर का प्रकाशक होने से भाव उद्योत है ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् ज्ञान ही चेतन-अचेतन पदार्थों का प्रकाशक होने से सच्चा प्रकाश है।

पुनः भाव-उद्योत के भेद कहते हैं—

गाथार्थ—जिनवर देव ने निश्चय से भावोद्योत पाँच प्रकार का कहा है। वह आभिनि-

---

१ जोऊ द॰। १ लंणेयं।

स भावोद्योतो जिनवरेन्द्रैः पंचविधः पंचप्रकारः खलु स्फुटं, भणितः प्रतिपादितः। आभिनिबोधिक-श्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययकेवलमयो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पंचप्रकार इति ॥५५६॥*

द्रव्यभावोद्योतयोः स्वरूपमाह—

दव्वुज्जोवोजोवो पडिहण्णदि परिमिदह्मि खेत्तह्मि।
भावुज्जोवोजोवो लोगालोगं पयासेदि ॥५५७॥

द्रव्योद्योतो य उद्योतः स प्रतिहन्यतेऽन्येन द्रव्येण परिमिते न क्षेत्रे वर्तते। भावोद्योतः पुनरुद्योतो लोकमलोकं च प्रकाशयति न प्रतिहन्यते नापि परिमिते क्षेत्रे वर्ततेऽप्रतिघातिसर्वगतत्वादिति ॥५५७॥

तस्मात्—

लोगस्सुज्जोवयरा दव्वुज्जोएण ण हु जिणा होंति।
भावुज्जोवयरा पुण होंति जिणवरा चउव्वीसा ॥५५८॥

बोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं ऐसा जानना ॥५५६॥

आचारवृत्ति—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से वह भावो-द्योत पाँच प्रकार का है ऐसा श्रीजिनेन्द्र ने कहा है।

द्रव्यभाव उद्योत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्योद्योत रूप प्रकाश अन्य से बाधित होता है, परिमित क्षेत्र में रहता है और भावोद्योत प्रकाश, लोक-अलोक को प्रकाशित करता है ॥५५७॥

आचारवृत्ति—जो द्रव्योद्योत का प्रकाश है वह अन्य द्रव्य के द्वारा नष्ट हो जाता है और सीमित क्षेत्र में रहता है। किन्तु भावोद्योत रूप प्रकाश लोक और अलोक को प्रकाशित करता है, किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है और न परिमित क्षेत्र में ही रहता है; क्योंकि वह अप्रतिघाती और सर्वगत है। अर्थात् ज्ञानरूप प्रकाश सर्व लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला है, किसी मेघ या राहु आदि के द्वारा बाधित नहीं होता है और सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है। किन्तु सूर्य, मणि आदि के प्रकाश अन्य के द्वारा रोके जा सकते हैं एवं स्वल्प क्षेत्र में ही प्रकाश करनेवाले हैं।

इसलिए—

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् निश्चितरूप से द्रव्यउद्योत के द्वारा लोक को प्रकाशित करनेवाले नहीं होते हैं, किन्तु वे चौबीसों तीर्थंकर तो भावोद्योत से प्रकाश करनेवाले होते हैं ॥५५८॥

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

लोयालोयपयासं अक्खलिंगं णिम्मलं असंदिद्धं।
जं णाणं अरहंता भावुज्जोवो त्ति वुच्चंति ॥

अर्थात् जो ज्ञान लोकालोक को प्रकाशित करता है कभी स्खलित नहीं होता है, निर्मल है, संशय-रहित है, अरिहंतदेव ऐसे ज्ञान को भावोद्योत कहते हैं।

लोकस्योद्योतकरा द्रव्योद्योतेन नैव भवन्ति जिनाः। भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिः। अतो भावोद्योतेनैव लोकस्योद्योतकरा जिना इति स्थितमिति। लोकोद्योतकरा इति व्याख्यातं।

धर्मतीर्थकरा इति पदं व्याख्यातुकामः प्राह—

तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य।
तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं ॥५५९॥

धर्मस्तावत्त्रिप्रकारो भवति। श्रुतधर्मोऽस्तिकायधर्मस्तृतीयश्चारित्रधर्मः। अत्र पुनः श्रुतधर्मस्तीर्थमिति संसारसागरं तरन्ति येन तत्तीर्थमिति ॥५५९॥

तीर्थस्य स्वरूपमाह—

दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं।
एदेसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणा होदि ॥५६०॥

द्विविधं च भवति तीर्थं द्रव्यसंयुक्तं भावसंयुक्तं चेति। द्रव्यतीर्थमपरमार्थरूपं। भावतीर्थं पुनः परमार्थभूतमन्यापेक्षाभावात्। एतयोर्द्वयोरपि तीर्थयोः प्रत्येकं प्ररूपणा भवति ॥५६०॥

द्रव्यतीर्थ[1]स्य स्वरूपमाह—

आचारवृत्ति—चौबीस तीर्थंकर द्रव्य प्रकाश से लोक को प्रकाशित नहीं करते हैं, किन्तु वे ज्ञान के प्रकाश से ही लोक का उद्योत करनेवाले होते हैं यह बात व्यवस्थित हो गई। इस तरह 'लोकोद्योतकरा' इसका व्याख्यान हुआ।

'धर्मतीर्थकरा' इस पद का व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—धर्म तीन प्रकार का है—श्रुत धर्म, अस्तिकायधर्म और चारित्रधर्म। किन्तु यहाँ श्रुतधर्म तीर्थ है ॥५५९॥

आचारवृत्ति—श्रुतधर्म, अस्तिकाय धर्म और चारित्रधर्म इन तीनों में श्रुतधर्म को तीर्थ माना है। जिससे संसारसागर को तिरते हैं वह तीर्थ है सो यह श्रुत अर्थात् जिनदेव कथित आगम ही सच्चा तीर्थ है।

तीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से संयुक्त तीर्थ दो प्रकार का है। इन दोनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं ॥५६०॥

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीर्थ के दो भेद हैं। द्रव्यतीर्थ तो अपरमार्थभूत है और भावतीर्थ परमार्थभूत है, क्योंकि इसमें अन्य की अपेक्षा का अभाव है। इन दोनों का वर्णन करते हैं।

द्रव्यतीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

---

१ क तीर्थं सं°। १ क °र्थस्व°।

दाहोपसमण तण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तह्मा तं दव्वदो तित्थं ॥५६१॥

द्रव्यतीर्थेन दाहस्य संतापस्योपशमनं भवति तृष्णायाश्छेदो विनाशो भवति स्तोककालं पंकस्य च प्रवहणं शोधनमेव भवति न धर्मादिको गुणस्तस्मात्त्रिभिः कारणैर्युक्तं द्रव्यतीर्थं भवतीति ॥५६१॥

भावतीर्थस्वरूपमाह—

दंसणणाणचरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेवि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तह्मा ते भावदो तित्थं ॥५६२॥

दर्शनज्ञानचारित्रैर्युक्ताः संयुक्ता जिनवराः सर्वेऽपि ते तीर्थं भवंति तस्मात्त्रिभिः कारणैरपि भावतस्तीर्थमिति भावोद्योतेन लोकोद्योतकरा भावतीर्थकर्तृत्वेन धर्मतीर्थंकरा इति। अथवा दर्शनज्ञानचारित्राणि जिनवरैः सर्वैरपि निर्युक्तानि सेवितानि तस्मात्तानि भावतस्तीर्थमिति ॥५६२॥

जिनवरा अर्हन्निति पदं व्याख्यातुकामः प्राह—

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण [1]वुच्चंति ॥५६३॥

गाथार्थ—दाह को उपशम करना, तृष्णा का नाश करना और मल कीचड़ को धो डालना, इन तीन कारणों से जो युक्त है, वह द्रव्य से तीर्थ है ॥५६१॥

आचारवृत्ति—द्रव्यतीर्थ से (गंगा पुष्कर आदि से) संताप का उपशमन होता है, प्यास का विनाश होता है और कुछ काल तक ही मल का शोधन हो जाता है, किन्तु उससे धर्म आदि गुण नहीं होते हैं। इसलिए इन तीन कारणों से सहित होने से उसे द्रव्य तीर्थ कहते हैं।

भावतीर्थ को कहते हैं—

गाथार्थ—सभी जिनेश्वर दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं इसलिए वे भाव से तीर्थ हैं ॥५६२॥

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान, चारित्र से संयुक्त होने से सभी तीर्थंकर भावतीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार से ये तीर्थंकर भावउद्योत से लोक को प्रकाशित करनेवाले हैं और भावतीर्थ के कर्ता होने से 'धर्मतीर्थंकर' कहलाते हैं। अथवा सभी जिनवरों ने इस रत्नत्रय का सेवन किया है इसलिए वह भी भावतीर्थ कहलाता है।

जिनवर और अर्हन् इन पदों का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध मान माया और लोभ को जीत चुके हैं इसलिए वे 'जिन' होते हैं। शत्रुओं का और जन्म का हनन करनेवाले हैं अतः वे अर्हंत कहलाते हैं ॥५६३॥

---

1 क वुच्चदि ग।

यस्माज्जितक्रोधमानमायालोभास्तस्मात्तेन कारणेन ते जिना इति भवंति येनारीणां हन्तारो जन्मनः संसारस्य च हन्तारस्तेनार्हन्त इत्युच्यन्ते ॥५६३॥

येन च—

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥५६४॥

वंदनाया नमस्कारस्य च योग्या वंदनां नमस्कारमर्हंति, पूजायाः सत्कारस्य च योग्याः पूजासत्कारमर्हन्ति च यतः सिद्धिगमनस्य च योग्याः सिद्धिगमनमर्हन्ति, यस्मात्तेनाऽर्हन्त इत्युच्यन्ते ॥५६४॥

किमर्थमेते कीर्त्यन्त इत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—जिस कारण से उन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है इसी कारण से वे 'जिन' कहलाते हैं। तथा जिस कारण से वे मोह शत्रु के तथा संसार के नाश करनेवाले हैं इसी कारण से वे 'अरिहंत' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।*

और भी अरिहंत शब्द की निरुक्ति करते हैं—

गाथार्थ—वन्दना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा सत्कार के योग्य हैं और सिद्धि गमन के योग्य हैं इसलिए वे 'अर्हंत' कहलाते हैं ॥५६४॥

आचारवृत्ति—अर्हंतदेव वन्दना, नमस्कार, पूजा, सत्कार और मोक्ष गमन के योग्य हैं—समर्थ हैं अतएव वे 'अर्हंत' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

भावार्थ—अरिहंत और अर्हंत दो पद माने गये हैं अतः यहाँ पर दोनों पदों की व्युत्पत्ति दिखाई है। जो अरि अर्थात् मोह कर्म का हनन करनेवाले हैं वे 'अरिहंत' हैं और 'अर्ह' धातु पूजा तथा क्षमता अर्थ में है अतः जो वन्दना आदि के लिए योग्य हैं, पूज्य हैं, सक्षम हैं वे 'अर्हंत' इन नाम से कहे जाते हैं। महामन्त्र में 'अरिहंताणं' और 'अरहंताणं' दोनों पद मिलते हैं वे दोनों ही शुद्ध माने गये हैं।

किसलिए इनका कीर्तन किया जाता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—

तण्हावदाहछेदणकम्ममलविणासणसमत्थं।
तिहिं कारणेहिं जुत्तं सुत्तं पुण भावदो तित्थं ॥

अर्थ—जो तृष्णा और दाह का छेदन करने वाला है तथा कर्म मल को विनाश करने में समर्थ है। इन तीन कारणों से जो युक्त है वह सूत्र भाव से तीर्थ है। अर्थात् द्वादशांग सूत्र रूप श्रुतधर्म को भावतीर्थ कहा है। वह तीर्थ सांसारिक विषयों की अभिलाषा रूप तृष्णा को दूर करता है, कर्मोदय जनित नाना प्रकार के दुःख रूप दाह को शांत करता है और कर्ममल को दूर करने में समर्थ है। इन तीन गुणों से युक्त होने से जिनवाणी ही सच्चा भावतीर्थ है।

किह ते ण कित्तणिज्जा सदेवमणुयासुरेहिं लोगेहिं ।
दंसणणाणचरित्ते तव विणओ जेहिं पण्णत्तो ॥५६५॥

कथं ते न कीर्तनीयाः व्यावर्णनीयाः सदेवमनुष्यासुरैर्लोकैर्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां विनयो यैः प्रज्ञप्तः प्रतिपादितः ते चतुर्विंशतितीर्थंकराः कथं न कीर्तनीयाः ॥५६५॥

इति कीर्तनमधिकारं व्याख्याय केवलिनां स्वरूपमाह—

सव्वं केवलिकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति ।
केवलणाणचरित्ता[1] तह्मा ते केवली होंति ॥५६६॥

किमर्थं केवलिन इत्युच्यन्त इत्याशंकायामाह—यस्मात्सर्वं निरवशेषं केवलिकल्पं केवलज्ञानविषयं लोकमलोकं च जानन्ति तथा च पश्यंति केवलज्ञानमेव चरित्रं येषां ते केवलज्ञानचरित्राः परित्यक्ताशेषव्यापारास्तस्मात्ते केवलिनो भवंतीति ॥५६६॥

अथोत्तमाः कथमित्याशंकायामाह—

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च ।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ॥५६७॥

मिथ्यात्ववेदनीयमश्रद्धानरूपं ज्ञानावरणं ज्ञानदर्शयोरावरणं चारित्रमोहश्चैतत्त्रिविधं तमस्तस्मात्-

---

गाथार्थ—देव, मनुष्य और असुर इन सहित लोगों के द्वारा वे अर्हंत कीर्तन करने योग्य क्यों नहीं होंगे ? जबकि उन्होंने दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के विनय का प्रज्ञापन किया है ॥५६५॥

आचारवृत्ति—वे चौबीस तीर्थंकर देव आदि सभीजनों द्वारा कीर्तन-वर्णन-प्रशंसन करने योग्य इसीलिए हैं, कि उन्होंने दर्शन आदि के विनय का उपदेश दिया है।

इस तरह कीर्तन अधिकार को कहकर अब केवलियों का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—केवलज्ञान विषयक सर्वलोक को जानते हैं तथा देखते हैं, एवं केवलज्ञान-रूप चारित्रवाले हैं इसलिए वे केवली होते हैं ॥५६६॥

आचारवृत्ति—अर्हंत को केवली क्यों कहते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—जिस हेतु वे अर्हंत भगवान् केवलज्ञान के विषयभूत सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानते हैं तथा देखते हैं और जिनका चारित्र केवलज्ञान ही है अर्थात् जिनके अशेष व्यापार छूट चुके हैं इसलिए वे केवली कहलाते हैं।

तीर्थंकर उत्तम क्यों हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व वेदनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोह इन तीन तम से मुक्त हो चुके हैं इसलिए वे उत्तम कहलाते हैं ॥५६७॥

आचारवृत्ति—अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व वेदनीय है अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय से जीव को सम्यक् तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता है। यह दर्शनमोह गाढ़ अंधकार के सदृश है।

---

1 क्खो।

मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टा भवंतीति ॥५६७॥

स एवं विशिष्टा मम—

आरोग्ग बोहिलाहं दितु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायव्वा ॥५६८॥

एवं विशिष्टास्ते जिनवरेन्द्रा मह्यमारोग्यं जातिजरामरणाभावं बोधिलाभं च जिनसूत्रश्रद्धानं दीक्षाभिमुखीकरणं वा समाधिं च मरणकाले सम्यक्परिणामं ददतु प्रयच्छन्तु, किं पुनरिदं निदानं न भवति न भवत्येव कस्माद्विभाषाऽत्र विकल्पोऽत्र कर्तव्यो यस्मादिति ॥५६८॥

एतस्माच्चेदं निदानं न भवति यतः—

ज्ञानावरण से दर्शनावरण भी आ जाता है चूंकि वे सहचारी हैं। चारित्रमोह से मोहनीय की, दर्शनमोह से अतिरिक्त सारी प्रकृतियाँ आ जाती हैं। ये मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण तीनों ही कर्म 'तम' के समान हैं इस 'तम' से मुक्त हो जाने से ही तीर्थंकर 'उत्तम' शब्द से कहे जाते हैं।

इन विशेषणों से विशिष्ट तीर्थंकर हमें क्या देवें? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें। क्या यह निदान नहीं है? अर्थात् नहीं है, यहाँ केवल विकल्प समझना चाहिए ॥५६८॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य—जन्ममरण का अभाव, बोधिलाभ—जिन सूत्र का श्रद्धान अथवा दीक्षा के अभिमुख होना, और समाधि—मरण के समय सम्यक् परिणाम इन तीन को प्रदान करें।

क्या यह निदान नहीं है?

नहीं है।

क्यों?

क्योंकि यहाँ पर इसे विभाषा—विकल्प समझना चाहिए।

भावार्थ—गाथा ५४१ में तीर्थंकरस्तव के प्रकरण में सात विशेषण बताये थे—लोकोद्योतकर, धर्मतीर्थंकर, जिनवर, अर्हंत, कीर्तनीय, केवली और उत्तम। पुनः उनसे बोधि की प्रार्थना की थी। उनमें से प्रत्येक विशेषण के एक-एक पदों को पृथक् कर करके उनका विशेष अर्थ किया है। १२ गाथा पर्यंत 'लोक' शब्द का व्याख्यान किया है, ५ गाथाओं में 'उद्योत' का, ४ गाथाओं में 'तीर्थ' का, १ गाथा के पूर्वार्ध में 'जिनवर' का एवं उत्तरार्ध तथा एक और गाथा में 'अर्हत' का, १ गाथा में 'कीर्तनीय' का. १ गाथा में 'केवली' का, १ गाथा में 'उत्तम' का एवं अन्त की गाथा में 'बोधि' की प्रार्थना का स्पष्टीकरण किया है।

यहाँ जो वीतरागदेव से याचना की गई है सो आचार्य का कहना है कि यह निदान नहीं है बल्कि भक्ति का एक प्रकार है।

भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा [1]एसा।
ण हु खीण[2]रागदोसा [3]दिंति समाहिं च बोहिं च ॥५६९॥

असत्यमृषा भाषेयं किंतु भक्त्या भाषितैषा यस्मान्नहि क्षीणरागद्वेषा जिना ददते समाधिं बोधिं च। यदि दाने प्रवर्त्तेरन् सरागद्वेषाः स्युरिति ॥५६९॥

अन्यच्च—

जं तेहिं दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसणणाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवदेसो ॥५७०॥

यत्तैस्तु दातव्यं तद्दत्तमेव जिनवरैः सर्वैः किं ? तद्दर्शनज्ञानचारित्राणां त्रिप्रकाराणां एष उपदेशोऽस्मात्किमधिकं यत्प्रार्थ्यते। इति एषा च समाधिबोधिप्रार्थना भक्तिर्भवति यतः ॥५७०॥

अत आह—

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५७१॥

जिनवराणां भक्त्या पूर्वसंचितं कर्म क्षीयते विनश्यते यस्मात् आचार्याणां च भक्तिः किमर्थं? आचार्याणां च प्रसादेन विद्या मंत्राश्च सिद्धिमुपगच्छंति यस्मादिति तस्माज्जिनानामाचार्याणां च भक्तिरियं न

गाथार्थ—यह असत्यमृषा भाषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गई है क्योंकि राग-द्वेष से रहित भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं ॥५६९॥

आचारवृत्ति—यह बोधि समाधि की प्रार्थना असत्यमृषा भाषा है, यह मात्र भक्ति से ही कही गई है, क्योंकि जिनके राग-द्वेष नष्ट हो चुके हैं वे जिनेन्द्र भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं। यदि वे देने का कार्य करेंगे तो राग-द्वेष सहित हो जावेंगे।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरों ने वह दे दिया है। सो वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों का उपदेश है ॥५७०॥

आचारवृत्ति—उनके द्वारा जो देने योग्य था सो तो उन्होंने दे ही दिया है। वह क्या है ? वह रत्नत्रय का उपदेश है। हम लोगों के लिए और इससे अधिक क्या है कि जिसकी प्रार्थना करें इसलिए यह समाधि और बोधि की प्रार्थना भक्ति है।

इस भक्ति का माहात्म्य कहते हैं—

गाथार्थ—जिनवरों की भक्ति से जो पूर्व संचित कर्म हैं वे क्षय हो जाते हैं, और आचार्य के प्रसाद से विद्या तथा मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥५७१॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्व संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं सो ठीक है, किन्तु आचार्यों की भक्ति किसलिए है ? आचार्यों के प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि होती

१ क भासा। २ क 'खीणपेज्जदोसा'। ३ क दिंतु।

निदानमिति ॥५७१॥

अन्यच्च;—

अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु ।
धम्मह्मि य जो राओ सुदे य जो बारसविधह्मि ॥५७२॥

आयरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे ।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥५७३॥

व्यपगतरागेष्वष्टादशदोषरहितेषु अर्हत्सु यः रागः या भक्तिस्तथा धर्मे यो रागस्तथा श्रुते द्वादशविधे यः रागः ॥५७२॥ तथा—

आचार्येषु रागः श्रमणेषु बहुश्रुतेषु च यो रागश्चरित्राढ्येषु च रागः स एष राग प्रशस्तः शोभनो भवति सरागेषु सर्वेष्विति ॥५७३॥

अन्यच्च;—

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए ।
तो भत्ति रागपुव्वं वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं ॥५७४॥

तेषां जिनवरादीनामभिमुखतया भक्त्या चार्था वांछितेष्टसिद्धयः सिध्यन्ति हस्तग्राह्या भवन्ति यस्मात्तस्माद्भक्ती रागपूर्वकमेतदुच्यते न हि निदानं, संसारकारणाभावादिति ॥५७४॥

होती है। इसलिए जिनवरों की और आचार्यों की यह भक्ति निदान नहीं है।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—राग रहित और द्वेष रहित अर्हंतदेव में जो राग है, धर्म में जो राग है, और द्वादशविध श्रुत में जो राग है—वह तीनों भक्ति हैं।

आचार्यों में, श्रमणों में और चारित्रयुक्त बहुश्रुत विद्वानों में जो राग है यह प्रशस्त राग सभी सरागी मुनियों में होता है ॥५७२-५७३॥

आचारवृत्ति—रागद्वेष रहित अर्हंतों में, धर्म में, द्वादशांग श्रुत में, आचार्यों में, मुनियों में, चारित्रयुक्त बहुश्रुत विद्वानों में जो राग होता है वह प्रशस्त—शोभन राग है वह सभी सरागी मुनियों में पाया जाता है। अर्थात् सराग संयमी मुनि इन सभी में अनुराग रूप भक्ति करते ही हैं।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—उनके अभिमुख होने से तथा उनकी भक्ति से मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए भक्ति रागपूर्वक कही गई है। यह वास्तव में निदान नहीं है ॥५७४॥

आचारवृत्ति—उन जिनवर आदिकों के अभिमुख होने से—उनकी तरफ अपने मन को लगाने से, उनकी भक्ति से वांछित इष्ट की सिद्धि हो जाती है—इष्ट मनोरथ हस्तग्राह्य हो जाते हैं। इसलिए यह भक्ति रागपूर्वक ही होती है। यह निदान नहीं कहलाती है, क्योंकि इससे संसार के कारणों का अभाव होता है।

चतुर्विंशतिस्तवविधानमाह—

चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो ।
अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू ॥५७५॥

चतुरंगुलान्तरपादः स्थितांगः परित्यक्तशरीरावयवचालनश्चकारादेतल्लब्धं प्रतिलिख्य शरीरभूमिचित्तादिकं प्रशोध्य प्रांजलिः सपिंडः कृतांजलिपुटेन प्रशस्तः सौम्यभावोऽव्याक्षिप्तः सर्वव्यापाररहितः करोति चतुर्विंशतिस्तवं भिक्षुः संयतश्चतुरंगुलमंतरं ययोः पादयोस्तौ चतुरंगुलान्तरौ तौ पादौ यस्य स चतुरंगुलान्तरपादः स्थितं निश्चलमंगं यस्य सः स्थितांगः शोभनकायिकवाचिकमानसिकक्रिय इत्यर्थः ॥५७५॥

चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिमुपसंहर्तुं वंदनानिर्युक्तिं च प्रतिपादयितुं प्राह—

चउवीसयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
वंदणणिज्जुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥५७६॥

चतुर्विंशतिनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन वंदनानिर्युक्तिं पुनरित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रतिपादयिष्यामीति ॥५७६॥

तथैतां नामादिनिक्षेपैः प्रतिपादयन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो खलु वंदणगे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो ॥५७७॥

अब चतुर्विंशतिस्तव के विधान को कहते हैं—

गाथार्थ—चार अंगुल अन्तराल से पाद को करके, प्रतिलेखन करके, अंजलि को प्रशस्त जोड़कर, एकाग्रमना हुआ भिक्षु चौबीस तीर्थंकर का स्तोत्र करता है ॥५७५॥

आचारवृत्ति—पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर स्थिर अंग कर जो खड़े हुए हैं अर्थात् शरीर के अवयवों के हलन चलन से रहित स्थिर हैं; चकार से ऐसा समझना कि जिन्होंने अपने शरीर और भूमि का पिच्छिका से प्रतिलेखन करके एवं चित्त आदि का शोधन करके अपने हाथों की अंजुलि जोड़ रखी है, जो प्रशस्त-सौम्यभावी हैं, व्याकुलता रहित अर्थात् सर्वव्यापार रहित हैं ऐसे संयत मुनि चतुर्विंशतिस्तव को करते हैं। अर्थात् पैरों में चार अंगुल के अंतराल को रखकर निश्चल अंग करके खड़े होकर, मुनि शोभनरूप कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया वाले होते हुए स्तव नामक आवश्यक को करते हैं।

चतुर्विंशतिस्तव निर्युक्ति का उपसंहार करने के लिए और वन्दना निर्युक्ति का प्रतिपादन करने के लिए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह चतुर्विंशतिनिर्युक्ति कही है, पुनः इसके बाद वन्दना निर्युक्ति को कहूंगा ॥५७६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

वन्दना को नामादि निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, निश्चय से वन्दना का यह छह प्रकार का निक्षेप कहा गया है ॥५७७॥

एकतीर्थंकरनामोच्चारणं सिद्धाचार्यादिनामोच्चारणं च नामावश्यकवंदनानिर्युक्तिरेकतीर्थंकरप्रतिबिंबस्य सिद्धाचार्यादिप्रतिबिंबानां च स्तवनं स्थापनावंदनानिर्युक्तिस्तेषामेव शरीराणां स्तवनं द्रव्यवंदनानिर्युक्तिस्तैरेव यत्क्षेत्रमधिष्ठितं कालश्च योऽधिष्ठितस्तयोः स्तवनं क्षेत्रवन्दना च, एकतीर्थंकरस्य सिद्धाचार्यादीनां च शुद्धपरिणामेन यद्गुणस्तवनं तद्भावावश्यकवंदनानिर्युक्तिः। नामाथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म वंदनाशब्दमात्रं नाम, वन्दनापरिणतस्य प्राभृतज्ञो प्रतिकृतिवन्दनास्थापनावंदना, वन्दनाव्यावर्णनप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यवंदना शेषः पूर्ववदिति। एष वंदनाया निक्षेपः षड्विधो भवति ज्ञातव्यो नामादिभेदेनेति ॥५७७॥

नामवंदनां प्रतिपादयन्नाह—

किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।
कादव्वं केण कस्स व कधे व कहिं व कदिखुत्तो ॥५७८॥

पूर्वगाथार्धेन वंदनाया एकार्थः कथ्यते[१]ऽपरार्धेन तद्विकल्पा इति। कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदंबकेन परिणामेन क्रियया वा तत्कृतिकर्म पापविनाशनोपायः[२]। चीयते समेकीक्रियते संचीयते

आचारवृत्ति—एक तीर्थंकर का नाम उच्चारण करना, तथा सिद्ध, आचार्यादि का नाम उच्चारण करना नाम-वन्दना आवश्यक निर्युक्ति है। एक तीर्थंकर के प्रतिबिम्ब का तथा सिद्ध आचार्य आदि के प्रतिबिम्बों का स्तवन करना स्थापनावन्दना निर्युक्ति है। एक तीर्थंकर के शरीर का तथा सिद्ध आचार्यों के शरीर का स्तवन करना द्रव्य-वन्दना निर्युक्ति है। इन एक तीर्थंकर, सिद्ध और आचार्यों से अधिष्ठित जो क्षेत्र हैं उनकी स्तुति करना क्षेत्र-वन्दना निर्युक्ति है। ऐसे ही इन्हीं से अधिष्ठित जो काल हैं उनकी स्तुति करना काल वन्दना निर्युक्ति है। एक तीर्थंकर और सिद्ध तथा आचार्यों के गुणों का शुद्ध परिणाम से जो स्तवन है वह भाववन्दना निर्युक्ति है।

अथवा जाति, द्रव्य व क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'वन्दना' ऐसा शब्द मात्र से संज्ञा कर्म करना नाम-वन्दना है। वन्दना से परिणत हुए का जो प्रतिबिम्ब है वह स्थापनावन्दना है। वन्दना के वर्णन करनेवाले शास्त्र का जो ज्ञाता है किन्तु उसमें उस समय उपयोग उसका नहीं है वह आगमद्रव्य वन्दना है। बाकी के भेदों को पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। वन्दना का यह निक्षेप नाम आदि के भेद से छह प्रकार का है ऐसा जानना।

नाम वन्दना का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये वन्दना के एकार्थ नाम हैं। किसको, किसकी, किस प्रकार से, किस समय और कितनी बार वन्दना करना चाहिए ॥५७८॥

आचारवृत्ति—गाथा के पूर्वार्ध से वन्दना के पर्यायवाची नाम कहे हैं अर्थात् कृतिकर्म आदि वन्दना के ही नाम हैं। तथा गाथा के अपरार्ध से वन्दना के भेद कहे हैं।

कृतिकर्म—जिस अक्षर समूह से या जिस परिणाम से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार का कर्म काटा जाता है—छेदा जाता है वह कृतिकर्म कहलाता है अर्थात् पापों के विनाशन

---

१ क °ते पश्चार्द्धेन। २ क °पायं। क्रियते समो वा क्रियते।

पुण्यकर्म तीर्थंकरत्वादि येन तच्चितिकर्म पुण्यसंचयकारणं। पूज्यंतेऽर्च्यन्तेऽर्हदादयो येन तत्पूजाकर्म बहुवचनो-च्चारणस्रक्चंदनादिकं। विनीयंते निराक्रियन्ते संक्रमणोदयोदीरणादिभावेन प्राप्यंते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं तत्क्रिया कर्म कर्तव्यं केन कस्य कर्तव्यं कथमिव केन विधानेन कर्तव्यं कस्मिन्नवस्थाविशेषे कर्तव्यं कतिवारान् ॥५७८॥

तथा—

कदि ओणदं कदि सिरं कदिए आवत्तगेहिं परिसुद्धं।
कदिदोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ॥५७९॥

कदि ओणदं—कियन्त्यवनतानि। कति करमुकुलांकितेन शिरसा भूमिस्पर्शनानि कर्तव्यानि। **कदि सिरं**—कियन्ति शिरांसि कतिवारान् शिरसि करकुड्मलं कर्तव्यं। **कदि आवत्तगेहिं परिसुद्धं**—कियद्भिरा-वर्तकैः परिशुद्धं कतिवारान्मनोवचनकाया आवर्तनीयाः। **कदि दोसविप्पमुक्कं**—कति दोषैर्विप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्तव्यमिति ॥५७९॥

का उपाय कृतिकर्म है।

चितिकर्म—जिस अक्षर समूह से या परिणाम से अथवा क्रिया से तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का चयन होता है—सम्यक् प्रकार से अपने साथ एकीभाव होता है या संचय होता है, वह पुण्य संचय का कारणभूत चितिकर्म कहलाता है।

पूजाकर्म—जिन अक्षर आदिकों के द्वारा अरिहंत देव आदि पूजे जाते हैं—अर्चे जाते हैं ऐसा बहुवचन से उच्चारण कर उनको जो पुष्पमाला, चन्दन आदि चढ़ाये जाते हैं वह पूजा-कर्म कहलाता है।

विनयकर्म—जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है अर्थात् कर्म संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भाव से प्राप्त करा दिये जाते हैं वह विनय है जोकि शुश्रूषा रूप है।

वह वन्दनाक्रिया नामक आवश्यककर्म किसे करना चाहिए? किसको करना चाहिए? किस विधान से करना चाहिए? किस अवस्थाविशेष में करना चाहिए? और कितनी बार करना चाहिए? इस आवश्यक के विषय में ऐसी प्रश्नमाला होती है।

उसी प्रकार से और भी प्रश्न होते हैं—

गाथार्थ—कितनी अवनति, कितनी शिरोनति, कितने आवर्तों से परिशुद्ध, कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए ॥५७९॥

आचारवृत्ति—हाथों को मुकुलित जोड़कर, मस्तक से लगाकर शिर से भूमि स्पर्श करके जो नमस्कार होता है उसे अवनति या प्रणाम कहते हैं। वह अवनति कितने बार करना चाहिए? मुकुलित—जुड़े हुए हाथ पर मस्तक रखकर नमस्कार करना शिरोनति है; सो कितनी होनी चाहिए? मनवचनकाय का आवर्तन करना या अंजुलि, जुड़े हाथों को घुमाना सो आवर्त है—यह कितनी बार करना चाहिए? एवं कितने दोषों से रहित यह कृतिकर्म होना चाहिए?

इति प्रश्नमालायां कृतायां तावत्कृति[1]कर्मविनयकर्मणोरेकार्थ इति कृत्वा विनयकर्मणः सप्रयोजनां निरुक्तिमाह—

जह्मा विणेदि[2] कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य ।
तह्मा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा ॥५८०॥

यस्माद्विनयति विनाशयति कर्माष्टविधं चातुरंगात्संसारान्मोक्षश्च यस्माद्विनयात्तस्माद्विद्वांसो विलीनसंसारा विनय इति वदंति ॥५८०॥

यस्माच्च—

पुव्वं चेव य विणओ परूविदो जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
सव्वासु कम्मभूमिसु णिच्चं सो मोक्खमग्गम्मि ॥५८१॥

यतश्च पूर्वस्मिन्नेव काले विनयः प्ररूपितो जिनवरैः सर्वैः सर्वासु कर्मभूमिषु सप्तत्यधिकक्षेत्रेषु नित्यं सर्वकालं मोक्षमार्गे मोक्षमार्गहेतोस्तस्मान्नार्वाक्कालिको रथ्यापुरुषप्रणीतो वा शंकाऽत्र न कर्त्तव्या निश्चयेनात्र प्रवर्तितव्यमिति ॥५८१॥

कतिप्रकारोऽसौ विनय इत्याशंकायामाह—

लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य ।
भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य ॥५८२॥

इस प्रकार से प्रश्नमाला के करने पर पहले कृतिकर्म और विनयकर्म का एक ही अर्थ है इसलिए विनयकर्म की प्रयोजन सहित निरुक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—जिससे आठ प्रकार का कर्म नष्ट हो जाता है और चतुरंग संसार से मोक्ष हो जाता है इस कारण से संसार से रहित विद्वान् उसे 'विनय' कहते हैं ॥५८०॥

आचारवृत्ति—जिस विनय से कर्मों का नाश होता है और चतुर्गति रूप संसार से मुक्ति मिलती है इससे संसार का विलय करनेवाले विद्वान् उसे 'विनय' यह सार्थक नाम देते हैं।

क्योंकि—

गाथार्थ—पूर्व में सभी जिनवरों ने सभी कर्मभूमियों में मोक्षमार्ग के कथन में नित्य ही उस विनय का प्ररूपण किया है ॥५८१॥

आचारवृत्ति—क्योंकि पूर्वकाल में भी सभी जिनवरों ने एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में हमेशा ही मोक्ष मार्ग के हेतु में विनय का प्ररूपण किया है, इसलिए यह विनय आजकल के लोगों द्वारा कथित है या रथ्यापुरुष—पागलपुरुष—यत्र तत्र फिरनेवाले पुरुष के द्वारा कथित है, ऐसा नहीं कह सकते। अतः इसमें शंका नहीं करनी चाहिए प्रत्युत इस विनय कर्म में निश्चय से प्रवृत्ति करनी चाहिए। अर्थात् यह विनयकर्म सर्वज्ञदेव द्वारा कथित है।

कितने प्रकार का यह विनय है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—लोकानुवृत्ति विनय, अर्थनिमित्त विनय, कामतन्त्रविनय, चौथा भयविनय और पाँचवाँ मोक्षविनय है ॥५८२॥

---

१ क 'कर्मणः विनयकर्मणो'। २ क विणेयदि।

लोकस्यानुवृत्तिरनुवर्त्तनं लोकानुवृत्तिर्नाम प्रथमो विनयः, अर्थस्य निमित्तमर्थनिमित्तं कार्यहेतुर्विनयो द्वितीयः, कामतंत्रे कामतंत्रहेतुः कामानुष्ठाननिमित्तं तृतीयो विनयः, भयविनयश्चतुर्थः[1] भयकारणेन यः क्रियते विनयः स चतुर्थः, पंचमो मोक्षविनयः; एवं कारणेन पंचप्रकारो विनय इति ॥५८२॥

तत्रादौ तावल्लोकानुवृत्तिविनयस्वरूपमाह—

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अतिहिपूजा य।
लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविहवेण ॥५८३॥

अभ्युत्थानं कस्मिंश्चिदागते आसनादुत्थानं प्रांजलिरंजलिकरणं स्वावासमागतस्यासनदानं तथा-ऽतिथिपूजा च मध्याह्नकाले आगतस्य साधोरन्यस्य वा धार्मिकस्य बहुमानं देवतापूजा च स्वविभवेन स्ववित्तानुसारेण देवपूजा च तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिर्नाम विनयः ॥५८३॥

तथा—

भासाणुवत्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च।
लोकाणुवत्तिविणओ अंजलिकरणं च अत्थकदे ॥५८४॥

भाषाया वचनस्यनुवृत्तेरनुवर्त्तनं यथासौ वदति तथा सोऽपि भणति भाषानुवृत्तिः, छंदानु-

आचारवृत्ति—लोक की अनुकूलता करना सो लोकानुवृत्ति का पहला विनय है। अर्थ—कार्य के हेतु विनय करना दूसरा अर्थनिमित्त विनय है। काम के अनुष्ठान हेतु विनय करना कामतन्त्र नाम का तीसरा विनय है। भय के कारण से विनय करना यह चौथा भय विनय है। और मोक्ष के हेतु विनय पाँचवाँ मोक्षविनय है।

उनमें से पहले लोकानुवृत्ति विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—उठकर खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि की पूजा करना, और अपने विभव के अनुसार देवों की पूजा करना यह लोकानुवृत्ति विनय है ॥५८३॥

आचारवृत्ति—किसी के अर्थात् बड़ों के आने पर आसन से उठकर खड़े होना, अंजुलि जोड़ना, अपने आवास में आये हुए को आसन देना, अतिथि पूजा—मध्याह्न काल में आये हुए साधु या अन्य धार्मिकजन अतिथि कहलाते हैं उनका बहुमान करना, और अपने विभव या धन के अनुसार देवपूजा करना, सो यह सब लोकानुवृत्ति नाम का विनय है।

तथा—

गाथार्थ—अनुकूल वचन बोलना, अनुकूल प्रवृत्ति करना, देशकाल के योग्य दान देना, अंजुलि जोड़ना और लोक के अनुकूल रहना सो लोकानुवृत्ति विनय है तथा अर्थ के निमित्त से ऐसा ही करना अर्थविनय है ॥५८४॥

आचारवृत्ति—भाषानुवृत्ति—जैसे वे बोलते हैं वैसे ही बोलना, छन्दानुवर्तन—उनके अभिप्राय के अनुकूल आचरण करना, देश के योग्य और काल के योग्य दान देना—

1 क °र्थः पंचमो।

वर्त्तनं तदभिप्रायानुकूलाचरणं, देशयोग्यं कालयोग्यं च यद्दानं स्वद्रव्योत्सर्गस्तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिविनयो लोकात्मीकरणार्थो यथाऽयं विनयोंजलिकरणादिकः प्रयुज्यते तथांऽजलिकरणादिको योऽर्थनि[1]मित्तं क्रियते सोऽर्थहेतुः ॥५८४॥

तथा—

एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए।
पंचमओ खलु विणओ परूवणा तस्सिमा होदि ॥५८५॥

यथा लोकानुवृत्तिविनयो व्याख्यातस्तथैवं कामतन्त्रो भयार्थश्च भवति आनुपूर्व्या विशेषाभावात्, यः पुनः पंचमो विनयस्तस्येयं प्ररूपणा भवतीति ॥५८५॥

दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिओ चेव।
मोक्खह्मि एस विणओ पंचविहो होदि णायव्वो ॥५८६॥

दर्शनज्ञानचारित्रतप औपचारिकभेदेन मोक्षविनय एषः पंचप्रकारो भवति ॥५८६॥

स पंचाचारे यद्यपि विस्तरेणोक्तस्तथाऽपि विस्मरणशीलशिष्यानुग्रहार्थं संक्षेपतः पुनरुच्यत इति—

अपने द्रव्य का त्याग करना यह सब लोकानुवृत्ति विनय है, क्योंकि यह लोक को अपना करने के लिए अंजुलि जोड़ना आदि यथार्थ विनय किया जाता है। उसी प्रकार से जो अर्थ के निमित्त—प्रयोजन के लिए अंजुलि जोड़ना आदि उपर्युक्त विनय किया जाता है वह अर्थनिमित्त विनय है।

भावार्थ—सामने वाले के अनुकूल वचन बोलना, उसी के अनुकूल कार्य करना आदि जो विनय लोगों को अपना बनाने के लिए किया जाता है वह लोकानुवृत्ति विनय है और जो कार्य सिद्धि के लिए उपर्युक्त क्रियाओं का करना है सो अर्थनिमित्त विनय है।

उसी प्रकार से कामतन्त्र और भय विनय को कहते हैं—

गाथार्थ—इसी प्रकार से कामतन्त्र में विनय करना कामतन्त्र विनय है और इसी क्रम से भय हेतु विनय करना भय विनय है। निश्चय से पंचम जो विनय है उसकी यह—आगे प्ररूपणा होती है ॥५८५॥

आचारवृत्ति—जैसे लोकानुवृत्ति विनय का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार से काम के निमित्त विनय कामतन्त्र विनय है तथा वैसे ही क्रम से भय-निमित्त विनय भयविनय है। इनमें कोई अन्तर नहीं है अर्थात् अभिप्राय मात्र का अन्तर है, क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है। अब जो पाँचवाँ मोक्ष विनय है उसकी आगे प्ररूपणा करते हैं।

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में विनय तथा औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का मोक्ष विनय जानना चाहिए ॥५८६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

यह मोक्ष विनय यद्यपि पंचाचार के वर्णन में विस्तार से कहा गया है फिर भी विस्मरणशील शिष्यों के अनुग्रह के लिए पुनः संक्षेप से कहा जाता है—

---

१ क 'र्थंगतोनि'।

जे दव्वपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो ॥५८७॥

ये द्रव्यपर्यायाः खलूपदिष्टा जिनवरैः श्रुतज्ञाने तांस्तथैव श्रद्दधाति यो नरः स दर्शनविनय इति ज्ञातव्यो भेदोपचारादिति ॥५८७॥

अथ ज्ञाने किमर्थं विनयः क्रियते इत्याशंकायामाह—

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ ॥५८८॥

यस्माज्ज्ञानी गच्छति मोक्षं जानाति वा गतेर्ज्ञानगमनप्राप्त्यर्थकत्वात्, यस्माच्च ज्ञानी वंचति परिहरति पापं यस्माच्च ज्ञानी नवं कर्म नाददाति न बध्यते कर्मभिरिति यस्माच्च ज्ञानेन करोति चरणं चारित्रं तस्माच्च ज्ञाने भवति विनयः कर्तव्य इति ॥५८८॥

अथ चारित्रे विनयः किमर्थं क्रियते इत्याशंकायामाह—

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो।
णवकम्मं ण य बंधदि चरित्तविणओत्ति णादव्वो ॥५८९॥

चिरंतनकर्मरजश्चर्यया चारित्रेण रिक्तं तुच्छं करोति यतमानश्चेष्टमानो नवं कर्म न च बध्नाति यस्मात्, तस्माच्चारित्रे विनयो भवति कर्तव्य इति ज्ञातव्यः ॥५८९॥

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेवों ने श्रुतज्ञान में निश्चय से जिन द्रव्य पर्यायों का उपदेश दिया है मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है वह दर्शनविनय है ऐसा जानना चाहिए ॥५८७॥

आचारवृत्ति—जिनवरों ने द्रव्यादिकों का जैसा उपदेश दिया है जो मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है वह मनुष्य ही दर्शनविनय है। यहाँ पर गुण-गुणी में अभेद का उपचार किया गया है।

अब ज्ञान की किसलिए विनय करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञानी जानता है, ज्ञानी छोड़ता है, और ज्ञानी नवीन कर्म को नहीं ग्रहण करता है, ज्ञान से चारित्र का पालन करता है इसलिए ज्ञान में विनय होवे ॥५८८॥

आचारवृत्ति—जिस हेतु से ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा जानता है। गति अर्थ वाले धातु ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थवाले होते हैं ऐसा व्याकरण का नियम है अतः यहाँ गच्छति का जानना और प्राप्त करना अर्थ किया है। जिससे ज्ञानी पाप की वंचना—परिहार करता है और नवीन कर्मों से नहीं बँधता है तथा ज्ञान से चारित्र को धारण करता है इसीलिए ज्ञान में विनय करना चाहिए।

चारित्र में विनय क्यों करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ साधु चारित्र से पुराने कर्मरज को खाली करता है और नूतन कर्म नहीं बाँधता है इसलिए उसे चारित्रविनय जानना चाहिए ॥५८९॥

आचारवृत्ति—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ मुनि अपने आचरण से चिरन्तन कर्मधूलि को तुच्छ—समाप्त या साफ कर देता है तथा नूतन कर्मों का बंध नहीं करता है अतः चारित्र में विनय करना चाहिए।

तथा तपोविनयप्रयोजनमाह—

अवणयदि तवेण तमं उवणयदि मोक्खमग्गमप्पाणं।
तवविणयणियमिदमदी सो तवविणओ त्ति णादव्वो ॥५६०॥[1]

इत्येवमादिगाथानां 'आयारजीदा'दिगाथापर्यन्तानां तप आचारेर्थः प्रतिपादित इति कृत्वा नेह प्रतन्यते पुनरुक्तदोषभयादिति ॥५६०॥

यतो विनयः शासनमूलं यतश्च विनयः शिक्षाफलम्—

तह्मा सव्वपयत्तेण विणयत्तं मा कदाइ छंडिज्जो।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण ॥५६१॥

यस्मात्सर्वप्रयत्नेन विनयत्वं नो कदाचित्परिहरेत् भवान् यस्मादल्पश्रुतोऽपि पुरुषः क्षपयति कर्माणि विनयेन तस्माद्विनयो न त्याज्य इति ॥५६१॥

कृतिकर्मणः प्रयोजनं तं दत्वा प्रस्तुतायाः प्रश्नमालायास्तावदसौ केन कर्तव्यं तत्कृतिकर्म यत्पृष्टं तस्योत्तरमाह—

पंचमहव्वयगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य।
किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणइ सदा ऊणरादिणिओ ॥५६२॥

अब तपोविनय का प्रयोजन कहते हैं—

गाथार्थ—तप के द्वारा तम को दूर करता है और अपने को मोक्षमार्ग के समीप करता है। जो तप के विनय में बुद्धि को नियमित कर चुका है वह ही तपोविनय है ऐसा जानना चाहिए ॥५६०॥

आचारवृत्ति—गाथा का अर्थ स्पष्ट है। इसी प्रकार से पूर्व में 'आयारजीदा' आदि गाथा पर्यंत तप आचार में तप विनय का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसलिए यहाँ पर विस्तार नहीं करते हैं, क्योंकि वैसा करने से पुनरुक्त दोष आ जाता है।

विनय शासन का मूल है और विनय शिक्षा का फल है, इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—इसलिए सभी प्रयत्नों से विनय को कभी भी मत छोड़ो क्योंकि अल्पश्रुत का धारक भी पुरुष विनय से कर्मों का क्षपण कर देता है ॥५६१॥

आचारवृत्ति—अतः सर्व प्रयत्न करके विनय को कदाचित् भी मत छोड़ो, क्योंकि अल्पज्ञानी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश कर देता है इसलिए विनय को सदा काल करते रहना चाहिए।

कृतिकर्म अर्थात् विनय कर्म का प्रयोजन दिखलाकर अब प्रस्तुत प्रश्नमाला में जो पहला प्रश्न था कि 'वह कृतिकर्म किसे करना चाहिए?' उसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जो पाँच महाव्रतों से युक्त है, संवेगवान है, आलसरहित है और मान रहित है ऐसा एक रात्रि भी छोटा मुनि निर्जरा का इच्छुक हुआ हमेशा कृतिकर्म को करे।

---

१. गाथा ३६४ से लेकर गाथा ३८८ तक विनय का व्याख्यान किया गया है।
२. गाथा ३८७।

पंचमहाव्रतैर्गुप्तः पंचमहाव्रतानुष्ठानपरः संविग्नो धर्मफलयोविषये हर्षोत्कंठितदेहोऽनालसः उद्योगवान् अमाणीय अमानी च परित्यक्तमानकषायो निर्जरार्थी ऊनरात्रिको दीक्षया लघुः एवं न कृतिकर्म करोति सदा सर्वकालं, पंचमहाव्रतयुक्तेन परलोकार्थिना विनयकर्म कर्त्तव्यं भवतीति सम्बन्धः ॥५९२॥

कस्य तत्कृतिकर्म कर्त्तव्यं यत्पृष्टं तस्योत्तरमाह—

आइरियउवज्झायाणं पवत्तयत्थेरगणधरादीणं।
एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए ॥५९३॥

तेषामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणधरादीनां कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थं न मन्त्रतन्त्रोपकरणार्थेति ॥५९३॥

एते पुनः क्रियाकर्मायोग्या इति प्रतिपादयन्नाह—

णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व।
देसविरद देवं वा विरदो पासत्थपणगं वा ॥५९४॥

णो वंदिज्ज न वंदेत न स्तुयात् कं अविरदमविरतमसंयतं मातरं जननीं पितरं जनकं गुरुं दीक्षागुरुं श्रुतगुरुमप्यसंयतं चरणादिशिथिलं नरेन्द्रं राजानं अन्यतीर्थिकं पाखंडिनं वा देशविरतं श्रावकं शास्त्रादि-

---

आचारवृत्ति—जो पाँच महाव्रतों के अनुष्ठान में तत्पर हैं, धर्म और धर्म के फल में जिनका शरीर हर्ष से रोमांचित हो रहा है, आलस्य रहित—उद्यमवान् हैं, मान कषाय से रहित हैं, कर्म निर्जरा के इच्छुक हैं ऐसे मुनि दीक्षा में एक रात्रि भी यदि लघु हैं तो वे सर्वकाल गुरुओं की कृतिकर्मपूर्वक वन्दना करें। अर्थात् मुनियों को अपने से बड़े मुनियों की कृतिकर्म पूर्वक विनय करना चाहिए। यहाँ पर कृतिकर्म करनेवाले का वर्णन किया है।

किसका वह कृतिकर्म करना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—निर्जरा के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का कृतिकर्म करना चाहिए ॥५९३॥

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिकों का कृतिकर्म—विनय कर्म कर्मों की निर्जरा के लिए करे, मन्त्र-तन्त्र या उपकरण के लिए नहीं।

पुनः जो विनयकर्म के अयोग्य हैं उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अविरत माता-पिता व गुरु की, राजा की, अन्य तीर्थ की, या देशविरत की, अथवा देवों की या पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि की वह विरत मुनि वन्दना न करे ॥५९४॥

आचारवृत्ति—असंयत माता-पिता की, असंयत गुरु की अर्थात् दीक्षा-गुरु यदि चारित्र में शिथिल—भ्रष्ट हैं या श्रुतगुरु यदि असंयत है अथवा चारित्र में शिथिल हैं तो संयत मुनि इनकी वन्दना न करे। वह राजा की, पाखंडी साधुओं की, शास्त्रादि से प्रौढ़ भी देशव्रती श्रावक की या नाग, यक्ष, चन्द्र सूर्य, इन्द्रादि देवों की भी वन्दना न करे। तथा पार्श्वस्थ आदि

प्रौढमपि देवं वा नागयक्षचन्द्रसूर्येन्द्रादिकं वा विरतः संयतः सन् पार्श्वस्थपणकं वा ज्ञानदर्शनचारित्रशिथिलान् पंचजनान्निर्ग्रन्थानपि संयतः स्नेहादिना पार्श्वस्थपणकं न वंदेत मातरमसंयतां पितरमसंयतं अन्यं च मोहादिना न स्तुयात् भयेन लोभादिना वा नरेन्द्रं न स्तुयात् ग्रहादिपीडाभयाद्देवं सूर्यादिकं न पूजयेत् शास्त्रादिलोभेनान्यतीर्थिकं न स्तुयादाहारादिनिमित्तं श्रावकं न स्तुयात्। आत्मगुरुमपि विनष्टं न वंदेत तथा वाशब्दसूचितानन्यानपि स्वोपकारिणोऽसंयतान्न स्तुयादिति ॥५९४॥

इति के ते पंच पार्श्वस्था इत्याशंकायामाह—

पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा ॥५९५॥

संयतगुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः वसतिकादिप्रतिवद्धो मोहबहुलो रात्रिदिवमुपकरणानां कारकोऽसंयतजनसेवी संयतजनेभ्यो दूरीभूतः, कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः क्रोधादिकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीनः संघस्यायशःकरणकुशलः, सम्यगसंयतगुणेष्वाशक्तः संशक्तः आहारादिगृद्धया वैद्यमन्त्रज्योतिषादिकुशलत्वेन प्रतिबद्धो राजादिसेवातत्परः, ओसण्णोऽपगतसंज्ञोऽपगता विनष्टा संज्ञा सम्यग्ज्ञानादिकं यस्यासौ अपगतसंज्ञश्चारित्राद्यपहीनो जिनवचनमजानञ्चारित्रादिप्रभ्रष्टः

पाँच प्रकार के मुनि जोकि निर्ग्रंथ होते हुए भी दर्शन ज्ञान चारित्र में शिथिल हैं इनकी भी वन्दना न करे।

विरत मुनि मोहादि से असंयत माता-पिता आदि की, या अन्य किसी की स्तुति न करे। भय से या लोभ आदि से राजा की स्तुति न करे। ग्रहों की पीड़ा आदि के भय से सूर्य आदि की पूजा न करे। शास्त्रादि ज्ञान के लोभ से अन्य मतावलम्बी पाखंडी साधुओं की स्तुति न करे। आहार आदि के निमित्त श्रावक की स्तुति न करे, एवं स्नेह आदि से पार्श्वस्थ आदि मुनियों की स्तुति न करे। तथैव अपने गुरु भी यदि हीनचारित्र हो गये हैं तो उनकी भी वन्दना न करे तथा अन्य भी जो अपने उपकारी हैं किन्तु असंयत हैं उनकी वन्दना न करे।

वे पाँच प्रकार के पार्श्वस्थ कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञक और मृगचरित्र ये पाँचों दर्शन, ज्ञान और चारित्र में नियुक्त नहीं हैं एवं मन्द संवेग वाले हैं ॥५९५॥

आचारवृत्ति—जो संयमी के गुणों से 'पार्श्वे तिष्ठति' 'पास में—निकट में रहते हैं वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं। ये मुनि वसतिका आदि से प्रतिवद्ध रहते हैं अर्थात् वसतिका आदि में अपनेपन की भावना रखकर उनमें आसक्त रहते हैं, इनमें मोह की बहुलता रहती है, ये रात-दिन उपकरणों के बनाने में लगे रहते हैं, असंयतजनों की सेवा करते हैं और संयमीजनों से दूर रहते हैं अतः ये पार्श्वस्थ इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

कुत्सित-शील—आचरण या खोटा स्वभाव जिनका है वे 'कुशील' कहलाते हैं। ये क्रोधादि कषायों से कलुषित रहते हैं, व्रत गुण और शीलों से हीन हैं, संघ के साधुओं की निन्दा करने में कुशल रहते हैं, अतः ये कुशील कहे जाते हैं। जो अच्छी तरह से असंयत गुणों में

करणालसः सासांरिकसुखमानसः, मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचरित्रः परित्यक्तानागोपदेशः स्वच्छन्दगतिरेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तपःसूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पंच पार्श्वस्था दर्शनज्ञानचारित्रेषु अनियुक्ताश्चारित्राद्यनुष्ठान[द्यननुष्ठान]परा मंदसंवेगास्तीर्थधर्माद्यकृतहर्षाः सर्वदा न वंदनीया इति ॥५९५॥

पुनरपि स्पष्टमवन्दनायाः कारणमाह—

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था।
एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणं ॥५९६॥

आसक्त हैं वे 'संसक्त' कहलाते हैं। ये मुनि आहार आदि की लंपटता से वैद्य-चिकित्सा, मन्त्र, ज्योतिष आदि में कुशलता धारण करते हैं और राजा आदि की सेवा में तत्पर रहते हैं। जिनकी संज्ञा—सम्यग्ज्ञान आदि गुण अपगत—नष्ट हो चुके हैं वे 'अपसंज्ञक' कहलाते हैं। ये चारित्र आदि से हीन हैं, जिनेन्द्रदेव के वचनों को नहीं जानते हुए चारित्र आदि से परिभ्रष्ट हैं, तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी हैं एवं जिनका मन सांसारिक सुखों में लगा हुआ है वे अपसंज्ञक इस सार्थक नामवाले हैं। मृग के समान अर्थात् पशु के समान जिनका चारित्र है वे 'मृगचरित्र' कहलाते हैं। ये आचार्यों का उपदेश नहीं मानते हैं, स्वच्छन्दचारी हैं, एकाकी विचरण करते हैं, जिनसूत्र—जिनागम में दूषण लगाते हैं, तप और श्रुत की विनय नहीं करते हैं, धैर्य रहित होते हैं, अतः 'मृगचरित्र'—स्वैराचारी होते हैं।

ये पाँचों प्रकार के मुनि 'पार्श्वस्थ' नाम से भी कहे जाते हैं। ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि के अनुष्ठान से शून्य रहते हैं, इन्हें तीर्थ और धर्म आदि में हर्ष रूप संवेग भाव नहीं होता है अतः ये हमेशा ही वन्दना करने योग्य नहीं हैं ऐसा समझना।

पुनरपि इनको वन्दना न करने का स्पष्ट कारण कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की विनय से ये नित्य ही पार्श्वस्थ हैं। ये गुण

---

*ये गाथायें फलटन से प्रकाशित कृति में अधिक हैं—

पांचों पार्श्वस्थ आदि का लक्षण गाथा द्वारा कहा गया है—

वसहीसु य पडिबद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥

अर्थ—जो वसतिओं में आसक्त हैं, जो उपकरणों को बनाता रहता है, जो मुनियों के मार्ग का दूर से आश्रय करता है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं।

कोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहिं चावि परिहीणो।
संघस्स अयसकारी कुसीलसमणो त्ति णायव्वो ॥

अर्थ—जिसने क्रोधादिकों से अपने को कलुषित कर रखा है, व्रतगुण और शीलों से हीन है, संघ का अपयश करने वाला है वह कुशील श्रमण है ऐसा जानना।

वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबद्धो।
राजादी सेवंतो संसत्तो णाम सो होई ॥

अर्थ—वैद्यशास्त्र, मंत्रशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र में कुशल होने से उनमें आसक्ति रखते हैं अर्थात्

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेभ्यो नित्यकालं पार्श्वस्था दूरीभूता यतोऽत एते न वदनीयाश्छिद्रप्रेक्षिणः सर्वकालं गुणधराणां च छिद्रान्वेषिणः संयतजनस्य दोषोद्भावित्तो यतोऽतो न वंदनीया एतेऽन्ये चेति ॥५९६॥

के तर्हि वंद्यंतेऽत आह—

समणं वंदिज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमदुगंछयं धीरं ॥५९७॥

हे मेधाविन् ! चारित्राद्यनुष्ठानतत्पर ! श्रमणं निर्ग्रन्थरूपं वंदेत पूजयेत् किंविशिष्टं संयतं चारित्राद्यनुष्ठानतन्निष्ठं। पुनरपि किंविशिष्टं ? सुसमाहितं ध्यानाध्ययनतत्परं क्षमादिसहितं पंचमहाव्रतकलितं असंयमजुगुप्सकं प्राणेन्द्रियसंयमपरं धीरं धैर्योपेतं चागमप्रभावनाशीलं सर्वगुणोपेतमेवं विशिष्टं स्तूयादिति ॥५९७॥

तथा—

धारियों के छिद्र देखनेवाले हैं अतः ये वन्दनीय नहीं हैं ॥५९६॥*

आचारवृत्ति—दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की विनय से ये नित्यकाल दूर रहते हैं अतः ये वन्दनीय नहीं हैं। क्योंकि ये गुणों से युक्त संयमियों का दोष उद्भावन करते रहते हैं इसलिए इन पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वन्दना नहीं करनी चाहिए।

तो कौन वन्दनीय हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—हे बुद्धिमन् ! पाँच महाव्रतों से सहित, असंयम से रहित, धीर, एकाग्रचित्तवाले संयत ऐसे मुनि की वन्दना करो ॥५९७॥

आचारवृत्ति—हे चारित्रादि अनुष्ठान में तत्पर विद्वन् मुने ! तुम ऐसे निर्ग्रंथरूप श्रमण की वन्दना करो जो चारित्रादि के अनुष्ठान में निष्ठ हैं, ध्यान अध्ययन में तत्पर रहते हैं, क्षमादि गुणों से सहित हैं, पाँच महाव्रतों से युक्त हैं, असंयम के जुगुप्सक—प्राणी संयम [illegible]न्द्रिय संयम में परायण हैं, धैर्यगुण से सहित हैं, आगम की प्रभावना करने के स्वभाव[illegible] ह इन सर्वगुणों से सहित मुनियों की वन्दना व स्तुति करो।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

हमेशा इन्हीं के प्रयोग में लगे रहते है, एवं राजा आदिकों की सेवा करते हैं उनको संसक्त मुनि कहते हैं।

जिणवयणमयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्ठो।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥

अर्थ—जो जिन वचनों को नहीं जानते हुए चारित्ररूपी धुरा को छोड़ चुके हैं, ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट हैं, तेरह विध क्रियाओं में आलसी हैं, उनको अपसंज्ञक मुनि कहते हैं।

आयरियकुलं मुच्चा विहरइ एगागिणो य जो समणो।
जिणवयणं णिंदंतो सच्छंदो होइ मिगचारी ॥

अर्थ—आचार्य के संघ को छोड़कर जो एकाकी विहार करते हैं, जिनवचनों की निन्दा करते हैं, स्वच्छन्द प्रवृत्ति रखते हैं, वे मृगचारी मुनि कहलाते हैं।

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालमुवजुत्ता ।
एदे खु वंदणिज्जा जे गुणवादी गुणधराणं ॥५९८॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेषु नित्यकालमभीक्ष्णमुपयुक्ताः सुष्ठु निरता ये ते एते वंदनीया गुणधराणां शीलधराणां च गुणवादिनो ये च ते वंदनीया इति ॥५९८॥

संयतमप्येवं स्थितमेतेषु स्थानेषु च न वंदेतेत्याह—

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो ।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि ॥५९९॥*

व्याक्षिप्तं [1]ध्यानादिनाकुलचित्तं परावृत्तं पराङ्मुखं पृष्ठदेशतः स्थितं प्रमत्तं निद्राविकथादिरतं मा कदाचिद् वंदिज्ज नो वंदेत संयतमिति संबंधस्तथाऽऽहारं च कुर्वन्तं भोजनक्रियां कुर्वाणं नीहारं वा मूत्रपुरीषादिकं यदि करोति तदाऽपि नो कुर्वीत वंदनां साधुरिति ॥५९९॥

गाथार्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके विनयों में हमेशा लगे रहते हैं, जो गुणधारी मुनियों के गुणों का बखान करते हैं वास्तव में वे मुनि वन्दनीय हैं ॥५९८॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

संयत भी यदि इस तरह स्थित हैं तो उन स्थानों में उनकी भी वन्दना न करे, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, या प्रमाद सहित हैं उनकी भी कभी उस समय वन्दना न करे और यदि आहार कर रहे हैं अथवा नीहार कर रहे हैं उस समय भी वन्दना न करे ॥५९९॥*

आचारवृत्ति—व्याक्षिप्त—ध्यान आदि से आकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, प्रमत्त—निद्रा या विकथा आदि में लगे हुए हैं, आहार कर रहे हैं या मल-मूत्रादि विसर्जन कर रहे हैं। संयमी मुनि भी यदि इस प्रकार की स्थिति में हैं तो साधु उस समय उनकी भी वन्दना न करे।

---

1 क व्याख्यानदिना व्याकु'।

*ये गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक हैं—

वसदिविहारे काइयसण्णा भिक्खाविहारभूमीदो।
चेदिय पुरगामादो गुरुम्हि एदे समुट्ठंति ॥

अर्थ—वसतिका में अथवा आश्रम में शरीर शुद्धि करके, विहार भूमि से—आश्रम से निकलकर, चैत्यवन्दना कर, और आहार लेकर गुरु के वापस आने पर शिष्य आदर से खड़े होते हैं।

असमाणेहिं गुरुम्हि य वसभत्तउपके सिएस चेव वड्ढी।
तेसु य असमाणेसु य पुज्जो सव्वचेट्ठो सो ॥

अर्थ—गुरु—आचार्य के अभाव में उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इन श्रेष्ठ मुनि का विनय यह व्रती—शिष्य मुनि करे। और यदि उपाध्याय आदि भी न हों तो संघ में जितने दिनकर प्रवृत्ति हैं अर्थात् जो दीक्षा गुण आदि में बड़े हैं उनकी विनय-वन्दना करे।

केन विधानेन स्थितो वंद्यत इत्याशंकायामाह—

आसणे आसणत्थं च उवसंत उवट्ठिदं ।
अणु[1]विण्णय मेधावी किदियम्मं पउंजदे ॥६००॥

आसने विविक्तभूप्रदेशे आसनस्थं पर्यकादिना व्यवस्थितं अथवा आसने आसनस्थमव्याक्षिप्तमपराङ्मुखमुपशांतं स्वस्थचित्तं उपस्थितं वंदनां कुर्वीत इति स्थित अनुविज्ञाप्य वंदनां करोमीति संबोध्य मेधावी प्राज्ञोऽनेन विधानेन कृतिकर्म प्रारभेत प्रयुंजीत विदधीतेत्यर्थः ॥६००॥

कथमिद गतं सूत्रं वंदनायाः स्थानमित्याह—

आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए ।
अवराहे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु ॥६०१॥

आलोचनायाः करणे आलोचनाकालेऽथवा करणे षडावश्यककाले परिप्रश्ने प्रश्नकाले पूजने पूजाकाले च स्वाध्याये स्वाध्यायकालेऽपराधे क्रोधाद्यपराधकाले च गुरूणामाचार्योपाध्यायादीनां वंदनैतेषु स्थानेषु कर्तव्येति ॥६०१॥

भावार्थ—यह प्रकरण मुख्यतया साधु के लिए है अतः आहार करते समय श्रावक यदि उन्हें आहार देने आते हैं तो 'नमोस्तु' करके ही आहार देते हैं ।

किस विधान से स्थित हों तो वन्दना करे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो आसन पर बैठे हुए हैं, शांतचित्त हैं एवं सन्मुख मुख किए हुए हैं उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि वन्दना विधि का प्रयोग करे ॥६००॥

आचारवृत्ति—एकांत भूमिप्रदेश में जो पर्यंक आदि आसन से बैठे हुए हैं अथवा आसन—पाटे आदि पर बैठे हुए हैं, जो शांत—निराकुल चित्त हैं, अपनी तरफ मुख करके बैठे हुए हैं, स्वस्थ चित्त हैं, उनके पास आकर—'हे भगवन् ! मैं वन्दना करूँगा' ऐसा सम्बोधन करके विद्वान् मुनि इसविधि से कृतिकर्म—विधिपूर्वक वन्दना प्रारम्भ करे। इस प्रकार से वन्दना किनकी करना और कैसे करना इन दो प्रश्नों का उत्तर हो चुका है।

अब वन्दना कब करना सो बताते हैं—

गाथार्थ—आलोचना के करने में, प्रश्न पूछने में, पूजा करने में, स्वाध्याय के प्रारम्भ में और अपराध के हो जाने पर इन स्थानों में गुरुओं की वन्दना करे ॥६०१॥

आचारवृत्ति—आलोचना के समय, करण अर्थात् छह आवश्यक क्रियाओं के समय, प्रश्न करने के समय, पूजन के समय, स्वाध्याय के समय और अपने से क्रोधादि रूप किसी अपराध के हो जाने पर गुरु—आचार्य, उपाध्याय आदिकों की वन्दना करे। अर्थात् इन-इन प्रकरणों में गुरुओं की वन्दना करनी होती है। 'किस स्थान में वन्दना करना' जो यह प्रश्न था उसका उत्तर दे दिया है।

---

१ क अणुण्णवित्त मे ।

"कस्मिन्स्थाने" यदेतत्सूत्रं स्थापितं तद्व्याख्यातमिदानीं कतिवारं कृतिकर्म कर्तव्यमिति तत्सूत्रं स्थापितं तद्व्याख्यानायाह—

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥६०२॥

सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थकरस्तवपर्यन्तः कृतिकर्मेत्युच्यते। प्रतिक्रमणकाले चत्वारि क्रियाकर्माणि स्वाध्यायकाले च त्रीणि क्रियाकर्माणि भवंत्येवं पूर्वाह्णे क्रियाकर्माणि सप्त तथाऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि सप्तैवं पूर्वाह्णेऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि चतुर्दश भवतीति। कथं प्रतिक्रमणे चत्वारि क्रियाकर्माणि, आलोचनाभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथा प्रतिक्रमणभक्तिकरणे कायोत्सर्गः द्वितीयं क्रियाकर्म तथा[1] वीरभक्तिकरणे [2]कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्म तथा चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकरणे शांतिहेतोः कायोत्सर्गश्चतुर्थं क्रियाकर्म। कथं च स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि, श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथाऽऽचार्यभक्तिक्रियाकरणे द्वितीयं क्रियाकर्म तथा स्वाध्यायोपसंहारे श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्मैवं जातिमपेक्ष्य त्रीणि क्रियाकर्माणि भवंति स्वाध्याये शेषाणां वंदनादिक्रियाकर्मणामत्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः।

'अब कितनी बार कृतिकर्म करना चाहिए' जो यह प्रश्न हुआ था उसका व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन ये पूर्वाह्ण और अपराह्ण से सम्बन्धित ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं ॥६०२॥

आचारवृत्ति—सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तवपर्यंत जो क्रिया है उसे 'कृतिकर्म' कहते हैं। प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म और स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाह्ण सम्बन्धी क्रियाकर्म सात होते हैं तथा अपराह्ण सम्बन्धी क्रियाकर्म भी सात होते हैं। ऐसे चौदह क्रियाकर्म होते हैं।

प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म कैसे होते हैं?

आलोचना भक्ति (सिद्धभक्ति) करने में कायोत्सर्ग होता है वह एक क्रियाकर्म हुआ। प्रतिक्रमण भक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है वह दूसरा क्रियाकर्म हुआ। वीर भक्ति के करने में जो कायोत्सर्ग है वह तृतीय क्रियाकर्म हुआ तथा चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के करने में शान्ति के लिए जो कायोत्सर्ग है वह चतुर्थ क्रियाकर्म है। इस तरह प्रतिक्रमण में चार क्रियाकर्म हुए।

स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म कैसे हैं?

स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है वह एक कृतिकर्म है तथा आचार्य भक्ति की क्रिया करने में जो कायोत्सर्ग है वह दूसरा कृतिकर्म है। तथा स्वाध्याय की समाप्ति में श्रुतभक्ति करने में जो कायोत्सर्ग है वह तीसरा कृतिकर्म है। इस तरह जाति की अपेक्षा तीन क्रियाकर्म स्वाध्याय में होते हैं। शेष वन्दना आदि क्रियाओं का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रधान पद का ग्रहण किया है जिससे पूर्वाह्ण कहने से दिवस का और

---

१ क क्रियाकर्म। २ क तथा महावीर।

प्रधानपदोच्चारणं कृतं यतः पूर्वाह्ले दिवस इति एवमपराह्ले रात्रावपि द्रष्टव्यं भेदाभावात् अथवा पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि वंदनायां द्वे, सवितर्युदिते स्वाध्याये त्रीणि मध्याह्नवंदनायां द्वे एवं पूर्वाह्लक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति; तथाऽपराह्लवेलायां स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि प्रतिक्रमणे चत्वारि वंदनायां द्वे योगभक्तिग्रहणोपसंहारकालयोः द्वे रात्रौ प्रथमस्वाध्याये त्राणि । एवमपराह्लक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवंति प्रतिक्रमणस्वाध्यायकालयोरुपलक्षणत्वादिति, अन्यान्यपि क्रियाकर्माण्यत्रैवान्तर्भवन्ति नाव्याप-कत्वमिति संबन्धः। पूर्वाह्लसमीपकालः पूर्वाह्लः इत्युच्यतेऽपराह्लसमीपकालोऽपराह्लः इत्युच्यते तस्मान्न दोष इति ॥६०२॥

कत्यवनतिकरणमित्यादि यत्पृष्टं तदर्थमाह—

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ॥६०३॥

अपराह्ल कहने से रात्रि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पूर्वाह्ल से दिवस में और अपराह्ल से रात्रि में कोई भेद नहीं है।

अथवा पश्चिम रात्रि के प्रतिक्रमण में क्रियाकर्म चार, स्वाध्याय में तीन और वन्दना में दो, सूर्य उदय होने के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्ल वन्दना के दो इस प्रकार से पूर्वाह्ल सम्बन्धी क्रियाकर्म चौदह होते हैं। तथा अपराह्लवेला में स्वाध्याय में तीन क्रियाकर्म, प्रतिक्रमण में चार, वन्दना में दो, योगभक्ति ग्रहण और उपसंहार में दो एवं रात्रि में प्रथम स्वाध्याय के तीन इस तरह अपराह्ल सम्बन्धी क्रियाकर्म चौदह होते हैं। गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय काल उपलक्षण रूप हैं इससे अन्य भी क्रियाकर्म इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः अव्यापक दोष नहीं आता है। चूंकि पूर्वाह्ल के समीप का काल पूर्वाह्ल कहलाता है और अपराह्ल के समीप का काल अपराह्ल कहलाता है इसलिए कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—मुनि के अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग कहे गये हैं। उन्हीं का यहाँ वर्णन किया गया है। यथा दैवसिक-रात्रिक इन दो प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्ग ८, त्रिकालदेव वन्दना सम्बन्धी ६, पूर्वाह्ल, अपराह्ल, तथा पूर्वरात्रि और अपररात्रि इन चार काल में तीन बार स्वाध्याय सम्बन्धी १२, रात्रियोग ग्रहण और विसर्जन इन दो समयों में दो बार योगभक्ति सम्बन्धी २, कुल मिलाकर २८ होते हैं। अन्यत्र ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख है यथा—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे ।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः[1] ॥७५॥

अर्थ—स्वाध्याय के बारह, वन्दना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योगभक्ति के दो ऐसे अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं।

'कितनी अवनति करना ?' इत्यादि रूप जो प्रश्न हुए थे उन्हीं का उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जातरूप सदृश दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करें ॥६०३॥

---

१ अनगारधर्मामृत अ. ८, पृ० ५६७ ।

दोणदं—द्वे अवनती पंचनमस्कारादावेकावनतिर्भूमिसंस्पर्शस्तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ द्वितीयाऽवनतिः शरीरनमनं द्वे अवनती जहाजादं—यथाजातं जातरूपसदृशं क्रोधमानमायासंगादिरहितं। बारसावत्तमेव य द्वादशावर्त्ता एवं च पंचनमस्कारोच्चारणादौ मनोवचनकायानां संयमनानि शुभयोगवृत्तयस्त्रय आवर्त्तास्तथा पंचनमस्कारसमाप्तौ मनोवचनकायानां शुभवृत्तयस्त्रीण्यन्यान्यावर्त्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ मनोवचनकायाः शुभवृत्तयस्त्रीण्यपराण्यावर्त्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवसमाप्तौ शुभमनोवचनकायवृत्तयस्त्रीण्यावर्त्तनान्येवं द्वादशधा मनोवचनकायवृत्तयो द्वादशावर्त्ता भवति, अथवा चतसृषु दिक्षु चत्वारः प्रणामा एकस्मिन् भ्रमणे एवं त्रिषु भ्रमणेषु द्वादश भवंति, चदुस्सिरं चत्वारि शिरांसि पंचनमस्कारस्यादावंते च करमुकुलांकित-

---

आचारवृत्ति—दो अवनति—पंच नमस्कार के आदि में एक बार अवनति अर्थात् भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार करना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि में दूसरी बार अवनति—शरीर का नमाना अर्थात् भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करना ये दो अवनति हैं। यथाजात—जातरूप सदृश क्रोध, मान, माया और संग—परिग्रह या लोभ आदि रहित कृतिकर्म को मुनि करते हैं। द्वादश आवर्त—पंच नमस्कार के उच्चारण के आदि में मन वचन काय के संयमन रूप शुभयोगों की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त पंचनमस्कार की समाप्ति में मनवचनकाय की शुभवृत्ति होना ये तीन आवर्त, तथा चतुर्विंशति स्तव की आदि में मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त एवं चतुर्विंशति स्तव की समाप्ति में शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त—ऐसे मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति रूप बारह आवर्त होते हैं। अथवा चारों ही दिशाओं में चार प्रणाम एक भ्रमण में ऐसे ही तीन बार के भ्रमण में बारह हो जाते हैं।

चतुःशिर—पंचनमस्कार के आदि और अन्त में कर मुकुलित करके अंजलि जोड़कर माथे से लगाना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त में कर मुकुलित करके माथे से लगाना ऐसे चार शिर—शिरोनति होती हैं।

इस तरह इसे एक कृतिकर्म में दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिरोनमन होते हैं। मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक मुनि इस विधानयुक्त यथाजात कृतिकर्म का प्रयोग करें।

विशेषार्थ—एक बार के कायोत्सर्ग में यह उपर्युक्त विधि की जाती है उसी का नाम कृतिकर्म है। यह विधि देववन्दना, प्रतिक्रमण आदि सर्व क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारम्भ में की जाती है। जैसे देववन्दना में चैत्यभक्ति के प्रारम्भ में-

'अथ पौर्वाह्णिक-देववन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीचैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं'।

यह प्रतिज्ञा हुई, इसको बोलकर भूमि स्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करें। यह एक अवनति हुई। अनन्तर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके 'णमो अरिहंताणं···चत्तारिमंगलं···अड्ढाइज्जदीव···इत्यादि पाठ बोलते हुए···दुच्चरियं वोस्सरामि' तक पाठ बोले यह सामायिक-स्तव' कहलाता है। पुनः तीन आवर्त और एक शिरोनति करें। इस तरह सामायिक दण्डक के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति होने से छह आवर्त और दो शिरोनति हुई। पुनः नौ बार णमोकार मन्त्र को सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में जपकर भूमिस्पर्श-

शिरःकरणं तथा चतुर्विंशतिस्तवस्यादावंते च करमुकुलांकितशिरःकरणमेवं चत्वारि शिरांसि भवंति, त्रिशुद्धं मनोवचनकायशुद्धं क्रियाकर्म प्रयुंक्ते करोति। द्वे अवनती यस्मिन्तत् द्वयवनति क्रियाकर्म द्वादशावर्त्ताः यस्मिस्तत् द्वादशावर्त्तं, मनोवचनकायशुद्ध्या चत्वारि शिरांसि यस्मिन् तत् चतुःशिरःक्रियाकर्मैवं विशिष्टं यथाजातं क्रियाकर्म प्रयुंजीतेति ॥६०३॥

पुनरपि क्रियाकर्मप्रयुंजनविधानमाह—

तिविहं तियरणसुद्धं मयरहियं दुविहठाण पुणरुत्तं।
विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं ॥६०४॥

त्रिविधं ग्रंथार्थोभयभेदेन त्रिप्रकारं, अथवाऽवनतिद्वयमेकः प्रकारः द्वादशावर्त्तः द्वितीयः प्रकारश्चतुःशिरस्तृतीयं विधानमेवं त्रिविधं, अथवा कृतकारितानुमतिभेदेन त्रिविधं, अथवा प्रतिक्रमणस्वाध्यायवन्दनाभेदेन त्रिविधं, अथवा पंचनमस्कारध्यानचतुर्विंशतिस्तवभेदेन त्रिविधमिति। त्रिकरणशुद्धं मनोवचनकायाशुभ-

---

नात्मक नमस्कार करें। इस तरह प्रतिज्ञा के अनन्तर और कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार अवनति हो गयीं।

बाद में तीन आवर्त, एक शिरोनति करके 'थोस्सामि स्तव' पढ़कर अन्त में पुनः तीन आवर्त, एक शिरोनति करें। इस तरह चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से छह आवर्त और दो शिरोनति हो गयीं। ये सामायिक स्तव सम्बन्धी छह आवर्त, दो शिरोनति तथा चतुर्विंशतिस्तव सम्बन्धी छह आवर्त, दो शिरोनति मिलकर बारह आवर्त और चार शिरोनति हो गयीं।

इस तरह एक कायोत्सर्ग के करने में दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं।

जुड़ी हुई अंजुलि को दाहिनी तरफ से घुमाना सो आवर्त का लक्षण है यहाँ पर टीकाकार ने मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति का करना आवर्त कहा है जोकि उस क्रिया के करने में होना ही चाहिए।

इतनी क्रियारूप कृतिकर्म को करके 'जयतु भगवान् इत्यादि चैत्यभक्ति का पाठ पढ़ना चाहिए। ऐसे ही जो भी भक्ति जिस क्रिया में करना होती है तो यही विधि की जाती है।

पुनरपि क्रियाकर्म की प्रयोगविधि बताते हैं—

गाथार्थ—अवनति, आवर्त और शिरोनति ये तीन विध, मनवचनकाय से शुद्ध, मदरहित, पर्यंक और कायोत्सर्ग इन दो स्थान युक्त, पुनरुक्ति युक्त विनय से क्रमानुसार कृतिकर्म करना होता है ॥६०४॥

आचारवृत्ति—त्रिविध—ग्रंथ, अर्थ और उभय के भेद से तीन प्रकार, अथवा दो अवनति यह एक प्रकार, बारह आवर्त यह दो प्रकार, चार शिर यह तृतीय प्रकार, ऐसे तीन प्रकार, अथवा कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से तीन प्रकार, अथवा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और वन्दना के भेद से तीन प्रकार, अथवा पंचनमस्कार, ध्यान और चतुर्विंशतिस्तव अर्थात् सामा-

परिणामविमुक्तं, अथवाऽवनतिद्वयद्वादशावर्तचतुःशिरःक्रियाभिः शुद्धं । मदरहितं जात्यादिमदहीनं । द्विविध-स्थानं द्वे पर्यंककायोत्सर्गौ स्थाने यस्य तत् द्विविधं स्थानं। पुनरुक्तं क्रियां क्रियां प्रति, तदेव क्रियते इति पुनरुक्तं, विनयेन विनययुक्त्या क्रमविशुद्धं[1] क्रममनतिलंघ्यागमानुसारेण कृतिकर्म भवति कर्तव्यं । न पुनरुक्तो दोषो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणादिति ॥६०४॥

कति दोषविप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति यत्पृष्टं तदर्थमाह—

अणाठिदं च थद्धं च पविट्ठं परिपीडिदं ।
दोलाइयमंकुसियं तहा कच्छभरिंगियं ॥६०५॥

मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिआवद्धमेव य ।
भयसा चेव भयत्तं इड्ढिगारव गारवं ॥६०६॥

यिक दण्डक, कायोत्सर्ग और थोस्सामिस्तव इन भेदों से तीन प्रकार होते हैं। अर्थात् यहाँ त्रिविध शब्द से पांच तरह से तीन प्रकार को लिया है जो कि सभी ग्राह्य हैं किन्तु फिर भी यहाँ कृतिकर्म में द्वितीय प्रकार और पाँचवाँ प्रकार ही मुख्य है।

त्रिकरणशुद्ध—मनवचनकाय के अशुभ परिणाम से रहित अथवा दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिर इन क्रियाओं से शुद्ध।

मदरहित—जाति, कुल आदि आठ मदों से रहित।

द्विविधस्थान—पर्यंक आसन और खड़े होकर कायोत्सर्ग आसन ये दो प्रकार के स्थान कृतिकर्म में होते हैं।

पुनरुक्त—क्रिया-क्रिया के प्रति अर्थात् प्रत्येक क्रियाओं के प्रति वही विधि की जाती है यह पुनरुक्त होता है। यहाँ यह दोष नहीं है। प्रत्युत करना ही चाहिए।

इस तरह से त्रिविध, त्रिकरणशुद्ध, मदरहित, द्विविधस्थान युक्त और पुनरुक्त इतने विशेषणों से युक्त विनय से युक्त होकर, क्रम का उल्लंघन न करके, आगम के अनुसार कृति-कर्म करना चाहिए। पूर्वगाथा में यद्यपि कृतिकर्म का लक्षण बता दिया था फिर भी इस गाथा में विशेष रूप से कहा गया है अतः पुनरुक्त दोष नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों के संग्रह के लिए ऐसा कहा गया है। अर्थात् संक्षेप से समझने की बुद्धि वाले शिष्य पहली गाथा से स्पष्ट समझ लेंगे, किंतु विस्तार से समझने की बुद्धि वाले शिष्यों के लिए दोनों गाथाओं के द्वारा समझना सरल होगा ऐसा जानना।

कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए? ऐसा जो प्रश्न हुआ था अब उसका समाधान करते हैं—

गाथार्थ—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, बिभ्यत्त्व, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित प्रतिनीत, प्रदुष्ट,

---

[1] क °शुद्धया।

तेणिदं पडिणिदं चावि पदुट्ठं तज्जिदं तधा ।
सद्दं च हीलिदं चावि [1]तह तिवलिद[2]कुंचिदं ॥६०७॥
दिट्ठमदिट्ठं चावि य संघस्स करमोयणं ।
आलद्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं ॥६०८॥
मूगं च दद्दुरं चावि चुलुलिदमपच्छिमं ।
बत्तीसदोसविसुद्धं किदियम्मं पउंजदे ॥६०९॥

अणाठिदमनादृतं विनादरेण संभ्रममंतरेण यत् क्रियाकर्म क्रियते तदनादृतमित्युच्यते अनादृतनामा[3] दोषः । थद्धं च स्तब्धश्च विद्यादिगर्वेणोद्धतः सन् यः करोति क्रियाकर्म तस्य स्तब्धनामा[4] दोषः पविट्ठं प्रविष्टः पंचपरमेष्ठिनामत्यासन्नो भूत्वा यः करोति कृतिकर्म तस्य प्रविष्टदोषः, परिपीडिदं परिपीडितं करजानुप्रदेशैः परिपीड्य संस्पर्श्य यः करोति वंदनां तस्य परिपीडितदोषः, दोलायिदं—दोलायितं दोलामिवात्मानं चलाचलं

तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तर चूलिका, मूक, दर्दुर और चुलुलित इस प्रकार साधु इन बत्तीस दोषों से विशुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करते हैं ॥६०५-६०९॥

आचारवृत्ति—वन्दना के समय जो कृतिकर्म प्रयोग होता है उसके अर्थात् वन्दना के बत्तीस दोष होते हैं, उन्हीं का क्रम से स्पष्टीकरण करते हैं—

१. अनादृत—बिना आदर के या बिना उत्साह के जो क्रियाकर्म किया जाता है वह अनादृत कहलाता है । यह अनादृत नाम का पहला दोष है ।

२. स्तब्ध—विद्या आदि के गर्व से उद्धत—उद्दंड होकर जो क्रियाकर्म किया जाता है वह स्तब्ध दोष है ।

३. प्रविष्ट—पंचपरमेष्ठी के अति निकट होकर जो कृतिकर्म किया जाता है वह प्रविष्ट दोष है ।

४. परिपीड़ित—हाथ से घुटनों को पीडित—स्पर्श करके जो वन्दना करता है उसके परिपीड़ित दोष होता है ।

५. दोलायित—झूला के समान अपने को चलाचल करके अथवा सो कर (या नींद से झूमते हुए) जो वन्दना करता है उसके दोलायित दोष होता है ।

६. अंकुशित—अंकुश के समान हाथ के अंगूठे को ललाट पर रखकर जो वन्दना करता है उसके अंकुशित दोष होता है ।

७. कच्छपरिंगित—कछुए के समान चेष्टा करके कटिभाग से सरककर जो वन्दना करता है उसके कच्छपरिंगित दोष होता है ।

---

१ क तहा । २ क °दं-तु कुं° । ३ क नाम दोषरूपं । ४ क स्तब्धो °नाम° ।

कृत्वा शयित्वा वा यो विदधाति वन्दनां तस्य दोलायितदोषः अंकुसियं अंकुशितमंकुशमिव करांगुष्ठं ललाटदेशे कृत्वा यो वन्दनां करोति तस्यांकुशितदोषः, तथा कच्छभरिंगियं कच्छपरिंगितं चेष्टितं कटिभागेन कृत्वा यो विदधाति वन्दनां तस्य कच्छपरिंगितदोषः ॥६०५॥

तथा—

मत्स्योद्वर्तः पार्श्वद्वयेन वन्दनाकारणमथवा मत्स्यस्य इव कटिभागेनोद्वर्त्तं कृत्वा यो वंदनां विदधाति तस्य मत्स्योद्वर्त्तदोषः, मनसाचार्यादीनां दुष्टो भूत्वा यो वंदनां करोति तस्य मनोदुष्टदोषः। संक्लेशयुक्तेन मनसा यद्वा वंदनाकरणं, वेदियावद्धमेव य वेदिकाबद्ध एव च वेदिकाकारेण हस्ताभ्यां बंधो हस्तपंजरेण वामदक्षिण-स्तनप्रदेशं प्रपीड्य जानुद्वयं वा प्रबद्ध्य वंदनाकरणं वेदिकाबद्धदोषः, भयसा चेव भयेन चैव मरणादिभीतस्य भयसंत्रस्तस्य यद्वन्दनाकारणं भयदोषः भयतो बिभ्यतो गुर्वादिभ्यतो बिभ्यतो भयं प्राप्नुवतः परमार्थात्परस्य बालस्वरूपस्य वंदनाविधानं विभ्यद्दोषः, इड्ढिगारव ऋद्धिगौरवं वंदनामकुर्वतो महापरिकरश्चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघो

---

८. मत्स्योद्वर्त—दो पसवाड़ों से वन्दना करना अथवा मत्स्य के समान कटिभाग को ऊपर उठाकर (या पलटकर) जो वन्दना करता है उसके मत्स्योद्वर्त दोष होता है।

९. मनोदुष्ट—मन से आचार्य आदि के प्रति द्वेष धारण करके जो वन्दना करता है अथवा संक्लेशयुक्त मन से जो वन्दना करता है उसके मनोदुष्ट नाम का दोष होता है।

१०, वेदिकाबद्ध—वेदिका के आकार रूप से दोनों हाथों को बाँधकर हाथ पंजर से वाम-दक्षिण स्तन प्रदेश को पीडित करके या दोनों घुटनों को बाँध करके वन्दना करना वेदिका-बद्ध दोष है।

११. भय—भय से अर्थात् मरण आदि से भयभीत होकर या भय से घबड़ाकर वन्दना करना, भय दोष है।

१२. बिभ्यत्त्व—गुरु आदि से डरते हुए या परमार्थ से परे बालकस्वरूप परमार्थ के ज्ञान से शून्य अज्ञानी हुए वन्दना करना बिभ्यत् दोष है.

१३. ऋद्धिगौरव—वन्दना को करने से महापरिकर वाला चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ मेरा भक्त हो जावेगा इस अभिप्राय से जो वन्दना करता है उसके ऋद्धिगौरव दोष होता है।

१४. गौरव—अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रगट करके या रस के सुख के लिए जो वन्दना करता है उसके गौरव नाम का दोष होता है।

१५. स्तेनित—जिस प्रकार से गुरु आदि न जान सकें ऐसी चोर बुद्धि से या कोठरी में प्रवेश करके वन्दना करना या अन्य जनों से आँखें चुराकर अर्थात् नहीं देख सकें ऐसे स्थान में वन्दना करना सो स्तेनित दोष है.

१६. प्रतिनीत—गुरु आदि के प्रतिकूल होकर जो वन्दना करता है उसके प्रतिनीत दोष होता है।

१७. प्रदुष्ट—अन्य के साथ प्रद्वेष—वैर कलह आदि करके पुनः उनसे क्षमाभाव न कराकर जो क्रियाकलाप करता है उसके प्रदुष्ट दोष होता है।

भक्तो भवत्येवमभिप्रायेण यो वंदनां विदधाति तस्य ऋद्धिगौरवदोषः। गारवं गौरवं आत्मनो माहात्म्यासनादिभिराविःकृत्य रससुखहेतोर्वा यो वंदनां करोति तस्य गौरववंदनादोषः ॥६०८॥ तथा—

तेणिदं स्तेनितं चौरबुद्ध्या यथा गुर्वादयो न जानंति वन्दनादिकमपवरकाभ्यन्तरं प्रविश्य वा परेषां वंदनां चोरयित्वा यः करोति वंदनादिकं[1] तस्य स्तेनितदोषः, पडिणिदं प्रतिनीतं देवगुर्वादीनां प्रतिकूलो भूत्वा यो वंदनां विदधाति तस्य प्रतिनीतदोषः, पदुट्ठं प्रदुष्टोऽन्यैः सह प्रद्वेषं वैरं कलहादिकं विधाय क्षंतव्यमकृत्वा यः करोति क्रियाकलापं तस्य प्रदुष्टदोषः। तज्जिदं तर्जितं तथा अन्यांस्तर्जयन्नन्येषां भयमुत्पादयन्यदि वन्दनां करोति तदा तर्जितदोषस्तस्याथवाऽऽचार्यादिभिरंगुल्यादिना तर्जितः शासितो यदि 'नियमादिकं न करोषि निर्वासयामो भवन्त" मिति तर्जितो यः करोति तस्य तर्जितदोषः। सद्दं च शब्दं ब्रुवाणो यो वन्दनादिकं करोति मौनं परित्यज्य तस्य शब्ददोषोऽथवा सट्ठं चेति पाठस्तत एवं ग्राह्यं शाठ्येन मायाप्रपंचेन यो वन्दनां करोति तस्य शाठ्यदोषः। हीलिदं हीलितं वचनेनाचार्यादीनां परिभवं कृत्वा यः करोति वन्दनां तस्य हीलितदोषः, तह तिवलिदं तथा त्रिवलिते शरीरस्य त्रिषु कटिहृदयग्रीवाप्रदेशेषु भंगं कृत्वा ललाटदेशे वा त्रिवलिं कृत्वा यो विदधाति वन्दनां तस्य त्रिवलितदोषः, कुंचिदं कुंचितं कुंचितहस्ताभ्यां शिरः परामर्शं कुर्वन् यो वन्दनां विदधाति

---

१८. तर्जित—अन्यों की तर्जना करते हुए अर्थात् अन्य साधुओं को भय उत्पन्न करते हुए यदि वन्दना करता है। अथवा आचार्य आदि के द्वारा अंगुली आदि से तर्जित—शासित—दंडित होता हुआ यदि वन्दना करता है अर्थात् 'यदि तुम नियम आदि क्रियाएँ नहीं करोगे तो हम तुम्हें संघ से निकाल देंगे।' ऐसी आचार्यों की फटकार सुनकर जो वन्दना करता है उसके तर्जित दोष होता है।

१९. शब्द—मौन को छोड़कर शब्द बोलते हुए जो वन्दना आदि करता है उसके शब्द दोष होता है। अथवा 'सट्ठं च' ऐसा पाठ भेद होने से उसका ऐसा अर्थ करना कि शठता से, माया प्रपंच से जो वन्दना करता है उसके शाठ्य दोष होता है।

२०. हीलित—वचन से आचार्य आदिकों का तिरस्कार करके जो वन्दना करता है उसके हीलित दोष होता है।

२१. त्रिवलित—शरीर के कटि, हृदय और ग्रीवा इन तीन स्थानों में भंग डालकर अर्थात् कमर, हृदय और गरदन को मोड़कर वन्दना करना या ललाट में त्रिवली—तीन सिकुड़न डालकर वन्दना करना सो त्रिवलित दोष है।

२२. कुंचित—संकुचित किए हाथों से शिर का स्पर्श करते हुए जो वन्दना करता है या घुटनों के मध्य शिर को रखकर संकुचित होकर जो वन्दना करता है उसके संकुचित दोष होता है।

२३. दृष्ट—आचार्यादि यदि देख रहे हैं तो सम्यक् विधान से वन्दना आदि करता है अन्यथा स्वेच्छानुसार करता है अथवा दिशाओं का अवलोकन करते हुए यदि वन्दना करता है तो उसके दृष्ट दोष होता है।

---

१ क °दि क्रिया त°।

जानुमध्ययोर्वा शिरः कृत्वा संकुचितो भूत्वा यो वन्दनां करोति तस्य संकुचितदोषः ॥६०७॥

दिट्ठं दृष्टं आचार्यादिभिर्दृष्टः सन् सम्यग्विधानेन वन्दनादिकं करोत्यन्यथा स्वेच्छयाऽथवा दिगवलोकनं कुर्वन् वन्दनादिकं यदि विदधाति तदा तस्य दृष्टो दोषः। अदिट्ठं अदृष्टं आचार्यादीनां दर्शनं पृथक् त्यक्त्वा भूप्रदेशं शरीरं चाप्रतिलेख्यातद्गतमनाः पृष्ठदेशतो वा भूत्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्यादृष्टदोषः, अपि च संघस्स करमोयणं संघस्य करमोचनं संघस्य मायाकरो वृष्टिर्दातव्योऽन्यथा न ममोपरि संघः शोभनः स्यादिति ज्ञात्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्य संघकरमोचनदोषः। आलद्धमणालद्धं उपकरणादिकं लब्ध्वा यो वन्दनां करोति तस्य लब्धदोषः। अणालद्धं—अनालब्धं उपकरणादिकं लप्स्येऽहमिति बुद्ध्या यः करोति वन्दनादिकं तस्यानालब्धदोषः। हीणं हीनं ग्रंथार्थकालप्रमाणरहितां वन्दनां यः करोति तस्य हीनदोषः। उत्तरचूलियं उत्तरचूलिकां वन्दनां स्तोकेन निर्वर्त्य वन्दनायाश्चूलिकाभूतस्यालोचनादिकस्य महता कालेन निर्वर्तनं कृत्वा यो वन्दनां विदधाति तस्योत्तरचूलिकादोषः ॥६०८॥

---

२४. अदृष्ट—आचार्य आदिकों को पृथक्-पृथक् न देखकर भूमिप्रदेश और शरीर का पिच्छी से परिमार्जन न करके, वन्दना की क्रिया और पाठ में उपयोग न लगाते हुए अथवा गुरु आदि के पृष्ठ देश में—उनके पीठ पीछे होकर जो वन्दना आदि करता है उसके अदृष्ट दोष होता है।

२५. संघकरमोचन—संघ को मायाकर—वृष्टि अर्थात् कर भाग देना चाहिए अन्यथा मेरे प्रति संघ शुभ नहीं रहेगा अर्थात् मुझसे संघ रुष्ट हो जावेगा ऐसा समझ कर जो वन्दना आदि करता है उसके संघकर-मोचन दोष होता है।

२६. आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त करके जो वन्दना करता है उसके लब्ध दोष होता है।

२७. अनालब्ध—'उपकरणादि मुझे मिलें' ऐसी बुद्धि से यदि वन्दना आदि करता है तो उसके अनालब्ध दोष होता है।

२८. हीन—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित जो वन्दना करता है उसके हीन दोष होता है। अर्थात् वन्दना सम्बन्धी पाठ के शब्द जितने हैं उतने पढ़ना चाहिए, उनका अर्थ ठीक समझते रहना चाहिए और जितने काल में उनको पढ़ना है उतने काल में ही पढ़ना चाहिए। इससे अतिरिक्त जो इन प्रमाणों को कम कर देता है, जल्दी-जल्दी पाठ पढ़ लेता है इत्यादि उसके हीन दोष होता है।

२९. उत्तरचूलिका—वन्दना का पाठ थोड़े ही काल में पढ़कर वन्दना की चूलिका भूत आलोचना आदि को बहुत काल तक पढ़ते हुए जो वन्दना करता है उसके उत्तरचूलिका दोष होता है। अर्थात् 'जयतु भगवान् हेमाम्भोज' इत्यादि भक्तिपाठ जल्दी पढ़कर 'इच्छामि भंते!चेइय भक्ति' इत्यादि चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को बहुत मंदगति से पढ़ना आदि उत्तरचूलिका दोष है।

तथा—

मूगं च मूकश्च मूक इव मुखमध्ये यः करोति वन्दनामथवा वन्दनां कुर्वन् हुंकारांगुल्यादिभिः संज्ञां च यः करोति तस्य मूकदोषः, दद्दुरं दर्दुरं आत्मीयशब्देनान्येषां शब्दानभिभूय महाकलकलं बृहद्गलेन कृत्वा यो वन्दना करोति तस्य दर्दुरदोषः, अविचुलुलिदमच्छिन्नं अपि चुलुलितमपश्चिमं एकस्मिन्प्रदेशे स्थित्वा करमुकुलं संभ्राम्य सर्वेषां यो वन्दनां करोत्यथवा पंचमादिस्वरेण यो वन्दनां करोति तस्य चुलुलितदोषो भवत्यपश्चिमः। एतैर्द्वात्रिंशद्दोषैः परिशुद्धं विमुक्तं यदि कृतिकर्म प्रयुंक्ते करोति साधुस्ततो विपुलनिर्जराभागी भवति ॥६०९॥

यदि पुनरेवं करोति तदा—

किदियम्मंपि करंतो ण होदि किदयम्मणिज्जराभागी ।
बत्तीसाणण्णदरं साहू ठाणं विराहंतो ॥६१०॥

कृतिकर्म कुर्वन्नपि न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी कृतिकर्मणा या कर्मनिर्जरा तस्याः स्वामी न स्यात्, यदि द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्यतरं स्थानं दोषं [1]निवारयन्नाचरन् क्रियाकर्म कुर्यात्साधुरिति। अथवा द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्यतरेण दोषेण स्थानं कायोत्सर्गादिवन्दनां विराधयन्कुर्वीतेति ॥६१०॥

---

३०. मूक—गूंगे के समान मुख में ही जो वन्दना का पाठ बोलता है अथवा वन्दना करने में 'हुंकार' आदि शब्द करते हुए या अंगुली आदि से इशारा करते हुए जो वन्दना करता है उसके मूक दोष होता है।

३१. दर्दुर—अपने शब्दों से दूसरों के शब्दों को दबाकर महाकलकल ध्वनि करते हुए ऊँचे स्वर से जो वन्दना करता है उसके दर्दुर दोष होता है।

३२. चुलुलित—एक प्रदेश में खड़े होकर मुकुलित अंगुलि को घुमाकर जो सभी की वन्दना कर लेता है या जो पंचम आदि स्वर से वन्दना पाठ करता है उसके चुलुलित दोष होता है।

यदि साधु इन बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म का प्रयोग करता है—वन्दना करता है तो वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है ऐसा समझना।

यदि पुनः ऐसा करता है तो लाभ है उसे ही ग्रन्थकार स्वयं बताते हैं—

गाथार्थ—इन बत्तीस स्थानों में से एक भी स्थान की विराधना करता हुआ साधु कृतिकर्म को करते हुए भी कृति कर्म से होनेवाली निर्जरा को प्राप्त नहीं होता है ॥६१०॥

आचारवृत्ति—इन बत्तीस दोषों में से किसी एक भी दोष को करते हुए यदि साधु क्रियाकर्म—वन्दना करता है तो कृति कर्म को करते हुए भी उस कृति कर्म के द्वारा होनेवाली निर्जरा का स्वामी नहीं हो सकता है। अथवा इन बत्तीस दोषों में से किसी एक दोष के द्वारा स्थान अर्थात् कायोत्सर्ग आदि क्रियारूप वन्दना की विराधना कर देता है।

---

१ क 'दोषं विराधयन्'।

कथं तर्हि वन्दना कुर्वीत साधुरित्याह—

हत्थंतरेणबाधे संफासपमज्जणं पउज्जंतो ।
[1]जाचेंतो वंदणयं इच्छाकारं कुणइ भिक्खू ॥६११॥

हस्तान्तरेण हस्तमात्रान्तरेण यस्य वन्दना क्रियते यश्च करोति तयोरन्तरं हस्तमात्रं भवेत् तस्मिन् हस्तान्तरे स्थित्वा अणाबाधेऽनाबाधे बाधामन्तरेण संफासपमज्जणं स्वस्य देहस्य स्पर्शः संस्पर्शनं कटिगुह्यादिके च तस्य प्रमार्जनं प्रतिलेखनं शुद्धि पउंजंतो प्रयुंजानः प्रकर्षेण कुर्वन् जाचेंतो वन्दणयं वन्दनां च याचमानो 'भवद्भयो वन्दनां विदधामि' इति याञ्चां कुर्वन्निच्छाकारं वन्दनाप्रणामं करोति भिक्षुः साधुरेवं द्वात्रिंशद्दोषपरिहारेण तावत् द्वात्रिंशद् गुणा भवंति तस्माद्यत्नपरेण हास्यभयासादनारागद्वेषगौरवालस्यमदलोभस्तेनभावप्रातिकूल्यबालत्वोपरोधहीनाधिकभावशरीरपरामर्शवचनभृकुटिकरणखात्करणादिवर्जनपरेण देवतादिगतमानसेन विवर्जितकार्यान्तरेण विशुद्धमनोवचनकाययोगेन मौनपरेण वन्दना करणीया वन्दनाकारकेणेति ॥६११॥

तो फिर साधु किस प्रकार वन्दना करे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—बाधा रहित एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि का स्पर्श व प्रमार्जन करता हुआ मुनि वन्दना की याचना करके वन्दना को करता है ॥६११॥

आचारवृत्ति—जिसकी वन्दना की है और जो वन्दना करता है उन दोनों में एक हाथ का अन्तर रहना चाहिए अर्थात् गुरु या देव आदि की वन्दना के समय उनसे एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर उनको बाधा न करते हुए वन्दना करे। अपने शरीर का स्पर्श और प्रमार्जन अर्थात् कटि, गुह्य आदि प्रदेशों का पिच्छिका से स्पर्श व प्रमार्जन करके शरीर की शुद्धि को करता हुआ प्रकर्ष रीति से वन्दना की याचना करे। अर्थात् 'हे भगवन् ! मैं आपकी वन्दना करूँगा' इस प्रकार याचना—प्रार्थना करके साधु इच्छाकार—वन्दना और प्रणाम को करता है।

तथा बत्तीस दोषों के परिहार से बत्तीस ही गुण होते हैं। उन गुणों सहित, यत्न में तत्पर हुआ मुनि वन्दना करे। हास्य, भय, आसादना, राग, द्वेष, गौरव, आलस्य, मद, लोभ, चौर्य भाव, प्रतिकूलता, बालभाव, उपरोध—दूसरों को रोकना, हीन या अधिक पाठ बोलना, शरीर का स्पर्श करना, वचन बोलना, भृकुटी चढ़ाना, खात्कार—खाँसना, खखारना इत्यादि दोषों को छोड़कर वन्दना करे। जिनकी वन्दना कर रहे है ऐसे देव या गुरु आदि में अपने मन को लगाकर अर्थात् उनके गुणों में अपने उपयोग को लगाते हुए, अन्य कार्यों को छोड़कर वन्दना करनेवाले को विशुद्ध मन-वचन-काय के द्वारा मौनपूर्वक वन्दना करना चाहिए।

भावार्थ—साधु, गुरु या देव की वन्दना करने के लिए कम से कम उनसे एक हाथ दूर स्थित होवे। पिच्छिका से अपने शरीर का एवं भूमि का परिमार्जन करे। पुनः प्रार्थना करे कि 'हे भगवन् ! मैं आपकी वन्दना करूँगा' यदि गुरु की वन्दना की जा रही है तो उनकी स्वीकृति पाकर भय आसादना आदि दोषों को छोड़कर उनमें अपना उपयोग स्थिर कर विनयपूर्वक विधिवत् उनको वन्दना करे। उपर्युक्त बत्तीस दोषों से रहित होकर क्रिया करे यह अभिप्राय है।

---

१. जाएंतो इति पाठान्तरं।

यस्य क्रियते वन्दना तेन कथं प्रत्येपितव्येत्याह—

तेण च पडिच्छिदव्वं गारवरहिएण सुद्धभावण ।
किदियम्मकारकस्सवि संवेगं संजणंतेण ॥६१२॥

तेण च तेनाचार्येण पडिच्छिदव्वं प्रत्येपितव्यमभ्युगन्तव्यं गौरवरहितेन ऋद्धिवीर्यादिगर्वरहितेन कृतिकर्मकारकस्य वन्दनायाः कर्तुरपि संवेगधर्मे धर्मफले च हर्षं संजनयता सम्यग्विधानेन कारयता शुद्धपरिणामवता वन्दनाऽभ्युपगंतव्येति ॥६१२॥

वन्दनानिर्युक्ति संक्षेपयन् प्रतिक्रमणे निर्युक्ति सूचयन्नाह—

वंदणणिज्जुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण ।
पडिकमणणिजुत्ती पुण एतो उड्ढं पवक्खामि ॥६१३॥

वन्दनानिर्युक्तिरेषा पुनः कथिता मया संक्षेपेण प्रतिक्रमणनिर्युक्ति पुनरित ऊर्ध्वं वक्ष्य इति ॥६१३॥

तां निक्षेपस्वरूपेणाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६१४॥

जिनकी वन्दना की जाती है वे वन्दना को किस प्रकार से स्वीकार करें? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करनेवाले को हर्ष उत्पन्न करते हुए वे गुरु गर्वरहित शुद्ध भाव से वन्दना स्वीकार करें ॥६१२॥

आचारवृत्ति—शुद्ध परिणामवाले वे आचार्य ऋद्धि और वीर्य आदि के गर्व से रहित होकर वन्दना करनेवाले मुनि के धर्म और धर्म के फल में हर्ष उत्पन्न करते हुए उसके द्वारा की गई वन्दना को स्वीकार करें।

भावार्थ—जब शिष्य मुनि आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुओं की या अपने से बड़े मुनियों की वन्दना करते हैं तो बदले में वे आचार्य आदि भी 'नमोस्तु' शब्द बोलकर प्रतिवन्दना करते हैं। यही वन्दना की स्वीकृति होती है।

वन्दना-निर्युक्ति को संक्षिप्त करके अब आचार्य प्रतिक्रमण-निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह वन्दना-निर्युक्ति कही है अब इसके बाद प्रतिक्रमण निर्युक्ति को कहूँगा ॥६१३॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उस प्रतिक्रमण निर्युक्ति को निक्षेप स्वरूप से कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, प्रतिक्रमण में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६१४॥

नामप्रतिक्रमणं पापहेतु[1]नामातीचारान्निवर्तनं प्रतिक्रमणदंडकगतशब्दोच्चारणं वा, सरागस्थापनाभ्यः परिणामनिवर्तनं स्थापनाप्रतिक्रमणं । सावद्यद्रव्यसेवायाः परिणामस्य निवर्तनं द्रव्यप्रतिक्रमणं । क्षेत्राश्रितातिचारान्निवर्तनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं, कालमाश्रितातीचारान्निवृत्तिः कालप्रतिक्रमणं, रागद्वेषाद्याश्रितातीचारान्निवर्तनं भावप्रतिक्रमणमेव नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारनिवृत्तिविषयः प्रतिक्रमणे निक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति । अथवा नाम प्रतिक्रमणं नाममात्रं, प्रतिक्रमणपरिणतस्य प्रतिबिंबस्थापना स्थापनाप्रतिक्रमणं, प्रतिक्रमणप्राभृतज्ञोऽप्यनुपयुक्त आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं, तच्छरीरादिकं नोआगमद्रव्यप्रतिक्रमणमित्येवमादि पूर्ववद् द्रष्टव्यमिति ॥६१४॥

प्रतिक्रमणभेदं प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं ।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥६१५॥

प्रतिक्रमणं कृतकारितानुमतातिचारान्निवर्तनं, दिवसे भवं दैवसिकं दिवसमध्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः शोधनं, तथा रात्रौ भवं रात्रिकं रात्रि-

---

आचारवृत्ति—पाप हेतुक नामों से हुए अतिचारों से दूर होना या प्रतिक्रमण के दण्डकरूप शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है। सराग स्थापना से अर्थात् सराग मूर्तियों से या अन्य आकारों से परिणाम का हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है। सावद्य—पाप कारक द्रव्यों के सेवन से परिणाम को निवृत्त करना द्रव्य प्रतिक्रमण है। क्षेत्र के आश्रित हुए अतिचारों से दूर होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है। काल के आश्रय से हुए अतिचारों से दूर होना काल प्रतिक्रमण है। इस तरह प्रतिक्रमण में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए।

अथवा नाममात्र को नाम प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रतिक्रमण में परिणत हुए के प्रतिबिम्ब की स्थापना करना स्थापना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण शास्त्र का जानने वाला तो है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है तो वह आगम द्रव्य प्रतिक्रमण है, उसके शरीर आदि नो-आगमद्रव्य प्रतिक्रमण हैं। इत्यादि रूप से अन्य और भेद पूर्ववत् समझने चाहिए।

प्रतिक्रमण के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ इन सात भेद रूप जानना चाहिए ॥६१५॥

आचारवृत्ति—कृत, कारित और अनुमोदन से हुए अतीचार को दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके सात भेद हैं। उन्हें ही क्रम से दिखाते हैं—

दैवसिक—दिवस में हुए दोषों का प्रतिक्रमण दैवसिक है। दिवस के मध्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से कृत, कारित और अनुमोदना रूप जो अतिचार हुए हैं उनका मनवचनकाय से शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक—रात्रि सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण रात्रिक है अर्थात् रात्रि विषयक

---

१ क 'तु अतीचारनाम्नो निव' ।

विपयस्य षड्विधातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य त्रिविधेन निरसनं रात्रिकं, ईर्यापथे भवमैर्यापथिकं षड्जीव-निकायविषयातीचारस्य निरसनं ज्ञातव्यं, पक्षे भवं पाक्षिकं पंचदशाहोरात्रविषयस्य षड्विधनामादिकारणस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः परिशोधनं, चतुर्मासेषु भवं चातुर्मासिकं, संवत्सरे भवं सांवत्सरिकं। चतुर्मासमध्ये संवत्सरमध्ये नामादिभेदेन षड्विधस्यातीचारस्य बहुभेदभिन्नस्य वा, कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः निरसनं, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं यावज्जीवं चतुर्विधाहारस्य परित्यागः सर्वातिचारप्रतिक्रमण-स्यात्रान्तर्भावो द्रष्टव्यः, [1]एवं प्रतिक्रमणसप्तकं द्रष्टव्यम् ॥६१५॥

अतीचार जोकि कृत, कारित व अनुमोदना से किए गये हैं एवं नाम स्थापना आदि छह निमित्तों से हुए हैं, उनका मन-वचन-काय से निरसन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

ऐर्यापथिक—ईर्यापथ सम्बन्धी प्रतिक्रमण, अर्थात् ईर्यापथ से चलते हुए मार्ग में छह जीव निकाय के विषय में जो अतीचार हुआ है उसको दूर करना ऐर्यापथिक है।

पाक्षिक—पक्ष सम्बन्धी प्रतिक्रमण, पन्द्रह अहोरात्र विषयक जो दोष हुए हैं, जोकि कृत, कारित और अनुमोदना से एवं नाम आदि छह के आश्रय से हुए हैं उनका मनवचनकाय से शोधन करना सो पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक—चार महीने सम्बन्धी प्रतिक्रमण।

सांवत्सरिक—एक वर्ष सम्बन्धी प्रतिक्रमण।

चातुर्मास के मध्य और संवत्सर के मध्य हुए अतीचार जोकि नाम, स्थापना आदि छह कारणों से अथवा बहुत से भेदों से सहित, और कृत, कारित और अनुमोदना से होते हैं उनको मनवचनकाय से दूर करना सो चातुर्मासिक और वार्षिक कहलाते हैं।

उत्तमार्थ—उत्तम-अर्थ सल्लेखना से सम्बन्धित प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है इसमें यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् मरणान्त समय जो सल्लेखना ली जाती है उसी में चार प्रकार के आहार का त्याग करके दीक्षित जीवन के सर्व-दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

सर्वातिचार प्रतिक्रमण का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। इस तरह प्रतिक्रमण के सात भेद जानना चाहिए।

भावार्थ—दिवस के अन्त में, सायंकाल में, दैवसिक प्रतिक्रमण होता है। रात्रि के अन्त में रात्रिक प्रतिक्रमण होता है। ईर्यापथ से चलकर आने के बाद ऐर्यापथिक होता है। प्रत्येक चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पौर्णमासी को पाक्षिक प्रतिक्रमण होता है। कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को तथा फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण होता है। आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण होता है। तथा सल्लेखनाकाल में औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण होता है।

---

१ क एवं सप्त प्रकारं प्रतिक्रमणं द्रष्टव्यम्।

पुनरप्यन्येन प्रकारेण भेदं प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमओ पडिकमणं पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि[1] तिण्हंपि ॥६१६॥

प्रतिक्रामति कृतदोषाद्विरमतीति प्रतिक्रामकः, अथवा दोषनिर्हरणे प्रवर्तते अविघ्नेन प्रतिक्रमत इति प्रतिक्रामकः पंचमहाव्रतादिश्रवणधारणदोषनिर्हरणतत्परः, प्रतिक्रमणं पंचमहाव्रताद्यतीचारविरतिर्व्रतशुद्धिनिमित्ताक्षरमाला वा, प्रतिक्रमितव्यं द्रव्यं च परित्याज्यं मिथ्यात्वाद्यतीचाररूपं भवति ज्ञातव्यं, एतेषां त्रयाणां प्रत्येकमेकमेकं प्रति प्ररूपणाप्रतिपादनं भवति ॥६१६॥

तथैव प्रतिपादयन्नाह—

जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
पडिगच्छदि जेण [2]जह्मि तं तस्स भवे पडिक्कमणं ॥६१७॥

जीवस्तु प्रतिक्रामकः दोषद्वारागतकर्मविक्षपणशीलो जीवश्चेतनालक्षणः। क्व प्रतिक्रामकः? द्रव्यक्षेत्रकालभावविषये, द्रव्यमाहारपुस्तकभेषजोपकरणादिकं, क्षेत्रं शयनासनस्थानचंक्रमणादिविषयो भूभागोऽङ्गुल-

---

पुनरपि अन्य प्रकार से भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु इनको जानना चाहिए। इन तीनों की भी अलग-अलग प्ररूपणा करते हैं ॥६१६॥

आचारवृत्ति—जो प्रतिक्रमण करता है अर्थात् किए हुए दोषों से विरक्त होता है—उनसे अपने को हटाता है वह प्रतिक्रामक है। अथवा जो दोषों को दूर करने में प्रवृत्त होता है, निर्विघ्नरूप से प्रतिक्रमण करता है वह प्रतिक्रामक है, वह साधु पांच महाव्रत आदि को श्रवण करने, उनको धारण करने और उनके दोषों को दूर करने में तत्पर रहता है।

पांच महाव्रत आदि में हुए अतीचारों से विरति अथवा व्रतशुद्धि निमित्त अक्षरों का समूह प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, असंयम आदि अतीचाररूप द्रव्य त्याग करने योग्य हैं इन्हें ही प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। आगे इन तीनों का पृथक्-पृथक् निरूपण करते हैं।

उन्हीं का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जीव प्रतिक्रामक होता है। जिसके द्वारा, जिसमें वापस आता है वह उसका प्रतिक्रमण है ॥६१७॥

आचारवृत्ति—जीव चेतना लक्षणवाला है। जो दोषों द्वारा आए हुए कर्म को दूर करने के स्वभाव वाला है वह प्रतिक्रामक है।

किस विषय में प्रतिक्रमण करनेवाला होता है?

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में प्रतिक्रमण करनेवाला होता है। आहार,

---

१ क होदि कायव्वा। २ क जंहि।

वितस्तिहस्तधनुःक्रोशयोजनादिप्रमितः, कालः घटिकामुहूर्तसमयलवदिवसरात्रिपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरसंध्या पर्वादिः, भावः परिणामरागद्वेषादिमदादिलक्षणः, एतद्विषयादतिचारान्निवर्त्तनपरो जीवः प्रतिक्रामक इत्युच्य ज्ञेयाकारबहिर्व्यावृत्तरूपः, अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयादतिचारात्प्रतिगच्छति निवर्त्तते स प्रतिक्रामकोऽथव येन परिणामेनाक्षरकदंबकेन वा प्रतिगच्छति पुनर्याति यस्मिन् व्रतशुद्धिपूर्वकस्वरूपे यस्मिन् वा जीवे पूर्वव्रत शुद्धिपरिणतेऽतीचारं परिभूतं स परिणामोऽक्षरसमूहो' वा तस्य व्रतस्य तस्य वा व्रतशुद्धिपरिणतस्य जीवस भवेत्प्रतिक्रमणं व्रतविषयमतीचारं येन परिणामेन प्रक्षाल्य प्रतिगच्छति पूर्वव्रतशुद्धौ स परिणामस्तस्य जीवस भवेत्प्रतिक्रमणमिति । मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं द्रव्यक्षेत्रकालभावमाश्रित्य प्रतिक्रमण मिति वा ॥६१७॥

प्रतिक्रमितव्यं तस्य स्वरूपमाह—

पुस्तक, औषध, और उपकरण आदि द्रव्य हैं। सोने, बैठने, खड़े होने, गमन करने आदि विषयक भूमिप्रदेश क्षेत्र हैं जोकि अंगुल, वितस्ति, हाथ, कोश, योजन आदि से परिमित होता है। घड़ी, मुहूर्त, समय, लव, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, संध्या और पर्वादि दिवस ये सब काल हैं। राग, द्वेष, मद आदि लक्षण परिणाम भाव हैं। इन द्रव्य आदि विषयक अति-चार से निवृत्त होनेवाला जीव प्रतिक्रामक कहलाता है। अर्थात् ज्ञेयाकार से परिणत होकर बाह्य द्रव्य क्षेत्रादि से पृथक् रहनेवाला—अतिचारों से हटनेवाला आत्मा प्रतिक्रामक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनिमित्तक अतिचारों से जो वापस आता है वह प्रतिक्रामक है।

जिन परिणामों से या जिन अक्षर समूहों से यह जीव जिस व्रतशुद्धिपूर्वक अपने स्वरूप में वापस आ जाता है, अथवा पूर्व के व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव में वापस आ जाता है, अतीचार को तिरस्कृत करने रूप वह परिणाम अथवा वह अक्षर समूह उस व्रत के अथवा व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव का प्रतिक्रमण है। अर्थात् व्रत शुद्धि के परिणाम या प्रतिक्रमण पाठ के दण्डक प्रतिक्रमण कहलाते हैं।

यह जीव जिन परिणामों से व्रतों में हुए अतीचारों का प्रक्षालन करके पुनः पूर्व के व्रत की शुद्धि में वापस आ जाता है अर्थात् उसके व्रत पूर्ववत् निर्दोष हो जाते हैं वह परिणाम उस जीव का प्रतिक्रमण है। अथवा 'मिथ्या मे दुष्कृतं' इस शब्द से अभिव्यक्त है प्रतिक्रिया जिसकी ऐसा वह प्रतिक्रमण होता है, जोकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से होता है।

भावार्थ—टीकाकार ने भाव प्रतिक्रमण और द्रव्य प्रतिक्रमण इन दोनों की अपेक्षा से प्रतिक्रमण का अर्थ किया है। जिन परिणामों से दोषों का शोधन होता है वे परिणाम भाव प्रतिक्रमण हैं एवं जिन अक्षरों का उच्चारण अर्थात् 'मिच्छा मे दुक्कडं' इत्यादि दण्डकों का उच्चारण करना द्रव्यप्रतिक्रमण है। ये शब्द भी दोषों को दूर करने में हेतु होते हैं। इस गाथा में प्रतिक्रामक और प्रतिक्रमण इन दो का लक्षण किया है।

अब प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप कहते हैं—

पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं तिविहं।
खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालह्मि ॥६१८॥

प्रतिक्रमितव्यं परित्यजनीयं। किं तत् द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रिविधं। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तं द्विपदचतुष्पदादि अचित्तं सुवर्णरूप्यलोहादि मिश्रं वस्त्रादियुक्तद्विपदादि। तथा क्षेत्रं गृहपत्तनकूपवाप्यादिकं प्रतिक्रमितव्यं तथा कालो दिवसमुहूर्तरात्रिवर्षाकालादिः प्रतिक्रमितव्यः। येन द्रव्येण क्षेत्रेण कालेन वा पापागमो भवति तत् द्रव्यं तत् क्षेत्रं स काल परिहरणीयः द्रव्यक्षेत्रकालाश्रितदोषाभाव इत्यर्थः। काले च प्रतिक्रमितव्यं यस्मिन् काले च प्रतिक्रमणमुक्तं तस्मिन् काले कर्तव्यमिति, अथवा कालेऽष्टमीचतुर्दशीनंदीश्वरादिके द्रव्यं क्षेत्रं प्रतिक्रमितव्यं कालश्च दिवसादिः प्रतिक्रमितव्य उपवासादिरूपेण, अथवा 'भावो हि' पाठान्तरं भावश्च प्रतिक्रमितव्य इति। अप्रासुकद्रव्यक्षेत्रकालभावास्त्याज्यास्तद्द्वारेणातीचाराश्च परिहरणीया इति ॥६१८॥

भावप्रतिक्रमणमाह—

मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु ॥६१९॥

गाथार्थ—सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार का द्रव्य, गृह आदि क्षेत्र, दिवस आदि समय रूप काल प्रतिक्रमण करने योग्य हैं ॥६१८॥

आचारवृत्ति—त्याग करने योग्य को प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। वह क्या है ? सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का जो द्रव्य है, वह त्याग करने योग्य है। द्विपद—दास-दासी आदि और चतुष्पद—गाय, भैंस आदि ये सचेतन पदार्थ सचित्त हैं। सोना, चांदी, लोहा आदि पदार्थ अचित्त हैं, और वस्त्रादि युक्त मनुष्य, नौकर-चाकर आदि मिश्र हैं। ये तीनों प्रकार के द्रव्य त्याग करने योग्य हैं।

गृह, पत्तन, कूप, बावड़ी आदि क्षेत्र त्यागने योग्य हैं।

मुहूर्त, दिन, रात, वर्षाकाल आदि काल त्यागने योग्य हैं।

अर्थात् जिन द्रव्यों से, जिन क्षेत्रों और जिन कालों से पाप का आगमन होता है वे द्रव्य, क्षेत्र, काल छोड़ने योग्य हैं। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र और काल के आश्रित होनेवाले दोषों का निराकरण करना चाहिए।

काल में प्रतिक्रमण का अभिप्राय यह है कि जिसकाल में प्रतिक्रमण करना आगम में कहा गया है उस काल में करना। अथवा काल में—अष्टमी, चतुर्दशी, नंदीश्वर आदि काल में द्रव्य क्षेत्र का प्रतिक्रमण करना और दिवस आदि काल का भी उपवास आदि रूप से प्रतिक्रमण करना। अथवा 'भावो हि' ऐसा पाठांतर भी है। उसके आधार से 'भाव का प्रतिक्रमण करना चाहिए' ऐसा अर्थ होता है। तात्पर्य यह हुआ कि अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव त्याग करने योग्य हैं और उनके द्वारा होनेवाले अतिचार भी त्याग करने योग्य हैं।

भावप्रतिक्रमण का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण तथा असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण, यह भावप्रतिक्रमण है ॥६१९॥

मिथ्यात्वस्य प्रतिक्रमणं त्यागस्तद्विषयदोषनिर्हरणं तथैवासंयमस्य प्रतिक्रमणं तद्विषयातीचारपरिहारः। कषायाणां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणं तद्विषयातीचारशुद्धिकरणं। योगानामप्रशस्तानां प्रतिक्रमणं मनोवाक्कायविषयव्रतातीचारनिवर्त्तनमित्येवं भावप्रतिक्रमणमिति ॥६१६॥

आलोचनापूर्वकं यतोऽत आलोचनास्वरूपमाह—

काऊण य किदियम्मं पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो।
आलोचिज्ज सुविहिदो गारव माणं च मोत्तूण ॥६२०॥

कृतिकर्म विनयं सिद्धभक्तिश्रुतभक्त्यादिकं कृत्वा पूर्वापरशरीरभागं स्वोपवेशनस्थानं च प्रतिलेख्य सम्मार्ज्य पिच्छिकया चक्षुषा चाथवा चारित्रातीचारान् सम्यङ्निरूप्यांजलिकरणं शुद्धिर्ललाटपट्टविन्यस्तकरकुड्मलक्रियाशुद्ध एवमालोचयेत् गुरवेऽपराधान्निवेदयेत् सुविहितः सुचरितः स्वच्छवृत्तिः ऋद्धिगौरवं रसगौरवं मानं च जात्यादिमदं मुक्त्वा परित्यज्यैवं गुरवे स्वव्रतातीचारान्निवेदयेदिति ॥६२०॥

आलोचनाप्रकारमाह—

आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियापधं[1] च बोद्धव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥६२१॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण—त्याग करना अर्थात् उस विषयक दोष को दूर करना, उसी प्रकार से असंयम का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचार का परिहार करना, क्रोधादि कषायों का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचारों को शुद्ध करना, अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण अर्थात् मनवचनकाय से हुए अतीचारों से निवृत्त होना, यह सब भावप्रतिक्रमण है।

भावार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मबन्ध के कारण हैं। इनसे हुए दोषों को दूर करना ही भावप्रतिक्रमण है।

आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण होता है अतः आलोचना का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करके, तथा पिच्छी से परिमार्जन कर, अंजली जोड़कर, शुद्ध हुआ गौरव और मान को छोड़कर समाधान चित्त हुआ साधु आलोचना करे ॥६२०॥

आचारवृत्ति—कृतिकर्म—विनय, सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति आदि करके अपने शरीर के पूर्व-अपर भाग को और अपने बैठने के स्थान को चक्षु से देखकर और पिच्छी से परिमार्जित करके अथवा चारित्र के अतिचारों को सम्यक् प्रकार से निरूपण करके अंजलि जोड़े—ललाट पट्ट पर अंजलि जोड़कर रखे, पुनः ऋद्धि गौरव, रस गौरव और जाति आदि मद को छोड़कर स्वच्छवृत्ति होता हुआ गुरु के पास अपने व्रतों के अतिचारों को निवेदित करे। इसी का नाम आलोचना है।

आलोचना के प्रकार कहते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और

---

१ क °यावहं च।

आलोचनं गुरवेऽपराधनिवेदनं अर्हद्भट्टारकस्याग्रतः स्वापराधाविष्करणं वा स्वचित्तेऽपराधानामनवगूहनं, दिवसे भवं दैवसिकं, रात्रौ भवं रात्रिकं, ईर्यापथे भवमैर्यापथिकं बोद्धव्यं। पक्षे भवं पाक्षिकं, चतुर्षु मासेषु भवं चातुर्मासिकं, संवत्सरे भवं सांवत्सरिकं, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं च दिवसरात्रीर्यापथपक्षचतुर्मास-संवत्सरोत्तमार्थविषयजातापराधानां गुर्वादिभ्यो निवेदनं सप्तप्रकारमालोचनं वेदितव्यमिति ॥६२१॥

आलोचनीयमाह—

> अणाभोगकिदं कम्मं जं किंवि मणसा कदं।
> तं सव्वं आलोचेज्जहु[1] अव्वाखित्तेण चेदसा ॥६२२॥

आभोगः सर्वजनपरिज्ञातव्रतातीचारोऽनाभोगो न परैर्ज्ञातस्तस्मादनाभोगकृतं कर्माऽऽभोगमन्तरेण कृतातीचारस्तथाभोगकृतश्चातीचारश्च तथा यत्किंचिन्मनसा च कृतं कर्म तथा कायवचनकृतं च तत्सर्वमालो-

---

उत्तमार्थ यह सात तरह की आलोचना जाननी चाहिए ॥६२१॥*

आचारवृत्ति—गुरु के पास अपने अपराध का निवेदन करना अथवा अर्हत भट्टारक[2] के आगे अपने अपराधों को प्रगट करना अर्थात् अपने चित्त में अपराधों को नहीं छिपाना यह आलोचना है। यह भी दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ऐसी सातभेदरूप है। अर्थात् दिवस, रात्रिक, ईर्यापथ, चार मास, वर्ष और उत्तमार्थ इनके इन विषयक हुए अपराधों को गुरु आदि के समक्ष निवेदन रूप आलोचना होती है।

आलोचना करने योग्य क्या है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—जो कुछ भी मन के द्वारा कृत अनाभोगकर्म है, मुनि विक्षेप रहित चित्त से उन सबकी आलोचना करे ॥६२२॥

आचारवृत्ति—सभी जनों के द्वारा जाने गए व्रतों के अतीचार आभोग हैं और जो अतीचार पद के द्वारा अज्ञात हैं वह अनाभोग हैं। यह अनाभोगकृत कर्म और आभोगकृत भी कर्म तथा मन से किया गया दोष, वचन और काय से भी किया गया दोष, ऐसा जो कुछ भी

---

१ क 'आलोचज्जाहु।

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार की प्रति में अधिक है—

> आलोचिय अवराहं ठिदिगो सुद्धो अहंति तुट्ठमणो।
> पुणरवि तमेव जुज्जइ तोसत्थं होइ पुणरुत्तं ॥

अर्थ—खड़े होकर गुरु के समीप अपराधों का निवेदन करके मैं शुद्ध हुआ ऐसा मनसतकर जो आनन्दित हुआ है ऐसा वह आलोचक यदि पुनः आनन्द के लिए उसी दोष की आलोचना करता है तो वह आलोचना पुनरुक्त होती है।

२. अर्हन्त की प्रतिमा के सामने।

चयेत् यत्किंचिदनाभोगकृतं कर्माभोगकृतं कायवाङ्मनोभिः कृतं च पापं तत्सर्वमव्याक्षिप्तचेतसाऽनाकुलितचेतसाऽऽलोचयेदिति ॥६२२॥

आलोचनापर्यायनामान्याह—

आलोचणमालुंचण विगडीकरणं च भावसुद्धी दु।
आलोचदह्मि आराधणा अणालोचणे भज्जा ॥६२३॥

आलोचनमालुंचनमपनयनं विकृतीकरणमाविष्करणं भावशुद्धिश्चेत्येकोऽर्थः। अथ किमर्थमालोचनं क्रियत इत्याशंकायामाह—यस्मादालोचिते चरित्राचारपूर्वकेण गुरवे निवेदिते चेति आराधना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिरनालोचने पुनर्दोषाणामनाविष्करणे पुनर्भाज्याऽऽराधना तस्मादालोचयितव्यमिति ॥६२३॥

आलोचने कालहरणं न कर्त्तव्यमिति प्रदर्शयन्नाह—

उप्पण्णा उप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा।
आलोचणणिंदणगरहणाहिं ण पुणो तिअं विदिअं ॥६२४॥

उत्पन्नोत्पन्ना यथा यथा संजाता माया व्रतातीचारोऽनुपूर्वशोनुक्रमेण यस्मिन् काले यस्मिन् क्षेत्रे

दोष है, अर्थात् अपने व्रतों के अतिचारों को चाहे दूसरे जान चुके हों या नहीं जानते हों ऐसे आभोगकृत दोष और अनाभोग दोष, तथा मनवचनकाय से हुए जो भी दोष हुए हैं, साधु अनाकुलचित्त होकर उन सबकी आलोचना करे।

आलोचना के पर्यायवाची नाम को कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचन, आलुंचन, विकृतिकरण और भावशुद्धि ये एकार्थवाची हैं। आलोचना करने पर आराधना होती है और आलोचना नहीं करने पर विकल्प है ॥६२३॥

आचारवृत्ति—आलोचना और आलुंचन इन दो शब्दों का अर्थ अपनयन—दूर करना है, विकृतीकरण का अर्थ दोष प्रगट करना है तथा भावशुद्धि ये चारों ही शब्द एक अर्थ को कहने वाले हैं।

किसलिए आलोचना की जाती है?

गुरु के सामने चारित्राचारपूर्वक दोषों को आलोचना कर देने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धिरूप आराधना सिद्ध होती है। तथा दोषों को प्रकट न करने से पुनः वह आराधना वैकल्पिक है अर्थात् हो भी, नहीं हो भी, इसलिए आलोचना करनी चाहिए।

आलोचना करने में कालक्षेप नहीं करना चाहिए, इस बात को दिखाते हैं—

गाथार्थ—जैसे-जैसे उत्पन्न हुई माया है उसको उसी क्रम से नष्ट कर देना चाहिए। आलोचना, निंदन और गर्हण करने में पुनः तीसरा या दूसरा दिन नहीं करना चाहिए ॥६२४॥

आचारवृत्ति—जिस-जिस प्रकार से माया अर्थात् व्रतों में अतीचार हुए हैं, अनुक्रम से

---

१ क 'कुलचित्तेनवालो'।

यद्द्रव्यमाश्रित्य येन भावेन तेनैव क्रमेण कौटिल्यं परित्यज्य निर्हन्तव्या परिशोध्या यस्मादालोचने गुरवे दोष-निवेदने निंदने परेभ्याविष्करणे गर्हणे आत्मजुगुप्सने कर्त्तव्ये पुनर्द्वितीयं पुनर्न करिष्यामीत्यथवा न पुनस्तृतीयं दिनं द्वितीयं वा द्वितीयदिवसे तृतीयदिवसे आलोचयिष्यामीति न चिंतनीयं यस्माद्गतमपि कालं न जानंतीति गाथार्थस्तस्माच्छीघ्रमालोचयितव्यमिति ॥६२४॥

यस्मात्—

आलोचणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अ करणाए।
तं भावपडिक्कमणं सेसं पुणदव्वदो भणिअं ॥६२५॥

गुरवेऽपराधनिवेदनमालोचनं वचनेनात्मजुगुप्सनं परेभ्यो निवेदनं च निन्दा चित्तेनात्मनो जुगुप्सनं शासनविराधनभयं च गर्हणमेतैः क्रियायां प्रतिक्रमणेऽथवा पुनरतीचाराकरणेऽभ्युत्थित उद्यतो यतस्तस्माद्भाव-प्रतिक्रमणं परमार्थभूतो दोषपरिहारः शेषं पुनरेवमन्तरेण द्रव्यतोऽपरमार्थरूपं भणितमिति ॥२२५॥

द्रव्यप्रतिक्रमणे दोषमाह—

भावेण अणुवजुत्तो दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु।
जस्सट्ठं पडिकमदे तं पुण अट्ठं ण साधेदि ॥६२६॥

उनको दूर करना चाहिए। अर्थात् जिस काल में,जिस क्षेत्र में,जिस द्रव्य का आश्रय लेकर और जिस भाव से व्रतों में अतीचार उत्पन्न हुए हैं,मायाचारी को छोड़कर उसी क्रम से उनका परिशोधन करना चाहिए।

गुरु के सामने दोषों का निवेदन करना आलोचना है, पर के सामने दोषों को प्रकट करना निन्दा है और अपनी निन्दा करना गर्हा है। इन आलोचना, निन्दा और गर्हा के करने में 'मैं दूसरे दिन आलोचना करूँगा अथवा तीसरे दिन कर लूंगा' इस तरह से नहीं सोचना चाहिए। क्योंकि बीतता हुआ काल जानने में नहीं आता है ऐसा अभिप्राय है। इसलिए शीघ्र ही आलोचना कर लेनी चाहिए।

भाव और द्रव्य प्रतिक्रमण को कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, निन्दा और गर्हा के द्वारा जो प्रतिक्रमण क्रिया में उद्यत हुआ, उसका वह भाव प्रतिक्रमण है। पुनः शेष प्रतिक्रमण द्रव्य से कहा गया है ॥६२५॥

आचारवृत्ति—गुरु के सामने अपराध का निवेदन करना आलोचना है, वचनों से अपनी जुगुप्सा करना और पर के सामने निवेदन करना निन्दा है तथा मन से अपनी जुगुप्सा—तिरस्कार करना और शासन की विराधना का भय रखना गर्हा है। इनके द्वारा प्रतिक्रमण करने में अथवा पुनः अतीचारों के नहीं करने में जो उद्यत होता है उसके वह भाव प्रतिक्रमण होता है जोकि परमार्थभूत दोषों के परिहाररूप है। शेष पुनः इन आलोचना आदि के बिना जो प्रतिक्रमण है वह द्रव्य प्रतिक्रमण है। वह अपरमार्थ रूप कहा गया है।

द्रव्य प्रतिक्रमण में दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो भाव से उपयुक्त न होता हुआ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करता है, वह जिस लिए प्रतिक्रमण करता है उस प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है ॥६२६॥

भावेनानुपयुक्तः शुद्धपरिणामरहितः द्रव्यीभूतेभ्यो। दोषेभ्यो न[1] निर्गतमना रागद्वेषाद्युपहतचेताः प्रतिक्रमते दोषनिर्हरणाय प्रतिक्रमणं शृणोति करोति चेति यः स यस्यार्थं यस्मै दोषाय प्रतिक्रमते तं पुनरर्थं न साधयति तं दोषं न[2] परित्यजतीत्यर्थः ॥६२६॥

भावप्रतिक्रमणमाह—

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे साधू ॥६२७॥

भावेन संप्रयुक्तो यदर्थं योगश्च यन्निमित्तं शुभानुष्ठानं यस्मै अर्थायाभ्युद्यतो जल्पति सूत्रं प्रतिक्रमण-पदान्युच्चरति शृणोति वा स साधुः कर्मनिर्जरायां विपुलायां प्रवर्त्तते सर्वापराधान् परिहरतीत्यर्थः ॥६२७॥

किमर्थं प्रतिक्रमणे तात्पर्य, यस्मात्—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥६२८॥

सह प्रतिक्रमणेन वर्तत इति सप्रतिक्रमणो धर्मो दोषपरिहारेण चारित्रं पूर्वस्य प्राक्तनस्य वृषभतीर्थंकरस्य पश्चिमस्य पाश्चात्यस्य सन्मतिस्वामिनो जिनस्य तयोस्तीर्थंकरयोर्धर्मः प्रतिक्रमणसमन्वितः

आचारवृत्ति—जो शुद्ध परिणामों से रहित है, दोषों से अपने मन को दूर नहीं करने वाला है। ऐसा साधु दोष को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण को सुनता है या करता है तो वह जिस दोष के लिए प्रतिक्रमण करता है उस दोष को छोड़ नहीं पाता है। अर्थात् यदि साधु का मन प्रतिक्रमण करते समय दोषों की आलोचना, निन्दा आदि रूप नहीं है तो वह प्रतिक्रमण दण्डकों को सुन लेने या पढ़ लेनेमात्र से उन दोषों से छूट नहीं सकता है। अतः जिस लिए प्रतिक्रमण किया जाता है वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता है ऐसा समझकर भावरूप प्रतिक्रमण करना चाहिए।

भाव प्रतिक्रमण को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव से युक्त होता हुआ जिस प्रयोजन के लिए सूत्र को पढ़ता है वह साधु उस विपुल कर्मनिर्जरा में प्रवृत्त होता है ॥६२७॥

आचारवृत्ति—जो साधु भाव से संयुक्त हुआ जिस अर्थ के लिए उद्यत हुआ प्रतिक्रमण पदों का उच्चारण करता है अथवा सुनता है वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर लेता है अर्थात् सभी अपराधों का परिहार कर देता है।

प्रतिक्रमण करने का उद्देश क्या है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—प्रथम और अन्तिम जिनवरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है तथा अपराध होने पर मध्यम जिनवरों का प्रतिक्रमण करना धर्म है ॥६२८॥

आचारवृत्ति—प्रतिक्रमण सहित धर्म अर्थात् दोष परिहारपूर्वक चारित्र। प्रथम जिन वृषभ तीर्थंकर और अन्तिम जिन सन्मति स्वामी इन दोनों तीर्थंकरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है। अपराध हों अथवा न हों किन्तु इनके तीर्थ में शिष्यों को प्रतिक्रमण करना ही

१—२. 'न' नास्ति क-प्रतौ।

अपराधो भवतु मा वा, मध्यमानां पुनर्जिनवराणामजितादिपार्श्वनाथपर्यन्तानामपराधे सति प्रतिक्रमणं तेषां यतोऽपराधबाहुल्याभावादिति ॥६२८॥

जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो ।
तावेदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥६२९॥

यस्मिन् व्रत आत्मनोऽन्यस्य वा भवेदतीचारस्तस्मिन् विषये भवेत्प्रतिक्रमणं मध्यमजिनवराणामाद्य-पश्चिमयोः पुनस्तीर्थंकरयोरेकस्मिन्नपराधे सर्वान् प्रतिक्रमणदण्डकान् भणति ॥६२९॥

इत्याह—

इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥६३०॥

ईर्यागोचरस्वप्नादिभवं सर्वमतीचारमाचरतु मा वाऽऽचरतु पूर्वे ऋषभनाथशिष्याश्चरमा वर्द्धमान-शिष्याः सर्वे सर्वान्नियमान् प्रतिक्रमणदण्डकान् प्रतिक्रमन्त उच्चारयन्ति ॥६३०॥

किमित्याद्याः पश्चिमाश्च सर्वान्नियमादुच्चारयंति किमित्यजितादिपार्श्वनाथपर्यंतशिष्या नोच्चार-यन्ति इत्याशंकायामाह—

चाहिए। किन्तु अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथपर्यंत मध्य के बाईस तीर्थंकरों का धर्म, अपराध के होने पर ही प्रतिक्रमण करने रूप है, क्योंकि उनके शिष्यों में अपराध की बहुलता का अभाव है।

गाथार्थ—जिस व्रत में अपने को या अन्य किसी को अतीचार होवें, मध्यम जिनवरों के काल में उसका ही प्रतिक्रमण करना होता है ॥६२९॥

आचारवृत्ति—जिस व्रत में अपने को या अन्य किसी साधु को अतीचार लगता है उसी विषय में प्रतिक्रमण होता है ऐसा मध्यम के बाईस तीर्थंकरों के शासन का नियम था किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासनकाल में पुनः एक अपराध के होने पर प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों को बोलना होता है।

इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्यापथ सम्बन्धी, आहार सम्बन्धी, स्वप्न आदि सम्बन्धी सभी दोष करें या न करें किन्तु पूर्व और चरम अर्थात् आद्यन्त तीर्थंकरों के काल में सभी साधु सभी दोषों का नियम से प्रतिक्रमण करते हैं ॥६३०॥

आचारवृत्ति—ईर्यापथ, गोचरी, स्वप्न इत्यादि में अतीचार होवें या न होवें, किन्तु ऋषभनाथ के शिष्य और वर्धमान भगवान् के सभी शिष्य सभी प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करते हैं।

आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य किसलिए सर्व प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करते हैं? और अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथपर्यंत के शिष्य क्यों नहीं सभी का उच्चारण करते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तह्मा हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति ॥६३१॥

यस्मान्मध्यमतीर्थंकरशिष्या दृढबुद्धयोऽविस्मरणशीला एकाग्रमनसः स्थिरचित्ता अमोहलक्षा अमूढमनसः प्रेक्षापूर्वकारिणः तस्मात्स्फुटं यं दोपं आचरंति तस्माद्दोपाद् गर्हन्तोऽप्यात्मानं जुगुप्समानाः शुद्धयन्ते शुद्धचारित्रा भवन्तीति ॥६३१॥

पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो ॥६३२॥

पूर्वचरमतीर्थंकरशिष्यास्तु यस्माच्चलचित्ताश्चैव दृढमनसो नैव, मोहलक्षाश्च मूढमनसो बहून् वारान् प्रतिपादितमपि शास्त्रं न जानंति ऋजुजडा वक्रजडाश्च यस्मात्तस्मात्सर्वप्रतिक्रमणं दण्डकोच्चारणं। तेषामन्धलकघोटकदृष्टान्तः। कस्यचिद्राज्ञोऽश्वोऽन्धस्तेन च वैद्यपुत्रं प्रति अश्वायौषधं पृष्टं स च वैद्यकं न जानाति, वैद्यश्च ग्रामं गतस्तेन च वैद्यपुत्रेणाश्वाक्षिनिमित्तानि सर्वाण्योषधानि प्रयुक्तानि तैः सोऽश्वः स्वस्थी-

---

गाथार्थ—मध्य तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़बुद्धिवाले, एकाग्र मन सहित और मूढ़मन-रहित होते हैं। इसलिए जिस दोष का आचरण करते हैं उसकी गर्हा करके ही शुद्ध हो जाते हैं ॥६३१॥

आचारवृत्ति—मध्यम २२ तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धि वाले होते थे अर्थात् वे विस्मरण स्वभाव वाले नहीं थे—उनकी स्मरण शक्ति विशेष थी, उनका चित्त स्थिर-रहता था, और वे विवेकपूर्वक कार्य करते थे। इसलिए जो दोष उनसे होता था उस दोष से अपनी आत्मा की गर्हा करते हुए शुद्ध चारित्र वाले हो जाते थे।

गाथार्थ—पूर्व और चरम के अर्थात् आद्यन्त तीर्थंकर के शिष्य तो जिस हेतु से चल-चित्त और मूढ़मनवाले होते हैं इसलिए उनके सर्वप्रतिक्रमण है, इसमें अंधलक घोटक उदाहरण समझना ॥६३२॥

आचारवृत्ति—प्रथम और चरम तीर्थंकर के शिष्य जिस कारण से चंचल चित्त होते हैं अर्थात् उनका मन स्थिर नहीं रहता है। तथा मूढ़चित्त वाले हैं—उनको बहुत बार शास्त्रों को प्रतिपादन करने पर भी वे नहीं समझते हैं वे ऋजुजड़ और वक्रजड़ स्वभावी होते हैं। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के शासन के शिष्यों में अतिसरलता और अतिजड़ता रहती थी और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों में कुटिलता और जड़ता रहती है अतः ये ऋजुजड़ और वक्रजड़ कहलाते हैं। इसी कारण से इन्हें सर्वदण्डकों के उच्चारण का विधान है।

इनके लिए अन्धलक घोटक दृष्टान्त दिया गया है। यथा—

किसी राजा का घोड़ा अन्धा हो गया, उसने उस घोड़े के लिए वैद्य के पुत्र से औषधि पूछी। वह वैद्यक शास्त्र जानता नहीं था और उसका पिता वैद्य अन्य ग्राम को चला गया था। तब उस वैद्यपुत्र ने घोड़े की आँख के निमित्त सभी औषधियों का प्रयोग कर दिया अर्थात् सभी औषधि उस घोड़े की आँख में लगाता गया। उन औषधियों के प्रयोग से वह घोड़ा स्वस्थ हो गया अर्थात् जो आँख खुलने की औषधि थी उसी में वह भी आ गई। उसके लगते ही घोड़े की

भूतः एवं साधुरपि यदि एकस्मिन्प्रतिक्रमणदण्डके स्थिरमना न भवति अन्यस्मिन् भविष्यति अन्यस्मिन् वा न भवत्यन्यस्मिन् भविष्यतीति सर्वदण्डकोच्चारणं न्याय्यमिति, न चात्र विरोधः, सर्वेपि कर्मक्षयकरणसमर्था यतः इति ॥६३२॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमुपसंहरन् प्रत्याख्याननिर्युक्ति प्रपंचयन्नाह—

पडिक्कमणणिज्जुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण।
पच्चक्खाणणिजुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥६२३॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन पुनः प्रत्याख्याननिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामीति।

तामेव प्रतिज्ञां निर्वहन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो पच्चक्खाणे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६२४॥

अयोग्यानि नामानि पापहेतूनि विरोधकारणानि न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमंतव्यानीति

आंख खुल गई। वैसे ही साधु भी यदि एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिरचित्त नहीं होता तो अन्य दण्डक में हो जावेगा, अथवा यदि अन्य दण्डक में भी स्थिरमना नहीं होगा तो अन्य किसी दण्डक में स्थिरचित्त हो जावेगा, इसलिए सर्वदण्डकों का उच्चारण करना न्याय ही है, और इसमें विरोध भी नहीं है क्योंकि प्रतिक्रमण के सभी दण्डक सूत्र कर्मक्षय करने में समर्थ हैं।

भावार्थ—ऋषभदेव और वीरप्रभु के शासन के मुनि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि समयों में आगम विहित पूरे प्रतिक्रमण को पढ़ते हैं। उस प्रतिक्रमण में सभी प्रकार के दोषों के निराकरण करने वाले सूत्र आते हैं। इन साधुओं को चाहे एक व्रत में अतीचार लगे, चाहे दो चार आदि में लगे, चाहे कदाचित् किसी व्रत में अतीचार न भी लगे अर्थात् किंचित् दोष न भी हो तो भी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के अनुसार यथोक्तकाल में वे प्रतिक्रमण विधि करें ही करें ऐसा आदेश है चूंकि वे विस्मरणशील चंचलचित्त और सरल जड़ या जड़ कुटिल तथा अज्ञानबहुल होते हैं। यही बात ऊपर बताई गई है। अतः प्रमाद छोड़कर विधिवत् सर्व प्रतिक्रमणों को करते रहना चाहिए। तथा उनके अर्थ को समझते हुए अपनी निन्दा गर्हा आदि के द्वारा उन दोषों से उपरत होना चाहिए।

प्रतिक्रमण निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए प्रत्याख्यान निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह प्रतिक्रमण निर्युक्ति कही है। इसके आगे प्रत्याख्यान निर्युक्ति को कहूँगा ॥६३३॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उसी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन प्रत्याख्यान में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६३४॥

आचारवृत्ति—अयोग्य नाम पाप के हेतु हैं और विरोध के कारण हैं ऐसे नाम न

नामप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननाममात्रं वा, अयोग्याः स्थापनाः पापबंधहेतुभूताः मिथ्यात्वादिप्रवर्त्तका अपरमार्थरूपदेवतादिप्रतिबिंबानि पापकारणद्रव्यरूपाणि च न कर्त्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमन्तव्यानि इति स्थापनाप्रत्याख्यानं। प्रत्याख्यानपरिणतप्रतिबिंबं च सद्भावासद्भावरूपं स्थापनाप्रत्याख्यानमिति, पापबन्धकारणद्रव्यं सावद्यं निरवद्यमपि तपोनिमित्तं त्यक्तं न भोक्तव्यं न भोजयितव्यं नानुमंतव्यमिति द्रव्यप्रत्याख्यानं।प्राभृतज्ञायकोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भावी जीवस्तद्व्यतिरिक्तं च द्रव्यप्रत्याख्यानं।असंयमादिहेतुभूतस्य क्षेत्रस्य परिहारःक्षेत्रप्रत्याख्यानं, प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितप्रदेशे[1] प्रवेशो वा क्षेत्रप्रत्याख्यानं, असंयमादिनिमित्तभूतस्य[2] कालस्य त्रिधा परिहारः कालप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितकालो वा, मिथ्यात्वासंयमकषायादीनां त्रिविधेन परिहारो भावप्रत्याख्यानं भावप्रत्याख्यानप्राभृतज्ञायकस्तद्विज्ञानं प्रदेशादित्येवमेष नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविषयः प्रत्याख्याने निक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति। प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेष इति चेन्नैष

रखना चाहिए, न रखवाना चाहिए और न रखते हुए को अनुमोदना ही देनी चाहिए—यह नाम प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान नाम मात्र किसी का रख देना नाम प्रत्याख्यान है। अयोग्य स्थापना—मूर्तियाँ पापबन्ध के लिए कारण हैं, मिथ्यात्व आदि की प्रवर्तक हैं, और अवास्तविक रूप देवता आदि के जो प्रतिबिम्ब हैं वे भी पाप के कारण रूप द्रव्य हैं ऐसी अयोग्य स्थापना को न करना चाहिए, न कराना चाहिए और करते हुए को अनुमोदना देना चाहिए यह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि आदि का प्रतिबिम्ब जोकि तदाकार हो या अतदाकार, वह भी स्थापना प्रत्याख्यान है।

पापबन्ध के कारणभूत सावद्य—सदोष द्रव्य तथा तप के निमित्त त्याग किए गये जो निरवद्य—निर्दोष द्रव्य भी हैं ऐसे सदोष और त्यक्त रूप निर्दोष द्रव्य को भी न ग्रहण करना चाहिए न कराना चाहिए और न अनुमोदना देनी चाहिए। यहाँ आहार सम्बन्धी तो खाने में अर्थात् भोग में आयेगा और उसके अतिरिक्त भी द्रव्य उपकरण आदि उपभोग में आयेंगे किन्तु 'भोक्तव्यं' क्रिया से यहा पर मुख्यतया भोजन सम्बन्धी द्रव्य की विवक्षा है, इस तरह यह द्रव्य प्रत्याख्यान है अथवा प्रत्याख्यान शास्त्र का ज्ञाता और उसके उपयोग से रहित जीव, उसका शरीर, भावी जीव और उससे व्यतिरिक्त ये सब द्रव्य प्रत्याख्यान हैं।

असंयम आदि के लिए कारणभूत क्षेत्र का परिहार करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है, अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित प्रदेश में प्रवेश करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है।

असंयम आदि के कारणभूत काल का मन-वचन-काय से परिहार करना काल-प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित काल काल-प्रत्याख्यान है।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि का मनवचनकाय से परिहार—त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। अथवा भाव प्रत्याख्यान के शास्त्र के ज्ञाता जीव को या उसके ज्ञान को या उसके आत्म प्रदेशों को भी भाव प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रकार से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक छह प्रकार का निक्षेप प्रत्याख्यान में घटित किया गया है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है?

भूतकाल विषयक अतीचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है, और भूत, भविष्यत्

---

१. क °देशो वा। २. क °दिहेतुभूतस्य।

दोषोऽतीतकालविषयातीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीतभविष्यद्वर्त्तमानकालविषयातिचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानमथवा व्रताद्यतीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीचारकारणसचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यविनिवृत्तिस्तपोनिमित्तं प्रासुकद्रव्यस्य च निवृत्तिः प्रत्याख्यानं यस्मादिति ॥६३४॥

प्रत्याख्यायकप्रत्याख्यानप्रत्याख्यातव्यस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालह्मि ॥६३५॥

प्रत्याख्यायको जीवः संयमोपेतः प्रत्याख्यानं परित्यागपरिणामः प्रत्याख्यातव्यं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकं सावद्यं निरवद्यं वा। एवं त्रिप्रकारं[1] प्रत्याख्यानस्वरूपोऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति। तत्त्रिविधमप्यतीते काले प्रत्युत्पन्ने कालेऽनागते च काले भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालेष्वपि ज्ञातव्यमिति ॥६३५॥

तथा वर्तमान इन तीनों कालविषयक अतीचारों का निरसन करना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रत आदि के अतीचारों का शोधन प्रतिक्रमण है तथा अतीचार के लिए कारणभूत ऐसे सचित्त, अचित्त एवं मिश्र द्रव्यों का त्याग करना तथा तप के लिए प्रासुकद्रव्य का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

भावार्थ—समता, स्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण इनमें जो निक्षेप घटित किए हैं वहाँ पर पहले चरणानुयोग की पद्धति से द्रव्य आदि निक्षेपों को कहकर पुनः 'अथवा' कहकर सैद्धांतिक विधि से छहों निक्षेप बताये हैं। किन्तु यहाँ पर टीकाकार ने दोनों प्रकार के निक्षेपों को साथ-साथ ही घटित कर दिया है ऐसा समझना। एवं छहों निक्षेपों का चरणानुयोग की विधि से जो कथन है उसमें प्रत्येक में कृत, कारित, अनुमोदना को लगा लेना चाहिए।

प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य इन तीनों का स्वरूप प्रतिपादित करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य ये तीनों ही भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल में होते हैं ॥६३५॥

आचारवृत्ति—संयम से युक्त जीव—मुनि प्रत्याख्यायक हैं, अर्थात् प्रत्याख्यान करनेवाले हैं। त्यागरूप परिणाम प्रत्याख्यान है। सावद्य हों या निरवद्य, सचित्त, अचित्त तथा मिश्र ये तीन प्रकार के द्रव्य प्रत्याख्यातव्य हैं अर्थात् प्रत्याख्यान के योग्य हैं। इन तीन प्रकार से प्रत्याख्यान के स्वरूप की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् इन प्रत्याख्यायक आदि तीन प्रकार के सिवाय प्रत्याख्यान का कोई स्वरूप नहीं है। ये तीनों ही भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत् की अपेक्षा से तीन-तीन भेदरूप हो जाते हैं। अर्थात् भूतप्रत्याख्यायक, वर्तमान प्रत्याख्यायक और भविष्यत् प्रत्याख्यायक। भूत प्रत्याख्यान, वर्तमान प्रत्याख्यान और भविष्यत्-प्रत्याख्यान। भूतप्रत्याख्यातव्य, वर्तमान प्रत्याख्यातव्य और भविष्यत्-प्रत्याख्यातव्य।

भावार्थ—प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। सो त्याग करनेवाला जीव, त्याग और त्यागने योग्य वस्तु—मूल में इन तीनों को कहा है। पुनः प्रत्याख्यान त्रैकालिक होने से तीनों को भी त्रैकालिक सिद्ध किया है।

---

1 क त्रिप्रकार एवं।

प्रत्याख्यायकस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आणाय जाणणाविय उवजुत्तो मूलमज्झणिद्देसे ।
सागारमणागारं अणुपालेंतो दढधिदीओ ॥६३६॥

आणाविय आज्ञया गुरूपदेशेनार्हदाद्याज्ञया चारित्रश्रद्धया, जाणणाविय ज्ञापकेन गुरुनिवेदनेनाथवा परमार्थतो ज्ञात्वा दोपस्वरूपं तमोहेतुं वाह्याभ्यन्तरं प्रविश्य ज्ञात्वाऽपि चोपयुक्तः पट्प्रकारसमन्वितः मूले आदौ ग्रहणकाले मध्ये मध्यकाले निर्देशे समाप्तौ सागारं गार्हस्थ्यं संयतासंयतयोग्यमथवा साकारं सविकल्पं भेदसहितं अनागारं संयमसमेतोद्भवं यतिप्रतिवद्धमथवाऽनाकारं निर्विकल्पं सर्वथा परित्यागमनुपालयन् रक्षयन् दृढधृतिकः सदृढधैर्यः, मूलमध्यनिर्देशे साकारमनाकारं च प्रत्याख्यानमुपयुक्तः सन् आज्ञया सम्यग्विवेकेन वाऽनुपालयन् दृढधृतिको यो भवति स एप प्रत्याख्यायको नामेति सम्बन्धः। उत्तरेणाथवा मूलमध्यनिर्देशे आज्ञयोपयुक्तः साकारमनाकारं च प्रत्याख्यानं च गुरुं ज्ञापयन् प्रतिपादयन् अनुपालयंश्च दृढधृतिकः प्रत्याख्यायको भवेदिति ॥६३६॥

शेषं प्रतिपादयन्नाह—

प्रत्याख्यायक का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—आज्ञा से और गुरु के निवेदन से उपयुक्त हुआ क्रिया के आदि और अन्त में सविकल्प और निर्विकल्प संयम को पालन करता हुआ दृढ़ धैर्यवान् साधु प्रत्याख्यायक होता है ॥६३६॥

आचारवृत्ति—आज्ञा—गुरु का उपदेश, अर्हंत आदि की आज्ञा और चारित्र की श्रद्धा ये आज्ञा शब्द से ग्राह्य हैं। ज्ञापक—वतलाने वाले गुरु। इस तरह गुरु के उपदेश आदि रूप आज्ञा से और गुरु के कथन से पाप रूप अन्धकार के हेतुक दोष के स्वरूप को परमार्थ से जानकर और उसके वाह्य-अभ्यन्तर कारणों में प्रवेश करके जो मुनि नाम, स्थापना आदि छह भेद रूप प्रत्याख्यानों से समन्वित हैं वह साधु प्रत्याख्यान के मूल—ग्रहण के समय, उसके मध्यकाल में और निर्देश—उसकी समाप्ति में सागार—संयतासंयत गृहस्थ के योग्य और अनगार—संयमयुक्त यति से सम्बन्धित अथवा साकार—सविकल्प-भेद सहित और अनाकार—निर्विकल्प अर्थात् सर्वथा परित्याग रूप प्रत्याख्यान की रक्षा करता हुआ दृढ़ धैर्यसहित होने से प्रत्याख्यायक है। अर्थात् जो साधु त्याग के आदि, मध्य और अन्त में साकार व अनाकार प्रत्याख्यान में उद्यमशील होता हुआ गुरुओं की आज्ञा या सम्यक् विवेक से उसका पालन करता हुआ दृढ़धैर्यवान है वह प्रत्याख्यायक कहलाता है ऐसा अगली गाथा से सम्बन्ध कर लेना चाहिए। अथवा मूल, मध्य और अन्त में प्रत्याख्यान का पालन करनेवाला, गुरु की आज्ञा को धारण करनेवाला साधु भेदसहित और भेदरहित प्रत्याख्यान को गुरु को वतलाकर उसको पालता हुआ धैर्यगुणयुक्त है वह प्रत्याख्यायक है।

शेष को वतलाते हैं—

एसो पच्चयखाओ पच्चक्खाणेत्ति वुच्चदे चाओ।
पच्चक्खिदव्वमुवहि आहारो चेव बोधव्वो ॥६३७॥

एष प्रत्याख्यायकः पूर्वेण सम्बन्धः प्रत्याख्यानमित्युच्यते। त्यागः सावद्यस्य द्रव्यस्य निरवद्यस्य वा तपोनिमित्तं परित्यागः प्रत्याख्यानं प्रत्याख्यातव्यः परित्यजनीय उपधिः परिग्रहः सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नः क्रोधादिभेदभिन्नश्चाहारश्चाभक्ष्यभोज्यादिभेदभिन्नो बोद्धव्य इति ॥६३७॥

प्रस्तुतं प्रत्याख्यानं प्रपंचयन्नाह—

पच्चक्खाणं उत्तरगुणेसु खमणादि होदि णेयविहं।
तेणवि अ एत्थ पयदं तंपि य इणमो दसविहं तु ॥६३८॥

प्रत्याख्यानं मूलगुणविषयमुत्तरगुणविषयं वक्ष्यमाणादिभेदेनाशनपरित्यागादिभेदेनानेकविधमनेकप्रकारं। तेनापि चात्र प्रकृतं प्रस्तुतं अथ वा तेन प्रत्याख्यायकेनात्र यत्नः कर्त्तव्यस्तदेतदपि च दशविधं तदपि चैतत् क्षमणादि दशप्रकारं भवतीति वेदितव्यम् ॥६३८॥

तान् दशभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव।
सागारमणागारं परिमाणगदं अपरिसेसं ॥४३९॥

अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुगं वियाणाहि।
पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि ॥६४०॥

गाथार्थ—यह पूर्वोक्त गाथा कथित साधु प्रत्याख्यायक है। त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं, और उपधि तथा आहार यह प्रत्याख्यान करने योग्य पदार्थ हैं ऐसा जानना ॥६३७॥

आचारवृत्ति—पूर्वगाथा में कहा गया साधु प्रत्याख्यायक है। सावद्यद्रव्य का त्याग करना या तपोनिमित्त निर्दोष द्रव्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है। सचित्त, अचित्त तथा मिश्र रूप बाह्य परिग्रह एवं क्रोध आदि रूप अभ्यन्तर परिग्रह ये उपधि हैं। अभक्ष्य भोज्य आदि पदार्थ आहार कहलाते हैं। ये उपधि और आहार प्रत्याख्यातव्य हैं।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान का विस्तार से वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—उत्तर गुणों में जो अनेक प्रकार के उपवास आदि हैं वे प्रत्याख्यान हैं। उसमें प्रत्याख्यायक प्रयत्न करे सो यह प्रत्याख्यान दश प्रकार का भी है ॥६३८॥

आचारवृत्ति—मूलगुण विषयक प्रत्याख्यान और उत्तरगुण विषयक प्रत्याख्यान होता है जोकि आगे कहे जाने वाले भोजन के परित्याग आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। उन भेदों से भी यहाँ पर प्रकृत है—कहा गया है अथवा उस प्रत्याख्यायक साधु के इन त्याग रूप उपवास आदिकों में प्रयत्न करना चाहिए।

सो यह भी उपवास आदि रूप प्रत्याख्यान दश प्रकार का है ऐसा जानना।

उन दश भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखंडित, साकार, अनाकार, परिमाण

अणागदं अनागतं भविष्यत्कालविषयोपवासादिकरणं चतुर्दश्यादिषु यत्कर्त्तव्यं तत्त्रयोदश्यादिषु यत् क्रियते तदनागतं प्रत्याख्यानं, अदिकंतं अतिक्रान्तं अतीतकालविषयोपवासादिकरणं चतुर्दश्यादिषु यत्कर्त्तव्य-मुपवासादिकं तत्प्रतिपदादिषु क्रियतेऽतिक्रान्तं प्रत्याख्यानं । कोडीसहिदं कोटिसहितं संकल्पसमन्वितं शक्त्यपेक्ष-योपवासादिकं श्वस्तने दिने स्वाध्यायवेलायामतिक्रान्तायां यदि शक्तिर्भविष्यत्युपवासादिकं करिष्यामि नो चेन्न करिष्यामीत्येवं यत् क्रियते प्रत्याख्यानं तत्कोटिसहितमिति, णिखंडिदं निखंडितं अवश्यकर्त्तव्यं पाक्षिकादिषू-पवासकरणं निखंडितं प्रत्याख्यानं, साकारं सभेदं सर्वतोभद्रकनकावल्याद्युपवासविधिर्नक्षत्रादिभेदेन करणं तत्साकारप्रत्याख्यानं, अनाकारं स्वेच्छयोपवासविधिर्नक्षत्रादिकमंतरेणोपवासादिकरणमनाकारं प्रत्याख्यानं,

---

गत, अपरिशेष, अध्वानगत और दशम सहेतुक ये दश भेद जानो। ये प्रत्याख्यान के भेद जिनमत में निरुक्ति सहित हैं ॥६३९-६४०॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार के प्रत्याख्यान को पृथक्-पृथक् कहते हैं—

१. भविष्यत्काल में किए जाने वाले उपवास आदि पहले कर लेना, जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना था उसको त्रयोदशी आदि में कर लेना अनागत प्रत्याख्यान है।

२. अतीतकाल में किए जाने वाले उपवास आदि को आगे करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास आदि करना है उसे प्रतिपदा आदि में करना।

३. शक्ति आदि की अपेक्षा से संकल्प सहित उपवास करना कोटिसहित प्रत्याख्यान है। जैसे कल प्रातः स्वाध्याय वेला के अनन्तर यदि शक्ति रहेगी तो उपवास आदि करूँगा, यदि शक्ति नहीं रही तो नहीं करूँगा, इस प्रकार से जो संकल्प करके प्रत्याख्यान होता है वह कोटिसहित है।

४. पाक्षिक आदि में अवश्य किए जाने वाले उपवास का करना निखण्डित प्रत्याख्यान है।

५. भेद सहित उपवास करने को साकार प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसे सर्वतोभद्र, कनकावली आदि व्रतों की विधि से उपवास करना, रोहिणी आदि नक्षत्रों के भेद से उपवास करना।

६. स्वेच्छा से उपवास करना, जैसे नक्षत्र या तिथि आदि की अपेक्षा के बिना ही स्वरुचि से कभी भी कर लेना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७. प्रमाण सहित उपवास को परिमाणगत कहते हैं। जैसे वेला, तेला, चार उपवास, पांच उपवास, सात दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि काल के प्रमाण उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

८. जीवन पर्यंत के लिए चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

९. मार्ग विषयक प्रत्याख्यान अध्वानगत है। जैसे जंगल या नदी आदि से निकलने

परिमाणगतं प्रमाणसहितं षष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षार्द्धपक्षमासादिकालादिपरिमाणेनोपवासादिकरणं परिमाणगतं प्रत्याख्यानं, अपरिशेषं यावज्जीवं चतुर्विधाऽऽहारादिपरित्यागोऽपरिशेषं प्रत्याख्यानम् ॥६३९॥

तथा—

अद्धाणगदं अध्वानं गतमध्वगतं मार्गविषयाटवीनद्यादिनिष्क्रमणद्वारेणोपवासादिकरणं। अध्वगतं नाम प्रत्याख्यानं नवमं, सहहेतुना वर्त्तत इति सहेतुकमुपसर्गादिनिमित्तापेक्षमुपवासादिकरणं सहेतुकं नाम प्रत्याख्यानं दशमं विजानीहि, एवमेतान्प्रत्याख्यानकरणविकल्पान्विभक्तियुक्तानर्थानुगतान् परमार्थरूपाञ्जिनमते विजानीहीति ॥६४०॥

पुनरपि प्रत्याख्यानकरणविधिमाह—

विणएण तहणुभासा हवदि य अणुपालणाय परिणामे।
एदं पच्चक्खाणं चदुव्विधं होदि णादव्वं ॥६४१॥

विनयेन शुद्धं तथाऽनुभाषयाऽनुपालनेन परिणामेन च यच्छुद्धं भवति तदेतत्प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यं। यस्मिन् प्रत्याख्याने विनयेन सार्द्धमनुभाषाप्रतिपालनेन सह परिणामशुद्धिस्तत्प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यमिति ॥६४१॥

विनयप्रत्याख्यानं तावदाह—

किदियम्मं उवचारिय विणओ तह णाणदंसणचरित्ते।
पंचविधविणयजुत्तं विणयसुद्धं हवदि तं तु ॥६४२॥

के प्रसंग में उपवास आदि करना अर्थात् इस वन से बाहर पहुँचने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है या इस नदी से पार होने तक चतुर्विध आहार का त्याग है ऐसा उपवास करना सो अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

१०. हेतु सहित उपवास सहेतुक हैं यथा उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना सहेतुक नाम का प्रत्याख्यान है।

विभक्ति से युक्त अन्वर्थ, नाम से सहित तथा परमार्थ रूप प्रत्याख्यान करने के ये दश भेद जिनमत में कहे गए हैं ऐसा जानो।

पुनरपि प्रत्याख्यान करने की विधि बताते हैं—

गाथार्थ—विनय से, अनुभाषा से, अनुपालन से और परिणाम से प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान चार प्रकार का जानना चाहिए ॥६४१॥

आचारवृत्ति—विनय से शुद्ध तथैव अनुभाषा, अनुपालन और परिणाम से शुद्ध प्रत्याख्यान चार भेद रूप हो जाता है। अर्थात् जिस प्रत्याख्यान में विनय के साथ, अनुभाषा के साथ, प्रतिपालना के साथ और परिणाम शुद्धि के साथ आहार आदि का त्याग होता है, वह प्रत्याख्यान उन विनय आदि की अपेक्षा से चार प्रकार का हो जाता है।

इनमें से पहले विनय प्रत्याख्यान को कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म, औपचारिक विनय, तथा दर्शन ज्ञान और चारित्र में विनय जो इन पांच विध विनय से युक्त है वह विनय शुद्ध प्रत्याख्यान है ॥६४२॥

कृतिकर्म सिद्धभक्तियोगभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गकरणं, पूर्वोक्तः औपचारिकविनयः कृतकरमुकुलललाटपट्टविनतोत्तमांगः प्रशांततनुः पिच्छिकया विभूषितवक्ष इत्याद्युपचारविनयः, तथा ज्ञानदर्शनचारित्रविषयो विनयः एवं क्रियाकर्मादिपंचप्रकारेण विनयेन युक्तं विनयशुद्धं तत्प्रत्याख्यानं भवत्येवेति ।।६४२।।

अनुभाषायुक्तं प्रत्याख्यानमाह—

अणुभासदि गुरुवयणं अक्खरपदवंजणं कमविसुद्धं ।
घोसविसुद्धी सुद्धं एवं अणुभासणासुद्धं ।।६४३।।

अणुभासदि अनुभाषते अनुवदति गुरुवचनं गुरुणा यथोच्चारिता प्रत्याख्यानाक्षरपद्धतिस्तथैव तामुच्चरतीति, अक्षरमेकस्वरयुक्तं व्यंजनं, इच्छामीत्यादिकं पदं सुबन्तं मिङंतं चाक्षरसमुदायरूपं, व्यंजनमनक्षरवर्णरूपं खंडाक्षरानुस्वारविसर्जनीयादिकं क्रमविशुद्धं येनैव क्रमेण स्थितानि वर्णपदव्यंजनवाक्यादीनि ग्रंथार्थोभयशुद्धानि तेनैव पाठः, घोषविशुद्धया च शुद्धं गुर्वादिकवर्णविषयोच्चारणसहितं मुखमध्योच्चारणरहितं महाकलकलेन विहीनं स्वरविशुद्धमिति, एवमेतत्प्रत्याख्यानमनुभाषणशुद्धं वेदितव्यमिति ।।६४५।।

अनुपालनसहित प्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

आचारवृत्ति—सिद्ध भक्ति, योग भक्ति और गुरु भक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करना कृतिकर्म विनय है। औपचारिक विनय का लक्षण पहले कह चुके हैं अर्थात् हाथों को मुकुलित कर ललाट पट्ट पर रख मस्तक को झुकाना, प्रशांत शरीर होना, पिच्छिका से वक्षस्थल भूषित करना—पिच्छिका सहित अंजुली जोड़कर हृदय के पास रखना, प्रार्थना करना आदि उपचार विनय है, एवं दर्शन, ज्ञान और चारित्र विषयक विनय करना—इस तरह कृतिकर्म आदि पांच प्रकार के विनय से युक्त प्रत्याख्यान विनयशुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

अनुभाषा युक्त प्रत्याख्यान को कहते हैं—

गाथार्थ—गुरु के वचन के अनुरूप बोलना, अक्षर, पद, व्यंजन क्रम से विशुद्ध और घोष की विशुद्धि से शुद्ध बोलना अनुभाषणाशुद्धि है ।।६४३।।

आचारवृत्ति—प्रत्याख्यान के अक्षरों को गुरु ने जैसा उच्चारण किया है वैसा ही उन अक्षरों का उच्चारण करता है। एक स्वरयुक्त व्यंजन को अक्षर कहते हैं, सुबंत और मिङन्त को पद कहते हैं अर्थात् 'इच्छामि' इत्यादि प्रकार से जो अक्षर समुदायरूप है वह पद कहलाता है। अक्षर रहित वर्ण को व्यंजन कहते हैं जोकि खण्डाक्षर, अनुस्वार और विसर्ग आदि रूप हैं। जिस क्रम से वर्ण, पद, व्यंजन और वाक्य आदि, ग्रन्थशुद्ध, अर्थशुद्ध और उभयशुद्ध हैं उनका उसी पद्धति से पाठ करना सो क्रमविशुद्ध कहलाता है। तथा ह्रस्व, दीर्घ आदि वर्णों का यथायोग्य उच्चारण करना घोष विशुद्धि है। मुख में ही शब्द का उच्चारण नहीं होना चाहिए और न महाकलकल शब्द करना चाहिए। स्वरशुद्ध रहना चाहिए सो यह सब घोषशुद्धि है, इस प्रकार का जो प्रत्याख्यान है वह अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

अनुपालन सहितप्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं—

आदंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्ति कंतारे।
जं पालिदं ण भग्गं एदं अणुपालणासुद्धं ॥६४४॥

आतंकः सहसोत्थितो व्याधिः, उपसर्गो देवमनुष्यतिर्यक्कृतपीडा, श्रम उपवासालाभमार्गादिकृतः परिश्रमः ज्वररोगादिकृतश्च, दुर्भिक्षवृत्तिर्वर्षाकालराज्यभंगविड्वरचौराद्युपद्रवभयेन सस्याद्यभावेन भिक्षायाः प्राप्त्यभावः, कान्तारे महाटवीविंध्यारण्यादिकभयानकप्रदेशः, एतेषूपस्थितेष्वातंकोपसर्गदुर्भिक्षवृत्तिकान्तारेषु यत्प्रतिपालितं रक्षितं न भग्नं न मनागपि विपरिणामरूपं जातं तदेतत्प्रत्याख्यानमनुपालनविशुद्धं नाम ॥६४४॥

परिणामविशुद्धप्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

रागेण व दोसेण व मणपरिणामेण दूसिदं जं तु।
तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ॥६४५॥

रागपरिणामेन द्वेषपरिणामेन च न दूषितं न प्रतिहतं विपरिणामेन यत्प्रत्याख्यानं तत्पुनः प्रत्याख्यानं भावविशुद्धं तु ज्ञातव्यमिति। सम्यग्दर्शनादियुक्तस्य निःकांक्षस्य वीतरागस्य समभावयुक्तस्याहिंसादिव्रतसहित-शुद्धभावस्य प्रत्याख्यानं परिणामशुद्धं भवेदिति ॥६४५॥

चतुर्विधाहारस्वरूपमाह—

गाथार्थ—आकस्मिक व्याधि, उपसर्ग, श्रम, भिक्षा का अलाभ और गहनवन इनमें जो ग्रहण किया गया प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है वह अनुपालना शुद्ध है ॥६४४॥

आचारवृत्ति—सहसा उत्पन्न हुई व्याधि आतंक है। देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत पीड़ा को उपसर्ग कहते हैं। उपवास, अलाभ, या मार्ग में चलने आदि से हुआ परिश्रम या ज्वर आदि रोगों के निमित्त से हुआ खेद श्रम कहलाता है। दुर्भिक्षवृत्ति—वर्षा का अभाव, राज्यभंग, वदमाश—लुटेरे, चोर इत्यादि के उपद्रव के भय से या धान्य आदि की उत्पत्ति के अभाव से भिक्षा का लाभ न होना, महावन, विंध्याचल, अरण्य आदि भयानक प्रदेशों में पहुँच जाना अर्थात् आतंक के आ जाने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, श्रम से थकान हो जाने पर, भिक्षा न मिलने पर या महान् भयानक वन आदि में पहुँच जाने पर जो प्रत्याख्यान ग्रहण किया हुआ है उसकी रक्षा करना, उससे तिलमात्र भी विचलित नहीं होना सो यह अनुपालन विशुद्ध प्रत्याख्यान है।

परिणाम विशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—राग से अथवा द्वेष रूप मन के परिणामों से जो दूषित नहीं होता है वह भाव विशुद्ध प्रत्याख्यान है ऐसा जानना ॥६४५॥

आचारवृत्ति—राग परिणाम से या द्वेष परिणाम से जो प्रत्याख्यान दूषित नहीं होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि से युक्त, कांक्षा रहित, वीतराग, समभावयुक्त और अहिंसादिव्रतों से सहित शुद्ध भाववाले मुनि का प्रत्याख्यान परिणाम शुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

चार प्रकार के आहार का स्वरूप बताते हैं—

असणं खुहप्पसमणं पाणाणमणुग्गहं तहा पाणं।
खादंति खादियं पुण सादंति सादियं भणियं ॥६४६॥

अशनं क्षुदुपशमनं बुभुक्षोपरतिः प्राणानां दशप्रकाराणामनुग्रहो येन तत्तथा खाद्यत इति खाद्य रसविशुद्धं लड्डुकादि पुनरास्वाद्यत इति आस्वाद्यमेलाकक्कोलादिकमिति भणितमेवंविधस्य चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानमुत्तमार्थप्रत्याख्यानमिति ॥६४६॥

चतुर्विधस्याहारस्य भेदं प्रतिपाद्याभेदार्थमाह—

सव्वोवि य आहारो असणं सव्वोवि वुच्चदे पाणं।
सव्वोवि खादियं पुण सव्वोवि य सादियं भणियं ॥६४७॥

सर्वोऽप्याहारोऽशनं तथा सर्वोऽप्याहारः पानमित्युच्यते तथा सर्वोऽप्याहारः खाद्यं तथा सर्वोऽप्याहारः स्वाद्यमिति भणितं एवं चतुर्विधस्याप्याहारस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षयैक्यं आहारत्वेनाभेदादिति ॥६४७॥

पर्यायार्थिकनयापेक्षया पुनश्चतुर्विधस्तथैव प्राह—

असणं पाणं तह खादियं चउत्थं च सादियं भणियं।
एवं परूविदं दु सद्दहिदुं जे सुही होदि ॥६४८॥

एवमशनपानखाद्यस्वाद्यभेदेनाहारं चतुर्विधं प्ररूपितं श्रद्धाय सुखी भवतीति फलं व्याख्यातं भवतीति ॥६४८॥

गाथार्थ—क्षुधा को शांत करनेवाला अशन, प्राणों पर अनुग्रह करनेवाला पान है। जो खाया जाय वह खाद्य एवं जिसका स्वाद लिया जाय वह स्वाद्य कहलाता है ॥६४६॥

आचारवृत्ति—जिससे भूख की उपरति-शान्ति हो जाती है वह अशन है। जिसके द्वारा दश प्रकार के प्राणों का उपकार होता है वह पान है। जो खाये जाते हैं वे खाद्य हैं। रस सहित लड्डू आदि पदार्थ खाद्य हैं। जिनका आस्वाद लिया जाता है वे इलायची कक्कोल आदि स्वाद्य हैं। इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उत्तमार्थ प्रत्याख्यान कहलाता है।

चार प्रकार के आहारों का भेद बताकर अब उनका अभेद दिखाते हैं—

गाथार्थ—सभी आहार अशन कहलाता है। सभी आहार पान कहलाता है। सभी आहार खाद्य और सभी ही आहार स्वाद्य कहा जाता है ॥६४७॥

आचारवृत्ति—सभी आहार अशन हैं, सभी आहार पान हैं, सभी आहार खाद्य हैं एवं सभी आहार स्वाद्य हैं। इस तरह चारों प्रकार का आहार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकरूप है क्योंकि आहारपने की अपेक्षा से सभी में अभेद है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पुनः आहार चार भेदरूप है—

गाथार्थ—अशन, पान, खाद्य तथा चौथा स्वाद्य कहा गया है। इन कहे हुए उपदेश का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है ॥६४८॥

आचारवृत्ति—इन अशन आदि चार भेद रूप कहे गए आहार का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है यह इसका फल बताया गया है। अर्थात् उत्तमार्थी इन सब का त्यागकर सुखी होता है यह फल है।

प्रत्याख्याननिर्युक्तिं व्याख्याय कायोत्सर्गनिर्युक्तिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पच्चक्खाणणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
काओसग्गणिजुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥६४९॥

प्रत्याख्याननिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन कायोत्सर्गनिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्य इति[1]। स्पष्टोऽर्थः ॥६४९॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो काउस्सग्गे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६५०॥

खरपरुषादिसावद्यनामकरणद्वारेणागतातीचारशोधनाय कायोत्सर्गो नाममात्रः कायोत्सर्गो वा नामकायोत्सर्गः, पापस्थापनाद्वारेणागतातीचार[2]शोधननिमित्तकायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिम्बानि[3] स्थापनाकायोत्सर्गः सावद्यद्रव्यसेवाद्वारेणागतातीचारनिर्हरणाय कायोत्सर्गः, कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं वा द्रव्यकायोत्सर्गः, सावद्यक्षेत्रसेवनादागतदोषध्वंसनाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्रं वा क्षेत्रकायोत्सर्गः, सावद्यकालाचरणद्वारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसहितकालो वा कालकायोत्सर्गः,

---

प्रत्याख्यान निर्युक्ति का व्याख्यान करके अब कायोत्सर्ग निर्युक्ति का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह प्रत्याख्याननिर्युक्ति कही है। इसके बाद कायोत्सर्ग निर्युक्ति कहूँगा ॥६४९॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह हैं। कायोत्सर्ग में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६५०॥

आचारवृत्ति—तीक्ष्ण कठोर आदि पापयुक्त नामकरण के द्वारा उत्पन्न हुए अतीचारों का शोधन करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नाम कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग यह नामकरण करना नाम कायोत्सर्ग है। पापस्थापना—अशुभ या सरागमूर्ति की स्थापना द्वारा हुए अतीचारों के शोधननिमित्त कायोत्सर्ग करना स्थापना कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत मुनि की प्रतिमा आदि स्थापना कायोत्सर्ग है। सदोष द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए अतीचारों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है वह द्रव्य कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करनेवाले प्राभृत का ज्ञाता किन्तु उसके उपयोग से रहित जीव और उसका शरीर ये द्रव्य कायोत्सर्ग हैं। सदोष क्षेत्र के सेवन से होने वाले अतीचारों को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग क्षेत्र कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सेवित स्थान क्षेत्र कायोत्सर्ग है। सावद्य काल के आचरण द्वारा उत्पन्न हुए दोषों का परिहार करने के लिए कायोत्सर्ग काल-कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सहित काल काल-कायोत्सर्ग है। मिथ्यात्व आदि अतीचारों के शोधन करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग भाव

---

१ क इति। नामादिभिः कायोत्सर्गं निरूपयितुमाह—१। २ क °तातीचार। ३ क [illegible]।

मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय भावकायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तसंज्ञानजीवप्रदेशो वा भावकायोत्सर्गः, एवं नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविषय एष कायोत्सर्गनिक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति ॥६५०॥

कायोत्सर्गकारणमन्तरेण कायोत्सर्गः प्रतिपादयितुं न शक्यत इति तत्स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

काउस्सग्गो काउस्सग्गी काउस्सग्गस्स कारणं चेव।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥६५१॥

कायस्य शरीरस्योत्सर्गः परित्यागः कायोत्सर्गः स्थितस्यासीनस्य सर्वांगचलनरहितस्य शुभध्यानस्य वृत्तिः कायोत्सर्गोऽस्यास्तीति कायोत्सर्गी असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिभव्यः कायोत्सर्गस्य कारणं हेतुरेव तेषां त्रयाणामपि प्रत्येकं प्ररूपणा भवति ज्ञातव्येति ॥६५१॥

तावत्कायोत्सर्गस्वरूपमाह—

वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥६५२॥

व्युत्सृष्टं त्यक्तं बाहुयुगलं यस्मिन्नवस्थाविशेषे सो व्युत्सृष्टबाहुयुगलः प्रलंबितभुजश्चतुरंगुलमन्तरं ययोः पादयोस्तौ चतुरंगुलान्तरौ। चतुरंगुलान्तरौ समौ पादौ यस्मिन्स चतुरंगुलान्तरसमपादः। सर्वेषामंगानां करचरणशिरोग्रीवाक्षिभ्रूविकारादीनां चलनं तेन रहितः सर्वांगचलनरहितः सर्वाक्षेपविमुक्तः, एवंविधस्तु

कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करनेवाले प्राभृत का ज्ञाता तथा उसमें उपयोग सहित और उसके ज्ञान सहित जीवों के प्रदेश भी भाव कायोत्सर्ग हैं। इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक यह कायोत्सर्ग का निक्षेप छह रूप जानना चाहिए।

कायोत्सर्ग के कारण बिना बताए कायोत्सर्ग का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है इसलिए उनके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारण इन तीनों की भी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करते हैं ॥६५१॥

आचारवृत्ति—काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग कायोत्सर्ग है अर्थात् खड़े होकर या बैठकर सर्वांग के हलन-चलन रहित शुभध्यान की जो वृत्ति है वह कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग जिसके है वह कायोत्सर्गी है अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत मुनि आदि भव्य जीव कायोत्सर्ग करनेवाले हैं। तथा कायोत्सर्ग के हेतु—निमित्त को कारण कहते हैं। इन तीनों की प्ररूपणा आचार्य स्वयं करते हैं।

पहले कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जो चार अंगुल के अन्तर से समपाद रूप है, जिसमें दोनों बाहु लटका दी गई हैं, जो सर्वांग के चलन से रहित, विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग कहलाता है ॥६५२॥

आचारवृत्ति—जिस अवस्था विशेष में दोनों भुजाओं को लम्बित कर दिया है, पैरों में चार अंगुल अन्तर रखकर दोनों पैर समान किये हैं; जिसमें हाथ, पैर, मस्तक, ग्रीवा, नेत्र

विशुद्धः कायोत्सर्गो भवतीति ॥६५२॥

कायोत्सर्गिकस्वरूपनिरूपणायाह—

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा ॥६५३॥

मोक्षमर्थयत इति मोक्षार्थी कर्मक्षयप्रयोजनः, जिता निद्रा येनासौ जितनिद्रः जागरणशीलः सूत्रञ्चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोर्विशारदो निपुणः सूत्रार्थविशारदः, करणेन क्रियया परिणामेन शुद्धः करणशुद्धः आत्माहारशक्तिक्षयोपशमशक्तिसहितः कायोत्सर्गी विशुद्धात्मा भवति ज्ञातव्य इति ॥६५३॥

कायोत्सर्गमधिष्ठातुकामः प्राह—

काउस्सग्गं मोक्खपहदेसयं घादिकम्म अदिचारं।
इच्छामि अहिट्ठादुं जिणसेविद देसिदत्तादो ॥६५४॥

कायोत्सर्गं मोक्षपथदेशकं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपकारकं घातिकर्मणां ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मणामतीचारं विनाशनं घातिकर्मविध्वंसकमिच्छाम्यहमधिष्ठातुं यतः कायोत्सर्गो [1]जिनदेशितः सेवितश्च तस्मात्तमधिष्ठातुमिच्छामीति ॥६५४॥

और भौंह आदि का विकार—हलन-चलन नहीं है, एवं जो सर्व आक्षेप से रहित है, इस प्रकार से जो विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग होता है।

कायोत्सर्गी का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—मोक्ष का इच्छुक, निद्राविजयी, सूत्र और उसके अर्थ में प्रवीण, क्रिया से शुद्ध, आत्मा के बल और वीर्य से युक्त, विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्ग को करनेवाला होता है ॥६५३॥

आचारवृत्ति—जो मोक्ष को चाहता है वह मोक्षार्थी है अर्थात् कर्म क्षय के प्रयोजन वाला है। जिसने निद्रा जीत ली है वह जागरणशील है। जो सूत्र और उनके अर्थ इन दोनों में निपुण है, जो तेरह प्रकार की क्रिया और परिणाम से शुद्ध—निर्मल है, जो आत्मा की आहार से होनेवाली शक्ति और कर्मों के क्षयोपशम की शक्ति से सहित है ऐसा विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्गी होता है।

कायोत्सर्ग के अनुष्ठान की इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो मोक्ष मार्ग का उपदेशक है, घाति कर्म का नाशक है, जिनेन्द्रदेव द्वारा सेवित है और उपदिष्ट है ऐसे कायोत्सर्ग को मैं धारण करना चाहता हूँ ॥६५४॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपकारक है; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों का विध्वंसक है, ऐसे कायोत्सर्ग का मैं अधिष्ठान करना चाहता हूँ क्योंकि वह जिनवरों द्वारा सेवन किया गया है और उन्हीं के द्वारा कहा गया है।

---

१ क जिनेन्द्रदेशितः।

कायोत्सर्गस्य कारणमाह—

एगपदमस्सिदस्सवि जो अदिचारो दु रागदोसेहिं।
गुत्तीहिं[1] वदिकमो वा चदुहिं कसाएहिं व [2]वदेहिं ॥६५५॥
छज्जीवणिकाएहिं भयमयठाणेहिं बंभधम्मेहिं[3]।
काउस्सग्गं ठामिय तं कम्मणिघादणट्ठाए ॥६५६॥

एकपदमाश्रितस्यैकपदेन स्थितस्य योऽतीचारो भवति रागद्वेषाभ्यां तथा गुप्तीनां यो व्यतिक्रमः कषायैश्चतुर्भिः स्यात् व्रतविषये वा यो व्यतिक्रमः स्यात् ॥६५५॥

तथा—

षट्जीवनिकायैः पृथिव्यादिकायविराधनद्वारेण यो व्यतिक्रमस्तथा भयमदस्थानैः सप्तभयाष्टमदद्वारेण यो व्यतिक्रमस्तथा ब्रह्मचर्यविषये यो व्यतिक्रमस्तेनाऽऽगतं यत्कर्मैकपदाद्याश्रितस्य गुप्त्यादिव्यतिक्रमेण च यत्कर्म तस्य कर्मणो निघातनाय कायोत्सर्गमधितिष्ठामि कायोत्सर्गेण तिष्ठामीति सम्बन्धः, अथ वैकपदस्थितस्यापि रागद्वेषाभ्यामतीचारो भवति यतः किं पुनर्भ्रमति ततो घातनार्थं कर्मणां तिष्ठामीति ॥६५६॥

पुनरपि कायोत्सर्गकारणमाह—

जे केई उवसग्गा देवमाणुसतिरिक्खचेदणिया।
ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संतो ॥६५७॥

कायोत्सर्ग के कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—एक पद[4] का आश्रय लेनेवाले के जो अतीचार हुआ है, राग-द्वेष इन दो से तीन गुप्तियों में अथवा चार कषायों द्वारा वा पाँच व्रतों में जो व्यतिक्रम हुआ है, छह जीव निकायों से, सात भयों से, आठ मद स्थानों से, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति में और दशधर्मों में जो व्यतिक्रम हुआ है उनकर्मों का घात करने के लिए मैं कायोत्सर्ग का अनुष्ठान करता हूँ ॥६५५-६५६॥

आचारवृत्ति—एक पद से स्थित हुए—एक पैर से खड़े हुए जीव के—(?)जोअतिचार होता है, राग और द्वेष से जो व्यतिक्रम हुआ है, तीन गुप्तियों का जो व्यतिक्रम हुआ है, चार कषायों से और पांच व्रतों के विषय में जो व्यतिक्रम हुआ है; पृथिवी, जल आदि षट्कायों की विराधना के द्वारा जो व्यतिक्रम हुआ है, तथा सातभय और आठ मद के द्वारा जो व्यतिक्रम हुआ है, ब्रह्मचर्य के विषय में जो व्यतिक्रम अर्थात् अतिचार हुआ है, अर्थात् इनसे जो कर्मों का आना हुआ है उन कर्मों का नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग को स्वीकार करता हूँ।

अथवा एक पैर से खड़े होने पर भी राग-द्वेष के द्वारा अतीचार होते हैं तो पुनः तुम क्यों भ्रमण करते हो? ऐसा समझकर ही मैं उन राग-द्वेष आदि के द्वारा हुए अतीचारों को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग में स्थित होता हूँ।

पुनरपि कायोत्सर्ग के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत जो कोई भी उपसर्ग हैं, कायोत्सर्ग में स्थित हुआ मैं उन सबको सहन करता हूँ ॥६५७॥

---

१ क गुत्तीवदिक्कमो। २ क वदएहिं। ३ क 'भकम्पे'। ४ एकैकभावे अणाचारे— एक पद का आश्रय अर्थात् एक किसी व्रत में अनाचार हो जाने पर।

ये केचनोपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता अचेतना विद्युदशन्यादिकृतान् सर्वानिधयासे सम्यग्विधानेन सहेऽहं कायोत्सर्गे स्थितः सन्, उपसर्गेष्वागतेषु कायोत्सर्गः कर्तव्यः कायोत्सर्गेण वा स्थितस्य यद्युपसर्गाः समुपस्थिताः भवन्ति तेऽपि सहनीया इति ॥६५७॥

कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥६५८॥

संवत्सरं द्वादशमासमात्रं उत्कृष्टं प्रमाणं कायोत्सर्गस्य। जघन्येन प्रमाणं कायोत्सर्गस्यान्तर्मुहूर्तमात्रं। संवत्सरान्तर्मुहूर्तमध्येऽनेकविकल्पा दिवसराश्यहोरात्र्यादिभेदभिन्नाः शेषाः कायोत्सर्गा अनेकेषु स्थानेषु बहुस्थानविशेषेषु शक्त्यपेक्षया कार्याः, कालद्रव्यक्षेत्रभावकायोत्सर्गविकल्पा भवन्तीति ॥६५८॥

दैवसिकादिप्रतिक्रमणे कायोत्सर्गस्य प्रमाणमाह—

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण ॥६५९॥

अष्टभिरधिकं शतमष्टोत्तरशतं[1] दैवसिके प्रतिक्रमणे दैवसिकप्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे उच्छ्वासा-

---

आचारवृत्ति—देव, मनुष्य या तिर्यंच के द्वारा किए गये, अथवा बिजली, वज्रपात आदि अचेतन कृत हुए जो कोई भी उपसर्ग हैं, कायोत्सर्ग में स्थित हुआ, उन सबको मैं सम्यक् प्रकार से सहन करता हूँ। उपसर्गों के आ जाने पर कायोत्सर्ग करना चाहिए अथवा कायोत्सर्ग से स्थित हुए हैं और यदि उपसर्ग आ जाते हैं तो भी उन्हें सहन करना चाहिए। ऐसा अभिप्राय है।

कायोत्सर्ग के प्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—एक वर्ष तक कायोत्सर्ग उत्कृष्ट है और अन्तर्मुहूर्त का जघन्य होता है। शेष कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में होते हैं ॥६५८॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग का द्वादशमासपर्यंत उत्कृष्ट प्रमाण है, अन्तर्मुहूर्त मात्र जघन्य प्रमाण है। तथा वर्ष के और अन्तर्मुहूर्त के मध्य में दिवस, रात्रि, अहोरात्र आदि भेदरूप अनेकों विकल्प होते हैं। ये सब मध्यमकाल के कहलाते हैं। अपनी शक्ति की अपेक्षा से बहुत से स्थान विशेषों में ये कायोत्सर्ग करना चाहिए। काल, द्रव्य, क्षेत्र और भाव से भी कायोत्सर्ग के भेद हो जाते हैं।

दैवसिक आदि प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रमत्त साधु को और भत्ति में दैवसिक के एक सौ आठ, रात्रिक के इससे आधे—चौवन और पाक्षिक के तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए ॥६५९॥

आचारवृत्ति—दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना

---

1 क 'अष्टशतं।

नामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं । कल्लद्धं रात्रिकप्रतिक्रमणविषयकायोत्सर्गे चतुःपंचाशदुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । पाक्षिके च प्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे त्रीणि शतानि उच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि विधेयानि । नियमान्ते वीरभक्तिकायोत्सर्गकाले अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन यत्नवता विशेषे[1] सिद्धभक्तिप्रतिक्रमणभक्तिचतुर्विंशतितीर्थकरभक्तिकरणकायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्तव्या इति ॥६५६॥

चातुर्मासिकसांवत्सरिककायोत्सर्गप्रमाणमाह—

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे[2] य पंचसदा ।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥६६०॥

चातुर्मासिके प्रतिक्रमणे चत्वारि शतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि । सांवत्सरिके च प्रतिक्रमणे पंचशतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि नियमान्ते कायोत्सर्गप्रमाणमेतच्छेषेषु पूर्ववत् द्रष्टव्यः । एवं

चाहिए, अर्थात् छत्तीस बार णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण विषयक कायोत्सर्ग में चौवन उच्छ्वास अर्थात् अठारह बार णमोकार मन्त्र करना चाहिए । पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमांत—अर्थात् वीर भक्ति के कायोत्सर्ग के समय प्रयत्नशील मुनि को प्रमाद रहित होकर करना चाहिए । तथा विशेष में अर्थात् सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के कायोत्सर्ग में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् नौ बार णमोकार मन्त्र जपना चाहिए ।

भावार्थ—दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में चार भक्तियाँ की जाती हैं—सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर। इनमें से तीन भक्तियों के कायोत्सर्ग में तो २७-२७ उच्छ्वास करना होते हैं और वीर भक्ति में उपर्युक्त प्रमाण से उच्छ्वास होते हैं। पाक्षिक प्रतिक्रमण में ग्यारह भक्तियाँ होती हैं । यथा सिद्ध,चारित्र, सिद्ध,योगि, आचार्य,प्रतिक्रमण, वीर, चतुर्विंशति तीर्थंकर, बृहदालोचनाचार्य, मध्यमालोचनाचार्य और क्षुल्लकालोचनाचार्य । इनमें से नव भक्ति में सत्ताईस उच्छ्वास ही होते हैं, तथा वीर भक्ति में तीन सौ उच्छ्वास होते हैं । एक बार णमोकार मन्त्र के जप में तीन उच्छ्वास होते हैं, यथा—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास; णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास, णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक पद के उच्चारण में एक उच्छ्वास ऐसे तीन होते हैं ।

चातुर्मासिक और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ और सांवत्सरिक में पाँचसौ इस तरह इन पाँच स्थानों में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए ॥६६०॥

आचारवृत्ति—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ उच्छ्वासों का चिंतवन करना और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में पाँच सौ उच्छ्वासों का चिन्तवन करना । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमान्त—वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में होना है । शेष भक्तियों में पूर्ववत् सत्ताईस

---

१ क °विशेषेषु । २ क संवच्छराय ।

कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्याः ॥६६०॥

शेषेषु स्थानेषूच्छ्वासप्रमाणमाह—

[1]पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६१॥

[2]प्राणिवधातीचारे मृषावादातीचारे अदत्तग्रहणातीचारे मैथुनातिचारे परिग्रहातीचारे च कायोत्सर्गे चोच्छ्वासानामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं नियमान्ते[3] सर्वत्र द्रष्टव्यं शेषेषु पूर्ववदिति ॥६६१॥

पुनरपि कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा ॥६६२॥

भक्ते पाने च गोचरे प्रतिक्रमणविषये गोचरादागतस्य कायोत्सर्गे पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या भवन्ति, प्रस्तुतात् ग्रामादन्यग्रामो ग्रामान्तरं ग्रामान्तरगमनविषये च कायोत्सर्गे च पंचविंशतिरुच्छ्वासाः

उच्छ्वास करना चाहिए। इस तरह कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का वर्णन पाँच स्थानों में किया गया है।

भावार्थ—पाक्षिक के समान चातुर्मासिक और वार्षिक में भी ग्यारह भक्तियां होती हैं जिनके नाम ऊपर भावार्थ में बताए गए हैं। उनमें से वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में उपर्युक्त प्रमाण है। बाकी भक्तियों में नववार णमोकार मन्त्र का जाप्य होता है। इस तरह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक ऐसे पांच स्थानों के कायोत्सर्ग सम्बन्धी उच्छ्वासों का प्रमाण बताया है।

अब शेष स्थानों में उच्छ्वासों का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन दोषों के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए ॥६६१॥

आचारवृत्ति—प्राणिवध के अतीचार में, असत्यभाषण के अतीचार में, अदत्तग्रहण के अतीचार में, मैथुन के अतीचार में और परिग्रह के अतीचार में कायोत्सर्ग करने में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए। यहाँ भी वीरभक्ति के कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का यह प्रमाण है, शेष भक्तियों में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए।

पुनरपि कायोत्सर्ग का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास होते हैं ॥६६२॥

आचारवृत्ति—गोचर प्रतिक्रमण अर्थात् आहार से आकर कायोत्सर्ग करने में पच्चीस उच्छ्वास करने होते हैं। प्रस्तुत ग्राम से अन्य ग्राम को ग्रामान्तर कहते हैं अर्थात् एक ग्राम से

---

१ क पाण°। २ क प्राण°। ३ क °न्तेषु।

नामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं । कल्लद्ध रात्रिकप्रतिक्रमणविषयकायोत्सर्गे चतुःपंचाशदुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । पाक्षिके च प्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे त्रीणि शतानि उच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्यातव्यानि विधेयानि। नियमान्ते वीरभक्तिकायोत्सर्गकाले अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन यत्नवता विशेषे[1] सिद्धभक्तिप्रतिक्रमणभक्तिचतुर्विंशति-तीर्थंकरभक्तिकरणकायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या इति ॥६५६॥

चातुर्मासिकसांवत्सरिककायोत्सर्गप्रमाणमाह—

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे[2] य पंचसदा ।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥६६०॥

चातुर्मासिके प्रतिक्रमणे चत्वारि शतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि । सांवत्सरिके च प्रतिक्रमणे पंचशतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्यातव्यानि नियमान्ते कायोत्सर्गप्रमाणमेतच्छेषेषु पूर्ववत् द्रष्टव्यः । एवं

चाहिए, अर्थात् छत्तीस वार णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण विषयक कायोत्सर्ग में चौवन उच्छ्वास अर्थात् अठारह बार णमोकार मन्त्र करना चाहिए। पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमांत —अर्थात् वीर भक्ति के कायोत्सर्ग के समय प्रयत्नशील मुनि को प्रमाद रहित होकर करना चाहिए । तथा विशेष में अर्थात् सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के कायोत्सर्ग में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् नौ बार णमोकार मन्त्र जपना चाहिए ।

भावार्थ—दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में चार भक्तियाँ की जाती हैं—सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर। इनमें से तीन भक्तियों के कायोत्सर्ग में तो २७-२७ उच्छ्वास करना होते हैं और वीर भक्ति में उपर्युक्त प्रमाण से उच्छ्वास होते हैं। पाक्षिक प्रतिक्रमण में ग्यारह भक्तियाँ होती हैं। यथा सिद्ध,चारित्र, सिद्ध,योगि, आचार्य,प्रतिक्रमण, वीर, चतुर्विंशति तीर्थंकर, बृहदालोचनाचार्य, मध्यमालोचनाचार्य और क्षुल्लकालोचनाचार्य। इनमें से नव भक्ति में सत्ताईस उच्छ्वास ही होते हैं, तथा वीर भक्ति में तीन सौ उच्छ्वास होते हैं। एक वार णमोकार मन्त्र के जप में तीन उच्छ्वास होते हैं, यथा—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास; णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास, णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक पद के उच्चारण में एक उच्छ्वास ऐसे तीन होते हैं।

चातुर्मासिक और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ और सांवत्सारिक में पांचसौ इस तरह इन पांच स्थानों में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए ॥६६०॥

आचारवृत्ति—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ उच्छ्वासों का चिंतवन करना और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में पाँच सौ उच्छ्वासों का चिन्तवन करना। ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमान्त—वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में होता है। शेष भक्तियों में पूर्ववत् सत्ताईस

---

१ क विशेषेषु। २ क संवच्छराय।

कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्याः ॥६६०॥

शेषेषु स्थानेषूच्छ्वासप्रमाणमाह—

[1]पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव ।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६१॥

[2]प्राणिवधातीचारे मृषावादातीचारे अदत्तग्रहणातीचारे मैथुनातिचारे परिग्रहातीचारे च कायोत्सर्गे ओच्छ्वासानामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं नियमान्ते' सर्वत्र द्रष्टव्यं शेषेषु पूर्ववदिति ॥६६१॥

पुनरपि कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु ।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा ॥६६२॥

भक्ते पाने च गोचरे प्रतिक्रमणविषये गोचरादागतस्य कायोत्सर्गे पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या भवन्ति, प्रस्तुतात् ग्रामादन्यग्रामो ग्रामान्तरं ग्रामान्तरगमनविषये च कायोत्सर्गे च पंचविंशतिरुच्छ्वासाः

उच्छ्वास करना चाहिए। इस तरह कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का वर्णन पाँच स्थानों में किया गया है।

भावार्थ—पाक्षिक के समान चातुर्मासिक और वार्षिक में भी ग्यारह भक्तियाँ होती हैं जिनके नाम ऊपर भावार्थ में बताए गए हैं। उनमें से वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में उपर्युक्त प्रमाण है। बाकी भक्तियों में नवबार णमोकार मन्त्र का जाप्य होता है। इस तरह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक ऐसे पाँच स्थानों के कायोत्सर्ग सम्बन्धी उच्छ्वासों का प्रमाण बताया है।

अब शेष स्थानों में उच्छ्वासों का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन दोषों के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए ॥६६१॥

आचारवृत्ति—प्राणिवध के अतीचार में, असत्यभाषण के अतीचार में, अदत्तग्रहण के अतीचार में, मैथुन के अतीचार में और परिग्रह के अतीचार में कायोत्सर्ग करने में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए। यहाँ भी वीरभक्ति के कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का यह प्रमाण है, शेष भक्तियों में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए।

पुनरपि कायोत्सर्ग का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास होते हैं ॥६६२॥

आचारवृत्ति—गोचर प्रतिक्रमण अर्थात् आहार से आकर कायोत्सर्ग करने में पच्चीस उच्छ्वास करने होते हैं। प्रस्तुत ग्राम से अन्य ग्राम को ग्रामान्तर कहते हैं अर्थात् एक ग्राम से

---

१ क पाण°। २ क प्राण°। ३ क °षेषु।

कर्त्तव्याः तथार्हच्छय्यायां जिनेन्द्रनिर्वाणसमवसृतिकेवलज्ञानोत्पत्तिनिष्क्रमणजन्मभूमिस्थानेषु वन्दनाभक्तिहेतोर्गतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्याः । तथा श्रमणशय्यायां निषद्यिकास्थानं गत्वाऽऽगतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्यास्तथोच्चारे वहिर्भूमिगमनं कृत्वा[1] प्रस्रवणे प्रस्रवणं च कृत्वा यः कायोत्सर्गः क्रियते तत्र नियमेनेति ॥६६२॥

तथा—

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६३॥

उद्देशे ग्रन्थादिप्रारम्भकाले निर्देशे प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तौ च कायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । तथा स्वाध्याये स्वाध्यायविषये कायोत्सर्गास्तेषु च सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । तथा वन्दनायां ये कायोत्सर्गास्तेषु च प्रणिधाने च मनोविकारे चाशुभपरिणामे तत्क्षणोत्पन्ने सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्या इति ॥६६३॥

एवं प्रतिपादितक्रमं कायोत्सर्गं किमर्थमधितिष्ठन्तीत्याह—

काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥६६५॥

दूसरे ग्राम में जाने पर कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। जिनेन्द्रदेव की निर्वाण भूमि, समवसरण भूमि, केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान, निष्क्रमणभूमि और जन्मभूमि इन स्थानों की वन्दना भक्ति के लिए जाने पर कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। श्रमण शय्या—मुनियों के निषद्या स्थान में जाकर आने से कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। तथा वहिर्भूमि गमन—मलविसर्जन के बाद और मूत्र विसर्जन के बाद नियम से पच्चीस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

उसी प्रकार और भी बताते हैं—

गाथार्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में, समाप्ति में, स्वाध्याय में, वन्दना में और अशुभ परिणाम के होने पर कायोत्सर्ग करने में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए ॥६६३॥

आचारवृत्ति—उद्देश—ग्रन्थादि के प्रारम्भ करते समय, निर्देश—प्रारम्भ किए ग्रन्थादि की समाप्ति के समय कायोत्सर्ग में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए। स्वाध्याय के कायोत्सर्गों में तथा वन्दना के कायोत्सर्गों में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए। इसी तरह प्रणिधान—मन के विकार के होने पर और अशुभ परिणाम के तत्क्षण उत्पन्न होने पर सत्ताईस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

इस प्रतिपादित क्रम से कायोत्सर्ग किसलिए करते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—मोक्षमार्ग में स्थित होकर ईर्यापथ के अतीचार शोधन हेतु शरीर से ममत्व छोड़कर साधु दुःखों के क्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ॥६६४॥

---

१ क कृत्वा यः कायोत्सर्गः क्रियते तत्र गतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे नियमेन कर्त्तव्या इति।

ईर्यापथातीचारनिमित्तं कायोत्सर्गं मोक्षमार्गं स्थित्वा व्युत्सृष्टत्यक्तदेहाः सन्तः मुक्ताः कुर्वन्ति दुःखक्षयार्थमिति ॥६६४॥

तथा—

भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासियवरिसचरिमेसु।
[1]णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ॥६६५॥*

भक्तपानग्रामान्तरचातुर्मासिकसांवत्सरिकचरमोत्तमार्थविषयं ज्ञात्वा कायोत्सर्गे तिष्ठन्ति दैवसिकादिषु च धीरा अत्यर्थं दुःखक्षयार्थं नान्येन कार्येणेति ॥६६५॥

यदर्थं कायोत्सर्गं करोति तमेवार्थं चिन्तयतीत्याह—

काओसग्गह्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अदिचारं।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो ॥६६६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

तथा और भी हेतु बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन, पान, ग्रामान्तर गमन, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इनको जानकर धीर मुनि अत्यर्थ रूप से दुःखक्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ॥६६५॥

आचारवृत्ति—आहार, विहार, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन विषयों को जानकर धैर्यवान् साधु अतिशय रूप से दुःखक्षय के लिए दैवसिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाओं के कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए नहीं।

भावार्थ—साधु अपने आहार, विहार आदि चर्याओं के दोष शोधन में तथा पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी क्रियाओं में कायोत्सर्ग धारण करते हैं, सो केवल संसार के दुःखों से छूटने के लिए ही करते हैं, न कि अन्य किसी लौकिक प्रयोजन आदि के लिए, ऐसा अभिप्राय समझना।

साधु जिस लिए कायोत्सर्ग करते हैं उसी अर्थ का चिन्तवन करते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग में स्थित हुआ साधु ईर्यापथ के अतिचार के विनाश का चिन्तवन करता हुआ उन सबको समाप्त करके धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करे ॥६६६॥

---

१ क णाऊण ठंति धीरा घणिदं।

*फलटन से गाथा में अन्तर है—

एवं दिवसियराइयपक्खिय चाउम्मासियवरिसचरिमेसु।
णादूण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ॥

अर्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन सबको प्रतिक्रमणों के विषय को जानकर धीर साधु दुःखों का अत्यन्त क्षय करने के लिए कायोत्सर्ग धारण करते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए नहीं।

कायोत्सर्गे स्थितः सन् ईर्यापथस्यातीचारं विनाशं चिन्तयन् तं नियमं सर्वं निरवशेषं समाप्य समाप्ति नीत्वा पश्चाद्धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च चिन्तयत्विति ॥६६६॥

तथा—

तह दिवसियरादियपक्खियचदुमासियवरिसचरिमेसु।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो ॥६६७॥

एवं यथा ईर्यापथातीचारार्थं दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमार्थान् नियमान् तान् समाप्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं ध्यायेत्, न तावन्मात्रेण तिष्ठेदित्यनेनालस्याद्यभावः कथितो भवतीति ॥६६७॥

कायोत्सर्गस्य दृष्टं फलमाह—

काओसग्गह्मि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ।
तह भिज्जदि कम्मरयं काउस्सग्गस्स करणेण ॥६६८॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में स्थित होकर साधु ईर्यापथ के अतीचार के विनाश का चिन्तवन करते हुए उन सब नियमों को समाप्त करके पुनः धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अवलम्बन लेवे।

उसी को और बताते हैं—

गाथार्थ—उसी प्रकार से दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन सब नियमों को समाप्त करके धर्म और शुक्ल ध्यान का चिंतवन करे ॥६६७॥

आचारवृत्ति—जैसे पूर्व की गाथा में ईर्यापथ के अतीचार के लिए बताया है वैसे ही दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थ इन नियम—प्रतिक्रमणों को समाप्त करके—पूर्ण करके पुनः वह साधु धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को ध्यावे, उतने मात्र से ही संतोष नहीं कर लेवे, इस कथन से आलस्य आदि का अभाव कहा गया है।

भावार्थ—ईर्यापथ, दैवसिक, रात्रिक आदि भेदों से प्रतिक्रमण के सात भेद कहे गए हैं, सो ये अपने-अपने नामों के अनुसार उन-उन सम्बन्धी दोषों के दूर करने हेतु ही हैं। इन प्रतिक्रमणों के मध्य कायोत्सर्ग करना होता है, उसके उच्छ्वासों का प्रमाण बता चुके हैं। यहाँ यह कहना है कि इन प्रतिक्रमणों को पूर्ण करके साधु उतने मात्र से ही संतुष्ट न हो जावे, किन्तु आगे आलस्य को छोड़कर धर्मध्यान करे या शक्तिवान् है तो शुक्लध्यान करे, प्रतिक्रमण मात्र से ही अपने को कृतकृत्य न मान बैठे।

कायोत्सर्ग का प्रत्यक्ष फल दिखाते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग करने पर जैसे अंग-उपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं। वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मरज अलग हो जाती है ॥६६८॥

कायोत्सर्गे हि स्फुटं कृते यथा भिद्यन्तेऽगोपांगसंधयः शरीरावयवास्तथा भिद्यते कर्मरजः कायोत्सर्गकरणेनेति ॥६६८॥

द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षमाह—

बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं ।
काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ॥६६९॥

बलवीर्यं चौषधाद्याहारशक्तिं वीर्यान्तरायक्षयोपशमं वाऽऽश्रित्य क्षेत्रबलं कालबलं चाश्रित्य शरीरं व्याध्यनुपहतसंहननवज्रर्षभनाराचादिकमपेक्ष्य कायोत्सर्गं कुर्यात्, इमांस्तु कथ्यमानान् दोषान्परिहरन्निति ॥६६९॥

तान् दोषानाह—

घोडय लदा य खंभे कुड्डे माले सवरवधू णिगले ।
लंबुत्तरथणदिट्ठी वायस खलिणे जुग कविट्ठे ॥६७०॥

सीसपकंपिय मुइयं अंगुलि भूविकार वारुणीपेयी ।
काओसग्गेण ठिदो एदे दोसे परिहरेज्जो ॥६७१॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में हलन-चलन रहित शरीर के स्थिर होने से जैसे शरीर के अवयव भिद जाते हैं वैसे ही कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मधूलि भी आत्मा से पृथक् हो जाती है।

द्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा को कहते हैं—

गाथार्थ—बल-वीर्य, क्षेत्र, काल और शरीर के संहनन का आश्रय लेकर इन दोषों का परिहार करते हुए साधु कायोत्सर्ग करे ॥६६९॥

आचारवृत्ति—औषधि और आहार आदि से हुई शक्ति को बल कहते हैं तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की शक्ति को वीर्य कहते हैं। इन बल और वीर्य को देखकर तथा क्षेत्रबल और कालबल का भी आश्रय लेकर व्याधि से रहित शरीर एवं वज्रवृषभनाराच आदि संहनन की भी अपेक्षा करके साधु कायोत्सर्ग करे। तथा आगे कहे जाने वाले दोषों का परिहार करते हुए कायोत्सर्ग धारण करे। अर्थात् अपनी शरीर शक्ति, क्षेत्र, काल आदि को देखकर उनके अनुरूप कायोत्सर्ग करे। अधिक शक्ति होने से अधिक समय तक कायोत्सर्ग में स्थित रह सकती है अतः अपनी शक्ति को न छिपाकर कायोत्सर्ग करे।

कायोत्सर्ग के दोषों को कहते हैं—

गाथार्थ—घोटक, लता, स्तम्भ, कुड्य, माला, शबरवधू, निगड, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस, खलिन, युग और कपित्थ—ये तेरह दोष हुए।

शीश-प्रकम्पित, मूकत्व, अंगुलि, भ्रूविकार और वारुणीपायी ये दोष हुए, इस प्रकार इन अठारह दोषों का परिहार करे।

आलोगणं दिसाणं गीवाउण्णामणं पणमणं च ।
णिट्ठीवणंगमरिसो काउसग्गह्मि वज्जिज्जो ॥६७२॥

घोडय घोटकस्तुरगः स यथा एकं पादमुत्क्षिप्य विनम्य वा तिष्ठति तथा यः कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य घोटकसदृशो घोटकदोषः, तथा लता इवांगानि चालयन्यः तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य लतादोषः। स्तंभमाश्रित्य यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य स्तंभदोष । स्तंभवत् शून्यहृदयो वा तत्साहचर्येण स एवोच्यते । तथा कुड्यमाश्रित्य कायोत्सर्गेण यस्तिष्ठति तस्य कुड्यदोषः । साहचर्यादुपलक्षणमात्रमेतदन्यदप्याश्रित्य न स्थातव्यमिति ज्ञापयति, तथा मालापीठाद्युपरि स्थानं अथवा मस्तकादूर्ध्वं यत्तदाश्रित्य मस्तकस्योपरि यदि किंचिदत्र गतिस्तथापि यदि कायोत्सर्गः क्रियते स मालदोषः। तथा शवरवधूरिव जंघाभ्यां जघनं निपीड्य कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य शवरवधूदोषः, तथा निगडपीडित इव पादयोर्महदन्तरालं कृत्वा यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य निगडदोषः, तथा लंबमानो नाभेरूर्ध्वभागो भवति वा कायोत्सर्गस्यस्योन्नमनमधोनमनं वा च भवति तस्य

दश दिशाओं का अवलोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन और अंगामर्श कायोत्सर्ग में इन बत्तीस दोषों का परिहार करे ॥६७०-६७२॥

आचारवृत्ति—वन्दना के सदृश कायोत्सर्ग के भी बत्तीस दोष होते हैं, उनको पृथक्-पृथक् दिखाते हैं।

१. घोटक—घोड़ा जैसे एक पैर को उठाकर अथवा झुकाकर खड़ा होता है उसी प्रकार से जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके घोटक सदृश यह घोटक नाम का दोष होता है।

२. लता—लता के समान अंगों को हिलाते हुए, जो कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह लता दोष होता है।

३. स्तम्भ—जो खम्भे का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करते हैं अथवा स्तम्भ के समान शून्य हृदय होकर करते हैं उसके साहचर्य से यह वही दोष हो जाता है अर्थात् उनके यह स्तम्भ दोष होता है।

४. कुड्य—भित्ती—दीवाल का आश्रय लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह कुड्य दोष होता है। अथवा साहचर्य से यह उपलक्षण मात्र है। इससे अन्य का भी आश्रय लेकर नहीं खड़े होना चाहिए ऐसा सूचित होता है।

५. माला—माला—पीठ-आसन आदि के ऊपर खड़े होना अथवा सिर के ऊपर कोई रज्जु वगैरह का आश्रय लेकर अथवा सिर के ऊपर जो कुछ वहाँ हो, फिर भी कायोत्सर्ग करना वह मालदोष है।

६. शवरवधू—भिल्लनी के समान दोनों जंघाओं से जंघाओं को पीड़ित करके जो कायोत्सर्ग से खड़े होते हैं उनके यह शवरवधू नाम का दोष है।

७. निगड—बेड़ी से पीड़ित हुए के समान पैरों में बहुत सा अन्तराल करके जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके निगडदोष होता है।

- लम्बोत्तर—नाभि से ऊपर का भाग लम्बा करके कायोत्सर्ग करना अथवा कायो-

लंबोत्तरदोषो भवति। तथा यस्य कायोत्सर्गस्थस्य स्तनयोर्दृष्टिरात्मीयौ स्तनौ यः पश्यति तस्य स्तनदृष्टिनामा दोषः। तथा यः कायोत्सर्गस्थो वायस इव काक इव पार्श्वं पश्यति तस्य वायसदोषः। तथा यः खलीनपीडितोऽश्व इव दन्तकटकटं मस्तकं कृत्वा कायोत्सर्गं करोति तस्य खलीनदोषः। तथा यो युगनिपीडितबलीवर्दवत् ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य युगदोषः। तथा यः कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य कपित्थदोषः॥६७०॥

तथा—

शिरःप्रकंपितं कायोत्सर्गेण स्थितो यः शिरः प्रकंपयति चालयति तस्य शिरःप्रकंपितदोषः, मूक इव कायोत्सर्गेण स्थितो मुखविकारं नासिकाविकारं च करोति तस्य मूकितदोषः, तथा यः कायोत्सर्गेण स्थितोंऽगुलिगणनां करोति तस्यांगुलिदोषः, तथा भ्रूविकारः कायोत्सर्गेण स्थितो यो भ्रूविक्षेपं करोति तस्य भ्रूविकारदोषः पादांगुलिनर्तनं वा, तथा यो वारुणीपायीव—सुरापायीवेति घूर्णमानः कायोत्सर्गं करोति तस्य वारुणीपायीदोषः, तस्मादेतान् दोषान् कायोत्सर्गेण स्थितः सन् परिहरेद्वर्जयेदिति॥६७१॥

तथेमांश्च दोषान् परिहरेदित्याह—

त्सर्ग में स्थित होकर शरीर को अधिक ऊंचा करना या अधिक झुकाना सो लम्बोत्तर दोष है।

९. स्तनदृष्टि—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जिसकी दृष्टि अपने स्तनभाग पर रहती है उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष होता है।

१०. वायस—कायोत्सर्ग में स्थित होकर कौवे के समान जो पार्श्वभाग को देखते हैं उनके वायस दोष होता है।

११. खलीन—लगाम से पीडित हुए घोड़े के समान दाँत कटकटाते हुए मस्तक को करके जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके खलीन दोष होता है।

१२. युग—जूआ से पीड़ित हुए बैल के समान गर्दन पसार कर जो कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह युग नाम का दोष होता है।

१३. कपित्थ—जो कपित्थ—कैथे के फल के समान मुट्ठी को करके कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह कपित्थ दोष होता है।

१४. शिरःप्रकंपित—कायोत्सर्ग में स्थित हुए जो शिर को कंपाते हैं उनके शिरःप्रकंपित दोष होता है।

१५. मूकत्व—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो मूक के समान मुखविकार व नाक सिकोड़ना करते हैं उनके मूकित नाम का दोष होता है।

१६. अंगुलि—जो कायोत्सर्ग से स्थित होकर अंगुलियों से गणना करते हैं उनके अंगुलि दोष होता है।

१७. भ्रूविकार—जो कायोत्सर्ग से खड़े हुए भौंहों को चलाते हैं या पैरों की अंगुलियाँ नचाते हैं उनके भ्रूविकार दोष होता है।

१८. वारुणीपायी—मदिरापायी के समान झूमते हुए जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके

कायोत्सर्गेण स्थितो दिशामालोकनं वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो ग्रीवोन्नमनं वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थितः सन् प्रणमनं च वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो निष्ठीवनं पादकरणं च वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थितोऽङ्गामर्शं शरीरपरामर्शं वर्जयेदेतेऽपि दोषाः सन्त्यतो वर्जनीयाः। दशानां दिशामवलोकनानि दश दोषाः, शेषा एकैका इति ॥६७२॥

यथा यथोक्तं कायोत्सर्गं[1] कुर्वन्ति तथाह—

णिक्कूडं सविसेसं बलाणरूवं वयाणुरूवं च।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥६७३॥

निःकूटं मायाप्रपंचान्निर्गतं, सह विशेषेण वर्त्तत इति सविशेषस्तं सविशेषं विशेषतासमन्वितं बलानुरूपं स्वशक्त्यनुरूपं, वयोऽनुरूपं, बालयौवनवार्द्धक्यानुरूपं तथा वीर्यानुरूपं कालानुरूपं च कायोत्सर्गं धीरा दुःखक्षयार्थं कुर्वन्ति तिष्ठन्तीति ॥६७३॥

मायां प्रदर्शयन्नाह—

वारुणीपायी दोष होता है।

१९ से २८. दिशा अवलोकन—कायोत्सर्ग से स्थित हुए दिशाओं का अवलोकन करना। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः। इन दश दिशाओं के निमित्त से दश दोष हो जाते हैं। ये दिशावलोकन दोष हैं।

२९. ग्रीवोन्नमन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर गरदन को अधिक ऊंची करना यह ग्रीवा उन्नमन दोष है।

३०. प्रणमन—कायोत्सर्ग में स्थित हुए गरदन को अधिक झुकाना या प्रणाम करना यह प्रणमन दोष है।

३१. निष्ठीवन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर खखारना, थूकना यह निष्ठीवन दोष है।

३२. अंगामर्श—कायोत्सर्ग में स्थित हुए शरीर का स्पर्श करना यह अंगामर्श दोष है।

कायोत्सर्ग करते समय इन बत्तीस दोषों का परिहार करना चाहिए।

जिन-जिन विशेषताओं से यथोक्त कायोत्सर्ग को करते हैं उन्हें ही बताते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि मायाचार रहित, विशेष सहित, बल के अनुरूप और उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग को दुःखों के क्षयहेतु करते हैं ॥६७३॥

आचारवृत्ति—धीर मुनि दुःखों का क्षय करने के लिए माया प्रपंच से रहित, विशेषताओं से सहित, अपनी शक्ति के अनुरूप और अपनी बाल, युवा या वृद्धावस्था के अनुरूप तथा अपने वीर्य के अनुरूप एवं काल के अनुरूप कायोत्सर्ग को करते हैं।

माया को दिखलाते हैं—

---

१ क करोति।

जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणाय समो।
विसमो य कूडवादी णिव्विण्णाणी य सोय जडो ॥६७४॥

यः पुनस्त्रिशद्वर्षप्रमाणो यौवनस्थः शक्तः सप्ततिसंवत्सरेण सप्ततिसंवत्सरायुःप्रमाणेन वृद्धेन निःशक्तिकेन पारणेनानुष्ठानेन कायोत्सर्गादिसमाप्त्या समः सदृशशक्तिको निःशक्तिकेन सह यः स्पर्द्धां करोति सः साधुर्विषमश्च शान्तरूपो न भवति कूटवादी मायाप्रपंचतत्परो निर्विज्ञानी विज्ञानरहितश्चारित्ररहितश्च जडश्च मूर्खो, न तस्येहलोको नाऽपि परलोक इति ॥६७४॥

कायोत्सर्गस्य भेदानाह—

उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव।
उवविट्ठणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो ॥६७५॥

उत्थितश्चासावुत्थितश्चोत्थितोत्थितो महतोऽपि महान्, तथोत्थितनिविष्टः पूर्वमुत्थितः पश्चान्निविष्ट उत्थितनिविष्टः, कायोत्सर्गेण स्थितोप्यसावासीनो द्रष्टव्यः। उत्थितः, उपविष्टो भूत्वा स्थितो आसीनोऽप्यसौ कायोत्सर्गस्थश्चैव। तथोपविष्टो[1]ऽपि चासावासीनः। एवं कायोत्सर्गः चत्वारि स्थानानि यस्यासौ

गाथार्थ—जो साधु तीस वर्ष की वय वाला है पुनः सत्तर वर्ष वाले के कायोत्सर्ग से समानता करता है वह विषम है, कूटवादी, अज्ञानी और मूढ़ है ॥६७४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि तीस वर्ष की उम्रवाला है—युवावस्था में स्थित है, शक्तिमान है फिर भी यदि वह सत्तर वर्ष की आयु वाले वृद्ध ऐसे अशक्त मुनि के कायोत्सर्ग आदि की समाप्ति रूप अनुष्ठान के साथ बरावरी करता है अर्थात् आप शक्तिमान होकर भी अशक्त मुनि के साथ स्पर्द्धा करता है वह साधु विषम—शान्तरूप नहीं है, माया प्रपंच में तत्पर है, निर्विज्ञानी—विज्ञान रहित और चारित्ररहित है तथा मूर्ख है। न उसका इहलोक ही सुधरता है और न परलोक ही सुधरता है। अर्थात् अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। वृद्धावस्था में शक्ति के ह्रास हो जाने से स्थिरता कम हो जाती है किन्तु युवावस्था में प्रत्येक अनुष्ठान विशेष और अधिक हो सकते हैं।

कायोत्सर्ग के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्टनिविष्ट ऐसे चार भेदरूप कायोत्सर्ग होता है ॥६७५॥

आचारवृत्ति—उत्थितोत्थित—दोनों प्रकार से खड़े होकर जो कायोत्सर्ग होता है अर्थात् जिसमें शरीर से भी खड़े हुए हैं और परिणाम भी धर्म या शुक्ल ध्यान रूप हैं वह कायोत्सर्ग महान् से भी महान् है। पूर्व में उत्थित और पश्चात् निविष्ट अर्थात् कायोत्सर्ग में शरीर से तो खड़े हैं फिर भी भावों से बैठे हुए हैं अर्थात् आर्त या रौद्रध्यान रूप भाव कर रहे हैं, इनका कायोत्सर्ग उत्थित-निविष्ट कहलाता है। जो बैठे हुए भी खड़े हुए हैं अर्थात् बैठकर पद्मासन से कायोत्सर्ग करते हुए भी जिनके परिणाम उज्ज्वल हैं उनका यह कायोत्सर्ग उप-

---

१ क °विष्टनिविष्टोऽपि चासावासीनादप्यासीनः।

चतुःस्थानश्चतुर्विकल्प इति ॥६७५॥

उक्तं च—

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥१॥

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥२॥

[1]धर्मशुक्लद्वयं यत्रोपविष्टेन विधीयते।
तामुपविष्टोत्थितां तांकां निगदंति महाधियः ॥३॥

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुपविष्टोत्थितांकां निगदंति महाधियः ॥४॥

धर्मशुक्लद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनाम्ना तामाभाषन्ते विपश्चितः[2] ॥५॥

उत्थितोत्थितकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

विष्टोत्थित है। तथा जो शरीर से भी वैठे हुए हैं और भावों से भी, उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है। इस तरह कायोत्सर्ग के चार विकल्प हो जाते हैं।

अन्यत्र कहा भी है—

श्लोकार्थ—देह से ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग कहलाता है। उपविष्टोपविष्ट आदि के भेद से वह चार प्रकार का हो जाता है ॥१॥

जिस कायोत्सर्ग में वैठे हुए मुनि आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों का चिन्तवन करते हैं वह उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग कहलाता है ॥२॥

जिस कायोत्सर्ग में वैठे हुए मुनि धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करते हैं बुद्धिमान् लोग उसको उपविष्टोत्थित कहते हैं ॥३॥

जिस कायोत्सर्ग में खड़े हुए साधु आर्तरौद्र का चिन्तवन करते हैं उसको उत्थितोपविष्ट कहते हैं ॥४॥

जिस कायोत्सर्ग में खड़े होकर मुनि धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करते हैं विद्वान लोग उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५॥

उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग का लक्षण कहते हैं—

---

१ क धर्म शुक्लद्वयं य स्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
तामासीनोत्थितां लक्ष्मां निगदन्ति महाधियः ॥

२ क उपासकाचारे उक्तमास्ते।

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम ॥६७६॥

धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं द्वे ध्याने यः कायोत्सर्गस्थितः सन् ध्यायति तस्यैव इह कायोत्सर्गं उत्थितोत्थितो नामेति ॥६७६॥

तयोत्थितनिविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठदो णाम ॥६७७॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानं च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैव कायोत्सर्गं उत्थितनिविष्टनामेति ॥६७७॥

धम्मं सुक्कं च दवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम ॥६७८॥

धर्म्यं शौक्ल्यं च द्वे ध्याने यो निविष्टो ध्यायति तस्यैव कायोत्सर्गं इहागमे उपविष्टोत्थितो नामेति ॥६७८॥

उपविष्टोपविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम ॥६७९॥

गाथार्थ—जो ध्यान में खड़े हुए धर्म और शुक्ल इन दो ध्यान को करते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उत्थितोत्थित नाम वाला है ॥६७६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उत्थितनिविष्ट कायोत्सर्ग कहते हैं—

गाथार्थ—जो कायोत्सर्ग में स्थित हुए आर्त और रौद्र इन दो ध्यान को ध्याते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट नाम वाला है ॥६७७॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उपविष्टोत्थित का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों को ध्याते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित नाम वाला है ॥६७८॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग का लक्षण करते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए ध्यान में आर्त और रौद्र का ध्यान करते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उपविष्टोपविष्ट नामवाला है ॥६७९॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानं च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैष कायोत्सर्गं उपविष्टोपविष्टो नाम ।।६७९।।

कायोत्सर्गेण स्थितः शुभं मनःसंकल्पं कुर्यात् परन्तु कः शुभो मनःसंकल्प इत्याह—

दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गे ।
पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ।।६८०।।

विज्जाचरणमहव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए ।
खमणिग्गह अज्जवमद्दवमुत्तीविणए च सद्दहणे ।।६८१।।

एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो ।
संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं ।।६८२।।

दर्शनज्ञानचारित्रेषु यो मनःसंकल्प उपयोगे ज्ञानदर्शनोपयोगे यश्चित्तव्यापारः संयमविषये यः परिणामः कायोत्सर्गस्य हेतोर्यत् ध्यानं प्रत्याख्यानग्रहणे यः परिणामः करणेषु पंचनमस्कारषडावश्यकासिकानिषद्यकाविषये शुभयोगस्तथा प्रणिधानेषु धर्मध्यानादिविषयपरिणामः समितिषु समितिविषयः परिणामः ।।६८०।।

तथा—

विद्यायां द्वादशांगचतुर्दशपूर्वविषयः संकल्पः, आचरणे भिक्षाशुद्ध्यादिपरिणामः, महाव्रतेषु अहिंसा-

---

आचारवृत्ति—*गाथा* सरल है।

कायोत्सर्ग से स्थित हुए मुनि शुभ मनःसंकल्प करें, तो पुनः शुभ मनःसंकल्प क्या है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र में, उपयोग में, संयम में, व्युत्सर्ग में, प्रत्याख्यान में, क्रियाओं में, धर्मध्यान आदि परिणाम में, तथा समितियों में ।।६८०।।

विद्या, आचरण, महाव्रत, समाधि, गुण और ब्रह्मचर्य में, छह जीवकायों में, क्षमा, निग्रह, आर्जव, मार्दव, मुक्ति, विनय तथा श्रद्धान में ।।६८१।।

मन का संकल्प होना, सो इन गुणों से विशिष्ट महार्थ, प्रशस्त और विश्वस्त संकल्प है। यह सब जिनशासन में सम्मत है ऐसा जानो ।।६८२।।

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो मन का संकल्प है वह *शुभ* संकल्प है, ऐसे ही उपयोग—ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग में जो चित्त का व्यापार, संयम के विषय में परिणाम, कायोत्सर्ग के लिए ध्यान, प्रत्याख्यान के ग्रहण में परिणाम तथा करण में अर्थात् पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया, आसिका और निषधिका इन तेरह क्रियाओं के विषय में शुभयोग तथा प्रणिधान—धर्म-ध्यान आदि विषयक परिणाम और समिति विषयक जो परिणाम हैं वह सब शुभ है।

विद्या—द्वादशांग और चौदह पूर्व विषयक संकल्प अर्थात् उस विषयक परिणाम, आचरण—भिक्षा शुद्धि आदि रूप परिणाम, महाव्रत—अहिंसा आदि पांच महाव्रत विषयक

त्रिविधपरिणामः, दयायां विषयभूतेन पेशलस्वरूपेण परिणामः, सुखे सुखविषयपरिणामः, ब्रह्मचर्ये मैथुनादिरहितविषयपरिणामः, षट्कायेषु पृथिव्यादिकायिकरक्षाविषयपरिणामः, क्षमायां क्रोधोपशमनविषयपरिणामः, निग्रहे इन्द्रियनिग्रहविषयोऽभिलाषः, आर्जवमार्दवविषयः परिणामः, मुक्तौ सर्वसंगपरित्यागविषयपरिणामः, विनयविषयः परिणामः, श्रद्धानविषयः परिणामः ॥६८२॥

उपसंहरन्नाह—

एवंगुणः पूर्वोक्तमनःसंकल्पो मनःपरिणामः महार्थः कर्मक्षयहेतुः प्रशस्तः शोभनो विश्वस्तः सर्वेषां विश्वासयोग्यः संकल्प इति सम्यग्ध्यानमिति विजानीहि जिनशासने सम्यक् सर्वं जानीहीति, एवंविधं ध्यानं कायोत्सर्गे स्थितस्य योग्यमिति ॥६८२॥

अप्रशस्तमाह—

परिवारइड्ढिसक्कारपूयणं असणपाणहेऊ वा ।
लयणसयणासणं भत्तपाणकामट्ठहेऊ वा ॥६८३॥
आणाणिद्देसपमाणकित्तीवण्णणपहावणगुणट्ठं ।
झाणमिणमप्पसत्थं मणसंकप्पो दु वीसत्थो ॥६८४॥

परिणाम, दया आदि—विषयों के संयम अर्थात् दयापूर्वक पेशलस्वरूप परिणाम, सुखविषयक परिणाम, ब्रह्मचर्य—मैथुन के त्यागरूप परिणाम, षट्काय—छह जीवनिकायों की रक्षा का परिणाम, क्षमा—क्रोध के उपशमनविषयक परिणाम, निग्रह—इन्द्रियों के निग्रह की अभिलाषा, आर्जव और मार्दव रूप भाव, मुक्ति—सर्वसंग के त्याग का परिणाम, विनय—विनय का भाव और श्रद्धान—तत्त्वों में श्रद्धा रूप परिणाम, ये सब शुभ हैं।

इन गुणों से विशिष्ट जो मन का संकल्प अर्थात् मन का परिणाम है वह महार्थ—कर्मों के क्षय में हेतु है, प्रशस्त—शोभन है और विश्वस्त—सभी के विश्वास योग्य है। यह संकल्प सम्यक्—समीचीन ध्यान है। पूर्वोक्त ये सभी परिणाम जिनशासन में मान्य हैं। अर्थात् इस प्रकार का ध्यान कायोत्सर्ग में स्थित हुए मुनि के लिए योग्य है—उचित है ऐसा तुम जानो।

भावार्थ—कायोत्सर्ग को करते हुए मुनि यदि दर्शन, ज्ञान आदि में (जिनसूत्र में कथित विषयों में) अपना उपयोग लगाते हैं तो उनका वह शुभ संकल्प प्रशस्त है जो कि उनके योग्य है, क्योंकि शुक्लध्यान के पहले-पहले तो सविकल्प ध्यान ही होता है जो कि नाना विकल्पों रूप ही है।

अप्रशस्त मनःपरिणाम को कहते हैं—

गाथार्थ—परिवार, ऋद्धि, सत्कार, पूजा अथवा भोजन-पान इनके लिए, अथवा लयन, शयन, आसन, भक्त, प्राण, काम और अर्थ के हेतु ॥६८३॥

तथा आज्ञा, निर्देश, प्रमाणता, कीर्ति, प्रशंसा, प्रभावना, गुण और प्रयोजन यह सब ध्यान अप्रशस्त है, ऐसा मन का परिणाम अविश्वस्त—अप्रशस्त है ॥६८४॥

परिवारः पुत्रकलत्रादिकः शिष्यसामान्यसाधुश्रावकादिकः ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वद्रव्यादिका, सत्कारः कार्यादिष्वग्रतः करणं पूजनमर्चनं अशनं भक्तादिकं पानं सुगन्धजलादिकं हेतुः कारणं वा विकल्पार्थः, लयनं उत्कीर्णपर्वतप्रदेशः, शयनं पल्यंकतूलिकादिकं, आसनं वेत्रासनादिकं, भक्तो भक्तियुक्तो जन आत्मभक्तिर्वा, प्राणः सामर्थ्यं दशप्रकाराः प्राणा वा, कामो मैथुनेच्छा, अर्थो द्रव्यादिप्रयोजनं, इत्येवंकारणेन कायोत्सर्गं यः करोति परिवारनिमित्तं विभूतिनिमित्तं सत्कारपूजानिमित्तं चाशनपाननिमित्तं वा लयनशयनासननिमित्तं मम भक्तो जनो भवत्विति मदीया भक्तिर्वा ख्यातिं गच्छत्विति, मदीयं प्राणसामर्थ्यं लोको जानातु मम प्राणरक्षको देवो वा मनुष्यो वा भवत्विति हेतोः यः कायोत्सर्गं करोति, कामहेतुरर्थहेतुश्च यः कायोत्सर्गः स सर्वोऽप्यप्रशस्तो मनःसंकल्प इति ॥६८३॥

करोतु, मां प्रभावयन्तु सर्वेऽपि मदीयान् गुणान् सर्वेऽपि विस्तारयन्त्वित्यर्थं कायोत्सर्गेण ध्यानमिदमप्रशस्तमेवंविधो मनःसंकल्पोऽविश्वस्तोऽविश्वसनीयो न चिन्तनीयोऽप्रशस्तो यत इति ॥६८४॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिमुपसंहरन्नाह—

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
संजमतवड्ढियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥६८५।

कायोत्सर्गनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन, संयमतपोवृद्धिमिच्छतां निर्ग्रन्थानां महर्षीणामिति, नात्र पौनरुक्त्यमाशंकनीयं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणात्सूत्रवार्तिकस्वरूपेण कथनाच्चेति ॥६८५॥

षडावश्यकचूलिकामाह—

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ॥६८६॥

आवश्यकानां फलमाह—अनया गाथया सर्वैरावश्यकैर्निर्युक्तः सम्पूर्णैरस्खलितैः समताद्यावश्य-

---

करें, सभी लोग मेरे गुणों का विस्तार करें, इन प्रयोजनों से जो कायोत्सर्ग करते हैं उनका यह सब ध्यान अप्रशस्त कहलाता है। इस प्रकार का मनःसंकल्प अविश्वस्त है अर्थात् ये सब चिन्तवन अप्रशस्त हैं ऐसा समझना चाहिए।

कायोत्सर्ग निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक, निर्ग्रंथ महर्षियों के लिए मैंने संक्षेप से यह कायोत्सर्ग निर्युक्ति कही है ॥६८५॥

आचारवृत्ति—संयम और तप की वृद्धि की इच्छा रखनेवाले निर्ग्रंथ महर्षियों की कायोत्सर्ग निर्युक्ति मैंने संक्षेप से कही है। यहाँ पर पुनरुक्त दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों का संग्रह किया गया है, तथा सूत्र और वार्तिक के स्वरूप से कथन किया गया है। अर्थात् जैसे सूत्र को पुनः वार्तिक के द्वारा स्पष्ट किया जाता है उसमें पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है उसी प्रकार से यहाँ द्रव्यार्थिक शिष्यों के लिए संक्षिप्त वर्णन किया गया है पुनः पर्यायार्थिक शिष्यों के लिए उसी के भेद-प्रभेदों से विशेष वर्णन भी किया गया है। ऐसा समझना।

अब छह आवश्यकों की चूलिका का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सर्व आवश्यकों से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते हैं ऐसा जानना। जो परिपूर्ण रूप नहीं करते हैं वे नियम से स्वर्गादि में आवास करते हैं ॥६८६॥

आचारवृत्ति—इस गाथा के द्वारा आवश्यक क्रियाओं का फल कह रहे हैं—जो सम्पूर्ण—अस्खलित रूप से समता आदि छहों आवश्यकों से परिणत हो चुके हैं वे निश्चय से सिद्ध हैं। अर्थात् यहाँ भावी में वर्तमान का बहुप्रचार—उपचार है क्योंकि ये मुनि अंतर्मुहूर्त के ऊपर सिद्ध हो जाते हैं। अथवा सिद्ध ही सर्व आवश्यकों से युक्त हैं—सम्पूर्ण हैं,

परिवारः पुत्रकलत्रादिकः शिष्यसामान्यसाधुश्रावकादिकः ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वद्रव्यादिका, सत्कारः कार्यादिष्वग्रतः करणं पूजनमर्चनं अशनं भक्तादिकं पानं सुगन्धजलादिकं हेतुः कारणं वा विकल्पार्थः, लयनं उत्कीर्णपर्वतप्रदेशः, शयनं पल्यंकतूलिकादिकं, आसनं वेत्रासनादिकं, भक्तो भक्तियुक्तो जन आत्मभक्तिर्वा, प्राणः सामर्थ्यं दशप्रकाराः प्राणा वा, कामो मैथुनेच्छा, अर्थो द्रव्यादिप्रयोजनं, इत्येवंकारणेन कायोत्सर्गं यः करोति परिवारनिमित्तं विभूतिनिमित्तं सत्कारपूजानिमित्तं चाशनपाननिमित्तं वा लयनशयनासननिमित्तं मम भक्तो जनो भवत्विति मदीया भक्तिर्वा ख्यातिं गच्छत्विति, मदीयं प्राणसामर्थ्यं लोको जानातु मम प्राणरक्षको देवो वा मनुष्यो वा भवत्विति हेतो यः कायोत्सर्गं करोति, कामहेतुरर्थहेतुश्च यः कायोत्सर्गः स सर्वोऽप्यप्रशस्तो मनःसंकल्प इति ॥६८३॥

आज्ञा आदेशमन्तरेण नीत्वा वर्त्तनं। निर्देशः आदेशो वचनस्यानन्यथा करणं। प्रमाणं सर्वत्र प्रमाणीकरणं। कीर्त्तिः ख्यातिस्तस्या वर्णनं प्रशंसनं। प्रभावनं प्रकाशनं। गुणाः शास्त्रज्ञातृत्वादयोऽर्थः प्रयोजनं, आज्ञां मम सर्वोऽपि करोतु निदेशं मम सर्वोऽपि करोतु प्रमाणीभूतं मां सर्वोऽपि करोतु मम कीर्त्तिवर्णनं सर्वोऽपि

आचारवृत्ति—पुत्र, कलत्र आदि, अथवा शिष्य, सामान्य साधु व श्रावक आदि परिवार कहलाते हैं। हाथी, घोड़े, द्रव्य आदि का वैभव ऋद्धि है, । किसी कार्य आदि में आगे करना सत्कार है, अर्चा करना पूजन है, भोजन आदि अशन है और सुगन्ध जल आदि पान हैं। इनके लिए कायोत्सर्ग करना अप्रशस्त है। उकेरे हुए पर्वत आदि के प्रदेश को लयन—लेनी कहते हैं, पलंग या गद्दे आदि शयन हैं, वेत्रासन—मोढ़ा, सिंहासन, कुर्सी आदि आसन हैं। भक्ति से सहित लोग भक्त हैं अथवा अपनी भक्ति होना भक्त है। सामर्थ्य को प्राण कहते हैं अथवा दश प्रकार के प्राण होते हैं, मैथुन की इच्छा काम है, द्रव्य आदि का प्रयोजन अर्थ कहलाता है। तात्पर्य यह है कि—

जो मुनि इन उपर्युक्त कारणों से कायोत्सर्ग करते हैं अर्थात् परिवार के निमित्त, विभूति के निमित्त, सत्कार व पूजा के लिए तथा भोजन पान के हेतु अथवा लयन-शयन-आसन के लिए तथा लोग मेरे भक्त हो जावें या मेरी भक्ति खूब होवे, मेरी ख्याति फैले, मेरे प्राण सामर्थ्य को लोग जानें, देव या मनुष्य मेरे प्राणों के रक्षक होवें, इन हेतुओं से जो कायोत्सर्ग करते हैं तथा कामहेतु और अर्थहेतु जो कायोत्सर्ग है वह सब कायोत्सर्ग अप्रशस्त मन का परिणाम है ऐसा समझना।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

आदेश के बिना आज्ञा लेकर वर्तन करें वह आज्ञा है। वचन को अन्यथा न करें अर्थात् कहे हुए वचन के अनुसार ही लोग प्रवृत्ति करें सो आदेश है। सभी स्थानों में प्रमाणभूत स्वीकार करें सो प्रमाणता है। कीर्ति—ख्याति से प्रशंसा होवे, प्रभावना होवे, शास्त्र के जानने आदि रूप गुण प्रगट होवें। प्रयोजन को अर्थ कहते हैं—सो हमारा प्रयोजन सिद्ध होवे। तात्पर्य यह है कि सभी लोग मेरी आज्ञा पालन करें, सभी लोग मेरे आदेश के अनुसार प्रवृत्ति करें, सभी मुझे प्रमाणीभूत स्वीकार करें, सभी लोग मेरी प्रशंसा करें, सभी लोग मेरी प्रभावना

करोतु, मां प्रभावयन्तु सर्वेऽपि मदीयान् गुणान् सर्वेऽपि विस्तारयन्त्वित्यर्थं कायोत्सर्गेण ध्यानमिदमप्रशस्तमेवंविधो मनःसंकल्पोऽविश्वस्तोऽविश्वसनीयो न चिन्तनीयोऽप्रशस्तो यत इति ॥६८४॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिमुपसंहरन्नाह—

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
संजमतवड्ढियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥६८५।

कायोत्सर्गनिर्युक्तिरेपा कथिता मया समासेन, संयमतपोवृद्धिमिच्छतां निर्ग्रन्थानां महर्षीणामिति, नात्र पौनरुक्त्यमाशंकनीयं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणात्सूत्रवार्तिकस्वरूपेण कथनाच्चेति ॥६८५॥

षडावश्यकचूलिकामाह—

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ॥६८६॥

आवश्यकानां फलमाह—अनया गाथया सर्वैरावश्यकैर्नियुक्तः सम्पूर्णैरस्खलितैः समताद्यावश्य-

---

करें, सभी लोग मेरे गुणों का विस्तार करें, इन प्रयोजनों से जो कायोत्सर्ग करते हैं उनका यह सब ध्यान अप्रशस्त कहलाता है। इस प्रकार का मनःसंकल्प अविश्वस्त है अर्थात् ये सब चिन्तवन अप्रशस्त हैं ऐसा समझना चाहिए।

कायोत्सर्ग निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक, निर्ग्रंथ महर्षियों के लिए मैंने संक्षेप से यह कायोत्सर्ग निर्युक्ति कही है ॥६८५॥

आचारवृत्ति—संयम और तप की वृद्धि की इच्छा रखनेवाले निर्ग्रंथ महर्षियों की कायोत्सर्ग निर्युक्ति मैंने संक्षेप से कही है। यहाँ पर पुनरुक्त दोप नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों का संग्रह किया गया है, तथा सूत्र और वार्तिक के स्वरूप से कथन किया गया है। अर्थात् जैसे सूत्र को पुनः वार्तिक के द्वारा स्पष्ट किया जाता है उसमें पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है उसी प्रकार से यहाँ द्रव्यार्थिक शिष्यों के लिए संक्षिप्त वर्णन किया गया है पुनः पर्यायार्थिक शिष्यों के लिए उसी के भेद-प्रभेदों से विशेष वर्णन भी किया गया है। ऐसा समझना।

अब छह आवश्यकों की चूलिका का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सर्व आवश्यकों से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते हैं ऐसा जानना। जो परिपूर्ण रूप नहीं करते हैं वे नियम से स्वर्गादि में आवास करते हैं ॥६८६॥

आचारवृत्ति—इस गाथा के द्वारा आवश्यक क्रियाओं का फल कह रहे हैं—जो सम्पूर्ण—अस्खलित रूप से समता आदि छहों आवश्यकों से परिणत हो चुके हैं वे निश्चय से सिद्ध हैं। अर्थात् यहाँ भावी में वर्तमान का वहुप्रचार—उपचार है क्योंकि वे मुनि अंतर्मुहूर्त के ऊपर सिद्ध हो जाते हैं। अथवा सिद्ध ही सर्व आवश्यकों से युक्त हैं—सम्पूर्ण हैं,

कैरुद्युक्तः परिणतो नियमात् निश्चयेन सिद्ध इति भवति ज्ञातव्यो [1]भाविनि वर्त्तमानबहुप्रचारोऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं सिद्धो भवति, अथवा सिद्ध एवं सर्वावश्यकैर्युक्तः सम्पूर्णो नान्य इति, अथ पुनः शेषात् स्तोकात् निर्गतानि निःशेषाणि[2] न स्तोकरहितानि सावशेषाणि न सम्पूर्णानि करोत्यावश्यकानि तदा तस्य नियमान्निश्चयात् आवासकाः[3] स्वर्गाद्यावासा भवन्ति तेनैव भवेन न मोक्षः स्यादिति यदि सविशेषान्नियमात्करोति तदा तु सिद्धः कर्मक्षयसमर्थः स्यात्, अथ निर्विशेषान्नियमाच्छैथिल्यभावेन करोति तदा तस्य यतेर्नियमाः समतादिक्रिया आवासयन्ति प्रच्छादयन्तीति आवासकाः प्रच्छादकाः नियमाद्भवन्तीत्यर्थः। अथ वा संसारे आवासयन्ति स्थापयन्तीत्यर्थः ॥६८६॥

अथ वाऽऽवासकानामयमर्थ इत्याह—

आवासयं तु आवसएसु सव्वेसु अपरिहीणेसु।
मणवयणकायगुत्तिंदियस्स आवासया होंति ॥६८७॥

मनोवचनकायैर्गुप्तानीद्रियाणि यस्यासौ मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्तस्य मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्य सर्वेष्वावश्यकेष्वपरिहीणेष्वावसनमवस्थानं यत्तेन आवश्यकाः साधोर्भवंति परमार्थतोऽन्ये पुनरावासकाः कर्मा-

अन्य कोई नहीं। पुनः जो निःशेप आवश्यकों को नहीं करते हैं वे निश्चय से स्वर्ग आदि में ही आवास करनेवाले हो जाते हैं, उसी भव से उन्हें मोक्ष नहीं हो पाता है ऐसा अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि—

यदि सविशेषरूप से आवश्यक करते हैं तब तो ये सिद्ध अर्थात् कर्मों के क्षय में समर्थ हो जाते हैं और यदि निर्विशेष—शिथिलभाव से करते हैं तो उस यति के वे नियम—सामायिक आदि आवश्यक क्रियाएँ उसे आवासित—प्रच्छादित कर देते हैं अर्थात् वे कर्मों से आत्मा को ढक लेते हैं, सर्वथा कर्म निर्जीर्ण नहीं हो पाते हैं। अथवा वे शिथिलभाव—अतीचार आदि सहित आवश्यक उनका संसार में आवास कराते हैं अर्थात् कुछ दिन संसार में रोके रखते हैं।

भावार्थ—जो मुनि इन आवश्यक क्रियाओं को निरतिचार करते हुए पुनः उन रूप परिणत हो जाते हैं—निश्चय आवश्यक क्रिया रूप हो जाते हैं वे निश्चय आवश्यक क्रियामय कहलाते हैं। वे अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। तथा जो मुनि इनको करते हुए भी अतीचारों से नहीं बच पाते हैं वे इनके प्रभाव से कुछ काल तक स्वर्गों व मनुष्यलोक के सुखों को प्राप्त करके पुनः परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं, ऐसा समझना।

अथवा आवासकों का यह अर्थ है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—हीनता रहित सभी आवश्यकों में जो आवास करना है वह ही मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश करनेवाले के आवश्यक होते हैं ॥६८७॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय से जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त हैं—वशीभूत हैं वह मनवचन-काय गुप्तेंद्रिय अर्थात् त्रिकरण जितेन्द्रिय कहलाता है। उसका जो न्यूनता रहित सम्पूर्ण आवश्यकों में अवस्थान है—रहना है उसी हेतु से साधु के परमार्थ से आवश्यक होते हैं, किन्तु अन्य जो

१ क भाविनि भूतवदुपचारः। अन्त॰। २ क न सम्पूर्णानि। ३ क ॰कात् स्वर्गादौ निवासो भवति

गमहेतव एवेति, अथ वा आवासयन्तु इति प्रश्नवचनं, आवश्यकानि सम्पूर्णानि कथंभूतस्य पुरुषस्य भवन्तीति प्रश्ने तत आह—सर्वेषु चापरिहीणेषु मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियास्यावश्यकानि भवन्तीति निर्देशः कृत इति ॥६८७॥

आवश्यककरणविधानमाह—

तियरण सव्वविसुद्धो दव्वे खेत्ते यथुत्तकालह्मि ।
मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं ॥६८८॥

त्रिकरणैर्मनोवचनकायैः सर्वथा शुद्धो द्रव्यविषये क्षेत्रविषये यथोक्तकाले आवश्यकानि नित्यं मौनेनाव्याक्षिप्तः सन् कुर्याद्यतिरिति ॥६८८॥

अथासिकानिषिद्यकयोः किंलक्षणमित्याशंकायामाह—

जो होदि णिसीदप्पा णिसीहिया तस्स भावदो होदि ।
अणिसिद्धस्स णिसीहियसद्दो हवदि केवलं तस्स ॥६८९॥

यो भवति निसितो बद्ध आत्मपरिणामो येनासौ निसितात्मा निगृहीतेन्द्रियकषायचित्तादिपरिणा-

---

हैं वे आवासक अर्थात् कर्मागमन के हेतु ही हैं। अर्थात् न्यून आवश्यकों से कर्मों का आश्रव होता है—पूर्ण निर्जरा नहीं हो पाती है। अथवा 'आवासयंतु' यह प्रश्नवचन है। वह इस तरह है कि—

ये आवश्यक सम्पूर्ण कैसे पुरुष के होते हैं ?

जो सम्पूर्ण रूप से न्यूनता रहित हैं, जो मनवचनकाय से इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं उनके ही ये आवश्यक परिपूर्ण होते हैं ऐसा निर्देश है। अथवा जिसने परिपूर्ण आवश्यकों का पालन किया है उस साधु के ही मन-वचन-कायपूर्वक इन्द्रियाँ वशीभूत हो पाती हैं।

आवश्यक करने की विधि बताते हैं—

गाथार्थ—मन-वचन-काय से सर्वविशुद्ध हो द्रव्य, क्षेत्र में और आगमकथित काल में मौनपूर्वक निराकुलचित्त होकर नित्य ही आवश्यकों को करे ॥६८८॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय से सर्वथा शुद्ध हुए मुनि द्रव्य के विषय में, क्षेत्र के विषय में तथा आगम में कहे गए काल में निराकुलचित्त होकर नित्य ही मौनपूर्वक आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करें।

अब आसिका और निषिद्यका का क्या लक्षण है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो नियमित आत्मा है उसके भाव से निषिद्यका होती है। जो अनियंत्रित है उसके निषिद्यका शब्द मात्र होता है ॥६८९॥

आचारवृत्ति—जिसने अपनी आत्मा के परिणाम को बांधा हुआ है वह निसितात्मा है अर्थात् इन्द्रिय, कषाय और चित्त आदि परिणाम का निग्रह किया हुआ है। अथवा निषिद्धात्मा—सर्वथा जिनकी नियमित—नियंत्रित मति है ऐसे मुनि निषिद्धात्मा हैं। ऐसे मुनि

मोऽसा नासंतात्माऽस्य वा निषिद्धात्मा सर्वथा नियमितमतिस्तस्य भावतो निषिद्यका भवति। [1]अनिषिद्धस्य स्वेच्छाप्रवृत्तस्यानिषिद्धात्मनश्चलचित्तस्य कषायादिवशवर्तिनो निषिद्यकाशब्दो भवति केवलं शब्दमात्रकरणं तस्येति ॥६८६॥

आसिकार्थमाह—

आसाए विप्पमुक्कस्स आसिया होदि भावदो।
आसाए अविप्पमुक्कस्स सद्दो हवदि केवलं ॥६९०॥

आशया कांक्षया विविधप्रकारेण मुक्तस्य आसिका भवति भावतः परमार्थतः, आशया पुनरविप्रमुक्तस्यासिकाकरणं शब्दो भवति केवलं, किमर्थमासिकानिषिद्यकयोरत्र निरूपणमिति चेन्न त्रयोदशकरण-

के भाव से निषिद्यका होती है। किन्तु जो अनिषिद्ध हैं—स्वेच्छा से प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जिनका चित्त चंचल है अर्थात् जो कषाय के वशीभूत हो रहे हैं उनके निषिद्यका शब्द केवल शब्दमात्र ही है।

आसिका का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—आशा से रहित मुनि के भाव से आसिका होती है किन्तु आशा से सहित के शब्दमात्र होती है ॥६९०॥

आचारवृत्ति—कांक्षा से जो विविध प्रकार से मुक्त हैं—छूट चुके हैं उनके परमार्थ से आसिका होती है। किन्तु जो आशा से मुक्त नहीं हुए हैं उनके आसिका करना केवल शब्दमात्र ही है।

यहाँ पर आसिका और निषिद्यका का निरूपण किसलिए किया है?

तेरह प्रकार के करण में इनको लिया गया है, इसलिए यहाँ पर इनका निरूपण करना जरूरी था। जिस प्रकार से यहाँ पर पंचनमस्कार का निरूपण किया गया है और छह आवश्यक क्रियाओं का निरूपण किया गया है उसी प्रकार से यहाँ पर इन दोनों का भी अधिकार है इसलिए नाम के स्थान में इनका निरूपण किया है।

विशेषार्थ—करण शब्द से तेरह प्रकार की क्रियाएँ ली जाती हैं। पाँच परमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया तथा असही और निसही ये तेरह प्रकार हैं। इस अध्याय में पाँचों परमेष्ठी का वर्णन किया है। छह आवश्यक क्रियाओं की तो प्रमुखता है ही अतः इसी अधिकार में आसिका और निषिद्यका का वर्णन भी आवश्यक ही था। यहाँ पर दो गाथाओं में भाव निषिद्यका और भावआसिका की सार्थकता बतलायी है। और शब्द बोलना केवल शब्दमात्र है ऐसा कहा है किन्तु शब्दोच्चारण की विधि नहीं बतलाई है जोकि अन्यत्र ग्रन्थों में कही गई है। अनगार धर्मामृत में असही और निसही का विवेचन इस प्रकार से है—

वसत्यादौ विशेत्तत्स्थं भूतादिं निसहीगिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा ॥१३२॥ अनगार. अ० ८, पृ० ६२५-२६

१ क अनिसितस्य।

मध्ये पठितत्वात्, यथाऽत्र पंचनमस्कारनिरूपणं षडावश्यकानां च निरूपणं कृतमेवमनयोरप्यधिकारात् भवतीति नामस्थाने निरूपणमनयोरिति ॥६९०॥

चूलिकामुपसंहरन्नाह—

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ॥६९१॥

निर्युक्तेर्निर्युक्तिरावश्यकचूलिकावश्यकनिर्युक्तिरेषा[1] कथिता मया समासेन संक्षेपेणार्थविस्तार-प्रसंगोऽनियोगादाचारांगाद्भवति ज्ञातव्य इति ॥६९१॥

आवश्यकनिर्युक्तिं सचूलिकामुपसंहरन्नाह—

अर्थ—वसतिका, जिनमंदिर आदि में प्रवेश करते समय वहाँ रहनेवाले भूत, यक्ष आदि को 'निसही' शब्द द्वारा पूछकर प्रवेश करना चाहिए अर्थात् वसतिका आदि में प्रवेश करते समय 'निसही' शब्द बोलकर प्रवेश करना चाहिए। तथा वहाँ से बाहर निकलते समय 'असही' शब्द द्वारा पूछकर निकलना चाहिए अर्थात् निकलते समय 'असही' का उच्चारण करके निकलना चाहिए। पुनः कहते हैं—

आचारसार में भी ऐसा ही कथन है। यथा—

आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्त्वा वाऽऽशास्य भावतः।
निसह्यसह्यौ स्तोऽन्यस्य तदुच्चारणमात्रकं ॥१३३॥

अर्थ—जिसने अपनी आत्मा को आत्मा में स्थापित किया है और जिसने लोक आदि की आशा—अभिलाषा को छोड़ दिया है उसके भाव से अर्थात् निश्चयनय से निसही होते हैं। अन्य जीव के शब्दोच्चारण मात्र ही हैं।

निष्कर्ष यह निकलता है कि ये शब्द तो बोलने ही चाहिए। उनके साथ-साथ भाव आसिका, भाव निषिद्यका के अर्थों का भी ध्यान रखना चाहिए। शब्दोच्चारण तो आवश्यक है ही। यदि वह भावसहित है तो सम्पूर्ण फल को देने वाला है, भावशून्य मात्र शब्द किंचित् ही फलदायक हैं ऐसा समझना। शब्द रूप निसही असही व्यवहार धर्म है और भावरूप निसही असही निश्चय धर्म है।

चूलिका का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति कही है और विस्तार रूप से अनियोग ग्रन्थों से जानना चाहिए ॥६९१॥

आचारवृत्ति—मैंने संक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति अर्थात् आवश्यक चूलिका की आवश्यक निर्युक्ति कही है। यदि आपको विस्तार से अर्थ जानना है तो अनियोग—आचारांग से जानना चाहिए।

अब चूलिका सहित आवश्यक निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

१ क 'क्तिन्याये वा एषा।

आवासयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासश्रो विहिणा ।
जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धि जादि विसुद्धप्पा ॥६९२॥

आवश्यकनिर्युक्तिरेवंप्रकारेण कथिता समासतः संक्षेपतो विधिना, तां य उपयुंक्ते समाचरति नित्यं सर्वकालं स सिद्धि याति विशुद्धात्मा सर्वकर्मनिर्मुक्त इति ॥६९२॥

गाथार्थ—इस तरह संक्षेप से मैने विधिवत् आवश्यक निर्युक्ति कही है। जो नित्य ही इनका प्रयोग करता है वह विशुद्ध आत्मा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥६९२॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार संक्षेप से मैंने विधिपूर्वक आवश्यक निर्युक्ति कही है जो मुनि सर्वकाल इस रूप आचरण करते हैं वे विशुद्ध आत्मा—सर्वकर्म से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेषार्थ—अनगार धर्मामृत के आठवें अध्याय में छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करके नवम अध्याय में नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का अथवा इन आवश्यक क्रियाओं के प्रयोग का वर्णन बहुत ही सरल ढंग से किया है। यथा—

अर्धरात्रि के दो घड़ी अनन्तर से अपर रात्रिक स्वाध्याय का काल हो जाता है। उस समय पहले 'अपररात्रिक' स्वाध्याय करके पुनः सूर्योदय के दो घड़ी शेष रह जाने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'रात्रिक प्रतिक्रमण' करके रात्रियोग समाप्त कर देवे। फिर सूर्योदय के समय से दो घड़ी तक 'देववन्दना' अर्थात् सामायिक करके गुरुवन्दना' करे। पुनः 'पौर्वाह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके मध्याह्न के दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'देववन्दना' करे। मध्याह्न समय देववन्दना समाप्त कर 'गुरुवन्दना' करके 'आहार हेतु[1] जावे। यदि उपवास हो तो उस समय जाप्य या आराधना का चिन्तवन करे। गोचरी से आकर गोचार प्रतिक्रमण करके व प्रत्याख्यान ग्रहण करके पुनः 'अपराह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ कर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले समाप्त कर 'दैवसिक' प्रतिक्रमण करे। पुनः गुरुवन्दना करके रात्रियोग ग्रहण करे तथा सूर्यास्त के अनन्तर 'देववन्दना' सामायिक करे। रात्रि के दो घड़ी व्यतीत हो जाने पर 'पूर्व रात्रिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके अर्धरात्रि के दो घड़ी पहले ही स्वाध्याय समाप्त करके शयन करे। यह अहोरात्र सम्बन्धी क्रियाएँ हुई।

इसी तरह नैमित्तिक क्रियाओं में अष्टमी, चतुर्दशी की क्रिया, चौदश अमावस या पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण, श्रुतपंचमी को श्रुतपंचमी क्रिया, वीर निर्वाण समय वीर निर्वाण क्रिया इत्यादि क्रियाएँ करे।

किन-किन क्रियाओं में किन-किन भक्तियों का प्रयोग होता है, सो देखिए—

स्वाध्याय के प्रारम्भ में लघु श्रुत, लघु आचार्य भक्ति तथा समाप्ति के समय लघु

---

१. मध्याह्न देववन्दना के अनन्तर ही आहार का विधान इसी मूलाचार ग्रन्थ में पंचाचार अधिकार के अशनसमिति के लक्षण की गाथा ३१८ की टीका में भी स्पष्टतया उल्लेख है। यथा—"मध्याह्नदेववन्दनां कृत्वा······भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशांते धूममुशलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः।"

[अधिकार ५, पृष्ठ २९२]

श्रुतभक्ति होती है। देववन्दना में चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति होती है। आचार्यवन्दना में लघु सिद्ध आचार्यभक्ति। यदि आचार्य सिद्धांतविद् हैं तो इनके मध्य लघु श्रुतभक्ति होती है। दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर ऐसी चार भक्ति हैं तथा रात्रियोग ग्रहण, मोचन में योग भक्ति होती है। आहार-ग्रहण के समय प्रत्याख्यान निष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति तथा आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति होती है। पुनः आचार्य के समीप आकर लघु सिद्ध व योगभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करके लघु आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वन्दना का विधान है।

नैमित्तिक क्रिया में चतुर्दशी के दिन त्रिकालदेववन्दना में चैत्यभक्ति के अनन्तर श्रुत भक्ति करके पंचगुरु भक्ति की जाती है अथवा सिद्ध, चैत्य, श्रुत, पंचगुरु और शान्ति ये पाँच भक्तियाँ हैं। अष्टमी को सिद्ध, श्रुत, सालोचना चारित्र व शान्ति भक्ति हैं। सिद्ध प्रतिमा की वन्दना में सिद्धभक्ति व जिन-प्रतिमा की वन्दना में सिद्ध, चारित्र, चैत्य, पंचगुरु व शान्ति भक्ति करे। पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियाकलाप व धर्मध्यानदीपक में प्रकाशित है तदनुसार पूर्ण विधि करे। वही प्रतिक्रमण चातुर्मासिक व सांवत्सरिक में भी पढ़ा जाता है। श्रुतपंचमी में बृहत् सिद्ध, श्रुतभक्ति से श्रुतस्कंध की स्थापना करके, बृहत् वाचना करके श्रुत, आचार्य भक्तिपूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके पश्चात् श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति करके स्वाध्याय समाप्त करे। नन्दीश्वरपर्व क्रिया में सिद्ध, नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्ति भक्ति करे तथा अभिषेक वन्दना में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शान्ति भक्ति पढ़े।

आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के मध्याह्न में मंगलगोचर मध्याह्न देववन्दना करते समय, सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु व शान्ति भक्ति करे। मंगलगोचर के प्रत्याख्यान ग्रहण में बृहत् सिद्ध भक्ति, योग भक्ति करके प्रत्याख्यान लेकर बृहत् आचार्य भक्ति से आचार्यवन्दना कर शान्ति भक्ति पढ़े। यही क्रिया कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भी होती है। यह क्रिया वर्षा योग के ग्रहण के प्रारम्भ और अन्त में कही गई है। पुनः आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के पूर्व रात्रि में वर्षा योग प्रतिष्ठापन क्रिया में—सिद्धभक्ति, योगभक्ति करके लघु चैत्यभक्ति के द्वारा चारों दिशाओं में प्रदक्षिणा विधि करके, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति करे। यही क्रिया कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षा योग निष्ठापना में होती है। पुनः वर्षा योग निष्ठापना के अनन्तर वीर निर्वाण वेला में सिद्ध, निर्वाण पंचगुरु और शान्ति भक्ति करे।

जिनवर के पाँचों कल्याणकों मे क्रमशः गर्भ-जन्म में सिद्ध, चारित्र, शान्ति भक्ति हैं। तप कल्याण में सिद्ध, चारित्र, योग, शान्ति भक्ति तथा ज्ञानकल्याण में सिद्ध, चारित्र, योग, श्रुत और शान्ति भक्ति हैं। निर्वाणकल्याण में शान्ति भक्ति के पूर्व निर्वाणभक्ति और पढ़ना चाहिए। यदि प्रतिमायोगधारी योगी दीक्षा में छोटे भी हों तो भी उनकी वन्दना करनी चाहिए। उसमें सिद्ध, योग और शान्ति भक्ति करना चाहिए। केशलोंचके प्रारम्भ में लघु सिद्ध और योगि भक्ति करें। अनन्तर केशलोंच समाप्ति पर लघु सिद्धभक्ति करनी होती है।

सामान्य मुनि की समाधि होने पर उनके शरीर की क्रिया और निषद्या क्रिया में

सिद्ध, योगि, शान्ति भक्ति करना चाहिए। आचार्य समाधि पर सिद्ध, योगि, आचार्य और शांति भक्ति करनी होती है। इस तरह संक्षेप से कहा है।

इनका और भी विशेष विवरण आचारसार, मूलाचार प्रदीप, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

इन भक्तियों को यथास्थान करते समय कृतिकर्म विधि की जाती है। इसमें "अड्ढाइज्जदीव दोसमुद्देसु" आदि पाठ सामायिक दण्डक कहलाता है। 'थोस्सामि' पाठ चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव है। मध्य में कायोत्सर्ग होता ही है, तथा 'जयति भगवान् हेमांभोज' इत्यादि चैत्य भक्ति आदि के पाठ वन्दना कहलाते हैं। अतः देववन्दना व गुरुवन्दना में सामायिक, स्तव, वन्दना और कायोत्सर्ग ये चार आवश्यक सम्मिलित हो जाते हैं। तथा कायोत्सर्ग अन्य-अन्य स्थानों में पृथक् से भी किये जाते हैं। प्रतिक्रमण में भी कृतिकर्म में सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग और चतुर्विंशति स्तव हैं। वीर भक्ति आदि के पाठ वन्दना रूप हैं। अतः इसमें भी ये सब गर्भित हो जाते हैं। आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान ग्रहण किया ही जाता है तथा अन्य भी वस्तुओं के त्याग करने में व उपवास आदि करने में प्रत्याख्यान आवश्यक हो जाता है। इस तरह ये छहों आवश्यक प्रतिदिन किए जाते हैं।

कृतिकर्म प्रयोग में चार प्रकार की मुद्रायें मानी गयी हैं—यथा जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्ति-मुद्रा (अनगार धर्मामृत, अध्याय ८, पृष्ठ ६०३)

दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर दोनों भुजाओं को लटकाकर कायोत्सर्ग से खड़े होना जिनमुद्रा है। बैठकर पद्मासन, अर्ध पर्यंकासन या पर्यंकासन से बायें हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रखना योगमुद्रा है। मुकुलित कमल के समान अंजुली जोड़ना वन्दना-मुद्रा है और दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर जोड़ना मुक्ताशुक्तिमुद्रा है।

सामायिक दण्डक और थोस्सामि इनके पाठ में 'मुक्ताशुक्ति' मुद्रा का प्रयोग होता है। 'जयति' इत्यादि भक्ति बोलते हुए वन्दना करते समय 'वन्दना मुद्रा' होती है। खड़े होकर कायोत्सर्ग करने में 'जिनमुद्रा' एवं बैठकर कायोत्सर्ग करने में 'योगमुद्रा' होती है।

मुनि और आर्यिका देव या गुरु को नमस्कार करते समय पंचांग प्रणाम गवासन से बैठकर करते हैं।

कृतिकर्म प्रयोग विधि—'अथ देव-वन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तव—समेतं चैत्यभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहं।'

(इस प्रतिज्ञा को करके खड़े होकर पंचांग नमस्कार करे। पुनः खड़े होकर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर सामायिक दण्डक पढ़े।)

सामायिक दण्डक स्तव—

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

चत्तारिमंगलं—अरहंतमंगलं सिद्धमंगलं साहूमंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मोमंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंतसरणं पव्वज्जामि,सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु, जाव अरहंताणं भयवंताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाणं जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं परिणिव्वुदाणं अंतयडाणं पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं सदा करेमि, किंरियम्मं।

करेमि भन्ते! सामाइयं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा कायेण ण करेमि ण कारेमि कीरंतंपि ण समणुमणामि। तस्स भंत्ते! अइचारं पच्चक्खामि, णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि ताव कालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके जिनमुद्रा या योगमुद्रा से सत्ताईस उच्छ्वास में नव बार णमोकार मन्त्र जपकर पुनः पंचांग नमस्कार करे। अनन्तर खड़े होकर तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर 'थोस्मामि' पढ़े।)

थोस्सामिस्तव—

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेवि केवलिणो ॥२॥

उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥

कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥

एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

इति श्रीवट्टकेराचार्यवर्यप्रणीतमूलाचारस्य वसुनंद्याचार्यविरचितायाम्
आचारवृत्ताावश्यकनिर्युक्तिनामकः सप्तमः परिच्छेदः ॥७॥

(पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके वन्दना मुद्रा से हाथ जोड़कर "जयति भगवान् हेमांभोज" इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़े।)

इस तरह इस कृतिकर्म में प्रतिज्ञा के अनन्तर तथा कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार पंचांग नमस्कार करने से दो अवनति—प्रणाम हो जाते हैं। सामायिक स्तव के आदि-अन्त में तथा 'थोस्सामिस्तव' के आदि-अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं।

लघु भक्तियों के पाठ में कृतिकर्म में लघु सामायिकस्तव और थोस्सामिस्तव भी होता है। यथा—

अथ पौर्वाह्णिकस्वाध्याय-प्रतिष्ठापन-क्रियायां…श्रुतभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहं।

(पूर्ववत् पंचांग नमस्कार करके, तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। पुनः सामायिक दण्डक पढ़े।)

सामायिकस्तव—णमो अरंहताणं, णमोसिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरंहत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंत-सरणं पव्वज्जामि, सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, ताव कालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास में ९ बार णमोकार मन्त्र जपकर पुनः पंचांग नमस्कार करे। अनन्तर तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'थोस्सामि' पढ़े।)

पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'श्रुतमपि जिनवरविहितं' इत्यादि लघु श्रुत-भक्ति पढ़े। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिए।

यदि पुनः पुनः खड़े होकर क्रिया करने की शक्ति नहीं है तो बैठकर भी ये क्रियाएँ की जा सकती हैं।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्यवर्य प्रणीत मूलाचार की
श्री वसुनन्दि आचार्य विरचित आचारवृत्ति नामक टीका में
आवश्यक निर्युक्ति—नामक सातवां परिच्छेद पूर्ण हुआ।

श्रीवट्टकेरस्वामिकृतो

मूलाचारः

(श्रीवसुनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितटीकासहितः)

[1]द्वादशानुप्रेक्षाधिकारः

[2]सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखवियदीहसंसारे।
दह दह दो दो य जिणे दह दो अणुपेहणा वुच्छं ॥६६३॥[3]

सिद्धान् लब्धात्मस्वरूपान्। नमंसित्वा प्रणम्य। किंविशिष्टान्? ध्यानेनोत्तमेन क्षपितो दीर्घसंसारो यैस्ते ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारास्तान् शुक्लध्यानविध्वस्तमिथ्यात्वासंयमकषाययोगान्। दश दश वीप्सावचनं चैतत् विंशतितीर्थंकरान्, द्वौ द्वौ चतुरश्चतुर्विंशतितीर्थंकरांश्च जिनान् प्रणम्य। दश द्वे च द्वादशानुप्रेक्षा वक्ष्य इति संबंधः। [4]ध्यानमध्ये या द्वादशानुप्रेक्षाः सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति ॥६६३॥

गाथार्थ—उत्तम ध्यान द्वारा दीर्घ संसार का नाश करनेवाले सिद्धों को और चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करके बारह अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा ॥६६३॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने शुक्लध्यान के द्वारा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप दीर्घ संसार का विध्वंस कर दिया है और जो आत्मस्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं ऐसे सिद्धों को तथा दश-दश, दो-दो अर्थात् वर्तमान विंशति तथा चतुर्विंशति तीर्थंकरों को भी नमस्कार करके, दश और दो अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा, क्योंकि ध्यान के मध्य जो द्वादश अनुप्रेक्षाओं को सूचित किया था, उन्हीं का यह विस्तार है ऐसा समझना।

---

१. फलटन से प्रकाशित प्रति में यह नवम अधिकार है और 'अनगार भावना' अष्टम अधिकार है।

२. क नु प्रेक्षानामान्याह।

३. अनन्तपदलाभाय यत्पदद्वन्द्वचिन्तनम्।
अगदर्हः स वः पायार्हंस्त्यागदिगम्बरः॥

द्वादशानुप्रेक्षाधिकारमष्टमं प्रपञ्चयंस्तावदादौ नमस्कारपूर्वकं प्रतिज्ञावाक्यमाह—इति क प्रती अधिकः पाठः।

४. ध्यानमध्ये या द्वादशानुप्रेक्षाः सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति प्रतिज्ञावाक्येन सूचितास्तासां प्रपंचोऽयमिति, प्रेस-पुस्तके पाठः।

प्रतिज्ञावाक्येन सूचितानुप्रेक्षानामान्याह—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतेज्जो ॥६९४॥

अध्रुवमनित्यमशाश्वतं । अशरणमत्राणं । एकत्वमसहायत्वं द्वितीयस्याभावो न मे द्वितीयः । अन्यत्वं पृथक्त्वं शरीरादप्यन्योऽहमिति भावनं । संसारश्चतुर्गतिपरिभ्रमणं प्रदेशानामुद्वर्त्तनं परिवर्तनं च । लोकं वेत्रासनझल्लरीमृदंगसंस्थानं । अशुभत्वमशुचित्वं सर्वदुःखस्वरूपं । आस्रवं कर्मागमद्वारं मिथ्यात्वादिकं । संवरं कर्मागमद्वारनिरोधनं सम्यक्त्वादिकं । निर्जरां कर्मनिर्गमनं । धर्ममुत्तमक्षमादिलक्षणं । बोधिं सम्यक्त्वादिलाभं चान्तकाले संन्यासेन प्राणत्यागं चिन्तयेत् । एवंप्रकारा द्वादशानुप्रेक्षा ध्यायेदिति ॥६९४॥

तासु मध्ये तावदनित्यताभेदमाह—

ठाणाणि आसणाणि य देवासुरइड्ढिमणुयसोक्खाइं ।
मादुपिदुसयणसंवासदा य पीदी वि य अणिच्चा ॥६९५॥

स्थानानि ग्रामनगरपत्तनदेशपर्वतनदीमटंबादीनि, अथवा देवेन्द्रचक्रधरबलदेवस्थानानि अथवेक्ष्वाकुहरिवंशादिस्थानानि, तिष्ठन्ति सुखेन जीवा येषु तानि स्थानानि । आसते सुखेन विशन्ति येषु तान्यासनानि राज्याङ्गानि सिंहासनादीनि, अथवा अशनानि नानाप्रकारभोजनानि [1]उत्तरआसनशब्देन वाशनादीनां ग्रहणात्,

---

प्रतिज्ञावाक्य से सूचित अनुप्रेक्षाओं के नाम कहते हैं—

गाथार्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुभत्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इनका चिन्तवन करे ॥६९४॥

आचारवृत्ति—अध्रुव - अनित्य, अशाश्वत । अशरण—अरक्षा । एकत्व—असहायपना अर्थात् द्वितीय का अभाव होना, मेरा कोई दूसरा नहीं है, मैं अकेला हूँ ऐसा समझना । अन्यत्व—पृथक्पना अर्थात् शरीर से भी मैं भिन्न हूँ ऐसी भावना । संसार—चतुर्गति का परिभ्रमण; आत्मा के प्रदेशों का उद्वर्तन-परिवर्तन होना अर्थात् नाना शरीरों में प्रदेशों का संकुचित, विस्तृत होना । लोक—वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के आकारवाला लोक है । अशुभत्व—अशुचिपना, सर्वदुःखस्वरूपता । आस्रव—कर्मों के आने के द्वार, मिथ्यात्व आदि । संवर—कर्मों के आने के द्वार के निरोध करनेवाले सम्यक्त्व आदि । निर्जरा—कर्मों का निर्जीर्ण होना । धर्म—उत्तमक्षमादिरूप । बोधि—सम्यक्त्व का लाभ होना और अन्तकाल में संन्यासपूर्वक प्राणत्याग करना । इस प्रकार से इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का ध्यान करे ।

उनमें से पहले अनित्य अनुप्रेक्षा को कहते हैं—

गाथार्थ—स्थान, आसन, देव, असुर तथा मनुष्यों के वैभव, सौख्य, माता-पिता-स्वजन का संवास तथा उनकी प्रीति ये सब अनित्य हैं ॥६९५॥

आचारवृत्ति—ग्राम, नगर, पत्तन, देश, पर्वत, नदी और मटंब आदि स्थान कहलाते हैं; अथवा देवेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेव के पद स्थान संज्ञक हैं या इक्ष्वाकुवंश आदि स्थान हैं अर्थात् जिनमें जीव सुख से रहते हैं उन्हें स्थान कहते हैं । जिनमें सुख से प्रवेश करते हैं वे आसन हैं, वे राज्य के अंगभूत सिंहासन आदि हैं । अथवा अशन—नाना प्रकार के भोजन आदि ऐसा

---

१. उत्तरआसन शब्देन वेत्रासनादीनां ग्रहणात् । क० ब०

देवाश्चासुराश्च मनुष्याश्च देवासुरमनुष्यास्तेषां ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वरथपदातिद्रव्यसुवर्णादिकायाः पूर्वावस्थाया अतिरेकः, सौख्यानि शुभद्रव्येन्द्रियजनितानंदरूपाणि। माता जननी, पिता जनकः, स्वजना बान्धवा संवासस्तास्तैः सहैकत्रावस्थानं। प्रीतिरपि तैः सह स्नेहोऽपि। अनित्या इति संबंधः। एतानि सर्वाणि स्थानादीन्यनित्यानि नात्र शाश्वतरूपा बुद्धिः कर्तव्येति ॥६९५॥

तथा—

सामग्गिंदियरूवं मदिजोव्वणजीवियं बलं तेजं।
गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेत्ति चिंतेज्जो ॥६९६॥

सामग्री राज्यगृहाद्युपकरणं हयहस्तिरथपदातिखड्गकुंतलपरशुधान्यकोशादीनि, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, रूपं गौरवर्णादिरमणीयता, मतिर्बुद्धिः पूर्वापरविवेचनं, यौवनं द्वादशवर्षेभ्य ऊर्ध्वं वयःपरिणामः, जीवितमायुः, बलं सामर्थ्यं, तेजः शरीरकान्तिः प्रतापो वा, पुरुषैरानीतानर्थान् गृह्णन्तीति गृहाः स्त्रियस्तत्सहचरितप्रासादादयश्च, शयनानि तूलिकापर्यंकादीनि सुखकारणानि, आसनानि वेत्रासनपीठिकादीनि सुखहेतूनि शरीरादीनि वा पुत्रमित्रदासीदासादीनि च, भांडादीनि च शुंठिमरिचहिंगुवस्त्रकर्पासरूप्यताम्रादीनि सर्वाण्यनित्यानि अध्रुवाणि इत्येवं चिन्तयेत् ध्यायेदिति ॥६९६॥

अर्थ यहाँ लेना चूँकि आगे गाथा में 'आसण' शब्द से 'आसन' अर्थ लिया है। देवों के, असुरों के और मनुष्यों के हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, द्रव्य और सुवर्ण आदि विभूति का पूर्व अवस्था से अधिक हो जाना ऋद्धि है। शुभद्रव्यों के द्वारा इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ जो आनन्द है वह सौख्य है। माता-पिता व स्वजन-बन्धुवर्ग के साथ में एकत्र निवास होना संवास है। तथा इनके स्नेह का नाम प्रीति है। इस तरह स्थान, आसन, नानावैभव, सुख, स्वजनों का संवास और स्नेह, ये सब अनित्य—क्षणिक हैं, शाश्वतरूप नहीं हैं ऐसी बुद्धि करना।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—सामग्री, इन्द्रियाँ, रूप, बुद्धि, यौवन, जीवन, बल, तेज, घर, शयन, आसन, और वर्तन आदि सब अनित्य हैं ऐसा चिन्तवन करे ॥६९६॥

आचारवृत्ति—राज्य के या घर के उपकरण—घोड़ा, हाथी, रथ, पदाति, खड्ग, भाला, कुल्हाड़ी, धान्य और कोश ये सामग्री कहलाते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं। गौरवर्ण आदि की रमणीयता रूप है। पूर्वापर विवेक रूप बुद्धि का नाम मति है। बारह वर्ष से ऊपर की उम्र का परिणाम यौवन है। आयु का होना जीवन है। सामर्थ्य को बल कहते हैं। शरीर की कान्ति अथवा प्रताप का नाम तेज है। पुरुषों द्वारा लाये हुए अर्थ को 'गृह्णन्ति इति गृहाः' जो ग्रहण करते हैं वे गृह हैं इस लक्षण से स्त्रियाँ भी गृह हैं, तथा उनसे सहचरित महल आदि भी गृह हैं। गद्दे, पलंग आदि सुख के कारणभूत शयन हैं। सुख के हेतुक वेत्रासन, पीठ आदि आसन हैं। अथवा शरीर आदि या पुत्र, मित्र, दासी, दास आदि 'आसन' शब्द से विवक्षित हैं। सोंठ, मिर्च, हींग, वस्त्र, कपास, चाँदी, ताँबा आदि सभी वस्तुएँ भांड शब्द से कही जाती हैं। ये उपर्युक्त राज्यादि के उपकरण, इन्द्रियाँ, सुन्दररूप, विवेक, यौवन, जीवन, शक्ति, तेज, घर या स्त्रियाँ, शयन, आसन और भांड आदि सभी क्षणभंगुर हैं—इस प्रकार से ध्यान करें। यह अनित्य भावना है।

अशरणस्वरूपमाह—

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥६९७॥

अश्वगजरथनरबलवाहनानि मंत्रौषधानि च विद्याश्च प्रज्ञप्त्यादयो मृत्युभयादुपस्थितान्न शरणं न त्राणं न रक्षा, निकृतिर्वंचना, नीतिश्चाणक्यविद्या "स्वपक्षपरपक्षवृद्धिहानिप्रतिपादनोपायो नीतिः"। सा च सामोपप्रदानभेददंडरूपा। तत्र प्रियहितवचनमंगं स्वाजन्यं च साम, नानाद्रव्यप्रदानमुपप्रदान, त्रासनभर्त्संनादिर्भेदः, ताडनं छेदनं दंडः, निजा बांधवा भ्रात्रादयश्चैवमादीनि मृत्युभये सत्युपस्थिते शरणं न भवतीति चिन्तनीयमिति ॥६९७॥

तथा—

जम्मजरामरणसमाहिदह्मि सरणं ण विज्जदे लोए।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ॥६९८॥

जन्मोत्पत्तिः, जरा वृद्धत्वं, मरणं मृत्युः, एतैः समाहिते संयुक्ते सुष्ठु [1]संकलिते शरणं रक्षा न विद्यते लोकेऽस्मिञ्जगति, जरामरणमहारिपुवारणं, जिनशासनं मुक्त्वा[3]ऽन्यच्छरणं न विद्यते लोके इति संबंधः ॥६९८॥

तथा—

अशरण का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, बल, वाहन, मन्त्र, औषधि, विद्या, माया, नीति और बन्धुवर्ग ये मृत्यु के भय से रक्षक नहीं हैं ॥६९७॥

आचारवृत्ति—मृत्यु के भय आदि के उपस्थित होने पर घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र, औषधि तथा प्रज्ञप्ति आदि नाना प्रकार की विद्याएँ शरण नहीं हैं अर्थात् ये कोई भी मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं। निकृति—वंचना अर्थात् ठगना, नीति—चाणक्यविद्या, अथवा 'स्वपक्ष की वृद्धि और परपक्ष की हानि के प्रतिपादन का उपाय नीति है।' वह नीति साम, उपप्रदान, भेद और दण्ड के भेद से चार प्रकार की है। जिसमें प्रिय हित वचन साधन है और आत्मीयता का प्रयोग होता है वह सामनीति है। नाना प्रकार के द्रव्यों का प्रदान करना उपप्रदान नीति है। त्रास देना, भर्त्सना आदि करना भेदनीति है तथा ताड़न छेदन करना दण्डनीति है। भाई-बन्धु आदि निज कहलाते हैं। इत्यादि सभी नीतियाँ व बन्धु वर्ग आदि कोई भी मृत्यु भय के आ जाने पर शरण नहीं हैं ऐसा चिन्तवन करना चाहिए। उसी प्रकार से—

गाथार्थ—जन्म-जरा-मरण से सहित इस जगत् में जरा और मरणरूप महाशत्रु का निवारण करनेवाले ऐसे जिनशासन को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है ॥६९८॥

आचारवृत्ति—टीका सरल है।

तथा—

---

१. निज बान्धवा क २. संकुले क ३. नान्यच्छरणं विद्यते क

मरणभयम्हि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति।
धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥६९९॥

मरणभय उपगते उपस्थिते देवा अपि सेन्द्रा देवेन्द्रसहिताः सुरासुराः न तारयन्ति न त्रायन्ते तस्माद्धर्मो जिनवराख्यातस्त्राणं रक्षणं शरणमाश्रयो गतिश्चेति चिंतय भावय शरणत्वं, यस्मान्न कश्चिदन्य आश्रयः, धर्मो पुनः शरणं रक्षकोऽगतिकानां गतिरिति कृत्वा धर्मं शरणं जानीहीति ॥६९९॥

एकत्वस्वरूपमाह—

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुवंतओ दुहिदो।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोई समं एदि ॥७००॥

स्वजनस्य भ्रातृव्यपितृव्यादिकस्य, परिजनस्य दासीदासमित्रादिकस्य च मध्ये, एकोऽसहायः, रुग्णार्तो व्याधिग्रस्तो दुःखितः रुदन् व्रजति मृत्युवशगतो न जनः कश्चित् तेन सममेति गच्छति ॥७००॥

तथा—

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥७०१॥

गाथार्थ—मरण भय के आ जाने पर इन्द्र सहित भी देवगण रक्षा नहीं कर सकते हैं। धर्म ही रक्षक है, शरण है और वही एक गति है इस प्रकार से अशरणपने का चिन्तवन करो ॥६९९॥

आचारवृत्ति—मरणभय के उपस्थित होने पर देवेन्द्र सहित सुर-असुर गण भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं। इसलिए जिनेन्द्र देव द्वारा कथित धर्म ही रक्षक है, आश्रय है और वही एक गति है ऐसा चिन्तवन करो; क्योंकि अन्य कोई भी आश्रयभूत नहीं है किन्तु यह धर्म ही त्राता है। जिनके लिए कोई भी गति नहीं है उनके लिए वही एक गति है ऐसा जानकर एक मात्र धर्म को ही शरण समझो। यह अशरण भावना हुई।

एकत्व का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—स्वजन और परिजन के मध्य रोग से पीड़ित, दुःखी, मृत्यु के वश हुआ यह एक अकेला ही जाता है, कोई भी जन इसके साथ नहीं जाता ॥७००॥

आचारवृत्ति—भतीजा, चाचा आदि स्वजन हैं; दासी, दास, मित्र आदि परिजन हैं। इनके मध्य में भी यह जीव असहाय है। अकेला ही यह जीव व्याधि से पीड़ित होता है, अकेला ही दुःखी होता है, रोता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अन्य कोई भी जन इसके साथ परलोक नहीं जाता है।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—अकेला ही यह जीव कर्म करता है, एकाकी हो दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है—इस प्रकार से एकत्व का चिन्तवन करो ॥७०१॥

एकः करोति शुभाशुभं कर्म, एक एव च हिण्डते भ्रमति दीर्घसंसारे, एको जायते, एकश्च म्रियते, एवं चिन्तय भावयैकत्वमिति ॥७०१॥

अन्यत्वस्वरूपमाह—

मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णे ।
इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेंति ॥७०२॥

मातृपितृस्वजनसंबंधिनः सर्वेऽपि आत्मनोऽन्ये पृथग्भूता इह लोके बांधवा किंचित्कार्यं कुर्वन्ति ते न परलोकं समं यान्ति गच्छन्ति—नामुत्र लोके बान्धवास्ते भवन्तीत्यर्थः ॥७०२॥

तथा—

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहओत्ति मण्णंतो ।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥७०३॥

अन्यः कश्चिदन्यं जीवं शोचयति मृतो मम नाथ इति मन्यमानः, आत्मानं न तु शोचयति संसार-महार्णवे संसारमहासमुद्रे मग्नमिति ॥७०३॥

शरीरादप्यन्यत्वमाह—

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादात्ति एवं चिंतेहि[1] अण्णत्तं ॥७०४॥

आचारवृत्ति—यह जीव अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है। अकेला ही जन्म और मरण करता है—इस तरह एकत्वभावना का चिन्तवन करो। यह एकत्व भावना हुई।

अन्यत्व का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—माता-पिता और स्वजन सम्बन्धी लोग ये सभी आत्मा से भिन्न हैं। वे इस लोक में बांधव हैं किन्तु परलोक में तेरे साथ नहीं जाते हैं ॥७०२॥

आचारवृत्ति—ये माता-पिता बन्धुवर्ग आदि जन मेरी आत्मा से पृथक्भूत हैं। इस लोक में कुछ कार्य करते हैं किन्तु परलोक में हमारे साथ नहीं जा सकते हैं अतः ये परलोक के बान्धव नहीं हैं।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—यह जो मर गया, मेरा स्वामी है ऐसा मानता हुआ अन्य जीव अन्य का शोच करता है किन्तु संसार-रूपी महासमुद्र में डूबे हुए अपने आत्मा का शोच नहीं करता है ॥७०३॥

आचारवृत्ति—टीका सरल है।

शरीर से भी भिन्नपना दिखाते हैं—

गाथार्थ—यह शरीर आदि भी अन्य हैं पुनः जो बाह्य द्रव्य हैं, वे तो अन्य हैं ही। आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है इस तरह अन्यत्व का चिन्तवन करो ॥७०४॥

---

१. चिंतिज्ज क

शरीरमप्यन्यदिदं, किं पुनर्बहिर्द्रव्यं नान्यदिति ? तस्माज्ज्ञानं दर्शनमात्मेत्येवं चिन्तयान्यत्वमिति ॥७०४॥

संसारस्य स्वरूपं विवृण्वन्नाह—

मिच्छत्तेणाछण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ॥७०५॥

मिथ्यात्वेनाच्छन्नोऽश्रद्धानतमसा समंतादावृतः 'मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' तं जिनवर्णितं जिनेन प्रतिपादितमपश्यन् अज्ञानाद्भ्रमत्ययं जीवः, संसारकान्तारे संसाराटव्यां, भीमे भयानके, कुटिलेऽतीवगहने मोहवल्ल्यादिनिबद्ध इति ॥७०५॥

चतुर्विधं संसारस्वरूपमाह—

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो ।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयारेहिं णादव्वो ॥७०६॥

संसरणं संसारः परिवर्तनं, तच्चतुर्विधं द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्तनं कालपरिवर्तनं भावपरिवर्तनं, भवपरिवर्तनं चात्रैव द्रष्टव्यमन्यत्र पंचविधस्योपदेशादिति । तत्र द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेनैकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगंधादिभिन्नास्तीव्रमन्दमध्यभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु

आचारवृत्ति—जब यह शरीर भी आत्मा से भिन्न है तो पुनः ये बाह्य द्रव्य गृह आदि क्या भिन्न नहीं होंगे ? अर्थात् वे प्रकट रूप से भिन्न हैं। इसलिए ज्ञान-दर्शनरूप ही मेरी आत्मा है ऐसी अन्यत्व भावना का चिन्तवन करो। यह अन्यत्व भावना हुई।

संसार का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व से सहित हुआ जीव जिनेन्द्र कथित मोक्षमार्ग को न देखता हुआ भयंकर और कुटिल ऐसे संसार-वन में भ्रमण करता है ॥७०५॥

आचारवृत्ति—तत्त्वों के अश्रद्धानरूपी अन्धकार से सब तरफ से ढका हुआ यह जीव जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मार्ग को नहीं देखता हुआ, अज्ञानवश अतीव गहन, मोहरूपी बेल आदि से निबद्ध हो संसाररूपी भयानक वन में भटकता रहता है।

चार प्रकार के संसार का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चतुर्विध संसार है। यह चतुर्गति के भ्रमण से संयुक्त है। इसे अनेक प्रकार से जानना चाहिए ॥७०६॥

आचारवृत्ति—संसरण करना, परिवर्तन करना संसार है। उसके चार भेद हैं—द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। भवपरिवर्तन को भी इन्हीं में समझना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र ग्रन्थों में पाँच प्रकार के संसार का उपदेश किया गया है।

१. द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का है—नोकर्म परिवर्तन और कर्मपरिवर्तन। उनमें नोकर्म परिवर्तन का स्वरूप बताते हैं—

एक जीव एक समय में तीन शरीर—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और छह पर्या-

समयेषु निर्जीर्णास्ततो गृहीतानंतवारानतीत्य मिश्रकांश्चानंतवारान्नगृह्य मध्ये गृहीतांश्चानंतवारान् समतीत्य तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमिति। कर्मद्रव्यपरि-वर्तनमुच्यते—एकस्मिन् समये जीवेनैकेनाष्टविधकर्मभावेन ये पुद्गला गृहीताः समयाधिकामावलिका-मतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णास्ततो गृहीतानगृहीतान्मिश्राननंतवारानतीत्य त एव कर्मस्कन्धास्तेनैव विधिना तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनमिति। क्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—सूक्ष्मनिगो-तजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभव-ग्रहणं जीवित्वा मृतः स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरित्येवं यावदंगुलस्यासंख्येयभाग-प्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मनो जन्मक्षेत्र-भावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनमिति। कालपरिवर्तनमुच्यते—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः

प्तियों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ ग्रहण की हैं उन्हें तीव्र, मन्द और मध्यमरूप जैसे भावों से ग्रहण किया है तथा वे वर्गणाएँ स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गन्ध आदि से जिस प्रकार की हैं, द्वितीय आदि समयों में निर्जीर्ण हो गयीं। तदनन्तर वही जीव गृहीत पुद्लवर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़ता जावे, पुनः मिश्र वर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़े पुनः मध्य में ग्रहण किये गये ऐसे गृहीत परमाणुओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़े। पुनः वही जीव उस पहले समय के ग्रहण किये गये प्रकार से उतनी ही पुद्गल वर्गणाओं को उसी प्रकार के भावों से और वैसे ही स्निग्ध, रुक्ष, वर्ण गन्धवाले परमाणुओं को जब ग्रहण करता है तब उतने काल प्रमाण वह उसका नोकर्म परिवर्तन कहलाता है।

कर्मद्रव्य परिवर्तन को बताते हैं—

एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्मभाव से जो पुद्गल ग्रहण किये हैं। एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल को बिताकर द्वितीय आदि समयों में वे कर्म वर्गणाएँ निर्जीर्ण हो गयीं। पुनः गृहीत, अगृहीत और मिश्र पुद्गल वर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़ देने के बाद वही जीव उन्हीं पूर्व के कर्म-स्कन्धों को उसी ही विधि से कर्मभाव से परिणमन कराता है। प्रारम्भ से लेकर तब तक के काल प्रमाण को कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहते हैं। क्षेत्र-परिवर्तन का स्वरूप कहते हैं—सर्व जघन्य प्रदेश रूप शरीरधारी सूक्ष्म निगोद जीव, जो कि अपर्याप्तक है, लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश करके उत्पन्न हुआ, क्षुद्र भव ग्रहणकर जीवित रहकर मर गया, वही जीव पुनः उसी अवगाहना को धारण कर दूसरी बार उत्पन्न हुआ, उसी तरह तीसरी बार उत्पन्न हुआ, तथैव चौथी बार उत्पन्न हुआ। इसी तरह से अंगुल के असंख्यात भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतनी उसी जघन्य अवगाहना से जन्म लिया। पुनः वह एक-एक प्रदेश को अधिक ग्रहण करते हुए जितने काल में क्रम से सर्वलोक को अपने जन्म से जन्मक्षेत्ररूप कर लेता है तब उतने काल के हो जाने पर एक क्षेत्र-परिवर्तन होता है।

३. अब काल-परिवर्तन को कहते हैं—

कोई जीव उत्सर्पिणी के पहले समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु समाप्त होने पर मर गया, वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय से

स एव पुनस्तृतीयस्या उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः स एवानेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथाऽवसर्पिणी च एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तं, मरणस्यापि तथैव ग्राह्यं, यावत्तावत्कालपरिवर्तनमिति। भावपरिवर्तनमुच्यते—पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटय-कोटीसंज्ञिकामापद्यते, तस्य कषायाध्यवसायस्थानानि असंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थिति-योग्यानि भवन्ति, तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभवाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमि-तानि भवन्ति, एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसानं सर्वजघन्यमेव चानुभागबंधस्थानमास्कन्द-तस्तद्योग्यं सर्वं जघन्यं योगस्थानं भवति, तेषामेव स्थितिकषायानुभवस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति, एवं चतुःस्थानपतितानि कषायाध्यवसायस्थानानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति, तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयानुभवाध्यवसायस्थानं भवति तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्दृष्टव्यानि, एवं तृतीयादिष्वप्यनुभवाध्यवसायस्थानेष्वसंख्येयलोकपरिसमाप्तेः, एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयकषायाध्यवसायस्थानं भवति तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्था-नानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि, एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो

मर गया, वही जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। उसी क्रम से वहीं से उत्सर्पिणी के जितने समय हैं उनमें जन्म के क्रम से उत्सर्पिणी को समाप्त करे तथा अवसर्पिणी के भी जितने समय हैं उतने बार क्रम से जन्म के द्वारा अवसर्पिणी को भी समाप्त करे। इस तरह जन्म का निरन्तरपना कहा गया है। मरण का क्रम भी इसी तरह समझना चाहिए। अर्थात् वही जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरा, पुनः दूसरी उत्सर्पिणी के द्वितीय समय में मरा, पुनः तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय में मरा। इसी क्रम से उत्सर्पिणी के समय प्रमाण मरण करके पुनः अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरण करे, पुनः दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरण करे। इसी क्रम से अवसर्पिणी के समयों को भी मरण से पूरा करे। तब एक काल परिवर्तन होता है।

४. भाव-परिवर्तन को कहते हैं—

कोई पंचेन्द्रिय, संज्ञी पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि जीव सर्वजघन्य, स्वयोग्य ज्ञानावरण प्रकृति की अन्तःकोटाकोटी स्थिति को प्राप्त होता है, उसके कषाय-अध्यवसाय स्थान, असंख्यातलोक प्रमाण, षट् स्थान पतित उस स्थिति के योग्य होते हैं। वहाँ उसके सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान के निमित्त अनुभव अध्यवसायस्थान असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं। इस तरह सर्व-जघन्य स्थिति, सर्वजघन्य कषाय अध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागबन्धस्थान को प्राप्त करते हुए जीव के उसके योग्य जघन्य योगस्थान होता है। तथा उन्हीं स्थिति, कषाय और अनुभव स्थानों के असंख्यातभागवृद्धि युक्त दूसरा योगस्थान होता है। इस प्रकार से चतुः स्थान-पतित कषायअध्यवसायस्थान होते हैं और श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। तदनंतर पूर्वोक्त ही स्थिति और पूर्वोक्त ही कषाय अध्यवसायस्थान को प्राप्त करने वाले जीव के दूसरा अनुभागअध्यवसाय-स्थान होता है, उसके योगस्थान पूर्ववत् समझना चाहिए। इसी प्रकार तीसरे चौथे आदि अनुभव-अध्यवसाय-स्थानों में भी असंख्यातलोक की परिसमाप्ति होने तक समझना चाहिए। इस प्रकार उसी स्थिति को प्राप्त करनेवाले के दूसरा

वेदितव्यः, उक्ताया जघन्यस्थितेः समयाधिकायाः कषायाध्यवसायस्थानानि अनुभागाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि, एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोट्यकोटीपरिमितायाः कषायाध्यवसायस्थानानि वेदितव्यानि, एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यस्तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनमिति। चशब्देन सूचितं भवपरिवर्तनमुच्यते—नरकगतौ सर्व-जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि तेनायुषा तत्र कश्चिदुत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्रैव जात एवं दशवर्ष-सहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो तत्रैव मृतश्च पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्साग-रोपमाणि परिसमापितानि, ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्नः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्यो-पमानि तेनैव परिसमापितानि, तथैवं मनुष्यगतौ देवगतौ च नरकगतिवत्, अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरो-पमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तनमिति। एवं चतुर्विधः पंचविधो वा संसारः चतुर्गतिगमन-निबद्धो नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभ्रमणहेतुको बहुप्रकारैः षट्सप्तादिभेदैर्ज्ञातव्य इति ॥७०६॥

तथा षड्विधसंसारमाह—

कषाय-अध्यवसाय स्थान होता है, उसके भी अनुभव-अध्यवसाय स्थान और योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिए। इस प्रकार तृतीय चतुर्थ आदिक कषाय-अध्यवसाय-स्थानों में असंख्यातलोक परिसमाप्ति तक वृद्धि का क्रम समझना चाहिए। ऊपर जो एक समय अधिक जघन्य स्थिति कही है उसके कषाय-अध्यवसाय-स्थान, अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान और योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिए। इस प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से उत्कृष्ट स्थिति जो तीस कोड़ा-कोड़ी सागर पर्यन्त है वहाँ तक कषायअध्यवसायस्थान समझना चाहिए। ऐसे ही सर्व कर्मों की मूल प्रकृतियों का और उत्तर प्रकृतियों का परिवर्तन क्रम जानना चाहिए। यह सर्वसमुदित भाव-परिवर्तन कहलाता है।

५. अब गाथा के 'च' शब्द से सूचित भवपरिवर्तन का कथन करते हैं—नरक गति में सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्ष की है। कोई जीव उस जघन्य आयु से नरक में उत्पन्न हुआ। संसार में भ्रमण करके पुनः वही जीव उसी दश हजार वर्ष की आयु से उसी नरक में उत्पन्न हुआ, इसी तरह दश हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार उस जघन्य आयु से प्रथम नरक में जन्म लिया और मरण किया। पुनः एक-एक समय अधिक क्रम से तेतीस सागर पर्यन्त आयु को प्राप्त कर नरक के जन्म को समाप्त किया। वहाँ से निकलकर वही जीव तिर्यंचगति में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु से उत्पन्न हुआ। पुनः पूर्वकथित क्रम से तीन पल्य पर्यन्त उत्कृष्ट आयु तक पहुँच गया। इसी तरह मनुष्य गति में समझना। देवगति में नरकगति के समान है। किन्तु अन्तर इतना ही है कि देवगति में इकतीस सागर की आयु तक ही पहुँचना होता है। यह सब मिलकर 'भव परिवर्तन' होता है।

यह चतुर्विध अथवा पंचविध संसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में भ्रमण के निमित्त से होता है। तथा छह सात आदि भेदों से अनेक प्रकार का भी है ऐसा जानना चाहिए।

छह प्रकार के संसार को कहते हैं—

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य ।
छहिं अणियोगद्दारे सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥७०७॥

क: संसार: ? संसरणं संसारश्चतुर्गतिगमनरूप:, केन भावेन संसार: ? औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकादिभावेन, कस्य ? संसारिजीवस्याष्टविधकर्मविष्टब्धस्य नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपस्य, क्व संसार: ? मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेषु तिर्यग्लोके वा, कियच्चिरं संसार: ? अनाद्यनिधनोऽनादिसनिधन:, कतिविध: ? कतिप्रकार इति । अनेन प्रकारेण संसार एकविधो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विध: पंचविध: षड्विध इत्यादि, न केवलं संसार: षड्भिरनियोगद्वारैर्ज्ञायते किन्तु सर्वेऽपि भावा: पदार्था अनुगंतव्या ज्ञातव्या इत्यर्थ: ॥७०७॥

संसारे दु:खानुभवमाह—

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओग वीहणयं ।
अप्पियसंजोगं वि य रोगमहावेदणाओ य ॥७०८॥

तत्रैवंविधे संसारे जरामरणभयं जन्मभयं दु:खं, जरामरणभयं जन्मभयं वा दु:खं कायिकं वाचिकं मानसिकं, प्रियेण विप्रयोग: पृथग्भाव इष्टवियोगदु:खं, भीषणं च महाभयानकं, अप्रियेण संयोगोऽनिष्टेन

गाथार्थ—संसार क्या है ? किस प्रकार से है ? किसके है और कहाँ है ? कितने काल तक है और कितने प्रकार का है ? इन छह अनुयोगों के द्वारा सभी पदार्थों को समझना चाहिए ॥७०७॥

आचारवृत्ति—संसार क्या है ? संसरण करना संसार है जोकि चारों गतियों में गमन रूप है । किस भाव से संसार होता है ? औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक आदि भावों से संसार होता है । किसके संसार है ? जो आठ प्रकार के कर्मों से सहित है ऐसे नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप संसारी जीवों के संसार होता है । संसार कहाँ है ? मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन भावों में संसार है अथवा तिर्यक्लोक में संसार है । कितने काल तक संसार है ? यह अनादि अनन्त है ओर अनादि-सान्त है । अर्थात् अभव्य और दूरानुदूर भव्यों की अपेक्षा अनादि-अनन्त है तथा भव्यों की अपेक्षा अनादि-सान्त है । यह संसार कितने प्रकार का है ? सामान्य संसरण की अपेक्षा यह संसार एक प्रकार का है, दो प्रकार का है, तीन प्रकार का है, चार प्रकार का है, पाँच प्रकार का है और छह प्रकार का है इत्यादि । इन छह अनुयोगों के द्वारा केवल संसार ही नहीं जाना जाता है किन्तु सभी पदार्थ भी जाने जाते हैं । ऐसा जानना चाहिए ।

संसार में दु:खों के अनुभव को बताते हैं—

गाथार्थ—संसार में जरा और मरण का भय, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग और रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ ये सब भयंकर दु:ख हैं ॥७०८॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कथित प्रकारवाले इस संसार में जन्म के भय का दु:ख, जरा और मरण के भय का दु:ख, अथवा जन्म लेने से हुए दु:ख जो कि कायिक, वाचनिक और मानसिक होते हैं । प्रिय जनों के वियोग से इष्टवियोगज दु:ख होता है, जो कि महाभयानक है ।

सहितेन जातोद्भवं दुःखं चापि, रोगान् कासश्वासछर्दिकुष्ठव्याध्यादिजनितवेदनाश्चाप्नुवंतीति संबंधः ॥७०८॥

तथा—

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥७०९॥

जे भोगा खलु केई देवा माणुस्सिया य अणुभूदा।
दुक्खं च णंतखुत्तो णिरिए तिरिएसु जोणीसु ॥७१०॥

संजोगविप्पजोगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥७११॥

तत्र संसारे जायमानो म्रियमाणश्च जलचरेषु स्थलचरेषु खचरेषु च मध्ये तिर्यक्षु नरकेषु च दुःखसहस्राणि प्राप्नोति, मनुष्यत्वे देवत्वे च पूर्वोक्तानि दुःखसहस्राणि प्राप्नोतीति सम्बन्धः ॥७०९॥

तथा—

ये केचन भोगा दैवा मानुषाश्चानुभूताः सेवितास्तेषु भोगेषु अनंतवारान् दुःखं च प्राप्तं, नरकेषु तिर्यग्योनिषु च दुःखमनंतवारान् प्राप्तमिति ॥७१०॥

तथा—

अस्मिन् संसारे जीवेन संयोगा इष्टसमागमाः, विप्रयोगा अनिष्टसमागमाः, स्वेष्टवस्तुनो लाभ-

---

अप्रिय—अनिष्ट के साथ एकत्र रहने से अनिष्ट संयोगज दुःख होता है। खाँसी, श्वास, छर्दि, कुष्ठ, आदि रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ भी जीवों को प्राप्त होती रहती हैं अतः यह संसार दुःखमय ही है।

उसी प्रकार से और भी दुःखों को दिखाते हैं—

गाथार्थ—जलचर, थलचर और नभचर में, तिर्यंचों में, नरकों में, मनुष्य योनि में और देवपर्याय में जन्म लेता तथा मरण करता हुआ यह जीव हजारों दुःखों को प्राप्त करता है ॥७०९॥

वास्तव में जो कुछ भी देवों और मनुष्यों सम्बन्धी भोगों का अनुभव किया है वे भोग नरक और तिर्यंच योनियों में अनन्त बार दुःख देते हैं ॥७१०॥

संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान इन सबका संसार में मैंने अनुभव किया है ॥७११॥

आचारवृत्ति—इस संसार में जन्म लेते हुए और मरण करते हुए जीव जलचर, थलचर और नभचरों में, तिर्यंचों में तथा नरकों में हजारों दुःखों को प्राप्त करते हैं। वैसे ही मनुष्य-पर्याय और देवपर्याय में भी हजारों दुःखों का अनुभव करते हैं।

जो कुछ भी भोग देवगति और मनुष्यगति के हैं उनका इस जीव ने अनुभव किया है, पुनः भोगों के फलस्वरूप नरक और तिर्यंच योनियां में इसने अनन्त बार दुःखों का अनुभव किया है।

इस संसार में जीव ने इष्ट समागम, अनिष्ट समागम, इष्ट वस्तु का लाभ व अलाभ,

प्राप्ताः, बलाबलोऽप्राप्तिश्चैते सर्वेऽप्यनुभूतास्तथा सुखं दुःखं चानुभूतं तथा मानं पूजा, अपमानं परिभवश्चानुभूतमिति ॥७११॥

संसारानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह—

> एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं।
> णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥७१२॥

एवं बहुप्रकारं संसारं विविधानि दुःखानि स्थिरः सारो यस्यासौ विविधदुःखस्थिरसारस्तं संसारं ज्ञात्वा लघुमेव शीघ्रं निःसारं चिन्तयेत् भावयेदिति ॥७१२॥

लोकानुप्रेक्षां निरूपयन्नाह—

> एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा।
> दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो [1]लोयसब्भावं ॥७१३॥

षड्भिरनुयोगद्वारैर्लोकोऽपि ज्ञातव्यः। सामान्येनैकविधः, लोक्यन्त उपलभ्यन्ते पदार्था यस्मिन्निति स लोकः। ऊर्ध्वाधःस्वरूपेण द्विविधः, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्स्वरूपेण त्रिविध उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपेण वा त्रिविधः, गतिरूपेण चतुर्विधः, अस्तिकायादिभेदेन पंचविधः, षड्द्रव्यस्वरूपेण षड्विधः, पदार्थद्वारेण सप्तविधः, कर्मरूपेणाऽष्टविधः, इत्येवं बहुविधः, द्रव्यैः, पर्यायैश्च द्रव्यभेदेन पर्यायभेदेन लोकसद्भावं बहुप्रकारं चिन्तयेत् ध्यायेदिति ॥७१३॥

सुख व दुःख तथा मान-पूजा और अपमान-तिरस्कार इन सबका अनुभव किया हुआ है।

ससारानुप्रेक्षा का उपसंहार कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार नाना दुःखों की स्थिरता के सारभूत इस बहुत भेदरूप संसार को जानकर उसी प्रकार से उसे तत्क्षण निःसाररूप चिन्तवन करो ॥७१२॥

आचारवृत्ति—विविध प्रकार के दुःखों का स्थायी अवस्था रूप होना ही जिसका सार है ऐसे अनेक भेद रूप इस संसार को समझकर शीघ्र ही 'यह निःसार है' ऐसा चिन्तवन करो।

लोकानुप्रेक्षा को कहते हैं—

गाथार्थ—वास्तव में लोक एक प्रकार है, दो प्रकार, तीन प्रकार तथा अनेक प्रकार का भी है। इस तरह द्रव्य और पर्यायों के द्वारा लोक के सद्भाव का विचार करे ॥७१३॥

आचारवृत्ति—पूर्व कथित छह अनुयोगों के द्वारा लोक को भी जानना चाहिए। सामान्य से लोक एक प्रकार का है, जिसमें पदार्थ अवलोकित होते हैं, उपलब्ध होते हैं, वह लोक है; इस अपेक्षा से लोक एक प्रकार है। ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के भेद से दो प्रकार का है। ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप से भी तीन प्रकार का है। चार गति के रूप से चार प्रकार का है। पाँच अस्तिकायों के भेद से पाँच प्रकार का है। छह द्रव्यों के स्वरूप से छह प्रकार का है। सात पदार्थ—तत्त्वों के द्वारा सात प्रकार का है। आठ कर्मों के विकल्प से आठ प्रकार का है, इत्यादि रूप से यह अनेक प्रकार का है। इस तरह द्रव्यों के भेद से तथा पर्यायों के भेद से इस लोक के अस्तित्व का अनेक प्रकार से चिन्तवन करना चाहिए।

---

१. लोय क

लोकस्वरूपमाह—

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ॥७१४॥

लोकोऽकृत्रिमः खलु न केनाऽपि कृतः, खलु स्फुटमेतत्प्रमाणविषयत्वात्, अनादिनिधन आद्यन्तवर्जितः, स्वभावनिष्पन्नो विश्वसारूप्येण स्थितः, जीवाजीवैश्च पदार्थैर्भृतः पूर्णः, नित्यः सर्वकालमुपलभ्यमानत्वात्, तालवृक्षसंस्थानस्तालवृक्षाकृतिः, अधो विस्तीर्णः सप्तरज्जुप्रमाणो मध्ये संकीर्ण एकरज्जुप्रमाणः पुनरपि ब्रह्मलोके विस्तीर्णः पंचरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वं संकीर्ण एकरज्जुप्रमित इति ॥७१४॥

लोकस्य प्रमाणमाह—

धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपुग्गलाणं च।
जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणंतं ॥७१५॥

धर्माधर्मौ लोकाकाशं च यावन्मात्रे जीवपुद्गलानां च गतिरागतिश्च यावन्मात्रं तावल्लोकोऽतः परमित ऊर्ध्वमाकाशं पंचद्रव्याभावोऽनंतप्रमाणं केवलज्ञानगम्यमिति ॥७१५॥

पुनरपि लोकस्य संस्थानमित्याह—

लोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—निश्चय से यह लोक अकृत्रिम, अनादि-अनन्त, स्वभाव से सिद्ध, नित्य और तालवृक्ष के आकार वाला है तथा जीवों और अजीवों से भरा हुआ है ॥७१४॥

आचारवृत्ति—यह लोक अकृतिम है, क्योंकि निश्चय से यह किसी के द्वारा भी किया हुआ नहीं है। अतः स्पष्ट रूप से यह प्रमाण का विषय है। अर्थात् इस लोक का या सृष्टि का कर्ता कोई नहीं है जिनागम में यह बात प्रमाण से सिद्ध है। यह आदि और अन्त से रहित होने से अनादि अनन्त है। स्वभाव से ही निर्मित है अर्थात् विश्व स्वरूप से स्वयं ही स्थित है। जीव और अजीव पदार्थों से पूर्णतया भरा हुआ है। नित्य है चूंकि सर्वकाल ही इसकी उपलब्धि हो रही है। तालवृक्ष के समान आकारवाला है अर्थात् नीचे में सात राजू प्रमाण चौड़ा है, मध्य में संकीर्ण एक राजू प्रमाण है, पुनः ब्रह्मलोक में पाँच राजू प्रमाण चौड़ा है और ऊपर में संकीर्ण होकर एक राजू प्रमाण रह गया है।

लोक का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—जहाँ तक धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गलों का गमनागमन है वहाँ तक लोक है इसके परे अनन्त आकाश है ॥७१५॥

आचारवृत्ति—जितने में धर्म, अधर्म और लोकाकाश हैं और जीवों का व पुद्गलों का गमन आगमन है उतने मात्र को लोक संज्ञा है। इससे परे सभी ओर आकाश है। वहाँ पर पाँच द्रव्यों का अभाव है और वह आकाश अनन्त प्रमाण है, क्योंकि वह केवल ज्ञानगम्य है।

यह लोक पुनरपि किसके आकार का है ? सो ही बताते हैं—

हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासणझल्लरीमुदंगणिभो ।
मज्झिमवित्थारेण दु चोद्दसगुणमायदो लोओ ॥७१६॥

हेट्ठा अधःप्रदेशे मध्यप्रदेशे उपरिप्रदेशे च यथासंख्येन वेत्रासनझल्लरीमृदंगनिभः अधो वेत्रासनाकृतिर्मध्ये झल्लर्याकृतिरूर्ध्वं मृदङ्गाकृतिरिति, मध्यमविस्तार[1]प्रमाणेन चतुर्दशगुणः, मध्यमविस्तारस्य[2] प्रमाणमेका रज्जुः सा च चतुर्दशभिर्गुणिता लोकस्यायामो भवति, वातवलयाधस्तादारभ्य यावन्मोक्षस्थानं तयोर्मध्य आयाम इत्युच्यते । स आयामश्चतुर्दशरज्जुमात्र इति । घनाकारेण यदि पुनर्मीयते तदा त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुमात्रो भवतीति ॥७१६॥

तत्र[3] लोके जीवाः किं कुर्वन्तीत्याह—

तत्थणुहवंति जीवा सकम्मणिव्वत्तियं सुहं[4] दुक्खं ।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे ॥७१७॥

तत्र च लोके जीवाः स्वकर्मनिर्वर्तितं स्वक्रियानिष्पादितं सुखं दुःखं चानुभवन्ति, अनंतभवसागरे च जन्ममरणं पुनर्भवं च पुनरावृत्तिं च भीमे भयानके कुर्वन्तीत्यर्थः ॥७१७॥

पुनरप्यसमंजसमाह—

मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि ।
पुरिसो वि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जए ॥७१८॥

गाथार्थ—अधोलोक वेत्रासन के समान, मध्यलोक झल्लरी के समान और ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान है। पुनः मध्यमविस्तार एक राजू से चौदहगुणे ऊँचा यह लोक है ॥७१६॥

आचारवृत्ति—इस लोक का अधोभाग वेत्रासन—मोढ़ा के आकारवाला है, मध्यप्रदेश झल्लरी के आकार का है और ऊर्ध्वभाग ढोलक के समान है। इसका मध्यम विस्तार एक राजू है उसे चौदह से गुणा करने पर अर्थात् चौदह राजू प्रमाण इस लोक की ऊँचाई है। नीचे के वातवलय से लेकर मोक्षस्थानपर्यन्त के मध्य का जो भाग है उसे आयाम या ऊँचाई कहते हैं। अर्थात् लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। यदि इसको घनाकार से मापेंगे तो यह लोक तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण होता है।

इस लोक में जीव क्या करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—इस लोक में जीव अपने कर्मों द्वारा निर्मित सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। भयानक अनन्त भव समुद्र में पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं ॥७१७॥

आचारवृत्ति—इस लोक में सभी जीव अपने द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा निष्पन्न हुए ऐसे सुख-दुःख को भोगते रहते हैं। इस भयंकर अनन्तरूप महासंसार सागर में जन्म-मरण का अनुभव करते हैं। अर्थात् पुनः पुनः भव ग्रहण करते हैं।

पुनः लोक में जो असमंजस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें दिखाते हैं—

गाथार्थ—माता पुत्री हो जाती है और पुत्री माता हो जाती है। यहाँ पर पुरुष भी स्त्री और स्त्री भी पुरुष तथा पुरुष भी नपुंसक हो जाता है ॥७१८॥

---

१. विस्तर क २. विस्तरस्य क ३. तत्रयात्मके क ४. सुहदुःखं क

अस्मिल्लोके संसारे माता च भवति दुहिता सुता, दुहिता च पुनर्मातृत्वमुपैति प्राप्नोति, पुरुषोऽपि तत्र जगति स्त्री भवति, स्त्र्यपि पुमान्, पुरुषोऽपुमान्नपुंसकं च लोके भवतीति संबंधः ॥७१८॥

पुनरपि लोकगतसंसारविरूपतां दर्शयन्नाह;—

होऊण तेयसत्ताधिओ[1] दु बलविरियरूवसंपण्णो ।
जादो वच्चघरे किमि धिगत्थु संसारवासस्स ॥७१९॥

विदेहस्वामी राजा तेजः—प्रतापः सत्त्वं—स्वाभाविकसौष्ठवं ताभ्यामधिकस्तेजःसत्त्वाधिको भूत्वा तथा बलवीर्यरूपसम्पन्नश्च भूत्वा पश्चात्स राजा वर्चोगृहेऽशुचिस्थाने कृमिः संजातो यत एवं ततः संसारवासं धिगस्तु धिग्भवतु संसारे वासमिति ॥७१९॥

पुनरपि लोकस्य स्वरूपमाह—

धिग्भवदु लोगधम्मं देवा वि य सुरवदीय महड्ढीया ।
भोत्तूण सुक्खमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ॥७२०॥

धिग्भवतु लोकधर्मं लोकस्वरूपं, यस्माद्देवः सुरपतयोऽपि महर्द्धिका महाविभूतयो भूत्वा सौख्यमतुलं सुखमनुपमं भुक्त्वा पुनरपि दुःखवहा भवन्ति दुःखस्य भोक्तारो भवन्तीति ॥७२०॥

लोकानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह—

आचारवृत्ति—इस संसार में माता पुत्री हो जाती है और पुत्री मातृपने को प्राप्त हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है, स्त्री पुरुष हो जाती तथा पुरुष नपुंसक हो जाता है। ऐसे परस्पर में असमंजस अघटित सम्बन्ध भी होते रहते हैं।

पुनरपि लोकगत संसार की विरूपता दिखाते हैं।

गाथार्थ—प्रताप और पराक्रम से अधिक तथा बल, वीर्य और रूप से सम्पन्न होकर भी राजा विष्ठागृह में कीड़ा हो गया। अतः संसारवास को धिक्कार हो ॥७१९॥

आचारवृत्ति—विदेहदेश का राजा अधिक प्रतापी और स्वाभाविक सौष्ठव से सहित होने से अधिक सत्वशाली था। बल, वीर्य और रूप से सहित था। फिर भी वह मरकर अपवित्र स्थान में कृमि हो गया। इस संसार की ऐसी ही स्थिति है। अतः इस संसार में वास करने को धिक्कार !

पुनः लोक की स्थिति स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—इस लोक की स्थिति को धिक्कार हो जहाँ पर देव, इन्द्र और महर्द्धिक देवगण भी अतुल सुख को भोगकर पुनः दुःखों के भोक्ता हो जाते हैं ॥७२०॥

आचारवृत्ति—इस संसार के स्वरूप को धिक्कार कि जिसमें महाविभूतिमान देव और इन्द्र अनुपम सुख को भोगकर पुनः मरकर गर्भवास आदि में दुःख के अनुभव करनेवाले हो जाते हैं।

लोकानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

१. सत्ताहिओ क

जाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमणसंसारं ।
लोगग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥७२१॥

एवं लोकस्य सारं निःसारं तु ज्ञात्वा दीर्घगमनं[1] संसारं च ज्ञात्वा संसारं चापर्यन्तमवबुध्य लोकाग्रशिखरवासं मोक्षस्थानं सुखवासं निरुपद्रवं ध्यायस्व चिन्तय प्रयत्नेनेति ॥७२१॥

अशुभानुप्रेक्षास्वरूपं निरूपयन्नाह—

णिरएसु असुहमेयंतमेव तिरियेसु बंधरोहादी ।
मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं ॥७२२॥

नरकेष्वशुभमेकान्ततः सर्वकालमशुभमेव, तिर्यक्षु [2]महिषाश्वबारणादिषु बंधरोधादयो बंधनघरणदमनदहनताडनादयः, मनुष्येषु रोगशोकादयस्तु, दिवि देवलोके मानसमशुभं परप्रेषणवाहनमहर्द्धिकदर्शनेन मनोगतं सुष्ठु दुःखमिति ॥७२२॥

तथार्थद्वारेण दुःखमाह—

आयासदुक्खवेरभयसोगकलिरागदोसमोहाणं ।
असुहाणमावहो वि य अत्थो मूलं अणत्थाणं ॥७२३॥

आयासोऽर्थार्जनतत्परता, दुःखमसातावेदनीयकर्मोदयनिमित्तासुखरूपं, वैरं मरणानुबंधः, भयं भय-

---

गाथार्थ—बहुत काल तक भ्रमण रूप संसार निस्सार है। ऐसे इस लोक के स्वरूप को जानकर सुख के निवासरूप लोकाग्रशिखर के आवास का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करो ॥७२१॥

आचारवृत्ति—इस तरह इस लोक का सार निस्सार है तथा यह संसार अनन्त अपार है—ऐसा जानकर जो लोकाग्रशिखरवास मोक्ष स्थान है वही निरुपद्रव है। तुम सर्वप्रयत्न पूर्वक ऐसा चिन्तवन करो। इस तरह लोक भावना का वर्णन हुआ।

अशुभ अनुप्रेक्षा का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—नरकों में एकान्त से अशुभ ही है। तिर्यंचों में बन्धन और रोधन आदि, मनुष्यों में रोग, शोक आदि और स्वर्ग में मन सम्बन्धी अशुभ है ॥७२२॥

आचारवृत्ति—नरक में एकान्त से सर्वकाल अशुभ ही है। भैंस, घोड़ा, हाथी, बकरा आदि तिर्यंचों में बाँधना, रुकना, दमन करना, जलाना, ताड़न करना, पीटना आदि दुःख प्राप्त होते हैं। मनुष्यों में रोग, शोक आदि अशुभ दुःख होते हैं। तथा स्वर्ग में देवों को मानसिक दुःख होता है, सो ही अशुभ है। अर्थात् दूसरे देवों द्वारा प्रेरित होकर भृत्य कार्य करना, दूसरों के वाहन बनना अथवा अन्य देवों की महान् ऋद्धियों को देखकर मन में खिन्न होना—ये सब मनोगत अत्यन्त दुःख होते हैं।

अर्थ के द्वारा जो दुःख होते हैं उन्हें दिखाते हैं—

गाथार्थ—धन सब अनर्थों का मूल है। उससे श्रम, दुःख, वैर, भय, शोक, कलह, राग द्वेष और मोह इन अशुभों का प्रसंग होता ही है ॥७२३॥

आचारवृत्ति—धन का उपार्जन करने में प्रयत्नशील होने से जो खेद होता है वह

---

१. दीर्घगमनसंसारं क० २. अश्वमहिषवारणादिसु क०

कर्मोदयजनितत्रस्तता, शोकः शोककर्मोदयपूर्वकेष्टवियोगजः संतापः, कलिर्वचनप्रतिवचनकृतो द्वन्द्वः, रागो रतिकर्मोदयजनिता प्रीतिः, द्वेषोऽरतिकर्मोदयोद्भूताऽप्रीतिः, मोहो मिथ्यात्वासंयमादिरूप इत्येवमादीनामशुभानामावहोऽवस्थानं, अर्थः स्त्रीवस्त्रसुवर्णादिरूपः, अथवैतान्यशुभान्यावहति प्रापयतीति आयासाद्यशुभावहः, अनर्थानां च सर्वपरिभवानां च मूलं कारणमर्थस्तस्मात्तेन यच्छुभं तच्छुभं एव न भवतीति ॥७२३॥

तथा कामसुखमप्यशुभमिति प्रतिपादयति[1]—

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया ।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ॥७२४॥

दुःखेन कृच्छ्रेण गम्यन्त इति दुर्गमा[2] विषमस्था दुरारोहाः, दुर्लभो लाभो येषां ते दुर्लभलाभाः स्वेप्सितप्राप्तयो न भवन्ति, भयं प्रचुरं येभ्यस्ते भयप्रचुरा दंडमारणवंचनादिभयसहिताः, अल्पकाले भवा अल्पकालिकाः सुष्ठु स्तोककालाः, लघुका निःसाराः, के ते ? कामा मैथुनाद्यभिलाषा दुःखं विपाक फलं येषां

आयास है। असातावेदनीय कर्म के उदय के निमित्त से जो खेद होता है वह दुःख है। मरणान्त द्वेष को वैर कहते हैं। भय कर्म के उदय से जो त्रास होता है वह भय है। शोक कर्म के उदय पूर्वक इष्ट वियोग से उत्पन्न हुआ सन्ताप शोक है। वचन-प्रतिवचन रूप द्वन्द्व कलह है। अर्थात् आपस में झगड़ने का नाम कलह है। रतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई प्रीति राग है। अरतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई अप्रीति द्वेष है। मिथ्यात्व, असंयम आदि रूप परिणाम मोह हैं। ये सब अशुभ कहलाते हैं। अर्थ से ही ये सभी अशुभ परिणाम होते हैं। अथवा यह अर्थ ही सभी अशुभों को प्राप्त कराने वाला है।

स्त्री, वस्त्र, सुवर्ण आदि को अर्थ कहते हैं। यह अर्थ सर्व अनर्थों का मूल है। अर्थात् इससे नाना प्रकार के परिभव तिरस्कार प्राप्त होते हैं। इसलिए इससे जो शुभ होता है वह शुभ ही नहीं है। ऐसा समझना। अर्थात् धन, स्त्री आदि पदार्थों से जो कुछ भी सुख प्रतीत है वह सुख नहीं है, प्रत्युत सुखाभास ही है।

कामसुख भी अशुभ हैं ऐसा दिखाते हैं—

गाथार्थ—जो दुःख से और कठिनता से मिलते हैं, भय प्रचुर हैं, अल्पकाल टिकनेवाले हैं, तुच्छ हैं, जिनका परिणाम दुःखरूप है, ऐसे ये इन्द्रिय-विषय सेवन करते समय भी अशुभ ही हैं॥७२४॥

आचारवृत्ति—पंचेन्द्रियों के विषय-सुखों को कामसुख कहते हैं। ये विषय सुख-दुःख मिलनेवाले होने से दुर्गम हैं, अर्थात् विषम स्थितिवाले और दुरारोह हैं। इनकी प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है, अतः ये दुर्लभ हैं, अर्थात् इच्छित की प्राप्ति नहीं हो पाती है। इनसे भय की प्रचुरता है, अर्थात् इनसे दण्ड, मरण, वंचना आदि भय होते ही रहते हैं, ये क्षणिक हैं, अर्थात् स्वल्पकाल ठहरनेवाले हैं , निस्सार हैं, ऐसे मैथुन आदि की अभिलाषा रूप जो ये कामसुख

---

१. प्रतिपादयन्नाह क० २. सुष्ठु विषमस्था क०

बंधनादि ते दुःखविपाका दुःखावसानाः अशुभाः सेव्यमाना अपि, तत्राऽपि न सुखमस्तीति भावः सर्वाशुभमेवेति ॥७२४॥

आहारादपि न सुखं भवतीत्याह—

असुइबिलिबिले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो।
माढूइसिभ[1]लालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ॥७२५॥

अशुच्याबिले मूत्रपुरीषश्लेष्मपित्तरुधिरादिबीभत्से, गर्भ उदराभ्यंतरे, वसन् संतिष्ठमानः, वस्तिपटलप्रच्छन्नः जरायुरावृतः, मातृश्लेष्मलालायितं जनन्या चर्वितं श्लेष्मलालासमन्वितं रसं तीव्रं दुर्गन्धं पिबति यत एवंभूतो मूलाहारस्ततः कथमाहारात् सुखमित्याहारोऽप्यशुभरूप एवेति ॥७२५॥

शरीरमप्यशुभमिति निरूपयन्नाह—

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तंतमुत्तकुणिपकुडिं।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ॥७२६॥

मांसास्थिश्लेष्मवसारुधिरचर्मपित्तांत्रमूत्रकुणिपाशुचिकुटीं गृहमेतेषां बहुदुःखरोगभाजनं शरीरमिदमशुभमशुचि विजानीहीति ॥७२६॥

तस्मात्—

हैं इनके विपाक फल अन्त में दुःखदायी ही हैं। ये सेवन करते समय भी अशुभ ही हैं। अर्थात् इनके सेवनकाल में भी सुख नहीं है, प्रत्युत वह सुख की कल्पना मात्र है। इसलिए सर्व अशुभ ही हैं।

आहार से भी सुख नहीं होता है, सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—अशुचि से व्याप्त गर्भ में रहता हुआ यह जीव जरायु पटल से ढका हुआ है। वहाँ पर माता के कफ और लार से युक्त अतीव अशुभ को पीता है ॥७२५॥

आचारवृत्ति—मल, मूत्र, कफ, पित्त, रुधिर आदि से बीभत्स-ग्लानियुक्त ऐसे माता के उदर में तिष्ठता हुआ यह जीव वहाँ पर जरायुपटल से आवृत्त हो रहा है। वहाँ पर माता के द्वारा खाये गये भोजन से बने हुए कफ, लार आदि से सहित अत्यन्त दुर्गन्धित रस पीता रहता है। यदि जीव का मूल आहार ऐसा है तो फिर आहार से कैसे सुख होगा? इस लिए आहार भी अशुभ रूप ही है, ऐसा समझना।

शरीर भी अशुभ है ऐसा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—मांस, अस्थि, कफ, वसा, रुधिर, चर्म, पित्त, आंत, मूत्र इन अपवित्र पदार्थों की झोंपड़ी रूप बहुत प्रकार के दुःख और रोगों के स्थान स्वरूप इस शरीर को अशुभ ही जानो ॥७२६॥

आचारवृत्ति—यह शरीर मांस, हड्डी, कफ, मेद, रक्त, चमड़ा, पित्त, आंत, मूत्र और मल इन अशुभ पदार्थों का घर है। तीव्र दुःखकर रोगों का स्थान है। ऐसा यह शरीर तुम अशुभ-अपवित्र जानो।

इसलिए क्या करना चाहिए? सो ही बताते हैं—

---

1. माढूसिंभ लाला—द० क०

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं ॥७२७॥

अर्थं स्त्रीवस्त्रादिकं, कामं मैथुनादिकं, शरीरादिकमपि सर्वमशुभमिति जगति ज्ञात्वा निर्वेदं गच्छन् ध्यायस्व चिन्तय यथा [1]जहासि कुत्सितकलेवरमशुचि, शरीरवैराग्यं च सम्यक् चिंतयेति ॥७२७॥

अशुभानुप्रेक्षां संक्षेपयन्नाह—

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥७२८॥

ससुरासुरेषु नरकतिर्यङ्मनुष्येषु जिनख्यातं धर्मं मुक्त्वा शुभमिहान्यन्नास्ति, एवं चिन्तयेत्, लोके धर्ममन्तरेणान्यच्छुभं न भवतीति जानीहि ॥७२८॥

आस्रवानुप्रेक्षां प्रकटयन्नाह—

दुक्खभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे ।
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥७२९॥

गाथार्थ—अर्थ, काम और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं ऐसा जानकर विरक्त होते हुए जैसे अशुचि शरीर छूट जाय वैसा ही ध्यान करो ॥७२७॥

आचारवृत्ति—अर्थ—स्त्री, वस्त्र आदि; काम—मैथुन आदि, और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं। ऐसा इस लोक में जानकर उनसे निर्वेद को प्राप्त होते हुए ध्यान करो। अर्थात् जिस प्रकार से यह कुत्सित शरीर छोड़ सकते हो, उसी प्रकार से शरीर के वैराग्य का और संसार के वैराग्य का अच्छी तरह से चिंतवन करो।

अशुभ अनुप्रेक्षा को संक्षिप्त करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को छोड़कर सुर-असुर, तिर्यंच, नरक और मनुष्य से सहित इस जगत् में कुछ भी शुभ नहीं है ॥७२८॥

आचारवृत्ति—सुर असुरों से सहित, तथा तिर्यंच, नारकी और मनुष्यों से संयुक्त इस संसार में जिनेन्द्रदेव के धर्म को छोड़कर और कुछ भी शुभ रूप नहीं है, ऐसा समझो। यह अशुभ अनुप्रेक्षा हुई।

भावार्थ—अन्यत्र तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में अशुचि अनुप्रेक्षा ऐसा नाम है, किन्तु यहाँ इसे 'अशुद्ध' ऐसा नाम दिया है। सो नाम मात्र का ही भेद है। अर्थ में प्रायः समानता है। वहाँ अशुचिभावना में केवल शरीर आदि सम्बन्धी अपवित्रता का चिन्तन होता है तो यहाँ सर्व अशुभ-दुःखदायी वस्तुयें—धन, इन्द्रिय-सुख आदि तथा शरीर आदि सम्बन्धी अशुभपने का विचार किया गया।

आस्रव अनुप्रेक्षा को प्रगट करते हैं—

गाथार्थ—दुःख और भय रूपी प्रचुर मत्स्यों से युक्त, अतीव घोर संसार रूपी समुद्र में जीव जो डूब रहा है वह सब कर्मास्रव का निमित्त है ॥७२९॥

---

१. जहासि त्यजसि क०

दुःखभयान्येव मीना मत्स्यास्त एव प्रचुराः प्रभूता यस्मिन् स दुःखभयमीनप्रचुरस्तस्मिन् संसार-महार्णवे परमघोरे सुष्ठु रौद्रे जन्तुर्जीवो यस्मान्निमज्जति प्रविशति तत्सर्वं कर्मास्रवहेतुकं कर्मादाननिमित्त-मिति ॥७२९॥

के आस्रवा इत्याशंकायामाह—

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया ।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥७३०॥

रागद्वेषमोहपंचेन्द्रियाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाः ऋद्धिगौरवरसगौरवसातगौरवकषायाश्च मनो-वचनकायसहिता एवं सर्व एते कर्मण आस्रवा भवन्ति—कर्माण्येतैरागच्छन्तीति ॥७३०॥

रागादीन् विवेचयन्नाह—

रंजेदि असुहकुणपे रागो दोसो वि दूसदी णिच्चं ।
मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं ॥७३१॥

रागो जीवं कुणपे वस्तुनि रंजयति—कुत्सिते द्रव्येऽनुरागं कारयति रागः । द्वेषोऽपि शोभनमपि द्वेष्टि—सम्यग्दर्शनादिषु द्वेषं कारयति । नित्यं सर्वकालं । मोहोऽपि महारिपुर्महावैरी यस्मान्नियतं निश्चयेन मोहयति सद्भावं—जीवस्य परमार्थरूपं तिरयतीति ॥७३१॥

यत एवंभूतो मोहोऽतस्तं कुत्सयन्नाह—

धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदत्थेण मोहिदो संतो ।
ण विबुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं ॥७३२॥

आचारवृत्ति—दुःख और भय रूप ही जिसमें बहुत से मत्स्य भरे हुए हैं ऐसे इस भयंकर संसार रूपी समुद्र में यह जीव जिस कारण से डूब रहा है वह सब कर्मास्रव का ही निमित्त है।

वे आस्रव कौन-कौन है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—राग, द्वेष, मोह, इन्द्रियाँ, संज्ञायें, गौरव और कषाय तथा मन, वचन, काय ये कर्म के आस्रव होते हैं ॥७३०॥

आचारवृत्ति—राग, द्वेष, मोह, पाँच इन्द्रियाँ, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें, रसगौरव, ऋद्धिगौरव और सातगौरव ये तीन गौरव और कषाय तथा मन-वचन-काय इन सभी के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। अतः ये आस्रव कहलाते हैं।

रागादि का विवेचन करते हैं—

गाथार्थ—राग अशुभ-कुत्सित में अनुरक्त करता है। द्वेष भी नित्य ही अप्रीति कराता है। मोह भी महाशत्रु है जोकि निश्चित रूप से सत्पदार्थ में मूढ़ कर देता है। ॥७३१॥

आचारवृत्ति—राग जीव को निन्द्य द्रव्य में भी अनुराग कराता है, द्वेष भी हमेशा प्रशस्त सम्यग्दर्शन आदि में द्वेष कराता है और मोह भी महावैरी है कि जो निश्चय से जीव के परमार्थ रूप को तिरोहित कर देता है, ढक देता है।

यह मोह इस प्रकार का है, अतः इसकी निन्दा करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मोह को धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! कि जिस हृदय में स्थित मोह के द्वारा मोहित होता हुआ यह जीव हित रूप, शिव सुख का हेतु, मोक्षमार्ग रूप ऐसे जिन-वचन

धिक्-धिक् भवतु मोहं—मोहः प्रलयं गच्छतु। येन मोहेन हृदयस्थेन[1] मोहितो मूढः सन् न विबुध्यते तन्न जानाति जिनवचनं परमागमं। किं विशिष्टं? हितशिवसुखकारणं मार्गं—एकांतवादिपरिकल्पितसुखनिमित्तमार्गविपरीतं येन मोहेन हृदयस्थेन न विबुध्यते तं मोहं धिग्भवन्त्विति ॥७३२॥

रागद्वेषौ कुत्सयन्नाह—

जिणवयण सद्दहाणो वि तिव्वमसुहगदिपावयं कुणइ[2]।
अभिभूदो जेहिं सदा धित्तेसिं रागदोसाणं ॥७३३॥

याभ्यां रागद्वेषाभ्यामभिभूतः कदर्थितोऽयं जीवो जिनवचन श्रद्धानोऽपि तत्त्वरुचिसहितोऽप्यशुभगतिहेतुकं तीव्रं पापं करोति श्रेणिकादिवत्, धिग्भवतस्तौ रागद्वेषौ, इति दर्शने सत्यपि रागद्वेषौ पुरुषस्य पापं जनयत इति तयोर्निराकरणे संभ्रमः कार्यं इति ॥७३३॥

विषयाणां दुष्टत्वमाह—

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं।
मंतोसहिहीणेण व दुट्ठा आसीविसा सप्पा ॥७३४॥

तानि कुत्सयन्नाह—

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसेदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु[3] ॥७३५॥

को नहीं समझता है ॥७३२॥

आचारवृत्ति—इस मोह को धिक्कार हो! अर्थात् यह मोह प्रलय को प्राप्त हो जावे, हृदय में विद्यमान जिस के द्वारा मूढ़ हुआ यह जीव जिन आगम को नही जानता है। जिनागम जो कि हितरूप मोक्षसुख का कारण है तथा एकान्तवादियो द्वारा परिकल्पित सुख के कारणरूप मार्ग से विपरीत है। अर्थात् जिस मोह के द्वारा जीव मोक्षमार्ग को नही पाता है उस मोह को धिक्कार!

राग-द्वेष की निन्दा करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनके द्वारा पीड़ित हुआ जीव जिनवचन का श्रद्धान करते हुए भी तीव्र अशुभगति कारक पाप करता है उन राग और द्वेष को सदा धिक्कार हो! ॥७३३॥

आचारवृत्ति—जिन राग-द्वेष के द्वारा पीड़ित हुआ यह जीव तत्त्वों की रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त होता हुआ भी श्रेणिक आदि के समान अशुभ गति के लिए कारण ऐसे तीव्र पापों को करता है, ऐसे इन राग-द्वेषों को धिक्कार हो। तात्पर्य यह है कि जीव के सम्यग्दर्शन के होने पर भी ये राग-द्वेष पाप को उत्पन्न करते हैं। अतः इनका निराकरण करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

इन्द्रिय-विषयों की दुष्टता बतलाते हुए उनकी निन्दा करते हैं—

गाथार्थ—चचल मन से इन इन्द्रिय-विषयों का निग्रह करना कठिन है। जैसे कि मन्त्र और औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जातिवाले सर्पों को वश करना कठिन है ॥७३४॥

उन इन्द्रियों को धिक्कार हो कि जिनके वश से पाप का अर्जन करके यह जीव चारों गतियों में पाप के फलरूप अनन्त दुःख को प्राप्त होता है ॥७३५॥

---

1. हृदयस्थितेन क० 2. कुणदि क० 3. भवगतिषु

एकाग्रचित्तमन्तरेणैतानिन्द्रियविषयान्निग्रहीतुं दुःखमेतेषां रूपरसगंधस्पर्शशब्दविषयाणामिन्द्रियाणां निग्रहं कर्तुं न शक्यते चलचित्तेन। यथा मंत्रौषधिहीनेन दुष्टा आशीविषाः सर्पा वशीकर्तुं न शक्यन्त इति ॥७३४॥

धिग्भवतु तानीन्द्रियाणि, येषामिन्द्रियाणां वशतो वशं गतः पापमर्जयित्वा च पापं संगृह्य प्राप्नोति, तस्य पापस्य विपाकं फलं भवगतिषु च दुःखमनंतं प्राप्नोतीति ॥७३५॥

संज्ञागौरवाणां स्वरूपमाह—

सण्णाहि गारवेहि अ गुरुओ गुरुगं तु पावमज्जणिय ।
तो कम्मभारगुरुओ गुरुगं दुक्खं समणुभवइ ॥७३६॥

आहारादिसंज्ञाभिर्गौरवैश्च गुरुः सन् गुरुकं तु पापमर्जयित्वा पापभारं स्वीकृत्य ततः पापभारेण गुरुर्भूत्वा ततो गुरुकं दुःखं समनुभवतीति ॥७३६॥

कषायास्रवस्वरूपमाह—

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति ॥७३७॥

क्रोधमानमायालोभा दुराश्रया दुष्टाश्रयाः कषायरिपवः दोषसहस्राणामावासाः दुःखसहस्राणि जीवान् प्रापयंति—दुःखसहस्रैः कषाया जीवान् संबंधयन्तीत्यर्थः ॥७३७॥

आचारवृत्ति—एकाग्रचित्त के बिना चंचल चित्तवाले मनुष्य को पाँचों इन्द्रियों के रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन विषयों का निग्रह करना शक्य नहीं है जैसे कि, मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य को दुष्ट आशीविष सर्पों का वशीकरण करना शक्य नहीं है। इसलिए इन इन्द्रियों को धिक्कार हो कि जिनके वश में हुआ यह जीव पाप का संग्रह करता है और उस पाप के फल-स्वरूप चारों गतियों में अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है।

संज्ञा और गौरव का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—संज्ञा और गौरव से भारी होकर तीव्र पाप का अर्जन करके उससे कर्म के भार से गुरु होकर महान् दुःखों का अनुभव करता है ॥७३६॥

आचारवृत्ति—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं द्वारा और रस आदि तीन गौरवों द्वारा गुरु अर्थात् भारभूत होता हुआ यह जीव गुरुक—अनेक पाप-भार को स्वीकार करके पुनः उस पापभार से गुरु—भारी होकर गुरुक—बहुत से दुःखों का अनुभव करता है।

कषायास्रव का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ ये दुष्ट आश्रयरूप कषाय शत्रु हजारों दोषों के स्थान हैं, ये हजारों दुःखों को प्राप्त कराते हैं ॥७३७॥

आचारवृत्ति—ये क्रोध-मान-माया-लोभ रूपी कषाय शत्रु दुष्ट आश्रयरूप हैं। हजारों दोषों के आवास-स्थान हैं, ये जीवों को हजारों दुःख प्राप्त कराते हैं। अर्थात् ये कषाय हजारों दुःखों के साथ जीव का सम्बन्ध करा देते हैं।

पुनरप्यास्रवानाह—

हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं ।
तेहिंतु धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥७३८॥

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहैः पंचभिरास्रवद्वारैरास्रवति कर्मोपढौकते पापं । तेभ्यश्चाश्रितेभ्यो ध्रुवो निश्चयरूपो विनाशो जीवस्य भवति । यथा सास्रवा नौः पोतः समुद्रे निमज्जति, एवं कर्मास्रवैर्जीवः संसार-सागरे निमज्जतीति ॥७३८॥

आस्रवानुप्रेक्षामुपसंहरन्नाह—

एवं बहुप्पयारं कम्मं आसवदि दुट्ठमट्ठविहं ।
णाणावरणादीयं दुक्खविवागं त्ति चिंतेज्जो ॥७३९॥

एवं ज्ञानावरणादिकं कर्माष्टविधं भेदेन बहुप्रकारं दुष्टं वाऽऽस्रवति यस्मात्तस्मात्तमास्रवं दुःखवि-पाकमिति कृत्वा चिन्तयेत् भावयेदिति ॥७३९॥

यस्मादेवमास्रवैः कर्मास्रवति तस्मात्संवरमाह—

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो ।
इंदियकसायसण्णागारवरागादिआदीणि ॥७४०॥

तस्मात्कर्मास्रवकारणानि सर्वाणि यानि तानि निरोधयेत् निवारयेत् । कानि तानि ? इन्द्रियकषाय-

---

पुनरपि आस्रवों को कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा आदि आस्रव-द्वार से पाप का आना होता है। उनसे निश्चित ही विनाश होता है। जैसे जल के आस्रव से सहित नौका समुद्र में डूब जाती है ॥७३८॥

आचारवृत्ति—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच आस्रव-द्वारों से पाप-कर्म आते हैं और इन कर्मों के आने से निश्चित ही जीव का विनाश होता है। जैसे कि जल के आने के द्वार सहित नौका समुद्र में डूब जाती है। इस प्रकार से कर्मों के आस्रव से यह जीव संसार सागर में डूब जाता है—यह अभिप्राय हुआ।

आस्रव-अनुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इस तरह बहु-प्रकार का कर्म दुष्ट है, जो कि ज्ञानावरण आदि से यह आठ प्रकार का है तथा दुःखरूप फलवाला है ऐसा चिन्तवन करे ॥७३९॥

आचारवृत्ति—इन उपर्युक्त कारणों से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का कर्म, अपने भेदों से अनेक प्रकार का है अथवा दुष्ट-दुःखदायी है। वह आता है इसी का नाम आस्रव है। सो इन आस्रवों का फल दुःखरूप है, इस प्रकार से भावना करो। यह आस्रवानुप्रेक्षा हुई।

जिस कारण इन आस्रवों से कर्म आता है, इस कारण ही संवर को कहते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रियाँ, कषाय, संज्ञा, गौरव, राग आदि ये कर्मास्रव के कारण हैं। इसलिए इन सबका निरोध करें ॥७४०॥

आचारवृत्ति—अतः जो कर्म के आने के कारण हैं उन सबका निवारण करना चाहिए। वे इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा, गौरव और राग-द्वेष आदि हैं। अर्थात् इन्हीं कारणों से आत्मा में कर्मों का

संज्ञागौरवरागादिकानि। यस्मादेतैः कर्मागच्छति तस्मादेतानि सर्वाणि निरोधयेदिति ॥७४०॥

रुद्धेषु तेषु यद्भवति तदाह—

रुद्धेसु कसायेसु अ मूलादो होंति आसवा रुद्धा।
दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जह ण एदि ॥७४१॥

रुद्धेषु च कषायेषु च मूलादारभ्य मूलत आस्रवाः सर्वेऽपि रुद्धाः सम्यक् पिहिता भवंति यथा दुर्वहति वने पानीये—दुष्टे वहति स्रोतसि जले, अथ व्रणे—विवरे, दुष्टे वहति, निरुद्धे विधृते, नावं नैति जलं यथा। अथवा नालिकेरादित्वग्भिर्बद्धा नौः सास्रवा सत्यपि नयति प्राप्नोति परतीरं, अथवा नैति विनाशं। कषायेषु निरुद्धेषु आस्रवा रुद्धा यथा नावं नैति जलं रुद्धेषु, यथा च सास्रवा नौर्दुर्वहति पानीये निरुद्धे मूलतस्तस्या नावः सर्वेऽपि आस्रवा निरुद्धा भवंति ततः द्वा नौर्नयति प्रापयतीष्टस्थानमानयति वा स्वेष्टं वस्तु-विनाशं च न गच्छति, एवं कषायेषु रुद्धेषु मूलतः सर्वेऽप्यास्रवा निरुद्धा भवंति ततो यद्यपि योगादिद्वारैः सास्रवो जंतुस्तथाऽपि रत्नत्रयं मोक्षपत्तनं नयतीति ॥७४१॥

इन्द्रियसंवरस्वरूपमाह—

इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहिं णिघिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥७४२॥

इन्द्रियाणि कषाया द्वेषाश्चैते निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते यथासंख्यं[1] तपसा ज्ञानेन विनयेन। इन्द्रियाणि

आता है, अतः इन सबका निरोध करना चाहिए।

इनके रुक जाने पर जो होता है, सो बताते हैं—

गाथार्थ—कषायों के रुक जाने पर मूल से आस्रव रुक जाते हैं जैसे वन में जल के रुक जाने पर नौका नहीं चलती है ॥७४१॥

आचारवृत्ति—कषायों के रुक जाने पर जड़ मूल से सभी आस्रव रुक जाते हैं। जैसे स्रोत के जल को रोक देने पर या जल आने के छिद्र को बन्द कर देने पर नौका में जल नहीं आता है, अथवा नारियल आदि के त्वक् (रस्सी) आदि से बँधी हुई नौका में यद्यपि पानी आने के द्वार होने पर भी वह तीर को प्राप्त करा देती है। अथवा वह विनष्ट नहीं होती है। अर्थात् कषायों के रुकने पर आस्रव रुक जाते हैं। जैसे पानी आने के द्वार सहित नाव है फिर भी पानी के रोक देने पर उस नाव में सभी तरफ से पानी रुक जाता है तब वह नाव मनुष्य को उसके इष्ट स्थान पर पहुँचा देती है अथवा उसकी इष्ट वस्तु नष्ट नहीं होती है, जल में नहीं डूबती है। इस तरह कषायों के रुक जाने पर मूल से सभी आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योग आदि के द्वारा जीव-क्षीण मोह और सयोग केवली आस्रव सहित हैं फिर भी वे अपने रत्नत्रय को मोक्षनगर में ले जाते हैं। यह अभिप्राय हुआ।

इन्द्रिय संवर का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रिय, कषाय और दोष ये तप, ज्ञान और विनय के द्वारा निगृहीत होते हैं। जैसे कुपथगामी घोड़े नियम से रस्सी से निगृहीत किये जाते हैं ॥७४२॥

---

1. यथासंख्येन द० क०

तपसा निगृह्यन्ते, कषाया ज्ञानभावनया वशीक्रियन्ते, द्वेषो विनयक्रियया प्रलयमुपनीयते । यथोत्पथगामिन उन्मार्गयायिनस्तुरगा अश्वा निगृह्यन्ते वशतामुपनीयन्ते रज्जुभिर्वरत्राभिः खल्विति[1] ॥७४२॥

चारित्रसंवरस्य स्वरूपमाह—

मणवयणकायगुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स ।
आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे ॥७४३॥

मनोवचनकायैर्गुप्तेन्द्रियस्य समितिषु चेर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोच्चार[2]प्रस्रवणसंज्ञिकास्व-प्रमत्तस्य सुष्ठु प्रमादरहितस्य चारित्रवत आस्रवद्वारनिरोधे यैर्द्वारैः कर्मागच्छति तेषां निरोधे सति नवकर्मरजस आस्रवो न भवेत्—अभिनवकर्मागमो न भवेदिति ॥७४३॥

पुनरपि संक्षेपत आस्रवं संवरं चाह—

मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि ।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि ॥७४४॥

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्यत्कर्मास्रवति तत्कर्म सम्यग्दर्शनविरतिनिग्रहनिरोधनैस्तु यथासंख्यं[3] नास्रवति नागच्छतीति ॥७४४॥

आचारवृत्ति—इन्द्रियों का तप से निग्रह होता है, कषायें ज्ञान-भावना से वश मे की जाती है और विनयक्रिया से द्वेष प्रलय को प्राप्त हो जाता है । जैसे कि उन्मार्ग में चलनेवाले घोड़े निश्चित ही चर्ममयी रस्सो (चाबुक) से वशीभूत किये जाते है ।

चारित्रसंवर का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—मन-वचन-काय से इन्द्रियो को वश में करनेवाले, समितियों मे अप्रमादी साधु के आस्रव का द्वार रुक जाने से नवीन कर्मरज का आस्रव नहीं होता है ॥७४३॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने मन, वचन और काय से अपनी इन्द्रियों को गुप्त अर्थात् वश में कर लिया है, जो ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उच्चारप्रस्रवण नामक पाँच समितियों में प्रमाद से रहित—सावधान है ऐसे अप्रमत्त चारित्रधारी साधु के जिन द्वारों से कर्मास्रव होता है उनका निरोध हो जाने पर उनके नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता है ।

पुनरपि संक्षेप से आस्रव और संवर को कहते है—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे दर्शन, विरति, निग्रह और निरोध से नहीं आते है ॥७४४॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग इनसे आत्मा में जो कर्म आते है वे क्रमशः सम्यग्दर्शन, विरति, इन्द्रिय निग्रह और योगनिरोध इन कारणों से नही आते है—रुक जाते है । इस तरह कर्मों का आना आस्रव और कर्मों का रुकना संवर—इन दोनों का वर्णन यहाँ किया गया है ।

---

१. स्फुटमिति क० २. निक्षेपोच्चारण प्रस्रवण क० ३. यथासंख्येन क०

संवरानुप्रेक्षां संक्षेपयन् तस्याश्च फलं प्रतिपादयन्नाह—

संवरफलं तु णिव्वाणमेत्ति संवरसमाधिसंजुत्तो।
णिच्चुज्जुत्तो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पा ॥७४५॥

संवरफलं निर्वाणमिति कृत्वा संवरेण समाधिना चाथवा संवरध्यानेन संयुक्तः सन् नित्योद्युक्तश्च सर्वकालं यत्नपरं भावयेमं संवरं विशुद्धात्मा सर्वद्वन्द्वपरिहीणः—संवरं प्रयत्नेन चिन्तयेति ॥७४५॥

निर्जरास्वरूपं विवृण्वन्नाह—

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।
दुविहा य सा वि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥७४६॥

रुद्धास्रवस्य पिहितकर्मागमद्वारस्यैवं तपसा युक्तस्य निर्जरा भवति—कर्मशातनं भवति। साऽपि च निर्जरा द्विविधा भणिता, देशतः सर्वतश्च [1]कर्मैकदेशनिर्जरा सर्वकर्मनिर्जरा चेति ॥७४६॥

देशनिर्जरास्वरूपमाह—

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ॥७४७॥

संसारे चतुर्गतिसंसरणे, संसरतः पर्यटतः, क्षयोपशमगतकर्मणः किंचित् क्षयमुपगतं किंचिदुपशान्तं किंचित्स्वस्वरूपेण स्थितं कर्म तस्य कर्मणो या निर्जरा सा सर्वस्यैव जीवस्य भवति जगति सा च देशनिर्जरा

अब संवर-अनुप्रेक्षा को संक्षिप्त करते हुए और उसका फल बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संवर का फल निर्वाण है, इसलिए संवर-समाधि से युक्त, नित्य ही उद्यमशील, विशुद्ध आत्मा मुनि इस संवर की भावना करे ॥७४५॥

आचारवृत्ति—संवर का फल तो निर्वाण है—ऐसा समझकर संवर और समाधि अथवा संवर ध्यान से संयुक्त होते हुए सर्वकाल यत्न में तत्पर, सर्वद्वन्द्वों से रहित मुनि प्रयत्नपूर्वक इस संवर अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करे। यह संवर अनुप्रेक्षा हुई।

निर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार जिनके आस्रव रुक गया है और जो तपश्चर्या से युक्त हैं उनके निर्जरा होती है। वह भी देश और सर्व की अपेक्षा से दो प्रकार की कही गयी है ॥७४६॥

आचारवृत्ति—जिन मुनिराज ने कर्मागम का द्वार बन्द कर दिया है और तपश्चरण से सहित हैं उनके कर्म के झड़ने रूप निर्जरा होती है। उस निर्जरा के दो भेद हैं कर्मों की एकदेशनिर्जरा और सर्वकर्मनिर्जरा।

एक-देशनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त कर्मों की निर्जरा जगत् में सभी जीवों के होती है और पुनः तप से विपुल निर्जरा होती है ॥७४७॥

आचारवृत्ति—चतुर्गति के संसरण रूप इस संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त करते हुए कर्मों की जो निर्जरा होती है वह सभी संसारी जीवों को होती है

---

१. 'एककर्मैक' इति प्रेस-पुस्तके पाठः।

तपसा पुनर्निर्जरा विपुला—तपोग्निना भस्मीकृतस्य सर्वस्य कर्मणो निर्जरा सकलेति ॥७४७॥

सकलनिर्जरायाः फलं स्वरूपं चाह—

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं व ॥७४८॥

यथा धातुस्सुवर्णपाषाणः धम्यमानः शुध्यति किट्टकालिमादिरहितो भवति अग्निना तु सन्तप्तः सन्, तथा तपसा विशुध्यते कर्मभ्यो जीवः सर्वकर्मविमुक्तः स्यात्कनकमिव। यथा धातुर्धम्यमानोऽग्निना सन्तप्तः कनकः स्यात्तथा जीवस्तपसा संतप्तः सिद्धः संपद्यत इति ॥७४८॥

तपसो माहात्म्यमाह—

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो।
दहइ तवो भवबीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी ॥७४९॥

ज्ञानवरमारुतयुतं मत्यादिज्ञानबृहद्वातसहितं, शीलं व्रतपरिरक्षणं, वरसमाधिरेकाग्रचिन्तानिरोधः,

---

वह देशनिर्जरा है। तपरूपी अग्नि से भस्म किये हुए सभी कर्मों की जो निर्जरा होती है वह सकलनिर्जरा है। जिन कर्मों के कुछ अंश क्षय को प्राप्त हो चुके हैं, कुछ उपशम अवस्था को प्राप्त हैं, कुछ उदय में आ रहे हैं और कुछ सत्ता में स्थित हैं उसको क्षयोपशम कहते हैं।

सकलनिर्जरा का फल और स्वरूप बताते है—

गाथार्थ—जैसे अग्नि से धमाया गया धातु सन्तप्त हुआ शुद्ध हो जाता है। वैसे ही स्वर्ण के समान ही, जीव तप द्वारा कर्मों से शुद्ध हो जाता है ॥७४८॥

आचारवृत्ति जैसे स्वर्णपाषाण जब धमाया जाता है तब अग्नि से सन्तप्त होता हुआ किट्ट कालिमा रहित शुद्ध सुवर्ण हो जाता है। उसी प्रकार से यह जीव तपश्चरण से तपाया हुआ सर्वकर्म से रहित होकर शुद्ध सिद्ध हो जाता है।

तप का माहात्म्य बतलाते हैं—

गाथार्थ—श्रेष्ठ ज्ञानरूपी हवा से युक्त शील, श्रेष्ठ समाधि व संयम से प्रज्वलित हुई तपरूपी अग्नि भवबीज को जला देती है, जैसे कि अग्नि तृण काठ आदि को जला देती है ॥७४९॥

आचारवृत्ति – मतिज्ञान आदि महान वायु से सहित, शील, समाधि और प्रज्वलित—उद्दीपित तपरूपी अग्नि संसार के बीज—कारणों को भस्मसात् कर देती है, जैसे कि अग्नि तृण, काठ आदि को भस्मसात् कर देती है। व्रतों का रक्षण जिससे होता है वह शील है। एकाग्रचिन्ता-

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

आवेसणी सरीरे इन्दियभंडो मणो व आगरिओ।
धमिदव्व जीवलोहो बावीसपरीसहग्गीहिं॥

अर्थ—यह शरीर आवेशनी—चूल्हा के समान है, इन्द्रियाँ भांड अर्थात् अलंकार बनाने के साधन चिमटा हथौड़ा आदि के समान हैं, मन सुवर्णकार के समान है, जीव सुवर्णधातु के समान है और क्षुधातृषादि परीषह अग्नि के समान हैं। अर्थात् शरीर रूपी चूल्हे—भट्टी में बाईस परीषहरूपी अग्नि में मनरूपी उपाध्याय—या सुवर्णकार के द्वारा तपाया गया यह जीवरूपी सुवर्ण कर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से निर्मल—शुद्ध हो जाता है।

पंचनमस्कृतिसहितः संयमः प्राणिदया इन्द्रियनिग्रहश्चैतैरुज्ज्वलितं प्रज्वलितं दीप्तं तपो दहति भवबीजं संसार-कारणं। तृणकाष्ठादिकं [1]यथाऽग्निर्दहति तथेति ॥७४९॥

पुनरपि—

चिरकालमज्जिदं पि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा ॥७५०॥

चिरकालं संख्या(म)तीतसमयं कर्मार्जितमपि तपसा विधूयत इति ज्ञात्वा द्विविधे तपसि नित्यं निरन्तरमात्मा भावयितव्यो भवतीति ॥७५०॥

भावितात्मा स नु किं स्यादित्याह—

णिज्जरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्को।
पावदि सुक्खमणंतं णिज्जरणं तं मणसि कुज्जा ॥७५१॥

ततो निर्जीर्णः सर्वकर्मनिर्मुक्तो जातिजरामरणबन्धनविमुक्तः प्राप्नोति सौख्यमतुलमनंतं, तन्निर्जरणं मनसि कृत्वा (कुर्यात्) विधायेति ॥७५१॥

निर्जरानुप्रेक्षां व्याख्याय धर्मानुप्रेक्षास्वरूपं विवेचयन्नाह—

निरोधरूप ध्यान को वरसमाधि कहते हैं। पंचनमस्कार के साथ प्राणियों पर दया करना और इन्द्रिय-निग्रह करना संयम है। इनसे तपरूपी अग्नि को उद्दीपित किया जाता है और उसमें मति, श्रुत आदि ज्ञानरूपी हवा की जाती है। अर्थात् सम्यक्ज्ञान और चरित्र से युक्त तप संसार के कारणों को नष्ट कर देता है।

पुनरपि उसी को बताते हैं—

गाथार्थ—चिरकाल से अर्जित भी कर्मरज तप से उड़ा दी जाती है, ऐसा जानकर दो प्रकार के तप में नित्य ही आत्मा को भावित करना चाहिए ॥७५०॥

आचारवृत्ति—अनन्तकाल में संचित किया गया कर्म भी तपश्चरण द्वारा नष्ट हो जाता है, ऐसा जानकर निरन्तर अन्तरंग व बहिरंग तपश्चरण में आत्मा को लगाना चाहिए।

तप में आत्मा को लगाने से क्या होगा? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिसके सर्वकर्म निर्जीर्ण हो चुके हैं ऐसा जीव जन्म-जरा-मरण के बन्धन से छूटकर अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है। अतः मन में तुम उस निर्जरा का चिन्तवन करो ॥७५१॥

आचारवृत्ति—तपश्चरण से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने पर जन्म, जरा और मरण के बन्धन से मुक्त होता हुआ यह जीव अतुल अनन्त सौख्य को प्राप्त कर लेता है। इसलिए मन में निर्जरा भावना को भावो। यह निर्जरा अनुप्रेक्षा हुई।

निर्जरानुप्रेक्षा का व्याख्यान करके अब धर्मानुप्रेक्षा का विवेचन करते हैं—

---

१. यथाग्निरिति क०

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥७५२॥

सर्वस्य जगतो भव्यलोकस्य हितकरो धर्मं उत्तमक्षमादिलक्षणस्तीर्थंकरैराख्यात: प्रतिपादितस्तं धर्मं ये प्रतिपन्नास्तं धर्ममधिष्ठिता ये पुरुषा विशुद्धमनसा शुद्धभावेन ते धन्याः पुण्यवंतः कृतार्था जगतीति ॥७५२॥

धर्मानुरागे कारणमाह—

जेणेह पाविदव्वं कल्लाणपरंपरं परमसोक्खं।
सो जिणदेसिदधम्मं भावेणुववज्जदे पुरिसो ॥७५३॥

येनेह—येन जीवेनास्मिल्लोके कल्याणपरंपरा मांगल्यनैरन्तर्यं परमसौख्यं प्राप्तव्यं स जीवो जिनदेशितं तीर्थंकराख्यातं धर्मं भावेनोपपद्यते पुरुषः परमार्थतो धर्मं श्रद्दधाति सेवते—पापक्रियां मनागपि नाचरतीति ॥७५३॥

[1]धर्मस्य विकल्पानाह—

खंतीमद्दवअज्जवलाघवतवसंजमो आकिंचणदा।
तह होइ बंभचेरं सच्चं चाओ य दसधम्मा ॥७५४॥

क्षान्त्यार्जवमार्दवलाघव[2]तपःसंयमा आकिंचन्यं तथा ब्रह्मचर्यं सत्यं त्यागश्चैवं धर्मो दशविधो भवति ज्ञातव्य इति ॥७५४॥

गाथार्थ—तीर्थंकरों द्वारा कथित धर्म सर्वजगत् का हित करनेवाला है। विशुद्ध मन से उसका आश्रय लेनेवाले मनुष्य जगत् में धन्य हैं ॥७५२॥

आचारवृत्ति—तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित क्षमा आदि उत्तम धर्म भव्य जीवों का हित करनेवाला है। जिन पुरुषों ने ऐसे धर्म का विशुद्ध मन से अनुष्ठान किया है, वे इस जगत् में धन्य हैं, पुण्यशाली हैं, वे कृतार्थ हो चुके हैं।

धर्मानुराग में कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—जिसे इस जगत् में कल्याणों की परम्परा और परम सौख्य प्राप्त करना है वह पुरुष भाव से जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को स्वीकार करता है ॥ ५३॥

आचारवृत्ति—जिस जीव को इस जगत् में निरन्तर ही मंगल और परम सुख प्राप्त करना है, वह जीव भाव से तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म को प्राप्त करता है। अर्थात् परमार्थ रूप से उस धर्म का श्रद्धान करता है, उसका सेवन करता है और किंचित् मात्र भी पाप क्रिया का आचरण नहीं करता है, यह अभिप्राय है।

धर्म के भेदों को बताते हैं—

गाथार्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिंचन्य, तथा ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दश धर्म हैं।

टीका सरल है।

---

१ लिङ्गधर्मस्य क० २ लाघवं शौचाचारः (क० टि०)

धर्मभावनाफलमाह—

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ॥७५५॥

उपशम इन्द्रियनिग्रहे पुरुषव्यापारो, दयानुकंपा, क्षान्तिः क्रोधाद्यनुत्पत्तिरन्यकृतोपद्रवसहनं, एते विरागता च यथा यथा वर्धन्ते—वैराग्यकारणेन वृद्धि गच्छन्ति यथा यथास्य जीवस्य तथा तथा तस्य जीवस्य मोक्षसौख्यमक्षरं भावितं भवतीति ॥७५५॥

धर्मानुप्रेक्षामुपसंहर्तुकामः प्राह—

संसारविसमदुग्गे भवगहणे कह वि मे भमंतेण।
दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोत्ति चिंतेज्जो ॥७५६॥

संसारविषमदुर्गे भवगहने भवैर्व्याकुले कथमपि भ्रमता पर्यटता मया जिनवरोपदिष्टो ज्येष्ठः प्रधानो धर्मो दृष्टः इत्येवं चिन्तयेदिति ॥७५६॥

बोधिदुर्लभतास्वरूपमाह—

संसारह्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥७५७॥

धर्मभावना का फल बताते हैं—

गाथार्थ—जैसे-जैसे इस जीव के उपशम, दया क्षमा और वैराग्य बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्षसुख भावित होता है ॥७५५॥

आचारवृत्ति—इन्द्रियों के निग्रह में पुरुष का व्यापार होना उपशम है। अनुकम्पा का नाम दया है, क्रोधादि की उत्पत्ति न होना और अन्यकृत उपद्रव सहन करना क्षमा है, संसार शरीर-भोगों से उद्विग्न होना वैराग्य है। जिस जीव के ये सब वैराग्य के कारण से जैसे-जैसे वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं वैसे-वैसे ही उसी जीव के अक्षय मोक्ष सुख की भावना होती रहती है।

धर्मानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संसारमय विषमदुर्ग इस भववन में भ्रमण करते हुए मैंने बड़ी मुश्किल से जिनवर कथित प्रधान धर्म प्राप्त किया है—इस प्रकार से चिन्तवन करे ॥७५६॥

आचारवृत्ति—यह संसार विषम दुर्ग के समान है, अनेकों भवों से अर्थात् पुनः पुनः जन्म ग्रहण करने से गहन है, व्याकुल है। ऐसे इस संसार में पर्यटन करते हुए बड़ी मुश्किल से मैंने जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट सर्व प्रधान इस धर्म को प्राप्त किया है। इस प्रकार से चिन्तवन करना चाहिए। यह धर्मानुप्रेक्षा हुई।

बोधिदुर्लभता का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय दुर्लभ है। जैसे लवणसमुद्र में युग अर्थात् जुआं और समिला अर्थात् सैल का संयोग दुर्लभ है ॥७५७॥

संसारेऽनंतेऽत्यन्तदीर्घे जीवानां दुर्लभं मनुष्यत्वं मनुष्यजन्म, यथा लवणसमुद्रे युगसमिलासंयोगः। पूर्वसमुद्रभागे युगं निक्षिप्तं, पश्चिमसमुद्रभागे समिला निक्षिप्ता, तस्याः समिलायाः युगविवरे यथा प्रवेशो दुर्लभस्तथा जीवस्य चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये मनुष्यत्वं दुर्लभमेवेति ॥७५७॥

मनुष्यत्वे लब्धेऽपि यद्दुर्लभं तदाह—

देसकुलजम्म रूवं आऊ आरोग्ग वीरियं विणओ।
सवणं गहणं मदि धारणा य एदे वि दुल्लहा लोए ॥७५८॥

मनुष्यत्वे लब्धेऽप्यतिदुर्लभ आर्यदेशः, मनुष्यत्वं यतो म्लेच्छखंडेषु भोगभूमावपि विद्यते। आर्यदेशे लब्धेऽपि दुर्लभं कुले जन्म, आर्यदेशे भिल्लबर्बरचांडालादिकुलानामपि संभवात्। विशुद्धकुले लब्धेऽप्यतीव दुर्लभं रूपमवयवसंपूर्णता, शुद्धकुलेऽपि यतो विकलांगदर्शनमिति। रूपे लब्धाऽपि दुर्लभं सुष्ठु दीर्घायुश्चिरंजीवित्वं। चिरजीवनादप्यारोग्यं दुर्लभतमः। तस्मादपि श्रवणमार्यादिसंप्राप्तिः। तस्मादपि ग्रहणमवधारणं सुष्ठु न सुलभं। तस्मादपि पूर्वापरविवेकरूपता मतिः स्मरणादिकमतीव दुर्लभा। ततोऽपि धारणा कालान्तरेऽप्यविस्मरणत्वं दुर्लभा। मनुष्यत्वे लब्धेप्येते सर्वेऽपि क्रमेण दुर्लभा लोके जगतीति ॥७५८॥

एतेभ्योऽपि दुर्लभतममाह—

आचारवृत्ति—अत्यन्त दीर्घ इस अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय का मिलना बहुत ही दुर्लभ है। जैसे कि लवण समुद्र में युग और समिला का संयोग। अर्थात् जैसे लवण समुद्र के पूर्वभाग में जुवां को डाले और उसी समुद्र के पश्चिम भाग में सैल को डाले। पुनः उस सैल का जुवां के छिद्र में प्रवेश कर जाना जैसे कठिन है उसी प्रकार से चौरासी लाख योनियों के मध्य में इस जीव को मनुष्य जन्म का मिलना दुर्लभ ही है।

मनुष्य पर्याय के मिल जाने पर भी जो कुछ दुर्लभ है उसे बताते हैं—

गाथार्थ—उत्तम देश-कुल में जन्म, रूप, आयु, आरोग्य, शक्ति, विनय, धर्मश्रवण, ग्रहण बुद्धि और धारणा ये भी इस लोक में दुर्लभ ही हैं ॥७५८॥

आचारवृत्ति—मनुष्य पर्याय के मिलने पर भी आर्यदेश का मिलना अतीव दुर्लभ है क्योंकि मनुष्यपना तो म्लेच्छ खण्डों में और भोगभूमि में भी विद्यमान है। आर्यदेश में भील, बर्बर, चाण्डाल आदि कुलों में भी उत्पत्ति हो जाती है। विशुद्धकुल के मिल जाने पर भी रूप अर्थात् शरीर के अवयवों की पूर्णता का होना अतीव दुर्लभ है, क्योंकि शुद्ध कुल में भी विकलांग-हीनांग देखे जाते हैं। रूप के मिल जाने पर भी दीर्घायु का मिलना—चिरजीवी होना अतिशय दुर्लभ है। चिरजीवन से भी आरोग्य-स्वस्थ शरीर का मिलना दुर्लभतर है। आरोग्य से भी शक्ति का मिलना दुर्लभतम है। शक्ति से भी विनय का मिलना अतीव दुर्लभतम है। उससे भी श्रवण अर्थात् आर्यपुरुष आदि की संगति का मिलना उनका उपदेश सुनना अतीव दुर्लभ है। उपदेश सुनने के बाद भी उसको ग्रहण करना—मन में अवधारण करना सुलभ नहीं है। पूर्वापर विवेक रूप बुद्धि का होना, स्मरण शक्ति आदि होना अतीव दुर्लभ है। कालान्तर में भी अविस्मरण रूप धारणा का होना उससे भी दुर्लभ है। अर्थात् मनुष्य पर्याय के मिल जाने के जाने के बाद भी इस जगत् में ये सभी क्रम-क्रम से दुर्लभ ही हैं, ऐसा समझना।

इनसे भी जो दुर्लभतम है उसे बताते हैं—

लद्धेसु वि एदेसु य बोधी जिणसासणम्हि ण हु सुलहा ।
कुपहाणमाकुलत्ता जं बलिया रागदोसा य ॥७५९॥

लब्धेष्वप्येतेषु मनुष्यादिषु बोधिः सम्यक्त्वं दर्शनविशुद्धिस्तत्कारणे च जिनशासने परमागमे नैव सुलभा न सुखेन लभ्यते। कुतः ? कुपथानामाकुलत्वात् यतः कुत्सितमार्गैर्दुष्टाभिप्रायैराकुलोऽयं भ्रान्तोऽयं लोकः, यस्माच्च रागद्वेषौ बलवन्तौ, अथवा कुपथानामाकुलत्वहेतोर्बलिनौ रागद्वेषौ यत इति ॥७५९॥

एवं बोधिदुर्लभत्वं[1] विज्ञाय तदर्थपरिणामं[2] कर्तुकामः प्राह—

सेयं भवभयमहणी बोधी[3] गुणवित्थडा मए लद्धा ।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे ॥७६०॥

सेयं बोधिर्भवभयमथनी संसारभीतिविनाशिनी गुणविस्तरा गुणैर्विस्तीर्णा सर्वगुणाधारा मया लब्धा प्राप्ता, यदि कदाचित्संसारसमुद्रे पतिता प्रभ्रष्टा न खलु नैव स्फुटं पुनः सुलभाऽर्द्धपुद्गलपरावर्तनमन्तरेण तस्मान्नैव[4] क्षमो नैव योग्यः प्रमादो मम—बोधिविषये प्रमादकरणं मम नैव युक्तमिति ॥७६०॥

बोधिविषये यः प्रमादं करोति तं कुत्सयन्नाह—

गाथार्थ—इनके मिल जाने पर भी जिन-शासन में बोधि सुलभ नहीं है, क्योंकि कुपथों की बहुलता है और राग-द्वेष भी बलवान् हैं ॥७५९॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त आर्यदेश आदि के मिल जाने पर भी बोधि-सम्यक्त्व अर्थात् दर्शनविशुद्धि और उसके कारणों का मिलना परमागम में सुलभ नहीं है । अर्थात् यह बोधि सुख से, सरलता से नहीं मिल सकती है। क्यों ? क्योंकि कुत्सित मार्गों से—दुष्ट अभिप्रायवाले जनों से यह लोक भ्रान्त हो रहा है और इसमें राग-द्वेष भी अतीव बलवान् हैं। अथवा कुपथों में व्याकुलता के हेतु ये बलवान् राग-द्वेष हैं । इसीलिए बोधि का मिलना दुर्लभ है ।

इस प्रकार बोधि-दुर्लभता को जानकर उसके लिए कैसे परिणाम मेरे होवें इसे आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सो यह भवभय का मंथन करनेवाली, गुणों से विस्तार को प्राप्त बोधि मैंने प्राप्त कर ली है। यदि यह छूट जाए तो निश्चित रूप से पुनः सुलभ नहीं है। अतः मेरा प्रमाद करना ठीक नहीं है ॥७६०॥

आचारवृत्ति—सो यह सम्यग्दर्शन रूप बोधि संसार के भय का नाश करनेवाली है, सर्वगुणों के लिए आधारभूत है। इसे मैंने प्राप्त कर ली है । यदि यह कदाचित् संसार-समुद्र में गिर जाय तो पुनः अर्द्धपुद्गल परिवर्तन के बिना यह सुलभ नहीं है । इसलिए बोधि के विषय में मेरा प्रमाद करना योग्य नहीं है—उचित नहीं है । अर्थात् एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद यदि प्रमाद से वह छूट जाए तो पुनः अधिक-से-अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन कालपर्यन्त यह जीव इस संसार में भ्रमण कर सकता है। अतः सम्यक्त्व की रक्षा के लिए सावधान रहना चाहिए।

बोधि के विषय में जो प्रमाद करते हैं उनकी निन्दा करते हुए कहते हैं—

---

१. बोधेर्दुल- क० २. तदर्थाय परि- क० ३. बोही क० ४. तस्माच्च क०

दुल्लहलाहं लद्धूण बोधिं[1] जो णरो पमादेज्जो ।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदिं गदो संतो ॥७६१॥

दुर्लभलाभां बोधिं संसारक्षयकरणसमर्थां यो लब्ध्वा प्राप्य प्रमादयेत् प्रमादं कुर्यात्सः पुरुषः कापुरुषः कुत्सितः पुरुषः शोचति दुःखी भवति कुगतिं नरकादिगतिं गतः सन्निति ॥७६१॥

बोधिविकल्पं तत्फलं च प्रतिपादयन्नाह—

उवसमखयमिस्सं वा बोधिं लद्धूण भवियपुंडरिओ ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदो लहदि ॥७६२॥

क्षयोपशमविशुद्धिदेशनाप्रायोग्यलब्धीर्लब्ध्वा पश्चादधःप्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिकरणानि कृत्वोपशमक्षयोपशमक्षयरूपां[2] बोधिं लभते जीवः। पूर्वसंचितकर्मणोऽनुभागस्पर्द्धकानि यदा विशुद्ध्या प्रतिसमयमनंतगुणहीनानि भूत्वोदीर्यन्ते तदा क्षयोपशमलब्धिर्भवति। प्रतिसमयमनंतगुणहीनक्रमेणोदीरितानुभागस्पर्द्धकजनितजीवपरिणामः सातादिसुखकर्मबंधनिमित्तोऽसाताद्यसुखकर्मबंधविरुद्धो विशुद्धिलब्धिर्नाम। षड्द्रव्यनवपदार्थोपदेशकर्त्राचार्याद्युपलब्धिर्वोपदिष्टार्थग्रहणधारणविचारणशक्तिर्वा देशनालब्धिर्नाम। सर्वकर्मणामुत्कृष्टस्थितिमुत्कृष्टानुभागं च हत्वाऽन्तःकोट्यकोटीस्थितौ द्विस्थानानुभागस्थानं प्रायोग्यलब्धिर्नाम। तथोपरिस्थितपरिणामैरधःस्थितपरिणामाः समाना अधःस्थितपरिणामैरुपरिस्थितपरिणामाः समाना भवन्ति यस्मिन्नवस्थाविशेषकालेऽधःप्रवर्त-

---

गाथार्थ—जो मनुष्य दुर्लभता से मिलनेवाली बोधि को प्राप्त करके प्रमादी होता है वह पुरुष कायर पुरुष है। वह दुर्गति को प्राप्त होता हुआ शोच करता है ॥७६१॥

आचारवृत्ति—संसार का क्षय करने में समर्थ ऐसी दुर्लभता से मिलनेवाली बोधि को प्राप्त करके जो प्रमाद करता है वह पुरुष निन्द्य पुरुष है। वह नरक आदि गतियों को प्राप्त होकर दुःखी होता रहता है।

बोधि के भेद और उसका फल बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—श्रेष्ठ भव्य जीव उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके जब तप और संयम से युक्त हो जाता है तब अक्षय सौख्य को प्राप्त कर लेता है ॥७६१॥

आचारवृत्ति—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि इन चार लब्धियों को प्राप्त करके यह जीव पुनः अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों को करके उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्व रूप बोधि को प्राप्त कर लेता है। सो ही स्पष्ट करते हैं—

१. जिस काल में पूर्वसंचित कर्म के अनुभागस्पर्धक परिणामविशुद्धि से प्रति समय अनन्तगुणित हीन होकर उदीरणा को प्राप्त होते हैं तब उस जीव के क्षयोपशम-लब्धि होती है।

२. प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रम से उदीरणा को प्राप्त हुए अनुभागस्पर्धक से जीव के जो परिणाम होते हैं उनके निमित्त से साता आदि सुखदायी कर्मों का बन्ध होता है और असाता आदि दुःखदायी कर्मबन्ध का निरोध हो जाता है। इसका नाम विशुद्धि-लब्धि है।

३. छह द्रव्य, नव पदार्थ का उपदेश करनेवाले आचार्य आदि की उपलब्धि होना

---

१. जो बोधिं क० २. क्षयसम्यक्त्वरूपां क०

त्वादधःप्रवृत्तिकरणः । अपूर्वापूर्वशुद्धतराः करणाः परिणामा यस्मिन् कालविशेषे स्युरसावपूर्वकरणः परिणामः । एकसमयप्रवर्तमानानां जीवानां परिणामैर्न विद्यते निवृत्तिर्भेदो यत्र सोऽनिवृत्तिकरण इति । एवं क्रियां कृत्वाऽनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभप्रकृतीनां सम्यक्त्वसम्यक् मिथ्यात्वमिथ्यात्वप्रकृतीनां चोपशमादुपशमसम्यक्त्वबोधिर्भवति । तथा तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयोपशमात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वबोधिर्भवति । तथा तासामेव सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वं भवति । एवमतिदुर्लभतरां त्रिप्रकारां बोधिं लब्ध्वा भव्यपुण्डरीको भव्योत्तमस्तपसा संयमेन च युक्तोऽक्षयसौख्यं ततो लभते सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सिद्धिमधितिष्ठतीति यतो बोध्यां सर्वोऽपि जीवः सिद्धिं लभते ॥७६२॥

तम्हा अहमवि णिच्चं सद्धासंवेगविरियविणएहिं ।
अत्ताणं तह भावे जह सा बोही हवे सुइरं ॥७६३॥

अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थों को ग्रहण करने, धारण करने और उनके विषय में विचार करने की शक्ति का होना देशनालब्धि है।

४. सर्वकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घटाकर उनका अन्तः कोटा-कोटी सागर में स्थापन कर द्विस्थानरूप—(लता दारु रूप) अनुभाग स्थान करना प्रायोग्य-लब्धि है।

५. पाँचवीं करणलब्धि है। उसके तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

ऊपर में स्थित परिणामों से अधःस्थित परिणामों की समानता और अधःस्थित परिणामों से ऊपर स्थित परिणामों की समानता जिस अवस्था विशेष के समय होती है उस काल में अधःप्रवर्तन होने से अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। जिस काल में अपूर्व-अपूर्व शुद्धतर करण-परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण परिणाम है। एक समय में प्रवृत्त हुए जीवों के परिणामों में भेद नहीं होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

इस प्रकार तीन करण रूप क्रिया करके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों तथा सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियों के—ऐसी सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यक्त्व बोधि होती है। इन सातों प्रकृतियों के क्षयोपशम से क्षयोपशमसम्यक्त्व बोधि होती है तथा इन्हीं सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक-सम्यक्त्व लब्धि होती है।

इस तरह अति दुर्लभतर तीन प्रकार की बोधि को प्राप्त करके जो भव्योत्तम तपश्चरण और संयम से युक्त हो जाता है वह भव्य उस चारित्र के प्रसाद से अक्षय सौख्य प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह जीव सर्वद्वन्द्व से रहित होकर सिद्धिपद को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि बोधि से ही सभी जीव सिद्ध होते हैं, बिना बोधि के नहीं।

अब आचार्य अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

गाथार्थ—इसलिए मैं भी श्रद्धा, संवेग, भक्ति और विनय के द्वारा उस प्रकार से आत्मा की भावना करता हूं कि जिस प्रकार से वह बोधि चिरकाल तक बनी रहे ॥७६३॥

यस्मादेवंविशिष्टा बोधिस्तस्मादहमपि नित्यं सर्वकालं श्रद्धा मानसिक:[1] शासनानुराग:, संवेगो धर्मेधर्मफलविषयाश्चानुराग: वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्ति:, विनयो मनोवाक्कायानामनुद्धतिर्नम्रता तैरात्मानं तथा भावयामि यथाऽसौ बोधिर्भवेत्सुचिरं सर्वकालमिति ॥७६३॥

किमर्थं बोधिर्भाव्यत इत्याशंकायामाह—

बोधीय जीवदव्वादियाइं बुज्झइ हु णव वि तच्चाइं ।
गुणसयसहस्सकलियं एवं बोहिं सया झाहि ॥७६४॥

यतो बोधिमवाप्य जीवाजीवास्रवपुण्यपापबंधसंवरनिर्जरामोक्षा: पदार्था द्रव्याणि अस्तिकायाश्च तत्त्वानि च बुध्यंते बोध्या वा बुध्यंते ततो गुणशतसहस्र[2]कलितामेवंभूतां बोधिं सदा सर्वकालं ध्याय भावयेति ॥७६४॥

द्वादशानुप्रेक्षामुपसंहर्तुकाम: प्राह—

दस दो य भावणाओ एवं संखेवदो समुद्दिट्ठा ।
जिणवयणे दिट्ठाओ बुहजणवेरग्ग[3]जणणीओ ॥७६५॥

एवं दश द्वे चानुप्रेक्षा भावना: संक्षेपत: समुपदिष्टा: प्रतिपादिता जिनवचने यतो दृष्टा नान्यत्रानेन

आचारवृत्ति—जिस कारण से यह बोधि इतनी विशेष है उससे मैं भी सर्वकाल, मन के द्वारा होनेवाली जिन शासन के अनुरागरूप श्रद्धा से धर्म और धर्मफल के विषय में अनुरागरूप संवेग से, वीर्यांतराय के क्षयोपशम से होनेवाली शक्तिविशेषरूप वीर्य से और मनवचनकाय की नम्रतारूप विनय से आत्मा की भावना उस प्रकार करता हूँ कि जिस से यह बोधि सर्वकाल तक बनी रहे।

किसलिए बोधि की भावना करनी ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—बोधि से जीव पुद्गल आदि छह द्रव्य तथा अजीव आदि नव तत्त्व (पदार्थ) जाने जाते हैं। इस तरह हजारों गुणों से सहित बोधि का सदा ध्यान करो ॥७६४॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से बोधि को प्राप्त करके जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य; जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व जाने जाते हैं, इसी हेतु लाखों गुणों से युक्त इस प्रकार की बोधि की तुम सर्वकाल भावना करो—चिन्तवन करो। यह बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा हुई।

द्वादशानुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार संक्षेप में द्वादश भावना कही गयी हैं जोकि जिनवचन में विद्वानों के वैराग्य की जननी मानी गई हैं ॥७६५॥

आचारवृत्ति—इस तरह ये बारह भावनायें संक्षेप में जिनागम में प्रतिपादित की गयी हैं, अर्थात् ये जैन शासन में ही देखी जाती हैं। अन्यत्र (अन्य सम्प्रदाय में) नहीं हैं। इस कथन से

---

१. मानसा क० २. शतसहस्रै: कलिता युक्ता क० ३. बुधजन-वैराग्य क०

प्रामाण्यं ख्यापितं तासां स्यात्, बुधजनानां वैराग्यस्य जनन्यो वैराग्यकारिण्योऽनेन रागाभावश्च ख्यापितः श्रुतस्य भवतीति ॥७६५॥

अनुप्रेक्षाभावने कारणमाह—

अणुवेक्खाहिं एवं जो अप्पाणं सदा विभावेदि ।
सो विगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहदि ॥७६६॥

एवमनुप्रेक्षाभिरात्मानं यः सदा भावयेद्योऽसौ सः पुरुषो विगतसर्वकर्मा विमलो भूत्वा विमलालयं मोक्षस्थानं लभते प्राप्नोतीति ॥७६६॥

द्वादशानुप्रेक्षावसाने कृतकृत्य आचार्यः परिणामशुद्धिमभिदधन्मंगलं फलं वा वाञ्छन्नाह—

झाणेहिं खवियकम्मा मोक्खग्गलमोडया विगयमोहा ।
ते मे तमरयमहणा तारंतु भवाहि लहुमेव ॥७६७॥

य इमा अनुप्रेक्षा भावयित्वा सिद्धिं गतास्ते ध्यानैः क्षपितकर्माणो मोक्षार्गलच्छेदका विगतचारित्रमोहास्तमोरजोमथना मिथ्यात्वमोहनीयज्ञानावरणादिविनाशकास्तारयन्तु भवात्संसाराच्छीघ्रमेवास्मानिति ॥७६७॥

पुनरप्यनुप्रेक्षां भावयमानः प्राह—

इनकी प्रमाणता बतायी गयी है। ये भावनाएँ बुधजनों में वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली होने से वैराग्य की जननी मानी गयी हैं। इस कथन से श्रुत—जिनागम में, रागाभाव ही ख्यापित किया गया है, ऐसा समझना।

अनुप्रेक्षा की भावना करने में कारण बताते हैं—

गाथार्थ—इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो हमेशा आत्मा की भावना करता है वह सर्व-कर्म से रहित निर्मल होता हुआ विमलस्थान को प्राप्त कर लेता है ॥७६६॥

आचारवृत्ति—इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो पुरुष अपनी आत्मा का चिन्तवन करता है वह सर्वकर्मों से रहित निर्मल होकर मोक्षस्थान प्राप्त कर लेता है।

द्वादश अनुप्रेक्षा के अन्त में कृतकृत्य हुए आचार्य परिणामशुद्धि को धारणा करते हुए मंगल व फल की चाह करते हैं—

गाथार्थ—जो ध्यान से कर्म का क्षय करनेवाले हैं, मोक्ष की अर्गला के खोलनेवाले हैं, मोह रहित हैं, तम और रज का मंथन करनेवाले हैं, वे जिनेन्द्रदेव हमें संसार से शीघ्र ही पार करें।

आचारवृत्ति—जो इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करके सिद्धि को प्राप्त हुए हैं वे ध्यान से कर्मों का क्षपण करनेवाले हैं, मोक्ष के कपाट की अर्गला—सांकल के खोलनेवाले हैं, चारित्र-मोह से रहित हो चुके हैं, तम—मिथ्यात्व मोहनीय, रज—ज्ञानावरण आदि कर्म का विनाश करनेवाले हैं। वे महापुरुष इस संसार-सागर से हमें शीघ्र ही तारें।

पुनरपि अनुप्रेक्षा की भावना करते हुए कहते हैं—

जह मज्झ तह्यि काले विमला अणुपेहणा भवेज्जहू ।
तह सव्वलोगणाहा विमलगदिगदा पसीदंतु ॥७६८॥

यथा येन प्रकारेण मम तस्मिन्नंतकाले विमला अनुप्रेक्षा द्वादशप्रकारा भवेयुस्तथा ते सर्वलोकनाथा विमलगतिं गताः प्रसीदन्तु प्रसन्ना भवन्तु द्वादशानुप्रेक्षाभावनां मम दिशन्त्विति ॥७६८॥

इति श्रीमद्वट्टकेराचार्यवर्यविनिर्मितमूलाचारे वसुनन्द्याचार्यप्रणीतटीकासहिते
द्वादशानुप्रेक्षाकथनाख्योऽष्टमः परिच्छेदः समाप्तः ।

गाथार्थ—जिस तरह अन्तकाल में ये विमल अनुप्रेक्षाएँ मुझे होवें उसी तरह विमल गति को प्राप्त हुए सर्वलोक के नाथ मुझ पर प्रसन्न होवें ॥७६८॥

आचारवृत्ति—जिस प्रकार से मेरे अन्तकाल में ये निर्मल अनुप्रेक्षायें मुझे प्राप्त होवें, उसी प्रकार से विमल स्थान को प्राप्त हुए तीन लोक के नाथ मुझ पर प्रसन्न होवें अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षा की भावना मुझे प्रदान करें। अर्थात् जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से ये अनुप्रेक्षायें मुझे प्राप्त हों।

इस प्रकार वसुनन्दि आचार्य प्रणीत टीका सहित श्री वट्टकेराचार्यवर्यविनिर्मित
मूलाचार में द्वादश-अनुप्रेक्षा-कथन नामक आठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।

अनगारभावनाधिकारः

अनगारभावनाख्यं नवममधिकारं[1] व्याख्यातुकामस्तत्रादौ शुभपरिणामनिमित्तं मंगलमाह—

वंदित्तु जिणवराणं तिहुयणजयमंगलोववेदाणं ।
कंचणपियंगुविद्दुमघणकुंदमुणालवण्णाणं ॥७६९॥

जिनवरान् वंदित्वा, किंविशिष्टान् ? त्रिभुवने या जयश्रीमंगलं मंगलं सर्वकर्मदहनसमर्थं पुण्यं ताभ्यामुपेतास्तत्र स्थितास्तांस्त्रिभुवनजयमंगलोपेतान् प्रकृष्टश्रिया युक्तान् सर्वकल्याणभाजनांश्च । पुनरपि

अनगार भावना नामक नवम अधिकार का व्याख्यान करने के इच्छुक आचार्य सबसे प्रथम शुभ परिणाम निमित्त मंगलसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—सुवर्ण, शिरीषपुष्प, मूंगा, घन, कुन्दपुष्प और कमलनाल के समान वर्णवाले त्रिभुवन में जय और मंगल से युक्त ऐसे तीर्थंकरों को नमस्कार करके, मैं अनागार भावना को कहूँगा ॥७६९॥

आचारवृत्ति—त्रिभुवन में जो जयश्री और जो मंगल है, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को दहन करने में समर्थ पुण्य अर्थात् शुद्धोपयोग रूप परिणाम है उससे एवं जो इन जयलक्ष्मी और मंगल से सहित हैं, उसमें स्थित हैं वे त्रिभुवन के जयमंगल से युक्त हैं। अर्थात् जो प्रकृष्टलक्ष्मी से

१. फलटन से प्रकाशित मूलाचार में 'अनगार भावना' यह आठवाँ अधिकार है और 'द्वादशानुप्रेक्षा' यह नवम अधिकार है ।

फलटन से प्रकाशित मूलाचार में इस गाथा का प्रथम, द्वितीय चरण बदला हुआ है । यथा—

णमिऊण जिणवरिन्दे तिहुवणवरणाणदंसण-पदीवे ।
कंचणपियंगु-विद्दुम-घणकुन्दमुणालवण्णाणं ॥

—जो अपने अनन्तज्ञानदर्शनरूप दीपक से त्रिभुवन को प्रकाशित करनेवाले हैं, जिनके देह का वर्ण सुवर्ण, शिरीष, मूँगा, कुन्दपुष्प और कमलनाल के समान है, ऐसे वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों का वन्दन करके—

फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

णाणुज्जोवयराण लोगालोगह्मि सव्वदव्वाणं ।
खेत्तगुणकालपज्जय विजाणगाणं पणमियाणं ॥

—जो सर्वजगत् में ज्ञान के उद्योत को धारण करते हैं, जो सर्व जीवादि द्रव्यों के क्षेत्र, काल और पर्यायों को जानते हैं, ऐसे गणधरों में श्रेष्ठ चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन कर चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय सर्वपरिग्रहरहित महर्षियों के भावना निमित्त मैं अनगार सूत्र को कहूँगा ।

किंविशिष्टान् ? कांचनं सर्वाधिकं सुवर्णं, प्रियंगुः शिरीषपुष्परूपद्रव्यकान्तिः विद्रुमः प्रवालद्रव्यं सुरमणीय-रक्तभावद्रव्यं, घनः सुष्ठुः रम्यनवजलधरः, कुन्दो रमणीयपुष्पविशेषः मृणालं सुरम्यपद्मकोमलनालं[1] एतेषां वर्णवद्वर्णं येषां ते कांचनप्रियंगुप्रवालघनकुन्दमृणालवर्णास्तान् कांचनप्रियंगुप्रवालघनकुन्दमृणालवर्णान्। अर्हंता-मुपादानाय वर्णविशेषणमुपात्तं, नामस्थापनाद्रव्यजिनपरिहाराय भावजिनोपादानाय चावशेषविशेषणं। उत्तरसूत्रे वक्ष्यामीति क्रिया तिष्ठति तया सह संबंधः। क्रियासापेक्षं नमस्कारकरणं नित्यक्षणिकयोगचार्वाक-मीमांसकैकान्तनिराकरणार्थं चेति।

अनगारभावनासूत्रार्थं प्रतिज्ञामाह—

अणयारमहरिसीणं णाइंदणरिंदइंदमहिदाणं।
वोच्छामि विविहसारं भावणसुत्तं गुणमहंतं ॥७७०॥

युक्त हैं और सर्वकल्याण के भाजन हैं। पुनः वे कैसे हैं? वे सबसे श्रेष्ठ सुवर्ण वर्णवाले हैं, प्रियंगु—शिरीषपुष्प की कान्तिवाले हैं, विद्रुम—प्रवाल-द्रव्य अथवा पद्मराग मणि की कान्तिवाले हैं, घन—अतिशय सुन्दर नवीन मेघ के वर्णवाले हैं, कुन्द—रमणीय कुन्दपुष्प सदृश वर्णवाले हैं, मृणाल—सुरम्य कमल की कोमलनाल सदृश हैं, अर्थात् इनके वर्ण के समान जिनका वर्ण है वे जिनेन्द्र कांचन, प्रियंगु, प्रवाल, घन, कुन्द, मृणाल वर्णवाले हैं। तीर्थंकर अर्हंतों को ग्रहण करने के लिए इन वर्ण विशेषणों को लिया है। तथा नाम-जिन, स्थापना-जिन और द्रव्य-जिन का परिहार करने के लिए और भाव-जिन को ग्रहण करने के लिए बाकी विशेषण हैं। अगले सूत्र में 'वक्ष्यामि' यह क्रिया है उसके साथ यहाँ पर सम्बन्ध करना। अर्थात् क्रियासापेक्ष नमस्कार किया गया है जोकि नित्यवादी सांख्य, क्षणिक, बौद्ध, योग, चार्वाक और मीमांसकों के एकान्त का निराकरण करने के लिए है।

भावार्थ—यहाँ पर जो तीर्थंकरों के शरीर के वर्ण का वर्णन है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त इन दो तीर्थंकरों का देहवर्ण कुन्दपुष्प, चन्द्रपुष्प, चन्द्रमा, बर्फ या हार के समान था। सुपार्श्व और पार्श्वनाथ का वर्ण इन्द्रनील मणि के समान था। पद्मप्रभ और वासुपूज्य तीर्थंकरों का वर्ण बन्धूक पुष्पवर्ण अर्थात् लालवर्ण था। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का वर्ण प्रियंगुपुष्प—कृष्णवर्ण था। और शेष सोलह तीर्थंकरों का देहवर्ण सुवर्ण के समान था।[2] यह स्तवन द्रव्य निक्षेप रूप है चूंकि शरीर के आश्रित है। बाकी के तीनलोक के जय और मंगल से युक्त—यह विशेषण भाव निक्षेप की अपेक्षा है।

अनगार भावना सूत्र हेतु प्रतिज्ञा करते हैं—

गाथार्थ—नागेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रों से पूजित अनगार महर्षियों के निमित्त गुणों से श्रेष्ठ विविध सारभूत ऐसे भावनासूत्र को मैं कहूँगा ॥७७०॥

---

१. कोमल-पद्मनालं क०

२. द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ,
द्वौ बंधूकसमप्रभौ जिनवृषौ, द्वौ च प्रियंगुप्रभौ।
शेषाः षोडश जन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभाः,
ते सञ्ज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥

न विद्यतेऽगारं गृहं स्त्र्यादिकं येषां तेऽनगारास्तेषामनगाराणां महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः सम्यग्ऋद्धिप्राप्तास्तेषां महर्षीणां, नागेन्द्रनरेन्द्रेन्द्रमहितानां श्रीपार्श्वनाथसंजयंताद्युपसर्गनिवारणेन प्राधान्यान्नागेन्द्रस्य पूर्वनिपातोऽथवा बहूनां नियमो नास्ति, मोक्षार्हत्वात्तदनन्तरं नरेन्द्रस्य ग्रहणं, पश्चाद्-व्यन्तरादीनां ग्रहणमेतैर्ये पूजितास्तेषामनगाराणां भावनानिमित्तं विपुलसारं सर्वशास्त्रसारभूतं सूत्रं गुणैर्महद्वक्ष्यामि, अर्हतः प्रणम्यानगारभावनासूत्रं वक्ष्यामीति सम्बन्धः ॥७७०॥

स्वकृतप्रतिज्ञानिर्वहणाय दश संग्रहसूत्राण्याह—

लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च ।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥७७१॥

लिंगं निर्ग्रन्थरूपता शरीरस्य सर्वसंस्काराभावोऽचेलकत्वलोचप्रतिलेखनग्रहणदर्शनज्ञानचारित्रतपोभावश्च, व्रतान्यहिंसादीनि । शुद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, लिंगस्य शुद्धिर्लिंगशुद्धिर्लिंगानुरूपाचरणं व्रतानां शुद्धिर्व्रतशुद्धिर्निरतीचारता । अत्र प्राकृतलक्षणेन षष्ठ्यर्थे प्रथमानिर्देशः कृतः । वसतिः स्त्रीपशुपांडकाभावोप-

---

आचारवृत्ति—अगार—गृह और स्त्री आदि जिनके नहीं हैं वे अनगार हैं। उन अनगारों में जो महान् हैं वे ऋषि महर्षि कहलाते हैं। वे समीचीन ऋद्धियों से सहित होते हैं। वे महर्षिगण नागेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रों से पूजित हैं। यहाँ पर समास में 'नागेन्द्र' पद पहले रखा है। उसका हेतु यह है कि श्री पार्श्वनाथ व सन्जयन्त मुनि आदि के उपसर्ग निवारण से नागेन्द्र प्रधान करके उसका पूर्व में निपात किया है। अथवा बहुत से पदों में नियम नहीं रहता है। मोक्ष के लिये योग्य होने से उसके बाद में 'नरेन्द्र' पद को रखा है। पश्चात् व्यन्तर आदि के इन्द्रों को ग्रहण किया गया है। इन धरणेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रों से जो पूजित हैं उन अनगारों की भावना के लिए सर्व शास्त्रों में सारभूत, गुणों से विशाल ऐसे अनगार सूत्र को मैं कहूँगा। यहाँ पर पूर्व-गाथा से सम्बन्ध करना, अतः अर्हन्तों को प्रणाम करके मैं अनगार भावना को कहूँगा, ऐसा समझना।

स्वकृत प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु दश संग्रह सूत्रों को कहते हैं—

गाथार्थ—लिंग शुद्धि, व्रत शुद्धि, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान और उज्झन शुद्धि तथा वाक्य, तप और ध्यान शुद्धि ये दश अनगार भावना सूत्र हैं ॥७७१॥

आचारवृत्ति—शुद्धि शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। अतः यहाँ लिंग शुद्धि आदि दश सूत्रों का वर्णन है।

१. लिंगशुद्धि—लिंग के अनुरूप आचरण करना लिंगशुद्धि है। लिंगनिर्ग्रंथरूपता, शरीर के सर्वसंस्कार का अभाव होना। अचेलकत्व, लोच, पिच्छिकाग्रहण और दर्शन, ज्ञान, चरित्र एवं तप की भावना यह लिंग है।

२. व्रतशुद्धि—व्रतों को निरतिचार पालना व्रतशुद्धि है। अहिंसा आदि पाँच व्रत कहलाते हैं।

३. वसतिशुद्धि—स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित प्रदेश जोकि परम वैराग्य का

● इस मूलाचार में ७७५, ७७६ नम्बर पर जो गाथायें हैं उन्हें फलटन से प्रकाशित मूलचार में इसके पहले लिया है।

स्त्रीरहितप्रदेशः परमवैराग्यकारणस्थानं। विहारोऽनियतवासो दर्शनादिनिर्मलीकरणनिमित्तं सर्वदेशविहरणं। भिक्षा चतुर्विधाहारः। ज्ञानं यथावस्थितवस्त्ववगमो मत्यादिकं। उज्झनं परित्यागः शरीराद्यममत्वं। शुद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। वसतिशुद्धिर्विहारशुद्धिर्भिक्षाशुद्धिर्ज्ञानशुद्धिरुज्झनशुद्धिः। अत्रापि प्राकृतलक्षणे षष्ठ्यर्थे प्रथमा। पुनरपि च वाक्यं स्त्रीकथादिविरहितवचनं। तपः पूर्वसंचितकर्ममलशोधनसमर्थानुष्ठानं। तथा ध्यानं शोभनविधानेनैकाग्रचिन्तानिरोधनं। अत्रापि शुद्धिर्द्रष्टव्या चशब्दात्सर्वेऽपि स्वगतसर्वभेदसंग्रहणार्था द्रष्टव्या इति ॥७७१॥

एतेषां सूत्राणां पाठे प्रयोजनमाह—

एवमणयारसुत्तं दसविध[1]पदं विणयअत्थसंजुत्तं।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं ॥७७२॥

एतान्यनगारसूत्राणि दशविधपदानि दशप्रकाराधिकारनिबद्धानि नवैकादशसंख्यानि न भवन्ति,

---

कारण स्थान है वह वसति है। ऐसी वसति में रहना वसतिशुद्धि है। यहाँ गाथा में प्राकृत व्याकरण से षष्ठी अर्थ में प्रथमा विभक्ति का निर्देश है। अतः विहार आदि शब्द प्रथमान्त दिख रहे हैं।

४. विहारशुद्धि—अनियतवास का नाम विहार है। सम्यग्दर्शन आदि को निर्मल करने के लिये सर्वदेश में विहार करना विहारशुद्धि है।

५. भिक्षाशुद्धि—चार प्रकार के आहार का नाम भिक्षा है। उसकी शुद्धि—छियालीस दोष आदि रहित आहार लेना भिक्षाशुद्धि है।

६. ज्ञानशुद्धि—यथावस्थित पदार्थों का जानना ज्ञान है जोकि मति आदि के भेद रूप है उसकी शुद्धि ज्ञानशुद्धि है।

७. उज्झनशुद्धि—उज्झन—परित्याग। अर्थात् शरीर आदि से ममत्व का त्याग करना उज्झन शुद्धि है।

८. वाक्यशुद्धि—स्त्री-कथा आदि से रहित वचन बोलना वाक्यशुद्धि है।

९. तपशुद्धि—पूर्व संचित कर्ममल के शोधन में समर्थ ऐसा अनुष्ठान करना तप है। अर्थात् बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपशुद्धि है।

१०. ध्यानशुद्धि—शोभन विधान पूर्वक एकाग्रचिंता का निरोध करना ध्यान है। उसकी शुद्धि ध्यानशुद्धि है।

गाथा में 'च' शब्द के आने से ये दशों भेद भी अपने-अपने भेदों से सहित हैं, ऐसा समझना। आगे आचार्य स्वयं इन शुद्धियों का विस्तृत विवेचन करेंगे।

इन सूत्रों के पाठ में प्रयोजन बताते हैं—

गाथार्थ—इन विनय और अर्थ से संयुक्त दश प्रकार के पदरूप अनगार सूत्रों को जो भक्ति सहित पढ़ता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥७७२॥

---

१. दसविह क०।

विनयार्थसंयुक्तानि विनयप्रतिपादकानि सूक्ष्मार्थसंयुक्तानि च यः पठति भक्तियुक्तस्तस्य प्रणश्यन्ति पापानि दुरितानीति ॥७७२॥

पुनरपि सूत्राणां स्तवनमाह[1]—

णिस्सेसदेसिदमिणं सुत्तं धीरजणबहुमदमुदारं।
अणगार[2]भावणमिणं सुसमणपरिकित्तणं सुणह ॥७७३॥

निःशेषदर्शकानीमानि सूत्राणि सर्वशोभनाचारसिद्धांतार्थप्रतिपादकान्येतानि सूत्रपदानि, धीर[3]-जनानां तीर्थंकरगणधरदेवानां बहुमतानि सुष्ठु मतानि बाहुल्येन वाभिमतानि, उदाराणि स्वर्गापवर्गफल-दायकानि, अनगारभावनानीमानि शोभनश्रमणानां परिकीर्तनानि सुसंयतजनकीर्तनख्यापकानि शृणुत हे साधु-जनाः ! बुध्यध्वमिति ॥७७३॥

न केवलमेतानि वक्ष्ये महर्षीणां गुणांश्च वक्ष्यामीत्याह—

णिग्गंथमहरिसीणं अणयारचरित्तजुत्तिगुत्ताणं।
णिच्छिदमहातवाणं वोच्छामि गुणे गुणधराणं ॥७७४॥

निर्ग्रन्थमहर्षीणां सर्वग्रन्थविमुक्तयतीनां, अनगारचरित्रयुक्तिगुप्तानां अनगाराणां योग्यं चारित्र-

---

आचारवृत्ति—ये अनगार सूत्र दस प्रकार के अधिकार से निबद्ध हैं। नव अथवा ग्यारह नहीं हैं। ये विनय के प्रतिपादक हैं और सूक्ष्म अर्थ से सहित हैं। जो भव्य भक्ति युक्त होकर इनको पढ़ता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

पुनरपि इन सूत्रों का स्तवन करते हैं—

गाथार्थ—ये सूत्र निःशेष शोभनाचार आदि सब सिद्धान्तों के दर्शक हैं, धीर जनों से बहु मान्य हैं, उदार हैं और सुश्रमण की कीर्ति करने वाले हैं। इन अनगार भावनाओं को (शृणुत) तुम सुनो। ॥७७३॥

आचारवृत्ति—ये अनगार सूत्र सर्वशोभन आचार-सिद्धान्त-अर्थ के प्रतिपादक हैं। अर्थात् प्रशस्त आचार के प्रतिपादक जो आचार ग्रन्थ हैं उनका अर्थ कहनेवाले हैं। धीरजन-तीर्थंकर, गणधर, देव आदि के लिए अतिशय मान्य हैं या बहुलता से उनके द्वारा स्वीकृत हैं। उदार-स्वर्ग और मोक्ष फल के देनेवाले हैं, सुसंयत जनों के गुणों का ख्यापन करने वाले हैं। हे साधुजन ! आप लोग इन अनगार सूत्रों को सुनो और उन्हें समझो।

मैं केवल इन्हें ही नहीं कहूँगा; किन्तु महर्षियों के गुणों को भी नहीं कहूँगा, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—अनगार के चरित्र से सहित महातप में लगे हुए, गुणों को धारण करनेवाले निर्ग्रंथ महर्षियों के गुणों को मैं कहूँगा ॥७७४॥

आचारवृत्ति—अनगार मुनियों का जो चरित्र योग है, उससे जो संवृत हैं; अर्थात् जो

---

१. सूचनमाह क०। २. अणगार क०। ३. धीर द० क०

योगत्रयेण गुप्तानां संवृतानां, निश्चिन्तमहातपसां द्वादशविधतपस्युद्युक्तानां गुणधराणां गुणान् वक्ष्यामीति ॥७७४॥

तावल्लिंगशुद्धिं विवेचयन्नाह—

चलचवलजीवियमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं ।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया ॥७७५॥

चलमस्थिरं प्रतिसमयं विनश्वरं, चपलं सोपघातं (विद्युत्स्फुरणमिवाविदितस्वरूपं, जीवितं प्राणधारणं चलचपलजीवितं)[1] आवीचीतद्भवस्वरूपेणायुःक्षयरूपमिदं ज्ञात्वा, मनुष्यत्वं मनुष्यजन्मस्वरूपं, असारं परमार्थरहितं[2], निर्विण्णकामभोगाः स्वेष्टवस्तुसमीहा काम उपभोगः स्त्र्यादिकः, भोगः सकृत्सेवितस्य पुनरसेवनं[3] तांबूलकुंकुमादि तद्विषयो निर्वेदोऽनभिलाषो येषां ते निर्विण्णकामभोगाः, धर्मे चारित्रे नैर्ग्रन्थ्यादिरूप उपस्थितमतिका गृहीताचेलकत्वस्वरूपा इत्यर्थः, तात्पर्येण नैर्ग्रन्थ्यस्वरूपप्रतिपादनमेतदिति ॥७७५॥

पुनरपि तत्स्वरूपमाह—

मुनियों के चरित्र में निष्णात हैं, जो बारह तप में उद्यमशील हैं, ऐसे सर्वग्रंथ-परिग्रह से रहित गुणधर संयतों के गुणों का मैं वर्णन करूँगा।

अब पहले लिंग शुद्धि का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—यह जीवन बिजली के समान चंचल है व मनुष्य पर्याय असार है, ऐसा जानकर काम भोगों से उदास होते हुए धर्म में बुद्धि को स्थिर करो ॥७७५॥

आचारवृत्ति—यह मनुष्य जन्म चल—अस्थिर है। प्रति समय विनश्वर है, चपल, बाधा सहित है, बिजली के चमकने के समान है, चंचलता के कारण इसका स्वरूप भी नहीं जाना जा सकता है, ऐसा यह जीवन चल और चपल है। प्राणों को धारण करना जीवन है और आयु का क्षय हो जाना मरण है। मरण के दो भेद हैं—आवीचीमरण और तद्भवमरण। प्रति समय आयु के निषेकों का उदय में आकर झड़ना आवीचीमरण है तथा उस भव सम्बन्धी आयु का विनाश होना तद्भव मरण है। प्रतिक्षण इन दो प्रकार के मरण रूप से आयु का क्षय हो रहा है, ऐसा यह मनुष्य जन्म परमार्थ रहित होने से असार है। अपनी इष्ट वस्तु की इच्छा होना काम है और भोग के भोग-उपभोग, ऐसे दो भेद करने से स्त्री आदि तो उपभोग सामग्री हैं और तांबूल कुंकुम आदि भोग हैं। जिनका एक बार सेवन करने के बाद पुनः सेवन न हो सके वह भोग है। जिनका पुनः पुनः सेवन हो सके वे उपभोग हैं। मनुष्य जन्म को चल-चपल और असार जानकर इन काम भोगों में अभिलाषा नहीं करना तथा धर्म-निर्ग्रन्थ अवस्था रूप चारित्र में बुद्धि का लगाना अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण करना चाहिए। इस गाथा में तात्पर्य से नैर्ग्रन्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

पुनरपि उसका स्वरूप कहते हैं—

---

१. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः द प्रतौ नास्ति विद्युत्स्फुरणवदेवविदित स्वरूपं क०।

२. अपरमार्थ रूपं द०। ३. पुनरप्यसेवनं क०।

णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च।
पयहंति वीर[1]पुरिसा विरत्तकामा गिहावासे ॥७७६॥

निर्माल्यसुमनस इवोपभोगितपुष्पमिव धनं गोमहिष्यादिकं कनकं सुवर्णादिकं[2] ताभ्यां समृद्धमाढ्यं धनकनकसमृद्धं बांधवजनं स्वजनपरिजनादिकं परित्यजन्ति गृहवासविषये विरक्तचित्ताः सन्तः। यथा शरीरसंस्पृष्टं पुष्पादिकमकिंचित्करं त्यज्यते तथा धनादिसमृद्धमपि बंधुजनं धनादिकं चाथवा गृहवासं चेति संबंधः परित्यजन्तीति ॥७७६॥

एवं नैर्ग्रन्थ्यं गृहीत्वा तद्विषयां शुद्धिमाह—

जम्मणमरणुव्विग्गा भीदा संसारवासमसुभस्स।
रोचंति जिणवरमदं पावयणं वड्ढमाणस्स ॥७७७॥

जन्ममरणेभ्यः सुष्ठूद्विग्ना निर्विण्णा भयत्रस्तहृदयाः संसारवासे यदशुभं दुःखं तस्माच्च भीताः सन्तः पुनर्ये रोचंते समिच्छन्ति जिनवरमतं प्रवचनं, रोचते वा मतं मुनिभ्यो वृषभादीनां जिनवराणां, मतं वर्द्धमानभट्टारकस्य प्रवचनं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वस्वरूपं समिच्छंतीति ॥७७७॥

तथा—

पवरवरधम्मतित्थं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
तिविहेण सद्दहंति य णत्थि इदो उत्तरं अण्णं ॥७७८॥

गाथार्थ—गृहवास विरक्त हुए धीर पुरुष उतारी हुई माला के समान धन सुवर्ण से समृद्ध बांधव जन को छोड़ देते हैं। ॥७७६॥

आचारवृत्ति—उपभोग में ली गयी माला निर्माल्य कहलाती है। जैसे उस पहनी हुई पुष्पमाला को लोग छोड़ देते हैं, वैसे ही गो महिष आदि धन और सुवर्ण आदि से सम्पन्न हुए स्वजन-परिजन आदि को गृहवास से विरक्त-मना पुरुष छोड़ देते हैं। अर्थात् शरीर से स्पर्शित हुए पुष्पादि अकिंचित्कर हो जाने से छोड़ दिये जाते हैं वैसे ही संसार से विरक्त हुए मनुष्य धन आदि से समृद्ध भी बन्धुजनों को अथवा गृहवास को छोड़ देते हैं।

इस प्रकार निर्ग्रन्थरूप को ग्रहण कर उस विषयक शुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—जो जन्म-मरण से उद्विग्न हैं, संसारवास में दुःख से भयभीत हैं, वे जिनवर के मतरूप वर्धमान के प्रवचन का श्रद्धान करते हैं। ॥७७७॥

आचारवृत्ति—जो जन्म और मरण से अतिशय उद्विग्न हो चुके हैं, अर्थात् जिनका हृदय भव से त्रस्त हो चुका है, जो संसारवास के अशुभ दुःखों से भयभीत हैं, जो वृषभ आदि जिनवरों के मत की रुचि करते हैं और जो द्वादशांग, चतुर्दशपूर्व स्वरूप वर्धमान भट्टारक के प्रवचन की इच्छा करते हैं। उसी प्रकार से—

गाथार्थ—जो जिनवर, वृषभदेव और वर्धमान के श्रेष्ठ धर्मतीर्थ का मन-वचन-काय से श्रद्धान करते हैं। क्योंकि इससे श्रेष्ठ अन्य तीर्थ नहीं है ॥७७८॥

---

1. धीर क०। 2. रूप्यसुवर्णादिकं क०।

प्रवराणां वरं प्रवरवरं श्रेष्ठादपि श्रेष्ठं धर्मतीर्थं जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य चतुर्विंशतितीर्थंकरस्य त्रिप्रकारेण मनोवचनकायशुद्ध्या श्रद्दधति भावयन्ति। इत ऊर्ध्वं नास्त्यन्यदिति कृत्वास्माद्वर्द्धमानतीर्थंकर-तीर्थादन्यत्तीर्थं नास्ति यतोऽनया लिंगशुद्ध्या सम्यग्दर्शनशुद्धिर्ज्ञानशुद्धिश्च व्याख्यातेति ॥७७८॥

तपःशुद्धिस्वरूपं निरूपयन्नाह—

उच्छाहणिच्छिदमदी ववसिदववसायबद्धकच्छा य ।
भावाणुरायरत्ता जिणपण्णत्तम्मि धम्मम्मि ॥७७९॥

उत्साह उद्योगो द्वादशविधे तपसि तन्निष्ठता तस्मिन्नितान्तं निश्चितमतयस्तत्र कृतादरा:[1] व्यवसितव्यवसाया: कृतपुरुषकारा:, बद्धकक्षा: सुसंयमितात्मन: कर्मनिर्मूलनसंस्थापितचेतोवृत्तय:, भावानु-रागरक्ता: परमार्थभूतो योऽयमनुरागोऽर्हद्भक्तिस्तेन रक्ता भाविता:, अथवा भावविषय: पदार्थविषयोऽनुरागो दर्शनं ज्ञानं च ताभ्यां रक्ता: सम्यगेकीभूता:, जिनप्रज्ञप्ते धर्मे भावानुरागरक्तास्तस्मिन् बद्धकक्षाश्चेति ॥७७९॥

चारित्रशुद्धिस्वरूपमाह—

धम्ममणुत्तरमिमं कम्ममलपडलपाडयं जिणक्खादं ।
संवेगजायसड्ढा गिण्हंति महव्वदा पंच ॥७८०॥

आचारवृत्ति—वृषभदेव और वर्धमान अथवा चौबीस तीर्थंकरों का धर्मतीर्थ श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ होने से प्रवरवर है। मन-वचन-काय की शुद्धि से जो ऐसा श्रद्धान करते हैं—ऐसी भावना भाते हैं। तीर्थंकर वर्धमान के इस तीर्थ से बढ़कर अन्य कोई तीर्थ विश्व में नहीं है, जो ऐसा निश्चय करते हैं उन साधुओं के लिंग शुद्धि होती है। इस लिंग शुद्धि से ही सम्यग्दर्शनशुद्धि और ज्ञानशुद्धि का भी व्याख्यान कर दिया गया है।

तपशुद्धि का स्वरूपनिरूपित करते हैं—

गाथार्थ—उत्साह में बुद्धि को दृढ़ करनेवाले, पुरुषार्थ में प्रयत्नशील व्यक्ति जिनवर कथित धर्म में भावसहित अनुरक्त होते हैं। ॥७७९॥

आचारवृत्ति—जो बारह प्रकार के तप में उत्साही हैं, अर्थात् तपश्चरण के अनुष्ठान में आदर करते हैं, पुरुषार्थ को करनेवाले हैं, जिन्होंने कर्मों को निर्मूल करने में अपने चित्त को स्थापित किया है, जो परमार्थभूत अर्हत भक्ति से परिपूर्ण हैं, अथवा भाव विषय पदार्थ-विषयक अनुराग रूप जो दर्शन और ज्ञान है उन दर्शन और ज्ञान से अच्छी तरह एकमेक हो रहे हैं, वे मुनि जिनदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म में भावपूर्वक अनुरक्त हैं और पुरुषार्थ में कमर कस कर तत्पर हैं, उन्हीं के तपशुद्धि होती है।

चारित्र शुद्धि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—कर्ममल समूह का नाशक जिनेंद्र द्वारा कथित यह धर्म अनुत्तर है। इस तरह संवेग से उत्पन्न हुई श्रद्धा से सहित मुनि पंच महाव्रतों को ग्रहण करते हैं। ॥ ७८० ॥

---

1. कृतावतारा द०।

धर्ममुत्तमक्षमादिलक्षणमनुत्तरमद्वितीयमिमं कर्ममलपटलपाटनसमर्थं जिनाख्यातं गृह्णन्ति महाव्रतानि च संवेगजातहर्षाः, अथवा धर्मोयं कृत्वा गृह्णन्ति महाव्रतानि पंच। अनेन तात्पर्येण लिंगशुद्धिर्व्याख्याता वेदितव्या ॥७८०॥

कानि तानि महाव्रतानीत्याशंकायां व्रतशुद्धिं च निरूपयंस्तावद्व्रतान्याह—

सच्चवयणं अहिंसा अदत्तपरिवज्जणं च रोचंति।
तह बंभचेरगुत्ती परिग्गहादो विमुत्तिं च ॥७८१॥

सत्यवचनं हिंसाविरतिं अदत्तपरिवर्जनं रोचन्ते सम्यगभ्युपगच्छन्ति तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिं परिग्रहाद्विमुक्तिं च लिंगग्रहणोत्तरकालं प्रतीच्छन्तीति ॥७८१॥

यद्यपि व्यतिरेकमुखेनावगतः प्राणिवधादिपरिहारस्तथापि पर्यायार्थिकशिष्यप्रतिबोधनायान्वयमाह—

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव।
तिविहेण पडिक्कंते जावज्जीवं दिढबुद्धीया ॥७८२॥

आचारवृत्ति—ये उत्तम क्षमा आदि लक्षण वाले धर्म अद्वितीय हैं, अर्थात् इनके सदृश अन्य कोई दूसरा धर्म नहीं है। ये कर्ममल समूह को नष्ट करने में समर्थ हैं। इस प्रकार से संवेग भाव से जिनको हर्ष उत्पन्न हो रहा है अथवा 'यह धर्म है', ऐसा समझकर जो पाँच महाव्रतों को स्वीकार करते हैं उनके चारित्रशुद्धि होती है। इस तात्पर्य से यहाँ पर लिंगशुद्धि का व्याख्यान हुआ समझना चाहिए। अर्थात् लिंग शुद्धि के अन्तर्गत ही दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, तपशुद्धि और चारित्रशुद्धि होती है।[1] पूर्व में संस्कार का अभाव, आचेलक्य, लोच, पिच्छिका ग्रहण और दर्शनज्ञान, चारित्र तथा तप का सद्भाव इसी का नाम लिंग शुद्धि है, ऐसा कहा है। इसीलिए दर्शन आदि शुद्धियाँ उससे अन्तर्भूत हो जाती हैं।

वे महाव्रत कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर तथा व्रतशुद्धि का निरूपण करते हुए पहले व्रतों को कहते हैं—

गाथार्थ—सत्य वचन, अहिंसा, अदत्त त्याग, ब्रह्मचर्य, गुप्ति और परिग्रह से मुक्ति इन व्रतों की रुचि करते हैं। ॥७८१॥

आचारवृत्ति—लिंग ग्रहण के अनन्तर वे मुनि सत्य वचन को, अहिंसा विरति को और अदत्तवस्तु के वर्जन रूप व्रत को स्वीकार करते हैं तथा ब्रह्मचर्य व्रत और परिग्रह के त्याग व्रत को स्वीकार करते हैं।

यद्यपि व्यतिरेकमुख से प्राणिवध आदि के परिहार का ज्ञान हो गया है तो भी पर्यायार्थिक शिष्यों को प्रतिबोधित करने के लिए अन्वय मुख से कहते हैं।

गाथार्थ—प्राणिवध, असत्यवचन, अदत्तग्रहण, मैथुन सेवन और परिग्रह इनका दृढ़ बुद्धि वाले पुरुष जीवन पर्यन्त के लिए मन-वचन-काय से त्याग कर देते हैं। ॥७८२॥

---

1. गाथा ७७१ की टीका में

प्रतिक्रामंति परित्यजंतीति पृथगभिसंबध्यते, प्राणिवधं परिक्रामन्ति परिहरन्तीत्यर्थः, तथा मृषावादं, अदत्तग्रहणं, मैथुनप्रसंगं, परिग्रहं च त्यजन्ति मनोवचनकायैर्यावज्जीवं मरणान्तं दृढधृतयो मुनयः—स्थिरमतियुक्ताः साधवः प्राणिवधादिकं सर्वकालं परिहरन्तीति ॥७८२॥

व्रतविषयां शुद्धिमाह—

ते सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा ।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥७८३॥

ते मुनयः सर्वग्रन्थमुक्ता मिथ्यात्ववेदकषायरागहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इत्येतैश्चतुर्दशाभ्यन्तरग्रंथैर्मुक्ताः, अममाः स्नेहपाशान्निर्गताः, अपरिग्रहाः क्षेत्रादिदशविधबाह्यपरिग्रहान्निर्गताः, यथाजाता नाग्न्यगुप्तिं गताः, व्युत्सृष्टत्यक्तदेहा मर्दनाभ्यंगोद्वर्तनस्नानादिदेहसंस्काररहिता एवंभूता जिनवरधर्मं चारित्रं युगपन्नयंति भवान्तरं प्रापयन्तीति ॥७८३॥

कथं ते सर्वग्रंथमुक्ता इत्याशंकायामाह—

सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि ।
ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे बालमित्तम्मि ॥७८४॥

यतस्ते मुनयः सर्वारंभेभ्योऽसिमषिकृषिवाणिज्यादिव्यापारेभ्यो निवृत्ता जिनदेशिते धर्मे चोद्युक्ता अतः श्रामण्यायोग्यबालमात्रपरिग्रहविषये ममत्वं नेच्छन्ति यतस्ते सर्वग्रन्थविमुक्ता इति ॥७८४॥

आचारवृत्ति—स्थिर बुद्धि से युक्त साधु इन प्राणिवध आदि पाँचों पापों का जीवन भर के लिए मन-वचन-काय पूर्वक त्याग कर देते हैं ।

व्रत विषयक शुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—वे ग्रन्थों—परिग्रहों से रहित, निर्मम, निष्परिग्रही यथाजात रूपधारी संस्कार से रहित मुनि जिनवर के धर्म को साथ में ले जाते हैं । ॥ ७८३ ॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सर्वग्रन्थ—मिथ्यात्व, तीन वेद, चार कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और गुप्सा इन चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों से मुक्त है, स्नेह पाश से निकल चुके हैं, क्षेत्र, वास्तु आदि दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह से भी रहित हैं, यथाजात नाग्न्यगुप्ति को धारण कर चुके हैं, मर्दन अभ्यंग उद्वर्तन, अर्थात् तैल मालिश, उबटन स्नान आदि के द्वारा शरीर के संस्कार से रहित हैं, ऐसे मुनि जिनेन्द्र भगवान् के धर्म को—चारित्र को युगपत भवांतर में अपने साथ ले जाते हैं ।

वे सर्वग्रन्थ से रहित किस लिए होते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मुनि सर्व आरम्भ से निवृत्त हो चुके हैं और जिनदेशित धर्म में तत्पर हैं बालमात्र भी परिग्रह में भी ममत्व नहीं करते हैं । ॥७८४॥

आचारवृत्ति—जिस कारण वे मुनि असि, मषि, कृषि वाणिज्य आदि व्यापार से रहित हो चुके हैं, जिनेन्द्रदेव कथित धर्म में उद्युक्त हैं तथा श्रामण्य के अयोग्य बाल-मात्र भी परिग्रह के विषय में ममता नहीं करते हैं, क्योंकि वे सर्वग्रन्थ से विमुक्त हैं ।

कथं त्यक्ता इत्याशंकायामाह—

अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि।
अवि णीए वि सरीरे ण करेंति मुणी ममत्तिं ते ॥७८५॥

यस्मादपरिग्रहा निराश्रया अनिच्छाः सर्वाशाविप्रमुक्ताः संतुष्टाः संतोषपरायणाश्चारित्रे सुस्थिताश्चारित्रानुष्ठानपराः, अपि च निजेऽपि शरीरे आत्मीयशरीरेऽपि ममत्वं न कुर्वन्ति मुनयः, अथवाऽविनीते शरीरे ममत्वं न कुर्वन्ति ततस्ते निर्ममा इति ॥७८५॥

अथ कथं ते निष्परिग्रहाः कथं वा यथाजाता इत्याशंकायामाह—

ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा।
सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू जह दिट्ठणट्ठा वा ॥७८६॥

यतस्ते शरीरेऽपि निर्ममा निर्मोहाः, यत्रास्तमितो रविर्यस्मिन् प्रदेशे रविरस्तं गतस्तस्मिन्नेव वसंति तिष्ठंति, अनिकेता न किंचिदपेक्षंते, श्रमणा यतयः, अप्रतिबद्धाः स्वतंत्राः, विद्युद्यथा दृष्टनष्टा ततोऽपरिग्रहा यथाजाताश्चेति ॥७८६॥

वसतिशुद्धिं निरूपयन्नाह—

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥७८७॥

वे निर्मम कैसे हैं ! ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि अपरिग्रही हैं, सन्तुष्ट हैं तथा चारित्र में स्थित हैं, वे मुनि अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते हैं। ॥७८५॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से वे आश्रयरहित हैं, सर्व आशा से विमुक्त हैं, सन्तोषपरायण हैं और चारित्र के अनुष्ठान में तत्पर हैं, और तो क्या अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते हैं। अथवा इस अविनीत शरीर में ममत्व नहीं करते हैं, इसलिए वे निर्मम कहलाते है।

वे मुनि निष्परिग्रही क्यों हैं ? अथवा यथाजात क्यों है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे शरीर से निर्मम हुए मुनि आवास रहित हैं। जहाँ पर सूर्य अस्त हुआ वहीं ठहर जाते हैं, किसी से प्रतिबद्ध नहीं हैं, वे श्रमण बिजली के समान दिखते हैं और चले जाते हैं। ॥७८६॥

आचारवृत्ति—जो अपने शरीर में भी निर्मोही हैं। चलते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है वहीं पर ठहर जाते हैं, किसी से कुछ अपेक्षा नहीं करते हैं, वे यति किसी से बँधे नहीं रहते हैं—स्वतन्त्र होते हैं। बिजली के समान दिखकर विलीन हो जाते हैं। अर्थात् एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते हैं। अतः ये अपरिग्रही हैं और यथाजात रूपधारी हैं। यहाँ तक का वर्णन हुआ।

अब वसतिशुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—ग्राम में एक रात्रि निवास करते हैं और नगर में पाँच दिन निवास करते हैं। प्रासुक विहारी हैं और विविक्त एकान्त वास करने वाले हैं ऐसे श्रमण धीर होते हैं। ॥७८७॥

वृत्यावृतो ग्रामस्तस्मिन्नेकरात्रं वसन्ति तत्रैकयैव रात्र्या सर्वसंवेदनात्, चतुर्गोपुरोपलक्षितं नगरं तत्र पंचदिवसं वसन्ति पंच दिनानि नयन्ति यतः पंचदिवसैः सर्वतीर्थादियात्रायाः सिद्धिस्ततश्च ममत्वदर्शनात्, धीरा धैर्योपेताः, श्रमणाः, प्रासुकविहारिणः सावद्यपरिहरणशीलाः, विविक्ते स्त्रीपशुपांडकवर्जिते देश एकान्ते प्रच्छन्ने वसंतीत्येवं शीला विविक्तैकांतवासिनः, यतो विविक्तैकांतवासिनो अतश्च निरवद्याचरणशीला यतो ग्राम एकरात्रिवासिनो नगरे पंचाहर्वासिनश्चोत्तरमौद्देशिकादिदर्शनान्मोहादिदर्शनाच्च न वसंतीति ॥७८७॥

एकान्तं मृगयतामेतेषां कथं सुखमित्याशंकायामाह—

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा ।
सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता ॥ ७८८ ॥

एकांतमेकत्वं विविक्तं मृगयमाणा अन्वेषयंतः सुश्रमणा सुतपसः वरगंधहस्तिन इव धीराः शुक्लध्यानरतय उत्तमं प्राप्ताः । यथा गंधहस्तिन एकांतमभ्युपगच्छन्तः सुखं प्राप्नुवंति तथा श्रमणा एकांतं मृगयमाणा अपि प्राप्ता यतः शुक्लध्यानरतय इति ॥७८८॥

कथं ते धीरा इत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—जो बाड़ से वेष्टित है उसे ग्राम कहते हैं, उसमें एक रात्रि निवासकरते हैं, क्योंकि एक रात्रि में ही वहाँ का सर्व अनुभव आ जाता है। चार गोपुरों से सहित को नगर कहते हैं। वहाँ पर पाँच दिवस ठहरते हैं, क्योंकि पाँच दिन में ही वहाँ के सर्व तीर्थ आदि यात्राओं की सिद्धि हो जाती है। आगे रहने से ममत्व देखा जाता है। प्रासुक विहारी—सावद्य का परिहार करने में तत्पर हैं अर्थात् जन्तु रहित स्थानों में विहार करने वाले हैं। स्त्री, पशु और नपुंसक से वर्जित ऐसे एकान्त प्रदेश में निवास करनेवाले हैं। क्योंकि ये विविक्त एकान्तवासी होने से निर्दोष आचरणशील हैं अतएव ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच दिन रहते हैं, क्योंकि अधिक रहने से औद्देशिक आदि दोष हो जाते हैं और मोह आदि भी हो जाता है, इसलिए वे अधिक नहीं रहते हैं।[1]

एकान्त का अन्वेषण करते हुए इनको सुख कैसे होता है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—एकान्त को खोज करने वाले श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान धीर वे सुश्रमण शुक्ल ध्यान में रत होकर उत्तम मुक्तिसुख को प्राप्त कर लेते हैं। ॥७८८॥

आचारवृत्ति—विविक्त एकान्त स्थान का अन्वेषण करते हुए वे सुश्रमण श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान धीर होते हैं और शुक्ल ध्यान में रति करते हुए उत्तम मुक्ति सुख को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे गंधहस्ती एकान्त का आश्रय लेकर सुखी होते हैं वैसे ही महामुनि एकान्त का आश्रय लेकर सुखी होते हैं, क्योंकि वहाँ पर वे शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं।

वे धीर क्यों हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

१. यह उत्कृष्ट चर्या है। वैसे आगे दस स्थिति कल्प का लक्षण है कि एक महीने तक एक स्थान पर वास करना। इसलिए सर्व संघ या सर्व मुनियों के लिए इसको एकान्त से नहीं लगाना चाहिए।

एयाइणो[1] अविहला वसंति गिरिकंदरेसु सप्पुरिसा ।
धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि ॥ ७८९ ॥

एकाकिनोऽसहायाः, अविकला अविह्वला धृतिसंतोषसत्वोत्साहादिसंपन्ना वसंति संतिष्ठंते गिरिकंदरासु पर्वतजलदारितप्रदेशेषु, सत्पुरुषाः प्रधानपुरुषाः, धीराः अदीनमनसो, दैन्यवृत्तिरहिताः, रममाणाः क्रीडंतो रतिं कुर्वंतो वीरवचने । यत एकाकिनोऽपि वैकल्यरहिता अदीनभावा वीरवचने भेदभावने रतिं कुर्वाणा गिरिकंदरासु[1] वसंति यतो धीराः सत्पुरुषाश्चेति ॥७८९॥

अतश्च ते धीरा—

वसधिसु अप्पडिबद्धा ण ते ममत्तिं करेंति वसधीसु ।
सुण्णागारमसाणे वसंति ते वीरवसधीसु ॥ ७९० ॥

वसतिष्वप्रतिबद्धाः स मदीय आश्रयस्तत्र वयं वसाम इत्येवमभिप्रायरहिताः, ममत्वं न कुर्वंति वसतिषु निवासनिमित्तमोहमुक्तास्ते साधवः, शून्यगृहेषु श्मशानेषु प्रेतवनेषु वसन्ति ते वीरवसतिषु यतो

गाथार्थ—जो एकाकी रहते हैं, विकलता रहित हैं, गिरिकन्दराओं में निवास करते हैं, सत्पुरुष हैं, दीनता रहित हैं, वीर भगवान् के वचन में रमते हुए वे धीर कहलाते हैं। ॥७८९॥

आचारवृत्ति—वे मुनि एकाकी-असहाय विचरण करते हैं। अविकल-विह्वलता रहित अर्थात् धैर्य, संतोष, सत्व और उत्साह आदि से संपन्न होते हैं। वे पर्वत की कंदराओं अर्थात् 'पर्वत पर' जल से विदारित स्थानों में रहते हैं। वे प्रधान-पुरुष दैन्य वृत्ति रहित होते हैं और महावीर प्रभु के वचनों में रति करते हैं अर्थात् भेद-भावना में रति करते हैं। वे एकान्त गिरि गुफाओं में निवास करते हुए भी विकल नहीं होते हैं। यही कारण है कि वे धीर कहलाते हैं।

भावार्थ—यह जिनकल्पी मुनियों की चर्या है। प्रारम्भ में पदविभागी समाचारी में आचार्य ने स्वयं बतलाया है कि जो उत्तम संहनन शक्ति, धैर्य, अंगपूर्व के ज्ञान आदि से युक्त हैं वे ही एकलविहारी हो सकते हैं, किन्तु हीन संहननधारी, अल्पज्ञानी मुनि एकलविहारी न बनें, संघ में निवास करें, बल्कि यहाँ तक कह दिया है कि 'मा मे सत्तु विएगागी।' (गाथा १५०) मेरा शत्रु भी इस तरह अकेला न रहे। अतः आज के मुनियों को एकलविहारी होने की आज्ञा नहीं है। न आजकल के मुनि ऐसे धीर ही बन सकते हैं।

इसीलिए वे धीर हैं सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वसति से बँधे हुए नहीं होते हैं, अतः वे वसति में ममत्व नहीं करते हैं, वे शून्य स्थान श्मशान ऐसी वीर वसतिकाओं में निवास करते हैं। ॥ ७९०॥

आचारवृत्ति—वसतिकाओं में जो प्रतिबद्ध नहीं होते, 'अर्थात् यह मेरा आश्रय स्थान है, यहीं पर मैं रहूँ' इस प्रकार के अभिप्राय से रहित रहते हैं तथा वसतिकाओं में ममत्व नहीं करते हैं, अर्थात् निवास निमित्तक मोह से रहित होते हैं। वे साधु शून्य मकानों में, श्मशानभूमि-प्रेतवनों

---

१. गिरिकन्दरेषु क०

धीराधिष्ठितेषु स्थानेषु महाभयंकरेषु संस्कृतवसतिविषये मुक्तसंगा अपसंगा वसन्त्यतस्तेभ्यः केऽन्ये शूरा इति ॥७९०॥

पुनरपि सत्त्वव्यावर्णनमाह—

पब्भारकंदरेसु अ कापुरिसभयंकरेसु सप्पुरिसा।
वसधी अभिरोचंति य सावदबहुघोरगंभीरा ॥ ७९१ ॥

प्राग्भारेषु पर्वतनितंबेषु कन्दरेषु जलहृतिकृतप्रदेशेषु चैवंप्रकारेषु दुर्गमप्रदेशेषु, कापुरुषभयंकरेषु सत्त्वहीनपुरुषभय-जनकेषु[1] वसतयोऽभिरोचन्ते सत्पुरुषेभ्यः अथवस्थानमभिवांछंति सत्पुरुषाः सत्त्वाधिकाः श्वापदबहु-घोरगंभीरा वसतय इत्यभिसंबंधः सिंहव्याघ्रसर्पनकुलादि[2]बाहुल्येन रौद्रगहनस्थानेष्वावासमभिवांछंतीति ॥७९१॥

तथा—

एयंतम्मि वसंता वयवग्घतरच्छ अच्छभल्लाणं।
अागुंजियमारसियं सुणंति सद्दं गिरिगुहासु ॥ ७९२ ॥

एकान्ते गिरिगुहासु वसंतः संतिष्ठमाना वृकव्याघ्रतरक्षुऋक्षभल्लादीनामागुंजितमारसितं शब्दं शृण्वंति तथाऽपि सत्त्वान्न विचलंतीति ॥७९२॥

में ठहरते हैं। वे वीर पुरुषों से अधिष्ठित महाभयंकर स्थानों में निवास करते हैं तथा संस्कारित वसति में आसक्ति नहीं रखते हैं। अतः उनसे अतिरिक्त शूर और कौन हो सकते हैं? अर्थात् ऐसे मुनि ही महा शूरवीर होते हैं। इसी कारण वे धीर-वीर कहलाते हैं।

पुनरपि उनके सत्त्व का वर्णन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—कायर पुरुषों के लिए भयंकर ऐसे प्राग्भार कन्दराओं में व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से घोर व्याप्त वसतियाँ सत्पुरुषों को रुचती हैं ॥७९१॥

आचारवृत्ति—पर्वत के तट को प्राग्भार और जल के आघात से विदारित पर्वत प्रदेश को कन्दरा कहते हैं। ये विषम प्रदेश सत्त्वहीन पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाले हैं। वहाँ पर जो वसति हैं उनमें सिंह, व्याघ्र, सर्प, नेवला, आदि जन्तुओं की बहुलता है। ऐसे रौद्र गहन स्थानों में सत्त्वशाली सत्पुरुष ठहरना चाहते हैं। अर्थात् ऐसे स्थान धीर-वीर मुनियों को रुचते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—एकान्त में रहते हुए गिरि-गुफाओं में भेड़िया, व्याघ्र, चीता और भालू के गूँजते हुए शब्दों को सुनते हैं ॥ ७९२ ॥

आचारवृत्ति—एकान्त स्थान ऐसी पर्वत की गुफाओं में रहते हुए वे मुनि भेड़िया, व्याघ्र, चीता, रीछ और भालू आदि के बोले गये और गूँजते हुए शब्दों को सुना करते हैं, फिर भी वे सत्त्व—धैर्य से विचलित नहीं होते हैं।

---

१. जननेषु क०

२. सर्पादिभिर्बाहुल्येन रौद्रं गहनं स्थानमावासमभिवाञ्छन्तीति क०

तथा—

रत्तिचरसउणाणं णाणारुदरसिदभीदसद्दालं।
उण्णादेंति वणंतं जत्थ वसंता समणसीहा ७९३ ॥

रात्रौ चरन्तीति रात्रिचरा उलूकादयस्तेषां शकुनानां नानारुतानि नानाभीतिशब्दाश्च अत्यर्थं उण्णादेंति उन्नादियंति प्रतिशब्दयन्ति वनांतं वनमध्यं, उद्भूतशब्दं सर्वमपि वनं गह्वराटवीं कुर्वन्ति यत्र वसन्ति श्रमणसिंहा इति ॥७९३॥

तथा—

सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु।
जिणवयणमणुमणंता अणुव्विग्गमणा परिवसंति ॥ ७९४ ॥

सिंहा इव सिंहसदृशा नरसिंहा नरप्रधानाः पर्वततटकटके "पर्वतस्याधोभागस्य सामीप्यं तटं ऊर्ध्वभागस्य सामीप्यं कटकं" पर्वततटकटककन्दरागुहासु जिनवचनमनुगणयन्तो जिनागमं तत्त्वेन श्रद्दधाना अनुद्विग्नमनस उत्कंठितमानसाः परि—समन्ताद्वसंतीति ॥७९४॥

तथा—

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—जहाँ पर श्रमण-सिंह निवास करते हैं, जहाँ पर रात्रिचर जन्तुओं के नाना शब्दों से भयंकर शब्द वन के अभ्यन्तर भाग को शब्दायमान कर देते हैं, वहाँ पर श्रमण-सिंह निवास करते हैं। ॥ ७९३ ॥

आचारवृत्ति—रात्रि में विचरण करने वाले उल्लू आदि रात्रिचर कहलाते हैं। उन पक्षियों के नाना प्रकार के भयंकर शब्द अतिशय रूप से वन के मध्य भाग को प्रतिध्वनित कर देते हैं। अर्थात् उन जीवों के उत्पन्न हुए शब्द सारे वन में गहन अटवी में व्याप्त हो जाते हैं, जहाँ कि वे श्रमण-सिंह निवास करते हैं। अर्थात् ऐसे भयावह स्थान में भी जो निवास करते हैं वे ही मुनि श्रमण-सिंह कहलाते हैं।

गाथार्थ—सिंह के समान नरसिंह महामुनि पर्वत के तट, कटक, कन्दराओं और गुफाओं में जिन-वचनों का अनुचिन्तन करते हुए अनुद्विग्न चित्त होकर निवास करते हैं। ॥ ७९४ ॥

आचारवृत्ति—पर्वत के अधो भाग के समीप का स्थान तट है और पर्वत के ऊर्ध्व भाग के समीप का स्थान कटक है। पर्वत पर जल से जो प्रदेश विदारित हो जाता है उसे कन्दरा कहते हैं, गुफायें प्रसिद्ध ही हैं। सिंह के समान निर्भय हुए मुनि-सिंह अर्थात् मनुष्यों में प्रधान महासाधु पर्वत के तट, कटक, कन्दरा और गुफाओं में रहते हैं। वहाँ पर वे जिनागम के तत्त्वों का चिन्तवन करते हुए उत्कण्ठित रहते हैं, उद्विग्न कभी नहीं होते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

सावदसयाणुचरिये परिभयभीमंधयारगंभीरे।
धम्माणुरायरत्ता वसंति रत्तिं गिरिगुहासु ॥ ७९५ ॥

श्वापदसदानुचरिते सिंहव्याघ्रादिभिः सर्वकालं परिसेविते परिभयभीमे समंताद्भयानकेऽन्धकारे आदित्यकिरणानामपि दुष्प्रवेशे गंभीरे सुष्ठु गहने वने इति संबंधः। धर्मानुरागरक्ताश्चारित्रानुष्ठानतत्परा रात्रौ वसंति गिरिगुहास्विति ॥७९५॥

तादृग्भूते वने रात्रौ केन विधानेन वसंतीत्याशंकायामाह—

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति ॥ ७९६ ॥

स्वाध्यायध्यानयुक्ताः श्रुतभावनायां युक्ता एकाग्रचिंतानिरोधे ध्याने च तत्परमानसा रात्रौ न स्वपंति ते मुनयः, प्रयामं प्रचुरं प्रथमयामं पश्चिमयामं च वर्जयन्तीत्यर्थः, सूत्रार्थं च सूत्रमर्थं तदुभयं च चिंतयंतो भावयंतो निद्रावशं न गच्छंति— न निद्रा-राक्षस्या पीड्यंत इति ॥७९६॥

तत्रासनविधानं च प्रतिपादयन्नाह—

पलियंकणिसिज्जगदा वीरासणएयपाससाईया।
ठाणुक्कडेहिं मुणिणो खवंति रत्तिं गिरिगुहासु ॥ ७९७ ॥

गाथार्थ—सदा हिंस्रजन्तुओं से सहित चारों तरफ से भयंकर अन्धकार से गहन वन में रात्रि में धर्म में अनुरक्त हुए मुनि पर्वत की गुफाओं में निवास करते हैं। ॥ ७९५ ॥

आचारवृत्ति—जहाँ पर हमेशा सिंह व्याघ्र आदि विचरण करते हैं जो सब तरफ से भयानक है, जहाँ पर सूर्य की किरणों का भी प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसे गहन अन्धकार से जो व्याप्त है ऐसे वन में चारित्र के अनुष्ठान से तत्पर हुए मुनि रात्रि में वहाँ की गिरि गुफाओं में ठहरते हैं।

ऐसे वन में रात्रि में वे किस प्रकार से रहते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए वे मुनि प्रथम व अन्तिम पहर में रात्रि में नहीं सोते हैं। वे सूत्र और अर्थ का चिन्तवन करते हुए निद्रा के वश में नहीं होते हैं। ॥७९६ ॥

आचारवृत्ति—वे मुनि श्रुत की भावना में लगे रहते हैं और एकाग्रचिन्ता-निरोध रूप ध्यान में अपने मन को तत्पर रखते हैं। अतः वे रात्रि में नहीं सोते हैं, अर्थात् रात्रि के प्रथम पहर और पश्चिम पहर में नहीं सोते हैं। यदि सोते हैं तो मध्यरात्रि में स्वल्प निद्रा लेते हैं। वे सूत्र का और उनके अर्थ का अथवा दोनों का चिन्तवन करते रहते है। अतः वे निद्रा-राक्षसी के द्वारा पीड़ित नहीं होते हैं।

वहाँ पर कैसे-कैसे आसन लगाते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—पर्यंक आसन से बैठे हुए, वीरासन से बैठे हुए या एक पसवाड़े से लेटे हुए अथवा खड़े हुए या उत्कुटिकासन से बैठे वे मुनि पर्वत की गुफाओं में रात्रि को बिता देते हैं। ॥ ७९७ ॥

गतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, पर्यंकं गताः पर्यंकेन स्थिताः, निषद्यां गताः सामान्येनोपविष्टाः, वीरासनं च गता वीराणामासनेन स्थितास्तथैकपार्श्वशायिनस्तथा स्थानेन कायोत्सर्गेण स्थिता उत्कुटिकेन स्थितास्तथा हस्तिशुंडमकरमुखाद्यासनेन च स्थिता मुनयः क्षपयंति नयंति गमयंति रात्रिं गिरिगुहासु नान्यथेति समाधानताऽनेन प्रकारेण प्रतिपादिता भवतीति ॥७९७॥

प्रतीकाररहितत्वं निष्काङ्क्षत्वं च प्रतिपादयन्नाह—

उवधिभरविप्पमुक्का वोसट्ठंगा णिरंबरा धीरा ।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधू सिद्धिं वि मग्गंति ॥ ७९८ ॥

उपधिभरविप्रमुक्ताः श्रामण्यायोग्योपकरणभारेण सुष्ठु मुक्ताः, व्युत्सृष्टांगास्त्यक्तशरीराः, निरंबरा नाग्न्यमधिगताः, धीरा सुष्ठु शूराः, निष्किंचना निर्लोभाः, परिशुद्धाः कायवाङ्मनोभिः शुद्धाचरणाः साधवः, सिद्धिं कर्मक्षयं समिच्छंति मृगयंते, तेनेह लोकाकांक्षा परलोकाकांक्षा च परिषहप्रतीकारश्च न विद्यते तेषामिति ज्ञापितं भवति । वसतिशुद्ध्या तपःसूत्रसत्वैकत्वधृतिभावनाश्च प्रतिपादिता इति ॥७९८॥

विहारशुद्धिं विवृण्वन्नाह—

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहा वादो ।
हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं ॥ ७९९ ॥

आचारवृत्ति—'गत' शब्द का प्रत्येक के साथ अभिसम्बन्ध करना। इससे यह अर्थ हुआ कि वे पर्यंकासन से स्थित हुए निषद्या—सामान्य आसन से बैठे हुए, वीरासन से स्थित हुए एक पसवाड़े से लेटे हुए तथा कायोत्सर्ग से स्थित हुए, या उत्कुटिक आसन से स्थित हुए अथवा हस्तिशुण्डासन, मकरमुखासन आदि आसनों को लगाकर स्थित हुए वे मुनि पर्वत की गुफाओं में रात्रि को व्यतीत करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। इस प्रकार से उनको वहाँ समाधानता बनी रहती है ऐसा यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

वे प्रतिकार रहित और कांक्षा रहित होते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—उपधि के भार से मुक्त हुए, शरीर संस्कार से रहित, वस्त्ररहित, धीर, अकिंचन, परिशुद्ध साधु सिद्धि को खोज करते रहते हैं ।। ॥ ७९८ ॥

आचारवृत्ति—मुनिपने के अयोग्य उपकरण के भार से जो रहित हैं, शरीर के संस्कारों का त्याग कर चुके हैं, नग्न मुद्रा के धारी हैं, अतिशय शूर हैं, निर्लोभी हैं, मन-वचन-काय से शुद्ध आचरणवाले हैं, ऐसे साधु कर्मक्षय की इच्छा करते हैं। इस कथन से उन साधुओं के इह लोक की आकांक्षा, परलोक की आकांक्षा और परीषहों का प्रतिकार नहीं रहता है, ऐसा कहा गया है। इस वसतिशुद्धि के द्वारा तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्व और धृति इन भावनाओं का भी प्रतिपादन किया गया है, ऐसा समझना। यहाँ तक वसतिशुद्धि का वर्णन हुआ।

विहारशुद्धि का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—परिग्रह रहित निरपेक्ष स्वच्छन्द विहारी वायु के समान नगर और आकर से मण्डित पृथ्वीतल पर उद्विग्न न होते हुए भ्रमण करते हैं। ॥७९९॥

मुक्ताः सर्वसंगरहिताः, निरपेक्षाः किंचिदप्यनीहमानाः, स्वच्छन्दविहारिणः स्वतंत्रा यथा वातो वात इव नगराकरमंडितायां वसुधायां पृथिव्यां हिण्डंते भ्रमंतीति ॥७९९॥

ननु विहरतां कथं नेर्यापथकर्मबन्ध इत्याशंकायामाह—

वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥ ८०० ॥

वसुधायां विहरंतोऽपि पृथिव्यां पर्यटंतोऽपि पीडां व्यथां न कुर्वंति नोत्पादयंति कस्यचिज्जीवविशेषस्य कदाचिदपि जीवदयायां[1] प्रवृत्ताः, यथा माता जननी पुत्रपुत्रीषु दयां विदधाति तथैव तेऽपि न कुर्वंति कस्यापि कदापि पीडामिति ॥८००॥

ननु नानादेशेषु विहरतां कथं सावद्यपरिहार इत्याशंकायामाह—

जीवाजीवविहत्तिं णाणुज्जोएण सुट्ठु णाऊण।
तो परिहरंति धीरा सावज्जं जेत्तियं किंचि ॥ ८०१ ॥

जीवविभक्तिं जीवविभेदान् सर्वपर्यायान्, अजीवविभक्तिं पुद्गलधर्माधर्माकाशकालस्वरूपं सभेदं

आचारवृत्ति—मुक्त—सर्वसंग से रहित, निरपेक्ष—किंचित् भी इच्छा न रखते हुए वायु के समान स्वतन्त्र हुए नगर और खान से मण्डित इस पृथ्वीमण्डल पर विहार करते हैं।

विहार करते हुए मुनि के ईर्यापथजन्य कर्म का बन्ध क्यों नहीं होता? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वसुधा पर विहार करते हुए भी कदाचित् किसी को भी पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं। जीवों में दया भाव सहित हैं, जैसे कि पुत्र समूह में माता दया रखती है।॥ ८००॥

आचारवृत्ति—पृथ्वीतल पर विहार करते हुए भी ये मुनि किसी भी जीव विशेष को कभी भी पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, वे सदा जीव-दया में प्रवृत्त रहते हैं। जैसे जननी पुत्र-पुत्रियों पर दया करती है वैसे ही वे भी कभी भी किसी प्राणी को व्यथा नहीं उपजाते हैं, सर्वत्र दयालु रहते हैं।

नाना देशों में विहार करते हुए उनके सावद्य का परिहार कैसे होगा? ऐसी आशंका होने पर बताते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीव के विभाग को ज्ञानप्रकाश से अच्छी तरह जानकर पुनः वे धीर मुनि जो कुछ भी सावद्य है उसका परिहार कर देते हैं।॥ ८०१ ॥

आचारवृत्ति—जीवों के अनेक भेदों को और उनकी सर्व पर्यायों को, तथा अजीव के भेदों को अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के स्वरूप को, उनके सर्व भेद और

---

१. 'जीवदयायामापन्नाः सर्वप्राणिदयापरा यतः यथा माता जननी पुत्रभांडेषु, जननी यथा पुत्रविषयेऽतीव हितमाचरति तथा तेऽपि साधवः सर्वजीवविषयदयायां प्रवृत्ताः, इति द० क० पुस्तके पाठः।

सपर्यायं ज्ञानोद्योतेन सुष्ठु ज्ञात्वाऽवबुध्य ततः परिहरंति परित्यजन्ति सावद्यं यत्किंचित्सर्वदोषजातं सर्वथा परिहरंतीति ॥८०१॥

सावद्यकारणमपि परिहरंतीत्याह—

सावज्जकरणजोग्गं सव्वं तिविहेण तियरणविसुद्धं ।
वज्जंति वज्जभीरू जावज्जीवाय णिग्गंथा ॥ ८०२ ॥

सावद्यानि सदोषानि यानि करणानीन्द्रियाणि परिणामाः क्रिया वा तैर्योगः संपर्कस्तं सावद्यकरण-योगं सर्वमपि त्रिविधेन त्रिप्रकारेण कृतकारितानुमतरूपेण त्रिकरणविशुद्धं यथा भवति मनोवचनकायक्रिया-शुद्धं यथा भवति तथा वर्जयंति परिहरंत्यवद्यभीरवः पापभीरवो यावज्जीवं यावन्मरणांतं निर्ग्रंथाः परिहरंतीति ॥८०२॥

किं तत्सावद्यं यन्न कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

तणरुक्खहरिदछेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं ।
फलपुप्फबीयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति ॥ ८०३ ॥

तृणच्छेदं, वृक्षच्छेदं, हरितच्छेदनं छिन्नछेदनं च न कुर्वंति न कारयंति मुनयः, तथा त्वक्पत्रप्रवाल-कन्दमूलानि न छिंदंति न छेदयंति, तथा फलपुष्पबीजघातनं न कुर्वंति न कारयंति मुनयः ॥८०३॥

पर्यायों को ज्ञान-उद्योत के द्वारा अच्छी तरह जानकर पुनः जो कुछ भी सावद्यरूप दोषों का समूह है उन सबका सर्वथा त्याग कर देते हैं।

सावद्य के कारणों का भी त्यागकर देते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—सावद्य इन्द्रियों के योग से त्रिविध त्रिकरणविशुद्ध सर्व का वे पापभीरू निर्ग्रंथ मुनि त्याग कर देते हैं। ॥ ८०२ ॥

आचारवृत्ति—सावद्य—सदोष जो करण—इन्द्रियाँ या परिणाम अथवा क्रिया उनका योग सम्पर्क 'सावद्यकरण योग' है। इन सर्व सदोष क्रिया आदि को जो कृत कारित अनुमोदना रूप से मन-वचन-काय की क्रिया से विशुद्ध जैसे हो वैसे छोड़ देते है। अर्थात् पापभीरू निर्ग्रंथ मुनि मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक सदोष क्रियाओं को जीवनपर्यंत के लिए छोड़ देते हैं।

वह सावद्य क्या है कि जिसको वे नहीं करते हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—तृण, वृक्ष, हरित वनस्पति का छेदन तथा छाल, पत्ते, कोंपल, कन्द-मूल तथा फल, पुष्प और बीज इनका घात मुनि न स्वयं करते हैं और न कराते हैं। ॥ ८०३ ॥

आचारवृत्ति—वे मुनि तृण का छेदन, वृक्ष का छेदन, हरित का छेदन और छिन्न-भिन्न हुई वनस्पति का छेदन न स्वयं ही करते हैं और न दूसरों से कराते हैं। तथा छाल, पत्ते, कोंपल, कन्द-मूल का भी छेदन न करते हैं न कराते हैं। उसी प्रकार से फल, पुष्प और बीज का घात भी न करते हैं, न ही कराते हैं।

तथा—

पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारंभं ।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति ॥ ८०४ ॥

पृथिव्याः समारंभं खननोत्कीर्णनचूर्णनादिकं न कुर्वंति न कारयंति कुर्वंतं नानुमन्यन्ते धीरास्तथा जलपवनाग्नित्रसानामारंभं सेचनोत्कर्षणवीजनज्वालनमर्दनत्रासनादिकं न कुर्वंति न कारयंति नानुमन्यंत इति ॥८०४॥

यतः—

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु ।
अप्पट्ठं चिंतंता हवंति अव्वावडा साहू ॥ ८०५ ॥

निक्षिप्तशस्त्रदंडाः सर्वहिंसाकारणोपकरणमुक्ता यतः, श्रमणा यतश्च, सर्वप्राणभूतेषु समाः समानाः यतश्चात्मार्थं चिंतयंतो भवंत्यव्यापृता व्यापाररहितास्ततस्ते न कस्यचित्कदाचित्पीडां कुर्वंतीति ॥८०५॥

विहरंतः कथंभूतं परिणामं कुर्वंतीत्याशंकायामाह—

उवसंतादीणमणा उवक्खसीला हवंति मज्झत्था ।
णिहुदा अलोलमसठा अविंहिया कामभोगेसु ॥८०६॥

उपशांता अकषायोपयुक्ताः, अदीनमनसो दैन्यविरहिताः पथश्रमक्षुत्पिपासाज्वरादिपरीषहैरम्लान-

---

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि पृथ्वी का समारम्भ, जल, वायु, अग्नि और त्रसजीवों का आरम्भ न स्वयं करते हैं न कराते हैं और न करते हुए को अनुमोदना ही देते हैं। ॥ ८०४ ॥

आचारवृत्ति—पृथ्वी का खोदना, उसमें कुछ उत्कीर्ण करना, उसका चूर्ण आदि करना सब समारम्भ कहलाता है। ऐसे ही जल का सिंचन करना, फेंकना, हवा का बीजन करना अर्थात् पंखे से हवा करना, अग्नि को जलाना, त्रसजीवों का मर्दन करना—उन्हें त्रास आदि देना, इन क्रियाओं को धीर मुनि न करते हैं न कराते हैं और करते हुए को न अनुमति ही देते हैं।

क्योंकि—

गाथार्थ—वे श्रमण शस्त्र और दण्ड से रहित हैं, सर्व प्राणी और भूतों में समभावी हैं। आत्मा के हित का चिंतवन करते हुए वे साधु इन व्यापारों से रहित होते हैं। ॥ ८०५ ॥

आचारवृत्ति—वे श्रमण सर्व हिंसा के कारणभूत उपकरणों से रहित हैं। सर्व प्राण और भूत अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि जीव तथा पृथ्वी आदि भूतों में समान भाव रखने वाले हैं। अपनी आत्मा के व्यापार से रहित है। इसीलिए वे साधु कभी भी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं।

वे विहार करते हुए किस प्रकार के परिणाम करते हैं? सो ही बताते हैं।

गाथार्थ—वे उपशान्त भावी दीन मन से रहित, उपेक्षा स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूर्खता रहित और कामभोगों में विस्मय रहित होते हैं। ॥८०६॥

आचारवृत्ति—वे मुनि अकषाय भाव से युक्त रहते हैं, दैन्य वृत्ति से रहित होते हैं। मार्ग

चित्तवृत्तयः, उपेक्षाशीलाः सर्वोपसर्गसहनसमर्था भवन्ति, मध्यस्थाः समदर्शिनः, निभृताः संकुचितकरचरणाः कूर्मवत् अलोला निराकांक्षाः, अशठा मायाप्रपंचरहिताः, अविस्मिताः कामभोगेषु कामभोगविषये विस्मय-रहिताः कृतानादरा इति ॥८०६॥

तथा—

जिणवयणमणुगणेंता संसारमहब्भयं हि चिंतंता।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु ॥८०७॥

जिनवचनमनुगणयंतोऽर्हदागमरंजितमतयः, संसारान्महद्भयं चिन्तयंतः संत्रस्तमनसः, गर्भवसतिषु गर्भवासविषये भीताः सुष्ठु त्रस्ताः, पुनरपि जन्ममरणेषु भीता जातिजरामरणविषये च सम्यग्भीता इति ॥८०७॥

कथं कृत्वा गर्भवसतिषु भीता इत्याशंकायामाह—

घोरे णिरयसरिच्छे कुंभीपाए सुपच्चमाणाणं।
रुहिरचलाविलपउरे वसिदव्वं गब्भवसदीसु ॥८०८॥

घोरे भयानके नरकसदृशे कुंभीपाके "व्यथां कृत्वा संदहन कुंभीपाकः" तस्मिन् सुपच्यमानानां सुष्ठु संतप्यमानानां "कर्त्तरि षष्ठी" तेन सुपच्यमानैरित्यर्थः, रुधिरचलाविलप्रचुरे रुधिरेण चले आविले बीभत्से-ऽथवा बीभत्सेन प्रचुरे वस्तव्यं स्थातव्यं, उदरे गर्भे एवंविशिष्टे गर्भे या वसतयस्तासु वस्तव्यमस्माभिरहो इति ॥८०८॥

के श्रम से, क्षुधा-पिपासा, ज्वर आदि परीषहों से चित्त में खेद (खिन्नता) नहीं लाते हैं। सर्व उपसर्गों को सहन करने में समर्थ होते हैं। समदर्शी रहते हैं। कछुए के समान हाथ-पैरों को अथवा इन्द्रियों को संकुचित करके रहते हैं—अर्थात् इन्द्रियविजयी होते हैं। कांक्षा रहित होते हैं। माया प्रपंच से रहित होते हैं। तथा काम और भोगों में आश्चर्य नहीं करते हैं, अर्थात् उनमें अनादर भाव रखते हैं।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—वे जिन-वचनों का अनुचिंतन करते हुए तथा संसार के महान् भय का विचार करते हुए गर्भवास से भीत रहते हैं तथा जन्म और मरणों से भी भयभीत रहते हैं। ८०७॥

आचारवृत्ति—वे अर्हंतदेव के आगम में अपनी बुद्धि को अनुरंजित करते हैं, संसार से सन्त्रस्त चित्त होते हुए गर्भवास में रहने से अतिशय भयभीत रहते हैं; पुनः जन्म, जरा और मरण से भी अतिशय भीत रहते हैं।

गर्भवास से क्यों भयभीत होते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—नरक के समान भयंकर सन्तप्यमान कुम्भीपाक सदृश रुधिर के चलायमान कीचड़ से व्याप्त गर्भवास में रहना पड़ेगा। ॥८०८॥

आचारवृत्ति—घोर-भयानक, नरक के सदृश, कुम्भीपाक—व्यथा को देकर जलाना सो कुम्भीपाक है, उसमें खूब ही सन्तप्त होते हुए और रुधिर चल बीभत्स घृणित अर्थात् दुर्गंध की प्रचुरता से युक्त ऐसे माता के गर्भ में मुझे रहना पड़ेगा। अर्थात् उपर्युक्त निंद्य गर्भ में मुझे नव महीने निवास करना पड़ेगा। अहो! बड़े खेद की बात है।

गर्भवसतिभ्यो भीताः संतः किमिच्छंतीति—

दिट्ठपरमट्ठसारा विण्णाणवियक्खणाए बुद्धीए।
णाणकयदीवियाए अगब्भवसदी विमग्गंति ॥८०९॥

ते साधवो दृष्टपरमार्थसाराः संसारस्य शरीरस्य भोगानां च दृष्टं ज्ञातं सारं परमार्थरूपं यैस्ते तथाभूताः, विज्ञानेन विचक्षणया बुद्ध्या मतिज्ञानादिना सुष्ठु कुशलतया विज्ञानविचक्षणया बुद्ध्या ज्ञानकृतदीपिकया श्रुतज्ञानदीपेन चागर्भवसतिं विशेषेण मृगयंते समीहंत इति ॥८०९॥

विहरंतः किं भावयंतीत्याह—

भावेंति भावणरदा वइरग्गं वीदरागयाणं च।
णाणेण दंसणेण य चरित्तजोएण विरिएण ॥८१०॥

भावनायां रता वीतरागाणां ज्ञानदर्शनचारित्रयोगैर्वीर्येण च सह वैराग्यं भावयन्तीति ॥८१०॥

तथा—

देहे णिरावयक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदंति भवस्स मूलाइं ॥८११॥

देहे देहविषये निरपेक्षा ममत्वरहिताः, दमरुचय इंद्रियनिग्रहतत्पराः, आत्मानं दमयंतः, धृतिप्रग्रहप्रगृहीता धृतिबलसंयुक्ताः छिंदंति भवस्य मूलानीति ॥८११॥

गर्भवास से भीत होते वे मुनि क्या चाहते हैं?

गाथार्थ—परमार्थ के सार को जानने वाले वे मुनि विज्ञान से विचक्षण ज्ञान-दीपिकारूप बुद्धि से गर्भरहित निवास का अन्वेषण करते हैं। ॥८०९॥

आचारवृत्ति—वे मुनि संसार, शरीर और भोगों के सार अर्थात् वास्तविक स्वरूप को जान चुके हैं। अतः वे मतिज्ञान आदि रूप अतिशय कुशल बुद्धि से और श्रुतज्ञानरूपी दीपक से गर्भवास—पुनर्जन्म रहित वसति की खोज करते हैं। अर्थात् मोक्ष को चाहते हैं।

विहार करते हुए वे क्या भावना करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—भावना में रत हुए मुनि वीतरागों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य के साथ वैराग्य की भावना करते हैं। ॥८१०॥

आचारवृत्ति—भावना में लीन में वे मुनि वीतराग तीर्थंकरों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वीर्य की भावना करते हैं और उनके साथ-साथ वैराग्य की भावना करते हैं।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—शरीर से निरपेक्ष, इन्द्रियजयी, आत्मा का दमन करते हुए धैर्य की रस्सी का अवलम्बन लेते हुए संसार के मूल का छेदन कर देते हैं ॥८११॥

आचारवृत्ति—वे मुनि शरीर में ममत्व रहित होते हैं, इन्द्रियों के निग्रह में तत्पर रहते हैं, अपनी आत्मा का निग्रह करते हैं, और धैर्य के बल से संयुक्त होते हैं। वे ही संसार के कारणों का नाश कर देते हैं। यहाँ तक विहारशुद्धि का वर्णन हुआ।

विहारशुद्धिं व्याख्याय भिक्षाशुद्धिं प्रपंचयन्नाह—

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य ण वि य पयामं रसट्ठाए ॥८१२॥

षष्ठाष्टमभक्तैस्तथा दशमद्वादशादिचतुर्थैश्च पारयंति भुंजते परगृहे भिक्षया कृतकारितानुमतिरहितलाभालाभसमानबुद्ध्या, यमनार्थं चारित्रसाधनार्थं च क्षुदुपशमनार्थं च यात्रासाधनमात्रं भुंक्ते, नैवं प्रकामं न च प्रचुरं रसार्थाय, अथवा नैव त्यागं कुर्वंति सद्रसार्थं यावन्मात्रेणाहारेण स्वाध्यायादिकं प्रवर्तते तावन्मात्रं गृह्णंति नाजीर्णाय बह्वाहारं गृह्णंतीति ॥८१२॥

कया शुद्ध्या भुंजत इत्याशंकायामाह—

णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविवज्जियं मलविसुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते परेण[1] दत्तं परघरम्मि ॥८१३॥

नवकोटिपरिशुद्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतिरहितं शंकितादिदोषपरिवर्जितं नखरोमादिचतुर्दशमलविशुद्धं भुंजते पाणिपात्रेण परेण दत्तं परगृहे, अनेन किमुक्तं भवति ? स्वयं गृहीत्वा न भोक्तव्यं, पात्रं च न ग्राह्यं, स्वगृहे ममत्वमधिष्ठिते न भोक्तव्यमिति ॥८१३॥

विहारशुद्धि का व्याख्यान करके अब भिक्षाशुद्धि का विस्तार करते हैं—

गाथार्थ—बेला, तेला आदि करके परगृह में भिक्षावृत्ति से पारणा करते हैं, संयम के लिए भोजन करते है; किन्तु प्रचुर रस के लिए नहीं ॥८१२॥

आचारवृत्ति—बेला, तेला, चौला, पाँच उपवास आदि तथा एक उपवास आदि करके परगृह में कृत-कारित-अनुमोदना से रहित तथा लाभ-अलाभ में समान बुद्धि रखते हुए भिक्षा विधि से पारणा करते है । चारित्र के साधन के लिए, क्षुधा का उपशमन करने के लिए तथा मोक्ष की यात्रा के साधन मात्र हेतु आहार लेते हैं। किन्तु प्रकाम इच्छानुसार या प्रचुर रस के लिए नहीं लेते हैं। अथवा अच्छे रस के हेतु त्याग नहीं करते हैं। जितने मात्र आहार से स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति होती है उतना मात्र ही लेते है; किन्तु अजीर्ण के लिए बहुत आहार नहीं लेते हैं।

किस शुद्धि से आहार लेते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मन, वचन, काय से गुणित कृत,कारित, अनुमोदना रूप नव कोटि से शुद्ध, दश दोष से रहित, चौदह मलदोष से विशुद्ध परगृह में पर के द्वारा दिये गये आहार को पाणिपात्र में ग्रहण करते हैं ॥८१३॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणित करने पर नव हुए ऐसे नव प्रकार से रहित, शंकित, मुक्षित आदि अशन के दश दोषों से रहित और नख, रोम आदि चौदह मल दोषों से रहित ऐसे आहार को करपात्र से परगृह में पर के द्वारा दिये जाने पर ग्रहण करते हैं। इससे क्या अभिप्राय हुआ ? मुनि को स्वयं लेकर नहीं खाना चाहिए और पात्र

---

1. क० दिण्णं

तथा—

उद्देसिय कीदयडं अण्णादं संकिदं अभिहडं च।
सुत्तप्पडिकूडाणि य पडिसिद्धं तं विवज्जंति ॥८४१॥

औद्देशिक, क्रीत, अज्ञातमपरिज्ञातं, शंकितं संदेहस्थानगतं प्रासुकाप्रासुकभ्रान्त्या, अभिघटमित्येव-मादि सूत्रप्रतिकूलं सूत्रप्रतिषिद्धमशुद्धं[1] च यत्तत्सर्वं विवर्जयंतीति ॥८१४॥

भिक्षाभ्रमणविधानमाह—

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥८१५॥

अज्ञातं[2] यत्र गृहस्थैः साधव आगमिष्यंति भिक्षार्थं नानुमतं स्वेन च तत्र मया गंतव्यमिति[3] भावि-

---

भी ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा ममत्व के आश्रयभूत स्वगृह में भी भोजन नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—मुनि स्वगृह छोड़कर ही दीक्षा लेते हैं; पुनः उनके परिणाम में 'यह मेरा गृह है' ऐसा ममत्व नहीं रहता है। यदि रहे तो वहाँ आहार न लेवें। दीक्षा के बाद स्वगृह में भी आहार की पद्धति रही है। उदाहरण के लिए रानी श्रीमती सहित राजा वज्रजंघ ने अपने युगलपुत्र को महामुनि के वेष में आहार दिया था तथा देवकी ने अपने तीन युगलों को-- युगल पुत्रों को तीन बार आहार दिया आदि। वर्तमान में भी साधु अपने घर में आहार लेते देखे जाते हैं। ऐसे साधुओं को स्वगृह का कोई ममत्व नहीं होता है। दाता का भी ऐसा भाव नहीं रहता कि ये मेरे हैं। अतः उनके द्वारा आहारदान का विरोध नहीं है। कदाचित् गृहस्थ को ऐसा ममत्व आ भी जाये, पर साधु को ऐसा कोई ममत्व नहीं होता।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—उद्देश अर्थात् दोष सहित, क्रीत, अज्ञात, शंकित, अभिघट दोष सहित, आगम के विरुद्ध आहार निषिद्ध है, ऐसा आहार मुनि छोड़ देते हैं ॥८१४॥

आचारवृत्ति—अपने उद्देश से बना हुआ आहार औद्देशिक है, उसी समय अपने हेतु खरीदकर लाया गया आहार क्रीत है, स्वयं को मालूम नहीं सो अज्ञात है, यह प्रासुक है या अप्रासुक ऐसे संदेह को प्राप्त हुआ आहार शंकित है, सात पंक्ति से अतिरिक्त आया हुआ अभिघट इत्यादि दोष युक्त, आगम के प्रतिकूल जो अशुद्ध आहार है उन सबका मुनि वर्जन कर देते हैं।

आहार हेतु भ्रमण का विधान बताते हैं—

गाथार्थ—दरिद्र, धनी या मध्यम कुलों में गृहपंक्ति से मौनपूर्वक भ्रमण करते हैं और वे मुनि अज्ञात तथा अनुज्ञात भिक्षा को ग्रहण करते हैं ॥८१५॥

आचारवृत्ति—साधु भिक्षा के लिए मेरे यहाँ आयेंगे ऐसा जिन गृहस्थों को मालूम नहीं

---

१. क सूत्रप्रतिसिद्धं च यत्। २. क अज्ञाता।
३. टिप्पणी में 'मया वक्तव्यं' ऐसा पाठ है।

प्रेतं अनुज्ञातं' गृहस्थैर्यतय आगमिष्यंति भिक्षार्थं स्वेन चावग्रहादिक्रमेण मया तत्र गंतव्यं नानुमतं, भिक्षां चतुर्विधाहारं, नीचोच्चमध्यमकुलेषु दरिद्रेश्वरसमानगृहेषु' गृहपंक्त्या हिंडंति पर्यटंति, मौनेन मुनयः समाददते भिक्षां गृह्णंतीति ॥८१५॥

तथा रसनेंद्रियजयमाह—

सीदलमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सिणिद्ध सुद्धं वा ।
लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं ॥८१६॥

शीतलं पूर्वाह्णवेलायां कृतं परित्यक्तोष्णभावं भोज्यं, अशीतलं तत्क्षणादेवावतीर्णमपरित्यक्तोष्णभावमोदनादिकं, रूक्षं घृततैलादिरहितं कोद्रवमकुष्ठादिकं वा, शुष्कं दुग्धदधिव्यंजनादिरहितं, स्निग्धं घृतादिसहितं शाल्योदनादिकं, शुद्धं पिठरादवतीर्णरूपं न च मनागपि विकृतं, लवणयुक्तं अलवणं वा भुंजते मुनयोऽनास्वादं यथा भवति जिह्वास्वादरहितमिति ॥८१६॥

यमनार्थपदस्यार्थं निरूपयन्नाह—

है उनका आहार 'अज्ञात' है, तथा 'आज मुझे उसके यहाँ आहार हेतु जाना है' इस प्रकार से मुनि ने स्वयं उसे अनुमति नहीं दी है और न ऐसा उनका अभिप्राय है वह आहार 'अनुज्ञात' अथवा 'अननुज्ञात'[1] है। अर्थात् 'यति भिक्षा के लिए आयेंगे और मुझे अवग्रह-वृतपरिसंख्यान आदि के नियम से वहाँ जाना चाहिए' इस प्रकार से अनुमति नहीं दी है। ऐसा आहार मुनि मौनपूर्वक ग्रहण करते हैं। तथा आहार काल में दरिद्र या सम्पन्न में समान मान से, गृहपंक्ति से भ्रमण करते हैं और मौनपूर्वक निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं।

रसना इन्द्रिय के जय को कहते हैं—

गाथार्थ—ठण्डा हो या गरम, सूखा हो या रूखा, चिकनाई सहित हो या रहित, लवण सहित हो या रहित—ऐसे स्वादरहित आहार को मुनि ग्रहण करते हैं ॥८१६॥

आचारवृत्ति—शीतल—पूर्वाण्ह बेला में बनाया गया होने से जो उष्णपने से रहित हो चुका है ऐसा भोज्य पदार्थ, अशीतल उसी क्षण ही उतारा हुआ होने से जो गरम-गरम है ऐसे भात आदि पदार्थ, रूक्ष—घी, तेल, आदि से रहित अथवा कोदों व मकुष्ट अन्न विशेष आदि पदार्थ, शुष्क—दूध, दही व्यंजन अर्थात् साग, चटनी आदि से रहित, स्निग्ध—घृत आदि सहित, शालिधान का भात आदि, शुद्ध—चूल्हे से उतारा गया, मात्र जिसमें किंचित् भी कुछ डाला नहीं गया है, नमक सहित भोजन या नमक रहित पदार्थ, ऐसे भोजन को मुनि जिह्वा का स्वाद न लेते हुए ग्रहण करते हैं। अर्थात् ठण्डे-गरम आदि प्रकार के आहार में राग-द्वेष न करते हुए समता भाव से स्वाद की तरफ लक्ष्य न देते हुए मुनि आहार लेते हैं।

'यमनार्थ' पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

---

१. क अननुज्ञातं नानुमतं।

२. 'अननुज्ञातं' पाठ टिप्पणी में है। ये दोनों पाठ संगत प्रतीत होने से ऐसा अर्थ किया है।

३. क गृहेषु

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ॥८१७॥

अक्षम्रक्षणमात्रं यथा शकटं धुरालेपममंतरेण न वहत्येवं शरीरमप्यशनमात्रेण विना न संवहतीति मुनयः प्राणधारणनिमित्तं किंचिन्मात्रं भुंजते, प्राणधारणं च धर्मनिमित्तं कुर्वंति, धर्ममपि चरंति मोक्षार्थं मुक्तिनिमित्तमिति ॥८१७॥

लाभालाभविषये समत्वमाह—

लद्धे ण होंति तुट्ठा ण वि य अलद्धेण दुम्मणा होंति ।
दुक्खे सुहे य मुणिणो मज्झत्थमणाउला होंति ॥८१८॥

भिक्षाया लाभे आहारादिसंप्राप्तौ न भवंति संतुष्टाः संतोषपरिगता[1] जिह्वेन्द्रियवशंगता अद्य[2] लब्धा भिक्षेति न हर्षं विदधति स्वचित्ते न चाप्यलब्धे भिक्षाया अलाभेऽसंप्राप्तौ सत्यां दुर्मनसो विमनस्का न भवंति 'अस्माभि राहारादिकमद्य न लब्धमिति दीनमनसो न भवंति' दुःखे संजाते सुखे च समुद्भूते मुनयो मध्यस्थाः समभावा अनाकुलाश्च भवंतीति ॥८१८॥

चर्यायां मुनीनां स्थैर्यं निरूपयन्नाह—

गाथार्थ—मुनि धुरे में ओंगन देने मात्र के सदृश, प्राणों के धारण हेतु आहार करते हैं—प्राणों को धर्म के लिए और धर्म को भी मोक्ष के लिए आचरते हैं ॥८१७॥

आचारवृत्ति—जैसे गाड़ी की धुरी में लेपन-ओंगन दिये बिना गाड़ी नहीं चलती है उसी प्रकार से यह शरीर भी अशनमात्र के बिना नहीं चल सकता है और मोक्षमार्ग में रत्नत्रय भार को नहीं ढो सकता है। इसलिए मुनि प्राणों को धारण करने के लिए किंचित् मात्र आहार ग्रहण करते हैं और धर्म के लिए आचरण करते हैं। इस प्रकार से मुनियों की आहार क्रिया अक्षम्रक्षणवृत्ति कहलाती है।

लाभ-अलाभ के विषय में समभाव को बताते हैं—

गाथार्थ—आहार आदि मिल जाने पर सन्तुष्ट नहीं होते हैं और नहीं मिलने पर भी उन्मनस्क नहीं होते हैं, वे मुनि दुःख और सुख में आकुलतारहित मध्यस्थ रहते हैं ॥८१८॥

आचारवृत्ति—आहार आदि की प्राप्ति हो जाने पर वे सन्तुष्ट नहीं होते हैं। अर्थात् जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर 'आज मुझे आहार मिल गया' इस प्रकार से अपने मन में हर्षित नहीं होते हैं और आहार के नहीं मिलने पर खेदखिन्न नहीं होते है, अर्थात् 'मुझे आज आहार आदि नहीं मिला' ऐसा दीनमन नहीं करते हैं। दुःख के आ जाने पर अथवा सुख के उत्पन्न होने पर वे आकुलचित्त न होते हुए समभाव धारण करते हैं।

चर्या में मुनियों के स्थैर्य का निरूपण करते हैं—

१. क संतोषपराः। २. पुष्पिकान्तर्गतः पाठः 'द' 'क' प्रतौ नास्ति।

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति ।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ।।८१९।।

नापि ते मुनयोऽभिष्टुवन्ति नैवोपश्लोकादिभिः स्तुतिं कुर्वंति पिंडार्थं ग्रासनिमित्तं, नैवापि च किंचित् याचंते न चापि प्रार्थयंते द्रव्यादिकमाहाराय, मौनव्रतेन तोषमादाय मुनयश्चरंति भिक्षार्थमाहारार्थं पर्यटंति, अभाषयंतः खात्कारघंटिकादिसंज्ञां वा न कुर्वंतीति न पौनरुक्त्यमिति ।।८१९।।

तथा—

देहि त्ति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वोत्तुं ।
अवि णीदि अलाभेण ण य मोणं भंजदे धीरा ।।८२०।।

देहीति मम ग्रासमात्रं यद्‌भव्यं भूयमिति दीनां करुणां च भाषां नेच्छंति । ईदृशीं वक्तुं सुष्ठु अहं बुभुक्षितो मम पंच सप्त वा दिनानि वर्तंते भोजनमंतरेणेति वचनं दीनं यदि मह्यं भोजनं[1] न प्रयच्छत तदा मृतोऽहं शरीरस्य मम सुष्ठु कृशता रोगादिभिर्ग्रस्तोऽहं नास्माकं किंचिद्विद्यते याचनादिपूर्वकं वचनं करुणोपेतमिति, अपि निवर्तंतेऽलाभे वा लाभे संजाते निवर्तंते भिक्षागृहेषु न पुनः प्रविशंति न च मौनं भंजंति न किंचिदपि प्रार्थयंते भोजनाय धीराः सत्त्वसंपन्ना इति ।।८२०।।

गाथार्थ—भोजन के लिए किसी की स्तुति नहीं करते हैं और न कुछ भी याचना करते हैं । वे मुनि बिना बोले मौनव्रतपूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं ।।८१९।।

आचारवृत्ति—ग्रास के निमित्त वे मुनि श्लोक आदि के द्वारा किसी की स्तुति नहीं करते हैं, और आहार के लिए वे किंचित् भी द्रव्य आदि की याचना भी नहीं करते हैं । वे सन्तोष से मौनपूर्वक आहार के लिए पर्यटन करते हैं । किन्तु मौन में खखार, हुंकार आदि संकेत को भी नहीं करते हैं । इस कथन से यहाँ मौनपूर्वक और 'नहीं बोलना' इन दो प्रकार के कथनों में पुनरुक्त दोष नहीं है । अर्थात् मौन व्रत से किसी से वार्तालाप नहीं करना—कुछ नहीं बोलना—ऐसा अभिप्राय है और 'अभाषयन्तः' से खखार, हुँ, हाँ, ताली बजाना आदि अव्यक्त शब्दों का संकेत वर्जित है । ऐसा समझना ।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—'दे दो' इस प्रकार से दीनता से कलुषित ऐसा वचन नहीं बोलना चाहते हैं, आहार के न मिलने पर वापस आ जाते हैं; किन्तु वे धीर मौन का भंग नहीं करते हैं । ।।८२०।।

आचारवृत्ति—'तुम मुझे ग्रासमात्र भोजन दे दो' इस प्रकार से दीन और करुण वचन नहीं बोलते हैं । 'मैं बहुत ही भूखा हूँ, भोजन के बिना मुझे पाँच या सात दिन हो गये हैं', ऐसे वचन दीन कहलाते हैं । तथा 'यदि आप मुझे भोजन नहीं देंगे तो मैं मर जाऊँगा, मेरे शरीर में बहुत कमजोरी आ गई है, मैं रोगादि से पीड़ित हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है', इत्यादि रूप याचना के वचन करुणा से सहित वचन हैं । मुनिराज ऐसे दीन व करुणार्द्र वचन नहीं बोलते हैं । भिक्षा का लाभ नहीं होने पर वे वापस आ जाते हैं । अथवा भिक्षा मिल जाने पर आहार ग्रहण कर वापस आ जाते हैं, पुनः भिक्षा के लिए घरों में प्रवेश नहीं करते हैं । न मौन भंग करते हैं और न वे भोजन के लिए कुछ भी प्रार्थना ही करते हैं । ऐसे साधु धीर—सत्त्वगुण सम्पन्न होते हैं ।

1. क० भोज्यमन्नं

यदि न याचंते किमात्मना किंचित् कुर्वंतीत्याशंकायामाह—

पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति।
पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण ॥८२१॥

पचनं स्वेनौदनादिनिर्वर्तनं पाचनं स्वोपदेशेनान्येन निर्वर्तनं[1] न कुर्वंति नापि कारयंति मुनयः, पच-नारंभान्निवृत्ता दूरतः स्थिताः संतुष्टाः, भिक्षामात्रेण कायप्रदर्शनमात्रेण भिक्षार्थं पर्यटंतीति ॥८२१॥

लब्धमपि संनिरीक्ष्य गृह्णंतीत्येवं निरूपयन्नाह—

असणं जदि वा पाणं खज्जं भोज्जं लिज्जं पेज्जं वा।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु ॥८२२॥

अशनं भक्तादिकं, यदि वा पानं दुग्धजलादिकं, खाद्यं लड्डुकादिकं, भोज्यं भक्ष्यं मंडकादिकं, लेह्य-मास्वाद्यं, पेयं स्तोकभक्तसिक्थपानबहुलं, वा विकल्पवचनं, प्रतिलेख्य शुद्धं भुंजते पाणिपात्रेषु न भाजना-दिष्विति ॥८२२॥

अप्रासुकं परिहरन्नाह—

यदि याचना नहीं करते हैं तो क्या वे स्वयं कुछ करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे भोजन पकाना या पकवाना भी नहीं करते हैं और न कराते हैं, वे पकाने के आरम्भ से निवृत्त हो चुके है, भिक्षा मात्र से ही सन्तुष्ट रहते हैं।॥८२१॥

आचारवृत्ति—पचन—स्वयं भात आदि पकाना, पाचन—आप उपदेश देकर अन्य से पकवाना। ये कार्य मुनि न करते हैं और न कराते है। भोजन बनाने आदि के आरम्भ से वे दूर ही रहते हैं। काय को दिखाने मात्र से वे भिक्षा के लिए पर्यटन करते हैं। अर्थात् आहार के लिए भ्रमण करने में वे केवल अपने शरीर मात्र को ही दिखाते हैं किन्तु कुछ संकेत या याचना आदि नहीं करते हैं। वे भिक्षावृत्ति से ही सन्तुष्ट रहते है।

प्राप्त हुए भोजन को भी वे अच्छी तरह देखकर ग्रहण करते है, इस बात को बताते है—

गाथार्थ—अशन अथवा पान, खाद्य या भोज्य, लेह्य या पेय इन पदार्थों को देखकर शोधकर करपात्र में शुद्ध आहार को ग्रहण करते हैं।॥८२२॥

आचारवृत्ति—अशन—भात आदि, पान—दूध जल आदि, खाद्य—लड्डू आदि, भोज्य—खानेयोग्य माण्डे आदि, लेह्य—चाटने योग्य पदार्थ, पेय—जिसमें भोजन वस्तु स्वल्प है और पतली वस्तु अधिक है ऐसे ठण्डाई आदि पदार्थ। ऐसी किसी भी चीज को अपने अंजलिपात्र में भलीभांति देखकर शुद्ध आहार ग्रहण करते है। वे मुनि बर्तन आदि में नहीं खाते हैं।

अप्रासुक का परिहार करते हुए कहते हैं—

---

१. क० निर्वर्तनमशनस्य

जं होज्ज अविवण्णं पासुग[1] पसत्थं तु एसणासुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते लद्धूण य गोयरग्गम्मि ॥८२३॥

यद्भवत्यविवर्णरूपं प्रासुकं सम्मूर्छनादिरहितं निर्जीवं जंतुरहितं च, प्रशस्तं मनोहरं, एषणासमिति-विशुद्धं, गोचराग्रे भिक्षावेलायां, लब्ध्वा पाणिपात्रेषु भुंजत इति ॥८२३॥

तथा—

जं होज्ज बेहियं तेहियं च वेवण्णजंतुसंसिट्ठं ।
अप्पासुगं तु णच्चा तं भिक्खं मुणी विवज्जंति ॥८२४॥

यद्भवति द्व्यहजातं त्र्यहजातं द्विदिनभवं त्रिदिनभवं च, विवर्णरूपं स्वभावचलितं, जंतुसम्मिश्र-मागंतुकैः सम्मूर्छनजैश्च जीवैः सहितमप्रासुकमिति ज्ञात्वा तां भिक्षां मुनयो विवर्जयन्तीति ॥८२४॥

विवर्जनीयद्रव्यमाह—

जं पुप्फियं किण्णइयं दट्ठूणं पूय-पप्पडादीणि ।
वज्जंति वज्जणिज्जं भिक्खू अप्पासुयं जं तु ॥८२५॥

यत्पुष्पितं नीलकृष्णश्वेतपीतादिरूपजातं, क्लिन्नं कुथितं दृष्ट्वा अपूप-पर्पटादिकं वर्जनीयं, लब्धमपि

गाथार्थ— जो चलित रस रहित, प्रासुक, प्रशस्त और एषणा समिति से शुद्ध है उसे आहार के समय प्राप्त कर पाणिपात्र से आहार करते हैं। ॥८२३॥

आचारवृत्ति—जो विकृत—खराब नहीं हुआ है वह अविवर्ण है। संमूर्च्छन आदि रहित, निर्जीव, जन्तुरहित भोजन प्रासुक है, मनोहर भोजन प्रशस्त है। अर्थात् जो ग्लानि पैदा करनेवाला नहीं है। एषणा समिति के छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायों से रहित है। ऐसा भोजन आहार की वेला में प्राप्त करके वे मुनि अपने पाणिपात्र से ग्रहण करते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—जो दो दिन का या तीन दिन का है, चलित स्वाद है, जन्तु से युक्त है, अप्रासुक है उसको जानकर मुनि उस आहार को छोड़ देते है। ॥८२४॥

आचारवृत्ति—जो भोजन दो दिन का हो गया है या तीन दिन का हो गया है, जो स्वभाव से चलित हो जाने से विवर्ण रूप हो गया है, जो आगन्तुक सम्मूर्च्छन जीवों से सहित है, अप्रासुक है ऐसा जानकर वे मुनि उस भिक्षा को छोड़ देते है।

छोड़ने योग्य पदार्थों को बताते हैं—

गाथार्थ—फफूंदी सहित, बिगड़े हुए पुआ, पापड़ आदि देखकर तथा जो अप्रासुक हैं, छोड़ने योग्य हैं, मुनि उन सबको छोड़ देते हैं। ॥८२५॥

आचारवृत्ति—जो खाद्य पदार्थ पुष्पित अर्थात् नीले, काले, सफेद या पीले आदि रंग के

---

१. क० ब० पासुय

यत्सर्वं यत्किंचिदप्रासुकं तददीनमनसो वर्जयंति परिहरंतीति ॥८२५॥

एवम्भूतं तु गृह्णंतीत्याह—

जं सुद्धमसंसत्तं खज्जं भोज्जं च लेज्ज पेज्जं वा ।
गिह्णंति मुणी भिक्खं सुत्तेण अणिंदियं जं तु ॥८२६॥

यच्छुद्धं विवर्णादिरूपं न भवति, जंतुभिः संसृष्टं च न भवति । खाद्यं भोज्यं लेह्यं पेयं च, सूत्रेणा-निन्दितं तद्भैक्ष्यं मुनयो गृह्णंतीति ॥८२६॥

आमपरिहारायाह—

फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि ।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा ॥८२७॥

फलानि कंदमूलानि बीजानि चाग्निपक्वानि न भवंति यानि अन्यदप्यामकं यत्किंचित्तदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति ते धीरा इति ॥८२७॥

हो गये हैं, बिगड़ गये हैं, ऐसे पुआ, पापड़ पदार्थ हैं, और भी जो अप्रासुक पदार्थ हैं, वे सब त्याग करने योग्य हैं। मुनि अदीनमन होते हुए इन सबको छोड़ देते हैं।

जिस तरह के पदार्थ ग्रहण करते हैं उनको बताते हैं—

गाथार्थ—जो शुद्ध है, जीवों से सम्बद्ध नहीं है, और जो आगम से वर्जित नहीं है ऐसे खाद्य, भोज्य, लेह्य और पेय को मुनि आहार में लेते हैं। ॥८२६॥

आचारवृत्ति—जो विवर्ण चलित आदि रूप नहीं हुआ है, जो जन्तुओं से सम्मिश्र नहीं है और जो भोजन आगम से निंदित नहीं है ऐसे खाद्य, भोज्य, लेह्य और पेय रूप चार प्रकार के आहार को मुनि ग्रहण करते हैं।

सचित्त वस्तु का परिहार करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—अग्नि से नहीं पके हुए फल, कन्द, मूल और बीज तथा और भी कच्चे पदार्थ जो खाने योग्य नहीं है ऐसा जानकर वे धीर मुनि उनको स्वीकार नहीं करते हैं। ॥८२७॥

आचारवृत्ति—फल, कन्द, मूल और बीज जो अग्नि से नहीं पकाये गए हैं, तथा और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ है वे खाने योग्य नहीं हैं, उन्हें जानकर वे मुनि उनको ग्रहण नहीं करते हैं।

भावार्थ—सचित्त वस्तु को प्रासुक करने के दस प्रकार भी बताये गये हैं। यथा—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सियं दव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥[1]

अर्थ—जो द्रव्य सूखा हो, पका हो, तप्त हो, आम्लरस तथा लवणमिश्रित हो, कोल्हू, चरखी, चक्की, छुरी, चाकू आदि यन्त्रों से भिन्न-भिन्न किया हुआ तथा संशोधित हो, सो सब प्रासुक है।

---

१. यह गाथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में तथा केशववर्णिकृत गोम्मटसार की संस्कृत टीका में भी सत्यवचन के भेदों में कही गई है।

यदशनीयं तदाह—

जं हवदि अणिव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव ।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥८२८॥

यद्भवत्यबीजं निर्बीजं, निर्वर्तिमं निर्गतमध्यसारं, प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छंतीति ॥८२८॥

भुक्त्वा किं कुर्वंतीत्याशंकायामाह—

भोत्तूण गोयरग्गे तहेव मुणिणो पुणो वि पडिकंता ।
परिमिदएयाहारा खमणेण पुणो वि पारेंति ॥८२९॥

गोचराग्रे भुक्त्वा भिक्षाचर्यामार्गे भुक्त्वा तथापि मुनयः पुनरपि प्रतिक्रामंति दोषनिर्हरणाय क्रिया-कलापं कुर्वन्ते, यद्यपि कृतकारितानुमतिरहिता भिक्षा लब्धा तथापि तदर्थं वा शुद्धिं कुर्वन्त्यतीव यतयः, परिमितैकाहाराः परिमित [1]एक एकवेलायामाहारो येषां ते परिमितैकाहाराः क्षमणेनोपवासेनैकस्थानेन वा पुनरपि पारयंति भुंजते इति ॥८२९॥

ज्ञानशुद्धिं निरूपयन्नाह—

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा ।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साहू ॥८३०॥

जो खाने योग्य हैं उनको बताते हैं—

गाथार्थ—जो बीज रहित है, पकाया हुआ है या प्रासुक किया हुआ है वह खाने योग्य है ऐसा जानकर उसको आहार में मुनि ग्रहण करते हैं। ॥८२८॥

आचारवृत्ति—जिसमें से बीज को निकाल दिया है, जिनको पका दिया गया है या जिनके मध्य का सार अंश निकल गया है, जो प्रासुक हैं वे पदार्थ भक्ष्य हैं, उन्हें ही मुनि आहार में ग्रहण करते हैं।

आहार करके क्या करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—उसी प्रकार से गोचरी बेला में आहार करके वे मुनि पुनः प्रतिक्रमण करके परिमित एक आहारी उपवास करके पुनः पारणा करते हैं। ॥८२९॥

आचारवृत्ति—गोचरीवृत्ति से चर्या करके वे मुनि आहार ग्रहण करते हैं, पुनः आकर प्रतिक्रमण करते हैं, अर्थात् दोष-परिहार के लिए क्रिया-कलाप करते हैं। यद्यपि कृत कारित अनु-मोदना से रहित आहार मिला है फिर भी उसके लिए वे यति अतीव शुद्धि करते हैं। वे दिन में एक बार ही आहार लेने से परिमित एक आहारी हैं। पुनः उपवास करके अथवा एकस्थान से पारणा करते हैं। यह भिक्षा-शुद्धि हुई।

अब ज्ञान-शुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—वे ज्ञानचक्षु को प्राप्त हुए साधु ज्ञान-प्रकाश के द्वारा परमार्थ को देखने वाले निःशंकित निर्विचिकित्सा और आत्मबल पराक्रम से सहित होते हैं। ॥८३०॥

---

१. क प्रतौ नास्ति।

ते मुनयो लब्धज्ञानचक्षुषो ज्ञानोद्योतेन दृष्टपरमार्था मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं मनःपर्ययावधिज्ञानमुद्योतस्तेन ज्ञातसर्वलोकसाराः, शंकाया श्रुतज्ञानादिनिरूपितपदार्थविषयसंदेहान्निर्गता निःशंका, विचिकित्साया निर्गता निर्विचिकित्सा आत्मबलानुरूपः पराक्रमो येषां ते आत्मबल-पराक्रमा यथाशक्त्युत्साहेनान्विताः साधव इति ॥८३०॥

पुनरपि किंविशिष्टा इत्याशंकायामाह—

अणुबद्धतवोकम्मा खवणवसगदा तवेण तणुअंगा।
धीरा गुणगंभीरा अभग्गजोगा य दिढचरित्ता य ॥८३१॥

तथा—

आलीणगंडमंसा पायडभिउडीमुहा अधियवच्छा।
सवणा तवं चरंता उक्किण्णा धम्मलच्छीए ॥८३२॥

अनुबद्धं संततं तपःकर्म तपोऽनुष्ठानं येषां तेऽनुबद्धतपःकर्माणो द्वादशविधे तपस्युद्यताः, क्षमणवशंगताः, तपसा तनुशरीराः धीराः, गुणगंभीरा गुणसंपूर्णाः, अभग्नयोगाः दृढचरित्राश्च ॥८३१॥

आलीनगंडमांसाः क्षीणकपोलाः प्रकटभृकुटिमुखा अधिकाक्षास्तारकामात्रनयनाश्चर्मास्थिशेषाः श्रमणास्तपश्चरंत एवंभूता अपि संयुक्ता धर्मलक्ष्म्या ज्ञानभावनयोपेता यतो' न ज्ञानमात्रात्सिद्धिरिति ॥८३२॥

आचारवृत्ति—जिनको ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त हो चुका है, जिन्होंने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के उद्योत से जगत् के सार—स्थिति को जान लिया है, जो श्रुत ज्ञान आदि से निरूपित पदार्थों के विषय में सन्देह रहित होने से निःशंक हैं एवं विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि से रहित होने से निर्विचिकित्सा सहित हैं वे अपने बल के अनुरूप पराक्रम से युक्त हैं अर्थात् वे साधु यथाशक्ति उत्साह से समन्वित हैं।

पुनः वे किन विशेषताओं से सहित हैं सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो तप करने में तत्पर हैं, उपवास के वशीभूत हैं, तप से कृशशरीरी हैं, धीर हैं, गुणों से गम्भीर हैं, योग का भंग नहीं करते हैं और दृढ़चारित्रधारी हैं। तथा—

जिनके कपोल का मांस सूख गया है, भ्रकुटी और मुख प्रकट हैं, आँख के तारे चमक रहे हैं, ऐसे श्रमण तपश्चर्या करते हुए धर्मलक्ष्मी से संयुक्त हैं। ॥८३१, ८३२॥

आचारवृत्ति—जो सतत बारह प्रकार के तप के अनुष्ठान में तत्पर हैं, उपवास में लगे हुए हैं, तपश्चरण से जिनका शरीर क्षीण हो चुका है, धीर हैं, गुणों से परिपूर्ण हैं, आतापन आदि योगों का कभी भंग नहीं करते हैं, चारित्र में दृढ़ हैं;

जिनके कपोल क्षीण हो गए हैं, जिनकी भ्रकुटियाँ प्रकट दिख रही हैं, जिनकी आँखें अन्दर घुस गई हैं मात्र पुतलियाँ चमक रही हैं, जिनके शरीर में चर्म और अस्थि ही शेष रह गयी हैं, इस प्रकार से तपश्चरण करते हुए भी वे श्रमण ज्ञान भावना से सहित रहते हैं। चूंकि ज्ञानमात्र से सिद्धि नहीं होती है अर्थात् ज्ञानमात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है अतः कर्मों का नाश करने के लिए वे महामुनि घोर तपश्चरण करते हैं।

कथं ज्ञानभावनया संपन्ना इत्याशंकायामाह—

आगमकदविण्णाणा अट्ठंगविदू य बुद्धिसंपण्णा ।
अंगाणि दस य दोण्णि य चोद्दस य धरंति पुव्वाइं ॥८३३॥

न केवलं भिक्षादिशुद्धौ रताः किं तु ज्ञानशुद्धावपि रता यतः आगमेन कृतं विज्ञानं यैस्ते आगमकृतविज्ञानाः श्रुतज्ञानदृष्टपरमार्थाः अष्टांगविदोऽगव्यंजनादिनिमित्तकुशलाश्चतुर्विधबुद्धिसंपन्नाश्च । कथमागमकृतविज्ञाना इति चेदंगानि दश द्वे चाचारसूत्रकृतस्थानसमवायव्याख्याप्रज्ञप्तिज्ञातृकथोपासकाध्ययनांतःकृद्दशानुत्तरदशप्रश्नव्याकरणविपाकसूत्रदृष्टिवादसंज्ञकानि द्वादशांगानि धारयंति तथा दृष्टिवादोद्भूतचतुर्दशपूर्वाण्युत्पादाग्रायणीवीर्यानुप्रवादास्तिनास्तिप्रवादज्ञानप्रवादसत्यप्रवादात्मप्रवादकर्मप्रवादप्रत्याख्यानप्रवादविद्यानुप्रवादकल्याणप्राणवायक्रियाविशाललोकबिन्दुसारसंज्ञकानि धरंति जानंति यतोऽत आगमकृतविज्ञाना इति ॥८३३॥

न केवलं तानि पठंति शृण्वंति, किं तु—[1]

धारणगहणसमत्था पदाणुसारीय बीयबुद्धीय ।
संभिण्णकोट्ठबुद्धी सुयसायरपारया धीरा ॥८३४॥

किस प्रकार से वे साधु ज्ञान भावना से सम्पन्न हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आगम के ज्ञानी, अष्टांग निमित्त के वेत्ता, बुद्धि ऋद्धि से सम्पन्न वे मुनि बारह अंग और चौदह पूर्वों को धारण करते है । ॥८३३॥

आचारवृत्ति—वे साधु केवल भिक्षा-शुद्धि आदि में ही रत हों, ऐसी बात नहीं है; किन्तु ज्ञानशुद्धि में भी रत है, क्योंकि वे श्रुतज्ञान से परमार्थ को देखने वाले हैं; अंग, व्यंजन, स्वर आदि निमित्त में कुशल हैं, एवं चार प्रकार की बुद्धि-ऋद्धि से भी सम्पन्न हैं । अर्थात् आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतःकृद्दशांग, अनुत्तरदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये बारह अंग हैं । तथा दृष्टिवाद नामक अन्तिम अंग से उत्पन्न हुए चौदह पूर्व है जिनके उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वार्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवाद, आत्म-प्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिंदुसारपूर्व नाम हैं । इन बारह अंग और चौदह पूर्वों को वे जानते हैं इसलिए वे आगम कृत विज्ञान से सहित हैं ।

भावार्थ—कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारि बुद्धि और संभिन्न श्रोतृ इन चार ऋद्धियों को बुद्धि ऋद्धि कहते हैं ।

वे केवल इन अंगपूर्वों को पढ़ते और सुनते ही हों, ऐसा नहीं है; किन्तु—

गाथार्थ—जो धारण और ग्रहण करने में समर्थ हैं, पदानुसारी, बीजबुद्धि, संभिन्न श्रोतृ बुद्धि और कोष्ठबुद्धि ऋद्धिवाले हैं, श्रुतसमुद्र के पारंगत हैं वे धीर, गुण सम्पन्न साधु हैं । ॥८३४॥

---

१. विशेष उच्यते स्वभावबुद्ध्यधिकास्तेषाम् इति क प्रतौ अधिकः पाठः ।

तेषामंगानां पूर्वाणां चार्थग्रहणसमर्था यथैवोपाध्यायः प्रतिपादयत्यर्थं तथैवाविनष्टं गृह्णंति प्रतिपद्यंते ग्रहणसमर्थाः, गृहीतमर्थं कालांतरेण न विस्मरन्तीति धारणसमर्थाः। चतुर्विधबुद्धिसंपन्ना इत्युक्ताः के ते इत्याशंकायामाह; पदानुसारिणः, बीजबुद्धयः, संभिन्नबुद्धयः, कोष्ठबुद्धयश्च। द्वादशांगचतुर्दशपूर्वमध्ये एकं पदं प्राप्य तदनुसारेण सर्वं श्रुतं बुध्यंते पादानुसारिणः। तथा सर्वश्रुतमध्ये एकं बीजं प्रधानाक्षरादिकं संप्राप्य सर्वमवबुध्यन्ते बीजबुद्धयः। तथा चक्रवर्तिस्कन्धावारमध्ये वृत्तमार्याश्लोकमात्राद्विपददंडकादिकमनेकभेदभिन्नं सर्वैः पठितं गेयविशेषादिकं च स्वरादिकं च यच्छ्रुतं यस्मिन् यस्मिन् येन येन पठितं तत्सर्वं तस्मिन् तस्मिन्काले तस्य तस्याविनष्टं ये कथयंति ते संभिन्नबुद्धयः। तथा कोष्ठागारे संकरव्यतिकररहितानि नानाप्रकाराणि बीजानि बहुकालेनापि न विनश्यंति न संकीर्यंते च यथा तथा येषां श्रुतानि पदवर्णवाक्यादीनि बहुकाले गते तेनैव प्रकारेणाविनष्टान्यन्यूनाधिकानि संपूर्णानि संतिष्ठंते ते कोष्ठबुद्धयः। श्रुतसागरपारगाः सर्वश्रुतबुद्धपरमार्था अवधिमनःपर्ययज्ञानिनः सप्तर्द्धिसम्पन्ना धीरा इति ॥८३४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि उन अंग और पूर्वों के अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ हैं, अर्थात् उपाध्याय गुरु जिस प्रकार से अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार से जो पूर्णतया उस अर्थ को ग्रहण करते हैं --समझ लेते हैं वे मुनि अर्थ-ग्रहण समर्थ कहलाते हैं। उसी प्रकार से ग्रहण किए हुए अर्थ को जो कालान्तर में नहीं भूलते हैं, वे धारण-समर्थ हैं।

'चतुर्विधबुद्धि संपन्न', ऐसा पूर्व गाथा की टीका में कहा है तो वे कौन-कौन-सी बुद्धि से सम्पन्न हैं?

पदानुसारी बुद्धि से सम्पन्न हैं, बीजबुद्धि से सम्पन्न हैं, संभिन्न बुद्धि से सम्पन्न हैं और कोष्ठ बुद्धि से सम्पन्न हैं।

जो मुनि द्वादशांग या चतुर्दश पूर्व में से किसी एक पद को प्राप्त करके उसके अनुसार सर्व श्रुत का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं इस तरह वे पदानुसारी ऋद्धि वाले कहलाते हैं।

तथा जो सर्वश्रुत में से एक बीजरूप प्रधान अक्षर आदि को प्राप्त करके सर्व श्रुत जान लेते हैं वे बीजबुद्धि ऋद्धिवाले हैं।

चक्रवर्ती के स्कन्धावार के मध्य जो वृत्त आर्या मात्रा द्विपद या दण्डक आदि नानाभेद प्रभेदों सहित पढ़ गये हों, गेय विशेष आदि रूप में जो गाये गये हों और स्वर आदि जो भी वहाँ उत्पन्न हुए हों, अर्थात् उस चक्रवर्ती के कटक में अनेक मनुष्यों व तिर्यंचों के जो भी शब्द प्रकट हुए हों उन सभी के द्वारा उत्पन्न हुए शब्दों को मुनि ने सुना। पुनः जिस-जिस काल में जिस-जिस के द्वारा जो बोला गया है उस उस काल में उस उसके उन सर्व शब्दों को जो पूर्णरूप से कह देते वे सम्भिन्नबुद्धि ऋद्धिवाले हैं।

जिस प्रकार धान्य के कोठे —भण्डार में संकर व्यतिकर रहित अनेक प्रकार के बीज बहुत काल तक भी नष्ट नहीं होते हैं, न मिल जाते हैं। उसी तरह से जिनके श्रुत-पद-वाक्य आदि बहुत काल हो जाने पर भी उसी प्रकार से विनष्ट न होकर, न्यूनाधिक भी न होकर, सम्पूर्णरूप से ज्यों-के-त्यों बुद्धिरूपी कोठे में ठहरते हैं वे कोष्ठबुद्धि ऋद्धिवाले मुनि हैं।

जिन्होंने सर्वश्रुत के ज्ञान से परमार्थ को जान लिया है, अवधिमनःपर्ययज्ञानी हैं सप्तर्द्धियों से सम्पन्न हैं और धीर हैं ऐसे मुनि ही शास्त्रों के अर्थों को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ होते हैं यह अभिप्राय है।

तथा—

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी ।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥८३५॥

श्रुतमेव रत्नं पद्मरागादिकं तेन पूर्णौ समलंकृतौ कर्णौ येषां ते श्रुतरत्नपूर्णकर्णाः । हेतुर्द्विविधो बहिर्व्याप्तिलक्षणोऽन्तर्व्याप्तिलक्षणश्च, तत्र बहिर्व्याप्तिलक्षणस्त्रिविधः सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वं पक्षधर्मत्वमिति । अन्तर्व्याप्तिलक्षण एकविधः, साध्याविनाभाव एकं लक्षणं यस्य स साध्याविनाभावैकलक्षणः । यदंतरेण यन्नोपपद्यते तत्साध्यं, इतरत्साधनं । अन्यथानुपपत्तिवैकल्यविशेषादसिद्धविरुद्धानैकान्तिका हेत्वाभासाः । तत्र साध्येऽनु-

---

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—जो श्रुतरूपी रत्न से कर्ण को भूषित करते हैं, हेतु और नय में विशारद हैं, विपुल बुद्धि के धारी हैं, शास्त्र के अर्थ में परिपूर्णतया कुशल हैं, ऐसे श्रमण परमपद के जानने वाले होते हैं। ॥८३५॥

आचारवृत्ति—श्रुत ही है रत्न अर्थात् पद्मराग आदि मणियाँ, उनसे पूर्ण अर्थात् अलंकृत हैं कर्ण जिनके वे मुनि श्रुतरत्नपूर्ण कर्ण हैं अर्थात् उपर्युक्त गुणविशिष्ट मुनियों के कर्ण श्रुतज्ञानरूपी रत्नों से विभूषित रहते हैं। ये मुनि हेतु और नय में कुशल होते हैं, विपुल बुद्धि अर्थात् महामतिशाली होते हैं अथवा ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के धारी होते हैं। सम्पूर्ण अर्थ में कुशल होते हैं। सिद्धान्त, व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रों में कुशल होते हैं तथा मुक्ति के स्वरूप को जानने में परायण ऐसे श्रमण होते हैं।

यहाँ हेतु और नयों का किंचित् व्याख्यान करते हैं—

हेतु के दो भेद हैं—बहिर्व्याप्तिलक्षण और अन्तर्व्याप्तिलक्षण। बहिर्व्याप्तिलक्षण हेतु के तीन भेद हैं—सपक्षसत्त्व, विपक्ष में असत्त्व और पक्ष धर्मत्व। अन्तर्व्याप्तिलक्षण हेतु एक प्रकार का ही है। साध्याविनाभावी ऐसे एक लक्षणवाला होना अर्थात् साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला हेतु अन्तर्व्याप्तिलक्षण कहलाता है। जिसके बिना जो उत्पन्न नहीं होता है वह साध्य है और इससे भिन्न साधन होता है। अर्थात् जैसे अग्नि के बिना धूम सम्भव नहीं है अतः अग्नि साध्य है और धूम साधन है। जिसमें अन्यथानुपपत्ति लक्षण अन्तर्व्याप्ति नहीं हो उसे हेत्वाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक।

असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद हैं—साध्यानुपपत्तिरूप और अज्ञातासिद्ध। अर्थात् जो हेतु साध्य में नहीं रहता है वह आश्रयासिद्ध है। जैसे 'शब्द परिणामी है क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है, यहाँ चाक्षुषत्व हेतु शब्द में नहीं रहने से आश्रयासिद्ध है। जिसमें निश्चय नहीं होता वह अज्ञातासिद्ध है, जैसे मूढ़बुद्धि को धुआँ देखकर भी यहाँ अग्नि है ऐसा निर्णय नहीं होता चूंकि वह बाष्प आदि से धूम का पृथक् रूप से निर्णय नहीं कर पाता है। उससे विशेष—भिन्न हेतु अकिंचत्कर है। अर्थात् जो हेतु प्रमाणान्तर से साध्य के सिद्ध होने पर दिया है तथा प्रमाणान्तर से साध्य के बाधित होने पर दिया जाता है वह अकिंचित्कर है, जैसे शब्द कर्ण से सुना जाता है क्योंकि वह कर्णेन्द्रिय का विषय है। यह हेतु निष्प्रयोजन होने से अकिंचित्कर कहलाता है। जो हेतु

पपत्तिरज्ञातश्चासिद्धः, तद्विशेषोऽकिंचित्करः, अन्यथोपपन्नो विरुद्ध, अन्यथाप्युपपन्नोऽनैकांतिकः। श्रुतनिरूपितैकदेशाध्यवसायो नयः सप्त प्रकारो नैगमादिभेदेन, तत्र सामान्यविशेषादिपरस्परापेक्षानेकात्मकवस्तुनिगमनकुशलो नैगमः, यतस्ति न तद्द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति। स्वजात्याविरोधेन चैकट्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदान् समस्तसंग्रहणात्संग्रहः, यथा सर्वमेकं सदविशेषादिति। संग्रहनयाक्षिप्तानां पदार्थानां विधिपूर्वकं व्यवहरणं व्यवहारः, यथा पृथिव्यादयोऽनेकधा व्यवस्थितास्तत्त्व तत्र सद्व्यवहारदर्शनादिति। अतीतानागतकोटिविनिर्मुक्तं वस्तु समयमात्रं ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्र, यथा विश्वं क्षणिकं सत्त्वादिति। यथार्थप्रयोगसंशब्दनाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्—कालकारकलिंगानां भेदादिति। प्रत्यर्थमेकैकसंज्ञाभिरोहणादिन्द्रशक्रपुरन्दरपर्यायशब्दभेदनात्समभिरूढ इति। तत्क्रियापरिणामकाल एव तदित्थंभूतो यथा कुर्वंत एव कारकत्वमिति। चत्वारोऽर्थनयास्त्रयः शब्दनयाः, पूर्वे त्रयो द्रव्यनयाः शेषा. पर्यायनया इत्येवभूते हेतौ नये च विशारदा निपुणा हेतुनयविशारदाः।

अन्य प्रकार से भी उपपन्न है अर्थात् साध्य में नही रहता है किन्तु उससे उल्टे मे रहता है वह विरुद्ध है; जैसे शब्द अपरिणामी है क्योंकि वह कृतक है। अन्य में भी रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक है अर्थात् जो हेतु पक्ष-सपक्ष दोनों मे रहते हुए विपक्ष मे भी चला जाय वह अनैकान्तिक है; जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है; जैसे घट। यहाँ यह प्रमेयत्व हेतु अनित्य शब्द में व घट में रहते हुए नित्य आकाश में भी चला जाता है क्योंकि आकाश भी प्रमेय है।

श्रुत के द्वारा निरूपित वस्तु के एक अंश का निश्चय करानेवाला ज्ञान नय कहलाता है। उसके सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। सामान्य-विशेष आदि धर्मों से परस्पर मे अपेक्षा सहित ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु में निगमन—संकल्पमात्र को ग्रहण करने में कुशल जो नय है वह नैगमनय है, चूंकि जो सामान्य और विशेष धर्म हैं वे परस्पर में एक-दूसरे का उल्लंघन करके नही रहते हैं। अनेक भेदों से सहित पर्यायों में स्व जाति के अविरोध से समीपता को करके अर्थात् एकत्व का अध्यारोप करके समस्त को ग्रहण करना संग्रहनय है। जैसे सभी जगत् एक है क्योंकि सत् सामान्य की अपेक्षा से उसमें भेद नही है। संग्रहनय से ग्रहण किए गए पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है। जैसे तत्त्व पृथ्वी आदि अनेक प्रकार से व्यवस्थित हैं क्योंकि उनमे सम्यक् भेद देखा जाता है। अर्थात् जैसे संग्रह नय से सभी पदार्थों को सत् रूप से एक कहा है तो उसमें उस सत् के चेतन-अचेतन की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं। जब सर्व जीवराशि को जीवत्व की अपेक्षा से संग्रहनय एक रूप कहता है तब व्यवहार से उसमें संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद हो जाते हे इत्यादि। भूत और भविष्यत् की पर्यायों से रहित वस्तु की वर्तमान काल सम्बन्धी एक समय मात्र की ऋजु—सरल पर्याय को सूचित करनेवाला ऋजुसूत्र नय है। जैसे विश्व – सर्ववस्तु क्षणिक है क्योंकि सत् रूप हैं। यथार्थ प्रयोग को सम्यक् प्रकार से सूचित करके अर्थ मे भेद करनेवाला शब्द नय है क्योंकि काल, कारक और लिंग में भेद देखा जाता है। अर्थात् काल, कारक, लिंग और उपसर्ग के भेद से अर्थ में भेद बतानेवाला शब्द नय है। प्रत्येक अर्थ के प्रति एक-एक संज्ञा को स्वीकार करनेवाला समभिरूढ़ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शचीपति के इन पर्यायवाची नामों से उनमें भेद हो जाता है। अर्थात् ऐश्वर्यशाली होने से इन्द्र, समर्थ होने से शक्र और पुरों का विभाजन करने

---

१. क० स्वजात्यविरोधेनैकट्यमुपनीय-

विपुलबुद्धयः महामतयः अथवा ऋजुमतयो विपुलमतयश्च मनःपर्ययज्ञानिन इत्यर्थः । निपुणार्थशास्त्रकुशला निरवशेषार्थकुशलाः सिद्धांतव्याकरणतर्कसाहित्यछन्दःशास्त्रादिकुशलाः, परमपदस्य विज्ञायका मुक्तिस्वरूपाव-बोधनपराः श्रमणा मुनय इति ॥८३५॥

ज्ञानमदनिराकरणायाह—

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य ।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥८३६॥

उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला ।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ॥८३७॥

अपगतमानस्तंभा [1]ज्ञानगर्वेण मुक्तास्तथाऽगर्विता जात्यादिमदरहिताः, अनुत्सृता अनुत्सुका वा कापोतलेश्यारहिताः, अचंडाश्च क्रोधरहिताः, दांता इंद्रियजयसमेताः, मार्दवयुक्ताः, स्वसमयपरसमयविदः, विनीताश्च पंचविधविनयसंयुक्ता इति ॥८३६॥

तथा—

उपलब्धपुण्यपापाः पुण्यप्रकृतीनां पापप्रकृतीनां स्वरूपस्य वेदितारस्तथा पुण्यफलस्य पापफलस्य च ज्ञातारः, जिनशासनगृहीता जिनशासने[2] स्थिता इत्यर्थः, मुणिदपज्जाला—ज्ञाताशेषद्रव्यस्वरूपा अथवा विज्ञात-

---

से पुरन्दर ये तीनों नाम अलग-अलग कहे जाते हैं ऐसा ग्रहण करनेवाला समभिरूढ़ नय है। उस क्रिया से परिणत काल में ही इत्थंभूत नय होता है जैसे क्रिया करते हुए को कारक कहना।

इन सात नयों में प्रारम्भ के चार नय—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये अर्थनय हैं और शेष—शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत शब्दनय हैं। तथा पूर्व के तीन द्रव्यनय हैं, शेष चार पर्यायनय हैं। इन हेतु और नयों में जो विशारद—निपुण हैं वे मुनि हेतुनयविशारद कहलाते हैं।

ज्ञान मद का निकारण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—मानरूपी स्तम्भ से रहित, उत्सुकता रहित, गर्व रहित, क्रोध रहित, इन्द्रिय-जित्, मार्दव सहित, आगम के ज्ञानी, विनयगुण सहित, पुण्य-पाप के ज्ञाता, जिनशासन को स्वीकार करनेवाले, द्रव्य के स्वरूप को जाननेवाले, हाथ-पैर तथा शरीर को नियन्त्रित रखने वाले, ध्यान से उपयुक्त ऐसे मुनि होते हैं ॥८३६, ८३७॥

आचारवृत्ति—जो ज्ञान के गर्व से रहित हैं, तथा जाति आदि के मद से रहित हैं (यहाँ मान रहित से ज्ञानगर्व रहित और अगर्वित से जाति गर्व से रहित ऐसा लिया गया है), जो उत्सुकता—उतावलीपन से रहित हैं अथवा कापोतलेश्या से रहित हैं, क्रोध रहित हैं, इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं, मार्दव गुण से युक्त हैं, स्वसमय—स्वसिद्धान्त और परसमय—पर सिद्धान्त के ज्ञाता हैं, अथवा स्वसमय—आत्मस्वरूप और परसमय—कर्म या पुद्गल के स्वरूप के ज्ञाता हैं, पाँच प्रकार की विनय से संयुक्त हैं, पुण्य प्रकृतियों के और पापप्रकृतियों के स्वरूप को जाननेवाले हैं अथवा पुण्यफल और पापफल के जानकार हैं, जिनशासन में स्थित हैं, जो

---

१. क० मानगर्वेण। २. क० जिनशासन

रागस्वरूपाः, करणं त्रयोदशविधं चरणं चारित्रं त्रयोदशविधं ताभ्यां संवृतमंगं येषां ते करचरणसंवृतांगो अत्र प्राकृते णकारस्याभावः कृतः। अथवा करौ हस्तौ चरणौ पादौ तैः संवृतमंगं तेऽवयवप्रावरणा यत्र तत्र निक्षेपण-मुक्ताश्च, ध्यानोद्यता भवंतीति ॥८३७॥

[1]उज्झनशुद्धि निरूपयन्नाह—

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
ण [2]करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ॥८३८॥

उज्झनशुद्धिर्नाम शरीरसंस्कारपरित्यागो बंध्वादिपरिहारो वा सर्वसंगविनिर्मुक्तिर्वा रागाभावो वा तत्र बंधुविषये च रागाभावं तावदाचष्टे इति ते मुनयः छिन्नस्नेहबंधाः पुत्रकलत्रादिविषये स्नेहहीनाः,न केवलमन्यत्र किंत्वात्मीयशरीरेऽपि निःस्नेहा यतः स्वशरीरे किंचिदपि संस्कारं स्नानादिकं न कुर्वंति साधव इति ॥८३८॥

संस्कारस्वरूपभेदनिरूपणायाह—

मुहणयणदंतधोवणमुव्वट्टण पादधोयणं चेव।
संवाहण परिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं ॥८३९॥

सर्व द्रव्यों के स्वरूप को जानने वाले हैं अथवा राग के स्वरूप को जिन्होंने जान लिया है, करण—तेरह प्रकार की क्रिया और चरण—तेरह प्रकार का चारित्र इनसे जिन्होंने अपने अंग को संवृत—संयुक्त कर लिया है; यहाँ पर प्राकृत में 'णकार' का लोप हो गया है अर्थात् गाथा में 'करचरणसंवुडंगा' पाठ है जिसको 'करणचरणसंवुडंगा' मानने से 'करण' के णकार का लोप हो गया है ऐसा समझकर उपर्युक्त अर्थ किया गया है। अथवा कर-हस्त, चरण-पाद, इन हस्त-पादों से जिन्होंने अपने अंग—शरीर को संवृत-संकुचित कर लिया है अर्थात् अपने हाथ-पैर आदि अवयवों को जहाँ-तहाँ क्षेपण नही करते है, उन्हें नियन्त्रित रखते हैं तथा जो हमेशा ध्यान में उद्युक्त रहते हैं ऐसे महामुनि होते हैं। यहाँ तक ज्ञानशुद्धि को कहा है।

उज्झन शुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—स्नेहबन्ध का भेदन करनेवाले, अपने शरीर में भी ममता रहित वे साधु शरीर का किंचित् संस्कार नहीं करते हैं। ॥८३८॥

आचारवृत्ति—शरीर-संस्कार का त्याग या बन्धु आदि का त्याग, या सर्व संग का त्याग अथवा राग का अभाव इसका नाम उज्झनशुद्धि है। यहाँ पर बन्धुबांधव के विषय में राग का अभाव और शरीर के विषय में राग का अभाव इन दो को कहते हैं—वे मुनि पुत्र, कलत्र आदि सम्बन्धियों में स्नेह रहित रहते हैं, केवल इतना ही नहीं अपितु वे अपने शरीर में भी स्नेह रहित होते हैं। इसीलिए वे अपने शरीर का कुछ भी संस्कार—स्नान आदि नहीं करते हैं।

संस्कार के स्वरूप और भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—मुख, नेत्र और दाँतों का धोना, उबटन लगाना, पैर धोना, अंग दबवाना, मालिश कराना—ये सभी शरीरसंस्कार हैं।

---

१. क० ज्ञानशुद्धि निरूप्य   २. क० कीरंति

तथा—

धूवण वमण विरेयण अंजण अब्भंग लेवणं चेव ।
णत्थुय वत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं ॥८४०॥

मुखस्य नयनयोर्दंतानां च धावनं शोधनं प्रक्षालनं, उद्वर्तनं सुगंधद्रव्यादिभिः शरीरोद्वर्तनं, पादप्रक्षालनं कुंकुमादिरागेण पादयोर्निर्मलीकरणं, संवाहनमंगमर्दनं पुरुषेण शरीरोपरिस्थितेन मर्दनं परिमर्दनं करमुष्टिभिस्ताडनं काष्ठमययंत्रेण वा पीडनमित्येवं सर्वं शरीरसंस्थापनं शरीरसंस्कारं साधवो न कुर्वंतीति संबंधः ॥८३९॥

धूपनं शरीरावयवानामुपकरणानां च धूपेन संस्करणं, वमनं कंठशोधनाय स्वरनिमित्तं वा भुक्तस्य छर्दनं, विरेचनमौषधादिनाधोद्वारेण मलनिर्हरणं, अंजनं नयनयोः कज्जलप्रक्षेपणं, अभ्यंगनं सुगंधतैलेन शरीरसंस्करणं, लेपनं चंदनकस्तूरिकादिना शरीरस्य म्रक्षणं, नासिकाकर्म, वस्तिकर्म शलाकावर्तिकादिक्रिया, शिरावेधः शिराभ्यो रक्तापनयनं, इत्येवमाद्यात्मनः सर्वं शरीरसंस्कारं न कुर्वंतीति ॥८४०॥

यद्येवं व्याध्युत्पत्तौ किं कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव ।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंति ॥८४१॥

उत्पन्नेऽपि व्याधौ ज्वररोगादावुपस्थितेऽपि तथा शिरोवेदनायां कुक्षिवेदनायां चोपस्थितायामन्य-

---

धूप देना, वमन करना, विरेचन करना, अंजना लगाना, तैल लगाना, लेप करना, नस्य लेना, वस्ति कर्म करना, शिरावेध करना ये सब अपने शरीर के संस्कार हैं। ॥८३९-८४०॥

आचारवृत्ति—मुख धोना, नेत्रों का शोधन करना, दाँतों को स्वच्छ करना, सुगन्धित द्रव्य आदि चूर्णों से शरीर में उबटन करना, पैर धोना, कुंकुम केशर आदि से पैरों को निर्मल करना अथवा मेंहदी आदि से रंगना, पुरुषों से शरीर दबवाना, अन्य जनों द्वारा हाथ की मुट्ठी से या काठमययन्त्र से शरीर को मर्दित कराना अर्थात् पगचप्पी आदि प्रकारों से शरीर की सेवा करवाना, ये सभी शरीर के संस्कार साधु नहीं करते हैं। तथा शरीर के अवयवों को और उपकरणों को धूप से संस्कारित करना, कण्ठ की शुद्धि के लिए या सुन्दर स्वर के लिए वमन करना, औषधि आदि प्रयोग से विरेचन करना अर्थात् जुलाब लेना, नेत्रों में कज्जल या सुरमा डालना, सुगन्धित तेल से शरीर को सुन्दर बनाना, चन्दन कस्तूरी आदि वस्तुओं का शरीर पर लेप करना, नस्य लेना—सूँघनी सूँघना, शलाका तथा वस्ति के द्वारा मल निकालना वस्तिकर्म है। शिराओं में से रक्त निकालना इत्यादि रूप से अपने शरीर के सभी प्रकार के संस्कारों को साधु नहीं करते हैं।

यदि ऐसी बात है तो व्याधि के उत्पन्न होने पर वे क्या करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—रोग के होने पर, सिर की या उदर की वेदना के होने पर, वे धैर्यशाली मुनि सहन करते हैं किन्तु शरीर की चिकित्सा नहीं चाहते हैं। ॥८४१॥

आचारवृत्ति—शरीर में ज्वर आदि रोगों के हो जाने पर अथवा सिर में पीड़ा अथवा

स्मिन् शरीरावयवे समुत्पन्ने वेदनायामप्रतीकाररूपायां सम्यक्संते सहंते उपेक्षां कुर्वन्ति सुधृतयो दृढचारित्रपरिणामाः कायचिकित्सां नेच्छन्ति शरीरोत्पन्नव्याधिप्रतीकारं न समीहन्ते ज्ञानदर्शनभावनयोपेता इति ॥८४१॥

नाप्यार्तध्यानं कुर्वन्तीत्यावेदयन्नाह—

ण य दुम्मणा ण विहला अणाउला होंति चेय सप्पुरिसा ।
णिप्पडियम्मसरीरा देंति उरं वाहिरोगाणं ॥८४२॥

नाऽपि दुर्मनसो विमनस्का नैव भवंति, न विकला नापि हिताहितविवेकशून्याः, अनाकुलाः किंकर्तव्यतामोहरहिताः, सत्पुरुषाः प्रेक्षापूर्वकारिणः, निष्प्रतीकारशरीराः शरीरविषये प्रतीकाररहिताः, ददते प्रयच्छंति उरो हृदयं, व्याधिरोगेभ्यः सर्वव्याधिरोगान् समुपस्थितान् धैर्योपेताः संतः सहन्ते ॥८४२॥

किं सर्वौषधं विरेचनादिकं च नेच्छंति नैतत् कथमिदं इच्छंति यत आह—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरामरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥८४३॥

जिनवचनमेवौषधमिदं, विषयसुखविरेचनमिन्द्रियद्वारागतस्य सुखस्य निर्हरणं, अमृतभूतं सर्वांगसंतर्पणकारण, जरामरणव्याधिवेदनानां क्षयकरणसमर्थं, सर्वदुःखानां च क्षयकरणं, सर्वाणि ज्वरादीनि कार-

---

उदर में पीड़ा के हो जाने पर, अथवा अन्य भी शरीर के किसी भी अवयव में वेदना हो जाने पर उसका प्रतीकार नहीं करते किन्तु उसे सहन करते हैं अर्थात् उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वे दृढ़ चारित्रधारी साधु ज्ञान, दर्शन की भावना से सहित रहते हैं अतः शरीर में उत्पन्न हुई व्याधि का प्रतीकार नहीं चाहते है।

वे मुनि उससे आर्तध्यान भी नहीं करते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे सज्जन साधु विमनस्क नहीं होते है और विकल नहीं होते हैं तथा आकुलता रहित होते हैं। शरीर की प्रतिकार क्रिया नहीं करते हैं किन्तु व्याधि और रोगों से टक्कर लेते हैं। ॥८४२॥

आचारवृत्ति—वे साधु दुर्मनस्क नहीं होते हैं तथा हित-अहित के विवेक से शून्य भी नहीं होते हैं। वे अनाकुल रहते है अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होते हैं, 'अब मैं इस रोग का क्या इलाज करूँ? कैसे करूँ? कहाँ जाऊँ?' इत्यादि प्रकार से घबराते नहीं है। वे साधु विवेकशील रहते हुए शरीर के रोग के प्रतीकार से रहित होते है। प्रत्युत सभी प्रकार की व्याधियों के हो जाने पर भी धैर्यपूर्वक सहन करते हैं।

क्या वे सर्व औषधि विरेचन आदि नहीं चाहते हैं अथवा कुछ चाहते भी हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—यह जिनवचन औषधि ही है जो कि विषयसुखों का विरेचन करती है, अमृतस्वरूप है, जरा, मरण और रोगों का तथा सर्व दुःखों का क्षय करती है। ॥८४३॥

आचारवृत्ति—यह जिन वचन ही एक औषधि है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुखों का त्याग करानेवाली है, सर्वांग में सन्तर्पण का कारण होने से अमृतरूप है, ज्वर आदि सर्व रोगों को

णानि दुःखादीनि च कार्याणि सर्वस्य कृत्स्नस्य कार्यकारणरूपस्य कर्मणो विनाशे समर्थमिति ॥८४३॥

पुनरपि क्रियां कुर्वन्तीत्याह—

जिणवयणणिच्छिदमदीअ-विरमणं अब्भुवेंतिसप्पुरिसा।
ण य इच्छंति अकिरियं जिणवयणवदिक्कमं कादुं ॥८४४॥

जिनवचने निश्चितमतयः सम्यक्त्वार्थरुचयः, विरमणं चारित्रं "अपि मरणमिति" पाठान्तरं, अभितिष्ठति सम्यगभ्युपगच्छंति सत्पुरुषाः सत्वसंपन्नाः, न चैवेच्छंति नैव समीहंते जिनवचनव्यतिक्रमं कृत्वाऽक्रियां शरीरव्याध्यादिप्रतीकाराय जिनागमं व्यतिक्रम्याप्रासुकसेवनं मनागपि प्राणत्यागेऽपि नेच्छंतीति ॥८४४॥

अन्यच्चेत्थंभूते शरीरे कथमस्माभिः प्रतीकारः क्रियत इत्याशंकायामाह—

रोगाणं आयदणं वाधि[1]सदसमुच्छिदं सरीरघरं।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥८४५॥

इदं शरीर रोगाणामायतनं निलयः, व्याधिशतैः सम्मूर्छितं निर्मितं, वातपित्तश्लेष्मादयो रोगास्तज्जनिता ज्वरादयो व्याधयोऽतो न पौनरुक्त्यं शरीरगृहं यत एवं भूतमिदं शरीरमतो धीरा मुनयः क्षणमपि राग स्नेहानुबंधं न कुर्वंति शरीरविषय इति ॥८४५॥

तथा उनसे उत्पन्न हुए दुःखों को नष्ट करनेवाली है। अर्थात् रोगादि कारण हैं और दुःख आदि कार्य हैं, ऐसे कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करने में समर्थ है ऐसा अभिप्राय है।

पुनरपि क्या क्रिया करते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिन-वचन में निश्चित बुद्धि रखनेवाले वे साधु विरतिभाव को धारण करते हैं किन्तु जिन-वचनों का उल्लंघन करके वे विरुद्ध क्रिया करना नहीं चाहते हैं। ॥८४४॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व के विषयभूत पदार्थों में रुचि रखनेवाले वे धैर्यशाली साधु चारित्र का दृढ़ता से पालन करते हैं अथवा 'अपि मरणं' ऐसा पाठांतर है जिसका अर्थ यह है कि वे मरण भी स्वीकार कर लेते हैं किन्तु शास्त्र के प्रतिकूल आचरण नहीं करते हैं। अर्थात् शरीर में उत्पन्न हुई व्याधि को दूर करने के लिए जिनागम का उल्लंघन करके किंचित् मात्र भी अप्रासुक वस्तु का सेवन नहीं करते हैं, भले ही प्राण चले जावें किन्तु आगम विरुद्ध क्रिया नहीं करते हैं।

इस प्रकार के शरीर के होने पर हमारे द्वारा प्रतीकार कैसे हो? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—सैकड़ों व्याधियों से व्याप्त शरीररूपी घर रोगों का स्थान है। वे धीर मुनि इस शरीर में क्षण मात्र के लिए राग नहीं करते हैं। ॥८४५॥

आचारवृत्ति—यह शरीर रोगों का स्थान है, सैकड़ों व्याधियों से निर्मित है। वात, पित्त, कफ आदि रोग हैं उनसे उत्पन्न हुए ज्वर व्याधि कहलाते हैं। इसलिए रोग और व्याधि इन दो शब्दों के कहने से पुनरुक्त दोष नहीं आता है। जिस कारण यह ऐसा शरीररूपी घर है इसीलिए धीर मुनि इस शरीर से स्नेह नहीं रखते हैं।

---

१. वाहि

पुनरपि शरीरस्याशुचित्वं प्रतिपादयन्नाह—

एवं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं।
अंतोछाइद ढिड्ढिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥८४६॥

शरीरमिदमशुचि यतो नित्यं कलिकलुषभाजनं रागद्वेषपात्रं, अचोक्षमशुभं शुभलेश्ययापि परिहीनं, छादितं चर्मणा संवृतमन्तरभ्यन्तरं यस्य तदन्तश्छादितं, अन्तःशब्दस्य पूर्वनिपातो ज्ञापकात्, अथवांत्रैर्मांसरज्जुभिश्छादितं परिवेष्टितं, ढिड्ढसं कर्पाससमानं रुधिराहितमभ्यन्तरस्थं मांसवसाविशेषरूपं, खिब्भिसं किल्विषं शुक्रशोणिताशुचिकालेज्जकादिकं तैर्भृतं पूर्णं, अमेध्यगृहं मूत्रपुरीषाद्यवस्थानमिति ॥८४६॥

किल्विषस्वरूपमाह—

वसमज्जमंससोणियपुप्फसकालेज्जसिंभसीहाणं।
सिरजालअट्ठिसंकड चम्मेण णद्धं सरीरघरं ॥८४७॥

बीभच्छं विच्छुइयं थूहायसुसाणवच्चमुत्ताणं।
अंसूपपूयलसियं पगलियलालाउलमचोक्खं ॥८४८॥

वसा मांसगतस्निग्धत्वं तैलरूपं, मज्जाऽस्थिगतसारः, मांसं रुधिरकार्यं, शोणितं रुधिरं रसकार्यं फुप्फुसं फेनरूपं निःसारं, कालेज्जकमतीवकृष्णमांसखंडरूपं, श्लेष्मसिंहानकं, शिराजालमस्थीन्येतैः संकीर्णं संपूर्णं, चर्मणा नद्धं त्वक्प्रच्छादितं शरीरगृहमशुचीति संबंधः ॥८४७॥ तथा—

पुनरपि शरीर की अशुचिता को बतलाते हैं—

गाथार्थ—यह शरीर अपवित्र है, नित्य ही कलि कलुष का पात्र है, अशुभ है, इसका अन्तर्भाग ढका हुआ है, कपास के ढेर के समान है, घृणित पदार्थों से भरा हुआ है और विष्ठा का घर है। ॥८४६॥

आचारवृत्ति—यह शरीर सदा ही अपवित्र है, राग-द्वेष का भाजन है, शुभ लेश्या—वर्ण से हीन होने से अशुभ है, इसका भीतरी भाग चर्म से ढका हुआ है। यहाँ पर 'अन्तः' शब्द का पूर्ण निपात हो गया है अथवा यह आंतों से, मांस के रज्जु से वेष्ठित है, ढिड्ढस अर्थात् कपास के समान है, अभ्यन्तर में जिसके रुधिर चल रहा है ऐसे मांस और वसा का विशेषरूप है, रज-वीर्य कलेजा आदि घृणित पदार्थों से भरा हुआ है तथा मल-मूत्र आदि का स्थान है।

किल्विष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—वसा, मज्जा, मांस, खून, फुप्फुस, कलेजा, कफ, नाकमल, शिराजाल और हड्डी इनसे व्याप्त यह शरीररूपी गृह चर्म से ढका हुआ है। घृणित, थूक, नाकमल, विष्ठा, मूत्र इनसे पवित्रता रहित तथा अश्रु, पीव, चक्षुमल से युक्त, टपकती हुई लार से व्याप्त यह शरीर अशुभ है ॥ ८४७-८४८॥

आचारवृत्ति—वसा—मांस की चिकनाई जो कि तेल के समान होती है, मज्जा—हड्डियों में होनेवाला सार, मांस-रुधिर का कार्य, शोणित—खून जो कि रस का कार्य है, फुफुस—फेनरूप निःसारपदार्थ, कलेजा—अतीव काले मांस का खण्डरूप, श्लेष्म—कफ, सिंहाणक—नाक का मल, शिराओं का समूह और हड्डियां, यह शरीर इन सबसे भरा हुआ है, और चर्म से आच्छादित

बीभत्सं द्रष्टुमशक्यं कुथितव्रणवत्, विच्छुरियं—अनित्यं शाश्वतरूपं न भवति अथवा विशौचं सर्वाशुचिद्रव्यैर्घटितत्वात्, थूहाय—कंठागतश्लेष्मा[1] अथवा नगरमध्यस्थकचवरोत्कूटसदृशं, सुसाण—नासिकामूत्रं अथवा श्मशानसदृशं, वर्चोऽशुचि, मूत्रं प्रस्रवणमेतैर्बीभत्सं, न केवलं बीभत्समनित्यं चेति। अंसुय—अश्रुणि नयनप्रच्युतोदकं, पूय—पूयं पक्वव्रणक्लेदरूपं, लसियं—नयनगूथं, प्रगलितलालाकुलं मुखोद्भवकुथितप्रतिलालाकुलमेतैः सर्वैराकुलं बीभत्समचोक्षमदर्शनीयं सर्वाशुचिसमूहवत् श्मशानवद्वेति ॥८४८॥

पुनरपि शरीरस्याशुचित्वमाह—

कायमलमत्थुलिंगं दंतमल चिक्खिकण्णं गलिदसेदं।
किमिजंतुदोसभरिदं संदणियाकद्दमसरिच्छं ॥८४९॥

कायमलं मूत्रपुरीषादिकं, मत्थुलिंगं मस्तकस्थं शुक्लद्रव्यरूपं क्लेदान्तरं, दन्तमलं दन्तस्थं दुर्गन्धमलं, चिक्खिकण्णं चिक्खिक्कं चक्षुषो मलं, गलितस्वेदं प्रस्रवत्स्वेदं, कृमिजंतुभिर्दोषैश्च भृतं संपूर्णं, स्यंदणियाकद्दमसरिच्छं—स्यन्दनीकर्दमसदृशं रजकवस्त्रप्रक्षालननिमित्तगर्तकुथितकर्दमसमानं, अथवा कायमलमस्तुलिंगदन्तमलैश्चिक्खिकमदर्शनीयं कृमिजंतुदोषपूर्णं[2] स्यंदनीकर्दमसदृशं शरीरमिति संबंधः ॥८४९॥

पुनरपि वृत्तद्वयेन शरीराशुचित्वमाह—

है अतः अत्यन्त अपवित्र है। तथा बीभत्स—सड़े हुए घाव के समान इसका देखना बड़ा कठिन है, 'विच्छुरित'—अनित्य है अथवा 'विशौच' सभी अपवित्र वस्तुओं से ही निर्मित है, थूत्कार—कण्ठगत कफ अर्थात् थूक अथवा नगर के मध्य में पड़े हुए कचरे के ढेर के समान है, सुसाण—नाक का मल, अथवा यह शरीर श्मशान के सदृश है, मल-मूत्र से सहित है। अश्रु—नेत्रों से गिरता हुआ जल, पीव—पके हुए फोड़े का गाढ़ा खून, लसिय—आँख का कीचड़, लाला—मुख से उत्पन्न हुई लार, इन सभी पदार्थों से भरा हुआ होने से यह शरीर अत्यन्त घृणित है। इतना ही नहीं, यह अनित्य भी है तथा देखने योग्य भी नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण अशुचि पदार्थों के समूह के समान है अथवा श्मशान भूमि के समान है।

पुनरपि शरीर की अपवित्रता को बताते हैं—

गाथार्थ—काय का मल, सिर का मल, दाँत का मल, चक्षु का मल, झरता हुआ पसीना—इनसे युक्त, कृमि जन्तुओं से भरित, गड्ढे की कीचड़ के समान यह शरीर है ॥८४९॥

आचारवृत्ति—कायमल—विष्ठामूत्र आदि, मस्तुलिंग—सिर में स्थित सफेद द्रव्यरूप शुष्क पदार्थ (भेजा), दन्तमल—दांतों का दुर्गंधित मैल, चिक्खिक—आँख का मैल, गलितस्वेद—शरीर से निकलनेवाला पसीना, ऐसे अपवित्र पदार्थ इस शरीर में हैं। यह कृमियों से और छोटे-छोटे जन्तुओं से भरा हुआ है। धोबी वस्त्र को धोता है उसका जल जिस गड्ढे में संचित होकर सड़ता रहता है उस गड्ढे की सड़ी हुई कीचड़ के सदृश यह शरीर है।

पुनरपि दो छन्दों से शरीर की अशुचिता का वर्णन करते हैं—

---

१. क० कण्ठागत श्लेष्मा
२. क० कृमिजन्तुपूर्णं

अट्ठिं च चम्मं च तहेव मंसं, पित्तं च सिभं तह सोणिदं च ।
अमेज्झसंघायमिणं सरीरं, पस्संति णिव्वेदगुणाणुपेहि ॥८५०॥

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं, कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं ।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं, सरीरघरं तं सददमचोक्खं ॥८५१॥

अस्थीनि च चर्माणि च तथैव तेनैव प्रकारेण मांसं पित्तं श्लेष्मा तथा शोणितमित्येवंप्रकारैरमेध्य-संघातभूतमिव शरीरं पश्यन्ति निर्वेदगुणानुप्रेक्षिणः, ये मुनयो देहसंसारभोगनिर्वेदमापन्ना शरीरमेवंभूतं[1] पश्यन्तीति ॥८५०॥ तथा—

पूर्वग्रन्थेनोपकरणं प्रतिपादितं यत्तच्छरीरं नियोजयन्नाह अस्थिभिर्निच्छादितं संवृतं, नालिकाभिः शिराभिर्निबद्धं संघटितं, कलिमलभृतं सर्वाशुचिद्रव्यपूर्णं, कृमिकुलनिचितं, मांसविलिप्तं मांसेनोपचितं, त्वक्प्रच्छादितं दर्शनीयपथं नीतं, शरीरगृहं तत्सततं सर्वकालमचौक्ष्यमशुचि, नात्र पौनरुक्त्यदोष आशंकनीयः पर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहणादथवाऽमेध्यगृहं पूर्वं सामान्येन प्रतिपादितं तस्य वार्त्तिकरूपेणेदं तदाऽशुचित्वं सामान्येनोक्तं तस्य च प्रपंचनार्थं वैराग्यातिशयप्रदर्शनार्थं च यत इति ॥८५१॥

ईदृग्भूते शरीरे मुनयः किं कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

गाथार्थ—वैराग्यगुण का चिन्तवन करनेवाले मुनि इस शरीर को हड्डी, चर्म, मांस, पित्त, कफ, रुधिर तथा विष्ठा इनके समूहरूप ही देखते हैं। हड्डियों से मढ़ा हुआ, नसों से बँधा हुआ, कलिमलपदार्थों से भरा हुआ, कृमिसमूह से पूरित, मांस से पुष्ट, चर्म से प्रच्छादित यह शरीर हमेशा ही अपवित्र है। ॥८५०-८५१॥

आचारवृत्ति—हड्डी, चर्म, मांस, पित्त, कफ तथा रुधिर इन अपवित्र वस्तुओं का समूह यह शरीर है। जो मुनि संसार शरीर, और भोगों से वैराग्य को प्राप्त हुए हैं वे इस शरीर को उपर्युक्त प्रकार से अपवित्र पदार्थों के समूह रूप ही देखते हैं। इस गाथा से शरीर के उपकरणों का वर्णन किया है। अब अगली गाथा मे उनको इस शरीर में घटित करते हुए दिखाते हैं—यह शरीर हड्डियों से मढ़ा हुआ है। शिराजालों से बँधा हुआ है, सर्व मलिन पदार्थों से भरा हुआ है, कृमि समूहों से व्याप्त है, मांस से लिप्त है। ऐसा होकर भी यह चर्म से प्रच्छादित है इसी लिए देखने योग्य हो रहा है किन्तु फिर भी यह शरीर सतत ही अशुचिरूप है।

यहाँ पर पुनरुक्त दोष की आशंका नहीं करना, क्योंकि पर्यायार्थिक नयग्राही शिष्यों के अनुग्रह हेतु विशेष स्पष्टीकरण है। अथवा पूर्वगाथा में, यह शरीर अपवित्र पदार्थों का घर है ऐसा सामान्य कथन किया गया है उसी का वार्तिकरूप से यह विस्तार है। अर्थात् यहाँ पर अपवित्रपने को सामान्य से कहा है, उसी का विस्तार करने के लिए एवं अतिशय वैराग्य को प्रदर्शित करने के लिए यहाँ गाथा में कथन किया गया है।

इस प्रकार के शरीर में मुनि क्या करते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

१. क० मेवं पश्यन्तीति

एवारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे।
सडणपडणे असारे रागं ण करिति सप्पुरिसा ॥८५२॥

एतादृशे शरीरे ईदृग्भूते देहे दुर्गन्धे कुणपपूतिके कश्मलेन कुथिते शुचित्वेन विवर्जिते शुचिविवर्जिते शतनपतनेऽसारे रागं स्नेहं न कुर्वते सत्पुरुषाः साधव इति ॥८५२॥

उज्झनशुद्धिमुपसंहरन्नाह—

जं वंतं गिहवासे विसयसुहं इंदियत्थपरिभोए।
तं खु ण कयाइभूदो भुंजंति पुणो वि सप्पुरिसा ॥८५३॥

यत्किचिद्वांतं त्यक्तं गृहवासे विषयसुखं गार्हस्थ्यं रूपरसगन्धस्पर्शद्वारोद्भूतं जीवसंतर्पणकारक-मिन्द्रियार्थैरिन्द्रियकारणेन जनितं परिभोगाश्च ये च स्त्र्यादिका वान्ताः परिभोगनिमित्तं वा तत्सुखं तानिन्द्रि-यार्थान् तांश्च परिभोगान् खलु स्फुटं कदाचिदपि भूवो—भूतं समुपस्थितं केनचित्कारणान्तरेण न भुंजते न परिभोगयन्ति सत्पुरुषाः साधवः, यद्वान्तं विषयसुखं तदेव केनचित्कारणान्तरेण समुपस्थितं यदि [1]भवेत्तथापि सत्पुरुषा न भुंजते न सेवन्त इति ॥८५३॥ तथा—

पुव्वरदिकेलिदाइं जा इड्ढी भोगभोयणविहिं च।
ण वि ते कहंति कस्स वि ण वि ते मणसा विचितंति ॥८५४॥

गाथार्थ—दुर्गन्धित, मुर्दा के समान घृणित, अपवित्र, पतन-गलन रूप, असार ऐसे शरीर में सत्पुरुष राग नहीं करते हैं ॥८५२॥

आचारवृत्ति—दुर्गन्धयुक्त, मुर्दे के समान व सड़ा हुआ, पवित्रता से रहित, गलन-पतन, रूप, असारभूत ऐसे इस शरीर में साधुजन स्नेह नहीं करते हैं।

उज्झनशुद्धि का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—गृहवास में जो इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के अनुभव से विषय-सुख थे उनको छोड़ दिया है वे यदि कदाचित् प्राप्त भी हुए तो भी साधु उनका सेवन नहीं करते हैं ॥८५३॥

आचारवृत्ति—गृहस्थावस्था में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श द्वारा उत्पन्न हुए, जीव को सन्तर्पित करनेवाले, इन्द्रियों के विषयभूत ऐसे विषयसुख जो कुछ भी भोगे थे अर्थात् स्त्री से माला आदि जो भी भोगोपभोग सामग्री गार्हस्थ्य जीवन में अनुभव की थी उसको वमन कर दिया। पुनः यदि वे इन्द्रिय-सुख और भोग-सामग्री उपलब्ध भी हो जावें तो भी किसी भी कारण विशेष से पुनः वे साधु उसका उपभोग नहीं करते हैं। जिन विषय-सुखों को उच्छिष्टवत् समझ कर छोड़ दिया है पुनः वे उसका सेवन कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् वे विषय-सुखों से सर्वथा विरक्त ही रहते हैं।

उसी को और स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में स्नेह पूर्वक भोगे गये जो वैभव, भोग और भोजन आदि हैं उनको वे मुनि न किसी के समक्ष कहते हैं और न वे मन से उनका चिन्तवन ही करते हैं ॥८५४॥

---

१. भवेत्पुनरपि न

पूर्वरत्या क्रीडितानि पूर्वकाले यान्युपभोगितानि स्त्रीवस्त्राभरणराज्यहस्त्यश्वरथादिकानि यानि[1] ऋद्धिर्विभूतिर्द्रव्यसुवर्णरूप्यादिसंपत्तिः सौभाग्यादिकं च भोगाः पुष्पचन्दनकुंकुमादिकानि भोजनविधिश्च घृतपूराशोकवर्तिशाल्योदनानि चतुर्विधाहारप्रकारस्तदेतत्सर्वं न ते मुनयः कस्यचिदपि कथयंति नापि मनसा विचिन्तयन्ति, तत्सर्वमुपभुक्तं न वचनेनान्यस्य प्रतिपादयन्ति नाऽपि चित्ते कुर्वन्तीति ।।८२४।।

उज्झनशुद्धिं व्याख्याय वाक्यशुद्धिं निरूपयन्नाह—

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं ।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ।।८५५।।

भाषां वचनप्रवृत्तिमार्यां कर्णाटिकां गौडीं लाटीं विनयविहीनां खरपरुषादिसमन्वितां वर्जयन्ति, वचनं धर्मविरोधि रम्यमपि वचनं धर्मप्रतिकूलं वर्जयन्ति, अन्यदपि यद्विरुद्धं पृष्टाः संतोऽपृष्टाश्च परेण नियुक्ता अनियुक्ताश्च न ते सत्पुरुषा भाषंते न ब्रुवत इति ।।८५५।।

कथं तर्हि तिष्ठन्तीत्याशंकायामाह—

अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइं सुणमाणा ।
अत्थंति मूयभूया ण ते करेंति हु लोइयकहाओ ।।८५६।।

आचारवृत्ति—पूर्व काल में बड़े प्रेम से जिन स्त्री, वस्त्र, आभरण, राज्य, हाथी, घोड़े रथ आदि का उपभोग किया है, जो ऋद्धि—द्रव्य, सोना, चाँदी, सम्पत्ति आदि विभूति, सौभाग्य आदि तथा पुष्प, चन्दन, कुंकुम आदि भोगसामग्री; पुआ, अशोकवर्तिका, शालि का भात आदि चतु-र्विध आहार एवं ऐसे ही और भी जो नाना प्रकार के भोगोपभोग पदार्थ हैं—इन सबका जो गृहस्थाश्रम में अनुभव किया है इसे वे न तो वचनों द्वारा किसी से कहते हैं और न ही मन में उनका विचार ही लाते हैं ।

अब उज्झनशुद्धि का व्याख्यान करके वाक्यशुद्धि का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—विनय से शून्य, भाषा और धर्म के विरोधी वचन को वे छोड़ देते हैं। वे साधु पूछने पर अथवा नहीं पूछने पर भी वैसा नहीं बोलते हैं। ।।८५५।।

आचारवृत्ति—वचन की प्रवृत्ति का नाम भाषा है। उसके आर्य, कर्णाटक, गौड़, लाट आदि देशों की अपेक्षा नाना भेद होते हैं। वे मुनि ऐसी आर्य, कानड़ी, गौड़ी, लाटी आदि भाषा विनयरहित एवं खरपरुष—कठोर आदि वचनो से सहित नहीं बोलते हैं। तथा मनोहर भी वचन यदि धर्म के प्रतिकूल हैं तो वे मुनि नहीं बोलते हैं। ऐसे ही अन्य भी जो धर्मविरुद्ध वचन, भले ही किसी ने उनसे पूछा हो या नहीं पूछा हो, वे नहीं बोलते हैं। अर्थात् किसी भी देश की भाषा में वे कठोर आदि अथवा आगमविरुद्ध वचन नहीं बोलते हैं।

तब वे कैसे रहते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि नेत्रों से देखते हुए और कानों से बहुत प्रकार को सुनते हुए भी मूक के समान रहते हैं, किन्तु लौकिक कथाएं नहीं करते हैं। ८५६।।

---

१. क० या च

अक्षिभिर्नयनैः पश्यन्तो निरूपयन्तः सद्रूपमसद्रूपं वा योग्यमयोग्यं च वस्तुजातं निरूपयन्तोऽपि दृष्टिरहिता इव तिष्ठंति, कर्णैः श्रोत्रेन्द्रियैर्बहुविधानि श्रव्याणि युक्तान्ययुक्तानि च शृण्वन्तो नानाप्रकारशब्दान् कर्णशष्कुल्या गृह्णन्तोऽपि तिष्ठंति मूकभूता इव जिह्वानयनकर्णरहिता[1] इव, न ते मुनयो व्यक्तं कुर्वन्ति लौकिकीः कथा लोकव्यापारानिति ॥८५६॥

कास्ता लौकिक्यः कथा इत्याशंकायामाह—

इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च ।
रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ ॥८५७॥

स्त्रीणां कथाः सुरूपास्ताः सौभाग्ययुक्ता मनोरमा उपचारप्रवणा कोमलालापा इत्येवमादिकथनं वनिताकथाः । अर्थस्य कथा अर्थार्जनोपायकथनप्रबंधाः सेवया वाणिज्येन लेखवृत्त्या कृषिकर्मणा समुद्रप्रवेशेन धातुवादेन मंत्रतंत्रप्रयोगेण वा इत्येवमाद्यर्थार्जननिमित्तवचनान्यर्थकथाः । भक्तस्य कथा रसनेन्द्रियलुब्धस्य चतुर्विधाहारप्रतिबद्धवचनानि तत्र शोभनं भक्ष्यं खाद्यं लेह्यं पेयं सुरसं मिष्टमतीवरसोत्कटं जानाति सा संस्कर्तुं बहूनि व्यंजनानि तस्या हस्तगतमशोभनमपि शोभनं भवेत्तस्य च गृहे सर्वमनिष्टं दुर्गन्धं सर्वं स्वादुरहितं विरसमित्येवमादिकथनं भक्तकथाः । खेटं नद्यद्रिवेष्टितं [2]नदीपर्वतैरवरुद्धः प्रदेशः, कर्वटं सर्वत्र पर्वतेन वेष्टितो देशः

आचारवृत्ति—वे मुनि नेत्रों से सत्‌रूप अथवा असत्‌रूप को, योग्य अथवा अयोग्य वस्तुओं को देखते हुए भी नेत्ररहित के समान रहते हैं। कानों से सुनने योग्य युक्त अथवा अयुक्त ऐसे नाना प्रकार के शब्दों को सुनते हुए भी, कर्ण-शष्कुली से उन्हें गृहण करते हुए भी, वे न सुनते हुए के समान ही रहते हैं। वे मूक पुरुष के सदृश—जिह्वा, नेत्र और कान से रहित हुए के समान ही तिष्ठते है। वे मुनिजन कुछ भी देखे-सुने हुए उचित-अनुचित को न व्यक्त ही करते हैं और न वे लौकिक कथाएँ ही करते हैं।

वे लौकिक कथा कौन-सी हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, खेटकर्वटकथा, चोरकथा, जनपदकथा, नगरकथा और आकरकथा ये लौकिक कथाएँ हैं ॥८५७॥

आचारवृत्ति—वे स्त्रियाँ सुन्दर रूपवाली हैं, सौभाग्य सहित हैं, मनोरमा हैं उपचार में कुशल हैं, कोमल वचन बोलनेवाली हैं इत्यादि रूप से स्त्रियों की कथा करना स्त्रीकथा है। धन उपार्जन के उपाय से सम्बन्धित कथा अर्थकथा है। सेवा, व्यापार, लेखनवृत्ति, खेती, समुद्रप्रवेश, धातुवाद—रसायनप्रयोग, मन्त्र-तन्त्रप्रयोग इत्यादि प्रकारों से धन के उपार्जन हेतु वचन बोलना अर्थकथा है। रसना इन्द्रिय से लुब्ध होकर चार प्रकार के आहार से सम्बन्धित वचन बोलना, जैसे वहाँ पर अच्छे-अच्छे खानेयोग्य—भक्ष्य, खाद्य, लेह्य, पेय, सुरस, मीठे, अतीव रसदार पदार्थ हैं, वह महिला बहुत प्रकार के व्यंजन पकवान बनाना जानती है, उसके हाथ में पहुँची वस्तु खराब भी अच्छी बन जाती है, किन्तु अमुक के घर में सर्व ही भोजन अनिष्ट, अप्रिय, दुर्गंधित है, सभी पदार्थ स्वाद रहित विरस हैं इत्यादि प्रकार से भोजन सम्बन्धी वचन बोलना भक्त-कथा है। नदी और पर्वत से वेष्टित प्रदेश खेट है तथा सर्वत्र पर्वत से वेष्टित देश को कर्वट कहते

---

१. क० जिह्वाकर्णनयनरहिता । २. क० नद्या पर्वतेनावरुद्धः ।

कथात्र सम्बध्यते कर्वटकथाः खेटकथास्तथा संवाहनद्रोणमुखादिकथाश्च, तानि शोभनानि निविष्टानि सुदुर्गाणि वीरपुरुषाधिष्ठितानि सुयंत्रितानि परचक्राभेद्यानि बहुधनधान्यार्थनिचितानि सर्वथायोध्यानि न तत्र प्रवेष्टुं कश्चिदपि शक्नोतीत्येवमादिवाक्प्रलापाः खेटादिकथाः। राज्ञां कथाः नानाप्रजापतिप्रतिबद्धवचनानि स राजा प्रचंडः शूरश्चाणक्यनिपुणश्चारकुशलो योगक्षेमोद्यतमतिश्चतुरंगबलो विजिताशेषवैरिनिवहो न तस्य पुरतः केनापि स्थीयते इत्येवमादिकं वचनं राजकथाः। चौराणां कथाः—स चौरो निपुणः खातकुशलः स च वर्त्मनि ग्रहणसमर्थः पश्यतां गृहीत्वा गच्छति तेन सर्वं आक्रांता इत्येवमादिकथनं चौरकथाः। जनपदो देशः, नगरं प्राकाराद्युपलक्षितं, आकरो वज्रपद्मरागसुवर्णकुंकुममुक्ताफललवणचन्दनादीनामुत्पत्तिस्थानं तेषां कथास्तत्प्रतिबद्ध[1]कथार्जनानयनयानादिवाक्प्रबंधास्तत्र रत्नं सुलभं शोभनमनर्घं मुक्ताफलं तत्र आत्यमुत्पद्यते तत्र कुंकुमादिकं समहर्घमत्रानीतं बहुमूल्यं फलदं तन्नगरं सुरक्षितं प्रासादादिविराजमानं दिव्यवनिताजनाधिष्ठितं, स देशो रम्यः सुलभान्नपानो मनोहरवेषः प्रचुरगन्धमाल्यादिकः सर्वभाषाविदग्धमतिरित्येवमादिवचनप्रबंधो जनपदनगराकरकथाः, तासु कथासु न रज्यति धीरा इत्युत्तरेण संबंधः ॥८५७॥

हैं। इन सम्बन्धी कथा करना खेटकथा, कर्वटकथा है। तथा संवाहन, द्रोणमुख आदि की कथाएँ भी ग्रहण कर लेनी चाहिए। जैसे कि ये खेट आदि देश बहुत ही सुन्दर बने हैं, किले सहित हैं, वीर पुरुषों से अधिष्ठित हैं, सब तरह से नियन्त्रित हैं, पर-चक्र से अभेद्य हैं, बहुत से धन-धान्य आदि पदार्थों से भरे हुए हैं, सब प्रकार से अजेय हैं, वहाँ पर कोई भी शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते हैं इत्यादि रूप से वचन बोलना खेटादि कथाएँ हैं। नाना राजाओं से सम्बन्धित वचन बोलना राजकथा है। वह राजा बहुत ही प्रतापी है, शूर है, चाणक्य के समान निपुण है, चार—संचार में कुशल है, योग और क्षेम में अपनी बुद्धि को लगानेवाला है, चतुरंग सेना से सहित है, सर्व वैरियों को जीत चुका है, उसके सामने कोई भी खड़ा नहीं रह सकता है इत्यादि प्रकार के वचन बोलना राजकथा है। चोरों की कथा करना जैसे—वह चोर निपुण है, सेंध लगाने में प्रवीण है, वह तो मार्ग में ही लूटने में कुशल है, देखते-देखते लेकर भाग जाता है, उसने सभी को त्रस्त कर रखा है इत्यादि बातों का कथन करना चोरकथा है। जनपद - देश, नगर— जो परकोटे से घिरा हुआ है, आकर—हीरा, पन्ना, सोना, कुंकुम, मोती, नमक, चन्दन आदि इनकी उत्पत्ति के स्थानविशेष इनसे सम्बन्धित कथाएँ करना; रत्नों के अर्जन करने का, उनके लाने-ले जाने आदि की बातें करना, जैसे कि वहाँ पर रत्न सुलभ हैं, सुन्दर और मूल्यवान् हैं, उत्तम-उत्तम मोती मिलते हैं, वहाँ कुंकुम वगैरह वस्तुएँ बेशकीमती मिलती हैं यहाँ पर लाने से उनकी बहुत ही कीमत होगी, वे उत्तम फल देनेवाली वस्तुएँ हैं। वह नगर सुरक्षित है उसमें बड़े-बड़े महल आदि शोभित हो रहे हैं, वे दिव्य स्त्रियों से मनोहर हैं। वह देश रम्य है, वहाँ पर अन्न-पान सुलभ है, वहाँ के लोग मनोहर वेश धारण करते हैं, वहाँ पर प्रचुर मात्रा में गन्ध, माला आदि वस्तुएँ प्रयोग में लायी जाती हैं, वहाँ के लोग सभी भाषाओं में पण्डित हैं, इत्यादि रूप से वचन बोलना जनपद, नगर और आकर कथा कहलाती हैं। धीर मुनि इन कथाओं में राग नहीं करते हैं, ऐसा अगली गाथा से यहाँ पर सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

---

१. क० प्रतिबद्धार्जन।

तथा—

णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च ।
अज्जउलंलंघियाणं कहासु ण वि रज्जए धीरा ॥८५८॥

नटा भरतपुत्रका रंगोपजीविनः, भटा युद्धसमर्थाः सहस्रादीनां जेतारः, मल्ला अंगयुद्धसमर्था अनेककच्छपबंधादिकरणसमर्थाः, मायां महेन्द्रजालादिकं प्रतारणं कुर्वन्तीति मायाकरा मायाकृतरंगोपजीविनः, जल्ला मत्स्यबंधाः शाकुनिकाश्च खट्टिकाम्लेच्छादयश्च, मुष्टिका द्यूतकारा द्यूतव्यसनिनः, अज्जउला—आर्या कुलमाम्नायो दुर्गा येषां ते आर्याकुला हस्तपादशिरःशरीरावयवभेदेन कुशला दुर्गापुत्रिका जीवहिंसनरता अथवा अजाविकारक्षकाः सर्वपशुपालाश्च लंघिका[1] वरत्रावेणुपरिनृत्तकुशला इत्येवमादीनां याः कथास्तद्व्यापारकरणं सरागचेतसा स शोभनतरोऽशोभनतरो वा कुशलोऽकुशलो वेत्येवमादयस्तासु कथासु पूर्वोक्तासु नैव रज्यंति नैवानुरागं कुर्वन्ति धीरा वैराग्यपरा इति ॥८५८॥

न केवलं विकथा वचनेन वर्जयंति किं तु मनसाऽपि[3] न कुर्वन्तीत्याह—

विकहा विसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति ।
धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति ॥८५९॥

उन कथाओं के और भी भेद बताते हैं—

गाथार्थ—नटों की कथा, भटों की कथा, मल्लों की कथा, मायाकरों की कथा, धीवरों की कथा, जुआरियों की कथा, दुर्गा आदि देवियों को कथा, बांस पर नाचनेवालों की कथा इत्यादि कथाओं में धीर मुनि अनुरक्त नहीं होते हैं ॥८५८॥

आचारवृत्ति—नट—भरतपुत्र अर्थात् नृत्य से उपजीविका करनेवाले, भट—युद्ध में समर्थ अर्थात् हजारों योद्धाओं को जीतनेवाले, मल्ल—कुश्ती खेलने में पहलवान अर्थात् अनेक प्रकार के कच्छप बन्ध आदि करने में समर्थ मल्ल, मायाकर—इन्द्रजाल आदि से प्रतारणा करने वाले अर्थात् जादूगर के खेल दिखाकर आजीविका करनेवाले; जल्ल—मछलीमार, पक्षीमार, खटीक, म्लेच्छ आदि लोग, मुष्टिक—जुआ खेलनेवाले, आर्याकुल—आर्या—दुर्गादेवी, शक्ति-देवता जिनका कुल—आम्नाय हैं ऐसे लोग आर्याकुल वाले हैं। वे हाथ, पैर, शिर के अवयवों को भेदने में कुशल होते हैं, दुर्गादेवी या उसके उपासक जीव-हिंसा में तत्पर लोग; अथवा बकरी-भेड़ के रक्षक, सर्व पशुओं के पालक, लंघिका—रस्सी और बांस पर नृत्य करने में कुशल, इत्यादि प्रकार के नट, भट आदि की कथा करना, उनके कार्यों में उपयोग लगाना, सरागचित्त होकर चर्चा करना कि वह बहुत सुन्दर है, वह असुन्दर है, अथवा वह कुशल है या अकुशल है इत्यादि रूप से इन उपर्युक्त कथाओं में वैराग्यशील मुनि अनुराग नहीं करते हैं।

इन कथाओं को केवल वचन से ही वर्जित नहीं करते हैं किन्तु मन से भी इनका चिंतवन नहीं करते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि मन से क्षण मात्र भी विकथा और कुशास्त्रों का चिन्तवन नहीं करते हैं। धर्म में बुद्धि लगानेवाले वे मुनि मन-वचन-काय से विकथाओं का त्याग कर देते हैं ॥८५९॥

---

१. क० द्यूतेन व्यसनिनः। २. क० लंघाका। ३. क० हृदयेनापि।

इत्येवमादिविकथाः स्त्रीभक्तचोरराजकथाः विश्रुतिकथाश्च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां प्रतिकूल-वचनानि तत्प्रतिबद्धपरिणामांश्च क्षणमपि नयनोन्मेषमात्रमपि हृदयेन चेतसा न ते मुनयश्चिन्तयंति न व्यव-स्थापयंति धर्मे धर्मविषये लब्धमतयो यतो [1]विकथास्त्रिप्रकारेण मनोवाक्कायैर्वर्जयन्तीति ॥८५९॥

तथा—

कुक्कुय कंदप्पाइय हासं उल्लावणं च खेडं च ।
मदवप्पहत्थवट्टिं ण करेंति मुणी ण कारेंति ॥८६०॥

कुक्कुय—कौत्कुच्यं हृदयकंठाभ्यामव्यक्तशब्दकरणं, कंदप्पाइय—कंदर्पायितं कामोत्पादकवच-नान्यथवा रागोद्रेकात्प्रहाससंमिश्राशिष्टवाक्यप्रयोगः कंदर्पः, हासं—हास्यमुपहास्यवचनानि, उल्लावणं—अनेकवैदग्ध्ययुक्तरम्यवचनं, खेडं चोपप्लवचनं अदुष्टहृदयेन परप्रतारणं, मददर्पेण स्वहस्तेनान्यहस्तताडनं च मुनयो न कुर्वन्ति न कारयंति नाऽप्यनुमन्यन्ते च ॥८६०॥

यतः—

ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी ।
णियमेसु दढव्वदिणो पारत्तविमग्गया समणा ॥८६१॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कही हुई विकथाएँ, स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राजकथा तथा विश्रुतिकथा अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके प्रतिकूल वचन तथा इनसे सम्बन्धित परिणामों को भी वे मुनि नेत्र की पलक लगने के समय रूप निमेष मात्र काल के लिए भी मन से चिन्तवन नहीं करते हैं और न ही उनकी व्यवस्था करते हैं। धर्म में अपनी बुद्धि को एकाग्र करनेवाले वे महामुनि मन-वचन-काय पूर्वक इन कथाओं का त्याग कर देते हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—काय की कुचेष्टा, कामोत्पादक वचन, हँसी, वचनचातुर्य, परवंचना के वचन, मद व दर्प से करताड़न करना आदि चेष्टाएँ मुनि न करते हैं न कराते हैं ॥८६०॥

आचारवृत्ति—कौत्कुच्य—हृदय और कण्ठ से अव्यक्त शब्द करना, कंदर्पायित—कामोत्पादक वचन बोलना, अथवा राग के उद्रेक से हँसी मिश्रित अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना, हास्य-उपहास के वचन बोलना, उल्लापन—अनेक चातुर्ययुक्त मनोहर वचन बोलना, खेड-उपप्लव नास्तिवाद के वचन या सरल हृदय से भी पर को प्रतारित करना, तथा मद के गर्व से अपने हाथ से दूसरों के हाथ को ताड़ित करना। ऐसे कार्य ये मुनि न स्वयं करते हैं, न कराते हैं और न अनुमति ही देते हैं।

क्यों नहीं करते हैं ? सो ही बताते हैं।

गाथार्थ—वे निर्विकार अनुद्धतमनवाले, समुद्र के समान गम्भीर, नियम अनुष्ठानों में दृढ़व्रती तथा परलोक के अन्वेषण में कुशल श्रमण होते हैं ॥८६१॥

---

१. क० वर्जिताः ।

यस्मात्ते साधवो भवंति निर्विकाराः कायिकवाचिकमानसिकविकारैर्वर्जिताः स्तिमितमतयोऽनुद्धत-चेष्टासंकल्पाः, प्रतिष्ठिता यथोदधिः समुद्र इवागाधा [1]अक्षोभाश्च, नियमेषु षडावश्यकादिक्रियासु दृढव्रति-नोऽभग्नगृहीतनानावग्रहविशेषाः, पारत्र्यविमार्गकाः परलोकं प्रति मुद्यतसमस्तकार्या इहलोकं निरतिचारं परलोकं सम्यग्विधानेनात्मना परेषां च निरूपयंतीति ॥८६१॥

कथंभूतास्तर्हि कथाः कुर्वन्तीत्याशंकायामाह—

जिणवयणभासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं ।
समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति ॥८६२॥

जिनवचनेन वीतरागागमेन भाषितः प्रतिपादितोऽर्थो विषयो यस्याः सा जिनवचनभाषितार्था रत्न-त्रयप्रतिपादनसमर्था तां कथां कुर्वते। पुनरपि पथ्यां हितां च धर्मसंयुक्तां समयोपचारयुक्तामागमविनयसहितां परलोकं प्रति हितां कुर्वते। यद्यपि विषयसुखविवर्जनेन कापुरुषाणामनिष्टा तथापि विपाककाले पथ्यौषधवत्। तथा यद्यपि जीवप्रदेशसंतापकरणेन[2] न हिता तथापि सम्यगाचरणनिरता। तथा यद्यपि विनयतन्निष्ठा तथापि श्रुतज्ञानप्रतिकूला न भवति तर्कव्याकरणसिद्धान्तचरितपुराणादिप्रतिपादिका वा कथा तां कुर्वंत इति ॥८६२॥

ये कथामेवंविधां[3] कुर्वन्ति ते किम्भूता इत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—क्योंकि वे साधु कायिक, वाचिक तथा मानसिक विकारों से रहित होते हैं, उनकी चेष्टाएँ तथा संकल्प उद्धतपने से रहित होती हैं। वे समुद्र के समान प्रतिष्ठित अगाध और क्षोभरहित होते हैं। छह आवश्यक आदि क्रियाओं में दृढ़ रहते हैं अर्थात् जो नियम ग्रहण करते हैं उनको कभी भग्न नहीं करते हैं। परलोक के प्रति समस्त कार्यों को करने में उद्यमशील होते हैं। इहलोक में निरतिचार आचार पालते हैं और परलोक के प्रति उनका सम्यक् प्रकार से अपने लिए तथा अन्य जनों के लिए निरूपण करते हैं।

तो पुनः वे मुनि किस प्रकार की कथाएँ करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जिनागम में भाषित है अर्थ जिसका, जो पथ्य है, हितकर है, धर्म से संयुक्त है, आगमकथित उपचार-विनय से युक्त, परलोक के हितरूप—ऐसी कथाएँ वे मुनि करते हैं ॥८६२॥

आचारवृत्ति—वीतरागदेव के आगम से जिसका विषय प्रतिपादित किया गया है अर्थात् जो रत्नत्रय का प्रतिपादन करने में समर्थ है ऐसी कथा को वे मुनि करते है। यद्यपि विषय-सुखों को त्याग कराने वाली होने से कायर पुरुषों को अनिष्ट है फिर भी जो विपाक के काल में गुणकारी है, पथ्य औषधि के समान वह कथा पथ्य कहलाती है। यद्यपि जीव के प्रदेशों में संताप का कारण होने से यह हितरूप नहीं लगती है फिर भी समीचीन आचरण से सहित होने से हित कर ही है। धर्म से संयुक्त है तथा समयोपचार-आगमकथित विनय से सहित है तथा परलोक के लिए हितकर है। अर्थात् यद्यपि विनय में निष्ठ है तो भी श्रुतज्ञान के प्रतिकूल नहीं है अथवा तर्क, व्याकरण, सिद्धान्त, चरित, पुराण आदि की प्रतिपादक ऐसी कथा मुनिजन करते हैं।

जो ऐसी कथाएँ करते हैं वे मुनि कैसे होते हैं ? सो ही बताते हैं—

---

१. क० अक्षोभ्याश्च। २. क० कारणेन। ३. क० मेवंभूतो।

सत्ताधिय सप्पुरिसा मग्गं मण्णंति वीदरागाणं।
अणयारभावणाए भावेंति य णिच्चमप्पाणं ॥८६३॥

सत्वाधिका: सर्वोपसर्गैरप्यकंप्यभावा:, सत्पुरुषा: [1]यथोक्तचरित्तचारिणा मार्गं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मन्यंतेऽभ्युपगच्छन्ति । केषां मार्गं ? वीतरागाणां निर्दग्धमोहनीयरजसामनगारभावनया च कथित-[2]स्वरूपया भावयंति चात्मानमिति ॥८६३॥

वाक्यशुद्धिं निरूप्य तप:शुद्धिं च निरूपयन्नाह—

णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु।
तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिदपावा ॥८६४॥

नित्यं च सर्वकालमपि अप्रमत्ता: पंचदशप्रमादरहिता: संयमे प्राणरक्षण इन्द्रियनिग्रहे समितिषु ध्याने धर्मध्याने शुक्लध्याने च योगेषु नाना-विधावग्रहविशेषेषु द्वादशविधे चरणे करणे च त्रयोदशविधे शमितपापा: संत: श्रमणा उद्युक्ता भवंति । एवंविशिष्टे सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविषये तदुपकरणे च सर्व-पापक्रियानिवृत्ता: सन्तोऽभीक्ष्णमायुक्ता भवंतीति ॥८६४॥

गाथार्थ—वे शक्तिशाली साधु वीतरागदेवों के मार्ग को स्वीकार करते हैं और अनगार भावना के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करते हैं ॥८६३॥

आचारवृत्ति—जो सभी प्रकार के उपसर्गों के आने पर भी चलायमान नहीं होते हैं व सत्त्वाधिक पुरुष हैं, जो आगम कथित उपर्युक्त आचरण को धारण करनेवाले हैं ऐसे दृढ़ चारित्रवान साधु मोहनीय और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन कर्मों को नष्ट करने वाले ऐसे वीतरागदेव के सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मार्ग को माननेवाले होते हैं। वे महामुनि इस कही जानेवाली अनगार भावना से निरन्तर अपनी आत्मा को भाते रहते हैं।

वाक्यशुद्धि का निरूपण करके अब तपशुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—वे श्रमण संयम तथा समिति में ध्यान तथा योगों में नित्य ही प्रमादरहित होते हैं एवं तप, चारित्र तथा क्रियाओं में लगे रहते हैं अत: पापों का शमन करनेवाले होते हैं ॥८६४॥

आचारवृत्ति—वे साधु हमेशा ही पन्द्रह प्रकार के प्रमादों से रहित होते हैं। प्राणी-रक्षण और इन्द्रियनिग्रह संयम में, पाँचों समितियों में, धर्मध्यान और शुक्लध्यान में नाना प्रकार के नियम रूप योगों के अनुष्ठान में, बारह प्रकार के तपश्चरण में, तेरह प्रकार के चारित्र में एवं तेरह प्रकार की क्रियाओं में सतत उद्यमशील रहते हुए पापों को समित करनेवाले होते हैं। इन गुण विशिष्ट सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उनके उपकरण—साधनों में सर्वपाप क्रिया से निवृत्त होते हुए सतत उद्यमशील रहते हैं।

भावार्थ—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह विध चारित्र हैं। पंच परमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक-क्रिया तथा असही और निसही ये तेरह विध क्रियाएँ हैं।

---

१. क० यथोक्ताचरितं। २. क० कथितरूपया।

बाह्यतपसां मध्ये दुश्चरं तावत्कायक्लेशं तपः प्रतिपादयन्नाह—

हेमंते धिदिमंता सहंति ते हिमरयं परमघोरं।
अंगेसु णिवडमाणं णलिणीवणविणासयं[1] सीयं ॥८६५॥

हेमंते हिमवत्काले परमघोरे दग्धाशेषवनस्पतिविशेषे प्रचंडवातसमूहकंपिताशेषजंतुनिवहे धृतिमंतः परमधैर्यप्रावरणसंवृताः, सहन्ते ते मुनयो हिमरजः पतत्प्रालेयसमूहं परमघोरं सुष्ठु रौद्रमंगेषु निपतदाचरणात् मस्तकं यावत्पतद्धिमं। किंविशिष्टं तद्धिमरजः? नलिनीवनविनाशकं पद्मिनीखंडदहनसमर्थं, उपलक्षणमात्रमेतत् तेन सर्वभूतविनाशकरण[2]समर्थं सहन्त इति ॥८६५॥

अभ्रावकाशं व्याख्यायातापनस्वरूपमाह—

जल्लेण मइलिदंगा गिह्मे उण्हादवेण दड्ढंगा।
चेट्ठंति णिसिट्ठंगा सूरस्स य अहिमुहा सूरा ॥८६६॥

जल्लं सर्वांगोद्भूतमलं तेन मलिनांगा वल्मीकसमाना निःप्रतीकारदेहाः; ग्रीष्मे प्रचंडमार्तंडगभस्तिहस्तशोषिताशेषार्द्रभावे दवदहनसमानतृष्णाक्रांतसमस्तजीवराशौ उष्णातपेन [3]दीप्यमानकिरणजालैर्दग्धांगा

बाह्य तपों में दुश्चर जो कायक्लेश तप है उसको बतलाते हैं—

गाथार्थ—हेमन्त ऋतु में कमलवन को नष्ट करनेवाली ठण्ड तथा शरीर पर गिरती हुई परमघोर बर्फ को धैर्यशाली मुनि सहन करते हैं ॥८६५॥

आचारवृत्ति—शीतकाल में परमघोर तुषार के गिरने से सम्पूर्ण वनस्पतियाँ जल जाती हैं, प्रचण्ड हवा—शीत लहर के चलने से सभी प्राणी समूह काँप उठते हैं, ऐसे समय में परमधैर्य रूप आवरण से अपने शरीर को ढकने वाले वे मुनिराज गिरते हुए हिमकणों को, तुषार को सहन कर लेते हैं। जो तुषार भयंकर है, पैर से मस्तक तक उन्हें व्याप्त कर रहा है, जो कि कमलिनी-वन को जलाने में समर्थ है अथवा यह कथन उपलक्षण मात्र है इससे यह समझना कि वह हिम सर्व प्राणीगण को नष्ट करने में समर्थ हैं ऐसे भयंकर तुषार को मुनिराज खुले स्थान में खड़े होकर धैर्यपूर्वक सहन कर लेते हैं। यह अभ्रावकाश योग का स्वरूप कहा गया है।

अभ्रावकाशयोग का व्याख्यान करके आतापन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पसीने से युक्त धूलि से मलिन अंगवाले, ग्रीष्मऋतु में उष्ण घाम से शुष्क-शरीरधारी, कायोत्सर्ग से स्थित शूर मुनि सूर्य की तरफ मुख करके खड़े हो जाते हैं ॥८६६॥

आचारवृत्ति—सर्वांग में उत्पन्न हुआ मल जल्ल कहलाता है, वे मुनि उस जल्ल से मलिन अंग धारण करते हैं अतः वामी के समान दिखते हैं, वे उस मल को दूर नहीं करते हैं। प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सभी वस्तुओं का गीलापन जहाँ सूख चुका है, दावानल की अग्नि के समान तृष्णा से समस्त जीवराशि व्याकुल हो रही है ऐसी ग्रीष्म ऋतु में उष्ण घाम से जिनका शरीर दग्ध काठ के समान हो गया है, जो मुनि कायोत्सर्ग से स्थित होकर अपने शरीर के अव-

---

१. क० विणासणं। २. क० करणं। ३. क० दीप्यमानाः।

स्तम्भकाष्ठसमानशरीरास्तिष्ठंति । निसृष्टांगाः कायोत्सर्गेणाचलितशरीरावयवाः सूरस्य धगधगायमानादित्यस्याभिमुखं शूराः मनागपि न संक्लेशमुद्वहंति शीतह्रदे प्रविष्टा इव संतिष्ठंत' इति ॥८६६॥

वृक्षमूलं निरूपयन्नाह—

धारंधयारगुविलं सहंति ते वादवाद्दलं चंडं ।
रत्तिदियं गलंतं सप्पुरिसा रुक्खमूलेसु ॥८६७॥

तथा प्रावृट्काले जलपूरिताशेषमार्गे गर्जत्पर्जन्यघोराशनिरवबधिरितदिगंते वृक्षमूलेऽनेकसर्पाकीर्णे चंडं रौद्रं वातं वार्द्दलं च प्रवर्षणशीलं मेघजालं च सहंते सम्यगध्यासते । किंविशिष्टं ? जलधारांधकारगहनं । पुनरपि किंविशिष्टं ? रात्रिंदिवं च क्षरन्मुसलप्रमाणपतद्धाराभिर्वर्षद्वृक्षमूले वसंति सहंते च सत्पुरुषाः, न मनागपि चित्तक्षोभं कुर्वंतीति ॥८६७॥

तत्र स्थिताः परीषहांश्च जयंतीत्याह—

वादं सीदं उण्हं तण्हं च छुधं च दंसमसयं च ।
सव्वं सहंति धीरा कम्माण खयं करेमाणा ॥८६८॥

यवों को अचल किये हुए हैं। वे महामुनि धगधगायमान अग्नि के गोले के सदृश ऐसे सूर्य की तरफ मुख करके खड़े हो जाते हैं। ऐसे शूरवीर साधु किंचित् मात्र भी खेद को प्राप्त नहीं होते हैं प्रत्युत शीतसरोवर में प्रविष्ट हुए के समान शान्त रहते हैं। यह आतापन योग का स्वरूप कहा गया है।

वृक्षमूल योग का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जलधारा के गिरने से, अन्धकार से व्याप्त भयंकर वायु और बरसते मेघ से रात-दिन झरते हुए ऐसे वृक्षों के नीचे वे साधु वर्षा को सहन करते हैं ॥८६७॥

आचारवृत्ति—वर्षाकाल में सभी मार्ग जल से पूरित हो जाते हैं, गरजते हुए मेघ और घोर वज्र के शब्दों से दिशाओं के अन्तराल बहिरे हो जाते हैं। उस समय अनेक सर्पों से व्याप्त ऐसे वृक्ष के नीचे वे मुनि खड़े हो जाते हैं। वहाँ पर वायु के झकोरे से सहित सतत बरसते हुए मेघों की जलधारा को वे मुनि सहन करते हैं। जो जलधारा वन में गहन अन्धकार करने वाली है, रातदिन पड़ती हुई मूसल प्रमाण मोटी-मोटी धाराओं से वृक्ष भी सतत पानी की बूँदें गिरा रहे हैं। ऐसे समय में वे मुनिराज वृक्ष के नीचे ध्यान करते हैं और किंचित् मात्र भी चित्त में क्षोभ नहीं करते हैं। यह वृक्षमूल योग का स्वरूप कहा है।

वहाँ पर स्थित होकर वे साधु परीषहों को जीतते हैं—

गाथार्थ—कर्मों का क्षय करते हुए वे धीर मुनि वात, शीत, उष्ण, प्यास, भूख, दंश-मशक आदि सभी परीषहों को सहते हैं। ॥८६८॥

---

१. क० तिष्ठन्तीति

एवं त्रिकालयोगिनः संतो वातं विनाशिताशेषतरुसमूहं सहंते तथा शीतं सहंते तथोष्णं शोषिताशेषवनसरित्समुद्रं [1]सहंते तथा तृष्णां संतापिताशेषांगावयवां सहंते तथा क्षुधां महाप्रलयकालसमुत्थिताग्निस्वरूपां सहंते तथा दंशमशककृतोपद्रवं सहंते तथा सर्पवृश्चिकपिपीलिकाव्यराहादिकृतोपद्रवं च सहंते, किं बहुना सर्वमप्युपसर्गजातं [2]कर्मणां क्षयं कुर्वाणाः सहंते न तंत्रमंत्रनिमित्तं नेह[3]लौकिकसुखनिमित्तं नापि परलोकभोगाकांक्षयेति ॥८६८॥

एवं कायभवं क्लेशसहनं निरूप्य वाग्भवं क्लेशसहनं निरूपयन्नाह—

दुज्जणवयण चडयणं सहंति अच्छोड सत्थपहरं च ।
ण य कुप्पंति महरिसी खमणगुणवियाणया साहू ॥८६९॥

दुष्टो जनो दुर्जनस्तस्य वचनं दुर्जनवचनं सर्वप्रकारेणापवादग्रहणशीलमिथ्यादृष्टिपरुषवचनं, चटचटतप्तलोहस्फुलिंगसमानं सर्वजीवप्रदेशसंतापकरं, सहंते न क्षोभं गच्छन्ति, अच्छोडं पैशुन्यवचनं असद्दोषोद्भावनप्रवणमथवा अच्छोडणं लोष्ठलगुडादिभिस्ताडनं, शस्त्रप्रहारं च खड्गादिभिर्घातं च सहंते, इति सर्वमेतत्

आचारवृत्ति—इस प्रकार अभ्रावकाश, आतापन एवं वृक्षमूल इन त्रिकाल योगों को धारण करनेवाले मुनीश्वर सम्पूर्ण वृक्षों को जोड़ से उखाड़नेवाली ऐसी वायु के कष्ट को सहन करते हैं। वनस्पति समूह को नष्ट करने में समर्थ ऐसी शीत को तथा वन की सभी नदियों को व समुद्रों को सुखाने में समर्थ ऐसी उष्णता को सहन करते हैं। जो शरीर के समस्त अवयवों को सन्तप्त करनेवाली है ऐसी तृष्णा प्यास की बाधा को तथा महाप्रलय काल में उत्पन्न हुई अग्नि के समान ऐसी जठराग्निस्वरूप भूख की बाधा को सहन करते हैं। उसी प्रकार डांस-मच्छरों से किये गये उपद्रवों को तथा सौंप, विच्छू, चिवटी, सूकर आदि वन-जन्तुओं द्वारा किए गये उपद्रवों को भी सहन करते हैं। अधिक कहने से क्या? वे मुनि कर्मों का क्षय करते हुए सभी उपसर्ग समूहों को सहन करते हैं। अर्थात् वे मुनि इन परीषह एवं उपसर्गों को तन्त्र-मन्त्रों के निमित्त नहीं सहते हैं, न इहलोक के सुखों के लिए ही सहते हैं और न परलोक में भोगों की आकांक्षा से ही सहन करते हैं, किन्तु कर्मों के क्षय के लिए ही सहन करते हैं ऐसा समझना।

इस प्रकार से काय से उत्पन्न हुए क्लेश-सहन का निरूपण करके अब वचन से होने वाले क्लेश सहने का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—दुर्जन के अत्यन्त तीक्ष्ण वचन, निन्दा के वचन, और शस्त्र के प्रहार को सहन करते हैं किन्तु वे क्षमागुण के ज्ञानी महर्षि मुनि क्रोध नहीं करते हैं ॥८६९॥

आचारवृत्ति—दुष्ट जन को दुर्जन कहते हैं, उनके वचन सब प्रकार से अपवाद ग्रहण करनेवाले होते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जनों के तीक्ष्ण और कठोर वचन जो कि तप्त हुए लोहे के पीटने से निकलते हुए अग्नि के स्फुलिंगों के समान होने से जीव के सर्व आत्मप्रदेशों में सन्ताप को करनेवाले रहते हैं। ऐसे दुर्जन के वचनों को मुनि सहन कर लेते हैं किन्तु क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं। पैशुन्य वचन—असत् दोषों को प्रगट करना या ढेले, डण्डे आदि से ताड़ित करना,

---

१. क० विसहन्ते। २. क० कर्मक्षयं कुर्वाणाः। ३. क० नेहलोकसुख।

सहंते न च तेभ्य उपद्रवकारिभ्यः कुप्यन्ति, महर्षयः क्षमागुणविज्ञानका: श्रमणाः सर्वप्रकारैः सहनशीलाः क्रोधादिवशं न गच्छन्तीति ॥८६९॥

अन्यच्च—

जइ पंचिंदियदमओ होज्ज जणो रूसिदव्वय णियत्तो।
तो कदरेण कयंतो रूसिज्ज जए मणूयाणं ॥८७०॥

यदि पंचेन्द्रियदमकः पचेन्द्रियनिग्रहरतो भवेज्जनस्तदा स रोषादिभ्यो निवृत्तश्च जनो भवेत्ततः कतरेण कारणेन कृतांतो मृत्यू रुष्येत् कोपं कुर्याज्जगति मनुष्येभ्योऽथवा कृतांत आगमस्तत्साहचर्याद्यतिरपि कृतांत इत्युच्यते तत एवं संबंधः क्रियते यदि सामान्यजनोऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहरतो भवेत्ततः रोषान्निवृत्तः क्रोधादिकं न करोति कृतांतो यतिः पुनः कतरेण कारणेन सूपद्रवकारिभ्यो मनुष्येभ्यो रुष्येत्कोपं कुर्यात् ? तस्मात्क्षमागुणं जानता चारित्रं सम्यग्दर्शनं चाभ्युपगच्छता न रोषः कर्त्तव्यः ॥८७०॥

अन्यच्च—

जदि वि य करेंति पावं एदे जिणवयणबाहिरा पुरिसा।
तं सव्वं सहिदव्वं कम्माण खयं करंतेण ॥८७१॥

शस्त्र प्रहार—तलवार आदि से घात करना इत्यादि उपद्रवों को वे मुनि सहन कर लेते हैं किन्तु उन उपद्रव करनेवालों पर क्रोध नहीं करते हैं क्योंकि वे महर्षि क्षमागुण के ज्ञानी होने से सर्व प्रकार से सहनशील होते हैं अर्थात् ज्ञानी साधु क्रोध आदि कषायों के वशीभूत नहीं होते हैं।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—यदि मनुष्य पंचेन्द्रिय को दमन करनेवाला होवे तो वह क्रोध आदि से छूट जायेगा। पुनः इस जगत् में मनुष्यों पर किस कारण से यमराज रुष्ट होगा ? अर्थात् रुष्ट नहीं होगा ॥८७०॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि पंचेन्द्रियों के निग्रह में तत्पर हैं तो वे क्रोध आदि कषायों से निवृत्त हो जावेंगे। पुनः इस जगत् में मनुष्यों पर किस कारण से मृत्यु कुपित हो सकेगी ? अर्थात् जो इन्द्रिय विजयी हैं वे कषायों से रहित हो जाते हैं और तब मृत्यु से भी छूट जाते हैं। अथवा कृतान्त[1] अर्थात् आगम जिसके साहचर्य से यति को भी 'कृतान्त' ऐसा कहा जाता है। पुनः ऐसा सम्बन्ध करना कि यदि सामान्यजन भी पचेन्द्रियों के निग्रह में तत्पर होता है तो वह क्रोध आदि नहीं करता है, पुनः कृतान्त—यति भी उपद्रव करनेवाले मनुष्यों पर किस कारण क्रोध करेंगे ? अर्थात् चारित्र तथा सम्यग्दर्शन को स्वीकार करते हुए क्षमागुण को जाननेवाले मुनियों को क्रोध नहीं करना चाहिए यह अभिप्राय है।

और भी स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—जिन मत से बहिर्भूत कोई मनुष्य यद्यपि पाप करते हैं तो भी कर्मों का क्षय करते हुए मुनि को वह सब सहन करना चाहिए। ॥८७१॥

---

१. कृतान्तागमसिद्धान्त ग्रन्थाः शास्त्र मतः परं। धनं०।

यद्यपि च पूर्वकर्मोदयवशात्कुर्वन्ति पापं वधबन्धनादिकं रौद्रं कर्म ते जिनवचनबाह्याः पुरुषा मिथ्यात्वासंयमकषायाभिरताः सर्वमदगर्विताः; तत्सर्वमुपसर्गजातं सहनीयं सम्यग्विधानेनाध्यासितव्यमध्या-सयेत् । कर्मणां क्षयं पूर्वार्जितकर्मफलक्षयं कुर्वताऽऽत्मना सह कर्मणां विश्लेषं कुर्वता सम्यग्दर्शनादिभिरात्मानं भावयतेति ॥८७१॥

पुनरपि कषायविजयमाह—

लद्धूण इमं सुदणिहिं ववसायविदिज्जियं तह करेह ।
जह सुग्गइचोराणं ण उवेह वसं कसायाणं ॥८७२॥

लब्ध्वा सम्यक्प्राप्येमं श्रुतनिधिं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वरत्ननिधानं व्यवसायेन चारित्रतपउद्योगेन सह द्वितीयं तथा कुरुत तेन प्रकारेण यतध्वं, यथा सुगतिचौराणां मोक्ष[1]मार्गविनाशकानां कषायाणां वशं नोपेत तथा यतध्वं येनाऽत्र रत्नत्रयविनाशकानां क्रोधादीनां वशं न गच्छन्तीति ॥८७२॥

तपःशुद्धिस्वामिनः प्रतिपादयन्नाह—

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ॥८७३॥

पंचमहाव्रतधारिणो जीवदयादिगुणकलिताः पंचसु समितिषु संयताः पंचसमितिसंयुक्तास्तासु वा

आचारवृत्ति—जो जिन मत से बहिर्भूत हैं वे पुरुष मिथ्यात्व, असंयम और कषाय में तत्पर सर्व मद से गर्वित रहते हैं। वे यद्यपि पूर्व कर्मोदय के निमित्त से पाप-वध-बन्धन आदि रौद्र कर्म करते हैं तो भी मुनिराज को चाहिए कि सभी उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करें। अर्थात् वे मुनि पूर्व संचित कर्मों के फल का क्षय करते हुए—अपनी आत्मा से कर्मों को पृथक् करते हुए सम्यग्दर्शन आदि गुणों के द्वारा अपनी आत्मा की भावना करें।

पुनरपि कषायविजय को कहते हैं—

गाथार्थ—इस श्रुतरूपी निधि को प्राप्त करके वैसा व्यवसाय विशेष करो कि जिस से तुम सुगति के चुरानेवाले इन कषायों के वश में न हो जाओ। ॥८७२॥

आचारवृत्ति—द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व श्रुतज्ञानरूपी रत्ननिधान को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके व्यवसाय—चारित्र और तप के उद्यम के साथ-साथ तुम ऐसा दूसरा प्रयत्न करो कि जिससे मोक्षमार्ग के विनाशक इन कषायों के वशीभूत न हो जाओ। अर्थात् ऐसा कोई प्रयत्न करो कि जिससे रत्नत्रय के घातक इन क्रोधादि काषायों के आधीन नहीं होना पड़े।

तपःशुद्धि के स्वामी का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—पंचमहाव्रत धारी, पाँच समितियों में संयत, धीर, पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त और पंचमगति के अन्वेषक श्रमण होते हैं—तपःशुद्धि करते हैं ॥८७३॥

आचारवृत्ति—जो पाँचमहाव्रतों के धारक हैं, जीवदया आदि गुणों से संयुक्त हैं, पाँच समितियों से अपने को नियन्त्रित किए हुए हैं अथवा उनमें व्यवस्थित हैं, धीर—अकंपभाव को

---

१. क० सिद्धिमार्ग- ।

व्यवस्थिता धीरा अकंपभावमुपगताः पंचेन्द्रियार्थेभ्यो विरता जितेन्द्रियाः पंचमगतिं सिद्धगतिं मृग्यमाणा अनन्तचतुष्टयेनात्मानं योजयन्तः श्रमणा इत्थंभूतास्तपःशुद्धेः कर्तारो भवन्तीति ॥८७३॥

तथा—

'ते इंदिएसु पंचसु ण कयाइ रागं पुणो वि बंधंति ।।
उण्हेण व हारिद्दं णस्सदि राओ सुविहिदाणं ॥८७४॥

ते पूर्वोक्ताः श्रमणा इन्द्रियेषु पंचसु रागं कदाचिदपि न पुनर्बध्नंति यतस्तेषां सुविहितानां शोभनानुष्ठानानां नश्यति रागो यथोष्णेन हारिद्रो रागः। किमुक्तं भवति ? यद्यपि कदाचिद्रागः स्यात्तथापि पुनरनुबन्धं न कुर्वन्ति पश्चात्तापेन तत्क्षणादेव विनाशमुपयाति हरिद्रारक्तवस्त्रस्य पीतप्रभा रविकिरणस्पृष्टेवेति ॥८७४॥

तपःशुद्धिं निरूप्य ध्यानशुद्धिं निरूपयंस्तावत्तदर्थमिन्द्रियजयमाह—

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं ।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥८७५॥

विषयेषु रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु प्रधावंतः प्रसरन्तः, चपलाः स्थैर्यवर्जिताः, चंडाः कोपं गच्छन्तः,

---

प्राप्त हो चुके हैं, पंचेन्द्रियों के विषयों से विरत—जितेन्द्रिय हैं, सिद्ध गति को ढूंढ़ते हुए अर्थात् अनन्त चतुष्टय में अपनी आत्मा को लगाते हुए वे मुनि तपःशुद्धि के करनेवाले होते हैं।

उसी बात को स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—वे मुनि पाँचों इन्द्रियों में कदाचित् भी पुनः राग नहीं करते हैं; क्योंकि सम्यक् अनुष्ठान करनेवालों का राग ताप से हल्दी के रंग के समान नष्ट हो जाता है ॥८७४॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त गुणों से सहित श्रमण पंचेंद्रियों के विषयों में कभी भी पुनः राग नहीं करते हैं क्योंकि शुभ अनुष्ठान करनेवाले उन मुनियों का राग वैसे ही नष्ट हो जाता है कि जैसे उष्णता से हल्दी का राग नष्ट हो जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि मुनि के कदाचित् राग उत्पन्न हो जावे तो भी वे उसमें पुनः आसक्त नहीं होते हैं। पुनः पश्चात्ताप से वह राग क्षण मात्र में ही नष्ट हो जाता है। जैसे कि हल्दी से रंगा हुआ वस्त्र पीला हो जाता है और सूर्य की किरणों के स्पर्श से वह पीलापन नष्ट हो जाता है वैसे ही मुनि पहले तो राग को छोड़ ही चुके होते हैं फिर भी यदि कदाचित् हो भी जावे तो वे उसे शीघ्र ही दूर कर देते हैं।

तपःशुद्धि का निरूपण करके अब ध्यानशुद्धि को कहते हुए उसमें पहले ध्यानशुद्धि के लिए इन्द्रियजय को कहते हैं—

गाथार्थ—विषयों में दौड़ते हुए चंचल, उग्र और भयंकर इन इन्द्रियरूपी चोरों को चारित्र के उद्यमी मुनियों ने तीन दण्ड की गुप्तियों से वश में कर लिया है ॥८७५॥

आचारवृत्ति—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द इन पंचेंद्रियों के विषयों में दौड़ लगाने

---

१. द इंदिएसु पंचसु कयाइ रागं पुणो ण बंधंति।

इन्द्रियचौराश्चिरंडकुप्तैर्मनोवाक्कायसंवृतैः व्यवसितैश्चारित्रयोगतन्निष्ठैर्यते व्यवस्थापिताः स्ववशं नीताः सुष्ठु घोरा यद्यपि तथापि प्रलयं प्रापिता मुनिभिरिति ॥८७५॥

दृष्टान्तद्वारेण मनोनिग्रहस्वरूपमाह—

जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि ।
तिक्खंकुसेण धरिदो णरेण दिढसत्तिजुत्तेण ॥८७६॥

तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विसयराजमग्गम्मि ।
णाणंकुसेण धरिदो रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व ॥८७७॥

यथा येन प्रकारेण चंडो गलन्निगंडप्रजातप्रकोपो वनहस्ती उद्दामा शृंखलादिबंधनरहितो नगरराजमार्गे दृढशक्तियुक्तेन नरेण तीक्ष्णांकुशेन करणभूतेन धृत आत्मवशे स्थापित इति ॥८७६॥

तथा तेनैव प्रकारेण चंडो नरकगत्यादिषु नराणां प्रक्षेपणपरो मनोहस्ती उद्दामा संयमादिशृंखलादिरहितो विषयराजमार्गे रूपादिविषयराजवर्त्मनि धावन् ज्ञानांकुशेन पूर्वापरविवेकविषयावबोधांकुशेन धृत आत्मवशं नीतः, यथा मत्तहस्ती रुद्धः सन्न किंचित्कर्तुं समर्थो यत्र नीयते हस्तिपकेन तत्रैव याति एवमेव

वाले, स्थिरता से रहित—चंचल, क्रोध को प्राप्त हुए जो ये इन्द्रियरूपी चोर हैं वे यद्यपि भयंकर हैं फिर भी चारित्र और योग के अनुष्ठान में लगे हुए मुनियों ने मन-वचन-काय के निग्रह से इन्हें अपने वश में कर लिया है अर्थात् इनका विनाश कर दिया है।

दृष्टान्त के द्वारा मन के निग्रह का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे नगर के राजमार्ग में उदंड होता हुआ क्रोधी वन-हाथी दृढ़ शक्तिशाली मनुष्य के द्वारा तीक्ष्ण अंकुश से वश में कर लिया जाता है वैसे ही विषयरूपी राजमार्ग में उद्दण्ड फिरता हुआ प्रचंड मनरूपी हस्ती ज्ञानरूपी अंकुश से वशीभूत किया जाता है जैसेकि मदोन्मत्त हाथी रोक लिया जाता है ॥८७६-८७७॥

आचारवृत्ति—जैसे जिसके गण्डस्थल से मद झर रहा है और जो अत्यन्त कुपित हो रहा है ऐसा वनहस्ती यदि सांकल आदि बंधन से रहित हो गया है और नगर के राजमार्गों में दौड़ रहा है तो दृढ शक्तिशाली मनुष्य तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा उसे अपने वश में कर लेता है।

उसी प्रकार प्रचण्ड नरक आदि दुर्गतियों में मनुष्यों को डाल देने में तत्पर ऐसा मनरूपी हाथी उद्दण्ड है—संयम आदि सांकलों से रहित है, और रूप, रस आदि पंचेंद्रियों के विषयरूपी राजमार्ग में दौड़ रहा है, उसको पूर्वापर विवेक के विषयभूत ज्ञानरूपी अंकुश के द्वारा मुनि अपने वश कर लेते हैं। जैसे मत्त हुआ हाथी वशीभूत हो जाने पर कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है जहाँ उसको महावत ले जाता है वहीं पर उसे जाना पड़ता है उसी प्रकार से मुनि भी अपने मन रूपी मत्त हाथी को जब बाँधकर रख लेते हैं तब उसे वे जहाँ

---

१. क० तथ।

'यत्रिम्या मनोहस्ती रुद्धः सन् यत्र व्यवस्थाप्यते तत्रैव' तिष्ठति वशीभूतः सन्निति ॥८७७॥

तथा—

ण य एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी झाणवारिबंधणिदो ।
बद्धो तह य पयंडो विरायरज्जूहि धीरेहिं ॥८७८॥

यथा रुद्धः सन् मत्तहस्ती वारिबंधेन न शक्नोति विनिःसर्तुं निर्गन्तुं न समर्थस्तथा मनोहस्ती ध्यानवारिबंधनं नीतः प्रापितोऽतिशयेन प्रचंडो विरागरज्जुभिर्बद्धो वैराग्यादिवरत्राभिर्धीरैः संयमितो निर्गन्तुं न शक्नोतीति ॥८७८॥

ध्यानार्थं नगरं प्राकारादिसमन्वितं रचयन्नाह—

धिदिधणिदणिछिदमदी चरित्त पायार गोउरं तुंगं ।
खंतीसुकदकवाडं तवणयरं संजमारक्खं ॥८७९॥

धृतिः 'संतोषादिस्तस्यामत्यर्थं 'निश्चितं मतिज्ञानं धृत्यतिशयनिश्चितमतिर्धैर्योत्साहतत्त्वरुचि-समन्वितविवेकः चारित्रं त्रयोदशप्रकारपापक्रियानिवृत्तिः, प्राकारः पाषाणमय इष्टकामयो वा परिक्षेपः,

---

पर व्यवस्थित करते हैं वह वशीभूत होता हुआ वहीं पर ठहर जाता है। अर्थात् मुनि पंचेंद्रियों के विषयों से अपने मन को हटाकर, अपने आधीन रखकर उसे जिस क्रिया में या ध्यान में लगाते हैं उसी में वह एकाग्र हो जाता है, अपनी चंचलता नहीं करता है।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—उसी प्रकार से धीर पुरुषों द्वारा वैराग्यरूपी रस्से से बाँधा गया, एवं ध्यानरूपी बन्धन को प्राप्त हुआ यह प्रचण्ड मनरूपी हाथी बाहर निकल नहीं पाता है ॥८७८॥

आचारवृत्ति—जैसे बाँधा हुआ मत्तहाथी अपने साँकल के बन्धन से निकलने में समर्थ नहीं होता है वैसे ही यह मनरूपी हाथी ध्यानरूपी साँकल के बन्धन को प्राप्त हुआ है अथवा ध्यानरूपी खम्भे से बँधा है। यह प्रचंड है तो भी वैराग्य आदि मोटे रस्सों से धीर साधुओं ने इसे नियन्त्रित किया हुआ है अतः यह उस बन्धन से निकलने में समर्थ नहीं हो पाता है।

अब ध्यान के लिए परकोटे से सहित नगर को रचते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—धैर्य से अतिशय निश्चित विवेकरूपी परकोटा है, चारित्ररूपी ऊँचे गोपुर हैं, क्षमा और धर्म ये दो किवाड़ हैं और संयम जिसका कोतवाल है ऐसा यह तपरूपी नगर है ॥८८९॥

आचारवृत्ति—धैर्य, उत्साह और तत्त्वरुचि से समन्वित जो विवेक है वह तपरूपी नगर का परकोटा है। पापक्रिया से निवृत्तिरूप जो तेरह प्रकार का चारित्र है वही बहुत ऊँचे गोपुर—ऊँचे-ऊँचे कूट हैं। क्षमा और धर्म ये युगल फाटक हैं अथवा क्षमा ही सुयंत्रित फाटक हैं,

---

१. क० संयतेन। २. क० तत्र। ३. क० संतोषः। ४. क० निश्चिता मतिज्ञानं।

गोपुरं तुंगं नगरस्य महद्द्वारगुप्तकूटं यथासंख्येन संबंधः। धृत्यविशिष्टनिश्चलमतिरेव प्राकारो यत्र नगरे तपःखापूर्ण तथा चारित्रमेव गोपुरमुत्तुंगं यत्र तच्चारित्रगोपुरोत्तुंगं; क्षान्तिलक्षणः सुकृतं धर्मः, क्षान्ति-सुकृते कपाटे यस्य तत् क्षान्तिसुकृतकपाटमथवा क्षान्तिरेव सुयंत्रितकपाटं तत्र, तपोनगरं, संयमो द्विप्रकार आरक्षः कोट्टपालो यत्र तत्संयमारक्षं इन्द्रियसंयमप्राणसंयमाभ्यामारक्षकाभ्यां पाल्यमानमिति ॥८७९॥

कथं तद्रक्ष्यत इत्याशंकायामाह--

रागो दोसो मोहो इंदियचोरा य उज्जदा णिच्चं।
ण च यंति पहंसेदुं सप्पुरिससुरक्खियं णयरं ॥८८०॥

यद्यपि तन्नगरं प्रध्वंसयितुं विनाशयितुमुद्यताः सर्वकालं रागद्वेषमोहेन्द्रियचौरास्तथापि तत्तपोनगरं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं न शक्नुवंति प्रध्वंसयितुं सत्पुरुषसुरक्षितनगरवत्, यथा महायोधः सुरक्षितं सुदुर्गं सुयंत्रितं नगरं विनाशयितुं समर्थं न परचक्रमेव तपोनगरं रागादयो न विनाशयितुं समर्था इति ॥८८०॥

इदानीं ध्यानरथं प्रकटयन्नाह—

एदे इंदियतुरया पयडीदोसेण चोइया संता।
उम्मग्गं णिंति रहं करेह मणपग्गहं बलियं ॥८८१॥

एते इन्द्रियतुरगा इमानीन्द्रियाण्येवाश्वाः प्रकृत्या स्वभावेन दोषेण रागद्वेषाभ्यां च चोदिताः

इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम ये दो कोतवाल सदा इस नगर की रक्षा करते हैं ऐसा यह मुनियों का तपरूपी नगर है। अर्थात् उत्तम नगर में पाषाणमय अथवा ईंटों का बना हुआ जो चारों तरफ से नगर को घेरे हुए कोट रहता है उसको प्राकार या परकोटा कहते हैं, ऊँचे-ऊँचे कूट गोपुर कहलाते हैं। नगर से निकलने के द्वार में दो कपाट रहते हैं एव उसकी रक्षा करनेवाले कोतवाल रहते हैं तब वह नगर सुरक्षित रहता है। सो ही तपरूपी नगर में सारी चीजें घटित की गयी हैं।

उसकी रक्षा क्यों की जाती है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—राग, द्वेष, मोह और उद्यत हुए इन्द्रियरूपी चोर हमेशा ही सत्पुरुषों से रक्षित तपरूपी नगर को नष्ट करने में कभी भी समर्थ नहीं होते हैं ॥८८०॥

आचारवृत्ति—यद्यपि ये राग, द्वेष, मोह और इन्द्रियरूपी चोर हमेशा ही इस तपरूपी नगर का विध्वंस करने के लिए उद्युक्त रहते हैं फिर भी वे पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट इस नगर को नष्ट कर नहीं कर सकते हैं। जैसे कि सत्पुरुषों द्वारा सुरक्षित नगर को कोई ध्वंस नहीं कर सकता है अर्थात् जैसे महायोद्धाओं से सुरक्षित, क़िले सहित, सुयंत्रित नगर को परचक्र अर्थात् शत्रुओं की सेना नष्ट नहीं कर सकती है उसी प्रकार से तपरूपी नगर को ये राग आदि शत्रु नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं।

अब ध्यानरथ को बता रहे हैं—

गाथार्थ—ये इन्द्रियरूपी घोड़े स्वाभाविक दोष से प्रेरित होते हुए धर्मध्यानरूपी रथ को उन्मार्ग में ले जाते हैं अतः मनरूपी लगाम को मजबूत करो ॥८८१॥

आचारवृत्ति—ये इन्द्रियाँ ही चंचल घोड़े हैं जोकि प्रकृति से ही राग-द्वेषरूप दोषों से प्रेरित होते हुए इस धर्मध्यानरूपी रथ को विषयों से व्याप्त घोर अटवी में पहुँचा देते हैं।

प्रेरिताः संत उन्मार्गं विषयाकुलाटवीं नयन्ति प्रापयन्ति अतोऽध्यानरथं, कुरुत मनःप्रग्रहं दृढम्। यथा रश्मि-प्रग्रहेण नियम्यन्ते वशीक्रियन्ते तथेन्द्रियाणि वशं स्थापयतैकाग्रमनोनिरोधप्रग्रहेण येन ध्यानं मार्गस्थं भवतीति ॥८८१॥

रागद्वेषादीनां प्रतिपक्षभावनामाह—

रागो दोसो मोहो विदीय धीरेहि णिज्जिदा सम्मं।
पंचेंदिया य दंता वदोववासप्पहारेहिं ॥८८२॥

धीरैः संयतै रागद्वेषमोहाः प्रीत्यप्रीतिमिथ्यात्वानि धृत्या दृढरत्नत्रयभावनया निर्जिताः प्रहताः सम्यग्विधानेन पंचेन्द्रियाणि दान्तानि स्ववशं नीतानि व्रतोपवासप्रहारैरिति ॥

ततः किम्—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥८८३॥

ततो दान्तेन्द्रियाः संतो महर्षयः शुद्धोपयोगयुक्ताः समीचीनध्यानोपगता रागं द्वेषं विकृतिं च क्षपयित्वा प्रलयं नीत्वा क्षपितमोहाः संतः कर्माणि क्षपयन्ति सर्वाणि यतः कषायमूलत्वात्सर्वेषामिति ॥८८३॥

तदेवमाचष्टेऽनया गाथया—

इसलिए हे मुने! तुम इन घोड़ों को सन्मार्ग में ले जाने के लिए मनरूपी लगाम को दृढ़ता से थामे रहो। अर्थात् जैसे रज्जु-लगाम से घोड़े वश में किए जाते हैं उसी तरह तुम एकाग्र मन के रोकने रूप रज्जु के द्वारा इन्द्रियों को वश में करो जिससे कि यह ध्यानरूपी रथ मोक्षमार्ग में स्थित बना रहे।

राग-द्वेषों की प्रतिपक्ष भावना को कहते हैं—

गाथार्थ—धीर साधुओं ने राग-द्वेष और मोह को चारित्र से अच्छी तरह जीत लिया है और पाँचों इन्द्रियों का व्रत-उपवासरूपी प्रहार से दमन किया है ॥८८२॥

आचारवृत्ति—धीर संयमी मुनियों ने राग—प्रीति, द्वेष—अप्रीति और मोह—मिथ्यात्व इन तीनों को दृढ़ रत्नत्रय की भावना से अच्छी तरह नष्ट कर दिया है, और पाँचों इन्द्रियों को व्रत-उपवासरूपी प्रहारों से अपने वश में कर लिया है।

इससे क्या होगा?

गाथार्थ—इन्द्रियों के विजेता वे महर्षि राग-द्वेष का क्षपण करके और ध्यान में उपयोग लगाते हुए मोह का नाश करके कर्मों का क्षय कर देते हैं ॥८८३॥

आचारवृत्ति—पुनः इन्द्रिय-विजयी होते हुए वे महर्षि शुद्धोपयोग से सहित अर्थात् समीचीन ध्यान को करनेवाले होते हुए राग-द्वेष रूप विकृति का क्षय करके क्षीणमोह होकर कर्मों का क्षय कर देते हैं, क्योंकि सभी कर्मों के लिए कषाय ही मूल कारण है।

उसी बात को इस गाथा द्वारा कहते हैं—

अट्ठविहकम्ममूलं खविदकसाया खमादिजुत्तेहिं।
उद्धदमूलो व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि ॥८८४॥

अष्टविधस्य कर्मणो मूलं कारणं। किं ते[1]? कषायाः क्रोधादयस्तेषु सत्सु सर्वकर्मप्रकृतीनामवस्थानं ते च कषायाः क्षमादियुक्तैः क्षमामार्दवार्जवसंतोषपरैः क्षपिता विनाशिताः पुनस्तेषामुत्पत्तिर्नास्ति यथोद्धृतमूलस्य द्रुमस्य निर्मूलितस्य वृक्षस्येव जनितव्यं नास्ति, यथोद्धृतमूलो वृक्षो न जायते कारणाभावात्[2]था कर्मनिचयो न पुनरागच्छति कारणाभावादिति ॥८८४॥

तस्मात्—

अवहट्टु अट्ट रुद्दं धम्मं सुक्कं च झाणमोगाढं।
ण च[3] एदि पधंसेदुं अणियट्टी सुक्कलेस्साए ॥८८५॥

तस्मात्कषायनिर्मूलनायार्तध्यानं रौद्रध्यानं चापहृत्य परित्यज्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च चिन्तयेति शेषः यतः समीचीनध्यानावगाढं शोभनध्याने निविष्टमानस यतिं शुक्ललेश्यया सहितं शुद्धोपयुत्या समन्वितं अनिवृत्तिगुणस्थानगतं कषाया न शक्नुवन्ति न किंचित्कुर्वन्ति प्रधर्षयितुं कदर्थयितुं। अथवा 'अणियट्टी' पदस्थाने 'परीसहा' इति पाठस्तेन परीषहा न शक्नुवन्ति प्रधर्षयितुं ध्यानप्रविष्टं मुनिमिति ॥८८५॥

गाथार्थ—आठ प्रकार के कर्म के लिए मूल कारण ऐसी कषाओं को जड़मूल से उखाड़ हुए वृक्ष की तरह क्षमादि से युक्त मुनियों के द्वारा नष्ट कर दिया गया है कि जिससे वे पुनः उत्पन्न ही न हो सकें ॥८८४॥

आचारवृत्ति—आठ प्रकार के कर्मों के लिए मूल कारण क्रोधादि कषायें हैं क्योंकि उन कषायों के होने पर ही सभी कर्म-प्रकृतियों का अवस्थान—स्थितिबन्ध होता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष में तत्पर हुए मुनियों ने इन कषाओं का विनाश कर दिया है। जड़ से नष्ट कर देने पर पुन. उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है जैसेकि वृक्ष को जड़मूल से उखाड़ देने पर वह पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति का कारण समाप्त हो चुका है उसी प्रकार से कर्मसमूह पुनः नहीं आते हैं क्योंकि उनके कारणों का—कषायों का विनाश हो चुका होता है।

इसलिए क्या करना? सो ही बतलाते हैं—

गाथार्थ—आर्त-रौद्र दुर्ध्यान का परिहार करके धर्म—शुक्ल में लीन, शुक्ल लेश्या सहित मुनि को अनिवृत्तिगत कषायें कष्ट नहीं दे सकती हैं ॥८८५॥

आचारवृत्ति—इसलिए कषायों का निर्मूलन करने के लिए आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तवन करो ऐसी क्रिया का अध्याहार हो जाता है, क्योंकि शुक्ल लेश्या से सहित और समीचीन ध्यान में मन को तल्लीन करनेवाले एवं शुद्धोपयोग से समन्वित यतिराज को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होनेवाली कषायें कुछ भी पीड़ा देने में समर्थ नहीं हो सकती हैं। अथवा 'अणियट्टी' पद के स्थान में 'परीसहा' ऐसा भी पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ है कि ध्यान में प्रवेश करनेवाले मुनि को परीषह पीडित नहीं कर सकते हैं।

---

१. क० तत्।   २. क० कारणाभावादेवं।   ३. क० यंति।

पुनरपि ध्यानस्य[1] स्थैर्यमाह—

जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥८८६॥

यथा न चलति न स्थानाच्च्युतो भवति गिरिराजो मेरुः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरवातैः, एवमचलितो योगी सर्वोपसर्गादिभिरकंप्यभावोऽभीक्ष्णं निरन्तरं समयं समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरां कुर्वन् ध्यायेत् ध्यानं समाधिमिति, यद्यप्येकवचनं जात्यपेक्षया तथापि बहुवचनं द्रष्टव्यं ध्यायन्ति ध्यानमिति ॥८८६॥

तत एवं ध्यानं प्रध्याय—

णिट्ठविदकरणचरणा कम्मं णिद्धुद्धदं धुणित्ताय।
जरमरणविप्पमुक्का उवेंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥८८७॥

ततो ध्यानं संचिन्त्य निष्ठापितकरणचरणाः परमोत्कर्षं प्रापिताः पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिपंचनमस्कारषडावश्यकासिकानिषद्यका यैस्ते मुनयः कर्म निधत्तोद्धतं बद्धपुष्टं[2] बद्धनिकाचितं सुष्ठु स्निग्धं सुष्ठु दुःखदायकं निर्धूतं निर्मूलतः सम्यक् धूत्वा प्रक्षिप्य जातिजरामरणमुक्ताः सिद्धिमनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यरूपामवस्थामुपयान्ति धुतक्लेशाः सन्त इति ॥८८७॥

पुनरपि ध्यान की स्थिरता को बताते हैं—

गाथार्थ—पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं की वायु से सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं होता है इसी प्रकार से अचलित योगी सतत ही ध्यान किया करते हैं ॥८८६॥

आचारवृत्ति—जैसे पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर वायु से पर्वतराज सुमेरु अपने स्थान से च्युत नहीं होता है, उसी प्रकार से सर्व उपसर्ग आदि से अकम्प भाव को प्राप्त हुए योगी निरंतर समय-समय से असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा करते हुए समाधि—उत्तमध्यान को ध्याते हैं। यद्यपि यहाँ पर जाति की अपेक्षा से 'ध्यायति' यह एक वचन है तो भी ध्यायन्ति ध्यानं' ऐसा बहुवचन का ही अर्थ करना चाहिए।

इसलिए ऐसा ध्यान ध्याकर वे क्या फल पाते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—तेरह क्रिया और तेरहविध चारित्र को पूर्ण करनेवाले मुनि बँधे हुए और पुष्ट कर्मों को नष्ट करके जरा और मरण से रहित होते हुए क्लेश से रहित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं ॥८८७॥

आचारवृत्ति—धर्म-शुक्ल ध्यान को ध्याकर और महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह विध चारित्र में एवं पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक-क्रिया तथा आसिका-निषद्यका, इन तेरह क्रियाओं में परम उत्कर्ष अवस्था को पहुँचकर महामुनि बँधे हुए, पुष्ट हुए तथा निकाचित रूप ऐसे दुःखदायी कर्मों को निर्मूलसे नष्ट कर देते हैं। पुनः जन्म जरा और मरण से रहित होकर तथा क्लेश—संसार के सर्व दुःखों को समाप्त करके अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन अनन्तचतुष्टय की अवस्था रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

---

१. क० ध्यानस्थैर्यमाह। २. क० बद्धपुष्टनिधत्तनिकाचितं।

अनगाराणां पर्यायनामान्याह—

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥८८८॥

[1]यत्किचन्मुनयः क्वचिदृषय इत्येवमादिप्रतिपादितास्तेषां कानि पर्यायनामान्यत आह—श्रमण इति श्रमयंत्यात्मानं तपोभिरिति श्रमणाः, संयता इति संयमयन्तीन्द्रियाणि कषायांश्च संयताः, ऋषय इति षार्षयन्ति गमयन्ति सर्वपापानि ते ऋषयोऽथवार्षयन्ति प्राप्नुवन्ति सप्तर्द्धीरिति ऋषयः, मन्यन्ते बुध्यन्ते स्वपरार्थसिद्धिमिति मुनयोऽथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानैर्युक्ताः मुनयः, साधव इति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि साधयन्तीति साधवः, वीतरागा इति वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः, नामान्येतानि संज्ञारूपाणि सुविहितानां सुचारित्राणां। अनगारा न विद्यतेऽगारादिकं येषां तेऽनगारा विमुक्तसर्वसंगाः, भदंताः सर्वकल्याणानि प्राप्त-

---

अब अनगारों के पर्यायवाची नामों को कहते हैं—

गाथार्थ—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त और यति ये सम्यक् आचरण करनेवाले मुनियों के नाम हैं ॥८८८॥

आचारवृत्ति—जो कहीं पर मुनि, कहीं पर ऋषि इत्यादि शब्दों से प्रतिपादित हुए हैं उनके पर्यायवाची नाम कौन-कौन हैं ? सो ही बताते हैं—

श्रमण—जो तपश्चरण द्वारा अपनी आत्मा को श्रान्त करते हैं वे श्रमण हैं।

संयत—जो पाँचों इन्द्रियों और कषायों को संयमित—नियन्त्रित करते हैं वे संयत हैं।

ऋषि—जो सर्व पापों को नष्ट करते हैं अथवा सात प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं वे ऋषि कहलाते हैं।

मुनि—जो स्व-पर के अर्थ की सिद्धि को मानते हैं-जानते हैं वे मुनि हैं। अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान से युक्त मुनि कहलाते हैं।

साधु—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की जो साधना करते हैं वे साधु कहलाते हैं।

वीतराग—वीत—नष्ट हो गया है राग जिनका वे वीतराग कहलाते हैं।

अनगार—नहीं हैं अगार—गृह आदि जिनके वे सर्व परिग्रह से रहित मनुष्य अनगार कहलाते हैं।

भदन्त—सर्व कल्याणों को प्राप्त हुए भदन्त कहलाते हैं।

दान्त—पाँचों इन्द्रियों के निग्रह करनेवाले मुनि दान्त होते हैं।

यति—तेरह प्रकार के चारित्र में प्रयत्न करते हैं इसलिए यति कहलाते हैं, अथवा उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी में आरोहण करने में तत्पर हुए यति नाम से कहे जाते हैं। सम्यक् चारित्र को धारण करनेवाले मुनियों के ये सब पर्यायवाची नाम कहे जाते हैं।

भावार्थ—इस अनगार भावना सूत्र में आचार्य देव ने दश शुद्धियों का वर्णन किया है

---

१. क० ये क्वचिन्मुनयः।

शान्ताः, दान्ताः पंचेन्द्रियाणां निग्रहपराः, त्रयोदशविधे चारित्रे यतन्त इति यतयोऽथवोपशमक्षपकश्रेण्यारोहणपरा यतयः। एवं प्रकाराणि यतीनां नामानीति ॥८८८॥

एवं दशसूत्राणि व्याख्यायेदानीमनगाराणां स्तवमाह—

अणयारा भयवंता अपरिमिदगुणा थुदा सुरिंदेहिं।
तिविहेणुत्तिण्णपारे परमगदिगदे पणिवदामि ॥८८९॥

एवमनगारान् भगवतोऽनन्तचतुष्टयं प्राप्तान् प्राप्तवतश्चापरिमितगुणान् सर्वगुणाधारान् सुरेन्द्रैः स्तुतान् परमगतिगतान् परमशुद्धज्ञानदर्शनचारित्रपरिणतानुत्तीर्णपरान् संसारमहोदधिं समुल्लंघ्य स्थितांस्त्रिप्रकारैर्मनोवचनकायैरहं प्रणिपतामि सम्यक् प्रणमामीति ॥८८९॥

अनगारभावनायाः[1] प्रयोजनमाह—

एवं चरियविहाणं जो काहदि संजदो ववसिदप्पा।
णाणगुणसंपजुत्तो सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥८९०॥

एवमनेन प्रकारेण चर्याविधानं दशसूत्रैः कथितं यः करोति व्रतादिसंपन्नो व्यवसितात्मा तपस्युद्योगपरो ज्ञानेन मूलगुणैश्च संप्रयुक्तः संयतो गच्छत्युत्तमं स्थानमिति ॥८९०॥

जिनके नाम क्रम से लिंगशुद्धि; व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वाक्यशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि हैं। यहाँ पर इन्हें दश अनगार भावना सूत्र कहा है सो अन्तिम ध्यानशुद्धि सूत्र का व्याख्यान करके आगे इन अनगारों की स्तुति कर रहे हैं।

इस प्रकार दश सूत्रों का व्याख्यान करके अब अनगारों का स्तवन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—भगवान् अनगार सुरेन्द्रों के द्वारा स्तुति को प्राप्त हैं, अपरिमित गुणों से सहित हैं, तीर को प्राप्त हो चुके हैं और परमगति को प्राप्त हैं। ऐसे मुनियों को मन-वचन-कायपूर्वक मैं प्रणाम करता हूँ ॥८८९॥

आचारवृत्ति—जो अनगार अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होने से भगवान् हैं, सर्वगुणों के आधार हैं, देवेन्द्रों से स्तुत हैं, परमशुद्ध ज्ञान दर्शन और चारित्र से परिणत होने से परमगति को प्राप्त हो चुके हैं, संसार समुद्र को पार करके स्थित हैं उनको मैं अच्छी तरह से मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

अनगार भावना का प्रयोजन कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से जो उद्यमशील संयत मुनि इस प्रकार की चर्याविधान को करता है वह ज्ञानगुण से संयुक्त हुआ उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥८९०॥

आचारवृत्ति—जो व्रतादि से सम्पन्न, तप में उद्यमशील, ज्ञान से एवं मूलगुणों से संयुक्त हुआ मुनि दशसूत्रों के द्वारा कथित इस चर्याविधान को करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है।

---

1. द० क० अनगारभावनायां।

यः शृणोतीममनगाराणां स्तवं तस्यापि फलमाह—

भत्तीए मए कहियं अणयाराण त्थवं समासेण।
जो सुणदि पयदमणसो सो गच्छदि उत्तमं ठाणं ॥८९१॥[1]

भक्त्या मया कथितमिममनगारस्तवं संक्षेपेण यः शृणोति प्रयतमनाः संयतात्मा सन् स गच्छत्युत्तमं स्थानमिति ॥८९१॥

तथा च—

एवं संजमरासिं जो काहदि संजदो ववसिदप्पा।
दंसणणाणसमग्गो सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥८९२॥[2]

यः पुनरेवं संयमराशिं करोति संयतो व्यवसितात्मा दर्शनज्ञानसमग्रः स गच्छत्युत्तमं स्थानमित्यत्र किमत्राद्भुतमस्तीति ॥८९२॥

अनगारभावनां संक्षेपयन्मंगलं च कुर्वन्नाह—

एवं मए अभिथुदा अणगारा गारवेहिं उम्मुक्का।
धरणिधरेहिं य महिया देंतु समाधिं च बोधिं च ॥८९३॥[3]

एवमनेन प्रकारेण मयाभिष्टुता अनगारा गौरवैरुन्मुक्ता धरणीधरैः पृथिवीपतिभिश्च महिताः

जो अनगारों के इस स्तव को सुनते हैं उनके भी फल को बताते हैं—

गाथार्थ—मैंने भक्ति से अनगारों का स्तव संक्षेप से कहा है। जो प्रयत्नचित्त हो इसे सुनता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥८९१॥

टीका सरल है।

उसी प्रकार से और भी कहते हैं—

गाथार्थ—जो उद्यमशील संयत इस प्रकार की संयमराशि को ग्रहण करता है वह दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण होता हुआ उत्तम स्थान प्राप्त कर लेता है ॥८९२॥

आचारवृत्ति जो उद्यम में तत्पर हुआ मुनि उपर्युक्त संयम समूह को ग्रहण करता है वह दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण होकर उत्तम—मोक्ष-स्थान प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

अब अनगार भावना को संक्षिप्त करते हुए मंगल करते हैं—

गाथार्थ—मैंने इस प्रकार गौरवों से रहित और पृथ्वीपतियों से पूजित अनगारों की स्तुति की है। वे मुझे बोधि और समाधि प्रदान करें ॥८९३॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से मैंने गौरवों से रहित और चक्रवर्ती आदि राजाओं से

---

१. अन्तिम चरण बदला है यथा—"सो पावदि सव्वकल्लाणं।"

२. यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में नहीं है।

३. क० समाहिं च बोहिं च।

पूजिता ददतां प्रयच्छंतु समाधिं मरणकालेऽन्यस्मिंश्च काले संयमपूर्विकां भावपंचनमस्कारपरिणतिं बोधिं च दर्शनविशुद्धिं च नान्यत्किंचिदपि याचेऽहमिति ॥८६३॥[1]

इति श्री मद्वट्टकेराचार्यवर्यप्रणीते मूलाचारे वसुनन्द्याचार्य-प्रणीताचार-
वृत्त्याख्यटीकासहिते नवमः परिच्छेदः ॥[2]

पूजित अनगार मुनियों की स्तुति की है। वे मुझे समाधि और बोधि दें। मरणकाल में काय और कषाय की कृशतारूप सल्लेखना का नाम समाधि है तथा अन्य काल में भी संयमपूर्वक पंचनमस्कार मन्त्र में जो भावपरिणति है उसका नाम भी समाधि है। दर्शनविशुद्धि का नाम बोधि है। वे महामुनि इस बोधि और समाधि को मुझे दें, बस यही मेरी एक याचना है और अन्य किंचित् मात्र भी मैं नहीं माँगता हूँ।

श्री वसुनन्दि आचार्य कृत 'आचारवृत्ति' नामक टीका से सहित वट्टकेराचार्यवर्य प्रणीत
मूलाचार में नवम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

---

१. इस गाथा के अनन्तर फलटन से प्रकाशित मूलाचार में तीन गाथाएँ और हैं—

उवदो काळहि सदा तिगुत्तिगुत्ते पुणो पुरिससीहे।
जो थुणदि य अणुरत्तो सो लहदि लाहं तिरयणस्स ॥

अर्थ—जो अनुरागी होकर नित्य ही त्रिगुप्ति से सहित पुरुषसिंह—महामुनियों की स्तुति करता है वह तीन रत्न प्राप्त कर लेता है।

एवं संजमरासिं करेंति जे संजदा ववसिदप्पा।
ते णाणदंसणधरा देंतु समाहिं च मे बोहिं ॥

अर्थ—उत्तम तपश्चरण में तत्पर महाव्रत आदि संयम के भार से युक्त और दर्शन ज्ञान के धारक मुनीश्वर मुझे समाधि और बोधि प्रदान करें।

अणगार-भावणगुणा मए अभित्थुदा महाणुभावा।
अणगार-वीदरागा देंतु समाहिं च मे बोहिं ॥

अर्थ—महाप्रभावशाली अनगार भावना के गुणों की मैंने स्तुति की है। वे वीतराग अनगार मुझे समाधि और बोधि प्रदान करें।

२. द० क० इत्याचार्यश्रीवसुनन्दिविरचितायां आचारवृत्तौ नवमः परिच्छेदः समाप्त इति।

समयसाराधिकारः

सर्वस्यागमस्य[1] स्वसमयपरसमयानां च सारभूतं समयसाराख्यमधिकारं प्रतिपादयंस्तावदादाविष्टदेवतानमस्कारपूर्विकां प्रतिज्ञामाह—

वंदित्तु देवदेवं तिहुवणमहिदं च सव्वसिद्धाणं।
वोच्छामि समयसारं सुण संखेवं जहावुत्तं ॥८९४॥

वंदित्तु—वंदित्वा मनोवाक्कायैः प्रणम्य, देवानां देवो देवदेवस्तं[2] सुराधीश्वरं सर्वलोकनाथं, त्रिभुवनमहितं त्रिभुवनैर्भवनवासिवानव्यंतरज्योतिष्ककल्पवासिमर्त्यप्रधानैर्महितं तथा सर्वसिद्धांश्च सर्वकर्मविमुक्तांश्च वंदित्वा प्रणम्य वक्ष्ये प्रवक्ष्यामि वक्तुं प्रारभे समयसारं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वं

सर्व आगम के एवं स्वसमय और परसमय के सारभूत समयसार नामक अधिकार का प्रतिपादन करते हुए आचार्यदेव सबसे पहले इष्टदेवतानमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञासूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—त्रिभुवन से पूजित अरहंतदेव और सर्व सिद्धों की वन्दना करके मैं शास्त्र-कथित संक्षिप्त समयसार को कहूँगा, तुम सुनो। ॥८९४॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों में तथा मनुष्यों में प्रधान जो इन्द्र हैं उनसे पूजित होने से अरहन्तदेव त्रिभुवन-पूज्य हैं, देवों के देव सुरों के अधीश्वर अर्थात् सर्वलोक के नाथ अरहन्त देव को तथा सर्व कर्मों से रहित सम्पूर्ण सिद्धों को मन-वचन-काय से प्रणाम करके मैं समयसार को कहूँगा। वह समयसार परमतत्त्व है, बारह

---

१. क प्रतौ एतदागमपरिच्छेदारंभेऽधोलिखितं श्लोकद्वयमपि वर्तते, तच्च—

नरेन्द्रकीर्ते ! भवधारिदेव ! सदाननं पश्यति तावकं यः।
श्रियो विहीनोऽपि सविष्णुभार्यः कृती भवेत्स श्रमणप्रधानः ॥१॥
जयति भुवनमर्त्यभव्यपाथोरुहाणां,
हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीव।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा,
वितरतु धुतदोषा सार्हती भारती वः ॥२॥

एतच्छ्लोकद्वये द्वितीयः श्लोकस्तु सुभाषितरत्नसंदोहस्थायः श्लोकः।

२. क० तं देवदेवं सुराधीश्वरं।

मूलमूलोत्तरगुणानां च दर्शनज्ञानचारित्राणां शुद्धिविधानस्य च भिक्षाशुद्धेश्च सारभूतं स्तोकं वक्ष्येऽहमेकाग्रचित्तो भूत्वा शृणुतावधारय 'संक्षिप्तमर्थेन महान्तं ग्रन्थतोऽल्पं यथावृत्तं येन क्रमेणागतमथवा यथोक्तं पूर्वशास्त्रेषु स्थितं यथा पूर्वाचार्यक्रमेणागतं तथा वक्ष्येऽहं न स्वेच्छया, अनेनात्मकर्तृत्वं निराकृत्यानात्मकर्तृत्वं[2] स्थापितं भवतीति ॥८९४॥

समयो नाम सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि तेषाञ्च सारश्चारित्रं कुतो यस्मात्—

> दव्वं खेत्तं कालं भावं च पडुच्च संघडणं।
> जत्थ हि जवदे समणो तत्थ हि सिद्धिं लहुं लहइ ॥८९५॥

द्रव्यं शरीरमाहारादिकं कर्मागमापगमकारणं च क्षेत्रं निवासो वसतिकादि स्त्रीपशुपाण्डकविवर्जितवैराग्यवर्द्धनकारणस्थानं कालोऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपश्चैकोऽपि षड्विधः सुषमासुषमादिभेदेन तथा शीतोष्णवर्षाकालादिभेदेन त्रिविधः, भावः परिणामः, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तेनान्यदपि कारणं शुद्धचारित्रस्य ग्राह्यं, पडुच्च—आश्रित्य स्वभावमनुबुध्य, संघडणं—संहननं अस्थिबंधबलोद्भूतशक्ति वीर्यान्तरायक्षयोपशमं वा। यत्र ग्रामेऽरण्ये द्वीपे समुद्रे पर्वते भोगभूमिकर्मभूमिक्षेत्रे वा ज्ञाने दर्शने तपसि वा यतते सम्यगाचरति सम्यक्-

---

अंग और चौदह पूर्वों का सार है, मूलगुण-उत्तरगुणों का, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का, शुद्धिविधान का और भिक्षाशुद्धि का सारभूत है। यह ग्रन्थ से—शब्दों में अल्प होते हुए भी अर्थ से महान् है अतः संक्षिप्त है, जिस क्रम से आया हुआ है अथवा जैसे पूर्वाचार्य परम्परा से आगत या पूर्व शास्त्रों में कथित है वैसा ही मैं कहूँगा, अपनी इच्छा से कुछ नहीं कहूँगा। इस कथन से आचार्य श्री ने 'अपने द्वारा किया गया है' इस आत्मकर्तृत्व का निराकरण करके इस ग्रन्थ को अनात्मकर्तृत्व अर्थात् सर्वज्ञकर्तृत्व स्थापित किया है, ऐसा समझना।

सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप का नाम समय है और इनका सार चारित्र है। क्यों? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—श्रमण जहाँ पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन की अपेक्षा करके उद्यम करते हैं वहाँ पर सिद्धि को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं। ॥८९५॥

आचारवृत्ति—द्रव्य—शरीर और आहार आदि जो कि कर्मों के आने और रोकने में कारण हैं। क्षेत्र—वसतिका आदि निवास, जोकि स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित एवं वैराग्य वर्द्धन के कारणभूत स्थान हैं। काल अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से एक होते हुए भी जो सुषमासुषमा आदि के भेद से छह प्रकार का हो जाता है तथा शीत, उष्ण और वर्षा आदि के भेद से तीन प्रकार का भी होता है। भाव-परिणाम। 'च' शब्द से अनुक्त का भी समुच्चय कर लेना, इसलिए शुद्ध चारित्र के लिए अन्य जो भी कारण हैं उन्हें यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए। संहनन—हड्डियों की बन्धन और बल से उत्पन्न हुई शक्ति, अथवा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम-विशेष।

समता, एकत्व भावना और वैराग्य आदि के आधारभूत श्रमण जिस किसी ग्राम, वन

---

१. क० संक्षेपं। २. क० निराकृत्याप्तकर्तृत्वं।

चारित्रं प्रतिपालयति समता—श्रमणः समतैकतावैराग्याधारस्तथैव सिद्धिं मोक्षं लघु शीघ्रं लभते प्राप्नोति, शरीरशुद्धिं भिक्षाशुद्धिं चाश्रित्य कालशुद्धिं रात्र्यादिगमनपरिहारं चाश्रित्य भावशुद्धिं चासंयमादिपरिणाम-परिहारं चाश्रित्य शरीरसंहननादिकं चाश्रित्य यश्चारित्रं यत्र वा तत्र वा स्थितो बहुश्रुतोऽल्पश्रुतो वा सम्यग्-विज्ञानेन प्रतिपालयति स सिद्धिं लभते शीघ्रं यस्मात्तस्मात्समयसारश्चारित्रं द्रव्याद्याश्रितो यत्नेनोच्यत इति द्रव्यबलं क्षेत्रबलं कालबलं भावबलं चाश्रित्य तपः कर्तव्यं, यथा वातपित्तश्लेष्मादिकं क्षोभं नोपयाति तथा यत्नः कर्तव्यः सारस्य कथनमेतदिति ॥८९५॥

तथा वैराग्यमपि समयस्य सारो यतः—

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु ।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥८९६॥

धीरो धैर्योपेतः सर्वोपसर्गसहनसमर्थः वैराग्यपरो रागादिभिर्विनिर्मुक्तः शरीरसंस्कारभोगनिर्वेदपरो विषयविरक्तभावः स्तोकमपि सामायिकादिस्वरूपं हि स्फुटं शिक्षित्वा सम्यगवधार्य सिध्यति कर्मक्षयं करोति, न चैव हि सिध्यति वैराग्यहीनः पठित्वापि सर्वाण्यपि शास्त्राणि, हि यस्मात्तस्माद्वैराग्यपूर्वकं करोति चारित्रा-चरणं प्रधानमिमिति ॥८९६॥

द्वीप, समुद्र, भोगभूमि अथवा कर्मभूमि क्षेत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन शक्ति के स्वभाव को समझकर उसके अनुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा तपश्चरण में प्रयत्न करते हैं अर्थात् सम्यक्चारित्र का पालन करते हैं, वे वहीं पर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

अर्थात् जिस किसी स्थान में भी मुनि यदि शरीरशुद्धि और आहारशुद्धि का आश्रय लेकर, रात्रि आदि में गमन नहीं करने रूप कालशुद्धि एवं असंयम आदि के परिहार रूप भाव-शुद्धि का आश्रय लेकर के तथा शरीर-संहनन आदि को भी समझकर चारित्र का अच्छी तरह पालन करते हैं तो वे चाहे बहुज्ञानी हों या अल्पज्ञानी, सिद्धि को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं। जिस कारण से ऐसी बात है उसी हेतु से यह समयसाररूप चारित्र द्रव्य, क्षेत्र आदि के आश्रय से सावधानीपूर्वक धारण किया जाता है।

इसलिए द्रव्यबल, क्षेत्रबल, कालबल और भावबल का आश्रय लेकर तपश्चरण करना चाहिए। तात्पर्य यही है कि जिस तरह से वात, पित्त कफ आदि कुपित नहीं हों, वैसा प्रयत्न करना चाहिए, यही सार—समयसार का कथन है। अथवा यही सारभूत कथन है।

उसी प्रकार से वैराग्य भी समय का सार है, क्योंकि—

गाथार्थ—धीर, वैराग्य में तत्पर मुनि निश्चित रूप से थोड़ी भी शिक्षा पाकर सिद्ध हो जाते हैं किन्तु वैराग्य से हीन मुनि सर्व शास्त्रों को पढ़कर भी सिद्ध नहीं हो पाते ॥८९६॥

आचारवृत्ति—धैर्य से सहित, सर्व उपसर्गों को सहन करने में समर्थ, रागादि से रहित, शरीर-संस्कार और भोगों से उदासमना एवं विषयों से विरक्त मुनि अल्प भी सामायिक आदि स्वरूप के प्रतिपादक शास्त्र को पढ़कर, उसका अच्छी तरह अवधारण करके कर्मों का क्षय कर देते हैं किन्तु वैराग्य से रहित मुनि सभी शास्त्रों को—ग्यारह अंग पर्यन्त शास्त्रों को पढ़कर भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाते हैं। इसीलिए वैराग्यपूर्वक चारित्र का आचरण करना ही प्रधान है।

तथा सम्यक्चारित्राचरणायोपदेशमाह—

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू[1] जंप ।
दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥८९७॥

भिक्षां चर कृतकारितानुमतिरहितं पिण्डं गृहाण, वसारण्ये स्त्रीपशुपांडकादिवर्जितेषु[2] गिरिगुहाकंदरादिषु प्रदेशेषु वस,[3] स्तोकं प्रमाणयुक्तं स्वाहारचतुर्थभागहीनं भुंक्ष्वाभ्यवहर, मा च बहु प्रलापयुक्तं जल्प—असारं[4] वचनं कदाचिदपि मा ब्रूयाः, दुःखं सहस्व केनचित्कारणान्तरेणोत्पन्नामप्रीतिं पीडारूपां सम्यगनुभव, निद्रां च जय—अकाले स्वापक्रियां वर्जय, मैत्रीं च भावय सर्वैः सत्त्वैः सह मैत्रीं भावय, परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषं कुरु, वैराग्यं च सुष्ठु भावय। यत सर्वस्य प्रवचनस्य सारभूतमेतदिति ॥८९७॥

तथैवंभूतश्च भवेत्—

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो ।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥८९८॥

व्यवहरतीति व्यवहारी न व्यवहार्यव्यवहारी लोकव्यवहाररहितो भवेत्तथैकोऽसहायो भवेज्ज्ञानदर्शनादिकं मुक्त्वा ममान्यन्नास्तीत्येकत्वं भावयेत्तथा ध्याने धर्मध्याने शुक्लध्याने चैकाग्रमनास्तन्निष्ठचित्तो

उसी प्रकार से सम्यक्चारित्र के आचरण हेतु उपदेश देते हैं—

गाथार्थ—हे मुने ! तुम भिक्षावृत्ति से भोजन करो, वन में रहो, अल्प भोजन करो, बहुत मत बोलो, दुःख सहन करो, निद्रा को जीतो, एवं मैत्री तथा दृढ़ वैराग्य की भावना करो ॥८९७॥

आचारवृत्ति—हे साधो ! तुम कृत-कारित-अनुमोदना से रहित निर्दोष पिंड-आहार-ग्रहण करो। स्त्री, पशु, नपुंसक आदि वर्जित गिरि, गुफा की कन्दरा आदि में निवास करो। अपने भोजन (खुराक) में चतुर्थ भाग हीन ऐसा प्रमाणयुक्त भोजन करो। बहु—प्रलापयुक्त, अल्प—असारवचन कभी भी मत बोलो। किसी भी कारण से उत्पन्न हुई अप्रीति—पीड़ा को समताभाव से सहन करो। निद्रा पर विजय पाओ। अकाल में नींद मत ले लो। सभी प्राणियों के साथ मैत्री की भावना करो, अर्थात् दूसरों को दुःख की उत्पत्ति न हो ऐसी ही भावना भाओ एवं वैराग्य की भावना भाओ; क्योंकि सभी प्रवचन का सारभूत यही है।

तथैव इन गुणों से युक्त भी होना चाहिए—

गाथार्थ—लोकव्यवहार रहित एकाकी, ध्यान में एकाग्रचित्त, आरम्भ रहित, कषाय और बाह्य परिग्रह से रहित, प्रयत्नपूर्वक क्रिया करनेवाले और संगरहित होओ ॥८९८॥

आचारवृत्ति—हे साधो ! तुम लोकव्यवहार से रहित होओ, ज्ञान दर्शन को छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है ऐसी एकत्व की भावना भाओ। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में एकाग्र-

---

१. बहुं द० क० २. वर्जित गिरि क० ३. तिष्ठ द० ४. मा चासारं कदाचिदपि वचनं जल्पान् ब्रूयात् इति द० क०

भवेत्तथा निरारम्भ आरंभान्निर्गतः स्यात्तथा त्यक्तकषायः क्रोधमानमायालोभादिरहितस्तथा त्यक्तपरिग्रहोऽथवा त्यक्तः कषायः परिग्रहो येनासौ त्यक्तकषायपरिग्रहो भवेत्तथा प्रयत्नचेष्टः सर्वथा प्रयत्नपरो भवेत्तथाऽसंगः संगं केनाऽपि मा कुर्यात्सर्वथा संगविवर्जितो भवेदिति ॥८९८॥

पुनरपि मुख्यरूपेण चारित्रस्य प्राधान्यं न श्रुतस्य यतः--

थोवम्हि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ॥८९९॥

स्तोकेऽहि शिक्षिते पञ्चनमस्कारमात्रेऽपि परिज्ञाते तस्य स्मरणे सति जयति बहुश्रुतं दशपूर्वधरमपि करोत्यधः यश्चारित्रसम्पन्नो यो यथोक्तचारित्रेण युक्तः, यः पुनश्चारित्रहीनः किं तस्य श्रुतेन बहुना । यतः स्तोकमात्रेण श्रुतेन सम्पन्नः सन् बहुश्रुतं जयति ततश्चारित्रं प्रधानमत्र ज्ञानस्य दर्शनस्य तपसोऽपि यतो हेयोपादेयविवेकमन्तरेण श्रद्धानमन्तरेण च सम्यक्चारित्रं न युज्यते ततः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यनेन सह न विरोध इति ॥८९९॥

चित्त होओ । सर्व आरम्भ से रहित होओ । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से तथा परिग्रह से रहित होओ अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह को छोड़ो, अथवा कषायरूपी परिग्रह से रहित होओ । सर्वथा सावधानीपूर्वक क्रियाएँ करो तथा किसी के साथ भी संगति मत करो ।

पुनरपि यह बताते हैं कि मुख्य रूप से चारित्र ही प्रधान है न कि श्रुतज्ञान, क्योंकि—

गाथार्थ—जो चारित्र से परिपूर्ण है वह थोड़ा शिक्षित होने पर भी बहुश्रुतधारी को जीत लेता है किन्तु जो चारित्र से रहित है उसके बहुत से श्रुत से भी क्या प्रयोजन ? ॥८९९ ।

आचारवृत्ति—जो यथोक्त चारित्र से सम्पन्न मुनिराज हैं वे थोड़ा भी शिक्षित होकर अर्थात् पंचनमस्कार मन्त्र मात्र का भी ज्ञान रखने और उस मन्त्र का स्मरण करने से ही दश-पूर्वधारी मुनि को भी नीचे कर देते हैं । किन्तु जो चारित्र से हीन हैं उन्हें अधिक श्रुत से भी क्या लाभ ? अर्थात् उन्हें मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती है । जिस हेतु ये अल्पमात्र भी श्रुत से सम्पन्न होकर बहुश्रुतधारी मुनि को जीत लेते हैं उसी हेतु यहाँ ज्ञान, दर्शन और तप में भी चारित्र ही प्रधान है । क्योंकि हेयोपादेय विवेक के बिना और श्रद्धान के बिना सम्यक्चारित्र होता ही नहीं है । इसलिए "सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं" इस सूत्र के साथ विरोध नहीं आता है ।

भावार्थ—यहाँ पर ऐसा कथन था कि चारित्रधारी मुनि भले ही णमोकार मन्त्र मात्र के ही जानकार हों किन्तु वे मोक्षप्राप्ति के अधिकारी हैं तो प्रश्न यह उठता है कि पुनः रत्नत्रय से मोक्ष मानना कहाँ रहा ? सो ही उत्तर दिया गया है कि श्रद्धान के बिना चारित्र सम्यक्-चारित्र नहीं कहलाता है और उस श्रद्धान के साथ जितना भी ज्ञान का अंश है वह सम्यग्ज्ञान ही है अतः रत्नत्रय से ही मोक्ष की व्यवस्था है, अन्यथा नहीं है, ऐसा समझना ।

---

१. क० मा कुर्वा: ।

तथैव प्रतिपादयन्नाह—

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि ।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण ॥९००॥

नौचारित्रयो रूपकालंकारमाह संसारसमुद्रतरणे—ननु समुद्रतरणे पोतेन भवितव्यं निर्यापकेन वातेन च तत्कथमेतस्यामाशंकायामाह—निर्यापको यः पोते सर्वमुपसर्गजातं पश्यति स निर्यापको ज्ञानं, वातो ध्यानं, चारित्रं नौः पोतः, भवः संसारः सागरः समुद्रो जलधिः, तु एवकारार्थः । भव्या रत्नत्रयोपेतमनुजास्तरन्ति समतिक्रामन्ति त्रिसंनिपातेन त्रयाणां संयोगेन । यथा निर्यापकवातनौसंयोगेन वणिजः समुद्रं तरन्ति एवं ज्ञानध्यानचारित्रसंयोगेन संसारं तरंत्येव भव्या इति ॥९००॥

किमिति कृत्वा त्रयाणां संयोगे मोक्ष इत्याशंकायामाह—

णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो ।
तिण्हं पि य संपजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥९०१॥

यतो ज्ञानं प्रकाशकं द्रव्यस्वरूपप्रदर्शकं हेयोपादेयविवेककारण, तपः शोधकं शोधयति कर्माणीति शोधकं सर्वकर्मणामपायकारणमात्रं, तपःशब्देन ध्यानं परिगृह्यते तस्य प्रस्तुतत्वादथवा सर्वस्य वा ग्रहणं

उसी बात को बतलाते हैं—

गाथार्थ—खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है और नौका चारित्र है। इन तीनों के संयोग से ही भव्य जीव भवसागर को तिर जाते हैं ॥९००॥

आचारवृत्ति—यहाँ सागर से तिरने के लिए नौका और चारित्र इन दोनों में रूपकालंकार को दिखाते हुए कहते हैं—

शंका—समुद्र को पार करने के लिए जहाज, खेवटिया और हवा होना चाहिए। सो यहाँ पर कैसे पार होंगे ?

समाधान—जो जहाज में सर्व उपद्रव समूह को देखता है वह कर्णधार ज्ञान है, हवा ध्यान है और चारित्र नाव है और यह संसार सागर है। गाथा में 'तु' शब्द एवकार अर्थ में है। अतः रत्नत्रय संयुक्त भव्य जीव ही इन तीनों के मिलने से संसार-सागर को पार कर लेते हैं। जैसे कर्णधार वायु और नौका के संयोग से व्यापारी समुद्र से पार हो जाते हैं वैसे ही ज्ञान, ध्यान और चारित्र के संयोग से भव्यजीव संसार से तिर ही जाते है।

किस कारण इन तीनों के संयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है, और संयम रक्षक है। इन तीनों के मिलने पर ही जिन-शासन में मोक्ष-प्राप्ति होती है ॥९०१॥

आचारवृत्ति—ज्ञान प्रकाशक है क्योंकि वह द्रव्यों के स्वरूप को प्रदर्शित करनेवाला है और हेयोपादेय विवेक का कारण है। तप कर्मों को शुद्ध करता है अतः शोधक है अर्थात् सर्व कर्मों के नाश का कारण है। यहाँ पर तप शब्द से ध्यान को ग्रहण किया है क्योंकि यहाँ

तत्प्रकरणपठितत्वाद् ध्यानस्य, संयमश्च गुप्तिकरः इन्द्रियनिग्रहो जीवदया च कर्मागमप्रतिबन्धकारणमतो ज्ञानेन प्रकाशिते संयमः परिहारो युक्तः परिहारे च ध्यानं निर्विघ्नतया प्रवर्ततेऽतस्त्रयाणामपि संयोगे भवति स्फुटं जिनशासने मोक्षो न पूर्वेण विरोधो द्रव्यार्थिकनयाश्रयणादिति ॥९०१॥

यदि पुनरेतै रहितानि ज्ञानलिंगतपांसि करोति तदा किं स्यात्—

णाणं करणविहीणं लिंगग्गहणं च संजमविहूणं ।
दंसणरहिदो य तवो जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ ॥९०२॥

ज्ञानं करणविहीनं करणशब्देनात्र षडावश्यकादिक्रियाचारित्रं परिगृह्यते, लिंगं जिनरूपमचेलकत्वादियुक्तता, लिंगस्य ग्रहणमुपादानं तत्संयमविहीनं संयमेन विना, दर्शनं सम्यक्त्वं तेन रहितं च तपो यः करोति स पुरुषः निरर्थकं कर्मनिर्जरारहितं करोति। ज्ञानं चारित्रविमुक्तं लिंगोपादानं चेन्द्रियजयरहितं दयारहितं च यः करोति सोऽपि न किंचित्करोतीति तस्मात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि युक्तान्येवेति ॥९०२॥

सम्यग्ज्ञानादियुक्तस्य तपसो ध्यानस्य च माहात्म्यमाह—

तवेण धीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खवंति मोहं ।
संखीणमोहा धुदरागदोसा ते उत्तमा सिद्धिगदिं वयंति ॥९०३॥

वही प्रकरण में है। अथवा सभी बारहों तपों को भी ग्रहण करना चाहिए क्योंकि ध्यान तो उनमें है ही। इन्द्रियनिग्रह और जीवदया रूप संयम कर्मों के आगमन में प्रतिबन्ध लगाने वाला है। इसलिए ज्ञान के द्वारा मार्ग के प्रकाशित होने पर संयम-त्याग युक्त ही है और त्याग के होने पर ध्यान निर्विघ्न रूप से प्रवृत्त होता है। अतः इन तीनों के मिलने पर ही स्पष्ट रूप से जिन शासन में मोक्ष-प्राप्ति होती है। पूर्व की गाथाओं के कथन से इसमें विरोध नहीं है क्योंकि वहाँ पर द्रव्यार्थिकनय का आश्रय लेकर कथन किया गया है।

भावार्थ—पहले गाथा ८९९ में जो चारित्र से ही मोक्ष का कथन है सो द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से है और इन दो गाथाओं में जो तीनों के संयोग की बात है सो पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से है।

यदि पुनः इनसे रहित कोई मुनि ज्ञान, लिंग अथवा तप इनमें से एक-एक को करते हैं तो क्या फल मिलेगा?

गाथार्थ—क्रिया रहित ज्ञान, संयम रहित वेषधारण और सम्यक्त्व रहित तप को जो करते हैं सो व्यर्थ ही करते हैं ॥९०२॥

आचारवृत्ति—षड्-आवश्यक क्रिया आदि तेरह क्रियारूप चारित्र ग्रहण करना करण है। अचेलकत्व आदि से युक्त जिनमुद्रा धारण करना लिंग है। अर्थात् तेरह प्रकार की क्रियाओं से रहित ज्ञान, इंद्रियजय और प्राणिदयारूप संयम से रहित निर्ग्रंथ वेष, और सम्यक्त्व रहित तप जो धारण करता है, वह निर्जरा रहित (निरर्थक) कर्म ही करता है। इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र युक्त ही मोक्षमार्ग है।

सम्यग्ज्ञान आदि से युक्त तप और ध्यान का माहात्म्य कहते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि तप से पाप नष्ट करते हैं, अध्यात्मयोग से मोह का क्षय करते हैं। पुनः, वे उत्तम पुरुष मोह रहित और रागद्वेष रहित होते हुए सिद्धगति प्राप्तकर लेते हैं ॥९०३॥

ततो ज्ञानादियुक्तेन तपसा धीराः सर्वसत्त्वसंपन्ना विधुन्वन्ति विनाशयन्ति पापं चारित्रमोहं कर्माण्यशुभानि, अध्यात्मयोगेन परमध्यानेन क्षपयन्ति प्रलयं नयन्ति मोहं[1] मिथ्यात्वादिकं ततः क्षीणमोहा मृतरागद्वेषा विनष्टज्ञानावरणदर्शनावरणान्तराया [2]निर्मूलिताशेषकर्माणश्च, ते संतस्ते साधव उत्तमाः सर्वप्रकृष्टगुणशीलोपेताः सिद्धिं गतिमनन्तचतुष्टयं प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति लोकाग्रमिति ॥१०३॥

पुनरपि ध्यानस्य माहात्म्यमाह—

लेस्साझाणतवेण य चरियविसेसेण सुग्गई होइ ।
तह्मा इदराभावे झाणं संभावए धीरो ॥१०४॥

विशेषशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । लेश्याविशेषेण तेजः पद्मशुक्ललेश्याभिः ध्यानविशेषेण धर्मध्यानशुक्लध्यानाभ्यां, तपोविशेषेण चारित्रानुकूलकायक्लेशादिभिः, चारित्रविशेषेण च सामायिकशुद्धिपरिहारच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसाम्परायययाख्यातचारित्रैः सुगतिर्भवति शोभना गतिः शुद्धदेवगतिः सिद्धिगतिर्मनुष्यगतिश्च दर्शनादियोग्या । यद्यपि विशेषशब्दश्चारित्रेण सह संगतस्तथापि सर्वैः सह संबध्यत इत्यर्थविशेषदर्शनादथवा[3] न चारित्रेण संबन्धः समासकरणाभावात्तस्मात्सर्वैः सह संबन्धः करणीयः[4], मध्ये च विभक्तिश्रवणं यत्तत्प्राकृतबलेन कृतं न तत्तत्र । अथवा सुगतिर्मोक्षगतिरेवाभिसंबध्यते यत एवं तस्मादितरेषामभावेऽपि लेश्यातपश्चारि-

---

आचारवृत्ति—वे सर्वशक्ति सम्पन्न मुनि ज्ञान आदि से युक्त तप के द्वारा पाप—चारित्रमोह और अशुभ कर्मप्रकृतियों का नाश कर देते हैं। अध्यात्म योग रूप परम ध्यान के द्वारा मिथ्यात्व आदि सर्व मोह को समाप्त कर देते हैं। पुनः वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और अशेष कर्मों को नष्ट करके तथा सर्व उत्तम—उत्तम गुणशीलों से युक्त होकर अनन्त-चतुष्टय रूप सिद्धगति को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं।

पुनरपि ध्यान के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—लेश्या, ध्यान और तप के द्वारा एवं चर्या विशेष के द्वारा सुगति की प्राप्ति होती है इसलिए अन्य के अभाव में धीर मुनि ध्यान की भावना करें। ॥१०४॥

आचारवृत्ति—गाथा का 'विशेष' शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। अतः लेश्याविशेष—तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या। ध्यानविशेष—धर्म-शुक्ल ध्यान। तपविशेष—चारित्र के अनुकूल कायक्लेश आदि। चारित्रविशेष—सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात। इनके द्वारा सुगति-शोभनगति, अर्थात् शुद्ध देवगति, सिद्धिगति और मनुष्यगति जो कि सम्यग्दर्शन आदि के योग्य हैं अथवा सुगति से मोक्षगति समझना चाहिए। इतर के अभाव में भी अर्थात् लेश्या, तप और चारित्र के अभाव में भी धीर अच्छी तरह समीचीन ध्यान का प्रयोग करे क्योंकि ये सब ध्यान में अन्तर्भूत हैं। तात्पर्य यही है कि यद्यपि सभी के द्वारा सुगति होती है फिर भी ध्यान प्रधान है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है।

---

१. क० दर्शनमोहं मिथ्यात्वादिकं। २. क० निर्मूलित-शेषकर्माणश्च। ३. क० इत्यर्थो।
४. क० धर्मध्यानशुक्लध्यान-तपोविशेषेण।

गाथाबन्धेऽपि ध्यानं संभावयेद्धीरः सम्यग्ध्यानं प्रयोजयेद्यतः सर्वाण्येतानि ध्यानेऽन्तर्भूतानि। सर्वेषामपि युक्तिर्भवति तथापि ध्यानं प्रधानं यतः सम्यग्दर्शनाविनाभावि ॥१०४॥

सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यमाह—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥१०५॥

सम्यक्त्वाज्जिनवचनश्रद्धानात् ज्ञानं स्यात्सम्यक्त्वेन ज्ञानस्य शुद्धिर्यतः क्रियतेऽतः सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वाद् भवति, सम्यग्ज्ञानाच्च सर्वभावोपलब्धिर्भवति यतः सर्वेषां द्रव्याणां पदार्थानामस्तिकायानां सभेदानां सपर्यायाणां च सम्यग्ज्ञानेन परिच्छित्तिः क्रियते। दर्शनस्य विषयो विविक्तो[1] न भवति ज्ञानात् कथं तर्हि तत्पूर्वकं ज्ञानं, नैष दोषो विपरीतानध्यवसायाकिंचित्करत्वादीनि स्वरूपाणि ज्ञानस्य सम्यक्त्वेनापनीयन्ते। उपलब्धपदार्थश्च पुनः श्रेयः पुण्यं कर्मापायकारणं चाश्रेयः पापं कर्मबन्धकारणं च विजानाति सम्यगवबुध्यत इति ॥१०५॥

तथा—

गाथा में यद्यपि विशेष शब्द चारित्र के साथ लगा हुआ है फिर भी सभी के साथ सम्बन्धित कर लिया गया है। इस कथन से अर्थविशेष देखा जाता है। अथवा चारित्र के साथ सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि उसमें समास नहीं हुआ है इसीलिए सभी के साथ सम्बन्ध किया गया है। मध्य में जो विभक्ति नहीं दिख रही है अर्थात् 'चरिय विसेसेण' ऐसा पाठ है सो वह प्राकृत व्याकरण के अनुसार है, ऐसा समझना।

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बतलाते हैं—

गाथार्थ—सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से सभी पदार्थों का बोध होता है और सभी पदार्थों को जानकर पुरुष हित-अहित जान लेते हैं। ॥१०५॥

आचारवृत्ति—जिनवचनों की श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। उससे ज्ञान होता है अर्थात् उस सम्यक्त्व से ज्ञान की शुद्धि होती है। अतः सम्यक्त्व से ही सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से भेद-प्रभेद सहित, पर्यायों सहित सर्वद्रव्यों का, पदार्थों का और अस्तिकायों का बोध होता है।

शंका—सम्यग्दर्शन का विषय ज्ञान से भिन्न नहीं है तो फिर तत्पूर्वक ज्ञान कैसे हुआ?

समाधान—ऐसा दोष आप नहीं दे सकते हैं, क्योंकि ज्ञान के विपरीत अनध्यवसाय और अकिंचित्कर आदि स्वरूप सम्यक्त्व से ही दूर किये जाते हैं।

पुनः पदार्थों के ज्ञानी मनुष्य श्रेय—पुण्य अर्थात् कर्मों को दूर करने के कारण और अश्रेय—पाप अर्थात् कर्मबन्ध के कारण अच्छी तरह से जान लेते हैं।

उसी को और कहते हैं—

---

१. क० विविक्तो भवति।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ॥१०६॥

ततः श्रेयसोऽश्रेयसश्च विद् वेत्ता श्रेयोऽश्रेयोवित्सन् उद्धूतदुःशीलः सन् शीलवानष्टादशशीलसहस्राधारः स्यात्ततः शीलफलेनाभ्युदयः संपूर्णचारित्रं अथवोद्धूतदुःशीलो निवृत्तपापक्रियः स्यात्ततश्चारित्रसमन्वितः स्यात्तच्च शीलं तस्मात्फलाभ्युदयः स्वर्गादिसुखाद्यनुभवनं ततश्च लभते पुनर्निर्वाणं सर्वकर्मापायोत्पन्नसुखानुभवनमिति ततः सर्वेण[1] पूर्वग्रन्थेन चारित्रस्य माहात्म्यं उक्तम् ॥१०६॥

यतश्च सम्यक्चारित्रात्सुगतिस्ततः —

सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि।
समणं भट्ठचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ॥१०७॥

चारित्रस्य प्राधान्यं यतः सर्वमपि श्रुतज्ञानं सुष्ठु कालादिशुद्ध्या शोभनविधानेन परिणामशुद्ध्या गुणितं परिवर्तितं सुष्ठु पठितं च शोभनविधानेन श्रुतं व्याख्यातमवधारितं च सत्, श्रमणं यतिं भ्रष्टचारित्रं चारित्रहीनं नैव खलु स्फुटं शक्तं समर्थं सुगतिं नेतुं प्रापयितुमथवा न शक्नोति परमगतिं नेतुमित्यतश्चारित्रं प्रधानमिति ॥१०७॥

इममेवार्थं दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

गाथार्थ—श्रेय और अश्रेय के ज्ञाता दुःशील का नाश करके शीलवान् होते हैं, पुनः उस शील के फल से अभ्युदय तथा निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥१०६॥

आचारवृत्ति—श्रेय और उसके कारणों के तथा अश्रेय और उसके कारणों के वेत्ता मुनि दुःशील—पाप क्रिया से निवृत्त होकर चारित्र से समन्वित होते हुए अठारह हजार शील के आधार हो जाते हैं। उसके प्रसाद से स्वर्गादि सुखों का अनुभवरूप अभ्युदय प्राप्त कर अन्त में सर्व कर्मों के अपाय से उत्पन्न हुए सुखों के अनुभवरूप निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए सभी पूर्व ग्रन्थों से चारित्र का माहात्म्य कहा गया है।

जिस कारण से सम्यक्चारित्र से सुगति होती है वही कहते हैं

गाथार्थ—अच्छी तरह पढ़ा हुआ भी और अच्छी तरह गुना हुआ भी सारा श्रुतज्ञान निश्चित रूप से भ्रष्टचारित्र श्रमण को सुगति प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है ॥१०७॥

आचारवृत्ति—सभी श्रुतज्ञान, अच्छी तरह—काल आदि की शुद्धिरूप शोभन-विधान से पढ़ा हुआ और परिणाम की शुद्धि से गुना—परिवर्तित किया हुआ तथा अच्छी तरह से सुना—अवधारण किया हुआ हो तो भी वह (श्रुतज्ञान) चारित्रहीन मुनि को स्पष्ट रूप से परमगति को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है। इसलिए चारित्र की प्रधानता है।

यही अर्थ दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

---

१. क० सर्वग्रन्थेन।

जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥९०८॥

ननु शिक्षाफलेन भवितव्यमित्याशंकायामाह—यदि प्रदीपहस्तोऽप्यवटे कूपे पतति ततः किं करोति तस्यासौ प्रदीपः। प्रदीपो हि गृहीतश्चक्षुरिन्द्रियसहकारित्वेन हेयोपादेयनिरूपणाय च तद्यदि न कुर्यात्तर्हि तद्ग्रहणं न किंचित्प्रयोजनं एवं यदि १श्रुतज्ञानं शिक्षित्वा सम्यगवधार्यापि चारित्रभंगं करोति किं तस्य शिक्षाफलं बाधता हि न किंचित्। श्रुतावधारणस्यैतत्फलं चारित्रानुष्ठानं तद्यदि न भवेच्छ्रुतमप्यश्रुतकल्पमर्थक्रियाऽभावादिति ॥९०८॥

एवं चारित्रस्य प्राधान्यमुपन्यस्य शुद्धिकारणमाह—

पिंडं सेज्जं उवधिं उग्गमउप्पायणेसणादीहिं।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधणयं होदि सुचरित्तं ॥९०९॥

पिंडं भिक्षां, शय्यां वसत्यादिकं, उपधिं ज्ञानोपकरणं शौचोपकरणं चेति उद्गमोत्पादनैषणादिभ्यो दोषेभ्यः शोधयंश्चारित्ररक्षणार्थं सुचरित्रो भवति। अथवा चारित्ररक्षणार्थं पिंडमुपधिं शय्यां च शोधयतः

गाथार्थ—यदि दीपक हाथ में लिये हुए मनुष्य गर्त में गिरता है तो उसके लिए भी दीपक क्या कर सकता है? यदि कोई शिक्षित होकर भी अन्याय करता है तो उसके लिए शिक्षा का फल क्या हो सकता है? ॥९०८॥

आचारवृत्ति—शिक्षा का फल होना ही चाहिए सो ही कहते हैं—दीपक चक्षु इन्द्रिय का सहकारी होने से उसे हेय तथा उपादेय दिखलाने के लिए लिया जाता है। यदि कोई उस दीपक से वह कार्य न करे तो उस दीपक के ग्रहण से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। उसी प्रकार से यदि कोई श्रुतज्ञान को पढ़कर, अच्छी तरह उसका अवधारण करके भी चारित्र को भंग कर देता है तो फिर उसकी शिक्षा का फल क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यही है कि श्रुत के शिक्षण का फल है चारित्र का अनुष्ठान करना। यदि वह नहीं है तो वह श्रुत भी अश्रुत के सदृश है क्योंकि वह अपने कार्य को नहीं कर रहा है।

इस प्रकार से चारित्र की प्रधानता को कहकर अब शुद्धि के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—चारित्र की रक्षा के लिए उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि के द्वारा आहार, वसतिका और उपकरण का शोधन करता हुआ सुचारित्र सहित होता है ॥९०९॥

आचारवृत्ति—पिण्ड—आहार, शय्या—वसतिका आदि, उपधि—ज्ञानोपकरण-शास्त्र और शौचोपकरण-कमण्डलु हैं। इनका उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषों से शोधन करते हुए मुनि चारित्र की रक्षा के लिए सुचारित्रधारी होते हैं। अथवा चारित्र रक्षा हेतु आहार, उपकरण और वसतिका का शोधन करते हुए मुनि के ही सुचारित्र होता है। इनमें उद्गम, उत्पादन

---

१. क० पुनर्ज्ञानं।

सुचरितं भवति शुद्धिश्च तेषामुद्गमोत्पादनैषणादोषाणामभाव इति। अथवा पिण्डादीनामुद्गमादिदोषेभ्यो शोधनं यच्चारित्ररक्षणार्थं तत्सुचरितं भवतीति ॥९०९॥

येन लिंगेन तच्चारित्रमनुष्ठीयते तस्य लिंगस्य भेदं स्वरूपं च निरूपयन्नाह—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥९१०॥

अचेलकत्वं चेलशब्देन सर्वोऽपि वस्त्रादिपरिग्रह उच्यते, यथा तालशब्देन सर्वोऽपि वनस्पतिः, तालफलं न भक्ष्यं इत्युक्ते सर्वं वनस्पतिफलं न भक्षयिष्यामीति ज्ञायते, एवं चेलपरिहारेण सर्वस्य परिग्रहस्य परिहारः, न चेलकत्वमचेलकत्वं सर्वपरिग्रहपरिहरणोपायः, एतदप्यचेलकत्वमुपलक्षणपरं तेनाचेलकत्वौद्देशिकादयः सर्वेऽपि गृह्यन्त इति। लोचः स्वहस्तपरहस्तैर्मस्तककूर्चगतकेशापनयनं। व्युत्सृष्टशरीरता च स्नानाभ्यंजनांजनपरिमर्दनादि-संस्काराभावः। प्रतिलेखनं मयूरपिच्छग्रहणम्। अचेलकत्वं नैःसंग्यचिह्नं, सद्भावनायाश्चिह्नं लोचः, व्युत्सृष्टदेहत्वमपरागतायाश्चिह्नं, दयाप्रतिपालनस्य लिंगं [1]मयूरपिच्छिकाग्रहणमिति, एवं एवं लिंगकल्पो लिंगविकल्पश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्यश्चारित्रोपकारकत्वादिति ॥९१०॥

अथ के तेऽचेलकत्वादय इत्याशंकायामाह—

और अशन दोषों का न होना ही शुद्धि है। तात्पर्य यही है कि चारित्र की रक्षा हेतु आहार आदि का उद्गम आदि दोषों से जो शोधन करना है वही सुचारित्र होता है।

जिस लिंग से वह चारित्र अनुष्ठित किया जाता है, उस लिंग का भेद और स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—नग्नत्व, लोच, शरीरसंस्कारहीनता और पिच्छिका यह चार प्रकार का लिंगभेद जानना चाहिए ॥९१०॥

आचारवृत्ति—अचेलकत्व में 'चेल' शब्द से सभी वस्त्रादि परिग्रह कहे जाते हैं। जैसे तालशब्द से सभी वनस्पतियाँ कही जाती हैं। ताल का फल नहीं खाना चाहिए, ऐसा कहने पर 'सभी वनस्पतियों के फल नहीं खाऊँगा' ऐसा जाना जाता है। इसी तरह 'चेल' के त्याग से सभी परिग्रह का त्याग होता है 'न चेलकपना-अचेलकपना' अर्थात् सर्व परिग्रह के त्याग का उपाय। यहाँ पर यह 'अचेलकत्व' उपलक्षण मात्र है। अतः उससे अचेलकत्व, औद्देशिक आदि सभी गुणों का ग्रहण हो जाता है। लोच अर्थात् स्वहस्त अथवा परहस्तों से शिर और मूछ दाढ़ी के केशों को उखाड़ना। शरीरसंस्कारहीनता—स्नान, उबटन, अंजन, तैलपरिमर्दन आदि से संस्कार का नहीं करना। प्रतिलेखन—मयूरपिच्छिका ग्रहण करना। तात्पर्य यह है कि अचेलकत्व का चिह्न निःसंगता है, केश लोच सद्भावना का चिह्न है, शरीरसंस्कारहीनता वीतरागता का चिह्न है, मयूरपिच्छिका का ग्रहण दयाप्रतिपालन का चिह्न है। इस प्रकार से यह चार तरह का लिंग जानना चाहिए जो कि चारित्र का उपकारक है।

वे अचेलकत्व आदि कौन-कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

---

1. क० मयूरपिच्छग्रहणं।

अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥९११॥

अचेलकत्वं वस्त्राद्यभावः, अत्र यो नञ् स उत्तरत्राभिसंबन्धनीयः, यथा चेलकस्याभावस्तथौद्देशिकस्याभावस्तथा शय्यागृहस्याभावस्तथा राजपिंडस्याभावः। उद्दिश्य न भुंक्ते, उद्देशे भवस्य दोषस्य परिहारोऽनौद्देशिको मदीयायां वसतिकायां यस्तिष्ठति तस्य दानादिकं ददामि नान्यस्येत्येवमभिप्रेतस्य दानस्य परिहारः, शय्यागृहपरिहारो [1]मठगृहमपि शय्यागृहमित्युच्यते तस्यापि परिहारः, राजपिंडस्य परित्यागो वृष्याभ्यस्येन्द्रियप्रवर्धनकारिण आहारस्य परित्यागोऽथवा स्वार्थं दानशालाया ग्रहणं यत्तस्य परित्यागः, कृतिकर्म स्वेन वंदनादिकरणे उद्योगः, व्रतान्यहिंसादीनि तैरात्मभावनं तैः सह संयोगः संवासस्तद्व्रतं, ज्येष्ठो ज्येष्ठत्वं मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतानां ज्येष्ठः सर्वेषां पूज्यो बहुकालप्रव्रजितायाः अप्यार्यिकाया अद्य प्रव्रजितोऽपि महांस्तथेन्द्रचक्रधरादीनामपि महान् यतोऽतो ज्येष्ठ इति, प्रतिक्रमणं सप्तप्रतिक्रमणैरात्मभावनं दैवसिकादिप्रतिक्रमणानुष्ठाने;[2] मासो योगग्रहणात्प्राङ्मासमात्रमव-

---

गाथार्थ—अचेलकत्व, औद्देशिक त्याग, शय्यागृह त्याग, राजपिण्ड त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, और पर्या ये दश श्रमण कल्प हैं। ॥९११॥

आचारवृत्ति—अचेलकत्व अर्थात् वस्त्रादि का अभाव। यहाँ अचेलकत्व में जो 'नञ्' समास है उसका आगे के शब्दों से भी सम्बन्ध कर लेना चाहिए। जैसे, चेलक का अभाव-अचेलकत्व। ऐसे ही औद्देशिक का अभाव, शय्यागृह का अभाव और राजपिण्ड का अभाव। औद्देशिक-त्याग—उद्देश्य करके भोजन न करे, अर्थात् उद्देश से होने वाले दोष का परिहार करना अनौद्देशिक है। शय्यागृहत्याग—मेरी वसतिका मे जो ठहरे है उन्हें मैं आहार-दान आदि दूँगा अन्य को नहीं इस प्रकार के अभिप्राय से दिये हुए दान को न लेना शय्यागृहत्याग है। मठगृह को भी शय्यागृह कहते हैं, उसका परिहार करना। राजपिण्डत्याग—राजा के यहाँ आहार का त्याग करना अर्थात् गरिष्ठ, इन्द्रियों में उत्तेजना उत्पन्न करने वाले आहार का त्याग करना अथवा स्वार्थ—दानशाला के आहार-ग्रहण का त्याग करना। कृतिकर्म—वन्दना आदि क्रियाओं के करने में उद्यम करना।

व्रत—अहिंसा आदि व्रत कहलाते हैं। उन व्रतों से आत्मा की भावना करना अर्थात् उन व्रतों के साथ संवास करना।

ज्येष्ठ—बड़प्पन। मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इनमें ज्येष्ठ होना—सभी का पूज्य होना। जिस हेतु से बहुत काल से दीक्षित भी आर्यिका से आज का दीक्षित भी मुनि महान् है, उसी प्रकार इन्द्र, चक्रवर्ती आदि से भी महान् है, उसी हेतु से वह ज्येष्ठ कहलाते हैं।

प्रतिक्रमण—सात प्रकार के प्रतिक्रमणों द्वारा आत्म भावना करना अर्थात् दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के अनुष्ठान में तत्पर रहना।

मास—वर्षायोग ग्रहण से पहले एकमास पर्यन्त रहकर वर्षाकाल में वर्षायोग ग्रहण

---

१. एषा पंक्तिः 'क' प्रतौ नास्ति। २. क० नुष्ठानं।

स्थानं कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य[1] मासमात्रमवस्थानं कर्तव्यम्। लोकस्थितिज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ्मासमात्रावस्थानस्य पश्चाच्च मासमात्रावस्थानं श्रावकलोकादिसंक्लेशपरिहरणायाथवा ऋतौ ऋतौ मासमासमात्रं स्थातव्यं मासमात्रं च विहरणं कर्तव्यमिति मासः श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योगग्रहणं चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नन्दीश्वरकरणं च मासश्रमणकल्पः। पज्जो—पर्या पर्युपासनं निषद्यकायाः पंचकल्याणस्थानानां च सेवनं पर्येत्युच्यते, श्रमणस्य श्रामण्यस्य वा कल्पो विकल्पः अनेन प्रकारेण दशप्रकारः श्रमणकल्पो वेदितव्य इति ॥९११॥

लोचो मूलगुणे व्याख्यातस्तथा व्युत्सृष्टशरीरत्वं चास्नानमूलगुणे व्याख्यातमतो न तयोरिह प्रपंचस्ततः प्रतिलेखनस्वरूपमाह—

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥९१२॥

रजःस्वेदयोर्यत्राग्रहणं रजसा पांस्वादिना प्रस्वेदेन च यन्मलिनं न भवति। रजसोऽग्रहणमेकः गुणः, स्वेदस्य चाग्रहणं द्वितीयो गुणः, मार्दवं मृदुत्वं चक्षुषि प्रक्षिप्तमपि न व्यथयति यतः स तृतीयो गुणः, सुकुमारता सौकुमार्यं दर्शनीयरूपं चतुर्थो गुणः, लघुत्वं च गुरुत्वस्याभावः प्रमाणस्थानमुत्क्षेपणादौ योग्यता पंचमो गुणः,

---

करना तथा वर्षायोग को समाप्त करके पुनः एक मास तक अवस्थान करना चाहिए। लोकस्थिति को बतलाने के लिए और अहिंसा आदि व्रतों का पालन करने के लिए वर्षायोग के पहले एक मास रहने का और अनन्तर भी एक मास तक रहने का विधान है सो यह श्रावक आदिकों के संक्लेश का परिहार करने के लिए है। अथवा ऋतु-ऋतु में (दो माह की एक ऋतु) अर्थात् प्रत्येक ऋतु में एक-एक मास तक रहना चाहिए और एक-एक मास तक विहार करना चाहिए। ऐसा यह 'मास' नाम का श्रमण कल्प है। अथवा वर्षाकाल में वर्षा योग ग्रहण करना और चार-चार महिनों में नन्दीश्वर करना सो यह मास श्रमणकल्प है।

पर्या—पर्युपासन को पर्या कहते हैं। निषद्यका स्थान और पंचकल्याणक स्थानों की उपासना करना पर्या है।

ये श्रमण के दश भेद हैं अथवा मुनि के योग्य दश विकल्प हैं, ऐसा समझना।

लोच का तो मूलगुणों में वर्णन कर दिया है तथा शरीरसंस्कारहीनता का अस्नान मूलगुण में व्याख्यान हो गया है अतः इन दोनों का यहाँ पर वर्णन नहीं करेंगे। अब यहाँ पर प्रतिलेखन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—धूलि और पसीना को ग्रहण नहीं करना, मृदु होना, सुकुमार होना और लघु होना, जिसमें ये पाँच गुण है उस प्रतिलेखन की गणधरदेव प्रशंसा करते हैं ॥ ९१२ ॥

आचारवृत्ति—मयूरपंखों की पिच्छिका का नाम प्रतिलेखन है। धूलि को ग्रहण नहीं करना एक गुण है, पसीना को ग्रहण नहीं करना दूसरा गुण है, चक्षु में फिराने पर भी पीड़ा नहीं करना अर्थात् मृदुता तीसरा गुण है, सुकुमारता चौथा गुण है अर्थात् यह देखने योग्य, सुन्दर और कोमल है, तथा उठाने में या किसी वस्तु को परिमार्जित करने आदि में

---

1. क० समापयित्वा।

यस्मैते पंचगुणा द्रव्ये सन्ति तत्प्रतिलेखनं मयूरपिच्छग्रहणं प्रशंसन्त्यभ्युपगच्छन्त्याचार्या गणधरदेवादय इति ॥९१२॥

ननु चक्षुषैव प्रमार्जनं क्रियते किमर्थं प्रतिलेखनधारणं, नैव दोषो न हि चक्षुः सर्वत्र प्रवर्तते यतः—

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा 'अक्खिणो अगेज्झा हु ।
तह्मा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥९१३॥

सूक्ष्माः सुष्ठु क्षुद्राः, हु—स्फुटं, सन्ति विद्यन्ते, प्राणा द्वीन्द्रियादय' एकेन्द्रियाश्च, दुःप्रेक्ष्या दुःखेन दृश्या मांसचक्षुषा चाग्राह्या मांसमयेक्षणेन ग्रहीतु न शक्या यत एव तस्मात्तेषां जीवानां दयानिमित्तं प्राणसंयम-प्रतिपालनार्थं प्रतिलेखनं धारयेन्मयूरपिच्छिकां' गृह्णीयाद्भिक्षुः साधुरिति ॥९१३॥

प्रतिलेखनमन्तरेण न साधुः —

उच्चारं पस्सवणं णिसि सुत्तो उट्ठिदो हु काऊण ।
अप्पडिलिहिय सुवंतो जीववहं कुणदि णियदं तु ॥९१४॥

उच्चारं पुरीषोत्सर्गं प्रस्रवणमूत्रश्लेष्मादिकं च कृत्वा निशि रात्रौ प्रसुप्तो निद्राक्रान्त उत्थितश्चेतयमानोऽपि चक्षुषोऽप्रसरेऽप्रतिलेख्य प्रतिलेखनमंतरेण पुनःस्वपन् गच्छन्नुद्वर्तनपरावर्तनानि च कुर्वन् जीववधं जीवानां वधं जीवघातनं परितापनादिकं च नियतं निश्चितं निश्चयेन करोति। निशि सुप्तः पुनरुत्थित उच्चारं प्रस्रवणं

हल्की है अतः इसमें लघुत्व है जो पाँचवाँ गुण है। जिस प्रतिलेखन में ये पाँच गुण पाये जाते हैं उस मयूरपंखों के प्रतिलेखन—पिच्छिका के ग्रहण करने की ही गणधरदेव आदि आचार्यगण प्रशंसा करते हैं और ऐसा प्रतिलेखन ही वे स्वीकार करते हैं।

चक्षु से भी तो प्रमार्जित किया जा सकता है तब पिच्छिका धारण करना किसलिए अनिवार्य है ? ऐसा नहीं कहना क्योंकि चक्षु सर्वत्र प्रवृत्ति नहीं करती है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—बहुत से प्राणी सूक्ष्म होने से दिखते नहीं हैं क्योंकि वे चक्षु से भी ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। इसलिए जीवदया के लिए प्रतिलेखन धारण करे॥ ९१३ ॥

आचारवृत्ति—बहुत से द्वीन्द्रिय आदि जीव तथा एकेन्द्रिय जीव अत्यन्त सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते हैं, चर्म चक्षु से ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। उन जीवों की दया हेतु व प्राणी संयम के पालन हेतु मुनिराज मयूरपंखों की पिच्छिका ग्रहण करें।

पिच्छिका के बिना वे साधु नहीं होते हैं—

गाथार्थ—जो रात में सोते से और उठकर मल-मूत्र विसर्जन करके प्रतिलेखन किये बिना सो जाता है वह साधु निश्चित ही जीववध करता है॥ ९१४ ॥

आचारवृत्ति—जो साधु रात्रि में सोते से जाग कर अँधेरे में पिच्छिका के अभाव में परिमार्जन किये बिना मल-मूत्र कफ आदि विसर्जन करके या करवट आदि बदलकर पुनः सो जाता है वह निश्चित ही जीवों को परितापन आदि पीड़ा पहुँचा देता है। अर्थात् रात्रि में

---

१. क० अंस चक्खुणोऽगेज्झा। २. क० द्वीन्द्रिया। ३. क० मयूरपिच्छं।

च कृत्वा पुनः स्वपन् प्रतिलेखनमंतरेण निश्चयेन जीवविघातादिकं च कुर्यादिति ॥९१४॥

ननु प्रतिलेखनेनाऽपि जीवानां पीडा भवतीति ततः किमुच्यते प्रतिलेखनधारणमित्याशंक्य प्रतिलेखनस्य कस्यापि सौकुमार्यमाह—

ण य होदि णयणपीडा अच्छिं पि भमाडिदे दु पडिलेहे।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो ॥९१५॥

न च भवति नयनपीडा चक्षुषो व्यथा अक्ष्णि नयनेऽपि भ्रामिते प्रवेशिते प्रतिलेखे मयूरपिच्छे, यतस्ततः सूक्ष्मत्वादियुक्तो लघुप्रमाणस्थः प्रतिलेखो भवति कर्तव्यो जीवदयानिमित्तमिति ॥९१५॥

प्रतिलेखनास्थानान्याह—

ठाणे चंकमणादाणे णिक्खेवे सयणआसण पयत्ते।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे ॥९१६॥

स्थाने कायोत्सर्गे चंक्रमणे गमने आदाने कुंडिकादिग्रहणे निक्षेपे पुस्तकादीनां निक्षेपणे शयने आसने [1]उद्वर्तनपरावर्तनादौ संस्तरग्रहणे भुक्तोच्छिष्टप्रमार्जने च यत्नेन प्रतिलेखनेन प्रतिलिख्यते प्रमार्ज्यंते जीवानां रक्षा क्रियते यतो लिंगं च चिह्नं च स्वपक्षे भवति यतोऽयं वाताधिको न भवति संयतोऽयमिति लिंगं भवति

सोकर पुनः उठकर मल-मूत्रादि करके पुनः सोते हुए, पिच्छिका के बिना निश्चय से जीव का घात आदि होता है अतः साधु को पिच्छिका अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

यदि प्रतिलेखन से भी जीवों को पीड़ा होती है तो प्रतिलेखन धारण करना क्यों कहा? ऐसी आशंका होने पर कौन-सा प्रतिलेखन सुकुमार होता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—प्रतिलेखन को नेत्र में फिराने पर भी नेत्रों में पीडा नहीं होती है। इसलिए सूक्ष्म आदि और हल्की पिच्छिका ग्रहण करना चाहिए ॥९१५॥

आचारवृत्ति—मयूर पिच्छ के प्रतिलेखन को आँखों में डालकर फिराने पर भी व्यथा नहीं होती है। इसलिए सूक्ष्मत्व आदि से युक्त लघु प्रमाण वाली ही पिच्छिका जीव-दया के लिए लेनी चाहिए।

प्रतिलेखन के स्थान को कहते हैं—

गाथार्थ—ठहरने में, चलने में, ग्रहण करने में, रखने में, सोने में, बैठने में साधु प्रतिलेखन से प्रयत्नपूर्वक परिमार्जन करते हैं क्योंकि यह उनके अपने (मुनि) पक्ष का चिह्न है ॥९१६॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में, गमन करने में, कमंडलु आदि के ग्रहण करने में, पुस्तक आदि के रखने में, सोते समय संस्तर-चटाई, पाटा आदि के ग्रहण करने में, हाथ-पैर सिकोड़ने, या फैलाने में, करवट बदलने में, बैठने में, तथा आहार के अनन्तर उच्छिष्ट के परिमार्जन में, इत्यादि प्रसंगों में साधु पिच्छिका से सावधानी पूर्वक परिमार्जन करते हैं अर्थात् जीवों की रक्षा करते हैं क्योंकि यह अपने (दिगम्बर) आम्नाय का चिह्न है। इस मनुष्य को वातरोग नहीं है अर्थात् यह पागल नहीं है प्रत्युत संयत मुनि है, ऐसी पहचान इस पिच्छिका से होती है। इसलिए

---

1. क० उद्वर्तनपरावर्तने।

ततः प्रतिलेखनधारणं साधूक्तं युक्त्यागमाविरोधि[1] चेति। न च प्राणिघातयोगात्तेषामुत्पत्तिः कार्तिकमासे स्वत एव पतनात्, यथाहारस्य शुद्धिः क्रियते एवमुपकरणादिकस्यापि कार्येति ॥९१६॥

अनेन लिंगेन युक्तस्याचरणफलमाह—

पोसह उवहोपक्खे तह साहू जो करेदि णावाए।
णावाए कल्लाणं चादुम्मासेण णियमेण ॥९१७॥[2]

अनेन लिंगेन युक्तः सन् साधुर्यः करोति प्रोषधमुपवासमुभयपक्षयोः कृष्णचतुर्दश्यां शुक्लचतुर्दश्यां च, णावाए—नापाये तयोरविनाशे सति, णावाए—नयते प्राप्नोति, कल्याणं परमसुखं, चातुर्मासेन चातुर्मासिकप्रतिक्रमणेन, नियमेन सांवत्सरिकप्रतिक्रमणेन च सह, नियमेन निश्चयेन वा। चातुर्मासिकोपवासेन सांवत्सरिकोपवासेन च सह यः साधुः कृष्णचतुर्दश्यां शुक्लचतुर्दश्यां चोपवासं करोति निरन्तरमभुंजन् स प्राप्नोति कल्याणं निश्चयेन। अथवा कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे चोपवासं यः करोति साधुरपायमंतरेण स साधुश्चातुर्मासिकेन नियमेन कल्याणं प्रायश्चित्तं तथापि प्राप्नोत्यथवा न प्राप्नोतीति संबन्ध इति ॥९१७॥

पिच्छिका ग्रहण करना ठीक ही कहा गया है। यह युक्ति और आगम से अविरुद्ध चिह्न है।

इसकी उत्पत्ति प्राणियों के घात के योग से नहीं होती है, कार्तिक मास में स्वतः ही ये पंख गिर जाते हैं। अर्थात् कार्तिक मास में मोर के पंख स्वयं झड़ जाते हैं, वे जीवघात करके नहीं लाये जाते अतः ये पंख सर्वथा निर्दोष हैं और अत्यन्त कोमल हैं। जिस प्रकार से आहार की शुद्धि की जाती है अर्थात् उद्‌गम, उत्पादन आदि दोषों से रहित आहार लिया जाता है उसी प्रकार से उपकरण आदि की भी शुद्धि करनी चाहिए।

इस चिह्न से युक्त मुनि के आचरण का फल कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु बिना अपाय-दोष के जैसे होवे वैसे दोनों पक्ष में प्रोषध करता है वह चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के साथ कल्याण को प्राप्त कर लेता है ॥९१७॥

आचारवृत्ति—जो साधु इस पिच्छिका आदि लिंग से सहित होते हुए कृष्ण चतुर्दशी और शुक्ल चतुर्दशी में बिना व्यवधान के उपवास करते हैं और चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण करते हैं अथवा निश्चय से चातुर्मास करते हैं वे परमसुख को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् जो साधु चातुर्मासिक उपवास और सांवत्सरिक उपवास के साथ कृष्ण चतुर्दशी तथा शुक्ल चतुर्दशी को हमेशा उपवास करते हैं वे कल्याणरूप परमसुख के भागी होते हैं। अथवा जो साधु बिना बाधा के कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष में उपवास करते हैं फिर भी वे चातुर्मासिक नियम से 'कल्याण' नामक प्रायश्चित को प्राप्त होते हैं अथवा नहीं भी प्राप्त होते हैं, ऐसा सम्बन्ध करना।

---

१. क० युक्त्यागमाविरोधाच्च।

२. फलटन से प्रकाशित मूलाचार में इसके पहले निम्नलिखित एक गाथा और मिलती है—

ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं।
दसकत्तरिठाणगदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं॥"

अर्थात् जो मुनि अपने पास पिच्छिका नहीं रखता वह कायोत्सर्ग के समय, बैठने के समय, आने-जाने के समय अपनी देह की क्रिया से जीवों का घात करता है अतः उसे मुक्ति नहीं मिलती। (यहाँ 'दस कत्तरि' शब्द का अर्थ विचारणीय है। वैसे शास्त्र में मुनि के लिए बिना पिच्छिका के दस पग से अधिक गमन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।)

एवं पिंडादिकं शोधयतः सुचरित्रं भवति, यः पुनर्न शोधयेत्तस्य फलमाह—

पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो ॥९१८॥

पिंडमुपधिं शय्यां चाहारोपकरणावासादिकमविशोध्य च शुद्धिमकृत्वा यो भुंक्ते सेवते श्रमणः स मूलस्थानं प्राप्तो गृहस्थः संजातः भुवने लोकमध्ये चासौ श्रामण्यतुच्छो यतित्वहीनो भवेदिति ॥९१८॥

तथा—

तस्स ण सुज्झइ चरियं तवसंजमणिच्चकालपरिहीणं।
आवासयं ण सुज्झइ चिरपव्वइयो वि जइ होइ ॥९१९॥

पिंडादिशुद्धिमन्तरेण यस्तपः करोति तस्य न शुध्यति चारित्रं तपःसंयमाभ्यां नित्यकालं परिहीणो यत आवश्यकक्रिया न तस्य शुद्धा। यद्यपि चिरप्रव्रजितो भवति तथापि किं तस्य चारित्रादिकं भवति यदि पिंडादिशुद्धिं न कुर्यादिति ॥९१९॥

पुनरपि चारित्रस्य प्राधान्यमाह—

मूलं छित्ता समणो जो[1] गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥९२०॥

इस प्रकार आहार, आदि की शुद्धि रखते हुए साधु सुचरित्रवान् होते हैं किन्तु जो शोधन नहीं करते हैं उन्हें मिलने वाले फल को बताते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण आहार, उपकरण और वसतिका को बिना शोधन किये ही ग्रहण करते हैं वे मूलस्थान प्रायश्चित को प्राप्त होते हैं और संसार में मुनिपने से हीन होते हैं ॥९१८॥

आचारवृत्ति—जो मुनि आहार, उपकरण, वसतिका आदि को बिना शोधन किये अर्थात् उद्गम-उत्पादन आदि दोषों से रहित न करके सेवन करते हैं वे मूलस्थान को प्राप्त करते हैं अर्थात् गृहस्थ हो जाते हैं और लोक में यतिपने से हीन माने जाते हैं।

उसी को और बताते हैं—

गाथार्थ—उनके तप और संयम से निरन्तर हीन चारित्र शुद्ध नहीं होता है इसलिए चिरकाल से दीक्षित हों तो भी उनके आवश्यक तक शुद्ध नहीं होते हैं ॥ ९१९ ॥

आचारवृत्ति—आहार आदि की शुद्धि के बिना जो तप करता है उसके चारित्र की शुद्धि नहीं होती है। चूंकि वह हमेशा ही तप और संयम से हीन है अतः उसके आवश्यक क्रियाएँ भी शुद्ध नहीं होतीं। चिरकाल से दीक्षित होने पर यदि पिण्ड आदि की भी शुद्धि न करे तो क्या उसके चारित्र आदि हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

पुनरपि चारित्र की प्रधानता को कहते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण मूल का घात करके बाह्य योग को ग्रहण करता है उस मूल गुणों से हीन के वे सभी बाह्य योग क्या करेंगे? ॥ ९२० ॥

---

१. क० गेण्हदि य।

मूलगुणानहिंसादिव्रतानि छित्त्वा विनाश्य श्रमणः साधुर्यो गृह्णाति च बाह्यं योगं वृक्षमूलादिकं तस्य साधोर्बाह्या योगाः सर्वे मूलविहीनस्य मूलगुणरहितस्य किं करिष्यन्ति यावता हि न किंचिदपि कुर्वन्ति नापि कर्मक्षयं करिष्यन्तीति ॥९२०॥

तावदहिंसादिव्रतं विनाश्य यः करोत्युत्तरगुणं तस्य दोषमाह—

हंतूण य बहुपाणं अप्पाणं जो करेदि सप्पाणं।
अप्पासुअसुहकंखी मोक्खकंखी ण सो समणो ॥९२१॥

बहुप्राणान् हत्वा बहून् जीवान् त्रसस्थावरादीन् हत्वाऽधःकर्मादिभिरात्मानं यः करोति सप्राणं सावद्याहारं भुक्त्वाऽऽत्मनो बलोपचयं यः कुर्यात्सः साधुरप्रासुकसुखकांक्षी येन सुखेन नरकादीन् भ्रमति तदीहतेऽसौ मोक्षकांक्षी नासौ श्रमणः—सर्वकर्मक्षयविमुक्तिं नेच्छतीति ॥९२१॥

दृष्टान्तेन दोषमाह—

एक्को वावि तयो वा सीहो वग्घो मयो व खादिज्जो।
अवि खादेज्ज स णीचो जीवयरासिं णिहंतूण ॥९२२॥

एक्को वावि—एकं वाऽपि मृगं शशकं वा, तयो वा—त्रीन् वा, द्वौ चतुरो वा मृगान् सिंहो मृगारिव्याघ्रः शार्दूलो वा समुच्चयार्थः तेनान्योऽपि गृह्यते शरभादिः। खादेज्ज—खादयेत् यदि भक्षयेत् स नीचोऽधमः पापिष्ठो जीवराशिं निहत्य। यदि एकं द्वौ त्रीन् वा जीवान् सिंहो व्याघ्रो वा खादयेत् स नीच इत्युच्यते

आचारवृत्ति—जो साधु अहिंसा आदि व्रतरूप मूलगुणों की हानि करके वृक्षमूल, आतापन आदि बाह्य योगों को धारण करता है, मूलगुण रहित उस साधु के वे सभी बाह्य योगों के अनुष्ठान क्या कर सकेंगे? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं। तात्पर्य यही है कि मूलगुण की हानि करने वाले साधु के वे उत्तरगुण कर्मक्षय नहीं कर सकते हैं।

जो अहिंसाव्रत का विनाश करके उत्तरगुण पालता है पहले उसके दोष बतलाते हैं—

गाथार्थ—जो बहुत से प्राणियों का घात करके अपने प्राणों की रक्षा करता है, अप्रासुक में सुख का इच्छुक वह श्रमण मोक्ष सुख का इच्छुक नहीं है ॥ ९२१ ॥

आचारवृत्ति—जो अधःकर्म आदि के द्वारा बहुत से त्रस-स्थावर आदि जीवों का घात करके अपने शारीरिक बल के लिए सावद्य आहार को ग्रहण करते हैं वे साधु अप्रासुक सुख अर्थात् जिस सुख से नरक आदि गतियों में भ्रमण करना पड़ता है ऐसे सावद्य सुख की इच्छा करते हैं अतः वे श्रमण सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को नहीं चाहते हैं, ऐसा समझना।

दृष्टान्त द्वारा उसके दोष बताते हैं—

गाथार्थ—सिंह अथवा व्याघ्र एक, दो या तीन मृग को खावे तो हिंस्र है और यदि साधु जीव राशि का घात करके आहार लेवे तो वह नीच है ॥ ९२२ ॥

आचारवृत्ति—कोई सिंह अथवा व्याघ्र या अन्य कोई हिंस्र प्राणी एक अथवा दो या तीन अथवा चार मृगों का भक्षण करते हैं तो वे हिंस्र पापी कहलाते हैं। तब फिर जो

यः पुनरधःकर्मणो जीवराशिं निहत्य खादयेत् स कथं न नीचः किन्तु नीच एवेति भावार्थः ॥९२२॥

येन प्राणिवधः कृतस्तेनात्मवधः कृत इति प्रतिपादयन्नाह—

आरंभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु वहो ।
अप्पा ण हु हंतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो ॥९२३॥

आरंभे पचनादिकर्मणि सति प्राणिवधः स्यात्प्राणिवधश्च भवत्यात्मवधः स्फुटं नरकतिर्यग्गति-दुःखानुभवनं, आत्मा च न हंतव्यो यतोऽतः प्राणिवधस्तेन मोक्तव्यस्त्याज्य इति ॥९२३॥

पुनरप्यधःकर्मणि दोषमाहोत्तरेण ग्रन्थप्रबन्धेन—

जो ठाणमोणवीरासणेहिं अत्थदि चउत्थछट्ठेहिं ।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वे वि णिरत्थया जोगा ॥९२४॥

यः पुनः स्थानमौनवीरासनैश्चतुर्थषष्ठादिभिश्चास्ते अधःकर्मपरिणतं च भुंक्ते तस्य सर्वेऽपि निरर्थका योगा उत्तरगुणा इति ॥९२४॥

तथा—

अधःकर्म के द्वारा तमाम जीव समूह को नष्ट करके आहार लेते हैं वे नीच—अधम क्यों नहीं हैं ? अर्थात् नीच ही हैं।

जिसने प्राणियों का वध किया है उसने अपना ही वध किया है। ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—आरम्भ में प्राणियों का घात है और प्राणियों के घात में निश्चय से आत्मा का घात होता है। आत्मा का घात नही करना चाहिए इसलिए प्राणियों की हिंसा छोड़ देना चाहिए ॥ ९२३ ॥

आचारवृत्ति—पकाने आदि क्रियाओं के आरम्भ में जीवों का घात होता है और उस से आत्मा का घात होता है अर्थात् निश्चित ही नरक-तिर्यंच गति के दुख भोगना पड़ते हैं। और, आत्मा का घात करना ठीक नहीं है अतएव प्राणियों की हिंसा का त्याग कर देना चाहिए।

पुनरपि इस गाथा से अधःकर्म में दोष बताते हैं—

गाथार्थ—जो कायोत्सर्ग मे, मौन से, वीरासन से उपवास और बेला आदि से रहते हैं तथा अधःकर्म से बना आहार लेते हैं उनके सभी योग निरर्थक हैं ॥ ९२४ ॥

आचारवृत्ति—जो मुनि कायोत्सर्ग करते हैं, मौन धारण करते हैं, वीरासन आदि नाना प्रकार के आसन से कायक्लेश करते हैं, उपवास बेला, तेला आदि करते हैं किन्तु अधः-कर्म से निर्मित आहार ग्रहण कर लेते हैं उनके वे सभी योग अनुष्ठान और उत्तरगुण व्यर्थ ही हैं।

उसी प्रकार से और भी बताते हैं—

किं काहदि वणवासो सुण्णागारो य रुक्खमूलो वा ।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वे वि णिरत्थया जोगा ॥९२५॥

तथा—

किं तस्स ठाणमोणं किं काहदि अब्भोवगासमादावो ।
मेत्तिविहूणो समणो सिज्झदि ण हु सिद्धिकंखो वि ॥९२६॥

किं करिष्यति तस्य वनवासः किं वा शून्यागारवासो वृक्षमूलवासो वा भुंक्ते चेदधःकर्म तत्र सर्वेऽपि निरर्थका योगा इति । ॥९२५॥

किं तस्य स्थानं कायोत्सर्गः मौनं वा किं तस्य करिष्यति अभ्रावकाश आतापो वा यो मैत्रीभाव-रहितः श्रमणः सिद्धिकांक्षोऽपि नैव स्फुटं सिध्यतीति ॥९२६॥

तथा—

जह वोसरित्तु कत्तिं विसं ण वोसरदि दारुणो सप्पो ।
तह को वि मंदसमणो पंच दु सूणा ण वोसरदि ॥९२७॥

यथा सर्पो रौद्रः कृत्तिं कंचुकं व्युत्सृज्य विषं न त्यजति तथा कश्चिन्मंदः श्रमणः चारित्रालसः पंच-शूना न व्युत्सृजति भोजनादिलोभेनेति ॥९२७॥

कास्ताः पंचशूना इत्याशंकायामाह—

गाथार्थ—जो अधःकर्म युक्त आहार लेते हैं उनका वन में रहना, शून्य स्थान में रहना, अथवा वृक्ष के नीचे ध्यान करना क्या करेगा ? उनके सभी योग निरर्थक हैं ॥९२५॥

उसके कायोत्सर्ग और मौन क्या करेंगे ? क्योंकि मैत्रीभाव से रहित वह श्रमण मुक्ति का इच्छुक होते हुए भी मुक्त नहीं होगा ॥९२६॥

आचारवृत्ति—जो साधु अधःकर्म से बने हुए आहार ले लेते हैं उनका वन में निवास, शून्य मकानों में आवास अथवा वृक्ष के मूल में निवास क्या करेगा ? अर्थात् उनके सभी योग व्यर्थ ही हैं। उनका कायोत्सर्ग, अथवा मौन क्या करेगा ? अभ्रावकाश योग अथवा आतापन योग भी क्या करेगा ? जो श्रमण मैत्रीभाव-प्राणिदया से रहित हैं वे सिद्धि के इच्छुक होते हुए भी सिद्ध नहीं हो सकते, यह अभिप्राय है ।

उसी बात को और बताते हैं—

गाथार्थ—जिस प्रकार क्रूर सर्प कांचली को छोड़कर के भी विष को नहीं त्यागता है, उसी प्रकार मन्द चारित्रवाला श्रमण पंचसूना को नहीं छोड़ता है ॥९२७॥

आचारवृत्ति—जैसे रौद्र सर्प कांचली को छोड़कर भी विष नहीं त्यागता है वैसे ही चारित्र में आलसी श्रमण भोजन आदि के लोभ से पंचसूना को नहीं छोड़ता है ।

वे पंचसूना क्या हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।
बीहेदव्वं णिच्चं ताहिं जीवरासी से मरदि ॥६२८॥

यवादय: कंड्यंतेऽनया कंडनी उदूखल:, पिष्यंते यवादयोऽनया पेषणी यंत्रकं, चुल्ली अग्न्यधिकरणं, उदकुंभ: उदकुंभ: वृहद्घटिकालिंजरादिकं, प्रमार्ज्यतेऽनया प्रमार्जिनी अपस्करनिराकरिणी। एताभ्यो भेतव्यं नित्यं जीवराशिर्यतस्ताभ्यो म्रियते ॥६२८॥

पुनरपि विशेषतोऽध:कर्मणि दोषमाह—

जो भुंजदि आधाकम्मं छज्जीवाणं घायणं किच्चा।
अबुहो लोल सजिब्भो ण वि समणो सावओ होज्ज ॥९२९॥

यो भुंक्तेऽध:कर्म षड्जीवानां घातनं कृत्वा अबुधोऽसौ लोलो लंपट: सजिह्वो जिह्वावश: अत: नापि श्रमण: किं तु श्रावक: स्यात्। अथवा न श्रमणो नापि श्रावक: स्यात् उभयधर्मरहितत्वादिति ॥९२९॥

तथा—

पयणं व पायणं वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बीहेदि।
जेमंतो वि सघादी ण वि समणो दिट्ठिसंपण्णो ॥९३०॥

ण हु तस्स इमो लोओ ण वि परलोओ उत्तमट्ठभट्ठस्स।
लिंगग्गहणं तस्स दु णिरत्थयं संजमेण हीणस्स ॥९३१॥

गाथार्थ—खंडनी, चक्की, चूल्हा, पानी भरना, और बुहारी ये पाँच सूना हैं। हमेशा ही इनसे डरना चाहिए क्योंकि इनसे जीवसमूह मरते हैं ॥९२८॥

आचारवृत्ति—जिससे जौ आदि कूटे जाते हैं वह खंडनी अर्थात् मूसल है। जिससे जौ आदि पीसे जाते हैं वह पेषणी अर्थात् चक्की कही जाती है, जो अग्नि का आधार है वह चूल्हा कहा जाता है। जिसमें पानी रखते है ऐसे मटके, कलश आदि उदकुम्भ कहलाते हैं और जिसके द्वारा बुहारा जाता है वह कचरे को दूर करने वाली प्रमार्जनी-बुहारी कहलाती है। इनसे हमेशा जीवसमूह का घात होता है अत: इनसे बचना चाहिए।

पुनरपि विशेष रीति से अध:कर्म के दोष बताते हैं—

गाथार्थ—जो षट्काय के जीवों का घात करके अध:कर्म से बना आहार लेता है वह अज्ञानी लोभी जिह्वेन्द्रिय का वशीभूत श्रमण नहीं रह जाता, वह तो श्रावक हो जाता है ॥९२९॥

आचारवृत्ति—जो छह जीव निकायों का घात करके अध:कर्म से बने हुए आहार को लेता है वह अज्ञानी लंपट जिह्वा के वशीभूत है। वह श्रमण नहीं रहता है बल्कि श्रावक हो जाता है। अथवा, वह न श्रमण है न ही श्रावक है, वह उभय के धर्म से रहित होता है।

और भी बताते हैं—

गाथार्थ—जो पकाने या पकवाने में अथवा अनुमोदना में अपने मन को लगाता है उनसे डरता नहीं है वह आहार करते हुए भी स्वघाती है, सम्यक्त्व सहित श्रमण नहीं है। उस उत्तमार्थ से भ्रष्ट के यह लोक भी नहीं है और परलोक भी नहीं है। संयम से हीन उस का मुनि वेष ग्रहण करना व्यर्थ है ॥ ९३०-९३१ ॥

पचने वा पाचने[1] वाऽनुमननचित्तः कंडन्याद्युपकरणेनाधःकर्मणि प्रवृत्तोऽनुमतिकृतश्चास्य न च तस्मात्पचनादिकाद्बिभेति भुंजानोऽपि स्वघाती नापि श्रमणो न च दृष्टिसंपन्नो विपरीताचरणादिति ॥९३०॥

तथा—

नैव तस्येह लोको नाऽपि परलोक उत्तमार्थाच्चारित्राद् भ्रष्टस्य, लिंगग्रहणं तु तस्य निरर्थकं संयमेन हीनस्येति ॥९३१॥

तथा—

पायच्छित्तं आलोयणं च काऊण गुरुसयासह्मि ।
तं चेव पुणो भुंजदि आधाकम्मं असुहकम्मं ॥९३२॥

जो जत्थ जहा लद्धं गेण्हदि आहारमुवधिमादीयं ।
समणगुणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ होइ ॥९३३॥

पयणं पायणमणुमणणं सेवंतो ण वि संजदो होदि ।
जेमंतो वि य जह्मा ण वि समणो संजमो णत्थि ॥९३४॥

कश्चित्साधुः प्रायश्चित्तं दोषनिर्हरणं आलोचनं च दोषप्रकटनं च कृत्वा गुरुसकाशे गुरुसमीपे पुनरपि तदेव भुंक्तेऽधःकर्माशुभकर्म। यदर्थं प्रायश्चित्तादिकं कृतं तदेव भुंक्ते यस्तस्यापि नेह लोको नापि

आचारवृत्ति—जो कूटन्य पीसना आदि क्रियाओंद्वारा अधःकर्म में प्रवृत्त होकर भोजन स्वयं बनाता है या बनवाता है अथवा अनुमति देता है, तथा भोजन पकाना आदि क्रियाओं से भयभीत नहीं होता है वह उस आहार को लेता हुआ आत्मघाती है। वह न तो श्रमण है और न सम्यक्त्व सहित ही है बल्कि विपरीत आचरण करनेवाला है। वह उत्तम चारित्र से भ्रष्ट है अतः उसके न इहलोक है और न परलोक ही है किन्तु संयम से च्युत हुए उस मुनि का निर्ग्रन्थ लिंग ग्रहण करना व्यर्थ ही है।

उसी बात को और स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—जो गुरु के पास आलोचना और प्रायश्चित्त करके पुनः वही अशुभ क्रियारूप अधःकर्म युक्त आहार करता है उसका इहलोक और परलोक नहीं है।

जो जहाँ जैसा भी मिला वहाँ वैसा ही आहार, उपकरण आदि ग्रहण कर लेता है वह मुनि के गुणों से रहित हुआ संसार को बढ़ाने वाला है।

पकाना, पकवाना, और अनुमति देना—ऐसा करता हुआ वह संयत नहीं है। वैसा आहार लेता हुआ भी उस कारण से वह श्रमण नहीं है और न संयमी ही है॥ ९३२, ९३३-९३४॥

आचारवृत्ति—कोई साधु अपने दोषों को प्रकट करने रूप आलोचना को और दोषों को दूर करने रूप प्रायश्चित्त को भी गुरु के पास में ग्रहण करके पुनः यदि उस अधःकर्म रूप

---

1. क० पचने पाचने वा।

परलोक इति ॥९३२॥

तथा—

यः साधुर्यत्र देशे शुद्धेऽशुद्धे वा यथालब्धं शुद्धमशुद्धं वा गृह्णाति आहारमुपधिकादिकं च यः श्रमणगुणमुक्तयोगी स तु संसारप्रवर्धको भवतीति ॥९३३॥

तथा—

पचनं पाचनमनुमननं च सेवमानो न संयतो भवति, तस्माद्भुञ्जानोऽपि च पुनर्न श्रमणो नापि संयमस्तत्रेति ॥९३४॥

बहुश्रुतमपि चारित्रहीनस्य निरर्थकमिति प्रतिपादयन्नाह—

बहुगं पि सुदमधीदं किं काहदि अजाणमाणस्स ।
दीवविसेसो अंधे णाणविसेसो वि तह तस्स ॥९३५॥

बह्वपि श्रुतमधीतं किं करिष्यत्यजानतश्चारित्रमनाचरत उपयोगरहितस्य । यथा प्रदीपविशेषोऽन्धे लोचनरहिते न किंचित्करोति तथा ज्ञानविशेषोऽपि चारित्ररहितस्य न किंचित्करोतीति ॥९३५॥

परिणामवशेन [1]शुद्धिमाह—

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वे वि बंधगो भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो ॥९३६॥

अशुभ आहार को लेता है अर्थात् जिसके लिए प्रायश्चित्त आदि किया है उसी दोष को पुनः करता है तो उसके इहलोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ।

जो साधु किसी भी शुद्ध अथवा अशुद्ध देश में जैसा भी शुद्ध या अशुद्ध आहार मिला या वैसे भी निर्दोष अथवा सदोष उपकरण आदि मिलें उन्हें ग्रहण कर लेता है वह श्रमण के गुणों से रहित होने से संसार को बढ़ानेवाला ही होता है ।

जो भोजन बनाने, बनवाने और अनुमोदना करनेरूप कृत-कारित-अनुमति से युक्त है वह संयत नहीं है । वैसा आहार करने से वह श्रमण नहीं कहला सकता है, क्योंकि उसमें संयम नहीं है ।

चारित्र से हीन मुनि का बहुत श्रुतज्ञान भी निरर्थक है, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—आचरण हीन का बहुत भी पढ़ा हुआ श्रुत क्या करेगा ? जैसे अन्धे के लिए दीपक विशेष है वैसे ही उसके लिए ज्ञान विशेष है अर्थात् व्यर्थ ही है ॥ ९३५ ॥

आचारवृत्ति—चारित्र का आचरण नहीं करनेवाले उपयोग से रहित मुनि का पढ़ा गया बहुत-सा श्रुत भी क्या करेगा ? जैसे नेत्रहीन मनुष्य के लिए दीपक कुछ भी नहीं करता है वैसे ही चारित्र से हीन मुनि के लिए ज्ञान विशेष भी कुछ नहीं कर सकता है ।

परिणाम के निमित्त से शुद्धि होती है ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—अधःकर्म से परिणत हुआ साधु प्रासुकद्रव्य के ग्रहण करने पर भी बन्धक कहा गया है और शुद्ध को खोजनेवाला मुनि अधःकर्म से युक्त आहार के लेने पर भी शुद्ध है ॥९३६॥

---

१. क० शुद्धिमशुद्धिं चाह क ।

प्रासुकद्रव्ये [1]सत्यपि योऽधःकर्मपरिणतः स बंधको भणित आगमे। यदि पुनः शुद्धं मृगयमाणोऽधःकर्मण्यप्यसौ शुद्धः परिणामशुद्धेरिति ॥९३६॥

तथा—

भावुग्गमो य दुविहो पसत्थपरिणाम अप्पसत्थोत्ति ।
सुद्धे असुद्धभावो होदि [2]उवट्ठावणं पायच्छित्तं ॥९३७॥

भावोद्गमस्य भावदोषस्य द्विप्रकारः प्रशस्तपरिणाम अप्रशस्तपरिणामश्च, तत्र शुद्धे वस्तुनि यद्यशुद्धभावं करोति तत्रोपस्थापनप्रायश्चित्तं भवतीति ॥९३७॥

तस्मात्—

फासुगदाणं फासुगउवधिं तह दो वि अत्तसोधीए ।
जो देदि जो य गिण्हदि दोण्हं पि महप्फलं होई ॥९३८॥

यत एवं विशुद्धभावेन कर्मक्षयस्ततः प्रासुकदानं निरवद्यभैक्ष्यं प्रासुकोपधिं हिंसादिदोषरहितोपकरणं च द्वयमपि तथात्मशुद्ध्या विशुद्धपरिणामेन यो ददाति यश्च गृह्णाति तयोर्द्वयोरपि महत्फलं भवति, यत्किंचिद्-

---

आचारवृत्ति—प्रासुक द्रव्य के होने पर भी जो साधु अधःकर्म के भाव से परिणत है वह बन्ध को करने वाला हो जाता है, ऐसा आगम में कहा है। यदि पुनः शुद्ध आहार का अन्वेषण करते-करते भी अधःकर्म से युक्त आहार मिल गया तो भी वह शुद्ध है क्योंकि उसके परिणाम शुद्ध हैं। अर्थात् उद्‍गम आदि दोषों से रहित आहार की खोज में भी मिला अधःकर्म से युक्त सदोष आहार, यदि उसे मालूम नहीं है तो निर्दोष है। और यदि आहार निर्दोष है तथापि उसने उसे उद्‍गम आदि दोषों से युक्त सदोष समझकर ग्रहण किया है तो वह कर्म बन्ध को करने वाला ही है।

उसी बात को स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—भावदोष दो प्रकार के हैं, एक प्रशस्त परिणाम रूप और दूसरा अप्रशस्त परिणाम रूप। शुद्ध में अशुद्धभाव करता हुआ उपस्थापन प्रायश्चित्त प्राप्त होता है ॥९३७॥

आचारवृत्ति—भावोद्‍गम—भावदोष के दो भेद हैं—प्रशस्त परिणाम और अप्रशस्त परिणाम। उनमें से यदि शुद्ध वस्तु में अशुद्ध भाव करता है तो उसे उपस्थापन नाम का प्रायश्चित्त होता है।

इसलिए कहते हैं—

गाथार्थ—जो प्रासुक दान या प्रासुक उपकरण या दोनों को भी आत्म शुद्धि से देता है और ग्रहण करता है उन दोनों को ही महाफल होता है ॥९३८॥

आचारवृत्ति—इस तरह विशुद्ध भावों से कर्मों का क्षय होता है इसलिए जो निर्दोष आहार या हिंसादिदोष रहित—निर्दोष उपकरण या दोनों भी विशुद्ध परिणामों से मुनि को देता है और जो मुनि ऐसे निर्दोष आहार, उपकरण आदि ग्रहण करता है उन दोनों को ही

---

१. क० प्रासुके द्रव्येऽपि क। २. क० उपट्ठाण-।

आहारादिकं शोभनं निरवद्यं वातपित्तश्लेष्मोपशमनकारणं सर्वरसोपेतं तन्मया प्रतिग्रहादिपूर्वकं श्रद्धादिगुण-समन्वितं दातव्यमिति तद्दातृत्वशुद्धिः, यथा सर्वोऽप्याहारादिविधिस्त्याज्यः किमनेन शोभनाहारेण गृहीतेन यत्किंचित्प्रासुकं गृहीत्वा कुक्षिपूरणं कर्त्तव्यमिति परिणामः पात्रस्यात्मशुद्धिरिति ॥९३८॥

किमर्थं चर्याशुद्धिः प्रपंचेनाख्यायत इत्याशंकायामाह—

जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते ।
अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया ॥९३९॥

सर्वेषु मूलगुणेषूत्तरगुणेषु मध्ये मूलयोगः प्रधानव्रतं भिक्षाचर्या कृतकारितानुमतिरहितं प्रासुकं काले प्राप्तं भोजनं वर्णिता व्याख्याता सूत्रे प्रवचने, तस्मात्तां भिक्षाशुद्धिं परित्यज्यान्यान् योगानुपवासत्रि-कालयोगादिकान् ये कुर्वन्ति तैस्तेऽन्ये योगा विज्ञानविरहितैस्तैश्चारित्रविहीनैः पुनः कृता न परमार्थं जानद्भि-रिति चर्याशुद्ध्या स्तोकमपि क्रियते यत्तपस्तच्छोभनमिति ॥९३९॥

तथा—

कल्लं कल्लं पि वरं आहारो परिमिदो पसत्थो य ।
ण य खमण पारणाओ बहवो बहुसो बहुविधो य ॥९४०॥

महान् फल मिलता है। जो कुछ भी, आहार आदि प्रशस्त और निर्दोष हैं, वात, पित्त, कफ आदि दोषों को शान्त करनेवाले हैं, सर्वरसों से युक्त हैं ऐसे आहार आदि गुरुओं को पड़गाहन आदि करके नवधा भक्तिपूर्वक, श्रद्धा आदि सात गुणों से युक्त होकर मेरे द्वारा दिये जाने चाहिए, यह दाता की शुद्धि है। तथा सभी आहारादि विधि त्याज्य ही है, मुझे इस शोभन आहार के ग्रहण करने से क्या प्रयोजन है? यत् किंचित्मात्र भी प्रासुक आहार ग्रहण करके उदर भरना चाहिए ऐसा परिणाम होना, पात्र की आत्मशुद्धि है।

आपने चर्याशुद्धि का विस्तार से व्याख्यान क्यों किया है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आगम में योगों में मूलयोग भिक्षा चर्या ही कही गयी है किन्तु इससे अन्य योगों को विज्ञान से हीन मुनियों ने ही किया है ॥९३९॥

आचारवृत्ति—सम्पूर्ण मूल गुणों में और उत्तर गुणों में मूलयोग—प्रधानव्रत भिक्षाशुद्धि है जिसका वर्णन कृत-कारित-अनुमोदना रहित प्रासुक भोजन की समय पर उपलब्धि के रूप में जिन प्रवचन में किया गया है। अतः भिक्षाशुद्धि को छोड़कर उपवास, त्रिकाल योग अनुष्ठान आदि अन्य योगों को वे ही करते हैं जो विज्ञान अर्थात् चारित्र से रहित हैं और परमार्थ को नहीं जानते हैं। तात्पर्य यही है कि आहार की शुद्धिपूर्वक जो थोड़ा भी तप किया जाता है वह शोभन है।

उसी बात को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—परिमित और प्रशस्त आहार प्रतिदिन भी लेना श्रेष्ठ है किन्तु चर्या-शुद्धि रहित अनेक उपवास करके अनेक प्रकार की पारणाएँ श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ ९४० ॥

कल्लं कल्लं श्वस्तनदिने दिने वरं श्रेष्ठमाहारो भोजनं परिमितः प्रमाणस्थः वातपित्तश्लेष्मविकाराहेतुकः प्रशस्तोऽधःकर्मादिदोषरहितः न च क्षमणादीनि उपवासाः पारणा भोजनदिनानि बहूनि षष्ठाष्टमदशमद्वादशमासार्धमासादिदिनानि बहुशो बहुवारान् बहुविधस्य बहुप्रकारस्य बहुसावद्ययोगयुक्तो महारंभनिष्पन्नो दातृजनसंक्लेशोत्पादको य आहारस्तेन यदि महत्तपः क्रियते न तत्तपो महद् भवति बह्वारंभादिति ॥९४०॥

कस्तर्हि शुद्धयोग इत्याशंकायामाह—

मरणभयभीरुआणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं ।
तं दाणाण वि दाणं तं पुण जोगेसु मूलजोगं पि ॥९४१॥

मरणाद्भयं तस्माद्भीतेभ्योऽभयं यो ददाति सर्वसत्त्वेभ्यस्तद्दानानामपि दानं सर्वेषां दानानां मध्ये तद्दानं तत्पुनर्योगेषु अपि मूलयोगः प्रधानानुष्ठानं यदभयदानमिति ॥९४१॥

गुणस्थानापेक्षया चारित्रस्य माहात्म्यमाह—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥९४२॥

तिष्ठतु तावन्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टेरप्यविरतस्यासंयतस्य न तपो महागुणः । अयं गुणशब्दोऽनेकार्थे

आचारवृत्ति—प्रमाण सहित, वात-पित्त-कफ आदि विकार में अहेतुक और अधःकर्म आदि दोषों से रहित प्रशस्त आहार अगले-अगले दिन—प्रतिदिन भी लेना श्रेष्ठ है किन्तु बेला, तेला, चार उपवास, पाँच उपवास, एक मास या पन्द्रह दिन आदि के उपवास करके पारणा के दिन बहुत सावद्ययोग से युक्त, महान् आरम्भ से निष्पन्न और दाता को संक्लेश उत्पन्न करने वाला आहार लेना युक्त नहीं है। ऐसी सदोषी पारणा करके यदि महान् तप किया जाता है तो वह तप श्रेष्ठ नहीं कहलाता है क्योंकि उसमें बहुत-सा आरम्भ किया जाता है।

तो फिर शुद्धयोग क्या है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि मरण के भय से भीरु सभी जीवों को अभयदान देता है उसका अभयदान सर्वदानों में श्रेष्ठ है और सभी योगों में प्रधान योग है ॥९४१॥

आचारवृत्ति—मरण का भय सबसे बड़ा भय है। जो मुनिराज मरण के भय से भीत सभी जीवों को अभयदान देता है अर्थात् सब जीवों की रक्षा करता है उसका दान सभी दानों में श्रेष्ठ है और सब योगों में प्रधान योग भी है। अर्थात् सर्व दानों में और सर्व अनुष्ठानों में अभयदान ही महान् है।

गुणस्थान की अपेक्षा से चारित्र का माहात्म्य कहते हैं—

गाथार्थ—व्रत रहित सम्यग्दृष्टि का भी तप महागुणकारी नहीं है क्योंकि वह हाथी के स्नान के समान और लकड़ी में छिद्र करनेवाले बर्मा के समान होता है ॥ ९४२ ॥

आचारवृत्ति—मिथ्यादृष्टि की तो बात ही छोड़िए, सम्यग्दृष्टि भी यदि संयम रहित है, असंयमी है तो उसका तप भी महागुणकारी नहीं होता। गुण शब्द के अनेक अर्थ हैं, इसके कुछ दृष्टान्त प्रस्तुत हैं :—

वर्तते, तद्यथा—रूपादयो गुणा रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापृथक्त्वपरिणामादीनि गुणशब्देनोच्यन्ते, तथा गुणभूता वयमत्र नगरे इत्यत्राप्रधानवाची गुणशब्दस्तथा यस्य गुणस्य भावादिति विशेषणे वर्तते तथा गुणोऽनेन कृत इत्यत्रोपकारे वर्तते इहोपकारे वर्तमानो गृह्यते। तेन तपो महोपकारं भवति। कर्मनिर्मूलनं कर्तुमसमर्थं तपोऽसंयतस्य सम्यग्दर्शनान्वितस्यापि कुतो यस्माद् भवति हस्तिस्नानम्। हु शब्द एवकारार्थः स च हस्तिस्नानेनाभिसंबन्धनीयो हस्तिस्नानमेवेति। यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्यं वहति पुनरपि करेणार्जितपांशुपटलेनात्मानं मलिनयति तद्वत्तपसा निर्जीर्णेऽपि कर्मांशे बहुतरादानं कर्मणोऽसंयममुखेनेति। दृष्टान्तान्तरमप्याचष्टे—चुंदच्छिदकर्म चुंदं काष्ठं छिनत्तीति चुंदच्छिद्रज्जुस्तस्याः कर्म क्रिया, यथा चुंदच्छिद्रज्जोरुद्वेष्टनं वेष्टनं च भवति तद्वत्तस्यासंयतस्य तत्तपः अथवा चुंदच्चुदगं व—चुंदच्युतकमिव मंथनचर्मपालिकेव तत्संयमहीनं तपः। दृष्टान्तद्वयोपन्यासः किमर्थं इति चेन्नैष दोषः, अपगतात्मकर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः, आर्द्रतनुतया हि बहुतरमुपादत्ते रजः, बंधरहिता निर्जरा स्वास्थ्यं प्रापयति नेतरा बंधसह-

---

रूपादयो गुणाः इस सूत्र में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, पृथक्त्व और परिमाण आदि गुण शब्द से कहे जाते हैं। 'गुणभूता वयमत्र नगरे' अर्थात् इस नगर में हम गौण हैं—यहाँ पर अप्रधानवाची गुण शब्द है। 'यस्य गुणस्य भावात्' यहाँ पर विशेषण अर्थ में गुण शब्द है। इसी प्रकार 'गुणोऽनेन कृतः' इसने उपकार किया है—यहाँ पर गुण शब्द उपकार अर्थ में है। इस गाथा में भी गुण शब्द को उपकार अर्थ में लेना चाहिए। अतः वह अविरत सम्यग्दृष्टि का तप महान् उपकार करनेवाला नहीं है ऐसा अर्थ लेना, क्योंकि सम्यक्त्व से सहित होते हुए भी असंयत का तप कर्मों के निर्मूलन में समर्थ नहीं है। वह तो हस्तिस्नान ही है। यहाँ पर 'हु' शब्द एवकारवाची है। जैसे हाथी स्नान करके भी स्वच्छता को धारण नहीं करता है किन्तु वह पुनः सूंड़ से धूली को लेकर अपने ऊपर डाल लेता है उसी प्रकार से तप के द्वारा कर्मों का अंश निर्जीर्ण हो जाने पर भी असंयत के असंयम के कारण बहुत से कर्मों का आस्रव होता रहता है।

एक दूसरा दृष्टान्त भी देते हुए कहते हैं—

चुंद—काष्ठ को छेदनेवाला चुंदच्छिद् अर्थात् रस्सी, उसका कर्म—क्रिया चुंदच्छिद्-कर्म है। जैसे काष्ठ को छेदनेवाली रस्सी खुलती और वेष्टित होती रहती है, अर्थात् जैसे लकड़ी में छेदकरने वाले बर्मा की रस्सी उसमें छेद करते समय एक तरफ से खुलती और दूसरी तरफ से बँधती रहती है उसी प्रकार से असंयत जन का तपश्चरण एक तरफ से कर्मों को नष्ट करता और असंयम द्वारा दूसरी तरफ से कर्मों को बाँधता रहता है। अथवा 'चुंदच्युतकमिव' अर्थात् मंथन चर्मपालिका के समान वह तप सयमहीन तप होता है।

यहाँ पर दो दृष्टान्त क्यों दिये गये हैं?

इसमें कोई दोष नहीं है। तप द्वारा एक तरफ से कर्म के दूर होने पर भी असयम के निमित्त से बहुत से कर्मों का ग्रहण हो जाता है इस बात को दिखलाने के लिए हस्तिस्नान का दृष्टान्त दिया है कि हाथी स्नान से गीले शरीर पर फिर से बहुत-सी रज लपेट लेता है। तथा बन्ध से रहित निर्जरा ही स्वास्थ्य को प्राप्त कराती है, दूसरी निर्जरा नहीं क्योंकि वह बन्ध के साथ होनेवाली निर्जरा है। जैसे कि लकड़ी में छेद करनेवाला बर्मा एक तरफ से रस्सी

भाविनीति। किमिदं ? चुंदच्छिदः कर्मेव—एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति ॥९४२॥

सन्निपातेन शोभनक्रियाणां कर्मक्षयो भवतीति दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

वेज्जादुरभेसज्जापरिचारयसंपदा जहारोग्गं।
गुरुसिस्सरयणसाहणसंपत्तीए तहा मोक्खो ॥९४३॥

वैद्यो भिषक् आतुरो व्याधितः भैषज्यमौषधं परिचारका वैयावृत्त्यकरा एतेषां संपत्संयोगस्तया संपदा यथाऽरोग्यं व्याधितस्य रोगाभावः संजायते तथा गुरुराचार्यः शिष्यो वैराग्यपरो विनेयो रत्नानि सम्यग्दर्शनादिसाधनानि पुस्तककुंडिकापिच्छिकादीन्येतेषां संपत्तिः संप्राप्तिः संयोगस्तया तेनैव[1] प्रकारेण मोक्षो भवतीति ॥९४३॥

दृष्टान्तं दार्ष्टान्तेन योजयन्नाह—

आइरिओ वि य वेज्जो सिस्सो रोगी दु भेसजं चरिया।
खेत्त बल काल पुरिसं णाऊण सणिं दढं कुज्जा ॥९४४॥

आचार्यो नाम वैद्यः शिष्यश्च रोगी भेषजं चर्या क्षेत्रं शीतमुष्णादिकं बलं शरीरसामर्थ्यादिकं कालः प्रावृडादिकः पुरुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्न एतान् सर्वान् ज्ञात्वा शनैराकुलतामन्तरेण[2]

को वेष्टित करता और दूसरी तरफ से खोलता रहता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि तप के द्वारा निर्जरा करता और असंयम के द्वारा अनेक विध कर्मों को ग्रहण करता रहता है और उन्हें दृढ़ भी कर लेता है। इसलिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं।

शोभन क्रियाओं के संयोग से कर्मक्षय होता है, ऐसा दृष्टान्त से पोषित करते हैं—

गाथार्थ—जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है ॥९४३॥

आचारवृत्ति—वैद्य, रोगी, औषधि और वैयावृत्त्य करनेवाले—इनके सम्पत् अर्थात् संयोग से रोगी के रोग का अभाव हो जाता है वैसे ही गुरु—आचार्य, वैराग्य में तत्पर शिष्य, अन्तरंग साधन सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय तथा बाह्य साधन पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु आदि के संयोग से ही मोक्ष होता है।

अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटित करते हैं—

गाथार्थ—आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करे ॥९४४॥

आचारवृत्ति—आचार्यदेव वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है; शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एव जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य

---

१. क० मेनैव। २. क० राकुलमन्तरेण।

शिष्यमाचार्यश्च यथारोग्ययुक्तं कुर्यादिति चर्यौषधं कथनीयमिति ॥६४४॥

तत्कथमित्याह—

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं ।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥६४५॥
णवकोडीपरिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥६४६॥

सुभक्तियुक्तेन शरीरयोग्यं भैक्ष्यं प्रासुकं प्रदत्तं नवकोटिपरिशुद्धं प्रासुकं निरवद्यं प्रशस्तं कुत्सादि-दोषरहितमेषणासमितिशुद्धं दशदोषविप्रमुक्तं चतुर्दशमलवर्जितं च द्रव्यप्रमाणं क्षेत्रं कालं भावं च ज्ञात्वा परि-णाममन्तरेण भुंजीतेति ॥६४५-६४६॥

तथा—

आहारेदु तवस्सी विगदिंगालं विगदधूमं च ।
जत्तासाहणमेत्तं जवणाहारं विगदरागो ॥६४७॥

आहारं, किं विशिष्टं ? विगतांगारं विगतधूमं यात्रासाधनमात्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपालन-निमित्तं यवनाहारं क्षुधोपशमनमात्रं विगतरागः सन्नाकांक्षारहितस्तपस्वी वैराग्यपर आहरेदभ्यवहरेदिति ॥६४७॥

शिष्य को चर्या रूपी औषधि का प्रयोग कराए ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

वह कैसे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो श्रेष्ठ भक्ति युक्त श्रावक के द्वारा दिया गया प्रासुक और शरीर के अनु-कूल हो, द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर नव कोटि से विशुद्ध, निर्दोष, प्रशस्त, एषणा समिति से शुद्ध, दश दोष और चौदह मल-दोषों से रहित हो ऐसा आहार (मुनि) ग्रहण करे ॥६४५-६४६॥

आचारवृत्ति—सुभक्ति से युक्त श्रावक के द्वारा जो दिया गया है, अपने शरीर के योग्य है, प्रासुक है, नवकोटि से परिशुद्ध है, निर्दोष है, निन्दा आदि दोषों से रहित होने से प्रशस्त है, जो एषणा समिति से शुद्ध है, दश दोषों से वर्जित है एवं चौदह मलदोषों से रहित है ऐसे आहार को साधु द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र काल एवं भाव को जानकर परिणाम के बिना ही ग्रहण करे।

इसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—अंगारदोष रहित, धूमदोष रहित, मोक्ष-यात्रा के लिए साधनमात्र और क्षुधा का उपशामक आहार वीतराग तपस्वी ग्रहण करे ॥६४७॥

आचारवृत्ति—अंगार दोष और धूमदोष रहित, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र के पालन निमित्त क्षुधाव्याधि का उपशमन करनेवाला आहार वैराग्य में तत्पर, आकांक्षा रहित तपस्वी स्वीकार करे।

भावार्थ—गृद्धि—आसक्ति से युक्त आहार लेना अंगारदोष है और निन्दा करते हुए आहार लेना धूम दोष है। साधु इन दोषों से रहित आहार लेते हैं।

जुगुप्सापरिहारमाह—

ववहारसोहणाए परमट्ठाए तहा परिहरउ।
दुविहा चावि दुगुंछा लोइय लोगुत्तरा चेव ॥६४८॥

जुगुप्सा गर्हा द्विविधा द्विप्रकारा लौकिकी लोकोत्तरा च। लोकव्यवहारशोधनार्थं सूतकादिनिवारणाय लौकिकी जुगुप्सा परिहरणीया तथा [1]परमार्थार्थं रत्नत्रयशुद्ध्यर्थं लोकोत्तरा च [2]कार्येति ॥६४८॥

पुनरपि क्रियापदेन प्रकटयन्नाह—

परमट्ठियं विसोहिं सुट्ठु पयत्तेण कुणइ पव्वइओ।
परमट्ठदुगंछा वि य सुट्ठु पयत्तेण परिहरउ ॥६४९॥

परमार्थिकां विशुद्धिं कर्मक्षयनिमित्तां रत्नत्रयशुद्धिं सुष्ठु प्रयत्नेन करोतु प्रव्रजितः साधुः परमार्थजुगुप्सामपि शंकादिकां सुष्ठु प्रयत्नेन परिहरतु त्यजत्विति ॥६४९॥

तथा—

संजममविराधंतो करेउ ववहारसोधणं भिक्खू।
ववहारदुगंछावि य परिहरउ वदे अभंजंतो ॥६५०॥

जुगुप्सा-परिहार का उपदेश देते हैं—

गाथार्थ—साधु लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकार की जुगुप्सा व्यवहार की शुद्धि के लिए तथा परमार्थ की सिद्धि के लिए त्याग दें ॥६४८॥

आचारवृत्ति—निन्दा के दो भेद हैं—लौकिक और अलौकिक। लोकव्यवहार की शुद्धि के लिए सूतक आदि के निवारण हेतु लौकिक निन्दा का परिहार करना चाहिए और परमार्थ के लिए—रत्नत्रय की शुद्धि के लिए लोकोत्तर जुगुप्सा नहीं करना चाहिए।

विशेष—यहाँ 'च कार्या' के स्थान में 'न कार्या' ऐसा पाठान्तर है उसी का अर्थ प्रकरण से घटित होता है।

पुनरपि क्रियापद से उसी को प्रगट करते हैं—

गाथार्थ—दीक्षित मुनि पारमार्थिक विशुद्धि को अच्छी तरह सावधानी पूर्वक करते हैं इसलिए परमार्थ निन्दा का भी भलीभाँति प्रयत्नपूर्वक परिहार करो ॥६४९॥

आचारवृत्ति—साधु कर्मक्षय-निमित्तक रत्नत्रय-शुद्धि को अच्छी तरह प्रयत्नपूर्वक करें तथा परमार्थ जुगुप्सा अर्थात् शंकादि दोषों का भी भलीभाँति प्रमाद रहित होकर त्याग करें।

उसी को और कहते हैं—

गाथार्थ—साधु संयम की विराधना न करते हुए व्यवहार-शुद्धि करें एवं व्रतों को भंग न करते हुए व्यवहार निन्दा का भी परिहार करें ॥६५०॥

---

१. क० परमार्थशोधनार्थं। २. न कार्येति इति पाठान्तरम्।

भिक्षुः संयमं चारित्रमविराधयन्नपीडयन् करोतु व्यवहारशोधनं लोकव्यवहारशोधनं प्रायश्चित्तं च व्यवहारजुगुप्सां च, येन कर्मणा लोके विशिष्टजनमध्ये कुत्सितो भवति तत्कर्म परिहरतु व्रतान्यहिंसादीनि च असंजयन्नखंडयन्। किमुक्तं भवति—संयमं मा विराधयतु व्यवहारशुद्धिं च करोतु व्रतानि मा [1]भंजयतु व्यवहारजुगुप्सां च परिहरतु साधुरिति ॥९५०॥

द्रव्यशुद्धिं विधाय क्षेत्रशुद्धयर्थमाह—

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिंदियदारइत्थिजणबहुलं।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेज्ज ॥९५१॥

यस्मिन् क्षेत्रे कषायाणामुत्पत्तिः प्रादुर्भावस्तथा यस्मिन् क्षेत्रेऽभक्तिरादराभावः शाठ्यबाहुल्यं, यत्र चेन्द्रियद्वारबाहुल्यमिन्द्रियद्वाराणां चक्षुरादीनां बाहुल्यं सुष्ठु रागकारणविषयप्राचुर्यं, स्त्रीजनबाहुल्यं च यत्र स्त्रीजनो बाहुल्येन शृंगाराकारविकार[2]विषयलीलाहावभावनृत्तगीतवादित्रहासापहासादिभिष्ठस्तथा दुःखं क्षेत्रं क्लेशप्रचुरं, उपसर्गबहुलं बाहुल्येनोपसर्गोपेतं च तदेतत्सर्वं क्षेत्रं भिक्षुः साधुर्विवर्जयतु सम्यग्दर्शनादिशुद्धिकरणायेति ॥९५१॥

इत्थंभूतं च क्षेत्रं सेवयत्विति कथयन्नाह—

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ ॥९५२॥

आचारवृत्ति—साधु चारित्र की हानि न करते हुए लोक-व्यवहार के शोधनरूप प्रायश्चित्त करें और जिस कार्य से लोक में विशिष्ट जनों में निन्दा होती है वह कार्य छोड़ दें एवं अहिंसा आदि व्रतों को भंग न करें। तात्पर्य यह कि साधु संयम की विराधना नहीं करें, व्यवहार-शुद्धि का पालन करें, व्रतों में दोष नहीं लगाएँ और लोकनिन्दा का परिहार करें।

द्रव्यशुद्धि कहकर अब क्षेत्रशुद्धि कहते हैं—

गाथार्थ—जहाँ पर कषायों की उत्पत्ति हो, भक्ति न हो, इन्द्रियों के द्वार और स्त्री-जन की बहुलता हो, दुःख हो, उपसर्ग की बहुलता हो उस क्षेत्र को मुनि छोड़ दें ॥९५१॥

आचारवृत्ति—जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति होती हो, जिस क्षेत्र में भक्ति—आदर का अभाव हो अर्थात् लोगों में शठता की बहुलता हो, जहाँ पर चक्षु आदि इन्द्रियों के लिए राग के कारणभूत विषयों की प्रचुरता हो, जहाँ पर शृंगार-आकार, विकार, विषय, लीला, हावभाव, नृत्य, गीत, वादित्र, हास्य, उपहास आदि में तत्पर स्त्रियों का बाहुल्य हो, जहाँ पर क्लेश अधिक हो एवं जिस क्षेत्र में बहुलता से उपसर्ग होता हो ऐसे क्षेत्र का मुनि सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि के लिए परिहार कर दे।

इस प्रकार के क्षेत्र का सेवन करें सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि पर्वत की कन्दरा, श्मशान, शून्य मकान और वृक्ष के मूल ऐसे वैराग्य की अधिकता युक्त स्थान का सेवन करें ॥९५२॥

---

१. क० भनक्तु। २. वेष।

गिरिकंदरां श्मशानं शून्यागारं वृक्षमूलं च धीरो भिक्षुर्निषेवयतु भावयतु यत एतत्स्थानं वैराग्यबहुलं चारित्रप्रवृत्तिहेतुकमिति ॥१५२॥

तथैतच्च क्षेत्रं वर्जयत्विति कथनायाह—

> णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
> पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥१५३॥

नृपतिविहीनं यत् क्षेत्रं यस्मिन् देशे नगरे ग्रामे गृहे वा प्रभुर्नास्ति स्वेच्छया प्रवर्तते सर्वो जनः, यत्र च क्षेत्रे नृपतिर्दुष्टः यस्मिंश्च देशे नगरे ग्रामे गृहे वा स्वामी दुष्टः कदर्थनशीलो धर्मविराधनप्रवणः, यत्र[1] च प्रव्रज्या न लभ्यते न प्राप्यते, यत्र यस्मिंश्च देशे शिष्याः श्रोतारोऽध्येतारो व्रतरक्षणतन्निष्ठा दीक्षाग्रहणशीलाश्च न संभवंति, संयमघातश्च यत्र बाहुल्येनातीचारबहुलं तदेतत्सर्वं क्षेत्रं च वर्जयेद यत्नेन परिहरतु साधुरित्युपदेशः ॥१५३॥

तथैतदपि वर्जयेत्—

> णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
> तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारवोसरणे ॥१५४॥

विरतानां नो कल्पते न युज्यते विरतीनामार्यिकाणामुपाश्रये स्थातुं कालांतरं धर्मकार्यमन्तरेण,

---

आचारवृत्ति—धीर मुनि पर्वतों की कन्दरा में, श्मशान में, शून्य मकानों में और वृक्षों के नीचे निवास करें, क्योंकि ये स्थान वैराग्य बहुल होने से चारित्र की प्रवृत्ति में निमित्त हैं।

उसी प्रकार से इन क्षेत्रों का त्याग करें, इसका कथन बताते हैं—

गाथार्थ—राज से हीन क्षेत्र अथवा जहाँ पर राजा दुष्ट हो, जहाँ पर दीक्षा न मिलती हो और जहाँ पर संयम का घात हो वह क्षेत्र छोड़ दें ॥१५३॥

आचारवृत्ति—जिस देश में, नगर में, ग्राम में या घर में स्वामी न हो—सभी लोग स्वेच्छा से प्रवृत्ति करते हों, अथवा जिस देश का राजा दुष्ट हो अर्थात् जिस देश, नगर, गाँव या घर का मालिक धर्म की विराधना में कुशल हो, कुत्सितस्वभावी हो, जहाँ पर दीक्षा न प्राप्त होती हो अर्थात् जिस देश में शिष्य, श्रोता, अध्ययन करनेवाले, व्रतों के रक्षण में तत्पर तथा दीक्षा को ग्रहण करनेवाले लोग सम्भव न हों, जहाँ पर संयम का घात होता हो अर्थात् व्रतों में बहुत अतीचार लगते हों, साधु ऐसे क्षेत्र का प्रयत्नपूर्वक परिहार कर दें—ऐसा आचार्यों का उपदेश है।

तथा इन स्थानों को भी छोड़ दें—

गाथार्थ—आर्यिकाओं के उपाश्रय में मुनियों का रहना उचित नहीं है। वहाँ पर बैठना, उद्वर्तन करना, स्वाध्याय, आहार और व्युत्सर्ग भी करना उचित नहीं है ॥१५४॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों को धर्म कार्य के अतिरिक्त कार्य से रहना युक्त नहीं है। वहाँ पर सोना, बैठना, स्वाध्याय करना, आहार करना, शरीर सम्बन्धी

---

1. क० प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र।

तत्र च शय्या निषद्या स्वाध्याय आहारः कायिकादिक्रिया प्रतिक्रमादिकं च न [1]कल्पते युक्ताचारस्य साधो-रिति ॥१५४॥

कुतो यतः—

होदि दुगंछा दुविहा ववहारादो तधा य परमट्ठे।
पयदेण य परमट्ठे ववहारेण य तहा पच्छा ॥१५५॥

तत्रार्यिकोपाश्रये वसतः साधोर्द्विप्रकारापि जुगुप्सा, व्यवहाररूपा तथा परमार्था च, लोकापवादो व्यवहाररूपा, व्रतभंगश्च परमार्थतः यत्नेन परमार्थरूपा जायते जुगुप्सा, व्यवहारतश्च[2] ततोऽथवा व्यवहारतो भवति पश्चात्परमार्थतश्चेति ॥१५५॥

तथा संसर्गजं दोषमाह—

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा कुंभो ॥१५६॥

संसर्गेण संपर्केण बोधिः सम्यग्दर्शनादिशुद्धिर्वर्द्धते तथा पुनरपि विनश्यति च। सदाचारप्रसंगेन वर्द्धते कुत्सिताचारसंपर्केण विनश्यति, यथा संसर्गविशेषेणोत्पलगंधः जलकुंभ उत्पलादिसंपर्केण सुगंधः शीतल-

---

क्रिया—मल-मूत्र विसर्जन आदि करना तथा प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करना भी युक्ताचारी साधु को ठीक नहीं है।

उचित क्यों नहीं है सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—व्यवहार से तथा परमार्थ से दो प्रकार से निन्दा होती है। पहले व्यवहार से पश्चात् परमार्थ से निन्दा निश्चित ही होती है ॥१५५॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाओं की वसतिका में रहनेवाले साधु की दो प्रकार की जुगुप्सा होती है—व्यवहाररूप और परमार्थरूप। लोकापवाद होना व्यवहार निन्दा है और व्रतभंग हो जाना परमार्थ जुगुप्सा है। यत्न से अर्थात् पारस्परिक आकर्षण बढ़ानेवाले प्रयास से निश्चित ही पर-मार्थ जुगुप्सा होती है। उसके बाद व्यवहार से होती। अथवा पहले व्यवहार में जुगुप्सा होती है पश्चात् परमार्थ से हानि होती है।

गाथार्थ—आर्यिकाओं के स्थान में आने-जाने से मुनियों की निन्दा होती है यह व्यव-हार जुगुप्सा है यह तो होती ही है, पुनः व्रतों में हानि होना परमार्थ जुगुप्सा है सो भी सम्भव है। यह न भी हो तो भी व्यवहार में निन्दा तो होती ही है।

तथा संसर्ग से होनेवाले दोषों को कहते हैं—

गाथार्थ—संसर्ग से बोधि बढ़ती है तथा पुनः नष्ट भी हो जाती है। जैसे संसर्ग विशेष से जल का घड़ा कमल की सुगन्धयुक्त हो जाता है ॥ १५६ ॥

आचारवृत्ति—सदाचार के सम्पर्क से सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि बढ़ जाती है, उसी प्रकार पुनः कुत्सित आचारवाले के सम्पर्क से नष्ट भी हो जाती है, जैसे कमल आदि के संसर्ग से

---

१. क० कल्पते। २. क० ततः पश्चात्परमार्थत श्चेति।

ष्वाग्न्यादिसंयोगेनोष्णो विरसश्चेति ॥९५६॥

तथैतैश्च संसर्गं वर्जयेदिति प्रतिपादयन्नाह—

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी ।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥९५७॥

चंडो रौद्रो मारणात्मको विषतरुरिव, चपलोऽस्थिरप्रकृतिर्वाचिकादिक्रियायां स्थैर्यहीनः, मंदश्चारित्रालसस्तथा साधुः पृष्ठमांसप्रतिसेवी पश्चाद्दोषकथनशीलः पैशुन्यतत्परः, गौरवबहुलः कषायबहुलश्च पदं पदं प्रतिरोषणशीलः, दुराश्रय एवंभूतः श्रमणो दुःसेव्यो भवति केनाप्युपकारेणात्मीयः कर्तुं न शक्यते यत एवंभूतं श्रमणं न सेवयेदिति संबन्धः ॥९५७॥

तथा—

वेज्जावच्चविहूणं विणयविहूणं च दुस्सुदिकुसीलं ।
समणं विरागहीणं [1]सुजमो साधू ण सेविज्ज ॥९५८॥

वैयावृत्यविहीनं ग्लानदुर्बलव्याधितादीनामुपकाररहितं, विनयविहीनं पंचप्रकारविनयरहितं[2], दुःश्रुतिं दुष्टश्रुतिसमन्वितं, कुशीलं कुत्सिताचरणशीलं, श्रमणं नाग्न्याद्युपेतमपि, विरागहीनं रागोत्कटं, पूर्वोक्तः

घड़े का जल सुगन्धमय और शीतल हो जाता है और अग्नि आदि के संयोग से उष्ण तथा विरस हो जाता है।

इनके साथ संसर्ग छोड़ दें, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी, चुगलखोर है एवं गौरव और कषाय की बहुलतावाला है वह श्रमण आश्रय लेने योग्य नहीं है ॥ ९५७ ॥

आचारवृत्ति—जो साधु रौद्रस्वभावी है अर्थात् विषवृक्ष के समान मारनेवाला है, अस्थिर प्रकृति का है अर्थात् जिसकी वचन आदि क्रियाओं में स्थिरता नहीं है, जो चारित्र में आलसी है तथा पीठ पीछे दोषों को कहनेवाला है, चुगली करने में तत्पर है, गौरव की बहुलता युक्त है, और तीव्रकषाय वृत्तिवाला है अर्थात् पद-पद पर रोष करनेवाला है, ऐसा श्रमण दुःसेव्य है अर्थात् किसी भी उपकार से उसे आत्मीय करना शक्य नहीं है। ऐसे श्रमण का मुनि आश्रय नहीं लें—ऐसा सम्बन्ध लगा लेना चाहिए।

उसी को और स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—सुचारित्रवान् साधु वैयावृत्य से हीन, विनय से हीन, खोटे शास्त्र से युक्त, कुशील और वैराग्य से हीन श्रमण का आश्रय न लेवें ॥ ९५८ ॥

आचारवृत्ति—जो ग्लान, दुर्बल और व्याधि से पीड़ित मुनियों का उपकार नहीं करता है, पाँच प्रकार के विनय से रहित है, खोटे शास्त्रों से सहित है, कुशील—कुत्सित आचरणवाला है और राग की उत्कटता से सहित है ऐसा श्रमण नग्नता आदि से सहित है तो भी सुचारित्र-

---

१. क० सुसंजदो साहू। २. क विनयविहीनं।

साधुः संयतो न सेवेत न कदाचिदप्याश्रयेद् दुष्टाश्रयत्वादिति ॥६५८॥

तथा—

दंभं परपरिवादं पिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं ।
चिरपव्वइदं पि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज ॥६५९॥

दम्भं वंचनशीलं कुटिलभावं, परपरिवादिनं परोपतापिनं, पैशुन्योपपन्नं [1]दोषोद्भावनेन तत्परं, पापसूत्रप्रतिसेविनं मारणोच्चाटनवशीकरणमंत्रयंत्रतंत्रठकशास्त्रराजपुत्रकोकवात्स्यायनपितृपिंडविधायकं सूत्रं मांसादिविधायकवैद्यसावद्यज्योतिषशास्त्रादिरतमित्थंभूतं मुनिं चिरप्रव्रजितमपि आरंभयुतं च न कदाचिदपि सेवेत न तेन सह संगं कुर्यादिति ॥६५९॥

तथा—

चिरपव्वइदं पि मुणी अपुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं ।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥६६०॥

तथा चिरप्रव्रजितं बहुकालीनं श्रमणं, अपुष्टधर्मं मिथ्यात्वोपेतं असंवृतं स्वेच्छावचनवादिनं नीचं [2]नीचकर्मकरं लौकिकं व्यापारं लोकोत्तरं च व्यापारं अजानन्तं लोकविराधनपरं परलोकनाशनपरं च श्रमणं

धारी साधु उसका आश्रय न ले, कदाचित् भी ऐसे मुनि की संगति न करे क्योंकि यह दुष्ट आश्रय वाला है।

उसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—मायायुक्त, अन्य का निन्दक, पैशुन्यकारक, पापसूत्रों के अनुरूप प्रवृत्ति करनेवाला और आरम्भसहित श्रमण चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो तो भी उसकी उपासना न करे॥ ६५९ ॥

आचारवृत्ति—दंभ-वचन के स्वभाववाला अर्थात् कुटिल परिणामी, पर की निन्दा करनेवाला, दूसरों के दोषों को प्रकट करने में तत्पर या चुगलखोर, मारण, उच्चाटन, वशीकरण, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, ठगशास्त्र, राजपुत्रशास्त्र. कोकशास्त्र, वात्स्यायनशास्त्र, पितरों के लिए पिण्ड देने के कथन करनेवाले शास्त्र, मांसादि के गुणविधायक वैद्यकशास्त्र, सावद्यशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र में रत हुए मुनि से, अर्थात् जो भले ही चिरकाल से दीक्षित है किन्तु उपर्युक्त दोषों से युक्त है तथा आरम्भ करनेवाला है उससे, कभी भी संसर्ग न करे।

उसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व युक्त, स्वेच्छाचारी, नीचकार्ययुक्त, लौकिक व्यापारयुक्त, लोकोत्तर व्यापार को नहीं जानते, चिरकाल से दीक्षित भी वाले मुनि को छोड़ देवे ॥६६०॥

आचारवृत्ति—जो साधु अपुष्टधर्म—मिथ्यात्व से सहित है, स्वेच्छापूर्वक वचन बोलनेवाला है, नीच कार्य करनेवाला है, लौकिक क्रियाओं में तत्पर है और लोकोत्तर व्यापार को

---

१. क० दोषाणां दोषाद्भावनेन तत्परं। क० अदोषोद्भावेन। २. क० नीचकर्मरतं।

विवर्जयेत् परित्यजेन्न तेन सह संवासं कुर्वीयेति ॥९६०॥

तथा पापश्रमणस्य लक्षणमाह—

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी ।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥९६१॥

आचार्यकुलं श्रमणसंघं मुक्त्वा यः स्वेच्छया विहरति गच्छति जल्पति चिन्तयति श्रमण एकाकी संघाटकरहितः, उपदेशं च दीयमानं यो न गृह्णाति शिक्षां नादत्ते स पापश्रमण इत्युच्यते ॥९६१॥

तथा—

आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं ।
हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥९६२॥*

आचार्यत्वं कर्तुं त्वरितः पूर्वं शिष्यत्वमकृत्वा यः स्वेच्छया हिंडत्याचरति भ्रमति च ढोंढाचार्यः पूर्वापरविवेकशून्यो यथा निरंकुशो मत्तहस्ती । सोऽपि पापश्रमण इत्यवसेयस्तमपि न सेवेतेति ॥९६२॥

पुनरपि संसर्गजं दोषमाह दृष्टान्तेनेति—

नहीं जानता है अर्थात् लोकविराधना में तत्पर है, परलोक का नाश करनेवाला है ऐसे श्रमण के साथ वह चिरकाल से भी दीक्षित है तो भी संवास नहीं करना चाहिए।

उसी प्रकार से पापश्रमण का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो श्रमण आचार्य संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है और उपदेश को ग्रहण नहीं करता है वह पापश्रमण कहलाता है ॥९६१॥

आचारवृत्ति—जो आचार्यसंघ को छोड़कर स्वेच्छा से विहार करता है, स्वेच्छापूर्वक बोलता है और स्वेच्छा से चिंतवन करता है, संघ से रहित अकेला रहता है, दिये गये उपदेश—शिक्षा को स्वीकार नहीं करता है वह पापश्रमण कहलाता है।

उसी को और कहते हैं—

गाथार्थ—जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की जल्दी करता है वह ढोंढाचार्य है। वह मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता ॥९६२॥

आचारवृत्ति—जो पहले शिष्य न बनकर आचार्य बनने को उत्सुक होता है और स्वेच्छापूर्वक आचरण करता है वह पूर्वापर विवेक से शून्य होता हुआ ढोंढाचार्य कहलाता है। जैसे अंकुश रहित मत्त हाथी भ्रमण करता है वैसे ही वह भी पापश्रमण कहलाता है इसलिए उसका आश्रय न ले।

पुनरपि दृष्टान्त से संसर्गजन्य दोष को कहते हैं—

---

* फलटन से प्रकाशित मूल में यह गाथा किंचित् बदली हुई है।
आयरियकुलं मुच्चा विहरदि एगागिओ दु जो समणो ।
अगिगेण्हिय उवदेसं ण य सो समणो समयबोधो ॥
अर्थ—जो आचार्य कुल को छोड़कर और उपदेश को न ग्रहणकर एकाकी विहार करता है वह श्रमण ढोंग है।

अंबो णिबत्तणं पत्तो दुरासएण जहा तहा ।
समणं मंदसंवेगं अपुट्ठधम्मं ण सेविज्ज ॥९६३॥

यथाऽम्रवृक्षो दुराश्रयेण निबत्वं प्राप्तस्तथा श्रमणं मन्दसंवेगं धर्मानुरागालसं अपुष्टधर्मं समाचार-हीनं दुराश्रयेण संजातं न सेवेत नाश्रयेदात्मापि तदाश्रयेण तथाभूतः स्यादिति ॥९६३॥

तथा पार्श्वस्थान्नित्यं भेतव्यमिति प्रदर्शयन्नाह—

बिहेदव्वं णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स ।
वरणयरणिग्गमं पिव वयणकयारं वहंतस्स ॥९६४॥

दुर्जनवचनात्, किंविशिष्टात् ? प्रलोटजिह्वात् पूर्वापरतामनपेक्ष्य भाषिणो वरनगरनिर्गममिव वचनकचवरं वहतः नित्यं भेतव्यं न तत्समीपे स्थातव्यमिति ॥९६४॥

तथेत्थंभूतोऽपि यस्तस्मादपि भेतव्यमिति दर्शयन्नाह—

आयरियत्तणमुवणायइ जो मुणि आगमं ण याणंतो ।
अप्पाणं पि विणासिय अण्णे वि पुणो विणासेई ॥९६५॥

आचार्यत्वमात्मानमुपनयति य आगममजानन् आत्मानं विनाश्य परमपि विनाशयति । आगमेन

गाथार्थ—जैसे आम खोटे संसर्ग से नीमपने को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आचरण से हीन और धर्म में आलसी श्रमण का आश्रय न ले ॥९६३॥

आचारवृत्ति—आम का वृक्ष खोटी संगति से—नीम के संसर्ग से नीमपने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् कटु स्वादवाला हो जाता है, उसी प्रकार जो श्रमण धर्म के अनुरागरूप संवेग में आलसी है, समीचीन से आचार से हीन है, खोटे आश्रय से संपन्न है उसका संसर्ग नहीं करो, क्योंकि आत्मा भी ऐसे के संसर्ग से ऐसा ही हो जाएगा ।

उसी प्रकार से पार्श्वस्थ मुनि से हमेशा ही डरना चाहिए, ऐसा दिखलाते हैं—

गाथार्थ—दुर्जन के सदृश वचनवाले यद्वा तद्वा बोलनेवाले, नगर के नाले के कचरे को धारण करते हुए के समान मुनि से हमेशा डरना चाहिए ॥९६४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि पूर्वापर का विचार न करके बोलनेवाले हैं, विशालनगर से निकले हुए वचनरूप कचरे को धारण करते हैं, दुर्जन के सदृश वचन बोलनेवाले हैं, उनसे हमेशा ही डरना चाहिए अर्थात् उनके समीप नहीं रहना चाहिए ।

तथा जो इस प्रकार के भी हैं उनसे भी डरना चाहिए, इसे ही दिखाते हैं—

गाथार्थ—जो मुनि आगम को न जानते हुए आचार्यपने को प्राप्त हो जाता है वह अपने को नष्ट करके पुनः अन्यों को भी नष्ट कर देता है ॥९६५॥

आचारवृत्ति—जो मुनि आगम को न समझकर आचार्य बन जाता है अर्थात आगम के

विनाचरन्नात्मानं नरकादिषु गमयति तथा परान् कुत्सितोपदेशेन भावयन् तान्नरकादिषु प्रवेशयतीति ततस्तस्मादपि भेतव्यमिति ॥९६५॥

अभ्यन्तरयोगैर्विना बाह्ययोगानामफलत्वं दर्शयन्नाह—

घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स ।
अब्भंतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं ॥९६६॥

घोटकमुत्सर्गसमानस्यांतःकुथितस्य बाह्येन बकस्येव निभृतकरचरणस्य तस्यैवंभूतस्य मूलगुणरहितस्य किं बाह्यैर्वृक्षमूलादिभिर्योगैर्न किंचिदपीत्यर्थस्तस्माच्चारित्रे यत्नः कार्य इति ॥९६६॥

बहुकालश्रमणोऽहमिति च मा गर्वं कृथा यतः—

मा होह वासगणणा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति ।
बहवो तिरत्तवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरा समणा ॥९६७॥

मा भवतु वर्षगणना मम प्रव्रजितस्य बहूनि वर्षाणि यतोऽयं लघुरद्य प्रव्रजित इत्येवं गर्वं मा कुर्थाः, यतो न तत्र मुक्तिकारणे वर्षाणि गण्यन्ते । बहुकालश्रामण्येन मुक्तिर्भवति नैवं परिज्ञायते यस्माद्बहवस्त्रिरात्रिमात्रोषितचरित्रा अन्तर्मुहूर्तवृत्तचरित्राश्च वैराग्यपरा धीराः सम्यग्दर्शनादौ निष्कम्पाः श्रमणाः सिद्धा

बिना आचरण करता है वह स्वयं को नरक आदि गतियों में पहुँचा देता है और अन्य जनों को भी कुत्सित उपदेश के द्वारा उन्हीं दुर्गतियों में प्रवेश करा देता है, इसलिए ऐसे आचार्य से भी डरना चाहिए।

अभ्यन्तर योगों के बिना बाह्य योगों की निष्फलता है, उसे ही कहते हैं—

गाथार्थ—घोड़े की लीद के समान अन्तरंग में निन्द्य और बाह्य से बगुले के सदृश हाथ-पैरों को निश्चल करनेवाले—साधु के बाह्ययोगों से क्या प्रयोजन ? ॥९६६॥

आचारवृत्ति—जो घोड़े की लीद के समान अन्तरंग में कुथित—निन्द्य-भावना युक्त एवं बाह्य में बगुले के समान हाथ-पैरों को निश्चल करके खड़े हैं अर्थात् जो अन्तरंग में निन्द्य भाव सहित हैं, बाह्य क्रिया और चारित्र को कर रहे हैं तथा मूलगुण से रहित हैं ऐसे मुनि को बाह्य वृक्षमूल आदि योगों से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं है। इसलिए चारित्र में यत्न करना चाहिए, यह अभिप्राय है।

'मैं बहुतकाल का श्रमण हूँ' ऐसा गर्व मत करो क्योंकि—

गाथार्थ—वर्षों की गणना मत करो क्योंकि वहाँ वर्ष नहीं गिने जाते। बहुत से विरागी धीर श्रमण तीन रात्रिमात्र ही चारित्रधारी होकर सिद्ध हो गये हैं ॥९६७॥

आचारवृत्ति—वर्षों की गणना मत करो, 'मुझे दीक्षा लिये बहुत वर्ष हो गये हैं। मुझसे यह छोटा है, आज दीक्षित हुआ है' इस प्रकार से गर्व मत करो क्योंकि वहाँ मुक्ति के कारण में वर्षों की गिनती नहीं होती है। बहुतकाल के मुनिपन से मुक्ति होती हो ऐसा नहीं जाना जाता है क्योंकि बहुतों ने तीन रात्रि मात्र ही चारित्र धारण किया है। और तो और, किन्हीं ने अन्तर्मुहूर्त मात्र ही चारित्र का वर्तन किया है किन्तु वैराग्य में तत्पर धीर-सम्यग्दर्शन

निर्मूलितशेषकर्माण इति ॥९६७॥

बन्धं बन्धकारणं च प्रतिपादयन्नाह—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥९६८॥

कर्मणो ग्रहणं योगनिमित्तं योगहेतुकं, योगः प्रकृतिबन्धं प्रदेशबन्धं च करोतीति। अथ को योग इत्याशंकायामाह—योगश्च मनोवचनकायेभ्यः सम्भूतो मनःप्रदेशपरिस्पन्दो वाक्प्रदेशपरिस्पन्दः कायप्रदेशपरिस्पन्दः 'मनोवाक्कायकर्म योग' इति वचनात्। भावनिमित्तो भावहेतुको बन्धः संश्लेषः स्थित्यनुभागरूपः 'स्थित्यनुभागौ कषायत' इति वचनात्। अथ को भाव इति प्रश्ने भावो रतिरागद्वेषमोहयुक्तो मिथ्यात्वासंयमकषाया इत्यर्थ इति ॥९६८॥

कर्मणः परिणामो न तु जीवस्येति प्रतिपादयन्नाह—

जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोग्गला परिणमंति।
ण दु णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि ॥९६९॥

आदि में निष्कम्प होने से ऐसे श्रमण अतिशीघ्र ही अशेष कर्मों का निर्मूलन करके सिद्ध हो गये हैं।

अब बन्ध और बन्ध के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—कर्मों का ग्रहण योग के निमित्त से होता है। वह योग मन वचन काय से उत्पन्न होता है। कर्मों का बन्ध भावों के निमित्त से होता है और भाव रति, राग, द्वेष एवं मोह सहित होता है ॥९६८॥

आचारवृत्ति—कर्मों का ग्रहण योग के कारण होता है। वह योग प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध करता है। वह योग क्या है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—वह योग मन, वचन और काय से उत्पन्न होता है अर्थात् मन के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन, वचनयोग से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन और काययोग से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होना योग है। "मन-वचन-काय के कर्म का नाम योग है[1]" ऐसा सूत्रकार का वचन है। भाव के निमित्त से बन्ध अर्थात् आत्मा के साथ संश्लेष—सम्बन्ध होता है जो स्थिति और अनुभाग रूप है। "स्थिति और अनुभाग कषाय से होते हैं" ऐसा वचन है। भाव क्या है? रति, राग, द्वेष और मोह-युक्त परिणाम भाव कहलाते हैं अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम और कषाय भाव स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के कारण हैं।

कर्म के परिणाम होते हैं न कि जीव के ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप से परिणमन करते हैं। ज्ञान-परिणत हुआ जीव तो कर्म ग्रहण करता नहीं है ॥९६९॥

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सूत्र १।

जीवस्य परिणामहेतवो बालवृद्धयुवत्वभावेन नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवत्वभावेन च कर्मत्वेन कर्मस्वरूपेण पुद्गला रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः परमाणवः परिणमन्ति पर्यायं गृह्णन्ति। जीवः पुनर्ज्ञानपरिणतो नैव कर्म समादत्ते नैव कर्मभावेन पुद्गलान् गृह्णातीति। यतोऽतश्चारित्रं ज्ञानदर्शनपूर्वकं भावनीयमिति ॥९६९॥

यस्मात्—

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झयणतवेजुदो।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहुं ॥९७०॥

ज्ञानं यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदकं विज्ञानं चारित्रं ताभ्यां ज्ञानविशेषेण वा सम्पन्नः परिणतः ध्यानेनैकाग्रचिन्तानिरोधेनाध्ययनेन वाचनापृच्छनादिक्रियया तपसा च द्वादशप्रकारेण युक्तः परिणतः कषायगौरवोन्मुक्तश्च लघु शीघ्रं संसारं भवसमुद्रं तरति समुल्लंघयतीति ततो रत्नत्रयं सारभूतमिति ॥९७०॥

ननु स्वाध्यायभावनया कथं संसारस्तीर्यत इत्याशंकायामाह—

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंपुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥९७१॥

यतः स्वाध्यायं शोभनशास्त्राभ्यासवाचनादिकं कुर्वन् पंचेन्द्रियसंवृतस्त्रिगुप्तश्च भवति, एकाग्र-

---

आचारवृत्ति—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले पुद्गल परमाणु जीव के परिणाम का निमित्त पाकर बालक, वृद्ध, युवा भाव से तथा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवपने के भाव से कर्म रूप से परिणमन करते हैं अर्थात् ये पुद्गल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। किन्तु यदि जीव ज्ञानपरिणत हो रहा है तब तो वह कर्मभाव से पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता है। इसलिए चारित्र को ज्ञान-दर्शन पूर्वक ही भावित करना चाहिए। अर्थात् चारित्र-युक्त ज्ञानी जीव को कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

क्योंकि—

गाथार्थ—ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न एवं ध्यान, अध्ययन और तप से युक्त तथा कषाय और गौरव से रहित मुनि शीघ्र ही संसार को पार कर लेते हैं ॥९७०॥

आचारवृत्ति—यथावस्थित वस्तु को जाननेवाला ज्ञान है और चारित्र को विज्ञान कहा है। इन दोनों से समन्वित अथवा ज्ञान विशेष से परिणत हुए मुनि एकाग्र चिन्तानिरोधरूप ध्यान, वाचना, पृच्छना आदि क्रिया रूप अध्ययन एवं बारह प्रकार के तपों को करते हुए तथा कषाय और गौरव से रहित होकर शीघ्र ही भवसमुद्र से तिर जाते हैं। इसलिए रत्नत्रय ही सारभूत है।

स्वाध्याय की भावना से कैसे संसार तिरा जाता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—विनय से सहित मुनि स्वाध्याय करते हुए पंचेन्द्रियों को संकुचित कर तीन-गुप्तियुक्त और एकाग्रमना हो जाते हैं ॥९७१॥

आचारवृत्ति—दर्शन, विनय आदि विनयों से संयुक्त मुनि उत्तम शास्त्रों का अभ्यास और वाचना आदि करते हुए पंचेन्द्रियों को संवृत कर लेते हैं एवं तीनगुप्ति सहित हो जाते हैं

मना ध्यानपरश्च भवति, विनयेन समाहितस्य दर्शनादिविनयोपेतस्य भिक्षुर्भवत्यतः प्रधानं चारित्रं स्वाध्याय-स्तस्य मुक्तिरिति ॥९७१॥

पुनरपि स्वाध्यायस्य माहात्म्यं तपस्यन्तर्भावं च प्रतिपादयन्नाह—

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं ॥९७२॥

द्वादशविधे तपसि साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे तीर्थंकरगणधरादिप्रदर्शिते कृते च नैवास्ति न चापि भविष्यति स्वाध्यायसम स्वाध्यायसदृशं अन्यतपःकर्मातः स्वाध्यायः परमं तप इति कृत्वा निरन्तरं भावनीय इति ॥९७२॥

स्वाध्यायभावनया श्रुतभावना स्यात्तस्याश्च भावनायाः फलं प्रदर्शयन्नाह—

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण ।
एवंससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ॥९७३॥

यथा सूची लोहमयी शलाका सूक्ष्मापि ससूत्रा सूत्रमयरज्जुसमन्विता न नश्यति न चक्षुर्गोचरतामतिक्रामति प्रमाददोषेणापि अपस्कारादिमध्ये विस्मृतापि । तथैवं पुरुषोऽपि साधुरिति ससूत्रः श्रुतज्ञानसमन्वितो

तथा एकाग्रचित्त होकर ध्यान में तत्पर हो जाते है; इसलिए स्वाध्याय नाम का चारित्र प्रधान है क्योंकि उससे वे मुक्ति प्राप्त कर लेते है। अर्थात् विनयपूर्वक स्वाध्याय करते समय इन्द्रियों का और मन-वचन-काय का व्यापार रुक जाता है, अन्यत्र नही जाता है, उसी में तन्मय हो जाता है। अतः एकाग्रचिन्ता-निरोध रूप ध्यान का लक्षण घटित होने से यह स्वाध्याय मुक्ति का कारण है।

पुनरपि स्वाध्याय का माहात्म्य और वह तप में अन्तर्भूत है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—गणधर देवादि प्रदर्शित, बाह्य-अन्तरंग से सहित बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय समान तपःकर्म न है और न होगा ही ॥९७२॥

आचारवृत्ति—तीर्थंकर, गणधर आदि देवों ने जिसका वर्णन किया है, जिसमें बाह्य और अभ्यन्तर छह छह भेद है ऐसे बारह प्रकार के तपो में स्वाध्याय के सदृश अन्य कोई तपःकर्म न है और न होगा ही। अतः स्वाध्याय परमतप है, ऐसा समझकर निरन्तर उसकी भावना करना चाहिए।

स्वाध्याय की भावना से श्रुतभावना होती है अतः उस भावना का फल दिखलाते हैं—

गाथार्थ—जैसे धागे सहित सुई प्रमाद दोष से भी खोती नही है ऐसे ही सूत्र के ज्ञान से सहित पुरुष प्रमाद दोष से भी नष्ट नहीं होता है ॥९७३॥

आचारवृत्ति—जैसे लोहे से बनी सुई सूक्ष्म होती है फिर भी यदि वह सूत्र सहित अर्थात् धागे से पिरोई हुई है तो नष्ट नहीं होती है अर्थात् प्रमाद के निमित्त से यदि वह कूड़े-कचरे में गिर भी गयी है तो भी आँखों से दिख जाती है, मिल जाती है। उसी प्रकार से सूत्र सहित अर्थात् श्रुतज्ञान से समन्वित साधु भी नष्ट नहीं होता है, वह प्रमाद के दोष से भी संसार

न नश्यति नैव संसारगर्ते पतति प्रमाददोषेणापि परमं तपः कर्तुं न समर्थस्तथापि शाठ्यरहितः स्वाध्यायं यदि निरन्तरं करोति तथापि कर्मक्षयं करोतीति भावः ॥९७३॥

चारित्रस्य प्रधानमंगं ध्यानं तदुपकारभूतं निद्राजयमाह—

णिद्दं जिणेहि णिच्चं णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि।
वट्टेज्ज हू पसुत्तो समणो सव्वेसु दोसेसु ॥९७४॥

निद्रां दर्शनावरणकर्मोदयमोहभावं जय तस्या वशं मा गच्छ यतः सा निद्रा नरं खलु स्फुटमचेतनं पूर्वापरविवेकहीनं करोति यतश्च प्रसुप्तः श्रमणो वर्तेत सर्वेषु दोषेषु यस्मान्निद्रयाक्रान्तचित्तः सर्वैरपि प्रमादैः सहितो भवति संयतोऽयतो निद्राजयं कुर्विति ॥९७४॥

निद्रां जित्वैकाग्रचिन्तानिरोधं कुर्वीतेति प्रतिपादयन्नाह—

जह उसुगारो उसुमुज्जु करई संपिडियेहिं णयणेहिं।
तह साहू भावेज्जो चित्तं एयग्गभावेण ॥९७५॥

यथेषुकारः काण्डकार इषुं काण्डं उज्जु करई - ऋजुं करोति प्रगुणं करोति सम्यक्संपिंडिताभ्यां संमीलिताभ्यां नयनाभ्यां निरुद्धचक्षुरादिप्रसरेण तथा साधुः शुभध्यानार्थं स्वचित्तं मनोव्यापारमेकाग्रभावेन मनोवाक्कायस्थैर्यवृत्त्या पंचेंद्रियनिरोधेन च भावयेदभिरमयेदिति ॥९७५॥

गर्त में नहीं पड़ता है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि कोई साधु परमतप करने में समर्थ नहीं है लेकिन यदि वह शठता रहित निरन्तर स्वाध्याय करता है तो वह कर्मों का क्षय कर देता है।

चारित्र का प्रधान अंग ध्यान है और उसके लिए उपकारभूत निद्राजय है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—हे मुनि! निद्रा को जीतो। निश्चित ही, निद्रा नर को अचेतन कर देती है। क्योंकि सोया हुआ श्रमण सभी दोषों में प्रवर्तन करता है ॥९७४॥

आचारवृत्ति—दर्शनावरण कर्म के उदय से हुआ मोह भावनिद्रा है। हे साधो! तुम निद्रा को जीतो, उसके वश में मत होओ क्योंकि वह निद्रा निश्चित ही मनुष्य को अचेतन अर्थात् पूर्वापर विवेकहीन बना देती है। चूंकि निद्रा से व्याप्त चित्तवाला श्रमण सब प्रकार के प्रमादों से युक्त होता है अतः हे संयत! तुम निद्रा को जीतो।

साधु निद्रा को जीतकर एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान करे ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ- जैसे बाणकारक मनुष्य किंचित् बन्द हुए नेत्रों से बाण को सीधा-सरल बनाता है वैसे ही साधु एकाग्रभाव से मन को रोके ॥९७५॥

आचारवृत्ति—जैसे बाण बनानेवाला मनुष्य सम्मीलित नेत्रों से जरा-सी आँख मींचकर बाण देखकर उसे सरल बनाता है अर्थात् इधर-उधर न देखते हुए एकटक उसी पर दृष्टि केन्द्रित करके उसे सीधा करता है। वैसे ही साधु शुभध्यान के लिए मन-वचन-काय की स्थिरवृत्तिरूप और पंचेन्द्रिय के निरोधरूप एकाग्रभाव द्वारा अपने मन के व्यापार को रोके अर्थात् अपने मन को किसी एक विषय में रमावे। अथवा जैसे धनुर्धर अपने लक्ष्य पर एकटक दृष्टि रखकर बाण सीधा उसी पर छोड़ता है वैसे ही साधु मन को एकाग्र कर आत्मतत्त्व का चिन्तवन करे।

ध्यानं प्रपंचयन्नाह—

कम्मस्स बंधमोक्खो जीवाजीवे य दव्वपज्जाए।
संसारसरीराणि य भोगविरत्तो सया झाहि ॥९७६॥

कर्मणो ज्ञानावरणादेर्बन्धं जीवकर्मप्रदेशसंश्लेषं तथा मोक्षं सर्वथा कर्मापायं तथा जीवान् द्रव्यभाव-प्राणधारणसमर्थानजीवान् पुद्गलधर्माधर्माकाशकालान् द्रव्याणि सामान्यरूपाणि पर्यायान् विशेषरूपान् संसारं चतुर्गतिभ्रमणं शरीराणि औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि च भोगविरक्तो रागकारणेभ्यो विरक्तः सन् सदा सर्वकालं ध्याय सम्यग्भावयेति ॥९७६॥

संसारविकल्पं भावयन्नाह—

दव्वे खेत्ते काले भावे य भवे य होंति पंचेव।
परियट्टणाणि बहुसो अणादिकाले य चिंतेज्जो ॥९७७॥

द्रव्यपरिवर्तनानि कर्मनोकर्मतत्स्वरूपग्रहणपरित्यजनानि, क्षेत्रपरिवर्तनानि सर्वप्रदेशेषूत्पत्तिमरणानि, कालपरिवर्तनानि उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषूत्पत्तिमरणानि, भावपरिवर्तनानि जघन्यमध्यमोत्कृष्टबन्धस्थितिबन्धरूपाणि, भवपरिवर्तनानि सर्वायुर्विकल्पेषूत्पत्तिमरणानि, एवं पंचपरिवर्तनानि अनादिकालेऽतीतकाले

ध्यान का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—हे मुने ! तुम भोगों से विरक्त होकर कर्म का, बन्ध-मोक्ष का, जीव-अजीव का, द्रव्य-पर्यायों का तथा संसार और शरीर का हमेशा ध्यान करो ॥९७६॥

आचारवृत्ति—साधु भोगों और राग के कारणों से विरक्त होते हुए हमेशा अच्छी तरह से चिन्तवन करे। किन-किन का ? वही बताते हैं—ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध का, जो कि जीव और कर्म-प्रदेशों का आपस में संश्लेषरूप होता है, तथा सर्वथा कर्मों का नष्ट हो जाना मोक्ष है। द्रव्य और भाव प्राणों को धारण करने में जो समर्थ हैं वे जीव हैं। चेतना लक्षण रूप प्राणों से रहित का नाम अजीव है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अजीव हैं। इनका सामान्य स्वरूप द्रव्य है। इनकी विशेष अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। चतुर्गति के भ्रमण का नाम संसार है। औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये शरीर हैं। इन बन्ध-मोक्ष, जीव-अजीव, द्रव्य-पर्याय तथा संसार और शरीर के स्वरूप का मुनि हमेशा चिन्तवन करे।

संसार के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव ये पाँच संसार होते हैं। अनादिकाल से ये परिवर्तन अनेक बार किये हैं ऐसा चिन्तवन करे ॥९७७॥

आचारवृत्ति—कर्म और नोकर्मस्वरूप पुद्गल-वर्गणाओं को ग्रहण करना और छोड़ना द्रव्य-परिवर्तन है। सर्व आकाशप्रदेशों में जन्म मरण करना क्षेत्र-परिवर्तन है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सर्व समयों में जन्म-मरण ग्रहण करना काल-परिवर्तन है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट बन्धरूप स्थितिबन्ध होना भाव-परिवर्तन है और सम्पूर्ण आयु के विकल्पों में जन्म-मरण

परिवर्तितानि बहुशोऽनेकवारमनेन जीवेनेत्थं चिन्तयेद् ध्यायेदिति ॥९७७॥

तथैतदपि ध्यायेदित्याह—

मोहग्गिणा महंतेण डज्झमाणे महाजगे धीरा ।
समणा विसयविरत्ता झायंति अणंतसंसारं ॥९७८॥

मोहाग्निना महता दह्यमानं महाजगत् सर्वलोकं धीरा विषयविरक्ता ध्यायन्त्यनन्तसंसारं चतुर्गति-भ्रमणोपेतमिति ॥९७८॥

ध्यानं नाम तपस्तच्चारम्भं न सहत इति प्रतिपादयन्नाह—

आरंभं च कसायं च ण सहदि तवो तहा लोए ।
अच्छी लवणसमुद्दो य कयारं खलु जहा दिट्ठं ॥९७९॥

यथाऽक्षि[1] चक्षुर्लवणसमुद्रश्च 'कचारं[2] तृणादिकमन्तस्थं पतितं न सहते स्फुटं करोतीति दृष्टं तथा तपश्चारित्रमारम्भं परिग्रहोपार्जनं कषायांश्च न सहते न क्षमते बहिष्करोतीति ॥९७९॥

पंच परिवर्तनानि जीवेन किं तेनैवाहोस्विदन्येन तेनैव साम्येन कथमित्याशंकायामाह—

ग्रहण करना भव-परिवर्तन है। इस प्रकार इन पाँचों परिवर्तनों को इस जीव ने अनादिकाल से कई बार किया है ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।

तथा और भी ध्यान करें—

गाथार्थ—यह महाजगत् महान् मोहरूपी अग्नि से जल रहा है। धीर तथा विषयों से विरक्त श्रमण इस अनन्त संसार का चिन्तवन करते हैं ॥९७८॥

आचारवृत्ति—धीर तथा विषयों से विरक्त मुनि इस चतुर्गति भ्रमण रूप अनन्त संसार का ऐसा चिन्तवन करते हैं कि यह सर्वलोक महान् मोहरूपी अग्नि से जल रहा है। अर्थात् मोह ही इस अनन्त संसार में भ्रमण कराने का मूल कारण है ऐसा चिन्तन किया करते हैं।

ध्यान एक तप है, वह आरम्भ को नहीं सहन करता है, यह बताते हैं—

गाथार्थ—यह ध्यान-तप आरम्भ और कषायों को उसी प्रकार से सहन नहीं करता जिस प्रकार से नेत्र और लवणसमुद्र निश्चित ही कचरे को नहीं सहन करते हैं ऐसा इस जगत् में देखा जाता है ॥९७९॥

आचारवृत्ति—जैसे नेत्र और लवण समुद्र अपने अन्दर पड़े हुए तृण आदि को नहीं सहन करते, स्पष्टतया किनारे कर देते हैं ऐसा देखा जाता है, उसी प्रकार से यह तपरूप चारित्र आरम्भ—परिग्रह का उपार्जन और कषायों को नहीं सहन करता है, इन्हें बाहर कर देता है। अर्थात् आरम्भ और कषायों के रहते हुए चारित्र तथा ध्यान असम्भव हैं।

इन पंच परिवर्तनों को क्या उसी जीव ने किया है अथवा अन्य जीव ने? यदि उसी

---

१. क० यथा चक्षुः। २. क० यथा कचारं।

जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसदिवरिसे णराहिवो जाओ ।
उभयत्थ जम्मसद्दो वासविभागं विसेसेइ ॥९८०॥

यथा कश्चित्पुरुषः षष्टिवर्षः षष्टिसंवत्सरप्रमाणायुस्त्रिंशद्भिर्वर्षैर्गतैर्नराधिपः संजातो राजाऽभूत्तत्र उभयत्र पर्याये राज्यपर्याये तदभावे च जन्मशब्दो वर्षविभागं संवत्सरक्रमं विशेषयति राज्यपर्याये तदभावपर्याये च वर्तते न तत्र सर्वथा भेदं करोति सामान्यविशेषात्मकत्वात्सर्वपदार्थानां यतः सर्वथा नित्यक्षणिके चार्थक्रियाया अभावादर्थक्रियायाश्चाभावे सर्वेषामभावः स्यादभावस्य च न [1]ग्राहकः प्रमाणाभावादिति ॥९८०॥

दृष्टान्तं दार्ष्टान्तेन योजयन्नाह—

एवं तु जीवदव्वं अणाइणिहणं विसेसियं णियमा ।
रायसरिसो दु केवलपज्जाओ तस्स दु विसेसो ॥९८१॥

यथा जन्मशब्दो राज्ययुक्तकाले राज्याभावकाले च, एवमेव जीवद्रव्यमनादिनिधनं सर्वकालम-

---

जीव ने किया है, अन्य ने नहीं, तो क्यों ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे कोई साठ वर्ष का मनुष्य तीस वर्ष की आयु में राजा हो गया। दोनों अवस्थाओं में होनेवाला जन्म शब्द वर्ष के विभाग की विशेषता प्रकट करता है॥ ९८०॥

आचारवृत्ति—जैसे किसी मनुष्य की आयु साठ वर्ष की है और वह तीस वर्ष की उम्र में राजा हो गया, उसकी उन दोनों पर्यायों में, अर्थात् राज्य की अवस्था में और उसके पहले की अवस्था में, जो यह जन्म शब्द है वह केवल वर्षों के क्रम को पृथक् करता है अर्थात् वह जन्म शब्द दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है, वह वहाँ पर भेद नहीं करता है क्योंकि सभी पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं। सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया का अभाव है और उनमें अर्थक्रिया के न हो सकने से उन सभी का ही अभाव हो जाता है तथा अभाव को ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वैसे प्रमाण का अभाव है।

भावार्थ—जिसका जन्म हुआ है वही राजा हुआ है अतः उसके राजा होने के पहले और अनन्तर—दोनों अवस्थाओं में 'जन्म' शब्द का प्रयोग होता है। यद्यपि ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न हैं किन्तु जिसकी हैं वह अभिन्न है। इससे प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूप से एक है तथा नाना पर्यायों में भिन्न-भिन्न है ऐसा समझना। वैसे ही एक जीव इन परिवर्तनों को करता रहता है उसकी नाना पर्यायों में भेद होने पर भी जीव में भेद नहीं रहता है।

दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इसी प्रकार से जीवद्रव्य अनादि-निधन है। वह नियम से विशेष्य है। किन्तु उसकी पर्याय केवल विशेष है जो कि राजा के सदृश है ॥९८१॥

आचारवृत्ति—जैसे जन्म शब्द राज्य से युक्त काल में और राज्य के अभावकाल में,

---

1. क० च ग्राहकप्रमाणाभावात् ।

वस्थितं विशेष्यमनेकप्रकाराधारतया निर्दिष्टं केवलं तु तस्य पर्यायो नारकमनुष्यादिरूपो राज्यपर्यायः स दृष्टो विशेषो, विशेषणं न सर्वथा भेदं करोति सर्वास्ववस्थासु यत इति ॥९८१॥

द्रव्यार्थिकनयापेक्षयैकत्वं प्रतिपाद्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया भेदं प्रतिपादयन्नाह—

जीवो अणाइणिहणो जीवोत्ति य णियमदो ण वत्तव्वो ।
जं पुरिसाउगजीवो देवाउगजीवविसिट्ठो ॥९८२॥

जीवोऽनादिनिधन आदिवर्जितो निधनवर्जितश्च जीव इति च निश्चयेन सर्वथा गुणादिरूपेणापि नियमतो न वक्तव्यो न वाच्यो यतः पुरुषायुष्को जीवो देवायुष्काद्विशिष्टो, न हि य एव देवः स एव मनुष्यः, यश्च मनुष्यो नासौ तिर्यग्, यश्च तिर्यङ् नासौ नारकः पर्यायभेदेन भेदादिति ॥९८२॥

जीवपर्यायान् प्रतिपादयन्नाह—

संखेज्जमसंखेज्जमणंतकप्पं च केवलं णाणं ।
तह रायदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥९८३॥

संख्यातविषयत्वात्संख्यातं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च तथाऽसंख्यातविषयत्वादसंख्यातमवधिज्ञानं मनः-

---

दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है, ऐसे ही जीवद्रव्य सर्वकाल में अवस्थित रहने से अनादि-निधन है, विशेष्य है। अर्थात् अनेक प्रकार के आधार रूप से कहा गया केवल एक है। उसकी पर्यायें नारक, मनुष्य आदि रूप हैं जो कि राज्य पर्याय के सदृश हैं। ये पर्यायें विशेषण रूप होते हुए भी उस द्रव्य की सभी अवस्थाओं में सर्वथा भेद नहीं करती हैं।

भावार्थ—जीव द्रव्य एक है। उसकी नाना पर्यायें भेदरूप होते हुए भी उसे अनेक नहीं कर पाती हैं। यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकत्व का प्रतिपादन करके पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—जीव अनादिनिधन है, वह जीव ही है ऐसा एकान्त से नहीं कहना चाहिए क्योंकि मनुष्यायु से युक्त जीव देवायु से युक्त जीव से भिन्न है ॥९८२॥

आचारवृत्ति—जीव आदि और अन्त से रहित है; वह जीव है ऐसा निश्चय से अर्थात् सर्वथा एकान्त से नहीं कह सकते हैं, क्योंकि गुण और पर्यायों की अपेक्षा से उसका आदि-अन्त और उसमें भेद देखा जाता है, जैसे मनुष्यायु से युक्त जीव की अपेक्षा देवायु से युक्त जीव में भेद है। जो देव है वही मनुष्य नहीं है और जो मनुष्य है वह तिर्यंच नहीं है और जो तिर्यंच है वही नारकी नहीं है। अर्थात् पर्यायों के भेद से जीव में भी भेद पाया जाता है चूँकि प्रत्येक पर्याय कथंचित् पृथक्-पृथक् है।

जीव की पर्यायों का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—संख्यात को जाननेवाला असंख्यात को जाननेवाला तथा अनन्त को जाननेवाला केवलज्ञान है उसी प्रकार से राग, द्वेष, मोह एवं अन्य भी जीव की पर्यायें हैं ॥९८३॥

आचारवृत्ति—संख्यात को विषय करनेवाले होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान संख्येय

पर्ययज्ञानं चानन्तविषयत्वादनन्तकल्पं केवलज्ञानमथवा संख्यातासंख्यातानन्तवस्तुपरिच्छेदकत्वात्संख्यातासंख्यातानन्तकल्पं केवलज्ञानमनन्तविकल्पं चैते सर्वे पर्यायास्तथा रागद्वेषमोहपर्यायास्तथाऽन्येपि जीवस्य पर्याया नारकत्वादयो बालयुवस्थविरत्वादयश्चेति ॥९८३॥

तथैवाह—

अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।
उवसमदि जह्मि काले तक्काले संजदो होदि ॥९८४॥*

चारित्रं नामाकषायत्वं यतः कषायवशगोऽसंयतः, मिथ्यात्वकषायादियुक्तो न संयतः स्याद् यस्मिन् काले उपशाम्यति व्रतस्थो भवति। यस्मात्स एव पुरुषो मिथ्यात्वादियुक्तो मिथ्यादृष्टिरसंयतः सम्यक्त्वादियुक्तः सन् स एव पुनः सम्यग्दृष्टिः संयतश्च, पुरुषत्वसामान्येन पुनरभेदस्तस्मात्सर्वोऽपि भेदाभेदात्मक इति ॥९८४॥

हैं। असंख्यात के विषय करनेवाले होने से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान असंख्येय—असंख्यात कहलाते हैं। अनन्त को विषय करनेवाला होने से केवलज्ञान अनन्तकल्प कहलाता है। अथवा संख्यात, असंख्यात और अनन्त वस्तुओं को जाननेवाला होने से संख्यात, असंख्यात और अनन्त-रूप केवलज्ञान है। ये सभी पर्यायें अनन्त भेद रूप हैं इसलिए केवलज्ञान भी अनन्त विकल्प-रूप है। उसी प्रकार से जीव की राग, द्वेष और मोह पर्यायें हैं। अन्य भी नारक, तिर्यंच आदि तथा बाल, युवा, वृद्धत्व आदि पर्यायें होती हैं।

उसी प्रकार से कहते हैं—

गाथार्थ—कषायरहित होना चारित्र है। कषाय के वश में हुआ जीव असंयत होता है। जिस काल में उपशमभाव को प्राप्त होता है उस काल में यह संयत होता है ॥९८४॥

आचारवृत्ति—अकषायपना ही चारित्र है, क्योंकि कषाय के वशीभूत हुआ जीव असंयत है। मिथ्यात्व, कषाय आदि से युक्त जीव संयत नहीं कहलाता है। जिस काल में व्रतों में स्थित होता हुआ कषायों को नहीं करता है उस काल में चारित्र में स्थित हुआ संयत होता है। जिस हेतु से वही पुरुष मिथ्यात्व आदि से युक्त हो मिथ्यादृष्टि-असंयत कहलाता है और सम्यक्त्व आदि से युक्त होकर वही पुनः सम्यग्दृष्टि व संयत कहलाता है, पुरुष सामान्य की दृष्टि से उन सभी अवस्थाओं में अभेद है उसी हेतु से सभी पदार्थ भेदाभेदात्मक हैं, ऐसा समझना।

भावार्थ—यहाँ पर जीव आदि सभी पदार्थ सामान्य की अपेक्षा अर्थात् द्रव्य दृष्टि से एकरूप हैं एवं विशेष की अपेक्षा अर्थात् नाना पर्यायों की दृष्टि से भेदरूप हैं। इसलिए सभी

---

* फलटण से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तह्मा णाणं तु सव्वगदं॥

अर्थात् आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है। ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है इसलिए ज्ञान सर्वगत माना गया है।

यतः कषायवशगोऽसंयतो भवतीति ततः—

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं ।
विवाहे रागउप्पत्ती गणो दोसाणमागरो ॥९८५॥

यतेरन्तकाले गणप्रवेशाच्छिष्यादिमोहनिबन्धनकृतमोहकारणात्पंचपार्श्वस्थसम्पर्काद्वरं श्रेष्ठं विवाहे प्रवेशनं वरं गृहप्रवेशो यतो विवाहे दाराविग्रहणे रागोत्पत्तिर्गणः पुनः सर्वदोषाणामाकरः सर्वेऽपि मिथ्यात्वासंयमकषायरागद्वेषादयो भवन्तीति ॥९८५॥

कारणाभावेन दोषाणामभाव इति प्रतिपादयन्नाह—

पच्चयभूदा दोसा पच्चयभावेण णत्थि उप्पत्ती ।
पच्चयभावे दोसा णस्संति णिरासया जहा बीयं ॥९८६॥

वस्तुएँ कथंचित् भेदरूप एवं कथंचित् अभेदरूप होने से भेदाभेदात्मक हैं।

जिस हेतु से कषाय के वशीभूत जीव असंयत होता है उसे स्पष्ट करते हैं —

गाथार्थ—अन्त समय गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है, क्योंकि विवाह में राग की उत्पत्ति है और गण भी दोषों की उत्पत्ति का स्थान है ॥९८५॥

आचारवृत्ति—मुनि यदि अन्त समय में गण में प्रवेश करते हैं अर्थात् अपने संघ को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते हैं तो उनके लिए वह संघ शिष्य आदि के प्रति मोह उत्पन्न कराने से मोह का कारण है एवं पाँच प्रकार के पार्श्वस्थ मुनियों से सम्पर्क कराता है। अतः उस सदोष संघ में रहने की अपेक्षा विवाह करके घर में प्रवेश कर लेना अच्छा है; क्योंकि स्त्री आदि के ग्रहण में राग की उत्पत्ति होती है, सदोष गण भी सर्वदोषों का स्थान है। अन्त समय ऐसे गण में रहने से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और राग-द्वेष आदि सारे दोष हो जाया करते हैं।

भावार्थ—आचार्य अन्त समय निर्विघ्नतया सल्लेखना की सिद्धि के लिए अपने संघ को छोड़कर अन्य संघ में चले जायें और यदि उत्तम संहननधारी हैं तो एकाकी निर्जन वन में कायोत्सर्ग से स्थित होकर शरीर का त्याग कर दें ऐसी आगम की आज्ञा है। उसी प्रकरण को लेकर यहाँ पर कहा गया है कि संघ में प्रवेश की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है। यह बात टीकाकार ने 'यतेरन्तकाले' पद से स्पष्ट कर दी है। उसका ऐसा अर्थ नहीं कि साधु किसी सघ में न रहकर एकाकी विचरण करें, क्योंकि स्वयं ग्रन्थकार ने (गाथा १५० में) हीन संहननवाले मुनियों को एकाकी विहार करने का सर्वथा निषेध किया है, बल्कि यहाँ तक कह दिया है कि स्वच्छन्द गमनागमन आदि करनेवाला ऐसा मेरा शत्रु मुनि भी एकाकी विहार न करे। अतः यहाँ पर अन्त समय में स्वसंघ छोड़कर परसंघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करने का आचार्य ने संकेत किया है।

कारण के अभाव में दोषों का अभाव हो जाता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कारण से दोष होते हैं, कारण के अभाव में उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। प्रत्यय के अभाव से निराश्रय दोष नष्ट हो जाते हैं जैसे कि बीजरूप कारण के बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती ॥९८६॥

प्रत्ययात्कर्मबन्धात् शिष्यादिमोहनिबन्धनकुलमोहकारणाद्भूताः संजाता[1] दोषा रागद्वेषादयः कलुषजीवपरिणामाः, प्रत्ययाभावाच्च रागद्वेषादिकारणभूतकर्माभावाच्च नास्त्युत्पत्तिर्नैव प्रादुर्भावस्तेषां दोषाणां यतस्ततोत्पत्तिर्नास्ति ततः प्रत्ययाभावात्कारणाभावाद्दोषा मिथ्यात्वासंयमकषाययोगनिर्वर्तितजीवपरिणामा नश्यन्ति निर्मूलं क्षयमुपव्रजन्ति निराश्रयाः सन्तः स्वकीयप्रादुर्भावकारणमन्तरेण, यथा प्रत्ययाभावाद्बीजमंकुरं जनयति बीजस्यांकुरोत्पत्तिनिमित्तं क्षितिजलपवनादित्यरश्मयस्तेषामभावे विपरीते पतितं बीजं यथा नश्यति । न येषां कारणानां सद्भावे ये दोषा उत्पद्यन्ते तेषां कारणानामभावे तत्फलभूतदोषाणामनुत्पत्तिर्यथा स्वप्रत्ययाभावात्स्वकारणाभावाद्बीजस्यानुत्पत्तिरंकुरत्वेन तत उत्पत्त्यभावान्निराश्रया रागद्वेषादयो दोषा नश्यन्ति यथा बीजमुत्पत्तिमंतरेण पश्चान्नश्यतीति ॥९८६॥

तथा—

हेदू पच्चयभूदा हेदुविणासे विणासमुवयंति ।
तह्मा हेदुविणासो कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥९८७॥

आचारवृत्ति—प्रत्यय—कर्मबन्ध से शिष्य आदि में मोह निमित्त से और संघ में मोह के कारण जीव के कलुषित परिणाम रूप राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेष आदि के लिए कारणभूत कर्मों के अभाव से उन दोषों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। कारण के न होने से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से होनेवाले जीव के परिणाम निर्मूलतः क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे अपने उत्पत्ति के कारण के बिना आश्रय-रहित हो जाते हैं। जैसे कारण के अभाव में बीज अंकुर उत्पन्न नहीं करता है। बीज के अंकुर की उत्पत्ति के लिए निमित्त पृथ्वी, जल, हवा और सूर्य की किरणें हैं। इनके अभाव में या विपरीत स्थान पर पड़ा हुआ बीज जैसे नष्ट हो जाता है वैसे ही उक्त विषय में समझना।

जिन कारणों के होने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं उन कारणों के अभाव में उनके फलभूत दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे अपने लिए कारणभूत सामग्री के अभाव में बीज की अंकुररूप से उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए उत्पत्ति के कारणों के न होने से आश्रय रहित राग-द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—अभिप्राय यही है कि शिष्यादि के निमित्त से मोह, राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और उनके नहीं होने से नहीं होते हैं अतः दोषों से बचने के लिए उन्हें छोड़ देना चाहिए। यह उन्हीं के लिए सम्भव है जो उत्तम संहननधारी हैं। चूंकि गाथा ९६१ में भी एकाकी विहारी को पाप श्रमण कहा है अथवा इसे भी अन्त समय सल्लेखना ग्रहण काल की अपेक्षा समझना चाहिए, क्योंकि उस समय स्वगण को छोड़कर परगण में प्रवेश कर समाधि साधने का उपदेश दिया गया है।

उसे ही और करते हैं—

गाथार्थ—प्रत्यय कारण हैं। उन कारणों के नष्ट हो जाने पर वे कार्य भी नष्ट हो जाते हैं, इसलिए सभी साधुओं को चाहिए कि वे कारण का विनाश करें ॥९८७॥

---

१. क सन्तः ।

यतः[1] क्रोधमानमायालोभाः प्रत्ययभूताः, परिग्रहादयो लोभादिषु सत्सु जायन्ते ततस्तेषां लोभादीनां हेतूनां विनाशे प्रध्वंसे विनाशमुपयान्ति परिग्रहादयो यत एवं ततो हेतुविनाशः कर्तव्यः सर्वसाधुभिः प्रमत्तादिक्षीणकषायान्तैर्लोभादीनामभावे परिग्रहेच्छा न जायते मूर्च्छादिपरिग्रहस्तदभावे प्रयत्नः कार्यः। पूर्वकारिकया कारणाभावे कार्यस्याभावः प्रतिपादितोऽनया पुनः कार्यस्याभावो[2] निगदितः। अथवा पूर्वगाथोपसंहारार्थेयं गाथा तत एवमभिसम्बन्धः कार्यः, हेतवः कारणानि प्रत्ययभूतानि कार्याणि हेतुविनाशे तेषां सर्वेषां विनाशो यतः कारणाभावे कार्यस्य चाभावस्ततो हेतुविनाशे यत्नः [3]कार्य इति ॥९८७॥

दृष्टान्तं दार्ष्टान्तेन योजयन्नाह—

जं जं जे जे जीवा पज्जायं परिणमंति संसारे।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा ॥९८८॥

यं यं पर्यायविशेषं नारकत्वादिस्वरूपं परिणमन्ति गृह्णन्ति जीवाः संसारे ते पर्यायास्ते च जीवा

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय-हेतु हैं। इन लोभादिकों के होने पर ही परिग्रह आदि कार्य होते हैं। अतः इन हेतुओं के नष्ट हो जाने पर परिग्रह आदि (संज्ञाएँ) भी नष्ट हो जाती हैं। प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त सभी साधुओं को इन हेतुओं का विनाश करना चाहिए, क्योंकि लोभ आदि कषायों के नहीं रहने पर परिग्रह की इच्छा नहीं होती है। ये मूर्च्छा आदि परिणाम ही परिग्रह हैं, इन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पूर्व कारिका द्वारा कारण के अभाव में कार्य का अभाव प्रतिपादित किया गया है। पुनः इस गाथा द्वारा भी कार्य का अभाव कहा गया है।[4] अथवा पूर्व गाथा के उपसंहार के लिए यह गाथा कही गयी है, अतः ऐसा संबन्ध करना कि हेतु-कारण प्रत्यय हैं, परिग्रह आदि कार्य हैं। हेतु के नहीं रहने पर उन सब कार्यों का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव अवश्यम्भावी है, इसलिए कारणों का नाश करने के लिए ही प्रयत्नशील होना चाहिए।

दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संसार में जो-जो जीव जिस-जिस पर्याय से परिणाम करते हैं वे सब राग-द्वेष और मोह के वशीभूत होकर ही परिणमते हैं ऐसा जानना ॥९८८॥

आचारवृत्ति—संसार में जीव नारक, तिर्यंच आदि जिन जिन पर्यायों को ग्रहण करते

---

१. क हेतवः। २. क कार्यस्याभावेऽभावो निगदितः। ३. क करणीयः।

४. क० प्रति में 'कार्यस्याभावेऽभावो निगदितः' ऐसा पाठ है। उसके अनुसार यह अर्थ प्रकट होता है कि पूर्वकारिका द्वारा कारण के अभाव में कार्य का अभाव कहा गया है और इस कारिका के द्वारा कार्य के अभाव में कारण का अभाव कहा गया है। अर्थात् पहले कषाय को कारण और परिग्रह को कार्य कहा गया था, यहाँ परिग्रह को कारण और लोभोत्पत्ति को कार्य कहा है अतः परिग्रह छोड़ना चाहिए।

रागस्य द्वेषस्य मोहस्य च वशास्तदायत्ताः परिणमन्तीति ज्ञातव्याः कर्मायत्तत्वात्सर्वसांसारिकपर्यायाणामिति ॥६८८॥

रागद्वेषफलं प्रतिपादयन्नाह—

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो ।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥६८९॥

अर्थस्य कारणं गृहपशुवस्त्रादिनिमित्तं जीवितस्य च कारणं आत्मरक्षार्थं च जिह्वायाः कारणं आहारस्य हेतोरुपस्थस्य कारणं कामनिमित्तं जीवो म्रियते स्वयं प्राणत्यागं करोति मारयति चान्यांश्च हिनस्ति प्राणिघातं च कारयति अनन्तशोऽनन्तवारान् सर्वकालमेवेति ॥६८९॥

तथा—

जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे ।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणि ॥६९०॥

रसनेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शनेन्द्रियनिमित्तं चानादिसंसारे जीवो दुःखं प्राप्तोऽनन्तशोऽनन्तवारान् यतोऽतो जिह्वामुपस्थं च जय सर्वथा त्यजेदानीं साम्प्रतमिति ॥६९०॥

चदुरंगुला च जिब्भा असुहा चदुरंगुलो उवत्थो वि ।
अट्ठंगुलदोसेण दु जीवो दुक्खं खु पप्पोदि ॥६९१॥

हैं उन-उन को राग-द्वेष और मोह के अधीन हुए ही ग्रहण करते हैं; क्योंकि सभी सांसारिक पर्यायें कर्म के ही अधीन हैं।

राग-द्वेष का फल दिखलाते हैं—

गाथार्थ—यह जीव धन, जीवन, रसना-इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के निमित्त हमेशा अनन्त बार स्वयं मरता है और अन्यों को भी मारता है ॥६८९॥

आचारवृत्ति—अर्थ अर्थात् गृह, पशु, वस्त्र, धन आदि के लिए तथा जीवन अर्थात् आत्म-रक्षा के लिए, जिह्वा अर्थात् आहार के लिए और उपस्थ अर्थात् कामभोग के लिए यह जीव स्वयं सदा ही अनन्त बार प्राण-त्याग करता है और अनन्त बार अन्य जीवों का भी घात करता है।

उसी को और कहते हैं—

गाथार्थ—इस जीव ने इस अनादि संसार में जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के वश में होकर अनन्त बार दुःख प्राप्त किया है, इसलिए हे मुने ! तुम इसी समय इस रसनेन्द्रिय और कामेन्द्रिय को जीतो ॥६९०॥

आचारवृत्ति—रसनेन्द्रिय के निमित्त और स्पर्शनेन्द्रिय के निमित्त से ही इस जीव ने इस अनादि-संसार में अनन्त बार दुःखों को प्राप्त किया है, इसलिए हे साधो ! तुम इसी समय उन दोनों के विषयों का त्याग करो।

उसी को और भी स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—चार अंगुल की जिह्वा अशुभ है और चार अंगुल की कामेन्द्रिय भी अशुभ है। इन आठ अंगुलों के दोष से यह जीव निश्चितरूप से दुःख प्राप्त करता है ॥६९१॥

चतुरंगुलप्रमाणा जिह्वा अशुभा चतुरंगुलप्रमाणं चोपस्थं मैथुनक्रियानिमित्तं एतदष्टांगुलदोषेणैव जीवो दुःखं प्राप्नोति स्फुटं यतस्ततो जिह्वामुपस्थं च त्यज जयेति ॥९९१॥

स्पर्शनजयकारणमाह—

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स ।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९२॥

भेतव्यं नित्यं सर्वकालं त्रासः कर्तव्यः [1]काष्ठस्थादपि स्त्रीरूपात् काष्ठलेपचित्रादिकर्मणोऽपि स्त्री-रूपाद्उद्वेगः कर्तव्यो यतो भवति चित्तक्षोभः मनसश्चलनं प्रत्ययभावेन विश्वासात्कारणवशाज्जीवस्येति ॥९९२॥

तथा—

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा ।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥९९३॥

पुरुषो घृतभृतकुंभसदृशः स्त्री पुनर्ज्वलदनलसदृशी यथा प्रज्वलदग्निसमीपे स्थापितघृतपूर्णघटः शीघ्रं प्रक्षरति तथा स्त्रीसमीपे मनुष्या यत एवं ततो महिलायाः समीपमुपस्थिता जल्पहास्यादिवशं गताः पुरुषा नष्टा, ये च न तत्र संगतास्ते शिवं गताः शिवगतिं प्राप्ता इति ॥९९३॥

आचारवृत्ति—चार अंगुल की यह जिह्वा अशुभ है और चार अंगुल का यह उपस्थ अर्थात् मैथुनक्रिया की निमित्त यह कामेन्द्रिय भी अशुभ है। इन आठ अंगुलों के दोष से ही जीव दुःख प्राप्त करता है। इसलिए हे मुने! तुम इन दोनों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो।

स्पर्शन-जय का कारण कहते हैं—

गाथार्थ—काठ में बने हुए भी स्त्रीरूप से हमेशा डरना चाहिए क्योंकि कारण के सद्भाव से जीव के मन में क्षोभ हो जाता है ॥९९२॥

आचारवृत्ति—काठ, लेप, चित्र आदि कलाकृति में बने हुए भी स्त्रीरूपसे हमेशा भय-भीत रहना चाहिए क्योंकि कारण के वश से अथवा उन पर विश्वास कर लेने से जीव के मन में चंचलता हो जाती है।

तथा—

गाथार्थ—पुरुष घी से भरे हुए घट के सदृश है और स्त्री जलती हुई अग्नि के सदृश है। इन स्त्रियों के समीप हुए पुरुष नष्ट हो गये हैं तथा इनसे विरक्त पुरुष मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ॥९९३॥

आचारवृत्ति—पुरुष घृत से भरे हुए घड़े के समान है और स्त्री जलती हुई अग्नि के समान है। जैसे जमे हुए घी का घड़ा अग्नि के समीप में शीघ्र ही पिघल जाता है, उसी प्रकार से स्त्री के समीप में पुरुष चंचलचित्त हो जाता है। इसीलिए स्त्रियों के साथ जल्प, हास्य आदि के वश में हुए पुरुष नष्ट हो गये हैं और जिन्होंने उनका संसर्ग नहीं किया है वे शिवगति को प्राप्त कर चुके हैं।

---

१. क काष्ठोत्थादपि ।

तथा—

मायाए वहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥६६४॥

मातुः स्त्रीरूपाद्भगिन्याश्च स्त्रीरूपाद् दुहितुश्च स्त्रीरूपाद् मूकाया वृद्धायाश्च स्त्रीरूपाद् भेतव्यं नित्यं निरपेक्षं यतः स्त्री तु पावकरूपमिव सर्वत्र दहतीति ॥६६४॥

तथा—

[1]हत्थपादपरिच्छिण्णं कण्णणासवियप्पियं ।
अविवास सदिं णारिं दूरदो परिवज्जए ॥६६५॥

हस्तच्छिन्ना पादच्छिन्ना च कर्णहीना नासिकाविहीना च सुष्ठु विरूपा यद्यपि भवति अविवस्त्रां सतीं नग्नामित्यर्थः, नारीं दूरतः परिवर्जयेत् यतः काममलिनस्तां वाञ्छेदिति ॥६६५॥

ब्रह्मचर्यभेदं प्रतिपादयन्नाह—

मण बंभचेर वचि बंभचेर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं ॥६६६॥

तथा—

गाथार्थ—माता, बहिन, पुत्री, मूक व वृद्ध स्त्रियों से भी नित्य ही डरना चाहिए क्योंकि स्त्रीरूप माता आदि के भेद से निरपेक्ष है ॥६६४॥

आचारवृत्ति—माता, बहिन, पुत्री अथवा गूँगी या वृद्धा, इन सभी स्त्रियों से डरना चाहिए। स्त्रीरूप की कभी भी अपेक्षा नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ अग्नि के समान सर्वत्र जलाती हैं।

भावार्थ—माता, बहिन आदि के भेद से स्त्रीरूप विशेषता रहित है अर्थात् स्त्री मात्र से भयभीत रहना चाहिए।

उसी को और भी कहते हैं—

गाथार्थ—हाथ-पैर से छिन्न, कान व नाक से हीन तथा वस्त्र-रहित स्त्रियों से भी दूर रहना चाहिए ॥६६५॥

आचारवृत्ति—जो हाथ-पैर या कान अथवा नाक से विकलांग हो, अर्थात् छिन्न-हस्त, छिन्न-पाद, कर्णहीन, नासिकाहीन होने से यद्यपि कुरूपा हो तथा वस्त्ररहित या नग्नप्राय हो उन्हें दूर से ही छोड़ देना चाहिए क्योंकि काम से मलिन हुए पुरुष इनकी भी इच्छा करने लगते हैं।

ब्रह्मचर्य के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—मन से ब्रह्मचर्य, वचन से ब्रह्मचर्य और काय से ब्रह्मचर्य, इस प्रकार ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं। अथवा द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार का ब्रह्मचर्य है ॥६८६॥

---

१. क हत्थपादविच्छिण्णं च।

मनसि ब्रह्मचर्यं वचसि ब्रह्मचर्यं काये ब्रह्मचर्यमिति त्रिप्रकारं ब्रह्मचर्यमथवा स्फुटं ब्रह्मचर्यं द्रव्यभावभेदेन द्विविधं तत्र भावब्रह्मचर्यं प्रधानमिति ॥११६॥

यतः —

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥११७॥

भावेन विरतोऽन्तरंगेण यो विरतः स एव विरतः संयतो न [1]द्रव्येणाब्रह्मवृत्त्या विरतस्य तस्य सुगतिः शोभना गतिर्भवति यतोऽतो विषया रूपादयस्त एव वनमारामस्तस्मिन् रमणलोलः क्रीडालम्पटो धारयितव्यो नियमितव्यस्तेन मनोहस्ती चित्तकुंजर इति ॥११७॥

अब्रह्मकारणं द्रव्यमाह—

पढमं विउलाहारं बिदियं कायसोहणं।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥११८॥
तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणिदरससेवा ॥११९॥

प्रथममब्रह्मचर्यं[2] विपुलाहारः प्रचुरगृद्ध्यान्नग्रहणं, द्वितीयमब्रह्म कायशोधनं स्नानाभ्यंगोद्वर्तनादिभी

आचारवृत्ति—मन, वचन और काय की अपेक्षा से ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है। अथवा द्रव्य और भाव के भेद से वह दो प्रकार का है। इनमें भाव ब्रह्मचर्य प्रधान है।

क्योंकि—

गाथार्थ—भाव से विरत मनुष्य ही विरत है, क्योंकि द्रव्यविरत की मुक्ति नहीं होती है। इसलिए विषयरूपी वन में रमण करने में चंचल मनरूपी हाथी को बाँधकर रखना चाहिए ॥११७॥

आचारवृत्ति—जो अन्तरंगभावों से विरक्त हैं वे ही संयत कहलाते हैं। द्रव्यरूप कुशील की विरति मात्र से विरक्त हुए की उत्तम गति नहीं होती है। इसलिए पंचेन्द्रियों के रूप-रस आदि विषयरूपी बगीचे में क्रीडा करते हुए इस चित्तरूपी हाथी को वश में करना चाहिए।

अब्रह्म के कारणभूत द्रव्यों को कहते हैं—

गाथार्थ—पहले विपुल आहार करना, दूसरे काय का शोधन करना, तीसरे गन्ध-माला आदि धारण करना, चौथे गीत और बाजे सुनना, तथा शयनस्थान का शोधन, स्त्रीसंसर्ग, धन-संग्रह, पूर्वरति-स्मरण, इन्द्रियजन्य विषयों में अनुराग और पौष्टिक रसों का सेवन—ये दश अब्रह्म के कारण हैं ॥११८-११९॥

आचारवृत्ति—अत्यधिक भोजन करना—अब्रह्मचर्य का यह प्रथम कारण है जो कि अब्रह्म कहलाता है। स्नान, तैलमर्दन, उबटन आदि राग के कारणों से शरीर का संस्कार करना

---

१. क द्रव्येण ब्रह्मवृत्त्या । २. क प्रथममब्रह्म ।

रागकारणैः शरीरस्य संस्करणं, तृतीयमब्रह्म गन्धमाल्यानि यक्षकर्दमादिमहिषीधूपादिना [1]सुगन्धग्रहणं, चतुर्थमब्रह्म गीतवादित्रादि सप्तस्वरपंचातोद्यवंशवीणातन्त्रीप्रभृतिकमिति ॥९९८॥

तथा—

तथा शयनं तूलिकापर्यंकादिकं शोधनं क्रीडागृहं चित्रशालादिकं रहस्यस्थानं कामोद्रेककारणं पंचमब्रह्म। तथापि च स्त्रीसंसर्गः रागोत्कटवनिताभिः कटाक्षनिरीक्षणपराभिश्चपलशीलाभिः सम्पर्कः क्रीडनं षष्ठमब्रह्म। तथार्थस्य सुवर्णादिकस्याभरणवस्त्रादिकस्य च ग्रहणं सप्तममब्रह्म। तथा पूर्वरतिस्मरणं पूर्वस्मिन् काले यत् क्रीडितं तस्यानुस्मरणं चिन्तनमष्टममब्रह्म। तथेन्द्रियविषयेषु रूपरसगन्धशब्दस्पर्शेषु कामांगेषु रतिः समीहा नवममब्रह्म। तथा प्रणीतरससेवा इष्टरसानामुपसेवनं दशममब्रह्म। अब्रह्मकारणत्वाद् अब्रह्मेति ॥९९९॥

तस्य दशप्रकारस्यापि परिहारमाह—

दसविहमब्बंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि ॥१०००॥

एवं दशप्रकारमप्यब्रह्मेदं [2]संसारकारणानां महद्दुःखानामावाहमवस्थानं प्रधानहेतुभूतं परिहरति यो महात्मा संयतः स दृढब्रह्मव्रतो भवति। भावाब्रह्मकारणं द्रव्याब्रह्मकारणं च यः परित्यजति तस्योभयथापि

द्वितीय अब्रह्म है। केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ एवं पुष्पमाला, धूप आदि की सुगन्धि ग्रहण करना तृतीय अब्रह्म है। पंचम, धैवत आदि सात स्वरों का पाँच प्रकार के आतोद्य, बांसुरी, वीणा, तन्त्री आदि वाद्यों का सुनना चतुर्थ अब्रह्म है। तूलिका, पर्यंक अर्थात् कोमल-कोमल रुई के गद्दे, पलंग आदि का शोधन करना एवं कामोद्रेक के कारणभूत क्रीड़ास्थल, चित्रशाला आदि व एकान्त स्थान आदि में रहना—यह पाँचवा अब्रह्म है। राग से उत्कट भाव धारण करती हुई, कटाक्ष से अवलोकन करती हुई एवं चित्त में चचलता उत्पन्न करती हुई स्त्रियों के साथ सम्पर्क रखना, उनके साथ क्रीड़ा करना छठा अब्रह्म है। सुवर्ण, आभरण, वस्त्र, धन आदि का संग्रह करना सातवाँ अब्रह्म है। पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण-चिन्तन करना आठवाँ अब्रह्म है। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में रति करना नवम कारण है। तथा इष्ट रसों का सेवन करना दसवाँ अब्रह्म है। ये दश अब्रह्म के कारण होने से अब्रह्म कहलाते हैं।

इन दश प्रकारों के परिहार के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—जो महात्मा संसार के महादुःखों के लिए स्थानरूप इन दश प्रकार के अब्रह्म का परिहार करता है वह दृढ़ ब्रह्मचर्यव्रती होता है ॥१०००॥

आचारवृत्ति—ये दश प्रकार के अब्रह्म संसार के कारणभूत हैं तथा महादुःखों के प्रधान कारण हैं। जो संयमी महापुरुष इनका त्याग करते हैं वे अपने ब्रह्मचर्यव्रत को अतिशय दृढ़ कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि जो भाव-अब्रह्म के कारण और द्रव्य-अब्रह्म के कारण इन दोनों

---

१. क सुगन्धपुष्पग्रहणं। २. क संसारकारणं।

ब्रह्मचर्यं सम्यक् तिष्ठतीति, स च चारित्रवानिति ॥१०००॥

परिग्रहपरित्यागे फलमाह—

> कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो ।
> तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥१००१॥

यतः क्रोधमदमायालोभैः परिग्रहे लगति संसजति ¹परिग्रहत्वात् गृह्णाति जीवस्तेन कारणेनोभयसंगत्यागः कर्तव्यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरिहारः कार्यः । उभयाब्रह्म च परिहरणीयं येन सह क्रोधमानमायालोभाश्च यत्नतस्त्याज्याः सर्वसाधुभिरिति ॥१००१॥

ततः —

> णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य ।
> एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो ॥१००२॥

उभयपरिग्रहाभावैर्निःसंगो मूर्च्छारहितस्ततश्च निरारम्भः पापक्रियादिभ्यो निवृत्तस्ततश्च भिक्षाचर्यायां शुद्धभावो भवति ततश्चैकाकी ध्यानरतः संजायते ततश्च सर्वगुणाढ्यः सर्वगुणसम्पन्नो भवेत्² ॥१००२॥

पुनरपि श्रमणविकल्पमाह—

का त्याग कर देते हैं उनके दोनों प्रकार का ब्रह्मचर्य अच्छी तरह से रहता है और वही चारित्रवान् होते हैं।

परिग्रह-परित्याग का फल कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ के द्वारा यह जीव परिग्रह में आसक्त होता है। इसलिए सर्वसाधुओं को उभय परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए ॥१००१॥

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों के द्वारा यह जीव परिग्रह में संसक्त होता है। इसलिए बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए तथा दोनों प्रकार के अब्रह्म का भी त्याग कर देना चाहिए। इनके साथ-साथ क्रोधादि कषायों का तो सभी साधुओं को प्रयत्नपूर्वक त्याग कर ही देना चाहिए।

इससे क्या होता है ?

गाथार्थ—जो निःसंग, निरारम्भ, भिक्षाचर्या में शुद्धभाव, एकाकी, ध्यानलीन और सर्वगुणों से युक्त हो वही श्रमण होता है ॥१००२॥

आचारवृत्ति—जो निसंग—अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह के अभाव से मूर्च्छारहित, निरारम्भ—पापक्रियाओं से निवृत्त, आहार की चर्या में शुद्धभाव सहित, एकाकी, ध्यान में लीन होते हैं वे श्रमण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं।

श्रमण के भेद कहते हैं—

---

१. क परिग्रहात्वा।   २. क भवेत् श्रमणः।

णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण।
णिक्खेवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णादव्वो ॥१००३॥

श्रमणोपरि निक्षेपमाह—नाम्ना यथा श्रमणः स्थापनया तथैव तथा द्रव्येण भावेन च तथैव द्रष्टव्यः। नामश्रमणमात्रं नामश्रमणः तदाकृतिर्लेपादिषु स्थापनाश्रमणो गुणरहितलिंगग्रहणं द्रव्यश्रमणो मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानप्रवणभावो भावश्रमणः। एवमिह निक्षेपस्तथैवागमप्रतिपादितक्रमेण चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति ॥१००३॥

तेषां मध्ये भावश्रमणं प्रतिपादयन्नाह—

भावसमणा हु समणा ण सेससमणाण सुग्गई जम्हा।
जहिऊण दुविहमुवहिं भावेण सुसंजदो होह ॥१००४॥

भावश्रमणा एव श्रमणा यतः शेषश्रमणानां नामस्थापनाद्रव्याणां न सुगतिर्यस्मात्तस्माद्द्विविधमुपधिं द्रव्यभावं परित्यज्य भावेन सुसंयतो भवेति[1] ॥१००४॥

भिक्षाशुद्धिं च कुर्यादित्याह—

वदसीलगुणा जम्हा भिक्खाचरिया विसुद्धिए ठंति[2]।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्ज ॥१००५॥

गाथार्थ—जैसे नाम से श्रमण होते हैं वैसे ही स्थापना से, द्रव्य से तथा भाव से होते हैं। इस तरह इस लोक में निक्षेप भी चार प्रकार का जानना चाहिए ॥१००३॥

आचारवृत्ति—श्रमण में निक्षेप को कहते हैं- जैसे नाम से श्रमण होते हैं वैसे ही स्थापना से, द्रव्य से और भाव से भी जानना चाहिए। नाम-श्रमण मात्र को नामश्रमण कहते हैं। लेप आदि प्रतिमाओं में श्रमण की आकृति स्थापनाश्रमण है। गुणरहित वेष ग्रहण करनेवाले द्रव्यश्रमण हैं और मूलगुण-उत्तरगुणों के अनुष्ठान में कुशल भावयुक्त भावश्रमण होते हैं। इस तरह आगम में कहे गये विधान से चार प्रकार का निक्षेप यहाँ पर भी जानना चाहिए।

उनमें से भावश्रमण का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—भावश्रमण ही श्रमण हैं क्योंकि शेष श्रमणों को मोक्ष नहीं है, इसलिए हे मुने! दो प्रकार के परिग्रह को छोड़कर भाव से सुसंयत होओ ॥१००४॥

आचारवृत्ति—भावश्रमण ही श्रमण होते हैं, क्योंकि नाम, स्थापना और द्रव्य श्रमणों को सुगति नहीं होती है। इसलिए द्रव्य-भाव रूप परिग्रह को छोड़कर भाव से श्रेष्ठ संयमी बनो।

भिक्षाशुद्धि करो! ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—क्योंकि भिक्षाचर्या की विशुद्धि के होने पर व्रत, शील और गुण ठहरते हैं, इसलिए साधु भिक्षाचर्या का शोधन करके हमेशा विहार करे ॥१००५॥

---

१. क भवेत्। २. क ठांति।

व्रतानि शीलानि गुणाश्च यस्माद्भिक्षाचर्यायां विशुद्धायां सत्यां तिष्ठन्ति तस्माद्भिक्षाचर्यां संशोध्य साधुः सदा विहरेत्। भिक्षाचर्याशुद्धिश्च प्रधानं चारित्रं सर्वशास्त्रसारभूतमिति ॥१००५॥

तथैतदपि विशोध्याचरेदित्याह—

भिक्खं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं ॥१००६॥

भिक्षां गोचरशुद्धिं वाक्यं वचनशुद्धिं हृदयं मनःशुद्धिं विशोध्य आचरति चारित्रोद्योगं करोति साधुर्नित्यं स एव सुस्थितः सर्वगुणोपेतः साधुर्भणितो भगवान्, क्व ? जिनशासने सर्वज्ञागमे इति ॥१००६॥

तथैतदपि सुष्ठु ज्ञात्वा चरत्वित्याह—

दव्वं खेत्तं कालं भावं सत्तिं च सुट्ठु णाऊण।
झाणज्झयणं च तहा साहू चरणं समाचरऊ ॥१००७॥

द्रव्यमाहारशरीरादिकं क्षेत्रं जांगलरूपादिकं कालं सुषमासुषमादिकं शीतोष्णादिकं भावं परिणामं च सुष्ठु ज्ञात्वा ध्यानमध्ययनं तथा ज्ञात्वा साधुश्चरणं समाचरतु। एवं कथितप्रकारेण चारित्रशुद्धिर्भवतीति ॥१००७॥

तथोभयत्यागफलमाह—

आचारवृत्ति—आहारचर्या के निर्दोष होने पर ही व्रत, शील और गुण रहते हैं, इसलिए मुनि सदैव आहारचर्या को शुद्ध करके विचरण करे। अर्थात् आहार की शुद्धि ही प्रधान है, वही चारित्र है और सभी में सारभूत है।

इसी तरह इनका भी शोधन करके आचरण करे, सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—जो आहार, वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही आचारण करते हैं वे ही साधु हैं। जिन शासन में ऐसे सुस्थित साधु भगवान् कहे गये हैं ॥१००६॥

आचारवृत्ति—आहारशुद्धि, वचनशुद्धि और मनःशुद्धि का शोधन करते हुए जो हमेशा चारित्र में उद्यमशील रहते हैं वे ही सर्वगुणों से समन्वित साधु जिनागम में भगवान् कहे जाते हैं।

तथा इन्हें भी अच्छी तरह जानकर आचरण करो, सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और शक्ति को अच्छी तरह समझकर भलीप्रकार से ध्यान, अध्ययन और चारित्र का आचरण करे ॥१००७॥

आचारवृत्ति—द्रव्य—आहार, शरीर आदि; क्षेत्र—जांगल, रूप आदि; काल—सुषमा आदि व शीत, उष्ण आदि; भाव—परिणाम; शक्ति—स्वास्थ्य बल आदि; इन्हें अच्छी तरह जानकर तथा ध्यान और अध्ययन को जानकर साधु चारित्र का आचरण करे। इस प्रकार की कथित विधि से चारित्रशुद्धि होती है।

तथा उभयत्याग का फल कहते हैं—

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य।
उभयच्चायं किच्चा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥१००८॥

त्यागश्च भवति द्विविधः संगत्यागः कलत्रत्यागश्च तत उभयत्यागं कृत्वा साधुर्लघु शीघ्रं सिद्धिं लभते न तत्र सन्देह इति ॥१००८॥

चारित्रशुद्धिमसंयमप्रत्ययकषायप्रत्यययोगप्रत्ययस्वरूपशुद्धिं च प्रतिपाद्य दर्शनशुद्धिं मिथ्यात्वप्रत्ययशुद्धिं च प्रतिपादयन्नाह—

[1]पुढवीकायिगजीवा पुढवीए चावि अस्सिदा संति।
तम्हा पुढवीए आरंभे णिच्चं विराहणा तेसिं ॥१००९॥

पृथिवीकायिकजीवास्तद्वर्णगन्धरसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च तदाश्रिताश्चान्ये जीवास्त्रसाः शेषकायाश्च सन्ति तस्मात्तस्याः पृथिव्या विराधनादिके खननदहनादिके आरम्भ आरम्भसमारम्भसंरम्भादिके च कृते निश्चयेन तेषां जीवानां तदाश्रितानां प्राणव्यपरोपणं स्यादिति। एवमप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकत्रसकायिकानां तदाश्रितानां च समारम्भे ध्रुवं विराधनादिकं भवतीति निश्चेतव्यम् ॥१००९॥

तम्हा पुढविसमारंभो दुविहो तिविहेण वि।
[2]जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पई ॥१०१०॥

गाथार्थ—त्याग दो प्रकार का है—परिग्रहत्याग और स्त्रीत्याग, दोनों का त्याग करके साधु शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥१००८॥

टीका सरल है।

आचारवृत्ति—चारित्रशुद्धि, असंयमप्रत्यय, कषायप्रत्यय, और योगप्रत्यय इनकी स्वरूपशुद्धि का प्रतिपादन करके अब दर्शनशुद्धि और मिथ्यात्वप्रत्ययशुद्धि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वीकायिक जीव और पृथ्वी के आश्रित जीव होते हैं। इसलिए पृथ्वी के आरम्भ में उन जीवों की सदा विराधना होती है ॥१००९॥

आचारवृत्ति—पृथ्वीकायिक जीव उसी पृथ्वी के वर्ण-गन्ध-रसवाले होते हैं। उनके सूक्ष्म और बादर ऐसे दो भेद हैं। इस पृथ्वी के आश्रित त्रसजीव तथा शेषकाय भी रहते हैं। इसलिए पृथ्वी के खोदने, जलाने आदि आरम्भ करने पर अर्थात् सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ द्वारा निश्चय से उन पृथ्वीकायिक का और उसके आश्रित जीवों का घात होता है। इसी प्रकार जल आदि के आरम्भ में जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों तथा इनके आश्रित जीवों को नियम से विराधना आदि होती ही है।

गाथार्थ—इसलिए जिनमार्ग के अनुसार चलनेवालों को दोनों तरह का पृथ्वी का आरम्भ तीन प्रकार से यावज्जीवन नहीं करना चाहिए ॥१०१०॥

---

१. फलटन से प्रकाशित संस्करण में इस गाथा में कुछ अन्तर है—

पुढवि कायिगा जीवा पुढविं जे समासिदा।
दिट्ठा पुढविसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा ॥

२. क जिण मग्गाणु चारीणं।

यतः पृथिवीकायिकादीनां तदाश्रितानां च समारम्भे ध्रुवा हिंसा तस्मात्पृथिवीसमारम्भः खननादिको द्विविधो द्विप्रकारो पृथिवीकायिकतदाश्रितोभयरूपोऽपि त्रिविधेन मनोवाक्कायरूपेण जिनमार्गानुचारिणां¹ यावज्जीवं न कल्प्यते न युज्यत इति । एवमप्तेजोवायुवनस्पतित्रसानां द्विप्रकारेऽपि समारम्भोऽवगाहनसेचन-ज्वालनतापनवीजनमुखवातकरणच्छेदनतक्षणादिकं न कल्प्यते जिनमार्गानुचारिणां² इति ॥१०१॥*

आचारवृत्ति—पृथ्वीकायिक आदि जीवों की और उनके आश्रित जीवों की उनके खनन आदि समारम्भ से निश्चित ही हिंसा होती है, इसलिए पृथ्वीकायिक का समारम्भ दो प्रकार का है —पृथ्वीकायिक का आरम्भ और उनके आश्रित जीवों का घातरूप आरम्भ। ये दोनों प्रकार भी मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन प्रकार के हो जाते हैं। जिनमार्ग के अनुकूल चलनेवाले मुनियों को यह आरम्भ जीवनपर्यन्त करना युक्त नहीं है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के दो प्रकार के भी आरम्भ में अर्थात् जल में अवगाहन करना, उसका सिंचन करना, अग्नि जलाना, उससे तपाना, हवा चलाना, मुख से फूँककर हवा करना, वनस्पति का छेदन करना, त्रस जीवों की हिंसा करना आदि आरम्भ साधु को करना उचित नहीं है।

---

१. क मार्गानुसारिणां। २. क मार्गानुसारिणः।

* फलटन से प्रकाशित प्रति में ये पाँच गाथाएँ और हैं—

आउकायिया जीवा आऊं जे समस्सिदा ।
दिट्ठा आउसमारंभे धुवा तेसिं विराहणा ॥

अर्थ—जलकायिक जीव और उसके आश्रित रहनेवाले अन्य जो त्रसजीव हैं, जल के गर्म करने, छानने, गिराने आदि आरम्भ से निश्चित ही उनकी विराधना होती है।

तेउकायिया जीवा तेऊं ते समस्सिदा ।
दिट्ठा तेउसमारंभे धुवा तेसिं विराहणा ॥

अर्थ—अग्निकायिक जीव और अग्नि के आश्रित रहनेवाले जो जीव हैं उनकी अग्नि बुझाने आदि आरम्भ से निश्चित ही विराधना होती है।

वाउकायिया जीवा वाऊं ते समस्सिदा ।
दिट्ठा वाउसमारंभे धुवा तेसिं विराहणा ॥

अर्थ—वायुकायिक जीव और उनके आश्रित रहनेवाले जो त्रसजीव हैं, उनकी वायु के प्रतिबन्ध करने या पंखा करना आदि आरम्भ से निश्चित ही विराधना होती है।

वणप्फदिकाइया जीवा वणप्फदिं जे समस्सिदा ।
दिट्ठा वणप्फदिसमारंभे धुवा तेसिं विराहणा ॥

अर्थ—वनस्पतिकायिक जीव और उनके आश्रित रहनेवाले जो जीव हैं, वनस्पति फल-पुष्प के तोड़ने, मसलने आदि आरम्भ से उनकी नियम से विराधना होती है।

जे तसकायिया जीवा तसं जे समस्सिदा ।
दिट्ठा तससमारंभे धुवा तेसिं विराहणा ॥

अर्थ—जो त्रसकायिक जीव हैं और उनके आश्रित जो अन्य जीव हैं उन सब का घात, पीड़ित आदि करने से नियम से उन जीवों की विराधना होती है।

असंयमप्रत्ययं तद्विशुद्धिं च प्रतिपाद्य मिथ्यात्वप्रत्ययं तद्विशुद्धिं प्रतिपादयन्नाह—

जो पुढविकाइजीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्स उवट्ठावणा णत्थि ॥१०११॥•

यः पृथिवीकायिकान् जीवान् न श्रद्दधाति नाभ्युपगच्छति जिनैः प्रज्ञप्तान् प्रतिपादितान् स जिन-वचनाद् दूरं स्थितो न तस्योपस्थापनाऽस्ति न तस्य सम्यग्दर्शनादिषु संस्थितिर्विद्यते मिथ्यादृष्टित्वादिति ।

असंयम प्रत्यय और उसकी विशुद्धि का प्रतिपादन करके अब मिथ्यात्व प्रत्यय और उसकी विशुद्धि को प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पृथ्वीकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिन वचन से दूर स्थित है, उसे उपस्थापना नहीं है ॥१०११॥

आचारवृत्ति—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित पृथ्वीकायिक जीवों को स्वीकार नहीं करता है वह जिन वचन से दूर ही रहता है, उसकी सम्यग्दर्शन आदि में स्थिति नहीं है क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इसी प्रकार से जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति-

---

• फलटण से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित पांच गाथाएं अधिक हैं—

तम्हा आउसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा तेउसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा वाउसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा वणप्फदिसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥
तम्हा तससमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पदि ॥

अर्थ—अतः जिन मार्गानुचारी साधुओं को दोनों प्रकार का जल के अर्थात् जलकायिक जीवों का और उसके आश्रित जीवों का आरम्भ मन-वचन-काय से यावज्जीवन नहीं करना चाहिए।

अतः जिनमार्गानुचारी साधुओं को दोनों प्रकार के अग्निजीव का आरम्भ मन-वचन-काय से जीवनपर्यंत करना युक्त नहीं है।

अतः जिनमार्ग के अनुकूल साधुओं को दोनों प्रकार के वायु जीवों का आरम्भ मन-वचन-काय से जीवनपर्यंत करना उचित नहीं है।

अतः जैन शासन के अनुकूल साधुओं को दो प्रकार के वनस्पति जीवों का आरम्भ मन-वचन-काय से जीवन भर करना उचित नहीं है।

अतः जिन मार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाले साधुओं को त्रसजीवों का दो प्रकार का वह आरम्भ अर्थात् घात मन-वचन-काय से यावज्जीवन नहीं करना चाहिए।

पृथ्वीकायिकान् वनस्पतिकायिकान् त्रसकायिकांश्च तदाश्रितांश्च यो नाभ्युपगच्छति तस्याप्युपस्थापना नास्ति सोऽपि मिथ्यादृष्टिरेव न कदाचिदपि मुक्तिमार्गे तस्य स्थितिर्यतो दर्शनाभावेन¹ चारित्रस्य ज्ञानस्य चाभाव एव तेनाविनाभावित्वात्तयोरिति ॥१०११॥

यः पुनः श्रद्दधाति स सद्दृष्टिरिति प्रतिपादयन्नाह—

जो पुढविकायजीवे अइसद्दहदे जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥१०१२॥●

यः पृथिवीकायिकजीवांस्तदाश्रितांश्चातिशयेन श्रद्दधाति मन्यते जिनैः प्रज्ञप्तान् तस्योपलब्धपुण्य-

---

कायिक और त्रसकायिक तथा उनके आश्रित जीवों को जो स्वीकार नहीं करता है उसके भी उपस्थापना नहीं होती है, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। उसकी मोक्षमार्ग में कदाचित् भी स्थिति नहीं है क्योंकि दर्शन के अभाव में चारित्र और ज्ञान का अभाव ही है। यह इसलिए कि ये दोनों सम्यक्त्व के साथ अविनाभावी हैं।

गाथार्थ—जो जिनदेवों द्वारा प्रज्ञप्त पृथ्वीकायिक जीवों के अस्तित्व का अतिशय श्रद्धान करता है, पुण्य पाप के ज्ञाता उस साधु की उपस्थापना होती है ॥१०१२॥

आचारवृत्ति—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित पृथ्वीकायिक तथा उनके आश्रित जीवों का अतिशयरूप से श्रद्धान करता है और जिसने पुण्य-पाप का स्वरूप जान लिया है उसकी

1. दर्शनाभाव।

● फलटन से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित पाँच गाथाएँ अधिक हैं—

जो आउकाइगे जीवे णवि सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो तेउकाइगे जीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो वाउकाइगे जीवे ण सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो वणप्फदिकाइगे जीवेण वि सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥
जो तसकाइगे जीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्सुवट्ठावणा णत्थि ॥

अर्थ—जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित जलकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिनवचन से दूर ही स्थित है, उसके उपस्थापना नहीं होती। जो जिनदेव द्वारा कथित अग्निकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिनवचन से दूर स्थित है उसके उपस्थापना नहीं है। जो जिनदेव द्वारा कथित वायुकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिनवचन से दूर ही स्थित है, उसके उपस्थापना नहीं है। जो जिनदेव कथित वनस्पति-कायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है, वह जिनवचन से दूर स्थित है, उसके उपस्थापना नहीं है। जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित त्रसकायिक जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह जिनवचन से दूर है, उसके उपस्थापना नहीं है।

पापस्वरूपस्य ज्ञाता विद्यते मोक्षमार्गे तस्य संस्थितिरवश्यम्भाविनीति । एवमप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकत्रसकायिकांस्तदाश्रितांश्च यः श्रद्धाति मन्यतेऽभ्युपगच्छति तस्योपलब्धपुण्यपापस्योपस्थापना विद्यत इति ॥१०१२॥

न पुनः श्रद्धाति तस्य फलमाह—

ण सद्दहदि जो एदे जीवे पुढविदं गदे ।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥१०१३॥*

न श्रद्धधाति नाभ्युपगच्छति य एतान् जीवान् पृथिवीत्वं गतान् पृथिवीकायिकान् तदाश्रितांश्च स गच्छेद्दीर्घमध्वानं दीर्घसंसारं लिंगस्थोऽपि नाग्न्यादिलिंगसहितोऽपि दुर्मतिर्यत इति । एवमप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकत्रसकायिकान् तदाश्रितांश्च यो न श्रद्धाति नाभ्युपगच्छति स लिंगस्थोऽपि

मोक्षमार्ग में स्थिति अवश्यभाविनी है। इसी प्रकार से जो जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों को तथा उनके आश्रित जीवों को स्वीकार करता है, पुण्यपाप के जानकार उस साधु को मोक्षमार्ग में स्थिति रहती है।

पुनः जो इन पर श्रद्धान नहीं करता है उसका फल बताते हैं—

गाथार्थ—जो पृथ्वी पर्याय को प्राप्त इन जीवों का श्रद्धान नहीं करता, मुनि वेषधारी होकर भी वह दुर्मति दीर्घ संसार को पाता है ॥१०१३॥

आचारवृत्ति—जो पृथ्वीकायिक पर्याय को प्राप्त जीवों को और उनके आश्रित जीवों को स्वीकार नहीं करता है वह नग्नत्व आदि लिंग को धारण करते हुए भी दुर्मति है, अतः दीर्घ मार्ग—संसार को प्राप्त करता है। इसी प्रकार से जो जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों को तथा उनके आश्रित जीवों को स्वीकार नहीं करता

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित पाँच गाथाएँ अधिक हैं।

जो आउकाइगे जीवे सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो तेउकाइगे जीवे सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्ण पावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो वाउकाइगे जीवे सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो वणप्फदिकाइगे जीवे सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥
जो तसकाइगे जीवे सद्दहदि जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥

अर्थात् जो जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव एवं त्रसकायिक जीवों का तथा इनके आश्रित अन्य जीवों का अतिशयरूप से श्रद्धान करता है, पुण्य-पाप के स्वरूप को जानकर उस व्यक्ति को रत्नत्रय में अवस्थिति होती है।

दुर्मतिर्दीर्घसंसारं गच्छतीति ॥१०१३॥

एवंभूतान् जीवान् पातुकामः श्रीगणधरदेवस्तीर्थंकरपरमदेवं पृष्टवानिति, तत्प्रश्नस्वरूपमाह—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि ॥१०१४॥*

एवं प्रतिपादितक्रमेण जीवनिकायकुले[1] जगति साधुः कथं केन प्रकारेण चरेद्गच्छेदनुष्ठानं वा कुर्यात् कथं तिष्ठेत् कथमासीत कथं वा शयीत कथं भुंजीत कथं भाषेत कथं वदेत कथं पापं न बध्यते केन प्रकारेण पापागमो न स्यादिति ॥१०१४॥

है वह मुनिवेषधारी होकर भी दुर्मति है, अतः दीर्घ संसार में ही भ्रमण करता रहता है।

इन पर्यायगत जीवों की रक्षा करने के इच्छुक श्रीगणधर देव ने तीर्थंकर परमदेव से जो प्रश्न किये थे, उन्हीं को यहाँ कहते हैं—

गाथार्थ—हे भगवन्! कैसा आचरण करे, कैसे ठहरे, कैसे बैठे, कैसे सोवे, कैसे भोजन करे एवं किस प्रकार बोले कि जिससे पाप से नहीं बँधे ॥१०१४॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त प्रतिपादित क्रम से जीवसमूह से व्याप्त इस जगत् में साधु किस प्रकार से गमन करे अथवा अनुष्ठान करे? किस प्रकार से खड़ा हो? किस प्रकार से बैठे? किस प्रकार से शयन करे? किस प्रकार से आहार करे तथा किस प्रकार से बोले? जिस प्रकार से पाप का आगमन न हो सो बताइए!

---

१. क० जीवनिकाया कुले।

* फलटन से प्रकाशित कृति में ये गाथाएँ अधिक हैं—

ण सद्दहदि जो एदे जीवे आउत्तगदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥
ण सद्दहदि जो एदे जीवे तेउत्तगदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥
ण सद्दहदि जो एदे जीवे वाउत्तगदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥
ण सद्दहदि जो एदे जीवे वणप्फदित्तगदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी।
ण सद्दहदि जो एदे जीवे तसत्तगदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थो वि हु दुम्मदी ॥

अर्थ—जो जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों का तथा उनके आश्रित जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह दुर्मति मुनि वेषधारी होते हुए भी दीर्घ संसार को प्राप्त करता है।

प्रश्नमालाया उत्तरमाह—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥१०१५॥

यत्नेनेर्यापथसमितिशुद्ध्या चरेद् यत्नेन तिष्ठेद् महाव्रतादिसंपन्नो यत्नेनासीत प्रतिलिख्य जीवान-विराधयन् पर्यंकादिना यत्नेन शयीत प्रतिलिख्योद्वर्तनपरावर्तनादिकमकुर्वन् संकुचितात्मा रात्रौ शयनं कुर्याद् यत्नेन भुंजीत षट्चत्वारिंशद्दोषवर्जितां भिक्षां गृह्णीयाद्यत्नेन भाषेत भाषासमितिक्रमेण सत्यव्रतोपपन्नः, एवमनेन प्रकारेण पापं न बध्यते कर्मास्रवो न भवतीति ॥१०१५॥

यत्नेन चरतः फलमाह—

जदं तु चरमाणस्स [1]दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१०१६॥

यत्नेनाचरतो भिक्षोर्दयाप्रेक्षकस्य दयाप्रेक्षिणो नवं न बध्यते कर्म चिरन्तनं च विधूयते निराक्रियते। एवं यत्नेन तिष्ठता यत्नेनासीनेन यत्नेन शयानेन भुंजानेन यत्नेन भाषमाणेन नवं कर्म न बध्यते चिरन्तनं च

इस प्रश्नमाला का उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक गमन करे, यत्नपूर्वक खड़ा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक आहार करे और यत्नपूर्वक बोले; इस तरह करने से पाप का बन्ध नहीं होता ॥१०१५॥

आचारवृत्ति—सावधानीपूर्वक—ईर्यापथशुद्धि से गमन करे। सावधानीपूर्वक अर्थात् महाव्रत आदि व्रतों से सहित होकर रहे। सावधानीपूर्वक चक्षु से देखकर और पिच्छिका से परिमार्जन करके जीवों की विराधना न करते हुए पर्यंक आदि से बैठे। सावधानीपूर्वक पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उद्वर्तन-परिवर्तन अर्थात् करवट बदलने आदि क्रियाएँ करते हुए संकुचित गात्र करके रात्रि में शयन करे। सावधानीपूर्वक छ्यालीस दोष वर्जित आहार ग्रहण करे, तथा सावधानीपूर्वक सत्यव्रत से सम्पन्न होकर भाषासमिति के क्रम से बोले। इस प्रकार से पाप का बन्ध नहीं होता है अर्थात् कर्मों का आस्रव रुक जाता है।

यत्नपूर्वक गमन करने का फल कहते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक चलते हुए, दया से जीवों को देखनेवाले साधु के नूतन कर्म नहीं बँधते हैं और पुराने कर्म झड़ जाते हैं ॥१०१६॥

आचारवृत्ति—प्रयत्नपूर्वक आचरण करते हुए साधु को, जो कि दया से सर्वजीवों का अवलोकन करनेवाले हैं, नवीन कर्म नहीं बँधते हैं और पुराने बँधे हुए कर्म दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार से सावधानीपूर्वक ठहरते हुए, सावधानीपूर्वक बैठते हुए, सावधानीपूर्वक सोते हुए, सावधानीपूर्वक आहार करते हुए और सावधानीपूर्वक बोलते हुए साधु के नवीन कर्मों का बन्ध

---

१. द दयापेहिस्स।

क्षीयते ततः सर्वथा यत्नाचारेण भवितव्यमिति ॥१०१६॥

समयसारस्योपसंहारगाथेयं—

एवं विधाणचरियं जाणित्ता आचरिज्ज जो भिक्खू ।
णासेऊण दु कम्मं दुविहं पि य लहु लहइ सिद्धिं ॥१०१७॥*

एवमनेन प्रकारेण विधानचरितं क्रियानुष्ठानं ज्ञात्वा आचरति यो भिक्षुः स नाशयित्वा कर्म द्विप्रकारमपि शुभाशुभरूपमपि द्रव्यरूपं भावरूपं वा शीघ्रं लभते सिद्धिं[1] यत एवं चारित्रान्मोक्षो भवति सर्वस्य

नहीं होता है और चिरन्तन बंधे हुए कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए सर्वथा—सब प्रकार से यत्नाचार होना चाहिए।

समयसार अधिकार की यह उपसंहार गाथा है—

गाथार्थ—जो साधु इस प्रकार से विधानरूप चारित्र को जानकर आचरण करते हैं वे दोनों प्रकार के कर्मों का नाश करके शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं ॥१०१७॥

आचारवृत्ति—जो साधु इस प्रकार से क्रियाओं के अनुष्ठान को जानकर आचरण करते हैं वे शुभ और अशुभ रूप अथवा द्रव्यरूप और भावरूप इन दोनों प्रकार के कर्मों को नष्ट

---

1. क सिद्धिं मोक्षं।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित गाथाएं अधिक हैं—

जदं तु चिट्ठमाणस्स दयापेहिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु आसमाणस्स दयापेहिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु सयमाणस्स दयापेहिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु भुंजमाणस्स दयापेहिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
जदं तु भासमाणस्स दयापेहिस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥
दव्वं खेत्तं कालं भावं च पडुच्च तह य संघडणं ।
चरणम्हि जो पवट्टइ कमेण सो णिरवहो होइ ॥

अर्थात् यत्नपूर्वक खड़े होनेवाले और दया का पालन करनेवाले साधु के नवीन कर्म नहीं बंधते हैं तथा पुराने कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। ऐसे ही यत्नपूर्वक बैठने वाले, यत्नपूर्वक सोने वाले, यत्नपूर्वक आहार करनेवाले और यत्नपूर्वक बोलनेवाले तथा दया से सर्व जीवों का निरीक्षण करनेवाले साधु के नूतन कर्मों का बन्ध नहीं होता है तथा पुराने कर्म झड़ जाते हैं। इस तरह जो साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपने शरीर संहनन का अनुसरण करके चारित्र में प्रवृत्ति करता है वह क्रम से बधरहित—अहिंसक हो जाता है।

सारभूतं चारित्रं तत इति दशमस्य समयसारसंज्ञकस्याचारस्य ॥१०१७॥

इति श्रीमद्वट्टकेराचार्यवर्यप्रणीते मूलाचारे श्रीवसुनन्द्याचार्यप्रणीताचारवृत्त्याख्यटीका-
सहिते दशमः समयसाराधिकारः ॥[1]

करके शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। जिस कारण चारित्र से ही मोक्ष होता है उसी कारण से सभी का सारभूत चारित्र है। इस प्रकार दसवें समयसार अधिकार नामक आचार शास्त्र में संक्षेप में सारभूत चारित्र को ही कहा गया है।[2]

इस प्रकार श्री वसुनन्दि-आचार्य प्रणीत 'आचारवृत्ति' नामक टीका सहित
श्रीमान् वट्टकेराचार्यवर्य प्रणीत इस मूलाचार ग्रन्थ में 'समयसार'
नामक दसवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

१. क-ग-पुस्तकेऽस्य स्थानेऽयं पाठः।
इति वसुनन्दिविरचितायामाचारवृत्तौ दशमः परिच्छेदः।

२. फलटन से प्रकाशित प्रति में यह गाथा अधिक है।

तित्थयरकहियअत्थं गणहररचियं जईहिं अणुचरिदं।
णिव्वाणहेदुभूदं सुदमहमखिलं पणिवदामि॥

अर्थ—परम तीर्थंकर देव ने जिसका अर्थरूप से कथन किया है, गणधरदेव ने जिसे सूत्ररूप में रचा है और यतियों ने जिसका अभ्यास किया है, निर्वाण के लिए कारणभूत ऐसे सम्पूर्ण द्वादशांगश्रुत को मैं प्रणाम करता हूँ।

शीलगुणाधिकारः[1]

सीलगुणालयभूदे कल्लाणविसेसपाडिहेरजुदे ।
वंदित्ता अरहंते सीलगुणे कित्तइस्सामि ॥१०१८॥

शील—शीलव्रतपरिरक्षणं शुभयोगवृत्तिरशुभयोगवृत्तिपरिहार आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाविरतिः पञ्चेन्द्रियनिरोधः कायसंयमविषयोद्भवदोषाभावः क्षान्त्यादियोगश्च, गुणा—गुणाः संयमविकल्पाः पंचमहाव्रतादयः कषायाद्यभावोऽतिक्रमाद्यभावः षट्कायसविकल्पसंयमदशप्रकाराब्रह्माभाव आकंपितादिदोषविमुक्तिरालोचनादिप्रायश्चित्तकरणं। शीलानि च गुणाश्च शीलगुणास्तेषामालयभूताः सम्यगवस्थानं संजाताः शीलगुणालयभूतास्तान् शीलगुणालयभूतान् व्रतानां व्रतपरिरक्षणानां चाधारान्। कल्लाण—कल्याणानि स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणगमनानि, विसेस—विशेषा अतिशयविशेषाश्चतुस्त्रिंशत्, स्वाभाविका

गाथार्थ—पंचकल्याणक अतिशय और प्रतिहार्यों से युक्त, शील एवं गुणों के स्थान स्वरूप अर्हन्तों को नमस्कार करके मैं शील और गुणों का कीर्तन करूँगा ॥१०१८॥

आचारवृत्ति—जो व्रतों की रक्षा करते हैं उन्हें शील कहते हैं। शुभ मन-वचन-काय में वर्तन करना और अशुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का परिहार करना; आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं से विरत होना; पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना; कायसंयम—प्राणिसंयम के विषय में उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना और उत्तम क्षमा आदि को धारण करना ये सब शील के भेद हैं। सर्वशील अठारह हजार भेदरूप हैं जिनका वर्णन इस अधिकार में करेंगे ।

जो आत्मा का उपकार करें वे गुण कहलाते है। यहाँ संयम के भेदों को गुण कहा है जो पाँच महाव्रत आदि रूप हैं। कषाय आदि का अभाव होना, अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि का अभाव होना, षट्काय जीवों की दया पालनेरूप संयम का होना, दस प्रकार के अब्रह्म का अभाव होना, आकम्पित आदि दोषों से रहित आलोचना, प्रायश्चित्त आदि का करना ये सब गुण हैं। ये चौरासी लाख होते हैं, जिनका वर्णन इसमें करेंगे ।

ये अरिहंतदेव शील और गुणों के आधारभूत हैं, स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण, केवलज्ञान-उत्पत्ति और निर्वाणगमन इन पाँच कल्याणकों से सहित हैं, विशेष—अतिशयविशेष अर्थात् चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं। भगवान् के जन्म से ही पसीना नहीं आना

---

१. फलटन से प्रकाशित मूलाचार में शील गुणाधिकार बारहवाँ है और पर्याप्ति अधिकार ग्यारहवाँ है।

दश निःस्वेदत्वादिकाः, घातिकर्मक्षयजा दश गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षत्वादिका, देवोपनीताश्चतुर्दश सर्वार्द्धमागधिकभाषादयः, पाडिहेर—प्रातिहार्याण्यष्टौ सिंहासनादीनि, जुदे—युक्तान् सहितान् कल्याणानि चातिशयविशेषाश्च प्रातिहार्याणि च कल्याणविशेषप्रातिहार्याणि तैर्युक्तास्तान् कल्याणविशेषप्रातिहार्ययुक्तान् सर्वान् सर्वज्ञत्वचिह्नैरेतान् त्रिषष्टिकर्मक्षयजगुणसंयुक्तान्, वंदित्ता—वंदित्वा प्रणम्य, अरहंते—अर्हतः सर्वज्ञनाथान्, सीलगुणे—शीलगुणान् शीलानि गुणांश्च, कित्तइस्सामि—कीर्तयिष्यामि सम्यगनुवर्णयिष्यामि। अर्हतः शीलगुणालयभूतान् कल्याणविशेषप्रातिहार्ययुक्तान् वंदित्वा शीलगुणान् कीर्तयिष्यामीति सम्बन्धः ॥१०१८॥

शीलानां तावदुत्पत्तिक्रममाह—

जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य ।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं ॥१०१९॥

जोए—योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः स निमित्तभेदात् त्रिधा भिद्यते काययोगो मनोयोगो वाग्योग इति। तद्यथा वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सत्यौदारिकादिसप्तकायवर्गणान्यतमालंबनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पंदः काययोगः, शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमादिनाभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः, अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने सति मनःपरिणामाभि-

---

आदि दश स्वाभाविक अतिशय होते हैं। चार सौ कोश तक सुभिक्ष का होना इत्यादि दश अतिशय घाति कर्म के क्षय से होते हैं। सर्वार्द्ध मागधी भाषा आदि रूप से चौदह अतिशय देवों द्वारा कृत होते हैं। ये चौंतीस अतिशय विशेष कहलाते हैं। सिंहासन, छत्रत्रय आदि आठ प्रातिहार्य होते हैं। अरिहंतदेव पाँच कल्याणक, चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्यों से युक्त होते हैं।

त्रेसठ कर्म प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न हुए गुण से संयुक्त, सर्वज्ञ के चिह्न से सहित, पंचकल्याणक, चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्यों से युक्त तथा शील और गुणों के आलय स्वरूप सर्वज्ञनाथ सम्पूर्ण अरिहंत परमेष्ठियों को नमस्कार करके मैं शील और गुणों का अच्छी से वर्णन करूंगा।

शील के भेद की उत्पत्ति का क्रम कहते हैं—

गाथार्थ—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि षट्काय और दश श्रमण धर्म—इन्हें परस्पर में गुणा करने से शील के अठारह हजार भेद हो जाते हैं ॥१०१९॥

आचारवृत्ति—आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन योग कहलाता है। वह निमित्त के भेद से तीन प्रकार हो जाता है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। उसी को कहते हैं—वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक के अवलम्बन की अपेक्षा करके जो आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है वह काययोग है। शरीरनामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचनवर्गणाओं का अवलम्बन लेने पर तथा वीर्यान्तराय का क्षयोपशम और मति अक्षरादि ज्ञानावरण के क्षयोपशम आदि से अभ्यन्तर में वचनलब्धि का सान्निध्य होने पर वचन परिणाम के अभिमुख हुए आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्दन होता है वह वचनयोग कहलाता है। अभ्यन्तर में वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम रूप मनो-

शुभस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः, कायवाङ्मनसां शुभक्रिया इत्यर्थः। करणे—करणानि कायवाङ्मनसामशुभक्रियाः सावद्यकर्मादाननिमित्ताः। सण्णा—संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः। इंदिय—इन्द्रियाणि। भोम्मादि—भूः पृथिवी आदिर्येषां ते भ्वादयः पृथिवीकायादयः समणधम्मे य—श्रमणधर्माश्च संयताचरणविशेषाश्च। अण्णोण्णेहिं—अन्योन्यैरन्योन्यं परस्परं। अब्भत्था—अभ्यस्ताः समाहताः। त एते योगादयः श्रमणधर्मपर्यन्ताः परस्परं गुणिताः, अट्ठारह—अष्टादशशीलसहस्राणि। योगैः करणानि गुणितानि नव भवन्ति, पुनराहारादिसंज्ञाभिश्चतसृभिर्नव गुणितानि षट्त्रिंशद्भवन्ति शीलानि, पुनरिन्द्रियैः पंचभिर्गुणितानि षट्त्रिंशदशीत्यधिकं शतं, पुनः पृथिव्यादिभिर्दशभिः कायैरशीतिशतमष्टादशशतानि भवन्ति, पुनः श्रमणधर्मैर्दशभिरष्टादशशतानि गुणितानि अष्टादशशीलसहस्राणि भवन्तीति ॥१०१९॥

योगादीनां भेदपूर्वकं स्वरूपमाह—

तिण्हं सुहसंजोगो जोगो करणं च असुहसंजोगो।
आहारादी सण्णा फासादिय इंदिया णेया ॥१०२०॥

लब्धि के सन्निकट होने पर और बाह्यनिमित्त रूप मनोवर्गणा का अवलम्बन लेने पर मनःपरिणाम के प्रति अभिमुख हुए आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्दन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। काय, वचन और मन की शुभक्रिया रूपयोग यहाँ विवक्षित है अर्थात् शुभ मन के द्वारा, शुभ वचन के द्वारा और शुभ काय के द्वारा होनेवाली क्रिया का नाम शुभ काययोग, शुभ वचनयोग और शुभ मनोयोग है।

करण—काय, वचन और मन की अशुभ क्रिया जो कि सावद्य रूप से कर्मों के ग्रहण करने में निमित्त होती है—इन मन, वचन, काय की अशुभ क्रियाओं का परिहार करना।

संज्ञा—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा का नाम संज्ञा है इनका परिहार करना।

इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग करना।

भूमि आदि—पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येकवनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की दया पालना।

श्रमणधर्म—संयमियों का आचरण विशेष। अर्थात् उत्तम क्षमा आदि धर्म।

इन सबके परस्पर में गुणा करने से अठारह हजार शील के भेद हो जाते हैं। अर्थात् तीन योग को तीन करण से गुणा करने से नव होते हैं। पुनः नव को चार संज्ञा से गुणित करने पर छत्तीस होते हैं। छत्तीस को पाँच इन्द्रियों से गुणने पर एक सौ अस्सी होते हैं। इन्हें पृथ्वी आदि दश से गुणा करने पर अठारह सौ होते हैं। पुनः इन्हें दश श्रमण धर्म से गुणा करने पर शील के अठारह हजार (३×३×४×५×१०×१० = १८०००) भेद हो जाते हैं।

योग आदि के भेद और स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—मन, वचन और काय इन तीनों का शुभ से संयोग होना योग है और इन तीनों का अशुभ से संयोग होना करण है। आहार आदि को संज्ञाएँ और स्पर्शन आदि को इन्द्रियाँ जानना चाहिए ॥१०२०॥

तिण्हं—त्रयाणां मनोवाक्कायानां, सुहसंजोगो—शुभेन संयोगः शुभसंयोगः पापक्रियापरिहारपूर्वक-शुभकर्मादाननिमित्तव्यापारः सर्वकर्मक्षयनिमि[1]त्तवाग्गुप्तिर्योग इत्युच्यते। करणं च—करणं क्रिया परिणामो वा तेषां मनोवाक्कायानां योऽयमशुभेन संयोगस्तत्करणं पापक्रियापरिणामः पापादाननिमित्तव्यापारव्याहारो च करणमित्युच्यते। आहारादी—आहारादय आहारभयमैथुनपरिग्रहाः, सण्णा—संज्ञा अभिलाषाः, चतुर्विधाशन-पानखाद्यस्वाद्याभ्याहारः, भयकर्मोदयाच्छरीरवाङ्मनःसम्बन्धिजीवप्रदेशानामाकुलता भयं, स्त्रीपुंसयोश्चारित्र-मोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परं संवर्शनं प्रतीच्छा मैथुनं, गोमहिषीमणिमौक्तिकादीनां चेतनाचेतनानां बाह्यानां आभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणा व्यापृतिः परिग्रहः, आहारसंज्ञा भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा परिग्रहसंज्ञा चेति। फासादिय—स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि ज्ञेयानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रो-त्राणीन्द्रियाणि ज्ञातव्यानीति ॥१०२०॥

पृथिव्यादीनां भेदं स्वरूपं च प्रतिपादयन्नाह—

पुढविदगागणिमारुदपत्तेयअणंतकायिया चेव।
विगतिगचदुपंचेंदिय भोम्मादि हवंति दस एदे ॥१०२१॥

पुढवि—पृथिवी। दग—आपो जलं। अगणि—अग्निः। मारुद—मारुतः वातः। पत्तेय—प्रत्येकं एकं जीवं प्रति कारणं शरीरहेतुपुद्गलप्रचयः प्रत्येकमसाधारणम्। अणंत—अनन्तः साधारणम्। कायिया चेव—

आचारवृत्ति—मन, वचन, काय इन तीनों का शुभ कार्यों से संयोग होना अर्थात् पाप-क्रिया के परिहारपूर्वक शुभकर्मों के ग्रहण निमित्तक व्यापार का होना योग है। अथवा सर्वकर्मों के क्षय हेतुक वचनगुप्ति का नाम योग है। क्रिया अथवा परिणाम का नाम करण है। इन मन, वचन और काय का जो अशुभ क्रिया या परिणाम के साथ संयोग है वह करण है जो कि पापक्रिया परि-णाम रूप है। अथवा पापकर्म के ग्रहण निमित्त जो व्यापार और वचन है वह करण है। अभिलाषा का नाम संज्ञा है। चार प्रकार के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आदि आहार कहलाते हैं। भय कर्म के उदय से शरीर, वचन और मन सम्बन्धी जीव के प्रदेशों में जो आकुलता होती है उसका नाम भय है। चारित्र मोहनीय के उदय से राग-भाव से सहित हुए स्त्री-पुरुष की जो परस्पर में स्पर्श की इच्छा होती है उसका नाम मैथुन है। गाय, भैंस, मणि, मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य वस्तुओं के संरक्षण, अर्जन, संस्कार आदि लक्षण-व्यापार का नाम बाह्य परिग्रह है तथा राग-द्वेष आदि परिणामों का होना अभ्यन्तर परिग्रह है। इनकी अभिलाषा होना ही आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा कहलाती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

पृथ्वी आदि के भेद और स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति और अनन्त वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश 'भू आदि' होते हैं ॥१०२१॥

आचारवृत्ति—पृथिवी ही जिनकी काय है उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं। जल ही जिन की काय है वे जलकायिक, अग्नि ही जिनकी काय है वे अग्निकायिक और वायु ही जिनका शरीर

---

१. क निमित्ता।

कायिकास्तथैव। पृथिवी कायो विद्यते येषां ते पृथिवीकायिकाः, आपः कायो विद्यते येषां ते अप्कायिकाः, तेजः कायो विद्यते येषां ते तेजःकायिकाः, मारुतः कायो विद्यते येषां ते मारुतकायिकाः, प्रत्येकः कायो विद्यते येषां ते प्रत्येककायिकाः पूगफलनालिकेरादयः, अनन्तः कायो विद्यते येषां तेऽनन्तकायिका गुडूचीमूलकादयः, चकारश्च सकलसमुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणार्थः। पृथिवीकायिकादयः स्वभेदभिन्ना बादराः सूक्ष्माः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति। बितिचउपंचेंदिय—इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, त्रीन्द्रिया मत्कुणादयः, चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः, पञ्चेन्द्रिया मंडूकादयः। भोम्मादि—भूम्यादयः। हुंति—भवन्ति। दस—दश। एदे—एते पृथिवीकायिकादयः पञ्चेन्द्रियपर्यन्ता दशैव भवन्ति नान्य इति ॥१०२१॥

श्रमणधर्मस्य भेदं स्वरूपं च प्रतिपादयन्नाह—

खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा।
तह होदि बंभचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा ॥१०२२॥

खंती—उत्तमक्षमा शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपयतस्तीर्थयात्राद्यर्थं वा पर्यटतो यतेर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनावज्ञाताडनभर्त्सनशरीरव्यापादनादीनां सन्निधाने [1]स्वान्ते कालुष्यानुत्पत्तिः क्षान्तिः। मद्दव—मृदोर्भावो मार्दवं जात्यादिमदावेशादभिमानाभावः। अज्जव—ऋजोर्भाव आर्जवं मनोवाक्कायानामवक्रता

है वे वायुकायिक होते हैं। ऐसे ही प्रत्येक अर्थात् एक जीव के प्रति कारणभूत जो शरीर उस निमित्तक पुद्गलसमूह को प्रत्येक कहते हैं। प्रत्येकशरीर ही है जिनका वे प्रत्येकवनस्पतिकायिक हैं; जैसे सुपारीफल, नारियल आदि के वृक्ष। अनन्त हैं शरीर जिनके वे अनन्तकायिक वनस्पति हैं। जैसे गुरच, मूली आदि। इन पृथिवीकायिक आदि में बादर और सूक्ष्म ऐसे दो-दो भेद हैं तथा एक-एक के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद भी हो जाते हैं।

कृमि आदि द्वीन्द्रिय, खटमल आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय और मेंढक आदि जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। इस तरह पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पति, साधारणवनस्पति, द्वीन्द्रिय, तीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश हैं।

श्रमणधर्म के भेद और स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दश धर्म हैं ॥१०२२॥

आचारवृत्ति—शान्ति—उत्तम क्षमा अर्थात् शरीर की स्थिति के कारणभूत आहार का अन्वेषण करने के लिए परगृह में जाते हुए अथवा तीर्थयात्रा आदि के लिए भ्रमण करते हुए मुनि को नग्न देखकर दुष्टजन अपशब्द कहें, उनकी हँसी करें, तिरस्कार करें, अथवा ताडना या भर्त्सना करें अथवा उनके शरीर को पीडा आदि पहुँचाएँ—इन सभी कारणों के मिलने पर भी मुनि के मन में कलुषता का न होना क्षमा है।

मार्दव—मृदु का भाव मार्दव है, अर्थात् जाति आदि मदों के आवेश से अभिमान नहीं करना।

---

१. म स्वान्तः।

लाघवं—लघोर्भावो लाघवमनतिचारत्वं शौचं प्रकर्षप्राप्तलोभनिवृत्तिः। तव—तपः कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपस्तद्द्वादशविधं पूर्वोक्तमवसेयम्। संजमो—संयमो धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियदया-कषायनिग्रहलक्षणः। आकिंचणदा—नास्य किंचनास्तीत्यकिंचनोऽकिंचनस्य भाव आकिंचन्यमकिंचनता उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंबन्धनिवृत्तिः। तह होदि—तथा भवति तथा तेनैव प्रकारेण दशाब्रह्म-परिहारेण, बंभचेरं—ब्रह्मचर्यं अनुज्ञातांगनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनादिवर्जनं स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। सच्चं—सत्यं परोपतापादिपरिवर्जितं कर्मादानकारणान्निवृत्तं साधुवचनं सत्यम्। चागो—त्यागः संयतस्य योग्यज्ञानादिदानं त्यागः। चशब्दः समुच्चयार्थः। दस धम्मा—एवैते धर्मा दशप्रकारोऽयं श्रमणधर्मो व्याख्यात इति ॥१०२२॥

शीलानामुत्पत्तिनिमित्तमक्षसंक्रमेणोच्चारणक्रममाह—

मणगुत्ते मुणिवसहे मणकरणोम्मुक्कसुद्धभावजुदे।
आहारसण्णविरदे फासिंदियसंवुडे चेव ॥१०२३॥
पुढवीसंजमजुत्ते खंतिगुणसंजुदे पढमसीलं।
अचलं ठादि विसुद्धे तहेव सेसाणि णेयाणि ॥१०२४॥

आर्जव—ऋजु का भाव आर्जव है, अर्थात् मन, वचन और काय की सरलता।

लाघव—लघु का भाव लाघव है, अर्थात् व्रतों में अतिचार नहीं लगाना। इसी का नाम शौच है। प्रकर्षता को प्राप्त हुए लोभ को दूर करना ही शौच है।

तप—कर्म के क्षय हेतु शरीर और इन्द्रियों को जो तपाया जाता है उसे तप कहते हैं। इसके बारह भेद हैं जिनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

संयम—धर्म की वृद्धि के लिए समितियों में प्रवर्तमान मुनि के प्राणियों की दया तथा इन्द्रिय और कषायों का निग्रह होना संयम है।

आकिंचन्य—जिसका किंचन—किंचित् भी नहीं है वह अकिंचन है। अकिंचन का भाव आकिंचन्य है। अर्थात् अपने से अत्यर्थ सम्बन्धित भी शरीर आदि में संस्कार को दूर करने के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का का त्याग होना।

ब्रह्मचर्य—दशप्रकार के अब्रह्म का परिहार करना ब्रह्मचर्य है। अर्थात् अनुज्ञात स्त्री के स्मरण का, स्त्रियों की कथा सुनने का, स्त्रियों से संसक्त शयन आदि का त्याग करना और स्वतन्त्र प्रवृत्ति का त्याग करना अथवा गुरु के संघ में वास करना।

सत्य—पर के उपताप से रहित और कर्मों के ग्रहण के कारणों से निवृत्त ऐसे साधुवचन बोलना।

त्याग—संयत के योग्य ज्ञान आदि का दान देना।

ये दश धर्म श्रमणधर्म कहलाते हैं।

शीलों की उत्पत्ति के निमित्त अक्ष के संक्रमण के द्वारा उच्चारणक्रम कहते हैं—

गाथार्थ—मनोगुप्तिधारी, मन:करण से रहित शुद्ध भाव से युक्त, आहार-संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवी संयम से युक्त और क्षमा-गुण से युक्त, विशुद्ध मनिवर के प्रथमशील अचल होता है उसी प्रकार से शेष भग जानना चाहिए ॥१०२३, १०२४॥

मणगुत्ते—मनसा गुप्तो मनोगुप्तस्तस्य तस्मिन्वा मनोगुप्तस्य मनोगुप्ते। मुणिवसहे— मुनिवृषभस्य मुनिवृषभे वा, मणकरणोज्झियसुद्धभावजुदे—मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुतः, मनःकरणोन्मुक्तश्चासौ शुद्धभावस्तेन युतः मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुतस्तस्य मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुतस्य मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुते वा। आहारसण्णविरदे—आहारसंज्ञाया विरत आहारसंज्ञाविरतस्तस्य आहारसंज्ञाविरतस्य आहारसंज्ञाविरते वा। फासिंदियसंवुडे—स्पर्शनेन्द्रियं संवृतं यस्यासौ स्पर्शनेन्द्रियसंवृतस्तस्य स्पर्शनेन्द्रियसंवृतस्य स्पर्शनेन्द्रियसंवृते वा। चेव—निश्चयेन। पुढवीसंजमजुत्ते—पृथिवीसंयमेन युक्तः पृथिवीसंयमयुक्तस्तस्य पृथिवीसंयमयुक्तस्य पृथिवीसंयमयुक्ते वा। खंतिगुणसंजुदे—क्षांतिगुणेन संयुक्तः क्षान्तिगुणसंयुक्तस्तस्य क्षान्तिगुणसंयुक्तस्य क्षांतिगुणसंयुक्ते वा। पढमसीलं—प्रथमं शीलं तस्येत्थंभूतस्य मुनिवृषभस्येत्थंभूते वा मुनिवृषभे प्रथमं शीलमचलं स्थिररूपं तिष्ठति। सुद्धे चारित्राढ्ये मुनौ शुद्धस्य चारित्राढ्यस्य मुनेर्वेति सम्बन्धः। यतो गुप्तिभिर्गुप्तोऽशुभपरिणामैर्विमुक्तः संज्ञादिभिश्च रहितः संयमादिसहितोऽत एव शुद्धः। तहेव—तथैव तेनैव प्रकारेण अनेन वा प्रकारेण। सेसाणि—शेषाण्यपि द्वितीयादीनि शीलानि। णेयाणि—ज्ञातव्यानि। अथवा विशुद्धेषु भंगेषु यावदचलं तिष्ठत्यक्षः, तथा वाग्गुप्ते मुनिवृषभे मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुक्ते आहारसंज्ञाविरते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते पृथिवीसंयमयुक्ते क्षान्तिगुणसंयुक्ते च शुद्धे मुनौ द्वितीयं शीलं तिष्ठति। तथा कायगुप्ते मुनिवृषभे एवं शेषाण्युच्चारणविधानान्युच्चार्य तृतीयं शीलं व्रतपरिरक्षणमचलं तिष्ठति। विशुद्धे तत आदि गते अक्षे एवमुच्चारणा कर्त्तव्या। मनोगुप्ते मुनिवृषभे वाक्करणोन्मुक्तशुद्धभावयुते आहारसंज्ञाविरते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते पृथिवीसंयमयुक्ते क्षान्तिगुणसंयुक्ते च मुनिवृषभे चतुर्थशीलम्। तथा वाग्गुप्ते मुनिवृषभे वाक्करणोन्मुक्तशुद्धभावयुक्ते आहारसंज्ञाविरते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते पृथिवीसंयमयुक्ते क्षान्तिगुणसंयुक्ते च मुनिवृषभे पंचमं शीलम्। तथा कायगुप्ते

आचारवृत्ति—जो मुनिपुंगव मनोगुप्ति से सहित हैं, मन के अशुभ व्यापार से रहित शुद्धभाव के धारक हैं, आहार संज्ञा से विरत है, स्पर्शनेन्द्रिय का विरोध करनेवाले हैं, पृथिवीकायिक जीवों की दयापालन रूप संयम से संयुक्त हैं, और क्षमा गुण से युक्त हैं—ऐसे शुद्ध चरित्र से युक्त मुनि के प्रथम शील निश्चल और दृढ़ रहता है। शील का यह प्रथम भंग हुआ। गुप्ति से गुप्त, अशुभ परिणामों से विमुक्त, संज्ञाओं से रहित, संयमादि से सहित मुनि ही शुद्ध कहलाते हैं क्योंकि व्रतों के रक्षण का नाम ही शील है सो उन्हीं के पास रहता है।

इसी प्रकार से द्वितीय, तृतीय आदि शेष भंग भी समझना चाहिए। जैसे—जो मुनिराज वचनगुप्ति से युक्त, मन के अशुभ व्यापार से रहित, शुद्धभाव से सहित, आहार संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवीकायिक संयम से संयुक्त और क्षमागुण से समन्वित हैं उन शुद्ध मुनि के शील का द्वितीय भंग निश्चल और दृढ़ रहता है। कायगुप्ति से युक्त, मन के करण से रहित, शुद्धभाव से सहित, आहार संज्ञा से रहित, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवीकाय के संयम से समन्वित और क्षमागुण से युक्त मुनि के शील का तृतीय भंग होता है। पुनः आदि अक्ष पर आने पर इस तरह उच्चारण करना चाहिए।

मनोगुप्ति से युक्त, वचन के अशुभ व्यापार रूप करण से मुक्त, शुद्ध भाव सहित, आहार संज्ञा से रहित, स्पर्शनेन्द्रिय के विरोध से सहित, पृथिवी संयम से युक्त और क्षमागुण से संयुक्त मुनि के शील का चतुर्थ भंग होता है। वचनगुप्ति से युक्त, वचन के अशुभ व्यापार रूप करण से मुक्त, शुद्ध भाव से युक्त, आहार संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथ्वी संयम से युक्त और क्षमा गुण से सहित मुनि के शील का पाँचवाँ भंग होता है। तथा कायगुप्ति से गुप्त, वचन के

वाक्करणोन्मुक्ते शेषाक्षमनुच्चार्य षष्ठं शीलं ब्रूयात्। तिस्रो गुप्तीः पंक्त्याकारेण व्यवस्थाप्य तत ऊर्ध्वं त्रीणि करणानि पंक्त्याकारेण स्थापनीयानि तत ऊर्ध्वं आहारादिसंज्ञाः संस्थाप्य ततः पंचेन्द्रियाणि ततः पृथिव्यादयः कायास्ततश्च श्रमणधर्माः स्थाप्याः। एवं संस्थाप्य पूर्वोक्तक्रमेण शेषाणि शीलानि वक्तव्यानि यावत्सर्वेऽक्षा अचलं स्थित्वा विशुद्धा भवन्ति तावदष्टादशशीलसहस्राण्यागच्छन्तीति। अथवा मनोगुप्ते मुनिवृषभे इत्यादि तावदुच्चार्य यावद्दशप्रकारश्रमणधर्मान्तेऽक्षस्तिष्ठति तदाऽचलं स्थित्वा विशुद्धेऽक्षे ततः शेषा अप्यक्षा अनेन क्रमेण तं प्राप्य स्थापयितव्या यावन्मनो गुप्त्यक्षः कायगुप्तौ निश्चलः स्थितस्ततोऽष्टादशशीलसहस्राणि मुनिवृषभस्य पूर्णानि भवन्तीति। अथवा मनोगुप्ति ध्रुवां व्यवस्थाप्य मनःकरणादिना सह षट्सहस्राणि शीलान्युत्पाद्य ततः शेषेषु भंगेष्वचलं स्थित्वा विशुद्धेषु मनोगुप्तिविशुद्धा भवति ततः पुनर्वाग्गुप्ति ध्रुवां कृत्वा षट्सहस्राणि शीलानामुत्पादनीयानि ततः सर्वे भंगा अचलं तिष्ठन्ति ततो वाग्गुप्तिर्विशुद्धा भवति ततः काय-गुप्ति ध्रुवां कृत्वा षट्सहस्राणि शीलानामुत्पादनीयानि ततः सर्वे भंगा अचलं तिष्ठन्ति कायगुप्तिश्च विशुद्धा भवति शीलानां चाष्टादशसहस्राणि संपूर्णानि भवन्ति। एवमेकैकं स्थिरं कृत्वा भंगानामुत्पादनक्रमो वेदितव्य इति ॥१०२१-१०२४॥

इदानीं गुणानामुत्पत्तिकारणक्रमं प्रतिपादयन्नाह—

अशुभ व्यापार से रहित, शुद्ध भाव से संयुक्त, आहार संज्ञा से विरत, स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत, पृथिवीकाय संयम से युक्त और क्षमागुण से संयुक्त मुनि के शील का छठा भंग होता है। इसी तरह शील के अठारह हजार भंग होते हैं।

तीन गुप्तियों को पंक्ति के आकार से व्यवस्थापित करके उसके ऊपर तीन करण को पंक्ति के आकार से स्थापित करना चाहिए। पुनः उसके ऊपर आहार आदि संज्ञाओं को स्थापित करके, उसके ऊपर पाँचों इन्द्रियों को, उसके ऊपर पृथिवी आदि दश कायों को तथा उसके ऊपर दश श्रमण धर्मों को स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार से स्थापित करके पूर्वोक्त क्रम से शेष सर्व शीलों को कहना चाहिए। जब तक सर्व अक्ष अचल रहकर विशुद्ध होते हैं तब तक अठारह शील के भेदों का आगमन होता है।

अथवा 'मनोगुप्ति से गुप्त' इत्यादि रूप से उच्चारण करके जब श्रमण के दश धर्म के अन्त में अक्ष स्थिर होता है तब अचल को स्थिर करके अक्ष के विशुद्ध होने पर, उसके बाद शेष अक्ष भी इसी क्रम से प्राप्त करके तब तक स्थापित करना चाहिए कि जब तक मनोगुप्ति का अक्ष कायगुप्ति पर आकर निश्चल स्थित न हो जाए। तब मुनिश्रेष्ठ के अठारह हजार शील पूर्ण होते हैं।

अथवा मनोगुप्ति को ध्रुव स्थापित करके मनःकरण आदि के साथ छह हजार शीलों को उत्पन्न करके पुनः शेष भंगों में अचल रहकर विशुद्ध होने पर मनोगुप्ति विशुद्ध होती है। पुनः वचनगुप्ति को ध्रुव करके छह हजार शील के भेद उत्पन्न करना चाहिए। जब सभी भंग अचल ठहरते हैं तो वचनगुप्ति विशुद्ध हो जाती है। इसके अनन्तर कायगुप्ति को ध्रुव करके छह हजार शील के भेद उत्पन्न कराना चाहिए। जब सभी भंग अचल रहते हैं तब कायगुप्ति विशुद्ध होती है। इस तरह शीलों के अठारह हजार भेद परिपूर्ण हो जाते हैं। इस विधि से एक-एक को स्थिर करके भंगों का उत्पादनक्रम जानना चाहिए।

अब गुणों की उत्पत्ति का कारणभूत क्रम कहते हैं—

इगिवीस चदुर सदिया दस दस दसगा य आणुपुव्वीय ।
हिंसादिक्कमकायाविराहणालोयणासोही ॥१०२५॥

इगिवीस—एकेनाधिका विंशतिरेकविंशतिः । चदुर—चत्वारः । सदिया—शतं । दस दस दस भयो दशानां भेदाः । आणुपुव्वीय—आनुपूर्व्या । हिंसा—प्रमादतः[1] प्राणव्यपरोपणं हिंसा, अत्रादिशब्दो द्रष्टव्यस्तेन हिंसादय एकविंशतिसंख्या भवन्ति । अदिक्कम—अतिक्रमो विषयाणामुपरि समीहा, अत्रापि आदिशब्दो द्रष्टव्योऽतिक्रमादय उपलक्षणत्वादिति । काया—सर्वजीवसमासाः । विराहणा—विराधना अब्रह्मकारणानि । आलोयणा—आलोचना अत्र दोषशब्दो द्रष्टव्य आलोचनादोषाः साहचर्यात् । सोही—शुद्धयः प्रायश्चित्तानि । यथानुक्रमेण हिंसादय एकविंशतिरतिक्रमादयश्चत्वारः कायः शतभेदा विराधना दश आलोचनादोषा दश शुद्धयो दशेति सम्बन्ध इति ॥१०२५॥

के ते हिंसादय इत्याशंकायामाह—

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव ।
कोहमदमायलोहा भय अरदि रदी दुगुंछा य ॥१०२६॥
मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसण पमादो य ।
पिसुणत्तणमण्णाणं अणिग्गहो इंदियाणं च ॥१०२७॥

पाणिवह—प्राणिवधः प्रमादवतो जीवहिंसनम् । मुसावादं—मृषावादोऽनालोच्य विरुद्धवचनम् । अदत्त—अदत्तं परकीयस्याननुमतस्य ग्रहणाभिलाषः । मेहुण—मैथुनं वनितासेवाभिगृद्धिः । परिग्गहं—परिग्रहः

गाथार्थ – हिंसा, अतिक्रम, काय, विराधना, आलोचना और शुद्धि ये क्रम से इक्कीस, चार, सौ, दश, दश और दश होते हैं ॥१०२५॥

आचारवृत्ति—प्रमादपूर्वक प्राणियों के प्राणों का वियोग करना हिंसा है। विषयों की इच्छा करना अतिक्रम आदि समझना चाहिए। क्योंकि ये हिंसा और अतिक्रम शब्द उपलक्षण मात्र हैं। काय अर्थात् सर्वजीवसमास। विराधना अर्थात् अब्रह्म के दश कारण। आलोचना में दोष शब्द लगाकर साहचर्य से आलोचना के दश दोष ग्रहण करना चाहिए। शुद्धि से प्रायश्चित्त अर्थ लेना चाहिए। उपर्युक्त क्रम से संख्या लगाएँ। जैसे हिंसा आदि इक्कीस भेदरूप हैं, अतिक्रम आदि चार हैं, काय-जीवसमासों के सौ भेद हैं, विराधना—अब्रह्म के दश भेद हैं, आलोचना दोष भी दश प्रकार के हैं एवं शुद्धि के दश भेद हैं। इस तरह ये चौरासी लाख ($२१ \times ४ \times १०० \times १० \times १० \times १० = ८४,०००००$) गुण होते हैं।

वे हिंसा आदि कौन-कौन हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, अरति, रति, जुगुप्सा, मनोमंगुल, वचनमंगुल, कायमंगुल, मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पिशुनता, अज्ञान और इन्द्रियों का अनिग्रह ये इक्कीस भेद हैं ॥१०२६-१०२७॥

आचारवृत्ति—प्रमादपूर्वक जीव का घात हिंसा है। बिना विचारे, विरुद्ध वचन बोलना असत्य है। बिना अनुमति से पर की वस्तु को ग्रहण करने की अभिलाषा चोरी है। स्त्री-

---

१. क प्रमादवतः ।

पापादानोपकरणकांक्षा । वेव—नैव शक्यन्त्येव महाव्रतानीति । कोह—क्रोधश्चंडता । मद—मदो जात्याद्यव- लेपः । माय—माया कौटिल्यम् । लोह—लोभो वस्तुप्राप्तौ गृद्धिः । भय—भयं त्रस्तता । अरदि—अरतिरुद्वेगः अशुभपरिणामः । रदी—रती रागः कुत्सिताभिलाषः । दुगुंछा—जुगुप्सा परगुणासहनम् । मणवयणकायमंगुल— मंगुलं पापादानक्रिया तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते मनोमंगुलं वाङ्मंगुलं कायमंगुलं मनोवाक्कायानां पापक्रियाः । मिच्छादंसण—मिथ्यादर्शनं जिनेन्द्रमतस्याश्रद्धानम् । पमादो—प्रमादश्चायत्नाचरणं विकथादिस्वरूपं । पिसुणत्तणं—पैशुन्यं परस्यादोषस्य वा सदोषस्य वा दोषोद्भावनत्वं पृष्ठमांसभक्षित्वं । अण्णाणं—अज्ञानं यथावस्थितस्य वस्तुनो विपरीतावबोधः । अणिग्गहो—अनिग्रहः स्वेच्छया प्रवृत्तिः, इंदियाण—इन्द्रियाणां चक्षुरादीना- मनिग्रहश्चेत्येते एकविंशतिभेदा हिंसादयो द्रष्टव्या इति ॥ १०२६-१०२७॥

अतिक्रमणादीनां स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

अदिकमणं वदिकमणं अदिचारो तहेव अणाचारो ।
एदेहिं चदुहि पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥१०२८॥

अदिकमणं—अतिक्रमणं संयतस्य संयतसमूहमध्यस्थस्य विषयाभिकांक्षा । वदिकमणं—व्यतिक्रमणं संयतस्य संयतसमूहं त्यक्त्वा विषयोपकरणार्जनम् । अदिचारो—अतिचारः व्रतशैथिल्यं ईषदसंयमसेवनं च । तहेव—तथैव । अणाचारो—अनाचारो व्रतभंगः सर्वथा स्वेच्छाप्रवर्तनम् । एदेहिं—एतैरतिक्रमणादिभिः । चदुहिं—चतुर्भिः । पुणो—पुनः । सावज्जो—सावद्यो हिंसाद्येकविंशतिः । होई—भवति । गुणियव्वो—गुणि-

---

सेवन की अभिलाषा मैथुन है । पाप के आगमन हेतुक उपकरणों की आकांक्षा परिग्रह है । ये पांच त्याग हैं । इनके त्याग से पाँच महाव्रत होते हैं । प्रचण्ड भाव क्रोध है । जाति आदि का घमण्ड मान है । कुटिलता का नाम माया है । वस्तुप्राप्ति की गृद्धता लोभ है । त्रस्त होना भय है । उद्वेग रूप अशुभ परिणाम का नाम अरति है । राग अर्थात् कुत्सित वस्तु की अभिलाषा रति है । पर के गुणों को सहन नहीं करना जुगुप्सा है । पाप के आने की क्रिया का नाम मंगुल है । उसे तीनों योगों में लगाएँ । अर्थात् मन की पापक्रिया मनोमंगुल है, वचन की पापक्रिया वचनमंगुल है, और काय की अशुभक्रिया कायमगुल है । जिनेन्द्र के मत का अश्रद्धान मिथ्यादर्शन है । अयत्नाचार प्रवृत्ति का नाम प्रमाद है जो कि विकथा आदिरूप है । निर्दोष या सदोष ऐसे पर के दोषों का का उद्‌भावन करना अथवा पृष्ठमांस का भक्षण पैशुन्य है । यथावस्थित वस्तु का विपरीत ज्ञान होना अज्ञान है । चक्षु आदि इन्द्रियों की स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति होना अनिग्रह है । इस प्रकार से हिंसा के ये इक्कीस भेद होते हैं ।

अतिक्रमण आदि का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार इन चारों से हिंसादि को गुणित करना चाहिए ॥ १०२८ ॥

आचारवृत्ति—संयत समूह के मध्य में रहते हुए भी जो संयत के विषयों की आकांक्षा होती है उसका नाम अतिक्रमण है । संयत के समुदाय को छोड़कर विषयों के उपकरण का अर्जन करनेवाले संयत के व्यतिक्रमण दोष होता है । व्रतों में शिथिलता का होना या किंचित् रूप से असंयम का सेवन करना अतीचार है । व्रतों का भंग होना या सर्वथा स्वेच्छा से प्रवर्तन करना

तथा: संगुणनीयः ततश्चतुर्भिरेकविंशतिर्गुणिता चतुरशीतिर्भवतीति ॥१०२८॥

कायभेदानां स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पुढविदगागणिमारुदपत्तेयअणंतकाइया चेव ।
वियतियचदुपंचिंदिय अण्णोण्णवधाय दस गुणिदा ॥१०२६॥

कायशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते । पृथिवीकायिका अप्कायिका अग्निकायिका मारुतकायिकाः प्रत्येककायिका अनन्तकायिकाश्चैव । अत्रापि इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति । अण्णोण्णवधाय—अन्योन्यव्यधिता दशैते पृथिवीकायिकादयः परस्परेणाहताः शतं पूर्वोक्तैश्चतुरशीतिविकल्पैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतभेदा भवन्ति । चतुरशीतिः शतेन गुणिता यत एतावन्त एव विकल्पा भवन्तीति ॥१०२६॥

अब्रह्मकारणविकल्पान् प्रतिपादयन्नाह—

इत्थीसंसग्गी पणिदरसभोयण गंधमल्लसंठप्पं ।
सयणासणभूसणयं छट्ठं पुण गीयवाइयं चेव ॥१०३०॥
अत्थस्स संपओगो कुसीलसंसग्गि रायसेवा य ।
रत्ती वि य संयरणं दस सीलविराहणा भणिया ॥१०३१॥

इत्थीसंसग्गी—स्त्रीसंसर्गः वनिताभिः सहातीव प्रणयः रागाहतस्य । पणिदरसभोयण—प्रणीत-

---

अनाचार है। इन अतिक्रमण आदि चारों से हिंसादि इक्कीस को गुणित करने से चौरासी (२१×४) भेद हो जाते हैं।

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पति, अनन्तकायिकवनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन दश को परस्पर गुणित करना॥ १०२६॥

आचारवृत्ति—काय शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। जैसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक और अनन्त कायिक। आगे प्रत्येक के साथ इन्द्रिय शब्द लगा लेना चाहिए। जैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन दश को परस्पर गुणित कर देने से अर्थात् इन दश को इन्हीं दश से गुणित कर देने से सौ हो जाते हैं। पुनः इन सौ जीवसमासों को पूर्वोक्त चौरासी से गुणित करने पर चौरासी-सौ (१०×१०×८४) हो जाते हैं।

अब्रह्म कारण के भेद बतलाते हैं—

गाथार्थ—स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गन्ध-माला का ग्रहण, कोमल शयन-आसन, भूषण, गीत-वादित्र श्रवण, अर्थसंग्रह, कुशील-संसर्ग, राजसेवा और रात्रि में संचरण ये दश शील की विराधना कही गयी हैं॥१०३० १०३१॥

आचारवृत्ति—स्त्रीसंसर्ग आदि दश कारणों से ब्रह्मचर्य की विराधना होती है। इसे ही बताते हैं—

स्त्रीसंसर्ग—राग से पीड़ित होकर स्त्रियों के साथ अतीव प्रेम करना।

प्रणीतरसभोजन—अतीव लंपटता पूर्वक पंचेन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाला आहार

रसभोजनं अतीव गृद्ध्या पञ्चेन्द्रियदर्पकराहारग्रहणम् । गंधमल्लसंठप्पं—गंध आर्द्रमहिषीमक्षकर्दमादिको माल्यं मालतीचंपकादिकुसुमादिकं ताभ्यां संस्पर्शो गन्धमाल्यसंस्पर्शः सुगंधद्रव्यैः सुगंधपुष्पैश्च शरीरसंस्करणम् । सयणासणं—शयनं तूलिकादिपर्यंकस्पर्शं आसनं मृदुलोहासनादिकं शयनं आसनं च शयनासने मृदुशय्यामृद्वासनगृद्धिः । भूसणयं—भूषणानि शरीरमंडनादीनि मुकुटकटकादीनि शरीरशोभा विषयाकांक्षा वा षष्ठमेतानि । छट्ठं पुण—षष्ठं पुनः । गीयवाइयं—गीतं षड्जादिकं वादित्रं ततविततघनसुषिरादिकं करवादनं च, गीतं च वादित्रं च गीतवादित्रं [1]रागादिकांक्षया नृत्येक्षाभिलाषकरणम् । अत्थस्स संपओगो—अर्थस्य संप्रयोगः सुवर्णादिद्रव्यसंपर्कः । कुसीलसंसग्गि—कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीलास्तैः संसर्गः संवासः कुशीलसंसर्गो रागाविष्टजनसंपर्कः । रायसेवा य—राजसेवा च विषयार्थिनो राज्ञामुपश्लोकादिकरणम् । रत्तो वि य संचरणं—रात्रावपि संचरणं कार्यान्तरेण निशायां पर्यटनम् । दस—दश । सील—विराहणा—शीलविराधनाः । भणिदा—भणिताः प्रतिपादिताः । एते स्त्रीसंसर्गादयो दश शीलविराधनाः परमागमे समुक्ताः एतैर्दशविकल्पैः पूर्वोक्तानि चतुरशीतिशतानि गुणितानि चतुरशीतिसहस्राणि भवन्तीति ॥१०३०-१०३१॥

आलोचनादोषान् प्रतिपादयन्नाह—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाकुलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥१०३२॥

ग्रहण करना ।

गन्धमाल्यसंस्पर्श—चन्दन, केशर आदि सुगन्धित पदार्थ और मालती, चम्पा आदि मालाओं से शरीर को संस्कारित करना ।

शयनासन—कोमल शय्या पर शयन करना तथा कोमल आसन आदि पर बैठना ।

भूषण—मुकुट, कड़े आदि से शरीर को विभूषित करने की अभिलाषा करना ।

गीतवादित्र—षड्ज, ऋषभ आदि गीत की तथा तत, वितत, घन, सुषिर आदि अर्थात् मृदंग, वीणा, ताल, करताल आदि बजाने की इच्छा रखना । रागादि रूप आकांक्षा से नृत्य-गीत आदि देखना सुनना ।

अर्थसंप्रयोग—सुवर्ण आदि द्रव्यों से सम्पर्क रखना ।

कुशील-संसर्ग—कुत्सितशीलवाले अर्थात् राग से संयुक्त जनों का सम्पर्क ।

राजसेवा—विषय भोगों की इच्छा से राजाओं की स्तुति-प्रशंसा करना ।

रात्रिसंचरण—बिना प्रयोजन के रात्रि में पर्यटन करना ।

परमागम में ये स्त्रीसंसर्ग आदि दश शील की विराधना कही गयी हैं । इन दश भेदों से पूर्वोक्त चौरासी-सौ को गुणा करने से चौरासी हजार (८४०० × १० = ८४०००) हो जाते हैं ।

आलोचना के दोष बतलाते हैं—

गाथार्थ—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना के दोष हैं ॥१०३२॥

---

१. क रागाकांक्षया ।

आकंपिय—आकम्पितदोषो भक्तपानोपकरणादिनाऽऽचार्यमाकम्प्यात्मीयं कृत्वा यो दोषमालोचयति तस्याकंपितदोषो भवति। अणुमाणिय—अनुमानितं शरीराहारतुच्छबलदर्शनेन दीनवचनेनाचार्यमनुमान्यात्मनि करुणापरमाचार्यं कृत्वा यो दोषमात्मीयं निवेदयति तस्य द्वितीयोऽनुमानितदोषः। जं दिट्ठं—यद् दृष्टं अन्यैरवलोकितं दोषजातं तदालोचयत्यदृष्टमवगूहयति यस्तस्य तृतीयो दृष्टनामाऽऽलोचनादोषः। बादरं च—स्थूलं च व्रतेष्वहिंसादिकेषु य उत्पद्यते दोषस्तमालोचयति सूक्ष्मं नालोचयति यस्तस्य चतुर्थो बादरनामालोचनादोषः स्यात्। सुहुमं च—सूक्ष्मं च आर्द्रहस्तपरामर्शादिकं सूक्ष्मदोषं प्रतिपादयति महाव्रतादिभंगं स्थूलं तु नाचष्टे यस्तस्य पंचमं सूक्ष्मं नामालोचनदोषजातं भवेत्। छण्णं—प्रच्छन्नं व्याजेन दोषकथनं कृत्वा स्वतः प्रायश्चित्तं य करोति तस्य षष्ठं प्रच्छन्नं नामालोचनदोषजातं भवति। सद्दाकुलियं—शब्दाकुलितं पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिप्रतिक्रमणकाले बहुजनशब्दसमाकुले आत्मीयापराधं निवेदयति तस्य सप्तमं शब्दाकुलं नामालोचनादोषजातम्। बहुजणं—बहुजनं एकस्मै आचार्यायात्मदोषनिवेदनं कृत्वा

आचारवृत्ति—मुनि आचार्य के पास में अपने व्रतों के दोषों की आलोचना करते हैं, उसमें होनेवाले दस दोषों का स्वरूप कहते हैं—

आकम्पित—भोजन, पान, उपकरण आदि द्वारा आचार्य में अनुकम्पा उत्पन्न करके अर्थात् आचार्य को अपना बना कर जो मुनि अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनके आकम्पित नाम का दोष होता है।

अनुमानित—'मेरा शरीर दुर्बल है, मेरा आहार अल्प है' इत्यादि प्रकार के शरीर, आहार आदि की दुर्बलता को सूचित करनेवाले दीन वचनों से आचार्य को अपनी स्थिति का अनुमान कराकर अर्थात् अपने प्रति आचार्य में करुणाभाव जाग्रत करके जो अपने दोषों को निवेदित करते हैं उनके यह अनुमानित नाम का दोष होता है।

दृष्ट—अन्य जनों ने जिन दोषों को देख लिया है उनकी जो आलोचना कर देते हैं तथा नहीं देखे गये दोषों को छिपा लेते हैं, उनके दृष्ट नाम का तीसरा दोष होता है।

बादर—अहिंसा आदि महाव्रतों में जो स्थूल दोष हुए हैं उनकी तो जो आलोचना कर देते हैं किन्तु सूक्ष्म दोषों की आलोचना नहीं करते हैं उनके बादर नाम का चौथा दोष होता है।

सूक्ष्म—जो मुनि 'मैंने गीले हाथ से वस्तु का स्पर्श किया है' इत्यादि रूप सूक्ष्म दोषों को तो कह देते हैं, किन्तु महाव्रत आदि के भंगरूप स्थूल दोषों को नहीं कहते हैं उनके सूक्ष्म नाम का पाँचवाँ दोष होता है।

छन्न—बहाने से चुपचाप ही, दोषों का कथन करके जो स्वतः प्रायश्चित कर लेते हैं अर्थात् अमुक दोष होने पर क्या प्रायश्चित होता है ? ऐसा पूछने पर यदि गुरु ने बता दिया तो उसे आप स्वयं कर लेते हैं किन्तु 'मेरे द्वारा ऐसा दोष हुआ है' यह बात गुप्त ही रखते हैं, प्रकट नहीं होने देते, उनके छन्न नाम का छठा दोष होता है।

शब्दाकुलित—पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक आदि प्रतिक्रमण के काल में बहुतजनों के शब्दों के कोलाहल में जो अपना अपराध निवेदित कर देते हैं अर्थात् 'गुरु ने ठीक से कुछ सुना, कुछ नहीं सुना' ऐसे प्रसंग में जो आलोचना करते हैं उनके शब्दाकुलित नाम का दोष होता है।

बहुजन—एक आचार्य के पास में अपने दोषों को कहकर, उनसे प्रायश्चित लेकर, उस

प्रायश्चित्तं प्रगृह्य पुनरश्रद्दधानोऽपरस्मै आचार्याय निवेदयति यस्तस्य बहुजनं नामाष्टममालोचनादोषजातं स्यात्। अव्वत्त—अव्यक्तः प्रायश्चित्तादावकुशलो यस्तस्यात्मीयं दोषं कथयति यो लघुप्रायश्चित्तनिमित्तं तस्याव्यक्तनाम नवममालोचनादोषजातं भवेत्। तस्सेवी—तत्सेवी य आत्मना दोषैः सम्पूर्णस्तस्य यो महाप्रायश्चित्तभयादात्मीयं दोषं प्रकटयति तस्य तत्सेवी नाम दशम आलोचनादोषो भवेत्। एवमेतैर्दशभिश्चतुरशीतिसहस्राणि गुणितान्यष्टशतान्यधिकानि चत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्तीति ॥१०३२॥

आलोचनादिप्रायश्चित्तानां स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आलोयण पडिकमणं उभय विवेगो तथा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं पि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥१०३३॥

आलोयण—आलोचनं दशदोषविवर्जितं गुरवे प्रमादनिवेदनमालोचनं। पडिकमणं—प्रतिक्रमणं व्रतातीचारनिर्हरणं। उभय—उभयं आलोचनप्रतिक्रमणे संसर्गदोषे सति विशोधनात्तदुभयम्। विवेगो—विवेकः संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः। तथा—तथा। विउस्सग्गो—व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणं। तव—

पर श्रद्धान न रखते हुए जो पुनः अन्य आचार्य के पास आलोचना करते हैं उनके बहुजन नाम का आठवाँ दोष होता है।

अव्यक्त—जो आचार्य प्रायश्चित आदि देने में अकुशल हैं वे अव्यक्त कहलाते हैं। उनके पास जो अपने दोष कहते हैं इसलिए कि 'ये हमें हल्का प्रायश्चित्त देंगे', तो उनके यह अव्यक्त नाम का नवम आलोचना दोष होता है।

तत्सेवी—अपने सदृश दोषों से परिपूर्ण आचार्य के पास जो महाप्रायश्चित्त के भय से अपने दोषों को प्रकट करते हैं उनके तत्सेवी नाम का यह दशम आलोचना दोष होता है।

इन दश आलोचना दोषों से पूर्वोक्त चौरासी हजार को गुणित करने से आठ लाख चालीस हजार (८४००० × १० = ८४००००) हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त के आलोचना आदि दश भेदों का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित के दश भेद हैं ॥१०३३॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा दोषों का शोधन होता है उसका नाम प्रायश्चित्त है। उसके दश भेद हैं—

आलोचना—गुरु के पास में अपने प्रमाद से हुए दोषों का दशदोष रहित निवेदन करना आलोचना है।

प्रतिक्रमण—व्रतों में लगे हुए अतीचारों को दूर करना प्रतिक्रमण है।

उभय—आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के द्वारा दोषों का विशोधन करना उभय नाम का प्रायश्चित है।

विवेक—मिले हुए अन्न, पान और उपकरण आदि को अलग करना विवेक नाम का प्रायश्चित है।

व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग आदि से दोषों का शोधन करना व्युत्सर्ग है।

तपः अनशनावमौदर्यादिकरणम् । छेदो—छेदः दिवसमासादिना प्रव्रज्याहापनम् । मूलं—पुनर्दीक्षाप्रापणम् । वि य—अपि च । परिहारो चेव—परिहारश्चैव पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः । सद्दहणा—श्रद्धानं सावद्यगतस्य मनसः मिथ्यादुष्कृताभिव्यक्तिनिवर्तनं, एते दश विकल्पा विपरीतदोषा भवन्ति । एतैः पूर्वोक्तानि अष्टलक्षाण्यधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि गुणितानि चतुरशीतिलक्षसावद्यविकल्पा भवन्ति तद्विपरीतास्तावन्त एव गुणा भवन्तीति ॥१०३३॥

गुणोत्पादनक्रममाह—

पाणादिवादविरदे, अदिक्कमणदोसकरणउम्मुक्के ।
पुढवीए पुढवीपुण[1]रारंभसुसंजदे धीरे ॥१०३४॥

इत्थीसंसग्गविजुदे आकंपियदोसकरणउम्मुक्के ।
आलोयणसोधिजुदे आदिगुणो सेसया णेया ॥१०३५॥

पाणादिवादविरदे—प्राणातिपातो हिंसा तस्मात्प्राणातिपाताद्विरत उपरतस्तस्य तस्मिन्वा प्राणातिपातविरतस्य प्राणातिपातविरते वा । अदिक्कमणदोसकरणउम्मुक्के—अतिक्रमणमेव दोषस्तस्य करणं अतिक्रमणदोषकरणं तेनोन्मुक्तः परित्यक्तस्तस्य तस्मिन्वाऽतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्तस्यातिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते वा ।

तप—अनशन, अवमौदर्य आदि तपों के द्वारा दोषों की शुद्धि तप प्रायश्चित्त है ।

छेद—दिवस, मास आदि से दीक्षा को कम कर देना छेद-प्रायश्चित्त है ।

मूल—पुनः दीक्षा देना मूल-प्रायश्चित्त है ।

परिहार—पक्ष, मास आदि के विभाग से मुनि को संघ से दूर कर देना परिहार-प्रायश्चित्त है ।

श्रद्धान—सावद्य में मन के जाने पर मिथ्यात्व और पाप से मन को हटाना श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त है ।

प्रायश्चित्त के ये दश भेद हैं । इनके उलटे दश दोष हो जाते हैं । इन दश के द्वारा पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार को गुणित कर देने पर सावद्य के चौरासी लाख (८४०००० × १० = ८४०००००) भेद हो जाते हैं तथा इनसे विपरीत उतने ही गुण होते हैं ।

गुणों के उत्पन्न करने का क्रम कहते हैं—

गाथार्थ—जो प्राणी हिंसा से विरत हैं । अतिक्रमण दोष से रहित हैं, पृथिवी और पृथिवीकायिक के आरम्भ से मुक्त हैं । स्त्रीसंसर्ग दोष से वियुक्त हैं, आकम्पित दोष से उन्मुक्त हैं एवं आलोचना प्रायश्चित्त से युक्त हैं उनके प्रथम गुण होता है । इसी तरह अन्य शेष गुणों को भी जानना चाहिए ॥१०३४-१०३५॥

आचारवृत्ति—हिंसा आदि इक्कीस को पंक्त्याकार से स्थापित करके उसके ऊपर अतिक्रमण आदि चार को स्थापित करें । पुनः इसके ऊपर पृथिवी आदि सौ को स्थापित करें । उसके ऊपर स्त्रीसंसर्ग आदि दश दोषों को व्यवस्थापित करके, उसके ऊपर आकम्पित आदि दश दोषों को स्थापित करें । पुनः इस पंक्ति के ऊपर आलोचना आदि दश शुद्धियों की

---

1. क आरम्भ ।

पुढवीए पुढवी पुण आरंभसुसंजदे धीरे—पृथिव्याः पृथिवीकायिकैः पृथिव्याः पृथिवीकायिकानां पुनरारम्भो विराधनं तस्मिन् सुसंयतो यत्नपरस्तस्य तस्मिन्वा पृथिव्या पृथिवीपुनरारंभसुसंयतस्य पृथिवीकायिकैः पृथिवीकायिकानां योऽयं पुनरारंभस्तस्मिन् सुसंयते वा धीरे धीरस्य वा साधोः। इत्थीसंसग्गविमुके—स्त्रीसंसर्गविमुक्ते[1] स्त्रीजनसंसर्गविमुक्तस्य वा। आकंपियदोसकरणउम्मुक्के—आकम्पितदोषस्य यत्करणं तेनोन्मुक्तस्योन्मुक्ते वा। आलोयणसोधिजुदे—आलोचनशुद्धियुक्ते आलोचनशुद्धियुक्तस्य वा, आदिगुणो—आदिगुणः प्रथमो गुणः संजातः। एवं, सेसया—शेषाश्च गुणाः। णेया—ज्ञातव्या उत्पादनीया इति। हिंसादेकविंशतिं संस्थाप्य तत ऊर्ध्वं अतिक्रमणादयश्चत्वारः संस्थापनीयाः पुनस्तत ऊर्ध्वं पृथिव्यादिशतं स्थापनीयं तत ऊर्ध्वं दश विराधनाः स्त्रीसंसर्गादयो व्यवस्थाप्यास्तत ऊर्ध्वं आकंपितादयो दश दोषाः स्थापनीयाः पुनस्तत ऊर्ध्वं आलोचनादयो दश शुद्धयः स्थापनीयास्तत एवमुच्चारणं कर्त्तव्यं—धीरे मुनौ प्राणातिपातविरते पुनरप्यतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते पुनरपि पृथिव्या पृथिवीपुनरारंभसुसंयते पुनरपि स्त्रीसंसर्गवियुक्ते पुनरप्याकंपितदोषकरणोन्मुक्ते पुनरप्यालोचनशुद्धियुक्ते आदिगुणो भवति। ततो मृषावादविरतेऽतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते पुनरप्यालोचनशुद्धियुक्ते आदिगुणो भवति। ततो मृषावादविरतेऽतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्ते एवं शेषाणामप्युच्चार्य वाच्यो द्वितीयगुणस्ततोऽदत्तादानविरचिते, [विरहिते] एवं शेषेष्वप्युच्चारितेषु तृतीयो गुणः, एवं तावदुच्चार्यं यावच्चतुरशीतिलक्षा गुणानां संपूर्णा उत्पन्ना भवन्तीति ॥१०३४-१०३५॥

शीलानां गुणानां च पंच विकल्पान् प्रतिपादयन्नाह—

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंच वि वत्थूणि णेयाणि ॥१०३६॥

स्थापना करना चाहिए। पुनः इस प्रकार से उच्चारण करना चाहिए—'प्राणी हिंसा से विरत, अतिक्रमण दोषकरण से उन्मुक्त, पृथिवी और पृथिवीकायिक के पुनः आरम्भ दोष से रहित, स्त्री संसर्ग से वियुक्त, आकम्पित दोष से मुक्त और आलोचना-शुद्धि से युक्त धीर मुनि के गुण का यह प्रथम भंग होता है। इसके अनन्तर मृषावाद से विरत, अतिक्रमणदोष करने से उन्मुक्त, पृथिवी और पृथिवीकायिक के आरम्भ से विरक्त, स्त्रीसंसर्ग से रहित, आकम्पित दोष से मुक्त और आलोचना शुद्धि से संयुक्त धीर मुनि के यह गुण का दूसरा भंग होता है। ऐसे ही अदत्तादान से रहित, अतिक्रमण दोष करने से मुक्त, पृथिवी और पृथिवीकायिक के आरम्भ से रहित, स्त्रीसंसर्ग से वियुक्त, आकम्पित दोष से रहित और आलोचना शुद्धि से विमुक्त मुनि के गुणों का यह तीसरा भंग हुआ। इस प्रकार से तब तक उच्चारण करना चाहिए कि जब तक सम्पूर्ण चौरासी लाख गुणों की पूर्णता नहीं हो जाती।

अब शील और गुणों के पाँच विकल्पों को कहते हैं—

गाथार्थ—शील और गुणों के संख्या, प्रस्तार, अक्षसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच वस्तु-अधिकार जानना चाहिए ॥१०३६॥

---

१. क स्त्रीजनसंपर्कविप्रमुक्तस्य।

शीलगुणाणं[1]—शीलगुणानां। संखा—संख्या प्रमाणम्। शीलानां गुणानां च, पत्थारो—प्रस्तारः। शीलानां गुणानां च, अक्खसंकमो—अक्षसंक्रमश्चैव। तथा शीलानां गुणानां च, णट्ठं—नष्टता। उद्दिट्ठं—उद्दिष्टता च, उच्चारणा दृष्टा अक्षा नष्टास्तेषामक्षाणामुच्चारणाविशेषेनोत्पादनं नष्टमित्युच्यते, अक्षा दृष्टा उच्चारणा नष्टा अक्षवशेन तासामुद्दिष्टमित्युच्यते। पंच वि वत्थूणि णेयाणि—एवं पंचापि वस्तूनि ज्ञातव्यानि भवन्ति। एवं शीलानां गुणानां च पंच विकल्पा ज्ञातव्या भवन्तीति ॥१०३६॥

संख्यानयनाय तावदाह—

सव्वेवि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा ॥१०३७॥

शीलानां गुणानां च सर्वानपि पूर्वभंगान् पूर्वविकल्पानुपरिभंगेषु उपरिस्थितविकल्पेषु मेलयित्वा एकमेकं क्रमशो गुणयित्वा या संख्या समुत्पादनीया। अथवा सर्वेषु पूर्वभंगेषु उपरिभंगेषु च पृथक् पृथक् मिलितेषु संख्योत्पद्यते, अथवा सर्वेषु पूर्वभंगेषु उपरिभंगेषु च परस्परं गुणितेषु संख्योत्पद्यते। एकविंशतिश्चतुर्भिर्गुणनीया पुनः शतेन पुनरपि दशभिः पुनरपि दशभिः पुनरपि दशभिर्गुणिते च चतुरशीतिलक्षा गुणा उत्पद्यन्त इति। एवं शीलानामपि द्रष्टव्यमिति ॥१०३७॥

प्रस्तारस्योत्पादनार्थमाह—

आचारवृत्ति—शील और गुण की संख्या अर्थात् प्रमाण को कहना, शील और गुणों का प्रस्तार कहना, शील और गुणों के अक्षसंक्रम कहना, शील और गुणों का नष्ट कहना तथा शील और गुणों को उद्दिष्ट कहना ऐसे पाँच प्रकार से शील और गुणों के भेदों को समझना चाहिए। अलापों के भेदों को संख्या कहते हैं। संख्या के रखने या निकालने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। एक भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को अक्षसंक्रम कहते हैं। संख्या को रखकर भेद को निकालना नष्ट है एवं भेद को रखकर संख्या निकालना उद्दिष्ट है।

संख्या को निकालने की विधि कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्व के सभी भंगों को आगे के भंगों में मिलाकर एक-एक को क्रम से गुणित करने से संख्या उत्पन्न होती है ॥१०३७॥

आचारवृत्ति—शील और गुणों के सभी पूर्व भंगों को ऊपर के भंगों में मिलाकर एक-एक को क्रम से गुणित करने से संख्या उत्पन्न होती है। अथवा सभी पूर्व के भेद ऊपर के भंगों में पृथक्-पृथक् मिलाने पर संख्या उत्पन्न होती है। या पूर्व-पूर्व के भेदों को आगे-आगे के साथ परस्पर गुणा कर देने से संख्या कहलाती है। जैसे इक्कीस को चार से गुणा करें, पुनः उन्हें सौ से, पुनः दश से, पुनः दश से तथा पुनरपि दश से गुणा करने पर चौरासी लाख गुण उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही शीलों को भी समझना चाहिए।

प्रस्तार की उत्पत्ति कहते हैं—

---

1. क शीलानां गुणानां च।

पढमं सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥१०३८॥

पढमं—प्रथमं मनोवाक्कायत्रिकं । सीलपमाणं—शीलप्रमाणं अष्टादशशीलसहस्रमात्रम् । कमेण—क्रमेण । णिक्खिविय—निक्षिप्य प्रस्तीर्य मनोवाक्काय मनोवाक्काय इत्येवं तावदेकैकं निक्षेपणीयं यावदष्टादश-सहस्राणि पूर्णानि भवन्ति । ततः उवरिमाणं च—उपरिस्थितानां च करणादीनामष्टादशसहस्रमात्रो निक्षेपः कर्तव्यस्तद्यथा—अष्टादशसहस्रमात्राणां योगानां निक्षिप्तानामुपरि मनःकरणं मनःकरणं मनःकरणं वाक्करणं वाक्करणं वाक्करणं कायकरणं कायकरणं कायकरणं एवमेकैकं त्रीन् त्रीन् वारान् कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं याव-दष्टादशसहस्राणि पूर्णानि । तत उपरि आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाः पृथक् पृथक् एकैका संज्ञा नव नववारान् कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि[1] पूर्णानि । तत उपरि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि पञ्चैकैकं षट्त्रिंशद्वारान् षट्त्रिंशद्वारान् कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि सम्पूर्णानि भवन्ति । तत उपरि पृथिवीकायिकाप्कायिकवायुकायिकप्रत्येककायिकानन्तकायिकद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया दशैकैकमशीतिशतवारमशीतिशतवारं कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि पूर्णानि भवन्ति । तत उपरि क्षान्तिमार्दवार्जवलाघवतपःसंयमाकिंचन्यब्रह्मचर्यसत्यत्यागा दशैकैकं अष्टादशशतान्यष्टादशशतानि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावदष्टादशसहस्राणि पूर्णानि भवन्ति । तत एवं पिंडं प्रति एकैके निक्षिप्ते समःप्रस्तारो भवति । मनोवाक्काय एकः पिण्डः त्रीणि करणान्यपरः पिंडस्त्रिकभावेन तथा संज्ञा नव नव भूत्वा परः पिण्डः

गाथार्थ—प्रथम शील के प्रमाण को क्रम से निक्षिप्त करके पुनः ऊपर में स्थित शील के पिण्ड के प्रति एक-एक को निक्षिप्त करने पर प्रस्तार होता है ॥१०३८॥

आचारवृत्ति—पहले मन-वचन-काय इन तीनों के पिंड अर्थात् समूह को अठारह हज़ार शील प्रमाण अर्थात् उतनी बार क्रम से फैला करके अर्थात् मन वचन-काय, मन-वचन काय, इस प्रकार से अठारह हज़ार शील के पूर्ण होने तक इन एक-एक का निक्षेपण करना चाहिए । तथा निक्षिप्त किये हुए इन अठारह हज़ार प्रमाण बार इन योगों के ऊपर मनःकरण, मनःकरण, मनः-करण वाक्करण, वाक्करण, वाक्करण कायकरण, कायकरण, कायकरण इस प्रकार से एक-एक करण को तीन-तीन बार करके तब तक फैलाना चाहिए जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारों संज्ञाओं में से एक-एक को पृथक् पृथक् नव-नव बार करके तब तक फैलाना चाहिए जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों में से एक-एक को छत्तीस-छत्तीस बार तब तक विरलित करना चाहिए जब तक अठारह हज़ार भेद सम्पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर पृथिवीकायिक जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक प्रत्येककायिक, अनन्तकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरि-न्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन दश में प्रत्येक को एक सौ अस्सी, एक सौ अस्सी करके तब तक विरलन करना चाहिए कि जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इसके ऊपर क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, सयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग इन दश में से एक-एक को अठारह सौ-अठारह सौ करके तब तक फैलाना चाहिए कि जब तक अठारह हज़ार पूर्ण होते हैं । इस प्रकार से पिण्ड के प्रति एक-एक का निक्षेपण करने पर सम प्रस्तार होता है ।

---

१. सम्पूर्णानि भवन्ति ।

तथेन्द्रियाणि षट्त्रिंशद्भूत्वा परः पिण्डस्तथा पृथिव्यादयो दश अशीतिशतानि कृत्वा परः पिण्डस्तथा क्षान्त्यादयो दशाष्टादशशतान्यष्टादशशतानि भूत्वा परः पिण्डः, एवं पिण्डं प्रति पिण्डं प्रति एकैके निक्षिप्ते समप्रस्तारो भवति इति। तथा प्राणातिपाताद्येकविंशतिः पुनः पुनस्तावत् स्थाप्या यावच्चतुरशीतिलक्षप्रमाणं पूर्णं भवति, तत उपर्यतिक्रमव्यतिक्रमातीचारानाचाराः प्रत्येकमेकविंशतिप्रमाणं कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षप्रमाणं सम्पूर्णं स्यात्, तत उपरि पृथिव्यादिविराधनाविकल्पः शतमात्रः प्रत्येकं चतुरशीतिप्रमाणं कृत्वा तावत् स्थाप्यं यावच्चतुरशीतिलक्षमात्रं, तत उपरि स्त्रीसंसर्गादिविराधना दश प्रत्येकं चतुरशीतिशतानि चतुरशीतिशतानि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षप्रमाणं सम्पूर्णं, चतुरशीतिसहस्राणि तत उपरि आकम्पितादयो दोषा दश प्रत्येकं चतुरशीतिसहस्राणि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षमात्रं स्यात्तत उपरि आलोचनादिशुद्धयो दश प्रत्येकमष्टलक्षाधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि अष्ट लक्षाधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि कृत्वा तावत्प्रस्तरणीयं यावच्चतुरशीतिलक्षमात्रं सम्पूर्णः स्यात्ततश्चतुरशीतिलक्षगुणगमननिमित्तः समः प्रस्तारः स्यादिति ॥१०३८॥

मन-वचन-काय एक पिण्ड है। तीन करण यह त्रिकभाव से अर्थात् तीन-तीन बार से एक पिण्ड है। संज्ञाएँ नव-नव होकर एक अन्य पिण्ड हैं। इन्द्रियाँ छत्तीस-छत्तीस होकर एक अन्य पिण्ड हो जाती हैं। दश पृथिवी आदि में एक-सौ अस्सी—एक सौ अस्सी होकर एक पिण्ड हो जाते हैं। तथा क्षमा आदि अठारह-सौ-अठारह सौ होकर अन्य पिण्ड हो जाते हैं। इस तरह पिण्ड-पिण्ड के प्रति एक-एक का निक्षेपण करने पर समप्रस्तार होता है। यह अठारह हजार भेद रूप शील का प्रस्तार हुआ। अब गुणों का प्रस्तार बताते हैं—

प्राणिहिंसा आदि इक्कीस को पुनः पुनः रखकर तब तक स्थापित करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख प्रमाण पूर्ण होते हैं। उसके ऊपर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार और अनाचार—प्रत्येक को इक्कीस-इक्कीस बार करके तब तक फैलाना चाहिए जब तक चौरासी लाख प्रमाण सम्पूर्ण होते हैं। उसके ऊपर पृथिवी आदि विराधना के सौ भेदों को, प्रत्येक को चौरासी-चौरासी प्रमाण करके तब तक स्थापित करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख होते हैं। इसके ऊपर स्त्रीसंसर्ग आदि विराधनाओं में से प्रत्येक को चौरासी सौ-चौरासी सौ करके तब तक विरलन करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख पूर्ण होते हैं। इसके ऊपर आकम्पित आदि दश दोषों को प्रत्येक को चौरासी हजार चौरासी हजार करके तब तक फैलाना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख प्रमाण न हो जाएँ। इसके ऊपर आलोचना आदि दश प्रायश्चित्त भेदों को, प्रत्येक को आठ लाख चालीस हजार-आठ लाख चालीस हजार करके तब तक विरलन विधि करना चाहिए कि जब तक चौरासी लाख प्रमाण सम्पूर्ण न हो जावें। इस प्रकार से चौरासी लाख गुणों को प्राप्त करने में निमित्त यह समप्रस्तार होता है।

विशेषार्थ—समप्रस्तार को समझने की सरल विधि यह भी है: यथा—प्रथम योग नामक शील का प्रमाण ३ है, उसका विरलन कर क्रम से १ १ १ इस तरह निक्षेपण करना। इसके ऊपर करण शील के प्रमाण ३ को प्रत्येक एक के ऊपर $\begin{matrix} ३ & ३ & ३ \\ १ & १ & १ \end{matrix}$ इस तरह निक्षेपण करना। ऐसा करने के अनन्तर परस्पर में इन करणों को जोड़ देने पर ९ होते हैं। इन ९ को भी पूर्व की तरह विरलन कर एक-एक करके, ९ जगह रखना तथा प्रत्येक एक के ऊपर आगे के संज्ञा शील

एवं समप्रस्तारं निरूप्य विषमप्रस्तारस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

णिक्खित्तु बिदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि बिदियमेक्केक्कं ।
पिंडं पडि णिक्खित्ते तहेव सेसावि कादव्वा ॥१०३९॥

णिक्खित्तु—निक्षिप्य प्रस्तीर्य, बिदियमेत्तं—द्वितीयमात्रं, पढमं—प्रथमं मनोवाक्कायत्रिकं द्वितीयत्रिकमात्रं त्रीन् वारान् संस्थाप्य ततस्तस्योपरि तस्मादूर्ध्वं, बिदियं—द्वितीयं करणत्रिकं एकैकं प्रत्येकं द्वितीयप्रमाणं त्रीन् वारान् कृत्वा तावत् स्थाप्यं यावत्प्रथमप्रस्तारप्रमाणं भवति तत एतत्सर्वं प्रथमं भवति, संज्ञाचतुष्कं द्वितीयं भवति। संज्ञामात्रं प्रथमं संस्थाप्य मनोवचनकायपिंड नवप्रमाणं चतुःसंज्ञामात्रं संस्थाप्य तस्योपरि एकैका संज्ञा नवनववारान् संस्थाप्य तत एतत्सर्वं प्रथमपिण्डो भवति, पञ्चेन्द्रियाणि द्वितीयपिण्डो भवति, एवं प्रथमपिण्डं षट्त्रिंशत्प्रमाणं पंचवारान् संस्थाप्य तस्योपर्येकैकमिन्द्रियं षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत्प्रमाणं स्थापनीयं तत एतत्सर्वं प्रथमः पिण्डः स्यात्। भूम्यादयो दश द्वितीयः पिण्डः प्रथमपिण्डम् अशीतिशतप्रमाणं दशवारान् संस्थाप्य तस्योपरि

का प्रमाण चार-चार रखने $\begin{matrix} ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ & ४ \\ १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ & १ \end{matrix}$ से पूर्व की तरह इन्हें परस्पर जोड़ने पर छत्तीस शील होते हैं। पुनः इन ३६ को एक-एक विरलन करके छत्तीस जगह रखना और उन प्रत्येक एक के ऊपर इन्द्रिय शील का प्रमाण पाँच-पाँच रखना, पुनः उन सबको जोड़ देने पर एक सौ अस्सी हो जाते हैं। इन एक सौ अस्सी को एक-एक करके विरलन करके पुनः उन प्रत्येक एक के ऊपर पृथ्वी आदि शील के प्रमाण दश को रखकर जोड़ देने पर अठारह सौ हो जाते हैं। इन अठारह सौ को एक-एक कर विरलन करके इन प्रत्येक एक के ऊपर क्षमा आदि शील के प्रमाण दश को रखकर परस्पर जोड़ देने पर अठारह हजार शील के भेद हो जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व के समस्त शील आगे के शील के प्रत्येक भेद के साथ पाये जाते हैं। ऐसे ही चौरासी लाख गुणों के विषय में प्रस्तार की सरल प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार समप्रस्तार का निरूपण करके अब विषमप्रस्तार का स्वरूप निरूपित करते हैं।

गाथार्थ—*द्वितीय शील के प्रमाणमात्र प्रथम शील के प्रमाण को निक्षिप्त करके उसके ऊपर एक-एक पिण्ड के प्रति द्वितीय आदि शील प्रमाण को निक्षिप्त करना चाहिए। उसी प्रकार से शेष शील के प्रमाणों को भी करना चाहिए ॥ १०३९॥*

आचारवृत्ति—द्वितीय शील का प्रमाण तीन है। उतनी जगह प्रथम शील के प्रमाण त्रिक को स्थापित करके अर्थात् तीन बार स्थापित करके उसके बाद जो दूसरा करणत्रिक है उस प्रत्येक एक-एक को द्वितीय प्रमाण—तीन बार करके प्रथमप्रस्तार का प्रमाण होवे तक स्थापित करना चाहिए। ऐसा करने से प्रथम प्रस्तार का प्रमाण होता है। चार संज्ञा का द्वितीय पिण्ड करना चाहिए। संज्ञाप्रमाण प्रथम की स्थापना करके अर्थात् नव प्रमाण मन-वचन-काय के प्रथम पिण्ड को चार संज्ञामात्र स्थापन करके उसके ऊपर एक-एक संज्ञा नव-नव बार स्थापित करने से यह सब प्रथम पिण्ड होता है। पुनः पंचेन्द्रिय द्वितीय पिण्ड है। प्रथम पिण्ड जो छत्तीस प्रमाण हुआ है उसे पिण्डरूप से पाँच बार स्थापित करके, उसके ऊपर एक-एक इन्द्रिय को छत्तीस छत्तीस प्रमाण स्थापित करें। ऐसा करने से यह सब प्रथम पिण्ड होता है। पुनः भूमि आदि

पृथिव्यादिकमेकैकम् अशीतिशतवारम् अशीतिशतवारं संस्थापनीयं तत एतावान् प्रथमः पिण्डः, क्षान्त्यादयो दश द्वितीयः पिण्डः, एवं प्रथमपिण्डम् अष्टादशशतमात्रं दशसु स्थानेषु संस्थाप्य तस्योपरि क्षान्त्यादिकमेकैकम् अष्टादशशतवारम् अष्टादशशतवारं कृत्वा संस्थापनीयं ततो विषमः प्रस्तारः सम्पूर्णः स्थाप्यपिण्डं प्रति निक्षिप्ते सत्येवं तथैव विशेषा अपि विकल्पाः कर्तव्याः। गुणप्रस्तारोऽपि विषमोऽनेनैव प्रकारेण साध्यत इति ॥१०२९॥

दश द्वितीय पिण्ड होता है। वह प्रथम पिण्ड जो एक-सौ-अस्सी प्रमाण हुआ है उसे दश बार स्थापित करके उसके ऊपर पृथ्वी आदि एक-एक को एक-सौ-अस्सी एक-सौ-अस्सी बार स्थापित करना चाहिए। इसके बाद यह सब प्रथम पिण्ड होता है। पुनः क्षमा आदि दश द्वितीय पिण्ड हैं। इसके पहले प्रथम पिण्ड जो अठारह सौ हुआ है उसे दश स्थानों में रखकर उसके ऊपर क्षमा आदि एक-एक को अठारह सौ-अठारह सौ बार करके स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार से विषम प्रस्तार सम्पूर्ण होता है। इसी तरह से अन्य भेदों को भी करना चाहिए अर्थात् गुणों के विषम प्रस्तार का क्रम भी इसी प्रकार से सिद्ध करना चाहिए।

विशेषार्थ—इस विषमप्रस्तार के निकालने की सरल प्रक्रिया अन्यत्र ग्रन्थों[1] में इस प्रकार है। यथा—दूसरे शील का प्रमाण तीन है इसलिए तीन स्थान पर प्रथम शील के प्रमाण तीन को पिण्डरूप से स्थापित करके अर्थात् प्रत्येक योग पिण्ड के प्रति एक-एक करण का

१	१	१
३	३	३

इस तरह स्थापन करना। इन्हें परस्पर जोड़ने से ९ होते हैं। पुनः इन नव को भी प्रथम समझकर, इनसे आगे के संज्ञा शील का प्रमाण चार है, इसलिए नव के पिण्ड को चार जगह रखकर, बाद में प्रत्येक पिण्ड पर क्रम से एक-एक संज्ञा का स्थापन करना

१	१	१	१
९	९	९	९

। इन चार जगह रखे हुए नव-नव को परस्पर में जोड़ने पर शीलों की संख्या छत्तीस होती है। पुनः इन छत्तीस को भी प्रथम समझकर इनसे आगे के इन्द्रियशील का प्रमाण पाँच है, इसलिए छत्तीस के पिण्ड को पाँच स्थान पर रखकर पीछे प्रत्येक पिण्ड पर क्रम से एक-एक इन्द्रिय की स्थापना करना

१	१	१	१	१
३६	३६	३६	३६	३६

। पुनः इन छत्तीस को परस्पर जोड़ देने से एक सौ अस्सी संख्या आ जाती है। इन एक सौ अस्सी को अगले शील के भंग पृथ्वी आदि के दश के बराबर अर्थात् दश जगह स्थापन करके प्रत्येक के ऊपर क्रम से एक-एक पृथ्वी आदि की स्थापना करना

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१८०	१८०	१८०	१८०	१८०	१८०	१८०	१८०	१८०	१८०

। पुनः इन्हें परस्पर जोड़ देने पर अठारह सौ प्रमाण संख्या हो जाती है। पुनः इनको प्रथम समझकर अगले क्षमादि दश के बराबर पिण्ड रूप से रखना,

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००

पुनः इनको परस्पर में जोड़ने पर १८००० हो जाते हैं। इस तरह से यह विषम प्रस्तार को समझने की सरल प्रक्रिया है।

---

१ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३८।

अक्षसंक्रमस्वरूपेण शीलगुणान् प्रतिपादयन्नाह—

पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि बिदियक्खो ।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥१०४०॥

गुप्तिकरणसंज्ञेन्द्रियकायधर्मानुपर्युपरि संस्थाप्य ततः पूर्वोच्चारणक्रमेणाक्षसंक्रमः कार्यः। प्रथमाक्षेऽन्तमवसानं गते प्राप्ते ततोऽन्तं प्राप्यादिगतेऽक्षे संक्रामति द्वितीयोऽक्षः करणस्थस्ततो द्वावप्यन्तं गत्वा आदिं प्राप्तयोः संक्रामति तृतीयोऽक्षस्तेषु त्रिष्वपि अन्तं प्राप्यादिं गतेषु संक्रामति तृतीयोऽक्षस्तेष्वन्तं प्राप्यादिंगतेषु संक्रामति चतुर्थोऽक्षस्ततस्तेषु चतुर्ष्वप्येष्वन्तं प्राप्यादिंगतेषु संक्रामति पंचमोऽक्षस्ततस्तेषु पंचस्वप्येष्वन्तं प्राप्यादिंगतेषु संक्रामति षष्ठोऽक्षः एवं तावत्संक्रमणं कर्तव्यं यावत्सर्वेऽक्षा अन्ते व्यवस्थिताः स्युस्ततोऽष्टादशशीलसहस्राणि सम्पूर्णान्यागच्छन्तीत्येवं गुणागमननिमित्तमप्यक्षसंक्रमः कार्योऽव्याक्षिप्तचेतसेति ॥१०४०॥

उच्चारणारूपाणि दृष्टानि अक्षा नष्टास्तत उच्चारणारूपद्वारेणाक्षान् साधयन्नाह—

सगमाणेहिं विहत्ते सेसं लक्खित्तु संखिवे रूवं ।
लक्खिज्जंतं सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥१०४१॥

सगमाणेहिं—स्वकीयप्रमाणैर्योगादिभिर्यत्राक्षो निरूप्यते तानि स्वकप्रमाणानि तैः विहत्ते—विभक्ते

अक्षसंक्रम के स्वरूप से शील और गुणों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम अक्ष के अन्त को प्राप्त होकर पुनः आदि स्थान को प्राप्त हो जाने पर द्वितीय अक्ष सक्रमण करता है। और जब दोनों ही अक्ष अन्त को प्राप्त होकर आदि स्थान पर आ जाते हैं तब तृतीय अक्ष सक्रमण करता है॥ ०४०॥

आचारवृत्ति—गुप्ति, करण, सज्ञा, इन्द्रियाँ, काय और धर्म इनको ऊपर-ऊपर स्थापित करके पुनः पूर्वोच्चारण के क्रम से अक्ष का सक्रम अर्थात् परिवर्तन करना चाहिए। पहला अक्ष मन-वचन-काय की गुप्तिरूप जब अन्त तक पहुँचकर पुनः आदि स्थान को प्राप्त हो जाता है तब दूसरा अक्ष अर्थात् करण परिवर्तन करता है। ये गुप्ति और करण दोनों ही अक्ष अन्त तक पहुँचकर पुनः जब आदि स्थान पर आ जाते हैं। तब तीसरा सज्ञा नाम का अक्ष संक्रमण करता है। ये तीनों ही अक्ष जब अन्त को प्राप्त होकर आदि स्थान में आ जाते हैं तब चतुर्थ इन्द्रिय अक्ष परिवर्तन करता है। ये चारों ही अक्ष जब अन्त तक पहुँचकर पुनः आदि स्थान पर आ जाते हैं तब पाँचवाँ काय नाम का अक्ष संक्रमण करता है। इन पाँचों ही अक्षों के अन्त तक पहुँचकर आदि स्थान पर आ जाने पर छठे अक्ष का तब तक परिवर्तन करना चाहिए कि जब तक सभी अक्ष अन्त में व्यवस्थित न हो जाएँ। तब इस विधान से अठारह हजार शील सम्पूर्ण होते हैं। उसी तरह से गुणों को लाने के लिए भी स्थिरचित्त होकर अक्ष संक्रमण करना चाहिए।

उच्चारण रूप तो देखे गये किन्तु अक्ष नष्ट हैं अर्थात् भंग मालूम नहीं हैं अतः उच्चारण के द्वारा भंगों को साधते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—अपने प्रमाणों के द्वारा भाग देने पर शेष को देखकर एक रूप का क्षेपण करे और शून्य के आने पर अक्ष को अन्तिम समझे। ऐसा ही सर्वत्र करना चाहिए ॥१०४१॥

आचारवृत्ति—जहाँ पर स्वयं प्रमाणभूत योग या करण आदि द्वारा भंग-निरूपण

विभागे हृते सति, शेषं—शेषं, भ्रमित्वा—भ्रमयित्वा, संक्षिप्ते—संक्षिप्तेरूपं च भागे हृते यल्लब्धं तस्मि-न्नप्यस्यानुवृत्त्याच्छेषमात्रे चाक्षः स्थितः शेषे पुनः शून्ये शून्ये, तस्यावसानं—अवसानम् अक्षः, अन्तम् अन्ते व्यवस्थितमिति, तु शब्देन सर्वत्रेष्टसमुच्चयः, एवं सर्वत्र शीलेषु च कर्तव्यमिति, यान्युच्चारणरूपाणि लब्धानि तेषु स्वकप्रमाणैस्त्रिभिर्भागे हृते यल्लब्धं भ्रमित्वाऽक्षः यावन्ति शेषरूपाणि तावन्मात्रेऽक्षः स्थितः यदि पुनर्न किंचिच्छेषरूपं शून्यं तदान्तेऽक्षो द्रष्टव्य इति एवं करणैः संज्ञाभिरिन्द्रियैर्भूम्यादिभिश्च क्षान्त्यादिभिश्च लब्धे लब्धे भागो हार्य इति द्विसहस्रे अशीत्यधिके संस्थाप्य त्रिभिर्योगैर्भागे हृते त्रिनवत्यधिकानि षट्शतानि लब्धानि भवन्ति, एकं च शेषरूपं तत्र लब्धमात्रं भ्रमित्वाऽक्ष आद्यो व्यवस्थितस्ततो लब्धे रूपं प्रक्षिप्य भागे हृते करणैर्द्वे शते एकत्रिंशदधिके संजाते रूपं च शेषभूतं तत्रैकत्रिंशदुत्तरे द्वे शते भ्रमित्वा अक्ष आद्यो व्यवस्थितस्ततः संज्ञाभिश्चतसृभिः रूपाधिके लब्धे भागे हृते अष्टापञ्चाशल्लब्धा न किंचिच्छेषभूतं तत्राष्टापञ्चाशद्वारान् भ्रमित्वाऽक्षोऽन्ते व्यवस्थितस्ततो लब्धे पञ्चभिरिन्द्रियैर्भागे हृते एकादश रूपाणि लब्धानि शेषभूतानि च त्रीणि रूपाणि तत्रैकादशवारान् भ्रमित्वाऽक्षस्तृतीयरूपे व्यवस्थितस्ततो लब्धे रूपाधिके दशभिः पृथिव्यादि-

---

किया जाता है वे योग आदि ही स्वकप्रमाण कहलाते हैं। उन स्वक-प्रमाणों से अर्थात् योग आदि की संख्या द्वारा भाग देने पर जो शेष मात्र में भंग रहता है तथा जो लब्ध आता है उसमें एक अंक मिलाएँ क्योंकि अन्य हीनाधिक भेद श्रुत में पाया नहीं गया है तथा शेष में शून्य के उपलब्ध होने पर भंग अन्त में व्यवस्थित है, ऐसा समझना। इसी प्रकार से सर्वत्र शीलों के भंग को लाने में करना चाहिए।

जो उच्चारण रूप प्राप्त हुए हैं उनमें स्वकप्रमाण तीन से भाग देने पर जो प्राप्त हुआ उतने मात्र अक्ष-भंग का भ्रमण कर जितने शेष रूप हैं उतने मात्र में अक्ष स्थित है, यदि पुनः शेष कुछ नहीं आया है किन्तु शून्य आया है तब अन्तिम अक्ष-भंग समझना। इस प्रकार से कारण, संज्ञा, इन्द्रियाँ और पृथ्वी आदि द्वारा भाग देने पर जो जो लब्ध आता है उसका भी ऊपर के समान अक्ष-भंग समझना चाहिए। जैसे किसी ने पूछा कि दो हज़ार अस्सीवाँ भंग कौन-सा है? उस समय २०८० संख्या स्थापित कर ३ योग से भाग देने पर ६९३ लब्ध होते हैं और १ शेष रूप है तब लब्धमात्र भंग भ्रमण कर पहला भंग आता है जो कि मनोगुप्ति है। अर्थात् शेष में एक आने से मनोगुप्ति ग्रहण करना। फिर लब्ध में एक अंक मिलाकर करणों के द्वारा भाग देने पर दो सौ इकतीस ६९४÷३=२३१ लब्ध आये और शेष १ रहा, अतः इसमें भी दो-सौ-इकतीस बार भ्रमण कर आदि में अक्ष व्यवस्थित होता है अतः मनः-करणमुक्त प्रथम करण ग्रहण करना। इसके अनन्तर २३१ में एक अंक मिलाकर चार संज्ञाओं द्वारा भाग देने पर (२३२÷४) ५८ लब्ध आये और शेष में कुछ नहीं आया, अतः अठावन बार भ्रमण कर अक्ष अन्त में आता है अर्थात् अन्तिम 'परिग्रह संज्ञा से विरत' समझना चाहिए। पुनः लब्ध संख्या ५८ में एक अंक बिना मिलाए ही ५ इन्द्रियों से भाग देने पर लब्ध ११ आये, शेष ३ आये। उसमें ग्यारह बार भ्रमण कर तृतीय अक्ष रूप घ्राणेन्द्रिय में व्यवस्थित होता है, अतः 'घ्राणेन्द्रिय संवृत' समझना। पुनः लब्ध में १ अंक मिलाकर पृथिवी आदि १० से भाग देने पर (१२÷१०) लब्ध १ आया और शेष में २ संख्या आयी, उसमें एक बार भ्रमण कर अक्ष द्वितीय रूप में व्यवस्थित है अर्थात् 'जलकायिकसंयमो' समझना। पुनः १ लब्ध में १ अंक मिलाकर क्षमा आदि १० से भाग देने पर कुछ लब्ध नहीं आया अतः वह द्वितीय अक्ष रूप में

भिन्नेऽपि हृते रूपं लब्धं द्वे रूपे च शेषभूते तत्रैकधारं प्रक्षिप्याक्षो द्वितीयरूपे व्यवस्थितस्ततो रूपे रूपं प्रक्षिप्य क्षान्त्यादिभिर्भक्ते न हृते किञ्चिल्लब्धं द्वितीयरूपे चाक्षः स्थितः, एवं सर्वत्र नष्टोऽक्ष आनयितव्योऽव्यामोहेन । यथा शीलेष्वेवं गुणेष्वपि द्रष्टव्य इति ॥१०४१॥

पुनरक्षद्वारेण रूपाणि नष्टान्यानयन्नाह—

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंति जावंत ॥१०४२॥

संठाविदूण—संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा, रूवं—रूपं, उवरीदो—उपरित आरभ्य, संगुणित्तु—संगुण्य, सगमाणे—स्वकप्रमाणैः, अवणिज्ज—अपनीय निराकरणीयं, अणंकिदयं—अनंकितं रूपं, कुज्जा—कुर्यात्, पढमंति जावंत—प्रथममारभ्यान्तकं यावद् रूपं संस्थाप्य दशभी रूपैर्गुणनीयम् । अष्टरूपाण्यनंकितानि परिहरणीयानि ततो द्वे रूपे शेषभूते ततो दशभी रूपैर्गुणयितव्ये ततो दशभी रूपैर्गुणिते विंशतिरूपाणि भवन्ति

स्थित रहा अर्थात् अक्ष दो होने से वह 'मार्दव-धर्म-संयुक्त' है ऐसा समझना। इस प्रकार से सर्वत्र ही व्यामोह छोड़कर नष्ट अक्ष निकालना चाहिए। जैसे शीलों में यह विधि है ऐसे ही गुणों में भी समझना चाहिए।

विशेषार्थ—संख्या को रखकर भेद निकालना नष्ट कहलाता है और भेद को रखकर संख्या निकालने को समुद्दिष्ट कहते हैं। यहाँ पर नष्ट को निकालने की विधि बतलायी है। जिस किसी ने शील का जो भी भंग पूछा हो, उतनी संख्या रखकर उसमें क्रम से प्रथम शील के प्रमाण का भाग दें। भाग देने पर जो शेष रहे, उसे अक्षस्थान समझकर जो लब्ध आवे उसमें एक मिलाकर दूसरे शील के प्रमाण से भाग देना चाहिए। और भाग देने पर जो शेष रहे उसे अक्षस्थान समझना चाहिए। किन्तु शेष स्थान में यदि शून्य हो तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिए। इसी का उदाहरण २०८० संख्या रखकर दिया गया है जो कि इस प्रकार आया है—मनोगुप्तिधारक, मनःकरणमुक्त, परिग्रहसंज्ञा-विरत, घ्राणेन्द्रियसंवृत, जलकायसंयमरत और मार्दवधर्मयुक्त धीर मुनि होते हैं।

पुनः अक्ष के द्वारा नष्ट रूप को निकालने की विधि कहते हैं—

गाथार्थ—एक अंक को स्थापित करके, ऊपर के अपने शील प्रमाण से गुणा करके अनंकित को घटा देना चाहिए। प्रथम से लेकर अन्तपर्यन्त आने तक यह विधि करे ॥१०४२॥

आचारवृत्ति—सम्यक् प्रकार से एक अंक स्थापित करके, ऊपर से आरम्भ करके, अपने शील प्रमाणों से गुणा कर, उसमें से अनंकित संख्या को घटा देना चाहिए। इस प्रकार प्रथम से आरम्भ करके अन्त तक उतने-उतने अंकों को स्थापित करके यह विधि करना चाहिए। अर्थात्, जैसे ऊपर संख्या रखकर आलाप निकाला है, ऐसे ही यहाँ पर आलापों का उच्चारण करके संख्या निकालनी है, अतः ऊपर का ही उच्चारण लेकर किसी ने पूछा कि—'मनोगुप्ति-धारक, मनःकरणमुक्त, परिग्रहसंज्ञाविरत, घ्राणेन्द्रियसंवृत, जलकायसंयमरत और मार्दव-धर्मयुक्त' शील का भंग कौन-सा है तो उसे ही निकालने की विधि बतलाते हैं।

अंक १ रखकर उसे ऊपर के शील के भेदों से अर्थात् दश धर्म से गुणा करना

ततोऽष्टरूपाणि निराकरणीयानि ततो द्वादशरूपाणि भवन्ति पंचभिर्गुणितानि षष्टिरूपाणि भवन्ति द्वे रूपेऽनंकिते ते निराकृत्याष्टापंचाशद्रूपाणि भवन्ति तानि चतुर्भी रूपैर्गुणितानि द्वात्रिंशदधिके द्वे शते भवतः, अनंकितं न किंचिच्छिद्यते ततस्तानि करणरूपाणि त्रिभिर्गुणितानि षण्णवत्यधिकानि षट्शतानि भवन्ति अनंकिते द्वे रूपे ते निराकृत्य चतुर्णवत्यधिकानि षट्शतानि भवन्ति ततस्तानि त्रिभी रूपैर्गुणितानि द्वे सहस्रे द्व्यशीत्यधिके भवतस्ततो द्वे रूपेऽनंकिते निराकृत्य शेषाण्यशीत्यग्ररूपाणि भवन्त्येवं सर्वत्र शीलेषु गुणेषु च द्रष्टव्यमिति● ॥१०४२॥

चाहिए (१×१०) इस प्रकार गुणने पर १० आये अतः आलाप में मार्दवधर्म है तथा उसके आगे के आठ भेद अनंकित हैं, उन्हें इस लब्ध संख्या से घटा देना चाहिए, तब जो '२' अंक बचा। इसे भी 'जलकाय' से गुणा करने से २० अंक (२×१०) हुए। इनमें 'जलकाय' के आगे के आठ अंक, जो अनंकित हैं, घटा दें तब बारह शेष रहे (२०—८=१२)। पुनः इन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर साठ (१२×५=६०) आये, इनमें से भी 'घ्राणेन्द्रिय' से ऊपर का दो इन्द्रियाँ अनंकित हैं। उन्हें घटा दें तब अट्ठावन (६०—२) होते हैं। इन्हें भी चार संज्ञाओं से गुणा करने पर दो सौ बत्तीस (५८×४=२३२) हुए। यह परिग्रह संज्ञा अन्तिम होने से अनंकित है अतः कुछ नहीं घटा। पुनः इस संख्या में तीन करण से गुणा करने पर छह सौ छ्यानबे (२३२×३=६९६) हुए। यहाँ पर 'मनःकरण' से आगे के दो रूप अनंकित होने से उन्हें घटाने पर ६९४ हुए। उन्हें आगे के तीन योगों से गुणा करने पर दो हजार ब्यासी (६९४×३=२०८२) हुए। इसमें से 'मनोगुप्ति' के आगे के अनंकित दो को घटाने से दो हजार-अस्सी होते हैं। अतः पूर्व प्रश्न के उत्तर में इसे २०८० वाँ भंग कहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र शील और गुणों में समझना चाहिए।

● अष्टादशशीलसहस्राणां समप्रस्तारापेक्षया यंत्रमिदम्—

क्षमा १	मार्दव २	आर्जव ३	शौच ४	सत्य ५	संयम ६	तप ७	त्याग ८	आकिंचन्य ९	ब्रह्मचर्य १०
पृथ्वी ०	अप् १०	तेज २०	वायु ३०	प्रत्येक ४०	साधारण ५०	द्वीन्द्रिय ६०	त्रीन्द्रिय ७०	चतु० ८०	पंचेन्द्रिय ९०
स्पर्शन ०	रसना १००	घ्राण २००	चक्षु ३००	श्रोत्र ४००					
आहार ०	भय ५००	मैथुन १०००	परिग्रह १५००						
मनः क० ०	वाक्क० २०००	कायक० ४०००							
मनोगु० ०	वाग्गु० ६०००	कायगु० १२०००							

(अगले पृष्ठ पर भी देखें)

विशेषार्थ—शील के अठारह हजार भेद तीन अन्य प्रकारों से भी किये जासकते हैं : (१) विषयाभिलाषा आदि १० अर्थात् विषयाभिलाषा, वस्तिमोक्ष, प्रणीतरससेवन, संसक्त-द्रव्यसेवन, शरीरांगोपांगावलोकन, प्रेमि-सत्कार-पुरस्कार, शरीरसंस्कार, अतीतभोगस्मरण, अनागतभोगाकांक्षा और इष्टविषयसेवन। चिन्ता आदि १० अर्थात् चिन्ता, दर्शनेच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, आहार-अरुचि, मूर्च्छा, उन्माद, जीवन-सन्देह और मरण। इन्द्रिय ५, योग ३, कृत-कारितअनुमोदना ३, जागृत और स्वप्न ये २, और चेतन-अचेतन ये २ इन सबको गुणित करने पर अठारह हजार (१०×१०×५×३×३×२×२=१८०००) हो जाते हैं। इन दोषों से रहित १८००० शील होते हैं।

(२) तीन प्रकार की स्त्री (देवी, मानुषी, तिरश्वी) ३, योग ३, कृत-कारित-अनुमोदना ३, संज्ञाएँ ४, इन्द्रिय १० (भावेन्द्रिय ५, द्रव्येन्द्रिय ५) तथा कषाय १६—इन सबको गुणा करने पर १७२८० भेद (३×३×३×४×१०×१६) होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी ७२० भेद जोड़ दें, यथा, अचेतन स्त्री (काष्ठ, पाषाण, चित्र) ३, योग (मन और काय) २, कृतादि ३ और कषाय ४ तथा इन्द्रिय-भेद १० से गुणा करने पर (३×२×३×४×१०) ७२० होते हैं। इस प्रकार १७२८०+७२०=१८००० भेद हुए।

(३) स्त्री ४, योग ३, कृतादि ३, इन्द्रिय ५, शृंगार रस के भेद १०, काय-चेष्टा के भेद १० इनके परस्पर गुणित होने से (४×३×३×५×१०×१०) १८००० भेद होते हैं। इन दोषों से रहित १८००० शील होते हैं।

विषमप्रस्तारापेक्षया यन्त्रमिदम्—

मनोगुप्ति १	वचनगुप्ति २	कायगुप्ति ३							
मनःकरण ०	वाक्करण ३	कायकरण ६							
आहार ०	भय ९	मैथुन १८	परिग्रह २७						
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४					
पृथ्वी ०	जल १८०	अग्नि ३६०	वायु ५४०	प्रत्येक वन. ७२०	अनंत वन. ९००	द्वीन्द्रिय १०८०	त्रीन्द्रिय १२६०	चतुरिन्द्रिय १४४०	पंचेन्द्रिय १६२०
क्षमा ०	मार्दव १८००	आर्जव ३६००	शौच ५४००	सत्य ७२००	संयम ९०००	तप १०८००	त्याग १२६००	आकिंचन्य १४४००	ब्रह्मचर्य १६२००

शील के इन तीनों[1] प्रकार के भेदों को निकालने के लिए क्रमश: संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट तथा समुद्दिष्ट इन पाँच प्रकारों को समझना चाहिए। इन शीलों के भी समप्रस्तार और विषमप्रस्तार की अपेक्षा गूढ यन्त्र बन जाते हैं :

यदि किसी ने पूछा कि १६४४३ वाँ भंग कौन-सा है तो इस संख्या में १० का भाग देने पर १६४४३÷१०=१६४४ लब्ध आये और शेष ३ रहने से, 'प्रणीतरससेवन' ग्रहण करना तथा लब्ध में एक मिलाकर पुन: १० से भाग देने पर १६४५÷१०=१६४ आये। यहाँ पर शेष में ५ होने से 'दाह' लेना तथा लब्ध में १ मिलाकर ५ से भाग देने से १६५÷५=३३ आवे। यहाँ शेष में शून्य होने 'कर्णेन्द्रिय' लेना। फिर लब्ध को ३ से भाग देने से ३३÷३=११ आये, यहाँ भी शेष में शून्य होने से 'काययोग' लेना। पुन: लब्ध में ३ का भाग देने पर (११÷३) यहाँ शेष में २ होने से 'कारित' लेना तथा लब्ध ३ में १ मिलाकर २ से भाग देने पर (४÷२=२) शेष में शून्य होने से 'स्वप्न' लेना। फिर २ लब्ध में २ का भाग देने पर शेष में शून्य होने से अन्तिम 'अचेतन' लेना। अब इसका उच्चारण ऐसा करना कि 'प्रणीतरससेवनत्यागी, दाहबाधारहित, कर्णेन्द्रिय-विषय-विरत, कायगुप्तियुक्त, कारित दोषरहित, स्वप्न दोषरहित एवं अचेतनस्त्रीविरक्त मुनि' १६४४३ वें भंग के धारक होते हैं।

अठारह हजार शीलों का विषम प्रस्तार की अपेक्षा यन्त्र—

विषयाभि. १	वस्तिमोक्ष २	प्रणीत ३	संसक्तद्र. से ४	शरीरांगो. ५	प्रेमि-स. ६	शरीर सं. ७	अतीत भो. ८	अना. भो. ९	इष्ट वि. १०
चिंता ०	दर्शनेच्छा १०	दीर्घ नि:. २०	ज्वर ३०	दाह ४०	आहार-रु. ५०	मूर्च्छा ६०	उन्माद ७०	जीवन सं. ८०	मरण ९०
स्पर्शन ०	रसना १००	घ्राण २००	चक्षु ३००	श्रोत्र ४००					
मनोयोग ०	वचनयोग ५००	काययोग १०००							
कृत ०	कारित १५००	अनुमोदना ३०००							
जागृत ०	स्वप्न ४५००								
चेतन ०	अचेतन ९०००								

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड (श्रीमद् रायचन्द्रग्रन्थमाला से प्रकाशित) गाथा ६५ के टिप्पण से।

शीलगुणानामुपसंहारगाथामाह—

एवं सीलगुणाणं सुत्तत्थवियप्पदो विजाणित्ता।
जो पालेदि विसुद्धो सो पावदि सव्वकल्लाणं ॥१०४३॥

एवमनेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन सीलगुणाणं—शीलगुणाननेकभेदभिन्नान्, सुत्तत्थवियप्पदो—सूत्रार्थ-विकल्पतः सूत्रार्थेन च, विजाणित्ता—विज्ञाय विशेषतो ज्ञात्वा, जो पालेदि—यः पालयति, विसुद्धो—विशुद्धः

ऐसे ही आलाप के पूछे जाने पर १ अंक रखकर ऊपर से शील के भेदों से गुणा करके अनंकित अंक घटाने से पूर्वोक्त विधि से अभीष्ट संख्या आ जाती है।

इसी प्रकार से चौरासी लाख उत्तर गुणों को निकालने के लिए संख्या, प्रस्तार, परि-वर्तन, नष्ट तथा समुद्दिष्ट इन पाँच प्रकारों को समझना चाहिए। उसके भंग और आलापों को समझने के लिए भी ये यन्त्र बनाये जा सकते हैं।

अब शील और गुणों का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से शील और गुणों को सूत्र और अर्थ के विकल्प से जानकर जो पालन करते हैं वे विशुद्ध होकर सर्व कल्याण प्राप्त करते हैं ॥१०४३॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सूत्र और अर्थ से अनेक भेद रूप शीलों और गुणों को जानकर

अठारह हजार शीलों का समप्रस्तार की अपेक्षा दूसरा यन्त्र—

चेतन १	अचेतन २								
जाग्रत ०	स्वप्न २								
कृत ०	कारित ४	अनुमोदन ८							
मन ०	वचन १२	काय २४							
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४					
चिंता ०	दर्शनेच्छा १८०	दीर्घ-नि. ३६०	ज्वर ५४०	दाह ७२०	आ. रुचि ९००	मूर्छा १०८०	उन्माद १२६०	जीवन सं. १४४०	मरण १-२०
विषयाभि. ०	वस्तिमोक्ष १८००	प्रणीतरस. ३६००	संसक्तद्रव्य ५४००	शरीरा.पा ७२००	प्रेमि स. ९०००	शरीर-सं. १०८००	अ. भोगस्मा १२६००	अ. भोगा. १४४००	इष्टविषय १६२००

सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सो लभदि—स प्राप्नोति सव्वकल्लाणं—सर्वकल्याणं, अनन्तचतुष्टयं पंचकल्याणानि वा । सूत्रार्थविकल्पतो[1] विज्ञाय शीलगुणान् यः पालयति स विशुद्धः सन् सर्वकल्याणानि प्राप्नोतीति ॥१०४३॥

इति श्रीमद्वट्टकेराचार्यवर्यप्रणीतमूलाचारे वसुनन्द्याचार्यप्रणीताचारवृत्त्याख्यटीकासहिते
शीलगुणव्यावर्णनामैकादशोऽधिकारः* ॥

उनका पालन करते हैं वे सर्व कर्मों से मुक्त होते हुए अनन्तचतुष्टय अथवा पंचकल्याणकों को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार वसुनन्दि-आचार्य प्रणीत 'आचारवृत्ति' नामक टीका सहित
श्रीमद् वट्टकेराचार्यवर्य प्रणीत मूलाचार में शीलगुण व्यावर्णन नामका
ग्यारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

---

१. क सूत्रार्थविकल्पैः ।

* अन्य पाण्डुलिपि में यह गाथा अधिक है—

सो मे तिहुवणमहिदो सिद्धो बुद्धो णिरंजणो णिच्चो ।
दिसदु वरणाणलाहं चारित्तसुद्धिं समाधिं च ॥

अर्थ—त्रिभुवनपूज्य, सर्वकर्मांजन से रहित, नित्य, शुद्ध और बुद्ध सिद्ध परमेष्ठी मुझे ज्ञानलाभ, चारित्रशुद्धि और समाधि प्रदान करें।

पर्याप्त्यधिकारः

शीलगुणाधिकारं व्याख्याय सर्वसिद्धान्तकरणचरणसमुच्चयस्वरूपं द्वादशाधिकारं पर्याप्त्याख्यं प्रतिपादयन् मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञामाह—

काऊण णमोक्कारं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
पज्जत्तीसंगहणी वोच्छामि जहाणुपुव्वीयं ॥१०४४॥

काऊण—कृत्वा। णमोक्कारं—नमस्कारं शुद्धमनोवाक्कायप्रणामम्। सिद्धाणं—सिद्धानां सर्वलेपविनिर्मुक्तानाम् अथवा सर्वसिद्धेभ्यः प्राप्ताशेषसुखेभ्यः। कम्मचक्कमुक्काणं—कर्मचक्रमुक्तानां चक्रमिव चक्रं कर्मनिमित्तं चतुर्गतिपरिभ्रमणं तेन परिहीनानां कर्मचक्रविप्रमुक्तेभ्यो वा संसारान्निर्गतेभ्यः। पज्जत्ती—पर्याप्ती आहारादिकारणसंपूर्णताः। संगहणी—सर्वाणि सिद्धान्तार्थप्रतिपादकानि सूत्राणि संगृह्णन्तीति संग्रहिण्यस्ताः संग्रहिणीर्गृहीताशेषतत्त्वार्थाः। अथवा पर्याप्तिसंग्रहं पर्याप्तिसंक्षेपं पर्याप्त्यधिकारं वा [1]सर्वनियोगमूलभूतम्। वोच्छामि—वक्ष्ये विवृणोमि। जहाणुपुव्वीयं—यथानुपूर्वं यथाक्रमेण सर्वज्ञोक्तागमानुसारेण, न स्वमनीषिकया कर्मचक्रविनिर्मुक्तेभ्यः[2] सिद्धेभ्यः सिद्धानां वा नमस्कारं कृत्वा यथानुपूर्वं पर्याप्तीः संग्रहिणीः वक्ष्य इति ॥१०४४॥

शीलगुण अधिकार का व्याख्यान करके सर्वसिद्धान्त और करणचरण के समुच्चयस्वरूप पर्याप्ति नाम के बारहवें अधिकार का प्रतिपादन करते हुए मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा-सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—कर्म समूह से रहित सिद्धों को नमस्कार कर मैं पर्याप्ति का यथाक्रम संग्रह करनेवाला अधिकार कहूँगा ॥१०४४॥

आचारवृत्ति—जो कर्मचक्र से मुक्त हो चुके हैं, अर्थात् चक्र के समान कर्म निमित्तक चतुर्गति के परिभ्रमण से छूट चुके हैं, ऐसे सर्वलेप से रहित अथवा अखिल सुख को प्राप्त सिद्धों को मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार कर मैं पर्याप्ति संग्रहणी कहूँगा। आहार आदि कारणों की सम्पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। सर्वसिद्धान्त के प्रतिपादक सूत्रों को जो सम्यक्प्रकार से ग्रहण करे वह संग्रहणी है। इस तरह मैं सर्वसिद्धान्त को संग्रह करनेवाले अधिकार का कथन करूँगा। अथवा पर्याप्तिसंग्रह—पर्याप्तिसंक्षेप या सर्वनियोगों के मूलभूत पर्याप्ति-अधिकार को मैं सर्वज्ञ कथित आगम के अनुसार कहूँगा, अपनी तुच्छ कल्पना से नहीं। इस कथन से ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ को सर्वज्ञदेव द्वारा कथित आगम से अनुबद्ध सिद्ध किया है।

---

१. क सर्वानुयोग। २. क विमुक्तेभ्यः।

प्रतिज्ञार्थं निर्वहन्नाचार्यः पर्याप्त्युपलक्षितस्याधिकारस्य [1]संग्रहसूचकगाथाद्वयमाह—

पज्जत्ती देहो वि य संठाणं कायइंदियाणं च ।
जोणी आउ पमाणं जोगो वेदो य लेस पविचारो ॥१०४५॥

उववादो उव्वट्टण[2] ठाणं च कुलं च अप्पबहुलो[3] य ।
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधो य सुत्तपदा ॥१०४६॥

पज्जत्ती—पर्याप्तय आहारादिकारणनिष्पत्तयः। देहो वि य—देहोऽपि चौदारिकवैक्रियिकाहारकवर्गणागतपुद्गलपिण्डः करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवैः परिणतो वा अपि चान्यदपि। संठाणं—संस्थानमवयवसन्निवेशविशेषः। केषामिति चेत् कायेन्द्रियाणां च कायानां च पृथिवीकायादिकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणां च कायानां संस्थानमिन्द्रियाणां च। जोणी—योनयो जीवोत्पत्तिस्थानानि। आऊ—आयुर्नरकादिगतिस्थितिकारणपुद्गलप्रचयः। पमाणं—प्रमाणमुत्सेधायामविस्ताराणामियत्ता, चायुषोऽन्येषां च देहादीनां वेदितव्यम्। जोगो—योगः कायवाङ्मनस्कर्म। वेदो य—वेदश्च मोहनीयकर्मविशेषः स्त्रीपुरुषाद्यभिलाषहेतुः। लेस—लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः। पविचारो—प्रवीचारः स्पर्शनेन्द्रियाद्यनुरागसेवा, उववादो—उपपादः अन्यस्मादागत्योत्पत्तिः। उव्वट्टण—उद्वर्तनं अन्यस्मादन्यत्रोत्पत्तिः। ठाणं—स्थानं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि।

प्रतिज्ञा के अर्थ का निर्वाह करते हुए आचार्यदेव पर्याप्ति से उपलक्षित अधिकार की संग्रहसूचक दो गाथाओं को कहते हैं--

गाथार्थ—पर्याप्ति, देह, काय-संस्थान, इन्द्रिय-संस्थान, योनि, आयु, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रवीचार, उपपाद, उद्वर्तन, स्थान, कुल, अल्पबहुत्व, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बीस सूत्रपद हैं ॥१०४५-१०४६॥

आचारवृत्ति—पर्याप्ति—आहार आदि कारणों की पूर्णता का होना पर्याप्ति है। देह—औदारिक, वैक्रियिक और आहार वर्गणारूप से आये हुए पुद्गलपिण्ड का नाम देह है अथवा हस्त पाद, सिर, ग्रीवा आदि अवयवों से परिणत हुए पुद्गलपिण्ड को देह कहते हैं। संस्थान—अवयवों की रचनाविशेष। यह पृथ्वीकाय आदि और कर्णेन्द्रिय आदि का होता है। और काय-संस्थान और इन्द्रिय-संस्थान से यह दो भेद रूप है। योनि—जीवों की उत्पत्ति के स्थान का नाम योनि है। आयु—नरक आदि गतियों में स्थिति के लिए कारणभूत पुद्गल-समूह को आयु कहते हैं। प्रमाण—ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई के माप को प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण आयु और अन्य शरीर आदि का समझना। योनि—काय, वचन और मन के कर्म का नाम योग है। वेद—मोहनीय कर्म के उदयविशेष से स्त्री-पुरुष आदि की अभिलाषा में हेतु वेद कहलाता है। लेश्या—कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है। प्रवीचार—स्पर्शन इन्द्रियादि से अनुराग पूर्वक कामसेवन करना प्रवीचार है। उपपाद—अन्यस्थान से आकर उत्पन्न होना उपपाद है। उद्वर्तन—यहाँ से आकर अन्यत्र जन्म लेना उद्वर्तन है। स्थान—जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा-

---

१. क संग्रहसूत्रसूचकगाथाद्वयमाह। २. क उव्वट्टणो। ३. क अप्पबहुगा।

सूत्रं च—कुलानि जातिभेदाः। अप्पबहुगो य—अल्पबहुत्वं च। पयडि—प्रकृतिर्ज्ञानावरणादिस्वरूपेण पुद्गल-परिणामः। ठिदि—स्थितिः पुद्गलानां कर्मस्वरूपमजहतामवस्थितिकालः, अणुभाग—अनुभागः कर्मणां रस-विशेषः। पदेस—प्रदेशः कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं, बंधो—बन्धः परवशी-करणं जीव'पुद्गलप्रदेशानुप्रदेशेन संश्लेषशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धश्चेति। च शब्दः समुच्चयार्थः। सुत्तपदा—सूत्रपदानि एतानि सूत्रपदानि, अथवैते 'सूत्रपदा एतानि विंशतिसूत्राणि षोडशसूत्राणि वा द्रष्टव्यानि भवन्तीति। यदि कायसंस्थानमिन्द्रियसंस्थानं च द्वे सूत्रे प्रकृत्यादि-भेदेन च बन्धस्य चत्वारि सूत्राणि तदा विंशतिसूत्राणां(णि) अथ कायेन्द्रियसंस्थानमेकं सूत्रं चतुर्णां बन्धोऽप्येकं सूत्रं तदा षोडश सूत्राणीति ॥१०४५-१०४६॥

प्रथमसूत्रसूचितपर्याप्तिसंख्यानामनिर्देशेनाह—

आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाण भासाए।
होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणक्खादा ॥१०४७॥

आहारे य—आहारस्याहारविषये वा कर्म नोकर्मस्वरूपेण पुद्गलानामादानमाहारस्तृप्तिकारण-पुद्गलप्रचयो वा, सरीरे—शरीरस्य' शरीरे औदारिकादिस्वरूपेण पुद्गलपरिणामः शरीरम्। तह—तथा।

स्थानों को स्थान शब्द से लिया है। कुल—जाति के भेद को कुल कहते हैं। अल्पबहुत्व—कम और अधिक का नाम अल्पबहुत्व है। प्रकृति—ज्ञानावरण आदि रूप से पुद्गल का परिणत होना प्रकृति है। स्थिति—कर्मस्वरूप को न छोड़ते हुए पुद्गलों के रहने का काल स्थिति है। अनुभाग—कर्मों का रसविशेष अनुभाग है। प्रदेश—कर्मभाव से परिणत पुद्गलस्कन्धों को परमाणु के परिणाम से निश्चित करना प्रदेश है। जो जीव को परवश करता है वह बन्ध है अर्थात् जीव और कर्म-प्रदेशों का परस्पर में अनुप्रवेश रूप से संश्लिष्ट हो जाना बन्ध है। यह 'बन्ध' शब्द प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों के साथ लगाना चाहिए, ऐसा यहाँ कहा है।

इस प्रकार से ये बीस सूत्र पद हैं जो कि इस अधिकार में कहे जायेंगे। अर्थात् यदि काय-संस्थान और इन्द्रिय-संस्थान इनको दो मानकर तथा बन्ध के चारों भेदों को पृथक् करें तब तो बीस सूत्रपद होते हैं और यदि काय-इन्द्रिय संस्थान को एकसूत्र तथा चारों बन्धों को भी बन्ध सामान्य से एक सूत्र गिनें तो सोलह सूत्र होते हैं, ऐसा समझना।

अब प्रथम सूत्र से सूचित पर्याप्ति की संख्या और नाम का निर्देश करते हैं—

गाथार्थ—आहार की, शरीर की, इन्द्रिय की, श्वासोच्छ्वास की, भाषा की और मन की पर्याप्तियाँ क्रम से होती हैं जो कि जिनेन्द्रदेव द्वारा कही गयी हैं ॥१०४७॥

आचारवृत्ति—आहार की पूर्णता का कारण अथवा आहार के विषय में कर्म और नो-कर्म रूप से परिणत हुए पुद्गलों को ग्रहण करना आहार है अथवा तृप्ति के लिए कारणभूत पुद्-गल समूह का नाम आहार है। शरीर की पूर्णता में कारण अथवा शरीर के विषय में औदारिक

१. क जीवपुद्गलप्रदेशाम्यान्यप्रदेशानुप्रदेशेन संश्लेषः। २. क सूत्रपाता। ३. शरीरविषयं।

इंदिय—इन्द्रियस्येन्द्रियविषये वा पुद्गलस्वरूपेण परिणामः [इन्द्रियविषये वा], आणपाण—आनप्राणयोरान-प्राणविषये वोच्छ्वासनिःश्वासवायुस्वरूपेण पुद्गलप्रचय आनप्राणनामा। भासाए—भाषाया भाषाविषये वा शब्दरूपेण पुद्गलपरिणामो भाषा। होंति—भवन्ति। मणो वि य—मनसोऽपि च मनोविषये वा चित्तोत्पत्ति-निमित्तपरमाणुनिचयो मनः। कमसो—क्रमशः क्रमेण यथानुक्रमेणागमन्यायेन वा। पज्जत्ती—पर्याप्तयः संपूर्णता-हेतवः। जिणक्खादा—जिनख्याताः सर्वज्ञप्रतिपादिताः। एताः पर्याप्तयः प्रत्येकमभिसंबध्यन्ते। आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, आनप्राणपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिरेताः षट् पर्याप्तयो जिनख्याता भवन्तीति। पर्याप्तीनां संख्या षडेव नाधिका इति नामनिर्देशेनैव लक्षणं व्याख्यातं द्रष्टव्यं यतः, आहारपर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेन च त्रिशरीरयोग्यं भुक्तमाहारं खलरसभागं कृत्वा समर्थो भवति जीवस्तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता आहारपर्याप्तिरित्युच्यते। तथा शरीरपर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेन शरीर-प्रायोग्याणि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरस्वरूपेण परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता शरीरपर्याप्तिरित्युच्यते। तथेन्द्रियपर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेनै-केन्द्रियस्य द्वीन्द्रियस्य त्रयाणामिन्द्रियाणां चतुर्णां पञ्चेन्द्रियाणां प्रायोग्याणि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वात्मात्म-विषये ज्ञातुं समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः परिपूर्णता इन्द्रियपर्याप्तिरित्युच्यते। तथाऽऽनप्राण-पर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेनानप्राणप्रायोग्याणि पुद्गलद्रव्याण्यवलंब्यानप्राणपर्याप्त्या निःसृत्य

आदि रूप से पुद्गलों का परिणत होना शरीर है। इन्द्रियों की पूर्णता का कारण अथवा इन्द्रिय के विषय में पुद्गलस्वरूप से परिणमन करना इन्द्रिय है। श्वासोच्छ्वास की पूर्णता का कारण अथवा श्वासोच्छ्वास के विषय में उच्छ्वास-निःश्वासरूपवायु के स्वरूप से पुद्गलसमूह को ग्रहण करना उच्छ्वास-निःश्वास है। भाषा की पूर्णता का कारण अथवा भाषा के विषय में शब्दरूप से पुद्गलों का परिणत होना भाषा है। मन की पूर्णता का कारण, अथवा मन के विषय में चित्त की उत्पत्ति के निमित्त परमाणु समूह का नाम मन है। पूर्णता के कारण का नाम पर्याप्ति है। प्रत्येक के साथ पर्याप्ति शब्द को लगा लेना। ये पर्याप्तियाँ जिनेन्द्रदेव द्वारा कही गयी हैं। अर्थात् आहारपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति आनप्राणपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनः-पर्याप्ति। ये पर्याप्तियाँ छह ही है, अधिक नहीं हैं। इस प्रकार नामों के निर्देश से ही इनका लक्षण कह दिया गया है, ऐसा समझना। इनका क्या लक्षण कहा गया है? उसे ही कहते हैं—

आहारपर्याप्ति—जिस कारण से यह जीव तीन शरीर के योग्य ग्रहण की गयीं आहार वर्गणाओं को खल-रस-अस्थि-चर्मादिरूप और रक्त-वीर्यादिरूप भाग से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का होना आहारपर्याप्ति है।

शरीरपर्याप्ति—जिस कारण से जीव शरीर के योग्य पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण करके उन्हें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर के स्वरूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का होना शरीर पर्याप्ति है।

इन्द्रियपर्याप्ति—जिस कारण से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और पंचेन्द्रियों के योग्य पुद्गलद्रव्यों को ग्रहण करके यह आत्मा अपने विषयों को जानने में समर्थ होता है उस कारण की पूर्णता का नाम इन्द्रियपर्याप्ति है।

आनप्राणपर्याप्ति—जिस कारण के द्वारा यह जीव श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप रचना करने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता

समर्थो भवति यस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णतानप्राणपर्याप्तिरित्युच्यते। तथा भाषापर्याप्तिरिति किमुक्तं भवति येन कारणेन सत्य-सत्य-मृषा असत्यमृषाया मृषा असत्यमृषाया भाषायाश्चतुर्विधायाः योग्यानि पुद्गल-द्रव्याण्याश्रित्य चतुर्विधाया भाषायाः स्वरूपेण परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता भाषापर्याप्तिरित्युच्यते। तथा मनःपर्याप्तिरिति. किमुक्तं भवति येन कारणेन चतुर्विधमनःप्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याण्याश्रित्य चतुर्विधमनःपर्याप्त्या परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता मनःपर्याप्तिरित्युच्यते। अतो न पृथग्लक्षणसूत्रं कृतमिति ॥१०४७॥

पर्याप्तीनां स्वामित्वं प्रतिपादयन्नाह—

एइंदिएसु चत्तारि होंति तह आदिदो य पंच भवे।
बेइंदियादियाणं पज्जत्तीओ असण्णित्ति ॥१०४८॥

एइंदिएसु—एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिवीकायिकादिवनस्पतिकायिकान्तास्तेष्वेकेन्द्रियेषु। चत्तारि—चतस्रोऽष्टार्द्धाः। होंति—भवन्ति। तह—तथा तेनैव न्यायेन व्यावर्णितक्रमेण। आदिदो य—आदितस्त्वादौ प्रभृति प्रथमाया आरभ्य, पंच—दशार्द्धसंख्यापरिमिताः। भवे—भवन्ति विद्यन्ते, बेइंदिया-दियाणं—द्वीन्द्रियादीनां द्वीन्द्रियादिर्येषां ते द्वीन्द्रियादयस्तेषां द्वीन्द्रियादीनां, पज्जत्तीओ—पर्याप्तयः, असण्णित्ति—असंज्ञीति असंज्ञिपर्यन्तानां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणामाहारशरीरेन्द्रियानप्राणभाषापर्याप्तयः पंच भवन्ति। तथैकेन्द्रियेषु चाहारशरीरेन्द्रियानप्राणपर्याप्तयश्चतस्रो भवन्ति, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तानां पंच भवन्तीति ॥१०४८॥

अथ षडपि पर्याप्तयः कस्य भवन्तीत्याशंकायामाह—

का नाम आनप्राणपर्याप्ति है।

भाषापर्याप्ति—जिस कारण से सत्य, असत्य, उभय और अनुभय इन चार प्रकार की भाषा के योग्य पुद्गलद्रव्यों का आश्रय लेकर उन्हें चतुर्विध भाषारूप से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता का नाम भाषापर्याप्ति है।

मनःपर्याप्ति—जिस कारण से सत्य, असत्य आदि चार प्रकार के मन के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके उन्हें चार प्रकार की मनःपर्याप्ति से परिणमन कराने में समर्थ होता है उस कारण की सम्पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं। इसलिए पृथक् से इन्हें कहने के लिए गाथाएँ नहीं दी गयी हैं। अर्थात् उपर्युक्त गाथा में पर्याप्तियों के जो नाम कहे गये हैं उनसे ही उनके लक्षण सूचित कर दिये गये हैं।

पर्याप्तियों के स्वामी का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रियों में प्रारम्भ से लेकर चार तथा द्वीन्द्रिय आदि से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त पर्याप्तियाँ पाँच होती हैं ॥१०४८॥

आचारवृत्ति—पृथिवी कायिक से लेकर वनस्पतिकायिकपर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, और आनप्राण ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण और भाषा ये पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं।

ये छहों पर्याप्तियाँ किसके होती हैं? उसका उत्तर देते हैं—

छप्पि य पज्जत्तीओ बोधव्वा होंति सण्णिकायाणं।
एदाहि अणिव्वत्ता ते दु अपज्जत्तया होंति ॥१०४९॥

छप्पि य—षडपि च ह्याहाराद्या अपि समस्ताः, पज्जत्तीओ—पर्याप्तय आहारशरीरेन्द्रियानप्राण-भाषामनःपर्याप्तयः, बोधव्वा—बोद्धव्याः सम्यगवगन्तव्याः, होंति—भवन्ति, सण्णिकायाणं—संज्ञिकायानां ये संज्ञिनः पंचेन्द्रियास्तेषां षडपि पर्याप्तयो भवन्ति इत्यवगन्तव्यम्। अथ केऽपर्याप्ता इत्याशंकायामाह—एदाहि—एताभिश्चतसृभिः पंचभिः षड्भिः पर्याप्तिभिः, अणिव्वत्ता—अनिर्वृत्ता असम्पूर्णा अनिष्पन्नाः, ते दु—ते तु त एव जीवाः, अपज्जत्तया—अपर्याप्तकाः होंति—भवन्तीति ॥१०४९॥

संख्या पर्याप्तीनां नामनिर्देशेनैव प्रतिपन्ना तदर्थं न पृथक् सूत्रं कृतं, यावता कालेन च तासां निष्पत्तिर्भवति तस्य कालस्य परिमाणार्थमाह—

पज्जत्तीपज्जत्ता भिण्णमुहुत्तेण होंति णादव्वा।
अणुसमयं पज्जत्ती सव्वेसिं चोववादीणं ॥१०५०॥

पज्जत्तीपज्जत्ता—पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः सम्पूर्णाः पर्याप्तिपर्याप्ताः सम्पूर्णाहारादिहेतवः,[1] भिण्ण-मुहुत्तेण—भिन्नमुहूर्तेन समयाधूनघटिकाद्वयेन, होंति—भवन्ति, णादव्वा—ज्ञातव्या एते तिर्यङ्मनुष्या ज्ञातव्याः, यतः अणुसमयं—अनुसमयं समयं समयं प्रतिसमयं वा अक्षणं कृत्वा, पज्जत्ती—पर्याप्तयः, सव्वेसिं—सर्वेषां, उववादीणं—उपपादो विद्यते येषां त उपपादिनस्तेषामुपपादिनां देवनारकाणाम्। अथ स्वान्यतं कोऽयं

गाथार्थ—संज्ञिकाय जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होतीं हैं, ऐसा जानना। इन पर्याप्तियों से जो अपरिपूर्ण हैं वे अपर्याप्तक होते हैं ॥१०४९॥

आचारवृत्ति—संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण, भाषा और और मन ये छहों पर्याप्तियाँ होती है। अपर्याप्तक जीव कौन है? जिन एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय असंज्ञी अथवा पंचेन्द्रिय जीवों के ये चार, पाँच या छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती वे अपर्याप्तक कहलाते हैं।

पर्याप्तियों की संख्या नाम के निर्देश से ही जान ली गयी हैं, अतः उसके लिए पृथक् सूत्र नहीं किया है। अब जितने काल से उन पर्याप्तियों की पूर्णता होती है उस काल का परिमाण बतलाते हैं—

गाथार्थ—अन्तर्मुहूर्त के द्वारा तिर्यंच और मनुष्य पर्याप्तियों से पूर्ण होते हैं ऐसा जानना। सभी उपपादजन्मवालों के प्रतिसमय पर्याप्तियों की पूर्णता होती है ॥१०५०॥

आचारवृत्ति—आहार आदि की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं। ये पर्याप्तियाँ तिर्यंच और मनुष्यों के एक समय कम दो घड़ी काल रूप अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती हैं। तथा उपपाद से जन्म लेनेवाले देव और नारकियों के शरीर अवयवों की रचना रूप पर्याप्तियों की पूर्णता प्रति समय होती है।

देव नारकियों के पर्याप्तियाँ प्रति समय होती हैं और शेष जीवों के अन्तर्मुहूर्त से पूर्ण

---

१. क कारणाः।

विशेषो देवनारकाणामनुसमयं पर्याप्तिः शेषाणां भिन्नमुहूर्तेनेति नैष दोषः देवनारकाणां पर्याप्तिसमानकाले एव सर्वावयवानां निष्पत्तिर्भवति न शेषाणां सर्वेषां यतो यस्मिन्नेव काले देवनारकाणामाहारादिकारणस्य निष्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले शरीरादिकार्यस्यापि, तिर्यङ्मनुष्याणां पुनर्लघुकालेनाहारादिकारणस्य निष्पत्तिः शरीरादिकार्यस्य च महतातः सर्वेषामुपपादिनामनुसमयं पर्याप्तयः तिर्यङ्मनुष्याणां भिन्नमुहूर्तेनेत्युक्तमिति। पर्याप्तीनां स्थितिकालस्तिर्यङ्मनुष्याणां जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणं किंचिदून उच्छ्वासाष्टादशभाग उत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि, देवनारकाणां च जघन्येन दशवर्षसहस्राण्युत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जीवितसमाः पर्याप्तयो यतो न पृथक् स्थितिकाल उक्त इति ॥१०५०॥

अथ कथमेतज्ज्ञायतेऽनुसमयं पर्याप्तिरुपपादिनामिति पृष्टे पूर्वागममाह—

जह्मि विमाणे जादो उववादसिला महारहे सयणे ।
अणुसमयं पज्जत्तो देवो दिव्वेण रूवेण ॥१०५१॥

जह्मि—यस्मिन्, विमाणे—विमाने भवनादिसर्वार्थसिद्धिविमानपर्यन्ते, जादो—जात उत्पन्नः, उववादसिला—उपपादशिलायां शुक्तिपुटकारायां, महारहे—महार्हे महापूज्यार्हे, सयणे—शयने शयनीयेऽनेकमणिखचितपर्यंके सर्वालंकारविभूषिते, अणुसमयं—अनुसमयं समयं समयं प्रति, पज्जत्तो—पर्याप्तः सम्पूर्ण-

---

होती हैं—यह अन्तर क्यों ?

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि देव और नारकियों के शरीर के सर्व अवयवों की पूर्णता पर्याप्तियों की पूर्णता के काल में ही हो जाती है, शेष सभी जीवों के नहीं होती है क्योंकि जिस काल में देव-नारकियों के आहार आदि कारणों की पूर्णता होती है उसी काल में उनके शरीर आदि कार्यों की रचना पूर्ण हो जाती है। पुनः तिर्यंच और मनुष्यों के लघु काल के द्वारा आहार आदि कारणों की पूर्णता रूप पर्याप्ति हो जाती है किन्तु शरीर आदि कार्यों की पूर्णता बहुत काल में हो पाती है। इसीलिए 'सभी उपपाद जन्मवालों के समय समय में पर्याप्तियाँ होती हैं। तिर्यंच और मनुष्यों के अन्तर्मुहूर्त से होती हैं' ऐसा कहा गया है।

पर्याप्तियों का स्थितिकाल तिर्यंच और मनुष्य के जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण है अर्थात् कुछ कम उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम है। देव-नारकियोंका जघन्य से दस हजार वर्ष है और उत्कृष्ट से तेतीस सागरोपम है। यहाँ पर पर्याप्तियों और जीवित अवस्था का काल समान कहा गया है, क्योंकि स्थितिकाल पृथक् से नहीं कहा गया है।

यह कैसे जाना जाता है कि उपपाद जन्मवालों के प्रतिसमय पर्याप्तियाँ होती हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हुए पूर्वागम को बतलाते हैं—

गाथार्थ—जिस विमान में उपपादशिला पर, श्रेष्ठ शय्या पर जन्म लेते हैं वे देव दिव्य रूप के द्वारा प्रतिसमय पर्याप्त हो जाते हैं ॥१०५१॥

आचारवृत्ति—भवनवासी आदि से लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त विमानों में जो उपपादशिलाएँ हैं उनका आकार अन्ध हुई सीप के सदृश है। उन शिलाओं पर सभी अलंकारों से विभूषित, मणियों से खचित, श्रेष्ठ पर्यंकरूप शय्याएँ हैं। उन पर वे देव शोभन शरीर आदि आकार और वर्ण से प्रतिसमय में पर्याप्त होकर सर्वाभरण से भूषित और सम्पूर्ण यौवनवाले हो

यौवनः सर्वाभरणभूषितः देवो—देवः, दिव्वेण—दिव्येन सुष्ठु शोभनेन, रूवेण—रूपेण शरीराकारवर्णादिना। यस्मिन् विमाने शिलायां महार्हे शयनीये देवो जातस्तस्मिन्नेवानुसमयं पर्याप्तो दिव्येन रूपेण भवतीति ॥१०५१॥

देहसूत्रं विवृण्वन् संबन्धेनैव देवदेहं प्रतिपादयन्नाह—

देहस्स य णिव्वत्ती भिण्णमुहुत्तेण होइ देवाणं।
सव्वंगभूसणगुणं जोव्वणमवि होदि देहम्मि ॥१०५२॥

देहस्स य—देहस्य च शरीरस्य, णिव्वत्ती—निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः, भिण्णमुहुत्तेण—भिन्नमुहूर्तेन किंचिदूनघटिकाद्वयेन, होदि—भवति, देवाणं—देवानां भवनवासिकादीनां न केवलं षट्पर्याप्तयो भिन्नमुहूर्तेन निर्वृत्तिं गच्छन्ति किं तु देहस्यापि च निष्पत्तिः सर्वकार्यकरणक्षमा भिन्नमुहूर्तेनैव भवतीति। तथा न केवलं देहस्योत्पत्तिर्भिन्नमुहूर्तेन किं तु सव्वंगभूसणगुणं—सर्वाणि च तान्यंगानि सर्वांगानि करचरणशिरोग्रीवादीनि तानि भूषयति इति सर्वांगभूषणः सर्वांगभूषणो गुणविशेषो यस्य तत्सर्वांगभूषणगुणं निरवशेषशरीरावयवालंकारकरणं, जोव्वणं—यौवनं प्रथमवयः परमरमणीयावस्था सर्वालंकारसमन्विता अतिशयमतिशोभनं सर्वजनमनआह्लादकरं, होदि—भवति, देहम्मि—देहे शरीरे।[1] देवानां यौवनमपि शोभनं सर्वांगभूषणगुणं तेनैव भिन्नमुहूर्तेन भवतीति ॥१०५२॥

पुनरपि देवव्यावर्णनद्वारेण देहमाह—

जाते हैं। जिस विमान की उपपादशिला की महाशय्या पर वे देव उत्पन्न होते हैं उसी शय्या पर समय-समय में दिव्य रूप से परिपूर्ण हो जाते हैं। अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त में ही वे देव दिव्य आहार आदि वर्गणाओं को ग्रहण करते हुए दिव्यरूप और यौवन से परिपूर्ण हो जाते है।

अब द्वितीय देहसूत्र का वर्णन करते हुए सम्बन्ध से ही देव के देह का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—देवों के देह की पूर्णता अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है। देह में सर्वांगभूषण, गुण और यौवन भी उत्पन्न हो जाते हैं॥ ०५२॥

आचारवृत्ति—भवनवासी आदि देवों के कुछ कम दो घड़ी के काल से छहों पर्याप्तियाँ ही पूर्ण हों मात्र इतना ही नहीं, किन्तु सर्वकार्य करने में समर्थ शरीर भी पूर्ण बन जाता है। केवल मात्र शरीर की रचना ही अन्तर्मुहूर्त काल में हो ऐसा नहीं है, किन्तु शरीर—हाथ-पैर, मस्तक, कण्ठ आदि को विभूषित करनेवाले भूषण अर्थात् शरीर के सभी अवयव, उनके अलंकार और नाना गुण भी पूर्ण हो जाते हैं तथा वह शरीर नवयौवन से सम्पन्न हो जाता है जो कि परम रमणीय, सर्वालंकार से समन्वित, अतिशय सुन्दर और सर्वजनों को आह्लादित करनेवाला होता है। तात्पर्य यही है कि उस अन्तर्मुहूर्त के भीतर की छहों पर्याप्तियों से पूर्ण सुन्दर दिव्य शरीर भूषणों और गुणों से अलंकृत नवयौवन भी हो जाता है।

पुनरपि देवों के वर्णन द्वारा देह का वर्णन करते हैं—

---

१. क देहानाम्।

कणयमिव णिरुवलेवा णिम्मलगत्ता सुयंधणीसासा ।
अणादिवरचारुरूवा समचउरंसोरुसंठाणं ॥१०५३॥

अणादिवर—आदिर्बालत्वं परो वृद्धत्वम् आदिश्च परश्चादिपरौ न विद्येते आदिपरौ बालवृद्धपर्यायौ यस्य तत् अनादिपरं चारु शोभनं सर्वजनमनःकान्तं रूपं शरीरावयवरचनाविशेषः अनादिपरं चारुरूपं येषां ते अनादिपरचारुरूपा यावदायुःप्रतिबद्धस्थिरयौवना इत्यर्थः अविनष्टस्थिरचारुरूपा वा, समचउरंसोरु—समचतुरस्रं इव महत् पूर्णमुखं, संठाणं—संस्थानं शरीराकारः समचतुरस्रं इव संस्थानं येषां ते समचतुरस्रोरुसंस्थाना न्यूनाधिकप्रदेशपरिहीनावयवसम्पूर्ण[1]प्रमाणाः, कणयमिव—कनकमिव, णिरुवलेवा—निरुपलेपा उपलेपान्निर्गता निरुपलेपाः, णिम्मलगत्ता—निर्मलं गात्रं येषां ते निर्मलगात्राः, सुयंधणीसासा—सुगन्धः सर्वेषां घ्राणेन्द्रियाह्लादनकरो निःश्वास उच्छ्वासो येषां ते सुगन्धनिःश्वासाः। कनकमिव निर्लेपा निर्मलगात्राः सुगन्धनिःश्वासा अनादिपरचारुरूपाः समचतुरस्रोरुसंस्थाना देवा भवन्तीति संबन्धः ॥१०५३॥

किं देवसंस्थाने सप्त धातवो भवन्तीत्याशंकायां परिहारमाह—

केसणहमंसुलोमा चम्मवसारुहिरमुत्तपुरिसं वा ।
णेवट्ठी णेव सिरा देवाण सरीरसंठाणे ॥१०५४॥

केस—केशा मस्तकभ्रूनयननासिकाकर्णकक्षगुह्यादिप्रदेशवालाः, णह—नखाः हस्तपादांगुल्यग्रोद्भवाः, मंसु—श्मश्रूणि कूर्चवालाः लोम—लोमानि सर्वशरीरोद्भवसूक्ष्मवालाः, चम्म—चर्म मांसादि-

---

गाथार्थ—ये देव स्वर्ण के समान, उपलेपरहित, मलमूत्ररहित शरीर वाले, सुगन्धित उच्छ्वास युक्त, बाल्य और वृद्धत्वरहित, सुन्दर रूपसहित और समचतुरस्र संस्थानवाले होते हैं ॥१०५३॥

आचारवृत्ति—आदि अर्थात् बाल्यावस्था, पर अर्थात् वृद्धत्व ये आदि और पर अवस्थाएँ जिनके नहीं होती हैं अर्थात् जो बाल और वृद्ध पर्याय से रहित आयुपर्यन्त नित्य ही यौवन पर्याय से समन्वित, सर्वजन-नयन-मनोहारी रूपसौन्दर्य से युक्त होते हैं, जिनका शरीर समचतुरस्र संस्थान अर्थात् न्यून और अधिक प्रदेशों से रहित प्रमाणबद्ध अवयवों की पूर्णता युक्त है, जैसे सुवर्ण मल रहित शुद्ध होता है वैसे ही जिनका शरीर मलमूत्र पसीना आदि से रहित होने से निरुपलेप है, तथा जिनका निर्मल शरीर धातु, उपधातु से रहित है, जिनका निश्वास सभी की घ्राणेन्द्रिय को आह्लादित करनेवाला, सुगन्धित है ऐसे दिव्य शरीर के धारक देव होते हैं।

क्या देव के शरीर में सात धातुएँ होती हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—देवों के शरीर में केश, नख, मूँछ, रोम, चर्म, वसा, रुधिर, मूत्र और विष्ठा नहीं हैं तथा हड्डी और सिराजाल भी नहीं होते ॥१०५४॥

आचारवृत्ति—देवों के सिर, भौंह, नेत्र, नाक, कान, काँख और गुह्य प्रदेश आदि स्थानों में बाल नहीं होते हैं। हाथ और पैर की अँगुलियों के अग्रभाग में नख नहीं होते हैं। श्मश्रु—मूंछ-दाढ़ी के बाल नहीं होते हैं एवं सारे शरीर में उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्म बाल अर्थात् रोम भी

---

१. क सम्पूर्णप्रमाण- ।

प्रच्छादिका त्वक्, वसा—वसा मांसास्थिगतस्निग्धरसः, रुहिरं—रुधिरं रक्तं, मुत्तं—मूत्रं प्रस्रवणं, पुरिसं—पुरीषं वाशब्दोऽनेकार्थः शुक्रप्रस्वेदादीनां । णेव—नैव पूर्वोक्तानि सर्वाणि नैव भवन्ति, अट्ठी—अस्थीनि संहननकारणानि, णेव सिरा—शिराः स्नायूनि । देवाणं—देवानां शरीरसंस्थाने, केशनखश्मश्रुरोमचर्म-वसारुधिरमूत्रपुरीषशुक्रास्थीनि नैव भवन्ति, अस्थिशिराश्च नैव भवन्तीति ॥१०५४॥

शरीरगतपुद्गलातिशयं प्रतिपादयन् देहमाह—

वरवण्णगंधरसफासादिव्वबहुपोग्गलेहिं णिम्माणं ।
गेण्हदि देवो [1]देहं सुचरिदकम्माणुभावेण ॥१०५५॥

वराः श्रेष्ठा वर्णरसगन्धस्पर्शा येषां ते वरवर्णगन्धरसस्पर्शास्ते च ते दिव्यबहुपुद्गलाश्च तैर्वर्ण-गन्धरसस्पर्शदिव्यानन्तपुद्गलैः सर्वगुणविशिष्टवैक्रियिकशरीरवर्गणागतानन्तपरमाणुभिः, णिम्माणं—निर्मितं सर्वावयवरचितं, गेण्हदि—गृह्णाति स्वीकरोति, देवो—देवः, देहं[2]—शरीरं, सुचरिदकम्माणुभावेण—स्वेन चरितमर्जितं तच्च तत्कर्म च सुचरितकर्म तस्यानुभावो माहात्म्यं तेन स्वचरितकर्मानुभावेन पूर्वार्जितशुभकर्म-प्रभावेन । देवो वरवर्णगन्धरसस्पर्शदिव्यबहुपुद्गलनिर्मितं शरीरं गृह्णाति ॥१०५५॥

अथ देवानां त्रयाणां शरीराणां मध्ये कतमद्भवतीत्याशंकायामाह—

वेउव्वियं शरीरं देवाणं माणुसाण संठाणं ।
सुहणाम पसत्थगदी सुस्सरवयणं सुरूवं च ॥१०५६॥

वेउव्वियं—अणिमादिलक्षणा विक्रिया तस्यां भवं सैव प्रयोजनं वा वैक्रियिकं सूक्ष्मादिभावेन नाना

नहीं होते हैं। उनके दिव्य शरीर में चर्म—मांसादि को प्रच्छादित करनेवाला, वसा—मांस और हड्डियों में होनेवाला चिकना रस, रुधिर—खून, मूत्र, विष्ठा तथा 'वा' शब्द से वीर्य, पसीना आदि ये कुछ भी नहीं होते हैं। तथा हड्डी और शिरासमूह भी नहीं होते हैं। अर्थात् देवों के शरीर में सात प्रकार की धातुएँ और उपधातुएँ कुछ भी नहीं होती हैं।

शरीर में होनेवाले पुद्गलों की विशेषता कहते हुए शरीर का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—देव अपने द्वारा आचरित शुभकर्म के प्रभाव से श्रेष्ठ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शमय बहुत-सी दिव्य पुद्गलवर्गणाओं से निर्मित शरीर को ग्रहण करते हैं ॥१०५५॥

आचारवृत्ति—उत्तम वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त अनन्त दिव्य परमाणुओं, जो कि सर्व गुणों से विशिष्ट वैक्रियिक शरीर के योग्य हैं ऐसे पुद्गलपरमाणुओं से जिनके शरीर के सभी अवयव बनते हैं वे देव अपने द्वारा संचित शुभकर्म के माहात्म्य से ऐसे दिव्य वैक्रियिक शरीर को ग्रहण करते हैं।

तीन शरीरों में से देवों के कौन-सा शरीर होता है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मनुष्य के आकार के समान देवों के वैक्रियिक शरीर, शुभनाम, प्रशस्त गमन, सुस्वरवचन और सुरूप होते हैं ॥१०५६॥

आचारवृत्ति—विविध प्रकार की क्रिया अर्थात् शरीरादि को बना लेना विक्रिया है।

१-२. क बोंदि ।

शरीरविकरणसमर्थं विविधगुणर्द्धियुक्तं वा शरीरं आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः, देवाणं—देवानां, मणुआण—मनुष्याणां मनुष्यजातिकर्मोदयवतां, संठाणं—संस्थानं सर्वावयवसम्पूर्णता, सुहणाम—शुभं शोभनं नाम संज्ञानुभावो वा यस्य तच्छुभनाम प्रशस्तनामकर्मोदयवत्, पसत्थगदी प्रशस्ता शोभना गतिर्गमनं यस्य सः प्रशस्तगतिः मृदुमंथरविलासादिगुणसंयुक्तं, सुस्सरवयणं—शोभनः स्वरो यस्य तत् सुस्वरवचनं, सुरूवं—सुरूपं शोभनं च रूपं यस्य तत् सुरूपं, चशब्देनान्यदपि गीतनृत्यादि गृह्यते यत एवं ततो यद्यपि केशनखादिविरहितं तथापि न बीभत्सरूपं यतो देवानां वैक्रियिकं शरीरम्। संस्थानं पुनः किं विशिष्टम्? शुभनाम प्रशस्तगतिः सुस्वरवचनं सुरूपं मनुष्याणामिवास्य केशनखाद्याकारः सर्वोऽपि विद्यत एव सुवर्णशैलप्रतिमानमिवेति ॥१०५६॥

न केवलं देवानां वैक्रियिकं शरीरं किन्तु नारकाणामपि यद्येवं तदेव तावत्प्रतिपादनीयमित्याशंका प्रमाणपूर्वकं नारकदेहस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पढमाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
सत्तधणु तिण्णि रयणी छच्चेव य अंगुला होंति ॥१०५७॥

पढमाए—प्रथमायां रत्नप्रभायां, पुढवीए—पृथिव्यां, णेरइयाणं—नारकाणां, तुशब्दः स्वविशेषग्राहकः तेनान्यदपि द्वादशप्रस्ताराणां शरीरप्रमाणं वेदितव्यं, होइ—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः शरीरप्रमाणं,

---

वह अणिमा, महिमा आदि लक्षणवाली है। इस विक्रिया में जो होता है अथवा वह विक्रिया ही जिसका प्रयोजन है उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह सूक्ष्म आदि रूप से नाना शरीरों के बनाने में समर्थ तथा विविध प्रकार के गुण और ऋद्धियों से युक्त होता है। अथवा आत्मा की प्रवृत्ति से उपचित पुद्गल पिण्ड का नाम वैक्रियिकशरीर है। देवों का यह शरीर मनुष्य जाति नामकर्मोदय से सहित मनुष्य जीवों के आकार के सदृश रहता है। यह प्रशस्तनामकर्मोदय से निर्मित होने से शुभनामयुक्त होता है, मृदु-मन्थर-विलास आदि से संयुक्त प्रशस्त गतिवाला है, शोभन स्वर से युक्त है एवं शोभन रूप से मनोहर भी रहता है। 'च' शब्द से—गीत, नृत्य आदि क्रियाओं से सहित रहता है। यद्यपि इस शरीर में केश, नखादि नहीं हैं फिर भी उनका रूप बीभत्स नहीं है, क्योंकि देवों का यह वैक्रियिक शरीर शुभनाम, प्रशस्तगति, सुस्वरवचन और सुन्दररूप युक्त है तथा मनुष्यों के समान इसमें केश, नख आदि के आकार सभी विद्यमान रहते हैं जैसे कि सुवर्ण व पाषाण की प्रतिमा में सर्व आकार बनाये जाने पर वह अतिशय सुन्दर दिखती है उसी प्रकार से इनके शरीर में भी अतिशय सुन्दरता पायी जाती है।

केवल देवों के ही वैक्रियिक शरीर होते हैं ऐसा नहीं है किन्तु नारकियों के भी हैं, यदि ऐसी बात है तो उसका भी प्रतिपादन करना चाहिए? ऐसी आशंका होने पर नारकियों के शरीर का प्रमाण बताते हुए उनके देह का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम पृथिवी के नारकियों की ऊँचाई सात धनुष, तीन अरत्नि और छह अंगुल प्रमाण होती है ॥१०५७॥

आचारवृत्ति—रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी में नारकियों के शरीर का प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल होता है। यह सामान्य कथन है, क्योंकि यह वहाँ की उत्कृष्ट ऊँचाई है। गाथा में 'तु' शब्द अपने विशेष भेदों को ग्रहण करनेवाला है, इससे अन्य बारह प्रस्तारों में शरीर की ऊँचाई का प्रमाण जानना चाहिए। अर्थात् प्रथम नरक में तेरह प्रस्तार

सत्तधणु—सप्तधनूंषि, तिण्णि रयणी—तिस्रो हस्ताश्च, छक्केव—षडेव यतः अङ्गुलपर्यायैः, अंगुल—अंगुलानि, होंति—भवन्ति अष्टयवनिष्पन्नमंगुलं चतुर्विंशत्यंगुलैर्हस्तश्चतुर्हस्तं धनुः। नारकाणां प्रथमपृथिव्यां त्रयोदशप्रस्तारे विक्रान्ताख्ये शरीरस्योत्सेधः सप्त धनूंषि हस्तत्रयं षडंगुलानि इति प्रथमे पुनः सीमन्तकाख्ये प्रस्तारे त्रयो हस्ता नारकशरीरस्योत्सेधो मुखं सप्त धनूंषि हस्तत्रयं षडंगुलानि भूमिः, भूमेर्मुखं विशोध्य शुद्धशेषस्य द्वादशभिर्भागेहृते इच्छया गुणिते लब्धे मुखसहिते प्रथमवर्जितद्वादशप्रस्ताराणां नारकशरीरप्रमाणमायच्छतीति। तथा नरनाम्नि द्वितीयप्रस्तारे एकं धनुरेको हस्तः सार्द्धान्यष्टांगुलानि च नारकाणां शरीरोत्सेधः तृतीयप्रस्तारे रोरुकनामधेये शरीरस्योत्सेध एकं धनुस्त्रयो हस्ताः सप्तदशैवांगुलानि। चतुर्थप्रस्तारे भ्रान्तसंज्ञके नारकतनोरुत्सेधो द्वे धनुषी द्वौ हस्तौ सार्द्धमंगुलम्। पंचमप्रस्तारे उद्भ्रान्तनाम्नि धनुस्त्रयं दशांगुलानि तनोरुत्सेधः। षष्ठप्रस्तारे संभ्रान्तसंज्ञके धनुषां त्रयं द्वौ हस्तावंगुलान्यष्टादश सार्द्धानि च। सप्तमप्रस्तारेऽसंभ्रान्ताख्ये कार्मुकचतुष्टयमेको हस्तस्त्रीण्यंगुलानि च शरीरोत्सेधः। अष्टमप्रस्तारे विभ्रान्ताख्ये कोदण्डचतुष्टयं हस्तत्रयमेकादशांगुलानि सार्द्धानि तनोरुत्सेधः। नवमप्रस्तारे त्रस्तनामनि कार्मुकाणां पंचकमेको हस्तोऽङ्गुलानि च विंशतिः शरीरोत्सेधः। दशमप्रस्तारे त्रसितनामके षड् धनूंषि सार्द्धांगुलचतुष्कं च शरीरप्रमाणम्। एकादशप्रस्तारे वक्रान्ताख्ये धनुषां षट्कं हस्तद्वितयं त्रयोदशांगुलानि च। द्वादशप्रस्तारे चावक्रांताख्ये धनुषां सप्तकं सहितमेकविंशत्या सार्द्धांगुलेन च तनोः प्रमाणम्। त्रयोदशप्रस्तारे विक्रान्ते सप्त [1]चापा हस्तत्रयं षडंगुलानि च शरीरोत्सेधः।

हैं। उनमें से अन्तिम विक्रान्त नामक प्रस्तार में यह ऊँचाई समझना। तथा सीमंतक नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध तीन हाथ प्रमाण है। आठ जौ का प्रमाण एक अंगुल होता है, चौबीस अंगुल का एक हाथ एवं चार हाथ का एक धनुष होता है।

अब प्रत्येक प्रस्तार की ऊँचाई निकालने का विधान कहते हैं—

पहले प्रस्तार की तीन हाथ ऊँचाई को मुख एवं अन्तिम तेरहवें प्रस्तार की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल को भूमि कहते हैं। भूमि में से मुख को घटाकर अवशिष्ट को बारह से भाग देकर उसे इच्छाराशि से गुणित लब्ध के मुख सहित होने पर प्रथम प्रस्तार को छोड़कर बारह प्रस्तारों के नारकियों के शरीर का प्रमाण आ जाता है। उसे ही स्पष्ट करते हैं—

नर नामक द्वितीय प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध एक धनुष एक हाथ और साढ़े आठ अंगुल है। रोरुक नामक तृतीय प्रस्तार में शरीर की ऊँचाई एक धनुष, तीन हाथ और सत्रह अंगुल है। भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध दो धनुष, दो हाथ, डेढ़ अंगुल है। उद्भ्रान्त नामक पंचम प्रस्तार में तीन धनुष, दस अंगुल उत्सेध है। संभ्रान्त नामक छठे प्रस्तार में तीन धनुष दो हाथ, साढ़े अठारह अंगुल है। असंभ्रान्त नामक सप्तम प्रस्तार में चार धनुष, एक हाथ और तीन अंगुल प्रमाण शरीर की ऊँचाई है। विभ्रान्त नामक आठवें प्रस्तार में चार धनुष, तीन हाथ और साढ़े ग्यारह अंगुल शरीर की ऊँचाई है। त्रस्त नामक नवम प्रस्तार में पाँच धनुष, एक हाथ और बीस अंगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है। त्रसित नामक दसवें प्रस्तार में छह धनुष, साढ़े चार अंगुलप्रमाण शरीर की ऊंचाई है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तार में छह धनुष, दो हाथ और तेरह अंगुल प्रमाण है। अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तार में सात धनुष और साढ़े इक्कीस अंगुलप्रमाण शरीरकी ऊँचाई है। तथा तेरहवें

---

१. क चापानि।

प्रथमे तु सीमन्तके प्रस्तारे हस्तत्रयमिति शरीरं प्रथमपृथिव्यां शरीरप्रमाणमेतदिति ॥१०५७॥

द्वितीयायां च पृथिव्यां नारकशरीरप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

विदियाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
पण्णरस दोण्णि बारस धणु रदणी अंगुला चेव ॥१०५८॥

विदियाए - द्वितीयायां द्वयोः पूरणी द्वितीया तस्यां, पुढवीए—पृथिव्यां शर्कराख्यायां, णेरइयाणं—नारकाणां, तुशब्दः संगृहीताशेषोत्सेधविशेषः, होदि—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः शरीरोत्सेधप्रमाणं, पण्णरस—पंचदश, दोण्णि—द्वौ, बारस—द्वादश, धणु—धनूंषि, रदणी—रत्नयः हस्ताः, अंगुला चेव—अंगुलानि चैव, यथासंख्येन संबन्धः। द्वितीयायां पृथिव्यामेकादशे प्रस्तारे नारकाणामुत्सेधः पंचदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशांगुलानि। अत्रापि मुखभूमिविशेषं कृत्वोत्सेधे कृते इच्छागुणितं मुखसहितं च सर्वप्रस्ताराणां प्रमाणं वक्तव्यम्। तद्यथा। अत्रैकादशप्रस्तारााणि भवन्ति—तत्र प्रथमप्रस्तारे[1] सूरसूरकनाम्नि नारकाणामुत्सेधोऽष्टौ धनूंषि हस्तद्वयं द्वावेकादशभागावंगुलद्वयं च। द्वितीयप्रस्तारे स्तनकनाम्नि नारकोत्सेधो नव दण्डा द्वाविंशत्यंगुलानि चतुरेकादशभागाः। तृतीयप्रस्तारे मनकनामधेये नव धनूंषि त्रयो हस्ता अष्टादशांगुलानि षडेकादशभागानि चोत्सेधः। चतुर्थप्रस्तारे[2] नवकसंज्ञके नारकोत्सेधः दश दण्डा द्वौ हस्तौ चतुर्दशांगुलानि सार्ष्टैकादशभागानि। पंचमप्रस्तारे घाटनामके एकादशदण्डा हस्तश्चैकादशांगुलानि दशैकादशभागाश्च शरीरोत्सेधः। षष्ठप्रस्तारे

विभ्रांत नामक प्रस्तार में सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण शरीर की ऊँचाई है। एवं प्रथम सीमंतक नामक प्रस्तार में तीन हाथ प्रमाण शरीर होता है। इस प्रकार से प्रथम पृथिवी के नारकियों के शरीर की ऊँचाई कही गयी है।

द्वितीय पृथिवी में नारकियों के शरीर का प्रमाण प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—द्वितीय पृथ्वी में नारकियों की ऊँचाई पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अंगुल होती है ॥१०५८॥

आचारवृत्ति—शर्करा नामक दूसरी पृथिवी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई पन्द्रह धनुष, दो हाथ, बारह अंगुल प्रमाण है। यहाँ गाथा में भी 'तु' शब्द है उससे सभी प्रस्तारों के उत्सेध विशेष को समझ लेना। यहाँ पर भी भूमि में से मुख के प्रमाण को घटाकर अवशिष्ट प्रमाण को इच्छा के द्वारा गुणित करना चाहिए और मुख सहित लब्ध होने पर सर्वप्रस्तारों का प्रमाण जानना चाहिए। उसी का स्पष्टीकरण—इस नरक में ग्यारह प्रस्तार हैं। उसमें से सूरसूरक नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊँचाई आठ धनुष, दो हाथ, दो अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में दो भाग प्रमाण है। स्तनक नामक दूसरे प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई नव धनुष, बाईस अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में से चार भाग प्रमाण है। मनक नामक तृतीय प्रस्तार में नव धनुष, तीन हाथ, अठारह अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में से छह भाग प्रमाण है। नवक नामक चौथे प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई दश धनुष, दो हाथ, चौदह अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में से आठ भाग है। घाट नामक पाँचवें प्रस्तार में ग्यारह धनुष, एक हाथ, ग्यारह अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से दश भाग

---

१. क स्तरक-नाम्नि। २. क वनक।

नारकशरीरोत्सेधो द्वादश दण्डाः सप्तांगुलानि एकादशभागाश्च। सप्तमप्रस्तारे जिह्वाख्ये द्वादश दण्डा हस्तत्रयं त्रीण्यंगुलानि त्रय एकादशभागाश्चोत्सेधः। अष्टमप्रस्तारे जिह्विकाख्ये नारकोत्सेधस्त्रयोदश दण्डा एको हस्तस्त्रयोविंशत्यंगुलानि पञ्चैकादश भागाश्च। नवमप्रस्तारे लोलाख्ये नारकोत्सेधश्चतुर्दश दण्डा एकोनविंशतिरंगुलानां सप्तैकादशभागाश्च। दशमप्रस्तारे लोलुपाख्ये नारकोत्सेधश्चतुर्दश धनूंषि त्रयो हस्ताः पंचदशांगुलानि नवैकादश भागाश्च। एकादशप्रस्तारे स्तनलोलुपनामधेये नारकशरीरोत्सेधः पंचदश दण्डा द्वौ हस्तौ द्वादशांगुलानि चेति ॥१०५८॥

तृतीयायां वालुकाप्रभायां [1]नारकोत्सेधं प्रतिपादयन्नाह—

तदियाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
एकत्तीसं च धणू एगा रयणी मुणेयव्वा ॥१०५९॥

तदियाए—तृतीयायां, पुढवीए—पृथिव्यां वालुकाप्रभायां, णेरइयाणं—नारकाणां, तु—विशेषः, होइ—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः, एकत्तीसं च—एकत्रिंशच्च एकेनाधिका त्रिंशत्, धणु—धनूंषि, एगा—एका, रयणी—रत्निर्हस्तः, मुणेयव्वा—ज्ञातव्या। तृतीयायां पृथिव्यां नवमप्रस्तारे नारकाणामुत्सेधो धनुषामेकत्रिंशदेका रत्निश्च ज्ञातव्या इति। शेषं सूचितं नारकप्रमाणमत्रापि मुखभूमिविशेषं कृत्वा नवोत्सेधभाजितमिच्छया गुणितं द्वितीयपृथिव्युत्कृष्टनारकोत्सेधमुखसहितं च कृत्वा नेयं। तद्यथा—प्रथमप्रस्तारे तप्ताख्ये नारकोत्सेधः सप्तदश दण्डा एको हस्तो दशांगुलानि द्वौ त्रिभागौ च। द्वितीयप्रस्तारे तापनामनि नारकोत्सेधो

प्रमाण शरीर की ऊँचाई है। संघाट नामक छठे प्रस्तार में नारकी के शरीर की ऊँचाई बारह धनुष, सात अंगुल तथा ग्यारह भाग प्रमाण है। जिह्वा नामक सप्तम प्रस्तार में बारह धनुष, तीन हाथ, तीन अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से तीन भाग प्रमाण ऊँचाई है। जिह्विका नामक आठवें प्रस्तार में नारकी की ऊँचाई तेरह धनुष, एक हाथ, तेतीस अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से पाँच भाग है। लोल नामक नवमें प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई चौदह धनुष, उन्नीस अंगुल, और अंगुल के ग्यारह भागों में से सात भाग प्रमाण है। लोलुप नामक दशवें प्रस्तार में नारकी के शरीर का उत्सेध चौदह धनुष, तीन हाथ, पन्द्रह अंगुल और अंगुल के ग्यारह भागों में से नव भाग प्रमाण है। स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अंगुल प्रमाण है।

तीसरी वालुकाप्रभा में नारकियों की ऊँचाई को कहते हैं—

गाथार्थ—तीसरी पृथिवी में नारकियों के शरीर की जो ऊँचाई होती है वह इकतीस धनुष एक हाथ प्रमाण जाननी चाहिए ॥१०५९॥

आचारवृत्ति—वालुकाप्रभा नामक तृतीय पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई इकतीस धनुष, एक हाथ है। तृतीय नरक के नवमें प्रस्तार में यह ऊँचाई है अर्थात् इस नरक में नव प्रस्तार हैं। यहाँ पर भी मुख को भूमि में से कम करके नव उत्सेध से भाग देकर इच्छा राशि से गुणित द्वितीय पृथिवी को उत्कृष्ट नारक उत्सेध को मुख सहित करके निकालना चाहिए। उसी का स्पष्टीकरण—तप्त नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरार की ऊँचाई सत्रह धनुष, एक हाथ, दश अंगुल और अंगुल के तीन भागों में से दो भाग है। ताप नामक

---

1. क नारकशरीरप्रमाणमाह।

दण्डानामेकोनविंशतिर्नवांगुलानि त्रिभागश्च । तृतीयप्रस्तारे तपननाम्नि नारकोत्सेधो विंशतिर्दण्डानां त्रयो हस्ता अंगुलानि चाष्टौ । चतुर्थप्रस्तारे तापनाख्ये शरीरोत्सेधो द्वाविंशतिर्धनुषां द्वौ हस्तौ षडंगुलानि द्वौ त्रिभागौ च । पंचमप्रस्तारे निदाघाख्ये चतुर्विंशतिश्चापाः¹ पंचांगुलानि एको हस्तस्त्रिभागश्चैकः । षष्ठप्रस्तारे प्रज्वलिताख्ये नारकोत्सेधः षड्विंशतिर्धनुषां चत्वारि चांगुलानि । सप्तमेन्द्रके ज्वलितसंज्ञके नारकोत्सेधः सप्तविंशतिश्चापा-स्त्रयो² हस्ता द्वे अंगुले त्रिभागौ च द्वौ । अष्टमप्रस्तारे संज्वलनेन्द्रके एकोनत्रिंशदुत्सेधो धनुषां हस्तद्वयमेकांगुल-मेकस्त्रिभागश्च । नवमे च प्रस्तारे प्रज्वलितसंज्ञे एकत्रिंशत्को दण्डा हस्तश्चैको नारकोत्सेध इति ॥१०५९॥

चतुर्थ्यां च पृथिव्यां ³नारकशरीरप्रमाणमाह—

चउथीए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ।
बासट्ठी चेव धणू बे रदणी होंति णायव्वा ॥१०६०॥

चउथीए—चतुर्णां पूरणी चतुर्थी तस्यां चतुर्थ्यां, पुढवीए—पृथिव्यां पंकप्रभायां, नारकाणामुत्सेधो भवति द्वाभ्यामधिका षष्टिर्धनुषां द्वे चारत्नी द्वौ च हस्तौ ज्ञातव्यौ । चतुर्थपृथिव्यां सप्तमप्रस्तारेन्द्रके नारको-त्सेधप्रमाणमेतत् सेन्द्रको नारकोत्सेधस्तृतीयपृथिवीनारकाणामुत्कृष्टशरीरप्रमाणं मुखं कृत्वा सप्तमप्रस्तारनार-कोत्सेधं भूमिं च कृत्वा तयोर्विशेषं चोत्सेधभाजितेच्छागुणितं मुखसहितं कृत्वा वाच्यस्तद्यथा—प्रथमप्रस्तारे

द्वितीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई उन्नीस धनुष, नव अंगुल और अंगुल के तृतीय भाग है। तपन नामक तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई बीस धनुष, तीन हाथ, आठ अंगुल है। तापन नामक चतुर्थ प्रस्तार में शरीर की ऊँचाई बाईस धनुष, दो हाथ, छह अंगुल और एक अंगुल के तीन भागों में से दो भाग है। निदाघ नाम के पाँचवें प्रस्तार में चौबीस धनुष, एक हाथ, पाँच अंगुल और अंगुल के तीन भाग में से एक भाग है। प्रज्वलित नाम के छठे प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई छब्बीस धनुष, चार अंगुल है। ज्वलित नामक सप्तम इन्द्रक में नारकियों की ऊँचाई सत्ताईस धनुष, तीन हाथ, दो अंगुल और एक अंगुल के तीन भागों में से दो भाग है। संज्वलन नाम के आठवें प्रस्तार में शरीर की ऊँचाई उनतीस धनुष, दो हाथ, एक अंगुल और अंगुल के तीन भागों में से एक भाग है। तथा नवमें प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊँचाई इकतीस धनुष, एक हाथ है।

चौथी पृथिवी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई कहते हैं—

गाथार्थ—चौथी पृथिवी में नारकियों का जो उत्सेध है वह बासठ धनुष और दो हाथ जानना चाहिए ॥१०६०॥

आचारवृत्ति—चौथी पंकप्रभा पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई बासठ धनुष, दो हाथ प्रमाण है। इस पृथ्वी में सात प्रस्तार हैं। उनमें से यह अन्तिम प्रस्तार के शरीर की ऊँचाई है। तीसरी पृथिवी के नारकियों के शरीर का जो उत्कृष्ट उत्सेध है वह मुख है और इस चतुर्थ नरक के सप्तम प्रस्तार का उत्सेध भूमि है। भूमि में से मुख को घटाकर उसमें जो अवशेष रहता है उसको उत्सेध के प्रमाण सात से भाग देकर इच्छाराशि से गुणा करना चाहिए और मुख सहित करके वर्णन करना चाहिए। तथाहि—आर नामक प्रथम प्रस्तार में पैंतीस धनुष, दो हाथ, बीस

---

१. क चापानि । २. क चापानि । ३. क नारकोत्सेधं व्यावर्णयन्नाह ।

आरसंज्ञकेन्द्रके पंचत्रिंशद्धनुषी द्वौ हस्तौ विंशतिरंगुलानां सप्तभागानां चत्वारः। द्वितीयप्रस्तारे तारकेन्द्रके चत्वारिंशद्धनूंषि सप्तदशांगुलानि सप्तभागानां च पंच। तृतीयप्रस्तारे मारसंज्ञके चतुश्चत्वारिंशद्धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रयोदशांगुलानि सप्तभागानां पंच। चतुर्थप्रस्तारे वर्चस्कनाम्नि नारकोत्सेध एकोनपंचाशद्धनूंषि दशांगुलानि द्वौ च सप्तभागौ। पंचमप्रस्तारे तमकनामधेये धनूंषि त्रिपंचाशत् द्वौ च हस्तौ षडंगुलानि षट् सप्तभागाः। षष्ठ-प्रस्तारे खडनामधेये नारकोत्सेधो धनुषामष्टापंचाशत् त्रीण्यंगुलानि च षट् च सप्तभागाः। सप्तमप्रस्तारे खडख-डाख्येन्द्रके नारकोत्सेधश्चोत्को द्वाषष्टिर्धनूंषि हस्तौ च द्वाविति ॥१०६०॥

पंचमपृथिव्यां नारकोत्सेधं प्रकटयन्नाह—

पंचमिए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
सदमेगं पणवीसं धणुप्पमाणेण णादव्वं ॥१०६१॥

पंचमायां पृथिव्यां धूमप्रभानामधेयायां नारकाणामुत्सेधो भवति, सदं—शतमेकं, पणवीसं च—पंचविंशत्यधिकं, धणुप्पमाणेण—धनुःप्रमाणेन ज्ञातव्यम्। पंचमायां पृथिव्यां पंचमेन्द्रके नारकाणामुत्सेधो धनुषां प्रमाणेन शतमेकं पंचविंशत्युत्तरं ज्ञातव्यमिति। अत्राप्येतद्भूमिं पूर्वोक्तं मुखं च कृत्वा विशेषं च कृत्वा विशेषं च पंचकोत्सेधभाजितमिच्छया गुणितं मुखसहितं कृत्वा शेषेन्द्रकाणां नारकाणामुत्सेधो वाच्यः। तत्र प्रथमप्रस्तारे तमोनाम्नि नारकोत्सेधः पंचसप्ततिधनूंषि। द्वितीयप्रस्तारे भ्रमनामके नारकोत्सेधो धनुषां सप्ताशीतिरर्धका द्वौ हस्तौ च। तृतीय प्रस्तारे रूपसंज्ञके चेन्द्रके नारकोत्सेधो धनुषां शतमेकम्। चतुर्थप्रस्तारेऽन्ध्रसंज्ञके नारकोत्सेधो

अंगुल और अंगुल के सात भागों में से चार भाग है। तार नाम के द्वितीय प्रस्तार में चालीस धनुष, सत्रह अंगुल और अंगुल के सात भागों में से पाँच भाग है। मार संज्ञक तृतीय प्रस्तार में चवालीस धनुष, दो हाथ, तेरह अंगुल और अंगुल के सात भागों में से पाँच भाग है। वर्चस्क नाम के चतुर्थ प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई उनंचास धनुष, दश अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में से दो भाग है। तमक नाम के पाँचवें प्रस्तार में त्रेपन धनुष, दो हाथ, छह अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में से छह भाग है। षड नाम के छठे प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई अट्ठावन धनुष, तीन अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में से छह भाग है। षडषड नामक सातवें प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊँचाई उपर्युक्त बासठ धनुष और दो हाथ है।

पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई को प्रकटित करते हैं—

गाथार्थ—पाँचवीं पृथिवी में नारकियों का जो उत्सेध है वह एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है, ऐसा जानना ॥१०६१॥

आचारवृत्ति—धूमप्रभा नामक पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है, ऐसा जानना। इस नरक में पाँच प्रस्तार हैं सो यह प्रमाण पाँचवें प्रस्तार का है। यहाँ पर पूर्वोक्त चतुर्थ नरक की अन्तिम ऊँचाई को मुख कहकर और इस नरक के अन्तिम उत्सेध को भूमि मानकर भूमि में से मुख को घटाकर ऊँचाई के प्रमाण पाँच से भाग देकर तथा इच्छाराशि से गुणितकर उसे मुख सहित करके शेष इन्द्रकों के नारकियों की ऊँचाई कहना चाहिए। उसका स्पष्टीकरण—तम नाम के प्रथम प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई पचहत्तर धनुष है। भ्रम नाम के द्वितीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई सतासी धनुष, दो हाथ है। रूप संज्ञक तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई सौ धनुष है। अन्ध्र नाम के चतुर्थ प्रस्तार में नार-

धनुषां द्वाविंशत्युत्तरं शतं हस्तद्वयं च । पंचमप्रस्तारे तमिस्रकेन्द्रके धनुषां पंचविंशत्युत्तरशतमिति ॥१०६१॥

षष्ठ्यां पृथिव्यां नारकोत्सेधमाह—

छट्ठीए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ॥
दोण्णि सदा पण्णासा धणुप्पमाणेण विण्णेया ॥१०६२॥

छट्ठीए—षण्णां पूरणी षष्ठी तस्यां, पुढवीए—पृथिव्यां, णेरइयाणं तु—नारकाणां तु, होदि—भवति, उस्सेहो—उत्सेधः, दोण्णि सदा—द्वे शते धनुषां शतद्वयं, पण्णासा—पंचाशदधिकं, धणुप्पमाणेण—धनुषां प्रमाणेन, विण्णेया—विज्ञेये । षष्ठ्यां पृथिव्यां तमःप्रभायां तृतीयप्रस्तारे नारकाणामुत्सेधो धनुषां प्रमाणेन द्वे शते पंचाशदधिके विज्ञेये । अत्रापि मुखभूमिविशेषादिक्रमं कृत्वा शेषेन्द्रकनारकाणामुत्सेध आनेतव्यः । तथा तमःप्रभायां प्रथमप्रस्तारे हिमनाम्नीन्द्रके नारकाणामुत्सेधः षट्षष्ट्यधिकं धनुषां शतं द्वौ हस्तौ षोडशांगुलानि च । द्वितीये प्रस्तारे वर्दलनाम्नीन्द्रके धनुषां शतद्वयमष्टाधिकं हस्तश्चैकोऽष्टावंगुलान्यपि । तृतीयप्रस्तारे लल्लकनाम्नीन्द्रके नारकोत्सेधः सूत्रोपात्तधनुषां शतद्वयं पंचाशदधिकं विज्ञेयमिति ॥१०६२॥

सप्तम्यां पृथिव्यां नारकोत्सेधप्रमाणमाह—

सत्तमिए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ।
पंचेव धणुसयाइं पमाणदो चेव बोधव्वो ॥१०६३॥

सत्तमिए—सप्तम्यां, पुढवीए—पृथिव्यां महातमःप्रभायां, णेरइयाणं तु—नारकाणां तु, होइ

कियों की ऊँचाई एक सौ बारह धनुष, दो हाथ है । तमिस्र नाम के पाँचवें प्रस्तार में एक सौ पच्चीस धनुष है ।

छठी पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई कहते हैं—

गाथार्थ—छठी पृथिवी में नारकियों का उत्सेध होता है । वह दो सौ पचास धनुष प्रमाण जानना चाहिए ॥१०६२॥

आचारवृत्ति—तमःप्रभा नामक छठी पृथिवी में तीन प्रस्तार हैं । उनमें से तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई दो सौ पचास धनुष जानना चाहिए । यहाँ पर भी पाँचवीं पृथिवी के अन्तिम उत्सेध को मुख और इस नरक के अन्तिम इस उत्सेध को भूमि कहकर, भूमि में से मुख को घटाकर, पूर्ववत् उत्सेध तीन का भाग देकर, इच्छा राशि से गुणित करके, मुख सहित कर शेष इन्द्रक के नारकियों का प्रमाण ले आना चाहिए । तथाहि—हिम नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ, सोलह अंगुल है । वर्दल नाम के द्वितीय प्रस्तार में दो सौ आठ धनुष, एक हाथ, आठ अंगुल है । लल्लक नाम के तृतीय प्रस्तार में नारकियों की ऊँचाई गाथासूत्र में कथित दो सौ पचास धनुष समझना चाहिए ।

सातवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—सातवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई प्रमाण से पाँच सौ धनुष जानना चाहिए ॥१०६३॥

आचारवृत्ति—महातमःप्रभा नामक सातवीं पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण है । इस नरक में अवधिस्थान नाम का एक ही प्रस्तार है, अर्थात् यहाँ नारकियों

कायोत्सेधो—धनुरुत्सेधः, पंचैव धनुःशतानि—पंचैव धनुःशतानि, प्रमाणतो वैव—प्रमाणतस्तथैव नारकाणाम्, बोद्धव्या—बोद्धव्यानि। सप्तम्यां महातमःप्रभायामवधिस्थानकेन्द्रकनाम्नि नारकाणामुत्सेधः प्रमाणतः पंचैव धनुःशतानि नाधिकानीति। एवं सर्वासु पृथिवीषु स्वकीयेन्द्रकप्रतिबद्धेषु श्रेणिविश्रेणिबद्धेषु पुष्पप्रकीर्णकेषु च नारकाणामुत्सेधः स्वकीयेन्द्रकनारकोत्सेधसमानो वेदितव्यः। प्रथमायां पृथिव्यां प्रथमप्रस्तारे सीमन्तकेन्द्रकनाम्नि महादिक्षु श्रेणीबद्धनरकाण्येकोनपंचाशदेकोनपंचाशदिति। विदिक्षु चाष्टचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशदिति। एवमष्टाष्टौ हानिं कृत्वा तावन्नेतव्यं यावदवधिस्थानस्य चत्वारि दिक्षु श्रेणिबद्धानीति। प्रथमायां पृथिव्यां त्रिंशल्लक्षाणि नारकाणां तान्येव श्रेणिबद्धेन्द्रकरहितानि पुष्पप्रकीर्णकानि। द्वितीयायां पंचविंशतिलक्षा नारकाणां तान्येव श्रेणिबद्धेन्द्रकरहितानि पुष्पप्रकीर्णकानि। तृतीयायां पंचदशलक्षा नारकाणाम्। चतुर्थ्यां दशलक्षा नारकाणाम्। पंचम्यां लक्षत्रयं नारकाणाम्। षष्ठ्यां पंचोनं लक्षं नारकाणाम्। सप्तम्यां पंचैव नारकाणि। सर्वत्र श्रेणिबद्धेन्द्रकरहितपुष्पप्रकीर्णकानीति प्रमाणं व्यावर्णितं देहोऽपि व्यावर्णितस्तदव्यतिरेकाद्गुणगुण्यभेदेन[1]

की ऊँचाई प्रमाण से पाँच सौ धनुष ही है, अधिक नहीं है।

इस प्रकार से सभी नरक-पृथिवियों में अपने-अपने इन्द्रक-प्रस्तार से सम्बन्धित श्रेणीबद्ध, विश्रेणीबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक बिलों में नारकियों के शरीर की ऊँचाई अपने-अपने इन्द्रक के नारकियों की ऊँचाई के समान ही समझनी चाहिए। उसे ही कहते हैं—

प्रथम पृथिवी में सीमन्तक इन्द्रक नाम के प्रथम प्रस्तार की चारों महादिशाओं में उनंचास-उनंचास श्रेणीबद्ध नरक बिल हैं तथा चारों विदिशाओं में अड़तालीस-अड़तालीस बिल हैं। इस प्रकार एक-एक प्रस्तार के प्रति इन श्रेणीबद्ध, विश्रेणीबद्ध बिलों में आठ-आठ की हानि करते हुए अवधिस्थान नामक अन्तिम प्रस्तार की चारों दिशाओं में चार श्रेणीबद्ध बिलों के होने तक ऐसा करना चाहिए। इस प्रकार से प्रत्येक नरक के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक सभी को संकलित करने पर प्रथम पृथिवी में तीस लाख नरक बिल हैं। इन्हीं में से इन्द्रक-प्रस्तार तथा श्रेणीबद्ध की संख्या घटा देने पर पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण निकल आता है। दूसरी पृथिवी में पच्चीस लाख नरक बिल हैं। इनमें से इन्द्रक और श्रेणीबद्ध का प्रमाण घटा देने से पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण रह जाता है। तृतीय पृथिवी में पन्द्रह लाख नरक बिल हैं उसमें से इन्द्रक, श्रेणीबद्ध से रहित पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण है। चौथी में दश लाख नरक बिल हैं। इनमें भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध बिलों रहित पुष्पप्रकीर्णक बिल हैं। पाँचवीं में तीन लाख नरक बिल हैं। इसमें भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध रहित शेष पुष्पप्रकीर्णक बिल हैं। छठी में पाँच कम एक लाख नरक बिल हैं। इसमें भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध रहित शेष पुष्पप्रकीर्णक बिल समझना। सातवीं पृथिवी में पाँच ही नरकबिल हैं। इसमें प्रकीर्णक नहीं हैं। इस प्रकार से सभी नरकों में इन्द्रक और श्रेणीबद्ध के घटाने से पुष्पप्रकीर्णक बिलों का प्रमाण होता है, ऐसा कहा गया है।

देह के प्रमाण का वर्णन करने से देह का भी वर्णन कर दिया गया है, क्योंकि गुण और गुणी में अभेद होने से वह देह उस प्रमाण से अभिन्न ही है, इसलिए देह के स्वरूप को बिना कहे भी प्रमाण के कथन करने में कोई दोष नहीं है। नारकियों का शरीर वैक्रियिक होते हुए भी

---

१. क गुणगुण्यभेदाच्च।

ततो न दोषो देहस्वरूपमकथयित्वा प्रमाणस्य कथने। नारकाणां शरीरं बीभत्सं दुर्गन्धि वैक्रियिकं सर्वाशुभपुद्गलैर्निष्पन्नं सर्वदुःखकारणं हुण्डकसंस्थानमशुभनाम दुःस्वरवदनं कृमिकुलादिसंकीर्णमिति ॥१०६३॥

देवानां शरीरं व्यावर्णितं न तत्प्रमाणमतस्तदर्थमाह—

पणवीसं असुराणं सेसकुमाराण दस धणू चेव।
वितरजोइसियाणं दस सत्त धणू मुणेयव्वा १०६४॥

भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिभेदेन देवाश्चतुर्विधा भवन्ति। तत्र भवनवासिनां तावत्प्रमाणं व्यावर्णयति—पणवीसं—पंचभिरधिका विंशतिः पंचविंशतिः, असुराणं—असुरकुमाराणां, सेसकुमाराण—शेषकुमाराणां नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां, दस धणू—दश दण्डाः। चशब्दः समुच्चयार्थस्तेन सामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाणामेतदेव प्रमाणं शरीरस्य वेदितव्यम्। व्यंतराः किंनरकिंपुरुषगरुड[1]गन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः, जोइसियाणं—ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च व्यन्तराश्च ज्योतिष्काश्च व्यन्तरज्योतिष्कास्तेषां व्यन्तरज्योतिष्काणाम्, दस सत्त धणू—दश सप्त धनूंषि यथासंख्येन व्यन्तराणां दश धनूंषि

सभी अशुभ पुद्गलों से बना हुआ है, इसलिए अत्यन्त बीभत्स है, दुर्गन्धित है, सर्व दुःखों का कारण है। इसका हुण्डक संस्थान है, अशुभनाम, दुःस्वरयुक्त मुख वाला और कृमियों के समूह आदि से व्याप्त है।

देवों के शरीर का वर्णन किया है किन्तु उसके प्रमाण को नहीं बताया, अतः उसके लिए कहते हैं—

गाथार्थ—असुर कुमार देवों की ऊँचाई पच्चीस धनुष, शेष भवनवासियों की दश धनुष तथा व्यन्तर और ज्योतिषियों की क्रम से दश और सात धनुष समझना चाहिए ॥१०६४॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी के भेद से देवों के चार भेद होते हैं। उनमें भवनवासियों के प्रमाण का पहले कथन करते हैं। असुरकुमार देवों की ऊँचाई पच्चीस धनुष है। शेष कुमारों अर्थात् नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार देवों की ऊँचाई दश-दश धनुष प्रमाण है। 'च' शब्द समुच्चय के लिए है, अतः उससे यह समझना कि इनके जो सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक देव हैं उन देवों के शरीर का भी प्रमाण यही है। किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इन आठ प्रकार के व्यन्तर देवों के शरीर की ऊँचाई दश धनुष है तथा इनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं अतः शेषनिकाय अर्थात् सामानिक, पारिषद् आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक देवों के शरीर का उत्सेध भी दश धनुष है। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे—इन पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष है। इन देवों भी त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेद न होने से शेष सामानिक आदि देवों की ऊँचाई

---

१. ग्रन्थान्तरों में गरुड के स्थान पर महोरग नाम प्रसिद्ध है।

ज्योतिष्काणां च सप्त धनूंषि सामानिकपार्षदत्रायस्त्रिंशलोकपालवर्जितदेवनिकायानां च शरीरस्योत्सेधो ज्ञातव्य इति। भवनवासिनो दशप्रकारा भवन्ति—तत्र प्रथमप्रकारस्यासुरकुमारसंज्ञकस्य सामानिकादिसहितस्य शरीरोत्सेधः पंचविंशतिर्धनुषामुत्कृष्टः, नागकुमाराणां विद्युत्कुमाराणां सुपर्णकुमाराणामग्निकुमाराणां वातकुमाराणां स्तनितकुमाराणामुदधिकुमाराणां द्वीपकुमाराणां दिक्कुमाराणां सामानिकादिभेदभिन्नानां च दश दण्डाः शरीरस्योत्सेधः। व्यन्तराणामष्टप्रकाराणां स्वभेदभिन्नानां दश धनूंषि शरीरस्योत्सेधः। ज्योतिष्काणां च पंचप्रकाराणां स्वभेदभिन्नानां सप्त दण्डाः शरीरस्योत्सेधो ज्ञातव्य इति ॥१०६४॥

एते तिर्यग्लोके व्यवस्थितास्तद्द्वारेणैव तिरश्चां च वक्ष्यमाणत्वादुल्लंघ्य प्रमाणं मनुष्याणां तावदुत्कृष्टं प्रमाणमाह—

छद्धणुसहस्सुस्सेधं चदु दुगमिच्छंति भोगभूमीसु।
पणवीसं पंचसदा बोधव्वा कम्मभूमीसु ॥१०६५॥

छद्धणुसहस्स—षड् धनुषां सहस्राणि, उस्सेधं—उत्सेधं शरीरप्रमाणं, चदु—चत्वारि सहस्राणि धनुषां, दुगं—द्वे सहस्रे धनुषां, इच्छंति—अभ्युपगच्छन्ति, पूर्वाचार्या भोगभूमिषु दशप्रकारकल्पपादपोपलक्षितासु। पणवीसं—पंचविंशतिः, पंचसदा—पंचशतानि च धनुषां, बोधव्वा—बोद्धव्यानि ज्ञातव्यानि कर्मभूमिषु पंचसु भरतैरावतविदेहेषु। भोगभूमिषूत्कृष्टमध्यमजघन्यासु मनुष्याणामुत्सेधं यथासंख्येन षट् चत्वारि सहस्राणि द्वे च सहस्रे धनुषामिच्छन्ति, कर्मभूमिषु च मनुष्याणामुत्कृष्टमुत्सेधं शतपंचकं पंचविंशत्यधिकमिच्छन्तीति। ॥१०६५॥

सात धनुष ही है। अर्थात् असुरकुमार नामक भवनवासी देव और उनके सामानिक आदि देवों के शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई पच्चीस धनुष, नागकुमार आदि शेष भवनवासी देव व उनके सामानिक देवों की दश धनुष, आठ प्रकार के व्यन्तरों की व उनके सामानिक आदि देवों की दश धनुष तथा पाँच प्रकार के ज्योतिषियों की व उनके सामानिक आदि देवों की सात धनुष प्रमाण ऊँचाई है।

तिर्यंच तिर्यग्लोक में अवस्थित हैं, अतः तिर्यंचों का वर्णन प्रथम कहना चाहिए किन्तु उनके प्रमाण का उल्लंघन कर पहले मनुष्यों का उत्कृष्ट प्रमाण कहते हैं। तिर्यंचों का वर्णन आगे करेंगे।

गाथार्थ—भोगभूमि के मनुष्यों में छह हजार धनुष, चार हजार धनुष और दो हजार धनुष स्वीकार करते हैं। भूमियों में पाँच सौ पच्चीस धनुष जानना चाहिए ॥१०६५॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार के कल्पवृक्षों से संयुक्त भोगभूमियाँ उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन प्रकार की होती हैं। इन उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियों में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई क्रम से छह हजार धनुष, चार हजार धनुष और दो हजार धनुष है ऐसा पूर्वाचार्य स्वीकार करते हैं। पाँच भरत, पाँच ऐरावत तथा पाँच महाविदेहों की कर्मभूमियों में मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष है।

---

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में देवों की अवगाहना के अनन्तर है।

प्राधान्याद् देवानां कल्पवासिनां तावदुत्सेधमाह—

सोहम्मीसाणेसु य देवा खलु होंति सत्तरयणीओ ।
छच्चेव य रयणीओ सणक्कुमारे हि माहिंदे ॥१०६६॥

सोहम्मीसाणेसु य—सुधर्मा [1]नाम्नी सभा तस्यां भवः सौधर्म इन्द्रस्तेन सहचरितं विमानं कल्पो वा, सौधर्मश्चैशानश्च सौधर्मैशानौ तयोः सौधर्मैशानयोः श्रेणिबद्धप्रकीर्णकसहितयोः, देवा—देवा इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाः, खलु—स्फुटं, सत्तरयणीओ—सप्त हस्ताः, छच्चेव—षडेव च, रयणीओ—रत्नयो हस्ताः, सणक्कुमारे—सनत्कुमारे च, माहिंदे—माहेन्द्रे। सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्देवा इन्द्रादयः शरीरप्रमाणेन सप्तहस्ता भवन्ति, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्च कल्पयोश्च देवा इन्द्रादयः षड्रत्नयः प्रमाणेन भवन्तीति ॥१०६६॥

शेषकल्पेषु देवोत्सेधं प्रतिपादयन्नाह—

बंभे य लंतवे वि य कप्पे खलु होंति पंच रयणीओ ।
चत्तारि य रयणीओ सुक्कसहस्सारकप्पेसु ॥१०६७॥

बंभे—ब्रह्मकल्पे, लंतवे वि य—लान्तवकल्पे, कल्पशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। खलु—स्फुटं व्यक्तं सर्वमेतत्, होंति—भवन्ति। पंचरयणीओ—पंच रत्नयः। देवा इत्यनुवर्तते। तेन सह संबन्धः सर्वत्र द्रष्टव्यः। चत्तारि य—चतस्रश्च, रयणीओ—रत्नयो हस्ताः, सुक्क—शुक्रकल्पे, सहस्सार—सहस्रारकल्पे, अत्रापि कल्पशब्दः प्रत्येमभिसंबध्यते। उपलक्षणमात्रमेतत्तेनान्येषां ब्रह्मोत्तरकापिष्ठमहाशुक्रशतारसहस्रारकल्पानां

देवों में कल्पवासी देव प्रधान होने से पहले उनकी ऊँचाई कहते हैं—

गाथार्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्ग में देव सात हाथ ऊँचे हैं और सनत्कुमार तथा महेन्द्र स्वर्ग में छह हाथ प्रमाण होते हैं ॥१०६६॥

आचारवृत्ति—सुधर्मा नाम की सभा में जो हुआ है अर्थात् जो उसका अधिपति है वह इन्द्र 'सौधर्म' कहलाता है। उससे सहचारित विमान अथवा कल्प भी सौधर्म कहलाता है। ऐसे ही आगे के ईशान आदि इन्द्रों के नाम से ही स्वर्गों के नाम हैं। सौधर्म और ईशान स्वर्ग के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक ये सभी देव सात हाथ प्रमाण शरीरवाले होते हैं। तथा सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र आदि सभी देव छह हाथ प्रमाण शरीरवाले होते हैं।

शेष कल्पों में देवों की ऊँचाई का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ब्रह्म और लान्तव कल्प में पाँच हाथ तथा शुक्र और सहस्रार कल्प में चार हाथ प्रमाण ऊँचाई होती है ॥१०६७॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर कल्प शब्द ब्रह्म आदि प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए जैसे ब्रह्मकल्प, लान्तवकल्प, शुक्रकल्प और सहस्रारकल्प। यह उपलक्षणमात्र है। उससे अन्य स्वर्गों में भी ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महाशुक्र और शतार-सहस्रार कल्पों को भी ग्रहण कर लेना

---

1. क नाम।

च द्वयं द्रष्टव्यम् । श्रेणिबद्धप्रकीर्णकानां च । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु च चतुर्षु कल्पेषु देवा इन्द्रादयः पंच-हस्ताः प्रमाणेन भवन्ति, तथा शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु च चतुर्षु कल्पेषु देवा इन्द्रसामानिकादयश्च चत्वारो हस्ताः शरीरप्रमाणेन भवन्तीति ॥१०६७॥

आनतादिदेवप्रमाणमाह—

आणदपाणदकप्पे अद्धुट्ठाओ हवंति रयणीओ।
तिण्णेव य रयणीओ बोधव्वा आरणच्चुदे चावि ॥१०६८॥

आणद—आनतकल्पे, पाणद—प्राणतकल्पे, कल्पशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अद्धुट्ठाओ—अर्धा-धिकास्तिस्रो रत्नयस्त्रयो हस्ता हस्तार्धं च, हवन्ति—भवन्ति, रयणीओ—रत्नयः। तिण्णेव—तिस्रश्च, रयणीओ—रत्नयः, बोधव्वा ज्ञातव्याः, आरणच्चुदे चावि—आरणाच्युतयोरपि आरणकल्पेऽच्युतकल्पे च आनतप्राणतकल्पयोर्देवा इन्द्रादयस्त्रयो हस्ता अर्धाधिकाः शरीरप्रमाणेन बोद्धव्याः, आरणाच्युतकल्पयोश्च देवा इन्द्रादयस्त्रयो हस्ताः शरीरप्रमाणेन बोद्धव्या इति ॥१०६८॥

नवग्रैवेयकदेवशरीरं प्रतिपादयन्नाह—

हेट्ठिमगेवज्जेसु य अड्ढाइज्जा हवंति रयणीओ।
मज्झिमगेवज्जेसु य वे रयणी होंति उस्सेहो ॥१०६९॥

हेट्ठिमगेवज्जेसु य—अधोग्रैवेयकेषु अधो व्यवस्थिता ये ये त्रयो ग्रैवेयककल्पास्तेषु, अड्ढाइज्जा—अर्धाधिके रत्निद्वये तृतीयार्धसहिते रत्नी वा भवतः, मज्झिमगेवज्जेसु—मध्यमग्रैवेयकेषु च मध्यमप्रदेशस्थितेषु त्रिषु ग्रैवेयकेषु, वे रयणी—द्वे रत्नी द्वौ हस्तौ, हवन्ति—भवतः, उस्सेहो—उत्सेधः शरीरप्रमाणम्। नव ग्रैवेयक-

---

चाहिए। तथा वहाँ के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों को भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ इन चार कल्पों में इन्द्र आदि देव पाँच हाथ प्रमाण शरीर-वाले होते हैं। तथा शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन चार कल्पों में इन्द्र, सामानिक आदि देव चार हाथ प्रमाण शरीर के धारक होते हैं।

आनत आदि देवों के शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—ये देव आनत-प्राणत कल्प में साढ़े तीन हाथ और आरण-अच्युत कल्प में तीन हाथ प्रमाण ऊँचे होते हैं, ऐसा जानना ॥१०६८॥

आचारवृत्ति—आनत-प्राणत कल्प में इन्द्रादिक देव साढ़े तीन हाथ प्रमाण ऊँचे हैं और आरण-अच्युत कल्प में तीन हाथ प्रमाण ऊँचाईवाले होते हैं।

नवग्रैवेयक के देवों के शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—अधोग्रैवेयकों में ढाई हाथ प्रमाण होते हैं। तथा मध्यम ग्रैवेयकों में ऊँचाई दो हाथ प्रमाण है ॥१०६९॥

आचारवृत्ति—अधोभाग में तीन ग्रैवेयक हैं। उनमें अहमिन्द्रों के शरीर की ऊँचाई ढाई हाथ है और मध्य भाग में स्थित तीन ग्रैवेयकों के अहमिन्द्र देवों की ऊँचाई दो हाथ है। अर्थात् नव ग्रैवेयक कल्प हैं। उनमें से अधोऽधः एक कल्प है, अधोमध्यम द्वितीय कल्प है, अध-उपरि

कल्पा भवन्ति तत्राधोऽध एकः कल्पः अधोमध्यमो द्वितीयः कल्पः अधउपरि तृतीयः कल्पस्तेषु कल्पेषु त्रिषु देवा अहमिन्द्रा अर्द्धाधिको द्वौ हस्तौ प्रमाणेन भवन्ति, तथाऽधोमध्यमः कल्प एकः मध्यमध्यमकल्पो द्वितीयः मध्यमो-परि कल्पस्तृतीय एतेषु त्रिषु कल्पेषु देवा अहमिन्द्रा द्विहस्तोत्सेधा भवन्तीति ॥१०६९॥

उपरिमग्रैवेयकदेवशरीरोत्सेधमनुत्तरदेवोत्सेधं चाह—

उवरिमगेवज्जेसु य दिवड्ढरयणी हवे य उस्सेहो।
अणुदिसणुत्तरदेवा एया रयणी सरीराणि ॥१०७०॥

उवरिमगेवज्जेसु य—उपरिमग्रैवेयकेषूपरिप्रदेशव्यवस्थितेषु त्रिषु ग्रैवेयककल्पेषु, दिवड्ढरयणी—अर्द्धाधिकरत्निः हस्तोपरि च हस्तार्द्ध, हवे य—भवेत्, उस्सेहो—उत्सेधः। उपर्यध एकः कल्पः, उपरिममध्यमो द्वितीयः कल्पः, उपर्युपरि तृतीयः कल्पः, एतेषु त्रिषु ग्रैवेयककल्पेषु देवानां शरीरोत्सेध एको हस्तो हस्तार्द्धं च। यद्यपि सविकल्पा विद्यन्तेऽत्र आगमतस्ते ज्ञातव्या इति। अणुदिस—अनुदिशकल्पे नवसु विमानेषु, अणुत्तर-अनुत्तरकल्पे च पञ्चसु विमानेषु अहमिन्द्रा, एया रयणी सरीराणि—एकरत्निशरीरा एकहस्तदेहप्रमाणाः, अनु-दिशानुत्तरकल्पयोश्चतुर्दशविमानेषु देवा एकहस्तशरीरोत्सेधा भवन्तीति ॥१०७०॥

देवमनुष्यनारकाणां प्रमाणपूर्वकदेहस्वरूपं प्रतिपाद्य तिरश्चामेकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तानां शरीरो-त्सेधद्वारेण जघन्यदेहमाह—

अंगुलअसंखभागं जं देहं अंगुलस्स तं देह।
एइंदियादिपंचेंदियंतदेहं [1]पमाणेण ॥१०७१॥

तृतीय कल्प है, इन तीन कल्पों में अहमिन्द्र देव ढाई हाथ प्रमाण होते हैं। मध्य भाग में अधोमध्यम एक कल्प है, मध्यमध्यम द्वितीय कल्प है, और मध्यमोपरि नाम का तृतीय कल्प है। इन तीनों कल्पों में अहमिन्द्र देव दो हाथ प्रमाण वाले होते हैं।

उपरिम ग्रैवेयक के देवों के शरीर का उत्सेध और अनुत्तरदेवों का उत्सेध कहते हैं—

गाथार्थ—उपरिम ग्रैवेयकों में डेढ़ हाथ की ऊँचाई है और अनुदिश-अनुत्तर के देव एक हाथ के शरीरवाले हैं ॥१०७०॥

आचारवृत्ति—उपरिम भाग में स्थित तीन ग्रैवेयकों में डेढ़ हाथ की ऊँचाई है अर्थात् ऊपर के भाग में उपर्यधः नाम का एक कल्प है, उपरिम-मध्यम द्वितीय कल्प है और उपर्युपरि तृतीय कल्प है। इन तीनों ग्रैवेयक कल्पों में अहमिन्द्र देवों के शरीर की ऊँचाई डेढ़ हाथ है। यद्यपि इनमें भेद हैं अतः इन्हें आगम से जानना चाहिए। अनुदिश कल्प नामक नव विमानों में और अनुत्तर कल्प नामक पाँच विमानों में अहमिन्द्र देव एक हाथ प्रमाण ऊँचाई वाले होते हैं अर्थात् अनुदिश और अनुत्तर इन चौदह विमानों में देवों के शरीर का उत्सेध एक हाथ प्रमाण है।

देव, मनुष्य और नारकियों का प्रमाणपूर्वक देह-स्वरूप प्रतिपादित करके एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रियपर्यन्त तिर्यंचों के शरीर की ऊँचाई द्वारा जघन्य देह को कहते हैं—

गाथार्थ—अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जो देह है, वह देह जघन्य प्रमाण से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त है ॥१०७१॥

---

1. क-जहण्णेण।

भागं—भागः, असंखेज्जदिमं—असंख्यातः, जं देहं—य उत्पन्नो बालिस्थो यत्परिमाणोऽङ्गुलस्य द्रव्यांगुलस्य, तं देहं—स जघन्यस्तावान्निष्कृष्टतत्परिमाणः। एइंदियादि—एकेन्द्रिय आदिर्येषां ते एकेन्द्रियादयः, पंचेंदियंता—पंचेन्द्रियोऽन्ते येषां ते पंचेन्द्रियान्ताः। एकेन्द्रियादयश्च ते पंचेन्द्रियान्तास्तेषामेकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियान्तानां तेषां देहः शरीरमेकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियान्तदेहः, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां शरीरं, जघन्येन—द्रव्यांगुलमसंख्यातखण्डं कृत्वा तत्रैकखण्डोत्पन्नो यावान् देहो जघन्यस्तन्मात्रो देहः शरीरं जघन्येनैकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तानामिति ॥१०७१॥

तेषामेवोत्कृष्टप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

साहियसहस्समेयं तु जोयणाणं हवेज्ज उक्कस्सं।
एयंदियस्स देहं तं पुण पउमत्ति णादव्वं ॥१०७२॥

साहिय—सहाधिकेन वर्तत इति साधिकं सक्रोशद्वयं, सहस्समेयं तु— सहस्रमेकं तु एकम् एकसहस्रं, जोयणाणं—योजनानां, हवेज्ज—भवेत्, उक्कस्सं—उत्कृष्टं, एइंदियस्स—एकेन्द्रियस्य, देहं—देहः शरीरं, तं पुण—स पुनः, पउमत्ति णादव्वं—पद्ममिति ज्ञातव्यम्। तेन पृथिवीकायादिवायुकायान्तानां त्रसानां चैतावन्मात्रस्य देहस्य निराकरणं द्रष्टव्यम्। योजनानां सहस्रमेकं साधिकं च तन्मात्र एकेन्द्रियस्य देहः स पुनर्देहो वनस्पतिसंज्ञकस्य पद्मस्य ज्ञातव्यः। प्रमाणप्रमाणवतोरभेदं कृत्वा निर्देश इति ॥१०७२॥

द्वीन्द्रियादीनामुत्कृष्टदेहप्रमाणमाह—

संखो पुण बारसजोयणाणि गोभी भवे तिकोसं तु।
भमरो जोयणमेत्तं मच्छो पुण जोयणसहस्सं ॥१०७३॥

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इन जीवों के शरीर का प्रमाण जघन्य रूप से द्रव्यांगुल प्रमाण के असंख्यात खण्ड करके उसमें से एक भाग प्रमाण है। अर्थात् इनका जघन्य शरीर द्रव्यांगुल[1] के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

इन जीवों की ही उत्कृष्ट अवगाहना कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन होता है ॥१०७२॥

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट शरीर कुछ अधिक—दो कोस अधिक एक हजार योजन प्रमाण है। वनस्पति कायिक में यह कमल का जानना चाहिए। प्रमाण और प्रमाणवान् में अभेद करके यह कथन किया गया है। इस कथन से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और त्रस इन जीवों का इतने बड़े शरीर का निराकरण किया गया समझना चाहिए।

द्वीन्द्रिय आदि जीवों के उत्कृष्ट शरीर-प्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—शंख बारह योजन, गोभी अर्थात् खजूरा नामक कीड़ा तीन कोश, भ्रमर एक योजन तथा मत्स्य एक हजार योजन प्रमाण हैं ॥१०७३॥

---

१. "अष्टयवनिष्पन्नाङ्गुलेन येऽवष्टब्धाः प्रदेशाः तेषां मध्येऽनेकस्याः प्रदेशपंक्तेः यावत्प्रमाणस्तावन्मात्रं द्रव्यांगुलं"—मूलाचार पर्याप्त्यधिकार।

संखो पुण—शंखः पुनर्द्वीन्द्रियः, बारसजोयणाणि—द्वादशयोजनानि द्वादशयोजनो वा, गोभी—गोपालिका खर्जूरको वा, भवे—भवेत्, तिकोसं तु—त्रिकोशं तु त्रिकोशमात्रस्त्रीन्द्रियः, भमरो—भ्रमरो मधुकरश्चतुरिन्द्रियः, जोयणमेत्तं—योजनमात्रं गव्यूतिचतुष्टयमात्रः, मच्छो—मत्स्यः, पुण—पुनः, जोयणसहस्सं—योजनसहस्रः। द्वीन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहः शंखः स च द्वादशयोजनमात्रः, त्रीन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहो गोभी सा च त्रिकोशपरिमिता[1], चतुरिन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहो भ्रमरः स च योजनप्रमाणः, पंचेन्द्रियाणां मध्ये उत्कृष्टदेहो मत्स्यः स च योजनसहस्रायाम इति ॥१०७३॥

प्रमाणमपि प्रमाणसूत्रेण गृहीतं यतोऽतो जम्बूद्वीपस्यापि परिधिप्रमाणमाह—

जंबूदीवपरिहिओ तिण्णिव लक्खं च सोलहसहस्सं।
बे चेव जोयणसया सत्तावीसा य होंति बोधव्वा ॥१०७४॥

तिण्णेव गाउआइं अट्ठावीसं च धणुसयं भणियं।
तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलमेव सविसेसं ॥१०७५॥

जम्बूद्वीपो योजनलक्षविष्कम्भ एतावत्परिधिप्रमाणग्रहणस्यान्यथानुपपत्तेस्तस्य च ग्रहणं बहुप्रमाणविकल्पसंग्रहणं जम्बूद्वीपप्रमाणग्रहणं च स्वयंभूरमणद्वीपसमुद्रायामप्रमाणज्ञापनार्थं तयोश्च प्रमाणकथनमुत्कृष्टदेहप्रमाणैकेन्द्रियाद्यवस्थानज्ञापनार्थमित्यतो योजनलक्षं जम्बूद्वीपविष्कम्भवर्गं दशगुणं कृत्वा वर्गमूलं च गृहीत्वैव पठति;—जम्बूदीवपरिहिओ—जम्बूवृक्षोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपोऽसंख्यातद्वीपसमुद्राणां मध्यनाभि-

---

आचारवृत्ति—द्वीन्द्रियों में शंख का बारह योजन का शरीर है, त्रीन्द्रियों में गोपालिका या खर्जूरक प्राणी का शरीर तीन कोश है, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर का एक योजन—चार कोश प्रमाण है और पंचेन्द्रियों में महामत्स्य का उत्कृष्ट शरीर एक हजार योजन लम्बा है।

यहाँ प्रमाण का भी प्रमाणसूत्र से ग्रहण हो गया है, अतः जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन समझना तथा तीन कोश, अट्ठाईस सौ धनुष, साढ़े तेरह अंगुल और कुछ अधिक प्रमाण है ॥१०७४-१०७५॥

आचारवृत्ति—जम्बूद्वीप के विस्तार का प्रमाण एक लाख योजन है अन्यथा गाथा में कथित परिधि का इतना प्रमाण बन नहीं सकता था। तथा इसका ग्रहण बहुत प्रमाण के भेदों का संग्रह करने के लिए है। अर्थात् जम्बूद्वीप के प्रमाण का ग्रहण स्वयंभूरमणद्वीप और स्वयंभूरमणसमुद्र के विस्तार का प्रमाण बतलाने के लिए है और इन दोनों के प्रमाण का कथन उत्कृष्ट शरीर प्रमाण से सहित एकेन्द्रिय आदि जीवों के अवस्थान को बतलाने के लिए है। इसलिए जम्बूद्वीप के विस्तार में एक लाख योजन का वर्ग करके, उसे दश गुणा करके, उसका वर्गमूल निकालना चाहिए। तब जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण निकल आता है। अर्थात् तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, अट्ठाईस सौ धनुष, साढ़े तेरह अंगुल

---

१. क त्रिकोशायामा।

श्रितं तावत् सर्वेषां विष्कम्भायामपरिधिप्रमाणं, परिरहिओ—परिधिः परिक्षेपो जम्बूद्वीपस्य परिधिर्जंबूद्वीप-परिधिः, तिण्णेव सयसं—त्रीण्येव लक्षाणि, सोलहसहस्सं—षोडशसहस्राणि, बे चेव जोयणसया—द्वे चैव योजनानां शते, सत्तावीसा य—सप्तविंशतिश्च योजनानां सर्वत्र संबन्धः, होंति—भवन्ति, कोसत्तया—क्रोश-त्रयाणि। जम्बूद्वीपस्य परिधेः, प्रमाणं योजनानां त्रीणि लक्षाणि षोडशसहस्राणि, योजनानां द्वे च शते योजनानां सप्तविंशतिश्च। अथवा भेदेन निर्देशो जम्बूद्वीपपरिधिः योजनानां त्रीणि लक्षाणि षोडशसहस्राणि द्वे शते सप्त-विंशतिश्चेति। तथा तिण्णेव—त्रीण्येव, गाउआइं—गव्यूतानि क्रोशाः, अट्ठावीसं च—अष्टाविंशतिश्च, धणु—धनुषां, सयं—शतं, भणियं—भणितं, तेरस य—त्रयोदशानि च, अंगुलाइं—अंगुलानि च, अद्धंगुलमेव—अर्धांगुलमेव च, सविसेसं—सविशेषो यवः सातिरेकः किंचिदेव तेन विशेषेण सह वर्तत इति सविशेषमर्द्धां-गुलेन संबन्धः। त्रीणि गव्यूतानि धनुषां शतमष्टाविंशत्यधिकं त्रयोदशानि चांगुलानि सविशेषमर्द्धांगुलं चेति ॥१०७४-१०७५॥

जम्बूद्वीपमादिं कृत्वा कियतां द्वीपानां नामान्याह—

जंबूदीवो धादइसंडो पुक्खरवरो य तह दीवो।
वारुणिवर खीरवरो य घिदवरो खोदवरदीवो ॥१०७६॥

णंदीसरो य अरुणो अरुणब्भासो य कुंडलवरो य।
संखवर रुजग भुजगवर कुसवर कुंचवरदीवो ॥१०७७॥

जंबूदीवो—जम्बूद्वीपः प्रथमो द्वीपः, धादइसंडो—धातकीखण्डो द्वितीयो द्वीपः, पुक्खरवरो—पुष्करवरस्तृतीयो द्वीपः, तह—तथा, दीवो—द्वीपः, वारुणिवर—वारुणीवरश्चतुर्थो द्वीपः, खीरवरो—क्षीर-वरः पंचमो द्वीपः, घिदवरो—घृतवरः षष्ठो द्वीपः, खोदवरो—क्षौद्रवरः सप्तमो द्वीपः णंदीसरो य—नंदीश्वर-श्चाष्टमो द्वीपः, अरुणो—अरुणाख्यो नवमो द्वीपः, अरुणब्भासो य—अरुणभासश्च दशमो द्वीपः, कुंडलवरो य—कुण्डलवरश्चैकादशो द्वीपः, संखवर—शंखवरो द्वादशो द्वीपः, रुजग—रुचकस्त्रयोदशो द्वीपः, भुजगवरो—

और एक जौ प्रमाण है। जम्बूद्वीप से उपलक्षित यह जम्बूवृक्ष असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य में नाभि के समान है। सभी द्वीपसमुद्रों के विस्तार-आयाम और परिधि का प्रमाण इस जम्बूद्वीप के आश्रित है। इस प्रकार से इन दो गाथाओं में जम्बूद्वीप की परिधि का प्रमाण कह देने से उस द्वीप का एवं सभी द्वीप और समुद्रों का विस्तार तथा परिधि का प्रमाण निकाल लेना चाहिए, क्योंकि आगे के सभी समुद्र व द्वीप एक-दूसरे को वेष्टित करते हुए तथा दूने-दूने प्रमाणवाले होते गये हैं।

जम्बूद्वीप को आदि में करके कितने ही द्वीपों के नाम कहते हैं—

गाथार्थ—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करवर, वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर, क्षौद्रवर, नन्दीश्वर, अरुण, अरुणभास, कुण्डलवर, शंखवर, रुचक, भुजगवर, कुशवर और क्रौंचवर—इस प्रकार से सोलह द्वीप हैं ॥१०७६-१०७७॥

आचारवृत्ति—पहला जम्बूद्वीप, दूसरा धातकीखण्ड द्वीप, तीसरा पुष्करवरद्वीप, चौथा वारुणीवरद्वीप, पाँचवाँ क्षीरवरद्वीप, छठा घृतवरद्वीप, सातवाँ क्षौद्रवरद्वीप, आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप, नवम अरुणद्वीप, दसवाँ अरुणभासद्वीप, ग्यारहवाँ कुण्डलवरद्वीप, बारहवाँ शंखवर-

भुजगवरश्चतुर्दशो द्वीपः, कुसवरो—कुशवरः पंचदशो द्वीपः, कुंचवरदीवो—क्रौंचवरद्वीपश्च षोडश इति ।
॥१०७६-१०७७॥

एवं नामानि गृहीत्वा विष्कम्भप्रमाणमाह—

एवं दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणवित्थडा असंखेज्जा ।
एदे दु तिरियलोए सयंभुरमणोदहिं जाव ॥१०७८॥

एवम् अनेन प्रकारेण, दीवसमुद्दा—द्वीपसमुद्राः, दुगुणदुगुणवित्थडा—दुगुणो दुगुणो विस्तारो येषां ते द्विगुणद्विगुणविस्ताराः, कियंतः, असंखेज्जा—असंख्याताः संख्याप्रमितिक्रान्ताः.[1] । जम्बूद्वीपविष्कम्भाल्लवणसमुद्रो द्विगुणविष्कम्भो लवणसमुद्राच्च धातकीखण्डद्वीपो द्विगुणविष्कम्भः । अनेन प्रकारेण द्वीपात्समुद्रो द्विगुणविस्तारः समुद्राच्च द्वीपः । अतः सर्वे द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणविस्तारा असंख्याता भवन्ति । ननु समुद्रग्रहणं कुतो लब्धम् ? द्वीपग्रहणात्, तदपि कुतः ? साहचर्यात्पर्वतनारदवत् । क्व व्यवस्थिता इत्याशंकायामाह—एदे दु तिरियलोए—एते तु द्वीपसमुद्रास्तिर्यग्लोके रज्जुमात्रायामे, कियद्दूरं ? सयंभुरमणोदहिं जाव—यावत्स्वयंभूरमणोदधिः । स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्ता असंख्याता द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणविस्तारा द्रष्टव्या इति ॥१०७८॥

असंख्याता इति तु न ज्ञायन्ते, कियन्त इत्यतस्तन्निर्णयमाह—

जावदिया उद्धारा अड्ढाइज्जाण सायरुवमाणं ।
तावदिया खलु रोमा हवंति दीवा समुद्दा य ॥१०७९॥

द्वीप, तेरहवाँ रुचकवरद्वीप, चौदहवाँ भुजगवरद्वीप, पन्द्रहवाँ कुशवरद्वीप, और सोलहवाँ क्रौंचवरद्वीप—ये सोलह द्वीपों के नाम हैं।

इस प्रकार नामों को कहकर इनका विस्तार बताते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार ये द्वीप-समुद्र तिर्यग्लोक में स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त दुगुने-दुगुने विस्तारवाले असंख्यात हैं ॥१०७८॥

आचारवृत्ति—ये द्वीप-समुद्र इस एक रज्जुप्रमाण विस्तारवाले तिर्यग्लोक में असंख्यात प्रमाण हैं जो कि स्वयंभूरमणसमुद्र पर्यन्त दूने-दूने विस्तार वाले होते गये हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के विस्तार से लवण समुद्र का विस्तार दूना है, लवण समुद्र के विस्तार से धातकीखण्ड का दूना है। इसी प्रकार से द्वीप से समुद्र का विस्तार दूना है और समुद्र से द्वीप का विस्तार दूना है। इस तरह सभी द्वीप समुद्र दूने-दूने विस्तारवाले होते हुए संख्या को उलंघन कर असंख्यात हो गये हैं। शंका—समुद्र का ग्रहण कैसे प्राप्त हुआ ? समाधान द्वीप के ग्रहण करने से समुद्र का ग्रहण हो जाता है। शंका—यह भी कैसे ? समाधान—साहचर्य से। जैसा कि पर्वत का ग्रहण करने से उसके सहचारी होने से नारद का ग्रहण हो जाता है।

'असंख्यात' ऐसा कहने से यह नहीं मालूम हुआ कि किस असंख्य-प्रमाण हैं। अतः उसके निर्णय के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—ढाई सागरोपम में जितने उद्धार पल्य हैं उतने रोमखण्ड प्रमाण द्वीप और समुद्र हैं ॥१०७९॥

---

१. संख्यातप्रमाणमतिक्रान्ताः द ।

जावदिया—यावन्ति [1]यन्मात्राणि, उद्धारा—उद्धाराणि उद्धारपल्योपमानि तेषु यावन्ति रोमाणि, अड्ढाइज्जाण—अर्द्धतृतीययोर्द्वयोरर्द्धाधिकयोः, सागरुवमाण—सागरोपमयोः, तावदिया—तावन्तस्तन्मात्राः खलु—स्फुटं, रोमा—उद्धारेषु रोमाणि सुकुमारोरणरोमाग्राणि, हवंति—भवन्ति, दीवा—द्वीपाः समुद्दा य—समुद्राश्च। प्रमाणयोजनावगाहविष्कम्भायामं कूपं कृत्वा सप्तरात्रजातमात्रोरणरोमाग्रभागैः पूर्णं च कृत्वा तत्र यावन्मात्राणि रोमाग्राणि तावन्मात्राणि वर्षशतानि गृहीत्वा तत्र यावन्मात्राः समयाः व्यवहारपल्योपमं नाम। व्यवहारपल्योपमे चैकैकं रोम असंख्यातवर्षकोटीसमयमात्रान् भागान् कृत्वा वर्षशतसमयैश्चैकैकं खण्डं प्रगुण्य तत्र यावन्मात्राः समयाः तावन्मात्रमुद्धारपल्योपमं भवति। उद्धारपल्योपमानि च दशकोटीकोटीमात्राणि गृहीत्वैकं उद्धारसागरोपमं भवति। तावन्मात्रयोर्द्वयोः सार्द्धयोः सागरोपमयोर्यावन्मात्राण्युद्धारपल्योपमानि तत्र च यावन्मात्राणि रोमाणि तावन्मात्राः स्फुटं द्वीपसमुद्रा भवन्तीति ॥१०७९॥

ननु द्वीपग्रहणेन च समुद्राणां ग्रहणं संजातं तत्र न ज्ञायन्ते किमभिधानास्त इत्याशंकायामाह—

जंबूदीवो लवणो धादइसंडे य कालउदधी य।
सेसाणं दीवाणं दीवसरिसणामया उदधी ॥१०८०॥

जंबूदीवे—जम्बूद्वीपे, लवणो—लवणसमुद्रः, धादइसंडे य—धातकीखण्डे च, कालउदधी य—कालोदधिसमुद्रः, सेसाणं—शेषेषु जम्बूद्वीपधातकीखण्डवर्जितेषु, दीवाणं—द्वीपेषु द्विर्गता आपो येषां ते द्वीपा

आचारवृत्ति—ढाई सागरोपम में उद्धार के जितने रोम खण्ड हैं उतने रोम खण्ड प्रमाण असंख्यात द्वीप और समुद्र माने गये हैं। उद्धार पल्य को समझने की प्रक्रिया बताते हैं—प्रमाण-योजन अर्थात् दो हजार कोश परिमाण का लम्बा, चौड़ा और गहरा एक कूप—विशाल गड्ढा करके जन्म से सात दिन के मेढ़े के शिशु के कोमल बारीक रोमों के अग्रभाग जैसे खण्डों से उस गड्ढे को पूरा भर दें। पुनः जितने रोमखण्ड उसमें हैं उतने मात्र सौ वर्ष में अर्थात् सौ-सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक-एक रोमखण्ड को निकालें। उसमें जितना समय लगे उतने समय मात्र का नाम व्यवहार-पल्य है। व्यवहार-पल्य के एक-एक रोम खण्ड में असंख्यात करोड़ वर्ष के जितने समय हैं उतने खण्ड कर देने चाहिए। पुनः उन एक-एक खण्ड को सौ-सौ वर्ष के समयों से गुणा कर देना चाहिए। ऐसा करने से जितने समय होते हैं उतने को उद्धारपल्योपम कहते हैं। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोड़ाकोड़ी होती है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योपम का एक उद्धार सागरोपम होता है। इस प्रकार से बने हुए ढाई उद्धार सागरोपम में जितने उद्धार पल्योपम हैं और उनमें जितने मात्र रोम खण्ड हैं, उतने प्रमाण द्वीप और समुद्र होते हैं।

द्वीप के ग्रहण से समुद्रों का ग्रहण हो गया है किन्तु वहाँ यह नहीं बताया गया है कि उनके क्या नाम हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जम्बूद्वीप को वेष्टित कर लवण नाम का समुद्र है और धातकीखण्ड के बाद कालोदधि है। पुनः शेष द्वीपों के समुद्र अपने-अपने द्वीपसदृश नामवाले हैं ॥१०८०॥

आचारवृत्ति—जिनके दोनों तरफ जल है वे द्वीप कहलाते हैं। अर्थात् जल रहित

1. यावन्मात्राणि क०

जलरहितमध्यप्रदेशास्तेषु द्वीपेषु, दीवसरित्थणामया—द्वीपैः सदृशानि समानानि नामानि येषां ते द्वीपसदृशनामानः, उवही—उदकानि धीयन्ते येषु त उदधयः समुद्राः। जम्बूद्वीपे लवणसमुद्रः, धातकीखण्डे च कालोदधिसमुद्रः, शेषेषु पुनर्द्वीपेषु ये समुद्रास्ते स्वकीयस्वकीयद्वीपनामसंज्ञका भवन्तीति ॥१०८०॥

एते समुद्रा लवणोदादयः किं समानरसा[1] इत्याशंकायामाह—

पत्तेयरसा चत्तारि सायरा तिण्णि होंति उदयरसा।
अवसेसा य समुद्दा खोदरसा होंति णायव्वा ॥१०८१॥

पत्तेयरसा—प्रत्येकः पृथक् पृथग् रसः स्वादो येषां ते प्रत्येकरसा भिन्नस्वादाः, चत्तारि—चत्वारः, सायरा—सागराः समुद्राः, तिण्णि—त्रयः, होंति—भवन्ति, उदयरसा—उदकरसा उदकं रसो येषां ते उदकरसाः पानीयरसपूर्णाः। अवसेसा य—अवशेषाश्चैतेभ्यो येऽन्ये, समुद्दा—समुद्राः, खोदरसा—क्षौद्ररसाः इक्षो रस इव रसो येषां त इक्षुरसा मधुरस्वादुपानीयाः, होंति—भवन्ति, णायव्वा—ज्ञातव्याः। चत्वारः समुद्राः प्रत्येकरसाः त्रय उदकरसाः समुद्राः, शेषाः क्षौद्ररसा ज्ञातव्या भवन्तीति ॥१०८१॥

के प्रत्येकरसाः के चोदकरसा इत्याशंकायामाह—

वारुणिवर खीरवरो घदवर लवणो य होंति पत्तेया।
कालो पुक्खर उवधी सयंभुरमणो य उदयरसा ॥१०८२॥

वारुणिवर—वारुणीवरः समुद्रो वारुणी मद्यविशेषस्तस्या रस इव रसो यस्य स वारुणीरसो वारुणीवरः, खीरवरो—क्षीरवरः क्षीरस्य रस इव रसो यस्य स क्षीररसः क्षीरवरः, घदवर—घृतवरः घृतस्य रस इव रसो यस्य स घृतरसः, लवणो य—लवणश्च लवणस्य रस इव रसो यस्य स लवणरस लवणसमुद्रः, होंति—

मध्य प्रदेश द्वीप कहलाता है और जो उदक को धारण करते हैं वे उदधि हैं। जम्बूद्वीप को वेष्टित कर लवणसमुद्र है, धातकीखण्ड को वेष्टित कर कालोदधि समुद्र है। पुनः शेष द्वीप के जो समुद्र हैं वे अपने-अपने द्वीप के नाम वाले होते हैं।

ये लवणोद आदि समुद्र क्या समान रसवाले हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—चार समुद्र पृथक्-पृथक् रसवाले हैं और तीन जलरस वाले हैं। शेष समुद्र मधुर रस वाले हैं ॥१०८१॥

आचारवृत्ति—चार समुद्र पृथक्-पृथक् रस (स्वाद) वाले हैं। तीन जलरूप रस से परिपूर्ण हैं और शेष समुद्र इक्षुरस के समान स्वादवाले हैं।

कौन प्रत्येक रसवाले हैं और कौन उदक रसवाले हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर और लवण ये चार समुद्र उन्हीं-उन्हीं रसवाले हैं। कालोदधि, पुष्कर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र जल के सदृश रसवाले हैं ॥१०८२॥

आचारवृत्ति—वारुणी अर्थात् मद्यविशेष। वारुणीवर समुद्र का रस मद्यविशेष के समान है। क्षीर अर्थात् दूध। क्षीरवर समुद्र का जल दुग्ध के समान है। घृत अर्थात् घी। घृतवर समुद्र का जल घी के सदृश है। लवण अर्थात् नमक। लवण समुद्र का जल नमक के समान खारा

---

१. क ख किं समानरसा नेत्याह।

भवन्ति, पत्तेया—प्रत्येकरसाः, एते चत्वारो वारुणीवरादयः समुद्रा भिन्नरसा भवन्तीति । कालो—कालः, पुक्खर—पुष्करवरः, उदधी—समुद्रौ, सयंभुरमणो य—स्वयंभूरमणश्च, उदयरसा—उदकरसा उदकं रसो येषां त उदकरसाः, कालोदधिपुष्करोदधी समुद्रौ स्वयंभूरमणश्चैते उदकरसाः । एतेभ्य पुनरन्ये क्षौद्ररसाः समुद्रा इति ॥१०८२॥

अथ केषु समुद्रेषु जलचराः सन्ति केषु च न सन्तीत्याशंकायामाह—

लवणे कालसमुद्दे सयंभुरमणे य होंति मच्छा दु ।
अवसेसेसु समुद्देसु णत्थि मच्छा य मयरा वा ॥१०८३॥

लवणे—लवणसमुद्रे, कालसमुद्दे—कालसमुद्रे, सयंभुरमणे य—स्वयंभूरमणसमुद्रे च, होंति मच्छा—भवन्ति मत्स्याः, तुशब्दादन्ये जलचरा मत्स्यशब्दस्य चोपलक्षणत्वाद् उत्तरत्र मकरप्रतिषेधाच्च । अवसेसेसु—अवशेषेषु एतेभ्योऽन्येषु, समुद्देसु—समुद्रेषु, णत्थि—न सन्ति न विद्यन्ते, मच्छा य—मत्स्याश्च, मयरा वा—मकरा वा वाशब्दादन्येऽपि जलचरा न सन्त्युपलक्षणमात्रत्वाद्वा प्रतिषेधस्य । लवणसमुद्रे कालोदधौ स्वयंभू-रमणसमुद्रे च मत्स्या मकरा अन्ये च जलचरा द्वीन्द्रियादयः पंचेन्द्रियपर्यन्ताः सन्ति, एतेभ्योऽन्येषु समुद्रेषु मत्स्या मकरा अन्ये च द्वीन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ता जलचरा न सन्तीति ॥१०८३॥

अथ किंप्रमाणा जलचरा एतेष्वित्याशंकायामाह—

अट्ठारसजोयणिया लवणे णवजोयणा णदिमुहेसु ।
छत्तीसगा य कालोदहिम्मि अट्ठारस णदिमुहेसु ॥१०८४॥

हैं। इस तरह ये चारों समुद्र अपने-अपने नाम के समान वस्तु के रस, वर्ण, गन्ध, स्पर्श और स्वाद-वाले हैं। कालोदधि, पुष्कर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र ये तीनों जल के समान ही जल वाले हैं। इन सात समुद्रों के अतिरिक्त, सभी समुद्र इक्षुरस के सदृश मधुर और सुस्वादु रस वाले हैं।

किन समुद्रों में जलचर जीव हैं और किनमें नहीं हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—लवण समुद्र कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य आदि जलचर जीव हैं। किन्तु शेष समुद्रों में मत्स्य मकर आदि नहीं हैं ॥१०८३॥

आचारवृत्ति—लवण समुद्र में, कालोदधि में और स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य होते हैं तथा गाथा में 'तु' शब्द से अन्य भी जलचर—द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त होते हैं। चूंकि मत्स्य शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र है और गाथा के उत्तरार्ध में 'मकर' का प्रतिषेध भी किया है। इन तीन के अतिरिक्त शेष समुद्रों में मत्स्य, मकर एवं 'च' शब्द से अन्य जलचर जीव भी नहीं हैं अर्थात् द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय-पर्यन्त कोई भी जलचर जीव नहीं होते हैं।

इन तीनों समुद्रों में जलचर जीव कितने बड़े हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—लवण समुद्र में मत्स्य अठारह योजनवाले हैं। नदी के प्रवेश में नवयोजन-वाले हैं। कालोदधि में छत्तीस योजन के हैं किन्तु प्रारम्भ में नदी के प्रवेश में अठारह योजन के हैं ॥१०८४॥

अट्ठारसजोयणिया—अष्टादशयोजनानि प्रमाणं येषां तेऽष्टादशयोजनाः, लवणे—लवणसमुद्रे, णवजोयणा—नवयोजनानि प्रमाणं येषां ते नवयोजनाः, णदिमुहेसु—नदीनां मुखानि नदीमुखानि तेषु नदी-मुखेषु प्रवेशेषु गंगासिन्ध्वादीनां समुद्रेषु प्रवेशो नदीमुखम्[1]। छत्तीसगा य—षड्भिरधिकानि त्रिंशत् प्रमाणं येषां ते षट्त्रिंशत्काः षट्त्रिंशद्योजनप्रमाणाः, कालोदहिम्मि—कालोदधौ, अट्ठारस—अष्टादशयोजनप्रमाणा यद्यप्यत्र योजनशब्दो न श्रूयते पूर्वोक्तसमासांतर्भूतस्तथापि द्रष्टव्योऽन्यस्याश्रुतत्वात् लुप्तनिर्दिष्टो वा, णदिमुहेसु—नदी-मुखेषु। लवणसमुद्रेऽष्टादशयोजनप्रमाणा मत्स्यास्तत्र च नदीमुखेषु च नवयोजनप्रमाणा मत्स्याः कालोदधौ पुनर्मत्स्याः षट्त्रिंशद्योजनप्रमाणास्तत्र च नदीमुखेषु अष्टादशयोजनप्रमाणाः। मत्स्यानामुपलक्षणमेतद् अन्ये-षामपि प्रमाणं द्रष्टव्यमिति ॥१०८४॥

स्वयंभूरमणे मत्स्यानामुत्कृष्टदेहप्रमाणं[2] जघन्यदेहप्रमाणं च प्रतिपादयन्नुत्तरसूत्रमाह—

साहस्सिया दु मच्छा सयंभुरमणह्मि पंचसदिया दु।
देहस्स सव्वहस्सं कुंथुपमाणं जलचरेसु ॥१०८५॥

साहस्सिया दु—साहस्रिकास्तु सहस्रं योजनानां प्रमाणं येषां ते साहस्रिकाः, अत्रापि योजनशब्दो द्रष्टव्यः, मच्छा—मत्स्याः सयंभुरमणह्मि—स्वयंभूरमणसमुद्रे, पंचसदिया—पंचशतिकाः पंच शतानि प्रमाणं येषां[3] योजनानां पंचशतिका नदीमुखेष्विति द्रष्टव्यमधिकारात्। उत्कृष्टेन स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्याः सहस्रयो-जनप्रमाणा नदीमुखेषु पंचशतयोजनप्रमाणाः। देहस्स—देहस्य शरीरस्य, सव्वहस्सं—सर्वह्रस्वं सुष्ठु अल्पत्वं, कुंथुपमाणं—कुंथुप्रमाणं, जलचरेसु—जलचरेषु। सर्वजलचराणां मध्ये मत्स्यस्य देहप्रमाणं सर्वोत्कृष्टं योजन-सहस्रं सर्वजघन्यश्च कुंथुप्रमाणः केषांचिज्जलचराणां देह इति ॥१०८५॥

आचारवृत्ति—लवण समुद्र में मत्स्य अठारह योजन की अवगाहना वाले हैं। तथा गंगा, सिन्धु आदि नदियों के प्रवेश स्थान में अर्थात् समुद्र के प्रारम्भ में मत्स्य नवयोजन लम्बे हैं। कालोदधि समुद्र में मत्स्य छत्तीस योजन के हैं और वहाँ भी समुद्र के प्रारम्भ में नदियों के प्रवेश स्थान में अठारह योजनवाले हैं। यद्यपि कारिका के उत्तरार्ध में 'योजन' शब्द नहीं है, फिर भी समझ लेना चाहिए क्योंकि अन्य माप का यहाँ प्रकरण नहीं है अथवा 'लुप्तनिर्दिष्ट' समझना। यहाँ मत्स्यों की यह अवगाहन कही है जो उपलक्षण-मात्र है। अन्य जलचरों का भी प्रमाण समझ लेना चाहिए।

स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्यों का उत्कृष्ट शरीर और जघन्य शरीर का प्रमाण कहते हुए अगला सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य हजार योजनवाले हैं तथा प्रारम्भ में पाँच सौ योजन प्रमाण हैं। जलचरों में कुंथु का प्रमाण सबसे छोटा है ॥१०८५॥

आचारवृत्ति—स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य हजार योजन लम्बे हैं। प्रारम्भ में नदी प्रवेश के स्थान में मत्स्य पाँच सौ योजन लम्बे हैं। जलचरों में कुन्थु का शरीर सबसे छोटा होता है। अर्थात् सभी जलचरों में से मत्स्य शरीर का प्रमाण सर्वोत्कृष्ट—एक हजार योजन है और सर्व जघन्य शरीर किन्हीं जलचरों में कुंथु का प्रमाण सबसे छोटा है।

---

१. नदीमुखं क प्रती नास्ति। २. क सर्वोत्कृष्टदेह। ३. येषां क प्रतौ नास्ति।

पर्याप्त्यपर्याप्तत्वमाश्रित्य जलचरस्थलचरखचराणां देहप्रमाणमाह¹—

जलथलखगसम्मुच्छिमतिरिय अपज्जत्तया विहत्थीदु।
जलसम्मुच्छिमपज्जत्तयाण तह जोयणसहस्सं ॥१०८६॥

जलथलखग—जलं च स्थलं च खं च जलस्थलखानि तेषु गच्छन्तीति जलस्थलखगाः जलचरस्थलचर-खचराः, सम्मुच्छिम—सम्मूर्च्छिमा गर्भोपपादजन्मनोऽन्ययोन्युत्पन्नाः, तिरिय—तिर्यञ्चो देवमनुष्यनारकेभ्यो-ऽन्ये जीवाः, अपज्जत्तया—अपर्याप्तका असम्पूर्णाश्च षट्पर्याप्तयः, विहत्थी दु—वितस्तिका द्वादशांगुलप्रमाणाः, अथवा जलस्थलखगसम्मूर्च्छिमतिर्यगपर्याप्तानां देहप्रमाणं वितस्तिः। जलसम्मुच्छिमपज्जत्तयाण—जलसम्मू-र्च्छिमास्ते च ते पर्याप्तकाश्च जलसम्मूर्च्छिमपर्याप्तकास्तेषां जलसम्मूर्च्छिमपर्याप्तकानां च अथवा जलग्रहणेन जलचरा गृह्यन्ते—प्रस्तूयन्ते, प्रस्तुतत्वात्, जोयणसहस्सं—योजनानां सहस्रं, जलचरसम्मूर्च्छिमपर्याप्तकाना-मुत्कृष्टं देहप्रमाणं योजनसहस्रमिति ॥१०८६॥

पुनरपि तदेवाश्रित्य गर्भजत्वं चाश्रित्योत्कृष्टदेहप्रमाणमाह—

जलथलगब्भअपज्जत्त खगथलसंमुच्छिमा य पज्जत्ता।
खगगब्भजा य उभये उक्कस्सेण धणुपुहुत्तं ॥१०८७॥

पर्याप्त और अपर्याप्त का आश्रय लेकर जलचर, स्थलचर और नभचरों के शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—जलचर, स्थलचर और नभचर संमूर्च्छन तिर्यंच अपर्याप्तकों की जघन्य देह एक वितस्ति प्रमाण है। तथा जलचर संमूर्च्छन पर्याप्तकों की देह एक हजार योजन प्रमाण है ॥१०८६॥

आचारवृत्ति—जल, स्थल और ख अर्थात् आकाश में जो गमन करते हैं वे जलचर, स्थलचर और नभचर कहलाते हैं। गर्भ और उपपाद जन्म के अतिरिक्त अन्य योनि से उत्पन्न होनेवाले जीव अर्थात् अनेक पुद्गल परमाणुओं के मिल जाने पर जन्म लेनेवाले जीव संमूर्च्छन कहलाते हैं। देव, मनुष्य और नारकियों से अतिरिक्त जीव तिर्यंच होते हैं। और जिनकी छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हों वे अपर्याप्तक हैं। ये पर्याप्ति पूर्ण किये बगैर अन्तर्मुहूर्त में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे इन जलचर अपर्याप्त, स्थलचर अपर्याप्त और नभचर अपर्याप्त संमूर्च्छन तिर्यंचों की जघन्य देह-अवगाहना बारह अंगुल प्रमाण है। तथा जलचर-पर्याप्त संमूर्च्छन जीवों की उत्कृष्ट देह-अवगाहना एक हजार योजन प्रमाण है।

पुनरपि इनका आश्रय लेकर और गर्भजों का आश्रय लेकर उत्कृष्ट शरीर प्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—जलचर, स्थलचर, गर्भज, अपर्याप्त जीव एवं नभचर, स्थलचर संमूर्च्छिम पर्याप्तजीव तथा नभचर, गर्भज पर्याप्त-अपर्याप्त जीव ये उत्कृष्ट से धनुषपृथक्त्वप्रमाण देहवाले होते हैं ॥१०८७॥

---

१. क देहप्रमाणप्रतीतरसूत्रमाह। २. चिह्नाङ्कितमिदं क-पुस्तके नास्ति।

जलथलगब्भअपज्जत्ता—जलमुदकं, स्थलं ग्रामनगराटवीपर्वतादि, गर्भः स्त्रिया उदरे बस्तिपटलाच्छादितप्रदेशः, जलचरजीवा जलाः स्थलस्था जीवाः स्थला गर्भे जाता जीवा गर्भजा इत्युच्यन्ते तात्स्थ्यात्साहचर्याद्वा यथा मंचाः क्रोशन्तीति धनुर्धावतीति, न पर्याप्ता अपर्याप्ता अनिष्पन्नाहारादिषट्पर्याप्तयो जलाश्च स्थलाश्च ते गर्भजाश्च जलस्थलगर्भास्ते च तेऽपर्याप्ताश्च जलस्थलगर्भापर्याप्ता जलचराः स्थलचराः गर्भजाश्च येऽपर्याप्तास्त इत्यर्थः। खगथलसम्मुच्छिमा य—खे आकाशे चरन्तीति खगाः स्थलस्थाः स्थलाः खगाश्च स्थलाश्च खगस्थलाः पक्षिमृगादयस्ते च ते सम्मूर्च्छिमाश्च खगस्थलसम्मूर्च्छिमाः, पज्जत्ता—पर्याप्ताः। खगगब्भजा य—खे जाता खगजा गर्भे जाता गर्भजाः खगजाश्च ते गर्भजाश्चेति खगगर्भजाः, उभये—पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च, उक्कस्सेण—उत्कर्षेण उत्कृष्टशरीरप्रमाणेन, धणुपुहत्तं—धनुःपृथक्त्वं "त्रयाणामुपरि नवानामधो या संख्या सा पृथक्त्वमित्युच्यते" धनुषां पृथक्त्वं धनुःपृथक्त्वं त्रयाणां धनुषामुपरि नवानामधश्चतुःपंचषट्सप्ताष्टधनूंषि। जलचरस्थलचरा ये गर्भजा अपर्याप्ता खगस्थलचराश्च संमूर्च्छिमाः पर्याप्ता ये खगगर्भजाश्च ये पर्याप्तापर्याप्ताः सर्वे ते उत्कृष्टेन शरीरप्रमाणेन धनुःपृथक्त्वं भवन्ति। अथवा देहस्येत्यनुवर्त्तते तेनैतेषां देह उत्कर्षेण धनुःपृथक्त्वं भवतीति ॥१०८७॥

जलस्थलगर्भजपर्याप्तानामुत्कृष्टं देहप्रमाणमाह—

जलगब्भजपज्जत्ता उक्कस्सं पंचजोयणसयाणि।
थलगब्भजपज्जत्ता तिगाउदोक्कस्समायामो ॥१०८८॥

जलगब्भजपज्जत्ता—जलगर्भजपर्याप्ताः, उक्कस्सं—उत्कृष्टमुत्कर्षेण वा, पंचजोयणसयाणि—पंचयोजनशतानि देहप्रमाणेनेत्यर्थः, अथवा जलगर्भजपर्याप्तानामायामः पंचयोजनशतानि उत्तरगाथार्थे आयामस्य ग्रहणं यतः। अथवा एतेषां देह उत्कृष्टः पंचयोजनशतानि। थलगब्भजपज्जत्ता—स्थलगर्भजपर्याप्तानां, तिगाउद—त्रिगव्यूतानि षट्दण्डसहस्राणि, उक्कस्स—उत्कृष्टः, आयामो—आयामः शरीरप्रमाणम्। स्थलगर्भज-

---

आचारवृत्ति—जल—उदक; स्थल ग्राम, नगर, अटवी, पर्वत आदि; गर्भ – माता के उदर में बस्तिपटल से आच्छादित प्रदेश; जल में होनेवाले जल, स्थल पर स्थित जीव स्थल और गर्भ से होनेवाले जीव गर्भज, ऐसा कहा है। उनमें स्थित होने से अथवा साहचर्य से ही ऐसा कथन है यथा 'मंचा क्रोशन्ति धनुर्धावति' अर्थात् मंच चिल्लाते हैं, धनुष दौड़ता है ऐसा कह देते हैं। जिनकी आहार आदि छह पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हुई हैं वे अपर्याप्तक कहलाते हैं। ऐसे ये जलचर गर्भज अपर्याप्तक और थलचर गर्भज अपर्याप्तक इनकी उत्कृष्ट देह धनुष पृथक्त्व है। तीन के ऊपर और नव के नीचे की संख्या को पृथक्त्व संज्ञा है। नभचर, थलचर संमूर्छन पर्याप्तकों की उत्कृष्ट अवगाहना धनुष पृथक्त्व है तथा नभचर और गर्भज पर्याप्तक-अपर्याप्तक इन दोनों का देह प्रमाण भी धनुष पृथक्त्व है। अर्थात् जो गर्भज अपर्याप्तक जलचर थलचर हैं तथा संमूर्छन पर्याप्तक जो नभचर और थलचर हैं एवं जो नभचर गर्भज पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक हैं उनका शरीर उत्कृष्ट से चार, पाँच, छह, सात अथवा आठ धनुष प्रमाण है। गाथा में यद्यपि 'देह' शब्द नहीं है फिर भी उसकी अनुवृत्ति ऊपर से चली आ रही है।

जलचर, थलचर, गर्भज पर्याप्तकों के उत्कृष्ट शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—जलचर, गर्भज पर्याप्तक का उत्कृष्ट देह पाँच सौ योजन है। स्थलचर गर्भज पर्याप्तक की उत्कृष्ट देह तीन कोस लम्बी है ॥१०८८॥

आचारवृत्ति—जलचर, गर्भज पर्याप्तकों का उत्कृष्ट शरीर पाँच सौ योजन प्रमाण है।

पर्याप्तानां भोगभूमितिरश्चां देहस्योत्कृष्ट आयामस्त्रीणि गव्यूतानि । अथवा स्थलगर्भजपर्याप्ता उत्कृष्ट-देहायामेन त्रिगव्यूतानि भवन्तीति ॥१०८८॥

पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकानां मनुष्याणां चोत्कृष्टं देहप्रमाणं प्रतिपाद-यन्नाह—

अंगुलअसंखभागं बादरसुहुमा य सेसया काया ।
उक्कस्सेण दु णियमा मणुगा य तिगाउ उव्विद्धा ॥१०८९॥

अंगुलं— द्रव्यांगुलमष्टयवनिष्पन्नांगुलेन येऽवष्टब्धा नभःप्रदेशास्तेषां मध्येऽनेकस्याः प्रदेशपंक्तेर्यावदायामस्तावन्मात्रं द्रव्यांगुलं तस्यांगुलस्य असंखभागं—असंख्यातभागः अंगुलमसंख्यातखण्डं कृत्वा तत्रैकखण्ड-मंगुलासंख्यातभागः, बादरसुहुमा य—बादरनामकर्मोदयाद्बादराः सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मा बादराश्च सूक्ष्माश्च बादरसूक्ष्माः पृथिवीकायादयः, सेसया—शेषा उक्तानां परिशेषाः कायाः पृथिवीकायाप्कायतेजःकायवायुकायाः, उक्कस्सेण—उत्कृष्टेन सुष्ठु महत्त्वेन, तुविशेषः णियमा—नियमान्निश्चयात्, मणुगा—मनुष्या भोगभूमिजाः, तिगाउ—त्रिगव्यूतानि, उव्विद्धा—उद्धृताः परमोत्सेधाः । सर्वेऽपि बादरकायाः (सूक्ष्माश्च)[1] पृथिवीकायिका-दिवायुकायिकान्ता द्रव्यांगुलासंख्यभागशरीरोत्सेधा मनुष्याश्च पर्याप्तास्त्रिगव्यूतशरीरोत्सेधाः । उत्कृष्टप्रमाणेन नात्र पौनरुक्त्यं पर्याप्तिमनाश्रित्य सामान्येन कथनादिति ॥१०८९॥

पुनरपि सर्वजघन्यं सर्वोत्कृष्टं शरीरप्रमाणमाह—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयह्मि ।
हवदि दु सव्वजहण्णं सव्वुक्कस्सं जलचराणं ॥१०९०॥

स्थलचर, गर्भज पर्याप्तक अर्थात् भोगभूमिज तिर्यंचों का शरीर तीन कोश प्रमाण है ।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और मनुष्य इनके उत्कृष्ट शरीर का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—शेष पृथिवी आदि काय बादर-सूक्ष्म अंगुल के असंख्यातवें भाग शरीरवाले हैं और नियम से मनुष्य उत्कृष्ट से तीन कोश ऊँचाईवाले हैं ॥१०८९॥

आचारवृत्ति—बादर नाम कर्मोदय से बादरजीव होते हैं और सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से सूक्ष्म होते हैं । ये पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय और वायुकाय जीव हैं । ये जीव द्रव्य अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण शरीरवाले हैं । अर्थात् आठ जौ से निष्पन्न अंगुल में असंख्यात आकाश प्रदेश हैं उसके असंख्यात भाग करने पर एक भाग में भी असंख्यात प्रदेश हैं । इस असंख्यातवें भाग प्रमाण इनकी अवगाहना है । पर्याप्तक मनुष्यों का उत्कृष्ट शरीर तीन कोश प्रमाण है ।

पुनरपि सर्वजघन्य और सर्वोत्कृष्ट शरीरप्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—सूक्ष्मनिगोदिया अपर्याप्तक के उत्पन्न होने के तृतीय समय में सर्वजघन्य शरीर होता है और जलचरों का शरीर उत्कृष्ट होता है ॥१०९०॥

---

१. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क प्रतौ नास्ति ।

सुहुमणिगोद—सूक्ष्मनिगोदस्य, अपज्जत्तयस्स—अपर्याप्तकस्य, जादस्स—जातस्योत्पन्नस्य, तदियसमयंहि—तृतीयसमये, प्रथमद्वितीयसमययोः प्रदेशविस्फूर्जनसद्भावात्पूर्वदेहसामीप्याद्वा बहुत्वशरीरं भवति तृतीयसमये पुनः प्रदेशानां निचयानुसारेणावस्थानाच्च सर्वजघन्यं भवति शरीरं, हवदि दु—भवत्येव, सव्वजहण्णं—सर्वजघन्यं, सव्वुक्कस्सं—सर्वोत्कृष्टं, जलचराणं—मत्स्यानां, पद्मानां वा। सूक्ष्मनिगोदस्यापर्याप्तकस्य तृतीयसमये जातमात्रस्य सर्वजघन्यशरीरोत्सेधः, जलचराणां च¹ पद्मानां सर्वोत्कृष्टः शरीरायाम इति। अत्रापि लोकस्य सप्तैकं पंचैकं रज्जुप्रमाणं द्रष्टव्यं तथा मेरुकुलपर्वतविजयार्धेष्वाकारकांचनगिरिमनुष्योत्तरकुण्डलवरांजनदधिमुखरतिकरस्वयंभूनगवरेन्द्रदंष्ट्रागिरिभवनविमानतोरणजिनगृहपृथिव्यष्टकेन्द्रकप्रकीर्णकश्रेणिबद्धनरक्षेत्रवेदिकाजम्बूशाल्मलीधातकीपुष्करचैत्यवृक्षकूटह्रदनदीकुंडायतनवापीसिंहासनादीनामुत्सेधायामप्रमाणं द्रष्टव्यं लोकानुयोगत इति ॥१०९०॥

देहसूत्रं व्याख्याय संस्थानसूत्रं² प्रपंचयन्नाह—

मसुरिय कुसग्गबिंदू सूइकलावा पडाय संठाणा।
कायाणं संठाणं हरिदतसा णेगसंठाणा ॥१०९१॥

मसुरिय—मसूरिका वृत्ताकारा, कुसग्गबिंदू—कुशस्याग्रं कुशाग्रं तस्मिन् बिन्दुरुदककणः कुशाग्रबिन्दुर्वर्तुलाकारमुदकं, सूइकलावा—सूचीकलापः सूचीसमुदायः, पडाय—पताका, संठाणं—संस्थानान्याकाराः,

---

आचारवृत्ति—सूक्ष्मनिगोदिया लब्धअपर्याप्तकजीव के जन्म लेने के तृतीय समय में सर्व जघन्य शरीर होता है, क्योंकि प्रथम और द्वितीय समय में प्रदेशों का विस्फूर्जन—फैलाव होने से अथवा पूर्वशरीर के समीपवर्ती होने से बड़ा शरीर रहता है। पुनः तृतीय समय में प्रदेशों का निचय के अनुसार अवस्थान हो जाने से सर्वजघन्य शरीर हो जाता है। तथा जलचरों में मत्स्य का और वनस्पति काय में कमल का शरीर सर्वोत्कृष्ट होता है।

यहाँ पर भी लोक को सात-एक, पाँच-एक राजु प्रमाण जान लेना चाहिए। तथा मेरुपर्वत, कुलपर्वत, विजयार्द्ध गिरि, इष्वाकार, कांचनगिरि, मानुषोत्तर, कुण्डलवर, अंजनगिरि, दधिमुख, रतिकर, स्वयंभू-नगवरेन्द्र, दंष्ट्रागिरि, भवन, विमान, तोरण, जिनगृह, आठ पृथिवी, इन्द्रक, प्रकीर्णक, श्रेणीबद्ध, नरक्षेत्र, वेदिका, जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, धातकीवृक्ष, पुष्करवृक्ष, चैत्यवृक्ष, कूट, ह्रद, नदी, कुण्ड, आयतन, वापी, सिंहासन आदि की ऊँचाई और लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण लोकानुयोग से जान लेना चाहिए।

देहसूत्र का व्याख्यान करके अब संस्थानसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी आदि कायों के आकार क्रम से मसूरिका, कुश के अग्रभाग के बिन्दु, सुइयों के समूह और पताका के आकारसदृश हैं तथा हरितकाय और त्रसकायों के अनेक संस्थान होते हैं ॥१०९१॥

आचारवृत्ति—पृथ्वीकाय का मसूरिका के समान गोल आकार है। जलकाय का आकार कुश के अग्र भाग पर पड़ी हुई गोल-गोल बिन्दु के समान है। अग्निकायिक का आकार

---

१. च पद्मानामिति पाठः क पुस्तके नास्ति। २. क संस्थानसूत्रार्थं।

कायाणं—कायानां पृथिवीकायिकादिवायुकायान्तानां, संठाणं—संस्थानानि शरीराकाराः। मसूरिका इव संस्थानं यस्य तन्मसूरिकासंस्थानं, कुशाग्रबिन्दुरिव संस्थानं यस्य तत्कुशाग्रबिन्दुसंस्थानं, सूचीकलाप इव संस्थानं यस्य तत्सूचीकलापसंस्थानं, पताका इव संस्थानं यस्य तत्पताकासंस्थानं यथासंख्येन संबन्धः, पृथिवीकायस्य संस्थानं मसूरिकासंस्थानं, अप्कायस्य संस्थानं कुशाग्रबिन्दुसंस्थानं, तेजःकायस्य संस्थानं सूचीकलापसंस्थानं, वायुकायस्य संस्थानं पताकासंस्थानम्। मसूरिकाद्याकार इव पृथिवीकायिकादयः। हरिदतसा—हरितत्रसाः प्रत्येकसाधारणबादरसूक्ष्मवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, णेगसंठाणा—अनेकसंस्थाना नैकमनेकमनेकं संस्थानं येषां तेऽनेकसंस्थाना अनेकहुंडसंस्थानविकल्पा अनेकशरीराकाराः। त्रसशब्देन द्वीन्द्रियादिचतुरिन्द्रियपर्यन्ता गृह्यन्ते पंचेन्द्रियाणां संस्थानस्योत्तरत्र प्रतिपादनादिति ॥१०९१॥

पंचेन्द्रियसंस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

समचउरसणग्गोहासादियखुज्जायवामणाहुंडा।
पंचेंदियतिरियणरा देवा चउरस्स णारया हुंडा ॥१०९२॥

संस्थानमित्यनुवर्तते। समचउरस—समचतुरस्रं संस्थानं यथाप्रदेशावयवपरमाणूनामन्यूनाधिकता। णग्गोह—न्यग्रोधं संस्थानं शरीरस्योर्ध्वभागेऽवयवपरमाणुबहुत्वम्। सादि—स्वातिसंस्थानं शरीरस्य नाभेरधः कटिजंघापादाद्यवयवपरमाणूनामधिकोपचयः। खुज्जा—कुब्जसंस्थानं शरीरस्य पृष्ठावयवपरमाण्वधिकोपचयः। वामणा—वामनसंस्थानं शरीरमध्यावयवपरमाणुबहुत्वं हस्तपादानां च ह्रस्वत्वम्। हुंडा—हुण्डसंस्थानं सर्व-

---

सुइयों के समूह के आकार जैसा है। वायुकाय का आकार पताका के आकार का है। तथा प्रत्येक साधारण बादर-सूक्ष्म वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के शरीर का आकार एक प्रकार का नहीं है, अनेक आकार रूप है। अर्थात् ये सब अनेक भेदरूप हुण्डक संस्थानवाले हैं। त्रस शब्द से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीवों को ग्रहण करना, चूंकि पंचेन्द्रियों के आकार अगले सूत्र में बतलाते हैं।

पंचेन्द्रियों का संस्थान प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्य समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक संस्थानवाले होते हैं। देव समचतुरस्र संस्थानवाले हैं और नारकी हुण्डक संस्थान वाले हैं ॥१०९२॥

आचारवृत्ति—संस्थान की अनुवृत्ति चली आ रही है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य के छहों संस्थान होते हैं।

समचतुरस्रसंस्थान—प्रत्येक अवयवों में जितने प्रदेश-परमाणु होना चाहिए उतने होना, हीनाधिक नहीं होना।

न्यग्रोधसंस्थान—शरीर के ऊपर के अवयवों में बहुत से परमाणुओं का होना।

स्वातिसंस्थान—शरीर के नाभि के नीचे कटि, जंघा, पाद आदि अवयवों में अधिक परमाणुओं का संचय होना।

कुब्जकसंस्थान—शरीर के पृष्ठ भाग के अवयवों में अधिक परमाणुओं का उपचय होना।

वामनसंस्थान—शरीर के मध्य के अवयवों में बहुत से परमाणुओं का होना तथा हाथ

शरीरावयवानां बीभत्सता परमाणूनां न्यूनाधिकता। सर्वलक्षणासम्पूर्णता च। पंचेंदियतिरियणरा—पंचेन्द्रियतिर्यङ्नराणां समचतुरस्रन्यग्रोधस्वातिकुब्जवामनहुण्डसंस्थानानि यद्यपि पंचेन्द्रियाणां मनुष्याणां तिरश्चां च भवन्ति, अथवा अभेदात्तल्लिंगं ताच्छब्द्यं च पंचेन्द्रियतिर्यङ्नराः समचतुरस्रन्यग्रोध[1]स्वाति[2]कुब्जवामनहुण्डाश्च भवन्ति सामान्येन। देवा चउरसा—देवाश्चतुरस्राः, णारया—नारकाः, हुंडा—हुण्डाः। देवाः समचतुरस्रसंस्थाना एव, नारकाश्च हुण्डकसंस्थाना एव न तेषामन्यत्संस्थानान्तरं विद्यत इति ॥१०९२॥

इन्द्रियसंस्थानानि प्रतिपादयन्नाह—

जवणालिया मसूरी अतिमुत्तच चंदए खुरप्पे य।
इंदियसंठाणा खलु फासस्स अणेयसंठाणं ॥१०९३॥

जवणालिया—यवस्य नालिका यवनालिका, मसूरी—मसूरिका, वृत्ताकारा, अतिमुत्तकं—अतिमुक्तकं पुष्पविशेषः, चंदए—अर्द्धचन्द्रः, खुरप्पेय—क्षुरप्रं च, इंदिय—इन्द्रियाणां इन्द्रियशब्देन श्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वेन्द्रियाणां ग्रहणं स्पर्शनेन्द्रियस्य पृथग्ग्रहणात्, संठाणा—संस्थानानि आकारा यथासंख्येन संबन्धः। श्रोत्रेन्द्रियं यवनालिकासंस्थानं, चक्षुरिन्द्रियं मसूरिकासंस्थानं, घ्राणेन्द्रियमतिमुक्तकपुष्पसंस्थानं जिह्वेन्द्रियमर्द्धचन्द्रसंस्थानं क्षुरप्रसंस्थानं च खलु स्फुटम्। फासस्स—स्पर्शस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, अणेयसंठाणं—अनेकसंस्थानं अनेकप्रकार आकारः। स्पर्शनेन्द्रियस्यानेकं संस्थानं समचतुरस्रादिभेदेन व्यक्तं सर्वत्र [3]क्षयोपशमभेदात्। अंगुलासंख्यातभागप्रमितं भावेन्द्रियं, द्रव्येन्द्रियं पुनरंगुल संख्यातभागप्रमितमपि भवति। इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं

और पैरों का छोटा होना।

हुण्डकसंस्थान—शरीर के सभी अवयवों में बीभत्सपना, परमाणुओं में न्यून या अधिकता का होना तथा सर्व लक्षणों की सम्पूर्णता का न होना।

छहों संस्थानों का लक्षण कहा। ये छहों मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में पाये जाते हैं। अथवा उस लिंग और उस शब्द के सामान्य से ये इन समचतुरस्र आदि संस्थानों वाले होते हैं। देवों के समचतुरस्र संस्थान ही होता है और नारकियों के हुण्डक संस्थान ही होता है अर्थात् इन देव और नारकियों में यही एक-एक संस्थान होता है, अन्य संस्थान नहीं हो सकते हैं।

अब इन्द्रियों का आकार बताते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रियों के आकार यव की नली, मसूरिका, तिल का पुष्प, अर्धचन्द्र और खुरपा के समान हैं तथा स्पर्शनेन्द्रिय के अनेक आकार हैं ॥१०९३॥

आचारवृत्ति—श्रोत्रेन्द्रिय का आकार जौ की नाली के समान है, चक्षु इन्द्रिय का आकार मसूरिका के समान गोल है, घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक-तिल के पुष्प के समान है, जिह्वा इन्द्रिय का आकार अर्धचन्द्र के समान अथवा खुरपे के समान है। स्पर्शन इन्द्रिय के अनेकों आकार होते हैं जो समचतुरस्र आदि भेद से व्यक्त हैं। सर्वत्र क्षयोपशम के भेद से ही भेद होता है। इन्द्रियों के दो भेद हैं—भावेन्द्रिय और द्रव्येंद्रिय। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण भावेन्द्रिय हैं और द्रव्येन्द्रिय भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। निर्वृत्ति और उपकरण

---

१. क न्यग्रोधाः। २. क स्वातिः कुब्जः। ३. क क्षयोपशमभेदाः।

भावेन्द्रियं च द्रव्येन्द्रियं द्विविधं निर्वृत्युपकरणभेदेन, भावेन्द्रियमपि द्विविधं लब्ध्युपयोगभेदेन, तत्र द्रव्येन्द्रियस्य निर्वृत्तेर्भावेन्द्रियस्य च लब्धेः संस्थानमेतत्, उपयोगो भावेन्द्रियं च ज्ञानं तस्याकारो विषयपरिच्छित्तिरेव ॥१०९३॥

यद्येवं स एष विषयः कियानिति प्रतिपाद्यतामित्युक्तेऽत आह—

चत्तारि धणुसयाइं चउसट्ठी धणुसयं च फस्सरसे।
गंधे य दुगुणदुगुणा असण्णिपंचिंदिया जाव ॥१०९४॥

चत्तारि—चत्वारि, धणुसयाइं—धनुःशतानि, चउसट्ठी—चतुःषष्टिर्धनुषामिति संबन्धः धनुषां चतुर्भिरधिका षष्टिः, धणुसयं च—धनुःशतं च, फस्सरसे—स्पर्शरसयोः स्पर्शनेन्द्रियस्य रसनेन्द्रियस्य, गंधे य—गंधस्य च घ्राणेन्द्रियस्य च, दुगुणदुगुणा—द्विगुणद्विगुणाः, असण्णिपंचिंदिया जाव—असंज्ञिपंचेन्द्रियं यावत्। एकेन्द्रियमारभ्य यावदसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य विषयः स्पर्शविषय उत्तरत्र कथ्यते तेन सह संबन्धः। एकेन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयश्चत्वारि धनुःशतानि, एतावताध्वना स्थितं स्पर्शं गृह्णन्ति पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिका उत्कृष्टशक्तियुक्तस्पर्शनेन्द्रियेण। तथा द्वीन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयश्चतुःषष्टिर्धनुषां एतावताऽध्वना स्थितं रसं गृह्णाति रसनेन्द्रियेण द्वीन्द्रियस्तथा तस्यैव द्वीन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयोऽष्टौ धनुः शतानि एतावताऽध्वना स्थितं स्पर्शं गृह्णाति द्वीन्द्रियः स्पर्शनेन्द्रियेण, तथा त्रीन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रियविषयः धनुषां शतं एतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति त्रीन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण तथा तस्यैव त्रीन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयः षोडशधनुःशतानि एतावताध्वना व्यवस्थितं स्पर्शं गृह्णाति त्रीन्द्रियः स्पर्शनेन्द्रियेण तथा तस्यैव

के भेद से द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं तथा लब्धि और उपयोग के भेद से भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं। उनमें से निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रिय और लब्धिरूप भावेन्द्रिय के आकार ऊपर बताए जा चुके हैं—चूंकि उपयोग नामवाली जो भावेन्द्रिय है उसका आकार विषय को जानना ही है।

इन्द्रियाँ यदि ऐसी हैं तो उनका वह विषय कितना है, सो बताइए? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र चार सौ धनुष, रसना इन्द्रिय का चौसठ धनुष और घ्राणेन्द्रिय का सौ धनुष प्रमाण है। आगे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त यह दूना-दूना होता गया है ॥१०९४॥●

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय से लेकर असंनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त स्पर्शादि विषय को आगे-आगे कहते हैं, उसके साथ सम्बन्ध करना। वही बताते हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्कृष्ट शक्तियुक्त स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा चार सौ धनुष पर्यन्त मार्ग में स्थित स्पर्श को ग्रहण कर लेते हैं। द्वीन्द्रिय जीव रसना इन्द्रिय द्वारा चौंसठ धनुष तक स्थित रस को ग्रहण कर लेते हैं। वे ही द्वीन्द्रिय जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा आठ सौ धनुष पर्यन्त मार्ग में स्थित स्पर्श को ग्रहण कर लेते हैं। तीन इन्द्रिय जीव घ्राणेन्द्रिय द्वारा सौ धनुष पर्यन्त स्थित गन्ध को ग्रहण कर लेते हैं। वे ही तीन इन्द्रिय जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा सोलह सौ धनुष पर्यन्त मार्ग में अवस्थित स्पर्श को ग्रहण कर सकते हैं और रसना इन्द्रिय द्वारा एक सौ

● १०९४ से ११०० तक की गाथाएं फलटन से प्रकाशित मूलाचार में गाथा ११५४ के बाद में दी गयी हैं।

त्रीन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयोऽष्टाविंशत्यधिकं च शतं धनुषां एतावताध्वना स्थितं रसं गृह्णाति, त्रीन्द्रियः रसनेन्द्रियेण तथा तस्यैव त्रीन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रियविषयः शतं धनुषां एतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति त्रीन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण, तथा चतुरिन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयो द्विशताधिकानि त्रीणि सहस्राणि धनुषामेतावताध्वना स्थितं स्पर्शं गृह्णाति चतुरिन्द्रियः स्पर्शनेन्द्रियेण, तथा तस्यैव चतुरिन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयो धनुषां द्वे शते षट्पंचाशदधिके एतावताध्वना स्थितं रसं चतुरिन्द्रियः रसनेन्द्रियेण गृह्णाति तथा तस्यैव चतुरिन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रियविषयो द्वे शते धनुषामेतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति चतुरिन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण, तथाऽसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियविषयः चतुःशताधिकानि षट्सहस्राणि धनुषामेतावत्यध्वनि स्थितं स्पर्शमसंज्ञिपंचेन्द्रियो गृह्णाति, स्पर्शनेन्द्रियेण तथा तस्यैवासंज्ञिपंचेन्द्रियस्य रसनेन्द्रियविषयः द्वादशोत्तराणि पंचशतानि धनुषामेतावत्यध्वनि स्थितं रसं गृह्णाति असंज्ञिपंचेन्द्रियो रसनेन्द्रियेण तथा तस्यैवासंज्ञिपंचेन्द्रियस्य घ्राणेन्द्रियविषयो धनुषां चत्वारि शतानि एतावताध्वना स्थितं गन्धं गृह्णाति असंज्ञिपंचेन्द्रियो घ्राणेन्द्रियेण। न चैतेषामिन्द्रियाणां प्राप्तग्राहित्वेनैतावताध्वना ग्रहणमयुक्तमप्राप्तग्राहित्वमपि, यतो युक्त्या आगमेन च न विरुध्यते, युक्तिस्तावदेकेन्द्रियो दूरस्थमपि वस्तु जानाति पादप्रसारणाद् यस्यां दिशि वस्तु सुवर्णादिकं स्थितं, प्रारोहं प्रसारयत्येकेन्द्रियो वनस्पतिः। अवष्टंभप्रदेशे च नालानि व्युत्सृजतीति। तथागमेऽपि स्पर्शनेन्द्रियादीनामप्राप्तग्राहित्वं पठितं षट्त्रिंशत्त्रिशत इति विकल्पस्य कथनादिति ॥१०९४॥

चतुरिन्द्रियस्य चक्षुर्विषयं प्रतिपादयन्नाह—

अट्ठाईस धनुष पर्यन्त मार्ग में स्थित रस को ग्रहण कर लेते हैं। चार इन्द्रिय जीव स्पर्श इन्द्रिय द्वारा तीन हजार दो सौ धनुष पर्यन्त स्थित स्पर्श को विषय कर लेते हैं, ये ही जीव रसना इन्द्रिय द्वारा दो सौ छप्पन धनुष पर्यन्त स्थित रस को ग्रहण कर लेते हैं, घ्राणेन्द्रिय द्वारा दो सौ धनुष तक स्थित गन्ध को विषय कर लेते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय छह हजार चार सौ धनुष प्रमाण है अर्थात् वे इतने प्रमाण पर्यन्त मार्ग में स्थित स्पर्श को ग्रहण कर सकते है, रसना इन्द्रिय द्वारा ये पाँच सौ बारह धनुष पर्यन्त रस को ग्रहण कर लेते हैं एव घ्राणेन्द्रिय द्वारा चार सौ धनुष पर्यन्त स्थित गन्ध को ग्रहण कर लेते हैं।

शंका—ये इन्द्रियाँ प्राप्त करके ग्रहण करती हैं, इसलिए इतनी दूर तक स्थित स्पर्श, रस, गन्ध को ग्रहण नहीं कर सकती हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि इनका बिना प्राप्त किये भी ग्रहण करना सिद्ध है। युक्ति तथा आगम से इन इन्द्रियों का प्राप्त किये बिना ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है।

युक्ति—एकेन्द्रिय जीव पाद अर्थात् जड़ को फैलाने से दूर स्थित वस्तु को भी जान लेते हैं अर्थात् जिस दिशा में सुवर्ण आदि वस्तुएँ गड़ी हुई हैं उधर ही एकेन्द्रिय वनस्पति जीव अपनी जड़ फैला लेते हैं। और अवष्टम्भ—वस्तुयुक्त प्रदेश में अपने नाल—शिराओं को फैला देते हैं। आगम में भी स्पर्शन आदि इन्द्रियों को अप्राप्तग्राही माना गया है, क्योंकि स्पर्शन आदि युक्त मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस विकल्प कहे गए हैं।

चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय का विषय प्रतिपादित करते हैं—

उगुणत्तीसजोयणसयाइं चउवण्णाय होइ णादव्वा।
चउरिंदियस्स णियमा चक्खुप्फासं वियाणाहि ॥१०९५॥

उगुणत्तीसजोयणसयाइं—[1]एकोनत्रिंशद्योजनशतानि योजनानामेकोनानि त्रिंशच्छतानि, चउवण्णाय—चतुःपंचाशच्चतुर्भिरधिका च पंचाशद्योजनानां, होइ—भवति, णादव्वा—ज्ञातव्यानि। चउरिंदियस्स—चतुरिन्द्रियस्य, णियमा—नियमात् निश्चयेन। चक्खुप्फासं—चक्षुःस्पर्शं चक्षुरिन्द्रियविषयं वियाणाहि—विजानीहि। इदं चतुरिन्द्रियस्य चक्षुरिन्द्रियविषयं योजनानामेको[2]नत्रिंशच्छतं चतुःपंचाशद्योजनाधिकं विजानीह्यसंदेहेनेति। न चक्षुषः प्राप्तग्राहित्वं चक्षुःस्थांजनादेरग्रहणात्, न च गत्वा गृह्णाति चक्षुःप्रदेशशून्यत्वप्रसंगात्। नापि ज्ञानमयं चक्षुर्गच्छति जीवस्याज्ञत्वप्रसंगात् न च स्वतोऽर्थस्वरूपेण[3] गमनं युज्यतेऽन्तरे सर्ववस्तुग्रहणप्रसंगात् इति ॥१०९५॥

असंज्ञिपंचेन्द्रियस्य चक्षुर्विषयं प्रतिपादयन्नाह—

उणसट्ठि जोयणसदा अट्ठेव य होंति तह य [4]णादव्वा।
असण्णिपंचेंदीए चक्खुप्फासं वियाणाहि ॥१०९६॥

उणसट्ठि—एकोनषष्टिः, एकेनोना षष्टिः। जोयणसदा—योजनानां शतानि योजनशतानि, अट्ठेव य—अष्टावपि च योजनानि, होंति—भवन्ति। तह य णादव्वा—तथैव ज्ञातव्यानि, असण्णिपंचेंदीए—असंज्ञि-

---

गाथार्थ—नियम से चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु का विषय उनतीस सौ चौवन योजन कहा है, ऐसा जानो ॥१०९५॥

आचारवृत्ति—चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय का विषय उनतीस सौ चौवन योजन प्रमाण है इसमें सन्देह नहीं है। चक्षु इन्द्रिय प्राप्त किये को ग्रहण करनेवाली नहीं है, क्योंकि वह अपने में स्थित अंजन आदि को ग्रहण नहीं कर सकती है, वह चक्षु अन्यत्र जाकर भी वस्तु को ग्रहण नहीं करती है अन्यथा चक्षु के स्थान में शून्यता का प्रसंग आ जावेगा। यदि आप कहें कि ज्ञानमयी चक्षु चली जाती है सो यह भी बात नहीं है, अन्यथा जीव को अज्ञ—ज्ञानरहित होने का प्रसंग आ जावेगा। वह स्वतः अर्थस्वरूप से गमन करके पदार्थ को जानती है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, अन्यथा अन्तराल की समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने का प्रसंग आ जाता है अर्थात् चक्षु क्रम से अपनी ग्राह्य वस्तु के पास जाकर उसे जानती है ऐसा कहने से तो बीच के अन्तराल की सभी वस्तुओं का भी ज्ञान होते जाना आवश्यक ही होगा किन्तु ये सब बातें घटित नहीं होती हैं, अतः इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, वस्तुओं को बिना छुए ही जानती है ऐसा मानना ही उचित है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के चक्षु का विषय बतलाते हैं—

गाथार्थ—उनसठ सौ आठ योजन प्रमाण असंज्ञी पंचेन्द्रिय के चक्षु का स्पर्श होता है ऐसा तुम जानो ॥१०९६॥

आचारवृत्ति—शिक्षा, आलाप आदि को नहीं ग्रहण कर सकने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय

---

१. क एकान्न-। २. क मेकान्न-। ३. ख, ग सन्ताम स्वरूपेण। ४. क णादव्वा।

पंचेन्द्रियस्य शिक्षालापादिरहितपंचेन्द्रियस्य, चक्खुप्फासं—चक्षुःस्पर्शं चक्षुर्विषयं चक्षुषा ग्रहणं, वियाणाहि—विजानीहि। योजनशतानामेकोनषष्टिस्तथैवाष्टयोजनानि च भवन्ति ज्ञातव्यान्येतत्प्रमाणमसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य चक्षुरिन्द्रियविषयं जानीहि [1]एतावत्यध्वनि स्थितं रूपमसंज्ञिपंचेन्द्रियो गृह्णाति चक्षुरिन्द्रियेणेति ॥१०१६॥

असंज्ञिपंचेन्द्रियस्य श्रोत्रविषयं प्रतिपादयन्नाह—

अट्ठेव धणुसहस्सा सोदप्फासं असण्णिणो जाण।
विसयावि य णादव्वा पोग्गलपरिणामजोगेण ॥१०१७॥

अट्ठेव धणुसहस्सा—अष्टावेव धनुःसहस्राणि, सोदप्फासं—श्रोत्रस्पर्शं श्रोत्रेन्द्रियविषयं; असण्णिणो—असंज्ञिनोऽसंज्ञिपंचेन्द्रियस्य, जाण—जानीहि। असंज्ञिपंचेन्द्रियश्रोत्रविषयं धनुषामष्टसहस्रं जानीहि तावताध्वना स्थितं शब्दं गृह्णाति श्रोत्रेणासंज्ञिपंचेन्द्रिय इति। विसयावि य—विषयाश्चापि णादव्वा—ज्ञातव्याः। पोग्गलपरिणामजोगेण—पुद्गलस्य मूर्तद्रव्यस्य परिणामो विशिष्टसंस्थानमहत्त्वप्रकृष्टवाण्या[2]दिः पुद्गलपरिणामस्तेन योगः संपर्कस्तेन, पुद्गलपरिणामयोगेन एतावतोऽध्वांतरेण विशिष्टा रूपादयः दिवाकरादिभूता विशिष्टैरिन्द्रियैर्गृह्यन्ते नान्यथेति ॥१०१७॥

संज्ञिपंचेन्द्रियस्य पंचेन्द्रियविषयं प्रतिपादयन्नाह—

फासे रसे य गंधे विसया णव जोयणा य [3]णायव्वा।
सोदस्स दु बारसजोयणाणिदो चक्खुसो वोच्छं ॥१०१८॥

फासे—स्पर्शस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, रसे—रसस्य रसनेन्द्रियस्य, गंधे—गन्धस्य घ्राणेन्द्रियस्य,

---

जीव के चक्षु इन्द्रिय का विषय उनसठ सौ आठ योजन प्रमाण है। अर्थात् इतने मार्ग में स्थित रूप को ये जीव चक्षु द्वारा ग्रहण कर लेते हैं।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र का विषय कहते हैं—

गाथार्थ—असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र का विषय आठ हजार धनुष है ऐसा जानो। पुद्गल परिणाम के सम्पर्क से ये विषय जानना चाहिए ॥१०१७॥

आचारवृत्ति—असैनी पंचेन्द्रिय जीव के कर्ण इन्द्रिय का विषय आठ हजार धनुष है। अर्थात् इतने अन्तर में उत्पन्न हुए पौद्गलिक शब्दों को ये ग्रहण कर लेते हैं। मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के परिणमन रूप विशिष्ट संस्थान, महत्त्व और प्रकृष्ट वाणी आदि हैं। सूर्य आदि भी पुद्गल के परिणमन हैं। ये सब पौद्गलिक ही विशिष्ट इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, अन्य कुछ नहीं।

संज्ञी पंचेन्दिय जीव के पाँचों इन्द्रियों के विषयों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय के विषय नव योजन प्रमाण हैं, श्रोत्र इन्दिय का विषय द्वादश योजन है। इसके आगे चक्षु इन्द्रिय का विषय कहेंगे ॥१०१८॥

आचारवृत्ति—संज्ञी पंचेन्द्रिय चक्रवर्ती आदि के इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय कहते हैं।

---

१. क एतावति गोचरे। २. क वर्णादि। ३. द बोद्धव्वा।

विसया—विषयाः¹ ग्रहणगोचर इति, णवजोयणा—नव योजनानि, बारसजोयण—द्वादशयोजनानि, सोदस्स दु—श्रोत्रस्य तु श्रोत्रेन्द्रियस्य पुनः, बारस जोयणाणि—द्वादश योजनानि हवे—इह जानीयात्, चक्खुस्से—चक्षुषः संज्ञिपंचेन्द्रियस्य चक्षुरिन्द्रियस्य च, वोच्छं—वक्ष्ये, संज्ञिपंचेन्द्रियस्य उत्कृष्टेन्द्रियस्य चक्रवर्त्यादेः स्पर्शनेन्द्रियस्य नवयोजनानि विषयः रसनेन्द्रियस्य नव योजनानि विषयः, घ्राणेन्द्रियस्य नव योजनानि विषयः, श्रोत्रेन्द्रियस्य द्वादश योजनानि विषयः, संज्ञिपंचेन्द्रिय उत्कृष्टक्षयोपशमपरिणामाच्चक्रवर्त्यादिभिर्नवयोजनैः स्थितानि स्पर्शरसगन्धद्रव्याणि स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियैर्गृह्णाति शब्दं पुनर्द्वादशयोजनैः स्थितं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्णाति ॥१०९८॥

सूचितचक्षुर्विषयमाह—

सत्तेतालसहस्सा बे चेव सदा हवंति तेसट्ठी ।
चक्खिंदियस्स विसओ उक्कस्सो होदि अदिरित्तो ॥१०९९॥

सत्तेताल—सप्तचत्वारिंशत्, सहस्सा—सहस्राणि, बे चेव सदा—द्वे चैव शते, हवंति—भवन्ति तेसट्ठी—त्रिषष्ट्यधिके योजनानामिति सम्बन्धः चक्खिंदियस्स—चक्षुरिन्द्रियस्य, विसओ—विषयः, उक्कस्सो—उत्कृष्टः होदि—भवति अदिरित्तो—अतिरिक्तः, अतिरिक्तस्य प्रमाणं गव्यूतमेकं धनुषां द्वादशशतानि पंचदशधनुरधिकानि हस्तश्चैकः द्वे चांगुले सातिरेकयवचतुर्थभागाधिके; संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकचक्षुरिन्द्रियस्य विषयो योजनानां सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि त्रिषष्ट्यधिकद्विशताधिकानि पंचदशाधिकद्वादशशतधनुरधिकैकगव्यूताधिकानि सविशेषयवचतुर्थभागाधिकद्व्यंगुलाधिकैकहस्ताधिकानि च। एतावताध्वना संज्ञिपंचेन्द्रियः पर्याप्तको रूपं पश्यतीति ॥१०९९॥

अस्यैव प्रमाणस्यानयने करणगाथामाह—

असीदिसदं विगुणं दीवविसेसस्स वग्ग दहगुणियं ।
मूलं सट्ठिविहत्तं दिणद्धमाणाहदं चक्खू ॥११००॥

ये अपने स्पर्श—स्पर्शनेन्द्रिय, रस—रसनेन्द्रिय और गन्ध—घ्राणेन्द्रिय के द्वारा नव-नव योजन तक स्थित स्पर्श, रस और गन्ध द्रव्यों को ग्रहण कर लेते हैं तथा कर्ण इन्द्रिय के द्वारा बारह योजन में उत्पन्न हुए शब्दों को सुन लेते हैं।

अब सूचित किये गये चक्षु के विषय को कहते हैं—

गाथार्थ—सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन और कुछ अधिक ऐसा चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय होता है ॥१०९९॥

आचारवृत्ति—चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन, एक कोश, बारह सौ पन्द्रह धनुष, एक हाथ दो अंगुल और कुछ अधिक जौ का चतुर्थ भाग प्रमाण है। अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याप्तक चक्रवर्ती आदि इतने प्रमाण मार्ग में स्थित रूप को देख लेते हैं।

इसी प्रमाण को निकालने के लिए करण सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—एक-सौ अस्सी को दूना करके जम्बूद्वीप के प्रमाण में से उसे घटाकर, पुनः उसका वर्ग करके उसे दस से गुणा करना, पुनः उसका वर्गमूल निकालकर साठ का भाग देना और उसे नव से गुणा करना जो संख्या आवे वह चक्षु का उत्कृष्ट विषय है ॥११००॥

---

१. क विषयो ग्रहणगोचरः।

अशीतिशतं—अशीत्यधिकं शतं, द्विगुणं—द्विगुणं द्वाभ्यां गुणितं षष्ट्यधिकत्रिशतप्रमाणं भवति द्वीपव्यासेन जम्बूद्वीपविष्कंभयोजनलक्षं पं-गृह्यते सर्वाभ्यन्तरान्तर्मार्गपरिधिप्रमाणानयननिमित्तमुभयोः पार्श्व-योर्विशोध्यमशीतिशतद्विगुणस्य तद्योजनप्रमाणात्तस्माद् द्वीपात् तद्विगुणं रहितं क्रियते तस्मिन् कृते शेषो द्वीपविशेष इत्युच्यते तस्य द्वीपविशेषस्य वर्गः क्रियते स च वर्गो दशगुणः क्रियते तस्य मूलं षष्ट्या विभाजितं भक्तं दिनार्धभागाहतं नवभिर्गुणितं "दिनार्धकालेन नव मुहूर्ताः परिगृह्यन्ते"। सर्वाभ्यन्तरपरिधिं षष्टिमुहूर्तैः भ्रमति मार्तण्डोऽतः षष्टिभिर्भागो मध्याह्ने भवति नवभिर्मुहूर्तैरयोध्यायां नवगुणकारः। एवं कृते च यल्लब्धं परि-माणं पूर्वोक्तं चक्षुषो विषयो भवति आषाढमासे सर्वाभ्यन्तरवर्त्मनि मिथुनावसाने स्थितस्यादित्यस्याक्ष्णो ग्रहण-मिति ॥११००॥

आचारवृत्ति—एक-सौ अस्सी को दो से गुणा करने से तीन सौ साठ हो जाते हैं। जम्बूद्वीप का विष्कम्भ एक लाख योजन है, उसे ग्रहण करना। पुनः सर्व अभ्यन्तर अन्य मार्ग की परिधि को निकालने के लिए उभयपार्श्व का शोधन करना अर्थात् एक लाख में तीन-सौ साठ को घटा देना। शेष द्वीप के लिए विशेष अर्थात् निन्यानवे हजार छह सौ चालीस का वर्ग करके पुनः उसे दश से गुणित करना। पुनः उसका वर्गमूल निकालकर उसमें साठ का भाग देकर दिनार्धभाग अर्थात् नव मुहूर्त से गुणित कर देना। अर्थात् सूर्य अभ्यन्तर परिधि को साठ मुहूर्त में पूरा करता है अतः साठ से भाग देकर पुनः मध्याह्न में अयोध्या पर आ जाता है अतः नव मुहूर्त से गुणा करना चाहिए। ऐसा करने से जो संख्या लब्ध होती है चक्षु इन्द्रिय का उतना विषय होता है।

---

* इस स्थान पर गाथा बदली हुई है—

तिण्णिसयसट्ठिविरहिदलक्खं दसमूलताडिदे मूलं।
णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं॥

अर्थ—तीन सौ साठ कम एक लाख योजन जम्बूद्वीप के विष्कम्भ का वर्ग करना, उसे दश गुणा करके वर्गमूल निकालना। इससे जो राशि उत्पन्न हो उसे नव का गुणा करके साठ का भाग देने से चक्षु-रिन्द्रिय का विषय होता है। अर्थात् सूर्य का चार क्षेत्र पाँच सौ बारह योजन प्रमाण है। उसमें तीन सौ बत्तीस योजन तो लवणसमुद्र में है और शेष एक-सौ अस्सी योजन जम्बूद्वीप में है। इसलिए जम्बूद्वीप के दोनों भाग के तीन-सौ साठ योजन क्षेत्र को छोड़कर बाकी निन्यानवे हजार छह सौ चालीस योजन प्रमाण जम्बूद्वीप के विष्कम्भ की परिधि करणसूत्र के अनुसार तीन लाख, पन्द्रह हजार नवासी योजन होती है। इस अभ्यन्तर परिधि को एक सूर्य अपने भ्रमण द्वारा साठ मुहूर्त दो दिन में समाप्त करता है और निषध गिरि के एक भाग से दूसरे भाग तक की अभ्यन्तर वीथी को अठारह मुहूर्त में समाप्त करता है। इसके बिलकुल बीच में अयोध्यानगरी पड़ती है। इस अयोध्यानगरी के बीच में बने हुए अपने महल के ऊपरी भाग से भरत आदि चक्रवर्ती निषधगिरि के ऊपर अभ्यन्तर में उदय होते हुए सूर्य के भीतर के जिनबिम्ब का दर्शन करते हैं। और निषधगिरि के उस उदयस्थान से अयोध्या पर्यन्त उक्त रीति से सूर्य के भ्रमण करने में नव मुहूर्त लगते हैं क्योंकि कर्क संक्रान्ति को यहाँ १२ मुहूर्त की रात्रि और १८ मुहूर्त का दिन हुआ करता है। अतः साठ मुहूर्त में इतने क्षेत्र पर भ्रमण करता है तो नव मुहूर्त में कितने क्षेत्र तक भ्रमण करेगा, ऐसा त्रैराशिक करने से फल-राशि परिधि प्रमाण और इच्छा राशि नव गुणाकार होती है। उसमें प्रमाण राशि साठ का भाग देने से चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ से कुछ अधिक निकलता है। तात्पर्य यह है कि चक्रवर्ती अधिक से अधिक इतनी दूर तक के पदार्थ को चक्षु द्वारा जान लेते हैं।

आषाढ़ मास में मिथुन राशि के अन्त में स्थित हुए सूर्य का इतना अन्तराल अयोध्या से रहता है।

विशेषार्थ—यहाँ इन गाथाओं में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों के अपनी-अपनी इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र बतलाया गया है तथा उनके आकार भी बतलाये गये हैं।

इन सबको यन्त्र में देखिए—

एकेन्द्रिय आदि जीवों के पाई जाने वाली इन्द्रियों के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र आदि का दर्शक यन्त्र

इन्द्रिय	एकेन्द्रिय धनुष से विषय क्षेत्र	द्वीन्द्रिय धनुष से विषय क्षेत्र	त्रीन्द्रिय धनुष से विषय क्षेत्र	चतुरिन्द्रिय विषय क्षेत्र		असंज्ञी पंचेन्द्रिय विषय क्षेत्र		संज्ञी पंचें. विषय क्षेत्र योजन से	विषय	योग्यता	आकृति
				धनुष	योजन	धनुष	योजन				
स्पर्शन	४००	८००	१६००	३२००	०	६४००	०	९	८ प्रकार का स्पर्श	बद्ध-स्पृष्ट	अनेक अनियत
रसना	०	६४	१२८	२५६	०	५१२	०	९	५ विध रस	"	अर्धचंद्र या खुरपा
घ्राण	०	०	१००	२००	०	४००	०	९	द्विविध गंध	"	तिलपुष्प
चक्षु	०	०	०	०	२९५४	०	५९०८	४७२६३ $\frac{१}{७ \div २०}$	पंचविध रूप	अस्पृष्ट	मसूर अन्न
श्रोत्र	०	०	०	०	०	८०००	०	१२	शब्द तथा ७ स्वर	स्पृष्ट	यवनाली

स्पष्ट है कि इनमें स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ अपने विषय को बद्ध स्पृष्ट रूप से ग्रहण करती हैं, चक्षु इन्द्रिय अस्पृष्ट विषय को ही ग्रहण करती है और कर्ण इन्द्रिय

स्वामित्वपूर्वकं योनिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

एइंदिय णेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य ।
वियलिंदिया य वियडा संवुडवियडा य गब्भेसु ॥११०१॥

सचित्तशीतसंवृताचित्तोष्णविवृतभेदैः सचित्ताचित्तशीतोष्णसंवृतविवृतभेदैश्च नवप्रकारा योनिर्भवति । यूयते भवपरिणत आत्मा यस्यामिति योनिर्भवाधारः । आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तं तेन चित्तेन सह वर्तते इति सचित्तं, शीत इति स्पर्शविशेषः 'शुक्लादिवद्गुणवचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमप्याह' । सम्यग्वृतः संवृतः दुरुपलक्ष्यप्रदेशो[1] अचित्तरहितपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा, उष्णः सन्तापपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा, विवृतो संवृतः प्रकटपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा, उभयात्मको मिश्रः सचित्ताचित्तः शीतोष्णः संवृतविवृतश्च एतैर्भेदैश्च[3] नवयोनयः सम्मूर्छनगर्भोपपादानां जन्मनामाधारा भवन्ति एतेषु प्रदेषु जीवा सम्मूर्छनादिस्वरूपेणोत्पद्यन्त इति । तत्र एइंदिय

स्पृष्ट शब्दों को ग्रहण करती है । सो ही कहा है—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं ।
फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणेइ ॥[2]

अर्थ—श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द को सुनती है । चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है । स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय क्रमशः बद्ध और स्पृष्ट स्पर्श, रस और गन्ध को जानती हैं । स्पर्शन रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों की योग्यता यहाँ बद्धस्पृष्ट को ग्रहण करने की है किन्तु गोम्मटसार में अबद्ध-स्पृष्ट कहा है ।

स्वामित्वपूर्वक योनि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जीव, नारकी और देव ये संवृत योनिवाले होते हैं । विकलेन्द्रिय जीव विवृत योनिवाले हैं और गर्भ में जन्म लेनेवाले संवृतविवृत योनिवाले होते हैं ॥११०१॥

आचारवृत्ति—सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ऐसे योनि के नव भेद होते हैं । 'यूयते यस्यां इति योनिः' अर्थात् भव परिणत आत्मा जिसमें मिश्रण अवस्था को प्राप्त होता है या मिलता है उस भव के आधार का नाम योनि है । आत्मा का चैतन्यविशेष परिणाम चित्त है उस चित्त के साथ रहनेवाली सचित्त योनि है । ठण्डे स्पर्श विशेष को शीत कहते हैं, 'शुक्लादि के समान उभय को—गुण-गुणी को कहनेवाला होने से शीत से युक्त द्रव्य को भी शीत कहते हैं । सं—अच्छी तरह से वृत—ढके हुए को संवृत कहते हैं अर्थात् दुरुपलक्ष्य प्रदेश । चित्त रहित पुद्गल के समूह युक्त प्रदेश को अचित्त कहते हैं । सन्तापकारी पुद्गल समूहयुक्त प्रदेश उष्ण है । प्रकट पुद्गल समूहयुक्त प्रदेश को विवृत कहते हैं । उभयात्मक को मिश्र कहते हैं । वह तीन प्रकार का है—सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत । जन्म के तीन भेद हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद । इन जन्म के लिए आधारभूत योनि नव भेदरूप है । अर्थात् इन प्रदेशों में जीव सम्मूर्च्छन आदि स्वरूप से उत्पन्न होते हैं । एकेन्द्रिय

---

१. क प्रदेशः अचित्तः चित्तरहित- । २. गोम्मटसार इन्द्रिय मार्गणा के आ० से ।
३. एता नवयोनयः ।

एइंदिया—एकेन्द्रिया नारकाश्च, संवुडजोणी—संवृतयोनयः, संवृता योनिर्येषां ते संवृतयोनयः दुरुपलक्ष्योत्पत्तिप्रदेशाः, हुंति—भवन्ति, देवा य—देवाश्च संवृतयोनयः. वियलिंदिया—विकलेन्द्रियाश्च द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाः, वियडा—विवृतयोनयश्च, तासामप्यासां प्रकटं, संवुडवियडा य—संवृतविवृता, संवृतविवृतयोनयः, गब्भेसु—गर्भेषु स्त्रिया उदरे "शुक्र-शोणितयोर्मिश्रणं गर्भः"। देवनारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनयः, विकलेन्द्रिया ये ते विवृतयोनयः, गर्भेषु ये ते संवृतविवृतयोनयः भवन्तीति ॥११०१॥

[1]पुनस्तेषां विशेषयोनिमित्याह—

अच्चित्ता खलु जोणी णेरइयाणं च होइ देवाणं ।
मिस्सा य गब्भजम्मा तिविहा जोणी दु सेसाणं ॥११०२॥

अच्चित्ता—निश्चेतना, खलु—स्फुटं, जोणी—योनिः, णेरइयाणं च—नारकाणां च होइ—भवति देवाणं—देवानां चशब्दोऽत्र संबन्धनीयः। मिस्सा य—मिश्रा सचित्ताचित्ता च, गब्भजम्मा—गर्भजन्मनां गर्भजानाम्। तिविहा—त्रिविधा त्रिप्रकारा, जोणी दु—योनिस्तु, सेसाणं—शेषाणां, सम्मूर्च्छनजन्मनामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां देवनारकाणां गर्भजवर्जितपंचेन्द्रियाणां च देवनारकाणाम् अचित्तयोनयः, गर्भजाः सचित्ताचित्तयोनयः, शेषाः पुनरेकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ताः केचन सचित्तयोनयः केचन अचित्तयोनयः केचन सचित्ताचित्तयोनयश्च भवन्तीति ॥११०२॥

पुनरपि तेषामेव विशेषयोनिस्वामित्वमाह—

सीदुण्हा खलु जोणी णेरइयाणं तहेव देवाणं ।
तेऊण उसिणजोणी तिविहा जोणी दु सेसाणं ॥११०३॥

जीव, नारकी और देव संवृत योनि में जन्म लेते हैं। अर्थात् इनकी उत्पत्ति के स्थान दिखते नहीं हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव विवृत योनि में जन्म लेते हैं। तथा गर्भ से जन्मने वालों की योनि संवृतविवृत है। माता के उदर में शुक्र और शोणित के मिश्रण को गर्भ कहते हैं। इन गर्भज जीवों का जन्म संवृत-विवृत योनि से होता है।

पुनः उनकी विशेष योनि को कहते हैं—

गाथार्थ—नारकी और देवों की अचित्त योनि होती है। गर्भ जन्मवालों की मिश्र योनि है तथा शेष जीवों की तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं ॥११०२॥

आचारवृत्ति—नारकियों की और देवों की अचित्त—निश्चेतन योनि होती है। गर्भज जीवों की सचित्ताचित्त नामक मिश्र योनि होती है। तथा शेष—सम्मूर्च्छन एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में से किन्हीं के सचित्त योनि है, किन्हीं के अचित्त और किन्हीं के सचित्ताचित्त योनि होती है।

पुनरपि उन्हीं जीवों की विशेष योनि को कहते हैं—

गाथार्थ—नारकी और देवों के शीतोष्ण योनि है, अग्निकायिक जीवों की उष्ण योनि है तथा शेष जीवों के तीन प्रकार की योनि होती है ॥११०३॥

---

1. क पुनरपि विशेषयोनिस्वामित्वमाह।

सीदुण्हा—शीतोष्णा, खलु—स्फुटं, जोणी—योनिः, णेरइयाणं—नारकाणां, तहेव देवाणं—तथैव देवानां, तेऊण—तेजःकायानां, उसिणजोणी—उष्णयोनिः । तिविहा—त्रिविधा, शीता-उष्णा-शीतोष्णा, जोणी दु—योनिस्तु, सेसाणं—शेषाणां पृथिवीकायाप्कायवायुकायवनस्पतिकायद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां देवनारकवर्जितपंचेन्द्रियाणाम् । देवनारकाणां शीतोष्णा च योनिः तेषां हि कानिचिच्छीतानि[1] कानिचिदुष्णानि तेजःकायिकानां पुनरुष्ण एव योनिः शेषाणां तु त्रिविधो योनिस्ते च केचिच्छीतयोनयः केचिदुष्णयोनयः केचिच्छीतोष्णयोनयः अप्कायिकाः शीतयोनय एवेति ॥११०३॥

पुनरप्येतासां योनीनां विशेषयोनिस्वरूपमाह—

संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णय वंसपत्तजोणी य ।
तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जए गब्भो ॥११०४॥

संखावत्तय—शंख इव [2]आवर्तो यस्य शंखावर्तका जोणी—योनिः कुम्मुण्णय—कूर्म इवोन्नता कूर्मोन्नता, वंसपत्तजोणी य—वंशपत्रमिव योनिर्वंशपत्रयोनिः । तत्थ च तेषु च मध्ये शंखावर्ते नियमात्, विवज्जए—विपद्यते विनश्यति गर्भो 'गर्भः शुक्रशोणितमरणम्' । शंखावर्तकूर्मोन्नतवंशपत्रभेदेन त्रिविधा योनिस्तत्र च शंखावर्तयोनौ नियमाद्विपद्यते गर्भः अतः[3] तद्वती वंध्या[4] भवतीति[5] ॥११०४॥

तेषु च उत्पद्यन्ते तानाह—

आचारवृत्ति—देवों में तथा नारकियों में किन्हीं के शीत योनि है और किन्हीं के उष्ण योनि है। अग्निकाय जीवों के उष्ण योनि ही है। तथा शेष—पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं देव-नारकी के अतिरिक्त पंचेन्द्रिय में से किन्हीं के शीत योनि, किन्हीं के उष्ण योनि और किन्हीं के शीतोष्ण योनि होती है। जल-कायिक जीवों के शीत योनि ही है।

पुनरपि इन जीवों के विशेष योनि भेद कहते हैं—

गाथार्थ—शंखावर्तक योनि, कूर्मोन्नतयोनि और वंशपत्रयोनि ये तीन प्रकार की योनियाँ हैं। उनमें से शंखावर्त योनि में नियम से गर्भ नष्ट हो जाता है ॥११०४॥

आचारवृत्ति—शंख के समान आवर्त जिसमें है वह शंखावर्तक योनि है। कछुए के समान उन्नत योनि कूर्मोन्नत कहलाती है और बांस के पत्र के समान योनि को वंशपत्र योनि कहते हैं। इनमें से शंखावर्तक योनि में गर्भ नियम से विनष्ट हो जाता है, अतः शंखावर्तक योनिवाली स्त्री वंध्या होती है। शुक्र और शोणित का गरण—मिश्रण होना गर्भ कहलाता है।

इन योनियों में उत्पन्न होनेवालों को बताते हैं—

---

१. क कानिचिदुष्णान्यस्थानानि । २. क आवर्तो यस्यां सा । ३. क अतएव वंध्या ।
४. गोम्मटसार में छाया में 'विवज्यते' पाठ है जिसका अर्थ यह हुआ कि गर्भ नहीं रहता है।
५. केषांचित् चक्रवर्तिस्त्रीरत्नादीनां कासांचित् तथाविध(शंखावर्त)योनिसम्भवात् [गोम्मटसार गाथा ८२] की टिप्पणी।

कुम्मुण्णदजोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य।
रामावि य जायंते सेसा सेसेसु जोणीसु ॥११०५॥

कूर्मोन्नतयोनौ विशिष्टसर्वशुचिप्रदेशे शुद्धपुद्गलप्रचये वा तित्थयरा—तीर्थंकराः, दुविहचक्कवट्टीय—द्विविधचक्रवर्तिनः चक्रवर्तिवासुदेवप्रतिवासुदेवाः रामावि य—रामाश्चापि बलदेवा अपि, जायंते—समुत्पद्यन्ते। सेसा—शेषा अन्ये तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवविवर्जिता भोगभूमिजादयः, सेसेसु—शेषयोः, जोणीसु—योन्योर्वंशपत्रशंखावर्तयोरुत्पद्यन्ते। किन्तु शंखावर्ते विनश्यति गर्भः स भोगभूमिजानां न[1] भवति ते ह्यनपवर्त्यायुष इति ॥११०५॥

संवृतादियोनिविशेषांश्चतुरशीतिशतसहस्रभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणरयतिरिए चउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा ॥११०६॥

गाथार्थ—कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, दोनों प्रकार के चक्रवर्ती और बलभद्र उत्पन्न होते हैं। शेष दो योनियों में शेष जीव होते हैं ॥११०५॥*

आचारवृत्ति—विशिष्ट सर्वशुचि प्रदेशरूप अथवा शुद्ध पुद्गलों के समूहरूप कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र उत्पन्न होते हैं। शेष अन्य जन तथा भोगभूमिज आदि शेष अर्थात् वंशपत्र और शंखावर्तक योनि से उत्पन्न होते हैं। किन्तु शंखावर्तक में गर्भ नष्ट हो जाता है अतः वह भोगभूमिजों के नहीं होती है, क्योंकि वे अनपवर्त्य—अकालमृत्यु रहित आयुवाले होते हैं।

अब संवृत आदि योनि के विशेष भेद रूप चौरासी लाख योनिभेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनकी सात लाख, वनस्पति की दस लाख, विकलेन्द्रियों की छह लाख, देव, नारकी और तिर्यंचों की चार-चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं ॥११०६॥

---

१. क शंखवति।

* गोम्मट सार जीवकाण्ड में इस गाथा में कुछ अन्तर है। यथा—

कुम्मुण्णदजोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य।
रामा वि य जायंते सेसाए सेसगजणो दु ॥८२॥

अर्थ—कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती तथा बलभद्र तथा अपि शब्द की सामर्थ्य से अन्य भी महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं। तीसरी वंशपत्र योनि में साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं।

जीव० प्र० टीका में लिखा है कि "अपि शब्दान्नेतरजनाः।" परन्तु स्व. पं. गोपालदासजी के कथनानुसार मालूम होता है कि यहाँ पर "अपि शब्दादितरजनाः अपि" ऐसा पाठ होना चाहिए, क्योंकि प्रथम चक्रवर्ती भरत जिस योनि से उत्पन्न हुए थे, उसी से उनके निन्यानवें भाई भी उत्पन्न हुए थे। [गोम्मटसारजी गा० ८२ की टिप्पणी]

नित्यनिगोदेतरनिगोदपृथिवीकायिकाप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकानां सप्तलक्षाणि योनीनाम्। तरूणां प्रत्येकवनस्पतीनां दशलक्षाणि योनीनाम्। विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां षड्लक्षाणि। सुराणां चत्वारि लक्षाणि। नारकाणां चत्वारि लक्षाणि। तिरश्चां सुरनारकमनुष्यवर्जितपंचेन्द्रियाणां चत्वारि लक्षाणि। मनुष्याणां चतुर्दशलक्षसहस्राणि योनीनामिति सम्बन्धः। एवं सर्वसमुदायेन चतुरशीतिलक्षसहस्राणि योनीनामिति। नात्र पौनरुक्त्यं पूर्वेण सहाधिकारभेदात् पर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहणाच्च ॥११०६॥

आयुषः स्वरूपं प्रमाणेन स्वामित्वपूर्वकं प्रतिपादयन्नाह—

बारसवाससहस्सा आऊ सुद्धेसु जाण उक्कस्सं।
खरपुढविकायएसु य वाससहस्साणि बावीसा ॥११०७॥

नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभवधारणहेतुः कर्मपुद्गलपिंड आयुः। औदारिक-औदारिकमिश्रवैक्रियिक-वैक्रियिकमिश्रशरीरसाधारणकारणलक्षणं वायुः। तत्र बारसवाससहस्सा—द्वादशवर्षसहस्राणि, उच्छ्वासानां त्रीणि सहस्राणि त्रिसप्तत्यधिकसप्तशतानि च गृहीत्वैको मुहूर्तः आगमोक्तं लक्षणमेतत्। लौकिकैः पुनः सप्तशतैरुच्छ्वासैर्मुहूर्तो भवति। आगमिक उच्छ्वास उदरप्रदेशनिर्गमाद्गृहीतो लौकिकः पुनः नासिकाया निर्गमाद् गृहीत इति न दोषः। त्रिंशन्मुहूर्तैर्दिवसस्त्रिंशद्भिर्दिवसैर्मासो द्वादशभिर्मासैर्वर्षः। आऊ—आयुः भवस्थितिः सुद्धेसु—शुद्धेषु शुद्धानां पृथिवीकायिकेष्विति सम्बन्धः जाण—जानीहि, उक्कस्सं—उत्कृष्टं, खरपुढविकायिएसु य—खरपृथिवीकायिकेषु च मृत्तिकादयः शुद्धपृथिवीकायिकाः पाषाणादयः खरपृथिवीका-

---

आचारवृत्ति—नित्यनिगोद, इतर निगोद, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकाय जीव इन छहों में प्रत्येक की सात-सात लाख योनियाँ हैं। प्रत्येकवनस्पति-कायिकों की दश लाख हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय—इनमें प्रत्येक की दो-दो लाख अर्थात् कुल छह लाख योनियाँ हैं। देवों की चार लाख, नारकियों की चार एवं पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार लाख योनियाँ हैं। मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार समुदाय से चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। यहाँ पर पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व के साथ अधिकार-भेद है और पर्यायार्थिक नय वाले शिष्यों के अनुग्रह हेतु यह विस्तार-कथन है।

आयु का स्वरूप प्रमाण द्वारा स्वामित्वपूर्वक कहते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष है और खर-पृथ्वीकायिक की बाईस हजार वर्ष है ॥११०७॥

आचारवृत्ति—नारक, तियंच, मनुष्य और देव के भवों को धारण करने में कारण कर्म-पुद्गल के पिण्ड को आयु कहते हैं। अथवा औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र शरीर के धारण करने रूप कर्म-पुद्गलपिण्ड को आयु कहते हैं। तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है। आगम में मुहूर्त का यह लक्षण किया गया है। किन्तु लौकिक जनों ने सात-सौ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त माना है। आगम में उदरप्रदेश से निकले हुए उच्छ्वास का ग्रहण है और लौकिक में नाक से निकले हुए उच्छ्वास का ग्रहण है इसलिए कोई दोष नहीं है। अर्थात् दोनों ही प्रकार के मुहूर्त में समय समान ही लगता है। तीस मुहूर्त का एक दिवस होता है, तीस दिवस का एक महिना और बारह महिने का एक वर्ष होता है। पाषाण आदि शुद्ध

विकाः, बारसहस्साणि—वर्षसहस्राणि, बावीस—द्वाविंशतिः। शुद्धपृथिवीकायिकानामुत्कृष्टमायुर्द्वादशवर्षसहस्राणि, खरपृथिवीकायिकानां चोत्कृष्टमायुर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि भवन्तीति ॥११०७॥

अप्कायिकतेजःकायिकानामायुःप्रमाणमाह—

सत्त दु वाससहस्सा आऊ आउस्स होइ उक्कस्सं।
रत्तिंदियाणि तिण्णि दु तेऊणं होइ उक्कस्सं ॥११०८॥

सत्त दु—सप्तैव, वाससहस्सा—वर्षसहस्राणि, आऊ—आयुः, आउस्स—अपां अप्कायिकानां होइ—भवति, उक्कस्सं—उत्कृष्टं, अप्कायिकानां परमायुः सप्तैव वर्षसहस्राणि। रत्तिंदियाणि—रात्रिन्दिनानि अहोरात्रं, तिण्णि दु—त्रय एव, तेऊणं—तेजसां तेजःकायिकानां, होइ उक्कस्सं—भवत्युत्कृष्टम्। अप्कायिकानां परमायुः सप्तैव वर्षसहस्राणि, त्रीणि[1] रात्रिदिनानि तेजःकायिकानां परमायुरिति ॥११०८॥

वायुकायिकानां वनस्पतिकायिकानां च परमायुःप्रमाणमाह—

तिण्णि दु वाससहस्सा आऊ वाउस्स होइ उक्कस्सं।
दस वाससहस्साणि दु वणप्फदीणं तु उक्कस्सं ॥११०९॥

तिण्णि दु—त्रीणि तु त्रीण्येव नाधिकानि, वाससहस्सा—वर्षसहस्राणि, आऊ—आयुः, वाउस्स—वायूनां वायुकायिकानां, होदि उक्कस्सं—भवत्युत्कृष्टम्। दस वाससहस्साणि—दशवर्षसहस्राणि, तुशब्दोऽवधारणार्थः" वणप्फदीणं तु—वनस्पतीनां च वनस्पतिकायानां तु उक्कस्सं—उत्कृष्टमेव। वायुकायिकानामुत्कृष्टमायुस्त्रीण्येव वर्षसहस्राणि, वनस्पतिकायिकानां तूत्कृष्टमायुर्दशैव वर्षसहस्राणीति ॥११०९॥

विकलेन्द्रियाणामायुःप्रमाणमाह—

पृथ्वीकायिक हैं और मृत्तिका आदि खरपृथ्वी हैं। इन शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष है तथा खर-पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष प्रमाण है।

जलकायिक और अग्निकायिक की आयु का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—जलकायिकों की उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष है। अग्निकायिकों की उत्कृष्ट आयु तीन दिन-रात की है ॥११०८॥

आचारवृत्ति—जलकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष है और अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन दिन-रात की है।

वायुकायिक और वनस्पतिकायिकों की उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

गाथार्थ—वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष है और वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष है ॥११०९॥

टीका सरल है।

विकलेन्द्रियों की आयु का प्रमाण कहते हैं—

---

१. क रात्रिदिवसानयः।

बारस वासा वेइंदियाणमुक्कस्सं भवे आऊ।
राइंदियाणि तेइंदियाणमुगुवण्ण उक्कस्सं ॥११११०॥

बारस वासा—द्वादशवर्षाणि, वेइंदियाणं—द्वीन्द्रियाणां शंखप्रभृतीनां, उक्कस्सं—उत्कृष्टेन, हवे—भवेत्, आऊ—आयुः। रादिंदियाणि—रात्रिदिवानि अहोरात्ररूपाणि, तेइंदियाण—त्रीन्द्रियाणां गोम्भादीनां, अणुवण्ण—एकोनपंचाशत्, उक्कस्सं—उत्कृष्टम्। द्वीन्द्रियाणां प्रकृष्टमायुः द्वादशसंवत्सरा एव, त्रीन्द्रियाणां पुनरुत्कृष्टमायुः एकोनपंचाशद्रात्रिदिवसानामिति ॥१११०॥

चतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणामाह—

चउरिंदियाणमाऊ उक्कस्सं खलु हवेज्ज छम्मासं।
पंचेंदियाणमाऊ एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥११११॥

चउरिंदियाणं—चतुरिन्द्रियाणां भ्रमरादीनां, आऊ—आयुः, उक्कस्सं—उत्कृष्टं खलु स्फुटं हवेज्ज—भवेत्, छम्मासं—षण्मासाः। पंचेंदियाणं—पंचेन्द्रियाणां, आऊ—आयुः, एत्तो उड्ढं—इत ऊर्ध्वं विकलेन्द्रियकथनोर्ध्वं, पवक्खामि—प्रवक्ष्यामि प्रतिपादयिष्यामि। चतुरिन्द्रियाणामुत्कृष्टमायुः [1]षण्मासमितं भवेत्, इत ऊर्ध्वं पंचेन्द्रियाणामायुर्वक्ष्यामीति ॥११११॥

तदेव प्रतिपादयति—

मच्छाण पुव्वकोडी परिसप्पाणं तु णवय पुव्वंगा।
बादालीस सहस्सा उरगाणं होइ उक्कस्सं ॥१११२॥

वर्षं दशगुणितं दशवर्षाणि, दशवर्षाणि दशगुणितानि वर्षशतं, वर्षशतं दशगुणितं वर्षसहस्रं, वर्ष-

---

गाथार्थ—दो-इन्द्रियों की बारह वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। तीन-इन्द्रियों की उनंचास रात-दिन की उत्कृष्ट आयु है ॥१११०॥

आचारवृत्ति—शंख आदि दो-इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है और गोभी अर्थात् कनखजूर (कीड़ा) आदि तीन-इन्द्रिय जीवों की उनंचास दिन-रात की उत्कृष्ट आयु है।

चार-इन्द्रिय और पाँच-इन्द्रिय जीवों की आयु कहते हैं—

गाथार्थ—चार-इन्द्रिय जीवों की छह मास की उत्कृष्ट आयु है। पंचेन्द्रियों की आयु इससे आगे कहेंगे ॥११११॥

आचारवृत्ति—भ्रमर आदि चार-इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु छह मास तक है। अब इससे आगे पंचेन्द्रियों की आयु का वर्णन करेंगे।

उसे ही कहते हैं—

गाथार्थ—मत्स्यों की पूर्वकोटि, परिसर्पों की नवपूर्वांग और सर्पों की ब्यालीस हजार वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥१११२॥

आचारवृत्ति—वर्ष को दश से गुणा करने पर दश वर्ष, दश को दश से गुणित करने

---

1. क षण्मासा।

शतकं दशगुणितं दशवर्षसहस्राणि, दशवर्षसहस्राणि दशगुणितानि वर्षशतसहस्रं, वर्षशतसहस्रं दशगुणितं दश-वर्षशतसहस्राणि, दशवर्षशतसहस्राणि दशगुणितानि कोटी, दशगुणिता कोटी दशकोटी[1], दशकोटी[1] दशगुणिता कोटीशतं, कोटीशतं दशगुणितं कोटीसहस्रं, कोटीसहस्रं दशगुणितं दशकोटीसहस्राणि, दशकोटीसहस्राणि दश-गुणितानि लक्षकोटीस्येवमादि कालप्रमाणं ज्ञेयमिति। वर्षलक्षं चतुरशीतिगुणितं पूर्वांगं भवति, पूर्वांगं चतुरशीतिलक्षगुणितं पूर्वं भवति, पूर्वस्य तु प्रमाणं सप्ततिकोटीशतसहस्राणि कोटीनां तु षट्पंचाशत्सहस्राणि चेति। प्रस्तुतं वक्ष्ये मच्छाणं—मत्स्यानां, पुव्वकोडी—पूर्वकोटी पूर्वाणां कोटी पूर्वकोटी "सप्ततिकोटीशतसह-स्राणि कोटीनां षट्पंचाशत्सहस्राणि च कोटीगुणितानि पूर्वकोटी भवति"। परिसप्पाणं—परिसर्पन्तीति परिसर्पाः गोधेरगोधादयस्तेषां परिसर्पाणां, तु णवय पुव्वंगा—नवैव पूर्वांगानि चतुरशीतिलक्षाणि नवगुणितानि, बादा-लीसं—द्वाचत्वारिंशत्, सहस्सा—सहस्राणि, उत्तरगाथार्द्धे वर्षशब्दस्तिष्ठति तेन सह संबन्धः न पूर्वपूर्वांगाभ्या-मिति, ताभ्यां सह वर्षाणां सम्बन्धे पूर्वागमविरोधः स्यात्तस्माद्द्वाचत्वारिंशत्सहस्राणीति संबध्यन्ते, उरगाणं—उरसा गच्छन्ति इति उरगाः सर्पास्तेषामुरगाणां, होंति—भवति, उक्कस्सं—उत्कृष्टम्। मत्स्यानां पूर्वकोटी परमायुः परिसर्पाणां तु नवैव पूर्वांगानि सर्पाणां पुनः परमायुर्वर्षाणां द्वाचत्वारिंशत्सहस्राणीति ॥१११२॥

पक्षिणामसंज्ञिनां च परमायुःप्रमाणमाह—

पक्खीणं उक्कस्सं वाससहस्सा बिसत्तरी होंति।
एगा य पुव्वकोडी असण्णीणं तह य कम्मभूमीणं ॥१११३॥

पर सौ वर्ष, सौ को दश से गुणित करने पर हजार वर्ष, हजार को दश से गुणित करने पर दश हजार वर्ष, दश हजार को दश से गुणा करने पर लाख वर्ष, लाख को दश से गुणा करने पर दश लाख वर्ष, दश लाख को दश से गुणा करने पर करोड़ वर्ष, करोड़ को दश से गुणा करने पर दश करोड़ वर्ष, दश करोड़ को दश से गुणा करने पर सौ करोड़ वर्ष, सौ करोड़ को दश से गुणा करने पर हजार करोड़ वर्ष, हजार करोड़ को दश से गुणा करने पर दश हजार करोड़ वर्ष दश हजार करोड़ को दश से गुणा करने पर लक्ष कोटि प्रमाण होता है। इत्यादि प्रकार से काल का प्रमाण समझना चाहिए।

एक लाख वर्ष को चौरासी से गुणा करने पर पूर्वांग होता है। पूर्वांग को चौरासी लाख से गुणा करने पर पूर्व होता है। अर्थात् सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्षों (७०५६०००,००००००००) का एक पूर्व होता है। अब प्रस्तुत प्रकरण को कहते हैं।

मत्स्यों की एक कोटिपूर्व वर्ष उत्कृष्ट आयु है। सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्षों को करोड़ से गुणा करने पर एक पूर्व कोटि वर्ष का प्रमाण होता है। गोह आदि सर्पों की उत्कृष्ट आयु नव पूर्वांग है। अर्थात् चौरासी लाख वर्ष को नव से गुणा करने पर नव पूर्वांग संख्या होती है। सर्पों की उत्कृष्ट आयु ब्यालीस हजार वर्ष है। गाथा में यद्यपि 'वर्ष' शब्द नहीं है फिर भी वह आगे गाथा में है उससे सम्बन्ध किया गया है।

पक्षियों और असंज्ञी जीवों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—पक्षियों की उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है तथा असंज्ञी जीव और कर्म-भूमि जीवों की उत्कृष्ट आयु एक कोटिपूर्व वर्ष है ॥१११३॥

१-२. क दशकोटयः।

पक्खीणं—पक्षिणां भैरुण्डादीनां, उक्कस्सं—उत्कृष्टमायुरिति संबन्धः, बावत्तरिसहस्सा—वर्षसहस्राणि, बिसत्तरी—द्वासप्ततिः, होंति—भवन्ति । एगा य—एका च, पुव्वकोडी—पूर्वकोटी, असण्णीणं—असंज्ञिनां मनोविरहितपंचेन्द्रियाणां, तह—तथा, कम्मभूमिणं—कर्मभौमानां "कर्मभौमशब्दोऽनन्तराणां सर्वेषां विशेषणम्" तथाशब्देन सप्ततिशतार्यखण्डप्रभवा मनुष्याः परिगृह्यन्ते । कर्मभूमिजानां पक्षिणामुत्कृष्टमायुर्द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि भवन्ति, असंज्ञिनां, कर्मभूमिजमनुष्याणामन्येषां कर्मभूमिप्रतिभागजानां चैका पूर्वकोटी वर्षाणां परमायुर्भवतीति ॥१११३॥

अथ भोगभूमिजानां किंप्रमाणं परमायुरित्यत आह—

हेमवदवंसयाणं तहेव हेरण्णवंसवासीणं ।
मणुसेसु य मेच्छाणं हवदि दु पलिदोवमं एक्कं ॥१११४॥

हेमवदवंसयाणं—हैमवतवंशजानां, तहेव—तथैव हैरण्यवतवंशवासिनां, मणुसेसु य—मानुषेषु च मध्ये, मेच्छाणं—म्लेच्छानां सर्वम्लेच्छखण्डेषु जातानां भोगभूमिप्रतिभागजानां अन्तर्द्वीपजानां वा समुच्चयचशब्देन, हवदि दु—भवति तु, पलिदोवमं—पल्योपममेकम् । पंचसु जघन्यभोगभूमिषु हैमवतसंज्ञकासु[1] तथा परासु पंचसु जघन्यभोगभूमिषु हैरण्यवतसंज्ञकासु च मध्ये सर्वम्लेच्छखण्डेषु जातानां भोगभूमिप्रतिभागजानामन्तर्द्वीपजानां च पल्योपममेकं परमायुरिति ॥१११४॥

मध्यमभोगभूमिजानां परमायुःप्रमाणमाह—

हरिरम्मयवंसेसु य हवंति पलिदोवमाणि खलु दोण्णि ।
तिरिएसु य सण्णीणं तिण्णि य तह कुरुवगाणं च ॥१११५॥

आचारवृत्ति—भैरुण्ड आदि पक्षियों की उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष प्रमाण है । 'कर्मभौम' शब्द अनन्तर के सभी का विशेषण है । और 'तथा' शब्द से एक सौ सत्तर आर्य खण्ड में होनेवाले मनुष्यों को लेना । अर्थात् कर्मभूमिज पक्षियों की उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है । असंज्ञी—मनरहित पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की, कर्मभूमिज मनुष्यों की तथा कर्मभूमि के प्रतिभाग में होनेवाले मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटिपूर्व वर्ष की है ।

भोगभूमिजों की आयु कितने प्रमाण है ? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—हैमवतक्षेत्र में होनेवाले और हैरण्यवत क्षेत्र में होनेवाले जीवों की, मनुष्यों में म्लेच्छों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम है ॥१११४॥

आचारवृत्ति—पाँच हैमवत क्षेत्र हैं, उनमें जघन्य भोगभूमि है । पाँच हैरण्यवत क्षेत्र हैं, उनमें भी जघन्य भोगभूमि है । इनमें होनेवाले भोगभूमिजों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य है । सर्वम्लेच्छ खण्डों में होनेवाले, भोगभूमि के प्रतिभाग में होनेवाले अथवा अन्तर्द्वीप में होनेवाले कुभोगभूमि के मनुष्य—इन सब की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम प्रमाण है ।

मध्यम भोगभूमिजों आदि की उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

गाथार्थ—हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र के जीवों की उत्कृष्ट आयु दो पल्योपम है । संज्ञी तिर्यंच और देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम है ॥१११५॥

---

१. जातानां तिर्यङ्मनुष्याणां परमायुः पल्यमेकमेव भवति तथा मनुष्येषु च मध्ये सर्वम्लेच्छखण्डेषु जातानां भोगभूमिप्रतिभागजानामन्तर्द्वीपजानां च पल्योपममेकं परमायुरिति इति क प्रतौ ।

मनुष्या इत्यनुवर्तते, हरिरम्मयवंसेसु य—हरिरम्यकवर्षेषु च, वंशशब्दोऽत्र प्रत्येकमभिसंबध्यते, पंचसु हरिवर्षेषु मध्यमभोगभूमिषु पंचसु रम्यकवर्षेषु च हवंति—भवन्ति, पलिदोवमाणि—पल्योपमानि, द्वे खलु स्फुटं, दोण्णि—द्वे। तिरिक्खेसु य—तिर्यक्षु च तिरश्चां वा तिर्यक्शब्दः प्रत्येकभोगभूमिषु संबध्यते, सण्णीणं—संज्ञिनां समनस्कानां "अत्र संज्ञिशब्दो भोगभूमिषु असंज्ञिनामभावप्रतिपादकः। भोगभूमिजास्तिर्यंचः संज्ञिन एवेति"। तिण्णि य—त्रीणि च, तह य—तथा, कुरवगाणं—कौरवकाणां चात्र कुरुशब्द उत्तरकुरुदेवकुरुषु वर्तमानो गृह्यते सामान्यनिर्देशात्। पंचसु च हरिवंशेषु मध्यमभोगभूमिषु पंचसु च रम्यकवर्षे मध्यमभोगभूमिषु च मनुष्याणां तिरश्चां च संज्ञिनां द्विपल्योपमं परमायुः, पंचसूत्तरकुरुषु पंचसु देवकुरुषु चोत्कृष्टभोगभूमिषु मनुष्याणां तिरश्चां च त्रीणि पल्योपमानि परमायुरिति ॥१११५॥

नारकाणां देवानां च परमायुषः स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

देवेसु णारयेसु य तेत्तीसं होंति उवधिमाणाणि।
उक्कस्सयं तु आऊ वाससहस्सा दस जहण्णा ॥१११६॥

देवेसु—देवानामणिमाद्यष्टर्द्धिप्राप्तानां, णारयेसु य—नारकाणां च सर्वाशुभकराणाम् अथवा देवेषु नारकेषु च विषये, तेत्तीसं—त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिकं दशानां त्रयं, होंति—भवन्ति, उवधिमाणाणि सागरोपमाणि, उक्कस्सयं तु—उत्कृष्टं, तु शब्दोऽवधारणार्थम्[2]। आऊ—आयुः, वाससहस्सा—वर्षाणां सहस्राणि, दस—

आचारवृत्ति—हरिवंशों में अर्थात् पाँच हरिक्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि है। वहाँ होनेवाले मनुष्यों की तथा पाँच रम्यकवंश—रम्यकक्षेत्र नामक मध्यम भोगभूमि में होनेवाले मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु दो पल्योपम है। यहाँ गाथा के 'तिर्यंच' शब्द को सभी भोगभूमि में घटित करना चाहिए तथा संज्ञी शब्द से ऐसा समझना कि भोगभूमि में असंज्ञी तिर्यंचों का अभाव है अर्थात् भोगभूमिज तिर्यंच संज्ञी ही होते हैं। 'कुरु' शब्द से देवकुरु और उत्तरकुरु दोनों का ग्रहण हो जाता है। पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु में उत्तम भोगभूमि है। वहाँ के मनुष्यों और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है।

भावार्थ—हैमवत, हैरण्यवत क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। वहाँ के मनुष्य और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य है। हरिक्षेत्र और रम्यक क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि है। वहाँ के मनुष्यों एवं तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। म्लेच्छ खण्ड के मनुष्यों की, कुभोगभूमि के मनुष्यों की तथा भोगभूमि-प्रतिभागज मनुष्यों की आयु एक पल्योपम है।

नारकी और देवों की आयु कहते हैं—

गाथार्थ—देवों और नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है और जघन्य आयु दस हजार वर्ष ॥१११६॥

आचारवृत्ति—अणिमा आदि ऋद्धियों से संयुक्त देव कहलाते हैं तथा सर्व अशुभ ही करनेवाले नारकी होते हैं। इन देव और नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण और जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। यह सामान्य कथन द्रव्यार्थिक शिष्यों के अनुग्रह के लिए है।

---

१. क सर्वाशुभ०। २. क अवधारणपरः।

दश, जहण्णं—जघन्यं निकृष्टं, सामान्यकथनमेतद् द्रव्यार्थिकशिष्यानुग्रहनिमित्तं विस्तरतः [1]सूत्रेणोत्तरत्र [2]कथनं पर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहार्थं "सर्वानुग्रहकारी च सतां प्रयासो" यस्ततः सामान्यविशेषात्मकं प्रतिपादनं युक्तमेव सामान्यविशेषात्मकत्वाच्च सर्ववस्तूनां सामान्येन प्रतिपन्ने सति विशेषस्य सुखेनावगतिर्नित्यक्षणिकैकान्तवादिमतं च निराकृतं भवति। सामान्येन देवानां नारकाणां चोत्कृष्टमायुः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्यं च देवनारकाणामायुर्दशवर्षसहस्राणीति ॥१११६॥

अल्पप्रपंचत्वात्प्रथमतरं तावन्नारकाणां सामान्यसूत्रसूचितं प्रकृष्टमायुःप्रमाणं सर्वपृथिवीनां प्रतिपादयन्नाह—

एक्कं च तिण्णि सत्तय दस सत्तरसेव होंति बावीसा।
तेत्तीसमुदधिमाणा पुढवीण ठिदीणमुक्कस्सं ॥१११७॥

एक्कं च एकं च सर्वत्रोदधिमानानीत्यनेन संबन्धः तिण्णि—त्रीणि, सत्त य—सप्त च, दस—दश, सत्तरस—सप्तदश एवकारोऽवधारणार्थः, होंति—भवन्ति, बावीसं—द्वाविंशतिः, तेत्तीसं—त्रयस्त्रिंशत्, उदधिमाणा—उदधिमानानि, पुढवीणं—पृथिवीनां रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाणां सप्तानां यथासंख्येन संबन्धः, ठिदीणं—स्थितीनामायुरित्यनुवर्तते तेनायुःस्थितीनां नान्यकर्मस्थितीनां ग्रहणं भवति नापि नरकभूमिस्थितीनामिति, उक्कस्सं—उत्कृष्टम्। रत्नप्रभायां त्रयोदशप्रस्तरे नारकाणा[3]मायुःस्थितेः प्रमाणमेकसागरोपमं, शर्कराप्रभायामेकादशप्रस्तरेऽन्त्ये नारकाणां परमायुः स्थितेः प्रमाणं त्रीणि सागरोपमाणि। बालुकाप्रभायां नवमप्रस्तरे-

---

पर्यायार्थिक शिष्यों के प्रति अनुग्रह करने के लिए आगे सूत्रों द्वारा विस्तार से इन सबकी आयु का वर्णन करेंगे। चूँकि सत्पुरुषों का प्रयास सभी जनों पर अनुग्रह करनेवाला होता है, इसलिए सामान्य और विशेष रूप से प्रतिपादन करना युक्त ही है। और फिर, सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक ही हैं। सामान्य से किसी वस्तु को जान लेने पर विशेष का सुखपूर्वक सहज ही ज्ञान हो जाता है। इस सामान्य-विशेष के कथन से नित्यैकान्तवादी और क्षणिकैकान्तवादी के मतों का निराकरण हो जाता है। अर्थात् इस गाथा में देव-नारकियों की सामान्य आयु कहकर आगे विशेषतः कहेंगे।

थोड़ा विस्तार होने से, सबसे पहले नारकियों की सामान्य सूत्र से सूचित उत्कृष्ट आयु का प्रमाण सर्वपृथिवियों में प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—सात नरकों में क्रम से उत्कृष्ट आयु एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागर प्रमाण है ॥१११७॥

आचारवृत्ति—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा, क्रमशः ये सात नरकभूमियों के नाम हैं। इन नरकों में रहनेवाले नारकियों की आयु का प्रमाण यहाँ पर कहा गया है। उन नरकभूमियों की स्थिति अथवा वहाँ के नारकियों के अन्य कर्मों की स्थिति का ग्रहण यहाँ नहीं है। रत्नप्रभा नरक में तेरह प्रस्तार हैं। अन्तिम प्रस्तार के नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर है। शर्कराप्रभा नरक में ग्यारह प्रस्तार हैं। उनमें से अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु तीन सागर है। बालुकाप्रभा नामक

---

१. क संग्रहसूत्रेण २. क उत्तरत्र कथनं च विस्तरसूत्रेण। ३. क नारकाणां परमायुःस्थितेः।

ओनारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं दशसागरोपमाणि,* धूमप्रभायां पंचमप्रस्तरे परमायुःस्थितेः प्रमाणं सप्तदशसागरोपमाणि, तमःप्रभायां तृतीयप्रस्तरे नारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं द्वाविंशतिः सागराणाम्। महातमःप्रभायाम् अवधिस्थाननरके नारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं त्रयस्त्रिंशदुदधिमानानि इति। प्रथमायां तावत्तत्र एवमभिसंबन्धः क्रियते रत्नप्रभायां नारकाणामेकसागरोपममुत्कृष्टायुःस्थितिरित्येवं सर्वदात्र सर्वेऽपि मध्यमविकल्पा आयुःस्थितेर्वक्तव्या देशामर्शकसूत्रेण (?) सूचितत्वात्। प्रथमायां पृथिव्यां प्रथमप्रस्तरे सीमन्तकेन्द्रके नारकाणां परमायुषः स्थितेः प्रमाणं नवतिसहस्रवर्षप्रमाणं भवति, द्वितीयेन्द्रके नारकाभिधाने वर्षाणां नवतिलक्षाणि, तृतीयकेन्द्रके रौरुकनाम्नि पूर्वकोट्यस्त्वसंख्येयाः, चतुर्थेन्द्रके भ्रान्तसंज्ञके सागरोपमस्य दशमभागः, पंचमेन्द्रके उद्भ्रान्ताभिधाने द्वौ दशभागौ, षष्ठेन्द्रके संभ्रान्तके दशभागास्त्रयः, सप्तमेन्द्रकेऽसंभ्रान्तनाम्नि दशभागाश्चत्वारः, अष्टमेन्द्रके विभ्रान्ते दशभागाः पंच, नवमेन्द्रके त्रस्तसंज्ञके दशभागाः षट्, दशमेन्द्रके त्रसिते दशभागाः सप्त, एकादशेन्द्रके वक्रान्ते दशभागा अष्टौ, द्वादशेन्द्रकेऽवक्रान्ते दशभागा नव, त्रयोदशेन्द्रके विक्रान्ते दशभागा दश, दशसागरोपमस्येति सर्वत्र संबन्धः। द्वितीयायां पृथिव्यां नारकाणां प्रथमेन्द्रके स्तनकसंज्ञके परमायुषः स्थितेः प्रमाणं द्विसागरोपमस्यैकादशभागाभ्यामधिकं सागरोपमं, द्वितीयेन्द्रके स्तनके सागरोपम-

---

तीसरे नरक में नौ प्रस्तार हैं। उनमें से अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु सात सागर है। पंकप्रभा में सात प्रस्तार हैं, अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु दश सागर है। धूमप्रभा में पाँच प्रस्तार हैं, अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु सत्रह सागर है। तमःप्रभा में तीन प्रस्तार हैं वहाँ अन्तिम प्रस्तार में नारकियों की उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है तथा महातमःप्रभा में एक ही प्रस्तार है। उस अवधिस्थान नामक प्रस्तार मे नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है।

अब प्रथम नरक में ऐसा सम्बन्ध करना कि इस रत्नप्रभा में नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। इस प्रकार से हमेशा यहाँ पर आयु के मध्यम विकल्प होते हैं जोकि देशामर्शकसूत्र से सूचित किये गये है। उनको कहना चाहिए। सो ही स्पष्ट करते है—

प्रथम पृथिवी में सीमन्तक इन्द्रक नामक प्रथम प्रस्ताव में नारकियों की उत्कृष्ट आयु नव्बे हजार वर्ष प्रमाण है। नारक नामक द्वितीय इन्द्रक में नव्बे लाख वर्ष है। रौरुक नामक तृतीय इन्द्रक में असंख्यात पूर्वकोटि है। भ्रान्तसंज्ञक चौथे इन्द्रक में एक सागर के दशवें भाग प्रमाण है। उद्भ्रान्त नामक पाँचवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से दो भाग है। संभ्रान्त नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के दश भाग में से तीन भाग प्रमाण है। असंभ्रान्त नामक सातवें इन्द्रक में एक सागर के दश भाग में से चार भाग है। विभ्रान्त नामक आठवें इन्द्रक में एक सागर के दश भाग में से पाँच भाग है। त्रस्त नामक नवमें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से छह भाग है। त्रसित नामक दशवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से सात भाग है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से आठ भाग है। अवक्रान्त नामक बारहवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से नौ भाग है और विक्रान्त नामक तेरहवें इन्द्रक में सागर के दश भाग में से दश भाग अर्थात् एक सागर प्रमाण है।

द्वितीय पृथिवी में नारकियों की स्तनक नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर और द्वितीय

---

* [पंकप्रभायां सप्तमप्रस्तरेऽओनारकाणां परमायुःस्थितेः प्रमाणं सप्तसागरोपमाणि]

मेकादशचतुर्भागैरधिकं, तृतीयेन्द्रके मनके सागरोपमं षड्भिरेकादशभागैरधिकं, चतुर्थेन्द्रके वनके सागरोपममेकादशभागैरष्टभिरधिकं, पंचमेन्द्रके घाटसंज्ञके सागरोपममेकादशभागैर्दशभिरधिकं, षष्ठेन्द्रके संघाटकसंज्ञके द्वे सागरोपमे एकादशभागेनाधिके, सप्तमेन्द्रके जिह्वाख्ये द्वे सागरोपमे त्रिभिरेकादशभागैरधिके, अष्टमेन्द्रके [1]जिह्विकनाम्नि द्वे सागरोपमे पंचभिरेकादशभागैरधिके, नवमेन्द्रके लोलनामके द्वे सागरोपमे सप्तभिरेकादशभागैरधिके, दशमेन्द्रके लोलुपाख्ये द्वे सागरोपमे नवभिरेकादशभागैरधिके, एकादशेन्द्रके स्तनलोलुपनाम्नि उक्तान्येव त्रीणि सागरोपमाणीति। तृतीयायां पृथिव्यां प्रथमेन्द्रके तप्तनाम्नि नारकाणां परमायुषः प्रमाणं त्रीणि सागरोपमाणि सागरोपमस्य नवभागैश्चतुर्भिरभ्यधिकानि, द्वितीयेन्द्रके [2]त्रस्तनामके सागरास्त्रियो नवाष्टभागैरभ्यधिकाः, तृतीयके तपनसंज्ञके चत्वारः सागरा नवभागैस्त्रिभिरभ्यधिकाः, चतुर्थप्रस्तारे तापनाख्ये चत्वारः सागराः सप्तभिर्नवभागैरभ्यधिकाः, पंचमेन्द्रके निदाघाख्ये पंच सागरा नवभागा द्वाभ्यामधिकाः, षष्ठेन्द्रके प्रज्वलिते पंच सागराः नवभागैः षड्भिरभ्यधिकाः सप्तमेन्द्रके ज्वलिते षट् सागरा नवभागेनैकेनाभ्यधिकाः, अष्टमेन्द्रके संज्वलिते षट् पयोधयो नवभागैः पंचभिरभ्यधिकाः, नवमेन्द्रके संज्वलिते उक्तान्येव सप्तसागरोपमाणि। चतुर्थ्यां पृथिव्यां नारकाणां परमायुषः

सागर के ग्यारहवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। स्तनक नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर और द्वितीय सागर के ग्यारह भागों में से चार भाग अधिक है। मनक नामक तृतीय इन्द्रक में सागर के ग्यारह भागों में से छह भाग अधिक एक सागर है। वनक नामक चौथे इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से आठ भाग अधिक एक सागर है। घाट संज्ञक पाँचवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भाग में से आठ भाग अधिक एक सागर है। संघाटक नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के ग्यारहवें भाग अधिक दो सागर है। जिह्वा नामक सातवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से तीन भाग अधिक दो सागर है। जिह्विक नामक आठवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से पाँच भाग अधिक दो सागर है। लोल नामक नवमें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से सात भाग अधिक दो सागर है। लोलुप नामक दसवें इन्द्रक में एक सागर के ग्यारह भागों में से नौ भाग अधिक दो सागर है तथा स्तनलोलुप नामन ग्यारहवें इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु तीन सागर प्रमाण है।

तीसरी पृथिवी के तप्त नामक प्रथम इन्द्रक में नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर के नव भागों में से चार भाग अधिक तीन सागर प्रमाण है। त्रस्त नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर के नव भागों में से आठ भाग अधिक तीन सागर है। तपन नामक तृतीय इन्द्रक में एक सागर के नव भागों में से तीन भाग अधिक चार सागर है। तापन नामक चतुर्थ प्रस्तार में सागर के नव भागों में से सात भाग अधिक चार सागर है। निदाघ नामक पाँचवें इन्द्रक में सागर के नव भागों में से दो भाग अधिक पाँच सागर है। प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के नव भागों में से छह भाग अधिक पाँच सागर है। ज्वलित नामक सातवें इन्द्रक मे एक सागर के नव भागों में से एक भाग अधिक छह सागर है। संज्वलित नामक आठवें इन्द्रक में एक सागर के नौ भागों में से पाँच भाग अधिक छह सागर है। संज्वलित नामक नवमें इन्द्रक में सात सागरोपम है।

---

१. क जिह्विकाख्ये। २. क तपितनाम्नि।

प्रमाणं—प्रथमेन्द्रके आरनाम्नि सप्त पयोधयः त्रिभिः सप्तभागैरभ्यधिकाः, द्वितीयेन्द्रके तारसंज्ञके सप्त समुद्राः सप्तभागैः षड्भिरभ्यधिकाः, तृतीयेन्द्रके मारनाम्नि पयोधयोऽष्टौ सप्तभागाभ्यां द्वाभ्यामधिकाः, चतुर्थेन्द्रके वर्चस्कनाम्नि सागरा अष्टौ पञ्चभिः सप्तभागैरभ्यधिकाः, पंचमेन्द्रके तमके नव सागराः सप्तभागेनाधिकाः, षष्ठेन्द्रके खरनाम्नि नव सागराश्चतुर्भिः सप्तभागैरभ्यधिकाः, सप्तमेन्द्रके खडखडे उत्कृष्टेन दश सागरोपमाणि । पंचम्यां पृथिव्यां नारकाणां परमायुः प्रमाणं—प्रथमेन्द्रके तमोनाम्नि एकादशार्णवा द्विसागरस्य पंचभागाभ्यामधिकाः, द्वितीयेन्द्रके भ्रमरसंज्ञके द्वादशसागराश्चतुर्भिः पंचभागैरभ्यधिकाः तृतीयेन्द्रके ऋषभनाम्नि चतुर्दश पयोधयः पंचभागेनाऽभ्यधिकाः, चतुर्थेन्द्रकेऽन्धसंज्ञके पंचदशोदधयस्त्रिभिः पंचभागैरभ्यधिकाः, पंचमेन्द्रके तमिस्राभिधाने कथितान्येव सप्तदशसागरोपमाणि । षष्ठ्यां पृथिव्यां नारकाणां परमायुः—प्रथमेन्द्रके हिमनाम्नि सागरोपमस्य त्रिभिर्भागाभ्यामधिका अष्टादशपयोधयः द्वितीयेन्द्रके वर्दलसंज्ञके विंशतिपयोधयस्त्रिभागेनाभ्यधिकाः, तृतीयेन्द्रके लल्लकनाम्नि उत्कृष्टेन द्वाविंशतिसागरोपमाणि, सप्तम्यां तु पृथिव्यामवधिस्थानसंज्ञकेन्द्रके नारकाणां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्येव परमायुषः । श्रेणिबद्धेषु प्रकीर्णकेषु च नारकाणां स्वकीयेन्द्रकप्रतिबद्धमुत्कृष्टमायुर्वेदितव्यम् । अल्पं तन्मुखं बृहद्भूमिः मुखं भूमेर्विशोध्य विभूतं च शेषमुच्छ्रयभाजितमिच्छया गुणितं मुखसहितं च कृत्वा सर्वत्र वाच्यमिति ॥१११७॥

चौथी पृथिवी में नारकियों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण—आर नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर के सात भागों में से तीन भाग अधिक सात सागर है। तार नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर के सात भागों में से छह भाग अधिक सात सागर है। मार नामक तृतीय इन्द्रक में एक सागर के सात भागों में से दो अधिक आठ सागर है। वर्चस्क नामक चतुर्थ इन्द्रक में सागर के सात भाग में से पाँच भाग अधिक आठ सागर है। तमक नामक पाँचवें इन्द्रक में सागर के सातवें भाग अधिक नव सागर है। खर नामक छठे इन्द्रक में एक सागर के सात भाग में से चार भाग अधिक नवसागर है। खडखड नामक सातवें इन्द्रक में दश सागर प्रमाण आयु है।

पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की उत्कृष्ट आयु— तम नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर के पाँचवें भाग अधिक ग्यारह सागर प्रमाण है। भ्रमर नामक द्वितीय इन्द्रक में सागर के पाँच भागों में से चार भाग अधिक बारह सागर है। ऋषभ नामक तृतीय इन्द्रक में एक सागर के पाँचवें भाग अधिक चौदह सागर है। अंध:संज्ञक चतुर्थ इन्द्रक में एक सागर के पाँच भाग में से तीन भाग अधिक पन्द्रह सागर है। तमिस्र नामक पाँचवें इन्द्रक में सत्रह सागर प्रमाण है।

छठी पृथिवी में नारकियों की उत्कृष्ट आयु—हिम नामक प्रथम इन्द्रक में एक सागर के तीन भाग में से दो भाग अधिक अठारह सागर है। वर्दल नामक द्वितीय इन्द्रक में एक सागर के तीसरे भाग अधिक बीस सागर है। लल्लक नामक तीसरे इन्द्रक में बाईस सागर प्रमाण है।

सातवीं पृथिवी में अवधि स्थान इन्द्रक में नारकियों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है।

प्रत्येक नरक के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में नारकियों की उत्कृष्ट आयु अपने-अपने इन्द्रक से सम्बन्धित उत्कृष्ट आयु प्रमाण ही जानना चाहिए। जो अल्प संख्या है उसको मुख मानकर अधिक संख्या रूप भूमि में से मुख को घटाकर जो शेष रहे उसमें पद के प्रमाण से भाग देकर तथा इच्छा राशि से गुणित कर मुख सहित करके सर्वत्र आयु का प्रमाण निकालकर कहना चाहिए।

सर्वपृथिवीषु नारकाणां जघन्यस्थितिमायुषः प्रतिपादयन्नाह—

पढमादियमुक्कस्सं बिदियादिसु साधियं जहण्णत्तं ।
धम्माय भवणविंतर वाससहस्सा दस [1]जहण्णं ॥११९८॥

पढमादिय—प्रथमादिर्यस्य तत्प्रथमादिकं आयुरिति संबध्यते, उक्कस्सं—उत्कृष्टं, बिदियादिसु—द्वितीया आदिर्यासां ता द्वितीयादयस्तासु द्वितीयादिषु पृथिवीषु, साधियं—साधिक समयाधिकं, जहण्णत्तं—जघन्यं तत्। प्रथमायां यदुत्कृष्टं द्वितीयायां समयाधिकं जघन्यं तदायुस्तथा द्वितीयायां यदुत्कृष्टमायुर्नारकाणां[2], तृतीयायां नारकाणां समयाधिकं जघन्यं तत्। तृतीयायामुत्कृष्टं यदायुश्चतुर्थ्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। चतुर्थ्यां यदुत्कृष्टमायुः पंचम्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। पंचम्यामुत्कृष्टं यदायुः षष्ठ्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। षष्ठ्यामुत्कृष्टं यदायुः सप्तम्यां समयाधिकं जघन्यं तत्। एवं सर्वासु पृथिवीषु सर्वप्रस्तरेषु सर्वेन्द्रकेषु योज्यं, प्रथमेन्द्रके यदुत्कृष्टमायुर्नारकाणां द्वितीयेन्द्रके समयाधिकं जघन्यं तत्। द्वितीयेन्द्रके यदुत्कृष्टमायुस्तृतीयेन्द्रके समयाधिकं जघन्यं तत्। एवमेकोनपंचाशदिन्द्रकेषु नेतव्यमिति। अथ केषां नारकाणां देवानां च जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणीत्यत आह—धम्माय—धर्मायां सीमंतके नरके नारकाणां भवण—भवनवासिनां, विंतर—व्यंतराणां, वास-

---

भावार्थ—यहाँ पर सातों नरकों के उनंचास प्रस्तार के नारकियों की उत्कृष्ट आयु बतायी है तथा वहीं के श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक बिलों के नारकियों की भी वही आयु है। यहाँ प्रस्तार को ही इन्द्रक कहा गया है।

सर्वपृथिवियों में नारकियों की [तथा कतिपय देवों की] जघन्य आयु का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम आदि नरकों की जो उत्कृष्ट आयु है, द्वितीय आदि नरकों में वही कुछ अधिक जघन्य आयु है। धर्मा नामक पृथिवी में तथा भवनवासी और व्यंतरों में जघन्य आयु दश हजार वर्ष है ॥११९८॥

आचारवृत्ति—प्रथम नरक में जो उत्कृष्ट आयु है, द्वितीय नरक में एक समय अधिक वही आयु जघन्य हो जाती है। तथा द्वितीय नरक में जो उत्कृष्ट आयु है उसमें एक समय मिलाकर वही तृतीय नरक में जघन्य हो जाती है। तृतीय नरक में जो उत्कृष्ट आयु है उसमें एक समय अधिक करके वही चतुर्थ में जघन्य हो जाती है। चतुर्थ की उत्कृष्ट में एक अधिक करके पाँचवें में जघन्य होती है। पाँचवीं पृथिवी की उत्कृष्ट आयु में एक समय अधिक करके छठे में जघन्य हो जाती है। छठे की उत्कृष्ट में एक समय अधिक करके सातवें में जघन्य हो जाती है।

इसी प्रकार से सभी नरकों के सभी प्रस्तारों के—सभी इन्द्रकों में लगा लेना चाहिए। जैसे कि प्रथम नरक के प्रथम इन्द्रक में जो उत्कृष्ट आयु है द्वितीय इन्द्रक में एक समय अधिक वही जघन्य है। द्वितीय इन्द्रक में जो उत्कृष्ट है तृतीय में एक समय अधिक वही जघन्य है। इसी तरह उनंचास इन्द्रक पर्यन्त ले जाना चाहिए।

पुनः किन देव और नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है?

धर्मा नामक प्रथम नरक के प्रथम सीमंतक इन्द्रक बिल में नारकियों की जघन्य आयु

---

१. क जहण्णा। २. क नारकाणां।

सहस्सा—वर्षसहस्राणि, दस—दश, जहण्णा—जघन्यायुषः स्थितिः। सीमंतकनरके नारकाणां भवनवासिनां देवानां व्यंतराणां च जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणीति ॥१११८॥

भवनवासिनां व्यंतराणां चोत्कृष्टमायुःप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

असुरेसु सागरोवम तिपल्ल पल्लं च णागभोमाणं।
अड्ढाइज्ज सुवण्णा दु दीव सेसा दिवड्ढं तु ॥१११९॥

असुरेसु—असुराणां भवनवासिनां प्रथमप्रकाराणां अंबावरीषादीनां, सागरोवम—सागरोपमं, तिपल्ल—त्रीणि पल्यानि त्रिपल्योपमानि, पल्लं च—पल्यं च पल्योपमं णागभोमाणं—नागेन्द्राणां—धरणेन्द्रादीनां, भोमाणं—भौमानां व्यंतराणां किन्नरेन्द्राणां यथासंख्येन संबन्धः नागेन्द्राणामुत्कृष्टमायुस्त्रीणि पल्योपमानि व्यंतराणां किन्नरादीनामुत्कृष्टमायुरेकं पल्योपमं घातायुरपेक्षया सार्धपल्यम्। अड्ढाइज्ज—अर्धतृतीये द्विपल्योपमे पल्योपमार्धाधिके द्वे पल्योपमे, सुवण्णा—सुपर्णकुमाराणां, दु—तु द्वे पल्योपमे दीव—द्वीपानां द्वीपकुमाराणां, सेसा—शेषाणां विद्युदग्निस्तनितोदधिदिग्वायुकुमाराणां, दिवड्ढं तु—अर्धाधिकं पल्योपमं पल्योपमार्धेनाधिकमेकं पल्योपमम्। सुपर्णकुमाराणां प्रकृष्टमायुर्द्वे पल्योपमे पल्योपमार्धाधिके, द्वीपकुमाराणां च द्वे पल्योपमे प्रकृष्टमायुः शेषाणां तु कुमाराणां चाध्यर्धं पल्योपमं पल्योपमार्धाधिकमुत्कृष्टमायुरिति ॥१११९॥

ज्योतिषां जघन्योत्कृष्टमायुः शक्रादीनां च जघन्यं प्रतिपादयन्नाह—

पल्लट्ठभाग पल्लं च साधियं जोदिसाण जहण्णिदरम्।
हेट्ठिल्लुक्कस्सठिदी सक्कादीणं जहण्णा सा ॥११२०॥

दश हजार वर्ष है तथा भवनवासी और व्यन्तर देवों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है।

भवनवासी और व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—असुरों में उत्कृष्ट आयु एक सागर, नागकुमार की तीन पल्य, व्यन्तरों की एक पल्य, सुपर्णकुमारों की ढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य और शेष कुमारों की डेढ़ पल्य प्रमाण है ॥१११९॥

आचारवृत्ति—भवनवासियों के दश प्रकारों में प्रथम असुरकुमार देव हैं, उनमें भी अम्बावरीष आदि जाति के असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु एक सागर है। नागकुमारों में धरणेन्द्र आदिकों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है। भौम—व्यन्तरों में किन्नर आदिकों की एक पल्य है तथा घातायु की अपेक्षा करके डेढ़ पल्य है। सुपर्णकुमारों की ढाई पल्य है। द्वीपकुमारों की दो पल्य है और शेष—विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार और वायुकुमार इन सबकी डेढ़ पल्य है। यह सब उत्कृष्ट आयु का प्रमाण है।

ज्योतिषियों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु तथा इन्द्रादिकों की जघन्य आयु कहते हैं—

गाथार्थ—ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग है और उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य है। नीचे के देवों की जो उत्कृष्ट आयु है वही वैमानिक इन्द्रादि की जघन्य आयु है ॥११२०॥

पल्लट्ठ भाग—पल्याष्टभाग: पल्योपमस्याष्टभाग¹, पल्लं च—पल्योपमं च साधियं—साधिकं वर्षलक्षेणाधिकं, जोदिसाण—ज्योतिषां चन्द्रादीनां, जहण्णिदरं—जघन्यमितरच्च। ज्योतिषां जघन्यमायु:¹ पल्योपमस्याष्टभाग उत्कृष्टं च पल्योपमं वर्षलक्षाधिकं घातायुरपेक्ष्य पल्योपमं सार्द्धमुत्कृष्टम्। हेट्ठिल्लुक्कस्सठिदी—या उत्कृष्टायु: स्थिति:, अध:स्थितानां ज्योतिष्कादीनां, सक्कादीणं—शक्रादीनां सौधर्मादिदेवानां, जहण्णा सा—जघन्या सा। ज्योतिषां योत्कृष्टायुष: स्थिति: सौधर्मेशानयो: समयाधिका जघन्या सा सौधर्मेशानयोरुत्कृष्टायुष: स्थिति: सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां समयाधिका जघन्या सा, सानत्कुमार-माहेन्द्रयोर्योत्कृष्टा ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरयो: समयाधिका जघन्या सा एवं योज्यं यावत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति ॥११२०॥

अथ कोत्कृष्टाऽऽयुष: स्थिति: शक्रादीनां या जघन्या स्यादित्यत आह—

बे सत्त दसय चोद्दस सोलस अट्ठार वीस बावीसा।
एयाधिया य एत्तो सक्कादिसु सागरुवमाणं ॥११२१॥

बे—द्वे, सत्त—सप्त, दसय—दश च, चोद्दस—चतुर्दश, सोलस—षोडश, अट्ठार—अष्टादश, वीस—विंशति:, बावीस—द्वाविंशति:, एयाधिया—एकाधिका एकैकोत्तरा, एत्तो—इतो द्वाविंशतेरूर्ध्वं, सक्कादिसु—शक्रादिषु सौधर्मेशानादिषु, सागरुवमाणं—सागरोपमानम्। सौधर्मेशानयोर्देवानां द्वे सागरोपमे परमायुष: स्थितिरघातायुषोऽपेक्ष्यैतदुक्तं सूत्रे, घातायुषोऽपेक्ष्य पुनर्द्वे सागरोपमे सागरोपमार्धेनाधिके भवत:, एवं सौधर्मेशानमारभ्य तावदर्द्धसागरोपमेनाधिकं कर्तव्यं सूत्रनिर्दिष्टपरमायुर्यावत्सहस्रारकल्प: उपरि

आचारवृत्ति—ज्योतिषी देवों चन्द्रआदिकों की जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु लाख वर्ष अधिक एक पल्य है। तथा घातायुष्क की अपेक्षा डेढ़ पल्योपम उत्कृष्ट आयु है। इन अध:स्थित अर्थात् ज्योतिष आदि देवों की जो उत्कृष्ट आयु है वही एक समय अधिक होकर सौधर्म और ईशान स्वर्ग में जघन्य आयु है। सौधर्म-ईशान की उत्कृष्ट आयु एक समय अधिक होकर सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य हो जाती है। सानत्कुमार-माहेन्द्र की जो उत्कृष्ट आयु है वही एक समय अधिक होकर आगे के ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में जघन्य हो जाती है। इस प्रकार से तेतीससागर की उत्कृष्ट आयु होने पर्यन्त यही व्यवस्था समझनी चाहिए।

सौधर्म आदिकों में उत्कृष्ट स्थिति क्या है जो कि आगे जघन्य होती है? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—सौधर्म आदि स्वर्गों में इन्द्रादिकों की आयु दो सागर, सात सागर, दश सागर, चौदह सागर, सोलह सागर, अठारह सागर, बीस सागर और बाईस सागर है तथा इससे आगे एक-एक सागर अधिक होती गयी है ॥११२१॥

आचारवृत्ति—सौधर्म और ईशान स्वर्ग में देवों उत्कृष्ट आयु दो सागर है। यह कथन घातायुष्क की अपेक्षा के बिना है। घातायुष्क की अपेक्षा से यह अर्ध सागर अधिक होकर ढाई सागर प्रमाण है। यह घातायुष्क की विवक्षा सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग तक है अत: वहाँ तक में निम्न कथित उत्कृष्ट आयु में अर्ध-अर्ध सागर बढ़ाकर ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि सहस्रार के ऊपर घातायुष्क जीवों की उत्पत्ति का अभाव है, अत: आगे बढ़ाना चाहिए।

---

१. क-मायु: प्रमाणं।

[illegible]णायुर्युक्त समुत्पत्तिरभावात्। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त-सागरोपमानि परमायुषः स्थितिः सर्वत्र देवानामिति सम्बन्धनीयं, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्दश सागरोपमानि, किन्तु लौकान्तिकदेवानां सारस्वतादीनामष्टौ सागराः, लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दश सागराः, शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशाब्धयः, शतारसहस्रारयोरष्टादश पयोधयः, आनत-प्राणतयोर्विंशतिः सागरोपमानाम्, आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिः सागरोपमानां, सुदर्शने त्रयोविंशतिरब्धीनाम्, अमोघे चतुर्विंशतिः पयोधीनां, सुप्रबुद्धे पंचविंशतिरब्धीनां, यशोधरे षड्विंशतिर्नदीपतीनां, सुभद्रे सप्तविंशतिरब्धीनां, सुविशालेऽष्टाविंशतिरब्धीनां, सुमनस्येकान्नत्रिंशदुदधीनां, सौमनसे त्रिंशदर्णवानां, प्रीतिंकरे एकत्रिंशदुदधीनाम्, अनुदिशि द्वात्रिंशदुदधीनां, सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानामेवं त्रिषष्टिपटलेषु चतुरशीतिलक्षविमानेषु त्रयोविंशत्यधिकसप्तनवतिसहस्राधिकेषु श्रेणिबद्धप्रकीर्णकसंज्ञविमानेषु देवानां स्वकीयस्वकीयेन्द्रकवदायुषः प्रमाणं वेदितव्यं। ऋतुविमलचन्द्रवल्गुवीरारुणनन्दननलिनकांचनरोहितचंचन्मारुतर्द्धीशानवैडूर्यरुचकरुचिरांक-स्फटिकतपनीयमेघाभ्रहारिद्रपद्मलोहिताख्यवज्रनंद्यावर्तप्रभंकरपृष्ठंकरांजनमित्रप्रभाख्यान्येकत्रिंशदिन्द्रकाणि सौ-धर्मैशानयोः। अंजनवनमालानागगरुडलांगलबलभद्रचक्राणि सप्तेन्द्रकाणि सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः। अरिष्टदेव-संमितब्रह्मब्रह्मोत्तराणि चत्वारीन्द्रकाणि ब्रह्मलोके। ब्रह्महृदयलांतवे द्वे इन्द्रके लान्तवकल्पे, महाशुक्रकल्पे शुक्रैक-

---

सानत्कुमार और माहेन्द्र में उत्कृष्ट आयु सात सागर है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गों में दस सागर है, किन्तु ब्रह्मस्वर्ग के लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट आयु आठ सागर है। लान्तव-कापिष्ठ में चौदह सागर है। शुक्र-महाशुक्र में सोलह सागर है। शतार-सहस्रार में अठारह सागर है। आनत-प्राणत में बीस सागर और आरण-अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर प्रमाण है। इससे आगे नव ग्रैवेयकों में एक-एक सागर अधिक होती गयी है। सुदर्शन नामक प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागर, अमोघ नामक द्वितीय ग्रैवेयक में चौबीस सागर, सुप्रबुद्ध नामक तृतीय में पच्चीस सागर, यशोधर नामक चतुर्थ में छब्बीस सागर, सुभद्र नामक पाँचवें में सत्ताईस सागर, सुविशाल नामक छठे में अट्ठाईस सागर, सुमनस्य नामक सातवें में उनतीस सागर, सौमनस नामक आठवें में तीस सागर और प्रीतिंकर नामक नौवें ग्रैवेयक में इकतीस सागर उत्कृष्ट आयु है। आगे नव अनुदिशों में बत्तीस सागर उत्कृष्ट आयु है और सर्वार्थसिद्धि में उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर प्रमाण है।

इस प्रकार से स्वर्गों के त्रेसठ पटलों में तथा चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस प्रमाण श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक नामक विमानों में देवों की आयु अपने-अपने इन्द्रक के समान जान लेना चाहिए।

सौधर्म आदि स्वर्गों में त्रेसठ पटल हैं, इन्हें ही इन्द्रक विमान कहते हैं। वे कहाँ पर कितने हैं? उसे ही बताते हैं—

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में इकतीस इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं: ऋतु, विमल, चन्द्र, वल्गु, वीर, अरुण, नन्दन, नलिन, कांचन, रोहित, चंचत्, मारुत, ऋद्धि, ईशान, वैडूर्य, रुचक, रुचिर, अंकस्फटिक, तपनीय, मेघ, अभ्र, हारिद्र, पद्म, लोहित, वज्र, नन्द्यावर्त, प्रभंकर, पृष्ठंकर, अंजन, मित्र और प्रभा। सानत्कुमार-माहेन्द्र में सात इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं—अंजन, वनमाला, नाग, गरुड़, लांगल, बलभद्र और चक्र। ब्रह्मलोक में चार इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं—अरिष्ट, देवसंमित, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर। लान्तव कल्प में दो इन्द्रक हैं। उनके नाम हैं—ब्रह्महृदय और लान्तव। महाशुक्रकल्प में एक इन्द्रक है। उसका नाम है—शुक्र। सहस्रार

मिन्द्रकं, शतारमेकमिन्द्रकं सहस्रारकल्पे, प्राणतकल्पे आनतप्राणतपुष्पकाणि त्रीणीन्द्रकाणि, अच्युतकल्पे सानत्कुमारारणाच्युतानीन्द्रकाणि त्रीणि, अधोग्रैवेयके सुदर्शनामोघसुप्रबुद्धानि त्रीणीन्द्रकाणि, मध्यमग्रैवेयके यशोधरसुभद्रसुविशालानि त्रीणीन्द्रकाणि, ऊर्ध्वग्रैवेयके सुमनःसौमनसप्रीतिंकराणि त्रीणीन्द्रकाणि, अनुदिश आदित्यमेकमिन्द्रकम्, अनुत्तरे सर्वार्थसिद्धिसंज्ञकमेकमिन्द्रकम्, इत्येतेषु स्वायुषः प्रमाणं वेदितव्यम्। अथ सौधर्मे प्रथमप्रस्तारे ऋतुसंज्ञके उत्कृष्टमायुरर्द्धसागरोपमं तन्मुखं तत्रैवावसानेन्द्रके उत्कृष्टमायुर्द्वे सागरोपमे सागरोपमार्द्धाधिके तद्भूमिरन्तरालस्थितानीन्द्रकाणि भूमेर्मुखमपनीयोच्छ्रायेण भागे हृते सागरोपमस्य पंचदशभागो वृद्धिरागच्छति इमामिष्टप्रतरसंख्यया गुणयित्वा मुखे प्रक्षिप्ते विमलादीनां त्रिंशतः प्रस्तराणामुत्कृष्टान्यायूंषि भवन्ति। तेषां संदृष्टयः, न्यास इत्थम्—

१७	१९	७	२३	५	२७	२९	३१	११	७	३७	१३	४१	४३	१
३०	३०	१०	३०	६	३०	३०	३०	१०	६	३०	१०	३०	३०	२

४७	४९	१७	५३	११	१९	५९	६१	२१	१३	६७	२३	७१	७३	२
३०	३०	१०	१०	६	१०	३०	३०	१०	६	३०	१०	३०	३०	२३

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्तेन्द्रकाणि। तत्र द्वे सागरोपमे सागरोपमार्द्धाधिके मुखं, सार्द्धसप्तसागरोपमाणि भूमिः, सप्तेन्द्रकाणि उच्छ्रयः, भूमेर्मुखं विशोध्योच्छ्रयेण भागे हृते वृद्धिरागच्छति तामिष्टप्रस्तरसंख्यया

कल्प में एक इन्द्रक है। उसका नाम शतार है। प्राणत कल्प में तीन इन्द्रक हैं—आनत, प्राणत और पुष्पक। अच्युत कल्प में तीन इन्द्रक हैं—सानत्कुमार, आरण और अच्युत।

अधो ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक हैं। उनके नाम सुदर्शन, अमोघ और सुप्रबुद्ध हैं। मध्यम ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक हैं उनके नाम हैं—यशोधर, सुभद्र और सुविशाल। ऊर्ध्व ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक हैं। उनके नाम सुमनस, सोमनस और प्रीतिंकर हैं। अनुदिश में आदित्य नामक एक इन्द्रक एवं अनुत्तर में सर्वार्थसिद्धि नामक एक इन्द्रक है। ऐसे ये त्रेसठ इन्द्रकों के स्थान और नाम कहे गये हैं। इनमें रहनेवाले देवों के अपने इन्द्रकों में कही गयी आयु का प्रमाण जानना चाहिए। प्रत्येक पटल की आयु जानने की विधि कहते हैं—

प्रथम सौधर्म स्वर्ग में ऋतु नामक प्रथम इन्द्रक में देवों की उत्कृष्ट आयु अर्धसागर है। यह मुख है। इसी कल्प के प्रभानामक अन्तिम पटल में उत्कृष्ट आयु ढाई सागर है। यह भूमि है। यहाँ पर उच्छ्रय तीस इन्द्रक हैं। भूमि में से मुख को घटाकर और शेष में ऊँचाई का भाग देने से सागर का पन्द्रहवाँ भाग वृद्धि का प्रमाण आता है। इस प्रमाण को इष्ट इन्द्रक की संख्या से गुणित कर उसमें मुख का प्रमाण मिला देने पर विमल आदि तीस इन्द्रकों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण निकल आता है। उनकी संदृष्टि रचना वृत्ति में दी गयी तालिका की भाँति है।

सानत्कुमार और माहेन्द्र में सात इन्द्रक हैं। यहाँ ढाई सागर मुख है और साढ़े सात सागर भूमि है। सात इन्द्रक उच्छ्रय हैं। भूमि में से मुख को घटाकर उच्छ्रय से भाग देने पर वृद्धि

गुणयित्वा मुखसहिता इष्टं भवति—

३	३	४	५	५ भा०	६	७
३	११	६	५	१	११	१
१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	१४ भा०	२

ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोश्चत्वारः प्रस्तारा, अत्र सप्त सार्द्धानि सागरोपमाणि मुखं दशसार्धानि भूमिश्चत्वार उच्छ्रयस्तस्य संदृष्टिरेषा

८	९	९	१०
१ भा०	० भ	३ भा०	१ भू०
४ भा०	० र	४ भा०	२ मि १०

लान्तवकापिष्ठयोः द्वौ प्रस्तारौ तत्र मुखं सार्द्धानि दश, सार्धानि चतुर्दश भूमिर्द्वावुच्छ्रयौ

१२	१४
१	१
२	२

महाशुक्रे एकः प्रस्तारः, तदायुः प्रमाणं

१६
१
२

तथा सहस्रारे एकः प्रस्तारः, तदायुःप्रमाणं

१८
१
२

आनतप्राणतकल्पयोस्त्रयः प्रस्तारास्तत्र अष्टादश सार्धानि मुखं विंशतिर्भूमिः तत्र संदृष्टिः

१९	१९	२०
०	१	०
	२	

आरणाच्युतयोः कल्पयोः त्रय प्रस्तारास्तत्र विंशतिर्मुखं द्वाविंशतिर्भूमिः तस्य संदृष्टि :

२०	२१	२२
२	१	०
३	३	०

शेषाणां संदृष्टिः २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। वेदितव्येति ॥११२१॥

का प्रमाण आता है। उस वृद्धि को इष्ट इन्द्रक की संख्या से गुणित कर मुखसहित करने पर वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार संख्या आती है।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में चार इन्द्रक प्रस्तार हैं। यहाँ साढ़े सात सागर मुख है, साढ़े दस सागर भूमि है। चार उच्छ्रय हैं। संदृष्टि वृत्ति में अस्तुत तालिका की भाँति है।

लान्तव और कापिष्ठ में दो प्रस्तार हैं। यहाँ साढ़े दस सागर मुख है, साढ़े चौदह सागर भूमि है, दो उच्छ्रय हैं। पूर्वोक्त विधि से संदृष्टि रचना करनी चाहिए जो वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार है।

महाशुक्र में एक प्रस्तार है। यहाँ की आयु का प्रमाण वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार है। सहस्रार में एक इन्द्रक है। यहाँ की आयु का प्रमाण वृत्ति में दी गयी तालिका में उल्लिखित है। आनत और प्राणत कल्प में तीन इन्द्रक हैं। यहाँ पर साढ़े अठारह सागर मुख और बीस सागर भूमि है। इसकी संदृष्टि उपरिलिखित तालिका में दी गयी है। आरण अच्युत कल्प में तीन प्रस्तार हैं। यहाँ पर बीस सागर मुख है और बाईस सागर भूमि है। पूर्वोक्त गणित करके इनकी संदृष्टि वृत्ति में दी गयी तालिका के अनुसार है। आगे, नव-ग्रैवेयकों की संदृष्टि २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। समझ लेना चाहिए।

सौधर्मादिदेवीनां परमायुषः प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

पंचादी वेहिं जुदा सत्तावीसा य पल्ल देवीणं ।
तत्तो सत्तुत्तरिया जावदु अरणप्पयं कप्पं ॥११२२॥

पंचादी—पंच आदि पंच आदि पंचपल्योपमानि मूलं, वेहिं जुदा—द्वाभ्यां युक्तानि द्वाभ्यां द्वाभ्यामधिकानि, वीप्सार्थो द्रष्टव्यः उत्तरोत्तरग्रहणात् । सत्तावीसा य—सप्तविंशतिः "यावन्तो यावन्तस्तं प्रभुत्विनोति" । पल्ल—पल्यानि पल्योपमानि यावत्सप्तविंशतिः पल्योपमानि, देवीणं—देवीनां देवपत्नीनां, तत्तो—ततः पल्यानां सप्तविंशतेरूर्ध्वं, सत्त—सप्तसप्त, उत्तरिया—उत्तराणि सप्तसप्ताधिकानि पल्योपमानि, जावदु—यावत्, अरणप्पयं कप्प—अच्युतकल्पः तावत् । सौधर्मकल्पे देवीनां परमायुः पंचपल्योपमानि, ईशाने सप्त पल्योपमानि, सानत्कुमारे नव पल्योपमानि, माहेन्द्रे एकादश पल्योपमानि, ब्रह्मकल्पे त्रयोदश पल्योपमानि, ब्रह्मोत्तरे पंचदश पल्योपमानि, लान्तवे सप्तदश पल्योपमानि, कापिष्ठे एकोनविंशतिः पल्योपमानि, शुक्रे एकविंशतिः पल्योपमानि, महाशुक्रे त्रयोविंशतिः पल्योपमानि, शतारे पंचविंशतिः पल्योपमानि, सहस्रारे सप्तविंशतिः पल्योपमानि, आनते चतुस्त्रिंशत्पल्योपमानि, प्राणते एकाधिकचत्वारिंशत् पल्योपमानि, आरणे अष्टचत्वारिंशत्पल्योपमानि, अच्युते पंचपंचाशत्पल्योपमानि सर्वत्र देवीनां परमायुःप्रमाणमिति संबन्धः । पंचपल्योपमानि द्वाभ्यां द्वाभ्यां तावदधिकानि कर्तव्यानि यावत्सप्तविंशतिः पल्योपमानि भवन्ति, ततः सप्तविंशतिः सप्तभिः सप्तभिरधिका कर्तव्या यावदच्युतकल्पे पंचाशत्पल्योपमानि संजातानीति ॥११२२॥

देवीनामायुषः प्रमाणस्य द्वितीयमुपदेशं प्रतिपादयन्नाह—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं ।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ[1] पण्णपण्णाओ ॥११२३॥*

सौधर्म आदि देवियों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—देवियों की आयु पाँच से लेकर दो-दो मिलाते हुए सत्ताईस पल्य तक करें। पुनः उससे आगे सात-सात बढ़ाते हुए आरण-अच्युत पर्यन्त करना चाहिए ॥११२२॥

आचारवृत्ति—सौधर्म कल्प में देवियों की उत्कृष्ट आयु पाँच पल्य है। ईशानस्वर्ग में सात पल्य, सानत्कुमार में नौ पल्य, माहेन्द्र स्वर्ग में ग्यारह पल्य, ब्रह्मकल्प में तेरह पल्य, ब्रह्मोत्तर में पन्द्रह पल्य, लान्तव में सत्रह पल्य, कापिष्ठ में उन्नीस पल्य, शुक्र में इक्कीस पल्य, महाशुक्र में तेईस पल्य, शतार में पच्चीस पल्य, सहस्रार मे सत्ताईस पल्य, आनत में चौंतीस पल्य प्राणत में इकतालीस पल्य, आरण में अड़तालीस पल्य और अच्युत में पचपन पल्य की उत्कृष्ट आयु है। अर्थात् पाँच पल्य से शुरू करके सहस्रार स्वर्ग की सत्ताईस पल्य तक दो-दो पल्य बढ़ायी गयी है। पुन आगे सात-सात पल्य बढ़ कर सोलहवें स्वर्ग में पचपन पल्य हो गयी है।

देवियों की आयु के प्रमाण का दूसरा उपदेश कहते हैं—

गाथार्थ—युगल-युगल स्वर्गों में क्रम से पाँच पल्य, सत्रह पल्य, पच्चीस पल्य, पैंतीस पल्य, चालीस पल्य, पैंतालीस पल्य, पचास पल्य और पचपन पल्य आयु है ॥११२३॥

---

1. क पणास पंचपण्णाओ।

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में नहीं है।

पणगं—पंच सौधर्मेशानयोर्देवीनां पंचपल्योपमानि परमायुः। दस सत्तधियं—दश सप्ताधिकानि सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवीनां परमायुःसप्तदशपल्योपमानि, पणवीसं—पंचविंशतिः ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्देवीनां पंचविंशतिः पल्योपमानि परमायुः, तीसमेव पंचधियं—त्रिंशदेव पंचाधिका लान्तवकापिष्ठयोर्देवीनां त्रिंशदेव पंचाधिका पल्योपमानां परमायुः चत्तालं—चत्वारिंशच्छुक्रमहाशुक्रयोर्देवीनां चत्वारिंशत्पल्यानां परमायुः, पणदालं—पंचचत्वारिंशत् शतारसहस्रारयोर्देवीनां पंचचत्वारिंशत्पल्योपमानां परमायुः, पण्णासं—पंचाशत् आनतप्राणतयोर्देवीनां परमायुःपंचाशत्पल्योपमानि, पण्णपण्णाओ—पंचपंचाशदारणाच्युतयोर्देवीनां परमायुषः प्रमाणं पंचपंचाशत्पल्योपमानि। आऊ—आयुः सर्वत्रानेन संबन्धः। देव्यायुषः प्रतिपादनन्यायेनायमेवोपदेशो न्याय्योऽत्रैवकारकरणादथवा द्वावप्युपदेशौ ग्राह्यौ सूत्रद्वयोपदेशाद् द्वयोर्मध्ये एकेन सत्येन भवितव्यं, नात्र सन्देहमिथ्यात्वं, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति सन्देहाभावात्। छद्मस्थैस्तु विवेकः कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति ॥११२३॥

ज्योतिषां यद्यपि सामान्येन प्रतिपादितं जघन्यं चोत्कृष्टमायुस्तथापि स्वामित्वपूर्वको विशेषो नावगतस्तत्र तत्प्रतिपादनायाह—

चंदस्स सदसहस्सं सहस्स रविणो सदं च सुक्कस्स ।
वासाधिए हि पल्लं लेहिक्कं वरिसणामस्स ॥११२४॥*

परमायुरित्यनुवर्तते—चंदस्स—चन्द्रस्य, सदसहस्सं—शतसहस्रं, शतसहस्रेण, अत्र तृतीयार्थे द्वितीया, सहस्स—सहस्रेण, रविणो—रवेरादित्यस्य, सदं च—शतेन च, सुक्कस्स—शुक्रस्य, वास—वर्षाणां, अधियं—

आचारवृत्ति—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयु पाँच पल्य है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में सत्रह पल्य है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में पच्चीस पल्य है। लान्तव-कापिष्ठ में पैंतीस पल्य है। शुक्र-महाशुक्र में चालीस पल्य है। शतार-सहस्रार में पैंतालीस पल्य है। आनत-प्राणत में पचास पल्य है और आरण-अच्युत में पचपन पल्य की उत्कृष्ट आयु है।

देवियों की आयु के प्रतिपादन की रीति से यही उपदेश न्यायसंगत है, क्योंकि यहाँ पर 'एवकार' किया गया है। अथवा दोनों भी उपदेश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दोनों ही सूत्र के उपदेश हैं। यद्यपि दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिए फिर भी दोनों को ग्रहण करने में संशय मिथ्यात्व नहीं होता है, क्योंकि जो अर्हन्त के द्वारा प्रणीत है वह सत्य है इसमें सन्देह का अभाव है। फिर भी छद्मस्थ जनों को विवेक कराना अर्थात् कौन-सा सत्य है यह समझाना शक्य नहीं है इसलिए मिथ्यात्व के भय से दोनों का ही ग्रहण करना उचित है।

ज्योतिषी देवों की यद्यपि सामान्य से जघन्य और उत्कृष्ट आयु कही है फिर भी यहाँ स्वामित्वपूर्वक विशेष का बोध नहीं हुआ, उसका प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—चन्द्र की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य, सूर्य की सहस्र वर्ष अधिक एक पल्य, शुक्र की सौ वर्ष अधिक एक पल्य, बृहस्पति की सौ वर्ष कम एक पल्य आयु है ॥११२४॥

आचारवृत्ति—उत्कृष्ट आयु की अनुवृत्ति चली आ रही है तथा यहाँ गाथा में 'शत-सहस्र'' आदि में तृतीया के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। अतः ऐसा अर्थ करना कि उत्कृष्ट आयु

---

* फलटन से प्रकाशित, मूलाचार में ये दो गाथाएँ ११२० गाथा के अनंतर ही थीं।

अधिकं, हि—स्फुटं निश्चयेन, पल्लं—पल्यं, पल्योपमं, सियऊणं—न्यूनं हीनं वर्षशतेन शतोनमित्यर्थः, वरिस-सदस्स—वर्षशतेन बृहस्पतेः । चन्द्रस्य परमायुरेकं पल्योपमं वर्षाणां शतसहस्रेणाधिकं, रवेरेकं पल्योपमं परमायुर्वर्षाणां सहस्रेणाधिकं, शुक्रस्य परमायुरेकं पल्योपमं वर्षाणां शतेनाधिकं, बृहस्पतेरेकं पल्योपमं वर्षाणां शतेन न्यूनं स्फुटमिति ॥११२४॥

अथ कथं शेषाणामित्यत आह—

सेसाणं तु गहाणं पल्लद्धं आउगं मुणेयव्वं ।
ताराणं च जहण्णं पादद्धं पादमुक्कस्सं ॥११२५॥

सेसाणं—शेषाणां, तुशब्दः समुच्चयार्थः स नक्षत्राणि समुच्चिनोति । गहाणं—ग्रहाणां, पल्लद्धं—पल्यस्यार्धं, आउगं—आयुः, मुणेयव्वं—ज्ञातव्यम् । ताराणं—ताराणां प्रकीर्णकादीनां, केषांचिन्नक्षत्राणां च जहण्णं—जघन्यं निकृष्टं, पादद्धं—पादार्धं पल्योपमपादस्यार्धं पल्योपमस्याष्टमो भागः, पादं—पादः पल्योपमस्य चतुर्थो भागः उक्कस्सं—उत्कृष्टं, शेषाणां ग्रहाणां मंगलबुधशनैश्चरराहुकेत्वादीनां केषांचिन्नक्षत्राणां चोत्कृष्टमायुः पल्योपमार्धं ताराणां केषांचिन्नक्षत्राणां चोत्कृष्टमायुः पल्योपमस्य चतुर्थो भागस्तेषामेव च जघन्यमायुः पल्योपमस्याष्टमभागः । एवं प्रतरासंख्यातभागप्रमितानां ज्योतिषां परमायुर्निकृष्टायुश्च वेदितव्यमिति ॥११२५॥

तिर्यङ्मनुष्याणां निकृष्टमायुः प्रतिपादयन्नाह—

सव्वेसिं अमणाणं भिण्णमुहुत्तं हवे जहण्णेण ।
सोवक्कमाउगाणं सण्णीणं चावि एमेव ॥११२६॥

सव्वेसिं—सर्वेषां, अमणाणं—अमनस्कानां सर्वजघन्यैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां च

एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य है। सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य है। शुक्र की सौ वर्ष अधिक एक पल्य है और बृहस्पति की सौ वर्ष से कम एक पल्य प्रमाण है।

शेष ज्योतिषियों की आयु किस प्रकार है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—शेष ग्रहों की आयु अर्ध पल्य समझना। ताराओं की जघन्य आयु पाव पल्य का आधा है और उत्कृष्ट आयु पाव पल्य है ॥११२५॥

आचारवृत्ति—शेष ग्रहों और नक्षत्रों की अर्थात् मंगल, बुध, शनैश्चर, राहु और केतु आदि ग्रहों की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्य प्रमाण है। ताराओं की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु पल्य के चतुर्थ भाग प्रमाण है और उन्हीं की जघन्य आयु पल्योपम के आठवें भाग प्रमाण है। इस प्रकार से प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण ऐसे असंख्यात ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आदि समझना चाहिए।

तिर्यञ्च और मनुष्यों की जघन्य आयु प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—सभी असंज्ञी जीवों की आयु जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है। सोपक्रम आयुवाले सभी जीवों की भी अन्तर्मुहूर्त है ॥११२६॥

आचारवृत्ति—अमनस्क—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी

ग्रहणं वेदितव्यं भिन्नमुहूर्तं—भिन्नमुहूर्तं क्षुद्रभवग्रहणमुच्छ्वासस्य किंचिन्न्यूनाष्टादशभागः, हुव—भवेत्, उवक्कमे—उपक्रमेण सहितं वा सोपक्रमायुष्काणां—उपक्रम्यत इति उपक्रमः विषवेदनारक्तक्षयभयसंक्लेशशस्त्र-घातोच्छ्वासनिश्वासनिरोधैरायुषो घातः, सह उपक्रमेण वर्तत इति सोपक्रमम् आयुर्येषां ते सोपक्रमायुषः तेषामसं-ज्ञिनां सोपक्रमायुषां, सण्णीणं—संज्ञिनां पंचेन्द्रियाणां च, चशब्दो मनुष्याणां समुच्चयार्थस्तेनाथ त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरमदेहवर्जितमनुष्याणां ग्रहणं भवति। सोपक्रमविशेषणेन च देवनारकभोगभूमिप्रतिभागजानां प्रतिषेधो भवति, यदि पुनः—असंज्ञिनामपि भिन्नमुहूर्तमेव किंतु पूर्वोक्ताद् भिन्नमुहूर्तादिदं भिन्नमुहूर्तं महत्, एकेन्द्रियेषु क्षुद्रभवग्रहणं यतोऽतोऽस्यैवमेव ग्रहणेन सूचितमेतदर्थजातं, अपर एवकारो निश्चयार्थः। सर्वेषामसं-ज्ञिनां जघन्यमायुर्भिन्नमुहूर्तं भवेत् सोपक्रमायुषां कर्मभूमिप्रतिभागजानां च संज्ञिनां तिरश्चां त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरमदेहादिवर्जितमनुष्याणां चान्येषां जघन्यमायुरन्तर्मुहूर्तमेवेति ॥११२६॥

यद्यपि प्रमाणं पूर्वसूत्रैः व्याख्यातं तथापि विशेषेण प्रमाणं द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन चतुर्विधं, तत्र द्रव्यप्रमाणं द्विविधं संख्याप्रमाणमुपमानप्रमाणं चेति तत्र संख्याप्रमाणं तावन्निरूपयन्नाह—

संखेज्जमसंखेज्जं बिदियं तदियमणंतयं वियाणाहि।
तत्थ य पढमं तिविहं णवहा णवहा हवे दोण्णि ॥११२७॥

संखेज्जं—संख्यातं द्वयमादिं कृत्वा एकरूपोनजघन्यपरीतासंख्यातं श्रुतज्ञानविषयभूतं, असंखेज्जं—

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यहाँ अन्तर्मुहूर्त से क्षुद्रभव मात्र अर्थात् उच्छ्वास के किंचित् न्यून अठारवें भाग मात्र समझना चाहिए। उपक्रम का अर्थ है घात अर्थात् विष, वेदना, रक्त, क्षय, भय, संक्लेश, शस्त्रघात, उच्छ्वास, निश्वास का निरोध इन कारणों से आयु का घात होना उपक्रम है। ऐसे उपक्रम सहित आयुवाले—अकालमृत्युवाले संज्ञी जीवों की, तथा 'च' शब्द से मनुष्यों का समुच्चय होता है इससे यहाँ पर त्रेसठ शलाका-पुरुष और चरमदेहधारी पुरुष इनको छोड़कर, शेषघातायुष्कवाले मनुष्यों की भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ पर सोपक्रम विशेषण से देव, नारकी, भोगभूमिज और भोग-भूमिप्रतिभागज मनुष्य व तिर्यंचों का प्रतिषेध हो जाता है। क्योंकि इनकी अकालमृत्यु नहीं होती है। यद्यपि असंज्ञी जीवों की तथा घातायुष्कवाले संज्ञी की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त कही है, फिर भी पूर्वोक्त असैनी के अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा सैनी जीवों की आयु का अन्तर्मुहूर्त बड़ा है। चूँकि एकेन्द्रियों में क्षुद्रभवग्रहण कालमान कहा है इसीसे ही यह अर्थ सूचित हो जाता है। तात्पर्य यही हुआ कि सभी असैनी जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। तथा अकालमृत्युसहित भोग-भूमिज, कर्मभूमिप्रतिभागज, सैनी तिर्यंच एवं त्रेसठशलाकापुरुष और चरम देहादि धारी मनुष्यों के अतिरिक्त शेष मनुष्यों की भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त ही है।

यद्यपि पूर्व सूत्रों द्वारा प्रमाण कहा गया है फिर भी विशेष रूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से प्रमाण चार प्रकार का है। उसमें से द्रव्य प्रमाण संख्यातप्रमाण और उपमान के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से अब संख्यात प्रमाण का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—प्रथम को संख्यात, द्वितीय को असंख्यात और तृतीय को अनन्त जानो। उनमें से प्रथम के तीन भेद हैं। अन्य दोनों नव-नव भेदरूप हैं ॥११२७॥

आचारवृत्ति—संख्यात—दो संख्या को आदि लेकर एक कम जघन्य परीत संख्यात

असंख्यातं संख्यातमतिक्रान्तमवधिज्ञानविषयभूतं, तिविहं—द्वितीयं, तइयं—तृतीयं, अणंतं—अनन्तम् असंख्यात-मतिक्रान्तं केवलज्ञानगोचरं, वियाणाहि—विजानीहि, तत्थ य—तत्र च तेषु संख्यातासंख्यातानन्तेषु मध्ये पढमं—प्रथमं असंख्यातं तिविहं—त्रिविधं त्रिप्रकारं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन; णवहा—नवधा नवप्रकारं, के ते—हे, के ते ? द्वितीयतृतीये। प्रथमं यत्संख्यातं तत्त्रिविधं, द्वितीयं यदसंख्यातं तन्नवप्रकारं, तृतीयं यदनन्तं तदपि नवप्रकारम्। तत्र जघन्यसंख्यातं द्वे रूपे, रूपत्रयमादिं कृत्वा यावदेकोनोत्कृष्टं संख्यातं तत्सर्वमजघन्योत्कृष्ट-संख्यातं, जघन्यपरीतासंख्यातं रूपोनमुत्कृष्टं संख्यातम्; तस्यानयनविधानमुच्यते—प्रमाणयोजनलक्षावगाहविस्ता-रायामाश्चत्वारः कुशूलाः शलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकानवस्थितसंज्ञकास्तत्रैकमनवस्थितसंज्ञकं कुशूलं सर्षप-पूर्णं कृत्वा देवो दानवो वा तन्मध्ये सर्षपं द्वीपे समुद्रे तावत्क्षिपेत् यावन्निःशेषः संजातः, ततः शलाकाकुण्डे एकं सर्षपं क्षिपेत् अनवस्थितं कुण्डं तावन्मात्रं पुनः प्रकृत्य सर्षपैश्च सम्पूर्णं कृत्वा द्वीपे समुद्रे च क्षिपेत्। यत्र निष्ठि-तस्तत्र शलाकाकुण्डे द्वितीयमेकं सर्षपं क्षिपेत् अनवस्थितं च कुण्डं तावन्मात्रं प्रकृत्य सर्षपैश्च पूर्णं कृत्वा द्वीपे समुद्रे च क्षिपेत्। यत्र निष्ठितस्तत्र शलाकाकुण्डे तृतीयं सर्षपं क्षिपेत्। अनवस्थितकुण्डं च तावन्मात्रं प्रकृत्य

पर्यन्त संख्या का नाम संख्यात है। यह श्रुतज्ञान का विषय है। जो संख्या को उल्लंघन कर चुका है वह असंख्यात है, वह अवधिज्ञान का विषय है। जो असंख्यात को भी उल्लंघन कर चुका है वह अनन्त है, वह केवलज्ञान का विषय है। प्रथम संख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं। असंख्यात के नौ भेद हैं और अनन्त के भी नौ भेद हैं।

दो रूप—दो की संख्या जघन्य संख्यात है। तीन अंकों को आदि में लेकर एक अंक कम उत्कृष्ट संख्यात तक सर्वसंख्या का अजघन्योत्कृष्ट संख्या कहते हैं। एक रूप-कम जघन्य-परीतासंख्यात को उत्कृष्ट संख्यात कहते हैं। इस उत्कृष्ट संख्यात को लाने का विधान कहते हैं—

एक लाख बड़े योजन प्रमाण लम्बे, उतने ही चौड़े और उतने[1] गहरे प्रमाणवाले ऐसे चार कुशूल-कुण्ड बनाइए। उनको क्रम से शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित नाम दीजिए। उनमें से जो यह एक अनवस्थित नाम का कुण्ड है उसे सरसों से पूरा भर दीजिए। पुनः कोई देव या दानव उसमें की सरसों को लेकर एक-एक सरसों क्रम से द्वीप और समुद्र में डालता चला जावे। यह क्रिया तब तक करे कि जब तक वह अनवस्थित कुण्ड खाली न हो जावे। उस कुण्ड के खाली हो जाने पर पुनः एक सरसों इस प्रथम शलाकाकुण्ड में डाल देवे। पुनः जिस द्वीप या समुद्र पर वह अनवस्थित कुण्ड खाली हुआ था उसी द्वीप या समुद्र के बराबर प्रमाणवाला एक अनवस्थित कुण्ड बनाकर उस सरसों से पूरा भरके उन सरसों को भी आगे के द्वीप समुद्रों में एक-एक डालता जावे। जब यह दूसरा अनवस्थित कुण्ड भी खाली हो जावे तब पुनः उसी प्रथम शलाका कुण्ड में एक दूसरा सरसों और डाल देवे। और जहाँ वह कुण्ड खाली हुआ है उतने प्रमाण वाला एक तीसरा अनवस्थित कुण्ड निर्माण करके उसे भी सरसों से लबालब भरके उन सरसों को आगे-आगे के द्वीप-समुद्रों में एक-एक डालता जावे। जब वह कुण्ड भी खाली हो जावे तब पुनः शलाका कुण्ड में तीसरा सरसों डालकर पुनरपि पूर्ववत् अनवस्थित कुण्ड बनाकर सरसों से भरकर, उन सरसों को लेकर आगे के द्वीप-समुद्रों में

---

१. गहराई एक हजार योजन है।

सर्षपैश्च संपूर्णं कृत्वा द्वीपे समुद्रे च सर्षपक्षेपं, चतुर्थप्रवेशे शलाकाकुण्डे सर्षपक्षेपं चैवं तावत्कर्तव्यं यावच्छलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकानवस्थितानि कुण्डानि सर्वाणि पूर्णानि। तदोत्कृष्टसंख्यातमतिलंघ्य जघन्यपरीतासंख्यातप्रमाणं जातं तस्मादेके सर्षपेऽपनीते जातमुत्कृष्टसंख्यातम् असंख्यातं च परीतासंख्यातं युक्तासंख्यातमसंख्यातमिति त्रिविधं, परीतासंख्यातमपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिविधं युक्तासंख्यातमसंख्यातासंख्यातं च जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिविधं, तथानन्तमपि परीतानन्तयुक्तानन्तानन्तानन्तभेदेन त्रिविधमेकैकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिविधम्। जघन्यपरीतासंख्यातानि जघन्यपरीतासंख्यातमात्राणि परस्परगुणितानि कृत्वा तत्र यावन्मात्राणि रूपाणि तावन्मात्रं जघन्ययुक्तासंख्यातप्रमाणं तस्मादेके रूपेऽपनीते उत्कृष्टं परीतासंख्यातप्रमाणं

एक-एक क्षेपण करता चला जावे। जब यह अनवस्थित कुण्ड भी खाली हो जावे तब पुनः एक सरसों उस शलाका कुण्ड में डाल देवे। इस विधि को तब तक करते रहना चाहिए कि जब तक शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित ये सभी कुण्ड पूर्णतया भर न जावें। तब उत्कृष्ट संख्यात का उल्लंघन करके जघन्यपरीतासंख्यात नाम का प्रमाण बन जाता है। इसमें से एक सरसों निकाल देने पर उत्कृष्ट संख्यात होता है।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार से एक एक अनवस्था कुण्ड की एक एक सरसों शलाका कुण्ड में डालते-डालते जब वह भी ऊपर तक भर जाय, तब एक सरसों प्रतिशलाकाकुण्ड में डालिए। इसी तरह एक-एक अनवस्था कुण्ड को एक-एक सरसों शलाकाकुण्ड में डालते-डालते जब दूसरी बार भी शलाकाकुण्ड भर जाय तो दूसरी सरसों प्रतिशलाकाकुण्ड में डालिए। एक-एक अनवस्थाकुण्ड की एक-एक सरसों शलाकाकुण्ड में और एक-एक शलाकाकुण्ड की एक-एक सरसों प्रतिशलाकाकुण्ड में डालते-डालते जब प्रतिशलाकाकुण्ड भी भर जाय, तब एक सरसों महाशलाकाकुण्ड में डालिए। जिस क्रम से एक बार प्रतिशलाकाकुण्ड भरा है, उसी क्रम से दूसरी बार भरने पर दूसरी सरसों महाशलाकाकुण्ड में डालिए। इसी तरह एक-एक प्रतिशलाकाकुण्ड को सरसों महाशलाकाकुण्ड में डालते-डालते जब महाशलाकाकुण्ड भी भर जाय उस समय सबसे बड़े अन्त के अनवस्थाकुण्ड में जितनी सरसों समायीं उतना ही जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण होता है।

असंख्यात के परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात ऐसे तीन भेद हैं। परीतासंख्यात के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं। ऐसे ही युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन-तीन भेद हो जाते हैं। ऐसे ही अनन्त के भी परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त के भेद से तीन भेद होते हैं। इन तीनों के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन-तीन भेद होने से नौ भेद हो जाते हैं।

जघन्य परीतासंख्यात को जघन्य परीतासंख्यात मात्र बार परस्पर में गुणा करने से उसमें जितने मात्र रूप आवें उतने मात्र को जघन्य युक्तासंख्यात कहते हैं। उसमें से एक रूप के निकाल देने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण हो जाता है। अर्थात् जघन्य परीतासंख्यात में जितनी सरसों हैं उतनी बार जघन्य परीतासंख्यात की संख्या पृथक्-पृथक् रखकर परस्पर में गुणित करके जघन्य युक्तासंख्यात[1] हुआ। उसमें से एक सरसों कम कर देने से उत्कृष्ट परीता-

---

१. इस जघन्य युक्तासंख्यात में जितनी सरसों हैं उतने समयों की एक आवली होती है।

जातं जघन्यपरीतासंख्यातोत्कृष्टपरीतासंख्यातयोर्मध्ये विकल्पोऽजघन्योत्कृष्टपरीतासंख्यातं, युक्तासंख्यातं जघन्येन युक्तासंख्यातेन प्रगुण्य यावन्मात्राणि रूपाणि तावन्मात्रं जघन्यासंख्यातासंख्यातं तस्मादेके रूपेऽपनीते जातमुत्कृष्टं युक्तासंख्यातं, जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येऽजघन्योत्कृष्टं युक्तासंख्यातम् । जघन्यासंख्यातासंख्यातं त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च कृत्वा धर्माधर्मलोकाकाशप्रत्येकशरीरैकजीवप्रदेशबादरप्रतिष्ठितैश्च संयुक्तं कृत्वा पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं च कृत्वा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानुभागबन्धाध्यवसायस्थानयोग[1]विभागपरिच्छेदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयैश्च युक्ते कृते जातं जघन्यपरीतानन्तं तस्मादेके रूपेऽपनीते जातमुत्कृष्टमसंख्यातासंख्यातं तयोर्मध्ये मध्यमो विकल्पः । जघन्यपरीतानन्तानि जघन्यपरीतानन्तमात्राणि परस्परं प्रगुण्य यत्प्रमाणं भवति तज्जघन्यं युक्तानन्तं तस्मादेके रूपेऽपनीते जातमुत्कृष्टं परीतानन्तं जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमो विकल्पः । जघन्ययुक्तानन्तमपरेण जघन्ययुक्तानन्तेन गुणितं जातं जघन्यानन्तानन्तं तस्मादेके रूपेऽपनीते जातमुत्कृष्टं युक्तानन्तप्रमाणं जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमो विकल्पः । जघन्यानन्तानन्तं त्रीन् वारान् च वर्गितं संवर्गितं च कृत्वा सिद्धनिगोदजीववनस्पतिकाय[2]पुद्गलसर्वालोकाकाशानि प्रक्षिप्य पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं

संख्यात हो जाता है। जघन्यपरीतासंख्यात और उत्कृष्ट परीतासंख्यात इन दोनों के मध्य में जितने भी विकल्प हैं वे सब अजघन्योत्कृष्ट अर्थात् मध्यम परीतासंख्यात के भेद हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात को जघन्य युक्तासंख्यात से गुणित करने से जितने मात्र रूप होते हैं वह जघन्य असंख्यातासंख्यात है। इसमें से एक रूप कम कर देने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। तथा जघन्य और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के मध्य में जितने भी विकल्प हैं उन सबको अजघन्योत्कृष्ट युक्तासंख्यात कहते हैं।

जघन्य असंख्याताख्यात को तीन बार वर्गित और संवर्गित करके पुनः उस राशि में धर्मअधर्म और लोकाकाश के प्रदेशों को तथा प्रत्येकशरीर एक जीव के प्रदेश और बादर प्रतिष्ठित जीवों की संख्या को मिला देने से जो राशि आयी उसे भी तीन बार वर्गित संवर्गित करके पुनरपि उसमें स्थितिबंधाध्यवसाय स्थान,[3] अनुभागबंधाध्यवसायस्थान[4], मन-वचन-काय रूप योगों के अविभागी प्रतिच्छेद, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सर्व समय, इन सबको मिला देने पर जघन्य परीतानन्त होता है। इसमें से एक रूप कम कर देने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के मध्य के जितने भी विकल्प हैं उतने प्रकार का मध्यम असंख्यातासंख्यात होता है।

जघन्य परीतानन्त के जितनी संख्या है उतनी ही बार जघन्य परीतानन्त की संख्या रख कर परस्पर में गुणा करने से जो प्रमाण होता है वह जघन्य युक्तानन्त कहलाता है। उसमें से एक रूप कम देने करने पर उत्कृष्ट परीतानन्त हो जाता है। जघन्य और उत्कृष्ट परीतानन्त के मध्य में जितने विकल्प हैं उन्हें मध्यम परीतानन्त कहते हैं।

जघन्य युक्तानन्त को जघन्य युक्तानन्त से गुणित करने पर जघन्य अनन्तानन्त का प्रमाण होता है। उसमें से एक रूप के कम कर देने पर उत्कृष्ट युक्तानन्त का प्रमाण हो जाता है। जघन्य और उत्कृष्ट के मध्य में जितने भी विकल्प हैं वे सब मध्यम युक्तानन्त के हैं।

जघन्य अनन्तानन्त को तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध राशि, निगोद-

---

१. योगाविभाग—इति प्रतिभाति।   २. क काल।   ३. असंख्यात लोकप्रमाण हैं।
४. इनसे भी असंख्यात गुणे हैं।

संवर्गितं च कृत्वा धर्माधर्मास्तिकायागुरुलघुगुणान् प्रक्षिप्य पुनरपि त्रीन् वारान् वर्गितं संवर्गितं कृत्वा केवलज्ञानकेवलदर्शनप्रमाणे प्रक्षिप्ते उत्कृष्टमनन्तानन्तप्रमाणं जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येऽजघन्योत्कृष्टो विकल्पः। यत्र यत्रानन्तप्रमाणं परिगृह्यते तत्र तत्राजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तप्रमाणं ग्राह्यं, यत्र यत्राभव्याः परिगृह्यन्ते तत्र तत्र जघन्ययुक्तानन्तप्रमाणं वेदितव्यं, यत्र यत्र आवलिका पठ्यते तत्र तत्र जघन्ययुक्तासंख्यातं ग्रहीतव्यः ॥११२७॥

उपमाप्रमाणार्थमाह[1]—

पल्लो सायर सूई पदरो य घणंगुलो य जगसेढी।
लोगपदरो य लोगो अट्ठ दु माणा मुणेयव्वा ॥११२८॥*

पल्लो—पल्यं पल्योपमं, सायर—सागरः सागरोपमं, सूई—सूची सूच्यंगुलं, पदरो य—प्रतरश्च प्रतरांगुलं, घणंगुलो य—घनांगुलं च, जगसेढी—जगच्छ्रेणी, लोगपदरो य—लोकप्रतरं च, लोगो—लोकः अट्ठ दु—अष्टौ तु, माणा—मानानि प्रमाणानि, मुणेयव्वा—ज्ञातव्यानि। उद्धारपल्योपममुत्पादितं तत्र यानि रोमखण्डानि तान्येकैकं वर्षशतसमयमात्राणि खण्डानि कर्तव्यानि, एवं कृते यत्प्रमाणमेतेषां रोमाणां तदद्धापल्यो-

---

जीवराशि, वनस्पतिकायिक जीवराशि, पुद्गलपरमाणु और अलोकाकाश के प्रदेश—इन सब का प्रक्षेपण करके पुनरपि उस राशि को तीन बार वर्गित और संवर्गित करें। पुनः उसमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अगुरुलघु गुणों को मिलाकर जो राशि उत्पन्न हो उसे भी तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन के प्रमाण को मिला दें तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त का प्रमाण उत्पन्न होता है। जघन्य अनन्तानन्त और उत्कृष्ट अनन्तानन्त के मध्य में जितने भी विकल्प हैं उन सभी विकल्पों को मध्यम अनन्तानन्त कहते हैं।

जहाँ-जहाँ पर अनन्त प्रमाण लिया जाता है, वहाँ-वहाँ पर अजघन्योत्कृष्ट-मध्यम अनन्तानन्त का प्रमाण ग्रहण करना चाहिए। जहाँ-जहाँ अभव्यराशि को ग्रहण किया जाता है वहाँ-वहाँ जघन्य युक्तानन्त का प्रमाण जानना चाहिए और जहाँ-जहाँ आवली को कहा जाता है वहाँ-वहाँ जघन्ययुक्तासंख्यात का प्रमाण लेना चाहिए।

इस प्रकार से संख्यात के तीन भेद, असंख्यात के नौ भेद और अनन्त के नौ भेद सब मिलकर इक्कीस भेद रूप संख्यामान का अतिसंक्षेप से वर्णन किया गया है।

अब उपमाप्रमाण को कहते हैं—

गाथार्थ—पल्य, सागर, सूची, प्रतर, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोकप्रतर और लोक ये आठ भेद उपमामान के जानना चाहिए ॥११२८॥

आचारवृत्ति—पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोकप्रतर और लोक ये आठ प्रकार का प्रमाण जानना चाहिए।

उद्धार पल्योपम को कह दिया है। उसमें जितने रोमखण्ड हैं उनमें एक-एक को सौ वर्ष के जितने समय हैं उतने-उतने मात्र खण्ड करना चाहिए। ऐसा करने पर इन रोमखण्डों का जितना प्रमाण होता है उसे अद्धापल्योपम कहते हैं। इस पल्योपम से सर्व कर्मों की स्थिति

---

१. क उपमाप्रमाणमाह।

* यह गाथा कुन्दकुन्दकृत मूलाचार में नहीं है।

पमं प्रवर्तते अनेन पल्योपमेन सर्वः कर्मस्थित्यादिर्द्रष्टव्यः। एतेषामद्धापल्योपमानां दशकोटिकोटिप्रमाणानामेकमद्धा सागरोपमं भवति, अनेन सागरोपमप्रमाणेन देवनारकमनुष्यतिरश्चां कर्मस्थितिभवस्थित्यायुःस्थितयो ज्ञातव्याः। सूच्यंगुलमुच्यते—अद्धापल्योपममर्द्धेनार्द्धेन तावत्कर्तव्यं यावदेकरोम, तत्र यावन्त्यर्द्धच्छेदनानि अद्धापल्योपमस्य तावन्मात्राण्यद्धापल्योपमानि परस्पराभ्यस्तानि कृत्वा यत्प्रमाणं भवति तावन्मात्रा आकाशप्रदेशा ऊर्ध्वमावल्याकारेण रचितास्तेषां यत्प्रमाणं तत् सूच्यंगुलम्[1]। तत्सूच्यंगुलं तदपरेण सूच्यंगुलेन गुणितं प्रतरांगुलम्। तत्प्रतरांगुलमपरेण सूच्यंगुलेन गुणितं घनांगुलम्। जगच्छ्रेणिरुच्यते—पंचविंशतिकोटिकोटीनामुद्धारपल्यानां यावन्ति रूपाणि लक्षयोजनार्द्धच्छेदनानि च रूपाधिकान्येकैकं द्विगुणीकृतान्यन्योन्याभ्यस्तानि यत्प्रमाणं सा रज्जुरिति रज्जुः सप्तभिर्गुणिता श्रेणिः, सा परया-गुणिता श्रेण्या जगत्प्रतरं, जगत्प्रतरं च जगच्छ्रेण्या गुणितं लोकप्रमाणम्। सूच्यंगुलस्य संदृष्टिः २। प्रतरांगुलस्य संदृष्टिः ४। घनांगुलस्य संदृष्टि ८। रज्जोः संदृष्टिः १/७। श्रेणिसंदृष्टि (?) जगत्प्रतरस्य संदृष्टिः (?) लोकस्य संदृष्टिः १८/१८ संख्यातस्य संदृष्टिः ९। असंख्यातस्य संदृष्टिः ५। अनंतस्य संदृष्टिः ६। क्षेत्रप्रमाणं लिक्षायवांगुलवितस्तिरत्निकिष्कुधनुर्योजनादिस्वरूपेण ज्ञातव्यम्।

आदि जानना चाहिए।

दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है। इस सागर से देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंचों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और आयु की स्थिति को जानना चाहिए।

अब सूच्यंगुल कहते हैं—अद्धापल्योपम को आधा करके पुनः उस आधे का आधा ऐसे ही एक रोम जब तक न आ जावे तब तक उसे आधा-आधा करना। इस तरह करने से इस अद्धापल्य के जितने अर्धच्छेद होते हैं उतने मात्र बार अद्धापल्य को पृथक्-पृथक् रखकर पुनः उन्हें परस्पर में गुणित कर देने से जो प्रमाण आता है उतने मात्र आकाश प्रदेश की आवली के आकार से रची गयी लम्बी पंक्ति में जितने प्रमाण प्रदेश हैं उनको सूच्यंगुल[1] कहते हैं।

सूच्यंगुलको सूच्यंगुल से गुणा करने से जो प्रमाण होता है वह प्रतरांगुल है। प्रतरांगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर घनांगुल होता है।

जगत्-श्रेणी को कहते हैं—

पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यों के जितने रूप हैं और एक लाख योजन के जितने अर्द्धच्छेद हैं उनमें एक रूप मिलाकर इन एक-एक को दुगुना करके पुनः इन्हें परस्पर में गुणित करने से जो प्रमाण होता है उसे राजू कहते हैं। सात राजू से गुणित का नाम श्रेणी है। अर्थात् सात राजू की एक जगच्छ्रेणी होती है। इस जगच्छ्रेणी से जगच्छ्रेणी को गुणा करने पर जगत्प्रतर होता है। जगत्प्रतर को जगत्-श्रेणी से गुणा करने पर लोक का प्रमाण होता है। अर्थात् तीन लोक के आकाश प्रदेशों की यही संख्या है।

सूच्यंगुल की संदृष्टि २, प्रतरांगुल की संदृष्टि ४, घनांगुल की संदृष्टि ८, राजू की संदृष्टि १/७ श्रेणी की संदृष्टि (?), जगत्प्रतर की संदृष्टि (?), लोक की १८/१८, संख्यात की संदृष्टि ९, असंख्यात की संदृष्टि ५, और अनन्त की संदृष्टि ६ है।

क्षेत्रप्रमाण से इसे लिक्षा, जौ, अंगुल, वितस्ति, रत्नि, किष्कु, धनुष, और योजन के रूप से जानना चाहिए।

---

१. एक प्रमाणांगुल लम्बे और एक प्रदेश चौड़े ऊँचे आकाश में जितने प्रदेश हों उन्हें सूच्यंगुल कहते हैं।

कालप्रमाणं परमसूक्ष्मः समयः अणोरण्वंतरव्यतिक्रमः कालः समयः, जघन्ययुक्तासंख्यातमात्रा समया आवली-नाम् प्रमाणम्, [1]असंख्यातावलयः कोटिकोटीनामुपरि यत्प्रमाणं स उच्छ्वासः, सप्तभिरुच्छ्वासैः स्तवः, सप्तभिः स्तवैर्लवाः, अष्टत्रिंशल्लवानामर्धलवा च नाडी, द्वे नाड्यौ मुहूर्तः, त्रिंशन्मुहूर्तै दिवसरात्रिः, इत्येवमादिकाल-प्रमाणम्। भावप्रमाणं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानि परोक्षप्रत्यक्षाणि। एवं प्रमाणसूत्रं व्याख्यात-मिति ॥११२८॥

स्वामित्वेन योगस्य स्वरूपमाह—

[2]बेइंदियादि भासा भासा य मणो य सण्णिकायाणं।
एइंदिया य जीवा अमणाय अभासया होंति ॥११२९॥

कायवाङ्मनसां निमित्तं परिस्पंदो जीवप्रदेशानां योगस्त्रिविधः कायवाङ्मनोभेदेन। बेइंदियादि—द्वीन्द्रियादीनां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणाम् असंज्ञिपंचेन्द्रियाणां च भासा—भाषा वचनव्यापारः। भासा य—भाषा च, मणो य—मनश्च, सण्णिकायाणं—संज्ञिकायानां पंचेन्द्रियाणां संज्ञिनां भाषामनोयोगौ भवतः कायश्च। एइंदिया य—एकेन्द्रियाश्च पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिका जीवाः, अमणा य—अमनस्काः, अभासया—अभाषकाः, होंति—भवन्ति ते काययोगा इत्यर्थः। संज्ञिनो जीवा काय-

---

कालप्रमाण—परमसूक्ष्म अर्थात् सबसे अधिक सूक्ष्म काल समय है। एक अणु को दूसरे अणु के उल्लघंन करने में जितना काल लगता है उसे समय कहते हैं। जघन्य युक्ता-संख्यातमात्र समय को आवली कहते हैं। [3]संख्यात कोड़ाकोड़ी आवली का जो प्रमाण है उसे उच्छ्वास कहते हैं। सात उच्छ्वासों का एक स्तव होता है। सात स्तव का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली या घटिका होती है। दो नाली का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्त का एक दिन-रात होता है। इत्यादिरूप से और भी काल का प्रमाण जान लेना चाहिए।

भावप्रमाण—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये भावप्रमाण हैं। इनके परोक्ष और प्रत्यक्ष ये दो भेद हैं। इस प्रकार से प्रमाणसूत्र का व्याख्यान हुआ।

स्वामी की अपेक्षा योग का स्वरूप कहते हैं।

गाथार्थ—द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भाषा होती है। संज्ञी जीवों के भाषा और मन होते हैं और एकेन्द्रिय जीव मन और भाषा रहित होते हैं ॥११२९॥

आचारवृत्ति—काय, वचन और मन के निमित्त से जीव के प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं। उसके मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन भेद हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के भाषा या वचन-व्यापार अर्थात् वचनयोग होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के वचनयोग और मनोयोग होते हैं तथा काययोग तो हरेक (संसारी) जीव के है ही। एकेन्द्रिय—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति-कायिक जीव वचनयोग और मनोयोग से रहित होते हैं अर्थात् इनके मात्र काययोग होता है। तात्पर्य यह है कि संज्ञी जीवों के काययोग, वचनयोग और मनोयोग ये तीनों होते हैं। द्वीन्द्रिय

---

१. क संख्यातावल्यः। २. क बेइंदिया य। ३. टिप्पणी पाठ के अनुसार संख्यात शब्द रखा है।

वाङ्मनोयोगा भवन्ति, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्ता कायवचनयोगा भवन्ति, पृथिवीकायिकादिवनस्पतिकायान्ताः काययोगा भवन्ति, [1]सिद्धास्तु त्रिभिर्योगै रहिता भवन्ति। चशब्दादयमर्थो लब्धश्चतुर्विधस्य मनोयोगस्य चतुर्विधस्य वाग्योगस्य सप्तविधस्य काययोगस्य च तेष्वभावादिति ॥११२९॥

स्वामित्वेन वेदस्य स्वरूपमाह—

एइंदिय विगलिंदिय णारय सम्मुच्छिमा य खलु सव्वे।
वेदे णपुंसगा ते णादव्वा होंति णियमादु ॥११३०॥

एइंदिय—एकेन्द्रियाः पृथिवीकायिकादिवनस्पत्यन्ताः, विगलिंदिय—विकलेन्द्रिया, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, णारय—नारकाः, सम्मुच्छिमा य—सम्मूर्च्छनाश्च, खलु—स्फुटं, सव्वे—सर्वे तेन[2] पंचेन्द्रियाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च गृह्यन्ते सम्मूर्च्छिमविशेषणान्यथानुपपत्तेः। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियास्तु सम्मूर्च्छिमा एव तेषां विशेषणमनुपपन्नमेव। वेदे—वेदेन वेदस्त्रिविधः स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेदश्च स्त्रीलिंगं पुंलिंगं नपुंसकलिंगमिति यावत्, स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री, सूते पुरुगुणानिति पुमान्, न स्त्री न पुमानिति नपुंसकं, स्त्रीबुद्धिशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तं स्त्रीलिंगं, पुंबुद्धिशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तं पुंल्लिंगं, नपुंसकबुद्धिशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तं नपुंसकलिंगं तेन लिंगेन नपुंसकवेदेन नपुंसका नपुंसकलिंगाः, णादव्वा—ज्ञातव्याः, होंति—भवन्ति, णियमादु—नियमात् निश्चयात्। सर्वे एकेन्द्रियाः, सर्वे च विकलेन्द्रियाः, नारकाः सर्वे सम्मूर्च्छनजाः पंचेन्द्रियाः संज्ञि-

---

से लेकर असैनी पंचेन्द्रियपर्यन्त जीवों के वचनयोग और काययोग ये दो होते हैं तथा पृथ्वीकायिक से वनस्पतिकायिकपर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों में एक काययोग ही होता है। सिद्ध भगवान् तीनों योगों से रहित होते हैं। अर्थात् च शब्द से यह अर्थ उपलब्ध होता है कि चार प्रकार के मनोयोग, चार प्रकार के वचनयोग और सात प्रकार के काययोग का सिद्धों में अभाव है।

स्वामी की अपेक्षा से वेद का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी और सम्मूर्च्छन ये सभी नियम से नपुंसक होते हैं, ऐसा जानना ॥११३०॥

आचारवृत्ति—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद की अपेक्षा वेद के तीन भेद हैं। इन्हें लिंग भी कहते हैं। जिसमें गर्भ वृद्धिगत होता है उसे स्त्री कहते हैं। जो पुरु अर्थात् श्रेष्ठ गुणों को जन्म देता है उसे पुरुष कहते हैं। तथा जो न स्त्री है न पुरुष उसे नपुंसक कहते हैं। स्त्री की बुद्धि और स्त्री शब्द की प्रवृत्ति के लिए निमित्त स्त्रीलिंग है, पुरुष की बुद्धि और पुरुष शब्द की प्रवृत्ति के लिए पुंल्लिंग है और नपुंसक की बुद्धि और शब्द के लिए निमित्त नपुंसकलिंग है।

पृथ्वी से वनस्पतिकाय पर्यन्त एकेन्द्रिय जीव, विकलेन्द्रिय जीव, नारकी जीव तथा सम्मूर्च्छन (अर्थात् पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन, के संज्ञी-असंज्ञी दो भेद हैं उन दोनों को ग्रहण करना है अन्यथा सम्मूर्च्छन विशेषण हो नहीं सकता; कारण एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय तो सम्मूर्च्छन ही हैं उनके लिए यह विशेषण बनता नहीं है), के एक नपुंसक वेद होता है। तात्पर्य यह हुआ कि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी व सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी

---

१. क सिद्धाः पुनस्त्रियोग रहिता भवन्ति। २. क नाम।

षोऽसंज्ञिनश्च वेदेन नपुंसका भवन्तीति ज्ञातव्या नात्र सन्देहः सर्वज्ञवचनं यत इति ॥११३०॥

स्वामित्वेन स्त्रीलिंगपुंलिंगयोः स्वरूपमाह—

देवा य भोगभूमा असंखवासाउगा मणुयतिरिया।
ते होंति दोसु वेदेसु णत्थि तेसिं तदियवेदो ॥११३१॥

देवा य—देवा भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनः, च शब्दः समुच्चयार्थः भोगभूमा[1]—भोगभौमास्त्रिंशद्भोगभूमिजातास्तिर्यङ्मनुष्याः, असंखवासाउगा—असंख्यवर्षायुषो भोगभूमिप्रतिभागजाः, सर्वे म्लेच्छखण्डोत्पन्नाश्च [2]मनुष्याः, तिरिया—तिर्यंचः, ते होंति—ते भवन्ति, दोसु वेदेसु—द्वयोर्वेदयोः स्त्रीपुंवेदाभ्यां, णत्थि—नास्ति न विद्यते, तेसिं—तेषां पूर्वोक्तानां तदियवेदो—तृतीयवेदो नपुंसकलिंगम्। देवा भोगभौमा असंख्यातवर्षायुषस्तिर्यंचः भोगभूमिप्रतिभागजाः च म्लेच्छाश्च सर्वे एते स्त्रीलिंगपुंलिंगाभ्यां भवन्ति, नास्ति तृतीयं नपुंसकलिंगमिति ॥११३१॥

शेषाणां त्रिलिंगत्वं प्रतिपादयन्नाह—

पंचेंदिया दु सेसा सण्णि असण्णीय तिरिय मणुसा य।
ते होंति इत्थिपुरिसा णपुंसगा चावि वेदेहिं ॥११३२॥

पंचेंदिया दु—पंचेन्द्रियास्तु, सेसा—शेषाः देवनारकभोगभूमिजभोगभूमिप्रतिभागजतिर्यङ्म्लेच्छवर्ज्या अन्ये, सण्णि—संज्ञिनः, असण्णीय—असंज्ञिनश्च, तिरिय—तिर्यंचः, मणुसा य—मनुष्याश्च, ते होंति—

जीव इन सबके नियम से एक नपुंसक वेद ही होता है, इसमें सन्देह नहीं करना क्योंकि यह सर्वज्ञ देव का कथन है।

स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के स्वामी को बताते हैं—

गाथार्थ—देव, भोगभूमिज, असंख्यवर्ष आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच ये दो वेद में होते हैं, उनके तीसरा, नपुंसक वेद नहीं है ॥११३१॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चार प्रकार के देव, तीसों भोगभूमियों में उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच और मनुष्य, [3]भोगभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न हुए असंख्यात वर्ष की आयुवाले तथा सभी म्लेच्छ खण्डों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य और तिर्यंच स्त्रीलिंग और पुल्लिंग ही होते हैं, उनमें नपुंसकलिंग नहीं होता है।

तीन लिंग वालों को कहते हैं—

गाथार्थ—शेष संज्ञी और पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य ये वेदों की अपेक्षा स्त्री, पुरुष और नपुंसक भी होते हैं॥११३२॥

आचारवृत्ति—शेष—देव, नारकी, भोगभूमिज व भोगभूमि प्रतिभागज तिर्यंच और मनुष्य तथा म्लेच्छ को छोड़कर बाकी बचे पंचेन्द्रिय सैनी व असैनी तिर्यंच और मनुष्यों में

---

१. क भोगभोमा। २. क मणुवा य। ३. कुभोगभूमिज मनुष्य।

ते सर्वे भवन्ति, इत्थिपुरिसा—स्त्रीपुरुषाः णवुंसया—नपुंसकाश्चापि, वेदेहिं—वेदैर्वेदेषु वा। पूर्वोक्तानां शेषाः पंचेन्द्रियाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च ये तिर्यंचो मनुष्यास्ते सर्वेऽपि स्त्रीपुंनपुंसकास्त्रिभिर्वेदैर्भवन्ति, पुनर्वेदग्रहणं द्रव्यवेदप्रतिपादनार्थं भाववेदस्य स्त्रीपुंनपुंसकग्रहणेनैव ग्रहणादिति ॥११३२॥

ननु यथा[1]तिर्यङ्मनुष्येषु सर्वत्र स्त्रीलिंगमुपलभ्यते किमेवं देवेष्वपि नेत्याह—

आ ईसाणा कप्पा उववादो होइ देवदेवीणं।
तत्तो परं तु णियमा उववादो होइ देवाणं ॥११३३॥

नात्रोपपादकथनमन्याय्यं विषयभेदात्, देवेषु स्त्रीलिंगस्य भावाभावविषयकथनमेतत् नोपपादकथनं, आ—आङ् मर्यादायामभिविधौ गृह्यते ईसाणा—ईशानात्, कप्पो—कल्पात् उववादो—उपपादो, होइ—भवति, देवदेवीणं—देवदेवीनां देवानां देवीनां च, तत्तो ततस्तस्मादीशानात्परं ऊर्ध्वं सनत्कुमारादिषु उववादो—उपपाद उत्पत्तेः संभवः, होइ—भवति, देवाणं—देवानाम् आईशानात्कल्पादिति। किमुक्तं भवति—भवनव्यन्तरज्योतिष्केषु सौधर्मेशानयोश्च कल्पयोर्देवानां देवीनां चोपपादः स्त्रीलिंगपुंल्लिंगयोरुत्पत्तेः संभवः परेषु कल्पेषु सनत्कुमारादिषु देवानामेवोत्पत्तेः संभवो न चात्र स्त्रीलिंगस्योत्पत्तेः संभव इति ॥११३३॥

अथ स्त्रीलिंगस्या ईशानादुत्पन्नस्य कियद्दूरगमनमित्याशंकायामाह—

आवदु आरणअच्चुद गमणागमणं च होइ देवीणं।
तत्तो परं तु णियमा देवीणं णत्थि से गमणं ॥११३४॥

स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग—तीनों वेद होते हैं। गाथा में पुनः जो वेद का ग्रहण है वह द्रव्य वेद के प्रतिपादन के लिए है, क्योंकि भाववेद का तो स्त्री, पुरुष और नपुंसक के ग्रहण से ही ग्रहण हो जाता है।

जिस प्रकार से पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों में सर्वत्र स्त्रीलिंग उपलब्ध होता है क्या ऐसे ही देवों में भी है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—देव और देवियों का जन्म ईशान स्वर्ग पर्यन्त होता है, इससे आगे तो नियम से देवों का ही जन्म होता है ॥११३३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर उपपाद का कथन विषय-भेद की अपेक्षा से अन्याय्य नहीं है, न्याययुक्त ही है। यहाँ देवों में स्त्रीलिंग के भाव और अभाव का कथन करना मुख्य है, उपपाद का कथन मुख्य नहीं है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान स्वर्ग तक देव और देवियों का उपपाद होता है। इससे ऊपर सनत्कुमार आदि स्वर्गों में देवों की ही उत्पत्ति सम्भव है, वहाँ देवांगनाओं की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

यदि देवियाँ ईशान स्वर्ग तक ही उत्पन्न होती हैं तो उनका गमन कितनी दूर पर्यन्त है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—देवियों का गमनागमन आरण-अच्युतपर्यन्त होता है। इसके आगे तो नियम से उन देवियों का गमन नहीं है ॥११३४॥

---

१. क पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येषु।

आगमु—आगमात्, आरणअच्चुद—आरणाच्युतौ, गमणं—गमनं, आगमणं च—आगमनं च, चशब्दः समुच्चये, होदि—भवति, देवीणं—देवीनां, तत्तो—तस्मादारणाच्युतात् परदो—परतः, णियमा—नियमात् निश्चयात्, देवीणं—देवीनां, णत्थि—नास्ति न विद्यते, से—तासां, गमणं—गमनं । [1]आ आरणाच्युतकल्पो गमनागमनं च भवति देवीनां ततः परेषु नवग्रैवेयकनवानुत्तर [नवानुदिश]—पंचानुत्तरेषु नास्ति तासां देवीनां गमनं कुत एतत् पूर्वागमात् ॥११३४॥

तमेवागमं प्रदर्शयतीति—

कंदप्पआभिजोग्गा देवीओ चावि आरणच्चुदोत्ति ।
लांतवगादो उवरिं ण संति संमोहकिब्भिसया ॥११३५॥

कंदप्प—कन्दर्पस्य भावः कान्दर्प्यं कान्दर्प्ययोगाद्देवाः कान्दर्पाः प्रहासोपहासशीलाः, आभिजोग्गा—आभियोग्या वाहनसुराः, देवीओ—देव्यः, चावि—चापि समुच्चयसम्भावनार्थः, आरणच्चुदोत्ति—आरणाच्युतौ, यावच्छब्देन यावच्छब्दः समुच्चीयते । तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते । कान्दर्पा आभियोग्या देव्योऽपि यावदारणाच्युतौ, अस्मादागमाज्ज्ञायते नास्ति देवीनामूर्ध्वं गमनम् । लांतवगादो—लांतवकात्, उवरिं—उपरि ऊर्ध्वं न सन्ति न विद्यन्ते, संमोह—सम्मोहाः भण्डदेवा नित्यमैथुनसेविनः श्ववत् । किब्भिसया—किल्बिषिकाः पाटहिकमौरजिकादयः वादित्रवादनपराः । लान्तवादुपरि किल्बिषिकाः सम्मोहाश्च न सन्तीति ॥११३५॥

लेश्यानां स्वामित्वेन स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

काऊ काऊ तह काउणील णीला य णीलकिण्हा य ।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा रदणादि पुढवीसु ॥११३६॥

आचारवृत्ति—सोलहवें स्वर्गपर्यन्त ही देवियों का गमनागमन होता है। उसके ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर (नव अनुदिश) और पाँच अनुत्तरों में उन देवियों का गमन नहीं है। ऐसा क्यों ? पूर्वागम में ऐसा कहा हुआ है।

उसी आगम को दिखलाते हैं—

गाथार्थ—कान्दर्प और आभियोग्य देव तथा देवियाँ आरण-अच्युत पर्यन्त ही हैं एवं लान्तव कल्प से ऊपर सम्मोह और किल्विषिक देव नहीं हैं ॥११३५॥

आचारवृत्ति—कन्दर्प का भाव कान्दर्प है। उसके योग से देव भी कान्दर्प कहलाते हैं अर्थात् हँसी-मजाक आदि करनेवाले देव, आभियोग्य—वाहन जाति के देव तथा देवियाँ सोलहवें स्वर्गपर्यन्त ही होते हैं। इसी आगम से जाना जाता है कि देवियों का गमन अच्युत स्वर्ग के ऊपर नहीं है। लान्तव नामक स्वर्ग के ऊपर संमोह जाति के देव और किल्विषिक जाति के देव नहीं होते हैं। भण्डदेव अर्थात् श्वान के समान नित्य मैथुन सेवन करनेवाले देव सम्मोह कहलाते हैं तथा पटह, मुरज आदि बाजे बजानेवाले देव किल्विषिक कहलाते हैं।

लेश्याओं का स्वामित्व पूर्वक स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—रत्नप्रभा आदि सातों पृथिवियों में क्रम से कापोत, कापोत, कापोत-नील, नील, नील-कृष्ण, कृष्ण और परमकृष्ण लेश्या है ॥११३६॥

---

१. क आरणाच्युतकल्पो यावत् गमनागमनं च ।

लेश्याभावः सर्वत्र सम्बन्धः, काऊ[1] काऊ—कापोती कापोती जघन्यकापोतलेश्या, तह—तथा, काऊ—कापोती मध्यमकापोतलेश्या, णील—नीला जघन्यनीललेश्या उत्कृष्टकापोतलेश्या, णीलाय—नीला च मध्यमनीला, णीलकिण्हाय—नीलकृष्णा चोत्कृष्टनीला जघन्यकृष्णा च, किण्हाय—कृष्णा च मध्यमकृष्णलेश्या, परमकिण्हा—परमकृष्णा सर्वोत्कृष्टकृष्णलेश्या, लेस्सा—लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः, रदणादि—रत्नादिषु पुढवीसु—धरित्रीषु रत्नप्रभादिसप्तसु नरकेषु यथासंख्येन संबन्धः। रत्नप्रभायां नारकाणां जघन्यकापोतलेश्या, द्वितीयायां शर्कराप्रभायां मध्यमकापोतलेश्या, तृतीयायां वालुकाप्रभायामुपरिष्टादुत्कृष्टकापोतीलेश्या अधो जघन्यनीला च, चतुर्थ्यां पंकप्रभायां मध्यमनीललेश्या, पंचम्यां धूमप्रभायाम् उपरि उत्कृष्टनीला अधो जघन्यकृष्णा च, षष्ठ्यां तमःप्रभायां मध्यमकृष्णलेश्या, सप्तम्यां [2]महातमःप्रभायामुत्कृष्टलेश्या सर्वत्र नारकाणामिति संबन्धः। स्वायुःप्रमाणावधृता द्रव्यलेश्याः। भावलेश्यास्तु अन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः। न केवलमशुभलेश्याः नारकाणां किन्तु अशुभपरिणामा अशुभस्पर्शरसगन्धवर्णाः क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवो देहाश्च तेषामशुभनामोदयादत्यन्ताशुभतराः विकृताकृतयो हुण्डसंस्थाना इति ॥११३६॥

देवानां लेश्याभेदमाह—

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्म पम्मा य पम्मसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का लेस्साभेदो मुणेयव्वो ॥११३७॥

आचारवृत्ति—कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। इन कापोत आदि लेश्याओं का सातों नरकों में क्रम से सम्बन्ध करना। रत्नप्रभा नरक में नारकियों के कापोत लेश्या है। शर्कराप्रभा नरक में मध्यम कापोत लेश्या है। बालुका प्रभा में उपरिम भाग में उत्कृष्ट कापोत लेश्या है और नीचे पाथड़ों में जघन्य नील लेश्या है, पंकप्रभानरक में मध्यम नील लेश्या है, धूमप्रभा में ऊपर के पाथड़ों में उत्कृष्ट नील लेश्या है और अधोभाग में पाथड़ों में जघन्य कृष्ण लेश्या है, तमःप्रभा नरक में मध्यम कृष्ण लेश्या है और महातमःप्रभा नामक सातवें नरक में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है। सभी जगह नारकियों में लेश्या का सम्बन्ध करना।

लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। शरीर के वर्ण का नाम द्रव्यलेश्या है और कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति रूप भावों का नाम लेश्या है। अपनी आयु प्रमाण रहने वाली द्रव्यलेश्या है और अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन होनेवाली भावलेश्या है। नारकियों की लेश्याएँ ही अशुभ नहीं किन्तु उनके परिणाम, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण भी अशुभ होते हैं। ये क्षेत्रविशेष के निमित्तवश अतिदुःख में कारण होते हैं और उनके शरीर अशुभ कर्म के उदय से अत्यन्त अशुभतर विकृत आकृति रूप और हुण्डक संस्थानवाले होते हैं।

देवों के लेश्याभेद को कहते हैं—

गाथार्थ—जघन्यपीत, मध्यपीत, उत्कृष्टपीत और जघन्यपद्म, मध्यपद्म, उत्कृष्टपद्म और जघन्यशुक्ल, मध्यमशुक्ल और परमशुक्ल ये लेश्या के भेद जानना चाहिए ॥११३७॥

---

१. 'काऊ—कापोती जघन्य कापोतलेश्या काऊ, कापोती मध्यमकापोतलेश्या, तह—तथा, काऊणीले—कपोतीनीले उत्कृष्टकापोतलेश्या, जघन्यनीललेश्या च, इति केचित्। २. क महातमःप्रभायां।

तेऊ तेऊ—तेजस्तेजः जघन्यतेजोलेश्या, तह—तथा, तेऊ—तेजः मध्यमतेजोलेश्या, पम्म—पद्मा जघन्यपद्मलेश्या उत्कृष्टतेजोलेश्या च, पम्मा य—पद्मा च मध्यमपद्मलेश्या, पम्मसुक्का य—पद्मशुक्ला च उत्कृष्टपद्मलेश्या जघन्यशुक्ललेश्या च, सुक्का य—शुक्ला च मध्यमशुक्ला, परमसुक्का—परमशुक्ला सर्वोत्कृष्टशुक्ललेश्या, लेस्साभेदो—लेश्याभेदः, मुणेयव्वो—ज्ञातव्य इति ॥११३७॥

एते सप्त लेश्याभेदाः केषामित्याशंकायामाह—

तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च।
एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥११३८॥

तिण्हं—त्रयाणां त्रिषु वा, दोण्हं—द्वयोः, पुनरपि दोण्हं—द्वयोः, छण्हं—षण्णां, दोण्हं च—द्वयोश्च, तेरसण्हं च—त्रयोदशानां त्रयोदशसु वा, एत्तो य—इतश्चोपरि चोद्दसण्हं—चतुर्दशानां चतुर्दशसु वा लेस्सा—लेश्याः पूर्वोक्ताः सप्त लेश्याभेदाः, भवणादिदेवाणं—भवनादिदेवानाम् । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्केषु त्रिषु देवानां जघन्यतेजोलेश्या, सौधर्मैशानयोर्देवानां मध्यमतेजोलेश्या, सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानामुत्कृष्टतेजोलेश्या जघन्यपद्मलेश्या च, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रेषु षट्सु देवानां मध्यमपद्मलेश्या, शतारसहस्रारयोरुत्कृष्टपद्मलेश्या जघन्यशुक्ललेश्या च, आनतप्राणतारणाच्युतसहितेषु नवसु ग्रैवेयकेषु त्रयोदशसंख्यकेषु मध्यमशुक्ललेश्या, नवानुत्तरेषु पंचानुत्तरेषु चतुर्दशसंख्येषु परमशुक्ललेश्या, [1]सर्वत्र देवानामिति यथासंख्येन संबन्ध इति ॥११३८॥

तिर्यङ्मनुष्याणां लेश्याभेदमाह—

आचारवृत्ति—जघन्य तेजो लेश्या, मध्यम तेजोलेश्या, उत्कृष्ट तेजोलेश्या और जघन्य-पद्मलेश्या, मध्यमपद्मलेश्या, उत्कृष्टपद्मलेश्या और जघन्यशुक्ललेश्या, मध्यमशुक्ललेश्या, और परम शुक्ललेश्या ये लेश्याओं के भेद जानना चाहिए।

सात लेश्याओं के ये भेद किनके हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—भवनवासी आदि तीन प्रकार के देवों में दो स्वर्गों में, दो स्वर्गों में, छह स्वर्गों में, दो स्वर्गों में, तेरहवें में और उसके आगे चौदहवें में ऐसे सात स्थानों में क्रम से लेश्या के सात भेद होते हैं ॥११३८॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में जघन्य तेजो लेश्या है। सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में देवों के मध्यम तेजोलेश्या होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र में देवों के उत्कृष्ट तेजोलेश्या और जघन्य पद्मलेश्या है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र इन छह स्वर्गों में देवों के मध्यमपद्म-लेश्या है। शतार और सहस्रार स्वर्गों में देवों के उत्कृष्ट पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ल लेश्या है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्प और नव ग्रैवेयक इन तेरहों में मध्यम शुक्ल-लेश्या है। नव अनुत्तर अर्थात् अनुदिश और पाँच अनुत्तर इन चौदहों में परमशुक्ल लेश्या है। ये लेश्याएँ सर्वत्र देवों के होती हैं यह यथाक्रम लगा लेना चाहिए।

तिर्यंच और मनुष्यों में लेश्याभेदों को कहते हैं—

---

१. क सर्व।

एइंदियवियलिंदियअसण्णिणो तिण्णि होंति असुहाओ ।
संखादीदाऊणं तिण्णि सुहा छप्पि सेसाणं ॥११३९॥

एइंदिय—एकेन्द्रियाणां पृथिवीकायिकादिवनस्पतिकायिकान्तानां, वियलिंदिय—विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणाम्, असण्णिणो—असंज्ञिनां शिक्षाऽऽलापादिग्रहणायोग्यानां पंचेन्द्रियाणां तिण्णि—तिस्रः, होंति—भवन्ति, असुहाओ—अशुभाः कापोतनीलकृष्णलेश्याः । संखादीदाऊणं—संख्यातीतायुष्काणां भोगभूमिजानां प्रतिभागजानां च, तिण्णि—तिस्रः शुभाः तेजःशुक्लपद्मलेश्याः, छप्पि—षडपि कापोतनील-कृष्णतेजःपद्मशुक्ललेश्याः, सेसाणं—शेषाणां कर्मभूमिजानां कर्मभूमिप्रतिभागजानां पंचेन्द्रियाणां संज्ञिनाम् । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसंज्ञिनां तिस्रोऽशुभलेश्या भवन्ति, भोगभूमिजानां भोगभूमिप्रतिभागजानां च तिर्यङ्मनु-ष्याणां तिस्रः शुभा लेश्या भवन्ति, शेषाणां पुनः कर्मभूमिजानां कर्मभूमिप्रतिभागजानां च तिर्यङ्मनुष्याणां षडपि लेश्या भवन्ति । अत्रापि केषांचिद्द्रव्यलेश्याः स्वायुःप्रमाणावधृता । भावलेश्याः पुनः सर्वेषामन्तर्मुहूर्तपरि-वर्तिन्यः कषायाणां हानिवृद्धिभ्यां तासां हानिवृद्धी वेदितव्ये इति ॥११३९॥

प्रवीचारकारणेन्द्रियविषयभेदं प्रतिपादयन्नाह—

कामा दुवे तऊ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता ।
कामो रसो य फासो सेसा भोगेत्ति आहीया ॥११४०॥

कामा—कामः स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयकृततद्विषयाभिलाषस्तस्य कारणत्वात्कामः कारणे कार्यो-पचारात्, दुवे—द्वौ, तऊ—त्रयः, भोग—भोगाः, इंदियत्था—इन्द्रियाणां इन्द्रियविषयाः स्पर्शरसगन्धरूप-

---

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीवों के तीन अशुभ लेश्याएँ हैं। असंख्यात वर्ष की आयुवालों के तीन शुभ लेश्याएँ हैं और शेष जीवों के छहों लेश्याएँ हैं ॥११३९॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पतिपर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के तथा शिक्षा आलाप आदि, और ग्रहण करने में अयोग्य ऐसे असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्याएँ ही रहती हैं। भोग-भूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज जीव जो असंख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं, में तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभलेश्याएँ ही होती हैं। शेष—कर्मभूमिज और कर्मभूमिप्रतिभागज पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच तथा मनुष्यों में छहों लेश्याएँ होती हैं। यहाँ पर भी किन्हीं जीवों के द्रव्यलेश्या अपने आयुप्रमाण निश्चित है। किन्तु सभी जीवों की भावलेश्या अन्तर्मुहूर्त में परि-वर्तन करनेवाली होती है, क्योंकि कषायों की हानि-वृद्धि से उनकी हानि-वृद्धि जानना चाहिए।

प्रवीचार कारण और इन्द्रिय विषयों का भेद प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रियों के विषय दो इन्द्रिय के कामस्वरूप और तीन के भोगस्वरूप हैं ऐसा विद्वानों ने कहा है। रस और स्पर्श ये दो इन्द्रियाँ काम हैं और शेष इन्द्रियाँ भोग हैं ऐसा कहा गया है ॥११४०॥

आचारवृत्ति—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं तथा इनके उपर्युक्त पाँच विषय हैं। प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञदेव ने इनमें से स्पर्श और रस को काम तथा शेष तीन को भोग शब्द से कहा

ख्याः। अथवेन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि तद्विषयाश्च, विदूहिं—विद्वद्भिः प्रज्ञाश्रमणैः, पण्णत्ता—प्रज्ञप्ताः कथिताः दृष्टा वा। कामो—कामः, रसो य—रसश्च, फासो—स्पर्शश्च, सेसा—शेषाः गन्धरूपशब्दाः भोगेत्ति—भोगा इति, आहिया—आहिताः प्रतिपादिताः ज्ञाता वा। स्पर्शनेन्द्रियप्रवृत्तिकारणत्वात् रूपशब्दौ भोगौ, रसनेन्द्रियस्य प्रवृत्तिहेतोः स्पर्शनेन्द्रियस्य च घ्राणं भोगोऽतः अत एवं कामौ रसस्पर्शौ, गन्धरूपशब्दा भोगाः कथिताः, अत इन्द्रियार्थाः सर्वेऽपि कामा भोगाश्च विद्वद्भिः प्रज्ञप्ता इति ॥११४०॥

इन्द्रियैर्वेदनाप्रतिकारसुखं देवानामाह—

आईसाणा कप्पा देवा खलु होंति कायपडिचारा।
फासप्पडिचारा पुण सणक्कुमारे य माहिंदे ॥११४१॥

आङ् अयमभिविधौ द्रष्टव्यः असंहिततया निर्देशोऽसंदेहार्थः तिर्यङ्मनुष्यभवनवासिव्यन्तरज्योतिःसौधर्माणां ग्रहणं लब्धं भवति, ईसाणा—ईशानात्, कप्पा—कल्पाः, देवा—देवाः, खलु—स्फुटं, होंति—भवन्ति, कायपडिचारा—कायप्रतीचाराः "प्रतीचारो मैथुनोपसेवनं वेदोदयकृतपीडाप्रतीकारः" काये कायेन वा प्रतीचारो येषां ते कायप्रतीचारास्तिर्यङ्मनुष्या भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मैशाना देवा देव्यश्च स्फुटं भवन्ति कायप्रतीचाराः संक्लिष्टकर्मकलङ्कत्वान्मनुष्यवत्स्त्रीसुखमनुभवन्तीति। अवधिग्रहणादितरेषां सुखविभागे प्रतिज्ञाते तत्प्रतिपादनायाह—फासपडिचारा—स्पर्शप्रतीचाराः स्पर्शे स्पर्शनेन वा प्रतीचारो विषयसुखानुभवनं येषां ते स्पर्शप्रतीचाराः, पुण—पुनरन्येन प्रकारेण, सणक्कुमारे य—सनत्कुमारे च कल्पे, माहिंदे—माहेन्द्रे कल्पे देवा इत्यनुवर्तते। सानत्कुमारे कल्पे माहेन्द्रकल्पे च ये देवास्ते स्पर्शप्रतीचाराः—देवाङ्गना-

---

है अथवा वैसा देखा और जाना जाता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से जो विषयों की अभिलाषा होती है उसके लिए कारण होने से स्पर्श और रस इन दो को काम कहा है। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार है। स्पर्शन इन्द्रिय की प्रवृत्ति में कारण होने से रूप और शब्द भोग हैं, रसना इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय की प्रवृत्ति में हेतु होने से घ्राण भोग है। इस प्रकार से रस और स्पर्श काम हैं तथा गन्ध, रूप और शब्द भोग कहे गये हैं। इस प्रकार विद्वानों ने सभी पाँचों इन्द्रियों के विषयों को काम और भोगरूप से कहा है।

देवों के इन्द्रियों द्वारा वेदना के प्रतीकार का सुख है, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—ईशान स्वर्ग पर्यन्त के देव निश्चित ही काय से कामसेवन करते हैं। पुनः सानत्कुमार और माहेन्द्र में स्पर्श से कामसेवन करते हैं ॥११४१॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर 'आङ्' अव्यय अभिविधि अर्थ में ग्रहण करना चाहिए तथा गाथा में संधि न करके जो निर्देश है वह असंदेह के लिए है। इससे तिर्यंच, मनुष्य, भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी तथा सौधर्मस्वर्ग के देव इनका ग्रहण हो जाता है। ये तिर्यंच आदि तथा ईशान स्वर्ग तक के देव काय से मैथुन का सेवन करते हैं अर्थात् वेद के उदय से हुई पीड़ा का प्रतीकार काय से काम-सेवन द्वारा करते हैं, क्योंकि संक्लिष्ट कर्म से कलंकित होने से ये देव भी मनुष्यों के समान स्त्री-सुख का अनुभव करते हैं। यहाँ तक देवों की मर्यादा कर देने से आगे के देवों में किस प्रकार से कामसुख है उसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आगे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों के देव देवांगनाओं के स्पर्शमात्र से कामकृत प्रीतिसुख का

स्पर्शमात्रकामकृतप्रीतिसुखमनुभवन्ते तथा देव्योऽपीति ॥११४१॥

तथा शेषाणां सुखप्रतिपादनार्थमाह—

बंभे कप्पे बंभुत्तरे य तह लंतवे य काविट्ठे ।
एदेसु य जे देवा बोधव्वा रूवपडिचारा ॥११४२॥

बंभे कप्पे—ब्रह्मकल्पे, बंभुत्तरे य—ब्रह्मोत्तरे च कल्पे, तह—तथा, लंतवे य—लान्तवकल्पे, काविट्ठे—कापिष्ठकल्पे, एदेसु य—एतेषु च कल्पेषु चान्येषु तत्प्रतिबद्धेषु, जे देवा—ये देवाः, बोधव्वा—बोद्धव्याः ज्ञातव्याः, रूवपडिचारा—रूपे रूपेण वा प्रतीचारो येषां ते रूपप्रतीचाराः। ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु कल्पेषु ये देवास्ते रूपप्रतीचाराः दिव्यांगनानां शृंगारचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकनमात्रादेव परं सुखं प्राप्नुवन्ति देव्योऽपि चेति ॥११४२॥

शब्दप्रतीचारान् प्रतिपादयन्नाह—

सुक्कमहासुक्केसु य सदारकप्पे तहा सहस्सारे।
कप्पे एदेसु सुरा बोधव्वा सद्दपडिचारा ॥११४३॥

सुक्कमहासुक्केसु य—शुक्रमहाशुक्रयोश्च, सदारकप्पे—शतारकल्पे, तहा—तथा, सहस्सारे—सहस्रारे च, कप्पे—कल्पे, एदेसु—एतेषु, सुरा—सुराः देवाः, बोधव्वा—बोद्धव्याः, सद्दपडिचारा—शब्दप्रतीचाराः, शब्दे शब्देन वा प्रतीचारो येषां ते शब्दप्रतीचाराः। एतेषु शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारकल्पेषु ये देवा देव्योऽपि च ते शब्दप्रतीचाराः, देववनितानां मधुरसंगीतमृदुललितकथितभूषणारवश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमास्कन्दन्तीति ॥११४३॥

मनःप्रतीचारान् प्रतिपादयन्नाह—

अनुभव करते हैं तथा देवियाँ भी देवों के स्पर्श मात्र से कामसुख का अनुभव करती हैं।

तथा शेष देवों के सुख का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ब्रह्म ब्रह्मोत्तर तथा लान्तव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गों में देव देवियों के रूप को देखकर काम-सुख प्राप्त करते हैं ऐसा जानना ॥११४२॥

आचारवृत्ति—ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गों के देव देवांगनाओं के शृंगार-चतुर और मनोज्ञ वेष तथा रूप के अवलोकन मात्र से ही परम सुख को प्राप्त हो जाते हैं। तथा देवियाँ भी अपने देव के रूप अवलोकन से काम का अनुभव कर तृप्त हो जाती हैं।

शब्द से काम सेवन का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पों में देव शब्द सुनकर कामसुख का अनुभव करनेवाले होते हैं ॥११४३॥

आचारवृत्ति—शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पों में जो देव और देवियाँ हैं वे शब्द सुनकर कामसुख का अनुभव करते हैं। अर्थात् वहाँ के देव अपनी देवांगनाओं के मधुर संगीत, मृदु ललित कथाएँ और भूषणों की ध्वनि के सुनने मात्र से ही परमप्रीति को प्राप्त कर लेते हैं।

मन से कामसेवन का प्रतिपादन करते हैं—

आणदपाणदकप्पे आरणकप्पे य अच्चुदे य तहा ।
मणपडिचारा णियमा एदेसु य होंति जे देवा ॥११४४॥

आणदपाणदकप्पे—आनतप्राणतकल्पयोः, आरणकप्पे—आरणकल्पे, अच्चुदे य तहा—अच्युते च तथैव देवलोकेऽपि, मणपडिचारा—मनःप्रतीचाराः, णियमा—नियमान्निश्चयेन एदेसु य—एतेषु च, होंति—भवन्ति, जे देवा—ये देवाः। एतयोरानतप्राणतकल्पयोरारणाच्युतकल्पयोर्देवा मनःप्रतीचारा मानसिककामाभिलाषप्राप्तसुखाः स्वांगनामनःसंकल्पमात्रादेव परमसुखमवाप्नुवन्तीति ॥११४४॥

अथोत्तरेषां किंप्रकारं सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह—

तत्तो परं तु णियमा देवा खलु होंति णिप्पडीचारा ।
सप्पडिचारेहिं वि ते अणंतगुणसोक्खसंजुत्ता ॥११४५॥

तत्तो—ततस्तेभ्यो भवनाद्यच्युतान्तेभ्यः, परं तु—परतः ऊर्ध्वं, णियमा—नियमान्निश्चयादसंदेहात् देवा—अहमिन्द्रादयः, खलु स्फुटं व्यक्तमेतत्प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टमेतत्, होंति—भवन्ति, णिप्पडीचारा—निष्प्रतीचारा प्रतीचारान्निर्गता निष्प्रतीचाराः कामाग्निदाहविनिर्मुक्ताः। वनिताविषयपंचेन्द्रियसुखरहिताः। यद्येवं किं तेषां सुखमित्याशंकायामाह—सप्पडिचारेहिं वि—सप्रतीचारेभ्योऽपि कायस्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारेभ्योऽपि ते नवग्रैवेयकादिकेऽहमिन्द्राः, अणंतगुणसोक्खसंजुत्ता—अनन्तगुणसौख्ययुक्ता, अनन्तो गुणो गुणकारो यस्य तदनन्तगुणं अनन्तगुणं च तत्सौख्यं चानन्तगुणसौख्यं स्वाधीनसर्वप्रदेशानन्दप्रीणनं तेन संयुक्ताः सहितास्तेभ्यो भवनाद्यच्युतान्तेभ्यः परेषु नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरेषु ये देवास्ते निश्चयेनाप्रतीचाराः सप्रतीचारेभ्योऽनन्तगुणसंयुक्ताः, व्यक्तमेतत् प्रतीचारो हि वेदनाप्रतीकारस्तदभावे तेषां परमसुखमनवरतमिति ॥११४५॥

गाथार्थ—आनत-प्राणत, तथा आरण-अच्युत कल्प में जो देव हैं वे नियम से मन से कामसुख का अनुभव करते हैं ॥११४४॥

आचारवृत्ति—आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन कल्पों में देव मानसिक काम की अभिलाषा से प्राप्त सुख का अनुभव करते हैं। अर्थात् यहाँ के देव अपनी देवांगनाओं के मन में संकल्प आने मात्र से ही परम सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

अब आगे के देवों में किसप्रकार का सुख है ऐसा पूछने पर उसका निश्चय करने के के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—उससे परे देव नियम से कामसेवन से रहित होते हैं। वे कामसेवन सुखवालों से भी अधिक अनन्तगुण सुख से संयुक्त होते हैं ॥११४५॥

आचारवृत्ति—भवनवासी से लेकर अच्युतपर्यन्त सोलहवें स्वर्ग के देवों के कामसुख को कहा है। इसके आगे नव ग्रैवेयक तथा नव अनुदिश तथा पाँच अनुत्तरों में जो देव हैं वे निश्चय से कामसेवन के सुख से रहित हैं। अर्थात् वे अहमिन्द्र कामाग्नि की दाह से विनिर्मुक्त हैं। फिर भी वे अनन्तगुणों से और अपने अधीन सभी आत्मप्रदेशों में उत्पन्न हुए आनन्द से संतृप्त रहते हैं, क्योंकि यह बात स्पष्ट ही है कि कामसेवन एक वेदना का प्रतीकार है, उसके अभाव में उन्हें सदा ही परमसुख रहता है। अर्थात् वहाँ देवांगनाएँ भी नहीं हैं और कामसुख की अभिलाषा भी नहीं है अतः वे स्वाधीन सुख से सुखी हैं।

कुतोऽयतः—

जं च कामसुहं लोए जं च दिव्वमहासुहं।
वीदरागसुहस्सेदे णंतभागंपि णग्घंदि ॥११४६॥

जं च—यच्च, कामसुहं—कामसुखं विषयोत्थजीवप्रदेशाह्लादकारणं मनुष्यादिभवं, लोए—लोके तिर्यगूर्ध्वाधोलोकेषु, जं च दिव्वमहासुहं—दिवि भवं दिव्यं दिव्यं च तन्महासुखं च दिव्यमहासुखं भवनवास्यच्युतान्तदेवोत्थं, वीदरागसुहस्स—वीतरागसुखस्य निर्मूलितमोहनीयादिकर्मकलंकस्य, एदे—एतानि तिर्यङ्मनुष्यदेवजनितानि सुखानि, णंतभागंपि—अनन्तभागस्यापि वीतरागसुखस्यानन्तराशिना भागे कृते यल्लब्धं तस्यानन्तभागस्यापि, णग्घंति—नार्घन्ति नार्हन्ति सदृशानि न तानि तस्य मूल्यं वा नार्हन्ति। यतः सर्वाणि देवमनुष्यभोगभूमिजादिसर्वसुखानि वीतरागसुखस्यानन्तभागमपि नार्हन्ति, अतो निष्प्रतीचारेषु देवेषु महत्सुखं सर्वान् सप्रतीचारानपेक्ष्येति ॥११४६॥

स्पर्शरसौ कामाविति व्याख्यातौ तत्र स्पर्शः कामो देवानामवगतो रसः कामो नाद्यापीत्युक्ते तदर्थमाह—

जदि सागरोवमाऊ तदि वाससहस्सियादु आहारो।
पक्खेहिं दु उस्सासो सागरसमयेहिं चेव भवे ॥११४७॥

जदि—यावत् यन्मात्रं, सागरोवमाऊ—सागरोपमायुः यावन्मात्रैः सागरोपमायुः, तदि—तावन्मात्रैः

ऐसा क्यों? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—लोक में जो काम-सुख हैं और जो दिव्य महासुख हैं वे वीतराग सुख के अनन्तवें भाग भी नहीं हो सकते ॥११४६॥

आचारवृत्ति—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्रूप लोक में जो मनुष्य आदि में उत्पन्न होनेवाला काम-सुख है, जीव के प्रदेशों में जो विषयों से उत्पन्न हुए आह्लाद का कारणभूत है एवं जो भवनवासी से लेकर अच्युत पर्यन्त देवों के होनेवाला दिव्य महासुख है वह, जिन्होंने मोहनीय कर्म कलंक का निर्मूल नाश कर दिया है ऐसे वीतरागी महापुरुषों के सुख की अपेक्षा (इन तिर्यंच, मनुष्य और देवों में उत्पन्न होनेवाला सुख) अनन्तवाँ भाग भी नहीं है। अर्थात् वीतराग के सुख में अनन्तराशि से भाग देने पर जो लब्ध हो वह अनन्तवाँ भाग हुआ। इन जीवों का सुख उतने मात्र के सदृश भी नहीं है अथवा उसके मूल्य को प्राप्त करने में ये सुख समर्थ नहीं हैं। चूंकि सभी देव, मनुष्य और भोगभूमिज आदि के सर्वसुख के अनन्तवें भाग भी नहीं हो सकते हैं, इस कारण कामसेवन रहित इन देवों में कामसेवन सहित सभी जीवों की अपेक्षा महान् सुख है।

स्पर्श और रस ये काम हैं ऐसा कहा है और उनमें से स्पर्श काम का देवों में बोध हो गया है। रस काम है इसका अभी तक बोध नहीं हुआ ऐसा पूछने पर उसी को कहते हैं—

गाथार्थ—जितने सागर की आयु है उतने हजार वर्षों में आहार होता है और जितने सागर आयु है उतने ही पक्षों में उच्छ्वास होता है ॥११४७॥

आचारवृत्ति—जिन देवों की जितने सागर प्रमाण आयु है उतने हजार वर्षों के बीत

वाससहस्सेहिं दु—वर्षसहस्रैरतिक्रान्तैराहारो भोजनेच्छा आहाराभिलाषः यावन्मात्राणि सागरोपमाण्यायुस्तावन्मात्रैर्वर्षसहस्रैरतिक्रान्तैराहारो देवानां भवति । अथ उच्छ्वासस्य कथमित्युक्तेऽत आह, पक्खेहिं दु—पक्षैस्तु पंचदशाहोरात्रैः, उस्सासो—उच्छ्वासो निःश्वाससहितं उच्छ्वासग्रहणं, सागरसमयेहिं—[1]सागरसमयसमानैः सागरोपमप्रमाणैः, चेव—चैव, हवे—भवेत् । यावन्मात्राणि सागरोपमाणि जीवन्ति देवास्तावन्मात्रैः पक्षैर्गतैरुच्छ्वासनिःश्वासौ भवतः । सौधर्मैशानयोर्देवानामाहारसंज्ञा भवति द्वयोर्वर्षसहस्रयोः साधिकयोर्गतयोस्तथा मासे साधिके गते उच्छ्वासो भवेत्, सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां सप्तभिर्वर्षसहस्रैः साधिकैर्गतैराहारेच्छा जायते तावद्भिः पक्षैरुच्छ्वासः साधिकैः । चशब्दाद्देवीनामन्तर्मुहूर्तपृथक्त्वेनैवमुत्तरत्रापि सर्वत्र योज्यमिति । ॥११४७॥

अथ येषां पल्योपमायुस्तेषां[2]मित्याशंकायामाह—

उक्कस्सेणाहारो वाससहस्साहिएण भवणाणं ।
जोदिसियाणं पुण भिण्णमुहुत्तेणेदि सेस उक्कस्सं ॥११४८॥

उक्कस्सेण—उत्कृष्टेनाहारो भोजनाभिप्रायः, वाससहस्स—वर्षसहस्रेण, अहिएण—अधिकेन पंचदशवर्षशतैरित्यर्थः, भवणाणं—भवनानां भवनवास्यसुराणां, जोदिसियाणं—ज्योतिष्काणां चन्द्रादित्यादीनां, पुण—पुनः, भिण्णमुहुत्तेण—भिन्नमुहूर्तेन, इदि—इति एवं, सेस—शेषाणां नवानां भवनवासिकुमाराणां सर्वदेवीनां च, किन्तु केषांचिन्मुहूर्तपृथक्त्वेन उक्कस्सं—उत्कृष्टम् । असुराणां वर्षसहस्रेण [3]साधिकेनाहारग्रहणं भवति, ज्योतिषां शेषकुमाराणां व्यंतराणां सर्वदेवीनां चान्तर्मुहूर्तेन, केषांचिदन्तर्मुहूर्तपृथक्त्वेनेति[4] ॥११४८॥

जाने पर उनके मानसिक आहार होता है । इन देवों के उच्छ्वास का क्या है ? जितने सागर प्रमाण आयु है उतने पक्षों के व्यतीत हो जाने पर उच्छ्वास-निश्वास लेते हैं । सौधर्म और ऐशान में देवों के आहारसंज्ञा कुछ अधिक दो हजार वर्ष के बीतने पर होती है तथा कुछ अधिक एक महीने के बीत जाने पर उच्छ्वास होता है । सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में देवों को कुछ अधिक सात हजार वर्षों के बीत जाने पर आहार की इच्छा होती है। एवं कुछ अधिक उतने ही पक्षों के बीतने पर उच्छ्वास होता है । 'च' शब्द से—देवियों का अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व से श्वासोच्छ्वास होता है ।

जिनकी पल्योपम की आयु है उनका कैसा है ? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—भवनवासी देवों का उत्कृष्ट से कुछ अधिक हजार वर्ष में आहार होता है, ज्योतिषी देवों का अन्तर्मुहूर्त से होता है तथा शेष देवों का भी उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त बाद आहार होता है ॥११४८॥

आचारवृत्ति—भवनवासी देवों में से असुरकुमार जाति के देवों का आहार उत्कृष्ट की अपेक्षा पन्द्रह सौ वर्षों के बीतने पर होता है । चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिषी देवों का आहार अन्तर्मुहूर्त से होता है । शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव तथा व्यन्तर देवों का एवं सर्वदेवियों का आहार अन्तर्मुहूर्त से होता है । किन्हीं-किन्हीं का अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व के बीतने पर आहार होता है ।

---

१. क सागरोपमप्रमाणैः । २. क तेषां कथमित्या- ।
३. क सागरोपमं साधिकमपि च । ४. क मिनपृथक्त्वेनेति ।

कथोच्छ्वासः कथं तेषामित्याशंकायामाह—

उक्कस्सेणुस्सासो पक्खेणहिएण होइ भवणाणं ।
मुहुत्तपुधत्तेण तहा जोइसणागाण भोमाणं ॥११४९॥

उक्कस्सेण—उत्कृष्टेन, उस्सासो—उच्छ्वासः, पक्खेण—पक्षेण, पंचदशाहोरात्रेण, अहिएण—अधिकेन, होइ—भवति, भवणाणं—भवनानामसुराणां, मुहुत्तपुधत्तेण—मुहूर्तपृथक्त्वेन, यद्यपि मुहूर्तपृथक्त्वमुक्तं तथाप्यत्रान्तर्मुहूर्तपृथक्त्वं ग्राह्यं तथोपदेशात् त्रैराशिकन्यायाद्भिन्नमुहूर्तानुवर्तनाच्च, तहा—तथा तेनैव प्रकारेण, जोइसणागाण भोमाणं—ज्योतिष्कनागभौमानां । तथाशब्देन शेषकुमाराणां चासुराणां पक्षेण साधिकेनोच्छ्वासो नागानां कल्पवासिदेवीनां च, अन्तर्मुहूर्तपृथक्त्वेन भिन्नमुहूर्तपृथक्त्वैर्वा ज्योतिष्कभौमानां शेषकुमाराणां सदेवीनां भिन्नमुहूर्तेनेति ॥११४९॥

इन्द्रियविषयद्वारेणैव देवनारकाणामवधिविषयं प्रतिपादयन्नाह—

सक्कीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा ।
बंभालंतव तदियं सुक्कसहस्सारया चउत्थी दु ॥११५०॥
पंचमि आणदपाणद छट्ठी आरणच्चुदा य पस्संति ।
णवगेवज्जा सत्तमि अणुदिस अणुत्तरा य लोयंतं ॥११५१॥

पश्यन्तीति क्रियापदमुत्तरगाथायां तिष्ठति तेन सह संबन्धो द्रष्टव्यः । सक्कीसाणा—शक्रैशानाः सौधर्मैशानयोर्वा ये देवाः पढमं—प्रथमं प्रथमपृथिवीपर्यन्तं यावत् बिदियं तु—द्वितीयं तु द्वितीयपृथिवीपर्यन्तं,

---

अब इनका उच्छ्वास कैसे होता है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—भवनवासियों का उत्कृष्ट से कुछ अधिक एक पक्ष में उच्छ्वास होता है तथा ज्योतिषी, नागकुमार और व्यन्तर देवों का मुहूर्त पृथक्त्व से उच्छ्वास होता है ॥११४९॥

आचारवृत्ति—भवनवासियों में से असुरकुमारों का कुछ अधिक पन्द्रह दिन के बीतने पर उच्छ्वास होता है। ज्योतिषी देव, नागकुमार देव एवं कल्पवासी देवियाँ—इनका उच्छ्वास अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व के बीतने पर होता है। यद्यपि गाथा में 'मुहूर्त पृथक्त्व' शब्द है तो भी अन्तर्मुहूर्त पृथक्त्व ग्रहण करना, क्योंकि वैसा ही आगम में उपदेश है और त्रैराशिक न्याय से भी ऐसा ही आता है। तथा भिन्नमुहूर्त की अनिवृत्ति चली आ रही है।

इन्द्रिय विषय के द्वारा देव और नारकियों की अवधि को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देव पहली पृथिवी तक, सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के दूसरी तक, ब्रह्म-युगल और लान्तव-युगल स्वर्ग के देव तीसरी तक, शुक्र-युगल और शतार-सहस्रार स्वर्ग के देव चौथी पृथिवी तक अवधिज्ञान से देखते हैं ॥११५०-११५१॥

आनत-प्राणत के देव पाँचवीं तक, आरण-अच्युत के छठी तक, नव ग्रैवेयक के इन्द्र सातवीं पृथिवी तक, अनुदिश और अनुत्तर के इन्द्र लोकान्त तक देख लेते हैं।

आचारवृत्ति—यहाँ क्रियापद अगली गाथा में है उसके साथ सबका सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देव पहली पृथिवी-पर्यन्त अपने अवधिज्ञान से देखते हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के देव दूसरी पृथिवी तक, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर और लान्तव-कापिष्ठ स्वर्गों

सणक्कुमारमाहिंदा—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ये देवाः, बंभलंतव—ब्रह्मलान्तवा ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु ये ये देवास्ते, तदियं—तृतीयां तृतीयपृथिवीपर्यन्तं, सुक्कसहस्सारगा—शुक्रसहस्रारकाः शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु कल्पेषु ये देवास्ते चउत्थी दु—चतुर्थपृथिवीपर्यन्तमेव। सौधर्मैशानयोर्देवाः ¹स्वावासमादिं कृत्वा प्रथमपृथिवीपर्यन्तं यावदवधिज्ञानेन पश्यन्ति, तथा सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाः स्वावासमारभ्य यावद्द्वितीयावसानं तावत्पश्यन्ति, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवाः स्वविमानमादिं कृत्वा तावत्पश्यन्ति यावत्तृतीयपृथिवीपर्यन्तं, शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु सुराः ²स्वदेशमारभ्य तावत्पश्यन्ति यावच्चतुर्थीसमाप्तिरिति ॥११५०॥

पंचमि—पंचमीं पृथिवीं, आणदपाणद—आनतप्राणतान्ताः आनतप्राणतकल्पयोर्देवाः छट्ठी—षष्ठीं पृथिवीम्, आरणाच्चुदा य—आरणाच्युतान्ताः आरणाच्युतयोः कल्पयोर्ये देवास्ते पस्संति—पश्यन्ति अवधिज्ञानेन सम्यगवलोकयन्ति, णवगेवज्जा—नव ग्रैवेयका नवग्रैवेयकविमानेषु देवाः सत्तमि—सप्तमीं पृथिवीं, अणुदिस—अनुदिशेषु नवानुत्तरेषु देवाः अणुत्तरा य—अनुत्तराश्च पंचानुत्तरेषु देवा लोयंतं—लोकान्तं अलोकात्पर्यन्तम्। आनतप्राणतकल्पयोर्देवाः स्वविष्टरमारभ्य यावत्पंचमपृथिवीपर्यन्तं तावत्पश्यन्ति, आरणाच्युतकल्पयोः पुनर्देवाः स्वावस्थानमारभ्य यावत्षष्ठपृथिवीपर्यन्तं तावत्पश्यन्ति नवग्रैवेयकेषु देवाः स्वविमानमारभ्य यावत्सप्तमी तावत्पश्यन्ति। नवानुदिशेषु पंचानुत्तरेषु च देवाः स्वदेवगृहमारभ्य यावल्लोकान्तं पश्यन्ति, ऊर्ध्वं पुनः सर्वे स्वविमानध्वजाग्रं यावत्पश्यन्त्यसंख्यातयोजनानि तिर्यक् पुनरसंख्यातानि योजनानि पश्यन्तीत्यर्थः ॥११५१॥

के देव तीसरी पृथिवी तक, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार स्वर्गों के देव चौथी पृथिवी तक देखते हैं। अर्थात् ये देव अपने आवासस्थान से लेकर कथित नरक पृथिवी तक वस्तुओं को अपने अवधिज्ञान द्वारा देख लेते हैं।

आनत-प्राणत स्वर्ग के देव अपने सिंहासन से आरम्भ कर पाँचवीं तक विषय को अपने अवधिज्ञान से अच्छी तरह अवलोकित कर लेते हैं। आरण-अच्युत कल्प के देव अपने अवस्थान से लेकर छठी पृथिवी तक देख लेते हैं। नवग्रैवेयकों के देव अपने विमान से लेकर सातवीं भूमि तक देख लेते हैं। नव अनुदिश और पाँच अनुत्तरों के अहमिन्द्र देव अपने देवगृह से प्रारम्भ कर लोक के अन्त भाग तक देख लेते हैं। पुनः ये सभी देव अपने विमान की ध्वजा के अग्रभाग तक अथवा असंख्यात योजनों तक तथा तिर्यक् में असंख्यात योजन तक देख लेते हैं।*

---

१. क स्वस्थानमादि। २. क स्वप्रदेशमारभ्य।

* मोत्तूण मणोहारं आहारो होइ सव्वजीवाणं।
अणुसमयं अणुसमयं पोग्गलमइओ य णायव्वो॥
अमयं दिव्वाहारो मणुवीचविसं च कल्लणाहारो।
देवाण भोगभूमाणं चक्कहरीण मणुवाणं॥

अर्थ—मानसिक आहार छोड़कर बाकी सभी जीवों के प्रतिसमय पुद्गलमय आहार होता है, अर्थात् देवों का मानसिक आहार प्रतिसमय न होकर उपर्युक्त काल में होता है। देवों का अमृतमय आहार है, अर्थात् उन्हें आहारेच्छा होने पर कंठ में अमृतमय सातिशय सुरभिमय आह्लादक पुद्गलों का आगमन होता है उससे उन्हें बहुतकाल के लिए तृप्ति हो जाती है। भोगभूमिज मनुष्यों को कल्पवृक्षों से दिव्याहार मिलता है। चक्रवर्ती और तीर्थंकरों को मिष्टरस युक्त कल्याणकर आहार प्राप्त होता है। अवशिष्ट मनुष्य आदिकों को नीरस आहार प्राप्त होता है।

व्यन्तरादीनामवधिविषयमाह—

पणवीस जोयणाणं ओही वितरकुमारवग्गाणं ।
संखेज्जजोयणोही जोदिसियाणं जहण्णं तु ॥११५२॥*

पणवीस—पंचविंशतिः, जोयणाणं—योजनानां, ओही—अवधिज्ञानं भवप्रत्ययं, वितर—व्यन्तराणां किंनराद्यष्टप्रकाराणां, कुमारवग्गाणं—कुमारवर्गाणां नागकुमारादिनवानां संखेज्जजोयण—संख्यातयोजनानि सप्ताष्टादीनि ओही—अवधिः, जोदिसियाणं—ज्योतिषां चतुःप्रकाराणां, जहण्णं तु—जघन्य एव। व्यंतराणां नागादिनवकुमाराणां च पंचविंशतियोजनान्यवधिर्जघन्यो भवति, ज्योतिष्काणां पुनर्जघन्यतोऽवधिः संख्यातयोजनानि, [1]एतावन्मात्रं वस्तु परिच्छिनत्तीति ॥११५२॥

असुरचन्द्रादित्यादीनां जघन्यं सर्वेषामुत्कृष्टं चावधिं प्रतिपादयन्नाह—

असुराणमसंखेज्जा कोडी जोइसिय सेसाणं ।
संखादीदा य खलु उक्कस्सोहीयविसओ दु ॥११५३॥

असुराणं—असुराणां प्रथमभवनवासिनां, असंखेज्जा—असंख्याताः, कोडी—कोट्यो योजनाना-मिति संबन्धः, जघन्योऽवधिरसुराणां चन्द्रादीनां चासंख्याता योजनकोटयः, इत उत्कृष्टं ज्योतिष्कादीनामाह, जोइसिय—ज्योतिष्काणां चन्द्रादीनां, सेसाणं—शेषाणां भवनवासिव्यन्तराणां निकृष्टकल्पवासिनां च, संखादीदा य—संख्यातीताश्च संख्यामतिक्रान्ताः असंख्याता योजनकोटिकोटयः खलु स्फुटं, उक्कस्सोही—उत्कृष्टा-

---

व्यन्तर आदि के अवधि का विषय कहते हैं—

गाथार्थ—व्यन्तर और नागादि कुमारों के अवधि पचीस योजन तक है। ज्योतिषी देवों के जघन्य अवधि संख्यात योजन तक है ॥११५२॥

आचारवृत्ति—किन्नर आदि आठ प्रकार के व्यन्तरों और नागकुमार आदि नव प्रकार के भवनवासी देवों के अवधिज्ञान का विषय कम-से-कम पचीस योजन तक है। ज्योतिषी देवों के जघन्य अवधि संख्यात योजन अर्थात् सात-आठ योजन पर्यन्त ही है। अर्थात् इतने मात्र स्थान की वस्तु को ही वे देखते हैं।

असुर, चन्द्र, सूर्य आदि की जघन्य और सभी के उत्कृष्ट अवधि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—असुर देवों के और शेष ज्योतिषी देवों के जघन्य अवधि असंख्यात कोटि योजन है तथा उत्कृष्ट अवधि का विषय संख्यातीत कोटि योजन है ॥११५३॥

आचारवृत्ति—भवनवासी के प्रथम भेदरूप असुरों की तथा चन्द्र, सूर्य, आदि के जघन्य अवधि असंख्यात करोड़ योजन है। इसके आगे ज्योतिष्क आदिकों के उत्कृष्ट अवधि कहते हैं—चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के तथा शेष भवनवासी, व्यन्तर और निकृष्ट कल्पवासी देवों के उत्कृष्ट अवधि का विषय असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। तात्पर्य यह है कि भवन-

---

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में दो गाथाओं के पहले है।

1. क एतावन्मात्रे व्यवस्थितं वस्तु-

वधिः विसओ—विषयः। भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काणामुत्कृष्टावधिविषयोऽसंख्याता योजनानां कोटि-कोटयः निकृष्टकल्पवासिनां च मिथ्यादृष्टीनां पुनर्विभंगज्ञानं संख्यातयोजनविषयमसंख्यातयोजनविषयं चेति ॥११५३॥

नारकाणामवधिविषयं निरूपयन्नाह—

रयणप्पहाए जोयणमेयं ओहीविसओ मुणेयव्वो।
पुढवीदो पुढवीदो गाऊ अद्धद्ध परिहाणी ॥११५४॥

रयणप्पहाए—रत्नप्रभायां प्रथमपृथिव्यां, जोयणमेयं—योजनमेकं चत्वारि गव्यूतानि, ओहीविसओ—अवधिविषय अवधिज्ञानस्य गोचरो, मुणेयव्वो—ज्ञातव्यः। प्रथमपृथिव्यां नारकाणामवधिविषयो योजनप्रमाणं स्वस्थानमवधिं कृत्वा यावद्योजनमात्रं पश्यन्ति, मिथ्यादृष्टीनां विभंगज्ञानं स्तोकमात्रं ततोऽल्पः, पुढवीदो पुढवीदो—पृथिवीतः पृथिवीतः पृथिवीं प्रति पृथिवीं प्रति, गाऊ—गव्यूतस्य, अद्धद्ध—अर्धस्यार्धस्य परिहाणी—परिहानिः गव्यूतार्धस्य परिक्षयः। द्वितीयायां पृथिव्यां त्रीणि गव्यूतानि गव्यूतार्धं च, सर्वत्र नारकाणामवधेर्विषयः संबन्धनीयः; तृतीयायां पृथिव्यां त्रीणि गव्यूतानि, चतुर्थ्यां द्वे गव्यूते सार्धे, पंचम्यां द्वे गव्यूते षष्ठ्यां गव्यूतमेकं सार्धं, सप्तम्यामेकं गव्यूतं सम्यग्दृष्टीनामेतत् मिथ्यादृष्टीनां पुनर्विभंगज्ञानमस्मान्न्यूनमिति। ॥११५४॥

नारकाणां तावदुपपादं प्रतिपादयन्नाह—

पढमं पुढविमसण्णी पढमं बिदियं च सरिसवा जंति।
पक्खी जावदु तदियं जाव चउत्थी दु उरसप्पा ॥११५५॥

वासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के उत्कृष्ट अवधि का विषय असंख्यात कोटिकोटि योजन है और निकृष्ट कल्पवासी देव तथा मिथ्यादृष्टि देवों के विभंगावधि का विषय संख्यात योजन व असंख्यात योजन प्रमाण है।

नारकियों के अवधि का विषय कहते हैं—

गाथार्थ—रत्नप्रभा नरक में एक योजन तक अवधि का विषय जानना चाहिए। पुनः पृथिवी-पृथिवी से आधा-आधा कोश घटाना चाहिए ॥११५४॥

आचारवृत्ति—रत्नप्रभा नरक में अवधिज्ञान का विषय चार कोश प्रमाण है। दूसरी पृथ्वी में आधा कोश घटाने से साढ़े तीन कोश तक है, तीसरी पृथ्वी में तीन कोश तक है, चौथी में ढाई कोश तक, पाँचवीं में दो कोश तक, छठी में डेढ़ कोश तक और सातवीं पृथ्वी में एक कोश प्रमाण है। यह सम्यग्दृष्टि देवों के अवधि का विषय है किन्तु मिथ्यादृष्टि देवों के विभंगावधि का विषय इससे कम-कम है।

कौन-कौन जीव किस नरक तक जाते हैं—

गाथार्थ—असंज्ञी जीव पहली पृथ्वी तक, सरीसृप पहली और दूसरी पृथ्वी तक, पक्षी तीसरी पर्यन्त एवं उरःसर्प (सरक कर चलने वाले) चौथी पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं। सिंह पाँचवीं पृथ्वी

आ पंचमित्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवित्ति।
गच्छंति माघवीत्ति य मच्छा मणुया य ये पावा ॥११५६॥*

यान्तीति क्रियापदं तेन सह संबन्धः, प्रथमां पृथिवीमसंज्ञिनोऽमनस्का यान्ति, प्रथमां द्वितीयां च पृथिवीं सरीसृपा गोधाकृकलासादयो यान्ति, पक्षिणो भेरुण्डादयः प्रथमामारभ्य यावत्तृतीयां पृथिवीं यान्ति, प्रथमामारभ्य यावच्चतुर्थी पृथिवीमुरःसर्पा अजगरादयो यान्ति। अत्र पापं कृत्वा तत्र च गत्वा दुःखमनुभवन्तीति ॥११५५॥

आङभिविधौ द्रष्टव्यः आ पंचम्या इति। प्रथमामारभ्य यावत्पंचमीं पृथिवीं सिंहव्याघ्रादयो गच्छन्ति, स्त्रियः पुनर्महापापपरिणताः प्रथमामारभ्य षष्ठी¹पृथिव्यन्तं यान्ति, मत्स्याः मनुष्याश्च ये पापा महाहिंसादिपरिणताः माघवीं सप्तमीं पृथिवीं प्रथमामारभ्य गच्छन्ति। अयं पापशब्दः सर्वेषामभिसंबध्यते। यदि रौद्रध्यानेन हिंसादिक्रियायां परिणताः स्युस्तदा ते पापानुरूपं नरकं गत्वा दुःखमनुभवन्तीति ॥११५६॥

नारकाणामुपपादं प्रतिपाद्य तेषामुद्वर्तनं प्रतिपादयन्नाह—

उव्वट्टिदाय संता णेरइया तमतमादु पुढवीदो।
ण लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणीमुवणयंति ॥११५७॥

तक, स्त्रियाँ छठी पृथ्वी तक जाते हैं तथा जो पापी मत्स्य और मनुष्य हैं वे सातवीं पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं ॥११५५-११५६॥

आचारवृत्ति—'यान्ति' क्रिया पद का सबके साथ सम्बन्ध करना। मन रहित पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव पहली पृथ्वी तक जा सकते हैं। कृकलास आदि—गोह, करकेंटा आदि जीव पहली और दूसरी पृथ्वी तक जाते हैं। भेरुण्ड आदि पक्षी पहली से लेकर तीसरी पृथ्वी तक जाते हैं। अजगर आदि साँप चौथी पृथ्वी तक जाते हैं अर्थात् यहाँ पाप करके वहाँ जाकर दुःख का अनुभव करते हैं।

'आङ्' अभिविधि अर्थ में हैं। अतः सिंह, व्याघ्र आदि पहली पृथ्वी से लेकर पाँचवीं पृथ्वी तक जाते हैं। महापाप से परिणत हुई स्त्रियाँ पहली पृथ्वी से लेकर छठी पृथ्वी तक जाती हैं। महाहिंसा आदि पाप से परिणत हुए मत्स्य और मनुष्य पहली पृथ्वी से लेकर माघवी नाम की सातवीं पृथ्वी पर्यन्त जाते हैं। यह पाप शब्द सभी के साथ लगा लेना चाहिए। यदि ये जीव रौद्रध्यान से हिंसादि क्रिया में परिणत होते हैं तो वे अपने पाप के अनुरूप नरक में जाकर दुःख का अनुभव करते हैं।

नारकियों का उपपाद बतलाकर अब उनके निकलने का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—तमस्तम नामक सातवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मनुष्यपर्याय प्राप्त नहीं कर सकते हैं, वे तिर्यंच योनि को प्राप्त करते हैं ॥११५७॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यहाँ पर इन्द्रियों के विषयों की छह गाथाएँ हैं जो कि इसमें पहले गाथा १०१९ से आ चुकी हैं।

१. क षष्ठीपृथिवीं यावत्।

तमस्तमःपृथिव्या नारका उद्वर्तिताः सन्तः सप्तमनरकादागताः इतो मानुषत्वं मनुष्यजन्म न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति यस्मात् संक्लेशकारणं मत्वा तिर्यग्योनिषूत्पद्यन्ते सिंहव्याघ्रादिकं पुनः पापकारणं प्राप्नुवन्ति ॥११५७॥

अथ केषु तिर्यक्षूत्पद्यन्ते उत्पन्नाश्च क्व गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

वालेसु य दाढीसु य पक्खीसु य जलचरेसु उववण्णा ।
संखेज्जआउठिदिया पुणोवि णिरयावहा होंति ॥११५८॥

वालेसु—व्यालेषु श्वापदभुजगेषु चशब्दात्तत्सदृशेषु, दाढीसु च—दंष्ट्रिषु च सिंहव्याघ्रवराहादिषु, पक्खीसु च—पक्षिषु च गृध्रभेरुण्डादिषु च, जलचरेसु—जलचरेषु तिमितिमिंगलादिमत्स्यमकरादिषु उववण्णा—उत्पन्नाः, संखेज्जआउठिदिया—संख्यातायुःस्थितिकास्ते संख्यातायुःस्थितिकाः कर्मभूमिजकर्मभूमिप्रतिभागजाः सन्तः, पुणोवि—पुनरपि पापवशात् णिरयावहा—नरकावहा नारका, होंति—भवन्ति, नारककर्मसमार्जका भवन्ति। सप्तमपृथिव्या आगत्य व्यालदंष्ट्रिपक्षिजलचरेषूत्पद्य पुनरपि नरकं गच्छन्तीति ॥११५८॥

अथ षष्ठ्या आगताः क्वोत्पद्यन्ते किं लभन्ते किं च न लभन्ते इत्याशंकायामाह—

छट्ठीदो पुढवीदो उव्वट्टिदा[1] अणंतरभवम्हि ।
भज्जा माणुसलंभे संजमलंभेण दु विहीणा ॥११५९॥

आचारवृत्ति—नारकी जीव तमस्तम नामक सातवें नरक से निकलकर मनुष्य पर्याय को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, क्योंकि उनके परिणाम अत्यधिक संक्लेश के कारणभूत होते हैं, इसलिए वे पुनरपि पाप के लिए कारणभूत सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच योनि को ही प्राप्त करते हैं।

व किन तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ उत्पन्न हुए पुनः कहाँ जाते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे नारकी सर्प, दाढ़वाले पशु, पक्षी और जलचरों में उत्पन्न होकर संख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं, पुनः मरकर नारक अवस्था को प्राप्त होते हैं ॥११५८॥

आचारवृत्ति—व्याल अर्थात् श्वापद सर्प आदि में, 'च' शब्द से, उसके समान प्राणियों में दाढ़वाले—सिंह, व्याघ्र, शूकर आदि में, गीध, भेरुण्ड आदि पक्षियों में और जलचर—मछली, तिमिंगल आदि मत्स्य, मगर आदि पर्यायों में उत्पन्न होकर संख्यात वर्ष की आयुवाले अर्थात् कर्मभूमिज और कर्मभूमिप्रतिभागज तिर्यंच ही होते हैं। पुनरपि वहाँ पर पाप करके उस पाप के वश मरकर नारकी ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि सातवीं पृथिवी से निकलकर दाढ़वाले व्याल आदि हिंस्र जन्तु, पक्षी और जलचरों में जन्म लेकर पुनरपि नरक में जाते हैं।

छठे नरक से निकलकर कहाँ उत्पन्न होते हैं और क्या प्राप्त करते हैं, क्या नहीं प्राप्त करते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—उनका छठी पृथिवी से निकलकर अगले भव में मनुष्यपर्याय-लाभ वैकल्पिक है किन्तु वे संयमप्राप्ति से हीन ही होते हैं ॥११५९॥

---

१. क उव्वट्टिदा।

षष्ठ्याः पृथिव्या षष्ठनरकादुद्वर्तिता आगताः सन्तोऽनन्तरभवे तस्मिन् भवे भाज्या विकल्पयुक्ताः मनुष्यलाभेन सम्यक्त्वलाभेन च, संयमलाभेन तु विहीनाः। षष्ठनरकादागतानां तस्मिन् भवे कदाचिन्मनुष्यलाभः सम्यक्त्वलाभश्च भवति नापि भवति, संयमलाभस्तु निश्चयेन न भवतीति ॥११५९॥

पंचमपृथिव्या आगता यल्लभन्ते यच्च न लभन्ते तदाह—

होज्जदु संजमलाभो[1] पंचमखिदिणिग्गदस्स जीवस्स ।
णत्थि पुण अंतकिरिया णियमा भवसंकिलेसेण ॥११६०॥

पंचमपृथिव्या निर्गतस्य जीवस्य भवत्येव संयमलाभः, अन्तक्रिया मोक्षगमनं पुनर्नियमान्नास्ति भवसंक्लेशदोषेणेति। यद्यपि पंचमनरकादागतस्य संयमलाभो भवति तथापि मोक्षगमनं नास्ति भवसंक्लेशदोषेणेति ॥११६०॥

चतुर्थ्या आगतस्य यद्भवति तदाह—

होज्जदु णिव्वुदिगमणं चउत्थिखिदिणिग्गदस्स जीवस्स ।
णियमा तित्थयरत्तं णत्थित्ति जिणेहिं पण्णत्तं ॥११६१॥

चतुर्थीक्षितेरागतस्य जीवस्य भवत्येव निर्वृतिगमनं, तीर्थकरत्वं पुनर्निश्चयेन नास्ति जिनैः प्रज्ञप्तमेतत्। चतुर्थनरकादागतस्य यद्यपि निर्वृतिगमनं भवति जीवस्य तथापि तीर्थकरत्वं नास्ति, नात्र सन्देहो जिनैः प्रतिपादितत्वादिति ॥११६१॥

तत ऊर्ध्वमाह—

आचारवृत्ति—छठे नरक से निकले हुए नारकी अनन्तर भव में ही मनुष्य पर्याय लाभ और सम्यक्त्व की प्राप्ति कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं। किन्तु संयम की प्राप्ति उन्हें निश्चय से नहीं होती है।

पाँचवीं पृथ्वी से आकर जो प्राप्त करते हैं और जो प्राप्त नहीं करते हैं, उसे कहते हैं—

गाथार्थ—पाँचवीं भूमि से निकले हुए जीव को भले ही संयम लाभ हो जावे किन्तु नियम से उसका भव संक्लेश के कारण मोक्ष गमन नहीं होता ॥११६०॥

आचारवृत्ति—पाँचवें नरक से निकले हुए जीव को संयम की प्राप्ति तो हो सकती है किन्तु भवसंक्लेश के कारण उसी भव से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

चौथी पृथ्वी से आनेवाले को जो होता है, उसे बताते हैं—

गाथार्थ—चौथी भूमि से निकले हुए जीव का मोक्ष-गमन हो जाए किन्तु नियम से तीर्थंकर पद नहीं हो सकता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥११६१॥

आचारवृत्ति—चौथे नरक से निकले हुए जीव यद्यपि मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं किन्तु व तीर्थंकर नहीं हो सकते हैं ऐसा भी जिनेन्द्रदेव का कथन है।

इसके ऊपर के जीवों के विषय में कहते हैं—

---

१. क लम्भो।

तेण परं पुढवीसु य भयणिज्जा उवरिमा दु णेरइया।
णियमा अणंतरभवे तित्थयरत्तस्स उप्पत्ती ॥११६२॥

तेण परं तस्मात् पृथिव्या ऊर्ध्वं पुढवीसु य—पृथिवीषु च प्रथमद्वितीयतृतीयप्रभासु भयणिज्जा—भाज्या विकल्प्याः, उवरिमा—उपरितनाः, णेरइया—नारकाः, नियमादनन्तरभवेन तीर्थंकरत्वस्योत्पत्तिः। तृतीयद्वितीयप्रथमेभ्यो नरकेभ्य आगतानां नारकाणां तेनैव भवेन संयमलाभो मोक्षगतिस्तीर्थंकरत्वं च सम्भवति नात्र प्रतिषेध इति ॥११६२॥

सप्तभ्यः पृथिवीभ्य आगतास्तेनैव भवेन यन्न लभन्ते तदाह—

णिरयेहिं णिग्गदाणं अणंतरभवम्हि णत्थि णियमादो।
बलदेववासुदेवत्तणं च तह चक्कवट्टित्तं ॥११६३॥

नरकेभ्यो निर्गतानामनन्तरभवे नास्ति नियमाद् बलदेवत्वं वासुदेवत्वं तथा सकलचक्रवर्तित्वं च। नरकादागतस्य जीवस्य तेनैव भवेन बलदेववासुदेवचक्रवर्तिभावा न सम्भवन्ति, संयमपूर्वका यतः इमे, नरके च संयमेन गमनं नास्तीति ॥११६३॥

नारकाणां गत्यागतिस्वरूपमुपसंहरन् शेषाणां च सूचनमाह—

उववादोवट्टणणा णेरइयाणं समासदो भणिओ।
एत्तो सेसाणं पिय आगदिगदिमो पवक्खामी ॥११६४॥

उपपादोद्वर्तने गत्यागती नारकाणां समासतो भणिते प्रतिपादिते, इत ऊर्ध्वं शेषाणां तिर्यङ्मनुष्य-

---

गाथार्थ—इसके आगे पृथिवी से निकले हुए ऊपर के नारकी वैकल्पिक हैं। वे निश्चित ही उसी भव से तीर्थंकर पद की प्राप्ति कर सकते हैं ॥११६२॥

आचारवृत्ति—चौथी पृथिवी से परे पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवी से निकले हुए नारकियों को उसी भव से संयम का लाभ, मोक्ष की प्राप्ति और तीर्थंकर पद सम्भव है, इसमें निषेध नहीं है।

सातों नरकों से आकर उसी भव से जो नहीं प्राप्त कर सकते, उसे बताते हैं—

गाथार्थ—सातों नरकों से निकले हुए जीवों को उसी भव से नियम से बलदेव, वासुदेव पद और चक्रवर्ती पद नहीं होता है ॥११६३॥

आचारवृत्ति—सातों नरकों में से आये हुए जीवों को अनन्तर भव में ही बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती पद नहीं मिलता है क्योंकि ये पद संयमपूर्वक ही होते हैं और संयमसहित जीव नरक में जा नहीं सकता है।

नारकियों की गति-आगति के स्वरूप का उपसंहार करते हुए तथा शेष जीवों की सूचना करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—नारकियों के जन्म लेने का और निकलने का संक्षेप से कथन किया है, इसके आगे अब शेष जीवों की भी आगति और गति कहेंगे ॥११६४॥

आचारवृत्ति—नारकियों की गति और आगति का संक्षेप से कथन किया गया है।

देवानां च ये संभवन्त्यो गत्यागती ते प्रवक्ष्याम्यागमबलात् कथयिष्यामीति ॥११६४॥

सव्वमपज्जत्ताणं सुहुमकायाण सव्वतेऊणं ।
वाऊणमसण्णीणं आगमणं तिरियमणुसेहिं ॥११६५॥

सव्वं—सर्वेषां, अपज्जत्ताणं—अपर्याप्तानां, सुहुमकायाणं—सूक्ष्मकायानां, सव्वतेऊणं—सर्वतेजस्कायानां, वाऊणं—वायुकायानां, असण्णीणं—असंज्ञिनाम् अत्रापि सर्वशब्दः संबन्धनीयः सर्ववायुकायानां सर्वासंज्ञिनां चागमनमागतिः तिरियमणुसेहिं—[1]तिर्यङ्मनुष्यैः। पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिका द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियाणां ये लब्ध्यपर्याप्तास्तेषु मध्येषु तिर्यंचो मनुष्याश्चोत्पद्यन्ते तथा पृथिवीकायिकादिवनस्पतिपर्यन्तेषु सर्वसूक्ष्मेषु पर्याप्तापर्याप्तेषु तथा तेजःकायिकवायुकायिकेषु बादरेषु पर्याप्तापर्याप्तेषु असंज्ञिषु च तिर्यङ्मनुष्या एवोत्पद्यन्ते न देवा नापि नारका न चैव भोगभूमिजा भोगभूमिप्रतिभागजाश्चेति ॥११६५॥

अतः पृथिवीकायिकादयो मृत्वा क्वोत्पद्यन्त इत्याशंकायामाह—

तिण्हं खलु कायाणं तहेव विगलिंदियाण सव्वेसिं ।
अविरुद्धं संकमणं माणुसतिरिएसु य भवेसु ॥११६६॥

तिण्हं—त्रयाणां, खलु स्फुटं कायाणं—कायानां पृथिवीकायाप्कायवनस्पतिकायानां तहेव—तथैव

इसके आगे अब शेष—तिर्यंच, मनुष्य और देवों की जो गति-आगति सम्भव हैं उन्हें आगम के बल से कहूँगा।

गाथार्थ—सभी अपर्याप्तक, सूक्ष्म काय, सभी अग्निकाय, वायुकाय और असंज्ञी जीवों का तिर्यंच और मनुष्य गति से आना होता है ॥११६५॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय ये जो लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं इनमें मनुष्य और तिर्यंच ही आकर जन्म लेते हैं। अर्थात् सभी लब्धि-अपर्याप्त जीवों में मनुष्य और तिर्यंच ही मरकर जन्म धारण करते हैं। तथा पृथिवी से लेकर वनस्पतिपर्यन्त सभी सूक्ष्मकायिक अपर्याप्तकों में, अग्निकायिक, वायुकायिक बादर पर्याप्तक-अपर्याप्तकों में और असंज्ञी जीवों में तिर्यंच और मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं। इन पर्यायों में देव-नारकी, भोगभूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज जीव उत्पन्न नहीं होते हैं।

पृथिवीकायिक आदि जीव यहाँ से जाकर कहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, वनस्पति इन तीन कायों का तथा सर्व विकलेन्द्रियों का मनुष्य और तिर्यंच के भवों में ही आना अविरुद्ध है ॥११६६॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय इन तीनों के जीव तथा सभी

---

1. क तिर्यङ्मनुष्यैः।

विगलिंदियाणं—सर्वेषां विकलेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तानां अविरुद्धं अप्रतिषिद्धं संक्रमणं गमनं आगमनं माणुस—मनुष्य-भवे तिरिय—तिर्यग्भवे च। पृथिवीकायिकाप्कायिकवनस्पतिकायिकाः सर्वे विकलेन्द्रियाश्चागत्य तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पद्यन्ते नात्र विरोध इति ॥११६६॥

तेजोवाय्वोः संक्रमणमाह—

सव्वेवि तेउकाया सव्वे तह वाउकाइया जीवा।
ण लहंति माणुसत्तं णियमादु अणंतरभवेहिं ॥११६७॥

सर्वेऽपि बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ता तेजस्कायिकास्तथैव सर्वे बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ताः वायु-कायिका जीवा न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति मनुष्यत्वं नियमात्तु अनन्तरभवे, न तेनैव भवेनेति ॥११६७॥

प्रत्येकवनस्पतिपृथिवीकायाप्कायबादरपर्याप्तानामागमनमाह—

पत्तेयदेह वणप्फइ बादरपज्जत्त पुढवि आऊ य।
माणुसतिरियदेवेहिं चेव जाइंति खलु एदे ॥११६८॥

प्रत्येकदेहाः नालिकेरादिवनस्पतयः बादराः पर्याप्ता पृथिवीकायिका अप्कायिकाश्चैतेऽपि बादराः पर्याप्ताश्च मनुष्यतिर्यग्देवेभ्य एवायान्ति स्फुटमेतत् नान्येभ्य इति। मनुष्यतिर्यग्देवाः संक्लिष्टा आर्तध्यानपरा मिथ्यादृष्टय आगत्य प्रत्येकवनस्पतिपृथिवीकायिकाप्कायिकेषूत्पद्यन्त इति ॥११६८॥

असंज्ञिपर्याप्तानां संक्रमणमाह—

पर्याप्तक और अपर्याप्तक विकलेन्द्रिय जीव मरण करके, वहाँ से आकर मनुष्य और तिर्यंच पर्यायों में ही उत्पन्न होते हैं इसमें विरोध नहीं है।

अग्निकायिक और वायुकायिक का संक्रमण कहते हैं—

सभी अग्निकाय तथा सभी वायुकाय जीव अनन्तर भव में नियम से मनुष्य पर्याय नहीं प्राप्त कर सकते हैं ॥११६७॥

आचारवृत्ति—सभी बादर-सूक्ष्म पर्याप्तक और अपर्याप्तक अग्निकायिक जीव तथा सभी बादर-सूक्ष्म पर्याप्तक, अपर्याप्तक वायुकायिक जीव उसी भव से मरणकर निश्चित ही मनुष्यपर्याय को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

प्रत्येकवनस्पति, पृथिवीकाय और जलकाय बादरपर्याप्तक जीवों का आगमन कहते हैं—

गाथार्थ—प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक, पृथिवीकायिक और जलकायिक बादर पर्याप्तक जीव निश्चित ही मनुष्य, तिर्यंच और देवगति से ही आते हैं ॥११६८॥

आचारवृत्ति—नारियल आदि वनस्पति प्रत्येकशरीर बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक हैं। पृथिवीकायिक, जलकायिक, बादर, पर्याप्तक अपर्याप्तक जीव(?)मनुष्य, तिर्यंच और देवगति से ही आते हैं, अन्य गति से नहीं। संक्लेश परिणामवाले, आर्तध्यान में तत्पर हुए मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच और देव मरण करके आकर प्रत्येक वनस्पतिकायिक, पृथिवीकायिक और जल-कायिक जीवों में उत्पन्न होते हैं।

असंज्ञिपर्याप्त जीवों का आगमन कहते हैं—

अविरुद्धं संकमणं असण्णिपज्जत्तयाण तिरियाणं।
माणुसतिरियसुरणारएसु ण दु सव्वभावेसु ॥११६९॥

असंज्ञिपर्याप्तकानां तिरश्चां संक्रमणं गमनमविरुद्धं न विरोधमुपयाति क्व मनुष्यतिर्यक्सुरनारकेषु चतसृष्वपि गतिष्वपि व्रजन्ति न तु सर्वभावेषु नैव सर्वेषु नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपर्यायेषु यतः प्रथमायामेव पृथिव्यामुत्पद्यन्तेऽसंज्ञिनस्तथा देवेषु भवनवासिव्यंतरज्योतिष्केषूत्पद्यन्ते नान्यत्र तथा भोगभूमिषु तत्प्रतिभागेष्वन्येष्वपि पुण्यवत्सु तिर्यङ्मनुष्येषु¹ नोत्पद्यन्ते ॥११६९॥

अथासंख्यातायुषः केन आगच्छन्तीत्याह—

संखादीदाओ खलु माणुसतिरिया दु मणुयतिरियेहिं।
संखिज्जआउगेहिं दु णियमा सण्णीय आयंति ॥११७०॥

संख्यातीतायुषः भोगभूमिजा भोगभूमिप्रतिभागजाश्च मनुष्यास्तिर्यंचः संख्यातायुष्केभ्यो मनुष्यतिर्यग्भ्यः संज्ञिभ्योऽपि नियमेनायान्ति यस्मादेतत् नान्यत्र दानानुमोदोऽथवा दानफलं च यत इति ॥११७०॥

गाथार्थ—असैनी पर्याप्तक तिर्यंचों का मनुष्य तिर्यंच, देव और नरक इन चारों में जाना अविरुद्ध है किन्तु उनकी सभी पर्यायों में नहीं ॥११६९॥

आचारवृत्ति—असंज्ञी पर्याप्तक तिर्यंच जीव चारों ही गतियों में जाते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है, किन्तु वे उनकी सभी पर्यायों में नहीं जाते हैं। अर्थात् असैनी जीव नरकों में पहली पृथिवी में ही उत्पन्न होते हैं, आगे नहीं; देवों में से भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में ही उत्पन्न हो सकते हैं, वैमानिको में नहीं; तथा भोगभूमिज, भोगभूमिप्रतिभागज व अन्य भी पुण्यवान् मनुष्य तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

असंख्यातवर्ष आयुवाले कहाँ से आते हैं? उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—असंख्यात वर्ष आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच जीव संख्यात वर्षायुवाले सैनी मनुष्य और तिर्यंच पर्याय से ही आते हैं ॥११७०॥*

आचारवृत्ति—भोगभूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज मनुष्य और तिर्यंच असंख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं। कर्मभूमिज व कर्मभूमिप्रतिभागज मनुष्य संख्यात वर्ष की आयुवाले होते हैं। संख्यात वर्ष आयुवाले सैनी तिर्यंच व मनुष्य ही मरकर असंख्यात वर्ष की आयुवालों में जन्म लेते हैं, अन्य नहीं। क्योंकि वे दान की अनुमोदना से और दिये हुए दान के फल से ही वहाँ जाते हैं। अर्थात् दान की अनुमोदना से और दान देने के फल से ही कर्मभूमिज तिर्यंच या मनुष्य भोगभूमि में जन्म लेते हैं।

---

१. क मनुष्यतिर्यक्षु

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

णिरयेसु पढमणिरये तिरिए मणुएसु कम्मभूमीसु।
दीवेसु य उप्पत्ती अमराणं भवणवेंतरेसु तहा ॥

अथ संख्यातीतायुषो मृत्वा क्व गतिं गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

संखादीदाऊणं संकमणं णियमदो दु देवेसु।
पयडीए तणुकसाया सव्वेसिं तेण बोद्धव्वा ॥११७१॥

संख्यातीतायुषां भोगभूमिजानां भोगभूमिप्रतिभागजानां च संक्रमणं मृत्वोत्पादः नियमतस्तु देवेषु, कुत एतत् यतः प्रकृत्या स्वभावेन तेषां तनवोऽल्पाः कषायाः क्रोधमानमायालोभास्तेन ते देवेषूत्पद्यन्ते इति ज्ञातव्यं नात्र शंका कर्तव्येति ॥११७१॥

अथ केभ्य आगत्य शलाकापुरुषा भवन्ति केभ्यश्च न भवन्तीत्याशंकायामाह—

माणुस तिरियाय तहा सलागपुरिसा ण होंति खलु णियमा।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥११७२॥

मनुष्यास्तथा तिर्यंचश्च शलाकापुरुषास्तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवा न भवन्ति नियमात्, निर्वृतिगमनं तु भाज्यं तेषां कदाचिदनन्तरभवेन तेनैव भवेन वा भवति मनुष्याणां, न तु तिरश्चां कुत एतत् निर्वृतिगमनकारणं तु भवत्येव तिरश्चामपि सम्यक्त्वादिकं तेन न दोष इति ॥११७२॥

अथ मिथ्योपपादः एवम् इत्याशंकायामाह—

सण्णि असण्णीण तहा वाणेसु य तह य भवणवासीसु।
उववादो बोधव्वो मिच्छादिट्ठीण णियमादु ॥११७३॥

असंख्यातवर्ष आयुवाले मरकर किस गति में आते हैं, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—असंख्यात वर्ष की आयु वालों का आना नियम से देवों में ही है, क्योंकि उन सभी के स्वभाव से ही मन्दकषायें हैं, ऐसा जानना ॥११७१॥

आचारवृत्ति—असंख्यातवर्ष की आयुवाले भोगभूमिज और भोगभूमिप्रतिभागज जीव मरकर नियम से देवों में ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि वे स्वभाव से ही मन्दकषायी होते हैं। अर्थात् इनके क्रोध, मान, माया और लोभ कषायें मन्द रहती हैं इसलिए इनकी उत्पत्ति देवों में ही होती है, इसमें शंका नहीं करना चाहिए।

कहाँ से आकर शलाकापुरुष होते हैं और कहाँ से आकर नहीं होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मनुष्य और तिर्यंच मरकर शलाकापुरुष नियम से नहीं होते हैं तथा उसी भव में उनका मोक्षगमन वैकल्पिक है ॥११७२॥

आचारवृत्ति—मनुष्य और तिर्यंच मरकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव अर्थात् त्रेसठ शलाकापुरुष नहीं हो सकते हैं। उनका उसी भव से मोक्ष प्राप्त करना भजनीय है, अर्थात् मनुष्यों को उसी भव से मुक्ति हो, न भी हो; अगले भव से भी हो न भी हो; किन्तु तिर्यंचों के उसी भव से मुक्ति है ही नहीं यह नियम है। वैसे तिर्यंचों में भी मुक्तिगमन के कारणभूत सम्यक्त्व आदि हो सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

मिथ्यादृष्टियों का जन्म कहाँ होता है सो बताते हैं—

गाथार्थ—संज्ञी और असंज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवों का जन्म नियम से व्यन्तरों और भवनवासियों में जानना चाहिए ॥११७३॥

संज्ञिनामसंज्ञिनां च मिथ्यादृष्टीनां उपपादो मृत्योत्पत्तिः कदाचिद्व्यन्तरेषु कदाचिद्भवनवासिषु च बोद्धव्यो नियमेन, नात्र विरोध एतेषूत्पत्तेरन्यत्र च परिणामवशादिति ॥११७३॥

अथ ज्योतिष्केषु क उत्पद्यन्त इत्याशंकायामाह—

संखादीदाऊणं मणुयतिरिक्खाण मिच्छभावेण ।
उववादो जोदिसिए उक्कस्सं तावसाणं दु ॥११७४॥

संख्यातीतायुषामसंख्यातवर्षप्रमाणायुषां मनुष्याणां तिरश्चां च मिथ्यात्वभावेनोपपादः भवनवास्यादिषु ज्योतिष्कदेवेषु कन्दफलाद्याहाराणां तापसानां चोत्कृष्ट उपपादस्तेष्वेव ज्योतिष्केषु शुभपरिणामेन मान्येनेति ॥११७४॥

अथाजीवकपरिव्राजकानां शुभपरिणामेन कियद्दूरगमनमित्याशंकायामाह—

परिवाय'गाण णियमा उक्कस्सं होदि बंभलोगम्हि ।
उक्कस्सं सहस्सार त्ति होदि य आजीवगाण तहा ॥११७५॥

परिव्राजकानां संन्यासिनां शुभपरिणामेन नियमाद् उत्कृष्ट उपपादो भवनवास्यादिब्रह्मलोके भवति, आजीवकानां तथोपपादो भवनवास्यादि सहस्रारं यावद्भवति, सर्वोत्कृष्टाचरणेन मिथ्यात्वभावेन शुभपरिणा-

---

आचारवृत्ति—सैनी और असैनी मिथ्यादृष्टि जीव मरण कर कदाचित् व्यन्तरों म और कदाचित् भवनवासियों में जन्म ले सकते हैं अर्थात् उनमें उत्पन्न हो सकते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है और परिणाम के वश से अन्यत्र भी उत्पन्न हो सकते हैं।

ज्योतिषी देवों में कौन उत्पन्न होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—असंख्यातवर्ष की आयुवाले मनुष्य, तिर्यंच का मिथ्यात्वभाव से ज्योतिष्क देवों में जन्म होता है। तापसियों का भी उपपाद ज्योतिषियों में उत्कृष्ट आयु में होता है।।११७४।।

आचारवृत्ति—असंख्यात वर्षप्रमाण आयुवाले मनुष्यों और तिर्यंचों का जन्म मिथ्यात्वभाव से भवनवासी आदि से लेकर ज्योतिषी देवों में होता है। कन्दफल आदि आहार करनेवाले तापसियों का जन्म उन्हीं ज्योतिषियों में शुभपरिणाम से उत्कृष्ट आयु लेकर होता है।

आजीवक और पारिव्राजकों का शुभपरिणाम से कितनी दूर तक गमन होता है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पारिव्राजकों का नियम से ब्रह्मलोक में उत्कृष्ट जन्म होता है तथा आजीवकों का उत्कृष्ट जन्म सहस्रार पर्यन्त होता है।।११७५।।

आचारवृत्ति—पारिव्राजक संन्यासियों का उत्कृष्ट जन्म शुभपरिणाम से निश्चित ही भवनवासी से लेकर ब्रह्म नामक पाँचवें स्वर्गपर्यन्त होता है। तथा आजीवक साधुओं का जन्म मिथ्यात्व सहित सर्वोत्कृष्ट आचरणरूप शुभपरिणाम से भवनवासी आदि से लेकर सहस्रार

१. क परिवायगाण।

[illegible] नान्यथेति । अन्येषां च लिंगिनां भवनादिषु च द्रष्टव्यं शुभपरिणामेनैवेति ॥११७५॥

अथोर्ध्वं क उत्पद्यन्त इत्याह—

तत्तो परं तु णियमा उववादो णत्थि अण्णलिंगीणं ।
णिग्गंथसावयाणं उववादो अच्चुदं जाव ॥११७६॥

ततः सहस्रारादूर्ध्वं परेषु कल्पेषु नियमादुपपादो नास्त्यन्यलिंगिनां परमोत्कृष्टाचरणेनापि, निर्ग्रन्थानां श्रावकाणां श्राविकाणाम् आर्यिकाणां च शुभपरिणामेनोत्कृष्टाचरणेनोपपादः सौधर्ममादिं कृत्वा यावदच्युतकल्पः निश्चितमेतदिति ॥११७६॥

अथाभव्या जिनलिंगेन कियद्दूरं गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

जा उवरिमगेवेज्जं उववादो अभवियाण उक्कस्सो ।
उक्कट्ठेण तवेण दु णियमा णिग्गंथलिंगेण ॥११७७॥

अभव्यानां निर्ग्रन्थलिंगेनोत्कृष्टतपसा निश्चयेनोत्पाद उत्कृष्टः भवनवासिनमादिं कृत्वोपरिमग्रैवेयकं यावन्मिथ्यात्वभावेन शुभपरिणामेन रागद्वेषाद्यभावेनेति वक्तव्यम् ॥११७७॥

अथोपरि के न गच्छन्तीत्याशंकायामाह—

तत्तो परं तु णियमा तवदंसणणाणचरणजुत्ताणं ।
णिग्गंथाणुववादो जावदु सव्वट्ठसिद्धित्ति ॥११७८॥

पर्यन्त होता है ऐसा कहना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं । और अन्य लिंगी—पाखण्डी साधुओं का जन्म भी शुभपरिणाम से भवनवासी आदि देवों में देखना चाहिए ।

इससे ऊपर कौन उत्पन्न होते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—इससे परे तो नियम से अन्यलिंगियों का जन्म नहीं होता है । निर्ग्रन्थ और श्रावकों का जन्म अच्युत पर्यन्त होता है ॥११७६॥

आचारवृत्ति—उस सहस्रार स्वर्ग से आगे के कल्पों में नियम से अन्य पाखण्डियों का परम उत्कृष्ट आचरण होने पर भी जन्म नहीं होता है । निर्ग्रन्थ मुनियों का, श्रावकों का और आर्यिकाओं का जन्म शुभपरिणामरूप उत्कृष्ट आचरण से सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त निश्चितरूप से होता है ।

अभव्यजीव जिनलिंग से कितनी दूर तक जाते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—अभव्यों का उत्कृष्ट जन्म निश्चित ही निर्ग्रन्थ लिंग द्वारा उत्कृष्ट तप से उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त होता है ॥११७७॥

आचारवृत्ति—अभव्य जीवों का उत्कृष्ट जन्म निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर उत्कृष्ट तपश्चरण द्वारा भवनवासी से लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त होता है । यद्यपि मिथ्यात्व भाव उनमें है तो भी रागद्वेषादि के अभावरूप शुभपरिणाम से ही वहाँ तक जन्म होता है ।

इसके ऊपर कौन नहीं जाते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—इसके आगे तो नियम से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से युक्त निर्ग्रन्थों का उपपाद सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त होता है ॥११७८॥

अतः तस्मादूर्ध्वग्रैवेयकादूर्ध्वं परेषु नवानुत्तरादिषु सौधर्मादिषु च निर्ग्रन्थानां सर्वसंगपरित्यागिनां तपोदर्शनज्ञानचरणयुक्तानामचरमदेहिनां शुभपरिणामिनां निश्चयेनोपपादः सर्वार्थसिद्धिं यावत्। सर्वार्थसिद्धिमन्तं कृत्वा सर्वेषु सौधर्मादिषूत्पद्यन्त इति यावत् ॥११७८॥

अथ देवा आगत्य क्वोत्पद्यन्त इत्याशंकायामाह—

आईसाणा देवा चएत्तु एइंदिएत्तणे भज्जा।
तिरियत्तमाणुसत्ते भयणिज्जा जाव सहस्सारा ॥११७९॥

भवनवासिनमादिं कृत्वा आ ईशानात् ईशानकल्पं यावत् देवाश्च्युत्वा एकेन्द्रियत्वेन भाज्याः कदाचिदार्तध्यानेनागत्य पृथिवीकायिकाप्कायिकप्रत्येकवनस्पतिकायिकेषु बादरेषु पर्याप्तेषूत्पद्यन्ते परिणामवशेनान्येषु पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यङ्मनुष्येषु भोगभूमिजादिवर्जितेषु च तत ऊर्ध्वं सहस्रारं यावत् देवाश्च्युत्वा तिर्यक्त्वेन मनुष्यत्वेन च भाज्याः नैते एकेन्द्रियेषूत्पद्यन्ते पुनस्तिर्यग्ग्रहणान्नारकदेवविकलेन्द्रियासंज्ञिसूक्ष्मसर्वापर्याप्ततेजोवायुभोगभूमिजादिषु सर्वे देवा नोत्पद्यन्त इति च द्रष्टव्यम् ॥११७९॥

उपरितनानामागतिमाह—

तत्तो पर तु णियमा देवावि अणंतरे भवे सव्वे।
उववज्जंति मणुस्से ण तेसिं तिरिएसु उववादो ॥११८०॥

आचारवृत्ति—उस ऊर्ध्व ग्रैवेयक से ऊपर नव अनुदिश से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सर्वसंग से परित्यागी निर्ग्रन्थ लिंगधारी, दर्शनज्ञानचारित्र और तप से युक्त अचरमदेही, शुभ-परिणाम वाले मुनियों का जन्म होता है। अर्थात् निर्ग्रन्थ भावलिंगी मुनि सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते हैं।

देव आकर कहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ईशान स्वर्ग तक के देव च्युत होकर एकेन्द्रियरूप से वैकल्पिक हैं और सहस्रार पर्यन्त के देव तिर्यंच और मनुष्य रूप से वैकल्पिक हैं ॥११७९॥

आचारवृत्ति—भवनवासी से लेकर ईशान स्वर्ग तक के देव वहाँ से च्युत होकर कदाचित् आर्तध्यान से पृथिवीकायिक जलकायिक, और प्रत्येकवनस्पतिकायिक बादर एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं। तथा परिणाम के वश से अन्य पर्यायों में भी अर्थात् पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंच-मनुष्यों में उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु वे देव भोगभूमिज आदि मनुष्यों या तिर्यंचों में जन्म नहीं लेते हैं। उसके ऊपर तीसरे स्वर्ग से लेकर सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग तक के देव च्युत होकर तिर्यंच या मनुष्यों में जन्म लेते हैं। अर्थात् ये देव एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते हैं। पुनः 'तिर्यक्त्व' शब्द को गाथा में लेने से ऐसा समझना कि नारकी, देव, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, सर्व अग्निकायिक, वायुकायिक, भोगभूमिज आदि स्थानों में सभी देव उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा समझ लेना। तात्पर्य यह है कि ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर एकेन्द्रिय पृथिवी, जल और प्रत्येकवनस्पति में जन्म ले सकते हैं। तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंचों में भी हो सकते हैं।

ऊपर के देवों का जन्म कहाँ तक होता है, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—उसके परे सभी देव नियम से अनन्तर भव में मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होते हैं। उनका तिर्यंचों में जन्म नहीं होता है ॥११८०॥

ततः सहस्रारादुपरि विमानाद्देवाः सर्वेऽपि अनन्तरभवेन मनुष्येषूत्पद्यन्ते न तेषां तिर्यक्षूत्पादः च्यवनकाले महतः संक्लेशस्याभावो यत इति ॥११८०॥

शलाकापुरुषा आगत्य ये देवा न भवन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह—

आजोदिसं त्ति देवा सलागपुरिसा ण होंति ते णियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भजणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥११८१॥

आ ज्योतिष्को देवा भवनवासिन आदौ कृत्वा ज्योतिष्का यावत्ते शलाकापुरुषा न भवन्ति तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवा न भवन्तीति निश्चयेन निर्वृतिगमनं पुनस्तेषामनन्तरभवे भाज्यं कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति तस्य सर्वथा प्रतिषेधो नास्तीति ॥११८१॥

अथ के शलाकापुरुषा भवन्तीत्याशंकायामाह—

तत्तो परं तु णेवेज्जं भजणिज्जा सलागपुरिसा दु ।
तेसिं अणंतरभवे भजणिज्जा णिव्वुदीगमणं ॥११८२॥

ततः परं सौधर्ममारभ्य नवग्रैवेयकं यावत्तेभ्यो देवा आगत्य शलाकापुरुषा भवन्ति न भवन्तीति भाज्यास्तेषामनन्तरभवेन च निर्वृतिगमनं च भाज्यं कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति ॥११८२॥

आचारवृत्ति—सहस्रार स्वर्ग से ऊपर के सभी देव नियम से अगले भव में मनुष्य पर्याय में ही होते हैं। वे तिर्यंचों में जन्म नहीं ले सकते हैं, क्योंकि वहाँ से च्युत होने के समय उनके अधिक संक्लेश का अभाव है।

जो देव आकर शलाकापुरुष नहीं होते हैं उनका प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ज्योतिषी पर्यन्त जो देव हैं वे नियम से शलाकापुरुष नहीं होते हैं। उनका अनन्तर भव में मोक्षगमन वैकल्पिक है ॥११८१॥

आचारवृत्ति—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव वहाँ से च्युत होकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव ऐसे शलाकापुरुष नहीं होते हैं। उनको उसी भव से मुक्ति होती है या नहीं भी होती है (सर्वथा निषेध नहीं है)।

भावार्थ—शलाकापुरुषों में तीर्थंकर तो उसी भव से मोक्ष जाते हैं इसमें विकल्प नहीं है। चक्रवर्ती और बलदेव ये उसी भव से मुक्ति भी पा सकते हैं अथवा स्वर्ग जाते हैं। चक्रवर्ती नरक भी जा सकते हैं। वासुदेव और प्रतिवासुदेव ये नरक ही जाते हैं फिर भी ये महापुरुष स्वल्प भवों में मुक्ति प्राप्त करते ही हैं ऐसा नियम है।

शलाकापुरुष कौन होते हैं, उसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—इसके परे ग्रैवेयक तक के देव शलाकापुरुष होते हैं, नहीं भी होते; उनको उसी भव से मोक्षगमन होता है, नहीं भी होता ॥११८२॥

आचारवृत्ति—सौधर्म स्वर्ग से लेकर नवग्रैवेयक तक के देव वहाँ से च्युत होकर शलाकापुरुष होते हैं, नहीं भी होते हैं। तथा वहाँ से आये हुए पुरुष अनन्तर भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, कदाचित् नहीं भी करते हैं।

तत ऊर्ध्वं वासुदेवा आगत्य न भवन्तीति प्रतिपादयन्नाह—

णिव्वुदिगमणे रामत्तणे य तित्थयरचक्कवट्टित्ते ।
अणुदिसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ॥११८३॥

निर्वृतिगमनेन रामत्वेन तीर्थंकरत्वेन चक्रवर्तित्वेन च भाज्याः अनुदिशानुत्तरवासिनो देवास्तेभ्यो विमानेभ्यश्च्युताः सन्तः कदाचित्तीर्थंकरबलचक्रवर्तिनो मुक्ताश्च भवन्ति न भवन्ति च, वासुदेवाः पुनर्न भवन्त्येवेति ॥११८३॥

ये पुनर्नियमेन निर्वृतिं गच्छन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह—

सव्वट्ठादो य चुदा भज्जा तित्थयरचक्कवट्टित्ते ।
रामत्तणेण भज्जा णियमा पुण णिव्वुदिं जंति ॥११८४॥

सर्वार्थसिद्धेश्च्युता देवास्तीर्थंकरत्वेन चक्रवर्तित्वेन रामत्वेन च भाज्याः, निर्वृतिं पुनर्नियमेन यान्त्येव न तत्र विकल्पः सर्वे तत आगत्य चरमदेहा भवन्ति तीर्थंकरचक्रवर्तिराज्यविभूतिं भुक्त्वा मण्डलिकादिविभूतिं च संयममादाय नियमान्मुक्तिं गच्छन्ति ॥११८४॥

पुनरपि नियमेन ये ये सिद्धिं गच्छन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह—

सक्को सहग्गमहिसी सलोगपाला य दक्खिणिंदा य ।
लोगंतिगा य णियमा चुदा दु खलु णिव्वुदिं जंति ॥११८५॥

इसके ऊपर से आकर वासुदेव होते हैं सो ही कहते हैं—

गाथार्थ—अनुदिश और अनुत्तरवासी देव वहाँ से च्युत होकर मुक्तिगमन, बलदेवत्व तीर्थंकरत्व और चक्रवर्तित्व पद से भजनीय होते हैं ॥११८३॥

आचारवृत्ति—अनुदिश और अनुत्तरवासी देव उन विमानों से च्युत होकर कदाचित् तीर्थंकर होते हैं, या नहीं भी होते हैं; कदाचित् बलदेव या चक्रवर्ती होते हैं, नहीं भी होते हैं। वे देव यहाँ आकर कदाचित् मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं अथवा नहीं भी कर पाते हैं। किन्तु वहाँ से च्युत हुए देव वासुदेव अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण नहीं होते हैं यह नियम है।

जो पुनः निश्चय से निर्वाण को प्राप्त करते हैं उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—सर्वार्थसिद्धि से च्युत हुए देव तीर्थंकर और चक्रवर्ती के रूप में भाज्य हैं एवं बलदेवपने से भाज्य हैं किन्तु वे नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥११८४॥

आचारवृत्ति—सर्वार्थसिद्धि से च्युत हुए देव तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा बलदेव होते हैं या नहीं भी होते हैं किन्तु वे नियम से मुक्ति प्राप्त करते हैं, इसमें विकल्प नहीं है। तात्पर्य यह है कि वहाँ से आये हुए सभी देव चरमशरीरी होते हैं। वे तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा बलदेव के वैभव को भोगकर या मण्डलीक आदि राज्य विभूति का अनुभव कर पुनः संयम ग्रहण करके नियम से मुक्ति को प्राप्त करते ही हैं।

पुनरपि जो जो नियम से मुक्ति प्राप्त करते हैं उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—शची सहित और लोकपाल सहित सौधर्म इन्द्र, दक्षिण दिशा के इन्द्र और लौकान्तिक देव वहाँ से च्युत होकर नियम से मोक्ष जाते हैं ॥११८५॥

तथा सौधर्मेन्द्रः सहाग्रमहिषी अग्रमहिषी शची तया सह वर्तत इति साग्रमहिषीकाः, सलोकपालाः लोकान् पालयन्तीति लोकपालाः चतुर्दिक्सम्बन्धिनस्तैः सह वर्तन्ते इति सलोकपालाः दक्षिणेन्द्राश्च दक्षिणदिक्स्थाः सनत्कुमारब्रह्मलान्तवशुक्रशतारानतारणेन्द्राः ... च, लौकान्तिकाश्च सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टा अष्टप्रकाराः ब्रह्मलोकनिवासिनो देवर्षयो नियमात् च्युता मनुष्यलोकमागता निर्वृतिं यान्ति। सौधर्मो मनुष्यत्वं प्राप्य मोक्षं याति तथा तदग्रमहिषी लोकपालाश्च मनुष्यत्वं प्राप्य नियमतो निर्वृतिं यान्ति, तथा दक्षिणेन्द्रा लौकान्तिकाश्च चरमदेहत्वं प्राप्य नियमेन मुक्तिं गच्छन्ति नात्र सन्देह इति ॥११८८॥

गत्यागत्यधिकारं समुपसंहरन्नाह—

एवं तु सारसमए भणिदा दु गदागदी मया किंचि ।
णियमादु मणुसगदिए णिव्वुदिगमणं अणुण्णादं ॥११८९॥

एवं तु—अनेन प्रकारेण, सारसमए—व्याख्याप्रज्ञप्त्यां सिद्धान्ते तस्माद्वा भणिते गत्यागती गतिश्च भणिता आगतिश्च भणिता मया किंचित् स्तोकरूपेण। सारसमयादुद्धृत्य गत्यागतिस्वरूपं स्तोकं मया प्रतिपादितमित्यर्थः। निर्वृतिगमनं पुनर्मनुष्यगत्यामेव निश्चयेनानुज्ञातं जिनवरैरन्यासु गतिषु न संयमाभावादिति ॥११८९॥

अथ के किंभूताः के कृत्वा निर्वृतिं यान्तीत्याशंकायामाह—

आचारवृत्ति—सौधर्म स्वर्ग का प्रथम इन्द्र शक्र है, उसकी अग्र महिषी का नाम शची है। उसके चार दिशा सम्बन्धी सोम, यम, वरुण और कुबेर ये चार लोकपाल होते हैं। दक्षिण दिशा सम्बन्धी दक्षिणेन्द्र हैं, वे सौधर्म इन्द्र तथा सानत्कुमार, ब्रह्म, लान्तव, शतार, आनत और आरण के इन्द्र हैं। 'च' शब्द से अन्यों का भी ग्रहण हो जाता है। ब्रह्मलोक में निवास करने वाले लौकान्तिक कहलाते हैं। इनके आठ भेद हैं—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट। इन्हें देवर्षि भी कहते हैं। ये सब स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्य भव प्राप्तकर नियम से मोक्ष पाते हैं। अर्थात् सौधर्म इन्द्र मनुष्य भव को प्राप्तकर मोक्ष चला जाता है, उसकी अग्रमहिषी और लोकपाल भी मनुष्य भव को प्राप्तकर नियम से निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। तथा दक्षिणेन्द्र एवं लौकान्तिक देव भी चरमशरीर प्राप्त कर निश्चय से मुक्त हो जाते हैं, यह बात स्पष्ट है इसमें सन्देह नहीं है।

अब गति-आगति अधिकार का उपसंहार करते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से सारभूत सिद्धान्त में मैंने किंचित् मात्र गति-आगति को कहा है, नियम से मनुष्यगति में ही मोक्षगमन स्वीकार किया है ॥११८९॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से व्याख्याप्रज्ञप्ति सिद्धान्त में अथवा उस सिद्धान्त से निकाल मैंने अल्परूप से गति और आगति का वर्णन किया है। पुनः मोक्ष की प्राप्ति तो निश्चय से मनुष्य गति में ही होती है, अन्य गतियों में नहीं—ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है क्योंकि अन्य गतियों में संयम का अभाव है।

कौन कैसे होकर और क्या करके मोक्ष जाते हैं? सो ही बताते हैं—

सम्मद्दंसणणाणेहिं भाविदा सयलसंजमगुणेहिं ।
णिट्ठवियसव्वकम्मा णिग्गंथा णिव्वुदिं जंति ॥११८७॥

सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां भाविताः सकलसंयमगुणैश्च भाविता यथाख्यातसंयमविशुद्धिवर्द्धिता निष्ठा-पितसर्वकर्माणः विनाशितसर्वकर्मबन्धाः सन्तो निर्ग्रन्था अनन्तचतुष्टयसहाया निर्वृतिं यान्ति नात्र सन्देह इति ।
॥११८७॥

अथ ते तत्र गत्वा कीदृग्भूतं सुखमनुभवन्ति कियन्तं कालमधितिष्ठन्तीत्याशंकायामाह—

ते अजरमरुजममरमसरीरमक्खयमणुवमं सोक्खं ।
अव्वाबाधमणंतं अणागदं कालमत्थंति ॥११८८॥

ते मुक्तिं प्राप्ता अजरं न विद्यते जरावस्था[1] वृद्धत्वं यत्र तदजरं, न विद्यते रुजा रोगो यत्र तदरुजं, न म्रियते यत्र तदमरम्, अशरीरम् औदारिकादिपंचशरीररहितं, अक्षयं क्षयरहितं शाश्वतं सुखं अनन्तज्ञानदर्शन-सुखवीर्यरूपं, अव्याबाधम् अन्योपघातविनिर्मुक्तं, अनन्तमनागतं कालमधितिष्ठन्ति भविष्यत्कालपर्यन्तं परमसुखे निमग्नास्तिष्ठन्तीति ॥११८८॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञान से अपने को भावित करके सम्पूर्ण संयम और गुणों के द्वारा सर्व कर्मों को समाप्त करके निर्ग्रन्थ मुनि निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। ॥११८७॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अपनी आत्मा को भावित करके तथा यथाख्यातसंयम की विशुद्धि से वृद्धिगत हुए सर्व कर्मों का विनाश करके वे निर्ग्रन्थ महामुनि अनन्तचतुष्टय से सहित होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

वे वहाँ जाकर सुख का अनुभव करते हुए कितने काल तक वहाँ ठहरते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वे जरारहित, रोगरहित, मरणरहित, शरीररहित, क्षयरहित, उपमा-रहित और बाधारहित अनन्त सौख्य में भविष्यत् कालपर्यन्त ठहरते हैं ॥११८८॥

आचारवृत्ति—जिसमें वृद्धावस्था नहीं है वह अजर है। जिसमें रोग नहीं है वह अरुज है। जहाँ मरण नहीं है वह अमर है। औदारिक आदि पाँच शरीरों से रहित को अशरीर कहते हैं। क्षय रहित शाश्वत को अक्षय तथा अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप उपमा रहित को अनुपम कहते हैं। अन्य के द्वारा जिसमें बाधा न हो वह अव्याबाध है। जो मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं वे सिद्ध भगवान् अजर, अरुज, अमर, अशरीर, अक्षय, अनुपम, अव्याबाध और अनन्त सौख्य का अनुभव करते हैं तथा आनेवाले अनन्त भविष्य कालपर्यन्त परमसुख में निमग्न हुए स्थित रहते हैं।

---

१. क जरा।

गत्यागतिस्वरूपं निरूप्य स्थानाधिकारं प्रतिपादयन्नाह—

एइंदियादि पाणा चोद्दस दु हवंति जीवठाणाणि ।
गुणठाणाणि य चोद्दस मग्गणठाणाणिवि तहेव ॥११८९॥

जीवस्थानान्याधारभूतानेकेन्द्रियादीन् तावत् प्रतिपादयति एकेन्द्रियादय एकं सूत्रं, प्राणो द्वितीयं सूत्रं चतुर्दश जीवस्थानानि भवन्ति तृतीयं सूत्रं, गुणस्थानानि चतुर्दश चतुर्थं सूत्रं, मार्गणास्थानानि चतुर्दश भवन्ति पंचमं सूत्रं, पंचभिः संग्रहस्थानसूत्रं व्याख्यायते—जीवास्तिष्ठन्ति येषु तानि जीवस्थानानि, गुणा मिथ्यात्वादयो निरूप्यन्ते येषु तानि गुणस्थानानि, जीवा मृग्यन्ते येषु यैर्वा तानि मार्गणास्थानानि इति । ॥११८९॥

अथ का मार्गणाः[1] जीवगुणमार्गणाः का इत्याशंकायामाह—

गदिआदिमग्गणाओ परूविदाओ य चोद्दसा चेव ।
एदेसिं खलु भेदा किंचि समासेण वोच्छामि ॥११९०॥*

[2]गत्यादिमार्गणाश्चतुर्दश एवागमे [3]निरूपिताः, चशब्दाद्बादरैकेन्द्रियादीनि जीवस्थानानि चतुर्दश मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि चतुर्दशेत्येषां भेदान्किंचित् समासेन संक्षेपेण प्रवक्ष्यामीति ॥११९०॥

गत्यागति के स्वरूप का निरूपण करके अब स्थानाधिकार का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव, प्राण, चौदह जीवस्थान, चौदह गुणस्थान और चौदह ही मार्गणाएँ भी होती हैं ॥११८९॥

आचारवृत्ति—जीवस्थान और उनके आधारभूत एकेन्द्रिय आदि जीवों का प्रतिपादन करते हैं—उसमें एकेन्द्रिय आदि यह एक सूत्र है, प्राण दूसरा सूत्र है, चौदह जीवस्थान तीसरा सूत्र है, चौदह गुणस्थान चौथा सूत्र है, और चौदह मार्गणास्थान यह पाँचवाँ सूत्र है। 'पंचभिः संग्रह' है उसमें से संग्रहस्थान सूत्र का व्याख्यान करते हैं—जीव जिनमें ठहरते हैं उन्हें जीवस्थान कहते हैं, मिथ्यात्व आदि गुणों का जिनमें निरूपण किया जाता है वे गुणस्थान कहलाते हैं, जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीव खोजे जाते हैं उनको मार्गणास्थान कहते हैं।

मार्गणा क्या हैं अथवा जीवस्थान, गुणस्थान व मार्गणाएँ कौन-कौन हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—गति आदि मार्गणाएँ प्ररूपित की जा चुकी हैं। वे चौदह ही हैं, उनमें कितने भेद हैं इसे संक्षेप से कहूँगा ॥११९०॥

आचारवृत्ति—गत्यादि मार्गणाएँ चौदह ही हैं, ऐसा आगम में निरूपण किया गया है। 'च' शब्द से बादर एकेन्द्रिय आदि जीवस्थान चौदह हैं, मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान चौदह हैं। इन सबके कितने-कितने भेद हैं उन्हें मैं संक्षेप से कहूँगा।

---

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में नहीं है।

१. क मार्गणादिं कृत्वा। २. क गत्यादयो मार्गणाः। ३. क प्ररूपिताः।

एवं सर्वान् परित्यज्यैकेन्द्रियादिभेदांस्तावत्प्रतिपादयन्नाह—

एइंदियादि जीवा [1]पंचविधा भयवदा दु पण्णत्ता।
पुढवीकायादीया विगला पंचेंदिया चेव ॥११५१॥*

ये एकेन्द्रियादयो जीवाः संग्रहसूत्रेण सूचितास्ते पंचविधाः पंचप्रकारा एव भगवता प्रज्ञप्ताः। के ते पंचप्रकारा इत्याशंकायामाह—पृथिवीकायिकादय एकः प्रकारः, विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रिया द्वितीयः प्रकारः, त्रीन्द्रियास्तृतीयः प्रकारः, चतुरिन्द्रियाः चतुर्थः प्रकारः, तथा च पंचेन्द्रियाः पंचमः प्रकारः। पंच प्रकारा एव न षट्प्रकारा नापि चत्वार इति ॥११५१॥

पृथिवीकायादिभेदा उत्तरत्र प्रपञ्चेन प्रतिपाद्यन्त इति कृत्वा [2]द्वीन्द्रियादीन् प्रतिपादयन्नाह—

संखो गोभी भमरादिया दु विगलिंदिया मुणेदव्वा।
पंचेंदिया दु जलथलखचरा सुरणारयणरा य ॥११५२॥

इन सभी को छोड़कर पहले एकेन्द्रिय आदि भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के हैं ऐसा भगवान् ने कहा है वे पृथिवीकाय आदि एकेन्द्रिय, विकलत्रय और पंचेन्द्रिय ही हैं ॥११५१॥

आचारवृत्ति—जो एकेन्द्रिय आदि जीव संग्रहसूत्र से सूचित किये गये हैं वे पाँच प्रकार के हैं ऐसा भगवान् ने कहा है।

वे पाँच प्रकार कौन हैं ?

पृथिवीकायिक आदि एक प्रकार है, विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय द्वितीय प्रकार है, त्रीन्द्रिय तृतीय प्रकार है, चतुरिन्द्रिय चतुर्थ प्रकार है और पंचेन्द्रिय पाँचवाँ प्रकार है। ये जीव पाँच प्रकार ही हैं, न छह प्रकार हैं और न चार प्रकार हैं।

पृथिवीकाय आदि भेद आगे विस्तार से प्रतिपादित किये जायेंगे इसलिए यहाँ द्वीन्द्रिय आदि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—शंख, गोभी (एक प्रकार का कीड़ा) और भ्रमर आदि विकलेन्द्रिय हैं ऐसा जानना। जलचर, थलचर, नभचर, देव, नारकी और मनुष्य ये पंचेन्द्रिय हैं ॥११५२॥

---

१. क पंचविहा। २. क संक्षेपेण द्वीन्द्रियादिभेदान्।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार की इस गाथा में अन्तर है :

एइंदियादिजीवा पंचविधा भयवदा दु पण्णत्ता।
पुढवीकायादीया पंचविधे इंदिया चेव ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र ने एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के कहे हैं। वे हैं पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इस गाथा का उत्तरार्ध भी वट्टकेराचार्य ने बदला है तथा इसी के अनुरूप टीकाकार ने टीका की है और आगे की उत्थानिका बनायी है।

[illegible] ॥११९२॥

[illegible]—

पंचय इंदियपाणा मणवचिकाया दु तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥११९३॥

पंचेन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पंच प्राणाः मनोवचःकायास्तु बलरूपात्त्रयः प्राणाः, आनप्राणापुच्छ्वासनिःश्वासलक्षण एकः प्राणः, आयुः [illegible] एके प्राणा एवमेते दश प्राणा भवन्तीति ॥११९३॥

एकेन्द्रियादीनां प्राणानां च स्वस्वामिसंबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

इंदिय बल उस्सासा आऊ चदु छक्क सत्त अट्ठेव ।
एगिंदिय विगलिंदिय असण्णि सण्णीण णव दस पाणा ॥११९४॥

इन्द्रियं स्पर्शनेन्द्रियमेकः प्राणः, बलं कायबलं द्वितीयः प्राणः, उच्छ्वासस्तृतीयः प्राणः, आयुश्चतुर्थः प्राणः, एते चत्वारः प्राणा एकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य भवन्ति पर्याप्तिरहितस्य पुनरुच्छ्वासरहिता भवन्ति । द्वीन्द्रि-

---

आचारवृत्ति—'आदि' शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए । शंख आदि द्वीन्द्रिय हैं, गोम्भी (कीड़ै) आदि त्रीन्द्रिय हैं और भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय हैं । अर्थात् शंख, कृमि, कौड़ी, [illegible] की गिडोला आदि दो-इन्द्रिय जीव हैं । गोभी (कीड़ा), कुन्थु, चींटी, खटमल, बिच्छू, जूं, [illegible] चमचू आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं । भ्रमर, मधुमक्खी, डांस, पतंगे, मक्खी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं । जलचर, थलचर, नभचर, देव, नारकी और मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव हैं ।

प्राणों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पाँच इन्द्रियप्राण, मन, वचन, काय ये तीन बलप्राण तथा श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुप्राण मिलकर दस प्राण होते हैं ॥११९३॥

आचारवृत्ति—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच प्राण; मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बलरूप प्राण तथा उच्छ्वासनिःश्वास लक्षण एक प्राण और आयु एक प्राण ये दस प्राण होते हैं । [illegible] पुद्गलप्रचय का नाम आयु है ।

एकेन्द्रिय आदि जीव और प्राणों के स्वस्वामी सम्बन्ध को कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय के इन्द्रिय बल, उच्छ्वास और आयु ये चार प्राण विकलेन्द्रिय में क्रम से छह, सात और आठ, असंज्ञी के नौ और संज्ञी के दस प्राण होते हैं ॥११९४॥

आचारवृत्ति—स्पर्शन इन्द्रिय एक प्राण, कायबल द्वितीय प्राण, उच्छ्वास तृतीय प्राण और आयु चतुर्थ प्राण एकेन्द्रिय पर्याप्तक के ये चार प्राण होते हैं तथा पर्याप्तिरहित के उच्छ्वास-

तस्य पर्याप्तस्य स्पर्शनरसनकायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंषि षट् प्राणा भवन्ति, अपर्याप्तस्य त एव वागुच्छ्वासरहिताश्चत्वारः। त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्पर्शनरसनघ्राणकायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंषि सप्त प्राणा भवन्ति, त एव वागुच्छ्वासरहिताः पंचापर्याप्तस्य। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःकायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंष्यष्टौ प्राणाश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्य भवन्ति, वागुच्छ्वासरहितास्त एव षडपर्याप्तस्य भवन्ति। पंचेन्द्रियस्य कायबलवाग्बलोच्छ्वासायूंषि चासंज्ञिनः पर्याप्तस्य नव प्राणा भवन्ति, त एव वागुच्छ्वासरहिताः सप्त अपर्याप्तस्य। संज्ञिनः पर्याप्तस्य पुनः सर्वेऽपि दश प्राणा भवन्ति, अपर्याप्तस्य मनोवागुच्छ्वासरहितास्त एव सप्त भवन्तीति ॥११९४॥

जीवसमासान्निरूपयन्नाह—

सुहुमा बादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता।
एइंदिया दु जीवा जिणेहिं कहिया चदुवियप्पा ॥११९५॥

ते पुनरेकेन्द्रिया बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ता जिनैश्चतुर्विकल्पाः कथिता इति कृत्वा चत्वारो जीवसमासा भवन्तीति ॥११९५॥

शेषजीवसमासान् प्रतिपादयन्नाह—

पज्जत्तापज्जत्ता वि होंति विगलिंदिया दु छब्भेया।
पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णीय सेसा दु ॥११९६॥

रहित ये ही तीन प्राण होते हैं। दो-इन्द्रिय पर्याप्तक के स्पर्शन, रसना, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये छह प्राण हैं तथा अपर्याप्तक के वचनबल और उच्छ्वास रहित ये ही चार प्राण हैं। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये सात प्राण होते हैं। अपर्याप्तक के वचनबल और उच्छ्वास रहित ये ही पाँच होते हैं। चार इन्द्रिय पर्याप्तक जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये आठ प्राण होते हैं तथा अपर्याप्तक के वचन और उच्छ्वास रहित ये ही छह प्राण होते हैं। पुनः संज्ञी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्तक के स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु, श्रोत्र, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये नव प्राण होते हैं तथा अपर्याप्तक के वचन और उच्छ्वास रहित ये ही सात प्राण होते हैं। पर्याप्तक के सभी दश प्राण होते हैं एवं अपर्याप्तक के मनोबल, वचनबल और उच्छ्वास रहित ये ही सात प्राण होते हैं ॥

जीवसमासों का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—सूक्ष्म और बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे एकेन्द्रिय जीव के चार भेद जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं ॥११९५

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय जीव के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार जीवसमास जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।

शेष जीवसमासों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक होकर छह भेद रूप हो जाते हैं तथा शेष पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी दोनों भेद भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं ॥११९६॥

विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन षड्भेदा भवन्ति तथा पंचेन्द्रियाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्विकल्पा भवन्ति। एवमेते दश जीवसमासाः पूर्वोक्ताश्चत्वारः सर्व एते चतुर्दश जीवसमासा भवन्तीति ॥११९६॥

गुणस्थानानि प्रतिपादयन्ननन्तरं सूत्रद्वयमाह—

मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥११९७॥

एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्ठी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ॥११९८॥

मिथ्या वितथाऽसत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयोऽथवा मिथ्या वितथं तत्र दृष्टी रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयोऽनेकान्ततत्त्वपराङ्मुखाः। आसादनं सम्यक्त्वविराधनं सहासादनेन वर्तत इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनः, अप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामः मिथ्यात्वाभिमुखः। दृष्टिः श्रद्धा रुचिः एकार्थः समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ

आचारवृत्ति—विकलेन्द्रिय—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय, में से प्रत्येक के पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होने से छह हो जाते हैं। पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी दो भेद हैं। इनके भी पर्याप्त-अपर्याप्त भेद होने से चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार ये दश जीवसमास हुए। इन्हीं में पूर्वोक्त एकेन्द्रिय के चार भेद मिला देने से चौदह जीवसमास होते हैं।

गुणस्थानों का प्रतिपादन करते हुए दो सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त ये सात जानना। इससे आगे अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिजिन और अयोगिजिन ये सब चौदह गुणस्थान हैं ॥११९७-११९८॥

आचारवृत्ति—गुणस्थान चौदह हैं। उनके नाम हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिजिन और अयोगिजिन। प्रत्येक का लक्षण कहते हैं।

१. मिथ्यात्व—मिथ्या, वितथ या असत्य दृष्टि—श्रद्धान का नाम मिथ्यादृष्टि है, अर्थात् विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान इन पाँच भेदरूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई है असत्य श्रद्धा जिनके वे मिथ्यादृष्टि हैं। अथवा मिथ्या, वितथ या असत्य में दृष्टि, रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय अर्थात् विश्वास है जिनको वे मिथ्यादृष्टि हैं जो अनेकान्त तत्त्व से विमुख रहते हैं।

२. सासादन—आसादना—सम्यक्त्व की विराधना के सह—साथ जो रहता है वह सासादन है, अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शन का तो विनाश कर दिया है और मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुए परिणाम को अभी प्राप्त नहीं है किन्तु मिथ्यात्व के अभिमुख किया है वह सासादन गुणस्थानवर्ती है।

सम्यङ् मिथ्यादृष्टिः सम्यङ्मिथ्यात्वोदयजनितपरिणामः, सम्यक्त्वमिथ्यात्वोदयक्षयप्राप्तस्पर्द्धकानां क्षयात् सतामुदयाभावलक्षणोपशमाच्च सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः। समीचीना दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः। असंयत-श्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चासंयतसम्यग्दृष्टिः क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकदृष्टिभेदेन त्रिविधः सप्तप्रकृतीनां क्षयेण क्षयोपशमेनोपशमेन च स्यात्। संयतश्चासंयतश्च संयतासंयतः, न चात्र विरोधः संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोः त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात् अप्रत्याख्यानावरणस्य सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्सतां चोपशमात्प्रत्याख्यानावरणी-योदयाच्च संयमासंयमो गुणः। प्रकर्षेण प्रमादवंतः प्रमत्ताः सम्यग्यताः संयताः प्रमत्ताश्च ते संयताश्च प्रमत्त-संयताः, नात्र विरोधो यतः संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्गुप्तिसमित्यनुरक्षितोऽसौ प्रमादेन विनाश्यत इति, प्रमत्तवचनम् अन्तदीपकत्वात् शेषातीतसर्वगुणेषु प्रमत्ताश्रितत्वं सूचयति, प्रमत्तसंयतः संयमोऽपि

---

३. सम्यग्-मिथ्यात्व—दृष्टि, श्रद्धा और रुचि ये एकार्थवाची हैं। समीचन और मिथ्या है दृष्टि—श्रद्धा जिसकी वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। वह सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से उत्पन्न हुए परिणामों को धारण करता है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय प्राप्त स्पर्धकों का क्षय होने से और सत्ता में स्थित कर्मों का उदयाभावलक्षण उपशम होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है।

४. असंयत—सम्यक्—समीचीन दृष्टि—श्रद्धा है जिसकी वह सम्यग्दृष्टि है और जो संयत नहीं वह असंयत है। ऐसे असंयत-सम्यग्दृष्टि के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के भेद से तीन प्रकार हो जाते हैं। चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहनीय इन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक, इनके क्षयोपशम से क्षायोपशमिक और इनके उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होते हैं।

५. देशविरत—देशविरत को संयतासंयत भी कहते हैं। संयत और असंयत की मिश्र अवस्था का नाम संयतासंयत है। इसमें विरोध नहीं है क्योंकि एक जीव में एक साथ संयम और असंयम दोनों का होना त्रसस्थावरनिमित्तक है। अर्थात् एक ही समय में वह जीव त्रसहिंसा से विरत है और स्थावरहिंसा से विरत नहीं है इसलिए संयतासंयत कहलाता है। अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के सर्वघाति-स्पर्धकों का उदयाभावलक्षण क्षय होने से और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय होने से यह संयमासंयम गुण-परिणाम होता है।

६. प्रमत्तसंयत—जो प्रकर्षरूप से प्रमादवान् हैं वे प्रमत्त हैं और जो सम—सम्यक् प्रकार से यत—प्रयत्नशील हैं या नियन्त्रित हैं अर्थात् व्रतसहित हैं वे संयत हैं। तथा जो प्रमत्त भी हैं और संयत भी हैं वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पापों से विरति का नाम संयम है। तथा यह संयम गुप्ति और समिति से अनुरक्षित होने से नष्ट नहीं होता है। अर्थात् प्रमाद संयमी मुनियों का संयम का नाश नहीं कर पाता है किन्तु मलदोष उत्पन्न करता रहता है इसलिए ये प्रमत्तसंयत कहलाते हैं।

यह 'प्रमत्त' वचन अन्तदीपक है अतः पूर्व के सभी गुणस्थानों में जीव प्रमाद के आश्रित हैं ऐसा सूचित हो जाता है। यह संयम-निमित्तक प्रमत्तसंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है और

क्षायोपशमिकः संयमापेक्षया सम्यक्त्वापेक्षया क्षायोपशमिकगुणस्थानकः प्रमत्तसंयतः। पूर्वोक्तलक्षणेन प्रमत्तसंयता, अप्रमत्तसंयताः पंचदशप्रमादरहिताः, एषोऽपि क्षायोपशमिकगुणः प्रत्याख्यानावरणस्य कर्मणः सर्वघातिस्पर्धकानाम् उदयक्षयात् तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात्संज्वलनोदयाच्च। प्रत्याख्यानोत्पत्तेः आदिदीपकत्वाच्चोत्तरत्र सर्वेषाम् अप्रमत्तत्वम्। करणाः परिणामाः, न पूर्वा अपूर्वाः, अपूर्वाः करणा यस्यासौ अपूर्वकरणः, स द्विविधः उपशमकः, क्षपकः, कर्मणामुपशमनक्षपणनिमित्तत्वात्, क्षपकस्य क्षायिको गुणः, उपशमकस्य क्षायिक औपशमिकश्च दर्शनमोहनीयक्षयमन्तरेण क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेर्दर्शनमोहनीयक्षयोपशमाभ्यां विनोपशमकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेश्च। समानसमयस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिरथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिर्न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयस्तैः सह चरितो गुणोऽनिवृत्तिर्गुणः बादरसाम्परायः, सोऽपि द्विविधः उपशमकः क्षपकः काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति काश्चिदुपरिष्टादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽत्र गुणः, काश्चित्प्रकृतीः क्षपयति काश्चित् क्षपयिष्यतीति क्षायिकोऽत्र गुण, औपशमिकश्च क्षायिक, क्षायोपशमिकश्च। सूक्ष्मः साम्परायः कषायो येषां ते सूक्ष्मसाम्परायास्तैः सहचरितो गुणोऽपि सूक्ष्मसाम्परायः, स द्विविधः उपशमकः क्षपकः; सम्यक्त्वापेक्षया

सम्यक्त्व की अपेक्षा से भी क्षायोपशमिक है। अर्थात् यहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी पाया जाता है तथा चारित्र तो क्षायोपशमिक है ही अतः यह गुणस्थान क्षायोपशमिक भावरूप है।

७. अप्रमत्तसंयत—पूर्वोक्त लक्षण से रहित प्रमत्तसंयत ही अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं। ये पन्द्रह प्रमाद से रहित होते हैं। यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिकभावरूप है। यहाँ पर प्रत्याख्यानावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावलक्षण क्षय, उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और संज्वलन कषाय का उदय होने से यह गुणस्थान होता है इसलिए इसमें प्रत्याख्यान- त्याग अर्थात् संयम की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'अप्रमत्त' शब्द आदिदीपक है अतः आगे के सभी गुणस्थानों में अप्रमत्त अवस्था है।

८. अपूर्वकरण—करण अर्थात् परिणाम, जो पूर्व में नहीं प्राप्त हुआ वह अपूर्व है। अपूर्व हैं परिणाम जिसके वह अपूर्वकरण है। उसके दो भेद हैं—उपशमक और क्षपक। ये कर्मों के उपशमन और क्षपण की अपेक्षा रखते हैं। क्षपक के क्षायिक भाव होता है और उपशमक के क्षायिक और औपशमिक दो भाव होते हैं।

दर्शनमोहनीय के क्षय के बिना क्षपक श्रेणी में आरोहण करना बन नहीं सकता इसलिए क्षपक के क्षायिक भाव ही है। तथा दर्शनमोहनीय के क्षय या उपशम के बिना उपशमश्रेणी में आरोहण करना नहीं हो सकता है अतः उपशमक के दोनों भाव हैं।

९. अनिवृत्तिकरण—समान समय में स्थित हुए जीवों के परिणामों की बिना भेद के वृत्ति -रहना अर्थात् उनमें भेद नहीं रहने से अनिवृत्तिकरण है। अथवा निवृत्ति—व्यावृत्ति नहीं है जिनकी वे अनिवृत्ति हैं उनके साथ हुआ चारित्र परिणाम अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। उसका नाम बादर-साम्पराय भी है। उसके भी दो भेद हैं—उपशमक और क्षपक। जो कुछ प्रकृतियों को उपशमित कर रहा है और कुछ प्रकृतियों का आगे करेगा ऐसे उपशमश्रेणीवाले के औपशमिक भाव है। तथा क्षपक कुछ प्रकृतियों का क्षपण करता है और आगे कुछ प्रकृतियों का क्षपण करेगा इसलिए उसके क्षायिक भाव होता है। इन गुणस्थानों में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों भाव पाये जाते हैं।

१०. सूक्ष्मसाम्पराय—सूक्ष्म हैं साम्पराय अर्थात् कषायें जिनकी वे सूक्ष्मसाम्पराय कह-

क्षपकः क्षपकस्य क्षायिको गुणः, औपशमिकस्य क्षायिको गुण, उपशमकस्य क्षायिक औपशमिकश्च काश्चित्
प्रकृतीः क्षपयति क्षपयिष्यति क्षपिताश्चैव क्षायिकः, काश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चेति औप-
शमिकः। मोहशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, उपशांतो मोहो येषां ते उपशांतमोहास्तैः सहचरितो गुण उपशान्तमोह
उपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिकः। क्षीणो विनष्टो मोहो येषां ते क्षीणमोहास्तैः सहचरितो गुणः क्षीणमोहः
द्रव्यभावद्विविधात्मकस्य मोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्क्षायिकगुणा एते सर्वेऽपि छद्मस्थाः। केवलं केवलज्ञानं
विद्यते येषां ते केवलिनः, सह योगेन वर्तन्त इति सयोगाः सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनस्तैः सह-
चरितो गुणः सयोगकेवली, क्षपिताशेषघातिकर्मकत्वात् निःशक्तीकृतवेदनीयकर्मकत्वात् नष्टाष्टकर्मावयवकत्वात्
क्षायिकगुणः केवलिजिनशब्द उत्तरत्राप्यभिसंबध्यते काकाक्षितारकवत्। न विद्यते योगो मनोवचःकाय-
परिस्पंदो द्रव्यभावरूपो येषां तेऽयोगिनस्ते च ते केवलिजिनाश्चायोगिकेवलिजिनास्तैः सहचरितो गुणोऽयोग-
केवलिनः क्षीणाशेषघातिकर्मकत्वात् निरस्यमानाघातिकर्मकत्वाच्च क्षायिको गुणः। च शब्दात् सिद्धा

लाते हैं उनसे सहचरित गुणस्थान सूक्ष्मसांपराय है, वह भी दो प्रकार का है, उपशमक और क्षपक। सम्यक्त्व की अपेक्षा से क्षपक होते हैं। क्षपक के क्षायिक गुण है। औपशमिक के भी क्षायिक गुण है तथा उपशमक के क्षायिक और औपशमिक दोनों भाव हैं। जो किन्हीं प्रकृतियों का क्षय कर रहे हैं, किन्हीं का करेंगे और किन्हीं का कर चुके हैं वे क्षायिक भाववाले क्षपक हैं। तथा जो किन्हीं प्रकृतियों का उपशम कर रहे हैं, किन्हीं का आगे करेंगे और किन्हीं का उपशम कर चुके हैं उनके औपशमिक भाव है।

११. उपशान्तमोह—यहाँ उपशान्त के साथ मोह शब्द लगा लेना चाहिए। इससे, उपशान्त हो गया है मोह जिनका वे उपशान्तमोह हैं। उनसे सहचरित गुणस्थान भी उपशान्तमोह कहलाता है। जिन्होंने अखिल कषायों का उपशमन कर दिया है वे औपशमिक भाववाले हैं।

१२. क्षीणमोह—क्षीण अर्थात् विनष्ट हो गया है मोह जिनका वे क्षीणमोह हैं, उनसे सहचरित गुणस्थान भी क्षीणमोह होता है। द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म का जड़मूल से विनाश हो जाने से यहाँ पर क्षायिक भाव होते हैं। यहाँ तक के सभी जीव छद्मस्थ कहलाते हैं।

१३. सयोगकेवली—केवलज्ञान जिनके पाया जाए वे केवली हैं और जो योग के साथ रहते हैं वे सयोगकेवली जिन हैं। उनसे सहचरित गुणस्थान सयोगकेवली है। यहाँ सम्पूर्ण घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, वेदनीय कर्म की फल देने की शक्ति भी समाप्त हो चुकी है तथा आठों कर्मों के अवयवरूप अन्य उत्तरप्रकृतियों का भी विनाश हो चुका है। यहाँ पर भी क्षायिक भाव हैं। काकाक्षितारक न्याय से 'केवलिजिन' शब्द को आगे के गुणस्थान के साथ भी लगा लेना चाहिए।

१४. अयोगकेवली—जिनके मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दात्मक द्रव्य-भावरूप योग नहीं है वे अयोगी हैं, केवलज्ञान सहित वे अयोगी अयोगकेवलिजिन कहलाते हैं। उनसे सहचरित गुणस्थान भी अयोगकेवलिजिन कहलाता है। यहाँ पर घातिकर्म का तो नाश हो ही चुका है किन्तु सम्पूर्ण अघाति कर्म भी क्षीण हो रहे हैं। वेदनीय भी निःशक्तिक है इसलिए यह भी क्षायिक भावरूप है। अर्थात् ये अयोगकेवली बहुत ही अल्प काल में सर्वकर्मों का निर्मूलन करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त होनेवाले होते हैं। यहाँ तक चौदह गुण-

निष्ठिताः निष्पन्नाः निराकृताशेषकर्माणः बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात् किंचिन्न्यूनस्वदेहाः कोशविनिर्गतसायकोपमा लोकशिखरवासिनः ॥११५७-५८॥

चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य मार्गणास्थानानि निरूपयन्नाह—

गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥११५९॥

गम्यत इति गतिः गतिकर्मोदयापादितचेष्टा, भवाद्भवांतरसंक्रांतिर्वा गतिः; सा चतुर्विधा नरकगतितिर्यग्गतिमनुष्यगतिदेवगतिभेदेन । स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि, अथवा इन्द्र आत्मा तस्य लिंगमिन्द्रियम् इन्द्रेण [1]दृष्टमिति चेन्द्रियं; तद्द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं चेति, निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं, कर्मणा या निर्वर्त्यते सा निर्वृत्तिः, सापि द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदेन, तत्र लोकप्रमितविशुद्धात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानामुत्सेधांगुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिरात्म-

---

स्थानों का संक्षिप्त स्वरूप कहा है। अब इन गुणस्थानों से परे जो सिद्ध भगवान् हैं उनका स्वरूप कहते हैं।

गाथा में 'च' शब्द है उससे सिद्धों का ग्रहण होता है। वे सिद्धपरमेष्ठी निष्ठित, निष्पन्न—परिपूर्ण कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं। उन्होंने अशेष कर्मों का नाश कर दिया है, वे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित अनन्त, अनुपम, सहज, प्रतिपक्ष रहित सुखस्वरूप हैं और सकलगुणों के निधान हैं, चरमशरीर से किंचित् न्यून अपने शरीरप्रमाण हैं, म्यान से निकली हुई तलवार के समान शरीर से निकलकर अशरीरी हो चुके हैं और लोक के शिखर पर विराजमान हो गये हैं।

चौदह गुणस्थानों का प्रतिपादन करके मार्गणास्थानों को कहते हैं—

गाथार्थ— गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं ॥११५९॥

आचारवृत्ति—गति आदि चौदह मार्गणाओं का वर्णन करते हैं—

१. गति 'गम्यते इति गतिः' गमन किये जाने का नाम गति है। गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई चेष्टा अथवा भव से भवान्तर में संक्रमण होना गति है। उसके चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

२. इन्द्रिय—जो अपने-अपने विषय में तत्पर हैं वे इन्द्रियाँ हैं। अथवा इन्द्र नाम आत्मा का है उसके लिंग—चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। या इन्द्र (नामकर्म) के द्वारा बनायी गयी होने से इन्द्रिय संज्ञा है। इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्ति और उपकरण ये दो भेद हैं। तथा भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग ये दो भेद हैं। कर्म के द्वारा जो बनायी जाती है उसका नाम निर्वृत्ति है। वह भी बाह्य-अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। लोकप्रमाण विशुद्ध आत्मा के प्रदेशों में से उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेशों का प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रिय के आकार का हो जाना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उनआत्मप्रदेशों

---

१. क सृष्ट।

प्रदेशैरिन्द्रियव्यपदेशभाक् यः प्रतिनियतचक्षुराद्याकारसंस्थानो नाम कर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः; उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणं, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणं, तदपि द्विविधं, बाह्याभ्यन्तर-भेदात्, तत्र अभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलादिकं, बाह्यं अक्षिपक्ष्मपत्रद्वयादिः; इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशम-विशेषो लब्धिर्यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियं प्रति व्याप्रियते, तन्निमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोगः कार्ये कारणोपचारात्; तदिन्द्रियं पंचविधं [1]स्पर्शनादिभेदेन तानि विद्यन्ते येषां ते एकेन्द्रियादयः। आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिंडः कायः, पृथिवीकायादिनामकर्मजनितपरिणामो वा सः, पृथिवीकायादिभेदेन षड्विधः। आत्मप्रवृत्तिसंकोचविकोचो योगः, मनोवाक्कायावष्टंभबलेन जीवप्रदेशपरिस्पन्दो वा योगः, सः पंच-दशभेदो मनोवचनकायचतुश्चतुःसप्तभेदेन। आत्मप्रवृत्तिमैथुनसंमोहोत्पादो वेदः स्त्रीनपुंसकभेदेन[2] त्रिविधः। [3]क्रोधादिपरिणामवशेन कषंतीति कषायाः, क्रोधमानमायालोभभेदेन चतुःप्रकाराः। भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्

में इन्द्रिय नाम को प्राप्त, प्रतिनियत चक्षु आदि आकार रूप तथा नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई अवस्था विशेष से युक्त जो पुद्गल प्रकट होते हैं वह बाह्य निर्वृत्ति है। जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है, उसके भी दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। नेत्र के कृष्ण-शुक्ल मण्डल आदि आभ्यन्तर उपकरण हैं और पलक आदि बाह्य उपकरण हैं।

इन्द्रियों की रचना के लिए आत्मा में जो क्षयोपशम विशेष होता है उसे लब्धि कहते हैं। उसके सन्निधान से ही आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापार करता है। क्षयोपशम के निमित्त की अपेक्षा करके उत्पन्न होनेवाला आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है। यहाँ कार्य में कारण का उपचार करके ऐसा कहा है। ये इन्द्रियाँ स्पर्शन आदि के भेद से पाँच प्रकार की हैं। ये जिनके पायी जावें वे एकेन्द्रिय आदि जीव है। इन्द्रिय मार्गणा के द्वारा इन जीवों का ही वर्णन किया जाता है।

३. काय—आत्मा की प्रवृत्ति से संचित हुए पुद्गल पिण्ड का नाम काय है। अथवा पृथिवीकाय आदि नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए परिणाम को काय कहते हैं। उसके पृथिवी-काय आदि के भेद से छह प्रकार होते हैं।

४. योग—आत्मा की प्रवृत्ति से जो संकोच-विकोच विस्तार होता है वह योग है। अथवा मन, वचन, काय के अवलम्बन से जो जीव के प्रदेशों का परिस्पन्दन होता है वह योग है। उसके पन्द्रह भेद हैं—मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात, ऐसे पन्द्रह भेद होते हैं।

५. वेद—आत्मा की प्रवृत्ति—चैतन्य पर्याय में मैथुन के संमोह को उत्पन्न करनेवाला वेद है। उसके तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

६. कषाय—जो क्रोध आदि परिणामों के वश से आत्मा को कसती हैं वे कषायें हैं। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद होते हैं।

७. ज्ञान—वस्तु के यथार्थस्वरूप को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान है। अथवा जो स्व

---

१. क चक्षुरादिभेदेन २. क नपुंसकत्वेन भेदेन ३. क सुखदुःखबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः क्रोधमानमाया लोभभेदेन चतुःप्रकारः।

आत्मार्थोपलम्भकं वा तत्पंचविधं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदेनाज्ञानमपि वस्तुस्वरूपाग्राहकमज्ञानं तत् त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानभेदेन । व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां रक्षणपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः, सः सप्तविधः सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन असंयमः संयमासंयमश्च । प्रकाशवृत्तिर्दर्शनं, तच्चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधम् । आत्मप्रवृत्तिसंश्लेषकरी लेश्या, कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्वा, सा च षड्विधा कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याभेदेन । निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः सम्यग्दर्शनादिग्रहणयोग्यस्तद्विपरीतोऽभव्योऽनादिनिधनकर्मबन्धः । तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं वा तत्क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदेन त्रिविधं, मिथ्यात्वसासादनसम्यङ्मिथ्यात्वभेदेन च तद्विपरीतं त्रिविधं । शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राहिकः संज्ञी तद्विपरीतोऽसंज्ञी । शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः स विद्यते यस्य स आहारी तद्विपरीतोऽनाहारी । अत्र सर्वोऽपि विभक्तिनिर्देशः प्रथमाविभक्त्यर्थे द्रष्टव्योऽथवा प्राकृतबलादेकारादयश्चशब्दः सर्वविशेषसंग्रहार्थः समुच्चयार्थो वा ॥११५५॥

और पर पदार्थ को उपलब्ध करनेवाला है वह ज्ञान है । उसके पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । वस्तु के विपरीत स्वरूप को बतानेवाला अज्ञान है । वह मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान की अपेक्षा तीन भेदरूप है ।

८. संयम—व्रतों का रक्षण, समिति का पालन, कषायों का निग्रह, दण्ड—मन-वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियों का जय करना यह संयम है । इसके सात भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच तो संयम हैं तथा असंयम और संयमासंयम ये सब मिलकर सात होते हैं ।

९. दर्शन— प्रकाशवृत्ति का नाम दर्शन है अर्थात् सामान्य विशेषात्मक चित्-स्वरूप आत्मा को प्रकाशित करनेवाला दर्शन है । उसके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।

१०. लेश्या—आत्मा की प्रवृत्ति में संश्लेष या बन्ध को करानेवाली लेश्या है । अथवा कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है । उसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ।

११. भव्य—निर्वाण को प्राप्त करानेवाले सम्यग्दर्शन आदि को जो ग्रहण करने के योग्य हैं वे भव्य हैं । उससे विपरीत जीव अभव्य हैं जिनका कर्मबन्ध अनादि-अनन्त है ।

१२. सम्यक्त्व—तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है । अथवा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य से अभिव्यक्ति लक्षणवाला सम्यक्त्व है । इसके क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीन भेद हैं । तथा इसके विपरीत मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद हैं ।

१३. संज्ञी—शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप आदि को जो ग्रहण कर लेते हैं वे संज्ञी हैं । उनसे विपरीत जीव असंज्ञी हैं ।

१४. आहार—शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड का ग्रहण करना आहार है । यह आहार जिनके है वे आहारी—आहारक कहलाते हैं और उनसे विपरीत अनाहारी—अनाहारक होते हैं ।

यहाँ पर गाथा में जो भी विभक्ति का निर्देश है वह प्रथमा विभक्ति के अर्थ में लेना चाहिए । अथवा प्राकृत व्याकरण के अनुसार एकार आदि तथा 'च' शब्द सर्वविशेष के संग्रह करने के लिए या समुच्चय के लिए है ।

एवं चतुर्दश मार्गणास्थानानि प्रतिपाद्य तत्र जीवगुणस्थानानि निरूपयन्नाह —

जीवाणं खलु ठाणाणि जाणि गुणसण्णिदाणि ठाणाणि ।
एदे मग्गणठाणेसु चेव परिमग्गदव्वाणि ॥१२००॥

जीवानां यानि स्थानानि गुणसंज्ञकानि च यानि स्थानानि तान्येतानि मार्गणास्थानेषु तान्येषु स्फुटं मार्ग्य कथयितव्यानि यथासम्भवं द्रष्टव्यानीत्यर्थः ॥१२००॥

तदेव दर्शयन्नाह—

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु ।
मग्गणठाणस्सेदं णेयाणि समासठाणाणि ॥१२०१॥

इस तरह चौदह मार्गणास्थानों का प्रतिपादन करके उनमें जीवसमास और गुणस्थानों को निरूपित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जीवों के जो स्थान हैं और जो गुण नामक स्थान—गुणस्थान हैं उनको मार्गणास्थानों में लगाना चाहिए ॥१२००॥

आचारवृत्ति—जीवस्थान—अर्थात् जीवसमासों को और गुणस्थानों को मार्गणाओं में जो जहाँ सम्भव हैं उन्हें वहाँ घटित करना चाहिए।

उसी को दिखाते हैं—

गाथार्थ—तिर्यंचगति में चौदह जीवसमास होते हैं। शेष गतियों में दो-दो हैं ऐसा जानो। मार्गणास्थानों में इन समासस्थानों को जानना चाहिए ॥१२०१॥*

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में इस गाथा के उत्तरार्ध में अन्तर है, तथा सभी मार्गणाओं में जीवसमासों को बताने के लिए पृथक् ११ गाथाएँ और हैं—

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु ।
एइंदिएसु चउरो दो दो विगलिंदिएसु हवे ॥

अर्थ—तिर्यंच गति में चौदह जीवसमास होते हैं, शेष—तीनों गतियों में दो-दो होते हैं ऐसा जानो। एकेन्द्रियों में चार जीवसमास होते हैं एवं विकलेन्द्रियों में भी प्रत्येक के दो-दो जीवसमास होते हैं।

पंचिंदिएसु चत्तारि होंति काये तहा पुढवि आदीसु ।
दस तसकाये भणिदा मणजोगे जाण एक्केक्कं ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय में चार जीवसमास हैं। तथा कायमार्गणा में पृथिवी आदि, पाँच स्थावर काय में चार जीवसमास हैं एवं त्रसकाय में दस जीवसमास होते हैं। योग मार्गणा में मनोयोग में प्रत्येक में एक-एक जीवसमास है।

तिण्हं वचिजोगाणं एक्केक्कं सच्चमोस वज्जित्ता ।
तस्स य पंचय भणिदा पज्जत्ता जिणवरिंदेहिं ॥

अर्थ—असत्य—मृषा को छोड़कर तीन वचन योग में प्रत्येक में एक-एक जीवसमास है तथा असत्य-मृषा नाम अनुभय वचनयोग में पाँच पर्याप्तक जीवसमास होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

तिरश्चां गतिस्तिर्यग्गतिस्तस्यां तिर्यग्गतौ जीवसमासस्थानानि चतुर्दशैवापि भवन्ति सर्वकाले-केन्द्रियबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तपंचेन्द्रियसंज्ञिसंज्ञिपर्याप्तानां संभवात् ।

आचारवृत्ति—तिर्यंचगति में चौदह ही जीवसमास होते हैं। अर्थात् एकेन्द्रिय के बादर-सूक्ष्म और उनके पर्याप्त-अपर्याप्त, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय सैनी-असैनी पर्याप्त-अपर्याप्त के चौदह ही जीवसमासस्थान संभव हैं। शेष—नरकगति, मनुष्यगति और देवगति में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो-दो जीवसमास

ओरालियम्मि सत्त य मिस्सम्मि इयर अट्ठ मिस्सस्स ।
वेउव्विय मिस्सस्स य सण्णिं जाण एक्केक्कं ॥

अर्थ—औदारिक काय योग में सात पर्याप्तक जीवसमास हैं, औदारिक मिश्र में सातों अपर्याप्त और एक संज्ञी पर्याप्त ये आठ हैं, वैक्रियिक में और वैक्रियिकमिश्र में एक-एक जीवसमास हैं।

आहारदुगस्सेगं कम्मइए अट्ठ अपरिपुण्णा दु ।
थीपुरिसेसु य चउरो णवुंसये चोद्दसा भणिया ॥

अर्थ—आहारक और आहारकमिश्र में एक जीवसमास है, कार्मण काययोग में सात अपर्याप्त और एक पर्याप्त ये आठ जीवसमास हैं। स्त्रीवेद और पुरुषवेद में चार-चार तथा नपुंसक वेद में चौदह ही जीवसमास हैं।

चोद्दस कसायमग्गे मदिसुदअवधिम्हि जाण दो दो दु ।
मणपज्जवम्हि एक्कं एक्कदुगं केवले णाणे ॥

अर्थ—कषायमार्गणा में चौदह जीवसमास होते हैं जबकि मति, श्रुत, अवधि में दो-दो, मनःपर्ययज्ञान में एक और केवलज्ञान में एक संज्ञी पर्याप्त है तथा समुद्घात में एक संज्ञी अपर्याप्त है।

मदिअण्णाणे चोद्दस सुदम्हि तह एक्क ओहिविवरीदो ।
सामाइयादि एक्कं असंजमे चोद्दसा होंति ॥

अर्थ—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान में चौदह जीवसमास, कुअवधि में एक, सामायिक आदि पाँचों संयमों में एक, संयमासंयम में एक और असंयम में चौदह जीवसमास हैं।

चक्खुम्हि दंसणम्हि य तिण्णि छ वा चोद्दसा अचक्खुम्हि ।
ओहिम्हि दोण्णि भणिया एक्कं वा दोण्णि केवलगे ॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शन में तीन अथवा छह जीवसमास हैं अर्थात् अपर्याप्त की अपेक्षा से भी तीन होने से छह हैं, यद्यपि अपर्याप्त अवस्था में चक्षुदर्शन लब्धिरूप है, उपयोगरूप नहीं है। अचक्षुर्दर्शन में चौदह हैं, अवधिदर्शन में एक है और केवलदर्शन में एक अथवा दो हैं।

किण्हादीणं चोद्दस तेउस्स दु दोण्णि होंति विण्णेया ।
पउमासुक्केसु दो दो चोद्दस भव्वे अभव्वे य ॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोत में चौदह-चौदह, पीत में दो पद्म और शुक्ल में दो-दो तथा भव्य-अभव्य में चौदह जीवसमास हैं।

-वेदकं पुनर्वेदकक्षायिकेषु द्वौ द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ जीवसमासौ भवतः न खलु तृतीयं सम्भवति, एवं सर्वेषु मार्गणास्थानेषु इन्द्रियादिषु एतानि जीवसमासस्थानानि परमागमानुसारेणान्वेष्टव्यानीति। तद्यथा—एकेन्द्रियेषु बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ताश्चत्वारो जीवसमासाः, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तौ द्वौ द्वावेव जीवसमासौ, पंचेन्द्रियेषु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताश्चत्वारो जीवसमासाः, पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकेषु एकैकशो बादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्ताश्चत्वारश्चत्वारः त्रसकायिकेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिनः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्ता दश जीवसमासाश्चतुर्षु मनोयोगेषु सत्यमनो-

---

हैं, इनमें तीसरा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सभी इन्द्रिय आदि मार्गणास्थानों में ये जीव-समासस्थान परमागम के अनुसार लगा लेना चाहिए अर्थात् सभी मार्गणाओं में जीवसमास का अन्वेषण करना चाहिए।

उसे ही कहते हैं—

एकेन्द्रिय में बादर-सूक्ष्म और इनके पर्याप्त-अपर्याप्त ऐसे चार जीवसमास हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त ये दो-दो जीवसमास हैं तथा पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी एवं उनके पर्याप्त-अपर्याप्त ऐसे चार जीवसमास हैं।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक में एक-एक के बादर-सूक्ष्म और पर्याप्त-अपर्याप्त ये चार-चार जीवसमास हैं। त्रसकायिक में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो जीव-समास होने से सब मिलाकर दस जीवसमास हो जाते हैं।

उवसमवेदगखइये सम्मत्ते सण्णि होंति दो दो दु।
सम्मामिच्छत्तम्मि य सण्णी खलु होइ पज्जत्तो ॥

अर्थ—उपशम, वेदक, क्षायिक सम्यक्त्व में दो-दो तथा सम्यग्मिथ्यात्व में एक संज्ञी पर्याप्त जीव-समास है।

पज्जत्तापज्जत्ता सासणसम्मम्हि सत्त णायव्वा।
मिच्छत्ते चोद्दसया दो बारस सण्णि इयरम्हि ॥

अर्थ—सासादन में सूक्ष्म अपर्याप्त को छोड़कर छह अपर्याप्त और एक सैनी पर्याप्त, ऐसे सात जीव समास हैं। मिथ्यात्व में चौदह, संज्ञी में दो और असंज्ञी में बारह जीवसमास होते हैं।

सुहुमदुगं वज्जित्ता से से पज्जत्तया य छच्चेव।
सण्णीओ पज्जत्तं पि एव सत्तेव सासणे णेया ॥

अर्थ—सासादन गुणस्थान में सूक्ष्मद्विक—पर्याप्त-अपर्याप्त को छोड़कर शेष छह अपर्याप्त, और संज्ञी पर्याप्तक, ये सात जानना।

आहारम्हि य चोद्दस इयरम्हि वा अट्ठ अपरिपुण्णा दु।
जीवसमासा एवं मग्गणठाणेसु भणिया ॥

अर्थ—आहारमार्गणा में चौदह, अनाहारक में आठ अर्थात् सात अपर्याप्त और एक संज्ञी पर्याप्त ऐसे आठ जीवसमास होते हैं।

सत्यमनोयोगासत्यमनोयोगोभयमनोयोगेषु, अनुभयमनोयोगेषु संज्ञिपर्याप्तक एको जीवसमासः, त्रिषु वचोयोगेषु सत्यमृषोभयवचोयोगेषु संज्ञिपर्याप्त एक, अनुभयवचोयोगे द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिनः पर्याप्ताः पञ्च, औदारिककाययोगे बादरसूक्ष्मैकविकलेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिनः पर्याप्ताः सप्त, औदारिकमिश्रकाययोगे त एव निर्वृत्त्यपर्याप्ताः संज्ञिपर्याप्तश्चाष्टौ। वैक्रियिककाययोगे संज्ञी पर्याप्त एकः, वैक्रियिकमिश्रकाययोगे निर्वृत्त्यपर्याप्तापेक्षया संज्ञ्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्तापेक्षया लब्ध्यपर्याप्तः। आहारकाहारकमिश्रयोगे एक एव संज्ञी पर्याप्तः। कार्मणकाययोगे सप्तापर्याप्ताः अष्टमः संज्ञी पर्याप्तो लोकपूरणस्थः। स्त्रीवेदे पुंवेदे च संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताश्चत्वारः। नपुंसकवेदे च चतुर्दशापि। क्रोधमानमायालोभेषु चतुर्दशापि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोश्चतुर्दशापि, मतिश्रुतावधिज्ञानेषु द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ निर्वृत्त्यपर्याप्तापेक्षया, केवलमनःपर्ययविभंगज्ञानेषु संज्ञी पर्याप्त एकः। सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातसंयमेषु संयमासंयमे च संज्ञी पर्याप्त एक एव, असंयमे च चतुर्दशापि। चक्षुर्दर्शने चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताः षट्, अपर्याप्तकालेऽपि

सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग इन चारों में एक संज्ञी-पर्याप्त जीवसमास है। सत्य, असत्य और उभय इन तीनों वचनयोगों में एक संज्ञीपर्याप्त जीवसमास है। अनुभयवचनयोग में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय सैनी और असैनी ये पाँचों पर्याप्तक-रूप पाँच जीवसमास होते हैं। औदारिककाययोग में बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सैनी-असैनी के पर्याप्तक सम्बन्धी सात जीवसमास होते हैं। किन्तु औदारिकमिश्रकाययोग में ये सात अपर्याप्त रहते हैं तथा एक संज्ञी पर्याप्तक[1] ऐसे आठ जीवसमास होते हैं। वैक्रियिककाययोग में संज्ञीपर्याप्त एक है तथा वैक्रियिकमिश्रकाययोग में निर्वृत्त्यपर्याप्तक की अपेक्षा संज्ञीअपर्याप्त एक जीवसमास, एवं लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा लब्ध्यपर्याप्त[2] एक जीवसमास होता है। आहार और आहारमिश्रयोग में एक संज्ञीपर्याप्तक जीवसमास होता है। कार्मणकाययोग में सात अपर्याप्तक एवं एक संज्ञीपर्याप्तक ऐसे आठ जीवसमास होते हैं। कार्मणकाययोग में यह संज्ञी-पर्याप्त जीवसमास केवली के लोकपूरणसमुद्घात की अवस्था में होता है।

स्त्रीवेद में संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त और पुरुषवेद में असंज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त ये चार जीवसमास हैं। नपुंसकवेद में चौदहों जीवसमास होते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों में चौदह जीवसमास भी संभव हैं।

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में संज्ञीपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो जीवसमास हैं। यहाँ अपर्याप्त जीवसमास निर्वृत्त्यपर्याप्त की अपेक्षा से है। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और विभंग-ज्ञान में एक संज्ञीपर्याप्तक जीवसमास है।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यातसंयम तथा संयमासंयम में संज्ञीपर्याप्तक एक ही जीवसमास है। असंयम में चौदहों जीवसमास हैं।

चक्षुर्दर्शन में चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के संज्ञी-असंज्ञी तथा इनके पर्याप्त-अपर्याप्त ऐसे छह जीवसमास हैं। अपर्याप्तकाल में भी चक्षुर्दर्शन माना गया है, क्योंकि वहाँ भी क्षयोपशम

---

१. औदारिक मिश्र में संज्ञी पर्याप्तक का भेद समुद्घातगतकेवली की अपेक्षा से है। कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान में भी चौदह जीवसमास होते हैं।

२. यह बादर वायुकायिक और बादर अग्निकायिक की अपेक्षा है।

चक्षुर्दर्शनं क्षयोपशमस्य सद्भावादनुपयोगः पुनर्नास्त्येव अचक्षुर्दर्शने चतुर्दशाप्यवधिदर्शने द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ, केवलदर्शने च संज्ञिपर्याप्त एक एव, कृष्णनीलकापोतलेश्यासु चतुर्दशापि, तेजःपद्मशुक्ललेश्यासु द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ, भव्याभव्यसिद्धेषु चतुर्दशापि, क्षायोपशमिकक्षायिकसासादनसम्यक्त्वेषु उपशमश्रेण्यपेक्षया औपशमिकसम्यक्त्वे च द्वौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ सम्यङ्मिथ्यात्वे प्रथमसम्यक्त्वे च पर्याप्तः संज्ञी एक एव, मिथ्यात्वे चतुर्दशापि, संज्ञिषु संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ द्वौ,[1] आहारिषु चतुर्दशापि अनाहारिषु सप्तापर्याप्ताः अष्टमः संज्ञी पर्याप्तः केवली। सर्वत्र जीवसमासा इति संबन्धः ॥१२०१॥

इति मार्गणास्थानेषु जीवसमासान् प्रतिपाद्य गुणस्थानानि प्रतिपादयन्नाह—

सुरणारयेसु चत्तारि होंति तिरियेसु जाण पंचेव ।
मणुसगदीएवि तहा चोद्दसगुणणामधेयाणि ॥१२०२॥

सुरेषु नारकेषु च मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतपर्यन्तानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, तिर्यक्षु तान्येव अधिकानि[2] संयतासंयतश्च पंच भवन्ति, मनुष्यगतौ पुनः चतुर्दशापि मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगपर्यन्तानि गुणस्थानानि

का सद्भाव है। उस अवस्था में उपयोग तो है ही नहीं। अचक्षुर्दर्शन में चौदहों संभव हैं। अवधि-दर्शन में संज्ञीपर्याप्त और अपर्याप्त ये दो हैं और केवलदर्शन में संज्ञी पर्याप्तक ही है।

कृष्ण, नील और कापोत इन तीनों लेश्याओं में चौदहों और पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो हैं।

भव्यसिद्ध जीवों में तथा अभव्यों में भी चौदहों संभव हैं।

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-सम्यक्त्व और सासादन-सम्यक्त्व इनमें तथा उपशम श्रेणी की अपेक्षा से औपशमिक सम्यक्त्व में संज्ञीपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो जीवसमास हैं। सम्यग्मिथ्यात्व और प्रथमसम्यक्त्व (प्रथमोपशमसम्यक्त्व) में एक संज्ञीपर्याप्तक जीव-समास है। मिथ्यात्व में चौदहों जीवसमास हैं। असंज्ञी तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में संज्ञी-पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो हैं।

आहारी जीवों में चौदहों जीवसमास हैं। अनाहारी जीवों में सात अपर्याप्तक तथा संज्ञीपर्याप्तक ये आठ हैं। यहाँ यह संज्ञीपर्याप्तक जीवसमास केवली के कार्मणकाययोग की अपेक्षा से है।

इस तरह सर्वत्र जीवसमासों का कथन है।

मार्गणा-स्थानों में जीवसमासों का प्रतिपादन कर अब गुणस्थानों को कहते हैं—

गाथार्थ—देव और नारकियों में चार गुणस्थान होते हैं। तिर्यंचों में पाँच गुणस्थान ही होते हैं। मनुष्यों में चौदह गुणस्थान होते हैं ॥१२०२॥

आचारवृत्ति—देव और नारकियों में मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत पर्यन्त चार गुण-स्थान होते हैं। तिर्यंचों में ये चार और संयतासंयत इस प्रकार पाँच होते हैं। मनुष्यों में मिथ्या-दृष्टि से लेकर अयोग पर्यन्त चौदह गुणस्थान होते हैं। इसी प्रकार से सभी मार्गणाओं में घटित

---

१. असंज्ञिषु शेषा द्वादशजीवसमासाः। २. क संयतासंयताधिकानि।

भवन्ति, इत्येवं सर्वासु मार्गणासु योज्यम्। तद्यथा—एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियेषु सर्वेषु मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेकमेव, संज्ञिषु चतुर्दशापि गुणस्थानानीति सर्वत्र संबन्धः। पृथिवीकायाप्कायतेजःकाय-वायुकायवनस्पतिकायेषु मिथ्यादृष्टिसंज्ञकमेकं, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तत्रसेष्वेकमेव मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, संज्ञिषु त्रसेषु चतुर्दशापि, सत्यमनोयोगासत्यमृषामनोयोगसत्यवाग्योगासत्यमृषावाग्योगेषु मिथ्यादृष्ट्यादिसयोग-पर्यन्तानि, मृषामनोयोगसत्यमृषामनोयोगमृषावाग्योगसत्यमृषावाग्योगेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि, औदारिककाययोगे मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तानि, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगे मिथ्यादृष्टिसासादनासंयत-सम्यग्दृष्टिसयोगकेवलिसंज्ञकानि चत्वारि, वैक्रियिककाययोगे मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतान्तानि, वैक्रियिकमिश्रकाययोगे तान्येव सम्यक् मिथ्यादृष्टिरहितानि, आहाराहारमिश्रयोगयोरेकं प्रमत्तगुणस्थानम्। पुंवेदे भावापेक्षया स्त्रीवेदे नपुंसकवेदे च मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिपर्यन्तानि स्त्रीनपुंसकयोर्द्रव्यापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतान्तानि, पुंल्लिंगे सर्वाणि, क्रोधमानमायासु तान्येव लोभकषायेषु सूक्ष्मसाम्परायाधिकानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानेषु मिथ्या-दृष्टिसासादनसंज्ञके द्वे, मतिश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानि, मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तादि-

---

कर लेना चाहिए। तदनुसार—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सभी में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है। संज्ञी पंचेन्द्रियों में चौदहों गुणस्थान होते हैं।

पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन पांच स्थावर-कायों में मिथ्यादृष्टि नाम का एक ही गुणस्थान है। द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रसों में भी मिथ्यात्व गुणस्थान ही है। संज्ञी त्रसकाय के चौदहों हैं।

सत्यमनोयोग और असत्यमृषामनोयोग (अनुभय) में, उसी तरह सत्यवचनयोग और असत्यमृषावचनयोग (अनुभय) इन चारों में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीपर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। असत्यमनोयोग और सत्यमृषामनोयोग (उभय) में तथा असत्यवचनयोग और सत्य-मृषावचनयोग (उभय) में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं। औदारिककाययोग में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीपर्यन्त गुणस्थान हैं। औदारिकमिश्र और कार्मणकाययोग में मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिककाययोग में मिथ्यादृष्टि से असंयतपर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं और वैक्रियिकमिश्रकाययोग में सम्यग्मिथ्यादृष्टिरहित ये ही तीन होते हैं। आहार और आहारमिश्रयोग में एक प्रमत्त गुणस्थान ही होता है।

पुंवेद में तथा भाववेद की अपेक्षा स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरणपर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से स्त्री और नपुंसकवेद में अर्थात् द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसकवेद वालों में मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयतपर्यन्त पांच गुणस्थान होते हैं। पुरुषवेद में सभी गुणस्थान होते हैं।

क्रोध, मान और माया इन तीन कषायों में वे ही अर्थात् मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिपर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं और लोभकषाय में सूक्ष्मसाम्पराय अधिक अर्थात् दस गुण-स्थान होते हैं।

मति-अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान में मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो ही गुण-

क्षीणकषायान्तानि, केवलज्ञाने सयोग्ययोगिसंज्ञके द्वे अतीतगुणस्थानं च, सामायिकच्छेदोपस्थापनयोः प्रमत्ताद्यनिवृत्त्यन्तानि चत्वारि, परिहारविशुद्धिसंयमे प्रमत्ताप्रमत्तसंज्ञके द्वे सूक्ष्मसाम्परायसंयमे सूक्ष्मसाम्परायमित्येकं, यथाख्यातसंयमे उपशान्ताद्ययोग्यन्तानि, संयमासंयमे संयतासंयतमेकं[1], असंयमे मिथ्यात्वाद्यसंयतान्तानि, चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानि, अवधिदर्शनेऽसंयतादिक्षीणकषायान्तानि, केवलदर्शने सयोग्ययोगिसंज्ञके द्वे अतीतगुणस्थानं च, कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतान्तानि, तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानि, शुक्ललेश्यायां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोग्यन्तानि, [illegible] गुणस्थानेन भव्यसिद्धेषु चतुर्दशापि, अभव्यसिद्धेष्वेकं मिथ्यादृष्टिसंज्ञकं, औपशमिकसम्यक्त्वेऽसंयताद्युपशान्तकषायान्तानि, वेदकसम्यक्त्वे असंयताद्यप्रमत्तान्तानि, क्षायिकसम्यक्त्वेऽसंयताद्ययोग्यन्तानि, सासादनसंज्ञके सासादनमेकं, सम्यक्मिथ्यात्वे सम्यक्मिथ्यादृष्टिसंज्ञकं, संज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानि,

---

स्थान हैं। मति, श्रुत और अवधिज्ञान में असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। मनःपर्ययज्ञान में प्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञान में सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान होते हैं। गुणस्थानों से अतीत—सिद्ध अवस्था भी होती है।

सामायिक और छेदोपस्थापना-संयम में प्रमत्त से लेकर अनिवृत्तिकरण पर्यन्त चार गुणस्थान हैं। परिहारविशुद्धिसंयम में प्रमत्त और अप्रमत्त नामक दो हैं। सूक्ष्मसाम्पराय नामक संयम में सूक्ष्मसाम्पराय नाम का एक (दशम) गुणस्थान ही है। यथाख्यातसंयम में उपशान्त से लेकर अयोगीपर्यन्त चार गुणस्थान हैं। संयमासंयम में संयतासंयत नामक एक (पाँचवाँ) गुणस्थान ही है और असंयम में मिथ्यात्व से लेकर असंयत पर्यन्त चार गुणस्थान हैं।

चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन में मिथ्यात्व से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त बारह हैं। अवधिदर्शन में असंयत से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त नौ हैं। केवलदर्शन में सयोगी और अयोगी नामक दो गुणस्थान हैं। गुणस्थान से अतीत—सिद्ध भी हैं।

कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओं में मिथ्यादृष्टि से असंयतपर्यन्त चार हैं। पीत और पद्म लेश्या में मिथ्यात्व से अप्रमत्तपर्यन्त सात हैं। शुक्ल लेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीपर्यन्त तेरह गुणस्थान हैं। यहाँ जो योगप्रवृत्ति पहले कषाय सहित थी वह अब कषाय न होने पर भी है इससे उपचार से शुक्ल लेश्या मानी गयी है।

भव्य सिद्ध जीवों में चौदहों गुणस्थान हैं और अभव्य असिद्ध में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही है।

औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत से लेकर उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठ हैं। वेदकसम्यक्त्व में असंयत से अप्रमत्तपर्यन्त चार हैं। क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत से लेकर अयोगीपर्यन्त ग्यारह गुणस्थान हैं। सासादन में सासादन नाम का एक ही गुणस्थान है। सम्यग्मिथ्यात्व में सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तीसरा ही गुणस्थान है।

संज्ञी जीवों में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त बारह गुणस्थान हैं, असंज्ञी जीवों में मिथ्यादृष्टि नामक एक ही गुणस्थान है।

---

१. ब [illegible]

[illegible]मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानि, आहारेषु मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तानि । नोकर्मापेक्षया न कवलाहारापेक्षया [illegible] । अनाहारिषु मिथ्यादृष्टिसासादनासंयतसम्यग्दृष्टिसयोग्ययोगिजिनाः [illegible] अपेक्षयेति ॥१२०२॥

जीवगुणमार्गणास्थानानि प्रतिपाद्य तत्सूचितं क्षेत्रप्रमाणं द्रव्यप्रमाणं च प्रतिपादयन्नाह—

एइंदिया य पंचेंदिया य उड्ढमहोतिरियलोएसु ।
सयलविगलिंदिया पुण जीवा तिरियंमि लोयंमि ॥१२०३॥*

आहार मार्गणा में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीपर्यन्त तेरह गुणस्थान हैं। यह कथन नोकर्म आहार की अपेक्षा से ही है, कवलाहार की अपेक्षा से नहीं क्योंकि केवलियों में कवलाहार का अभाव है। अनाहारी जीवों में मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि सयोगिजिन और अयोगिजिन नामक पाँच गुणस्थान हैं। आदि के तीन गुणस्थान तो विग्रहगति की अपेक्षा से हैं और सयोगिजिन में प्रतर और लोकपूरण समुद्घात की अपेक्षा से कथन है।

जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा स्थानों का प्रतिपादन करके अब सूत्र में सूचित क्षेत्रप्रमाण और द्रव्यप्रमाण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में रहते हैं किन्तु सभी विकलेन्द्रिय जीव तिर्यग्लोक में ही हैं ॥१२०३॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में निम्नलिखित १५ गाथाएँ अधिक हैं। इनके द्वारा इन्द्रिय आदि सभी मार्गणाओं में गुणस्थानों को घटित किया गया है—

एयवियलिंदियाणं मिच्छादिट्ठित्त होइ गुणठाणं ।
सासादणमवि केहि वि भणियं चोद्दस सयलिंदियाणं तु ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। कोई आचार्य एकेन्द्रियों में तेज और वायु को छोड़कर शेष तीन में सासादन भी कहते हैं। पंचेन्द्रियों में चौदह गुणस्थान हैं।

पुढवीकायादीणं पंचह्णु कायाणि मिच्छगुणठाणं ।
तसकायिएसु चोद्दस भणिया गुणठाणजीवाणि ॥

अर्थ—पृथिवीकाय आदि पाँच में मिथ्यात्व गुणस्थान है। त्रसकाय में चौदह गुणस्थान हैं।

सच्चे अणुभयजोगे मणवयणजोगे य तह य दोण्हं पि ।
मिच्छादिट्ठिप्पहुदी जोगंता तेरसा होंति ॥

अर्थ—सत्य-मन-वचनयोग में और असत्यमृषा-मन-वचनयोग में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी-पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। शेष दो मनोयोग और दो वचनयोग में पहले से क्षीणकषाय तक होते हैं।

वेउव्वकायजोगे चउरो हवंति तिण्णि मिस्सम्मि ।
आहारदुगम्मि पमत्तठाणं जिणाणाहि ॥

अर्थ—वैक्रियिक काययोग में आदि के चार एवं वैक्रियिकमिश्र में तृतीय को छोड़कर वे ही तीन गुणस्थान होते हैं। आहारक-द्वय में एक प्रमत्त-गुणस्थान ही होता है।

एकेन्द्रियाः पंचेन्द्रियाश्च जीवा ऊर्ध्वलोके अधोलोके तिर्यग्लोके च भवन्ति विकलेन्द्रियाः पुनः सकलाः समस्ताः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियाश्च तिर्यग्लोक एव नान्यत्र यस्मात्तेषां नरकलोके

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक और तिर्यग्लोक में होते हैं। किन्तु दो-इन्द्रिय तीन-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय ये सभी जीव तिर्यग्लोक में ही हैं, अन्यत्र नहीं है। क्योंकि इनका नरकलोक में, देवलोक और सिद्धक्षेत्र में अभाव है।

कम्मइयस्स य चउरो तिसु वेदेसु होंति णव चेव ।
कोहे य कसायत्तं लोभस्स वियाण दस ठाणं ॥

अर्थ—कार्मणकाययोग में मिथ्यात्व, सासादन, असंयत और सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। तीनों वेदों में भाववेद की अपेक्षा नौ गुणस्थान होते हैं। वेद के समान ही तीनों कषायों में नौ गुणस्थान एवं लोभकषाय में दस गुणस्थान होते हैं।

तिण्णं अण्णाणाणं मिच्छादिट्ठी य सासणो होदि ।
मदिसुदओहीणाणे चउत्थादो जाव खीणंता ॥

अर्थ—तीन कुज्ञान में मिथ्यात्व और सासादन ये दो होते हैं। मति, श्रुत और अवधिज्ञान में चौथे से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होते हैं।

मणपज्जवम्हि णियमा सत्तेव य संजदा समुद्दिट्ठा ।
केवलिणाणे णियमा जोगि अजोगी य दोण्णि भवे ॥

अर्थ—मनःपर्ययज्ञान में प्रमत्त से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त सात ही संयत गुणस्थान हैं। केवलज्ञान में नियम से सयोगी और अयोगी ये दो ही माने हैं।

सामायियछेदणदो जाव णियट्टि त्ति परिहारमप्पमत्तोत्ति ।
सुहुमं सुहुमसरागे उवसंतादी जहाखादं ॥

अर्थ—सामायिक-छेदोपस्थापना में छठे से अनिवृत्तिकरणपर्यन्त हैं। परिहारसंयम में प्रमत्त और अप्रमत्त तक दो ही होते हैं। सूक्ष्मसरागसंयम में सूक्ष्मसाम्पराय ही है और उपशान्त से लेकर अयोगीपर्यन्त चार गुणस्थान यथाख्यातसंयम में होते हैं।

विरदाविरदं एक्कं संजमविरदस्स होदि गुणठाणं ।
हेट्ठिमगा चउरो खलु असंजमे होंति णायव्वा ॥

अर्थ—संयमासंयम में विरताविरतनामक एक गुणस्थान है, और असंयम में आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

मिच्छादिट्ठिप्पहुदी चक्खु अचक्खुस्स होंति खीणंता ।
ओधिस्स अविरदपहुदि केवल तह दंसणे दोण्णि ॥

अर्थ—चक्षु और अचक्षु-दर्शन में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त, अवधिदर्शन में अविरत से लेकर क्षीणकषाय तक एवं केवलदर्शन में दो गुणस्थान हैं।

मिच्छादिट्ठिप्पहुदी चउरो सत्तेव तेरसंतं ।
तिण्हुण एक्कलेस्सं किण्हादीहीणलेस्साणं ॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में मिथ्यादृष्टि से लेकर चार गुणस्थान पर्यन्त, आगे की दो लेश्याओं में पहले से सातपर्यन्त एवं शुक्ल लेश्या में पहले से लेकर तेरहवें पर्यन्त गुणस्थान हैं।

तिर्यग्लोके स्थिताः, यद्यपि पंचेन्द्रिया ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकेषूक्ताः सामान्येन तथापि प्रधानतो लोकासंख्यात-भागे तिष्ठन्तीति, केवलिसमुद्घातापेक्षया पुनर्लोकस्य संख्यातभागेऽसंख्यातभागे, सर्वलोके चासंज्ञिपंचेन्द्रियेष्वपि[1] तथैवेति ॥१२०३॥

पुनरप्येकेन्द्रियाणां विशेषमाह—

एइंदियाय जीवा पंचविधा बादरा य सुहुमा य।
देसेहिं बादरा खलु सुहुमेहिं णिरंतरो लोओ ॥१२०४॥

यद्यपि पंचेन्द्रिय जीव ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्लोक में कहे गये हैं तो भी यह सामान्य से कथन है, क्योंकि वे तीनों लोकों के असंख्यातवें भाग में रहते हैं किन्तु केवली समुद्घात की अपेक्षा से वे लोक के संख्यातवें और असंख्यातवें भाग में रहते हैं, सम्पूर्ण लोक भी उनका क्षेत्र है। उसी प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय लोक के असंख्यातवें भाग में अर्थात् तिर्यक्लोक के संख्यात भाग में रहते हैं, ऐसा भी समझना चाहिए।

पुनः एकेन्द्रियों की विशेषता बतलाते हैं—

गाथार्थ—पाँचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म होते हैं। बादर जीव लोक के एक देश में हैं और सूक्ष्मजीवों से लोक अन्तरालरहित है ॥१२०४॥

भवसिद्धियस्स चोद्दस एक्कं इयरस्स मिच्छगुणठाणं।
उवसमसम्मत्ते सु य अविरदचदुरादि य अट्ठेव ॥

अर्थ—भव्यसिद्धिक जीवों में चौदह गुणस्थान हैं। अभव्यसिद्धिक में एक गुणस्थान है। उपशम सम्यक्त्व में अविरत से लेकर उपशान्तकषाय तक आठ गुणस्थान होते हैं।

तह वेदयस्स भणिया चउरो खलु होंति अप्पमत्तान्तं।
खाइयसम्मत्तम्हि य एयारस जिणवरुद्दिट्ठा ॥

अर्थ—वेदकसम्यक्त्व में चौथे से लेकर अप्रमत्तपर्यन्त चार होते हैं एवं क्षायिकसम्यक्त्व में चौथे से लेकर अयोगी तक ग्यारह गुणस्थान हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

मिस्से सासणसम्मे मिच्छादिट्ठिम्हि होइ एक्केक्कं।
सण्णिस्स बारस खलु हवदि असण्णीसु मिच्छत्तं ॥

अर्थ—मिश्र, सासादन और मिथ्यादृष्टि में अपने-अपने एक-एक गुणस्थान हैं। संज्ञी के बारह गुणस्थान हैं एवं असंज्ञी में मिथ्यात्व नाम का एक गुणस्थान है।

आहाररस्स य तेरस पंचेव हवंति जाण इयरस्स।
मिच्छासासण अविरद सजोगी अजोगी य बोद्धव्वा ॥

अर्थ—आहारमार्गणा में तेरह गुणस्थान हैं। अनाहार में मिथ्यात्व, सासादन, अविरति, सयोगी और अयोगी ये पाँच गुणस्थान होते हैं।

१. तथा विकलेन्द्रिया लोकस्यासंख्यातभागे तिर्यग्लोकस्य च संख्यातभागे वा असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य तथैवेति।

एकेन्द्रिया जीवाः पंचप्रकाराः पृथिवीकायादिवनस्पतिपर्यन्तास्ते च प्रत्येकं बादरसूक्ष्मभेदेन भिद्यन्ते एकैकशो बादराः सूक्ष्माश्च, लोकस्यैकदेशे बादरा यतो वातवलये पृथिव्यष्टकं विमानपटलानि चाश्रित्य तिष्ठन्तीति, सूक्ष्मैः पुनर्निरन्तरो लोकः, सूक्ष्माः सर्वस्मिन् लोके तै रहितः कश्चिदपि प्रदेशो नेति ॥१२०४॥

यस्मात्—

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं अमुंचंता[1] ॥१२०५॥

सन्ति विद्यन्तेऽनन्ता जीवास्ते यैः कदाचिदपि न प्राप्तस्त्रसपरिणामः द्वीन्द्रियादिस्वरूपं, भावकलंकप्रचुराः मिथ्यात्वादिकलुषिताः निगोदवासममुञ्चन्तः सर्वकालम्। सूक्ष्मवनस्पतिस्वरूपेण व्यवस्थिता ये जीवास्तद्रूपेण अनन्ताः सन्तीति ॥१२०५॥

सर्वलोके तावत्तिष्ठन्ति किन्तु—

आचारवृत्ति—एकेन्द्रिय के पृथिवीकाय से लेकर वनस्पतिपर्यन्त पाँच भेद हैं। इन प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार हो जाते हैं। बादर जीव लोक के एकदेश में हैं क्योंकि ये वातवलयों में हैं, आठों पृथिवियों का एवं विमानपटलों का आश्रय लेकर ये रहते हैं तथा सूक्ष्म जीव इस सर्वलोक में पूर्णरूप से भरे हुए हैं, लोक का एक प्रदेश भी उनसे रहित नहीं है।

क्योंकि—

गाथार्थ—ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रसों की पर्याय को प्राप्त नहीं किया है। भावकलंक की अधिकता से युक्त होने से वे निगोदवास को नहीं छोड़ते हैं ॥१२०५॥

आचारवृत्ति—ऐसे अनन्तजीव विद्यमान हैं जिन्होंने कभी भी द्वीन्द्रिय आदि रूप त्रसपर्याय नहीं प्राप्त की है। ये मिथ्यात्व आदि भावों से कलुषित हो सर्वकाल निगोदवास नहीं छोड़ते हैं तथा जो सूक्ष्म वनस्पतिकायिकरूप से व्यवस्थित उस प्रकार से अनन्त हैं।

विशेषार्थ—निगोद के दो भेद हैं[2]—नित्यनिगोद और चतुर्गतिनिगोद या इतरनिगोद। जिसने कभी त्रसपर्याय प्राप्त कर ली हो उसे चतुर्गतिनिगोद कहते हैं और जिसने अभी तक कभी भी त्रसपर्याय नहीं पायी हो अथवा जो भविष्य में भी कभी त्रसपर्याय नहीं पायेगा उसे नित्यनिगोद कहते हैं। क्योंकि नित्य शब्द के दोनों ही अर्थ होते हैं—एक अनादि और दूसरा अनादि-अनन्त, इसलिए इन दोनों ही प्रकार के जीवों की संख्या अनन्तानन्त है।

गाथा में आया हुआ 'प्रचुर' शब्द प्रायः अथवा अभीक्ष्ण अर्थ सूचित करता है। अतएव छह मास आठ समय में छह सौ आठ जीवों के उसमें से निकलकर मोक्ष चले जाने पर भी कोई बाधा नहीं आती।

ये सर्वलोक में रहते हैं किन्तु—

---

1. गोम्मटसार में 'ण मुंचंति' ऐसा पाठ है। 2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड की गाथा १९७ का भावार्थ।

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥१२०६॥

एकनिगोदशरीरे गुडूच्यादिकस्य साधारणकाये जीवा अनन्तकायिका द्रव्यप्रमाणतः संख्यया दृष्टाः जिनैः प्रतिपादिताः सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेणातीतकालेन। एकनिगोदशरीरे ये तिष्ठन्ति ते सिद्धैरनन्तगुणा अवगाह्यावगाहकमाहात्म्यादसंख्यातप्रदेशे लोके कथमनन्तास्तिष्ठन्तीति नाशंकनीयमिति, एवं सर्वासु मार्गणास्वस्तित्वपूर्वकं क्षेत्रप्रमाणं द्रष्टव्यं स्पर्शनमप्यत्रापि द्रष्टव्यं यतोऽतीतविषयं स्पर्शनं वर्तमानविषयं क्षेत्रमिति॥१२०६॥

द्रव्यप्रमाणं निरूपयन्नाह—

एइंदिया अणंता वणप्फदीकायिगा णिगोदेसु।
पुढवी आऊ तेऊ वाऊ लोया असंखिज्जा॥१२०७॥

निगोदेषु ये वनस्पतिकायिकैकेन्द्रिया जीवास्तेऽनंतास्तथा पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिकाः सर्वे एते सूक्ष्माः प्रत्येकमसंख्यातलोकप्रमाणा असंख्याता लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्मात्रा

गाथार्थ—एकनिगोद शरीर में जीव द्रव्यप्रमाण से सभी अतीत काल के सिद्धों से अनन्तगुणे देखे गये हैं॥१२०६॥

आचारवृत्ति—गुरुच आदि वनस्पतिकायिक के साधारणकाय में एक निगोदजीव के शरीर में अनन्तकायिक जीव द्रव्यप्रमाणरूप संख्या से सभी अतीतकाल के सिद्धों से भी अनन्तगुणे हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। अर्थात् भूतकाल में जो अनन्त जीव सिद्ध हो चुके हैं उनसे भी अनन्तगुणे जीव एक निगोदिया जीव के शरीर में रहते हैं अर्थात् एक निगोदिया के शरीर में जो जीव रहते हैं वे सिद्धों से अनन्तगुणे हैं। इसमें अवगाह्य और अवगाहक का ही माहात्म्य है, अर्थात् ये सूक्ष्म जीव स्वयं अवकाशग्रहण में योग्य या समर्थ हैं और दूसरे अनन्त जीवों को भी अवकाश देने में समर्थ हैं। इस माहात्म्य से ही बाधा नहीं आती है।

असंख्यातप्रदेशी लोक में ये अनन्त जीव कैसे रहते हैं—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त अवगाह्य और अवगाहन की सामर्थ्य के माहात्म्य से ही ये अनन्त जीव असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश में रह जाते हैं।

इसी प्रकार से सभी मार्गणाओं में अस्तित्वपूर्वक क्षेत्रप्रमाण भी समझ लेना चाहिए। इसी तरह स्पर्शन को भी यहाँ जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि अतीत को विषय करनेवाला स्पर्शन है और वर्तमान को विषय करनेवाला क्षेत्र है।

द्रव्यप्रमाण का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—निगोदों में वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव अनन्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकाय जीव असंख्यात लोकप्रमाण हैं॥१२०७॥

आचारवृत्ति—निगोदजीवों में जो वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हैं वे अनन्त हैं, तथा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक ये सभी सूक्ष्मजीव प्रत्येक असंख्यात लोकप्रमाण हैं। अर्थात् असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हैं उतने प्रमाण हैं। किन्तु ये

बादराः पुनः प्रतरासंख्यातभागमात्राः, विशेषः परमागमतो द्रष्टव्य इति ॥१२०७॥

त्रसकायिकानां संख्यामाह—

तसकाइया असंखा सेढीओ पदरछेदणिप्पण्णा।
सेसासु मग्गणासु वि णेदव्वा जीवसमासेज्ज ॥१२०८॥

त्रसकायिका द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकमसंख्याताः श्रेणयः प्रतरच्छेदनिष्पन्नाः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः त्रसकायिकाः प्रतरासंख्येयभागमात्राः, स च प्रतरासंख्यातभागः असंख्याताः श्रेणयः प्रतरांगुलस्यासंख्यातभागेन जगच्छ्रेणेः भागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः। श्रेणय इति एवं शेषास्वपि मार्गणासु जीवानाश्रित्य प्रमाणं नेतव्यं ज्ञातव्यमिति आगमानुसारेण। तद्यथा नरकगतौ नारकाः प्रथमपृथिव्यां मिथ्यादृष्टयोऽसंख्याताः श्रेणयः घनांगुलकिंचिन्न्यूनद्वितीयवर्गमूलमात्राः, द्वितीयादिषु सप्तम्यन्तासु श्रेण्यसंख्येयभागमात्राः। द्वितीयादिषु सर्वासु पुनः सासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयताः पल्योपमासंख्यातभागमात्राः। तिर्यग्गतौ मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः सासादनादिसंयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। मनुष्यगतौ मिथ्यादृष्टयो मनुष्याः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः स चासंख्येयभागः असंख्याताः योजनकोटीकोट्यः। सासादनसम्यग्दृष्टयो द्विपंचाशत्कोटीमात्राः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयश्चतुरुत्तरैककोटीशतमात्राः, असंयतसम्यग्दृष्टयः सप्तकोटीशतमात्राः। संयतासंयतास्त्रयोदशकोटी-

---

चारों प्रकार के बादर जीव प्रतर के असंख्यात भागमात्र हैं। इनका विशेष विस्तार परमागम से जानना चाहिए।

त्रसकायिकों की संख्या कहते हैं—

गाथार्थ—त्रसकायिक जीव प्रतर के असंख्यात भाग प्रमाण ऐसी असंख्यात श्रेणी मात्र हैं। शेष मार्गणाओं में भी जीवों को आश्रय लेकर घटित कर लेना चाहिए ॥१२०८॥

आचारवृत्ति—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये त्रसकायिक हैं। इनमें से प्रत्येक असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं। अर्थात् प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग से जगत्-श्रेणी को भाग देने पर जो लब्ध आता है वह असंख्यातश्रेणी मात्र है। इसी प्रकार से शेष मार्गणाओं में भी आगम के अनुसार जीवों का आश्रय लेकर प्रमाण जान लेना चाहिए। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं।

नरकगति में पहली पृथिवी में मिथ्यादृष्टि नारकी जीव असंख्यात श्रेणीप्रमाण हैं, अर्थात् घनांगुल का जो कुछ कम द्वितीय वर्गमूल है उतने मात्र हैं। द्वितीय पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवीपर्यन्त वे मिथ्यादृष्टि नारकी श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र हैं। दूसरी आदि सभी पृथिवियों में सासादन गुणस्थानवर्ती, सम्यक् मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र हैं।

तिर्यंचगति में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं और सासादन से लेकर संयतासंयत-पर्यन्त जीव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।

मनुष्य गति में मिथ्यादृष्टि मनुष्य श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, वह असंख्यातवाँ भाग असंख्यात कोटाकोटि योजन है। सासादन सम्यग्दृष्टि जीव बावन करोड़ मात्र हैं। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एक सौ चार करोड़ हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि सात सौ करोड़ मात्र हैं। संयतासंयत

जीवाः। प्रमत्ताः पंचकोटयस्त्रिनवतिलक्षाधिका अष्टानवतिसहस्राधिकाः षडुत्तरद्विशताधिकाश्च। अप्रमत्ता द्वे कोटी षण्णवतिलक्षाधिके नवनवतिसहस्राधिके त्र्यधिकशताधिके च। चत्वार उपशमकाः प्रत्येकं प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वोत्कर्षेण चतुःपंचाशत्स्वकालेन समुदिता द्वे शते नवनवत्यधिके। चत्वारः क्षपका अयोगिकेवलिनश्च प्रत्येकं एको वा द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टेनाष्टोत्तरशतं, स्वकालेन समुदिताः पंचशतान्यष्टानवत्यधिकानि, सयोगिकेवलिन अष्टशतसहस्राण्यष्टानवतिसहस्राधिकानि द्व्यधिकपंचशताधिकानि च। अष्ट सिद्धसमया भवन्ति, तत्रोपशमश्रेण्यां प्रवेशेन जघन्येनैकेनादिं कृत्वोत्कृष्टेनैकैकसमये षोडश चतुर्विंशतिस्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्द्विचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशच्चतुःपंचाशदिति। एवं क्षपकश्रेण्यामेतदेव द्विगुणं द्वात्रिंशदष्टचत्वारिंशत्षष्टिः द्वासप्ततिश्चतुरशीतिः षण्णवतिरष्टोत्तरशतं च वेदितव्यं प्रत्येकं सिद्धसमयं प्रति। देवगतौ देवा मिथ्यादृष्टयो ज्योतिष्कव्यन्तरा असंख्याताः श्रेणयः, प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः श्रेणेः संख्येयप्रमितांगुलैर्भागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः श्रेणयः। भवनवासिन असंख्याताः श्रेणयः, घनांगुलप्रथमवर्गमूलमात्राः। सौधर्मा देवा मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः, घनांगुलतृतीयवर्गमूलमात्राः। सनत्कुमारादिषु देवा मिथ्यादृष्टयः श्रेण्याः संख्येयभागप्रमिता, असंख्यातयोजनकोटीकोटीप्रदेशमात्राः। सर्वेष्वेतेषु सासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयताः प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः[1]। शेषासु मार्गणासु नपुंसकमत्यज्ञानश्रुताज्ञानकाययोगाचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्याऽसंयमक्रोध-

---

जीव तेरह करोड़ हैं। प्रमत्त मुनि पाँच करोड़ तिरानवे लाख अट्ठानवे हजार दो सौ छह हैं, जब कि अप्रमत्त मुनि दो करोड़ छियानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन ही हैं। चारों उपशमकों में प्रत्येक प्रवेश की अपेक्षा एक, दो अथवा तीन हैं और उत्कृष्ट से चौवन हैं। ये अपने काल से समुदायरूप दो सौ निन्यानबे हैं। चारों क्षपक और अयोगकेवली—इनमें से प्रत्येक एक या दो अथवा तीन हैं, उत्कृष्ट से एक सौ आठ हैं। अपने काल से समुदायरूप ये पाँच सौ अट्ठानवे हैं। सयोगकेवली आठ लाख, अट्ठानवे हजार, पाँच सौ दो हैं। सिद्ध होने के समय आठ हैं। उसमें उपशम श्रेणी में प्रवेश की अपेक्षा जघन्य से एक से लेकर उत्कृष्ट तक एक-एक समय में क्रमशः सोलह, चौबीस, तीस, छत्तीस, बयालीस, अड़तालीस, चौवन और चौवन हैं। इसी तरह क्षपकश्रेणी में यह संख्या दुगुनी है अर्थात् बत्तीस, अड़तालीस, साठ, बहत्तर, चौरासी, छ्यानवें, एक सौ आठ और एक सौ आठ, ये संख्याएँ प्रत्येक सिद्धसमय के प्रति जानना चाहिए।[2]

देवगति में ज्योतिषी और व्यन्तर मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं अर्थात् प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। श्रेणी में संख्यात प्रमिति अंगुल का भाग देने पर जो लब्ध आये उतने मात्र असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं ये। भवनवासी देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं अर्थात् घनांगुल के प्रथम-वर्गमूलमात्र हैं। सौधर्म स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूलमात्र हैं। सानत्कुमार आदि स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देव श्रेणी के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं अर्थात् असंख्यात कोटाकोटि योजन के जितने प्रदेश हैं उतने मात्र हैं। इन सभी में सासादन, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि और असंयत देव—ये प्रत्येक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

शेष मार्गणाओं में नपुंसकवेद, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, काययोग, अचक्षुर्दर्शन,

---

१. क असंख्यातयोजनकोटीकोटीप्रदेशमात्रा।

२. इसमें आठवें समय की संख्या का स्पष्टीकरण नहीं है किन्तु गोम्मटसार जीवकाण्ड में (गाथा ६२७, ६२८) में उपशम श्रेणी में आठवें समय मे ५४ और क्षपक श्रेणी में आठवें समय में १०८ संख्या है।

मायालोभासंयतमिथ्यादृष्टिभव्याहार्यनाहारिणः प्रत्येकमनन्तानन्ताः । केवलज्ञानिकेवलदर्शिनोऽनन्ताः। चक्षुर्द-र्शिनः स्त्रीपुंवेदिनो मनोवाग्योगिनः संज्ञिविभंगज्ञानितेजःपद्मलेश्याः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । शेषाः क्षायिक-क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यग्दृष्टिसासादनसम्यङ्‌मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतशुक्ललेश्याः पल्योपमासंख्येयभागप्र-मिताः । आहाराहारमिश्रसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातसंयताः संख्याता भवन्तीति । ॥१२०८॥

कुलानि प्रतिपादयन्नाह—

बावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडि सदसहस्साइं ।
णेया पुढविदगागणिवाउक्कायाण परिसंखा ॥१२०९॥

कोडिसदसहस्साइं सत्तट्ठ य णव य अट्ठवीसं च ।
बेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ॥१२१०॥

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।
जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ॥१२११॥

छव्वीसं पणवीसं चउदस कुलकोडिसदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होइ णायव्वं ॥१२१२॥

एतानि गाथासूत्राणि पंचाचारे व्याख्यातानि, अतो नेह पुनर्व्याख्यायन्ते पुनरुक्तत्वादिति ॥१२०९-१२॥

कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ, असंयम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादृष्टि, भव्य, आहारी और अनाहारी ये प्रत्येक अनन्तानन्त हैं। केवलज्ञानी और केवलदर्शनी अनन्त[1] हैं।

चक्षुर्दर्शनी स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, मनोयोगी, वचनयोगी, संज्ञी, विभंगज्ञानी, तेजोलेश्या, पद्मलेश्यावाले जीव प्रत्येक प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

शेष क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक-सम्यग्दृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और शुक्ललेश्यावाले जीव प्रत्येक पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।

आहार, आहारमिश्र, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयत—ये सभी संख्यात होते हैं।

कुलों का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकाय के कुलों की संख्या क्रमशः बाईस लाख करोड़, सात लाख करोड़, तीन लाख करोड़ और सात लाख करोड़ जानना। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और वनस्पतिकाय—इनके कुल सातकोटिलक्ष आठ कोटि लक्ष, नौ कोटिलक्ष और अट्ठाईस कोटिलक्ष हैं। जलचरों के कुल साढ़े बारह कोटिलक्ष, पक्षियों के बारह कोटिलक्ष, चतुष्पद-पशुओं के दस कोटिलक्ष और छाती के सहारे चलनेवाले गोधा-सर्प आदि जीवों के कुल नौ कोटिलक्ष होते हैं। देव, नारकी और मनुष्य के कुल क्रम से छब्बीस करोड़ लाख, पच्चीस करोड़ लाख और बारह करोड़ लाख होते हैं ॥१२०९-१२॥

आचारवृत्ति—इन गाथा-सूत्रों का पंचाचार में व्याख्यान कर दिया है इसलिए यहाँ

---

१. केवलज्ञानी और केवलदर्शनी संख्यात हैं ऐसा अन्यत्र पाठ है। यह संसारी जीवों की अपेक्षा से है किन्तु यहाँ यह पाठ सिद्धों की अपेक्षा से है।

अल्पबहुत्वं प्रतिपादयन्नाह—

मणुसगदीए थोवा तेहि असंखिज्जसंगुणा णिरये।
तेहि असंखिज्जगुणा देवगदीए हवे जीवा ॥१२१३॥

मनुष्यगतौ सर्वस्तोका मनुष्या श्रेण्यसंख्येयभागमात्राः, २१ (?)। तेभ्यो मनुष्येभ्योऽसंख्यातगुणाः श्रेणयः, १२ (?)। नरकगतौ नारकाः तेभ्यश्च नारकेभ्यो देवगतौ देवा असंख्यातगुणाः प्रतरासंख्येयभागमात्राः, ४२ (?) इति ॥१२१३॥

तथा—

तेहिंतो णंतगुणा सिद्धिगदीए भवंति भवरहिया।
तेहिंतो णंतगुणा तिरयगदीए किलेसंता ॥१२१४॥

तेभ्यो देवेभ्यः सकाशात्सिद्धिगतौ भवरहिताः सिद्धा अनन्तगुणास्तेभ्यः सिद्धेभ्यस्तिर्यग्गतौ तिर्यञ्चः क्लिश्यन्तोऽनन्तगुणाः ॥१२१४॥

सामान्येनाल्पबहुत्वं प्रतिपाद्य विशेषेण प्रतिपादयन्नाह—

पुनः उनका व्याख्यान नहीं करते हैं अन्यथा पुनरुक्त दोष हो जाएगा।

अल्पबहुत्व का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—मनुष्यगति में सबसे कम जीव हैं। नरक में उनसे असंख्यात गुणे हैं और देवगति में उनसे भी असंख्यात गुणे जीव हैं ॥१२१३॥*

आचारवृत्ति—मनुष्यगति में सबसे कम जीव अर्थात् मनुष्य हैं। वे जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र हैं जिसकी संदृष्टि २१ (?) है। मनुष्यों से असंख्यातगुणे जगच्छ्रेणी प्रमाण नारकी हैं जिस की संदृष्टि १२ (?) है। देवगति में जीव नारकियों से असंख्यातगुणे हैं, अर्थात् वे प्रतर के असंख्यातवें भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि ४२ (?) है, ऐसा समझना।

आगे और कहते हैं—

गाथार्थ—सिद्ध गति में भवरहित जीव देवों से अनन्तगुणे हैं और तिर्यंचगति में क्लेशित होते हुए जीव उनसे भी अनन्तगुणे हैं ॥१२१४॥

आचारवृत्ति—सिद्धगति में भवरहित सिद्ध जीव उन देवों से अनन्तगुणे अधिक हैं। तिर्यंचगति में क्लेश को भोगते हुए तिर्यंच जीव उन सिद्धों से भी अनन्तगुणे अधिक हैं।

सामान्य से अल्पबहुत्व को कहकर अब उसका विस्तार कहते हैं—

---

१. क सिद्धेभ्य अनन्ता।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

एया य कोडिकोडी सत्ताणउदी य सदसहस्साइं।
पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाण य ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों के कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी, सत्तानवे लाख, पचास हजार करोड़ है। अर्थात् सम्पूर्ण कुलों की संख्या एक करोड़, सत्तानवे लाख, पचास हजार को एक करोड़ से गुणा करने पर जितनी आए उतनी (१९७५००००००००००) है। भिन्न-भिन्न शरीर की उत्पत्ति के लिए कारणभूत नोकर्मवर्गणाओं के भेदों को कुल कहा जाता है।

थोवा दु तमतमाए अणंतराणंतरे दु चरमासु।
होंति असंखिज्जगुणा णारइया छासु पुढवीसु ॥१२१५॥

स्वस्थानगतमल्पबहुत्वमुच्यते—सप्तमपृथिव्यां नारकाः सर्वस्तोकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः, श्रेणिद्वितीयवर्गमूलेन खंडिता श्रेणिमात्राः १/२। तेभ्यश्च सप्तमपृथिवीनारकेभ्यः षष्ठीपृथिवीनारका असंख्यातगुणाः श्रेणितृतीयवर्गमूलेनाहतश्रेणिमात्राः १/३। तेभ्यश्च षष्ठपृथिवीनारकेभ्यः पंचमपृथिवीनारका असंख्यातगुणाः श्रेणिषड्वर्ग[1]मूलापहृतश्रेणिलब्धमात्राः १/६। तेभ्यश्च पंचमपृथिवीनारकेभ्यश्चतुर्थपृथिवीनारका असंख्यातगुणाः श्रेण्यष्टवर्ग[2]मूलापहृतश्रेणिपरिमिताः १/८। तेभ्यश्चतुर्थपृथिवीनारकेभ्यस्तृतीयपृथिवीनारका असंख्यातगुणाः श्रेणिदशवर्गमूलापहृतश्रेणिलब्धमात्राः १/१०। तेभ्यस्तृतीयपृथिवीनारकेभ्यो द्वितीयपृथिवीनारका असंख्येयगुणाः श्रेणिद्वादशवर्गमूलभाजितश्रेण्येकभागमात्राः १/१२। तेभ्यश्च द्वितीयपृथिवीनारकेभ्यः प्रथमपृथिवीनारका असंख्यातगुणा घनांगुलद्वितीयवर्गमूलमात्राः श्रेणयः १/२। इति ॥१२१५॥

तिर्यग्गतावल्पबहुत्वमाह—

थोवा तिरिया पंचेंदिया दु चउरिंदिया विसेसहिया।
तेइंदिया दु जीवा तत्तो अहिया विसेसेण ॥१२१६॥

गाथार्थ—सातवीं पृथिवी में नारकी सबसे थोड़े हैं। इस अन्तिम से अनन्तर-अनन्तर छहों पृथिवियों में नारकी असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे होते हैं ॥१२१५।

आचारवृत्ति—स्वस्थानगत अल्पबहुत्व को कहते हैं - सातवीं पृथ्वी में नारकी जीव सबसे थोड़े हैं जो कि श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। अर्थात् श्रेणी के द्वितीय वर्गमूल से भाजित श्रेणी प्रमाण हैं जिसकी संदृष्टि १/२ है। उन सातवीं पृथिवी के नारकियों से असंख्यात गुणे अधिक नारकी जीव छठी पृथिवी में हैं जो कि श्रेणी के तृतीय वर्गमूल से भाजित श्रेणीप्रमाण है, उनकी संदृष्टि १/३ है। पाँचवीं पृथिवी के नारकी उन छठी पृथिवी के नारकी जीवों से असंख्यातगुणे अधिक हैं। अर्थात् वे श्रेणी के छठे वर्गमूल से भाजित श्रेणीमात्र हैं। उनकी संदृष्टि १/६ है। चतुर्थ पृथिवी के नारकी उन पाँचवीं पृथिवी के नारकीयों से असंख्यातगुणे हैं जो श्रेणी के आठवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी प्रमाण हैं और जिनकी संदृष्टि १/८ है। उन चतुर्थ पृथिवी के नारकियों से असंख्यातगुणे अधिक नारकी जीव तृतीय पृथिवी में हैं जो कि श्रेणी के दसवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी प्रमाण है और जिनकी संदृष्टि १/१० है। उन तृतीय पृथिवी के नारकियों से असंख्यातगुणे अधिक जीव द्वितीय पृथिवी में हैं जो कि श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भाग मात्र हैं, उनकी संदृष्टि १/१२ है। उन द्वितीय पृथिवी के नारकियों से असंख्यातगुणे नारकी प्रथम पृथिवी में हैं जो घनांगुल के द्वितीय वर्गमूलमात्र श्रेणीप्रमाण हैं, और उनकी संदृष्टि १/२ है।

तिर्यंचगति में अल्पबहुत्व को कहते हैं—

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय तिर्यंच सबसे थोड़े हैं, चौइन्द्रिय जीव उनसे विशेष अधिक हैं, और

---

१. क षष्ठवर्ग। २. क श्रेण्यष्टमवर्ग।

तत्तो विसेसअहिया जीवा तेइंदिया दु णायव्वा ।
तेहिंतोणंतगुणा भवंति एइंदिया जीवा ॥१२१७॥

तिर्यञ्चः पंचेन्द्रियाः स्तोकाः प्रतरासंख्यातभागमात्राः १/२। तेभ्यश्च पंचेन्द्रियेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः स्वराश्यसंख्यातभागमात्रेण १/२/४/२/९। तेभ्यश्चतुरिन्द्रियेभ्यो द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४/७। विशेषः पुनः स्वराश्यसंख्यातभागमात्रः १/१/४/९। तेभ्यश्च द्वीन्द्रियेभ्यस्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः। विशेषः पुनः स्वराश्यसंख्यातभागमात्रः १/१/४/९। तेभ्यश्च त्रीन्द्रियेभ्योऽनन्त गुणाः भवन्त्येकेन्द्रिया जीवा ज्ञातव्याः ३/१/४/३ इति ॥१२१६-१७॥

मनुष्यगतावल्पबहुत्वमाह—

अंतरदीवे मणुया थोवा मणुयेसु होंति णायव्वा ।
कुरवेसु दससु मणुया संखेज्जगुणा तहा होंति ॥१२१८॥

तत्तो संखेज्जगुणा मणुया हरिरम्मएसु वस्सेसु ।
तत्तो संखिज्जगुणा हेमवदहेरण्णवस्साय ॥१२१९॥

भरहेरावदमणुया संखेज्जगुणा[1] हवंति खलु तत्तो ।
तत्तो संखिज्जगुणा णियमादु विदेहगा मणुया ॥१२२०॥

सम्मुच्छिमा य मणुया होंति असंखिज्जगुणा य तत्तो दु ।
ते चेव अपज्जत्ता सेसा पज्जत्तया सव्वे ॥१२२१॥

दोइन्द्रिय जीव उनसे विशेष अधिक हैं। उनसे विशेष अधिक तीन-इन्द्रिय जीव जानना चाहिए और उनसे भी अनन्तगुणे एकेन्द्रिय जीव होते हैं ॥१२१६-१७॥

आचारवृत्ति - पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव सबसे थोड़े हैं। अर्थात् वे प्रतर के असंख्यातवें भागमात्र हैं, उनकी संदृष्टि १/२ है। उन पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों से चतुरिन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं अर्थात् वे उस राशि के असंख्यातवें भाग मात्र हैं। उन चतुरिन्द्रिय जीवों से द्वीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। यह विशेष पुनः उस राशि के असंख्यातवें भाग मात्र अधिक है। इसी प्रकार, इन दो-इन्द्रियों से तीन-इन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। यह विशेष पुनः उक्त राशि के असंख्यातवें भाग मात्र अधिक है। इन तीन इन्द्रियों से एकेन्द्रिय जीव अनन्त गुणे हैं ऐसा जानना चाहिए। (इनसे सम्बन्धित सभी संदृष्टियाँ ऊपर टीका में देखें)।

अब मनुष्य गति में अल्पबहुत्व को कहते हैं—

गाथार्थ—मनुष्यों में अन्तर्द्वीपों में सबसे थोड़े मनुष्य होते हैं ऐसा जानना तथा पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु में मनुष्य संख्यातगुणे होते हैं। पुनः पाँच हरिक्षेत्र और पाँच रम्यकक्षेत्रों में मनुष्य संख्यातगुणे अधिक हैं। पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत क्षेत्रों के मनुष्य इनसे संख्यातगुणे हैं। उनसे संख्यातगुणे पाँच भरत और पाँच ऐरावत के मनुष्य होते हैं तथा पाँचों विदेहक्षेत्रों के मनुष्य नियम से उनसे संख्यातगुणे हैं। उनसे असंख्यातगुणे संमूर्छन मनुष्य होते हैं, ये ही अपर्याप्तक हैं, जबकि शेष सभी पर्याप्तक हैं ॥१२१८-१२२१॥

---

१. क गुणा य होंति तत्तो।

मनुष्यगतौ सर्वस्तोकाः संख्याताः अन्तर्द्वीपेषु मनुष्याः, ऊ। तेभ्यश्च दशसु कुरूपभोगभूमिषु मनुष्याः संख्यातगुणा भवन्ति ज्ञातव्याः, ऊऊ। तेभ्यश्च दशसु भोगभूमिषु हरिरम्यकवर्षेषु मनुष्याः संख्यातगुणाः, ऊऊऊ। तेभ्यश्च दशसु जघन्यभोगभूमिषु हैमवतहैरण्यवतसंज्ञकासु मनुष्याः संख्यातगुणाः, ऊऊऊऊ। तेभ्यश्च पंचसु भरतेषु पंचस्वैरावतेषु च मनुष्याः संख्यातगुणाः, ऊऊऊऊऊ। तेभ्यश्च निश्चयेन मनुष्या विदेहेषु संख्यातगुणा भवन्ति, ऊऊऊऊऊऊ। ज्ञातव्याः स्फुटं। तेभ्यश्च सम्मूर्च्छनजा मनुष्या असंख्यातगुणाः श्रेण्यसंख्यातैकभागमात्राः, स च श्रेण्यसंख्यातभागः असंख्यातयोजनकोटीकोटीप्रदेशमात्रः सूच्यंगुलप्रथमवर्गमूलेन सूच्यंगुलतृतीयवर्गमूलगुणितेन श्रेणेर्भागे हृते यल्लब्धं तावन्मात्रा १/१३। त एते अपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ता एव। शेषाः पुनः संख्याता ये मनुष्यास्ते सर्वे पर्याप्ता, नास्ति तेषां लब्ध्यपर्याप्तत्वम्। एवं देवनारकाणामपि सर्वेषां लब्ध्यपर्याप्तत्वं नास्ति निर्वृत्त्यपर्याप्तत्वं पुनर्विद्यत एवेति ॥१२१८-२१॥

देवगतावल्पबहुत्वमाह—

थोवा विमाणवासी देवा देवी य होंति सव्वेवि।
तेहिं असंखेज्जगुणा भवणेसु य दसविहा देवा ॥१२२२॥

आचारवृत्ति—मनुष्य गति में सभी अन्तर्द्वीपों में होनेवाले मनुष्य सबसे थोड़े हैं अर्थात् संख्यात हैं। उनकी अर्थ-संदृष्टि 'ऊ' है।

उनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु नामक भोगभूमियों में हैं। उनकी संदृष्टि 'ऊऊ' है। उनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच हरिक्षेत्र और पाँच रम्यकक्षेत्र, इन दस मध्यम भोगभूमियों के हैं। इनकी संदृष्टि 'ऊऊऊ' है। इनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत नामक दस जघन्य भोगभूमियों में होते हैं। उनकी संदृष्टि 'ऊऊऊऊ' है। उनसे संख्यातगुणे मनुष्य पाँच भरतक्षेत्र और पाँच ऐरावत, इन दस कर्मभूमियों में होते हैं। इनकी संदृष्टि 'ऊऊऊऊऊ' है। इनसे संख्यातगुणे मनुष्य निश्चित ही पाँच महाविदेहों में होते हैं। इनकी संदृष्टि 'ऊऊऊऊऊऊ' है।

संमूर्च्छन मनुष्य उनसे असंख्यातगुणे होते हैं, अर्थात् वे श्रेणी के असंख्यात भाग में से एक भागमात्र हैं। वह श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग असंख्यात योजन कोड़ाकोड़ी प्रदेश मात्र सूच्यंगुल के तृतीय वर्गमूल से गुणित जो सूच्यंगुल का प्रथम वर्गमूल है, उससे श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध आये अर्थात् उतने मात्र वे हैं। ये जीव अपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक ही हैं। पुनः शेष जो पर्याप्तक मनुष्य हैं वे सब संख्यात ही हैं क्योंकि उनमें लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था नहीं है। इसी प्रकार सभी देव और नारकियों में भी लब्ध्यपर्याप्तक नहीं हैं किन्तु उनमें निर्वृत्त्यपर्याप्तक ही हैं।

देवगति में अल्पबहुत्व को कहते हैं—

गाथार्थ—विमानवासी देव और देवियाँ, ये सभी थोड़े होते हैं, उनसे असंख्यात गुणे

---

१. क १/१३

तेहिं असंखेज्जगुणा देवा खलु होंति वाणवेंतरिया।
तेहिं असंखेज्जगुणा देवा सव्वेवि जोदिसिया ॥१२२३॥

देवगतौ देवा देव्यश्च सर्वस्तोकाः सौधर्मादिविमानवासिनः असंख्यातश्रेणिमात्रा घनांगुलतृतीयवर्गमूलमात्राः साधिकाः श्रेणयः १/३। तेभ्यश्चासंख्यातगुणा भवनेषु दशविधा भवनवासिनः असंख्याताः श्रेणयः घनांगुलप्रथमवर्गमूलमात्राः श्रेणयः १/१। तेभ्यश्चासंख्यातगुणाः स्फुटमष्टप्रकारा व्यन्तराः प्रतरासंख्यातभागमात्राः संख्यातप्रतरांगुलैः श्रेणेर्भक्ते हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः श्रेणयः १/१/४। तेभ्यश्च पंचप्रकारा ज्योतिष्का असंख्यातगुणाः प्रतरासंख्यातभागमात्राः[1] पूर्वोक्तसंख्यागुणितैरसंख्येयप्रतरांगुलैः श्रेणेर्भक्ते हृते यल्लब्धं तावन्मात्राः श्रेणयः १/१/४/६।

अथ वा सर्वतः स्तोकाः सर्वार्थसिद्धिदेवाः संख्याताः। ततो विजयवैजयन्तजयन्तापराजितनवानुत्तरस्था असंख्यातगुणाः पल्योपमासंख्यातभागप्रमितास्ततो नव ग्रैवेयका आनतप्राणतारणाच्युतास्था-संख्यातगुणाः पल्योपमासंख्यातभागप्रमिताः, ६। ततः शतारसहस्रारदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिचतुर्थवर्गमूलखण्डितश्रेण्येकभागमात्राः १/४। ततः शुक्रमहाशुक्रदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिपंचमवर्गमूलखण्डितश्रेण्येकभाग-

---

भवनवासियों में दस प्रकार के देव हैं। उनसे असंख्यातगुणे व्यंतर देव होते हैं। उनसे असंख्यातगुणे सभी ज्योतिष्क देव हैं ॥१२२२-२३॥

आचारवृत्ति—देवगति में सौधर्म आदि स्वर्ग के विमानवासी देव और देवियाँ सब से थोड़े हैं जो कि असंख्यात श्रेणी मात्र हैं अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूलमात्र कुछ अधिक श्रेणी प्रमाण हैं जिनकी संदृष्टि १/३ है। उनसे असंख्यात गुणे भवनों में रहने वाले दस प्रकार के भवनवासी देव हैं। अर्थात् ये असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं। ये श्रेणियाँ घनांगुल के प्रथम वर्ग मूल मात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/१ है। उनसे असंख्यातगुणे अष्ट प्रकार के व्यन्तर देव हैं। ये प्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र हैं अर्थात् श्रेणी में संख्यात प्रतरांगुलों का भाग देने पर जो लब्ध हो उतने मात्र श्रेणी प्रमाण हैं। इनकी संदृष्टि भी १/१/४ है। पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव इनसे असंख्यातगुणे हैं। अर्थात् ये भी प्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र हैं जो कि पूर्वोक्त संख्या से गुणित असंख्यात प्रतरांगुलों से श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने मात्र श्रेणी प्रमाण हैं जिनकी संदृष्टि १/१/४/६ है।

किन्तु सबसे कम सर्वार्थसिद्धि के देव हैं जो कि संख्यात हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित अनुत्तरों के देव और नव अनुदिशों के देव सर्वार्थसिद्धि के देवों से असंख्यातगुणे हैं अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनसे असंख्यातगुणे नव ग्रैवेयक के देव और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत के देव हैं। अर्थात् ये असंख्यातगुणा भी पल्योपम के असंख्यात वें भाग प्रमाण हैं जिसकी संदृष्टि ६ है। इससे असंख्यातगुणे शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव हैं जो कि श्रेणी के चतुर्थ वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/४ है। शुक्र-महाशुक्र के देव इनसे असंख्यात गुणे हैं। ये श्रेणी के पंचम-

---

१. क पूर्वोक्तसंख्यातगुणहीन।

मात्राः, १/५। ततो लान्तवकापिष्ठदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिसप्तमवर्गमूलभाजितश्रेण्येकभागमात्राः, १/७। ततो ब्रह्मब्रह्मोत्तरदेवा असंख्यातगुणाः श्रेणिनवमवर्गमूलगुणः श्रेणिचतुर्थवर्गमूलभाजितश्रेण्येकभागमात्राः, १/४। नवमवर्गमूलभाजितश्रेण्येकभागमात्राः, १/९। ततः सानत्कुमारमाहेन्द्रदेवा असंख्यातगुणाः श्रेण्येकादशवर्गमूलभाजितश्रेण्येकभागमात्राः, १/११। ततः सौधर्मेशानदेवा असंख्यातगुणाः, १/३। शेषं पूर्ववत् द्रष्टव्यमिति।

अथ वा सर्वस्तोका अयोगिनश्चत्वार उपशमकाः संख्यातगुणाः। ततः सयोगिनः संख्यातगुणास्ततोऽप्रमत्ताः संख्यातगुणास्ततः संयतासंयतास्तिर्यञ्च मनुष्या असंख्यातगुणाः पल्योपमासंख्यातभागमात्राः, ५९९९९। ततश्चतसृषु गतिषु सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः ५०। ततश्चतसृषु गतिषु सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः संख्यातगुणाः पल्यं, ९०। ततश्चतसृषु गतिषु असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः। एतैः सिद्धा अनंतगुणास्ततः सर्वे मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्तगुणाः स्युरिति ॥१२२२-२३॥

पुनरपि देवान् गुणेन निरूपयन्नाह—

अणुदिसणुत्तरदेवा सम्मादिट्ठीय होंति बोधव्वा।
तत्तो खलु हेट्ठिमया सम्मामिस्सा य तह सेसा ॥१२२४॥

वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं। इनकी संदृष्टि १/५ है। लांतव-कापिष्ठ के देव इनसे असंख्यातगुणे हैं। अर्थात् श्रेणी के सातवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं, जिनकी संदृष्टि १/७ है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देव उनसे असंख्यातगुणे हैं। वे श्रेणी के नवमें वर्गमूल से गुणित और श्रेणी के चतुर्थ वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं। उनकी संदृष्टि १/४ है। ये श्रेणी के नवमें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/९ है। उनके असंख्यातगुणे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव हैं। ये श्रेणी के ग्यारहवें वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि १/११ है। उनसे असंख्यातगुणे सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देव हैं, जिनकी संदृष्टि १/३ है। शेष पूर्ववत् हैं।

अथवा सबसे कम अयोगकेवली हैं। चारों उपशमक उन अयोगियों से संख्यातगुणे हैं। इनसे संख्यातगुणे सयोगकेवली हैं। इनके संख्यात गुणे अप्रमत्त मुनि हैं। इनसे असंख्यात गुणे संयतासंयत तिर्यंच और मनुष्य हैं। ये पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र हैं जिनकी संदृष्टि ५९९९९ है। इनसे असंख्यातगुणे चारों गतियों के सासादन सम्यग्दृष्टि हैं, इनकी संदृष्टि ५० है। इनसे संख्यातगुणे चारों गतियों के सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं जिनकी संदृष्टि पल्य ९० है। इनसे असंख्यातगुणे चारों गतियों से असंयत सम्यग्दृष्टि जीव हैं। इनसे अनंतगुणे सिद्ध हैं। सभी मिथ्यादृष्टि जीव इन सिद्धों से भी अनन्तानन्तगुणे हैं।

पुनरपि देवों का गुणस्थान द्वारा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अनुदिश और अनुत्तर के देव सम्यग्दृष्टि होते हैं ऐसा जानना। इनसे नीचे के देव सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनोंवाले होते हैं तथा शेष जीव भी दोनों से मिश्रित होते हैं ॥१२२४॥

पंचानुत्तरनवानुदिशदेवाः सम्यग्दृष्टयो नियमेन ज्ञातव्या भवन्ति तेभ्यः ¹पुनरधो मिथ्यादृष्टयः सासादनाः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। तथा शेषाश्च नारकतिर्यङ्मनुष्या मिश्रा ज्ञातव्या इति ॥१२२४॥

अल्पबहुत्वं प्रतिपाद्य बन्धकारणं प्रतिपादयन्नाह—

मिच्छादंसणअविरदिकसायजोगा हवंति बंधस्स।
आऊसज्झवसाणं हेदव्वो ते दु णायव्वा ॥१२२५॥

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगास्त एव हेतवो बंधस्यायुषो भवन्ति पुनरध्यवसायः परिणामः हेतुर्भवतीति ज्ञातव्याः। पंच मिथ्यात्वानि पंचेन्द्रियाणि मनःषट्कायविराधनानि त्रयोदश योगाः षोडश कषाया नव नोकषायाश्च सर्वे एते पंचपंचाशत्प्रत्ययाः कर्मबन्धस्य हेतवो बोद्धव्या भवन्ति, अन्ये भेदा अत्रैवान्तर्भवन्तीति ॥१२२५॥

बन्धस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आचारवृत्ति—नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर के देव निश्चय से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, ऐसा जानना। इनसे नीचे के देव मिथ्यादृष्टि सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि होते हैं।

तथा शेष नारकी, तिर्यंच और मनुष्य अर्थात् मिश्र होते हैं अर्थात् इनमें यथा-योग्य जितने भी गुणस्थान हैं वे सभी पाये जाते हैं। ये केवल सम्यग्दृष्टि ही हों अथवा मिथ्या-दृष्टि ही हों ऐसा नियम न होने से ही ये मिश्र कहलाते हैं। तात्पर्य यही है कि इनमें मिथ्यादृष्टि भी हैं और सम्यग्दृष्टि भी हैं।

अल्पबहुत्व का प्रतिपादन करके अब बन्ध के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। ये परिणाम आयु के भी कारण हैं ऐसा जानना ॥१२२५॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं और ये ही आयु बन्ध के भी कारण हैं। पुनः अध्यवसाय-परिणाम भी आयु के लिए हेतु है। पाँच मिथ्यात्व, पाँच इन्द्रियों और मन तथा छह कायों की विराधना ये बारह अविरति, तेरह योग, सोलह कषाय और नव नोकषाय ये पच्चीस कषाय, ये सभी पचपन प्रत्यय कर्मबन्ध के कारण हैं, ऐसा जानना। अन्य और भेद भी इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

भावार्थ—योग पन्द्रह होते हैं किन्तु यहाँ तेरह ही लिये गये हैं, आहारक और आहारकमिश्र योग नहीं लिये हैं। अतः सत्तावन आस्रव में से दो घट जाने से पचपन रह जाते हैं। मिथ्यादृष्टि को आहारक, आहारक मिश्र न होने से ५५ प्रत्यय ही बन्ध के हैं।

बन्ध के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

---

१. क पुनरन्येऽधो।

जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो ॥१२२६॥

जीवः कषाययुक्तः क्रोधादिपरिणतः योगान्मनोवाक्कायक्रियाभ्यः कर्मणो योग्यानि यानि पुद्गलद्रव्याणि गृह्णाति स बन्धः कषाययुक्त इति पुनर्हेतुनिर्देशस्तीव्रमन्दमध्यमकषायानुरूपस्थित्यनुभवविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—स्वत आत्मा कषति कर्मादत्त इति चेद् नैष दोषो जीवत्वात् जीवो ¹नाम प्राणधारणादायुःसम्बन्धात्, न पुनरायुर्विरहाज्जीवो येन आत्मना पुरतः पुद्गलानादत्ते कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात्सिद्धे कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थं, किं पुनस्तद्वाक्यान्तरमत आह—कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकम्। वाक्यम्, एतदुक्तं भवति कर्मण इति हेतुनिर्देशः, कर्मणो हेतोर्जीवः कषायपरिणतो भवति नाकर्मकस्य कषायलेपोऽस्ति ततो जीवः कर्मणो योग्यानिति, तथानादिसम्बन्ध इत्युक्तं भवति ततोऽमूर्तः जीवः मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यत इति ²चोद्यमपाकृतं भवति, इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे

गाथार्थ—कषाय सहित जीव योग से कर्म के जो योग्य हैं ऐसे पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करता है वह बन्ध है ऐसा जानना ॥१२२६॥

आचारवृत्ति—क्रोधादि से परिणत हुआ जीव मन, वचन और काय की क्रियारूप योग से कर्मों के योग्य जो पुद्गलद्रव्य हैं उनको ग्रहण करता है अतः वह बन्ध कषाय से युक्त होता है। इस तरह से पुनः हेतु का निर्देश किया है। तीव्र, मन्द और मध्यम कषायों के अनुरूप स्थिति और अनुभाग में भेद होता है इसका ज्ञान कराने के लिए कहते हैं—

स्वयं आत्मा अपने को कसता है - कर्मों को ग्रहण करता है यदि ऐसा माना जाए तो इसमें कोई दोष नहीं होगा क्योंकि वह जीव है और 'जीव' यह संज्ञा प्राणों को धारण करने से और आयु के सम्बन्ध से होती है। किन्तु आयु के अभाव में जीव की यह संज्ञा सार्थक नहीं है। इसलिए यह सकषायी प्राणों का धारक संसारी जीव ही कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।

'कर्म योग्यान्' ऐसा लघु निर्देश होने से भी 'कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है' यह बात सिद्ध हो जाती। पुनः 'कर्मणः योग्यान्' ऐसा क्यों कहा, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाएगा, यहाँ पर पृथक् विभक्ति करना अर्थात् समास न करना भिन्न वाक्य को बतलाने के लिए है। वह भिन्न वाक्य क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान में कहा जाएगा कि 'कर्म से' जीव कषायसहित होता है यह भिन्न वाक्य है। अर्थात् 'कर्मणः' इसमें हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति का निर्देश है। 'कर्म' हेतु से जीव कषाय से परिणत होता है और कर्म रहित जीव के कषाय का अभाव है। और कषाय से सहित हुआ यह जीव 'कर्म के योग्य' पुद्गलों को ग्रहण करता है। यहाँ 'कर्मणः' को षष्ठी विभक्त्यन्त मानकर अर्थ किया जाता है। इस तरह यह 'कर्मणः' पद दोनों तरफ लगता है, इस बात को बतलाने के लिए ही यहाँ समास नहीं किया गया है। इससे यह भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि जीव और पुद्गल कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है।

---

१. क जीवत्वात् प्राणधारणादायुःसंबन्धात्। २. क चोद्यं।

आत्यन्तिकीं शुद्धिं दधतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत इति द्वितीयवाक्यं योग्यान् पुद्गलान् गृह्णातीति । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति पूर्वं हेतुसम्बन्धं त्यक्त्वा षष्ठीसंबन्धमुपैति कर्मणो योग्यानिति । पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थं तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति । संसारहेतुत्वं भवति यतो गृह्णातीति हेतुहेतुमद्भावख्यापनार्थः। अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः [1]सर्वयोगविशेषसूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते । यथा भाजनविशेषप्रक्षिप्तानां विविधरसपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः, स वचनमन्यनिवृत्त्यर्थं । स एव बन्धो नान्योऽस्ति तेन गुणगुणिबन्धो निवर्तितो भवति । गुणबन्धोऽप्यकार-

---

उपर्युक्त कथन से अर्थात् जीव और पुद्गल का अनादि सम्बन्ध स्वीकार कर लेने से इस आशंका का निरसन हो जाता है, कि अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्म से कैसे बंधता है ? क्योंकि कर्म से सहित जीव मूर्तिक भी माना गया है। जीव एकान्त से अमूर्तिक नहीं है । अतएव मूर्तिक कर्मों से बँधता रहता है।

बन्ध को अनादि न मानने से क्या हानि है ?

यदि बन्ध को आदिमान् स्वीकार किया जावे तब तो, जीव पहले कभी शुद्ध था किन्तु कर्मबन्ध होने पर अशुद्ध हो गया ऐसा अर्थ हो जाएगा। और तब तो आत्यन्तिक शुद्धि को धारण करते हुए सिद्ध जीवों के जैसे पुनः कभी बन्ध नहीं होता है ऐसा उनके भी नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। अतः 'कर्म से सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है' ऐसा द्वितीय वाक्य है। 'अर्थ के वश से विभक्ति बदल जाती है' इस नियम के अनुसार 'कर्मणः' शब्द पहले की पंचम्यन्त हेतु वाच्य विभक्ति को छोड़कर षष्ठी सम्बन्ध को प्राप्त कर लेता है इससे 'कर्म के योग्य' ऐसा अर्थ हो जाता है।

यहाँ पर 'पुद्गल' शब्द कर्म से तादात्म्य को बतलाने के लिए है अर्थात् 'पुद्गलान्' ऐसे शब्द से यह समझना कि कर्म पौद्गलिक ही हैं, कर्मों का पुद्गल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। इस कथन से जो अदृष्टकर्म को आत्मा का गुण मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है। क्योंकि आत्मा का गुण कभी भी संसार का कारण नहीं हो सकता है। इसलिए 'गृह्णाति' यह क्रिया कारण और कार्य भाव को बतलाने के लिए है। अर्थात् जीव का कषाय परिणाम कारण है और पुद्गल कर्मों का आना कार्य है अतः जीव कर्मरूप परिणत न होकर कर्मरूप से परिणत पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है। इससे जीव और कर्म का संयोग सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

अतः मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आर्द्र हुए आत्मा के सर्व योग विशेष से सूक्ष्म और एकक्षेत्रावगाही, अनन्त प्रदेशरूप, कर्म भाव के योग्य पुद्गलों का निर्विभाग रूप जो संश्लेष सम्बन्ध हो जाता है वह बन्ध कहलाता है। जिस प्रकार से बर्तन विशेष में रखे गये विविध रस युक्त पुष्प और फलों का मदिरा भाव से परिणमन हो जाता है उसी प्रकार से आत्मा में स्थित पुद्गलों का भी योग और कषाय के वश से कर्मभाव से परिणमन हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

'स बन्धः' इसमें जो 'स' शब्द है वह अन्य की निवृत्ति के लिए है अर्थात् बन्ध तो बस यही

---

१. मु सर्वतोयोगविशेषात् ।

कार्यो। कर्मादिसाधनो बन्धशब्दो व्याख्यात इति ॥१२२६॥

आह, किमयं बन्ध एकरूप एवाहोस्वित्प्रकारा अप्यस्य सन्तीत्युच्यते—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधो य चदुविहो होइ।
दुविहो य पयडिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव ॥१२२७॥

बन्धशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्ध इति चतुर्विधो बन्धो भवति। प्रकृतिबन्धस्तु द्विविधः मूलस्तथोत्तरो, मूलप्रकृतिबन्ध उत्तरप्रकृतिबन्धश्चेति। प्रकृतिः स्वभावः निम्बस्य का प्रकृतिस्तिक्तता, गुडस्य का प्रकृतिर्मधुरता तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिरर्थानवगमः, दर्शनावरणस्यार्थानालोकनं, वेदस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनं, दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानं, चारित्रमोहस्यासंयमः, आयुषो भवधारणं, नाम्नो नरकादिनामकरणं, गोत्रस्योच्चैर्नीचैः स्थानसंशब्दनम्, अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम्। तदेव लक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः। तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः, यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः। तद्रसविशेषोऽनुभवः यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। इयत्तावधारणं प्रदेशः कर्म-

---

है अन्य कुछ बन्ध नहीं है। अर्थात् जीव के कर्मपुद्गलों के साथ सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है, इस कथन से जो गुण और गुणी में बन्ध मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है। गाथा में 'तु' शब्द अवधारण—निश्चय के लिए समझना। यहाँ कर्मादि साधनवाला बन्ध शब्द कहा गया है।

यह बंध एकरूप है अथवा इसके प्रकार भी है, इसे ही बताते हैं—

गाथार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से बन्ध चार प्रकार का होता है, और प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का है—मूलप्रकृतिबन्ध तथा उत्तरप्रकृतिबन्ध ॥१२२७॥

आचारवृत्ति—बन्ध शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध, इस प्रकार से बन्ध चार भेद रूप है। मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध ये प्रकृतिबन्ध के दो भेद हैं।

प्रकृति स्वभाव है, जैसे नीम का स्वभाव तिक्तता—कडुआपन है और गुड़ का स्वभाव मधुरता है। वैसे ही ज्ञानावरण का स्वभाव पदार्थों का ज्ञान नहीं होने देना है। दर्शनावरण का स्वभाव पदार्थों का अवलोकन रूप दर्शन नहीं होने देना, साता-असाता रूप वेदनीय का स्वभाव है सुख-दुःख का संवेदन कराना, दर्शनमोह का स्वभाव है तत्त्वार्थ का श्रद्धान नहीं होने देना, चारित्रमोह का स्वभाव है संयम नहीं होने देना। भवधारण कराना आयु का स्वभाव है। नरक आदि नाम के लिए कारण होना नामकर्म का स्वभाव है। ऊँच-नीच स्थान को कहलाना गोत्र का स्वभाव है। दान आदि में विघ्न करना अन्तराय का स्वभाव है। यही-यही लक्षण रूप कार्य जिसके द्वारा प्रकर्षरूप से किया जाता है अथवा जिससे वह ही कार्य उत्पन्न होता है वह 'प्रकृति' कहलाती है। अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत नहीं होना उनकी स्थिति है। उनका रस विशेष अनुभव है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र, मन्द आदि भाव से रसविशेष या मधुरता होती है, वैसे ही कर्मपुद्गलों में अपने में होनेवाली सामर्थ्यविशेष [illegible] अनुभव या

भावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति। एवं चतुर्विध एव बन्ध इति॥१२२७॥

तत्राद्यस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।
आउगणामा गोदं तहंतरायं च मूलाओ॥१२२८॥

आवृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वाऽऽवरणं तत्प्रत्येकमभिसंबध्यते, ज्ञानस्यावरणं दर्शनस्यावरणम्। वेदयति वेद्यतेऽनेनेति वा वेदनीयम्। मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्। एत्यनेन नरकादिभवमित्यायुः। नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम। उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यते गोत्रम्। दातृदेयादीनामन्तरम् मध्ये[1] एतीत्यन्तरायः। तथा तेन प्रकारेण मूला उत्तरप्रकृत्याधारभूता अष्टौ प्रकृतयो भवन्तीति। स एषः मूलः प्रकृतिबन्ध इति। ॥१२२८॥

इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धमाह—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चदुरो तहेव बादालं।
दोण्णि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव॥१२२९॥

अनुभाग है। इयत्ता—'इतना है' ऐसा निश्चय होना प्रदेश है। कर्मभाव से परिणत हुए पुद्गलों में पुद्गलस्कन्धों का परमाणु की गणना से निश्चय करना प्रदेश है। इस तरह ये चार प्रकार बन्ध के हैं।

उनमें आदि के मूलप्रकृतिबन्ध के भेदों को दिखलाते हैं—

गाथार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूलप्रकृतियाँ हैं॥१२२८॥

आचारवृत्ति—जो ढकता है अथवा जिसके द्वारा ढका जाता है वह आवरण है। इसे ज्ञान और दर्शन इन दोनों में लगाने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो भेद हो जाते हैं। जो वेदन करता है अथवा जिसके द्वारा वेदन—अनुभव कराया जाता है वह वेदनीय है। जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय है। जिसके द्वारा नरक आदि भव प्राप्त किया जाता है वह आयु है। जो आत्मा को नमाता है—अनेक नाम प्राप्त कराता अथवा जिसके द्वारा आत्मा झुकाई जाती है वह नाम है। जिसके द्वारा ऊँच-नीच शब्द से पुकारा जाता है वह गोत्र है। जो दाता और देय—देनेयोग्य पात्र आदि में अन्तर डाल देता है अर्थात् इनके मध्य में आ जाता है वह अन्तराय है। इस प्रकार ये आठ मूलप्रकृतियाँ हैं जो कि उत्तरप्रकृतियों के लिए आधारभूत हैं। ये मूलप्रकृतिबन्ध के आठ भेद हैं।

अब उत्तरप्रकृतिबन्ध कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच ये उत्तरप्रकृतियाँ कही गयी हैं॥१२२९॥

---

१. क मध्येत्यन्तरायः।

ज्ञानावरणस्य पंच प्रकृतयः, दर्शनावरणस्य नव प्रकृतयः, वेदनीयस्य द्वे प्रकृती, मोहनीयस्याष्टाविंशतिः प्रकृतयः, आयुषश्चतस्रः प्रकृतयः, नाम्नो द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः, गोत्रस्य द्वे प्रकृती, अन्तरायस्य पंच प्रकृतयः। अथवा पंचप्रकृतयो ज्ञानावरणमित्येवमादि। इत्येवं नामत्रिनवत्यपेक्षयाऽष्टचत्वारिंशच्छतमुत्तरप्रकृतयो भवन्तीति वेदितव्यम् ॥१२२९॥

के ते ज्ञानावरणस्य पंच भेदा इत्याशंकायामाह—

आभिणिबोहियसुदओहीमणपज्जयकेवलाणं च।
आवरणं णाणाणं णादव्वं सव्वभेदाणं ॥१२३०॥

अभिमुखो नियतो बोध अभिनिबोधः, स्थूलवर्तमानानन्तरिता अर्था अभिमुखाश्चक्षुरिंद्रिये रूपं नियमितं श्रोत्रेन्द्रिये शब्दः घ्राणेन्द्रिये गन्धः रसनेन्द्रिये रसः स्पर्शनेन्द्रिये स्पर्शः नोइन्द्रिये दृष्टश्रुतानुभूता नियमिताः, अभिमुखेषु नियमितेष्वर्थेषु यो बोधः स अभिनिबोधः। अभिनिबोध एवाभिनिबोधकं ज्ञानमत्र विशेषस्य सामान्यरूपत्वात्। आभिनिबोधिकं विशेषेणान्येभ्योऽवच्छेदकमतो न पुनरुक्तदोषः। श्रुतं मतिपूर्वमिन्द्रियगृहीतार्थात्पृथग्भूतमर्थग्रहणं यथा घटशब्दाद् घटार्थप्रतिपत्तिर्धूमाच्चाग्न्युपलम्भ इति। [3]अवधानादवधिः

आचारवृत्ति—ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ हैं, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ हैं, वेदनीय की दो प्रकृतियाँ हैं, मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियाँ है, आयु की चार प्रकृतियाँ हैं, नामकर्म की ब्यालीस प्रकृतियाँ हैं, गोत्र की दो प्रकृतियाँ हैं, और अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ हैं। अथवा पाँच प्रकृतिरूप ज्ञानावरण है इत्यादि रूप से समझ लेना। इस प्रकार से नामकर्म की तिरानवें प्रकृतियों की अपेक्षा करने से एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं।

ज्ञानावरण के वे पाँच भेद कौन हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन सर्वभेदरूप ज्ञानों का आवरण जानना ॥१२३०॥

आचारवृत्ति—अभिमुख और नियत का बोध—ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान है। स्थूल वर्तमान और अनन्तरित—योग्य क्षेत्र में अवस्थित पदार्थों को अभिमुख कहते हैं और जिस-जिस इन्द्रिय का जो विषय नियमित है—निश्चित है उसे नियत कहते हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द, घ्राणेन्द्रिय का गन्ध, रसनेन्द्रिय का रस, स्पर्शनेन्द्रिय का स्पर्श और नोइन्द्रिय के देखे-सुने और अनुभव में आये हुए पदार्थ नियमित हैं। इन आभिमुख और नियमित पदार्थों का जो ज्ञान है वह अभिनिबोध है। यह अभिनिबोध ही आभिनिबोधिक ज्ञान है। यहाँ पर विशेष को सामान्यरूप कहा है। अर्थात् आभिनिबोधिक ज्ञान विशेष होने से अन्य ज्ञानों से अपने को अवच्छेदक—पृथक् करनेवाला है इसलिए पुनरुक्त दोष नहीं आता है। इसे ही मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और यह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये विषय से भिन्न विषय को ग्रहण करता है। जैसे घट शब्द से घट अर्थ का ज्ञान होना और धूम से अग्नि

---

१. क नियमितो। २. क विशेषं तस्य। ३. क अवाग्धानादवधिः।

पुद्गलमर्यादावबोधः । परकीयमनोगतार्थो मन इत्युच्यते तत्परि समन्तादयते इति मनःपर्ययः । त्रिकालगोचरानन्तपर्यायाणाम् अवबोधः केवलं सर्वथा शुद्धः । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । आभिनिबोधिकज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं चेति । आवरणशब्दोऽपि प्रत्येकमभिसंबध्यते; आभिनिबोधिकज्ञानावरणं, श्रुतज्ञानावरणं, अवधिज्ञानावरणं, मनःपर्ययज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणं चेति । एतेषां सर्वेषामावरणं ज्ञातव्यम् । आभिनिबोधिकं ज्ञानमवग्रहेहावायधारणाभेदेन चतुर्विधम्, विषयविषयिसन्निपातानन्तरम्[1]आद्यग्रहणमवग्रहः । सोऽप्यर्थव्यंजनावग्रहभेदेन द्विविधः । अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहो यथा चक्षुरिन्द्रियेण रूपग्रहणं, प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहो यथा स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणम् । अवगृहीतस्यार्थस्य विशेषाकांक्षणमीहा, योऽवग्रहेण गृहीतोऽर्थस्तस्य विशेषाकांक्षणं भवितव्यता[2]प्रत्ययं । यथा कंचिद् दृष्ट्वा किमेषो भव्य, उत अभव्यः, भव्येन भवितव्यमिति विशेषाकांक्षणमीहा । ईहितस्यार्थस्य भवितव्यतारूपस्य संदेहापोहनमवायः । भव्य एवायं नाभव्यः भव्यत्वाविनाभाविसम्यक्-

---

का ज्ञान होना । अर्थात् घट शब्द सुना यह मतिज्ञान है, पुनः घट के अर्थ को समझा यह श्रुतज्ञान है । धुआँ देखकर अग्नि को जाना यह भी श्रुतज्ञान है ।

अवधान से जानना अवधिज्ञान है यह मर्यादा से युक्त पुद्गल पदार्थ के ज्ञानरूप है ।

दूसरे के मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है । उसको चारों तरफ से जो 'अयते' जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है ।

त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों को जानना केवलज्ञान है । यह ज्ञान सर्वथा शुद्ध है ।

ज्ञान शब्द प्रत्येक के साथ लगाने से आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान होते हैं ।

आवरण शब्द भी प्रत्येक के साथ लगाने से आभिनिबोधिकज्ञानावरण, श्रुतज्ञाना-वरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण के भेद हो जाते हैं ।

अभिनिबोधिकज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का है । विषय पदार्थ और विषयी—इन्द्रिय के सम्बन्ध होने के अनन्तर जो अवग्रहण —ज्ञान होता है वह अवग्रह है इसके भी अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं । अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करना अर्थावग्रह है । जैसे चक्षु इन्द्रिय से रूप को ग्रहण करना, अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है । तथा प्राप्त अर्थ को ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है । जैसे स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण करना । यहाँ स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का जो ज्ञान होता है वह वस्तु से सम्बन्ध होने पर होता है, बिना स्पर्श के स्पर्शज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान और शब्दज्ञान नहीं होता है ।

गृहीत पदार्थ के विशेष की आकांक्षा होना ईहा है, अर्थात् अवग्रह ने जिस पदार्थ को ग्रहण किया है उसके विशेष धर्म को जानने की इच्छा का होना ईहा है—यह भवितव्यता प्रत्यय सम्भवात्मक ज्ञान रूप है । जैसे किसी को देखकर यह भव्य है अथवा अभव्य है, ऐसी जिज्ञासा होने पर यह भव्य होगा ऐसा जो भवितव्यतारूप ज्ञान है वह विशेषाकांक्षारूप है । इसी का नाम ईहा है ।

ईहा से जाने गये पदार्थ में जो कि भवितव्यतारूप है, उसमें सन्देह का दूर हो जाना

---

१. क माद्यग्रहण-। २. क प्रत्ययः ।

दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात्। निर्णीतस्यार्थस्य कालान्तरेऽविस्मृतिर्धारणा, यस्माज्ज्ञानात्कालान्तरेऽप्यविस्मरणहेतुभूतो जीवे संस्कार उत्पद्यते तज्ज्ञानं धारणा। न चैतेषामवग्रहादीनां चतुर्णां सर्वत्र क्रमेणैवोत्पत्तिर्नियमानुपलंभात् ततः क्वचिदवग्रह एव, क्वचिदवग्रहो धारणा च, क्वचिदवग्रह ईहा च, क्वचिदवग्रहेहावायधारणा इति। तत्र बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवसेतरभेदेनैकैको द्वादशविधः। तत्र बहूनामेकवारेण ग्रहणं बह्ववग्रहः युगपत्पंचांगुलिग्रहणवत्। एकस्यैवोपलम्भ [एकावग्रह.] एकाङ्गुलिग्रहणवत्। बहुप्रकाराणां हस्त्यश्वगोमहिष्यादीनां नानाजातीनां ग्रहणं बहुविधावग्रहः। एकजातिग्रहणमेकविधावग्रहः। आशु ग्रहणं क्षिप्रावग्रहः। चिरकालग्रहणमक्षिप्रावग्रहः। अभिमुखार्थग्रहणं निःसृतावग्रहः। अनभिमुखार्थग्रहणमनिःसृतावग्रहः। अथवोपमानोपमेयभावेन ग्रहणं निःसृतावग्रहस्तद्विपरीतोऽन्यथा, यथा कमलदलनेत्रा तद्विपरीतो वा। नियमितगुणविशिष्टार्थग्रहणमुक्तावग्रहो, यथा चक्षुरिन्द्रियेण धवलग्रहणं अनियमितगुणविशिष्टद्रव्यग्रहणमनुक्तावग्रहः यथा चक्षुरिन्द्रियेण द्रव्यान्तरस्य। निर्णयेन ग्रहणं ध्रुवावग्रहस्तद्विपरीतोऽध्रुवावग्रहः। एवमीहा-

---

अवाय है। जैसे यह भव्य ही है, अभव्य नहीं है क्योंकि इसमें भव्यत्व के अविनाभावी सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का सद्भाव है। यह निश्चय ज्ञान अवाय है।

अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालान्तर में भी नहीं भूलना धारणा है। जिस ज्ञान से कालान्तर में भी अविस्मरण में कारणभूत ऐसा संस्कार जीव में उत्पन्न हो जाता है वह ज्ञान धारणा है।

इन अवग्रह आदि चारों ज्ञानों की सभी जीवों में क्रमसे उत्पत्ति होती ही हो ऐसा नियम नहीं देखा जाता है। इसलिए किसी जीव के अवग्रह ही होता है, किसी के अवग्रह और धारणा हो जाते हैं, किसी में अवग्रह और ईहा हो जाते हैं और किसी जीव के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारण ये चारों ही होते हैं।

अवग्रह के विषय बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव ये छह भेद तथा उनसे उल्टे एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव ये छह ऐसे बारह भेद होते हैं। ईहा आदि एक-एक के भी ये बारह भेद होते हैं।

बहुत से पदार्थों का एक बार मे ग्रहण करना बहुअवग्रह है; जैसे एक साथ पाँचों अंगुलियों को ग्रहण करना। बहु प्रकार के पदार्थों का अर्थात् हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि अनेक जातिवाले जीवों का ग्रहण करना बहुविध अवग्रह है। एक वस्तु को ग्रहण करना एक अवग्रह है और एक जाति के जीवों का ग्रहण करना एकविध अवग्रह है। शीघ्र ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है, चिरकाल से ग्रहण करना अक्षिप्र अवग्रह है। अभिमुख—सन्मुख पदार्थ को ग्रहण करना निःसृत अवग्रह है, अनभिमुख पदार्थ का ग्रहण अनिःसृत अवग्रह है। अथवा उपमान और उपमेय भाव रूप से ग्रहण करना निःसृत अवग्रह है और उससे विपरीत ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है। जैसे कि कमलदलनेत्रा—कमल के दल के समान जिसके नेत्र हैं ऐसी स्त्री को कमलदलनेत्रा कहते हैं। यहाँ कमल उपमान है और नेत्र उपमेय। सुन्दर नेत्रवाली स्त्री को देखकर उपमान उपमेय भाव से उसे कमलदलनेत्रा कहना यह निःसृत अवग्रह है। इससे विपरीत—बिना देखे ही ज्ञान हो जाना अनिःसृत अवग्रह है। नियमित गुणों से विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करना उक्त अवग्रह है; जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा धवल पदार्थ का ग्रहण। अनियमित गुण से विशिष्ट

ईहादीनामपि द्वादशभेदा ज्ञातव्याः। [एवं चक्षुरिन्द्रियस्याष्टचत्वारिंशद्भेदास्तथा पंचानामिन्द्रियाणां मनसश्च समुदायेनाष्टाशीत्युत्तरद्विशतभेदा भवन्ति तेषु व्यंजनावग्रहस्याष्टचत्वारिंशद्भेदानां मिलने कृते सति षट्त्रिंशदुत्तरत्रिशतभेदा आभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य भवन्ति] ज्ञानभेदमावरणस्यापि भेदो ज्ञातव्य इति। श्रुतज्ञानमपि पर्यायादिभेदेन विंशतिभेदम्। पर्यायः, पर्यायसमासः, अक्षरम्, अक्षरसमासः, पदं, पदसमासः, संघातः, संघातसमासः, प्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तिसमासः, अनियोगः, अनियोगसमासः, प्राभृतकः, प्राभृतकसमासः, प्राभृतक-प्राभृतकः, प्राभृतकप्राभृतकसमासः, वस्तु, वस्तुसमासः, पूर्वं, पूर्वसमासः। तत्राक्षराणां मध्यमक्षरं केवलज्ञानं तस्यानन्तभागः पर्यायनामाक्षरसंज्ञकं केवलज्ञानमिव निरावरणं सूक्ष्मनिगोदस्य तदपि भवति तदनन्तभाग-समानेनाधिकं पर्यायसंज्ञकं भवति ज्ञानं तस्मादुत्पन्नं श्रुतमपि पर्यायसंज्ञकं कार्ये कारणोपचारात्। तदनन्त-भेदानन्तभागेन स्वकीयेनाधिकं पर्यायसमासः। एवमनन्तभागासंख्यातगुणानन्तगुणवृद्धया नैकाक्षरं भवति

पदार्थ को ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है; जैसे चक्षु इन्द्रिय से द्रव्यान्तर को ग्रहण करना। निर्णय से ग्रहण करना ध्रुव अवग्रह है और उससे विपरीत अध्रुव अवग्रह है। ये बारह भेद जिस प्रकार से अवग्रह में लगाये हैं उसी प्रकार से ये ईहा आदि के भी बारह-बारह भेद जानना चाहिए। तथा जिस प्रकार से ये अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के बारह-बारह भेद करके अड़तालीस भेद चक्षु इन्द्रिय के बताये गये हैं वैसे ही पाँचों इन्द्रिय अर्थात् शेष चार इन्द्रियों के और छठे मन के अड़तालीस-अड़तालीस भेद होने से सब मिलकर दो सौ अठासी भेद हो जाते हैं। इनमें व्यंजनावग्रह के अड़तालीस भेद मिला देने पर आभि-निबोधिक ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। अर्थात् व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः उस अवग्रह को चार इन्द्रिय से गुणा करके बहु आदि बारह भेदों से गुणा कर देने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं, सो २८८+४८=३३६ कुल मिलकर मतिज्ञान के भेद होते हैं। इन ज्ञान के भेदों से आवरण के भी उतने ही भेद समझना चाहिए।

श्रुतज्ञान भी 'पर्याय' आदि के भेदों से बीस प्रकार का है। पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनियोग, अनियोगसमास, प्राभृतक, प्राभृतकसमास, प्राभृतकप्राभृतक प्राभृतकप्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास।

उनमें से अक्षरों का सद्भाव होने से केवलज्ञान अक्षर है। उसके अनन्तवें भाग का पर्याय अक्ष्यक्षर नाम है। यह ज्ञान केवलज्ञान के समान निरावरण है। यह ज्ञान सूक्ष्म निगोद जीव के होता है। यह अपने अनन्तभाग से अधिक पर्यायसंज्ञक ज्ञान कहलाता है। उससे उत्पन्न हुए श्रुत की भी पर्याय संज्ञा है चूंकि यहाँ कार्य में कारण का उपचार है। अर्थात् लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम का है और अक्षर नाम अविनश्वर का है इसलिए इस ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं क्योंकि इतने इस क्षयोपशम का जीव के कभी भी विनाश नहीं होता है। यह सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन-इन्द्रियजन्य मति-ज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान होता है।

यही ज्ञान जब अपने अनन्त भाग से अधिक होता है तब पर्यायसमास होता है।

वृद्धीरिवृद्धी: असंख्यातलोकमात्रा: षड्वृद्धीरतिक्रम्य पर्यायाक्षरसमासस्य सर्वपश्चिमो विकल्पो भवति तदनन्त-भागाधिकमक्षरं नाम श्रुतज्ञानं भवति। कथं ? द्रव्यश्रुतप्रतिबद्धैकाक्षरोत्पन्नस्योपचारेणाक्षरव्यपदेशात्। तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धि गतेऽक्षरसमास: अक्षरस्यानन्तभागे वा वृद्धि गतेऽक्षरसमासो भवति एवं यावत्पदं न प्राप्तं तावदक्षरसमास:। तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धि गते पदं षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोटीभिस्त्र्यशीतिलक्षाधिकाभिरष्ट-सप्ततिशताधिकाभिरष्टाशीत्यक्षराधिकाभिश्चाक्षराणां गृहीताभिरेकं द्रव्यं श्रुतपदं तस्मादुत्पन्नज्ञानमप्युप-चारेण पदसंज्ञकं श्रुतम्। तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धि गते पदसमास:। एवमेकैकाक्षरवृद्धिक्रमेण नेतव्यं यावत्संघातं न प्राप्नोति एक विकल्पोनं तत्सर्वं पदसमास:। तत्र एकाक्षरे वृद्धि गते संघात:। संख्यातपदैर्भवति यावद्भि: पदैर्नरकगति: प्ररूप्यते तावद्भिर्भवति तस्मादुत्पन्नं ज्ञानमपि संघातसंज्ञकं, एतस्योपर्येकाक्षरे वृद्धि गते संघातसमास:। एकाक्षरे प्रविष्टे प्रतिपत्ति: स्यात् यावद्भि: पदैरेकगतीन्द्रियकाययोगादय: प्ररूप्यन्ते तावद्भि: पदैर्गृहीतै: प्रतिपत्तिश्रुतं भवति, तस्योपर्येकाक्षरे वृद्धि गते प्रतिपत्तिसमास: यावदनुयोगो न भवति। एकाक्षरे वृद्धि गतेऽनियोगो भवति चतुर्दशमार्गणाप्ररूपकस्तत्र एकाक्षरे वृद्धेऽनियोगसमास:। एकाक्षरेण प्राभृतकं भवति संख्यातानियोगद्वारैस्तत्र एकैकाक्षरवृद्धिक्रमेण यावत्प्राभृतकं न परिपूर्णं तत्सर्वं

इस प्रकार अनन्तभाग, असंख्यातगुण और अनन्तगुण वृद्धि से एक अक्षर होता है। इस प्रकार की असंख्यात लोक मात्र बार षट् स्थान वृद्धि के हो जाने पर उसके अनन्तर जो पर्यायाक्षर समास का अन्तिम विकल्प हो जाता है उसके अनन्तवें भाग अधिक अक्षर नाम का श्रुतज्ञान होता है।

वह कैसे ? क्योंकि द्रव्यश्रुत से संबन्धित ऐसे एकाक्षर से उत्पन्न हुए ज्ञान को उपचार से अक्षर कहते हैं। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि हो जाने पर अक्षरसमास होता है। अथवा अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण वृद्धि के हो जाने पर अक्षरसमास होता है। इस तरह जब तक पदज्ञान प्राप्त न हो तब तक अक्षरसमास ज्ञान ही रहता है। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पदज्ञान होता है। सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख अठत्तर सौ अठासी अक्षरों का एक द्रव्य श्रुतपद होता है, उससे उत्पन्न हुए ज्ञान को भी उपचार से पद नामक श्रुत-ज्ञान कहा है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पदसमास ज्ञान होता है।

इस तरह एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से जब तक संघात ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक सभी को पदसमास कहते हैं। उससे ऊपर एक अक्षर के वृद्धि होने से संघात ज्ञान होता है। जितने पदों से नरकगति का निरूपण होता है उतने पदों का नाम संघात है। इससे उत्पन्न हुए ज्ञान को भी संघात ज्ञान कहते हैं। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर संघातसमास होता है। इसमें एकाक्षर मिला देने पर प्रतिपत्ति नाम का श्रुतज्ञान होता है। जितने पदों से एकगति, इन्द्रिय, काय, योग आदि मार्गणाओं का निरूपण किया जाता है उतने पदों का प्रतिपत्ति नामक श्रुत-ज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर प्रतिपत्तिसमास ज्ञान होता है। जब तक अनुयोग ज्ञान नहीं हो जावे तब तक प्रतिपत्तिसमास ही कहलाता है। अन्तिम प्रतिपत्तिसमास के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। यह चौदह मार्गणाओं का प्ररूपण करता है। इसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर अनुयोगसमास ज्ञान होता है। अंतिम अनुयोगसमास के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने पर प्राभृतक-ज्ञान होता है। संख्यात अनियोग द्वारों से यह ज्ञान होता है। उसके ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के

प्राभृतकप्राभृतकसमासस्तत्र एकाक्षरेण प्राभृतप्राभृतकं भवति, तत एकाक्षरेण वृद्धिर्यावद्वस्तु एकाक्षरेणोनं तावत् प्राभृतकप्राभृतकसमासः एकाक्षरेण वस्तु विंशतिप्राभृतकैस्तत एकाक्षरवृद्ध्या नेतव्यं यावत्पूर्वमेकाक्षरेणोनं तावत् वस्तुसमासः। तत एकाक्षरेण पूर्वं भवति संख्यातवस्तुभिस्तत एकैकाक्षरवृद्ध्या तावन्नेतव्यं यावल्लोकबिन्दु-सारपूर्वं एकाक्षरेणोनं, तेनाधिकं पूर्वम् पूर्वसमासः। एतस्य श्रुतस्यावरणं श्रुतावरणं श्रुतज्ञानभेदावरणस्यापि भेद इति। अवधिज्ञानं देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदेन त्रिविधमेकैकमपि जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधम्। तत्र जघन्यदेशावधिर्द्रव्यत एकजीवौदारिकशरीरस्य लोकेन भागे हृते एकभागम् जानाति, क्षेत्रतः घनांगुलस्या-संख्यातभागं जानाति, कालत आवल्या असंख्यातभागं जानाति। भावतो जघन्यद्रव्यपर्यायेषु आवल्यसंख्यात-भागेषु कृतेषु तत्रैकखण्डं जानाति। उत्कृष्टदेशावधिर्द्रव्यतः कार्मणवर्गणाया मनोवर्गणानन्तभागेन भागे हृते तत्रैकखण्डं जानाति, क्षेत्रतः संख्यातलोकं जानाति, कालतः पल्योपमं जानाति, भावतोऽसंख्यातलोकपर्यायान् जानाति। तत्र परमावधिर्जघन्यद्रव्यतो देशावधेरुत्कृष्टद्रव्यस्य मनोवर्गणानन्तभागस्यानन्तभागेन···(?)

क्रम से जब तक प्राभृतकप्राभृतक ज्ञान न आ जावे तब तक प्राभृतकसमास ज्ञान कहलाता है। उसके ऊपर एक अक्षर की वृद्धि करने से प्राभृतक प्राभृतकसमास होता है। इसके ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि करने से जब एक अक्षर से कम वस्तु ज्ञान हो जाता है तब तक के सभी ज्ञान को प्राभृतक-प्राभृतकसमास कहते हैं। अन्तिम प्राभृतक प्राभृतकसमास में एक अक्षर मिलाने से वस्तु ज्ञान होता है यह बीस प्राभृतों से उत्पन्न होता है।

इसके अनन्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि करने से एक अक्षर कम पूर्व ज्ञान के आने तक सभी भेद वस्तुसमास के होते हैं। उसमें एक अक्षर मिलाने से पूर्व नाम का ज्ञान होता है। संख्यात वस्तु ज्ञानों से यह पूर्वज्ञान होता है। इसमें एक-एक अक्षर की वृद्धि तब तक करना चाहिए कि जब तक लोकबिंदुसार नाम का श्रुतज्ञान न हो जावे।

यह एक अक्षर से कम पूर्वश्रुत ज्ञान था। उसमें एक अक्षर मिला देने पर पूर्वसमास ज्ञान हो जाता है। इस श्रुत के ऊपर आवरण को श्रुतावरण कहते हैं। श्रुतज्ञान के जितने भेद हैं उतने ही भेद श्रुतज्ञानावरण के जानना चाहिए।

अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट ऐसे दो-दो भेद भी होते हैं। उसमें से जघन्य देशावधि द्रव्य से एक जीव के औदारिक शरीर के जितने प्रदेश हैं उसमें लोक का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसके एक भाग को जानता है। क्षेत्र से घनांगुल के असंख्यातवें भाग को जानता है। काल से आवली के असंख्यातवें भाग को जानता है। भाव से द्रव्य की जघन्य पर्याय में आवली के असंख्यात भाग करने पर उसके एक खण्ड को जानता है। उत्कृष्ट देशावधि द्रव्य से कार्मण वर्गणा में मनोवर्गणा के अनन्तवें भाग से भाजित करने पर उसमें से एक खण्ड को जानता है। क्षेत्र से संख्यात लोक को जानता है। काल से पल्योपम को जानता है। भाव से असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायों को जानता है।

जघन्य परमावधि द्रव्य की अपेक्षा से देशावधि का जो उत्कृष्ट द्रव्य है उसमें मनो-वर्गणा के अनन्त भाग करके उसमें से एक भाग के द्वारा भाजित करने पर लब्ध के एक भाग को

जानाति पुनरुत्कृष्टं जानाति, क्षेत्रतोऽसंख्यातलोकं[1] जानाति, कालतः पल्योपमं जानाति, भावतोऽसंख्यातलोकपर्यायान् जानाति। उत्कृष्टो द्रव्यतो मनोवर्गणाया अनन्तभागं जानाति, क्षेत्रतोऽसंख्यातलोकान् जानाति, कालतोऽसंख्यातलोकसमयान् जानाति, भावतोऽसंख्यातलोकपर्यायान् जानाति। सर्वावधिर्द्रव्यत एकं परमाणुं जानाति, क्षेत्रतोऽसंख्यातलोकान् जानाति, कालतोऽसंख्यातलोकसमयान् जानाति, भावतोऽसंख्यातलोकपर्यायान् जानाति। सर्वत्रासंख्यातगुणो गुणकारो द्रष्टव्यः पूर्वपूर्वापेक्षया अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् षड्विधो वावधिः, एतस्यावधिज्ञानस्यावरणमवधिज्ञानावरणम्। मनःपर्ययज्ञानमृजुविपुलमतिभेदेन द्विविधमृजुमतिमनःपर्ययज्ञानं विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानम् चेति। ऋज्वी प्रगुणा निर्वर्तिता मतिः ऋजुमतिः वाक्कायमनस्कृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानं निर्वर्तिता, अनिर्वर्तिता कुटिला विपुला च मतिर्विपुलमतिः, अनिर्वर्तिता वाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात्, अथवा ऋज्वी मतिर्यस्य ज्ञानविशेषस्यासौ ऋजुमतिर्विपुला मतिर्यस्यासौ विपुलमतिः। ऋजुमतिर्विपुलमतिश्च मनःपर्ययः। तत्र ऋजुमतिः द्रव्यतो जघन्येनैकसामयिकीं औदारिकशरीरनिर्जरां जानात्युत्कृष्टेन एकसामयिकीं चक्षुरिन्द्रियनिर्जरां जानाति,

---

जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण क्षेत्र को जानता है। काल से पल्योपम प्रमाण काल को जानता है और भाव से असंख्यात लोक प्रमाण पर्यायों को जानता है।

वह परमावधि उत्कृष्ट से द्रव्य की अपेक्षा मनोवर्गणा के अनन्तवें भाग को जानता है। क्षेत्र से असंख्यात लोकों को जानता है। काल से असंख्यात लोक के समयों को जानता है और भाव से असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायों को जानता है। सर्वावधि ज्ञान भी द्रव्य से एक परमाणु मात्र को जानता है। क्षेत्र से असंख्यात लोक प्रमाण को जानता है। काल से असंख्यात लोकप्रमाण समयों को जानता है और भाव से असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायों को जानता है। यहाँ पर जो असंख्यातगुणा है वह पूर्व पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुणे अधिक ही समझना। इस सर्वावधि में जघन्य भेद नहीं होता है। जिस ज्ञान विशेष की वह ज्ञान विपुलमति मनःपर्यय है। यहाँ सर्वत्र असंख्यात गुणा गुणकार है। अर्थात् पूर्व पूर्व की अपेक्षा से उत्तर भेद में असंख्यात गुणित गुणाकार समझना चाहिए।

अवधिज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेद भी होते हैं। इस अवधिज्ञान के आवरण को अवधिज्ञानावरण कहते हैं। अतः जितने अवधिज्ञान के भेद हैं उतने ही आवरण के भेद समझ लेना चाहिये।

मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋज्वी—सरल मन-वचन-काय से रची हुई मति ऋजुमति है। अर्थात् पर के मन में स्थित जो पदार्थ हैं उनको उसने सरल मन-वचन-काय से चिन्तन किया है, उसे जो जान लेते हैं। उनके ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। अथवा ऋज्वी—सरल मति है जिस ज्ञान विशेष की वह ऋजुमति है। विपुला—कुटिल मन-वचन-काय से अनिर्वर्तित मति विपुला है। जो मुनि कुटिल मन-वचन-काय से सोचे गये पर के मन में स्थित पदार्थ को जान लेता है उसके विपुलमति मनःपर्ययज्ञान होता है, अथवा विपुला—कुटिल मति है जिसकी वह विपुलमति है।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जघन्य से द्रव्य की अपेक्षा एक समय में होनेवाली औदारिक

---

१. क असंख्यातान् लोकान्।

क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूतिपृथक्त्वम्, उत्कृष्टतो योजनपृथक्त्वं जानाति। कालतो जघन्येन द्वौ वा त्रीन्वा भवान्, उत्कृष्टतः सप्ताष्टौ भवान् जानाति। भावतो जघन्येनोत्कृष्टेन चासंख्यातभावान् जानाति किं तु जघन्यादुत्कृष्टस्याधिकत्वम् इति। विपुलमतिर्द्रव्यतो जघन्येनैकसामयिकीं चक्षुरिन्द्रियनिर्जरां जानाति उत्कृष्टेनैकसमयप्रबद्धकर्मद्रव्यस्य मनोवर्गणाया अनन्तभागेन भागे हृत एकखण्डं जानाति। क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वं साधिकं जानाति। उत्कृष्टतो मनुष्यक्षेत्रं जानाति। कालतो जघन्येन सप्ताष्टभवान् जानात्युत्कृष्टतोऽसंख्यातान् एतस्य भवान् जानाति। भावतो जघन्येनासंख्यातपर्यायान् जानाति, उत्कृष्टतस्ततोऽधिकान् पर्यायान् जानाति। मनःपर्ययस्यावरणं मनःपर्ययावरणम्। केवलज्ञानमसहायमन्यनिरपेक्षं, तस्यावरणं केवलज्ञानावरणम्। एवं पंचप्रकारमावरणं; ज्ञानावारकः पुद्गलस्कन्धनिचयः प्रवाहस्वरूपेणानादिबद्धः ज्ञानावरणमिति। ॥१२३०॥

दर्शनावरणप्रकृतिभेदानाह—

णिद्दाणिद्दा पयलापयला तह थीणगिद्धि णिद्दा य।
पयला चक्खु अचक्खू ओहीणं केवलस्सेदं ॥१२३१॥

शरीर की निर्जरा प्रमाण द्रव्य को जान लेता है और उत्कृष्ट से एक समय में होनेवाली चक्षुइन्द्रिय की निर्जरा प्रमाण द्रव्य को जान लेता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से कोश पृथक्त्व—तीन कोश से लेकर सात-आठ कोश तक को जान लेता है। उत्कृष्ट से योजन पृथक्त्व को जान लेता है। काल की अपेक्षा जघन्य से दो अथवा तीन भवों को जान लेता है तथा उत्कृष्ट से सात-आठ भवों को जान लेता है। भाव की अपेक्षा जघन्य से असंख्यात भावों को जानता है और उत्कृष्ट से भी असंख्यात भावों को जानता है। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट में अधिक भाव होते हैं।

विपुलमति द्रव्य की अपेक्षा जघन्य से एक समय में होनेवाले चक्षु-इन्द्रिय की निर्जरा द्रव्य को जानता है, तथा उत्कृष्ट से एक समयप्रबद्ध प्रमाण कर्मद्रव्य में मनोवर्गणा के अनन्तवें भाग से भाग देने पर जो द्रव्य आता उसके एक खण्ड को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से कुछ अधिक योजन पृथक्त्व को जानता है और उत्कृष्ट से मनुष्यक्षेत्र को जानता है। काल की अपेक्षा जघन्य से सात-आठ भवों को जानता है और उत्कृष्ट से असंख्यात भवों को जानता है। भाव की अपेक्षा जघन्य से असंख्यात पर्यायों को जानता है और उत्कृष्ट से उससे अधिक असंख्यात पर्यायों को जानता है। इस मनःपर्ययज्ञान का जो आवरण है वह मनःपर्ययज्ञानावरण है।

केवल—असहाय अर्थात् अन्य की अपेक्षा से रहित जो ज्ञान है वह केवलज्ञान है। इसके आवरण का नाम केवलज्ञानावरण है।

इस तरह पाँच प्रकार का आवरण होता है। यह ज्ञान के ऊपर आवरण डालने वाला पुद्गलस्कन्धों का समूह प्रवाहरूप से अनादि काल से जीव के साथ बद्ध है इसलिए यह ज्ञानावरण सार्थक नामवाला है।

दर्शनावरण की प्रकृति के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला तथा चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शनावरण, ऐसे नौ भेद दर्शनावरण के हैं ॥१२३१॥

आवरणमित्यनुवर्तते तेन सह संबन्धः। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धिः, निद्रा, प्रचला, अत्र दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येन दृश्यते¹, निद्रानिद्रा चासौ दर्शनावरणं च, एवं प्रचलाप्रचला दर्शनावरणं, स्त्यानगृद्धिर्दर्शनावरणं, निद्रा दर्शनावरणं, प्रचला दर्शनावरणं, उत्तरत्र वैयधिकरण्येन चक्षुर्दर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं चेति नवविधं दर्शनावरणमेतदिति। तत्र मन्दखेदक्लमविनोदार्थं स्वापो निद्रा, तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। स्वापक्रियमात्मानं प्रचलयति सा प्रचला। शोकश्रममदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविकृतिसूचिकासौ च पुनः पुनर्वर्तमाना प्रचलाप्रचला। स्वप्ने वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः स्त्यायतेरनेकार्थत्वात् स्वापार्थ इह गृह्यते, गृधेरपि² दृप्तिः स्त्याने स्वप्ने गृध्यते दृप्यते³ यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति स्त्यानगृद्धिः। तत्र, निद्रानिद्रादर्शनावरणोदयेन वृक्षाग्रे समभूमौ यत्र तत्र देशे घोरं रवं घोरयन्निर्भरम् स्वपिति। प्रचलाप्रचलातीव्रोदयेन आसीन उत्थितो वा गलल्लालामुखं पुनः पुनः शरीरं शिरश्च कम्पयन् निर्भरं स्वपिति। स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणोदयेन उत्थितोऽपि पुनः स्वपिति, सुप्तोऽपि कर्म करोति, दन्तान् कटकटायमानः शेते इति। निद्रायास्तीव्रोदयेनाल्पकालं स्वपिति, उत्थाप्यमानः सोऽपि शीघ्रमुत्तिष्ठति,

---

आचारवृत्ति—आवरण शब्द पिछली गाथा में है, वहाँ से इसका सम्बन्ध कर लेना। निद्रानिद्रा आदि पाँचों में दर्शनावरण सामानाधिकरण्य से देखा जाता है इसलिए उसको सबके साथ लगाना तथा आगे चक्षु आदि चार में वैयधिकरण्य से दर्शनावरण है अतः उनके साथ भी उसे लगा लेना चाहिए। तब निद्रानिद्रादर्शनावरण, प्रचलाप्रचलादर्शनावरण, स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण, निद्रादर्शनावरण, प्रचलादर्शनावरण, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये नौ भेद दर्शनावरण के होते हैं।

मद, खेद और श्रम को दूर करने के लिए सोना निद्रा है। उसकी अधिक से अधिक प्रवृत्ति निद्रानिद्रा है। सोने की क्रिया से अपने को चलायमान करना प्रचला है। शोक, श्रम, मद आदि से उत्पन्न होती है और बैठा होने पर भी नेत्र और शरीर में विकृति सूचित करती है। इसके आगे पुनःपुनः होनेवाली प्रचलाप्रचला है। सोने में शक्तिविशेष को प्रकट करनेवाली स्त्यानगृद्धि है। 'स्त्याय' धातु अनेकार्थवाची है अतः यहाँ उसका सोना अर्थ विवक्षित है। 'गृध्' धातु दृप्ति अर्थ में है, इसलिए स्त्यान—सोने में जो प्रकट होती है अर्थात् जिसके उदय से आत्मा सोता-सोता भी बहुत-से रौद्र कार्य कर लेता है वह स्त्यानगृद्धि है।

१. निद्रानिद्रादर्शनावरण के उदय से यह जीव वृक्ष के अग्र भाग पर या समभूमि पर अर्थात् जिस किसी भी स्थान पर घोर शब्द करता हुआ, खुर्राटे भरता हुआ, खूब सोता है।

२. प्रचलाप्रचला के तीव्र उदय से यह जीव बैठा हुआ अथवा खड़ा हुआ ही शरीर और मस्तक को कँपाता हुआ, ऊँघता हुआ अतिशय रूप से सोता रहता है तथा उसके मुख से लार भी बहती रहती है।

३. स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण के उदय से वह जागकर भी पुनः सो जाता है और सोते-सोते भी कार्य कर लेता है अर्थात् नींद में ही उठकर कार्य कर आता है, पुनः सो जाता है, उसे पता नहीं चल पाता है। यह सोते समय दाँत भी कटकटाता रहता है।

४. निद्रा के तीव्र उदय से यह अल्पकाल ही सोता है, जगाने पर शीघ्र ही उठ जाता है तथा अल्पशब्दों से ही अर्थात् जरा-सी आवाज से ही जग जाता है।

---

१. क संबध्यते। २. क दीप्तिः। ३. क दीप्यते।

चलत्यन्धेन चेतयते । प्रचलायास्तीव्रोदयेन वालुकाभृते इव लोचने भवतः, गुरुभारावष्टब्धमिव शिरो भवति, पुनः पुनर्लोचने उन्मीलयति स्वपन्तमात्मानं वारयति । चक्षुर्ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धगुणीभूतविशेषसामान्यालोचनं चक्षुर्दर्शनरूपं दर्शनक्षमं, तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणम् । शेषेन्द्रियज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धगुणीभूतविशेषसामान्यालोचनमचक्षुर्दर्शनं, तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् । अवधिज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धसन्निपातगुणीभूतविशेषरूपिवस्तुसामान्यालोचनमवधिदर्शनं, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् । युगपत्सर्वद्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रकाशकं केवलज्ञानाविनाभाविकेवलदर्शनं तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगैकत्वेन परिणतो जीवसमवेतदर्शनगुणप्रतिबन्धकस्तद्दर्शनावरणमिति ॥१२३१॥

वेदनीयमोहनीययोरुत्तरप्रकृतीः प्रतिपादयन्नाह—

सादमसादं दुविहं वेदणियं तहेव मोहणीयं च ।
दंसणचरित्तमोहं कसाय तह णोकसायं च ॥१२३२॥
तिण्णिय दुवेय सोलस णवभेदा जहाकमेण णायव्वा ।
मिच्छत्तं सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि ॥१२३३॥

---

५ प्रचला के तीव्र उदय से उसके नेत्र बालू से भरे हुए के समान भारी हो जाते हैं, सिर भी बहुत भारी भार को धारण किये हुए के समान हो जाता है। यह पुन-पुनः नेत्र खोलता रहता है और सोते हुए अपने को रोकता रहता है।

६. चक्षु के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रयत्न के साथ अविनाभावी, और जिसमें विशेष धर्म गौण है ऐसे सामान्य मात्र को अवलोकन करने में समर्थ चक्षुर्दर्शन है, उसके आवरण का नाम चक्षुर्दर्शनावरण है।

७ चक्षु के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रयत्न से अविनाभावी, और जिसमें विशेष धर्म गौण है ऐसा सामान्यमात्र का अवलोकन करनेवाला अचक्षुर्दर्शन है, उसके आवरण का नाम अचक्षुर्दर्शनावरण है।

८. अवधिज्ञान के उत्पादक प्रयत्न के साथ अविनाभाव से रहित, और जिसमें विशेष गौण है ऐसी रूपी वस्तु का जो सामान्य अवलोकन करना है वह अवधिदर्शन है। उसके आवरण का नाम अवधिदर्शनावरण है।

९. जो युगपत् सर्वद्रव्यों और पर्यायों के सामान्य-विशेष को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञानाविनाभावी है उस का दर्शन केवलदर्शन है, उसके आवरण का नाम केवलदर्शनावरण है।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के साथ एकरूप से परिणत, और जीव के साथ समन्वित दर्शन गुण को जो रोकनेवाला है वह दर्शनावरण है, ऐसा समझना।

वेदनीय और मोहनीय की उत्तरप्रकृतियों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—साता और असाता से वेदनीय के दो भेद हैं। मोहनीय के दर्शनमोह और चारित्रमोह ये दो भेद हैं। तथा क्रम से दर्शनमोहनीय के तीन एवं चारित्रमोह के कषाय और नोकषाय ये दो भेद हैं। कषाय के सोलह और नोकषाय के नौ भेद जानना चाहिए। दर्शनमोह के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व ये तीन भेद भी होते हैं। १२३२-३३॥

सातमसातं द्विविधं वेदनीयं, तथैव मोहनीयमपि द्विविधं दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं च, द्विविध-शब्दोऽग्रे वर्तते तेन सह संबन्धः। चारित्रमोहनीयमपि द्विविधं कषायमोहनीयनोकषायमोहनीयभेदेन। सातं सुखं सांसारिकं, तद्भोजयति वेदयति जीवं सातवेदनीयम्। असातं दुःखं, तद्भोजयति वेदयति जीवमसातवेदनीयम्। यदुदयाद्देवादिगतिषु शारीरिकमानसिकसुखप्राप्तिस्तत्सातवेदनीयं, यदुदयान्नरकादिगतिषु शारीरमानस-दुःखानुभवनं तदसातवेदनीयम्। एवं वेदनीयकर्मणो द्वे प्रकृती सुखदुःखानुभवननिबन्धनः पुद्गलस्कन्धो मिथ्यात्वादिप्रत्ययवशेन कर्मपर्यायपरिणतो जीवसमवेतो वेदनीयमिति। आप्तागमपदार्थेषु रुचिः श्रद्धा दर्शनं, तन्मोहयति परतन्त्रं करोति दर्शनमोहनीयम्। पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्। तत्र, घातिकर्माणि पापं, तेषां क्रिया मिथ्यात्वासंयमकषायास्तेषामभावश्चारित्रम्। दुःखसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्तीति कषायाः। ईषत्कषाया नोकषायाः, स्थित्यनुभागोदये कषायेभ्य एतेषां स्तोकत्वं यत ईषत्कषायत्वं युक्तमिति ॥१२२७॥

दर्शनमोहनीयस्य कषायनोकषायाणां च भेदानाह—

त्रयो, द्वौ, षोडश, नव भेदा यथाक्रमेण ज्ञातव्याः। दर्शनमोहनीयस्य त्रयो भेदाः। चारित्रमोहनीयस्य द्वौ भेदौ। चारित्रकषायमोहनीयस्य षोडश भेदाः। चारित्रनोकषायमोहनीयस्य नव भेदाः। अथ दर्शनमोहनीयस्य के ते त्रयो भेदा इत्याशंकायामाह—मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वमिति त्रयो भेदाः दर्शनमोहनीयस्य,

---

आचारवृत्ति—साता और असाता के भेद से वेदनीय के दो भेद होते हैं। जो सांसारिक सुख का जीव को अनुभव कराता है वह सातावेदनीय है और जो असाता अर्थात् दुख का जीव को अनुभव कराता है वह असातावेदनीय है। अर्थात् जिसके उदय से जीव को देव आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख की प्राप्ति होती है वह सातावेदनीय है तथा जिसके उदय से नरक आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव होता है वह असातावेदनीय है। इस प्रकार से वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं।

सुख-दुःख के अनुभव करने में निमित्तभूत पुद्गलस्कन्धों का समूह रूप तथा मिथ्यात्व आदि प्रत्यय के निमित्त से कर्मपर्याय से परिणत हुआ जीव उनसे समन्वित होने से वेदनीय है।

मोहनीय के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। 'द्विविधं' शब्द आगे की गाथा में है उसीसे सम्बन्ध कर लेना। चारित्रमोहनीय के भी दो भेद हैं—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय।

आप्त, आगम और पदार्थों में रुचि अर्थात् श्रद्धा दर्शन है, उसे जो मोहित करता है—परतन्त्र करता है वह दर्शनमोहनीय है। पापक्रिया से निवृत्ति चारित्र है। उसमें घातिकर्मों को पाप कहा गया है, उनकी क्रियाएँ मिथ्यात्व, असंयम और कषाय हैं। उनका अभाव होना चारित्र है। दुःखरूपी धान्य के लिए कारणभूत कर्मरूपी खेत का जो कर्षण करती हैं—जोतती हैं और उसे फलित करती हैं वे कषाय हैं। ईषत्—किंचित् कषाय को नोकषाय कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के उदय के समय इनमें कषायों की अपेक्षा अल्पता रहती है इसीलिए इन्हें ईषत्कषाय या नोकषाय कहना युक्त है।

दर्शनमोहनीय के तीन, चारित्रमोहनीय के दो, चारित्रकषायमोहनीय के सोलह और चारित्रनोकषायमोहनीय के नौ भेद हैं। दर्शनमोहनीय के तीन भेद कौन-से हैं उन्हें यहाँ बताते हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व ये तीन भेद हैं।

यस्योदयेनाप्तागमपदार्थेषु श्रद्धा न भवति तन्मिथ्यात्वं, कोद्रवतुषरूपम्। यस्योदयेनाप्तागमपदार्थेषु श्रद्धायाः शैथिल्यं तत्सम्यक्त्वं, कोद्रवतन्दुलसदृशम्। यस्योदयेनाप्तानाप्तागमपदार्थेषु अक्रमेण श्रद्धे उत्पद्येते तत्सम्यङ्मिथ्यात्वं, दर्शनमोहनीयस्य अपूर्वापूर्वादिकरणैर्दलितस्य कोद्रवस्येव त्रिधा वृत्तिर्भवति। तच्च बन्धं प्रत्येकं सत्ताकर्म प्रति त्रिविधं तत्सम्यङ्मिथ्यात्वस्यैककारणत्वादिति ॥१२३३॥

षोडशकषायभेदं प्रतिपादयन्नाह—

कोहो माणो माया लोहोऽणंताणुबंधिसण्णा य।
अप्पच्चक्खाण तहा पच्चक्खाणो य संजलणो ॥१२३४॥

क्रोधो रोषसंरम्भः, मानो गर्वः स्तब्धत्वं, माया निकृतिर्वञ्चनम्, अनृजुत्वं लोभो [1]गृहमूर्च्छा। अनन्ता[2]-गुणवान्मिथ्यात्वासंयमाद्यनुबन्धः शीलं येषां तेऽनन्तानुबन्धिनस्ते च ते क्रोधमानमायालोभा अनन्तानुबन्धि-क्रोधमानमायालोभाः। अथ वाऽनन्तेषु भवेष्वनुबन्धो विद्यते येषां तेऽनन्तानुबन्धिनः संसारापेक्षयानन्तकालत्वम् एते सम्यक्त्वचारित्रविरोधिनः [3]शक्तिद्वयापन्नोदयेति, अथ वाऽनन्तानुबन्धिन इति संज्ञा भवन्ति एव इति। प्रत्याख्यानं संयमः। ईषत्प्रत्याख्यानं अप्रत्याख्यानम् संयमासंयम इत्यर्थः, अत्रावरणशब्दो द्रष्टव्यः। अप्रत्याख्यान-

---

जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धा नहीं होती है वह मिथ्यात्व है। यह कोदों के तुष की तरह है। जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धा की शिथिलता रहती है वह सम्यक्त्व नामक प्रकृति है। यह कोदों के चावल के सदृश है। जिसके उदय से आप्त, आगम, पदार्थ और अनाप्त, अनागम, अपदार्थ इन सच्चे और झूठे दोनों प्रकार के आप्त, आगम पदार्थों में एक साथ श्रद्धा उत्पन्न होती है उसका नाम सम्यङ्‌मिथ्यात्व है। इस तरह दर्शन-मोहनीय की अधःकरण, अपूर्वकरण आदि परिणामों के द्वारा यन्त्र से दले हुए कोदों के समान तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। वह दर्शनमोहनीय बन्ध के प्रति एक है और सत्ता कर्म के प्रति तीन प्रकार का है, इसलिए ये मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यङ्‌मिथ्यात्व एक कारण से ही होते हैं।

सोलह कषायभेदों का कथन करते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्या-ख्यान और संज्वलन रूप होने से सोलह हो जाते हैं ॥१२३४॥

आचारवृत्ति—क्रोध—रोष का संरम्भ, मान—गर्व—स्तब्धता, माया—निकृति, वंचना अर्थात् सरलता का न होना, लोभ—गृहमूर्च्छा, ये चार कषायें हैं। अनन्तभवपर्यन्त रहने से तथा मिथ्यात्व, असंयम आदि में अनुबन्ध—अविनाभावी स्वभाववाली होने से इनका अनन्ता-नुबन्धी नाम सार्थक है। अथवा अनन्तभवों से जिनका अनुबन्ध—सम्बन्ध है वे अनन्तानुबन्धी हैं। इनके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये संसार की अपेक्षा से अनन्तकालपर्यन्त रहती हैं, सम्यक्त्व और चारित्र दोनों की विरोधिनी हैं अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र को घात करने की शक्ति से युक्त हैं।

प्रत्याख्यान—संयम और ईषत्प्रत्याख्यान—संयमासंयम, इन दोनों के साथ आवरण शब्द लगाना चाहिए।

---

१. क गृद्धिमूर्च्छा। २. क अनन्तान्भवान्। ३. शक्तिद्वयोपेता यतः।

यांश्चावृण्वन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणाः। प्रत्याख्यानं संयममावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः। अथवा येषु सत्सु ¹प्रत्याख्यानसंयमादिसंयमासंयमादिविरहितं सम्यक्त्वं भवतीति अप्रत्याख्यानसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभास्ता-श्चत्वारस्तच्छब्दमिति। तथा येषु सत्सु प्रत्याख्यानं सम्यक्त्वसहितः संयमासंयमो भवति क्रोधमानमायालोभाः प्रत्याख्यानसंज्ञा भवन्त्यथापि तावच्चत्वारस्तच्छब्दमिति। तथा संयमेन सहैकीभूय संज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्विति वा संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभा इति। आद्याः सम्यक्त्वसंयमघातिनः, द्वितीया देशसंयमघातिनः, तृतीयाः संयमघातिनः, चतुर्थाः यथाख्यातसंयमघातिन इति ॥१२३४॥

नोकषायभेदान्प्रतिपादयन्नाह—

इत्थीपुरिसणउंसयवेदा हास रदि अरदि सोगो य।
भयमेत्तो य दुगंछा णवविह तह णोकसायभेयं तु ॥१२३५॥

स्तृणाति छादयति दोषैरात्मानं परं च स्त्री। पुरौ प्रकृष्टे कर्मणि शेते प्रमादयति तानि करोतीति वा पुरुषः। न पुमान् न स्त्री नपुंसकम्। येषां पुद्गलस्कन्धानामुदयेन पुरुष आकांक्षोत्पद्यते तेषां स्त्रीवेद इति

जो किंचित् भी संयम न होने दें, उस पर आवरण करें वे अप्रत्याख्यानावरण कहलाती हैं और जो प्रत्याख्यान—संयम पर आवरण करती हैं वे प्रत्याख्यान कषायें हैं। अथवा जिनके रहने पर प्रत्याख्यान—संयम तथा संयमासंयम आदि रहित सम्यक्त्व होता है उनकी अप्रत्याख्यान संज्ञा है। इनके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। जिसके होने पर प्रत्याख्यान—सम्यक्त्व सहित संयमासंयम होता है उसकी प्रत्याख्यानावरण संज्ञा है। अर्थात् यह प्रत्याख्यानपूर्ण संयम का आवरण करती है। इसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। जो संयम के साथ एकमय होकर सम्यक्प्रकार से ज्वलित—प्रकाशित होती हैं अथवा जिनके रहने पर भी संयम विद्यमान रहता है उसे संज्वलन कहते हैं। इनके भी क्रोध, मान, माया और लोभ चार भेद होते हैं। इस तरह ये सोलह कषायें हैं।

आदि की अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ कषायें सम्यक्त्व संयम का घात करती हैं। दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायें देशसंयम का घात करती हैं। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायें संयम का घात करनेवाली हैं और चौथी संज्वलन कषायें यथाख्यातसंयम का घात करने वाली हैं।

नोकषाय-भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा से नोकषाय के नौ भेद हो जाते हैं ॥१२३५॥

आचारवृत्ति—जो दोषों द्वारा स्वयं को और पर को आच्छादित करती है वह स्त्री है। पुरु अर्थात् प्रकृष्ट कर्म में जो सोता है अर्थात् उन गुणों में प्रमाद करता है वह पुरुष है। जो न पुरुष है और न स्त्री है वह नपुंसक है।

जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से पुरुष के प्रति आकांक्षा होती है उन पुद्गलस्कन्धों

---

१. क प्रत्याख्यानसंयमासंयमविरहितं।

संज्ञा। येषामुदयेन पुद्गलस्कन्धानां वनिताभिलाषाकांक्षा जायते तेषां पुंवेद इति संज्ञा। येषां च पुद्गलस्कन्धानामुदयेनेष्टकाग्निसदृशेन द्वयोराकांक्षा जायते तेषां नपुंसकवेद इति संज्ञा। हसनं हासो, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन हास्यनिमित्तो जीवस्य राग उत्पद्यते तस्य हास इति संज्ञा, कारणे कार्योपचारात्। रम्यतेऽनयेति रमणं वा रतिः, कुत्सिते रमते येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु रतिरुत्पद्यते तेषां रतिरिति संज्ञा। न रमते न रम्यते वा यया साऽरतिर्यस्य पुद्गलस्कन्धस्योदयेन द्रव्यादिष्वरतिर्जायते तस्यारतिरिति संज्ञा। शोचनं शोचयतीति वा शोकः, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शोकः समुत्पद्यते जीवस्य तस्य शोक इति संज्ञा। भीतिर्यस्मादुद्विजेति वा भयं, यैः कर्मस्कन्धैरुदयमागतैर्जीवस्य भयमुत्पद्यते तेषां भयमिति संज्ञा। जुगुप्सनं जुगुप्सा येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन द्रव्यादिषु जुगुप्सा उत्पद्यते तेषां जुगुप्सेति संज्ञा। एवं नवविधमेव नोकषायवेदनीयं ज्ञातव्यमिति। कषायवेदनीयाख्यभेदास्तु पूर्वमेतस्माद्ग्रन्थाज्ज्ञातव्या इति ॥१२३५॥

आयुषो नाम्नश्च प्रकृतिभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

णिरियाऊ तिरियाऊ माणुसदेवाण होंति आऊणी।
गदिजादिसरीराणि य बंधणसंघादसंठाणा ॥१२३६॥

की स्त्रीवेद संज्ञा है। जिन पुद्गलस्कन्धों के उदय से स्त्री के प्रति आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी पुंवेद संज्ञा है। जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से ईंट के अवे की अग्नि के सदृश दोनों में आकांक्षा उत्पन्न होती है उनकी नपुंसकवेद संज्ञा है।

हँसना हास है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के हास्य में निमित्तभूत राग उत्पन्न होता है उसकी हास संज्ञा है। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार किया गया है।

जिसके द्वारा रमता है उसका अथवा रमणमात्र का नाम रति है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से कुत्सित में रमता है या जिनके उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों मे रति उत्पन्न होती है उनका नाम रति है।

जो रमता नहीं है अथवा जिसके द्वारा रति को प्राप्त नहीं किया जाता है वह अरति है। जिस पुद्गलस्कन्ध के उदय से द्रव्य आदि में अरति—अप्रीति उत्पन्न होती है वह अरति है।

शोक करना अथवा जो शोक किया जाता है वह शोक है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शोक उत्पन्न होता है उसका नाम शोक है।

जिस कारण से डरता है उसे भय कहते हैं। अथवा जिन स्कन्धों के उदय में आने पर जीव में भय उत्पन्न होता है उन्हें भय कहते हैं।

ग्लानि करना जुगुप्सा है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से द्रव्य आदि में ग्लानि उत्पन्न होती है उनका जुगुप्सा यह नाम है।

इस तरह नोकषाय वेदनीय के नौ भेद जानना चाहिए। कषाय वेदनीय के भेद तो इसी ग्रन्थ में पूर्व गाथा में कहे जा चुके हैं।

आयु और नाम कर्म की प्रकृतियों के भेदों का कथन करते हैं—

गाथार्थ—नरकायु, तिर्यंचायु, मानुषायु और देवायु ये आयु के चार भेद हैं। १. गति, २. जाति, ३. शरीर, ४. बन्धन, ५. संघात, ६. संस्थान, ७. संहनन, ८. अंगोपांग, ९. वर्ण,

संठाणसंघडणं वण्णरसगंधफासमणुपुव्वी।
अगुरुगलहुगुवघादं परघादमुस्सास णामं च ॥१२३७॥
आदावुज्जोदविहायगइजुयलतस सुहुमणामं च।
पज्जत्तसाहरणजुग थिरसुह सुहगं च आदेज्जं ॥१२३८॥
अथिरअसुहदुब्भगयाणादेज्जं दुस्सरं अजसकित्ती।
सुस्सरजसकित्ती विय णिमिणं तित्थयर णामबादालं ॥१२३९॥

नारकादिषु संबद्धत्वेनायुषो भेदव्यपदेशः क्रियते। नारकेषु भवं नारकायुः, तिर्यक्षु भवं तैरश्चायुः, मनुष्येषु भवं मानुष्यायुः, देवेषु भव दैवायुः, एवमायूंषि चत्वारि। येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जीवस्याधोगतिस्वभावेषु नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु दीर्घजीवनेनावस्थानं भवति तेषां नारकायुरिति संज्ञा येषां। पुद्गलस्कन्धानामुदयेन तिर्यङ्मनुष्यदेवभवानामवस्थानं भवति तेषां तैरश्चमानुषदैवायूंषि इति संज्ञेति। गतिर्भवः संसारः, यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिर्यदि गतिनाम कर्म न स्यात्तदाऽगतिर्जीवः स्यात्। यस्मिन् जीवभावे सत्यायुःकर्मणो यथावस्थानं शरीरादीनि कर्माणि उदयं गच्छन्ति स भावो यस्य पुद्गलस्कन्धस्य मिथ्यात्वादिकारणैः प्राप्तकर्मण उदयाद्भवति तस्या गतिरिति संज्ञा। सा चतुर्विधा—नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुष्यगतिः, देवगतिश्चेति। येषां कर्मस्कन्धानामुदयादात्मना नारकादिभावस्तेषां नरकगत्यादय. संज्ञाश्चतस्रो

---

१०. रस, ११. गन्ध, १२. स्पर्श, १३. आनुपूर्वी, १४. अगुरुलघु, १५. उपघात, १६. परघात, १७. उच्छ्वास, १८. आतप, १९. उद्योत, २०. विहायोगति, २१. त्रस, २२. स्थावर, २३. सूक्ष्म, २४. बादर, २५. पर्याप्त, २६. अपर्याप्त, २७. साधारण, २८. प्रत्येक, २९. स्थिर, ३०. शुभ, ३१. सुभग, ३२. आदेय, ३३. अस्थिर, ३४. अशुभ, ३५. दुर्भग, ३६. अनादेय, ३७. दुःस्वर, ३८. अयशस्कीर्ति, ३९. सुस्वर, ४०. यशस्कीर्ति, ४१. निर्माण और ४२. तीर्थकरत्व—ये ब्यालीस भेद नामकर्म के हैं ॥१२३६-३९॥

आचारवृत्ति—नारक आदि से सम्बन्धित होने से आयु के भेद होते हैं। नारकियों में होनेवाले अवस्थान के कारण को नरकायु कहते हैं। तिर्यंचों में होनेवाली तिर्यंचायु, मनुष्यों में होनेवाली मनुष्यायु और देवों में होनेवाली देवायु है, आयु के ऐसे चार भेद हैं। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से तीव्र, शीत, उष्ण वेदना से युक्त, अधोगति स्वभाववाले नरकों में दीर्घकाल तक जीते हुए जीवों का जो वहाँ पर अवस्थान होता है उनकी संज्ञा नारकायु है। जिन पुद्गल स्कन्धों के उदय से तिर्यंच, मनुष्य और देव के भवों में अवस्थान होता है उन्हें क्रमशः तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु कहते हैं।

अब आगे नामकर्म के सर्वभेद और उनके लक्षणों को कहते हैं—

(१) गति, भव और संसार एकार्थवाची हैं। जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है वह गति है। यदि गति नामकर्म न हो तो जीव गतिरहित हो जायेगा। जिस कर्म के उदय से जीव में रहने से आयु कर्म की स्थिति रहती है और शरीर आदि कर्म उदय को प्राप्त होते हैं उसे गति कहते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व आदि कारणों से कर्म-अवस्था को प्राप्त जिन पुद्गल-स्कन्धों के उदय से वह भवान्तर गमनरूप अवस्था होती है उसका गति नाम सार्थक है। उसके चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। जिन कर्मस्कन्धों के

भवन्ति। नरकादिगतिषु तदव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतात्मा जातिर्जीवानां सदृशः परिणामः। यदि जातिनामकर्म न स्यात्तदा मत्कुणा मत्कुणैर्वृश्चिका वृश्चिकैर्व्रीहयो व्रीहिभिः समाना न जायेरन्, दृश्यते च सादृश्यं तस्माद्यतः कर्मस्कन्धाज्जातिसादृश्यं तस्य जातिरिति संज्ञा। सा च पंचविधा, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियजातिभेदेन। यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय स्यात्तदेकेन्द्रियजातिनामकर्म। एवं शेषेष्वपि योज्यम्। यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेनाहारतेजःकार्मणवर्गणापुद्गलस्कन्धाः शरीरयोग्यपरिणामैः परिणता जीवेन संबध्यन्ते तस्य शरीरमिति संज्ञा। यदि शरीरनामकर्म न स्यादात्मा विमुक्तः स्यात्। तच्छरीरं पंचविधं, औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरभेदेन। यदुदयादाहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धा जीवगृहीता रसरुधिरमांसास्थिमज्जाशुक्रस्वभावौदारिकशरीरं भवन्ति तदौदारिकशरीरनाम। एवं सर्वत्र। यदुदयादाहारवर्गणापुद्गलस्कन्धाः सर्वशुभावयवाहारकशरीरस्वरूपेण परिणमन्ति तदाहारकशरीरं नामकर्म। तथा यदुदयात्तैजसवर्गणापुद्गलस्कन्धा निःसरणानिःसरणप्रकारप्राप्तसमस्तप्रत्येकशरीरस्वरूपेण भवन्ति तत्तैजसशरीरं नाम। तथा यदुदयादाहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धा अणिमादिगुणोपलक्षितास्तद्वैक्रियिक शरीरम्। यदुदयात्कूष्माण्डफलवृन्तवत्सर्वकर्माश्रयभूतं तत्कार्मणशरीरम्। शरीरार्थागतपुद्गलस्कन्धानां

उदय से आत्मा को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव भव प्राप्त होते हैं उनसे युक्त जीवों को उन-उन गतियों में नरकगति, तिर्यंचगति आदि संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं।

(२) उन गतियों में अव्यभिचारी सादृश से एकीभूत स्वभाव को जाति कहते हैं, अर्थात् जीवों के सदृश परिणाम का नाम जाति है। यदि जाति नामकर्म न हो तो खटमल खटमल के समान, बिच्छू बिच्छू के समान और व्रीहितन्दुल व्रीहितन्दुल के समान नहीं हो सकते, जबकि इनमें सदृशता दिख रही है, इसलिए जिन कर्मस्कन्धों से सदृशता प्राप्त होती है उनकी संज्ञा जाति है। उस जाति के पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय होता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है। इसी प्रकार सब में घटितकर लेना चाहिए।

(३) जिसके उदय से आत्मा के लिए शरीर की रचना होती है वह शरीरनामकर्म है, अर्थात् जिस कर्मस्कन्ध के उदय से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा रूप पुद्गलस्कन्ध शरीर के योग्य परिणाम से परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्धित होते हैं उसकी शरीर संज्ञा है। यदि शरीर-नामकर्म न हो तो आत्मा मुक्त हो जावे। इस शरीर के पाँच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। जिसके उदय से जीव के द्वारा ग्रहण किये गये आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा और शुक्र स्वभाव से परिणत होकर औदारिक शरीर रूप हो जाते हैं उसका नाम औदारिक शरीर है। ऐसे ही जिनके उदय से जीव द्वारा ग्रहण किये आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध अणिमा आदि गुणों से उपलक्षित वैक्रियिक शरीररूप परिणत हो जाते हैं उसका नाम वैक्रियिकशरीर है। जिसके उदय से आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध सभी शुभ अवयववाले आहारकशरीररूप से परिणमन कर जाते हैं उसका नाम आहारकशरीर है। जिसके उदय से तैजसवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध निःसरण और अनिःसरणरूप प्रत्येक ढंग से परिणत हो जाते हैं उसका तैजसशरीर नाम है, अर्थात् तैजसशरीर के दो भेद हैं—निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक। निःसरणात्मक के भी शुभ और अशुभ की अपेक्षा दो भेद हैं। ये औदारिक शरीरवाले तैजस ऋद्धिधारी मुनियों के निकलते हैं।

जीवसंबन्धानां यैः पुद्गलस्कन्धैः प्राप्तोदयैरन्योन्यसंश्लेषणसंबन्धो भवति तच्छरीरबन्धनं नामकर्म । यदि शरीरबन्धननामकर्म न स्याद्वालुकाकृतपुरुषशरीरमिव शरीरं स्यात् । तदौदारिकशरीरबन्धनादिभेदेन पंचविधम् । यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योन्यप्रवेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम । यदि संघातनामकर्म न स्यात्तिलमोदक इव जीवशरीरं स्यात् । तच्चौदारिकशरीरसंघातादिभेदेन पंचविधम् । यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतेर्निर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम, येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जातिकर्मोदयपरतन्त्रेण शरीरस्य संस्थानं क्रियते तच्छरीरसंस्थानम् । यदि तन्न स्याज्जीवशरीरमसंस्थानं स्यात् । तच्च षोढा विभज्यते—समचतुरस्रसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, स्वातिशरीरसंस्थाननाम, वामनसंस्थाननाम, कुब्जसंस्थाननाम, हुंडकसंस्थाननाम । समचतुरस्रं समचतुरस्रसमविभक्तमित्यर्थः । न्यग्रोधो वृक्षस्तस्य परिमण्डलमिव परिमण्डलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलं नाभेरूर्ध्वं सर्वावयवपरमाणुबहुत्वं न्यग्रोधपरिमण्डलमिव न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसंस्थानमायतवृत्तमित्यर्थः । स्वाति वाल्मीकं शाल्मलिर्वा तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत्स्वातिशरीरसंस्थानं नाभेरधोऽवयवानां विशालत्वमूर्ध्वं सौक्ष्म्यम् । कुब्जस्य शरीरं कुब्जशरीरं तस्य संस्थान-

---

शुभ से सुभिक्ष होता है और अशुभ से द्वादश योजन भूमि के जीव भस्मसात् हो जाते हैं । अनिःसरणात्मक तैजस सभी संसारी जीवों के साथ रहता है, वह शरीर में कान्ति का कारण है । जिसके उदय से कूष्माण्डफल अथवा बैंगन फल के समान सभी कर्मों के लिए आश्रयभूत शरीर-पिण्ड होता है उसको कार्मणशरीर नाम कहते हैं ।

(४) जो शरीर की रचना के लिए आये हों अर्थात् जीव से सम्बन्ध को प्राप्त हो चुके हों, उदयप्राप्त पुद्गलस्कन्धों का परस्पर में संश्लेष—सम्बन्ध होना शरीरबन्धन नामकर्म है । यदि शरीरबन्धन नामकर्म न हो तो यह शरीर बालू द्वारा बनाये हुए पुरुष के शरीर के समान हो जाय । इसके भी औदारिकशरीरबन्धन, वैक्रियिकशरीरबन्धन आदि पाँच भेद हैं ।

(५) जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणुओं का परस्पर में छिद्र-रहित प्रवेशानुप्रवेश होकर एकरूपता आ जावे उसे संघात नामकर्म कहते हैं । यदि संघात नाम-कर्म न हो तो जीव का शरीर तिल के लड्डू के समान हो जाये । इसके भी पाँच भेद हैं—औदारिकशरीरसंघात, वैक्रियिकशरीरसंघात आदि ।

(६) जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर के आकार की रचना हो वह संस्थान नामकर्म है, अर्थात् जातिकर्म के उदय के आधीन जिन कर्मस्कन्धों के उदय से शरीर का संस्थान किया जाता है वह शरीरसंस्थान है । यदि यह कर्म न हो तो जीव का शरीर संस्थान रहित हो जावे । उसके छह भेद हैं—समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिशरीर-संस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान और हुण्डकसंस्थान । समान चौकोन वस्तु के समान समचतुरस्र है, अर्थात् यह कर्म शरीर के सभी अवयवों को समप्रमाण उत्पन्न करनेवाला है । न्यग्रोध वटवृक्ष को कहते हैं । उसके सघन घेरे के समान जिसका आकार हो अर्थात् जिसके नाभि के ऊपर के सभी अवयवों में बहुत परमाणु रहते हैं ऐसा वटवृक्ष के आकार सदृश न्यग्रोध-परिमण्डल शरीर का आकार होता है । स्वाति शब्द का अर्थ है बामी अथवा शाल्मलिवृक्ष, उसके आकार के सदृश जिसका आकार हो वह स्वातिसंस्थान है । इसमें नाभि के नीचे के अवयव बड़े होते हैं और ऊपर के अवयव छोटे रहते हैं । कुब्ज—कुबड़े का शरीर कुब्जशरीर है । उसके आकार के समान जिसका आकार हो अर्थात् जिस कर्म के उदय से शाखाओं में

मिव संस्थानं यस्य तत्कुब्जशरीरसंस्थानं[1], यस्योदयेन शाखानां दीर्घत्वं मध्यस्य ह्रस्वत्वं भवति तत्कुब्जशरीर-संस्थाननाम। वामनस्य शरीरं वामनशरीरं तस्य संस्थानं वामनशरीरसंस्थाननाम, यस्योदयात् शाखानां ह्रस्वत्वं कायस्य च दीर्घत्वं भवति। विषमपाषाणभृतगिरिरिव विषमं हुण्डं यस्य शरीरं तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तद्धुण्डकशरीरसंस्थानं, यस्योदयेन पूर्वोक्तपंचसंस्थानेभ्योऽन्यद्बीभत्सं संस्थानं भवति। अथ बन्धन-संघातसंस्थानेषु को भेद इति नैष दोषो यस्य कर्मण उदयेनौदारिकशरीरपरमाणवोऽन्योन्यं बन्धमायान्ति तदौदारिकशरीरबन्धनं नाम। यस्य कर्मण उदयेनौदारिकशरीरस्कन्धानां शरीरभावमुपगतानां बन्धनाख्यकर्मो-दयेनैकबन्धनबद्धानामौदार्यं भवति तदौदारिकशरीरसंघातनाम। यस्य च कर्मण उदयेन शरीरस्कन्धानामाकृतिर्भवति तत्संस्थानमिति महान्भेदो यतः। एवं सर्वत्र द्रष्टव्यमिति ॥१२३६॥

तथा—

यस्योदयादस्थिसंधिबन्धविशेषो भवति तत्संहननं नाम, एतस्याभावे शरीरसंहननं न भवेत्। तत् षड्विधं; वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननं, अर्द्धनाराचसंहननं, कीलकसंहननं, असं-प्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति। संहननम् अस्थिसंचयं ऋषभो वेष्टनं वज्रवदभेद्यत्वादृषभो वज्रनाराचश्च वज्रवद्

दीर्घपना हो वह कुब्जशरीरसंस्थान है। वामन का शरीर वामनशरीर है। उसका संस्थान वामनसंस्थान है। इस कर्म के उदय से शाखाओं में दीर्घपना और शरीर में ह्रस्वपना रहता है, अर्थात् वामनशरीरवालों के हाथ-पैर आदि अवयव छोटे-छोटे होते हैं और सारा शरीर मोटा-गठीला रहता है। ये बौने कहलाते हैं। विषम पत्थरों से भरे हुए पर्वत के समान जिसका विषम—हुण्ड आकार हो वह हुण्डकशरीरसंस्थान है। इसके उदय से पूर्वोक्त पाँच संस्थानों के अतिरिक्त बीभत्स संस्थान होता है।

बन्धन, संघात और संस्थान में अन्तर क्या अन्तर है?

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं—मिल जाते हैं वह औदारिकशरीरबन्धन नामकर्म है और इस बन्धन नाम-कर्म के उदय से एकरूप बन्धन से बँधे हुए शरीरभाव को प्राप्त हुए परमाणुओं का—औदारिक शरीरस्कन्धों का जिस कर्म के उदय से औदार्य—चिकने रूप से एकमेक हो जाना प्राप्त होता है वह औदारिक-शरीरसंघात नामकर्म है, और जिसकर्म के उदय से शरीरस्कन्धों की आकृति बनती है वह संस्थान नामकर्म है। इस प्रकार इनमें महान् अन्तर है, अर्थात् बन्धन नामकर्म के उदय से परमाणु मिल जाते हैं परन्तु तिल के लड्डू के समान छिद्र सहित रहते हैं, संघात के उदय से वे चिकने आटे के लड्डू के समान सर्वत्र एकमेक हो जाते हैं, जबकि संस्थानकर्म शरीर का आकार बनाता है। ऐसे ही सब शरीरों के बारे में समझ लेना चाहिए।

(७) जिसके उदय से हड्डियों की सन्धि में बन्धविशेष होता है वह संहनन नाम-कर्म है। इसके अभाव में शरीर में संहनन ही नहीं रहेगा। इसके भी छह भेद हैं—वज्रर्षभ-नाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन। जिस कर्म के उदय से अस्थिसमूह और स्नायुवेष्टन वज्र के समान

---

१. कुब्जशरीर संस्थान वाले मनुष्यों के पृष्ठ के भाग में बहुत-सा मांस पिण्डरूप रहता है। वे लोक में कुबड़े कहलाते हैं।

वज्रनाराचौ तौ द्वावपि यस्मिन् शरीरसंहनने तद्वज्रर्षभनाराचसंहननं, यस्य कर्मण उदयेन [1]वज्रास्थीनि वज्रवेष्टनेन वेष्टितानि वज्रनाराचेन च कीलितानि भवन्ति । एष एवास्थिबन्धो ऋषभरहितो यस्योदयेन भवति तद् द्वितीयम् । यस्य कर्मण उदयेन वज्रविशेषणरहितोऽस्थिबन्धो नाराचकीलितो भवति तत्तृतीयम् । यस्य कर्मण उदयेनास्थिसंचयो नाराचेनार्धकीलितो तच्चतुर्थम् । यस्य कर्मण उदयेन वज्रास्थीनि वज्रवेष्टनेन वेष्टितानि वज्रनाराचेनैव कीलितानि न भवन्ति तत्पंचमम् । यस्य कर्मण उदयेनान्योन्यासंप्राप्तानि सृपाटिका: शिराबद्धानि भवन्ति तत् षष्ठमिति । यदुदयादंगोपांगविवेकनिष्पत्ति तदंगोपांगनाम, यस्य कर्मण उदयेन नलककबाहूरूदरनितम्बोर:पृष्ठशिरांस्यष्टावंगानि उपांगानि च मूर्द्धकरोटिमस्तकललाटसंधिभ्रूकर्णनासिकानयनाक्षिकूपहनुकपोलाधरोष्ठसृक्तालुजिह्वाग्रीवास्तनचूचुकांगुल्यादीनि भवन्ति । तदंगोपांगं त्रिविधमौदारिकशरीरांगोपांगं, वैक्रियिकशरीरांगोपांगम्, आहारकशरीरांगोपांगं चेति । यस्य कर्मण उदयेनौदारिकांगोपांगानि भवन्ति तदौदारिकांगोपांगनामैवमन्यत्रापि बोध्यम् । यदुदयाच्छरीरे वर्णविभागनिष्पत्तिस्तद्वर्णनाम स्यात्तदभावे शरीरमवर्णं स्यात् । तत्पंचविधं कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, हरितवर्णनाम, शुक्लवर्णनाम चेति । यस्य कर्मण उदयेन शरीरपुद्गलानां कृष्णवर्णता भवति तत्कृष्णवर्णनामैवं शेषाणामपि द्रष्टव्यम् । यस्य कर्मस्कन्धस्यो-

---

अभेद्य हों और नाराच—कीली भी वज्र की हों, अर्थात् वज्र की हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित हों और वज्र की कीलियों से कीलित हों वह वज्रर्षभनाराचसंहनन है । जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन तो वज्र की कीलियों से कीलित हों किन्तु ऋषभ—स्नायु-वेष्टन न हो वह वज्रनाराचसंहनन है । जिसकर्म के उदय से हड्डियों का बन्धन वज्र विशेषण से रहित, साधारण नाराच—कीलियों से कीलित हो वह नाराचसंहनन है । जिसकर्म के उदय से हड्डियों का समूह नाराच से आधा कीलित हो अर्थात् एक तरफ कीलित हो, दूसरी तरफ नहीं, वह अर्धनाराचसंहनन, चौथा है । जिसके उदय से हड्डियाँ वज्र के वेष्टन से वेष्टित न हों और वज्रनाराच से कीलित भी न हों वह कीलकसंहनन, पाँचवाँ है । जिस कर्म के उदय से अन्दर हड्डियों में परस्पर में सन्धि न हों और वे बाहर भी सिरा और स्नायु से जुड़ी हुई न हों, हड्डियों के ऐसे बन्धन को असंप्राप्तसृपाटिका संहनन कहते हैं ।

(८) जिस कर्म के उदय से अंग और उपांगों की स्पष्ट रचना हो वह अंगोपांगकर्म है । नलक हाथ, पैर, पेट, नितम्ब, छाती, पीठ और शिर ये आठ अंग हैं । मस्तक की हड्डी, मस्तक, ललाट, भुजसन्धि, कान, नाक, नेत्र, अक्षिकूप, ठुड्डी, गाल, ओंठ, ओंठ के किनारे, तालु, जीभ, गर्दन, स्तन, चूचुक, अंगुलि आदि उपांग हैं । इस अंगोपांगकर्म के तीन भेद हैं—औदारिक-शरीर-अंगोपांग, वैक्रियिकशरीर-अंगोपांग और आहारकशरीर-अंगोपांग । जिसके उदय से औदारिकशरीर के अंग और उपांगों की रचना होती है वह औदारिकशरीर अंगोपांग है । ऐसे ही अन्य दोनों में घटित कर लेना चाहिए ।

(९) जिस कर्म के उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न होता है वह वर्णनाम कर्म है । इसके अभाव में शरीर वर्णशून्य हो जाएगा । इसके पाँच भेद हैं—कृष्णवर्ण, नीलवर्ण, रक्तवर्ण, हरित-वर्ण और शुक्लवर्ण । जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गलों को कृष्णता प्राप्त होती है वह कृष्णवर्ण नामकर्म है । इसी तरह सर्वत्र समझना ।

---

१. अ उदयेन वान्यस्थीनि ।

दयाज्जीवशरीरे जातिप्रतिनियततिक्तादिरसो भवति तद्रस इति संज्ञा, एतस्य कर्मणोऽभावे जातिप्रतिनियतरसो न भवेत्; न चैवं निम्बादीनां प्रतिनियतरसोपलंभात्। तत्पंचविधं तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, अम्लनाम, मधुरनाम चेति। यस्य कर्मण उदयेन शरीरपुद्गलास्तिक्तरसस्वरूपेण परिणमन्ति तत्तिक्तनामैवं, शेषाणामप्यर्थो वाच्य इति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवशरीरे जातिप्रतिनियतो गन्ध उत्पद्यते तस्य गन्ध इति। संज्ञा, न च तस्याभावो हस्त्यजादिषु प्रतिनियतगन्धोपलम्भात्। तद् द्विविधं सुरभिगन्धनामासुरभिगन्धनाम चेति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गलाः सुरभिगन्धयुक्ता भवन्ति तत्सुरभिगन्धनाम, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गला दुर्गन्धा भवन्ति तद्दुर्गन्धनामेति। यस्य कर्मस्कंधस्योदयेन जीवशरीरे जातिप्रतिनियतः स्पर्श उत्पद्यते तत्स्पर्शनाम, न चैतस्याभावः सर्वोत्पलकमलादिषु प्रतिनियतस्पर्शदर्शनात्, तदष्टविधं कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम चेति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गलानां कर्कशभावो भवति तत्कर्कशनामैवं शेषस्पर्शनामप्यर्थो वाच्यः। पूर्वोत्तरशरीरयोरन्तराले एकद्वित्रिसमयेषु वर्तमानस्य यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवप्रदेशानां विशिष्टः संस्थानविशेषो भवति तदानुपूर्वी नाम, न च तस्याभावो विग्रहगतौ जातिप्रतिनियतसंस्थानोपलम्भात् उत्तरशरीरग्रहणं प्रति गमनोपलम्भात्। तच्चतुर्विधं नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं चेति।

---

(१०) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुसार तिक्त आदि रस उत्पन्न होते हैं उसको रस नामकर्म कहते हैं। इस कर्म के अभाव में जाति के अनुरूप निश्चित रस नहीं हो सकेगा। किन्तु नीम आदि में प्रतिनियत रस पाया जाता है। इस रस के भी पाँच भेद हैं—तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर। जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु तिक्तरस स्वरूप परिणत हो जावें वह तिक्त रस नामकर्म है। इसी तरह शेष रसों का भी अर्थ कर लेना चाहिए।

(११) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुसार गन्ध उत्पन्न होती है उसकी संज्ञा गन्ध है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि हाथी, बकरी आदि के शरीर में उस जाति के अनुरूप गन्ध पायी जाती है। इसके दो भेद हैं—सुरभिगन्ध और असुरभि गन्ध। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल परमाणु सुरभिगन्ध से युक्त हों वह सुरभिगन्ध नामकर्म है और जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल दुर्गन्धित हो जाएँ वह असुरभिनामकर्म है।

(१२) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न होता है वह स्पर्श नामकर्म है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सभी उत्पल, कमल आदि में प्रतिनियत स्पर्श देखा जाता है। इसके आठ भेद हैं—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के पुद्गल कठोर होते हैं वह कर्कश नामकर्म है। इसी प्रकार से शेष स्पर्शों का भी अर्थ कर लेना चाहिए।

(१३) पूर्व और उत्तर शरीर के अन्तराल में एक, दो अथवा तीन समय तक होनेवाला जो जीव के प्रदेशों का आकार विशेष जिस कर्मस्कन्ध के उदय से होता है उसका नाम आनुपूर्वी है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि विग्रहगति में उस अवस्था के लिए निश्चित आकार उपलब्ध होता है, और उत्तम शरीर ग्रहण करने के प्रति गमन की उपलब्धि भी पायी जाती है। इसके चार भेद हैं—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य,

यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन नरकगतिं गतस्य जीवस्य विग्रहगतौ वर्तमानस्य नरकगतिप्रायोग्यसंस्थानं भवति तन्न-रकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नामेदं शेषाणामप्येवं द्रष्टव्य इति। यस्य कर्मस्कन्धस्योदयादयं जीवोऽनन्तानन्तपुद्गल-पूर्णोऽपि अयःपिण्डवद्गुरुत्वान्नाधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम। उपेत्य घात उपघातः आत्मघात इत्यर्थः, स्वयंकृतोद्बन्धनमरुत्पतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम, अथ वा यत्कर्म जीवस्य स्वपीडाहेतूनवयवान्महाशृंगलम्बस्तनतुन्दोदरादीन् करोति तदुपघातम्। परेषां घातः परघातः, यस्य कर्मण उदयात् परघातहेतवः शरीरपुद्गलाः सर्पदंष्ट्रावृश्चिकपुच्छादिगताः परशस्त्राद्याघाता वा भवन्ति तत्परघातनाम। उच्छ्वसनमुच्छ्वासः, यस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छ्वासनिःश्वासकार्योत्पादनसमर्थः स्यात्तदुच्छ्वासनिःश्वास-नाम। अयं नामबन्धः सर्वेषामिति संबध्यत इति ॥१२३७॥

तथा—

आतपनमातपः, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवशरीरे आतपो भवति तदातपनाम, न च तस्याभावः सूर्यमण्डलादिषु पृथिवीकायिकादिषु चातापोपलम्भात्। उद्योतनमुद्योतः यस्य कर्मस्कन्धस्योदयाज्जीवशरीरे उद्योत उत्पद्यते तदुद्योतनाम, न चास्याभावः चन्द्रनक्षत्रविमानेषु खद्योतादिषु च पृथिवीकायिकशरीराणामुद्योत-

---

मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य और देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से नरक गति में जाता हुआ जीव जब विग्रहगति में रहता है उस समय नरक गति के योग्य आकार होता है। अर्थात् नरक गति में पहुँचने तक छोड़ी हुई पूर्व गति के आकार को बनाये रखना इस आनुपूर्व्य का काम है। ऐसे ही शेष आनुपूर्व्यों में समझना चाहिए।

(१४) जिस कर्मस्कन्ध के उदय से यह जीव अनन्तानन्त पुद्गलों से पूर्ण होकर भी लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो नीचे ही गिर जाता है और न रुई के समान हल्का होकर ऊपर ही चला जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है।

(१५) पास आकर घात होना उपघात है। जिस कर्म के उदय से अपने द्वारा ही किये गये गलपाश आदि बन्धन और पर्वत से गिरना आदि निमित्तों से अपना घात हो जाता है वह उपघात नाम कर्म है। अथवा जो कर्म जीव के अपने ही पीड़ा में कारणभूत बड़े-बड़े सींग, उदर आदि अवयवों को रचता है वह उपघात है।

(१६) परजीवों का घात परघात है। जिस कर्म के उदय से पर के घात के लिए कारण साँप की दाढ़ और बिच्छू की पूँछ आदि रूप से उत्पन्न हुए शरीर के पुद्गल होते हैं। अथवा पर शस्त्र आदि के द्वारा जो आघात होता है वह परघात नामकर्म है।

(१७) उच्छ्वसित होना उच्छ्वास है। जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास और निःश्वास कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उच्छ्वास-निःश्वास नामकर्म है।

(१८) सब तरफ से तपना आतप है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव का शरीर आतप रूप होता है अर्थात् उसमें अन्य को संतप्त करनेवाला प्रकाश उत्पन्न होता है वह आतप नामकर्म है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूर्य के विमान आदिकों में होने वाले पृथिवीकायिकों में ऐसा तापकारी प्रकाश दिखता है।

(१९) उद्योतित होना—चमकना उद्योत है। जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में उद्योत—ठण्डा प्रकाश उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है। इसका भी अभाव नहीं कह सकते क्योंकि चन्द्रमा और नक्षत्रों के विमानों में होनेवाले पृथिवीकायिक जीवों के शरीरों

दर्शनात्। विहाय आकाशं विहायसि गतिर्विहायोगतिर्येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जीवस्याकाशे गमनं तद्विहायोगतिनाम, न चास्याभावो वितस्तिमात्रपादजीवप्रदेशैर्भूमिमवगाह्य सकलजीवप्रदेशानामाकाशे गमनोपलम्भात्। तद् द्विविधं प्रशस्तविहायोगतिनामाप्रशस्तविहायोगतिभेदेन। यस्य कर्मण उदयेन सिंहकुंजरहंसवृषभादीनामिव प्रशस्ता गतिर्भवति तत्प्रशस्तविहायोगतिनाम। यस्य कर्मण उदयेनोष्ट्रशृगालश्वादीनामिवाप्रशस्ता गतिर्भवति तदप्रशस्तविहायोगतिनाम।* यस्य कर्मण उदयेन जीवः स्थावरेषूत्पद्यते तत्स्थावरनामान्यथा स्थावराणामभावः स्यात्। यस्य कर्मण उदयादन्यबाधाकरशरीरेषूत्पद्यते जीवस्तद्बादरनामान्यथा-ऽप्रतिहतशरीरा जीवाः स्युः। यस्य कर्मण उदयेन सूक्ष्मेषूत्पद्यते जीवस्तत् सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकम्। यस्योदयादा-हारादिषट्पर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम। तत् षड्विधं, तद्यथा—शरीरनामकर्मोदयात्पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्धसंबन्धतो मूर्ति-

में तथा जुगनू आदि जीवों के शरीरों में उद्योत देखा जाता है।

(२०) विहायस्—आकाश में जो गति है वह विहायोगति है। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से जीव का आकाश में गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। इस कर्म का भी अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि एक वितस्ति मात्र पैर में स्थित ऐसे जीव के प्रदेशों से भूमि का अवगाहन करके सम्पूर्ण जीव प्रदेशों का आकाश में गमन देखा जाता है। अर्थात् पैर प्रायः एक वितस्ति मात्र के होते हैं उनमें जो भी आत्मा के प्रदेश हैं, चलते समय वे तो भूमि का अवलम्बन लेते हैं, बाकी के शरीर के सारे प्रदेशों का तो आकाश में ही गमन रहता है। इस कर्म के दो भेद हैं—प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। जिस कर्म के उदय से सिंह, हाथी, हंस, बैल आदि के समान प्रशस्त गमन होता है वह प्रशस्तविहायोगति नामकर्म है। तथा जिस कर्म के उदय से ऊँट, सियार, कुत्ते आदि के समान अप्रशस्त गमन होता है वह अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म है।

(२१) जिस कर्म के उदय से जीव त्रसों में उत्पन्न होता है वह त्रसनामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो द्वीन्द्रिय आदि जीवों का अभाव हो जाय। (यह पाठ छूटा हुआ प्रतीत होता है।)

(२२) जिस कर्म के उदय से जीव स्थावर कायों में उत्पन्न होता है वह स्थावर नामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो स्थावर जीवों का अभाव हो हो जाएगा, किन्तु ऐसा है नहीं।

(२३) जिसकर्म के उदय से अन्य को बाधा देनेवाले शरीरों में जीव जन्म लेता है वह बादर नामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो सभी जीव एक-दूसरे से बाधा रहित शरीरवाले हो जावें, किन्तु ऐसा दिखता नहीं है।

(२४) जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मों में उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म नामकर्म है।

(२५) जिस कर्म के उदय से आहार आदि छह पर्याप्तियों की रचना होती वह पर्याप्ति नामकर्म है। उसके आहारपर्याप्ति आदि छह भेद हैं। पुद्गलविपाकी शरीर-नामकर्म के उदय से आहारवर्गणा रूप आये हुए पुद्गलस्कन्ध, जो कि अनन्तपरमाणु रूप होकर भी स्कन्ध

* [यस्य कर्मण उदयेन जीवः त्रसेषूत्पद्यते तत्त्रसनामान्यथा द्वीन्द्रियादिजीवानामभावः स्यात्]

मूर्तभावमापन्नानां समवेतत्वेन अवस्थितानां पुद्गलस्कन्धानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तिराहारपर्याप्तिः। सा च अन्तर्मुहूर्तेन न त्वेकेन समयेनैकेन जायते शरीरोपादानात्प्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यते। खलभागं तिलखलोपमास्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैः परिणमनशक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः, साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते। योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्तेर्निष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः, सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते, न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषयज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात्। उच्छ्वासनिःसरणशक्तेर्निष्पत्तिरानपानपर्याप्तिरेषापि तदन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवति। भाषावर्गणायाश्चतुर्विधभाषाकारपरिणमनशक्तेः परिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिरेषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। मनोवर्गणाभिर्निष्पन्नद्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः। एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमान्निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेणैतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः। न च पर्याप्तिप्राणयोरभेदो यत आहारादिशक्तीनां निष्पत्तिः पर्याप्तिः प्राणित्येभिरात्मेति प्राणः। षड्विधपर्याप्तिहेतुर्यत्कर्म तत्पर्याप्तिनाम। शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोप-

---

अवस्था को प्राप्त हुए हैं, और आत्मा के द्वारा रोके गये क्षेत्र में ही स्थित हैं, जो अमूर्तिक होकर भी इन कर्मस्कन्धों के सम्बन्ध में मूर्तिक भाव को प्राप्त हो रहा है ऐसी आत्मा का समवेतरूप से जो पुद्गल स्कन्ध का एक क्षेत्रावगाहीरूप से आश्रय कर रहे हैं उन पुद्गलस्कन्धों में खल और रस पर्याय से परिणमन करने की शक्ति का नाम आहारपर्याप्ति है। वह अन्तर्मुहूर्त के बिना एक समय में ही नहीं हो सकती है, शरीरग्रहण के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल में वह पूर्ण होती है। आहारपर्याप्ति में जो पुद्गल खल और रस रूप हुए हैं उनमें से खल भाग को तो तिल की खली के समान हड्डी आदि स्थिर अवयवरूप से एवं रस भाग को तिल के तेल के समान रस, रुधिर, मज्जा, वीर्य आदि द्रव अवयव पदार्थरूप से परिणमन कराने की शक्ति की सामर्थ्य का होना शरीरपर्याप्ति है। वह आहारपर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में निष्पन्न होती है। योग्य देश में स्थित जो रूप आदि से विशिष्ट पदार्थ हैं उनको ग्रहण करने की शक्ति का निष्पन्न होना इन्द्रियपर्याप्ति है। यह भी शरीरपर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल में होती है। इन्द्रियों की निष्पत्ति हो जाने पर भी उसी क्षण में बाह्य पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उनके उपकरणों का अभाव है। उच्छ्वास निकलने की शक्ति की पूर्णता का नाम आनपान-पर्याप्ति है। यह भी पूर्वपर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त काल के बाद पूर्ण होती है। भाषा-वर्गणाओं का चार प्रकार की भाषा के आकार से परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता का होना भाषापर्याप्ति है। यह भी पूर्वपर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त से पूर्ण होती है। मनोवर्गणा द्वारा निष्पन्न हुए द्रव्यमन अवलम्बन से अनुभूत पदार्थ के स्मरण की शक्ति की उत्पत्ति मनःपर्याप्ति है। इन पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है क्योंकि जन्म के समय से लेकर ही उनका सत्त्व स्वीकार किया गया है किन्तु इनकी पूर्णता क्रम से ही होती है।

इन छह प्रकार की पर्याप्तियों के लिए कारणभूत कर्म को पर्याप्ति कहते हैं।

(२६) इन पर्याप्तियों की पूर्णता का न होना अपर्याप्ति है।

पर्याप्ति और प्राण में अभेद है? ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आहार, शरीर आदि की शक्तियों की पूर्णता का होना पर्याप्ति है और जिनसे आत्मा जीवित रहता है (शरीर में बना रहता है) वे प्राण हैं।

पभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम। बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणशरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम। यस्य कर्मण उदयाद् रसरुधिरमेदमज्जास्थिमांसशुक्राणां सप्तधातूनां स्थिरत्वं भवति तत्स्थिरनाम। यदुदयादेतेषामस्थिरत्वमुत्तरपरिणामो भवति तदस्थिरनाम। यदुदयादंगोपांगनामकर्मजनितानामंगानामुपांगानां च रमणीयत्वं तच्छुभनाम, तद्विपरीतमशुभनाम। यदुदयात्स्त्रीपुंसयोरन्योन्यप्रीतिप्रभवं सौभाग्यं भवति तत्सुभगनाम। यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम। चकारो नामशब्दस्य समुच्चयार्थः। यस्य कर्मण उदयेनादेयत्वं प्रभोपेतशरीरं भवति तदादेयनाम। यदुदयादनादेयत्वं निष्प्रभशरीरं तदनादेयनाम, अथवा यदुदयादादेयवाक्यं तदादेयं तद्विपरीतमनादेयमिति। शोभनः स्वरः मधुरस्वरः यस्योदयात्सुस्वरत्वं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तत्सुस्वरनाम। यदुदयात् दुःस्वरत्वममनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तद् दुःस्वरनाम। पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम, अथवा यस्य कर्मण उदयात्सद्भूतानामसद्भूतानां च ख्यापनं

---

(२७) शरीर नामकर्म के उदय से रचा हुआ और एक आत्मा के लिए उपभोग का कारण शरीर जिससे होता है वह प्रत्येकशरीर नामकर्म है।

(२८) अनेक आत्माओं के लिए उपभोगहेतुक शरीर जिससे होता है वह साधारण-शरीर नामकर्म है।

(२९) जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर, मेद, मज्जा, हड्डी, मांस और शुक्र इन सात धातुओं की स्थिरता होती है वह स्थिर नामकर्म है।

(३०) जिस कर्म के उदय से इन धातुओं में उत्तरोत्तर अस्थिररूप परिणमन होता रहता है वह अस्थिर नामकर्म है।

(३१) जिसके उदय से अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न हुए अंगों और उपांगों में रमणीयता आती है वह शुभ नामकर्म है।

(३२) इससे विपरीत को अशुभ नामकर्म कहते हैं।

(३३) जिसके उदय से स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रीति से उत्पन्न हुआ सौभाग्य होता है वह सुभग नामकर्म है।

(३४) रूपादि गुणों से सहित होते हुए भी लोगों को जिसके उदय से अप्रीतिकर प्रतीत होता है उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

(३५) जिस कर्म के उदय से आदेय—प्रभासहित शरीर होता है वह आदेय नाम-कर्म है।

(३६) जिसके उदय से अनादेय—निष्प्रभ शरीर होता है वह अनादेय है। अथवा जिसके उदय से जीव आदेयवाक्य—मान्यवचनवाला होता है वह आदेय है और उससे विपरीत अनादेय है।

(३७) जिसके उदय से स्वर शोभन—मधुर अर्थात् मनोज्ञ होता है वह सुस्वर नामकर्म है।

(३८) जिसके उदय से अमनोज्ञ स्वर होता है वह दुःस्वर नामकर्म है।

(३९) पुण्य गुणों का ख्यापन करनेवाला यशःकीर्ति नामकर्म है। अथवा जिस कर्म के उदय से विद्यमान या अविद्यमान गुणों की ख्याति होती है वह यशःकीर्ति है।

भवति तदयशःकीर्तिनाम। तत्प्रत्यनीकमपरमयशःकीर्तिनाम, यदुदयात् सद्भूतानामसद्भूतानां चाप्यगुणानां ख्यापनं तदयशस्कीर्तिनाम। नियतं मानं निमानं, तद् द्विविधं प्रमाणनिमानं स्थाननिमानं चेति, यस्य कर्मण उदयेन द्वे अपि निमाने भवतस्तन्निमाननाम, अन्यथा कर्णनयननासिकादीनां स्वजातिप्रतिरूपेणात्मनः स्थानेन प्रमाणेन च नियमो न स्यात्। यस्य कर्मण उदयेन परममार्हन्त्यं त्रैलोक्यपूजाहेतुर्भवति तत्परमोत्कृष्टं तीर्थकरनाम। एवं पिण्डप्रकृतीनां द्वाचत्वारिंशन्नाम्न एकैकापेक्षया त्रिनवतिर्भेदा भवन्तीति ॥१२३८-३९॥

गोत्रप्रकृतिभेदमन्तरायप्रकृतिभेदं चाह—

उच्चाणिच्चागोदं दाणं लाभंतराय भोगो य।
परिभोगो विरियं चेव अंतरायं च पंचविहं ॥१२४०॥

---

(४१) इससे विपरीत अयशःकीर्ति नामकर्म है। अर्थात् जिसके उदय से विद्यमान अथवा अविद्यमान भी दोषों की प्रसिद्धि हो जावे वह अयशःकीर्ति नामकर्म है।

(४१) नियत—निश्चित, मान—माप को निमान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—प्रमाणनिमान और स्थाननिमान। जिस कर्म के उदय से दोनों निमान होते हैं वह निमान नामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो आत्मा कान, नेत्र, नाक आदि अवयवों का अपनी जाति के अनुरूप स्थान का और प्रमाण का नियम न हो सकेगा। अर्थात् आकार के जितने आँख, कान आदि और जिस स्थान पर चाहिए उन्हें उतने आकार के अपने-अपने स्थान पर बनाना निमाण या निर्माण नामकर्म का काम है।

(४२) जिसकर्म के उदय से तीनों लोक में पूजा का हेतु परम आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है वह परमोत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म है।

इस प्रकार नामकर्म की ये पिण्ड प्रकृतियाँ ब्यालीस हैं और ये ही एक-एक की अपेक्षा से तिरानवे भेदरूप हो जाती हैं।

भावार्थ—पिण्डरूप प्रकृतियाँ ४२ हैं। ये ही अपिण्डरूप से अर्थात् पृथक्-पृथक् करके लेने से ९३ हो जाती हैं। यथा—गति ४, जाति ५, शरीर ५, बन्धन ५, संघात ५, संस्थान ६, संहनन ६, अंगोपांग ३, वर्ण ५, रस ५, गन्ध २, स्पर्श ८, आनुपूर्व्य ४, अगुरुलघु १, उपघात १, परघात १, उच्छ्वास १, आतप १, उद्योत १, विहायोगति २, त्रस १, स्थावर १, सूक्ष्म १, बादर १, पर्याप्त १, अपर्याप्त १, साधारण १, प्रत्येक १, स्थिर १, शुभ १, सुभग १, आदेय १, अस्थिर १, अशुभ १, दुर्भग १, अनादेय १, दुःस्वर १, सुस्वर १, यशस्कीर्ति १, अयशस्कीर्ति १, निर्माण १, और तीर्थंकर १ ये सब मिलकर ९३ हो जाती हैं।

गोत्र और अन्तराय प्रकृतियों के भेद बतलाते हैं—

गाथार्थ—गोत्र के उच्च गोत्र और नीचगोत्र ऐसे दो भेद हैं। अन्तराय के दान, लाभ, भोग और वीर्य ऐसे पाँच भेद हैं ॥१२४०॥*

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में उसके पूर्व की गाथा का पूर्वार्ध भाग है। अगली गाथा बदली हुई है।
एदे पिंडापिंडपयडी णिच्चुच्चगोदं च।"

अर्थ—ऊपर कथित ये नामकर्म की पिण्डप्रकृतियाँ हैं। इनमें भेद करने से अपिण्डप्रकृतियाँ ९३ हो जाती हैं। गोत्र के नीचगोत्र और उच्चगोत्र ये दो भेद हैं। (शेष अगले पृष्ठ पर)

गोत्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं, द्विविधम् । यदुदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्, यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् । अन्तरायशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते दानादिभिः स्वपरानुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् । तस्यान्तरायो दातृदेयादीनामन्तरायो दानान्तरायः, लाभः समीप्सितवस्तु तस्यान्तरायो लाभान्तरायः, सकृद् भुज्यते भोगस्तस्यान्तरायो भोगान्तरायः, पुनर्भुज्यते परिभोगस्तस्यान्तरायः परिभोगान्तरायः, वीर्यंशक्तिरुत्साहस्तस्यान्तरायो वीर्यान्तरायः । दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात् तद्व्यपदेशः । यदुदयाद्दातुकामोऽपि न ददाति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुंक्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि न परिभुंक्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते, इत्येवमन्तरायः पंचविधो भवति उत्तरप्रकृतिभेदेन । ॥१२४०॥

एवमुत्तरप्रकृतिभेदोऽष्टचत्वारिंशच्छतं भवति ।

आचारवृत्ति—गोत्र शब्द दोनों में लगाना अर्थात् गोत्र के उच्चगोत्र और नीचगोत्र ऐसे दो भेद हैं । जिसके उदय से लोकपूजित कुलों में जन्म हो वह उच्चगोत्र है । जिसके उदय से गर्हित—निन्द्य कुलों में जन्म हो वह नीचगोत्र है ।

अन्तराय शब्द को प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए । स्वपर के अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है । उसका अन्तराय अर्थात् दाता और देय आदि के मध्य विघ्न का होना दानान्तरायकर्म है । इच्छित वस्तु की प्राप्ति लाभ है । उसका अन्तराय होना लाभान्तराय है । जो एक बार ही भोगी जा सकती है वह वस्तु भोग कहलाती है । उसमें विघ्न आ जाना भोगान्तराय है । जो वस्तु पुनःपुनः भोगी जा सकती है वह परिभोग है । उसकी प्राप्ति में विघ्न आ जाना परिभोगान्तराय है । शक्ति या उत्साह का नाम वीर्य है । उसमें विघ्न आ पड़ना वीर्यान्तराय है ।

ये दानादि परिणाम में विघ्न के हेतु हैं, इनका वैसा ही नाम है । अर्थात् जिनके उदय से देने की इच्छा होते हुए भी नहीं दे पाता है, प्राप्त करने की इच्छा होते हुए भी नहीं प्राप्त कर पाता है, भोगने की इच्छा होते हुए भी नहीं भोग पाता है, उपभोग करने की इच्छा रखते हुए भी उपभोग नहीं कर पाता है और उत्साह की इच्छा रखते हुए भी उत्साहित नहीं हो पाता है ऐसे पाँचों अन्तरायों के उदय से ही ऐसा होता है । इस तरह उत्तर प्रकृतियों के भेद से अन्तराय पाँच प्रकार का होता है ।

इस प्रकार सर्वभेद मिलाकर उत्तरप्रकृतियों के एक सौ अड़तालीस भेद हो जाते हैं ।

भावार्थ—ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २, और अन्तराय के ५ ऐसे १४८ भेद उत्तरप्रकृतियों के होते हैं ।

दाणंतरायलाहो भोगुवभोगं च वीरियं चेव ।

एवं तु पयडिबंधं वीसहियसयं वियाणाहि ॥

अर्थ—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच अन्तराय के भेद हैं । इस प्रकार से प्रकृतिबन्ध के एक सौ बीस भेदों को जानो । अर्थात् सर्व अपिण्डप्रकृतियाँ १४८ हैं । उनमें से बन्ध के योग्य १२० हैं, ऐसा जानो ।

१. क न प्रयच्छति ।

प्रकृतिस्वामित्वं प्रतिपादयन्नाह—

सयअडयालपईणं बंधं गच्छंति वीससहियसयं।
सव्वो मिच्छादिट्ठी बंधदि णाहारतित्थयरा ॥१२४१॥*

अष्टचत्वारिंशच्छतप्रकृतीनां मध्ये शतं विंशत्युत्तरं बन्धप्रकृतयो भवन्ति, अष्टाविंशतिरबन्धप्रकृतयः। पंच शरीरबन्धनानि पंच शरीरसंघातानि चत्वारो वर्णाः चत्वारो रसाः एको गन्धः सप्त स्पर्शाः सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वे द्वे इत्येवमष्टाविंशतिः। एताभ्यः शेषाणां प्रकृतीनामाहारद्वयतीर्थंकररहितानां सप्तदशाधिकं शतं मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति। एतासां मिथ्यादृष्टिः स्वामीति। तीर्थंकरत्वं सम्यक्त्वेन आहारद्वयं च संयमेनातो न मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति, आहारकाहारकांगोपांगतीर्थंकरनामानीति ॥१२४१॥

सासादनादीनां बन्धप्रकृतीः प्रतिपादयन्नाह—

अब प्रकृतियों के स्वामी का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होती हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सभी को बाँधते हैं किन्तु आहारक द्विक और तीर्थंकर को नहीं बाँधते हैं ॥१२४१॥

आचारवृत्ति—एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। अट्ठाईस अबन्ध प्रकृतियाँ हैं। पाँच शरीरबन्धन, पाँच शरीरसंघात, चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श तथा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इस प्रकार ये अट्ठाईस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त शेष एक-सौ-बीस प्रकृतियों में से आहारद्विक और तीर्थंकर ये तीन प्रकृतियाँ कम करने से मिथ्यादृष्टि जीव एक सौ सत्रह प्रकृतियाँ बाँधता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियों का स्वामी है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व से होता है और आहारकद्वय का संयम से होता है इसीलिए मिथ्यादृष्टि जीव इन्हें नहीं बाँधते हैं।

सासादन आदि की बन्धप्रकृतियों को कहते हैं—

---

* यह गाथा बदली हुई है—

सव्वे मिच्छादिट्ठी बंधइ णाहारदुगं तित्थयरं।
उणवीसं छादालं सासण सम्मो य मिस्सो य॥

अर्थ—सभी मिथ्यादृष्टि जीव आहारद्विक और तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। सासादन सम्यक्त्वी उन्नीस का एवं मिश्रगुणस्थानवर्ती छयालीस प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। अर्थात् मिथ्यात्वी १२० में से तीन को न बाँधकर ११७ को बाँधते हैं। सासादनवर्ती मिथ्यात्व गुणस्थान की सोलह व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ और तीन ये ऐसी १०१ छोड़कर शेष ११ का बन्ध करते हैं। मिश्रवाले सासादन की व्युच्छिन्न हुई २५ और इन १९ ऐसी ४४ और मनुष्य-आयु एवं देव-आयु ऐसी कुल ४६ प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं।

अविरद तेदालीसं तेवण्णं देस संजदाणं च ।
पंचह सम्मामिच्छे दु सासणो संजदो बहुः बंध ॥१२४२॥

चशब्देन सूचिताः सासादनसम्यक्‌मिथ्यादृष्ट्योर्बन्धप्रकृतीस्तावन्निरूपयामः—मिथ्यात्वनपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुंडकसंस्थानासंप्राप्तसृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणशरीरसंज्ञकाः षोडश प्रकृतीस्त्यक्त्वा शेषा मिथ्यादृष्टिबन्धप्रकृतीरेकोत्तरशतं सासादनसम्यग्दृष्टिर्बध्नातीति । सम्यक्‌मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिबन्धप्रकृतीस्तीर्थंकरदेवायुर्मनुष्यायुर्वर्जिताश्चतुःसप्ततिं बध्नातीति । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगायुस्तिर्यग्गतिमध्यमचतुःसंस्थान—मध्यमचतुःसंहनन—तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयनीचैर्गोत्रसंज्ञकाः पंचविंशतिप्रकृतीः परिहृत्य तीर्थंकरसहिताः सासादनबन्धप्रकृतीरसंयतसम्यग्दृष्टिर्बध्नाति । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभमनुष्यगत्यौदारिकशरीरांगोपांगमनुष्यायुर्वज्रर्षभनाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नीर्दशप्रकृतीः परिहृत्य शेषा असंयतसम्यग्दृष्टिबन्धप्रकृतीः संयता-

---

गाथार्थ—क्रम से तेतालीस, त्रेपन और पचपन छोड़कर शेष प्रकृतियों को सम्यग्दृष्टि, श्रावक और संयत बाँधते हैं ॥१२४२॥

आचारवृत्ति—'च' शब्द से सूचित सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यक् मिथ्यादृष्टि की बन्धप्रकृतियों का निरूपण पहले करते हैं।

मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकआयु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिका-संहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष रहीं मिथ्यादृष्टि की एक सौ एक बन्धप्रकृतियों को सासादन सम्यग्दृष्टि जीव बाँधते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि के बन्ध योग्य तीर्थंकर, देवायु और मनुष्यायु इन तीन से रहित चौहत्तर प्रकृतियों को बाँधते हैं। अर्थात् सासादन में पच्चीस प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं। १०१ में ये २५ और आयु की २, ऐसी २७ प्रकृतियों के घटाने से ७४ प्रकृतियाँ बँधती हैं। सासादन में व्युच्छिन्न होनेवाली इन २५ प्रकृतियों को आगे कहते हैं।

निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन पच्चीस प्रकृतियों को छोड़कर तथा तीर्थंकर प्रकृति मिलाकर ऐसी सासादन प्रकृतियों को अर्थात् सतत्तर प्रकृतियों को असंयत सम्यग्दृष्टि जीव बाँधते हैं। अर्थात् १०१ में से २५ घटाकर और १ मिलाकर ७७ प्रकृतियों का चतुर्थगुणस्थानवर्ती बन्ध करते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्यायु, वज्रर्षभनाराचसंहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य इन दस प्रकृतियों को छोड़कर शेष असंयतसम्यग्दृष्टि की बन्धप्रकृतियों को अर्थात् त्रेपनरहित और तीर्थंकर,

1. अथवा मिथ्या, गुणस्थान में बँधनेवाली ११७ में ३ अबन्धप्रकृति जोड़ देने पर सामान्यबन्ध योग्य १२० प्रकृतियाँ हैं। इनमें से प्रथम गुणस्थान में व्युच्छिन्न १६, द्वितीय गुणस्थान में व्युच्छिन्न २५, चौथे गुणस्थान में व्युच्छिन्न प्रकृति १० तीनों मिलाकर ५१ हुए, तथा आहारकद्विक का यहाँ बन्ध नहीं है। अतः इन २ को मिलाकर ५३ प्रकृति को छोड़कर ६७ प्रकृतियाँ संयम गुणस्थान में बँधती हैं।

...सहितमिथ्यादृष्टिप्रकृतीर्या सप्तषष्टिसंज्ञकाः संयतासंयतो बध्नाति। प्रत्याख्यानावरण-क्रोधमानमायालोभसंज्ञकाश्चतस्रः प्रकृतीः परिहृत्य शेषाः संयतासंयतबन्धप्रकृतीः पंचपंचाशद्रहितमिथ्यादृष्टि-बन्धप्रकृतीर्वा तीर्थंकराहारद्वयबन्धसहिताः पंचषष्टिप्रकृतीः प्रमत्तसंयतो बध्नाति। तथा तेनैव प्रकारेणाप्रमत्ता-दीनां बन्धप्रकृतयो द्रष्टव्यास्तद्यथा असद्वेद्यारतिशोकास्थिराशुभायशस्कीर्तिसंज्ञकाः षट् प्रकृतीः परिहृत्य शेषा अप्रमत्तो बध्नातीति। अप्रमत्तप्रकृतीस्त्यक्तदेवायुःप्रकृतीरष्टापंचाशत्संज्ञका अपूर्वकरणो बध्नातीति। [illegible] ता एव निद्राप्रचलारहिताः षट्पंचाशत्प्रकृतीः स एवापूर्वकरणसंख्यातभागेषु बध्नाति। तत ऊर्ध्वं संख्येय-भागे पंचेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियिकाहारकशरीरांगोपांगवर्णगन्धरस-स्पर्शदेवगति-देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासविहायोगति-त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीर-स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थंकराख्याः प्रकृतीः परिहृत्य शेषाः षड्विंशतिप्रकृतीः स एवापूर्वकरणो बध्नाति, ततोऽनिवृत्तिप्रथमभागे ता एव प्रकृतीर्हास्यरतिभयजुगुप्सारहिता द्वाविंशतिसंख्याका बध्नाति अनिवृत्तिबादरः।

आहारकद्वय से सहित मिथ्यादृष्टि की प्रकृतियों को, अर्थात् सड़सठ प्रकृतियों को संयतासंयत जीव बाँधते हैं। अर्थात् मिथ्यात्वी की ६७ (११७-५३ = ६४ + ३) प्रकृतियों का पंचमगुण-स्थानवर्ती जीव बन्ध करते हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों को छोड़कर शेष संयता-संयत की बन्ध प्रकृतियों को अथवा पचपन प्रकृति रहित मिथ्यादृष्टि प्रकृतियों में तीर्थंकर और आहारकद्वय ये तीन मिलाकर ऐसी पैंसठ प्रकृतियों को प्रमत्तसंयत बाँधते हैं। अर्थात् ११७ में ५५ घटाकर और ३ मिलाकर ६५ होती हैं।

इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत आदिकों की बन्ध प्रकृतियों को समझ लेना चाहिए। उन्हीं का स्पष्टीकरण—

असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति इन छह प्रकृतियों को छोड़कर शेष उनसठ प्रकृतियों का अप्रमत्तसंयत जीव बन्ध करते हैं।

इन अप्रमत्त की प्रकृतियों से एक देवायु को घटाकर शेष अट्ठावन प्रकृतियों को अपूर्वकरणसंयत बाँधता है। निद्रा और प्रचला से रहित इन्हीं छप्पन प्रकृतियों को वही संयत अपूर्वकरण के संख्यात भाग आने पर बाँधता है। पुनः इसके ऊपर संख्यात भाग व्यतीत होने पर पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर, समचतुरस्र-संस्थान, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, आहारशरीरांगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति, देवगतिप्रायोग्यानु-पूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येकशरीर, स्थिर, (शुभ) सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इन ३० प्रकृतियों को छोड़कर शेष छब्बीस प्रकृतियों को वही अपूर्वकरण बाँधता है। अर्थात् अपूर्वकरण के प्रथम भाग में ५८ का संख्यात भाग के अनन्तर ५६ का और पुनः संख्यातवें भाग के अनन्तर २६ का बन्ध होता है।[1]

इसके अनन्तर अनिवृत्तिकरण के प्रथम भाग में इन्हीं प्रकृतियों में से हास्य, रति, भय, जुगुप्सा रहित बाईस प्रकृतियों को अनिवृत्तिबादर नामक संयत बाँधता है। पुनः इसके ऊपर

---

१. कर्मकाण्ड में छठे में आहारक द्वय का बन्ध न मानकर ६३ का बन्ध माना है।

तत ऊर्ध्वं पुंवेदरहिता एकविंशतिप्रकृतीरनिवृत्तिद्वितीयभागे बध्नाति। ततः संज्वलनक्रोधरहिता विंशति-प्रकृतीस्तृतीयभागे बध्नाति। ततः संज्वलनमानरहिता एकोनविंशतिप्रकृतीश्चतुर्थभागे बध्नाति। तत ऊर्ध्वं माया-रहिता अष्टादशप्रकृतीः पंचभागे बध्नाति। तत ऊर्ध्वं ता एव लोभरहिताः सप्तदशप्रकृतीः सूक्ष्मसांपरायो बध्नाति। ज्ञानान्तरायदशकदर्शनचतुष्कोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिषोडशप्रकृतीर्मुक्त्वैकं सद्वेद्यं द्वितीयभागे सूक्ष्मसांपरायो बध्नाति। तत ऊर्ध्वं सातवेदनीयाख्यामेकाम् प्रकृतिमुपशान्तकषायक्षीणकषाययोगिकेवलिनो बध्नन्ति। अयोगकेवली अबन्धको न किंचित्कर्म बध्नातीति ॥१२४२॥

व्याख्यातः प्रकृतिबन्धविकल्पः, इदानीं स्थितिबन्धविकल्पो वक्तव्यः, सा च स्थितिर्द्विविधोत्कृष्टा जघन्या च; तत्र यासां कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः समाना तासां निर्देशार्थमुच्यते—

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतरायस्सेव।
तीसं कोडाकोडी सायरणामाणमेव ठिदी ॥१२४३॥●

अनिवृत्तिकरण के द्वितोय भाग में वही संयत पुंवेदरहित इक्कीस का बन्ध करता है, तृतीय भाग में संज्वलन क्रोध रहित बीस प्रकृतियों का, चतुर्थ भाग में संज्वलन मान रहित उन्नीस प्रकृतियों का और पाँचवें भाग में संज्वलन माया रहित अठारह प्रकृतियों का बन्ध करता है।

इसके ऊपर सूक्ष्मसाम्पराय मुनि लोभकषाय रहित इन्हीं सत्रह प्रकृतियों का बन्ध करता है। वही सूक्ष्मसाम्पराय संयत अपने गुणस्थान के द्वितीय भाग में ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५ दर्शनावरण की ४, उच्चगोत्र और यशःकीर्ति इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर मात्र एक सातावेदनीय का ही बन्ध करता है।

इसके अनन्तर उपशान्तकषाय संयत, क्षीणकषायसंयत और सयोगकेवलिजिन एक सातावेदनीय का ही बन्ध करते हैं।

अयोगकेवलीजिन अबन्धक हैं, वे किंचित् मात्र भी कर्म का बन्ध नहीं करते हैं।

प्रकृतिबन्ध के भेदों का व्याख्यान हुआ। अब स्थितिबन्ध के भेद कहना चाहिए। स्थिति के दो भेद हैं—उत्कृष्ट और जघन्य। उनमें से जिन कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति समान है उनका कथन करते हैं—

गाथार्थ —आदि के तीन कर्म और अन्तरायकर्म इन चारों की तीस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण ही उत्कृष्ट स्थिति है ॥१२४३॥

● फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अप्रमत्त से लेकर अयोगी तक बन्ध की प्रकृतियाँ आगे दो गाथाओं में कही हैं जबकि इस संस्करण में यह विषय टीका में ले लिया गया है।

एक्कट्ठी बासट्ठी अट्ठावणी तिण्णिसहिय सयरहियं।
बंधंति अप्पमत्ता पुव्व णियट्ठी य सुहुमो य ॥

अर्थ—अप्रमत्तसंयत इकसठ रहित शेष उनसठ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। अपूर्वकरणसंयत बासठ प्रकृति रहित शेष अट्ठावन प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। अनिवृत्तिकरण संयत अट्ठावने प्रकृतियों को छोड़कर शेष बाईस प्रकृतियों का बन्ध करते हैं और सूक्ष्म साम्पराय संयत एक-सौ-तीन प्रकृतियों को छोड़कर शेष सत्रह प्रकृतियाँ बाँधते हैं।

आद्यानां प्रथमानां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयानां सामीप्यात्साहचर्याद्वा सर्वेषां प्रथमत्वमन्तरायस्य च उत्कृष्टा स्थितिः सागरनाम्नां त्रिंशत्कोटीकोट्यो नाधिका। पंचानां ज्ञानावरणीयानां नवानां दर्शनावरणीयानां सातवेदनीयस्यासातवेदनीयस्य पंचान्तरायाणां चोत्कृष्टः स्थितिबन्धः स्फुटं त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः। एते कर्मरूपपुद्गला एतावता कालेन कर्मस्वरूपाभावे क्षयमुपगच्छंतीति ॥१२४३॥

तथा—

मोहस्स सत्तरिं खलु वीसं णामस्स चेव गोदस्स।
तेत्तीसमाउगाणं उवमाओ सागराणं तु ॥१२४४॥

मोहस्य मिथ्यात्वस्य सागरोपमानां कोटीकोटीनां सप्ततिरुत्कृष्टा स्थितिः, नामगोत्रयोः कर्मणोरुत्कृष्टस्थितिः सागराणां कोटीकोटीनां विंशतिः पूर्वोक्तेन सागरनाम्नां कोटीकोटी इत्यनेन सम्बन्धः। आयुषः पुनः कोटीकोटीशब्देन नास्ति सम्बन्धः। तथानभिप्रायादागमे इत्यतः सागरशब्देनैव सम्बन्धः। कुतः पुनः? सागरोपमग्रहणादायुष उत्कृष्टस्थितिः उपमा सागराणां त्रयस्त्रिंशत्स्थितेः सागरैस्त्रयस्त्रिंशद्भिरुपमा।

आचारवृत्ति—प्रथम तीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय (समीपता से अथवा साहचर्य से तीनों को प्रथमपना प्राप्त हो जाता है) और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, इससे अधिक नहीं है। अर्थात् पाँचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, साताबेदनीय और असातावेदनीय तथा पाँचों अन्तराय इन सबकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि ये कर्मरूप हुए पुद्गल इतने काल तक कर्म अवस्था में रहते हैं और इसके बाद कर्मस्वरूपता को छोड़कर निर्जीर्ण हो जाते हैं।

शेष कर्मों की स्थिति कहते हैं—

गाथार्थ—मोह की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम, नाम और गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम और आयु की तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ॥१२४४॥

आचारवृत्ति—मोह अर्थात् मिथ्यात्वकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। पूर्वोक्त गाथा में कथित 'सागरनाम्नां कोटीकोटयः' अर्थात् कोड़ाकोड़ी सागर वाक्य है उसका यहाँ तक सम्बन्ध कर लेना। पुनः आयु के साथ कोड़ाकोड़ी का सम्बन्ध नहीं करना है, क्योंकि आगम में सिद्धान्त ग्रन्थों में आयु के साथ कोड़ाकोड़ी का सम्बन्ध नहीं है अतः यहाँ सागर शब्द से ही सम्बन्ध करना है।

आयु की उत्कृष्ट स्थिति में सागरोपम को कैसे लें?

'उपमा सागराणां' इसी गाथा के उत्तरार्ध में है। उसी से ऐसा समझें कि आयु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम मात्र है।

उवसंतखीणमोहा जोगी उणवीससयेहिं रहियपयडीणं।
बीससयं पयडिविणा जोगविहीणा हु बंधंति ॥

अर्थ—उपशान्तकषाय संयत, क्षीणकषाय संयत और सयोगकेवलिजिन ये तीनों ही एक सौ उन्नीस प्रकृतियों से रहित शेष एक साताप्रकृति का ही बन्ध करते हैं। अयोगकेवलिजिन एक सौ बीस प्रकृतियों से रहित अबन्धक होते हैं।

तुशब्दः सर्वविशेषणसंग्रहार्थः । तद्यथा, सातवेदनीय-स्त्रीवेद-मनुष्यगति-मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्ना-मुत्कृष्टा स्थितिः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः । षोडशकषायाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धश्चत्वारिंशत्कोटीकोट्यः सागराणाम् । पुंवेद-हास्य-रति-देवगतिसमचतुरस्रसंस्थान-वज्रर्षभनाराचसंहनन-देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरसुभगशुभसुस्वरादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः दशसागरोपमकोटीकोट्यः ।

नपुंसकवेदारतिशोकभयजुगुप्सानरकगति-तिर्यग्गत्येकेन्द्रियपंचेन्द्रियजात्यौदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणशरीर-हुण्डसंस्थानौदारिकवैक्रियिकांगोपांगासंप्राप्तसृपाटिकासंहनन-वर्णरसगन्धस्पर्श-नरकगति-तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरपर्याप्तप्रत्येकशरीरास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशस्कीर्तिनाम्नां नीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः ।

नरकदेवायुषोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिः । तिर्यङ्मनुष्यायुषो उत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिवामनसंस्थानकीलकसंहननसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणनाम्नामुत्कृष्ट-स्थितिः अष्टादशसागरोपमकोटीकोट्यः । आहारशरीरांगोपांगतीर्थंकरनाम्नामुत्कृष्टस्थितिः अन्तःकोटीकोट्यः । न्यग्रोधसंस्थानवज्रनाराचसंहननयोरुत्कृष्टस्थितिर्द्वादशसागरोपमकोटीकोट्यः । स्वातिसंस्थाननाराचसंहननयो-रुत्कृष्टा स्थितिः चतुर्दशसागरोपमकोटीकोट्यः । कुब्जकसंस्थानार्द्धनाराचसंहननयोरुत्कृष्टा स्थितिः षोडश

गाथा मे जो 'तु' शब्द है वह सर्व विशेषों को ग्रहण कर लेता है, अतः इन कर्मों के उत्तर भेदों की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर है। सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है। पुंवेद, हास्य, रति, देवगति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य, प्रशस्त विहायोगति, स्थिर, सुभग, शुभ, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र—इनकी उत्कृष्ट-स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागर है।

नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति और नीचगोत्र—का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागर है।

नरकायु व देवायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। तिर्यंचायु और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यप्रमाण है। द्वीन्द्रियजाति त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, वामन-संस्थान, कीलक संहनन, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोड़ा-कोड़ी सागर है। आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः-कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। न्यग्रोध संस्थान और वज्रनाराचसंहनन की उत्कृष्ट स्थिति बारह कोड़ाकोड़ी सागर है। तथा स्वाति संस्थान और नाराच संहनन की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोड़ाकोड़ी सागर है। कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराचसंहनन की उत्कृष्ट स्थिति सोलह

सागरोपमकोटीकोट्यः ।

सर्वत्र यावन्त्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तावन्ति वर्षशतान्याबाधा । आबाधा हीनकर्मस्थितिः कर्मनिषेकः । येषां तु अन्तःकोटीकोट्यः स्थितिस्तेषामन्तर्मुहूर्तं आबाधा । आयुषः पूर्वकोटीत्रिभाग उत्कृष्टाबाधा, आबाधोना कर्मस्थितिः, कर्मस्थितिकर्मनिषेक इति ।

इयं संज्ञिपंचेन्द्रियस्योत्कृष्टा स्थितिरेकेन्द्रियस्य ।

पुनर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्ध एकं सागरोपमम् । कषायाणां सप्त चत्वारो भागा, ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायसातवेदनीयानामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सागरोपमस्य त्रयः सप्तमभागाः, नामगोत्रनोकषायाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ । एवं शेषाणां त्रैराशिकक्रमेणैकेन्द्रियस्योत्कृष्टा स्थितिः साध्या, तस्याः संदृष्टिरेवं १, ४/७ ३/७ २/७ एवं द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्तानामुत्कृष्टा स्थितिः साध्या ।

द्वीन्द्रियस्य मिथ्यात्वस्योत्कृष्टा स्थितिः पंचविंशतिः सागरोपमाणां, त्रीन्द्रियस्य पंचाशत्, चतुरिन्द्रियस्य शतम् । असंज्ञिपंचेन्द्रियस्य सहस्रम् ।

तद्विभागेनैव शेषकर्मणामप्युत्कृष्टा स्थितिः साध्या त्रैराशिकक्रमेण । तेषां संदृष्टयः द्वीन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां २५, १००/७, ७५/७, ५०/७; त्रीन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां ५०, २००/७, १५०/७, १००/७;

कोड़ाकोड़ी सागर है ।

इन सभी कर्मों में जिस कर्म की जितने कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति है उस कर्म की उतने सौ वर्ष प्रमाण आबाधास्थिति है। वह आबाधाहीन कर्म-स्थिति प्रमाण कर्मों को निषेक है। जितने काल की आबाधा है उतने काल तक कर्म उदय में नहीं आते हैं। जिन कर्मों की अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति है उनकी आबाधा अन्तर्मुहूर्त मात्र है। आयुकर्म की उत्कृष्ट आबाधा पूर्वकोटी के त्रिभागप्रमाण है। अर्थात् उतने काल तक वह आयुकर्म उदय में नहीं आ सकता है।

यहाँ तक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है।

एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एक सागर है। कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एक सागर के सात भाग में से चार भाग प्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और सातावेदनीय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सागर के सात भाग में से तीन भाग प्रमाण है। नाम, गोत्र और कुछ नोकषायों का सागर के सात भाग में से दो भागप्रमाण है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव के शेष कर्मों की भी उत्कृष्ट स्थिति त्रैराशिक के क्रम से निकाल लेना चाहिए। उसकी संदृष्टि इस प्रकार है—दो इन्द्रिय के—मिथ्यात्व १, कषाय ४/७, ज्ञानावरण ३/७, नामगोत्र २/७ ।

इसी तरह द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की उत्कृष्ट स्थिति निकाल लेना चाहिए। अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर प्रमाण है। त्रीन्द्रिय के पचास सागर, चतुरिन्द्रिय जीव के सौ सागर और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति हजार सागर प्रमाण है।

इन जीवों के शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति भी इस विभाग के द्वारा ही त्रैराशिक के क्रम से जान लेनी चाहिए। अर्थात्

	मि०	कषाय	ज्ञानावरणादि	नाम-गोत्र
द्वीन्द्रिय जीव के	२५	१००/७	७५/७	५०/७
त्रीन्द्रिय जीव के	५०	२००/७	१५०/७	१००/७

चतुरिन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां १००, ४००/७, ३००/७, २००/७; असंज्ञिनां पंचेन्द्रियस्य मिथ्यात्वादीनां १०००, ४०००/७, ३०००/७, २०००/७ मिथ्यात्वादीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः। सर्वत्र चावल्या संख्यातभाग एव आबाधा इति ॥१२४४॥

उत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रतिपाद्य जघन्यस्थितिबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

बारस य वेदणीए णामगोदाणमट्ठय मुहुत्ता।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेस पंचण्हं ॥१२४५॥

वेदनीयस्य कर्मणो जघन्या स्थितिः द्वादश मुहूर्ताः। नामगोत्रयोः कर्मणोरष्टौ मुहूर्ताः जघन्या स्थितिः। शेषाणां पुनः पंचानां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयायुरन्तरायाणां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रमिति च। जघन्यस्थितेर्विशेषं प्रतिपादयन्नाह।

पंचज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणलोभसंज्वलनपंचान्तरायाणां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तः। सातवेदस्य द्वादशमुहूर्ताः। यशःकीर्त्युच्चगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः। क्रोधसंज्वलनस्य द्वौ मासौ। मानसंज्वलनस्यैकमासः। मायासंज्वलनस्यार्धमासः पुरुषवेदस्याष्टौ संवत्सराः। निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनिद्राप्रचलाऽसातवेदनीयानां सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमासंख्यातभागहीनाः। मिथ्यात्वस्य सागरोपमस्य

चतुरिन्द्रिय जीव के	१००	४००/७	३००/७	२००/७
असंज्ञिपंचेन्द्रिय के	१०००	४०००/७	३०००/७	२०००/७

इस संदृष्टि के अनुसार द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति, त्रीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति, चतुरिन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व आदि की उत्कृष्ट स्थिति का त्रैराशिक से कथन है। सर्वत्र आबाधा आवली के जघन्य संख्यातवें भाग प्रमाण ही है।

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रतिपादन करके अब जघन्य स्थिति बन्ध कहते हैं—

गाथार्थ—वेदनीय की बारह मुहूर्त और नामगोत्र की आठ मुहूर्त तथा शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥१२४५॥

आचारवृत्ति—वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय इन पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त मात्र है। जघन्य स्थिति में विशेष—भेदों का प्रतिपादन करते हैं।

पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, लोभ-संज्वलन और पाँच अन्तराय, इन कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। सातावेदनीय की बारह मुहूर्त है। यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र की आठ मुहूर्त है। संज्वलन-क्रोध की दो मास, संज्वलन-मान की एक मास, संज्वलन-माया की पन्द्रह दिन और पुरुषवेद की आठ वर्ष प्रमाण जघन्य स्थिति है। निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति एक सागर के तीन सातवें भागों में से पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन प्रमाण है। मिथ्यात्व की सागरोपम के सात दसवें भाग

सप्तभागाश्चत्वारः पल्योपमासंख्यातभागहीनाः। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानां सागरोपमस्य चत्वारः सप्तभागाः पल्योपमासंख्यातभागहीना अष्टानां नोकषायाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्यातभागहीनौ।

नरकदेवायुषो दशवर्षसहस्राणि। तिर्यङ्मनुष्यायुषोरन्तर्मुहूर्तः। नरकगतिदेवगतिवैक्रियिकशरीरांगोपांगनरकगतिप्रयोग्यानुपूर्व्यदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्याणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्यातभागहीनौ आहाराहारांगोपांगतीर्थकराणां सागरोपमाणां कोटीकोट्योऽन्तःकोटीकोटी। शेषाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्यातभागहीनौ। सर्वत्र जघन्या स्थितिरिति संबन्धनीया।

सर्वत्र चान्तर्मुहूर्तमाबाधा। आबाधोना कर्मस्थितिः, कर्मनिषेकः।

सर्वोऽयं जघन्यस्थितिबन्धः सामान्यापेक्षया संज्ञिपंचेन्द्रियस्यैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियाणां सर्वकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः य एवोत्कृष्ट उक्तः स एव पल्योपमासंख्यातभागहीनो द्रष्टव्य इति ॥१२४५॥

अनुभागबन्धं निरूपयन्नाह—

कम्माणं जो दु रसो अज्झवसाणजणिद सुह असुहो वा।
बंधो सो अणुभागो पदेसबंधो इमो होइ ॥१२४६॥

कर्मणां ज्ञानावरणादीनां यस्तु रसः सोऽनुभवोऽध्यवसानैः परिणामैर्जनितः, अध्यवसानजनितः। क्रोध-

---

है और पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान की सागर के सात भाग में से चार भाग और पल्योपम के असंख्यात भागहीन है। हास्य आदि आठ (पुरुषवेदरहित) नोकषायों की सागरोपम के सात भाग में से दो भाग और पल्योपम के असंख्यात भाग से हीन है।

नरक आयु और देव आयु की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है। तिर्यंच और मनुष्य की अन्तर्मुहूर्त है। नरकगति, देवगति, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य—इनकी सागर के सात भाग में से दो भाग और पल्योपम के असंख्यातभागहीन है। आहारक, आहारक-अंगोपांग और तीर्थंकर की जघन्य स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर है। शेष कर्मों की जघन्य स्थिति सागर के सात भाग में से दो भाग तथा पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन है।

सभी कर्मों के जघन्य स्थितिबन्ध की आबाधा अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

यह जघन्य स्थिति बन्ध सामान्य की अपेक्षा से संज्ञिपंचेन्द्रिय की है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी कर्मों का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कहा गया है वही पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन होकर जघन्य स्थितिबन्ध होता है ऐसा समझना।

अब अनुभागबन्ध का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—कर्मों का परिणाम से उत्पन्न हुआ शुभ अथवा अशुभरूप रस अनुभाग बन्ध है। प्रदेशबन्ध आगे कहेंगे ॥१२४६॥

आचारवृत्ति—ज्ञानावरण आदि कर्मों का परिणामों से होनेवाला जो रस—अनुभव है वह अनुभागबन्ध है। अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों की तीव्रता आदि परिणामों से

मानमायालोभतीव्रतादिपरिणामभावतः शुभः सुखदः अशुभः असुखदः वा विकल्पार्थः सोऽनुभागबन्धः। यथा अजागोमहिष्यादीनां क्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां तीव्रादिभावेन स्वगतसामर्थ्यविशेषः शुभोऽशुभो वा यः सोऽनुभागबन्धः। शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवोऽशुभप्रकृतीनां निकृष्टः, अशुभपरिणामानां प्रकृष्टभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः शुभप्रकृतीनां निकृष्टः। स एवं [1]प्रकृतिवशादुत्पन्नो रसविशेषः द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन चैवं सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः तुल्यजातीनां परमुखे नापि आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्ज्यानां, न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेनेति। तथा देशघातिसर्वघातिभेदेनानुभागो द्विविधः, देशं घातयतीति देशघाती, सर्वं घातयतीति सर्वघाती। केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरण-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिप्रचलानिद्राः चतुःसंज्वलनवर्ज्या द्वादश कषाया मिथ्यात्वादीनां विंशतिप्रकृतीनामनुभावः सर्वघाती ज्ञानादिगुणं सर्वं घातयतीति वनदाह इव। मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्ययज्ञानावरणपंचान्तरायसंज्वलनक्रोधमानमायालोभनवनोकषायाणामुत्कृष्टानुभावबन्धः सर्वघाती वा जघन्यो देश-

---

उत्पन्न होनेवाला सुखदायक और दुःखदायक अनुभव अनुभागबन्ध कहलाता है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र, मन्द भाव से रस—माधुर्य विशेष होता है वैसे ही कर्म पुद्गलों में तीव्र आदि भाव से जो शुभ अथवा अशुभ अपने में होनेवाली सामर्थ्य विशेष है वह अनुभाग बन्ध है।

शुभ परिणामों की प्रकर्षता से शुभप्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग पड़ता है और अशुभ प्रकृतियों में निकृष्ट—जघन्य अनुभाग पड़ता है। अशुभ परिणामों की प्रकर्षता से अशुभ प्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभाग और शुभ प्रकृतियों में जघन्य अनुभाग होता है। इस प्रकार से प्रकृति विशेष से उत्पन्न हुआ यह रसविशेष दो प्रकार का हो जाता है—स्वमुख से और परमुख से। सम्पूर्ण मूल प्रकृतियों का अनुभव स्वमुख से ही होता है और उत्तर प्रकृतियों में तुल्यजातीय प्रकृतियों का अनुभव परमुख से भी होता है। किन्तु समस्त आयु, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का आपस में परमुख से उदय नहीं होता है। अर्थात् नरकायु मुख से तिर्यंचायु अथवा मनुष्यायु रूप फल नहीं दे सकती है। वैसे ही दर्शनमोह चारित्रमोहरूप से अथवा चारित्रमोह दर्शनमोहरूप से अपना फल नहीं दे सकता है। देशघाती और सर्वघाती के भेद से अनुभाग के दो भेद हैं। जो देश—आत्मा के अल्पगुणों का घात करता है वह देशघाती है और जो सर्व—सकल गुणों का घात करता है वह सर्वघाती है। केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, प्रचला, निद्रा, चार संज्वलन को छोड़कर बारह कषाय और मिथ्यात्व इन बीस प्रकृतियों का अनुभाग सर्वघाती है। अर्थात् वह सर्वज्ञानादिगुणों का घात करता है, वन की दावानल के समान। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ और नौ नोकषाय, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और सम्यक्त्व प्रकृति—इन छब्बीस का उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती है और जघन्य अनुभाग देशघाती है।

---

१. क प्रत्यय।

घाती । सातासातचतुरायुःसर्वनामप्रकृत्युच्चैर्नीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धः घातिनां प्रतिभागो देशघाती, घातिविनाशे स्वकार्यकरणसामर्थ्याभावात् । एता अघातिप्रकृतयः पुण्यपापसंज्ञाः । शेषाः पुनः पूर्वोक्ता घातिसंज्ञाः पापा भवन्तीति । अशुभप्रकृतीनां चत्वारि स्थानानि निम्बकांजीरविषकालकूटानीति, शुभप्रकृतीनां च चत्वारि स्थानानि गुडखण्डशर्करामृतानीति । मोहनीयान्तरायवर्जितानां षण्णां कर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धः चतुःस्थानिको, जघन्यानुभागबन्धो द्विस्थानिकः, शेषः द्वित्रिचतुःस्थानिकः । मोहनीयान्तराययोरुत्कृष्टानुभागबन्धश्चतुःस्थानिको जघन्यानुभागबन्ध एकस्थानिकः, शेषा एकद्वित्रिचतुः स्थानिकाः । चतुर्ज्ञानावरणत्रिदर्शनावरणपुंवेदचतुःसंज्वलन-पंचांतरायाणां सप्तदशप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धश्चतुःस्थानिको जघन्यानुभागबन्ध एकस्थानिकः । शेषाः सर्वेऽपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणसातासातमिथ्यात्वद्वादशकषायाष्टनोकषायचतुरायुःसर्वनामप्रकृत्युच्चै-र्नीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टानुभागबन्धश्चतुःस्थानिको जघन्यो द्विस्थानिकः, शेषो द्वित्रिचतुःस्थानिकः । घातिनामेकस्थानं नास्ति । पुंवेदरहितानां नोकषायाणामेकस्थानं नास्ति, निम्बवदेकस्थानं, कांजीरवद् द्विस्थानं, विषवत् त्रिस्थानं, कालकूटवत् चतुःस्थानम् अशुभप्रकृतीनामेतत् । गुडवदेकस्थानं, खण्डवद् द्विस्थानं, शर्करावत् त्रिस्थानम्, अमृतवद्

सातावेदनीय, असातावेदनीय, चार आयु, नामकर्म की समस्त ९३ प्रकृतियाँ, उच्च-गोत्र और नीचगोत्र—इनका उत्कृष्ट आदि अनुभाग घातिया के प्रतिभागरूप देशघाती है; क्योंकि घाती कर्मों का नाश हो जाने पर इनका अनुभाग अपने कार्य को करने की सामर्थ्य नहीं रखता है।

इन अघाती प्रकृतियों के पुण्य और पाप ऐसे दो भेद होते हैं। पुनः पूर्वकथित घाति प्रकृतियाँ पापरूप ही होती हैं।

अशुभ प्रकृतियों के चार स्थान हैं--नीम, कांजीर, विष और कालकूट। शुभ प्रकृतियों के भी चार स्थान हैं—गुड़, खांड, शर्करा और अमृत।

मोहनीय और अन्तराय को छोड़कर शेष छह कर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार स्थान वाला होता है और इनका जघन्य अनुभागबन्ध दो स्थानरूप होता है। शेष—अनुत्कृष्ट और अजघन्य अनुभागबन्ध दो, तीन और चार स्थानवाला है। मोहनीय और अन्तराय का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार स्थानवाला है और जघन्य अनुभागबन्ध एक स्थानवाला है। शेष—अनुत्कृष्ट और अजघन्य अनुभागबन्ध एक, दो, तीन और चार स्थानवाला भी होता है।

चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, पुंवेद, चार संज्वलन और पाँच अन्तराय इन सत्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार स्थानवाला होता है और जघन्य अनुभागबन्ध एक-स्थानिक है। शेष दोनों का अर्थात् अनुत्कृष्ट और अजघन्य का एक, दो, तीन व चार स्थानों का है। केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, सातावेदनीय, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, संज्वलन के अतिरिक्त बारह कषाय, पुंवेद के अतिरिक्त आठ नोकषाय, चार आयु, नामकर्म की सभी प्रकृतियाँ, उच्चगोत्र और नीचगोत्र—इनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक है और जघन्य द्विस्थानिक है। शेष अनुत्कृष्ट और अजघन्य अनुभागबन्ध दो, तीन और चार स्थानों वाला है। घातिया कर्मों में एकस्थानिक अनुभागबन्ध नहीं होता है। पुंवेदरहित आठ नोकषायों का भी एक स्थानिक अनुभागबन्ध नहीं है।

नीम के समान एकस्थान अनुभागबन्ध, कांजीर के समान द्वि स्थान अनुभागबन्ध, विष के समान त्रिस्थान अनुभागबन्ध और कालकूट के समान चतुःस्थान अनुभागबन्ध होता है। ये

चतुःस्थानं शुभप्रकृतीनामेतदिति ।

पंचशरीरषट्संस्थानत्र्यंगोपांगषट्संहननपंचवर्णद्विगन्धपंचरसाष्टस्पर्शा गुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतनिर्माणप्रत्येकसाधारणस्थिरास्थिरशुभाशुभा एता प्रकृतयः पुद्गलविपाकाः, पुद्गलपरिणामिन्यो यत इति । चत्वार्यायूंषि भवविपाकानि भवधारणत्वाच्चत्वार्यानुपूर्व्याणि क्षेत्रविपाकानि क्षेत्रमाश्रित्य फलदानात् । शेषास्तु प्रकृतयो जीवविपाका जीवपरिणामनिमित्तत्वादिति ॥१२४६॥

अनुभागबन्धं व्याख्याय प्रदेशबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

सुहुमे जोगविसेसेण एगक्खेत्तावगाढठिदियाणं ।
एक्केक्के दु पदेसे कम्मपदेसा अणंता दु ॥१२४७॥

सुहुमे—सूक्ष्माः न स्थूला, जोगविसेसेण—योगविशेषेण मनोवचनकायविशिष्टव्यापाराद् एगक्खेत्तावगाढ—एकक्षेत्रावगाहिनो न क्षेत्रान्तरावगाहिनः यस्मिन्नेवात्मा कर्मादानरतस्ततः परस्मिन् क्षेत्रे ये पुद्गलास्ते इति ठिदियाणं—स्थिताः न गच्छन्तः एक्केक्के दु पदेसे —सर्वात्मप्रदेशेषु कम्मपदेसा—कर्मप्रदेशाः ज्ञानावरणादिनिमित्तपरमाणवः अणंता दु—अनन्तास्तु । सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्णनार्थं कर्मग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्माः, न स्थूलाः । एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् एकक्षेत्रे कर्मादानशक्तियुक्तजीवसहचरितप्रदेशे अवगाहो येषां एकक्षेत्रावगाहः, स्थिता इति क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम्, स्थिता न गच्छन्तः,

---

अशुभ प्रकृतियों के स्थान हैं। गुडवत् एकस्थान, खण्डवत् द्विस्थान, शर्करावत् त्रिस्थान और अमृतवत् चतुःस्थान ये शुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध के स्थान हैं।

पाँच शरीर, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, निमान (निर्माण), प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ ये बावन[1] प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं; क्योंकि ये पुद्गलों में परिणमन करती हैं अर्थात् इनके उदय से पुद्गलों में परिणमन होता है। चारों आयु भवविपाकी हैं, क्योंकि ये भव को धारण करती हैं। चारों आनुपूर्व्य क्षेत्रविपाकी हैं, क्योंकि वे क्षेत्र के आश्रय से फल देती हैं। शेष प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं, क्योंकि ये जीव के परिणाम में निमित्त हैं।

अनुभागबन्ध का व्याख्यान करके अब प्रदेशबन्ध को कहते हैं—

गाथार्थ—जो सूक्ष्म हैं, योगविशेष से एक क्षेत्र में स्थित हैं आत्मा के ऐसे एक-एक प्रदेश पर अनन्त कर्मप्रदेश हैं ॥१२४७॥

आचारवृत्ति—जो पुद्गल सूक्ष्म हैं, स्थूल नहीं हैं, मन-वचन-काय के विशिष्ट व्यापार रूप योग विशेष से आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही हैं अर्थात् जिस क्षेत्र में आत्मा कर्मों को ग्रहण करने में तत्पर है उसी क्षेत्र में, आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में, स्थित हैं। ज्ञानावरण आदि के निमित्तरूप वे परमाणु अनन्त हैं। कर्मरूप से ग्रहण करने योग्य पुद्गल का स्वभाव बताने के लिए गाथा में 'सूक्ष्म' शब्द का ग्रहण है। ये कर्मपुद्गल सूक्ष्म ही हैं, स्थूल नहीं हैं। 'एकक्षेत्रावगाह' शब्द का ग्रहण भिन्न क्षेत्र की निवृत्ति के लिए है। एक क्षेत्र में— कर्म के ग्रहण करने की शक्ति से युक्त जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में इनका अवगाह है अर्थात् ये जीव के प्रदेश में एकमेक रूप होकर

---

1. पाँच बन्धन और पाँच संघात की विवक्षा करने से ये बासठ हो जाती हैं।

एकैकप्रदेशे इत्यत्र वीप्सानिर्देशेन सर्वात्मप्रदेशसंग्रहः कृतस्तेनाधारनिर्देशः कृतस्तेनैकप्रदेशादिषु न कर्मप्रदेशा प्रवर्तन्ते ।

कथं तर्हि ऊर्ध्वमधः[1]स्थितास्तिर्यक् च सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति । कर्मग्रहणं सर्वकर्मप्रकृतिसंग्रहार्थम् । अनेनोपादानहेतुसंग्रहः कृतः । प्रदेशा इति पुद्गलग्रहणं तेनाकाशादिप्रदेशनिवृत्तिः । अनन्तानन्ता इति परिमाणान्तरव्यपोहार्थम् । तुशब्दः अनुक्तसर्वविशेषसंग्रहार्थः । न संख्येया, न चासंख्येयाः, नाप्यनन्तास्ते पुद्गलस्कन्धाः, किन्तु अभव्यानन्तगुणाः[2] सिद्धानन्तभागप्रमिताः[3] घनांगुलस्यासंख्येयभागावगाहिनः । एकद्वित्रिचतुः समयस्थितिकाः । पंचवर्णरसद्विगंधचतुःस्पर्शभावाः । सूक्ष्माः । अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्या एकक्षेत्रावगाहिनः स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेषु योगवशादात्मना प्रदेशाः कर्मरूपेणात्मसात्क्रियन्ते । अयं प्रदेशबन्धः । अथवाऽऽत्मनो योगवशादष्टविधकर्महेतवोऽनन्तानन्तप्रदेशा एकैकप्रदेशे ये स्थितास्ते प्रदेशबन्ध इति । अष्टविधकर्मयोग्यपुद्गलानाम् एकैकसमयेन बन्धनमागतानां मध्ये आयुर्भाग एकः । नामगोत्रयोरन्योन्यसमोऽधिक एकतरो भागश्चायु-

---

चिपक जाते हैं इसलिए इन्हें एकक्षेत्रावगाही कहते हैं। 'स्थिता' यह क्रियापद अन्यक्रिया के निराकरण हेतु है अर्थात् ये आत्मा के प्रदेशों पर स्थित रहते हैं, अन्यत्र गमन नहीं करते हैं। 'एकैकप्रदेशे' इस वीप्सा निर्देश से सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों का संग्रह हो जाता है। अर्थात् आत्मा के सर्व प्रदेश इन कर्मों के लिए आधारभूत हैं। इससे एक-दो आदि प्रदेशों में ही कर्मपरमाणु चिपके हैं सबमें नहीं, ऐसी बात नहीं, किन्तु ऐसी बात है कि वे सम्पूर्ण प्रदेशों में चिपके हैं।

तो वे कर्मपरमाणु आत्मा के ऊपरी भाग में स्थित हैं अथवा नीचे हैं या मध्य में हैं, ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता क्योंकि वे आत्मा के सभी प्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित हैं। गाथा में जो 'कर्म' का ग्रहण है वह सम्पूर्ण कर्मों की सर्वप्रकृतियों का संग्रह कर लेता है, इससे उपादान हेतु का भी ग्रहण हो जाता है। 'प्रदेशाः' शब्द से पुद्गल के प्रदेशरूप परमाणु का ग्रहण होता है अतएव आकाश आदि के प्रदेशों का निराकरण हो जाता है। 'अनन्त' शब्द अनन्तानन्तपरिमाण को ग्रहण करता है। 'तु' शब्द अन्य परिमाणों की निवृत्ति के लिए सभी अनुक्त का संग्रह करने के लिए है, अर्थात् ये कर्म परमाणु न संख्यात हैं, न असंख्यात हैं और न अनन्त हैं, किन्तु ये अभव्य राशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण होने से अनन्तानन्त हैं। ये घनांगुल के असंख्यात भाग में अवगाही हैं। ये एक, दो, तीन, चार आदि समय की स्थितिवाले हैं। इनमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श होते हैं। ये सूक्ष्म हैं। आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों के योग्य हैं और जीव के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर सम्पूर्ण जीवप्रदेशों में रहते हैं, अर्थात् योग के वशीभूत हुए आत्मा के द्वारा ये अनन्तानन्त पुद्गल कर्मरूप से आत्मसात् कर लिये जाते हैं। इसी का नाम प्रदेशबन्ध है। अथवा जो योग के वश से आते हैं, आठ प्रकार के कर्म के कारणभूत हैं और जो आत्मा के एक-एक प्रदेश पर रहते हैं उन अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

एक समय में बन्धे हुए कर्मपरमाणु को समयप्रबद्ध कहते हैं। एक-एक समय में बन्धन को प्राप्त हुए अष्टविध कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं का आठों ही कर्मों में बटवारा हो जाता है। उसमें आयु को एकभाग मिलता है। नाम और गोत्र को परस्पर में समान भाग किन्तु आयु से

---

१. क ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वेष्वात्म । २. क अभव्यानामनन्तगुणाः । ३. क सिद्धानामनन्तगुणाः ।

र्यांशात् ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां भागोऽन्योन्यसदृश एकतरः, नामगोत्रयोरेकतरभागाधिकः मोहस्य भाग आवरणान्तरायैकतरभागादधिकः मोहभागाद्वेदनीयभागोऽधिकः। सर्वत्र आवल्या असंख्यातभागेन भागे हृते यल्लब्धं तेनाधिक इति। एवं सप्तविधबन्धकानां षड्विधबन्धकानां च ज्ञातव्यम्। ज्ञानावरणादीनामात्मप्रदेशभाग आत्मात्मेतरप्रकृतयो यावंत्यस्तावद्भागैरभिगच्छन्ति ॥१२४७॥

एवं बन्धपदार्थो व्याख्यातः संक्षेपतः, इत ऊर्ध्वमुपशमनविधिं क्षपणविधिं च प्रपंचयन्नाह—

मोहस्सावरणाणं खमेण अह अंतरायस्स य एव।
उप्पज्जइ केवलयं पयासयं सव्वभावाणं ॥१२४८॥

मोहस्यावरणयोरन्तरायस्य च क्षयेण विनाशेनैवोत्पद्यते केवलं केवलज्ञानं प्रकाशकं सर्वभावानां सर्वद्रव्यपर्यायपरिच्छेदकम्। अथशब्देन सूत्रेणैवमुपशमनविधिं तावत्प्रतिपादयामि—अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभसम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वानीत्येताः सप्त प्रकृतीः असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तादीनां मध्ये कोऽप्येक उपशमयति। तत्राधःप्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिकरणानि कृत्वा अनिवृत्तिकरणकालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु विशेषघातेन हन्यमानमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्थितिसत्कर्मोपशमं याति, स्वस्वरूपं परित्यज्यान्यस्व

अधिक एक-एक भाग मिलता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को परस्पर में सदृश किन्तु नामगोत्र के भाग की अपेक्षा अधिक एक-एक भाग मिलता है। मोहकर्म को इन आवरणों और अन्तराय की अपेक्षा अधिक एक-एक भाग मिलता है। और मोहकर्म के भाग की अपेक्षा अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना एक भाग सर्वत्र अधिक जानना चाहिए।

इसी तरह सात प्रकार के कर्मों का बन्ध जिन्हें होता है अर्थात् जिन्हें आयु का बन्ध नहीं होता है उनके लिए सात कर्मों में उपर्युक्त कथित क्रम से ही बटवारा होता है। जिनके छह कर्मों का बन्ध हो रहा है, मोहनीय और आयु का बन्ध नहीं हो रहा है ऐसे जीवों के भी उन्हीं छह कर्मों में बटवारा होता है, ऐसा समझना। ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपना प्रदेश भाग अपनी-अपनी प्रकृतियों (समान्तर भेदों) में बँट जाता है।

इस प्रकार बन्ध पदार्थ का संक्षेप से व्याख्यान हुआ। इससे आगे अब उपशमन विधि और क्षपणविधि कहते हैं—

गाथार्थ—मोहकर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से सर्वपदार्थों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥१२४८॥

आचारवृत्ति—मोह के विनाश से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के विनाश से सर्वद्रव्य और पर्यायों को जाननेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है। गाथा के 'अथ' शब्द से सूचित इस सूत्र के द्वारा ही अब उपशमन विधि कहूँगा।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत में से कोई एक गुणस्थानवर्ती जीव उपशमन करता है। उसमें यह अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करता है अर्थात् दो करण करने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण के काल में संख्यात भागरूप काल के व्यतीत हो जाने पर विशेषघात से नष्ट किया जानेवाला ऐसा अनन्ता-

प्रकृतिस्वरूपेण स्थानमनन्तानुबन्धिनामुपशमः पुनरधःप्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिकरणानि कृत्वा अनिवृत्तिकरणकालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु दर्शनमोहत्रिकस्योदयाभाव उपशमस्तेषामुपशान्तानामप्युत्कर्षापकर्षपरप्रकृतिसंक्रमणानामस्तित्वं यत इति। अपूर्वकरणे नैकमपि कर्मोपशाम्यति। किन्त्वपूर्वकरणः प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानः अन्तर्मुहूर्तेनैकैकस्थितिखण्डकं पातयन् संख्यातसहस्राणि स्थितिखण्डकानि पातयति, तावन्मात्राणि च स्थितिबन्धापसरणानि करोति। एकैकस्थितिखण्डाभ्यन्तरे संख्यातसहस्राण्यनुभागखण्डकानि पातयति प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या प्रदेशनिर्जरां करोति। अप्रशस्तकर्मांशान्न बध्नाति। तेषां प्रदेशाग्रमसंख्यातगुणश्रेण्या अन्यासु प्रकृतिषु बध्यमानस्ततस्तदुपरि(?)संक्रमयति। पुनरपूर्वकरणमतिक्रम्यानिवृत्तिकरणं प्रविश्यान्तर्मुहूर्तमात्रमनेन विधानेन स्थित्वा द्वादशानां कषायाणां नवानां नोकषायाणामन्तरमन्तर्मुहूर्तेन करोति। अन्तरे कृते प्रथमसमयादुपरि अन्तर्मुहूर्तं गत्वा असंख्येयगुणश्रेण्या नपुंसकवेदमुपशमयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तेन तेनैव विधिना षण्णां कषायाणां पुरुषवेदं चिरन्तनसत्कर्मणा सह युगपदुपशमयति। तत ऊर्ध्वं समयोने द्वे आवल्यौ गत्वा पुंवेद-

---

नुबन्धी चतुष्क स्थितिसत्कर्म उपशम को करता है। अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृति रूप से स्थित हो जाना अनन्तानुबन्धी का उपशम है। पुनः वही जीव अधःकरण और अपूर्वकरण परिणाम को करके अनिवृत्तिकरण में संख्यात भाग बीत जाने पर दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का उदयाभावरूप उपशमता है अर्थात् उपशम को प्राप्त होने पर भी इनका उत्कर्ष, अपकर्ष और परप्रकृतिरूप संक्रमण का अस्तित्व होता है। यह उपशम का विधान हुआ। अर्थात् चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें गुणस्थान में से किसी में इन तीन-तीन करणरूप परिणामों द्वारा उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके अधःप्रवृत्तिकरण नामवाले सातवें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आ जाता है।

अपूर्वकरण में एक भी कर्म का उपशम नहीं होता है किन्तु इस अपूर्वकरण परिणामवाला जीव प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से परिणामों की शुद्धि को वृद्धिंगत करता रहता है। अतः अन्तर्मुहूर्त से एक-एक स्थितिखण्ड का घात करता हुआ संख्यात लाख स्थितिखण्डों का घात कर देता है और उतने प्रमाण ही स्थिति-बन्धापसरण भी करता है। इन एक-एक स्थिति-बन्धापसरणों के मध्य संख्यात हजार अनुभागखण्डकों का घात होता है और प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मपरमाणुओं की निर्जरा होती है। वह जीव अप्रशस्त कर्मांशों को नहीं बाँधता है बल्कि उनके प्रदेशाग्रों को असंख्यातगुण श्रेणीरूप से बध्यमान अन्य प्रकृतियों में संक्रमण करा देता है।

पुनः अपूर्वकरण का काल बिताकर, अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करके, अन्तर्मुहूर्त मात्र तक इसी विधि से स्थित होकर बारह कषाय और नौ नोकषायों का अन्तर करता है। इसमें अन्तर्मुहूर्त लगता है। अन्तर करने के बाद, पहले समय से ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असंख्यातगुण-श्रेणी द्वारा नपुंसक वेद का उपशम करता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त काल से नपुंसकवेदोपशम विधि से ही स्त्रीवेद का उपशम करता है। अन्तर उसी विधि के अनुसार छह नोकषायों का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ रह रहे पुंवेद का भी युगपत् उपशम कर देता है। इसमें भी अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। तदनन्तर एक समय कम दो आवली के बीत जाने पर पुरुषवेद के नवक

---

१. क स्वमुपरितेः ।

नवक-बन्धमुपशमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्ञकौ क्रोधौ क्रोधसंज्वलनं चिरन्तन-सत्कर्मणा सह युगपदुपशमयति । ततः समयोने द्वे आवल्यौ गत्वा क्रोधसंज्वलननवक-बन्धमुपशमयति । ततोऽन्त-र्मुहूर्तं गत्वा अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानमानौ असंख्यातगुणश्रेण्या मानसंज्वलनं चिरन्तनसत्कर्मणा सह युगपदुप-शमयति । ततः समयोने द्वे आवल्यौ गत्वा मानसंज्वलननवक-बन्धमुपशमयति । ततःप्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या उपशमयन्नन्तर्मुहूर्तं गत्वा द्विप्रकारां मायां मायासंज्वलनं चिरन्तनसत्कर्मणा सह युगपदुपशमयति । ततो द्वे आवल्यौ समयोने गत्वा मायासंज्वलननवकबन्धमुपशमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा द्विप्रकारं लोभं लोभसंज्वलनेन चिरन्तनसत्कर्मणा सह लोभवेदकाद्धा द्वितीयत्रिभागे सूक्ष्मां किट्टिकां मुक्त्वा शेषं बादरलोभं स्पर्द्धकगतं सर्व-नवक-बन्धोच्छिष्टावलिकवर्ज्यम् अनिवृत्तिचरमसमयेऽनिवृत्तिरुपशमयति, नपुंसकवेदमादिं कृत्वा बादरलोभ-संज्वलनम् एतेषामनिवृत्तेरुपशमकः भवति । ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिकास्वरूपं वेदलोभं वेदयन् नष्टाऽनि-वृत्तिसंज्ञो सूक्ष्मसाम्परायो भवति । ततश्चात्मनश्चरमसमये लोभसंज्वलनं सूक्ष्मकिट्टिकास्वरूपं निःशेषमुप-शमयति । तत उपशान्तकषायः वीतरागछद्मस्थो भवति । उदयोदीरणोत्कर्षणापकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणस्थित्यनु-भागखण्डकघातैर्विना स्थानमपि समन्नाम्नैव मोहनीयोपशमनविधिः । इति ।

बन्ध का उपशम करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्त के बाद अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान संज्ञक क्रोध का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम कर देता है । पुनः एक समय कम दो आवली प्रमाण काल के व्यतीत हो जाने पर, क्रोधसंज्वलन के नवक बन्ध का उपशम करता है । अनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद, अप्रत्याख्यान-मान और प्रत्याख्यान-मान का एवं चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन-मान का असंख्यात गुणश्रेणी से एक साथ उपशम करता है । इसके बाद एक समय कम दो आवली काल के अनन्तर मान के संज्वलन के नवक बन्ध का उपशम करता है । इसके बाद प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी के द्वारा अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर दो प्रकार की माया का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन-माया का एक साथ उपशम कर देता है । पुनः एक समय कम दो आवली के बीत जाने पर माया-संज्वलन के नवक बन्ध का उपशम करता है । पुनः अन्तर्मुहूर्त के बाद दो प्रकार के लोभ का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ संज्वलन लोभ का उपशम कर देता है । अथवा लोभवेदक से द्वितीय त्रिभाग में जो सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभ है उसे छोड़कर स्पर्द्धकगत सर्वबादर लोभ, जो कि सर्वनवक बन्ध की उच्छिष्टावलि से वर्जित है, का अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के अन्त समय में यह जीव उपशम कर देता है । इस तरह नपुंसकवेद से लेकर लोभसंज्वलन तक इन प्रकृतियों का यह अनिवृत्तिकरण में उपशामक होता है ।

इसके अनन्तर सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभ का अनुभव करता हुआ अनिवृत्तिसंज्ञक गुणस्थान से आगे बढ़कर सूक्ष्मसाम्पराय हो जाता है । यह जीव अपने इस गुणस्थान के चरमसमय में सूक्ष्म किट्टिका रूप संज्वलन लोभ को पूर्णतया उपशान्त कर देता है । तब उपशान्तकषाय गुणस्थान में वीतराग छद्मस्थ हो जाता है । उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थित्यनुभागखण्ड घात के बिना यह स्थान अपने नाम के अनुरूप ही है । अर्थात् इसका उपशान्त नाम सार्थक है । यह मोहनीय कर्म के उपशमन की विधि कही गयी ।

भावार्थ—चतुर्थ, पंचम, छठे या सातवें इन चार गुणस्थानों में से किसी भी एक गुण-

अथ क्षपणविधिं वक्ष्ये। क्षपणं नाम अष्टकर्मणां मूलोत्तरभेद इति न प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां जीवात् ज्योतिः तेषां विन्यास इति (?)। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वाख्याः सप्तप्रकृतीरेता असंयतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तो वा क्षपयति, किमक्रमेण नेत्याह—पूर्वं अनन्तानुबन्धिचतुष्कं त्रीन् करणान् कृत्वाऽनिवृत्तिकरणचरमसमयेऽक्रमेण क्षपयति। पश्चात्पुनरपि त्रीन् करणान् कृत्वा अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणौ द्वावतिक्रम्यानिवृत्तिकरणकालसंख्येयभागं गत्वा मिथ्यात्वं क्षपयति ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यङ्मिथ्यात्वं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यक्त्वं क्षपयति। ततोऽधःप्रवृत्तिकरणं कृत्वाऽन्तर्मुहूर्तेनापूर्वकरणो भवति स एकमपि कर्म [न] क्षपयति, किन्तु समयं प्रति असंख्येयगुणस्वरूपेण

स्थान में उपशम सम्यक्त्व[1] को प्राप्त करके यह जीव द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पुनः उपशम श्रेणी चढ़ने के सन्मुख हुआ यह जीव छठे से सातवें गुणस्थान में आकर सातिशय अप्रमत्त से अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। उपर्युक्त कथित विधि से चारित्र-मोह प्रकृतियों को उपशमाता हुआ ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान में सर्वमोह का उपशम कर देता है। यद्यपि इस उपशम विधि में अनेकों अन्तर्मुहूर्त बताये हैं। फिर भी प्रत्येक गुण-स्थान का काल अन्तर्मुहूर्त ही है और उपशमश्रेणी के चारों गुणस्थानों का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यातों भेद माने गये हैं ऐसा समझना।

अब क्षपण विधि को कहते हैं—

बन्ध के प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं। तथा ज्ञानावरण आदि मूलभेद आठ और उनके उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस हैं। इन सबका नाश करना क्षपण है। इनके नाश होने पर जीव ज्ञानज्योति स्वरूप अपने अनन्त गुणों को प्राप्त कर लेता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत मुनि क्षय कर देता है।

क्या एक साथ क्षय कर देता है?

नहीं, पहले वह अधःप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण पुनः अनिवृत्तिकरण नामक तृतीय करण के चरम समय में अनन्तानुबन्धी-चतुष्क का एक साथ क्षपण कर देता है। इसके अनन्तर पुनः अधःप्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण का समय बिताकर अनिवृत्तिकरण काल में भी संख्यात-भाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व कर्म का विनाश करता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत करके सम्यङ्मिथ्यात्व का क्षपण करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर सम्यक्त्व प्रकृति का विनाश करता है। तब उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। अर्थात् यह क्षायिक सम्यक्त्व चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी में भी हो सकता है। ये तीन करण सम्यक्त्व के लिए होते हैं।

अनन्तर छठा गुणस्थानवर्ती मुनि सातवें गुणस्थान में पहुँचकर उस अधःप्रवृत्तिकरण नामक सातवें गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त काल को व्यतीत कर अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुण-स्थान प्राप्त कर लेता है। वह अपूर्वकरण मुनि एक भी कर्म का क्षपण नहीं करता है, किन्तु समय-समय के प्रति असंख्यातगुणरूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा करता है। अन्तर्मुहूर्त

---

1. विचारणीय है।

प्रदेशनिर्जरां करोति, अन्तर्मुहूर्तेनैकैकस्थितिखण्डकं घातयन्नात्मनः कालाभ्यन्तरे असंख्यातसहस्राणि स्थितिखण्डकानि घातयति, तावन्मात्राणि च स्थितिबन्धापसरणानि करोति, तेभ्य एव संख्यातसहस्रगुणानुभागखण्डकघातान् करोति, यत एकानुभागखण्डकोत्कीर्णकालादेकस्य स्थितिखण्डकोत्कीर्णकालः संख्यातगुण इति। एवंविधं कृत्वाऽनिवृत्तिगुणस्थानम् प्रविश्यानिवृत्तिसंख्यातभागोऽपूर्वकरणविधानेन गमयित्वाऽनिवृत्तिकालसंख्यातिभागे शेषे स्त्यानगृद्धित्रय-नरकगति-तिर्यग्गत्येकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञकाः षोडशप्रकृतीः क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभान् क्रमेण क्षपयति। स एष कर्मप्राभृतस्योपदेशः, कषायप्राभृतोपदेशः। पुनः अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पश्चादन्तर्मुहूर्तं गत्वा षोडशकर्माणि द्वादश वा क्षपयत्यत उपदेशौ ग्राह्यौ द्वावप्यवद्यभीरुभिरिति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा चतुर्णां संज्वलनानां नवानां नोकषायाणाम् अन्तरं करोति, सोदयानामन्तर्मुहूर्तमात्रं प्रथमस्थितिं स्थापयति अनुदयानां समयोनावलिकामात्रां प्रथमस्थितिं स्थापयति। ततोऽन्तरं कृत्वाऽन्तर्मुहूर्तेन नपुंसकवेदं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा स्त्रीवेदं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा षण्णोकषायाणां वेदं चिरन्तनसत्कर्मणा सह वेदविद्द्विचरमसमये युगपत् क्षपयति। तत आवलीमात्रकालं गत्वा पुंवेदं क्षपयति,

---

काल के भीतर ही असंख्यात हजार स्थितिखण्डों का घात कर देता है और वह उतने मात्र ही स्थितिबन्धापसरणों को कर लेता है। उनसे भी असंख्यात हजार गुणे अनुभागखण्डों का घात करता है, क्योंकि एक अनुभागखण्डकोत्कीर्ण काल से एकस्थितिखण्डकोत्कीर्ण काल संख्यात गुणा अधिक होता है।

यह विधि करके वह मुनि अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थान में प्रवेश करके इस गुणस्थान का संख्यातभाग काल अपूर्वकरण के विधान से ही बिताकर, पुनः अनिवृत्तिकरण का संख्यातभाग काल शेष रह जाने पर, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगति प्रयोग्यानुपूर्व्य, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर देता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत कर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों का क्रम से क्षपण करता है—सो यह 'कर्मप्राभृत' ग्रन्थ का उपदेश है, किन्तु 'कषायप्राभृत' का का ऐसा उपदेश है कि आठ कषायों का नाश कर देने पर पुनः अन्तर्मुहूर्त काल के अनन्तर सोलह कर्म प्रकृतियों का अथवा बारह कर्मों का नाश करता है। पापभीरु भव्यों को इन दोनों उपदेशों को ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् केवली या श्रुतकेवली के अभाव में आज दोनों में से एक का सही निर्णय नहीं हो सकता है अतः हम और आपके लिए दोनों ही उपदेश प्रमाण के योग्य हैं।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर चार संज्वलन और नौ नोकषायों का अन्तर करता है—उदय सहित कर्मों को अन्तर्मुहूर्त मात्र प्रथम स्थिति में स्थापित करता है और जिनका उदय नहीं है ऐसे अनुदयकर्मों (संज्वलन और नौ नोकषायों) को एक समय कम आवलिमात्र प्रथम स्थिति में स्थापित करता है। इसके बाद अन्तर करके अन्तर्मुहूर्त काल से नपुंसकवेद का क्षपण करता है। इसके अन्तर्मुहूर्त काल के बाद स्त्रीवेद का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर छह नोकषायों का और चिरन्तन सत्कर्म के साथ वेद का सवेद भाग के द्विचरम समय में युगपत् विनाश कर देता है। पुनः आवलीमात्र काल के बाद पुंवेद का क्षपण करता है। पुनः

ततोऽन्तर्मुहूर्तेन क्रोधसंज्वलनं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तेन मानसंज्वलनं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तेन मायासंज्वलनं क्षपयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं प्रतिपद्यते। एतेषु सोऽपि सूक्ष्मसाम्परायमात्मनश्चरमसमये किट्टिकागतं सर्वं लोभसंज्वलनं क्षपयति। ततोऽनन्तरं क्षीणकषायो भवति। सोऽप्यन्तर्मुहूर्तं गमयित्वा आत्मनो द्विचरमसमये निद्राप्रचलासंज्ञके द्वे प्रकृती क्षपयति। ततोऽनन्तरं चरमसमये पंचज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणपंचान्तरायाख्याश्चतुर्दश प्रकृतीः क्षयपति। एतेषु त्रिषष्टिकर्मसु क्षीणेषु सयोगिजिनो भवति। ॥१२४८॥

सयोगिकेवली भट्टारको न किंचिदपि कर्म क्षपयति ततः। क्रमेण विहृत्य योगनिरोधं कृत्वा अयोगिकेवली भवति स यत्कर्म क्षपयति तन्निरूपयन्नाह—

तत्तोरालियदेहो णामा गोदं च केवली युगवं।
आऊण वेदणीयं चदुहिं खिविइत्तु णीरओ होइ ॥१२४९॥

तत ऊर्ध्वं अयोगिकेवली औदारिकशरीर सनिःश्वास एवाय नामगोत्रे कर्मणी आयुर्वेदनीयं च युगपत् क्षपयित्वा नीरजाः सिद्धो भवति। विशेषमाह—अयोगिकेवली आत्मकाद्विचरमसमयेऽनुदय-

---

अन्तर्मुहूर्त काल से क्रोधसंज्वलन का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल से मानसंज्वलन का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त से मायासंज्वलन का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है।

इस दशवें गुणस्थान में वह चरमसमय में किट्टिकागत सम्पूर्ण लोभसंज्वलन का क्षय कर देता है। इसके अन्तर वह क्षीणकषाय निर्ग्रन्थ हो जाता है। वहाँ पर भी वह अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत करके अपने इस बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का क्षपण करता है। इसके बाद अन्तिम—चरमसमय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का विनाश करता है। इस प्रकार इन त्रेसठ कर्मप्रकृतियों के सर्वथा विनष्ट हो जाने पर वह मुनि सयोगी जिन केवली हो जाता है।

भावार्थ—चतुर्थ, पंचम, छठे या सातवें इन में से किसी भी गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके कोई भी जीव छठे गुणस्थान से सातवें में पहुँचकर, पुनः आठवें में प्रवेश कर क्षपक श्रेणी में आरोहण करके चारित्रमोह का क्षय करता हुआ दसवें में पूर्णतया मोह का विनाश करके, बारहवें में पहुँचकर शेष तीन घातिया और १६ अघातिया प्रकृतियों का ऐसे कुल त्रेसठ प्रकृतियों का विनाश करके केवलज्ञान को प्राप्त कर तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है।

सयोग केवली भट्टारक कोई भी कर्म का क्षपण नहीं करते हैं, वे क्रम से विहार करके योगनिरोध करके अयोगकेवली हो जाते हैं। वे जिन कर्मों का क्षपण करते हैं, उनका निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—इसके अनन्तर केवली भगवान् एक साथ औदारिक शरीर, नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चारों कर्मों का क्षय करके कर्मरजरहित हो जाते हैं॥१२४९॥

आचारवृत्ति—इसके पश्चात् वे अयोगकेवली भगवान् निश्वास सहित औदारिक शरीर, नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन कर्मों का एक साथ क्षय करके रजरहित सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

वेदनीय-देवगतिपंचशरीरपंचसंघातपंचशरीरबन्धनषट्संस्थानत्र्यंगोपांगषट्संहननपंचवर्णद्विगन्धपंचरसाष्टस्पर्श-देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासद्विविहायोगत्यपर्याप्तस्थिरास्थिरशुभाशुभ-सुभगदुर्भगसुस्वर-दुःस्वरानादेयायशःकीर्ति-निर्माण-नीचैर्गोत्राणि एता द्वासप्ततिप्रकृतीः क्षपयति। ततोनन्तरं सोदयवेदनीय-मनुष्यायुर्मनुष्यगतिपंचेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यत्रसबादरपर्याप्तोच्चैर्गोत्रप्रत्येकतीर्थंकरनामादेययशः-कीर्तिसंज्ञकास्त्रयोदश प्रकृतीश्चरमसमये क्षपयति। ततो द्रव्यरूपमौदारिकशरीरं त्यक्त्वा नीरजा निर्मलः सिद्धो-निर्लेपः सर्वद्वन्द्वरहितोऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यसमन्वितोऽक्षयो युगपत्सर्वद्रव्यपर्यायावभासकोऽनन्तगुणाधारः परमात्मा भवतीति ॥१२४६॥*

इतिश्रीमदाचार्यवर्यवट्टकेरिप्रणीतमूलाचारे श्रीवसुनन्दिप्रणीत-
टीकासहिते द्वादशोऽधिकारः ॥१२॥

इसीका विशेष कथन करते हैं—अयोग केवली भगवान् अपने चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में उदयरहित वेदनीय, देवगति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगति, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निमान और नीच-गोत्र इन बहत्तर प्रकृतियों का नाश करते हैं। इसके अनन्तर चरमसमय में उदयसहित वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, त्रस, बादर, पर्याप्त, उच्चगोत्र, प्रत्येकशरीर, तीर्थंकर नाम, आदेय और यशस्कीर्ति इन तेरह प्रकृतियों का क्षय करते हैं। इसके अनन्तर द्रव्यरूप औदारिक शरीर को छोड़कर नीरज, निर्मल, सिद्ध, निर्लेप, सर्वद्वन्द्वों से रहित, अनन्तज्ञान दर्शन सुख और वीर्य इन अनन्त चतुष्टयों से समन्वित, अक्षय, युगपत् सर्वद्रव्य और पर्यायों को अवभासित करनेवाले और अनन्तगुणों के आधारभूत परमात्मा हो जाते हैं।

इति श्री वसुनन्दि आचार्य द्वारा प्रणीत टीका से सहित श्रीमान् आचार्यवर्य वट्टकेरि स्वामी
प्रणीत मूलाचार में बारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥१२॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अन्त में दो गाथाएं और हैं—

एसो मे उवदेसो संखेवेण कहिदो जिणक्खादो।
सम्मं भावेदव्वो दायव्वो सव्वजीवाणं॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित यह उपदेश मैंने संक्षेप में कहा है। हे शिष्यगण! तुम लोग मन-वचन-काय की एकाग्रतापूर्वक इस उपदेश की भावना करो और इसे सभी जीवों को प्रदान करो।

दइदूण सव्वजीवे दमिदूण या इंदियाणि तह पंच।
अट्ठविहकम्मरहिया णिव्वाणमणुत्तरं जाध॥

अर्थ—हे मुनिगण! तुम सभी जीवों पर दया करके तथा स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों का दमन करके, आठ प्रकार के कर्मों से रहित होकर सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद प्राप्त करो।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचिते मूलाचारे एकादशः पर्याप्त्यधिकारः।

स्रग्धरावृत्तम्

वृत्तिः सर्वार्थसिद्धिः सकलगुणनिधिः सूक्ष्मभावानुवृत्ति-
राचारस्याप्तनीतेः[1] परमजिनपतेः ख्यातनिर्देशवृत्तेः ।
शुद्धैर्वाक्यैः सुसिद्धा कलिमलमथनी कार्यसिद्धिर्मुनीनां
स्थेयाज्जैनेन्द्रमार्गे चिरतरमवनौ वासुनन्दी शुभा वः ॥

इति[2] मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः । इति कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः ।
कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य ।

सम्पूर्ण अर्थों को सिद्ध करनेवाली, सकल गुणों, निधि, सूक्ष्म भावों को प्रकट करने वाली, जिन्होंने आचार की नीति—पद्धति को प्राप्त कर लिया है और सम्यक्चारित्र का निर्देश किया है ऐसे परम जिनेन्द्रदेव के शुद्ध—निर्दोष वाक्यों से सुसिद्ध, कलि के मल का मथन करने वाली और मुनियों के कार्य को सिद्ध करनेवाली यह वसुनन्दि आचार्य द्वारा रची गयी तात्पर्यवृति नामक टोका चिरकाल तक श्री जिनेन्द्रदेव के शासन मे स्थायीभाव को प्राप्त हो और इस पृथ्वीतल पर आप सबके लिए कल्याणकारी हो।

इस प्रकार से मूलाचार की विवृत्ति में बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ। यह
श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचार नामक ग्रन्थ की विवृति है
और श्री श्रमण वसुनन्दि आचार्य की कृति है।

---

१. क स्याप्तनीते ।

२. द इति मूलाचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां द्वादश परिच्छेदः समाप्तः ।

परिशिष्ट १

[मूलाचार का यह संस्करण दि० जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा, दिल्ली की मुद्रित प्रति के आधार पर संशोधित, सम्पादित तथा अनूदित किया गया है। उस प्रति के अन्त में ७० श्लोकों की एक प्रशस्ति भी मुद्रित है जो श्रुतपंचमी व्रत के उद्यापन के समय मेधावी पण्डित द्वारा रची गयी थी। काव्य-रचना सुन्दर है अतः उसका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है। यह प्रशस्ति वि० संवत् १५१६ में लिखित हुई थी।]

अथ प्रशस्ति-पाठः

प्रणमामि महावीरं सिद्धं शुद्धं जिनेश्वरम् ।
यस्य ज्ञानाम्बुधौ भाति जगद्विन्दूपमं स्थितम् ॥ १ ॥
कृतात्मनो जना यत्र कर्म प्रक्षिप्य हेलया ।
रमन्ते मुक्तिलक्ष्मीं तज्जैनं जयति शासनम् ॥ २ ॥
जयन्तु गौतमस्वामिप्रमुखा गणनायकाः ।
सूरयो जिनचन्द्रान्ताः श्रीमन्तः क्रमदेशकाः ॥ ३ ॥
वर्षे षडेकपंचैक (१५१६) पूरणे विक्रमाद्गते: ।
शुक्ले भाद्रपदे मासे नवम्यां गुरुवासरे ॥ ४ ॥
श्रीमद्वट्टेरकाचार्यकृतसूत्रस्य सद्विधेः ।
मूलाचारस्य सद्वृत्तेर्दातुर्नामावलीं ब्रुवे ॥ ५ ॥

अथ-

श्रीजम्बूपपदे द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके ।
कुरुजांगलदेशोऽस्ति यो देशः सुखसम्पदाम् ॥ ६ ॥
तत्रास्ति हस्तिना नाम्ना नगरी नागरीयसी ।
शान्तिकुंथ्वरतीर्थेशा यत्रासन्निन्द्रवंदिताः ॥ ७ ॥

जिनके ज्ञान-सागर में स्थित जगत् बिन्दु के समान सुशोभित होता है उन सिद्ध, शुद्ध महावीर जिनेन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ।॥१॥ जिसमें कुशल मनुष्य—आत्मज्ञान से युक्त जन—अनायास ही कर्मक्षय कर मुक्तिलक्ष्मी के साथ क्रीड़ा करते हैं वह जैन शासन जयवन्त प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्ट है।॥२॥ गौतम स्वामी आदि गणधर और कालक्रम से देशना करनेवाले जिनचन्द्र पर्यन्त के श्रीमान् आचार्य जयवन्त प्रवर्तें ॥३॥ विक्रम से १५१६ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भाद्र मास शुक्ल पक्ष नवमी तिथि गुरुवार के दिन, मुनियों के आचार का सम्यक् प्रकार से निरूपण करनेवाले, तथा समीचीन आचारवृत्ति—वसुनन्दि आचार्य विरचित संस्कृत टीका से सहित, श्रीमान् वट्टकेर आचार्य रचित गाथा-सूत्रों से सहित मूलाचार की प्रति का दान करनेवाले—दाता की नामावली कहता हूँ ॥४-५॥

तदनन्तर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सुखदायक सम्पदाओं का निवासभूत जो कुरुजांगल नाम का देश है उसमें लक्ष्मी से श्रेष्ठ हस्तिनापुर नाम की वह नगरी है जिसमें इन्द्रों के द्वारा वन्दित शान्ति

विद्यते तत्समीपस्था श्रीमती योगिनीपुरी ।
यां पाति पातिसाहिश्रीर्बहलोलाभिधो नृपः ॥ ८ ॥

तस्याः प्रत्यग्दिशि ख्यातं श्रीहिसारपिरोजकम् ।
नगरं नगरंभादिवल्लीराजिविराजितम् ॥ ९ ॥

तत्र राज्यं करोत्येष श्रीमान् कुतबखानकः ।
तथा हैबतिखानश्च दाता भोक्ता प्रतापवान् ॥ १० ॥

अथ श्रीमूलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽनघेऽजनि ।
बलात्कारगणस्तत्र गच्छः सारस्वतस्त्वभूत् ॥ ११ ॥

तत्राजनि प्रभाचन्द्रः सूरिचन्द्रो जितांगजः ।
दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यसमन्वितः ॥ १२ ॥

श्रीमान् बभूव मार्तण्डस्तत्पट्टोदयभूधरे ।
पद्मनन्दी बुधानन्दी तमश्छेदी मुनिप्रभुः ॥ १३ ॥

तत्पट्टाम्बुधिसच्चन्द्रः शुभचन्द्रः सतां वरः ।
पंचाक्षवनदावाग्निः कषायक्ष्माधराशनिः ॥ १४ ॥

तदीयपट्टाम्बरभानुमाली
क्षमादिनानागुणरत्नशाली ।
भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामा
सैद्धान्तिकानां भुवि योऽस्ति सीमा ॥ १५ ॥

स्याद्वादामृतपानतृप्तमनसो यस्यातनोत् सर्वतः
कीर्तिर्भूमितले शशांकधवला सज्ज्ञानदानात् सतः ।

कुन्थु और अरनाथ तीर्थंकर हुए थे ॥६-७॥ उस हस्तिनापुर के समीप शोभा सम्पन्न योगिनीपुरी नाम की वह नगरी है जिसकी रक्षा बहलोल नाम का बादशाह करता है ॥८॥ उस योगिनीपुरी की पश्चिम दिशा में हिसार पिरोजक नाम का प्रसिद्ध नगर है जो केले आदि के वृक्षों तथा लताओं के समूह से सुशोभित है ॥९॥ वहाँ श्रीमान् कुतबखान तथा दानी, योगी एवं प्रतापी हैबतिखान राज्य करता है ॥१०॥

तदनन्तर इस मूलसंघ और निष्कलंक नन्दिसंघ में बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ हुआ ॥११॥ उसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य से सहित कामविजयी प्रभाचन्द्र नाम के आचार्य हुए ॥१२॥ उनके पट्टरूपी उदयाचल पर विद्वज्जनों को हर्षित करनेवाले तथा अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाले श्रीमान् पद्मनन्दी नामक मुनिराज हुए ॥१३॥ उनके पट्टरूपी समुद्र को उल्लसित करने के लिए चन्द्रमा स्वरूप वह शुभचन्द्र हुए जो सज्जनों में श्रेष्ठ, पंचेन्द्रिय रूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल और कषाय रूपी पर्वत को नष्ट करने के लिए वज्रस्वरूप थे ॥१४॥ उनके पट्टरूपी आकाश पर सूर्य स्वरूप, तथा क्षमा आदि अनेक गुण-रूपी रत्नों से शोभायमान श्री जिनचन्द्र नामक भट्टारक हुए, जो पृथ्वी में सिद्धान्तज्ञ मनुष्यों की मानो सीमा ही थे अर्थात् सिद्धान्त के श्रेष्ठतम ज्ञाता थे ॥१५॥ स्याद्वाद रूपी अमृत के पान से जिनका मन सन्तुष्ट था, जो चार्वाक आदि मतों के प्रवादी मनुष्य रूप अन्धकार को

चार्वाकादिमतप्रवादितिमिरोष्णांशोर्मुनीन्द्रप्रभोः
सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य जयतात् संघो हि कल्याणदः ॥ १६ ॥

तच्छिष्या बहुशास्त्रज्ञा हेयादेयविचारकाः ।
शमसंयमसम्पूर्णा मूलोत्तरगुणान्विताः ॥ १७ ॥

जयकीर्तिश्चारुकीर्तिर्जयनन्दी मुनीश्वरः ।
भीमसेनादयोऽन्ये च दशधर्मधरा वराः ॥ १८ ॥ युग्मं ॥

अस्ति देशव्रताधारी ब्रह्मचारी गणाग्रणीः ।
नरसिंहोऽभिधानेन नानाग्रन्थार्थपारगः ॥ १९ ॥

तथा भूरिगुणोपेतो भूरानामा महत्तमः ।
श्रीमानश्वपतिश्चान्यः सुमतिर्गुरुभक्तिकृत् ॥ २० ॥

अन्यो नेमाभिधानोऽस्ति नेमिर्धर्मरथस्य यः ।
परस्तीकमसंज्ञश्च ज्ञातयज्ञोऽस्तमन्मथः ॥ २१ ॥

भवांगभोगनिर्विण्णस्तिहुणाख्योऽपरो मतः ।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतः कषायदववारिदः ॥ २२ ॥

ढाकाख्यो ब्रह्मचार्यस्ति संयमादिगुणालयः ।
सर्वे ते जिनचन्द्रस्य सूरेः शिष्या जयन्त्विह ॥ २३ ॥

श्रीमान् पंडितदेवोऽस्ति दाक्षिणात्यो द्विजोत्तमः ।
यो योग्यः सूरिमंत्राय वैयाकरणतार्किकः ॥ २४ ॥

अग्रोतवंशजः साधुर्लवदेवाभिधानकः ।
तत्सुतो धरणः संज्ञा तद्भार्या भीषुही मता ॥ २५ ॥

नष्ट करने के लिए सूर्य थे तथा मुनिराजों के प्रभु थे ऐसे सत्पुरुष जिन, जिनचन्द्र भट्टारक की सम्यग्ज्ञान के दान से उत्पन्न चन्द्रोज्ज्वल कीर्ति पृथ्वीतल पर फैल रही थी, उन आचार्य जिनचन्द्र भट्टारक का निष्कलंक संघ जयवन्त प्रवर्ते ॥१६॥ उनके जयकीर्ति, चारुकीर्ति, मुनिराज जयनन्दी तथा भीमसेन आदि अन्य अनेक शिष्य थे, जो अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे, हेय-उपादेय का विचार करने वाले थे, शान्ति तथा संयम से परिपूर्ण थे, मूल एवं उत्तर गुणों से सहित थे और दशधर्मों के उत्कृष्ट धारक थे ॥१७-१८॥ उनके शिष्यों में कुछ देशव्रत के धारक भी थे, जैसे अपने गण में प्रमुख तथा नाना ग्रन्थों के अर्थ के पारगामी नरसिंह, बहुत भारी गुणों से सहित, श्रेष्ठतम भूरा, श्रीमान् अश्वपति, गुरुभक्त सुमति, धर्मरूपी रथ के नेमि स्वरूप नेम, यज्ञ के ज्ञाता मदनविजयी तीकम (टीकम), संसार, शरीर और भोगों से विरक्त तिहुण, सम्यक्त्व आदि गुणों से सहित एवं कषाय रूप दावानल को शान्त करने के लिए मेघ, तथा संयमादि गुणों के घर ब्रह्मचारी ढाका। जिनचन्द्र आचार्य के ये सब शिष्य यहाँ जयवन्त रहें ॥१९-२३॥ श्रीमान् पण्डित देव दाक्षिणात्य उत्तम ब्राह्मण थे, जो सूरिमन्त्र के लिए योग्य थे। तथा व्याकरण और तर्क शास्त्र के ज्ञाता थे ॥२४॥ अग्रोतवंश में उत्पन्न लवदेव नाम के एक सज्जन थे। उनके धरण नाम का पुत्र था तथा धरण की स्त्री का नाम भीषुही था ॥२५॥ उनके सीहू नाम का पण्डित तथा श्रावक के व्रतों को

तत्पुत्रो जिनचन्द्रस्य पादपंकजषट्पदः ।
मीहाख्यः पण्डितस्तस्त्वस्ति श्रावकव्रतभावकः ॥ २६ ॥

तदन्वयेऽथ खंडेलवंशे श्रेष्ठीसगोत्रके ।
पद्मावत्याः समाम्नाये यक्ष्याः पार्श्वजिनेशिनः ॥ २७ ॥

साधुः श्रीमोहणाख्योऽभूत् संघभारधुरंधरः ।
तत्पुत्रो रावणो नाम पंचाणुव्रतपालकः ॥ २८ ॥

तस्य पुत्रौ समुत्पन्नौ पार्श्वचोचाभिधानकौ ।
कल्पवृक्षसमौ दाने जिनपादाब्जषट्पदौ ॥ २९ ॥

साधोः पार्श्वस्य भार्याऽभूदाद्या पद्मिनिसंज्ञिका ।
पद्मनाभस्य पद्मेव सती पद्मानना मता ॥ ३० ॥

सूहोनाम्नी द्वितीयाभूद्या सौभाग्येन पार्वती ।
रतिं रूपेण शीलेन सीतां जितवती सती ॥ ३१ ॥

सा, धन्याः सन्ति पद्मिन्यास्त्रयः पुत्रा हितावहाः ।
रूपवन्तः कलावन्तो दयावन्तः प्रियंवदाः ॥ ३२ ॥

तत्राद्यः साधुभीमाख्यो निजवंशविभूषणः ।
उपार्जयति वित्तं यः पात्रदानाय केवलम् ॥ ३३ ॥

रुक्मिणी नामनी तस्य गेहिनी शीलशालिनी ।
स्ववाचा कोकिला जिग्ये कान्त्या भा सवितुर्यया ॥ ३४ ॥

चत्वारः सन्ति तत्पुत्रास्तोल्हातेघाभिधानकौ ।
भोजाषिउराजनामानौ प्रफुल्लकमलाननाः ॥ ३५ ॥

धारण करनेवाला पुत्र हुआ। यह मीह, जिनचन्द्र आचार्य के चरण कमलों का भ्रमर था ॥२६॥ उसके खण्डेलवाल वंश, श्रेष्ठी गोत्र तथा पार्श्वनाथ भगवान् की यक्षी पद्मावती की आम्नाय में संघ का भार-धारण करनेवाला साहु मोहन नाम का पुत्र हुआ। उसके पाँच अणुव्रतों का पालन करनेवाला एक रावण नाम का पुत्र हुआ ॥२७-२८॥ रावण के पार्श्व और चोचा नामक दो पुत्र हुए, जो दान देने में कल्पवृक्ष के समान थे और जिनेन्द्र भगवान् के चरण-कमलों के भ्रमर थे अर्थात् जिनभक्त थे ॥२९॥ साहु पार्श्व की प्रथम पत्नी का नाम पद्मिनी था। यह कमलमुखी पद्मिनी, विष्णु की पत्नी—लक्ष्मी के समान सती थी ॥३०॥ साहु पार्श्व की द्वितीय पत्नी सूहो नाम की थी। वह सौभाग्य से पार्वती थी। रूप से रति को और शील से सीता को जीतनेवाली थी ॥३१॥ पद्मिनी के हितकारक, रूपवन्त, कलावन्त, दयावन्त और मधुरभाषी भाग्यशाली तीन पुत्र हुए ॥३२॥ उनमें पहला पुत्र साहु भीम था, जो अपने वंश का आभूषण था तथा पात्रदान के लिए धन का उपार्जन करता था ॥३३॥ उसकी रुक्मिणी नाम की शीलवती स्त्री थी। रुक्मिणी ने अपनी वाणी से कोयल को तथा कान्ति से सूर्य की प्रभा को जीत लिया था ॥३४॥ उसके चार पुत्र हुए—१. तोल्हा २. तेघा ३. भोज और ४. खिउराज। ये चारों पुत्र खिले हुए कमल के समान मुखवाले

तोल्हाख्यस्य मता भार्या तोल्हश्रीः श्रीनिवासिनी ।
साढाभिधोऽस्ति तत्पुत्रो दीर्घायुः स भवेदिह ॥ ३६ ॥

पत्नी तेजाभिधानस्य तेजश्रीर्लज्जयान्विता ।
भोजाख्यस्य तथा भार्या भोजश्रीर्भक्तिकारिणी ॥ ३७ ॥

पार्श्वसाधोर्द्वितीयोऽस्ति खेतानामा तनूद्भवः ।
श्रीमान्विनयसम्पन्नः सज्जनानन्ददायकः ॥ ३८ ॥

गेहिनी तस्य नीकाख्या रतिर्वा मन्मथस्य वै ।
या जिगाय स्वनेत्राभ्यां स्फुरद्भ्यां चकितां मृगीम् ॥ ३९ ॥

तस्याः पुत्रोऽस्ति षीमाख्यो विद्याधारः प्रियंवदः ।
ज्ञातीनानन्दयामास विनयादिगुणेन यः ॥ ४० ॥

पार्श्वपुत्रस्तृतीयोऽस्ति नेमाख्यो नियमालयः ।
देवपूजादिषट्कर्मपद्मिनीखण्डभास्करः ॥ ४१ ॥

साभूनाम्नी तु तज्जाया रूपलज्जावती सती ।
वस्तासुरजनौ तस्याः सुतौ जनमनोहरौ ॥ ४२ ॥

पार्श्वभार्या द्वितीया या सूहोनाम्नीति तत्सुतः ।
ईसराह्वो कलावासः कलुषापेतमानसः ॥ ४३ ॥

साधुचोषाभिधानस्य स्ववंशाम्बरभास्करः (स्वतः) ।
भाऊनाम्न्यास्ति सद्भार्या शीलानेककलालया ॥ ४४ ॥

तस्या अंगरुही ख्यातौ सत्यभूषाविभूषितौ ।
लक्ष्मीवन्तौ महान्तौ तौ पात्रदानरतौ हितौ ॥ ४५ ॥

थे ॥३५॥ तोल्हा की स्त्री का नाम तोल्हश्री था । तोल्हश्री लक्ष्मी का निवास थी—अत्यन्त सुन्दर थी । उसके साढा नाम का दीर्घायुष्क पुत्र हुआ ॥३६॥ तेजा की तेजश्री नाम की लजीली स्त्री थी तथा भोजा की भोजश्री नाम की भक्त स्त्री थी ॥३७॥ पार्श्व साहु के एक खेता नाम का द्वितीय पुत्र था, जो श्रीमान् था, विनय से सम्पन्न था तथा सज्जनों को आनन्द देनेवाला था ॥३८॥ खेता की स्त्री का नाम नीका था, जो कामदेव की स्त्री रति के समान जान पड़ती और जिसने अपने चंचल नेत्रों से भयभीत मृगी को जीत लिया था । ॥३९॥ उस नीका के षीमा नाम का पुत्र हुआ जो विद्याओं का आधार था, प्रियभाषी था और विनयादि गुणों से कुटुम्ब के लोगों को आनन्दित करता था ॥४०॥ पार्श्व साहु का तीसरा पुत्र नेमा था, जो नियमों व्रतों का आलय था, और देवपूजा आदि षट्कर्म रूपी कमलिनियों के समूह को विकसित करने के लिए सूर्य स्वरूप था ॥४१॥ उसकी स्त्री का नाम साभू था । साभू रूपवती, लज्जावती तथा शीलवती थी । उसके वस्ता और सुरजन नाम के दो पुत्र हुए जो मनुष्यों के मन को हरण करने वाले थे ॥४२॥ पार्श्व साहु की सूहो नाम की द्वितीय स्त्री थी, उसके ईसर नाम का पुत्र हुआ, जो कलाओं का निवास था और जिसका मन पाप से रहित था ॥४३॥ अपने वंश रूपी आकाश के सूर्य स्वरूप साहु चोषा की भाऊ नाम की भार्या थी जो शील-पातिव्रत्य तथा अनेक कलाओं की घर थी ॥४४॥ उसके दो प्रसिद्ध पुत्र थे, जो सत्य रूपी आभूषण से विभूषित, लक्ष्मीवन्त, महन्त, पात्रदान में रत तथा हितकारी थे ॥४५॥ उन दोनों में पहला

तयोराद्योऽस्ति संघेशो नृसिंहः पद्मसिंहकः ।
चकार नेमिनाथस्य यात्रां यो दुःखहारिणीम् ॥ ४६ ॥

तत्कलत्रं लसद्गात्रं पद्मश्रीर्नाम कामदम् ।
गृहे पात्रे समायाते अदानन्दयत चिरम् ॥ ४७ ॥

तस्य पुत्रास्त्रयः सन्ति दीर्घायुषो भवन्तु ते ।
हेमराजो गजमल्लोऽपरः श्रवणसंज्ञकः ॥ ४८ ॥

चोखापुत्रो द्वितीयोऽस्ति रूल्हानामा गुणाकरः ।
रूल्हश्रीर्महिला तस्य देवराजाख्य अंगजः ॥ ४९ ॥

एतैः श्रीसाधुपार्श्वस्य चोखाख्यस्य च कायजैः ।
वसद्भिर्झुंझणुस्थाने रम्ये चैत्यालयैर्वरैः ॥ ५० ॥

चाहमानकुलोत्पन्ने राज्यं कुर्वति भूपतौ ।
श्रीमत्समसखानाख्ये (?) न्यायान्यायविचारके ॥ ५१ ॥

सूरिश्रीजिनचन्द्रस्य पादपंकजषट्पदैः ।
साधुभीमादिभिः सर्वैः साधुपद्मादिभिस्तथा ॥ ५२ ॥

कारितं श्रुतपंचम्यां महदुद्यापनं च तैः ।
श्रीमद्देशव्रताधारिनरसिंहोपदेशतः ॥ ५३ ॥ चतुष्कलं ।

तदा तैर्जिनबिम्बानामभिषेकपुरस्सरा ।
कारितार्चा महाभक्त्या यथायुक्ति च सोत्सवा ॥ ५४ ॥

भृंगारकलशादीनि जिनावासेषु पंचसु ।
क्षिप्तानि पंच पंचैव चैत्योपकरणानि च ॥ ५५ ॥

पद्मसिंह था जो संघ का स्वामी एवं मनुष्यों में श्रेष्ठ था तथा जिसने नेमिनाथ भगवान् की दुःखहारिणी यात्रा की थी अर्थात् संघ सहित गिरिनार की यात्रा की थी ॥४६॥ उसकी स्त्री का नाम पद्मश्री था। पद्मश्री का शरीर अत्यन्त सुन्दर और काम को देने वाला था। घर पर पात्र के आने पर जो चिरकाल तक उसे आनन्दित करती थी तथा स्वयं आनन्द का अनुभव करती थी ॥४७॥ उसके दीर्घायुवाले तीन पुत्र थे—१. हेमराज, २. गजमल्ल और ३. श्रवण ॥४८॥ चोखा के रूल्हा नाम का द्वितीय पुत्र था जो गुणों की खान था, रूल्हश्री नाम की उसकी स्त्री थी और देवराज नाम का पुत्र था ॥४९॥ श्री साधु पार्श्व और चोखा के ये पुत्र उत्तम जिनमन्दिरों से मनोहर झुंझनू नामक नगर में रहते थे। जब चाहमान कुल में उत्पन्न, न्याय-अन्याय का विचार करनेवाला समसखान नाम का श्रीमान् राजा राज्य कर रहा था, तब आचार्य श्री जिनचन्द्र के चरणकमलों के भ्रमर इन साहु भीमा आदि तथा साधु पद्मा आदि ने देशव्रत के धारक श्रीमान् नरसिंह के उपदेश से श्रुतपंचमी के अवसर पर बड़ा भारी उद्यापन कराया ॥५०-५३॥ उस समय उन्होंने बड़ी भक्ति से युक्ति सहित तथा उत्सवों के साथ जिन-प्रतिमाओं की अभिषेक पूर्वक पूजा कराई ॥५४॥ पाँच जिन-मन्दिरों में पाँच-पाँच भृंगार-कलश आदि तथा छत्र-चमर आदि

एतच्छास्त्रादिभक्त्या तैर्ज्ञानदानमदायि च।
ब्रह्मश्रीनरसिंहाख्यतिहुणादियतीशिने ॥ ५६ ॥

चतुर्विधाय संघाय सदाहारश्चतुर्विधः ।
प्रादाय्यौषधदानं च वस्त्रोपकरणादि च ॥ ५७ ॥

मित्रयाचकहीनेभ्यः प्रीतितुष्टिकृपादि च ।
दानं प्रदत्तमित्यादि धन्यव्ययो व्यधायि तैः ॥ ५८ ॥

इत्थं सप्तक्षेत्र्यां वपते यो दानमात्मनो भक्त्या ।
लभते तदनन्तगुणं परत्र सोऽत्रापि पूज्यः स्यात् ॥ ५९ ॥
एतच्छास्त्रं लेखयित्वा हिसाराद्यानाय्य स्वोपार्जितेन स्वरायाः ।
संघेशश्रीपद्मसिंहेन भक्त्या सिद्धान्ताय श्रीनराय प्रदत्तम् ॥ ६० ॥

यो दत्ते ज्ञानदानं भवति हि स नरो निर्जराणां प्रपूज्यो,
भुक्त्वा देवांगनाभिर्विषयसुखमनुप्राप्य मानुष्यजन्म ।
भुक्त्वा राज्यस्य सौख्यं भवतनुज (?) सुखान्निस्पृहीकृत्य चित्तं,
लात्वा दीक्षां च बुद्ध्वा श्रुतमपि सकलं ज्ञानमन्त्यं लभेत ॥ ६१ ॥
ज्ञानदानाद्भवेज्ज्ञानी सुखी स्याद्भोजनादिह ।
निर्भयोऽभयतो जीवो नीरुगौषधदानतः ॥ ६२ ॥
धर्मतः सकलमंगलावली धर्मतो भवति मुंडकेवली ।
धर्मतो जिनसुचक्रभृद्बली नाथतद्रिपुमुखो नरो बली ॥ ६३ ॥

प्रतिमाओं के पाँच-पाँच उपकरण स्थापित किये । ब्रह्मश्री (ब्रह्मचारी) नरसिंह तथा तिहुण आदि मुनियों के लिए उन्होंने भक्तिपूर्वक इन मूलाचार आदि शास्त्रों का ज्ञान दान दिया । चतुर्विध संघ के लिए चार प्रकार का उत्तम आहार, औषधदान तथा वस्त्र एवं उपकरणादि दिये ॥५५-५७॥ उन्होंने मित्रों के लिए प्रीतिदान, याचकों को संतुष्टि दान और हीन मनुष्यों को दयादि दान दिये । इस तरह उत्तम व्यय किया ॥५८॥

इस प्रकार जो आत्मभक्ति से सात क्षेत्रों में दान देता है वह परभव में प्रदत्त वस्तुओं से अनन्त गुणी वस्तुओं को प्राप्त होता है और इस भव में भी पूज्य होता है ॥५९॥ संघपति श्री पद्मसिंह ने स्वोपार्जित धन से इस मूलाचार शास्त्र को लिखाकर तथा हिसार से बुलाकर भक्तिपूर्वक श्री नरसिंह के लिए प्रदान किया ॥६०॥ जो मनुष्य ज्ञान दान देता है वह देवों का पूज्य होता है, देवांगनाओं के साथ विषय सुख भोगकर क्रम से मनुष्य जन्म प्राप्त करता है, वहाँ राज्य सुख भोग कर तथा संसार और शरीर सम्बन्धी सुखों से चित्त को निस्पृह कर दीक्षा ग्रहण करता है और समस्त श्रुत को जानकर अन्तिम ज्ञान केवलज्ञान को प्राप्त होता ॥६१॥ ज्ञानदान से जीव ज्ञानी होता है, आहार दान से सुखी होता है, अभय दान से निर्भय होता है और औषध दान से निरोग होता है ॥६२॥ धर्म से समस्त मंगलों का समूह प्राप्त होता है, धर्म से मनुष्य प्रसिद्ध केवली होता है, धर्म से तीर्थंकर और चक्रवर्ती होता है, धर्म से ही बलशाली नारायण-प्रतिनारायण तथा बलभद्र आदि होता है ॥६३॥

ज्ञात्वेति कुर्वन्तु जनाः सुधर्मं सदैहिकामुष्मिकसौख्यकामाः ।
देवार्चनादानतपोव्रताद्यैर्धान्यं न सस्यं कृषिमन्तरेण ॥ ६४ ॥

खण्डेलान्वयमण्डनेन्दुवदन त्वं पद्मसिंहाख्य भो,
हेमाद्यैस्त्रिभिरंगजैर्मतिमितैर्भीमादिभिर्बन्धुभिः ।
भव्यांभोरुहखण्डभासनपरैश्चारित्रचूडामणेः
सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य वचनान्नन्द्याच्चिरं भूतले ॥ ६५ ॥

शास्त्रं शस्त्रं पापवैरिक्षयेऽत्रः शास्त्रं नेत्रं त्वन्तरार्थप्रदृष्टौ ।
शास्त्रं पात्रं सर्वसंपद्गुणानां शास्त्रं तस्माद्यत्नतो रक्षणीयम् ॥ ६६ ॥

श्रुत्वा शास्त्रं पापशत्रुं हिनस्ति श्रुत्वा शास्त्रं पुण्यमित्रं चिनोति ।
श्रुत्वा शास्त्रं सद्विवेकं दधाति तस्माद्भव्यो यत्नतस्तद्धि पाति ॥ ६७ ॥

यावत्तिष्ठति भूतले सुरनदी रत्नाकरो भूधरः,
कैलासः किल चक्रिकारितजगद्वन्द्यत्रचैत्यालयः ।
यावद्व्योम्नि शशांकवासरमणी प्रस्फोटयन्तौ तम-
स्तावत्तिष्ठतु शास्त्रमेतदमलं सम्पठ्यमानं बुधैः ॥ ६८ ॥

सूरिश्रीजिनचन्द्रांह्रिस्मरणाधीनचेतसा ।
प्रशस्तिर्विहिता चासौ मीहाख्येन सुधीमता ॥ ६९ ॥

ऐसा जानकर ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के इच्छुक मनुष्य देवपूजा, दान, तप और व्रतादि के द्वारा उत्तम धर्म करें—पुण्योपार्जन करें, क्योंकि खेती के बिना धान्य—अनाज की प्राप्ति नहीं होती ॥६४॥ हे खण्डेलवंश के अलंकार ! चन्द्रवदन ! श्री पद्मसिंह ! तुम हेमा आदि तीनों पुत्रों तथा भीम आदि चारों भाइयों के साथ, भव्य रूपी कमल-वन को विकसित करने के लिए सूर्य, चारित्रचूडामणि श्री आचार्य जिनचन्द्र के शुभाशीर्वचन से चिरकाल तक पृथ्वीतल पर आनन्द का अनुभव करो ॥६५॥

यह शास्त्र पापरूपी शत्रुओं का क्षय करने में शस्त्र है, यह शास्त्र अन्तस्तत्त्व को देखने के लिए नेत्र है, तथा यह शास्त्र समस्त उत्तम गुणों का पात्र है, अतः यह शास्त्र यत्नपूर्वक रक्षा करने के योग्य है ॥६६॥ चूंकि भव्य जीव शास्त्र को सुनकर पापरूप शत्रु को नष्ट करता है, शास्त्र सुनकर पुण्यरूपी मित्र को संतुष्ट करता है, और शास्त्र सुनकर उत्तम विवेक को धारण करता है इसलिए भव्य जीव यत्न से शास्त्र की रक्षा करता है ॥६७॥

जब तक पृथ्वी तल पर गंगा नदी विद्यमान है, जब तक समुद्र विद्यमान है, जब तक चक्रवर्ती भरत के द्वारा निर्मापित जगत्पूज्य जिनचैत्यालयों से युक्त कैलास पर्वत विद्यमान है, और जब तक अन्धकार को नष्ट करनेवाले चन्द्र-सूर्य आकाश में विद्यमान हैं तब तक विद्वज्जनों द्वारा पठन-पाठन में आनेवाला यह निर्दोष शास्त्र विद्यमान रहे ॥६८॥

जिसका चित्त आचार्य जिनचन्द्र के चरणों के स्मरणाधीन है उस मीहा नामक विद्वान् ने यह प्रशस्ति बनाई है ॥६९॥

यदत्र क्वाप्यवद्यं स्यादर्थे पाठे मयाकृतम् ।
तदा शोध्य बुधैर्वाच्यमनन्तः शब्दवारिधिः ॥ ७० ॥

इति श्रीभव्यकुमुदचन्द्रस्य सूरेः श्रीजिनचन्द्रस्य पादाम्भोरुहषट्पदेन
[illegible] काव्यरूपेण विरचिता
प्रशस्तप्रशस्तिः समाप्ता ।

(इति पर्यन्तः ख-ग-पुस्तकीयः पाठः शुद्धः ।)

ख—पुस्तकीयपाठः—संवत् १८८७ का पोषमासे कृष्णपक्षतिथौ ६ रविवासरे लिषा-इतं पंडितसरूपचन्द तत्शिष्यसदासुखलिप्यकृतं म्हात्मा संभूराम सवाईजैपुरमध्ये । सं. १८८७ ऋषिवसुसिद्धीन्दयुते पोषमासे कृष्णपक्षे दशमीगुरुवासरे अनेकशोभाशोभिते श्रीसवाईजयपुराह्वये नगरे श्रीमन्महाराजाधिराजराजेन्द्रश्रीसवाईजयसिंहजिद्राज्यप्रवर्तमाने नानाविधवादित्रशो-भिते विचित्रवेदिकान्विते मं.................

ग—पुस्तकीयपाठः—लिखितं भारतीपुरवास्तव्यपंडितपुरुषोत्तमपुत्र धाराधरसंज्ञेन ॥ छ ॥ शुभं भूयात् लेखकपाठकयोः ॥ छ ॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ छ ॥

यदि मैंने इस प्रशस्ति के किसी पाठ या अर्थ में बोध का अपहर किया है—कहीं त्रुटि की है तो ज्ञानी जनों को उसे शुद्ध कर बांचना चाहिए, क्योंकि शब्द रूपी सागर अनन्त है—शब्दों का पार नहीं है ।

इस प्रकार भव्य जीव रूपी कुमुदों को विकसित करने के लिए चन्द्रमारूप
आचार्य जिनचन्द्र के चरणकमलों के भ्रमर मेधावी पण्डित के द्वारा
काव्य रूप से विरचित यह प्रशस्त प्रशस्ति समाप्त हुई ।